ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

भीष्मपर्व

(जम्बूखण्डविनिर्माणपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रमें उभय पक्षके सैनिकोंकी स्थिति तथा युद्धके नियमोंका निर्माण

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

जनमेजय उवाच

कथं युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः ।
पार्थिवाः सुमहात्मानो नानादेशसमागताः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! कौरव, पाण्डव और सोमकवीरों तथा नाना देशोंसे आये हुए अन्य महामना नरेशोंने वहाँ किस प्रकार युद्ध किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

यथा युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः ।
कुरुक्षेत्रे तपःक्षेत्रे शृणु त्वं पृथिवीपते ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—पृथ्वीपते ! वीर कौरव, पाण्डव और सोमकोंने तपोभूमि कुरुक्षेत्रमें जिस प्रकार युद्ध किया था, उसे बताता हूँ; सुनो ॥ २ ॥

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं पाण्डवाः सहसोमकाः ।
कौरवाः समवर्तन्त जिगीषन्तो महाबलाः ॥ ३ ॥

सोमकोंसहित पाण्डव तथा कौरव दोनों महाबली थे। वे एक दूसरेको जीतनेकी आशासे कुरुक्षेत्रमें उतरकर आमने-सामने डटे हुए थे ॥ ३ ॥

वेदाध्ययनसम्पन्नाः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ।
आशंसन्तो जयं युद्धे बलेनाभिमुखा रणे ॥ ४ ॥

वे सबके सब वेदाध्ययनसे सम्पन्न और युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे और संग्राममें विजयकी आशा रखकर रणभूमिमें बलपूर्वक एक दूसरेके सम्मुख खड़े थे ॥ ४ ॥

अभियाय च दुर्धर्षां धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम् ।
प्राङ्मुखाः पश्चिमे भागे न्यविशन्त ससैनिकाः ॥ ५ ॥

पाण्डवोंके योद्धालोग अपने-अपने सैनिकोंके सहित धृतराष्ट्र-पुत्रकी दुर्धर्ष सेनाके सम्मुख जाकर पश्चिमभागमें पूर्वाभिमुख होकर ठहर गये थे ॥ ५ ॥

समन्तपञ्चकाद् बाह्यं शिबिराणि सहस्रशः ।
कारयामास विधिवत् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने समन्तपञ्चक क्षेत्रसे बाहर यथायोग्य सहस्रों शिविर बनवाये थे ॥ ६ ॥

शून्या च पृथिवी सर्वा बालवृद्धावशेषिता ।
निरश्वपुरुषेवासीद् रथकुञ्जरवर्जिता ॥ ७ ॥

समस्त पृथ्वीके सभी प्रदेश नवयुवकोंसे सूने हो रहे थे। उनमें केवल बालक और वृद्ध ही शेष रह गये थे। सारी वसुधा घोड़े, हाथी, रथ और तरुण पुरुषोंसे हीन-सी हो रही थी ॥

यावत्तपति सूर्यो हि जम्बूद्वीपस्य मण्डलम् ।
तावदेव समायातं बलं पार्थिवसत्तम ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! सूर्यदेव जम्बूद्वीपके जितने भूमण्डलको अपनी किरणोंसे तपाते हैं, उतनी दूरकी सेनाएँ वहाँ युद्धके लिये आ गयी थीं ॥ ८ ॥

एकस्थाः सर्ववर्णास्ते मण्डलं बहुयोजनम् ।
पर्याक्रामन्त देशांश्च नदीः शैलान् वनानि च ॥ ९ ॥

वहाँ सभी वर्णके लोग एक ही स्थानपर एकत्र थे। युद्धभूमिका घेरा कई योजन लम्बा था। उन सब लोगोंने वहाँके अनेक प्रदेशों, नदियों, पर्वतों और वनोंको सब ओरसे घेर लिया था ॥ ९ ॥

तेषां युधिष्ठिरो राजा सर्वेषां पुरुषर्षभ ।
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ ! राजा युधिष्ठिरने सेना और सवारियोंसहित

उन सबके लिये उत्तमोत्तम भोजन प्रस्तुत करनेका आदेश दे दिया था ॥ १० ॥

शय्याश्च विविधास्तात तेषां रात्रौ युधिष्ठिरः।
एवंवेदी वेदितव्यः पाण्डवेयोऽयमित्युत ॥ ११ ॥
अभिज्ञानानि सर्वेषां संज्ञाश्चाभरणानि च।
योजयामास कौरव्यो युद्धकाल उपस्थिते ॥ १२ ॥

तात ! रातके समय युधिष्ठिरने उन सबके सोनेके लिये नाना प्रकारकी शय्याओंका भी प्रबन्ध कर दिया था। युद्धकाल उपस्थित होनेपर कुरुनन्दन युधिष्ठिरने सभी सैनिकोंके पहचानके लिये उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारके संकेत और आभूषण दे दिये थे, जिससे यह जान पड़े कि यह पाण्डव-पक्षका सैनिक है ॥ ११-१२ ॥

दृष्ट्वा ध्वजाग्रं पार्थस्य धार्तराष्ट्रो महामनाः।
सह सर्वैर्महीपालैः प्रत्यव्यूहत पाण्डवम् ॥ १३ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुनके ध्वजका अग्रभाग देखकर महामना दुर्योधनने समस्त भूपालोंके साथ पाण्डवसेनाके विरुद्ध अपनी सेनाकी व्यूहरचना की ॥ १३ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
मध्ये नागसहस्रस्य भ्रातृभिः परिवारितः ॥ १४ ॥

उसके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था। वह एक हजार हाथियोंके बीचमें अपने भाइयोंसे घिरा हुआ शोभा पाता था ॥ १४ ॥

दृष्ट्वा दुर्योधनं हृष्टाः पञ्चाला युद्धनन्दिनः।
दध्मुः प्रीता महाशङ्खान् भेर्यश्च मधुरस्वनाः ॥ १५ ॥

दुर्योधनको देखकर युद्धका अभिनन्दन करनेवाले पाञ्चाल सैनिक बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नतापूर्वक बड़े-बड़े शङ्खों तथा मधुर ध्वनि करनेवाली भेरियोंको बजाने लगे ॥

ततः प्रहृष्टां तां सेनामभिवीक्ष्याथ पाण्डवाः।
बभूवुर्हृष्टमनसो वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ १६ ॥

तदनन्तर अपनी सेनाको हर्ष और उल्लासमें भरी हुई देख समस्त पाण्डवोंके मनमें बड़ा हर्ष हुआ तथा पराक्रमी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण भी संतुष्ट हुए ॥ १६ ॥

ततो हर्षं समागम्य वासुदेवधनंजयौ।
दध्मतुः पुरुषव्याघ्रौ दिव्यौ शङ्खौ रथे स्थितौ ॥ १७ ॥

उस समय एक ही रथपर बैठे हुए पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन आनन्दमग्न होकर अपने दिव्य शंखोंको बजाने लगे ॥ १७ ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं देवदत्तस्य चोभयोः।
श्रुत्वा तु निनदं योधाः शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः ॥ १८ ॥

पाञ्चजन्य और देवदत्त दोनों शङ्खोंकी ध्वनि सुनकर शत्रुपक्षके बहुत-से सैनिक भयके मारे मल-मूत्र करने लगे ॥

यथा सिंहस्य नदतः स्वनं श्रुत्वेतरे मृगाः।
त्रसेयुर्निनदं श्रुत्वा तथासीदत तद्बलम् ॥ १९ ॥

जैसे गर्जते हुए सिंहकी आवाज सुनकर दूसरे वन्य पशु भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार उन दोनोंका शङ्खनाद सुनकर कौरवसेनाका उत्साह शिथिल पड़ गया—वह खिन्न-सी हो गयी ॥ १९ ॥

उदतिष्ठद् रजो भौमं न प्राज्ञायत किंचन।
अस्तङ्गत इवादित्ये सैन्येन सहसाऽऽवृते ॥ २० ॥

धरतीसे धूल उड़कर आकाशमें छा गयी। कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था। सेनाकी गर्दसे सहसा आच्छादित हो जानेके कारण सूर्य अस्त हो गये-से जान पड़ते थे ॥२०॥

ववर्ष तत्र पर्जन्यो मांसशोणितवृष्टिमान्।
दिक्षु सर्वाणि सैन्यानि तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २१ ॥

उस समय वहाँ मेघ सब दिशाओंमें समस्त सैनिकोंपर मांस और रक्तकी वर्षा करने लगे। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २१ ॥

वायुस्ततः प्रादुरभून्नीचैः शर्करकर्षणः।
विनिघ्नंस्तान्यनीकानि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २२ ॥

तदनन्तर वहाँ नीचेसे बालू तथा कंकड़ खींचकर सब ओर बिखेरनेवाली बवंडरकी-सी वायु उठी, जिसने सैकड़ों-हजारों सैनिकोंको घायल कर दिया ॥ २२ ॥

उभे सैन्ये च राजेन्द्र युद्धाय मुदिते भृशम्।
कुरुक्षेत्रे स्थिते यत्ते सागरक्षुभितोपमे ॥ २३ ॥

राजेन्द्र ! कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये अत्यन्त हर्षोल्लासमें भरी हुई दोनों पक्षकी सेनाएँ दो विक्षुब्ध महासागरोंके समान एक दूसरेके सम्मुख खड़ी थीं ॥ २३ ॥

तयोस्तु सेनयोरासीदद्भुतः स तु संगमः।
युगान्ते समनुप्राप्ते द्वयोः सागरयोरिव ॥ २४ ॥

दोनों सेनाओंका वह अद्भुत समागम प्रलयकाल आनेपर परस्पर मिलनेवाले दो समुद्रोंके समान जान पड़ता था ।२४।

शून्याऽऽसीत् पृथिवी सर्वा वृद्धबालावशेषिता।
निरश्वपुरुषेवासीद् रथकुञ्जरवर्जिता ॥ २५ ॥
तेन सेनासमूहेन समानीतेन कौरवैः।

कौरवोंद्वारा संग्रह करके वहाँ लाये हुए उस सैन्यसमूहद्वारा सारी पृथ्वी नवयुवकोंसे सूनी-सी हो रही थी। सर्वत्र केवल बालक और बूढ़े ही शेष रह गये थे। सारी वसुधा घोड़े, हाथी, रथ और तरुण पुरुषोंसे हीन-सी हो गयी थी ॥

ततस्ते समयं चक्रुः कुरुपाण्डवसोमकाः ॥ २६ ॥
धर्मान् संस्थापयामासुर्युद्धानां भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् कौरव, पाण्डव तथा सोमकोंने परस्पर मिलकर युद्धके सम्बन्धमें कुछ नियम बनाये। युद्धधर्मकी मर्यादा स्थापित की ॥ २६½ ॥

निवृत्ते विहिते युद्धे स्यात् प्रीतिर्नः परस्परम् ॥ २७ ॥
यथापरं यथायोगं न च स्यात् कस्यचित् पुनः।

वे नियम इस प्रकार हैं—चालू युद्धके बंद होनेपर संध्याकालमें हम सब लोगोंमें परस्पर प्रेम बना रहे। उस समय पुनः किसीका किसीके साथ शत्रुतापूर्ण अयोग्य वर्ताव नहीं होना चाहिये ॥ २७½ ॥

वाचा युद्धप्रवृत्तानां वाचैव प्रतियोधनम्।
निष्क्रान्ताः पृतनामध्यान्न हन्तव्याः कदाचन ॥ २८ ॥
रथी च रथिना योध्यो गजेन गजधूर्गतः।
अश्वेनाश्वी पदातिश्च पादातेनैव भारत ॥ २९ ॥

जो वाग्युद्धमें प्रवृत्त हों उनके साथ वाणीद्वारा ही युद्ध किया जाय। जो सेनासे बाहर निकल गये हों उनका वध कदापि न किया जाय। भारत! रथीको रथीसे ही युद्ध करना चाहिये, इसी प्रकार हाथीसवारके साथ हाथीसवार, घुड़सवारके साथ घुड़सवार तथा पैदलके साथ पैदल ही युद्ध करे ॥ २८-२९ ॥

यथायोगं यथाकामं यथोत्साहं यथाबलम्।
समाभाष्य प्रहर्तव्यं न विश्वस्ते न विह्वले ॥ ३० ॥

जिसमें जैसी योग्यता, इच्छा, उत्साह तथा बल हो उसके अनुसार ही विपक्षीको बताकर उसे सावधान करके ही उसके ऊपर प्रहार किया जाय। जो विश्वास करके असावधान हो रहा हो अथवा जो युद्धसे घबराया हुआ हो, उसपर प्रहार करना उचित नहीं है ॥ ३० ॥

एकेन सह संयुक्तः प्रपन्नो विमुखस्तथा।
क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन ॥ ३१ ॥

जो एकके साथ युद्धमें लगा हो, शरणमें आया हो, पीठ दिखाकर भागा हो और जिसके अस्त्र-शस्त्र और कवच कट गये हों; ऐसे मनुष्यको कदापि न मारा जाय ॥ ३१ ॥

न सूतेषु न धुर्येषु न च शस्त्रोपनायिषु।
न भेरीशङ्खवादेषु प्रहर्तव्यं कथंचन ॥ ३२ ॥

घोड़ोंकी सेवाके लिये नियुक्त हुए सूतों, बोझ ढोनेवालों, शस्त्र पहुँचानेवालों तथा भेरी और शङ्ख बजानेवालोंपर कोई किसी प्रकार भी प्रहार न करे ॥ ३२ ॥

एवं ते समयं कृत्वा कुरुपाण्डवसोमकाः।
विस्मयं परमं जग्मुः प्रेक्षमाणाः परस्परम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार नियम बनाकर कौरव, पाण्डव तथा सोमक एक दूसरेकी ओर देखते हुए बड़े आश्चर्यचकित हुए ॥ ३३ ॥

निविश्य च महात्मानस्ततस्ते पुरुषर्षभाः।
हृष्टरूपाः सुमनसो बभूवुः सहसैनिकाः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर वे महामना पुरुषरत्न अपने-अपने स्थानपर स्थित हो सैनिकोंसहित प्रसन्नचित्त होकर हर्ष एवं उत्साहसे भर गये ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि सैन्यशिक्षणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें सैन्यशिक्षणविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

वेदव्यासजीके द्वारा संजयको दिव्य दृष्टिका दान तथा भयसूचक उत्पातोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः पूर्वापरे सैन्ये समीक्ष्य भगवानृषिः।
सर्ववेदविदां श्रेष्ठो व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥
भविष्यति रणे घोरे भरतानां पितामहः।
प्रत्यक्षदर्शी भगवान् भूतभव्यभविष्यवित् ॥ २ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानं स रहस्यब्रवीदिदम्।
शोचन्तमार्तं ध्यायन्तं पुत्राणामनयं तदा ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पूर्व और पश्चिम दिशामें आमने-सामने खड़ी हुई दोनों ओरकी सेनाओंको देखकर भूत, भविष्य और वर्तमानका ज्ञान रखनेवाले, सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, भरतवंशियोंके पितामह सत्यवतीनन्दन महर्षि भगवान् व्यास, जो होनेवाले भयंकर संग्रामके भावी परिणामको प्रत्यक्ष देख रहे थे, विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्रके पास आये। वे उस समय अपने पुत्रोंके अन्यायका चिन्तन करते हुए शोकमग्न एवं आर्त हो रहे थे। व्यासजीने उनसे एकान्तमें कहा ॥ १-३ ॥

व्यास उवाच

राजन् परीतकालास्ते पुत्राश्चान्ये च पार्थिवाः।
ते हिंसन्तीव संग्रामे समासाद्येतरेतरम् ॥ ४ ॥

व्यासजी बोले—राजन्! तुम्हारे पुत्रों तथा अन्य राजाओंका मृत्युकाल आ पहुँचा है। वे संग्राममें एक दूसरेसे भिड़कर मरने-मारनेको तैयार खड़े हैं ॥ ४ ॥

तेषु कालपरीतेषु विनश्यत्स्वेव भारत।
कालपर्यायमाज्ञाय मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ५ ॥

भारत! वे कालके अधीन होकर जब नष्ट होने लगें, तब इसे कालका चक्कर समझकर मनमें शोक न करना ॥ ५ ॥

यदि चेच्छसि संग्रामे द्रष्टुमेतान् विशाम्पते।
चक्षुर्ददानि ते पुत्र युद्धं तत्र निशामय ॥ ६ ॥

राजन्! यदि संग्रामभूमिमें इन सबकी अवस्था तुम देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करूँ। वत्स! फिर तुम (यहाँ बैठे-बैठे ही) वहाँ होनेवाले युद्धका सारा दृश्य अपनी आँखों देखो ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न रोचये ज्ञातिवधं द्रष्टुं ब्रह्मर्षिसत्तम।
युद्धमेतत् त्वशेषेण शृणुयां तव तेजसा॥ ७॥

धृतराष्ट्रने कहा—ब्रह्मर्षिप्रवर! मुझे अपने कुटुम्बीजनोंका वध देखना अच्छा नहीं लगता; परंतु आपके प्रभावसे इस युद्धका सारा वृत्तान्त सुन सकूँ, ऐसी कृपा आप अवश्य कीजिये॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन् नेच्छति द्रष्टुं संग्रामं श्रोतुमिच्छति।
वराणामीश्वरो व्यासः संजयाय वरं ददौ॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीने देखा, धृतराष्ट्र युद्धका दृश्य देखना तो नहीं चाहता, परंतु उसका पूरा समाचार सुनना चाहता है। तब वर देनेमें समर्थ उन महर्षिने संजयको वर देते हुए कहा—॥ ८॥

एष ते संजयो राजन् युद्धमेतद् वदिष्यति।
एतस्य सर्वसंग्रामे न परोक्षं भविष्यति॥ ९॥

'राजन्! यह संजय आपको इस युद्धका सब समाचार बताया करेगा। सम्पूर्ण संग्रामभूमिमें कोई ऐसी बात नहीं होगी, जो इसके प्रत्यक्ष न हो॥ ९॥

चक्षुषा संजयो राजन् दिव्येनैव समन्वितः।
कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति॥ १०॥

'राजन्! संजय दिव्य दृष्टिसे सम्पन्न होकर सर्वज्ञ हो जायगा और तुम्हें युद्धकी बात बतायेगा॥ १०॥

प्रकाशं वाप्रकाशं वा दिवा वा यदि वा निशि।
मनसा चिन्तितमपि सर्वं वेत्स्यति संजयः॥ ११॥

'कोई भी बात प्रकट हो या अप्रकट, दिनमें हो या रातमें अथवा वह मनमें ही क्यों न सोची गयी हो, संजय सब कुछ जान लेगा॥ ११॥

नैनं शस्त्राणि छेत्स्यन्ति नैनं बाधिष्यते श्रमः।
गावल्गणिरयं जीवन् युद्धादस्माद् विमोक्ष्यते॥ १२॥

'इसे कोई हथियार नहीं काट सकता। इसे परिश्रम या थकावटकी बाधा भी नहीं होगी। गवल्गणका पुत्र यह संजय इस युद्धसे जीवित बच जायगा॥ १२॥

अहं तु कीर्तिमेतेषां कुरूणां भरतर्षभ।
पाण्डवानां च सर्वेषां प्रथयिष्यामि मा शुचः॥ १३॥

'भरतश्रेष्ठ! मैं इन समस्त कौरवों और पाण्डवोंकी कीर्तिका तीनों लोकोंमें विस्तार करूँगा। तुम शोक न करो॥ १३॥

दिष्टमेतन्नरव्याघ्र नाभिशोचितुमर्हसि।
न चैव शक्यं संयन्तुं यतो धर्मस्ततो जयः॥ १४॥

'नरश्रेष्ठ! यह दैवका विधान है। इसे कोई मेट नहीं सकता। अतः इसके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय होगी'॥ १४॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् कुरूणां प्रपितामहः।
पुनरेव महाभागो धृतराष्ट्रमुवाच ह॥ १५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर कुरुकुलके पितामह महाभाग भगवान् व्यास पुनः धृतराष्ट्रसे बोले—॥

इह युद्धे महाराज भविष्यति महान् क्षयः।
तथेह च निमित्तानि भयदान्युपलक्षये॥ १६॥

'महाराज! इस युद्धमें महान् नर-संहार होगा; क्योंकि मुझे इस समय ऐसे ही भयदायक अपशकुन दिखायी देते हैं॥

श्येना गृध्राश्च काकाश्च कङ्काश्च सहिता बकैः।
सम्पतन्ति नगाग्रेषु समवायांश्च कुर्वते॥ १७॥

'बाज, गीध, कौवे, कङ्क और बगुले वृक्षोंके अग्रभागपर आकर बैठते तथा अपना समूह एकत्र करते हैं॥ १७॥

अभ्यग्रं च प्रपश्यन्ति युद्धमानन्दिनो द्विजाः।
क्रव्यादा भक्षयिष्यन्ति मांसानि गजवाजिनाम्॥ १८॥
निर्दयं चाभिवाशन्तो भैरवा भयवेदिनः।
कङ्काः प्रयान्ति मध्येन दक्षिणामभितो दिशम्॥ १९॥

'ये पक्षी अत्यन्त आनन्दित होकर युद्धस्थलको बहुत निकटसे आकर देखते हैं। इससे सूचित होता है कि मांसभक्षी पशु-पक्षी आदि प्राणी हाथियों और घोड़ोंके मांस खायँगे। भयकी सूचना देनेवाले कङ्क पक्षी कठोर स्वरमें बोलते हुए सेनाके बीचसे होकर दक्षिण दिशाकी ओर जाते हैं॥

उभे पूर्वापरे संध्ये नित्यं पश्यामि भारत।
उदयास्तमने सूर्यं कबन्धैः परिवारितम्॥ २०॥

'भारत! मैं प्रातः और सायं दोनों संध्याओंके समय उदय और अस्तकी वेलामें सूर्यदेवको प्रतिदिन कबन्धोंसे घिरा हुआ देखता हूँ॥ २०॥

श्वेतलोहितपर्यन्ताः कृष्णग्रीवाः सविद्युतः।
त्रिवर्णाः परिघाः संधौ भानुमन्तमवारयन्॥ २१॥

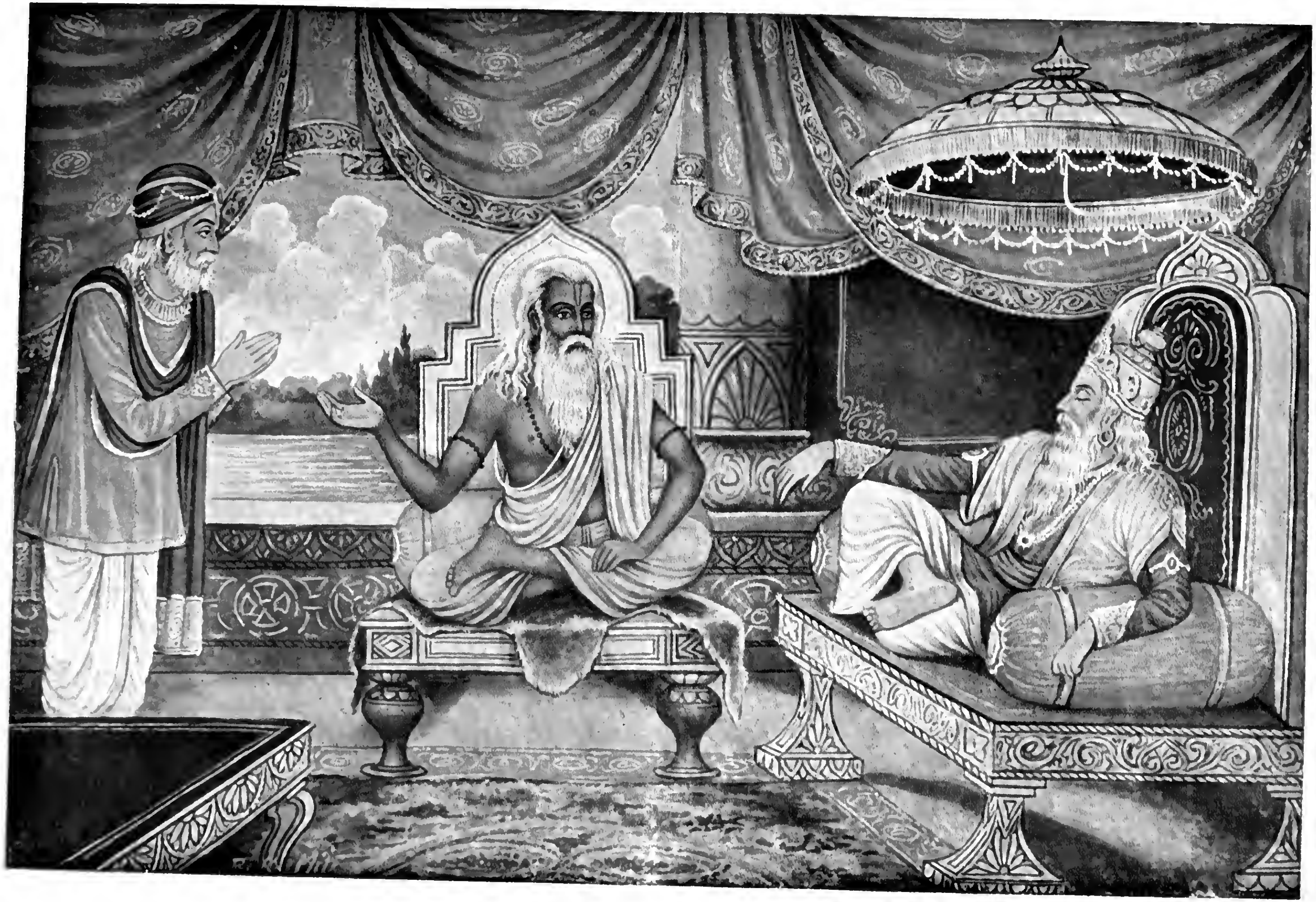
'संध्याके समय सूर्यदेवको तिरंगे घेरोंने सब ओरसे घेर रक्खा था। उनमें श्वेत और लाल रंगके घेरे दोनों किनारोंपर थे और मध्यमें काले रंगका घेरा दिखायी देता था। इन घेरोंके साथ बिजलियाँ भी चमक रही थीं॥ २१॥

ज्वलितार्केन्दुनक्षत्रं निर्विशेषदिनक्षपम्।
अहोरात्रं मया दृष्टं तद् भयाय भविष्यति॥ २२॥

'मुझे दिन और रातका समय ऐसा दिखायी दिया है जिसमें सूर्य, चन्द्रमा और तारे जलते-से जान पड़ते थे। दिन और रातमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखायी देता था। यह लक्षण भय लानेवाला होगा॥ २२॥

अलक्ष्यः प्रभया हीनः पौर्णमासीं च कार्तिकीम्।
चन्द्रोऽभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णनभस्तले॥ २३॥

'कार्तिककी पूर्णिमाको कमलके समान नीलवर्णके आकाश-



संजयको दिव्यदृष्टि

में चन्द्रमा प्रभाहीन होनेके कारण दृष्टिगोचर नहीं हो पाता था तथा उसकी कान्ति भी अग्निके समान प्रतीत होती थी॥

स्वप्स्यन्ति निहता वीरा भूमिमावृत्य पार्थिवाः।
राजानो राजपुत्राश्च शूराः परिघबाहवः॥ २४॥

'इसका फल यह है कि परिघके समान मोटी बाहुओंवाले बहुत-से शूरवीर नरेश तथा राजकुमार मारे जाकर पृथ्वीको आच्छादित करके रणभूमिमें शयन करेंगे॥ २४॥

अन्तरिक्षे वराहस्य वृषदंशस्य चोभयोः।
प्रणादं युद्ध्यतो रात्रौ रौद्रं नित्यं प्रलक्षये॥ २५॥

'सूअर और बिलाव दोनों आकाशमें उछल-उछलकर रातमें लड़ते और भयानक गर्जना करते हैं। यह बात मुझे प्रतिदिन दिखायी देती है॥ २५॥

देवताप्रतिमाश्चैव कम्पन्ति च हसन्ति च।
वमन्ति रुधिरं चास्यैः खिद्यन्ति प्रपतन्ति च॥२६॥

'देवताओंकी मूर्तियाँ काँपती, हँसती, मुँहसे खून उगलती, खिन्न होती और गिर पड़ती हैं॥ २६॥

अनाहता दुन्दुभयः प्रणदन्ति विशाम्पते।
अयुक्ताश्च प्रवर्तन्ते क्षत्रियाणां महारथाः॥ २७॥

'राजन्! दुन्दुभियाँ बिना बजाये बज उठती हैं और क्षत्रियोंके बड़े-बड़े रथ बिना जोते ही चल पड़ते हैं॥ २७॥

कोकिलाः शतपत्राश्च चाषा भासाः शुकास्तथा।
सारसाश्च मयूराश्च वाचो मुञ्चन्ति दारुणाः॥ २८॥

'कोयल, शतपत्र, नीलकण्ठ, भास (चील्ह), शुक, सारस तथा मयूर भयंकर बोली बोलते हैं॥ २८॥

गृहीतशस्त्राः क्रोशन्ति चर्मिणो वाजिपृष्ठगाः।
अरुणोदये प्रदृश्यन्ते शतशः शलभव्रजाः॥ २९॥

'घोड़ेकी पीठपर बैठे हुए सवार हाथोंमें ढाल-तलवार लिये चीत्कार कर रहे हैं। अरुणोदयके समय टिड्डियोंके सैकड़ों दल सब ओर फैले दिखायी देते हैं॥ २९॥

उभे संध्ये प्रकाशेते दिशां दाहसमन्विते।
पर्जन्यः पांसुवर्षी च मांसवर्षी च भारत॥ ३०॥

'दोनों संध्याएँ दिग्दाहसे युक्त दिखायी देती हैं। भारत! बादल धूल और मांसकी वर्षा करता है॥ ३०॥

या चैषा विश्रुता राजंस्त्रैलोक्ये साधुसम्मता।
अरुन्धती तयाप्येष वसिष्ठः पृष्ठतः कृतः॥ ३१॥

'राजन्! जो अरुन्धती तीनों लोकोंमें पतिव्रताओंकी मुकुटमणिके रूपमें प्रसिद्ध हैं, उन्होंने वसिष्ठको अपने पीछे कर दिया है॥ ३१॥

रोहिणीं पीडयन्नेष स्थितो राजञ्शनैश्चरः।
व्यावृत्तं लक्ष्म सोमस्य भविष्यति महद् भयम्॥ ३२॥

'महाराज! यह शनैश्चर नामक ग्रह रोहिणीको पीड़ा देता हुआ खड़ा है। चन्द्रमाका चिह्न मिट-सा गया है। इससे सूचित होता है कि भविष्यमें महान् भय प्राप्त होगा॥३२॥

अनभ्रे च महाघोरः स्तनितः श्रूयते स्वनः।
वाहनानां च रुदतां निपतन्त्यश्रुबिन्दवः॥ ३३॥

'बिना बादलके ही आकाशमें अत्यन्त भयंकर गर्जना सुनायी देती है। रोते हुए वाहनोंकी आँखोंसे आँसुओंकी बूँदें गिर रही हैं'॥ ३३॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि श्रीवेदव्यासदर्शने द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें श्रीवेदव्यासदर्शनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ॥ २॥

तृतीयोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा अमङ्गलसूचक उत्पातों तथा विजयसूचक लक्षणोंका वर्णन

व्यास उवाच

खरा गोषु प्रजायन्ते रमन्ते मातृभिः सुताः।
अनार्तवं पुष्पफलं दर्शयन्ति वनद्रुमाः॥ १॥

व्यासजीने कहा—राजन्! गायोंके गर्भसे गदहे पैदा होते हैं, पुत्र माताओंके साथ रमण करते हैं। वनके वृक्ष बिना ऋतुके फूल और फल प्रकट करते हैं॥ १॥

गर्भिण्योऽजातपुत्राश्च जनयन्ति विभीषणान्।
क्रव्यादाः पक्षिभिश्चापि सहाश्नन्ति परस्परम्॥ २॥

गर्भवती स्त्रियाँ पुत्रको जन्म न देकर अपने गर्भसे भयंकर जीवोंको पैदा करती हैं। मांसभक्षी पशु भी पक्षियों-के साथ परस्पर मिलकर एक ही जगह आहार ग्रहण करते हैं॥

त्रिविषाणाश्चतुर्नेत्राः पञ्चपादा द्विमेहनाः।
द्विशीर्षाश्च द्विपुच्छाश्च दंष्ट्रिणः पशवोऽशिवाः॥ ३॥
जायन्ते विवृतास्याश्च व्याहरन्तोऽशिवा गिरः।

तीन सींग, चार नेत्र, पाँच पैर, दो मूत्रेन्द्रिय, दो मस्तक, दो पूँछ और अनेक दाढ़ोंवाले अमङ्गलमय पशु जन्म लेते तथा मुँह फैलाकर अमङ्गलसूचक वाणी बोलते हैं॥ ३½॥

त्रिपदाः शिखिनस्तार्क्ष्याश्चतुर्दंष्ट्रा विषाणिनः॥ ४॥
तथैवान्याश्च दृश्यन्ते स्त्रियो वै ब्रह्मवादिनाम्।
वैनतेयान् मयूरांश्च जनयन्ति पुरे तव॥ ५॥

गरुड़ पक्षीके मस्तकपर शिखा और सींग हैं। उनके तीन पैर तथा चार दाढ़ें दिखायी देती हैं। इसी प्रकार अन्य जीव भी देखे जाते हैं। वेदवादी ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ तुम्हारे नगरमें गरुड़ और मोर पैदा करती हैं॥ ४-५॥

गोवत्सं वडवा सूते श्वा सृगालं महीपते।
कुक्कुरान् करभाश्चैव शुकाश्चाशुभवादिनः॥ ६॥

भूपाल ! घोड़ी गायके बछड़ेको जन्म देती है, कुतिया-के पेटसे सियार पैदा होता है, हाथी कुत्तोंको जन्म देते हैं और तोते भी अशुभसूचक बोली बोलने लगे हैं ॥ ६ ॥

स्त्रियः काश्चित्प्रजायन्ते चतस्रः पञ्च कन्यकाः।
जातमात्राश्च नृत्यन्ति गायन्ति च हसन्ति च ॥ ७ ॥

कुछ स्त्रियाँ एक ही साथ चार-चार या पाँच-पाँच कन्याएँ पैदा करती हैं। वे कन्याएँ पैदा होते ही नाचती, गाती तथा हँसती हैं ॥ ७ ॥

पृथग्जनस्य सर्वस्य क्षुद्रकाः प्रहसन्ति च।
नृत्यन्ति परिगायन्ति वेदयन्तो महद् भयम् ॥ ८ ॥

समस्त नीच जातियोंके घरोंमें उत्पन्न हुए काने, कुबड़े आदि बालक भी महान् भयकी सूचना देते हुए जोर-जोरसे हँसते, गाते और नाचते हैं ॥ ८ ॥

प्रतिमाश्चालिखन्त्येताः सशस्त्राः कालचोदिताः।
अन्योन्यमभिधावन्ति शिशवो दण्डपाणयः ॥ ९ ॥

ये सब कालसे प्रेरित हो हाथोंमें हथियार लिये मूर्तियाँ लिखते और बनाते हैं। छोटे-छोटे बच्चे हाथमें डंडा लिये एक दूसरेपर धावा करते हैं ॥ ९ ॥

अन्योन्यमभिमृद्नन्ति नगराणि युयुत्सवः।
पद्मोत्पलानि वृक्षेषु जायन्ते कुमुदानि च ॥ १० ॥

और कृत्रिम नगर बनाकर परस्पर युद्धकी इच्छा रखते हुए उन नगरोंको रौंदकर मिट्टीमें मिला देते हैं। पद्म, उत्पल और कुमुद आदि जलीय पुष्प वृक्षोंपर पैदा होते हैं ॥ १०॥

विष्वग्वाताश्च वान्त्युग्रा रजो नाप्युपशाम्यति।
अभीक्ष्णं कम्पते भूमिरर्कं राहुरुपैति च ॥ ११ ॥

चारों ओर भयंकर आँधी चल रही है, धूलका उड़ना शान्त नहीं हो रहा है, धरती बारंबार काँप रही है तथा राहु सूर्यके निकट जा रहा है ॥ ११ ॥

श्वेतो ग्रहस्तथा चित्रां समतिक्रम्य तिष्ठति।
अभावं हि विशेषेण कुरूणां तत्र पश्यति ॥ १२ ॥

केतु चित्राका अतिक्रमण करके स्वातीपर स्थित हो रहा है;* उसकी विशेषरूपसे कुरुवंशके विनाशपर ही दृष्टि है ॥

धूमकेतुर्महाघोरः पुष्यं चाक्रम्य तिष्ठति।
सेनयोरशिवं घोरं करिष्यति महाग्रहः ॥ १३ ॥

अत्यन्त भयंकर धूमकेतु पुष्य नक्षत्रपर आक्रमण करके वहीं स्थित हो रहा है। यह महान् उपग्रह दोनों सेनाओंका घोर अमङ्गल करेगा ॥ १३ ॥

मघास्वङ्गारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः।
भगं नक्षत्रमाक्रम्य सूर्यपुत्रेण पीड्यते ॥ १४ ॥

मङ्गल वक्र होकर मघा नक्षत्रपर स्थित है, बृहस्पति श्रवण नक्षत्रपर विराजमान है तथा सूर्यपुत्र शनि पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्रपर पहुँचकर उसे पीड़ा दे रहा है ॥ १४ ॥

शुक्रः प्रोष्ठपदे पूर्वे समारुह्य विरोचते।
उत्तरे तु परिक्रम्य सहितः समुदीक्षते ॥ १५ ॥

शुक्र पूर्वा भाद्रपदापर आरूढ़ हो प्रकाशित हो रहा है और सब ओर घूम-फिरकर परिघ नामक उपग्रहके साथ उत्तरा भाद्रपदा नक्षत्रपर दृष्टि लगाये हुए है ॥ १५ ॥

श्वेतो ग्रहः प्रज्वलितः सधूम इव पावकः।
ऐन्द्रं तेजस्वि नक्षत्रं ज्येष्ठामाक्रम्य तिष्ठति ॥ १६ ॥

केतु नामक उपग्रह धूमयुक्त अग्निके समान प्रज्वलित हो इन्द्रदेवतासम्बन्धी तेजस्वी ज्येष्ठा नक्षत्रपर जाकर स्थित है ॥

ध्रुवं प्रज्वलितो घोरमपसव्यं प्रवर्तते।
रोहिणीं पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ।
चित्रास्वात्यन्तरे चैव विष्ठितः परुषग्रहः ॥ १७ ॥

चित्रा और स्वातीके बीचमें स्थित हुआ क्रूर ग्रह राहु सदा वक्री होकर रोहिणी तथा चन्द्रमा और सूर्यको पीड़ा पहुँचाता है तथा अत्यन्त प्रज्वलित होकर ध्रुवकी बायीं ओर जा रहा है, जो घोर अनिष्टका सूचक है ॥ १७ ॥

वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभः।
ब्रह्मराशिं समावृत्य लोहिताङ्गो व्यवस्थितः ॥ १८ ॥

अग्निके समान कान्तिमान् मङ्गल ग्रह (जिसकी स्थिति मघा नक्षत्रमें बतायी गयी है) बारंबार वक्र होकर ब्रह्मराशि (बृहस्पतिसे युक्त नक्षत्र) श्रवणको पूर्णरूपसे आवृत करके स्थित है ॥ १८ ॥

सर्वसस्यपरिच्छन्ना पृथिवी सस्यमालिनी।
पञ्चशीर्षा यवाश्चापि शतशीर्षाश्च शालयः ॥ १९ ॥

(इसका प्रभाव खेतीपर अनुकूल पड़ा है) पृथ्वी सब प्रकारके अनाजके पौधोंसे आच्छादित है, शस्यकी मालाओंसे अलंकृत है, जौमें पाँच-पाँच और जड़हन धानमें सौ-सौ बालियाँ लग रही हैं ॥ १९ ॥

प्रधानाः सर्वलोकस्य यास्वायत्तमिदं जगत्।
ता गावः प्रस्नुता वत्सैः शोणितं प्रक्षरन्त्युत ॥ २० ॥

जो सम्पूर्ण जगत्‌में माताके समान प्रधान मानी जाती हैं, यह समस्त संसार जिनके अधीन है, वे गौएँ बछड़ोंसे पिन्हा जानेके बाद अपने थनोंसे खून बहाती हैं ॥ २० ॥

निश्चेरुरर्चिषश्चापात् खड्गाश्च ज्वलिता भृशम्।
व्यक्तं पश्यन्ति शस्त्राणि संग्रामं समुपस्थितम् ॥ २१ ॥

योद्धाओंके धनुषसे आगकी लपटें निकलने लगी हैं, खड्ग अत्यन्त प्रज्वलित हो उठे हैं मानो सम्पूर्ण शस्त्र स्पष्ट-

* राहु और केतु सदा एक-दूसरेसे सातवीं राशिपर स्थित होते हैं, किंतु उस समय दोनों एक राशिपर आ गये थे; अतः महान् अनिष्टके सूचक थे। सूर्य तुलापर थे, उनके निकट राहुके आनेका वर्णन पहले आ चुका है; फिर केतुके वहाँ पहुँचनेसे महान् दुर्योग बन गया है।

रूपसे यह देख रहे हैं कि संग्राम उपस्थित हो गया है ॥ २१ ॥

अग्निवर्णा यथा भासः शस्त्राणामुदकस्य च ।
कवचानां ध्वजानां च भविष्यति महाक्षयः ॥ २२ ॥

शस्त्रोंकी, जलकी, कवचोंकी और ध्वजाओंकी कान्तियाँ अग्निके समान लाल हो गयी हैं; अतः निश्चय ही महान् जन-संहार होगा ॥ २२ ॥

पृथिवी शोणितावर्ता ध्वजोडुपसमाकुला ।
कुरूणां वैशसे राजन् पाण्डवैः सह भारत ॥ २३ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! जब पाण्डवोंके साथ कौरवोंका हिंसात्मक संग्राम आरम्भ हो जायगा, उस समय धरतीपर रक्तकी नदियाँ बह चलेंगी, उनमें शोणितमयी भँवरें उठेंगी तथा रथकी ध्वजाएँ उन नदियोंके ऊपर छोटी-छोटी डोंगियोंके समान सब ओर व्याप्त दिखायी देंगी ॥ २३ ॥

दिक्षु प्रज्वलितास्याश्च व्याहरन्ति मृगद्विजाः ।
अत्याहितं दर्शयन्तो वेदयन्ति महद् भयम् ॥ २४ ॥

चारों दिशाओंमें पशु और पक्षी प्राणान्तकारी अनर्थका दर्शन कराते हुए भयंकर बोली बोल रहे हैं । उनके मुख प्रज्वलित दिखायी देते हैं और वे अपने शब्दोंसे किसी महान् भयकी सूचना दे रहे हैं ॥ २४ ॥

एकपक्षाक्षिचरणः शकुनिः खचरो निशि ।
रौद्रं वदति संरब्धः शोणितं छर्दयन्निव ॥ २५ ॥

रातमें एक आँख, एक पाँख और एक पैरका पक्षी आकाशमें विचरता है और कुपित होकर भयंकर बोली बोलता है । उसकी बोली ऐसी जान पड़ती है, मानो कोई रक्त वमन कर रहा हो ॥ २५ ॥

शस्त्राणि चैव राजेन्द्र प्रज्वलन्तीव सम्प्रति ।
सप्तर्षीणामुदाराणां समवच्छाद्यते प्रभा ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! सभी शस्त्र इस समय जलते-से प्रतीत होते हैं। उदार सप्तर्षियोंकी प्रभा फीकी पड़ती जाती है ॥ २६ ॥

संवत्सरस्थायिनौ च ग्रहौ प्रज्वलितावुभौ ।
विशाखायाः समीपस्थौ बृहस्पतिशनैश्चरौ ॥ २७ ॥

वर्षपर्यन्त एक राशिपर रहनेवाले दो प्रकाशमान ग्रह बृहस्पति और शनैश्चर तिर्यग्वेधके द्वारा विशाखा नक्षत्रके समीप आ गये हैं ॥ २७ ॥

चन्द्रादित्यावुभौ ग्रस्तावेकाह्ना हि त्रयोदशीम् ।
अपर्वणि ग्रहं यातौ प्रजासंक्षयमिच्छतः ॥ २८ ॥

(इस पक्षमें तो तिथियोंका क्षय होनेके कारण) एक ही दिन त्रयोदशी तिथिको बिना पर्वके ही राहुने चन्द्रमा और सूर्य दोनोंको ग्रस लिया है । अतः ग्रहणावस्थाको प्राप्त हुए वे दोनों ग्रह प्रजाका संहार चाहते हैं ॥ २८ ॥

अशोभिता दिशः सर्वाः पांसुवर्षैः समन्ततः ।
उत्पातमेघा रौद्राश्च रात्रौ वर्षन्ति शोणितम् ॥ २९ ॥

चारों ओर धूलकी वर्षा होनेसे सम्पूर्ण दिशाएँ शोभाहीन हो गयी हैं । उत्पातसूचक भयंकर मेघ रातमें रक्तकी वर्षा करते हैं ॥ २९ ॥

कृत्तिकां पीडयंस्तीक्ष्णैर्नक्षत्रं पृथिवीपते ।
अभीक्ष्णवाता वायन्ते धूमकेतुमवस्थिताः ॥ ३० ॥

राजन् ! अपने तीक्ष्ण (क्रूरतापूर्ण) कर्मोंके द्वारा उपलक्षित होनेवाला राहु (चित्रा और स्वातीके बीचमें रहकर सर्वतोभद्रचक्रगतवेधके अनुसार) कृत्तिका नक्षत्रको पीड़ा दे रहा है । बारंबार धूमकेतुका आश्रय लेकर प्रचण्ड आँधी उठती रहती है ॥ ३० ॥

विषमं जनयन्त्येत आक्रन्दजननं महत् ।
त्रिषु सर्वेषु नक्षत्रनक्षत्रेषु विशाम्पते ।
गृध्रः सम्पतते शीर्षे जनयन् भयमुत्तमम् ॥ ३१ ॥

वह महान् युद्ध एवं विषम परिस्थिति पैदा करनेवाली है । राजन् ! (अश्विनी आदि नक्षत्रोंको तीन भागोंमें बाँटनेपर जो नौ-नौ नक्षत्रोंके तीन समुदाय होते हैं, वे क्रमशः अश्वपति, गजपति तथा नरपतिके छत्र कहलाते हैं; ये ही पापग्रहसे आक्रान्त होनेपर क्षत्रियोंका विनाश सूचित करनेके कारण 'नक्षत्र-नक्षत्र' कहे गये हैं) इन तीनों अथवा सम्पूर्ण नक्षत्र-नक्षत्रोंमें शीर्षस्थानपर यदि पापग्रहसे वेध हो तो वह ग्रह महान् भय उत्पन्न करनेवाला होता है; इस समय ऐसा ही कुयोग आया है ॥ ३१ ॥

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां च षोडशीम् ।
इमां तु नाभिजानेऽहममावास्यां त्रयोदशीम् ।
चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तावेकमासीं त्रयोदशीम् ॥ ३२ ॥

एक तिथिका क्षय होनेपर चौदहवें दिन, तिथिक्षय न होनेपर पंद्रहवें दिन और एक तिथिकी वृद्धि होनेपर सोलहवें दिन अमावास्याका होना तो पहले देखा गया है; परंतु इस पक्षमें जो तेरहवें दिन यह अमावास्या आ गयी है, ऐसा पहले भी कभी हुआ है, इसका स्मरण मुझे नहीं है । इस एक ही महीनेमें तेरह दिनोंके भीतर चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण दोनों लग गये ॥ ३२ ॥

अपर्वणि ग्रहेणैतौ प्रजाः संक्षपयिष्यतः ।
मांसवर्षं पुनस्तीव्रमासीत् कृष्णचतुर्दशीम् ।
शोणितैर्वक्त्रसम्पूर्णा अतृप्तास्तत्र राक्षसाः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार अप्रसिद्ध पर्वमें ग्रहण लगनेके कारण ये सूर्य और चन्द्रमा प्रजाका विनाश करनेवाले होंगे । कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको बड़े जोरसे मांसकी वर्षा हुई थी । उस समय राक्षसोंका मुँह रक्तसे भरा हुआ था । वे खून पीते अघाते नहीं थे ॥ ३३ ॥

प्रतिस्रोतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः ।
फेनायमानाः कूपाश्च कूर्दन्ति वृषभा इव ॥ ३४ ॥

बड़ी-बड़ी नदियोंके जल रक्तके समान लाल हो गये हैं और उनकी धारा उल्टे स्रोतकी ओर बहने लगी है। कुँओंमें फेन ऊपरको उठ रहे हैं, मानो वृषभ उछल रहे हों। ३४।

पतन्त्युल्काः सनिर्घाताः शक्राशनिसमप्रभाः।
अद्य चैव निशां व्युष्टामनयं समवाप्स्यथ ॥ ३५ ॥

बिजलीकी कड़कड़के साथ इन्द्रकी अशनिके समान प्रकाशित होनेवाली उल्काएँ गिर रही हैं। आजकी रात बीतनेपर सबेरेसे ही तुमलोगोंको अपने अन्यायका फल मिलने लगेगा ॥ ३५ ॥

विनिःसृत्य महोल्काभिस्तिमिरं सर्वतोदिशम्।
अन्योन्यमुपतिष्ठद्भिस्तत्र चोक्तं महर्षिभिः ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें अन्धकार व्याप्त होनेके कारण बड़ी-बड़ी मशालें जलाकर घरसे निकले हुए महर्षियोंने एक दूसरेके पास उपस्थित हो इन उत्पातोंके सम्बन्धमें अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है ॥ ३६ ॥

भूमिपालसहस्राणां भूमिः पास्यति शोणितम्।
कैलासमन्दराभ्यां तु तथा हिमवता विभो ॥ ३७ ॥
सहस्रशो महाशब्दः शिखराणि पतन्ति च।

जान पड़ता है, यह भूमि सहस्रों भूमिपालोंका रक्तपान करेगी। प्रभो! कैलास, मन्दराचल तथा हिमालयसे सहस्रों प्रकारके अत्यन्त भयानक शब्द प्रकट होते हैं और उनके शिखर भी टूट-टूटकर गिर रहे हैं ॥ ३७½ ॥

महाभूता भूमिकम्पे चत्वारः सागराः पृथक्।
वेलामुद्वर्तयन्तीव क्षोभयन्तो वसुंधराम् ॥ ३८ ॥

भूकम्प होनेके कारण पृथक्-पृथक् चारों सागर वृद्धिको प्राप्त होकर वसुधामें क्षोभ उत्पन्न करते हुए अपनी सीमाको लाँघते हुए-से जान पड़ते हैं ॥ ३८ ॥

वृक्षानुन्मथ्य वान्त्युग्रा वाताः शर्करकर्षिणः।
आभग्नाः सुमहावातैरशनीभिः समाहताः ॥ ३९ ॥
वृक्षाः पतन्ति चैत्याश्च ग्रामेषु नगरेषु च।

बालू और कंकड़ खींचकर बरसानेवाले भयानक बवंडर उठकर वृक्षोंको उखाड़े डालते हैं। गाँवों तथा नगरोंमें वृक्ष और चैत्यवृक्ष प्रचण्ड आँधियों तथा बिजलीके आघातोंसे टूटकर गिर रहे हैं ॥ ३९½ ॥

नीललोहितपीतश्च भवत्यग्निर्हुतो द्विजैः ॥ ४० ॥
वामार्चिर्दुष्टगन्धश्च मुञ्चन् वै दारुणं स्वनम्।
स्पर्शा गन्धा रसाश्चैव विपरीता महीपते ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणलोगोंके आहुति देनेपर प्रज्वलित हुई अग्नि काले, लाल और पीले रंगकी दिखायी देती है। उसकी लपटें वामावर्त होकर उठ रही हैं। उससे दुर्गन्ध निकलती है और वह भयानक शब्द प्रकट करती रहती है। राजन्! स्पर्श, गन्ध तथा रस—इन सबकी स्थिति विपरीत हो गयी है॥

धूमं ध्वजाः प्रमुञ्चन्ति कम्पमाना मुहुर्मुहुः।
मुञ्चन्त्यङ्गारवर्षं च भेर्यश्च पटहास्तथा ॥ ४२ ॥

ध्वज बारंबार कम्पित होकर धूआँ छोड़ते हैं। ढोल, नगाड़े अङ्गारोंकी वर्षा करते हैं ॥ ४२ ॥

शिखराणां समृद्धानामुपरिष्टात् समन्ततः।
वायसाश्च रुवन्त्युग्रं वामं मण्डलमाश्रिताः ॥ ४३ ॥

फल-फूलसे सम्पन्न वृक्षोंकी शिखाओंपर बायीं ओरसे घूम-घूमकर सब ओर कौए बैठते हैं और भयंकर काँव-काँवका कोलाहल करते हैं ॥ ४३ ॥

पक्कापक्केति सुभृशं वावाद्यन्ते वयांसि च।
निलीयन्ते ध्वजाग्रेषु क्षयाय पृथिवीक्षिताम् ॥ ४४ ॥

बहुत-से पक्षी 'पक्वा-पक्वा' इस शब्दका बारंबार जोर-जोरसे उच्चारण करते और ध्वजाओंके अग्रभागमें छिपते हैं। यह लक्षण राजाओंके विनाशका सूचक है ॥ ४४ ॥

ध्यायन्तः प्रकिरन्तश्च व्याला वेपथुसंयुताः।
दीनास्तुरङ्गमाः सर्वे वारणाः सलिलाश्रयाः ॥ ४५ ॥

दुष्ट हाथी काँपते और चिन्ता करते हुए भयके मारे मल-मूत्र त्याग कर रहे हैं, घोड़े अत्यन्त दीन हो रहे हैं और सम्पूर्ण गजराज पसीने-पसीने हो रहे हैं ॥ ४५ ॥

एतच्छ्रुत्वा भवानत्र प्राप्तकालं व्यवस्यताम्।
यथा लोकः समुच्छेदं नायं गच्छेत भारत ॥ ४६ ॥

भारत! यह सुनकर (और उसके परिणामपर विचार करके) तुम इस अवसरके अनुरूप ऐसा कोई उपाय करो, जिससे यह संसार विनाशसे बच जाय ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

पितुर्वचो निशम्यैतद् धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम्।
दिष्टमेतत् पुरा मन्ये भविष्यति नरक्षयः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पिता व्यासजीका यह वचन सुनकर धृतराष्ट्रने कहा—'भगवन्! मैं तो इसे पूर्वनिश्चित दैवका विधान मानता हूँ; अतः यह जनसंहार होगा ही ॥ ४७ ॥

राजानः क्षत्रधर्मेण यदि वध्यन्ति संयुगे।
वीरलोकं समासाद्य सुखं प्राप्स्यन्ति केवलम् ॥ ४८ ॥

'यदि राजालोग क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्धमें मारे जायँगे तो वीरलोकको प्राप्त होकर केवल सुखके भागी होंगे ॥

इह कीर्तिं परे लोके दीर्घकालं महत् सुखम्।
प्राप्स्यन्ति पुरुषव्याघ्राः प्राणांस्त्यक्त्वा महाहवे॥ ४९ ॥

'वे पुरुषसिंह नरेश महायुद्धमें प्राणोंका परित्याग करके इहलोकमें कीर्ति तथा परलोकमें दीर्घकालतक महान् सुख प्राप्त करेंगे' ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो मुनिस्तत्त्वं कवीन्द्रो राजसत्तम।
धृतराष्ट्रेण पुत्रेण ध्यानमन्वगमत् परम् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! अपने पुत्र

धृतराष्ट्रके इस प्रकार यथार्थ बात कहनेपर ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महर्षि व्यास कुछ देरतक बड़े सोच-विचारमें पड़े रहे ॥ ५० ॥

स मुहूर्तं तथा ध्यात्वा पुनरेवाब्रवीद् वचः।
असंशयं पार्थिवेन्द्र कालः संक्षिपते जगत् ॥ ५१ ॥
सृजते च पुनर्लोकान् नेह विद्यति शाश्वतम्।

दो घड़ीतक चिन्तन करनेके बाद वे पुनः इस प्रकार बोले—'राजेन्द्र ! इसमें संशय नहीं है कि काल ही इस जगत्का संहार करता है और वही पुनः इन सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करता है। यहाँ कोई वस्तु सदा रहनेवाली नहीं है ॥५१½॥

ज्ञातीनां वै कुरूणां च सम्बन्धिसुहृदां तथा ॥५२॥
धर्म्यं देशय पन्थानं समर्थो ह्यसि वारणे।
क्षुद्रं ज्ञातिवधं प्राहुर्मा कुरुष्व ममाप्रियम् ॥ ५३ ॥

'राजन् ! तुम अपने जाति-भाई, कौरवों, सगे-सम्बन्धियों तथा हितैषी-सुहृदोंको धर्मानुकूल मार्गका उपदेश करो; क्योंकि तुम उन सबको रोकनेमें समर्थ हो। जाति-वधको अत्यन्त नीच कर्म बताया गया है। वह मुझे अत्यन्त अप्रिय है। तुम यह अप्रिय कार्य न करो ॥ ५२-५३ ॥

कालोऽयं पुत्ररूपेण तव जातो विशाम्पते।
न वधः पूज्यते वेदे हितं नैव कथंचन ॥ ५४ ॥

'महाराज ! यह काल तुम्हारे पुत्ररूपसे उत्पन्न हुआ है। वेदमें हिंसाकी प्रशंसा नहीं की गयी है। हिंसासे किसी प्रकार हित नहीं हो सकता ॥ ५४ ॥

हन्यात् स एनं यो हन्यात् कुलधर्मं स्विकां तनुम्।
कालेनोत्पथगन्तासि शक्ये सति यथाऽऽपदि ॥ ५५॥

'कुल-धर्म अपने शरीरके ही समान है। जो इस कुल-धर्मका नाश करता है, उसे वह धर्म ही नष्ट कर देता है। जबतक धर्मका पालन सम्भव है (जबतक तुमपर कोई आपत्ति नहीं आयी है), तबतक तुम कालसे प्रेरित होकर ही धर्मकी अवहेलना करके कुमार्गपर चल रहे हो, जैसा कि बहुधा लोग किसी आपत्तिमें पड़नेपर ही करते हैं ॥ ५५ ॥

कुलस्यास्य विनाशाय तथैव च महीक्षिताम्।
अनर्थो राज्यरूपेण तव जातो विशाम्पते ॥ ५६ ॥

'राजन् ! तुम्हारे कुलका तथा अन्य बहुत-से राजाओंका विनाश करनेके लिये यह तुम्हारे राज्यके रूपमें अनर्थ ही प्राप्त हुआ है ॥ ५६ ॥

लुप्तधर्मा परेणासि धर्मं दर्शय वै सुतान्।
किं ते राज्येन दुर्धर्ष येन प्राप्तोऽसि किल्बिषम् ॥ ५७ ॥

'तुम्हारा धर्म अत्यन्त लुप्त हो गया है। अपने पुत्रोंको धर्मका मार्ग दिखाओ। दुर्धर्ष वीर ! तुम्हें राज्य लेकर क्या करना है, जिसके लिये अपने ऊपर पापका बोझ लाद रहे हो ?॥

यशो धर्मं च कीर्तिं च पालयन् स्वर्गमाप्स्यसि।
लभन्तां पाण्डवा राज्यं शमं गच्छन्तु कौरवाः ॥५८॥

'तुम मेरी बात माननेपर यश, धर्म और कीर्तिका पालन करते हुए स्वर्ग प्राप्त कर लोगे। पाण्डवोंको उनके राज्य प्राप्त हों और समस्त कौरव आपसमें संधि करके शान्त हो जायँ' ५८

एवं ब्रुवति विप्रेन्द्रे धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
आक्षिप्य वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यं चैवाब्रवीत् पुनः॥५९॥

विप्रवर व्यासजी जब इस प्रकार उपदेश दे रहे थे, उसी समय बोलनेमें चतुर अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने बीचमें ही उनकी बात काटकर उनसे इस प्रकार कहा ॥ ५९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यथा भवान् वेत्ति तथैव वेत्ता
भावाभावौ विदितौ मे यथार्थौ।
स्वार्थे हि सम्मुह्यति तात लोको
मां चापि लोकात्मकमेव विद्धि ॥ ६० ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! जैसा आप जानते हैं, उसी प्रकार मैं भी इन बातोंको समझता हूँ। भाव और अभावका यथार्थ स्वरूप मुझे भी ज्ञात है, तथापि यह संसार अपने स्वार्थके लिये मोहमें पड़ा रहता है। मुझे भी संसारसे अभिन्न ही समझें॥

प्रसादये त्वामतुलप्रभावं
त्वं नो गतिर्दर्शयिता च धीरः।
न चापि ते मद्वशगा महर्षे
न चाधर्मं कर्तुमर्हा हि मे मतिः ॥ ६१ ॥

आपका प्रभाव अनुपम है। आप हमारे आश्रय, मार्गदर्शक तथा धीर पुरुष हैं। मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। महर्षे ! मेरी बुद्धि भी अधर्म करना नहीं चाहती; परंतु क्या करूँ ? मेरे पुत्र मेरे वशमें नहीं हैं ॥ ६१ ॥

त्वं हि धर्मप्रवृत्तिश्च यशः कीर्तिश्च भारती।
कुरूणां पाण्डवानां च मान्यश्चापि पितामहः ॥ ६२ ॥

आप ही हम भरतवंशियोंकी धर्म-प्रवृत्ति, यश तथा कीर्तिके हेतु हैं। आप कौरवों और पाण्डवों—दोनोंके माननीय पितामह हैं ॥ ६२ ॥

व्यास उवाच

वैचित्रवीर्य नृपते यत् ते मनसि वर्तते।
अभिधत्स्व यथाकामं छेत्तास्मि तव संशयम् ॥ ६३ ॥

व्यासजी बोले—विचित्रवीर्यकुमार ! नरेश्वर ! तुम्हारे मनमें जो संदेह है, उसे अपनी इच्छाके अनुसार प्रकट करो। मैं तुम्हारे संशयका निवारण करूँगा ॥ ६३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानि लिङ्गानि संग्रामे भवन्ति विजयिष्यताम्।
तानि सर्वाणि भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ६४ ॥

धृतराष्ट्र बोले— भगवन् ! युद्धमें निश्चितरूपसे विजय पानेवाले लोगोंको जो शुभ लक्षण दीख पड़ते हैं, उन सबको यथार्थरूपसे सुननेकी मेरी इच्छा है ॥ ६४ ॥

व्यास उवाच

प्रसन्नभाः पावक ऊर्ध्वरश्मिः
प्रदक्षिणावर्तशिखो विधूमः ।
पुण्या गन्धाश्चाहुतीनां प्रवान्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ६५ ॥

व्यासजीने कहा—अग्निकी प्रभा निर्मल हो, उसकी लपटें ऊपरकी ओर दक्षिणावर्त होकर उठें और धूआँ बिल्कुल न रहे; साथ ही अग्निमें जो आहुतियाँ डाली जायँ, उनकी पवित्र सुगन्ध वायुमें मिलकर सर्वत्र व्याप्त होती रहे—यह भावी विजयका स्वरूप (लक्षण) बताया गया है ॥ ६५ ॥

गम्भीरघोषाश्च महास्वनाश्च
शङ्खा मृदङ्गाश्च नदन्ति यत्र ।
विशुद्धरश्मिस्तपनः शशी च
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ६६ ॥

जिस पक्षमें शङ्खों और मृदङ्गोंकी गम्भीर आवाज बड़े जोर-जोरसे हो रही हो तथा जिन्हें सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें विशुद्ध प्रतीत होती हों, उनके लिये यह भावी विजयका शुभ लक्षण बताया है ॥ ६६ ॥

इष्टा वाचः प्रसृता वायसानां
सम्प्रस्थितानां च गमिष्यतां च ।
ये पृष्ठतस्ते त्वरयन्ति राजन्
ये चाग्रतस्ते प्रतिषेधयन्ति ॥ ६७ ॥

जिनके प्रस्थित होनेपर अथवा प्रस्थानके लिये उद्यत होनेपर कौवोंकी मीठी आवाज फैलती है, उनकी विजय सूचित होती है; राजन् ! जो कौवे पीछे बोलते हैं, वे मानो सिद्धिकी सूचना देते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़नेके लिये प्रेरित करते हैं और जो सामने बोलते हैं, वे मानो युद्धमें जानेसे रोकते हैं ॥ ६७ ॥

कल्याणवाचः शकुना राजहंसाः
शुकाः क्रौञ्चाः शतपत्राश्च यत्र ।
प्रदक्षिणाश्चैव भवन्ति संख्ये
ध्रुवं जयस्तत्र वदन्ति विप्राः ॥ ६८ ॥

जहाँ शुभ एवं कल्याणमयी बोली बोलनेवाले राजहंस, शुक, क्रौञ्च तथा शतपत्र (मोर) आदि पक्षी सैनिकोंकी प्रदक्षिणा करते हैं (दाहिने जाते हैं), उस पक्षकी युद्धमें निश्चितरूपसे विजय होती है, यह ब्राह्मणोंका कथन है ॥ ६८ ॥

अलङ्कारैः कवचैः केतुभिश्च
सुखप्रणादैर्हेषितैर्वा हयानाम् ।
भ्राजिष्मती दुष्प्रतिवीक्षणीया
येषां चमूस्ते विजयन्ति शत्रून् ॥ ६९ ॥

अलङ्कार, कवच, ध्वजा-पताका, सुखपूर्वक किये जानेवाले सिंहनाद अथवा घोड़ोंके हिनहिनानेकी आवाजसे जिनकी सेना अत्यन्त शोभायमान होती है तथा शत्रुओंको जिनकी सेनाकी ओर देखना भी कठिन जान पड़ता है, वे अवश्य अपने विपक्षियोंपर विजय पाते हैं ॥ ६९ ॥

हृष्टा वाचस्तथा सत्त्वं योधानां यत्र भारत ।
न म्लायन्ति स्रजश्चैव ते तरन्ति रणोदधिम् ॥ ७० ॥

भारत ! जिस पक्षके योद्धाओंकी बातें हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण होती हैं, मन प्रसन्न रहता है तथा जिनके कण्ठमें पड़ी हुई पुष्पमालाएँ कुम्हलाती नहीं हैं, वे युद्धरूपी महासागरसे पार हो जाते हैं ॥ ७० ॥

इष्टा वाचः प्रविष्टस्य दक्षिणाः प्रविविक्षतः ।
पश्चात् संधारयन्त्यर्थमग्रे च प्रतिषेधिकाः ॥ ७१ ॥

जिस पक्षके योद्धा शत्रुकी सेनामें प्रवेश करनेकी इच्छा करते समय अथवा उसमें प्रवेश कर लेनेपर अभीष्ट वचन (मैं तुझे अभी मार भगाता हूँ इत्यादि शौर्यसूचक बातें) बोलते हैं और अपने रणकौशलका परिचय देते हैं, वे पीछे प्राप्त होनेवाली अपनी विजयको पहलेसे ही निश्चित कर लेते हैं । इसके विपरीत जिन्हें शत्रुसेनामें प्रवेश करते समय सामनेसे निषेधसूचक वचन सुननेको मिलते हैं, उनकी पराजय होती है॥

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धाश्चाविकृताः शुभाः ।
सदा हर्षश्च योधानां जयतामिह लक्षणम् ॥ ७२ ॥

जिनके शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि निर्विकार एवं शुभ होते हैं तथा जिन योद्धाओंके हृदयमें सदा हर्ष और उत्साह बना रहता है, उनके विजयी होनेका यही शुभ लक्षण है ॥ ७२ ॥

अनुगा वायवो वान्ति तथाभ्राणि वयांसि च ।
अनुप्लवन्ति मेघाश्च तथैवेन्द्रधनूंषि च ॥ ७३ ॥
एतानि जयमानानां लक्षणानि विशाम्पते ।
भवन्ति विपरीतानि मुमूर्षूणां जनाधिप ॥ ७४ ॥

राजन् ! हवा जिनके अनुकूल बहती है, बादल और पक्षी भी जिनके अनुकूल होते हैं, मेघ जिनके पीछे-पीछे छत्र-छाया किये चलते हैं तथा इन्द्रधनुष भी जिन्हें अनुकूल दिशामें ही दृष्टिगोचर होते हैं, उन विजयी वीरोंके लिये ये विजयके शुभ लक्षण हैं । जनेश्वर ! मरणासन्न मनुष्योंको इसके विपरीत अशुभ लक्षण दिखायी देते हैं ॥ ७३-७४ ॥

अल्पायां वा महत्यां वा सेनायामिति निश्चयः ।
हर्षो योधगणस्यैको जयलक्षणमुच्यते ॥ ७५ ॥

सेना छोटी हो या बड़ी, उसमें सम्मिलित होनेवाले सैनिकोंका एकमात्र हर्ष ही निश्चितरूपसे विजयका लक्षण बताया जाता है ॥ ७५ ॥

एको दीर्णो दारयति सेनां सुमहतीमपि ।
तां दीर्णामनुदीर्यन्ते योधाः शूरतरा अपि ॥ ७६ ॥

यदि सेनाका एक सैनिक भी उत्साहहीन होकर पीछे हटे तो वह अपनी ही देखा-देखी अत्यन्त विशाल सेनाको

भी भगा देता है (उसके भागनेमें कारण बन जाता है)। उस सेनाके पलायन करनेपर बड़े-बड़े शूरवीर सैनिक भी भागनेको विवश होते हैं ॥ ७६ ॥

दुर्निवर्त्या तदा चैव प्रभग्ना महती चमूः ।
अपामिव महावेगास्त्रस्ता मृगगणा इव ॥ ७७ ॥

जब बड़ी भारी सेना भागने लगती है, तब डरकर भागे हुए मृगोंके झुंड तथा नीची भूमिकी ओर बहनेवाले जलके महान् वेगकी भाँति उसे पीछे लौटाना बहुत कठिन है ॥ ७७ ॥

नैव शक्या समाधातुं संनिपाते महाचमूः ।
दीर्णामित्येव दीर्यन्ते सुविद्वांसोऽपि भारत ॥ ७८ ॥

भरतनन्दन ! विशाल सेनामें जब भगदड़ मच जाती है, तब उसे समझा-बुझाकर रोकना कठिन हो जाता है। सेना भाग रही है, इतना सुनकर ही बड़े-बड़े युद्धविद्याके विद्वान् भी भागने लगते हैं ॥ ७८ ॥

भीतान् भग्नांश्च सम्प्रेक्ष्य भयं भूयोऽभिवर्धते ।
प्रभग्ना सहसा राजन् दिशो विद्रवते चमूः ॥ ७९ ॥

राजन् ! भयभीत होकर भागते हुए सैनिकोंको देखकर अन्य योद्धाओंका भय बहुत अधिक बढ़ जाता है; फिर तो सहसा सारी सेना हतोत्साह होकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगती है ॥ ७९ ॥

नैव स्थापयितुं शक्या शूरैरपि महाचमूः ।
सत्कृत्य महतीं सेनां चतुरङ्गां महीपतिः ।
उपायपूर्वं मेधावी यतेत सततोत्थितः ॥ ८० ॥

उस समय बहुत-से शूर-वीर भी उस विशाल वाहिनीको रोककर खड़ी नहीं रख सकते। इसलिये बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि वह सतत सावधान रहकर कोई-न-कोई उपाय करके अपनी विशाल चतुरंगिणी सेनाको विशेष सत्कारपूर्वक स्थिर रखनेका यत्न करे ॥ ८० ॥

उपायविजयं श्रेष्ठमाहुर्भेदेन मध्यमम् ।
जघन्य एष विजयो यो युद्धेन विशाम्पते ॥ ८१ ॥

राजन् ! साम-दानरूप उपायसे जो विजय प्राप्त होती है, उसे श्रेष्ठ बताया गया है। भेदनीतिके द्वारा शत्रुसेनामें फूट डालकर जो विजय प्राप्त की जाती है, वह मध्यम है तथा युद्धके द्वारा मार-काट मचाकर जो शत्रुको पराजित किया जाता है, वह सबसे निम्नश्रेणीकी विजय है ॥ ८१ ॥

महादोषः संनिपातस्तस्याद्यः क्षय उच्यते ।
परस्परज्ञाः संहृष्टा व्यवधूताः सुनिश्चिताः ॥ ८२ ॥
पञ्चाशदपि ये शूरा मृद्नन्ति महतीं चमूम् ।
अपि वा पञ्च षट् सप्त विजयन्त्यनिवर्तिनः ॥ ८३ ॥

युद्ध महान् दोषका भण्डार है। उन दोषोंमें सबसे प्रधान है जनसंहार। यदि एक दूसरेको जाननेवाले, हर्ष और उत्साहमें भरे रहनेवाले, कहीं भी आसक्त न होकर विजय-प्राप्तिका दृढ़ निश्चय रखनेवाले तथा शौर्यसम्पन्न पचास सैनिक भी हों तो वे बड़ी भारी सेनाको धूलमें मिला देते हैं। यदि पीछे पैर न हटानेवाले पाँच, छः और सात ही योद्धा हों तो वे भी निश्चितरूपसे विजयी होते हैं ॥ ८२-८३ ॥

न वैनतेयो गरुडः प्रशंसति महाजनम् ।
दृष्ट्वा सुपर्णोऽपचितिं महत्या अपि भारत ॥ ८४ ॥

भारत ! सुन्दर पंखोंवाले विनतानन्दन गरुड़ विशाल सेनाका भी विनाश होता देखकर अधिक जनसमूहकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ ८४ ॥

न बाहुल्येन सेनाया जयो भवति नित्यशः ।
अध्रुवो हि जयो नाम दैवं चात्र परायणम् ।
जयवन्तो हि संग्रामे कृतकृत्या भवन्ति हि ॥ ८५ ॥

सदा अधिक सेना होनेसे ही विजय नहीं होती है। युद्धमें जीत प्रायः अनिश्चित होती है। उसमें दैव ही सबसे बड़ा सहारा है। जो संग्राममें विजयी होते हैं, वे ही कृतकार्य होते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि निमित्ताख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें अमङ्गलसूचक उत्पातों तथा विजयसूचक लक्षणोंका वर्णनविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजयके द्वारा भूमिके महत्त्वका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ व्यासो धृतराष्ट्राय धीमते ।
धृतराष्ट्रोऽपि तच्छ्रुत्वा ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रसे ऐसा कहकर महर्षि व्यासजी चले गये। धृतराष्ट्र भी उनके पूर्वोक्त वचन सुनकर कुछ कालतक उनपर सोच-विचार करते रहे ॥ १ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः ।
संजयं संशितात्मानमपृच्छद् भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! दो घड़ीतक सोचने-विचारनेके पश्चात् बारंबार लम्बी साँस खींचते हुए उन्होंने विशुद्ध हृदयवाले संजयसे पूछा—॥ २ ॥

संजयेमे महीपालाः शूरा युद्धाभिनन्दिनः ।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्ति शस्त्रैरुच्चावचैरिह ॥ ३ ॥
पार्थिवाः पृथिवीहेतोः समभित्यज्य जीवितम् ।
न च शाम्यन्ति निघ्नन्तो वर्धयन्ति यमक्षयम् ॥ ४ ॥
भौममैश्वर्यमिच्छन्तो न मृष्यन्ते परस्परम् ।
मन्ये बहुगुणा भूमिस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ५ ॥

'संजय ! पृथ्वीका पालन करनेवाले ये शूरवीर नरेश इस भूमिके लिये ही अपना जीवन निछावर करके युद्धका अभिनन्दन करते और छोटे-बड़े अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा एक दूसरेपर घातक प्रहार करते हैं । इस भूतलके ऐश्वर्यको स्वयं ही चाहते हुए वे एक दूसरेको सहन नहीं कर पाते हैं । परस्पर प्रहार करते हुए यमलोककी जनसंख्या बढ़ाते हैं, परंतु शान्त नहीं होते हैं । अतः मैं ऐसा मानता हूँ कि यह भूमि बहुसंख्यक गुणोंसे विभूषित है । इसलिये संजय ! तुम मुझसे इस भूमिके गुणोंका ही वर्णन करो ॥ ३–५ ॥

बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
कोटयश्च लोकवीराणां समेताः कुरुजाङ्गले ॥ ६ ॥

'कुरुक्षेत्रमें इस जगत्‌के कई हजार, लाख, करोड़ और अरबों वीर एकत्र हुए हैं ॥ ६ ॥

देशानां च परीमाणं नगराणां च संजय ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन यत एते समागताः ॥ ७ ॥

'संजय ! ये लोग जहाँ-जहाँसे आये हैं, उन देशों और नगरोंका यथार्थ परिमाण मैं तुमसे सुनना चाहता हूँ ॥ ७ ॥

दिव्यबुद्धिप्रदीपेन युक्तस्त्वं ज्ञानचक्षुषा ।
प्रभावात् तस्य विप्रर्षेर्व्यासस्यामिततेजसः ॥ ८ ॥

'क्योंकि तुम अमित तेजस्वी ब्रह्मर्षि व्यासजीके प्रभावसे दिव्य बुद्धिरूपी प्रदीपसे प्रकाशित ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न हो गये हो' ॥

संजय उवाच

यथाप्रज्ञं महाप्राज्ञ भौमान् वक्ष्यामि ते गुणान् ।
शास्त्रचक्षुरवेक्षस्व नमस्ते भरतर्षभ ॥ ९ ॥

संजयने कहा—महाप्राज्ञ ! मैं अपनी बुद्धिके अनुसार आपसे इस भूमिके गुणोंका वर्णन करूँगा । भरतश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है; आप शास्त्रदृष्टिसे इस विषयको देखिये और समझिये ॥ ९ ॥

द्विविधानीह भूतानि चराणि स्थावराणि च ।
त्रसानां त्रिविधा योनिरण्डस्वेदजरायुजाः ॥ १० ॥

राजन् ! इस पृथ्वीपर दो तरहके प्राणी उपलब्ध हैं—स्थावर और जङ्गम । जङ्गम प्राणियोंकी उत्पत्तिके तीन स्थान हैं—अण्डज, स्वेदज और जरायुज ॥ १० ॥

त्रसानां खलु सर्वेषां श्रेष्ठा राजन् जरायुजाः ।
जरायुजानां प्रवरा मानवाः पशवश्च ये ॥ ११ ॥

राजन् ! सम्पूर्ण जङ्गम जीवोंमें जरायुज श्रेष्ठ माने गये हैं, जरायुजोंमें भी मनुष्य और पशु उत्तम हैं ॥ ११ ॥

नानारूपधरा राजंस्तेषां भेदाश्चतुर्दश ।
वेदोक्ताः पृथिवीपाल येषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥ १२ ॥

वे नाना प्रकारकी आकृतिवाले होते हैं । राजन् ! उनके चौदह भेद हैं, जो वेदोंमें बताये गये हैं । भूपाल ! उन्हींमें यज्ञोंकी प्रतिष्ठा है ॥ १२ ॥

ग्राम्याणां पुरुषाः श्रेष्ठाः सिंहाश्चारण्यवासिनाम् ।
सर्वेषामेव भूतानामन्योन्येनोपजीवनम् ॥ १३ ॥

ग्रामवासी पशु और मनुष्योंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं और वनवासी पशुओंमें सिंह श्रेष्ठ हैं । समस्त प्राणियोंका जीवन-निर्वाह एक दूसरेके सहयोगसे होता है ॥ १३ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः प्रोक्तास्तेषां पञ्चैव जातयः ।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ॥ १४ ॥

स्थावरोंको उद्भिज कहते हैं । उनकी पाँच ही जातियाँ हैं—वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली और त्वक्सार (बाँस आदि) । ये सब तृणवर्गकी जातियाँ हैं ॥ १४ ॥

तेषां विंशतिरेकोना महाभूतेषु पञ्चसु ।
चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गायत्री लोकसम्मता ॥ १५ ॥

ये स्थावर-जङ्गमरूप उन्नीस प्राणी हैं । इनके साथ पाँच महाभूतोंको गिन लेनेपर इनकी संख्या चौबीस हो जाती है । गायत्रीके भी चौबीस ही अक्षर होते हैं । इसलिये इन चौबीस भूतोंको भी लोकसम्मत गायत्री कहा गया है ॥ १५ ॥

य एतां वेद गायत्रीं पुण्यां सर्वगुणान्विताम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ स लोके न प्रणश्यति ॥ १६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो लोकमें स्थित इस सर्वगुणसम्पन्न पुण्यमयी गायत्रीको यथार्थरूपसे जानता है, वह कभी नष्ट नहीं होता ॥ १६ ॥

अरण्यवासिनः सप्त सप्तैषां ग्रामवासिनः ।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च महिषा वारणास्तथा ॥ १७ ॥
ऋक्षाश्च वानराश्चैव सप्तारण्याः स्मृता नृप ।

नरेश्वर! उपर्युक्त चौदह प्रकारके जरायुज प्राणियोंमें वनवासी पशु सात हैं और ग्रामवासी भी सात ही हैं । सिंह, व्याघ्र, वराह, महिष, गज, रीछ और वानर—ये सात वनवासी पशु माने गये हैं ॥

गौरजाविमनुष्याश्च अश्वाश्वतरगर्दभाः ॥ १८ ॥
एते ग्राम्याः समाख्याताः पशवः सप्त साधुभिः ।
एते वै पशवो राजन् ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश ॥ १९ ॥

गाय, बकरी, भेड़, मनुष्य, घोड़े, खच्चर और गदहे—इन सात पशुओंको साधु पुरुषोंने ग्रामवासी बताया है । राजन् ! इस प्रकार ये ग्रामवासी और वनवासी मिलकर कुल चौदह पशु कहे गये हैं ॥ १८-१९ ॥

भूमौ च जायते सर्वं भूमौ सर्वं विनश्यति ।
भूमिः प्रतिष्ठा भूतानां भूमिरेव परायणम् ॥ २०

सब कुछ इस भूमिपर ही उत्पन्न होता है और भूमिमें ही विलीन होता है। भूमि ही सब प्राणियोंकी प्रतिष्ठा और भूमि ही सबका परम आश्रय है ॥ २० ॥

यस्य भूमिस्तस्य सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
तत्रातिगृद्धा राजानो विनिघ्नन्तीतरेतरम् ॥ २१ ॥

जिसके अधिकारमें भूमि है, उसीके अधिकारमें सम्पूर्ण चराचर जगत् है, इसीलिये भूमिके प्रति आसक्ति रखनेवाले राजालोग एक-दूसरेको मारते हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भौमगुणकथने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भूमिगुणवर्णनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतों तथा सुदर्शनद्वीपका संक्षिप्त वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

नदीनां पर्वतानां च नामधेयानि संजय।
तथा जनपदानां च ये चान्ये भूमिमाश्रिताः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! नदियों, पर्वतों तथा जनपदोंके और दूसरे भी जो पदार्थ इस भूतलपर आश्रित हैं, उन सबके नाम बताओ ॥ १ ॥

प्रमाणं च प्रमाणज्ञ पृथिव्या मम सर्वतः।
निखिलेन समाचक्ष्व काननानि च संजय ॥ २ ॥

प्रमाणवेत्ता संजय ! तुम सारी पृथ्वीका पूरा प्रमाण (लम्बाई-चौड़ाईका माप) मुझे बताओ । साथ ही यहाँके वनोंका भी वर्णन करो ॥ २ ॥

संजय उवाच

पञ्चेमानि महाराज महाभूतानि संग्रहात्।
जगतीस्थानि सर्वाणि समान्याहुर्मनीषिणः ॥ ३ ॥

संजय बोले—महाराज ! इस पृथ्वीपर रहनेवाली जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब संक्षेपसे पञ्चमहाभूतस्वरूप हैं। इसीलिये मनीषी पुरुष उन सबको 'सम'[1] कहते हैं॥

भूमिरापस्तथा वायुरग्निराकाशमेव च।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां भूमिः प्रधानतः ॥ ४ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि—ये पञ्च महाभूत हैं। आकाशसे लेकर भूमितक जो पञ्चमहाभूतोंका क्रम है, उसमें पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सब भूतोंमें एक-एक गुण अधिक होते हैं। इन सब भूतोंमें भूमिकी प्रधानता है ॥ ४ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
भूमेरेते गुणाः प्रोक्ता ऋषिभिस्तत्त्ववेदिभिः ॥ ५ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचोंको तत्त्ववेत्ता महर्षियोंने पृथ्वीका गुण बताया है ॥ ५ ॥

चत्वारोऽप्सु गुणा राजन् गन्धस्तत्र न विद्यते।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः।
शब्दः स्पर्शश्च वायोस्तु आकाशे शब्द एव तु ॥ ६ ॥

राजन् ! जलमें चार ही गुण हैं। उसमें गन्धका अभाव है। तेजके शब्द, स्पर्श तथा रूप—ये तीन गुण हैं। वायुके शब्द और स्पर्श दो ही गुण हैं और आकाशका एक मात्र शब्द ही गुण है ॥ ६ ॥

एते पञ्च गुणा राजन् महाभूतेषु पञ्चसु।
वर्तन्ते सर्वलोकेषु येषु भूताः प्रतिष्ठिताः ॥ ७ ॥

राजन् ! ये पाँच गुण सम्पूर्ण लोकोंके आश्रयभूत पञ्चमहाभूतोंमें रहते हैं। जिनमें समस्त प्राणी प्रतिष्ठित हैं ॥ ७ ॥

अन्योन्यं नाभिवर्तन्ते साम्यं भवति वै यदा ॥ ८ ॥

ये पाँचों गुण जब साम्यावस्थामें रहते हैं, तब एक-दूसरेसे संयुक्त नहीं होते हैं ॥ ८ ॥

यदा तु विषमीभावमाविशन्ति परस्परम्।
तदा देहैर्देहवन्तो व्यतिरोहन्ति नान्यथा ॥ ९ ॥

जब ये विषमभावको प्राप्त होते हैं, तब एक-दूसरेसे मिल जाते हैं। उस समय ही देहधारी प्राणी अपने शरीरोंसे संयुक्त होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ ९ ॥

आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः।
सर्वाण्यपरिमेयाणि तदेषां रूपमैश्वरम् ॥ १० ॥

ये सब भूत क्रमसे नष्ट होते और क्रमसे ही उत्पन्न होते हैं (पृथ्वी आदिके क्रमसे इनका लय होता है और आकाश आदिके क्रमसे इनका प्रादुर्भाव) । ये सब अपरिमेय हैं। इनका रूप ईश्वरकृत है ॥ १० ॥

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः।
तेषां मनुष्यास्तर्केण प्रमाणानि प्रचक्षते ॥ ११ ॥

भिन्न-भिन्न लोकोंमें पाञ्चभौतिक धातु दृष्टिगोचर होते हैं। मनुष्य तर्कके द्वारा उनके प्रमाणोंका प्रतिपादन करते हैं ॥

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत् तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

परंतु जो अचिन्त्य भाव हैं, उन्हें तर्कसे सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। जो प्रकृतिसे परे है, वही अचिन्त्यस्वरूप है ॥ १२ ॥

सुदर्शनं प्रवक्ष्यामि द्वीपं तु कुरुनन्दन।
परिमण्डलो महाराज द्वीपोऽसौ चक्रसंस्थितः ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन ! अब मैं सुदर्शन नामक द्वीपका वर्णन

[1] १. एक समान।

करूँगा। महाराज! वह द्वीप चक्रकी भाँति गोलाकार स्थित है ॥

नदीजलप्रतिच्छन्नः पर्वतैश्चाभ्रसंनिभैः।
पुरैश्च विविधाकारै रम्यैर्जनपदैस्तथा ॥ १४ ॥
वृक्षैः पुष्पफलोपेतैः सम्पन्नधनधान्यवान्।
लवणेन समुद्रेण समन्तात् परिवारितः ॥ १५ ॥

वह नाना प्रकारकी नदियोंके जलसे आच्छादित, मेघके समान उच्चतम पर्वतोंसे सुशोभित, भाँति-भाँतिके नगरों, रमणीय जनपदों तथा फल-फूलसे भरे हुए वृक्षोंसे विभूषित है। यह द्वीप भाँति-भाँतिकी सम्पदाओं तथा धन-धान्यसे सम्पन्न है। उसे सब ओरसे लवणसमुद्रने घेर रक्खा है ॥

यथा हि पुरुषः पश्येदादर्शे मुखमात्मनः।
एवं सुदर्शनद्वीपो दृश्यते चन्द्रमण्डले ॥ १६ ॥

जैसे पुरुष दर्पणमें अपना मुँह देखता है, उसी प्रकार सुदर्शनद्वीप चन्द्रमण्डलमें दिखायी देता है ॥ १६ ॥

द्विरंशे पिप्पलस्तत्र द्विरंशे च शशो महान्।
सर्वौषधिसमावायः सर्वतः परिवारितः ॥ १७ ॥

इसके दो अंशमें पिप्पल और दो अंशमें महान् शश दृष्टिगोचर होता है । इनके सब ओर सम्पूर्ण ओषधियोंका समुदाय फैला हुआ है ॥ १७ ॥

आपस्ततोऽन्या विज्ञेयाः शेषः संक्षेप उच्यते।
ततोऽन्य उच्यते चायमेनं संक्षेपतः शृणु ॥ १८ ॥

इन सबको छोड़कर शेष स्थान जलमय समझना चाहिये। इससे भिन्न संक्षिप्त भूमिखण्ड बताया जाता है। उस खण्डका मैं संक्षेपसे वर्णन करता हूँ, उसे सुनिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि सुदर्शनद्वीपवर्णने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें सुदर्शनद्वीपवर्णनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

सुदर्शनके वर्ष, पर्वत, मेरुगिरि, गङ्गानदी तथा शशाकृतिका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

उक्तो द्वीपस्य संक्षेपो विधिवद् बुद्धिमंस्त्वया।
तत्त्वज्ञश्चासि सर्वस्य विस्तरं ब्रूहि संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बुद्धिमान् संजय ! तुमने सुदर्शनद्वीपका विधिपूर्वक थोड़ेमें ही वर्णन कर दिया, परंतु तुम तो तत्त्वोंके ज्ञाता हो; अतः इस सम्पूर्ण द्वीपका विस्तारके साथ वर्णन करो ॥ १ ॥

यावान् भूम्यवकाशोऽयं दृश्यते शशलक्षणे।
तस्य प्रमाणं प्रब्रूहि ततो वक्ष्यसि पिप्पलम् ॥ २ ॥

चन्द्रमाके शश-चिह्नमें भूमिका जितना अवकाश दृष्टिगोचर होता है, उसका प्रमाण बताओ। तत्पश्चात् पिप्पलस्थानका वर्णन करना ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं राज्ञा स पृष्टस्तु संजयो वाक्यमब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर संजयने कहना आरम्भ किया ॥ २½ ॥

संजय उवाच

प्रागायता महाराज षडेते वर्षपर्वताः।
अवगाढा ह्युभयतः समुद्रौ पूर्वपश्चिमौ ॥ ३ ॥

संजय बोले—महाराज! पूर्व दिशासे पश्चिम दिशाकी ओर फैले हुए ये छः वर्ष पर्वत हैं, जो दोनों ओर पूर्व तथा पश्चिम समुद्रमें घुसे हुए हैं ॥ ३ ॥

हिमवान् हेमकूटश्च निषधश्च नगोत्तमः।
नीलश्च वैदूर्यमयः श्वेतश्च शशिसंनिभः ॥ ४ ॥
सर्वधातुविचित्रश्च शृङ्गवान् नाम पर्वतः।
एते वै पर्वता राजन् सिद्धचारणसेविताः ॥ ५ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—हिमवान्, हेमकूट, पर्वतश्रेष्ठ निषध, वैदूर्यमणिमय नीलगिरि, चन्द्रमाके समान उज्ज्वल श्वेतगिरि तथा सब धातुओंसे सम्पन्न होकर विचित्र शोभा धारण करनेवाला शृङ्गवान् पर्वत । राजन् ! ये छः पर्वत सिद्धों तथा चारणोंके निवासस्थान हैं ॥ ४-५ ॥

एषामन्तरविष्कम्भो योजनानि सहस्रशः।
तत्र पुण्या जनपदास्तानि वर्षाणि भारत ॥ ६ ॥

भरतनन्दन ! इनके बीचका विस्तार सहस्रों योजन है। वहाँ भिन्न-भिन्न वर्ष (खण्ड) हैं और उनमें बहुत-से पवित्र जनपद हैं ॥ ६ ॥

वसन्ति तेषु सत्त्वानि नानाजातीनि सर्वशः।
इदं तु भारतं वर्षं ततो हैमवतं परम् ॥ ७ ॥

उनमें सब ओर नाना जातियोंके प्राणी निवास करते हैं, उनमेंसे यह भारतवर्ष है। इसके बाद हिमालयसे उत्तर हैमवतवर्ष है ॥ ७ ॥

हेमकूटात् परं चैव हरिवर्षं प्रचक्षते।
दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु ॥ ८ ॥
प्रागायतो महाभाग माल्यवान् नाम पर्वतः।
ततः परं माल्यवतः पर्वतो गन्धमादनः ॥ ९ ॥

हेमकूट पर्वतसे आगे हरिवर्षकी स्थिति बतायी जाती है। महाभाग ! नीलगिरिके दक्षिण और निषधपर्वतके उत्तर पूर्वसे पश्चिमकी ओर फैला हुआ माल्यवान् नामक पर्वत है। माल्यवान्से आगे गन्धमादन पर्वत है ॥ ८-९ ॥

परिमण्डलस्तयोर्मध्ये मेरुः कनकपर्वतः।
आदित्यतरुणाभासो विधूम इव पावकः ॥ १० ॥

इन दोनोंके बीचमें मण्डलाकार सुवर्णमय मेरुपर्वत है, जो प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशमान तथा धूमरहित अग्निके समान कान्तिमान् है ॥ १० ॥

योजनानां सहस्राणि चतुरशीतिरुच्छ्रितः ।
अधस्ताच्चतुरशीतिर्योजनानां महीपते ॥ ११ ॥

उसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है। राजन्! वह नीचे भी चौरासी हजार योजनतक पृथ्वीके भीतर घुसा हुआ है॥

ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च लोकानावृत्य तिष्ठति ।
तस्य पार्श्वेष्वमी द्वीपाश्चत्वारः संस्थिता विभो ॥ १२ ॥

प्रभो ! मेरुपर्वत ऊपर-नीचे तथा अगल-बगल सम्पूर्ण लोकोंको आवृत करके खड़ा है। उसके पार्श्वभागमें ये चार द्वीप बसे हुए हैं ॥ १२ ॥

भद्राश्वः केतुमालश्च जम्बूद्वीपश्च भारत ।
उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्यप्रतिश्रयाः ॥ १३ ॥

भारत! उनके नाम ये हैं—भद्राश्व, केतुमाल, जम्बूद्वीप तथा उत्तरकुरु। उत्तरकुरु द्वीपमें पुण्यात्मा पुरुषोंका निवास है॥

विहगः सुमुखो यस्तु सुपर्णस्यात्मजः किल ।
स वै विचिन्तयामास सौवर्णान् वीक्ष्य वायसान् ॥१४॥
मेरुरुत्तममध्यानामधमानां च पक्षिणाम् ।
अविशेषकरो यस्मात् तस्मादेनं त्यजाम्यहम् ॥ १५ ॥

एक समय पक्षिराज गरुड़के पुत्र सुमुखने मेरुपर्वतपर सुनहरे शरीरवाले कौवोंको देखकर सोचा कि यह सुमेरुपर्वत उत्तम, मध्यम तथा अधम पक्षियोंमें कुछ भी अन्तर नहीं रहने देता है। इसलिये मैं इसको त्याग दूँगा। ऐसा विचार करके वे वहाँसे अन्यत्र चले गये ॥ १४-१५ ॥

तमादित्योऽनुपर्येति सततं ज्योतिषां वरः ।
चन्द्रमाश्च सनक्षत्रो वायुश्चैव प्रदक्षिणः ॥ १६ ॥

ज्योतिर्मय ग्रहोंमें सर्वश्रेष्ठ सूर्यदेव, नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा तथा वायुदेव भी प्रदक्षिणक्रमसे सदा मेरुगिरिकी परिक्रमा करते रहते हैं ॥ १६ ॥

स पर्वतो महाराज दिव्यपुष्पफलान्वितः ।
भवनैरावृतः सर्वैर्जाम्बूनदपरिष्कृतैः ॥ १७ ॥

महाराज! वह पर्वत दिव्य पुष्पों और फलोंसे सम्पन्न है। वहाँके सभी भवन जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित हैं। उनसे घिरे हुए उस पर्वतकी बड़ी शोभा होती है ॥ १७ ॥

तत्र देवगणा राजन् गन्धर्वासुरराक्षसाः ।
अप्सरोगणसंयुक्ताः शैले क्रीडन्ति सर्वदा ॥ १८ ॥

राजन् ! उस पर्वतपर देवता, गन्धर्व, असुर, राक्षस तथा अप्सराएँ सदा क्रीड़ा करती रहती हैं ॥ १८ ॥

तत्र ब्रह्मा च रुद्रश्च शक्रश्चापि सुरेश्वरः ।
समेत्य विविधैर्यज्ञैर्यजन्तेऽनेकदक्षिणैः ॥ १९ ॥

वहाँ ब्रह्मा, रुद्र तथा देवराज इन्द्र एकत्र हो पर्याप्त दक्षिणावाले नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं ॥१९॥

तुम्बुरुर्नारदश्चैव विश्वावसुर्हहा हुहूः ।
अभिगम्यामरश्रेष्ठांस्तुष्टुवुर्विविधैः स्तवैः ॥ २० ॥

उस समय तुम्बुरु, नारद, विश्वावसु, हाहा और हूहू नामक गन्धर्व उन देवेश्वरोंके पास जाकर भाँति-भाँतिके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते हैं ॥ २० ॥

सप्तर्षयो महात्मानः कश्यपश्च प्रजापतिः ।
तत्र गच्छन्ति भद्रं ते सदा पर्वणि पर्वणि ॥ २१ ॥

राजन् ! आपका कल्याण हो। वहाँ महात्मा सप्तर्षिगण तथा प्रजापति कश्यप प्रत्येक पर्वपर सदा पधारते हैं ॥२१॥

तस्यैव मूर्धन्युशनाः काव्यो दैत्यैर्महीपते ।
इमानि तस्य रत्नानि तस्येमे रत्नपर्वताः ॥ २२ ॥

भूपाल ! उस मेरुपर्वतके ही शिखरपर दैत्योंके साथ शुक्राचार्य निवास करते हैं। ये सब रत्न तथा ये रत्नमय पर्वत शुक्राचार्यके ही अधिकारमें हैं ॥ २२ ॥

तस्मात् कुबेरो भगवांश्चतुर्थं भागमश्नुते ।
ततः कलांशं वित्तस्य मनुष्येभ्यः प्रयच्छति ॥ २३ ॥

भगवान् कुबेर उन्हींसे धनका चतुर्थ भाग प्राप्त करके उसका उपभोग करते हैं और उस धनका सोलहवाँ भाग मनुष्योंको देते हैं ॥ २३ ॥

पार्श्वे तस्योत्तरे दिव्यं सर्वर्तुकुसुमैश्चितम् ।
कर्णिकारवनं रम्यं शिलाजालसमुद्गतम् ॥ २४ ॥

सुमेरु पर्वतके उत्तर भागमें समस्त ऋतुओंके फूलोंसे भरा हुआ दिव्य एवं रमणीय कर्णिकार (कनेर वृक्षोंका) वन है, जहाँ शिलाओंके समूह संचित हैं ॥ २४ ॥

तत्र साक्षात् पशुपतिर्दिव्यैर्भूतैः समावृतः ।
उमासहायो भगवान् रमते भूतभावनः ॥ २५ ॥
कर्णिकारमयीं मालां बिभ्रत्पादावलम्बिनीम् ।
त्रिभिर्नेत्रैः कृतोद्योतस्त्रिभिः सूर्यैरिवोदितैः ॥ २६ ॥

वहाँ दिव्य भूतोंसे घिरे हुए साक्षात् भूतभावन भगवान् पशुपति पैरोंतक लटकनेवाली कनेरके फूलोंकी दिव्य माला धारण किये भगवती उमाके साथ विहार करते हैं। वे अपने तीनों नेत्रोंद्वारा ऐसा प्रकाश फैलाते हैं, मानो तीन सूर्य उदित हुए हों ॥ २५-२६ ॥

तमुग्रतपसः सिद्धाः सुव्रताः सत्यवादिनः ।
पश्यन्ति न हि दुर्वृत्तैः शक्यो द्रष्टुं महेश्वरः ॥ २७ ॥

उग्र तपस्वी एवं उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाले सत्यवादी सिद्ध पुरुष ही वहाँ उनका दर्शन करते हैं। दुराचारी लोगोंको भगवान् महेश्वरका दर्शन नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

तस्य शैलस्य शिखरात् क्षीरधारा नरेश्वर ।
विश्वरूपापरिमिता भीमनिर्घातनिःस्वना ॥ २८ ॥
पुण्या पुण्यतमैर्जुष्टा गङ्गा भागीरथी शुभा ।

प्लवन्तीव प्रवेगेन ह्रदे चन्द्रमसः शुभे ॥ २९ ॥

नरेश्वर ! उस मेरुपर्वतके शिखरसे दुग्धके समान श्वेत-धारवाली, विश्वरूपा, अपरिमित शक्तिशालिनी, भयंकर वज्र-पातके समान शब्द करनेवाली, परम पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा सेवित, शुभस्वरूपा पुण्यमयी भागीरथी गङ्गा बड़े प्रबल-वेगसे सुन्दर चन्द्रकुण्डमें गिरती हैं ॥ २८-२९ ॥

नया ह्युत्पादितः पुण्यः स ह्रदः सागरोपमः ।
तां धारयामास तदा दुर्धरां पर्वतैरपि ॥ ३० ॥
शतं वर्षसहस्राणां शिरसैव पिनाकधृक् ।

वह पवित्र कुण्ड स्वयं गङ्गाजीने ही प्रकट किया है, जो अपनी अगाध जलराशिके कारण समुद्रके समान शोभा पाता है। जिन्हें अपने ऊपर धारण करना पर्वतोंके लिये भी कठिन था, उन्हीं गङ्गाको पिनाकधारी भगवान् शिव एक लाख वर्षोंतक अपने मस्तकपर ही धारण किये रहे ॥३०½॥

मेरोस्तु पश्चिमे पार्श्वे केतुमालो महीपते ॥ ३१ ॥
जम्बूखण्डस्तु तत्रैव सुमहान् नन्दनोपमः ।
आयुर्दश सहस्राणि वर्षाणां तत्र भारत ॥ ३२ ॥

राजन् ! मेरुके पश्चिम भागमें केतुमाल द्वीप है, वहीं अत्यन्त विशाल जम्बूखण्ड नामक प्रदेश है, जो नन्दनवनके समान मनोहर जान पड़ता है। भारत ! वहाँके निवासियोंकी आयु दस हजार वर्षोंकी होती है ॥ ३१-३२ ॥

सुवर्णवर्णाश्च नराः स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः ।
अनामया वीतशोका नित्यं मुदितमानसाः ॥ ३३ ॥

वहाँके पुरुष सुवर्णके समान कान्तिमान् और स्त्रियाँ अप्सराओंके समान सुन्दरी होती हैं। उन्हें कभी रोग और शोक नहीं होते। उनका चित्त सदा प्रसन्न रहता है ॥३३॥

जायन्ते मानवास्तत्र निष्टप्तकनकप्रभाः ।
गन्धमादनशृङ्गेषु कुबेरः सह राक्षसैः ॥ ३४ ॥
संवृतोऽप्सरसां सङ्घैर्मोदते गुह्यकाधिपः ।

वहाँ तपाये हुए सुवर्णके समान गौर कान्तिवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं। गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर गुह्यकोंके स्वामी कुबेर राक्षसोंके साथ रहते और अप्सराओंके समुदायोंके साथ आमोद-प्रमोद करते हैं ॥ ३४½ ॥

गन्धमादनपादेषु परेष्वपरगण्डिकाः ॥ ३५ ॥
एकादश सहस्राणि वर्षाणां परमायुषः ।

गन्धमादनके अन्यान्य पार्श्ववर्ती पर्वतोंपर दूसरी-दूसरी नदियाँ हैं, जहाँ निवास करनेवाले लोगोंकी आयु ग्यारह हजार वर्षोंकी होती है ॥ ३५½ ॥

तत्र हृष्टा नरा राजंस्तेजोयुक्ता महाबलाः ।
स्त्रियश्चोत्पलवर्णाभाः सर्वाः सुप्रियदर्शनाः ॥ ३६ ॥

राजन् ! वहाँके पुरुष हृष्ट-पुष्ट, तेजस्वी और महाबली होते हैं तथा सभी स्त्रियाँ कमलके समान कान्तिमती और देखनेमें अत्यन्त मनोरम होती हैं ॥ ३६ ॥

नीलात् परतरं श्वेतं श्वेताद्धैरण्यकं परम् ।
वर्षमैरावतं राजन् नानाजनपदावृतम् ॥ ३७ ॥

नील पर्वतसे उत्तर श्वेतवर्ष और श्वेतवर्षसे उत्तर हिरण्यकवर्ष है। तत्पश्चात् शृङ्गवान् पर्वतसे आगे ऐरावत नामक वर्ष है। राजन् ! वह अनेकानेक जनपदोंसे भरा हुआ है ॥ ३७ ॥

धनुःसंस्थे महाराज द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे ।
इलावृतं मध्यमं तु पञ्च वर्षाणि चैव हि ॥ ३८ ॥

महाराज ! दक्षिण और उत्तरके क्रमशः भारत और ऐरावत नामक दो वर्ष धनुषकी दो कोटियोंके समान स्थित हैं और बीचमें पाँच वर्ष (श्वेत, हिरण्यक, इलावृत, हरिवर्ष तथा हैमवत) हैं। इन सबके बीचमें इलावृतवर्ष है॥

उत्तरोत्तरमेतेभ्यो वर्षमुद्रिच्यते गुणैः ।
आयुःप्रमाणमारोग्यं धर्मतः कामतोऽर्थतः ॥ ३९ ॥

भारतसे आरम्भ करके ये सभी वर्ष आयुके प्रमाण, आरोग्य, धर्म, अर्थ और काम—इन सभी दृष्टियोंसे गुणोंमें उत्तरोत्तर बढ़ते गये हैं ॥ ३९ ॥

समन्वितानि भूतानि तेषु वर्षेषु भारत ।
एवमेषा महाराज पर्वतैः पृथिवी चिता ॥ ४० ॥

भारत ! इन सब वर्षोंमें निवास करनेवाले प्राणी परस्पर मिल-जुलकर रहते हैं। महाराज ! इस प्रकार यह सारी पृथ्वी पर्वतोंद्वारा स्थिर की गयी है ॥ ४० ॥

हेमकूटस्तु सुमहान् कैलासो नाम पर्वतः ।
यत्र वैश्रवणो राजन् गुह्यकैः सह मोदते ॥ ४१ ॥

राजन् ! विशाल पर्वत हेमकूट ही कैलास नामसे प्रसिद्ध है। जहाँ कुबेर गुह्यकोंके साथ सानन्द निवास करते हैं ॥

अस्त्युत्तरेण कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
हिरण्यशृङ्गः सुमहान् दिव्यो मणिमयो गिरिः ॥ ४२ ॥

कैलाससे उत्तर मैनाक है और उससे भी उत्तर दिव्य तथा महान् मणिमय पर्वत हिरण्यशृङ्ग है ॥४२॥

तस्य पार्श्वे महद् दिव्यं शुभ्रं काञ्चनवालुकम् ।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ॥ ४३ ॥
द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः ।

उसीके पास विशाल, दिव्य, उज्ज्वल तथा काञ्चनमयी बालुकासे सुशोभित रमणीय बिन्दुसरोवर है, जहाँ राजा भगीरथने भागीरथी गङ्गाका दर्शन करनेके लिये बहुत वर्षोंतक निवास किया था ॥ ४३½ ॥

यूपा मणिमयास्तत्र चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ॥ ४४ ॥
तत्रेष्ट्वा तु गतः सिद्धिं सहस्राक्षो महायशाः ।

वहाँ बहुत-से मणिमय यूप तथा सुवर्णमय चैत्य (महल) शोभा पाते हैं। यहीं यज्ञ करके महायशस्वी इन्द्रने सिद्धि प्राप्त की थी ॥ ४४½ ॥

स्रष्टा भूतपतिर्यत्र सर्वलोकैः सनातनः ॥ ४५ ॥
उपास्यते तिग्मतेजा यत्र भूतैः समन्ततः ।
नरनारायणौ ब्रह्मा मनुः स्थाणुश्च पञ्चमः ॥ ४६ ॥

उसी स्थानपर सब ओर सम्पूर्ण जगत्‌के लोग लोकस्रष्टा प्रचण्ड तेजस्वी सनातन भगवान् भूतनाथकी उपासना करते हैं। नर, नारायण, ब्रह्मा, मनु और पाँचवें भगवान् शिव वहाँ सदा स्थित रहते हैं ॥ ४५-४६ ॥

तत्र दिव्या त्रिपथगा प्रथमं तु प्रतिष्ठिता ।
ब्रह्मलोकादपक्रान्ता सप्तधा प्रतिपद्यते ॥ ४७ ॥

ब्रह्मलोकसे उतरकर त्रिपथगामिनी दिव्य नदी गङ्गा पहले उस बिन्दुसरोवरमें ही प्रतिष्ठित हुई थीं। वहींसे उनकी सात धाराएँ विभक्त हुई हैं ॥ ४७ ॥

वस्वोकसारा नलिनी पावनी च सरस्वती ।
जम्बूनदी च सीता च गङ्गा सिन्धुश्च सप्तमी ॥ ४८ ॥

उन धाराओंके नाम इस प्रकार हैं—वस्वोकसारा, नलिनी, पावनी सरस्वती, जम्बूनदी, सीता, गङ्गा और सिंधु ॥

अचिन्त्या दिव्यसंकाशा प्रभोरेषैव संविधिः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ॥ ४९ ॥

यह (सात धाराओंका प्रादुर्भाव जगत्‌के उपकारके लिये) भगवान्‌का ही अचिन्त्य एवं दिव्य सुन्दर विधान है। जहाँ लोग कल्पके अन्ततक यज्ञानुष्ठानके द्वारा परमात्माकी उपासना करते हैं ॥ ४९ ॥

दृश्यादृश्या च भवति तत्र तत्र सरस्वती ।
एता दिव्याः सप्तगङ्गास्त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥ ५० ॥

इन सात धाराओंमें जो सरस्वती नामवाली धारा है, वह कहीं प्रत्यक्ष दिखायी देती है और कहीं अदृश्य हो जाती है। ये सात दिव्य गङ्गाएँ तीनों लोकोंमें विख्यात हैं ॥५०॥

रक्षांसि वै हिमवति हेमकूटे तु गुह्यकाः ।
सर्पा नागाश्च निषधे गोकर्णं च तपोवनम् ॥ ५१ ॥

हिमालयपर राक्षस, हेमकूटपर गुह्यक तथा निषधपर्वतपर सर्प और नाग निवास करते हैं। गोकर्ण तो तपोवन है ॥

देवासुराणां सर्वेषां श्वेतपर्वत उच्यते ।
गन्धर्वा निषधे नित्यं नीले ब्रह्मर्षयस्तथा ।
शृङ्गवांस्तु महाराज देवानां प्रतिसंचरः ॥ ५२ ॥

श्वेतपर्वत सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंका निवासस्थान बताया जाता है। निषधगिरिपर गन्धर्व तथा नीलगिरिपर ब्रह्मर्षि निवास करते हैं। महाराज! शृङ्गवान् पर्वत तो केवल देवताओंकी ही विहारस्थली है ॥ ५२ ॥

इत्येतानि महाराज सप्त वर्षाणि भागशः ।
भूतान्युपनिविष्टानि गतिमन्ति ध्रुवाणि च ॥ ५३ ॥

राजेन्द्र! इस प्रकार स्थावर और जङ्गम सम्पूर्ण प्राणी इन सात वर्षोंमें विभागपूर्वक स्थित हैं ॥ ५३ ॥

तेषामृद्धिर्बहुविधा दृश्यते दैवमानुषी ।
अशक्या परिसंख्यातुं श्रद्धेया तु बुभूषता ॥ ५४ ॥

उनकी अनेक प्रकारकी दैवी और मानुषी समृद्धि देखी जाती है। उसकी गणना असम्भव है। कल्याणकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको उस समृद्धिपर विश्वास करना चाहिये ॥

(स वै सुदर्शनद्वीपो दृश्यते शशवद् द्विधा ।)
यां तु पृच्छसि मां राजन् दिव्यामेतां शशाकृतिम् ।
पार्श्वे शशस्य द्वे वर्षे उक्ते ये दक्षिणोत्तरे ।
कर्णौ तु नागद्वीपश्च काश्यपद्वीप एव च ॥ ५५ ॥

इस प्रकार वह सुदर्शनद्वीप बताया गया है, जो दो भागोंमें विभक्त होकर चन्द्रमण्डलमें प्रतिबिम्बित हो खरगोश-की-सी आकृतिमें दृष्टिगोचर होता है। राजन्! आपने जो मुझसे इस शशाकृति (खरगोशकी-सी आकृति) के विषयमें प्रश्न किया है उसका वर्णन करता हूँ, सुनिये। पहले जो दक्षिण और उत्तरमें स्थित (भारत और ऐरावत नामक) दो द्वीप बताये गये हैं, वे ही दोनों उस शश (खरगोश) के दो पार्श्वभाग हैं। नागद्वीप तथा काश्यपद्वीप उसके दोनों कान हैं ॥ ५५ ॥

ताम्रपर्णः शिरो राजञ्छ्रीमान् मलयपर्वतः ।
एतद् द्वितीयं द्वीपस्य दृश्यते शशसंस्थितम् ॥ ५६ ॥

राजन्! ताम्रवर्णके वृक्षों और पत्रोंसे सुशोभित श्रीमान् मलयपर्वत ही इसका सिर है। इस प्रकार यह सुदर्शन-द्वीपका दूसरा भाग खरगोशके आकारमें दृष्टिगोचर होता है ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भूम्यादिपरिमाणविवरणे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भूमि आदि परिमाणका विवरणविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५६½ श्लोक हैं)

सप्तमोऽध्यायः

उत्तर कुरु, भद्राश्ववर्ष तथा माल्यवान्‌का वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

मेरोरथोत्तरं पार्श्वं पूर्वं चाचक्ष्व संजय ।
निखिलेन महाबुद्धे माल्यवन्तं च पर्वतम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—परमबुद्धिमान् संजय! तुम मेरुके उत्तर तथा पूर्व भागमें जो कुछ है, उसका पूर्ण-रूपसे वर्णन करो। साथ ही माल्यवान् पर्वतके

विषयमें भी जानने योग्य बातें बताओ ॥ १ ॥

संजय उवाच

दक्षिणेन तु नीलस्य मेरोः पार्श्वे तथोत्तरे।
उत्तराः कुरवो राजन् पुण्याः सिद्धनिषेविताः॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन्! नीलगिरिसे दक्षिण तथा मेरुपर्वतके उत्तर भागमें पवित्र उत्तर कुरुवर्ष है, जहाँ सिद्ध पुरुष निवास करते हैं ॥ २ ॥

तत्र वृक्षा मधुफला नित्यपुष्पफलोपगाः।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि रसवन्ति फलानि च ॥ ३ ॥

वहाँके वृक्ष सदा पुष्प और फलसे सम्पन्न होते हैं और उनके फल बड़े मधुर एवं स्वादिष्ट होते हैं। उस देशके सभी पुष्प सुगन्धित और फल सरस होते हैं ॥ ३ ॥

सर्वकामफलास्तत्र केचिद् वृक्षा जनाधिप।
अपरे क्षीरिणो नाम वृक्षास्तत्र नराधिप ॥ ४ ॥
ये क्षरन्ति सदा क्षीरं षड्रसं चामृतोपमम्।
वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च ॥ ५ ॥

नरेश्वर! वहाँके कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंके दाता हैं। राजन्! दूसरे क्षीरी नामवाले वृक्ष हैं, जो सदा षड्विध रसोंसे युक्त एवं अमृतके समान स्वादिष्ट दुग्ध बहाते रहते हैं। उनके फलोंमें इच्छानुसार वस्त्र और आभूषण भी प्रकट होते हैं ॥ ४-५ ॥

सर्वा मणिमयी भूमिः सूक्ष्मकाञ्चनवालुका।
सर्वर्तुसुखसंस्पर्शा निष्पङ्का च जनाधिप।
पुष्करिण्यः शुभास्तत्र सुखस्पर्शा मनोरमाः ॥ ६ ॥

जनेश्वर! वहाँकी सारी भूमि मणिमयी है। वहाँ जो सूक्ष्म बालूके कण हैं, वे सब सुवर्णमय हैं। उस भूमिपर कीचड़का कहीं नाम भी नहीं है। उसका स्पर्श सभी ऋतुओंमें सुखदायक होता है। वहाँके सुन्दर सरोवर अत्यन्त मनोरम होते हैं। उनका स्पर्श सुखद जान पड़ता है ॥ ६ ॥

देवलोकच्युताः सर्वे जायन्ते तत्र मानवाः।
शुक्लाभिजनसम्पन्नाः सर्वे सुप्रियदर्शनाः ॥ ७ ॥

वहाँ देवलोकसे भूतलपर आये हुए समस्त पुण्यात्मा मनुष्य ही जन्म ग्रहण करते हैं। ये सभी उत्तम कुलसे सम्पन्न और देखनेमें अत्यन्त प्रिय होते हैं ॥ ७ ॥

मिथुनानि च जायन्ते स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः।
तेषां ते क्षीरिणां क्षीरं पिबन्त्यमृतसंनिभम् ॥ ८ ॥

वहाँ स्त्री-पुरुषोंके जोड़े भी उत्पन्न होते हैं। स्त्रियाँ अप्सराओंके समान सुन्दरी होती हैं। उत्तरकुरुके निवासी क्षीरी वृक्षोंके अमृत-तुल्य दूध पीते हैं ॥८॥

मिथुनं जायते काले समं तच्च प्रवर्धते।
तुल्यरूपगुणोपेतं समवेषं तथैव च ॥ ९ ॥

वहाँ स्त्री-पुरुषोंके जोड़े एक ही साथ उत्पन्न होते और साथ-साथ बढ़ते हैं। उनके रूप, गुण और वेष सब एक-से होते हैं ॥ ९ ॥

एकैकमनुरक्तं च चक्रवाकसमं विभो।
निरामयाश्च ते लोका नित्यं मुदितमानसाः ॥ १० ॥

प्रभो! वे चकवा-चकवीके समान सदा एक दूसरेके अनुकूल बने रहते हैं। उत्तरकुरुके लोग सदा नीरोग और प्रसन्नचित्त रहते हैं ॥ १० ॥

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।
जीवन्ति ते महाराज न चान्योन्यं जहत्युत ॥ ११ ॥

महाराज! वे ग्यारह हजार वर्षोंतक जीवित रहते हैं। एक दूसरेका कभी त्याग नहीं करते ॥ ११ ॥

भारुण्डा नाम शकुनास्तीक्ष्णतुण्डा महाबलाः।
तान् निर्हरन्तीह मृतान् दरीषु प्रक्षिपन्ति च ॥ १२ ॥

वहाँ भारुण्ड नामके महाबली पक्षी हैं, जिनकी चोंचें बड़ी तीखी होती हैं। वे वहाँके मरे हुए लोगोंकी लाशें उठाकर ले जाते और कन्दराओंमें फेंक देते हैं ॥ १२ ॥

उत्तराः कुरवो राजन् व्याख्यातास्ते समासतः।
मेरोः पार्श्वमहं पूर्वं वक्ष्याम्यथ यथातथम् ॥ १३ ॥

राजन्! इस प्रकार मैंने आपसे थोड़ेमें उत्तरकुरुवर्षका वर्णन किया। अब मैं मेरुके पूर्वभागमें स्थित भद्राश्ववर्षका यथावत् वर्णन करूँगा ॥ १३ ॥

तस्य मूर्धाभिषेकस्तु भद्राश्वस्य विशाम्पते।
भद्रसालवनं यत्र कालाम्रश्च महाद्रुमः ॥ १४ ॥

प्रजानाथ! भद्राश्ववर्षके शिखरपर भद्रशाल नामका एक वन है एवं वहाँ कालाम्र नामक महान् वृक्ष भी है ॥

कालाम्रस्तु महाराज नित्यपुष्पफलः शुभः।
द्रुमश्च योजनोत्सेधः सिद्धचारणसेवितः ॥ १५ ॥

महाराज! कालाम्र वृक्ष बहुत ही सुन्दर और एक योजन ऊँचा है। उसमें सदा फूल और फल लगे रहते हैं। सिद्ध और चारण पुरुष उसका सदा सेवन करते हैं ॥१५॥

तत्र ते पुरुषाः श्वेतास्तेजोयुक्ता महाबलाः।
स्त्रियः कुमुदवर्णाश्च सुन्दर्यः प्रियदर्शनाः ॥ १६ ॥

वहाँके पुरुष श्वेत वर्णके होते हैं। वे तेजस्वी और महान् बलवान् हुआ करते हैं। वहाँकी स्त्रियाँ कुमुद-पुष्पके समान गौर वर्णवाली, सुन्दरी तथा देखनेमें प्रिय होती हैं ॥ १६ ॥

चन्द्रप्रभाश्चन्द्रवर्णाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः।
चन्द्रशीतलगात्र्यश्च नृत्यगीतविशारदाः ॥ १७ ॥

उनकी अङ्गकान्ति एवं वर्ण चन्द्रमाके समान है। उनके मुख पूर्ण चन्द्रके समान मनोहर होते हैं। उनका एक-एक अङ्ग चन्द्ररश्मियोंके समान शीतल प्रतीत होता है। वे नृत्य और गीतकी कलामें कुशल होती हैं ॥ १७ ॥

दश वर्षसहस्राणि तत्रायुर्भरतर्षभ।
कालाम्ररसपीतास्ते नित्यं संस्थितयौवनाः ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँके लोगोंकी आयु दस हजार वर्षकी होती है। वे कालाम्र वृक्षका रस पीकर सदा जवान बने रहते हैं॥

दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु।
सुदर्शनो नाम महाञ्जम्बूवृक्षः सनातनः॥ १९॥

नीलगिरिके दक्षिण और निषधके उत्तर सुदर्शन नामक एक विशाल जामुनका वृक्ष है, जो सदा स्थिर रहनेवाला है॥

सर्वकामफलः पुण्यः सिद्धचारणसेवितः।
तस्य नाम्ना समाख्यातो जम्बूद्वीपः सनातनः॥ २०॥

वह समस्त मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाला, पवित्र तथा सिद्धों और चारणोंका आश्रय है। उसीके नामपर यह सनातन प्रदेश जम्बूद्वीपके नामसे विख्यात है॥ २०॥

योजनानां सहस्रं च शतं च भरतर्षभ।
उत्सेधो वृक्षराजस्य दिवस्पृङ्मनुजेश्वर॥ २१॥

भरतश्रेष्ठ ! मनुजेश्वर ! उस वृक्षराजकी ऊँचाई ग्यारह सौ योजन है। वह (ऊँचाई) स्वर्गलोकको स्पर्श करती हुई-सी प्रतीत होती है॥ २१॥

अरत्नीनां सहस्रं च शतानि दश पञ्च च।
परिणाहस्तु वृक्षस्य फलानां रसभेदिनाम्॥ २२॥

उसके फलोंमें जब रस आ जाता है अर्थात् जब वे पक जाते हैं, तब अपने-आप टूटकर गिर जाते हैं। उन फलोंकी लंबाई ढाई हजार अरत्नि[1] मानी गयी है॥ २२॥

पतमानानि तान्युर्वीं कुर्वन्ति विपुलं स्वनम्।
मुञ्चन्ति च रसं राजंस्तस्मिन् रजतसंनिभम्॥ २३॥

राजन् ! वे फल इस पृथ्वीपर गिरते समय भारी धमाकेकी आवाज करते हैं और उस भूतलपर सुवर्णसदृश रस बहाया करते हैं॥ २३॥

तस्या जम्ब्वाः फलरसो नदी भूत्वा जनाधिप।
मेरुं प्रदक्षिणं कृत्वा सम्प्रयात्युत्तरान् कुरून्॥ २४॥

जनेश्वर ! उस जम्बूके फलोंका रस नदीके रूपमें परिणत होकर मेरुगिरिकी प्रदक्षिणा करता हुआ उत्तरकुरुवर्षमें पहुँच जाता है॥ २४॥

तत्र तेषां मनःशान्तिर्न पिपासा जनाधिप।
तस्मिन् फलरसे पीते न जरा बाधते च तान्॥ २५॥

राजन् ! फलोंके उस रसका पान कर लेनेपर वहाँके निवासियोंके मनमें पूर्ण शान्ति और प्रसन्नता रहती है। उन्हें पिपासा अथवा वृद्धावस्था कभी नहीं सताती है॥ २५॥

तत्र जाम्बूनदं नाम कनकं देवभूषणम्।
इन्द्रगोपकसंकाशं जायते भास्वरं तु तत्॥ २६॥

उस जम्बू नदीसे जाम्बूनद नामक सुवर्ण प्रकट होता है, जो देवताओंका आभूषण है। वह इन्द्रगोपके समान लाल और अत्यन्त चमकीला होता है॥ २६॥

तरुणादित्यवर्णाश्च जायन्ते तत्र मानवाः।
तथा माल्यवतः शृङ्गे दृश्यते हव्यवाट् सदा॥ २७॥

वहाँके लोग प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिमान् होते हैं। माल्यवान् पर्वतके शिखरपर सदा अग्निदेव प्रज्वलित दिखायी देते हैं॥ २७॥

नाम्ना संवर्तको नाम कालाग्निर्भरतर्षभ।
तथा माल्यवतः शृङ्गे पूर्वपूर्वानुगण्डिका॥ २८॥

भरतश्रेष्ठ ! वे वहाँ संवर्तक एवं कालाग्निके नामसे प्रसिद्ध हैं। माल्यवान्के शिखरपर पूर्व-पूर्वकी ओर नदी प्रवाहित होती है॥ २८॥

योजनानां सहस्राणि पञ्चषण्माल्यवानथ।
महारजतसंकाशा जायन्ते तत्र मानवाः॥ २९॥

माल्यवान्का विस्तार पाँच-छः हजार योजन है। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिमान् मानव उत्पन्न होते हैं॥ २९॥

ब्रह्मलोकच्युताः सर्वे सर्वे सर्वेषु साधवः।
तपस्तप्यन्ति ते तीव्रं भवन्ति ह्यूर्ध्वरेतसः।
रक्षणार्थं तु भूतानां प्रविशन्ते दिवाकरम्॥ ३०॥

वे सब लोग ब्रह्मलोकसे नीचे आये हुए पुण्यात्मा मनुष्य हैं। उन सबका सबके प्रति साधुतापूर्ण बर्ताव होता है। वे ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होते और कठोर तपस्या करते हैं। फिर समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये सूर्यलोकमें प्रवेश कर जाते हैं॥ ३०॥

षष्टिस्तानि सहस्राणि षष्टिमेव शतानि च।
अरुणस्याग्रतो यान्ति परिवार्य दिवाकरम्॥ ३१॥

उनमेंसे छाछठ हजार मनुष्य भगवान् सूर्यको चारों ओरसे घेरकर अरुणके आगे-आगे चलते हैं॥ ३१॥

षष्टिं वर्षसहस्राणि षष्टिमेव शतानि च।
आदित्यतापतप्तास्ते विशन्ति शशिमण्डलम्॥ ३२॥

वे छाछठ हजार वर्षोंतक ही सूर्यदेवके तापमें तपकर अन्तमें चन्द्रमण्डलमें प्रवेश कर जाते हैं॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि माल्यवद्वर्णने सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें माल्यवान्का वर्णनविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७॥

अष्टमोऽध्यायः

रमणक, हिरण्यक, शृङ्गवान् पर्वत तथा ऐरावतवर्षका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

वर्षाणां चैव नामानि पर्वतानां च संजय।
आचक्ष्व मे यथातत्त्वं ये च पर्वतवासिनः॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुम सभी वर्षों और पर्वतोंके

[1] पहुचीसे लेकर कनिष्ठिका अंगुलिके मूलभागतक एक मुठीकी लंबाईको 'अरत्नि' कहते हैं।

नाम बताओ और जो उन पर्वतोंपर निवास करनेवाले हैं उनकी स्थितिका भी यथावत् वर्णन करो ॥ १ ॥

संजय उवाच

दक्षिणेन तु श्वेतस्य निषधस्योत्तरेण तु ।
वर्षं रमणकं नाम जायन्ते तत्र मानवाः ॥ २ ॥
शुक्लाभिजनसम्पन्नाः सर्वे सुप्रियदर्शनाः ।
निःसपत्नाश्च ते सर्वे जायन्ते तत्र मानवाः ॥ ३ ॥

संजय बोले—राजन् ! श्वेतके दक्षिण और निषधके उत्तर रमणक नामक वर्ष है । वहाँ जो मनुष्य जन्म लेते हैं, वे उत्तम कुलसे युक्त और देखनेमें अत्यन्त प्रिय होते हैं । वहाँके सब मनुष्य शत्रुओंसे रहित होते हैं ॥ २-३ ॥

दश वर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च ।
जीवन्ति ते महाराज नित्यं मुदितमानसाः ॥ ४ ॥

महाराज ! रमणकवर्षके मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त होकर साढ़े ग्यारह हजार वर्षोंतक जीवित रहते हैं ॥ ४ ॥

दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु ।
वर्षं हिरण्मयं नाम यत्र हैरण्वती नदी ॥ ५ ॥

नीलके दक्षिण और निषधके उत्तर हिरण्मयवर्ष है, जहाँ हैरण्यवती नदी बहती है ॥ ५ ॥

यत्र चायं महाराज पक्षिराट् पतगोत्तमः ।
यक्षानुगा महाराज धनिनः प्रियदर्शनाः ॥ ६ ॥
महाबलास्तत्र जना राजन् मुदितमानसाः ।

महाराज ! वहीं विहंगोंमें उत्तम पक्षिराज गरुड़ निवास करते हैं । वहाँके सब मनुष्य यक्षोंकी उपासना करनेवाले, धनवान्, प्रियदर्शन, महाबली तथा प्रसन्नचित्त होते हैं ।६½।

एकादश सहस्राणि वर्षाणां ते जनाधिप ॥ ७ ॥
आयुःप्रमाणं जीवन्ति शतानि दश पञ्च च ।

जनेश्वर ! वहाँके लोग साढ़े बारह हजार वर्षोंकी आयु-तक जीवित रहते हैं ॥ ७½ ॥

शृङ्गाणि च विचित्राणि त्रीण्येव मनुजाधिप ॥ ८ ॥
एकं मणिमयं तत्र तथैकं रौक्ममद्भुतम् ।
सर्वरत्नमयं चैकं भवनैरुपशोभितम् ॥ ९ ॥

मनुजेश्वर ! वहाँ शृङ्गवान् पर्वतके तीन ही विचित्र शिखर हैं । उनमेंसे एक मणिमय है, दूसरा अद्भुत सुवर्णमय है तथा तीसरा अनेक भवनोंसे सुशोभित एवं सर्वरत्नमय है ८-९

तत्र स्वयंप्रभा देवी नित्यं वसति शाण्डिली ।
उत्तरेण तु शृङ्गस्य समुद्रान्ते जनाधिप ॥ १० ॥
वर्षमैरावतं नाम तस्माच्छृङ्गमतः परम् ।
न तत्र सूर्यस्तपति न जीर्यन्ते च मानवाः ॥ ११ ॥

वहाँ स्वयंप्रभा नामवाली शाण्डिली देवी नित्य निवास करती हैं । जनेश्वर ! शृङ्गवान् पर्वतके उत्तर समुद्रके निकट ऐरावत नामक वर्ष है । अतः इन शिखरोंसे संयुक्त यह वर्ष अन्य वर्षोंकी अपेक्षा उत्तम है । वहाँ सूर्यदेव ताप नहीं देते हैं और न वहाँके मनुष्य बूढ़े ही होते हैं ॥ १०-११ ॥

चन्द्रमाश्च सनक्षत्रो ज्योतिर्भूत इवावृतः ।
पद्मप्रभाः पद्मवर्णाः पद्मपत्रनिभेक्षणाः ॥ १२ ॥

नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा वहाँ ज्योतिर्मय होकर सब ओर व्याप्त-सा रहता है । वहाँके मनुष्य कमलकी-सी कान्ति तथा वर्णवाले होते हैं । उनके विशाल नेत्र कमलदलके समान सुशोभित होते हैं ॥ १२ ॥

पद्मपत्रसुगन्धाश्च जायन्ते तत्र मानवाः ।
अनिष्यन्दा इष्टगन्धा निराहारा जितेन्द्रियाः ॥ १३ ॥

वहाँके मनुष्योंके शरीरसे विकसित कमलदलोंके समान सुगन्ध प्रकट होती है । उनके शरीरसे पसीने नहीं निकलते। उनकी सुगन्ध प्रिय लगती है । वे आहार (भूख-प्याससे) रहित और जितेन्द्रिय होते हैं ॥ १३ ॥

देवलोकच्युताः सर्वे तथा विरजसो नृप ।
त्रयोदश सहस्राणि वर्षाणां ते जनाधिप ॥ १४॥
आयुःप्रमाणं जीवन्ति नरा भरतसत्तम ।

वे सबके सब देवलोकसे च्युत (होकर वहाँ शेष पुण्य-का उपभोग करते) हैं ! उनमें रजोगुणका सर्वथा अभाव होता है । भरतभूषण जनेश्वर ! वे तेरह हजार वर्षोंकी आयु-तक जीवित रहते हैं ॥ १४½ ॥

क्षीरोदस्य समुद्रस्य तथैवोत्तरतः प्रभुः ।
हरिर्वसति वैकुण्ठः शकटे कनकामये ॥ १५ ॥
अष्टचक्रं हि तद् यानं भूतयुक्तं मनोजवम् ।
अग्निवर्णं महातेजो जाम्बूनदविभूषितम् ॥ १६ ॥

क्षीरसागरके उत्तर तटपर भगवान् विष्णु निवास करते हैं, वे वहाँ सुवर्णमय रथपर विराजमान हैं । उस रथमें आठ पहिये लगे हैं । उसका वेग मनके समान है । वह समस्त भूतोंसे युक्त, अग्निके समान कान्तिमान्, परम तेजस्वी तथा जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित है ॥ १५-१६ ॥

स प्रभुः सर्वभूतानां विभुश्च भरतर्षभ ।
संक्षेपो विस्तरश्चैव कर्ता कारयिता तथा ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी भगवान् विष्णु ही समस्त प्राणियोंका संकोच और विस्तार करते हैं । वे ही करनेवाले और करानेवाले हैं ॥ १७ ॥

पृथिव्यापस्तथाऽऽकाशं वायुस्तेजश्च पार्थिव ।
स यज्ञः सर्वभूतानामास्यं तस्य हुताशनः ॥ १८ ॥

राजन् ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश सब कुछ वे ही हैं । वे ही समस्त प्राणियोंके लिये यज्ञस्वरूप हैं । अग्नि उनका मुख है ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः संजयेन धृतराष्ट्रो महामनाः ।
ध्यानमन्वगमद् राजन् पुत्रान् प्रति जनाधिप ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! संजयके ऐसा कहनेपर महामना धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके लिये चिन्ता करने लगे ॥ १९ ॥

स विचिन्त्य महातेजाः पुनरेवाब्रवीद् वचः।
असंशयं सूतपुत्र कालः संक्षिपते जगत् ॥ २० ॥

कुछ देरतक सोच-विचार करनेके पश्चात् महातेजस्वी धृतराष्ट्रने पुनः इस प्रकार कहा—'सूतपुत्र संजय! इसमें संदेह नहीं कि काल ही सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करता है ॥

सृजते च पुनः सर्वं विद्यते नेह शाश्वतम्।
नरो नारायणश्चैव सर्वज्ञः सर्वभूतहृत् ॥ २१ ॥
देवा वैकुण्ठमित्याहुर्नरा विष्णुमिति प्रभुम् ॥ २२ ॥

'फिर वही सबकी सृष्टि करता है। यहाँ कुछ भी सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है। भगवान् नर और नारायण समस्त प्राणियोंके सुहृद् एवं सर्वज्ञ हैं। देवता उन्हें वैकुण्ठ और मनुष्य उन्हें शक्तिशाली विष्णु कहते हैं' ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्येऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

भारतवर्षकी नदियों, देशों तथा जनपदोंके नाम और भूमिका महत्त्व

धृतराष्ट्र उवाच

यदिदं भारतं वर्षं यत्रेदं मूर्छितं बलम्।
यत्रातिमात्रलुब्धोऽयं पुत्रो दुर्योधनो मम ॥ १ ॥
यत्र गृद्धाः पाण्डुपुत्रा यत्र मे सज्जते मनः।
एतन्मे तत्त्वमाचक्ष्व त्वं हि मे बुद्धिमान् मतः ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! यह जो भारतवर्ष है, जिसमें यह राजाओंकी विशाल वाहिनी युद्धके लिये एकत्र हुई है, जहाँका साम्राज्य प्राप्त करनेके लिये मेरा पुत्र दुर्योधन ललचाया हुआ है, जिसे पानेके लिये पाण्डवोंके मनमें भी बड़ी इच्छा है तथा जिसके प्रति मेरा मन भी बहुत आसक्त है, उस भारतवर्षका तुम यथार्थरूपसे वर्णन करो; क्योंकि इस कार्यके लिये मेरी दृष्टिमें तुम्हीं सबसे अधिक बुद्धिमान् हो १-२

संजय उवाच

न तत्र पाण्डवा गृद्धाः शृणु राजन् वचो मम।
गृद्धो दुर्योधनस्तत्र शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन्! आप मेरी बात सुनिये। पाण्डवोंको इस भारतवर्षके साम्राज्यका लोभ नहीं है। दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ही उसके लिये बहुत लुभाये हुए हैं ॥ ३ ॥

अपरे क्षत्रियाश्चैव नानाजनपदेश्वराः।
ये गृद्धा भारते वर्षे न मृष्यन्ति परस्परम् ॥ ४ ॥

विभिन्न जनपदोंके स्वामी जो दूसरे-दूसरे क्षत्रिय हैं, वे भी इस भारतवर्षके प्रति गृध्र-दृष्टि लगाये हुए एक दूसरेके उत्कर्षको सहन नहीं कर पाते हैं ॥ ४ ॥

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ॥ ५ ॥

भारत! अब मैं यहाँ आपसे उस भारतवर्षका वर्णन करूँगा, जो इन्द्रदेव और वैवस्वत मनुका प्रिय देश है ॥५॥

पृथोस्तु राजन् वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च ॥ ६ ॥
तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा ॥ ७ ॥
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च ॥ ८ ॥
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम् ॥ ९ ॥

राजन्! दुर्धर्ष महाराज! वेननन्दन पृथु, महात्मा इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द, उशीनर-पुत्र शिवि, ऋषभ, इलानन्दन पुरूरवा, राजा नृग, कुशिक, महात्मा गाधि, सोमक, दिलीप तथा अन्य जो महाबली क्षत्रिय नरेश हुए हैं, उन सभीको भारतवर्ष बहुत प्रिय रहा है ॥ ६—९ ॥

तत् ते वर्षं प्रवक्ष्यामि यथायथमरिंदम।
शृणु मे गदतो राजन् यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १० ॥

शत्रुदमन नरेश! मैं उसी भारतवर्षका यथावत् वर्णन कर रहा हूँ। आप मुझसे जो कुछ पूछते या जानना चाहते हैं वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥ १० ॥

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षवानपि।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥ ११ ॥

इस भारतवर्षमें महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्षवान्, विन्ध्य और पारियात्र—ये सात कुलपर्वत कहे गये हैं ११

तेषां सहस्रशो राजन् पर्वतास्ते समीपतः।
अविज्ञाताः सारवन्तो विपुलाश्चित्रसानवः ॥ १२ ॥

राजन्! इनके आसपास और भी हजारों अविज्ञात पर्वत हैं, जो रत्न आदि सार वस्तुओंसे युक्त, विस्तृत और विचित्र शिखरोंसे सुशोभित हैं ॥ १२ ॥

अन्ये ततोऽपरिज्ञाता ह्रस्वा ह्रस्वोपजीविनः।
आर्या म्लेच्छाश्च कौरव्य तैर्मिश्राः पुरुषा विभो ॥ १३ ॥
नदीं पिबन्ति विपुलां गङ्गां सिन्धुं सरस्वतीम्।
गोदावरीं नर्मदां च बाहुदां च महानदीम् ॥ १४ ॥

शतद्रूं चन्द्रभागां च यमुनां च महानदीम्।
दृषद्वतीं विपाशां च विपापां स्थूलवालुकाम् ॥ १५ ॥
नदीं वेत्रवतीं चैव कृष्णवेणां च निम्नगाम्।
इरावतीं वितस्तां च पयोष्णीं देविकामपि ॥ १६ ॥
वेदस्मृतां वेदवतीं त्रिदिवामिक्षुलां कृमिम्।
करीषिणीं चित्रवाहां चित्रसेनां च निम्नगाम् ॥ १७ ॥

इनसे भिन्न और भी छोटे-छोटे अपरिचित पर्वत हैं, जो छोटे-छोटे प्राणियोंके जीवन-निर्वाहका आश्रय बने हुए हैं। प्रभो! कुरुनन्दन! इस भारतवर्षमें आर्य, म्लेच्छ तथा संकर जातिके मनुष्य निवास करते हैं। वे लोग यहाँकी जिन बड़ी-बड़ी नदियोंके जल पीते हैं, उनके नाम बताता हूँ, सुनिये। गङ्गा, सिन्धु, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, बाहुदा, महानदी, शतद्रू, चन्द्रभागा, महानदी यमुना, दृषद्वती, विपाशा, विपापा, स्थूलवालुका, वेत्रवती, कृष्णवेणा, इरावती, वितस्ता, पयोष्णी, देविका, वेदस्मृता, वेदवती, त्रिदिवा, इक्षुला, कृमि, करीषिणी, चित्रवाहा तथा चित्रसेना नदी ॥ १३—१७॥

गोमतीं धूतपापां च वन्दनां च महानदीम्।
कौशिकीं त्रिदिवां कृत्यां निचितां लोहितारणीम्॥ १८ ॥
रहस्यां शतकुम्भां च सरयूं च तथैव च।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं हस्तिसोमां दिशं तथा ॥ १९ ॥
शरावतीं पयोष्णीं च वेणां भीमरथीमपि।
कावेरीं चुलुकां चापि वाणीं शतबलामपि ॥ २० ॥

गोमती, धूतपापा, महानदी वन्दना, कौशिकी, त्रिदिवा, कृत्या, निचिता, लोहितारणी, रहस्या, शतकुम्भा, सरयू, चर्मण्वती, वेत्रवती, हस्तिसोमा, दिक्, शरावती, पयोष्णी, वेणा, भीमरथी, कावेरी, चुलुका, वाणी और शतबला १८—२०

नीवारामहितां चापि सुप्रयोगां जनाधिप।
पवित्रां कुण्डलीं सिन्धुं राजनीं पुरमालिनीम् ॥ २१ ॥
पूर्वाभिरामां वीरां च भीमामोघवतीं तथा।
पाशाशिनीं पापहरां महेन्द्रां पाटलावतीम् ॥ २२ ॥
करीषिणीमसिक्नीं च कुशचीरां महानदीम्।
मकरीं प्रवरां मेनां हेमां घृतवतीं तथा ॥ २३ ॥
पुरावतीमनुष्णां च शैब्यां कापीं च भारत।
सदानीरामधृष्यां च कुशधारां महानदीम् ॥ २४ ॥

नरेश्वर! नीवारा, अहिता, सुप्रयोगा, पवित्रा, कुण्डली, सिन्धु, राजनी, पुरमालिनी, पूर्वाभिरामा, वीरा (नीरा), भीमा, ओघवती, पाशाशिनी, पापहरा, महेन्द्रा, पाटलावती, करीषिणी, असिक्नी, महानदी कुशचीरा, मकरी, प्रवरा, मेना, हेमा, घृतवती, पुरावती, अनुष्णा, शैब्या, कापी, सदानीरा, अधृष्या और महानदी कुशधारा ॥ २१—२४ ॥

सदाकान्तां शिवां चैव तथा वीरमतीमपि।
वस्त्रां सुवस्त्रां गौरीं च कम्पनां सहिरण्वतीम् ॥ २५ ॥
वरां वीरकरां चापि पञ्चमीं च महानदीम्।
रथचित्रां ज्योतिरथां विश्वामित्रां कपिञ्जलाम् ॥ २६ ॥
उपेन्द्रां बहुलां चैव कुवीरामम्बुवाहिनीम्।
विनदीं पिञ्जलां वेणां तुङ्गवेणां महानदीम् ॥ २७ ॥
विदिशां कृष्णवेणां च ताम्रां च कपिलामपि।
खलुं सुवामां वेदाश्वां हरिश्रावां महापगाम् ॥ २८ ॥
शीघ्रां च पिच्छिलां चैव भारद्वाजीं च निम्नगाम्।
कौशिकीं निम्नगां शोणां बाहुदामथ चन्द्रमाम्॥ २९ ॥
दुर्गां चित्रशिलां चैव ब्रह्मवेध्यां बृहद्वतीम्।
यवक्षामथ रोहीं च तथा जाम्बूनदीमपि ॥ ३० ॥

सदाकान्ता, शिवा, वीरमती, वस्त्रा, सुवस्त्रा, गौरी, कम्पना, हिरण्वती, वरा, वीरकरा, महानदी पञ्चमी, रथचित्रा, ज्योतिरथा, विश्वामित्रा, कपिञ्जला, उपेन्द्रा, बहुला, कुवीरा, अम्बुवाहिनी, विनदी, पिञ्जला, वेणा, महानदी तुंगवेणा, विदिशा, कृष्णवेणा, ताम्रा, कपिला, खलु, सुवामा, वेदाश्वा, हरिश्रावा, महापगा, शीघ्रा, पिच्छिला, भारद्वाजी नदी, कौशिकी नदी, शोणा, बाहुदा, चन्द्रमा, दुर्गा, चित्रशिला, ब्रह्मवेध्या, बृहद्वती, यवक्षा, रोही तथा जाम्बूनदी २५—३०

सुनसां तमसां दासीं वसामन्यां वराणसीम्।
नीलां घृतवतीं चैव पर्णाशां च महानदीम् ॥ ३१ ॥
मानवीं वृषभां चैव ब्रह्ममेध्यां बृहद्ध्वनिम्।
एताश्चान्याश्च बहुधा महानद्यो जनाधिप ॥ ३२ ॥

सुनसा, तमसा, दासी, वसा, वराणसी, नीला, घृतवती, महानदी पर्णाशा, मानवी, वृषभा, ब्रह्ममेध्या, बृहद्ध्वनि, राजन्! ये तथा और भी बहुत-सी नदियाँ हैं ॥ ३१-३२ ॥

सदा निरामयां कृष्णां मन्दगां मन्दवाहिनीम्।
ब्राह्मणीं च महागौरीं दुर्गामपि च भारत ॥ ३३ ॥
चित्रोपलां चित्ररथां मञ्जुलां वाहिनीं तथा।
मन्दाकिनीं वैतरणीं कोषां चापि महानदीम् ॥ ३४ ॥
शुक्तिमतीमनङ्गां च तथैव वृषसाह्वयाम्।
लोहित्यां करतोयां च तथैव वृषकाह्वयाम् ॥ ३५ ॥
कुमारीमृषिकुल्यां च मारिषां च सरस्वतीम्।
मन्दाकिनीं सुपुण्यां च सर्वां गङ्गां च भारत ॥ ३६ ॥

भारत! सदा निरामया, कृष्णा, मन्दगा, मन्दवाहिनी, ब्राह्मणी, महागौरी, दुर्गा, चित्रोपला, चित्ररथा, मञ्जुला, वाहिनी, मन्दाकिनी, वैतरणी, महानदी कोषा, शुक्तिमती, अनंगा, वृषा, लोहित्या, करतोया, वृषका, कुमारी, ऋषिकुल्या, मारिषा, सरस्वती, मन्दाकिनी, सुपुण्या, सर्वा तथा गङ्गा, भारत! इन नदियोंके जल भारतवासी पीते हैं ॥ ३३—३६ ॥

विश्वस्य मातरः सर्वाः सर्वाश्चैव महाफलाः।
तथा नद्यस्त्वप्रकाशाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३७ ॥

राजन्! पूर्वोक्त सभी नदियाँ सम्पूर्ण विश्वकी माताएँ हैं, वे सबकी सब महान् पुण्य फल देनेवाली हैं। इनके सिवा सैकड़ों और हजारों ऐसी नदियाँ हैं, जो लोगोंके परिचयमें नहीं आयी हैं ॥ ३७ ॥

इत्येताः सरितो राजन् समाख्याता यथास्मृति।
अत ऊर्ध्वं जनपदान् निबोध गदतो मम ॥ ३८ ॥

राजन्! जहाँतक मेरी स्मरणशक्ति काम दे सकी है, उसके अनुसार मैंने इन नदियोंके नाम बताये हैं। इसके बाद अब मैं भारतवर्षके जनपदोंका वर्णन करता हूँ, सुनिये ॥

तत्रेमे कुरुपाञ्चालाः शाल्वा माद्रेयजाङ्गलाः।
शूरसेनाः पुलिन्दाश्च बोधा मालास्तथैव च ॥ ३९ ॥
मत्स्याः कुशल्याः सौशल्याः कुन्तयः कान्तिकोसलाः।
चेदिमत्स्यकरूषाश्च भोजाः सिन्धुपुलिन्दकाः ॥ ४० ॥
उत्तमाश्वदशार्णाश्च मेकलाश्चोत्कलैः सह।
पञ्चालाः कोसलाश्चैव नैकपृष्ठा धुरंधराः ॥ ४१ ॥
गोधामद्रकलिङ्गाश्च काशयोऽपरकाशयः।
जठराः कुक्कुराश्चैव सदशार्णाश्च भारत ॥ ४२ ॥
कुन्तयोऽवन्तयश्चैव तथैवापरकुन्तयः।
गोमन्ता मण्डकाः सण्डा विदर्भा रूपवाहिकाः ॥ ४३ ॥
अश्मकाः पाण्डुराष्ट्राश्च गोपराष्ट्राः करीतयः।
अधिराज्यकुशाद्याश्च मल्लराष्ट्रं च केवलम् ॥ ४४ ॥

भारतमें ये कुरु-पाञ्चाल, शाल्व, माद्रेय-जाङ्गल, शूरसेन, पुलिन्द, बोध, माल, मत्स्य, कुशल्य, सौशल्य, कुन्ति, कान्ति, कोसल, चेदि, मत्स्य, करूष, भोज, सिन्धु-पुलिन्द, उत्तमाश्व, दशार्ण, मेकल, उत्कल, पञ्चाल, कोसल, नैकपृष्ठ, धुरंधर, गोधा, मद्रकलिंग, काशि, अपरकाशि, जठर, कुक्कुर, दशार्ण, कुन्ति, अवन्ति, अपरकुन्ति, गोमन्त, मन्दक, सण्ड, विदर्भ, रूपवाहिक, अश्मक, पाण्डुराष्ट्र, गोपराष्ट्र, करीति, अधिराज्य, कुशाद्य तथा मल्लराष्ट्र ॥ ३९-४४ ॥

वारवास्यायवाहाश्च चक्राश्चक्रातयः शकाः।
विदेहा मगधाः स्वक्षा मलजा विजयास्तथा ॥ ४५ ॥
अङ्गा वङ्गाः कलिङ्गाश्च यकृल्लोमान एव च।
मल्लाः सुदेष्णाः प्रह्लादा माहिकाः शशिकास्तथा ॥ ४६ ॥
बाह्लिका वाटधानाश्च आभीराः कालतोयकाः।
अपरान्ताः परान्ताश्च पञ्चालाश्चर्ममण्डलाः ॥ ४७ ॥
अटवीशिखराश्चैव मेरुभूताश्च मारिष।
उपावृत्तानुपावृत्ताः स्वराष्ट्राः केकयास्तथा ॥ ४८ ॥
कुन्दापरान्ता माहेयाः कक्षाः सामुद्रनिष्कुटाः।
अन्ध्राश्च बहवो राजन्नन्तर्गिर्यास्तथैव च ॥ ४९ ॥
बहिर्गिर्याङ्गमलजा मगधा मानवर्जकाः।
समन्तराः प्रावृषेया भार्गवाश्च जनाधिप ॥ ५० ॥

वारवास्य, अयवाह, चक्र, चक्राति, शक, विदेह, मगध, स्वक्ष, मलज, विजय, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, यकृल्लोमा, मल्ल, सुदेष्ण, प्रह्लाद, माहिक, शशिक, बाह्लिक, वाटधान, आभीर, कालतोयक, अपरान्त, परान्त, पञ्चाल, चर्ममण्डल, अटवीशिखर, मेरुभूत, उपावृत्त, अनुपावृत्त, स्वराष्ट्र, केकय, कुन्दापरान्त, माहेय, कक्ष, सामुद्रनिष्कुट, बहुसंख्यक अन्ध्र, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, अङ्गमलज, मगध, मानवर्जक, समन्तर प्रावृषेय तथा भार्गव ॥ ४५-५० ॥

पुण्ड्रा भर्गाः किराताश्च सुदृष्टा यामुनास्तथा।
शका निषादा निषधास्तथैवानर्तनैर्ऋताः ॥ ५१ ॥
दुर्गालाः प्रतिमत्स्याश्च कुन्तलाः कोसलास्तथा।
तीरग्रहाः शूरसेना ईजिकाः कन्यकागुणाः ॥ ५२ ॥
तिलभारा मसीराश्च मधुमन्तः सुकन्दकाः।
काश्मीराः सिन्धुसौवीरा गान्धारा दर्शकास्तथा ॥ ५३ ॥
अभीसारा उलूताश्च शैवला बाह्लिकास्तथा।
दार्वी च वानवा दर्वा वातजामरथोरगाः ॥ ५४ ॥
बहुवाद्याश्च कौरव्य सुदामानः सुमल्लिकाः।
वध्राः करीषकाश्चापि कुलिन्दोपत्यकास्तथा ॥ ५५ ॥
वनायवो दशापार्श्वरोमाणः कुशबिन्दवः।
कच्छा गोपालकक्षाश्च जाङ्गलाः कुरुवर्णकाः ॥ ५६ ॥
किराता बर्बराः सिद्धा वैदेहास्ताम्रलिप्तकाः।
ओण्ड्रा म्लेच्छाः सैसिरिध्राः पार्वतीयाश्च मारिष ॥ ५७ ॥

पुण्ड्र, भर्ग, किरात, सुदृष्ट, यामुन, शक, निषाद, निषध, आनर्त, नैर्ऋत, दुर्गाल, प्रतिमत्स्य, कुन्तल, कोसल, तीरग्रह, शूरसेन, ईजिक, कन्यकागुण, तिलभार, मसीर, मधुमान्, सुकन्दक, काश्मीर, सिन्धुसौवीर, गान्धार, दर्शक, अभीसार, उलूत, शैवाल, बाह्लिक, दार्वी, वानव, दर्व, वातज, आमरथ, उरग, बहुवाद्य, सुदाम, सुमल्लिक, वध्र, करीषक, कुलिन्द, उपत्यक, वनायु, दश, पार्श्वरोम, कुशबिन्दु, कच्छ, गोपालकक्ष, जाङ्गल, कुरुवर्णक, किरात, बर्बर, सिद्ध, वैदेह, ताम्रलिप्तक, ओण्ड्र, म्लेच्छ, सैसिरिध्र और पार्वतीय इत्यादि ॥

अथापरे जनपदा दक्षिणा भरतर्षभ।
द्रविडाः केरलाः प्राच्या भूषिका वनवासिकाः ॥ ५८ ॥
कर्णाटका महिषका विकल्पा मूषकास्तथा।
झिल्लिकाः कुन्तलाश्चैव सौहृदा नभकाननाः ॥ ५९ ॥
कौकुट्टकास्तथा चोलाः कोङ्कणा मालवा नराः।
समङ्गाः करकाश्चैव कुकुराङ्गारमारिषाः ॥ ६० ॥
ध्वजिन्युत्सवसंकेतास्त्रिगर्ताः शाल्वसेनयः।
व्यूकाः कोकबकाः प्रोष्ठाः समवेगवशास्तथा ॥ ६१ ॥
तथैव विन्ध्यचुलिकाः पुलिन्दा वल्कलैः सह।
मालवा वल्लवाश्चैव तथैवापरवल्लवाः ॥ ६२ ॥
कुलिन्दाः कालदाश्चैव कुण्डलाः करटास्तथा।
मूषकाः स्तनबालाश्च सनीपा घटसृंजयाः ॥ ६३ ॥

अटिदाः पाशिवाटाश्च तनयाः सुनयास्तथा ।
ऋषिका विदभाः काकास्तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ६४ ॥
उत्तराश्चापरम्लेच्छाः क्रूरा भरतसत्तम ।
यवनाश्चीनकाम्बोजा दारुणा म्लेच्छजातयः ॥ ६५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अब जो दक्षिण दिशाके अन्यान्य जनपद हैं उनका वर्णन सुनिये—द्रविड, केरल, प्राच्य, भूषिक, वनवासिक, कर्णाटक, महिषक, विकल्प, मूषक, झिल्लिक, कुन्तल, सौहृद, नभकानन, कौकुट्टक, चोल, कोङ्कण, मालव, नर, समङ्ग, करक, कुकुर, अङ्गार, मारिष, ध्वजिनी, उत्सवसंकेत, त्रिगर्त, शाल्वसेनि, व्यूक, कोकवक, प्रोष्ठ, समवेगवश, विन्ध्यचुलिक, पुलिन्द, वल्कल, मालव, बल्लव, अपरवल्लव, कुलिन्द, कालद, कुण्डल, करट, मूषक, स्तनबाल, सनीप, घट, सृंजय, अटिद, पाशिवाट, तनय, सुनय, ऋषिक, विदभ, काक, तङ्गण, परतङ्गण, उत्तर और क्रूर अपरम्लेच्छ, यवन, चीन तथा जहाँ भयानक म्लेच्छ जातिके लोग निवास करते हैं, वह काम्बोज ॥ ५८–६५ ॥

सकृद्ग्रहाः कुलत्थाश्च हूणाः पारसिकैः सह ।
तथैव रमणाश्चीनास्तथैव दशमालिकाः ॥ ६६ ॥
क्षत्रियोपनिवेशाश्च वैश्यशूद्रकुलानि च ।
शूद्राभीराश्च दरदाः काश्मीराः पशुभिः सह ॥ ६७ ॥
खाशीराश्चान्तचाराश्च पह्लवा गिरिगह्वराः ।
आत्रेयाः सभरद्वाजास्तथैव स्तनपोषिकाः ॥ ६८ ॥
प्रोषकाश्च कलिङ्गाश्च किरातानां च जातयः ।
तोमरा हन्यमानाश्च तथैव करभञ्जकाः ॥ ६९ ॥

सकृद्ग्रह, कुलत्थ, हूण, पारसिक, रमण-चीन, दशमालिक, क्षत्रियोंके उपनिवेश, वैश्यों और शूद्रोंके जनपद, शूद्र, आभीर, दरद, काश्मीर, पशु, खाशीर, अन्तचार, पह्लव, गिरिगह्वर, आत्रेय, भरद्वाज, स्तनपोषिक, प्रोषक, कलिङ्ग, किरात जातियोंके जनपद, तोमर, हन्यमान और करभञ्जक इत्यादि ॥ ६७–६९ ॥

एते चान्ये जनपदाः प्राच्योदीच्यास्तथैव च ।
उद्देशमात्रेण मया देशाः संकीर्तिता विभो ॥ ७० ॥

राजन् ! ये तथा और भी पूर्व और उत्तर दिशाके जनपद एवं देश मैंने संक्षेपसे बताये हैं ॥ ७० ॥

यथागुणबलं चापि त्रिवर्गस्य महाफलम् ।
दुह्येत धेनुः कामधुग् भूमिः सम्यगनुष्ठिता ॥ ७१ ॥

अपने गुण और बलके अनुसार यदि अच्छी तरह इस भूमिका पालन किया जाय तो यह कामनाओंकी पूर्ति करनेवाली कामधेनु बनकर धर्म, अर्थ और काम तीनोंके महान् फलकी प्राप्ति कराती है ॥ ७१ ॥

तस्यां गृद्ध्यन्ति राजानः शूरा धर्मार्थकोविदाः ।
ते त्यजन्त्याहवे प्राणान् वसुगृद्धास्तरस्विनः ॥ ७२ ॥

इसीलिये धर्म और अर्थके काममें निपुण शूर-वीर नरेश इसे पानेकी अभिलाषा रखते हैं और धनके लोभमें आसक्त हो वेगपूर्वक युद्धमें जाकर अपने प्राणोंका परित्याग कर देते हैं॥

देवमानुषकायानां कामं भूमिः परायणम् ।
अन्योन्यस्यावलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम् ॥ ७३ ॥
राजानो भरतश्रेष्ठ भोक्तुकामा वसुंधराम् ।
न चापि तृप्तिः कामानां विद्यतेऽद्यापि कस्यचित् ॥ ७४॥

देवशरीरधारी प्राणियोंके लिये और मानवशरीरधारी जीवोंके लिये यथेष्ट फल देनेवाली यह भूमि उनका परम आश्रय होती है । भरतश्रेष्ठ ! जैसे कुत्ते मांसके टुकड़ेके लिये परस्पर लड़ते और एक दूसरेको नोचते हैं, उसी प्रकार राजा लोग इस वसुधाको भोगनेकी इच्छा रखकर आपसमें लड़ते और लूट-पाट करते हैं; किंतु आजतक किसीको अपनी कामनाओंसे तृप्ति नहीं हुई ॥ ७३-७४ ॥

तस्मात् परिग्रहे भूमेर्यतन्ते कुरुपाण्डवाः ।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनैव च भारत ॥ ७५ ॥

भारत ! इस अतृप्तिके ही कारण कौरव और पाण्डव साम, दान, भेद और दण्डके द्वारा सम्पूर्ण वसुधापर अधिकार पानेके लिये यत्न करते हैं ॥ ७५ ॥

पिता भ्राता च पुत्राश्च खं द्यौश्च नरपुङ्गव ।
भूमिर्भवति भूतानां सम्यगच्छिद्रदर्शिना ॥ ७६ ॥

नरश्रेष्ठ ! यदि भूमिके यथार्थ स्वरूपका सम्पूर्णरूपसे ज्ञान हो जाय तो यह परमात्मासे अभिन्न होनेके कारण प्राणियोंके लिये स्वयं ही पिता, भ्राता, पुत्र, आकाशवर्ती पुण्यलोक तथा स्वर्ग भी बन जाती है ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतीयनदीदेशादिनामकथने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भारतकी नदियों और देश आदिके नामका वर्णनविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

भारतवर्षमें युगोंके अनुसार मनुष्योंकी आयु तथा गुणोंका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

भारतस्यास्य वर्षस्य तथा हैमवतस्य च ।
प्रमाणमायुषः सूत बलं चापि शुभाशुभम् ॥ १ ॥
अनागतमतिक्रान्तं वर्तमानं च संजय ।

आचक्ष्व मे विस्तरेण हरिवर्षं तथैव च ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! तुम भारतवर्ष और हैमवत-वर्षके लोगोंके आयुका प्रमाण, बल तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान शुभाशुभ फल बताओ । साथ ही हरिवर्षका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करो ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

चत्वारि भारते वर्षे युगानि भरतर्षभ ।
कृतं त्रेता द्वापरं च तिष्यं च कुरुवर्धन ॥ ३ ॥

संजयने कहा—कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले भरतश्रेष्ठ ! भारतवर्षमें चार युग होते हैं–सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ॥ ३ ॥

पूर्वं कृतयुगं नाम ततस्त्रेतायुगं प्रभो ।
संक्षेपाद् द्वापरस्याथ ततस्तिष्यं प्रवर्तते ॥ ४ ॥

प्रभो ! पहले सत्ययुग होता है, फिर त्रेतायुग आता है, उसके बाद द्वापरयुग बीतनेपर कलियुगकी प्रवृत्ति होती है ॥

चत्वारि तु सहस्राणि वर्षाणां कुरुसत्तम ।
आयुःसंख्या कृतयुगे संख्याता राजसत्तम ॥ ५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! नृपप्रवर ! सत्ययुगके लोगोंकी आयुका मान चार हजार वर्ष है ॥ ५ ॥

तथा त्रीणि सहस्राणि त्रेतायां मनुजाधिप ।
द्वे सहस्रे द्वापरे तु भुवि तिष्ठति साम्प्रतम् ॥ ६ ॥

मनुजेश्वर ! त्रेताके मनुष्योंकी आयु तीन हजार वर्षोंकी बतायी गयी है । द्वापरके लोगोंकी आयु दो हजार वर्षोंकी है, जो इस समय भूतलपर विद्यमान है ॥ ६ ॥

न प्रमाणस्थितिर्ह्यस्ति तिष्येऽस्मिन् भरतर्षभ ।
गर्भस्थाश्च म्रियन्तेऽत्र तथा जाता म्रियन्ति च ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस कलियुगमें आयु-प्रमाणकी कोई मर्यादा नहीं है । यहाँ गर्भके बच्चे भी मरते हैं और नवजात शिशु भी मृत्युको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

महाबला महासत्त्वाः प्रज्ञागुणसमन्विताः ।
प्रजायन्ते च जाताश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥
जाताः कृतयुगे राजन् धनिनः प्रियदर्शनाः ।
प्रजायन्ते च जाताश्च मुनयो वै तपोधनाः ॥ ९ ॥

सत्ययुगमें महाबली, महान् सत्त्वगुणसम्पन्न, बुद्धिमान्, धनवान् और प्रियदर्शन मनुष्य उत्पन्न होते हैं और सैकड़ों तथा हजारों संतानोंको जन्म देते हैं; उस समय प्रायः तपस्याके धनी महर्षिगण जन्म लेते हैं ॥ ८-९ ॥

महोत्साहा महात्मानो धार्मिकाः सत्यवादिनः ।
प्रियदर्शना वपुष्मन्तो महावीर्या धनुर्धराः ॥ १० ॥
वरार्हा युधि जायन्ते क्षत्रियाः शूरसत्तमाः ।
त्रेतायां क्षत्रिया राजन् सर्वे वै चक्रवर्तिनः ॥ ११ ॥

राजन् ! इसी प्रकार त्रेतायुगमें समस्त भूमण्डलके क्षत्रिय अत्यन्त उत्साही, महान् मनस्वी, धर्मात्मा, सत्यवादी, प्रियदर्शन, सुन्दर शरीरधारी, महापराक्रमी, धनुर्धर, वर पानेके योग्य, युद्धमें शूरशिरोमणि तथा मानवोंकी रक्षा करनेवाले होते हैं ॥

सर्ववर्णाश्च जायन्ते सदा चैव च द्वापरे ।
महोत्साहा वीर्यवन्तः परस्परजयैषिणः ॥ १२ ॥

द्वापरमें सभी वर्णोंके लोग उत्पन्न होते हैं एवं वे सदा परम उत्साही, पराक्रमी तथा एक दूसरेको जीतनेके इच्छुक होते हैं ॥ १२ ॥

तेजसाल्पेन संयुक्ताः क्रोधनाः पुरुषा नृप ।
लुब्धा अनृतकाश्चैव तिष्ये जायन्ति भारत ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! कलियुगमें जन्म लेनेवाले लोग प्रायः अल्प-तेजस्वी, क्रोधी, लोभी तथा असत्यवादी होते हैं ॥ १३ ॥

ईर्ष्या मानस्तथा क्रोधो मायासूया तथैव च ।
तिष्ये भवति भूतानां रागो लोभश्च भारत ॥ १४ ॥

भारत ! कलियुगके प्राणियोंमें ईर्ष्या, मान, क्रोध, माया, दोष-दृष्टि, राग तथा लोभ आदि दोष रहते हैं ॥ १४ ॥

संक्षेपो वर्तते राजन् द्वापरेऽस्मिन् नराधिप ।
गुणोत्तरं हैमवतं हरिवर्षं ततः परम् ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! इस द्वापरमें भी गुणोंकी न्यूनता होती है । भारतवर्षकी अपेक्षा हैमवत तथा हरिवर्षमें उत्तरोत्तर अधिक गुण हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतवर्षे कृताद्यनुरोधेनायुर्निरूपणे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भारतवर्षमें सत्ययुग आदिके अनुसार आयुका निरूपणविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

(भूमिपर्व)

एकादशोऽध्यायः

शाकद्वीपका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

जम्बूखण्डस्त्वया प्रोक्तो यथावदिह संजय ।
विष्कम्भमस्य प्रब्रूहि परिमाणं तु तत्त्वतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमने यहाँ जम्बूखण्डका यथावत् वर्णन किया है । अब तुम इसके विस्तार और परिमाणको ठीक-ठीक बताओ ॥ १ ॥

समुद्रस्य प्रमाणं च सम्यगच्छिद्रदर्शनम्।
शाकद्वीपं च मे ब्रूहि कुशद्वीपं च संजय ॥ २ ॥

संजय ! समुद्रके सम्पूर्ण परिमाणको भी अच्छी तरह समझाकर कहो। इसके बाद मुझसे शाकद्वीप और कुशद्वीपका वर्णन करो ॥ २ ॥

शाल्मलिं चैव तत्त्वेन क्रौञ्चद्वीपं तथैव च।
ब्रूहि गावल्गणे सर्वं राहोः सोमार्कयोस्तथा ॥ ३ ॥

गवल्गणकुमार संजय ! इसी प्रकार शाल्मलिद्वीप, क्रौंचद्वीप तथा सूर्य, चन्द्रमा एवं राहुसे सम्बन्ध रखनेवाली सब बातोंका यथार्थरूपसे प्रतिपादन करो ॥ ३ ॥

संजय उवाच

राजन् सुबहवो द्वीपा यैरिदं संततं जगत्।
सप्तद्वीपान् प्रवक्ष्यामि चन्द्रादित्यौ ग्रहं तथा ॥ ४ ॥

संजय बोले—राजन् ! बहुत-से द्वीप हैं, जिनसे सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है। अब मैं आपकी आज्ञाके अनुसार सात द्वीपोंका तथा चन्द्रमा, सूर्य और राहुका भी वर्णन करूँगा ॥

अष्टादश सहस्राणि योजनानि विशाम्पते।
षट् शतानि च पूर्णानि विष्कम्भो जम्बुपर्वतः ॥ ५ ॥
लावणस्य समुद्रस्य विष्कम्भो द्विगुणः स्मृतः।
नानाजनपदाकीर्णो मणिविद्रुमचित्रितः ॥ ६ ॥
नैकधातुविचित्रैश्च पर्वतैरुपशोभितः।
सिद्धचारणसंकीर्णः सागरः परिमण्डलः ॥ ७ ॥

राजन् ! जम्बूद्वीपका विस्तार पूरे १८६०० योजन है। इसके चारों ओर जो खारे पानीका समुद्र है, उसका विस्तार जम्बूद्वीपकी अपेक्षा दूना माना गया है। उसके तटपर तथा टापूमें बहुत-से देश और जनपद हैं। उसके भीतर नाना प्रकारके मणि और मूँगे हैं, जो उसकी विचित्रता सूचित करते हैं। अनेक प्रकारके धातुओंसे अद्भुत प्रतीत होनेवाले बहुसंख्यक पर्वत उस सागरकी शोभा बढ़ाते हैं। सिद्धों तथा चारणोंसे भरा हुआ वह लवणसमुद्र सब ओरसे मण्डलाकार है ॥

शाकद्वीपं च वक्ष्यामि यथावदिह पार्थिव।
शृणु मे त्वं यथान्यायं ब्रुवतः कुरुनन्दन ॥ ८ ॥

राजन्! अब मैं शाकद्वीपका यथावत् वर्णन आरम्भ करता हूँ। कुरुनन्दन! मेरे इस न्यायोचित कथनको आप ध्यान देकर सुनें॥

जम्बूद्वीपप्रमाणेन द्विगुणः स नराधिप।
विष्कम्भेण महाराज सागरोऽपि विभागशः ॥ ९ ॥

महाराज ! नरेश्वर ! वह द्वीप विस्तारकी दृष्टिसे जम्बूद्वीपके परिमाणसे दूना है। भरतश्रेष्ठ ! उसका समुद्र भी विभागपूर्वक उससे दूना ही है ॥ ९ ॥

क्षीरोदो भरतश्रेष्ठ येन सम्परिवारितः।
तत्र पुण्या जनपदास्तत्र न म्रियते जनः ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समुद्रका नाम क्षीरसागर है, जिसने उक्त द्वीपको सब ओरसे घेर रक्खा है। वहाँ पवित्र जनपद हैं। वहाँ निवास करनेवाले लोगोंकी मृत्यु नहीं होती ॥ १० ॥

कुत एव हि दुर्भिक्षं क्षमातेजोयुता हि ते।
शाकद्वीपस्य संक्षेपो यथावद् भरतर्षभ ॥ ११ ॥
उक्त एष महाराज किमन्यत् कथयामि ते।

फिर वहाँ दुर्भिक्ष तो हो ही कैसे सकता है ? उस द्वीपके निवासी क्षमाशील और तेजस्वी होते हैं। भरतश्रेष्ठ महाराज ! इस प्रकार शाकद्वीपका संक्षेपसे यथावत् वर्णन किया गया है। अब और आपसे क्या कहूँ ? ॥ ११½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

शाकद्वीपस्य संक्षेपो यथावदिह संजय ॥ १२ ॥
उक्तस्त्वया महाप्राज्ञ विस्तरं ब्रूहि तत्त्वतः।

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धिमान् संजय ! तुमने यहाँ शाकद्वीपका संक्षिप्तरूपसे यथावत् वर्णन किया है। अब उसका कुछ विस्तारके साथ यथार्थ परिचय दो ॥ १२½ ॥

संजय उवाच

तथैव पर्वता राजन् सप्तात्र मणिभूषिताः ॥ १३ ॥
रत्नाकरास्तथा नद्यस्तेषां नामानि मे शृणु।

संजय बोले—राजन् ! शाकद्वीपमें भी मणियोंसे विभूषित सात पर्वत हैं। वहाँ रत्नोंकी बहुत-सी खानें तथा नदियाँ भी हैं। उनके नाम मुझसे सुनिये ॥ १३½ ॥

अतीव गुणवत् सर्वं तत्र पुण्यं जनाधिप ॥ १४ ॥
देवर्षिगन्धर्वयुतः प्रथमो मेरुरुच्यते।
प्रागायतो महाराज मलयो नाम पर्वतः ॥ १५ ॥

जनेश्वर ! वहाँका सब कुछ परम पवित्र और अत्यन्त गुणकारी है। वहाँका प्रधान पर्वत है मेरु, जो देवर्षियों तथा गन्धर्वोंसे सेवित है। महाराज ! दूसरे पर्वतका नाम मलय है, जो पूर्वसे पश्चिमकी ओर फैला हुआ है ॥ १४-१५ ॥

ततो मेघाः प्रवर्तन्ते प्रभवन्ति च सर्वशः।
ततः परेण कौरव्य जलधारो महागिरिः ॥ १६ ॥

मेघ वहींसे उत्पन्न होते हैं, फिर वे सब ओर फैलकर जलकी वर्षा करनेमें समर्थ होते हैं। कुरुनन्दन ! उसके बाद जलधार नामक महान् पर्वत है ॥ १६ ॥

ततो नित्यमुपादत्ते वासवः परमं जलम्।
ततो वर्षं प्रभवति वर्षकाले जनेश्वर ॥ १७ ॥

जनेश्वर ! इन्द्र वहींसे सदा उत्तम जल ग्रहण करते हैं। इसीलिये वर्षाकालमें वे यथेष्ट जल बरसानेमें समर्थ होते हैं ॥

उच्चैर्गिरी रैवतको यत्र नित्यं प्रतिष्ठिता।
रेवती दिवि नक्षत्रं पितामहकृतो विधिः ॥ १८ ॥

उसी द्वीपमें उच्चतम रैवतक पर्वत है, जहाँ आकाशमें रेवती नामक नक्षत्र नित्य प्रतिष्ठित है। यह ब्रह्माजीका रचा हुआ विधान है ॥ १८ ॥

उत्तरेण तु राजेन्द्र श्यामो नाम महागिरिः।
नवमेघप्रभः प्रांशुः श्रीमानुज्ज्वलविग्रहः ॥ १९ ॥

राजेन्द्र ! उसके उत्तर भागमें श्याम नामक महान् पर्वत है, जो नूतन मेघके समान श्याम शोभासे युक्त है। उसकी ऊँचाई बहुत है। उसका कान्तिमान् कलेवर परम उज्ज्वल है॥

यतः श्यामत्वमापन्नाः प्रजा जनपदेश्वर।

जनपदेश्वर ! वहाँ रहनेसे ही वहाँकी प्रजा श्यामताको प्राप्त हुई है ॥ १९½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सुमहान् संशयो मेऽद्य प्रोक्तोऽयं संजय त्वया।
प्रजाः कथं सूतपुत्र सम्प्राप्ताः श्यामतामिह ॥ २० ॥

धृतराष्ट्र बोले—सूतपुत्र संजय ! यह तो तुमने आज मुझसे महान् संशयकी बात कही है। भला, वहाँ रहने मात्रसे प्रजा श्यामताको कैसे प्राप्त हो गयी ? ॥ २० ॥

संजय उवाच

सर्वेष्वेव महाराज द्वीपेषु कुरुनन्दन।
गौरः कृष्णश्च वर्णौ द्वौ तयोर्वर्णान्तरं नृप ॥ २१ ॥
श्यामो यस्मात् प्रवृत्तो वै तत् ते वक्ष्यामि भारत।
आस्तेऽत्र भगवान् कृष्णस्तत्कान्त्या श्यामतां गतः ॥ २२ ॥

संजयने कहा—महाराज कुरुनन्दन ! सम्पूर्ण द्वीपोंमें गौर, कृष्ण तथा इन दोनों वर्णोंका सम्मिश्रण देखा जाता है। भारत ! यह पर्वत जिस कारणसे श्याम होकर दूसरोंमें भी श्यामता उत्पन्न करनेवाला हुआ; वह आपको बताता हूँ। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण निवास करते हैं; अतः उन्हींकी कान्तिसे यह (स्वयं भी) श्यामताको प्राप्त हुआ है (और अपने समीप रहनेवाली प्रजामें भी श्यामता उत्पन्न कर देता है) ॥

ततः परं कौरवेन्द्र दुर्गशैलो महोदयः।
केसरः केसरयुतो यतो वातः प्रवर्तते ॥ २३ ॥

कौरवराज ! श्यामगिरिके बाद बहुत ऊँचा दुर्ग शैल है। उसके बाद केसर पर्वत है; जहाँसे चली हुई वायु केसरकी सुगन्ध लिये बहती है ॥ २३ ॥

तेषां योजनविष्कम्भो द्विगुणः प्रविभागशः।
वर्षाणि तेषु कौरव्य सप्तोक्तानि मनीषिभिः ॥ २४ ॥

इन सब पर्वतोंका विस्तार दूना होता गया है। कुरुनन्दन ! मनीषी पुरुषोंने उन पर्वतोंके समीप सात वर्ष बताये हैं॥

महामेरुर्महाकाशो जलदः कुमुदोत्तरः।
जलधारो महाराज सुकुमार इति स्मृतः ॥ २५ ॥

महामेरु पर्वतके समीप महाकाश वर्ष है, जलद या मलयके निकट कुमुदोत्तर वर्ष है। महाराज ! जलधार गिरिका पार्श्ववर्ती वर्ष सुकुमार बताया गया है ॥ २५ ॥

रैवतस्य तु कौमारः श्यामस्य मणिकाञ्चनः।
केसरस्याथ मोदाकी परेण तु महापुमान् ॥ २६ ॥

रैवतक पर्वतका कुमारवर्ष तथा श्यामगिरिका मणिकाञ्चन वर्ष है। इसी प्रकार केसरके समीपवर्ती वर्षको मोदाकी कहते हैं। उसके आगे महापुमान् नामक एक पर्वत है ॥

परिवार्य तु कौरव्य दैर्घ्यं ह्रस्वत्वमेव च।
जम्बूद्वीपेन संख्यातस्तस्य मध्ये महाद्रुमः ॥ २७ ॥
शाको नाम महाराज प्रजा तस्य सदानुगा।
तत्र पुण्या जनपदाः पूज्यते तत्र शंकरः ॥ २८ ॥

वह उस द्वीपकी लंबाई और चौड़ाई सबको घेरकर खड़ा है। महाराज ! उसके बीचमें शाक नामक एक बड़ा भारी वृक्ष है, जो जम्बूद्वीपके समान ही विशाल है। महाराज ! वहाँकी प्रजा सदा उस शाक वृक्षके ही आश्रित रहती है। वहाँ बड़े पवित्र जनपद हैं। उस द्वीपमें भगवान् शङ्करकी आराधना की जाती है ॥ २७-२८ ॥

तत्र गच्छन्ति सिद्धाश्च चारणा दैवतानि च।
धार्मिकाश्च प्रजा राजंश्चत्वारोऽतीव भारत ॥ २९ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! वहाँ सिद्ध, चारण और देवता जाते हैं। वहाँके चारों वर्णोंकी प्रजा अत्यन्त धार्मिक होती है॥

वर्णाः स्वकर्मनिरता न च स्तेनोऽत्र दृश्यते।
दीर्घायुषो महाराज जरामृत्युविवर्जिताः ॥ ३० ॥

सभी वर्णके लोग वहाँ अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मका पालन करते हैं। वहाँ कोई चोर नहीं दिखायी देता। महाराज ! उस द्वीपके निवासी दीर्घायु तथा जरा और मृत्युसे रहित होते हैं ॥ ३० ॥

प्रजास्तत्र विवर्धन्ते वर्षास्विव समुद्रगाः।
नद्यः पुण्यजलास्तत्र गङ्गा च बहुधा गता ॥ ३१ ॥

जैसे वर्षाऋतुमें समुद्रगामिनी नदियाँ बढ़ जाती हैं, उसी प्रकार वहाँकी समस्त प्रजा सदा वृद्धिको प्राप्त होती रहती है। उस द्वीपमें अनेक पवित्र जलवाली नदियाँ बहती हैं। वहाँ गङ्गा भी अनेक धाराओंमें विभक्त देखी जाती हैं॥

सुकुमारी कुमारी च शीताशी वेणिका तथा।
महानदी च कौरव्य तथा मणिजला नदी ॥ ३२ ॥
चक्षुर्वर्धनिका चैव नदी भरतसत्तम।
तत्र प्रवृत्ताः पुण्योदा नद्यः कुरुकुलोद्वह ॥ ३३ ॥

कुरुनन्दन ! भरतश्रेष्ठ ! उस द्वीपमें सुकुमारी, कुमारी, शीताशी, वेणिका, महानदी, मणिजला तथा चक्षुर्वर्धनिका आदि पवित्र जलवाली नदियाँ बहती हैं ॥ ३२-३३ ॥

सहस्राणां शतान्येव यतो वर्षति वासवः।
न तासां नामधेयानि परिमाणं तथैव च ॥ ३४ ॥
शक्यन्ते परिसंख्यातुं पुण्यास्ता हि सरिद्वराः।
तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोकसम्मताः ॥ ३५ ॥

वहाँ लाखों ऐसी नदियाँ हैं, जिनसे जल लेकर इन्द्र वर्षा करते हैं। उनके नाम और परिमाणकी संख्या बताना



This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.



This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

कठिन ही नहीं, असम्भव है। वे सभी श्रेष्ठ नदियाँ परम पुण्यमयी हैं। उस द्वीपमें लोकसम्मानित चार पवित्र जनपद हैं॥

मङ्गाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा।
मङ्गा ब्राह्मणभूयिष्ठाः स्वकर्मनिरता नृप ॥ ३६ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—मङ्ग, मशक, मानस तथा मन्दग। नरेश्वर ! उनमेंसे मङ्ग जनपदमें अधिकतर ब्राह्मण निवास करते हैं। वे सबके सब अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहते हैं॥ ३६ ॥

मशकेषु तु राजन्या धार्मिकाः सर्वकामदाः।
मानसाश्च महाराज वैश्यधर्मोपजीविनः ॥ ३७ ॥
सर्वकामसमायुक्ताः शूरा धर्मार्थनिश्चिताः।

महाराज ! मशक जनपदमें सम्पूर्ण कामनाओंके देनेवाले धर्मात्मा क्षत्रिय निवास करते हैं। मानस जनपदके निवासी वैश्यवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते हैं। वे सर्वभोगसम्पन्न, शूर-वीर, धर्म और अर्थको समझनेवाले एवं दृढ़निश्चयी होते हैं॥

शूद्रास्तु मन्दगा नित्यं पुरुषा धर्मशीलिनः ॥ ३८ ॥

मन्दग जनपदमें शूद्र रहते हैं। वे भी धर्मात्मा होते हैं॥

न तत्र राजा राजेन्द्र न दण्डो न च दण्डिकः।
स्वधर्मेणैव धर्मज्ञास्ते रक्षन्ति परस्परम् ॥ ३९ ॥

राजेन्द्र ! वहाँ न कोई राजा है, न दण्ड है और न दण्ड देनेवाला है। वहाँके लोग धर्मके ज्ञाता हैं और स्वधर्मपालनके ही प्रभावसे एक-दूसरेकी रक्षा करते हैं॥ ३९ ॥

एतावदेव शक्यं तु तत्र द्वीपे प्रभाषितुम्।
एतदेव च श्रोतव्यं शाकद्वीपे महौजसि ॥ ४० ॥

महाराज ! उस महान् तेजोमय शाकद्वीपके सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है और इतना ही सुनना चाहिये॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भूमिपर्वणि शाकद्वीपवर्णने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भूमिपर्वमें शाकद्वीपवर्णनविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

कुश, क्रौञ्च और पुष्कर आदि द्वीपोंका तथा राहु, सूर्य एवं चन्द्रमाके प्रमाणका वर्णन

संजय उवाच

उत्तरेषु च कौरव्य द्वीपेषु श्रूयते कथा।
एवं तत्र महाराज ब्रुवतश्च निबोध मे ॥ १ ॥

संजय बोले—महाराज ! कुरुनन्दन ! इसके बादवाले द्वीपोंके विषयमें जो बातें सुनी जाती हैं, वे इस प्रकार हैं; उन्हें आप मुझसे सुनिये॥ १ ॥

घृततोयः समुद्रोऽत्र दधिमण्डोदकोऽपरः।
सुरोदः सागरश्चैव तथान्यो जलसागरः ॥ २ ॥

क्षीरोद समुद्रके बाद घृतोद समुद्र है। फिर दधिमण्डोदक समुद्र है। इनके बाद सुरोद समुद्र है, फिर मीठे पानीका सागर है॥ २ ॥

परस्परेण द्विगुणाः सर्वे द्वीपा नराधिप।
पर्वताश्च महाराज समुद्रैः परिवारिताः ॥ ३ ॥

महाराज ! इन समुद्रोंसे घिरे हुए सभी द्वीप और पर्वत उत्तरोत्तर दुगुने विस्तारवाले हैं॥ ३ ॥

गौरस्तु मध्यमे द्वीपे गिरिर्मानःशिलो महान्।
पर्वतः पश्चिमे कृष्णो नारायणसखो नृप ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! इनमेंसे मध्यम द्वीपमें मनःशिला (मैनसिल) का एक बहुत बड़ा पर्वत है; जो 'गौर' नामसे विख्यात है। उसके पश्चिममें 'कृष्ण' पर्वत है, जो नारायणको विशेष प्रिय है॥

तत्र रत्नानि दिव्यानि स्वयं रक्षति केशवः।
प्रसन्नश्चाभवत् तत्र प्रजानां व्यदधत् सुखम् ॥ ५ ॥

स्वयं भगवान् केशव ही वहाँ दिव्य रत्नोंको रखते और उनकी रक्षा करते हैं। वे वहाँकी प्रजापर प्रसन्न हुए थे, इसलिये उनको सुख पहुँचानेकी व्यवस्था उन्होंने स्वयं की है॥

कुशस्तम्बः कुशद्वीपे मध्ये जनपदैः सह।
सम्पूज्यते शाल्मलिश्च द्वीपे शाल्मलिके नृप ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! कुशद्वीपमें कुशोंका एक बहुत बड़ा झाड़ है, जिसकी वहाँके जनपदोंमें रहनेवाले लोग पूजा करते हैं। उसी प्रकार शाल्मलि द्वीपमें शाल्मलि (सेंमर) वृक्षकी पूजा की जाती है॥ ६ ॥

क्रौञ्चद्वीपे महाक्रौञ्चो गिरी रत्नचयाकरः।
सम्पूज्यते महाराज चातुर्वर्ण्येन नित्यदा ॥ ७ ॥

क्रौञ्चद्वीपमें महाक्रौञ्च नामक महान् पर्वत है, जो रत्न-राशिकी खान है। महाराज ! वहाँ चारों वर्णोंके लोग सदा उसीकी पूजा करते हैं॥ ७ ॥

गोमन्तः पर्वतो राजन् सुमहान् सर्वधातुकः।
यत्र नित्यं निवसति श्रीमान् कमललोचनः ॥ ८ ॥
मोक्षिभिः संस्तुतो नित्यं प्रभुर्नारायणो हरिः।

राजन् ! वहीं गोमन्त नामक विशाल पर्वत है, जो सम्पूर्ण धातुओंसे सम्पन्न है। वहाँ मोक्षकी इच्छा रखनेवाले उपासकोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए सबके स्वामी श्रीमान् कमलनयन भगवान् नारायण नित्य निवास करते हैं।८½।

कुशद्वीपे तु राजेन्द्र पर्वतो विद्रुमैश्चितः ॥ ९ ॥
सुधामा नाम दुर्धर्षो द्वितीयो हेमपर्वतः।

राजेन्द्र ! कुशद्वीपमें सुधामा नामसे प्रसिद्ध दूसरा सुवर्णमय पर्वत है, जो मूँगोंसे भरा हुआ और दुर्गम है॥ ९½ ॥

द्युतिमान् नाम कौरव्य तृतीयः कुमुदो गिरिः ॥ १० ॥

चतुर्थः पुष्पवान् नाम पञ्चमस्तु कुशेशयः ।
षष्ठो हरिगिरिर्नाम षडेते पर्वतोत्तमाः ॥ ११ ॥

कौरव्य ! वहीं परम कान्तिमान् कुमुद नामक तीसरा पर्वत है । चौथा पुष्पवान्, पाँचवाँ कुशेशय और छठा हरिगिरि है । ये छः कुशद्वीपके श्रेष्ठ पर्वत हैं ॥ १०-११ ॥

तेषामन्तरविष्कम्भो द्विगुणः सर्वभागशः ।
औद्भिदं प्रथमं वर्षं द्वितीयं वेणुमण्डलम् ॥ १२ ॥

इन पर्वतोंके बीचका विस्तार सब ओरसे उत्तरोत्तर दूना होता गया है । कुशद्वीपके पहले वर्षका नाम उद्भिद् है । दूसरेका नाम वेणुमण्डल है ॥ १२ ॥

तृतीयं सुरथाकारं चतुर्थं कम्बलं स्मृतम् ।
धृतिमत् पञ्चमं वर्षं षष्ठं वर्षं प्रभाकरम् ॥ १३ ॥

तीसरेका नाम सुरथाकार, चौथेका कम्बल, पाँचवेंका धृतिमान् और छठे वर्षका नाम प्रभाकर है ॥ १३ ॥

सप्तमं कापिलं वर्षं सप्तैते वर्षलम्भकाः ।
एतेषु देवगन्धर्वाः प्रजाश्च जगतीश्वर ॥ १४ ॥
विहरन्ते रमन्ते च न तेषु म्रियते जनः ।
न तेषु दस्यवः सन्ति म्लेच्छजात्योऽपि वा नृप॥ १५ ॥

सातवाँ वर्ष कापिल कहलाता है । ये सात वर्षसमुदाय हैं । पृथ्वीपते ! इन सबमें देवता, गन्धर्व तथा मनुष्य सानन्द विहार करते हैं । उनमेंसे किसीकी मृत्यु नहीं होती है । नरेश्वर ! वहाँ लुटेरे अथवा म्लेच्छ जातिके लोग नहीं हैं १४-१५

गौरप्रायो जनः सर्वः सुकुमारश्च पार्थिव ।
अवशिष्टेषु सर्वेषु वक्ष्यामि मनुजेश्वर ॥ १६ ॥

मनुजेश्वर ! इन वर्षोंके सभी लोग प्रायः गोरे और सुकुमार होते हैं । अब मैं शेष सम्पूर्ण द्वीपोंके विषयमें बताता हूँ ॥ १६ ॥

यथाश्रुतं महाराज तदव्यग्रमनाः शृणु ।
क्रौञ्चद्वीपे महाराज क्रौञ्चो नाम महागिरिः ॥ १७ ॥

महाराज ! मैंने जैसा सुन रक्खा है, वैसा ही सुनाऊँगा। आप शान्तचित्त होकर सुनिये । क्रौञ्चद्वीपमें क्रौञ्च नामक विशाल पर्वत है ॥ १७ ॥

क्रौञ्चात् परो वामनको वामनादन्धकारकः ।
अन्धकारात् परो राजन् मैनाकः पर्वतोत्तमः ॥ १८ ॥
मैनाकात् परतो राजन् गोविन्दो गिरिरुत्तमः ।
गोविन्दात् परतो राजन् निविडो नाम पर्वतः ॥ १९ ॥

राजन् ! क्रौञ्चके बाद वामन पर्वत है, वामनके बाद अन्धकार और अन्धकारके बाद मैनाक नामक श्रेष्ठ पर्वत है । प्रभो ! मैनाकके बाद उत्तम गोविन्द गिरि है । गोविन्दके बाद निविड नामक पर्वत है ॥ १८-१९ ॥

परस्तु द्विगुणस्तेषां विष्कम्भो वंशवर्धन ।
देशांस्तत्र प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ २० ॥

कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले महाराज ! इन पर्वतोंके बीचका विस्तार उत्तरोत्तर दूना होता गया है । उनमें जो देश बसे हुए हैं, उनका परिचय देता हूँ; सुनिये ॥ २० ॥

क्रौञ्चस्य कुशलो देशो वामनस्य मनोनुगः ।
मनोनुगात् परश्चोष्णो देशः कुरुकुलोद्वह ॥ २१ ॥

क्रौञ्चपर्वतके निकट कुशल नामक देश है । वामन पर्वतके पास मनोनुग देश है । कुरुकुलश्रेष्ठ ! मनोनुगके बाद उष्ण देश आता है ॥ २१ ॥

उष्णात् परः प्रावरकः प्रावारादन्धकारकः ।
अन्धकारकदेशात् तु मुनिदेशः परः स्मृतः ॥ २२ ॥

उष्णके बाद प्रावरक, प्रावरकके बाद अन्धकारक और अन्धकारकके बाद उत्तम मुनिदेश बताया गया है ॥ २२॥

मुनिदेशात् परश्चैव प्रोच्यते दुन्दुभिस्वनः ।
सिद्धचारणसंकीर्णो गौरप्रायो जनाधिप ॥ २३ ॥
एते देशा महाराज देवगन्धर्वसेविताः ।

मुनिदेशके बाद जो देश है, उसे दुन्दुभिस्वन कहते हैं। वह सिद्धों और चारणोंसे भरा हुआ है । जनेश्वर ! वहाँके लोग प्रायः गोरे होते हैं । महाराज ! इन सभी देशोंमें देवता और गन्धर्व निवास करते हैं ॥ २३½ ॥

पुष्करे पुष्करो नाम पर्वतो मणिरत्नवान् ॥ २४ ॥

पुष्करद्वीपमें पुष्कर नामक पर्वत है, जो मणियों तथा रत्नोंसे भरा हुआ है ॥ २४ ॥

तत्र नित्यं प्रभवति स्वयं देवः प्रजापतिः ।
तं पर्युपासते नित्यं देवाः सर्वे महर्षयः ॥ २५ ॥
वाग्भिर्मनोऽनुकूलाभिः पूजयन्तो जनाधिप ।

वहाँ स्वयं प्रजापति भगवान् ब्रह्मा नित्य निवास करते हैं । जनेश्वर ! सम्पूर्ण देवता और महर्षि मनोनुकूल वचनोंद्वारा प्रतिदिन उनकी पूजा करते हुए सदा उन्हींकी उपासनामें लगे रहते हैं ॥ २५½ ॥

जम्बूद्वीपात् प्रवर्तन्ते रत्नानि विविधान्युत ॥ २६ ॥
द्वीपेषु तेषु सर्वेषु प्रजानां कुरुसत्तम ।
ब्रह्मचर्येण सत्येन प्रजानां हि दमेन च ॥ २७ ॥
आरोग्यायुःप्रमाणाभ्यां द्विगुणं द्विगुणं ततः ।

जम्बूद्वीपसे अनेक प्रकारके रत्न अन्यान्य सब द्वीपोंमें वहाँकी प्रजाओंके उपयोगके लिये भेजे जाते हैं । कुरुश्रेष्ठ ! ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रियसंयमके प्रभावसे उन सब द्वीपोंकी प्रजाओंके आरोग्य और आयुका प्रमाण जम्बूद्वीपकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दूना माना गया है ॥ २६-२७½ ॥

एको जनपदो राजन् द्वीपेष्वेतेषु भारत ।
उक्ता जनपदा येषु धर्मश्चैकः प्रदृश्यते ॥ २८ ॥

भरतवंशी नरेश ! वास्तवमें इन देशोंमें एक ही जनपद है । जिन द्वीपोंमें अनेक जनपद बताये गये हैं, उनमें भी एक प्रकारका ही धर्म देखा जाता है ॥ २८ ॥

ईश्वरो दण्डमुद्यम्य स्वयमेव प्रजापतिः ।
द्वीपानेतान् महाराज रक्षंस्तिष्ठति नित्यदा ॥ २९ ॥

महाराज ! सबके ईश्वर प्रजापति ब्रह्मा स्वयं ही दण्ड लेकर इन द्वीपोंकी रक्षा करते हुए इनमें नित्य निवास करते हैं ॥ २९ ॥

स राजा स शिवो राजन् स पिता प्रपितामहः ।
गोपायति नरश्रेष्ठ प्रजाः सजडपण्डिताः ॥ ३० ॥

नरश्रेष्ठ ! प्रजापति ही वहाँके राजा हैं। वे कल्याणस्वरूप होकर सबका कल्याण करते हैं। राजन् ! वे ही पिता और प्रपितामह हैं। जडसे लेकर चेतनतक समस्त प्रजाकी वे ही रक्षा करते हैं ॥ ३० ॥

भोजनं चात्र कौरव्य प्रजाः स्वयमुपस्थितम् ।
सिद्धमेव महाबाहो तद्धि भुञ्जन्ति नित्यदा ॥ ३१ ॥

महाबाहु कुरुनन्दन ! यहाँकी प्रजाओंके पास सदा पका-पकाया भोजन स्वयं उपस्थित हो जाता है और उसीको खाकर वे लोग रहते हैं ॥ ३१ ॥

ततः परं समा नाम दृश्यते लोकसंस्थितिः ।
चतुरस्रं महाराज त्रयस्त्रिंशत् तु मण्डलम् ॥ ३२ ॥

उसके बाद समानामवाली लोगोंकी बस्ती देखी जाती है। महाराज ! वह चौकोर बसी हुई है। उसमें तैंतीस मण्डल हैं॥

तत्र तिष्ठन्ति कौरव्य चत्वारो लोकसम्मताः ।
दिग्गजा भरतश्रेष्ठ वामनैरावतादयः ॥ ३३ ॥

कुरुनन्दन ! भरतश्रेष्ठ ! वहाँ लोकविख्यात वामन, ऐरावत, सुप्रतीक और अञ्जन—ये चार दिग्गज रहते हैं।३३।

सुप्रतीकस्तथा राजन् प्रभिन्नकरटामुखः ।
तस्याहं परिमाणं तु न संख्यातुमिहोत्सहे ॥ ३४ ॥
असंख्यातः स नित्यं हि तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।

राजन् ! इनमेंसे सुप्रतीक नामक गजराज, जिसके गण्ड-स्थलसे मदकी धारा बहती रहती है, उसका परिमाण कैसा और कितना है, यह मैं नहीं बता सकता। वह नीचे-ऊपर तथा अगल-बगलमें सब ओर फैला हुआ है। वह अपरिमित है ॥ ३४½ ॥

तत्र वै वायवो वान्ति दिग्भ्यः सर्वाभ्य एव हि ॥ ३५ ॥
असम्बद्धा महाराज तान् निगृह्णन्ति ते गजाः ।
पुष्करैः पद्मसंकाशैर्विकसद्भिर्महाप्रभैः ॥ ३६ ॥
शतधा पुनरेवाशु ते तान् मुञ्चन्ति नित्यशः ।
श्वसद्भिर्मुच्यमानास्तु दिग्गजैरिह मारुताः ॥ ३७ ॥
आगच्छन्ति महाराज ततस्तिष्ठन्ति वै प्रजाः ।

वहाँ सब दिशाओंसे खुली हुई हवा आती है। उसे वे चारों दिग्गज ग्रहण करके रोक रखते हैं। फिर वे विकसित कमल-सदृश परम कान्तिमान् शुण्डदण्डके अग्रभागसे उस हवाको सैकड़ों भागोंमें करके तुरंत ही सब ओर छोड़ते हैं, यह उनका नित्यका काम है। महाराज ! साँस लेते हुए उन दिग्गजोंके मुखसे मुक्त होकर जो वायु यहाँ आती है, उसीसे सारी प्रजा जीवन धारण करती है ॥ ३५—३७½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

परो वै विस्तरोऽत्यर्थं त्वया संजय कीर्तितः ॥ ३८ ॥
दर्शितं द्वीपसंस्थानमुत्तरं ब्रूहि संजय ।

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमने द्वीपोंकी स्थितिके विषयमें तो बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है। अब जो अन्तिम विषय—सूर्य, चन्द्रमा तथा राहुका प्रमाण बताना शेष रह गया है, उसका वर्णन करो ॥ ३८½ ॥

संजय उवाच

उक्ता द्वीपा महाराज ग्रहं वै श‍ृणु तत्त्वतः ॥ ३९ ॥
स्वर्भानोः कौरवश्रेष्ठ यावदेव प्रमाणतः ।
परिमण्डलो महाराज स्वर्भानुः श्रूयते ग्रहः ॥ ४० ॥

संजय बोले—महाराज ! मैंने द्वीपोंका वर्णन तो कर दिया। अब ग्रहोंका यथार्थ वर्णन सुनिये। कौरवश्रेष्ठ ! राहु-की जितनी बड़ी लंबाई-चौड़ाई सुननेमें आती है, वह आपको बताता हूँ। महाराज ! सुना है कि राहु ग्रह मण्डला-कार है ॥ ३९-४० ॥

योजनानां सहस्राणि विष्कम्भो द्वादशास्य वै ।
परिणाहेन षट्त्रिंशद् विपुलत्वेन चानघ ॥ ४१ ॥

निष्पाप नरेश ! राहु ग्रहका व्यासगत विस्तार बारह हजार योजन है और उसकी परिधिका विस्तार छत्तीस हजार योजन है ॥ ४१ ॥

षष्टिमाहुः शतान्यस्य बुधाः पौराणिकास्तथा ।
चन्द्रमास्तु सहस्राणि राजन्नेकादश स्मृतः ॥ ४२ ॥

पौराणिक विद्वान् उसकी विपुलता (मोटाई) छः हजार योजनकी बताते हैं। राजन् ! चन्द्रमाका व्यास ग्यारह हजार योजन है ॥ ४२ ॥

विष्कम्भेण कुरुश्रेष्ठ त्रयस्त्रिंशत् तु मण्डलम् ।
एकोनषष्टिविष्कम्भं शीतरश्मेर्महात्मनः ॥ ४३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उनकी परिधि या मण्डलका विस्तार तैंतीस हजार योजन बताया गया है और महामना शीतरश्मि चन्द्रमाका वैपुल्यगत विस्तार (मोटाई) उनसठ सौ योजन है ॥ ४३ ॥

सूर्यस्त्वष्टौ सहस्राणि द्वे चान्ये कुरुनन्दन ।
विष्कम्भेण ततो राजन् मण्डलं त्रिंशता समम् ॥ ४४ ॥
अष्टपञ्चाशतं राजन् विपुलत्वेन चानघ ।
श्रूयते परमोदारः पतगोऽसौ विभावसुः ॥ ४५ ॥

कुरुनन्दन ! सूर्यका व्यासगत विस्तार दस हजार योजन है और उनकी परिधि या मण्डलका विस्तार तीस हजार योजन है तथा उनकी विपुलता अठावन सौ योजनकी है। अनघ ! इस प्रकार शीघ्रगामी परम उदार भगवान् सूर्यके

त्रिविध विस्तारका वर्णन सुना जाता है ॥ ४४-४५ ॥

एतत् प्रमाणमर्कस्य निर्दिष्टमिह भारत ।
स राहुश्छादयत्येतौ यथाकालं महत्तया ॥ ४६ ॥
चन्द्रादित्यौ महाराज संक्षेपोऽयमुदाहृतः ।
इत्येतत् ते महाराज पृच्छतः शास्त्रचक्षुषा ॥ ४७ ॥
सर्वमुक्तं यथातत्त्वं तस्माच्छममवाप्नुहि ।

भारत ! यहाँ सूर्यका प्रमाण बताया गया, इन दोनोंसे अधिक विस्तार रखनेके कारण राहु यथासमय इन सूर्य और चन्द्रमाको आच्छादित कर लेता है । महाराज ! आपके प्रश्नके अनुसार शास्त्रदृष्टिसे ग्रहोंके विषयमें संक्षेपसे बताया गया। ये सारी बातें मैंने आपके सामने यथार्थरूपसे उपस्थित की हैं । अतः आप शान्ति धारण कीजिये ॥ ४६-४७½ ॥

यथोद्दिष्टं मया प्रोक्तं सनिर्माणमिदं जगत् ॥ ४८ ॥
तस्मादाश्वस कौरव्य पुत्रं दुर्योधनं प्रति ।

इस जगत्‌का स्वरूप कैसा है और इसका निर्माण किस प्रकार हुआ है, ये सब बातें मैंने शास्त्रोक्त रीतिसे बतायी हैं; अतः कुरुनन्दन ! आप अपने पुत्र दुर्योधनकी ओरसे निश्चिन्त रहिये ॥ ४८½ ॥

श्रुत्वेदं भरतश्रेष्ठ भूमिपर्व मनोनुगम् ॥ ४९ ॥
श्रीमान् भवति राजन्यः सिद्धार्थः साधुसम्मतः ।
आयुर्बलं च कीर्तिश्च तस्य तेजश्च वर्धते ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो राजा इस भूमिपर्वको मनोयोगपूर्वक सुनता है, वह श्रीसम्पन्न, सफलमनोरथ तथा श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सम्मानित होता है और उसके बल, आयु, कीर्ति तथा तेजकी वृद्धि होती है ॥ ४९—५० ॥

यः शृणोति महीपाल पर्वणीदं यतव्रतः ।
प्रीयन्ते पितरस्तस्य तथैव च पितामहाः ॥ ५१ ॥

भूपाल ! जो मनुष्य दृढ़तापूर्वक संयम एवं व्रतका पालन करते हुए प्रत्येक पर्वके दिन इस प्रसङ्गको सुनता है, उसके पितर और पितामह पूर्ण तृप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

इदं तु भारतं वर्षं यत्र वर्तामहे वयम् ।
पूर्वैः प्रवर्तितं पुण्यं तत् सर्वं श्रुतवानसि ॥ ५२ ॥

राजन् ! जिसमें हमलोग निवास करते हैं और जहाँ हमारे पूर्वजोंने पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान किया है, यह वही भारतवर्ष है । आपने इसका पूरा-पूरा वर्णन सुन लिया है ॥५२॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भूमिपर्वणि उत्तरद्वीपादिसंस्थानवर्णने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भूमिपर्वमें उत्तरद्वीपादिसंस्थानवर्णनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(श्रीमद्भगवद्गीतापर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

संजयका युद्धभूमिसे लौटकर धृतराष्ट्रको भीष्मकी मृत्युका समाचार सुनाना

वैशम्पायन उवाच

अथ गावल्गणिर्विद्वान् संयुगादेत्य भारत ।
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य भूतभव्यभविष्यवित् ॥ १ ॥
ध्यायते धृतराष्ट्राय सहसोत्पत्य दुःखितः ।
आचष्ट निहतं भीष्मं भरतानां पितामहम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! तदनन्तर एक दिनकी बात है कि भूत, वर्तमान और भविष्यके ज्ञाता एवं सब घटनाओंको प्रत्यक्ष देखनेवाले गवल्गणपुत्र विद्वान् संजयने युद्धभूमिसे लौटकर सहसा चिन्तामग्न धृतराष्ट्रके पास जा अत्यन्त दुखी होकर भरतवंशियोंके पितामह भीष्मके युद्धभूमिमें मारे जानेका समाचार बताया ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

संजयोऽहं महाराज नमस्ते भरतर्षभ ।
हतो भीष्मः शान्तनवो भरतानां पितामहः ॥ ३ ॥

संजय बोले—महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है । मैं संजय आपकी सेवामें उपस्थित हूँ । भरतवंशियोंके पितामह और महाराज शान्तनुके पुत्र भीष्मजी आज युद्धमें मारे गये ॥ ३ ॥

ककुदं सर्वयोधानां धाम सर्वधनुष्मताम् ।
शरतल्पगतः सोऽद्य शेते कुरुपितामहः ॥ ४ ॥

जो समस्त योद्धाओंके ध्वजस्वरूप और सम्पूर्ण धनुर्धरोंके आश्रय थे, वे ही कुरुकुलपितामह भीष्म आज बाणशय्यापर सो रहे हैं ॥ ४ ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य द्यूतं पुत्रस्तवाकरोत् ।
स शेते निहतो राजन् संख्ये भीष्मः शिखण्डिना ॥ ५ ॥

राजन् ! आपके पुत्र दुर्योधनने जिनके बाहुबलका भरोसा करके जूएका खेल किया था, वे भीष्म शिखण्डीके हाथों मारे जाकर रणभूमिमें शयन करते हैं ॥ ५ ॥

यः सर्वान् पृथिवीपालान् समवेतान् महामृधे ।
जिगायैकरथेनैव काशिपुर्यां महारथः ॥ ६ ॥
जामदग्न्यं रणे रामं योऽयुध्यदपसम्भ्रमः ।
न हतो जामदग्न्येन स हतोऽद्य शिखण्डिना ॥ ७ ॥

जिन महारथी वीर भीष्मने काशिराजकी नगरीमें एकत्र हुए समस्त भूपालोंको अकेला ही रथपर बैठकर महान् युद्धमें पराजित कर दिया था, जिन्होंने रणभूमिमें जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ निर्भय होकर युद्ध किया था और जिन्हें

परशुरामजी भी मार न सके, वे ही भीष्म आज शिखण्डीके हाथसे मारे गये ॥ ६-७ ॥

महेन्द्रसदृशः शौर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव।
समुद्र इव गाम्भीर्ये सहिष्णुत्वे धरासमः ॥ ८ ॥

जो शौर्यमें देवराज इन्द्रके समान, स्थिरतामें हिमालयके समान, गम्भीरतामें समुद्रके समान और सहनशीलतामें पृथ्वीके समान थे ॥ ८ ॥

शरदंष्ट्रो धनुर्वक्त्रः खड्गजिह्वो दुरासदः।
नरसिंहः पिता तेऽद्य पाञ्चाल्येन निपातितः ॥ ९ ॥

जो मनुष्योंमें सिंह थे, बाण ही जिनकी दाढ़ें थीं, धनुष जिनका फैला हुआ मुख था, तलवार ही जिनकी जिह्वा थी और इसीलिये जिनके पास पहुँचना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन था, वे ही आपके पिता भीष्म आज पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीके द्वारा मार गिराये गये ॥ ९ ॥

पाण्डवानां महासैन्यं यं दृष्ट्वोद्यतमाहवे।
प्रावेपत भयोद्विग्नं सिंहं दृष्ट्वेव गोगणः ॥ १० ॥
परिरक्ष्य स सेनां ते दशरात्रमनीकहा।
जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ ११ ॥

जैसे गौओंका झुंड सिंहके देखते ही भयसे व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार जिन्हें युद्धमें हथियार उठाये देख पाण्डवोंकी विशाल वाहिनी भयसे उद्विग्न होकर थरथर काँपने लगती थी, वे ही शत्रुसैन्यसंहारक भीष्म दस दिनोंतक आपकी सेनाका संरक्षण करके अत्यन्त दुष्कर पराक्रम प्रकट करते हुए अन्तमें सूर्यकी भाँति अस्ताचलको चले गये ॥ १०-११ ॥

यः स शक्र इवाक्षोभ्यो वर्षन् बाणान् सहस्रशः।
जघान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः ॥ १२ ॥
स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् यथा नार्हः स भारत ॥ १३ ॥

जिन्होंने इन्द्रकी भाँति क्षोभरहित होकर हजारों बाणोंकी वर्षा करते हुए दस दिनोंमें शत्रुपक्षके दस करोड़ योद्धाओंका संहार कर डाला, वे ही आज आँधीके उखाड़े हुए वृक्षकी भाँति मारे जाकर युद्धभूमिमें सो रहे हैं। भरतवंशी नरेश! यह सब आपकी कुमन्त्रणाका फल है; नहीं तो भीष्मजी इस दुर्दशाके योग्य नहीं थे ॥१२-१३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि भीष्ममृत्युश्रवणे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें भीष्ममृत्युश्रवणविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका विलाप करते हुए भीष्मजीके मारे जानेकी घटनाको विस्तारपूर्वक जाननेके लिये संजयसे प्रश्न करना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं कुरूणामृषभो हतो भीष्मः शिखण्डिना।
कथं रथात् स न्यपतत् पिता मे वासवोपमः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! कुरुकुलके श्रेष्ठतम पुरुष मेरे पितृतुल्य भीष्म शिखण्डीके हाथसे कैसे मारे गये? वे इन्द्रके समान पराक्रमी थे, वे रथसे कैसे गिरे? ॥ १ ॥

कथमाचक्ष्व मे योधा हीना भीष्मेण संजय।
बलिना देवकल्पेन गुर्वर्थे ब्रह्मचारिणा ॥ २ ॥

संजय! जिन्होंने अपने पिताके संतोषके लिये आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया और जो देवताओंके समान बलवान् थे, उन्हीं भीष्मसे रहित होकर आज हमारे सैनिकोंकी कैसी अवस्था हुई है? यह बताओ ॥ २ ॥

तस्मिन् हते महाप्राज्ञे महेष्वासे महाबले।
महासत्त्वे नरव्याघ्रे किमु आसीन्मनस्तव ॥ ३ ॥

महाज्ञानी, महाधनुर्धर, महाबली और महान् धैर्यशाली नरश्रेष्ठ भीष्मजीके मारे जानेपर तुम्हारे मनकी कैसी अवस्था हुई? ॥

आर्तिं परामाविशति मनः शंससि मे हतम्।
कुरूणामृषभं वीरमकम्पं पुरुषर्षभम् ॥ ४ ॥

संजय! तुम कहते हो, अकम्प्य वीर पुरुषसिंह, कुरुकुलशिरोमणि भीष्मजी मारे गये—इसे सुनकर मेरे हृदयमें बड़ी पीड़ा हो रही है ॥ ४ ॥

के तं यान्तमनुप्राप्ताः के वास्यासन् पुरोगमाः।
केऽतिष्ठन् के न्यवर्तन्त केऽन्ववर्तन्त संजय ॥ ५ ॥

संजय! जिस समय वे युद्धके लिये अग्रसर हुए थे, उस समय इनके पीछे कौन गये थे अथवा उनके आगे कौन-कौन वीर थे? कौन उनके साथ युद्धमें डटे रहे? कौन युद्ध छोड़कर भाग गये? और किन लोगोंने सर्वथा उनका अनुसरण किया था? ॥ ५ ॥

के शूरा रथशार्दूलमद्भुतं क्षत्रियर्षभम्।
तथानीकं गाहमानं सहसा पृष्ठतोऽन्वयुः ॥ ६ ॥

किन शूरवीरोंने शत्रुसेनामें प्रवेश करते समय रथियोंमें सिंहके समान अद्भुत पराक्रमी, क्षत्रियशिरोमणि भीष्मजीके पास सहसा पहुँचकर सदा उनके पृष्ठभागका अनुसरण किया? ॥

यस्तमोऽर्क इवापोहन् परसैन्यममित्रहा।
सहस्ररश्मिप्रतिमः परेषां भयमादधत् ॥ ७ ॥

जैसे सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार शत्रुसूदन भीष्म शत्रुसेनाका नाश करते थे। जिनका तेज सहस्र किरणोंवाले सूर्यके समान था, जिन्होंने शत्रुओंको भयभीत कर रक्खा था ॥ ७ ॥

अकरोद् दुष्करं कर्म रणे पाण्डुसुतेषु यः।
ग्रसमानमनीकानि य एनं पर्यवारयन् ॥ ८ ॥
कृतिनं तं दुराधर्षं संजयास्य त्वमन्तिके।
कथं शान्तनवं युद्धे पाण्डवाः प्रत्यवारयन् ॥ ९ ॥

जिन्होंने युद्धमें पाण्डवोंपर दुष्कर पराक्रम किया था तथा जो उनकी सेनाका निरन्तर संहार कर रहे थे, उन अस्त्र-विद्याके ज्ञाता दुर्जय वीर भीष्मजीको जिन्होंने रोका है, वे कौन हैं ? संजय ! तुम तो उनके पास ही थे, पाण्डवोंने युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको किस प्रकार आगे बढ़नेसे रोका ?॥

निकृन्तन्तमनीकानि शरदंष्ट्रं मनस्विनम्।
चापव्यात्ताननं घोरमसिजिह्वं दुरासदम् ॥ १० ॥
अनर्हं पुरुषव्याघ्रं ह्रीमन्तमपराजितम्।
पातयामास कौन्तेयः कथं तमजितं युधि ॥ ११ ॥

जो शत्रुपक्षकी सेनाओंका निरन्तर उच्छेद करते थे, बाण ही जिनकी दाढ़ें थीं, धनुष ही खुला हुआ मुख था, तलवार ही जिनकी जिह्वा थी, उन भयंकर एवं दुर्धर्ष पुरुषसिंह भीष्मको कुन्तीनन्दन अर्जुनने युद्धमें कैसे मार गिराया ? मनस्वी भीष्म इस प्रकार पराजयके योग्य नहीं थे। वे लज्जाशील और पराजयशून्य थे ॥ १०-११ ॥

उग्रधन्वानमुग्रेषुं वर्तमानं रथोत्तमे।
परेषामुत्तमाङ्गानि प्रचिन्वन्तमथेषुभिः ॥ १२ ॥

जो उत्तम रथपर बैठकर भयंकर धनुष और भयानक बाण लिये शत्रुओंके मस्तकोंको सायकोंद्वारा काट-काटकर उनके ढेर लगा रहे थे ॥ १२ ॥

पाण्डवानां महत् सैन्यं यं दृष्ट्वोद्यतमाहवे।
कालाग्निमिव दुर्धर्षं समचेष्टत नित्यशः ॥ १३ ॥

पाण्डवोंकी विशाल सेना दुर्धर्ष कालाग्निके समान जिन्हें युद्धके लिये उद्यत देख सदा काँपने लगती थी ॥ १३ ॥

परिकृष्य स सेनां तु दशरात्रमनीकहा।
जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ १४ ॥

वे ही शत्रुसूदन भीष्म दस दिनोंतक शत्रुओंकी सेनाका संहार करते हुए अत्यन्त दुष्कर पराक्रम दिखाकर सूर्यकी भाँति अस्त हो गये ॥ १४ ॥

यः स शक्र इवाक्षय्यं वर्षं शरमयं क्षिपन्।
जघान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः ॥ १५ ॥
स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः।
मम दुर्मन्त्रितेनाजौ यथा नार्हति भारत ॥ १६ ॥

जिन्होंने इन्द्रके समान युद्धमें दस दिनोंतक अक्षय बाणोंकी वर्षा करके दस करोड़ विपक्षी सेनाओंका संहार कर डाला, वे ही भरतवंशी वीर भीष्म मेरी कुमन्त्रणाके कारण आँधीसे उखाड़े गये वृक्षकी भाँति युद्धमें मारे जाकर पृथ्वीपर शयन कर रहे हैं, वे कदापि इसके योग्य नहीं थे ॥१५-१६॥

कथं शान्तनवं दृष्ट्वा पाण्डवानामनीकिनी।
प्रहर्तुमशकत् तत्र भीष्मं भीमपराक्रमम् ॥ १७ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्म तो बड़े भयंकर पराक्रमी थे, उन्हें सामने देखकर पाण्डवसेना उनपर प्रहार कैसे कर सकी ? ॥

कथं भीष्मेण संग्रामं प्राकुर्वन् पाण्डुनन्दनाः।
कथं च नाजयद् भीष्मो द्रोणे जीवति संजय ॥ १८ ॥

संजय ! पाण्डवोंने भीष्मके साथ संग्राम कैसे किया ? द्रोणाचार्यके जीते-जी भीष्म विजयी कैसे नहीं हो सके ? ॥

कृपे संनिहिते तत्र भरद्वाजात्मजे तथा।
भीष्मः प्रहरतां श्रेष्ठः कथं स निधनं गतः ॥ १९ ॥

उस युद्धमें कृपाचार्य तथा भरद्वाजपुत्र द्रोणाचार्य दोनों ही उनके निकट थे, तो भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म कैसे मारे गये ? ॥ १९ ॥

कथं चातिरथस्तेन पाञ्चाल्येन शिखण्डिना।
भीष्मो विनिहतो युद्धे दैवैरपि दुरासदः ॥ २० ॥

भीष्म तो युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय एवं अतिरथी थे, फिर पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीके हाथसे वे किस प्रकार मारे गये ? ॥ २० ॥

यः स्पर्धते रणे नित्यं जामदग्न्यं महाबलम्।
अजितं जामदग्न्येन शक्रतुल्यपराक्रमम् ॥ २१ ॥
तं हतं समरे भीष्मं महारथकुलोदितम्।
संजयाचक्ष्व मे वीरं येन शर्म न विद्महे ॥ २२ ॥

जो रणभूमिमें महाबली जमदग्निनन्दन परशुरामसे भी टक्कर लेनेकी सदा इच्छा रखते थे, जिनका पराक्रम इन्द्रके समान था और परशुरामजी भी जिन्हें पराजित न कर सके थे; संजय ! महारथियोंके कुलमें प्रकट हुए वे महावीर भीष्म समरभूमिमें किस प्रकार मारे गये, यह मुझे बताओ; क्योंकि मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ॥ २१-२२ ॥

मामकाः के महेष्वासा नाजहुः संजयाच्युतम्।
दुर्योधनसमादिष्टाः के वीराः पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

संजय ! कभी युद्धसे पीछे न हटनेवाले भीष्मजीका मेरे पक्षके किन महाधनुर्धरोंने साथ नहीं छोड़ा ? दुर्योधनकी आज्ञा पाकर किन-किन वीरोंने उन्हें सब ओरसे घेर रक्खा था ?

यच्छिखण्डिमुखाः सर्वे पाण्डवा भीष्ममभ्ययुः।
कच्चित् ते कुरवः सर्वे नाजहुः संजयाच्युतम् ॥ २४ ॥

संजय ! जब शिखण्डी आदि समस्त पाण्डव वीरोंने भीष्मपर आक्रमण किया, उस समय समस्त कौरवोंने कहीं अच्युत भीष्मका साथ छोड़ तो नहीं दिया था ? ॥ २४ ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं सुदृढं मम।
यच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं भीष्मं न दीर्यते ॥ २५ ॥

अवश्य ही मेरा यह हृदय लोहेके समान सुदृढ़ है, तभी तो पुरुषसिंह भीष्मको मारा गया सुनकर विदीर्ण नहीं होता है ! ॥ २५ ॥

यस्मिन् सत्यं च मेधा च नीतिश्च भरतर्षभे ।
अप्रमेयाणि दुर्धर्षे कथं स निहतो युधि ॥ २६ ॥

जिन दुर्जय वीर भरतभूषण भीष्ममें सत्य, मेधा और नीति—ये तीन अप्रमेय शक्तियाँ थीं, वे युद्धमें कैसे मारे गये ? ॥

मौर्वीघोषस्तनयित्नुः पृषत्कपृषतो महान् ।
धनुर्ह्लादमहाशब्दो महामेघ इवोन्नतः ॥ २७ ॥

वे युद्धमें महान् मेघके समान ऊँचे उठे हुए थे। धनुषकी टंकार ही उनकी गर्जना थी, बाण ही उनके लिये वर्षाकी बूँदें थीं और धनुषका महान् शब्द ही बिजलीकी गड़गड़ाहट-का भयंकर शब्द था ॥ २७ ॥

योऽभ्यवर्षत कौन्तेयान् सपाञ्चालान् ससृंजयान् ।
निघ्नन् पररथान् वीरो दानवानिव वज्रभृत् ॥ २८ ॥

वीरवर भीष्मने शत्रुपक्षके रथियों—कुन्तीकुमारों, पाञ्चालों तथा सृंजयोंको मारते हुए उनके ऊपर उसी प्रकार बाणोंकी बौछार की, जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवोंपर बाण-वर्षा करते हैं ॥ २८ ॥

इष्वस्त्रसागरं घोरं बाणग्राहं दुरासदम् ।
कार्मुकोर्मिणमक्षय्यमद्वीपं चलमप्लवम् ॥ २९ ॥

उनका धनुष-बाण आदि अस्त्रसमूह भयंकर एवं दुर्गम समुद्रके समान था, बाण ही उसमें ग्राह थे, धनुष लहरोंके समान जान पड़ता था, वह अक्षय, द्वीपरहित, चञ्चल तथा नौका आदि तैरनेके साधनोंसे शून्य था ॥ २९ ॥

गदासिमकरावासं हयावर्तं गजाकुलम् ।
पदातिमत्स्यकलिलं शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनम् ॥ ३० ॥

गदा और खड्ग आदि ही उसमें मगरके समान थे। वह अश्वरूपी भँवरोंसे भयावह प्रतीत होता था, उसमें हाथी जलहस्तीके समान प्रतीत होते थे, पैदल सेना उसमें भरे हुए मत्स्योंके समान जान पड़ती थी तथा शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि ही उस समुद्रकी गर्जना थी ॥ ३० ॥

हयान् गजपदातींश्च रथांश्च तरसा बहून् ।
निमज्जयन्तं समरे परवीरापहारिणम् ॥ ३१ ॥

भीष्मजी उस समुद्रमें शत्रुपक्षके हाथियों, घोड़ों, पैदलों तथा बहुसंख्यक रथोंको वेगपूर्वक डुबो रहे थे। वे समरभूमि-में शत्रुवीरोंके प्राणोंका अपहरण करनेवाले थे ॥ ३१ ॥

विदह्यमानं कोपेन तेजसा च परंतपम् ।
वेलेव मकरावासं के वीराः पर्यवारयन् ॥ ३२ ॥

अपने क्रोध और तेजसे दग्ध एवं प्रज्वलित-से होते हुए शत्रुसंतापी भीष्मको जैसे तट समुद्रको रोक देता है उसी प्रकार किन वीरोंने आगे बढ़नेसे रोका था ॥ ३२ ॥

भीष्मो यदकरोत् कर्म समरे संजयारिहा ।
दुर्योधनहितार्थाय के तस्यास्य पुरोऽभवन् ॥ ३३ ॥
केऽरक्षन् दक्षिणं चक्रं भीष्मस्यामिततेजसः ।
पृष्ठतः के परान् वीरानपासेधन् यतव्रताः ॥ ३४ ॥

शत्रुहन्ता भीष्मने दुर्योधनके हितके लिये समरभूमिमें जो पराक्रम किया था, वह अनुपम है। उस समय कौन-कौनसे योद्धा उनके आगे थे ? किन-किन वीरोंने अमित-तेजस्वी भीष्मके रथके दाहिने पहियेकी रक्षा की थी ? किन लोगोंने दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए उनके पीछेकी ओर रहकर शत्रुपक्षके वीरोंको आगे बढ़नेसे रोका था ? ॥

के पुरस्तादवर्तन्त रक्षन्तो भीष्ममन्तिके ।
केऽरक्षन्नुत्तरं चक्रं वीरा वीरस्य युध्यतः ॥ ३५ ॥

कौन-कौनसे वीर निकटसे भीष्मकी रक्षा करते हुए उनके आगे खड़े थे ? और किन वीरोंने युद्धमें लगे हुए शूरशिरोमणि भीष्मके बायें पहियेकी रक्षा की थी ? ॥ ३५ ॥

वामे चक्रे वर्तमानाः केऽघ्नन् संजय सृंजयान् ।
अग्रतोऽग्र्यमनीकेषु केऽभ्यरक्षन् दुरासदम् ॥ ३६ ॥

संजय ! उनके बायें चक्रकी रक्षामें तत्पर होकर किन-किन योद्धाओंने सृंजयवंशियोंका विनाश किया था ? तथा किन्होंने आगे रहकर सेनाके अग्रणी दुर्जय वीर भीष्मकी सब ओरसे रक्षा की थी ? ॥ ३६ ॥

पार्श्वतः केऽभ्यरक्षन्त गच्छन्तो दुर्गमां गतिम् ।
समूहे के परान् वीरान् प्रत्ययुध्यन्त संजय ॥ ३७ ॥

संजय ! किन लोगोंने दुर्गम संग्राममें आगे बढ़ते हुए उनके पार्श्वभागका संरक्षण किया था ? और किन्होंने उस सैन्यसमूहमें आगे रहकर वीरतापूर्वक शत्रुयोद्धाओंका डटकर सामना किया था ? ॥ ३७ ॥

रक्ष्यमाणः कथं वीरैर्गोप्यमानाश्च तेन ते ।
दुर्जयानामनीकानि नाजयंस्तरसा युधि ॥ ३८ ॥

जब मेरे पक्षके बहुत-से वीर उनकी रक्षा करते थे और वे भी उन वीरोंकी रक्षामें दत्तचित्त थे, तब भी उन सब लोगोंने मिलकर शत्रुपक्षकी दुर्जय सेनाओंको कैसे वेगपूर्वक परास्त नहीं कर दिया ? ॥ ३८ ॥

सर्वलोकेश्वरस्येव परमेष्ठिप्रजापतेः ।
कथं प्रहर्तुमपि ते शेकुः संजय पाण्डवाः ॥ ३९ ॥

संजय ! भीष्मजी सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी परमेष्ठी प्रजा-पति ब्रह्माजीके समान अजेय थे; फिर पाण्डव उनके ऊपर कैसे प्रहार कर सके ? ॥ ३९ ॥

यस्मिन् द्वीपे समाश्वस्य युध्यन्ते कुरवः परैः ।
तं निमग्नं नरव्याघ्रं भीष्मं शंससि संजय ॥ ४० ॥

संजय ! जिन द्वीपस्वरूप भीष्मजीके आश्रयमें निर्भय एवं निश्चिन्त होकर समस्त कौरव शत्रुओंके साथ युद्ध करते थे, उन्हीं नरश्रेष्ठ भीष्मको तुम मारा गया बता रहे हो, यह कितने दुःखकी बात है ? ॥ ४० ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य मम पुत्रो बृहद्बलः ।
न पाण्डवानगणयत् कथं स निहतः परैः ॥ ४१ ॥

जिनके पराक्रमका आश्रय लेकर विशाल सेनाओंसे सम्पन्न मेरा पुत्र पाण्डवोंको कुछ नहीं गिनता था, वे शत्रुओंद्वारा किस प्रकार मारे गये ? ॥ ४१ ॥

यः पुरा विबुधैः सर्वैः सहाये युद्धदुर्मदः ।
काङ्क्षितो दानवान् घ्नद्भिः पिता मम महाव्रतः ॥ ४२ ॥
यस्मिञ्जाते महावीर्ये शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
शोकं दैन्यं च दुःखं च प्राजहात् पुत्रलक्ष्मणि ॥ ४३ ॥
प्रोक्तं परायणं प्राज्ञं स्वधर्मनिरतं शुचिम् ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञं कथं शंससि मे हतम् ॥ ४४ ॥

पहलेकी बात है, दानवोंका संहार करनेवाले सम्पूर्ण देवताओंने जिन मेरे महान् व्रतधारी पिता रणदुर्मद भीष्मजीको अपना सहायक बनानेकी अभिलाषा की थी, जिन महापराक्रमी पुत्ररत्नके जन्म लेनेपर लोकविख्यात महाराज शान्तनुने शोक, दीनता और दुःखका सदाके लिये त्याग कर दिया था, जो सबके आश्रयदाता, बुद्धिमान्, स्वधर्मपरायण, पवित्र और वेदवेदाङ्गोंके तत्त्वज्ञ बताये गये हैं, उन्हीं भीष्मको तुम मारा गया कैसे बता रहे हो ? ॥ ४२–४४ ॥

सर्वास्त्रविनयोपेतं शान्तं दान्तं मनस्विनम् ।
हतं शान्तनवं श्रुत्वा मन्ये शेषं हतं बलम् ॥ ४५ ॥

जो सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षासे सम्पन्न, शान्त, जितेन्द्रिय और मनस्वी थे, उन शान्तनुनन्दन भीष्मको मारा गया सुनकर मुझे यह विश्वास हो गया कि अब हमारी सारी सेना मार दी गयी ॥ ४५ ॥

धर्मादधर्मो बलवान् सम्प्राप्त इति मे मतिः ।
यत्र वृद्धं गुरुं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ॥ ४६ ॥

आज मुझे निश्चितरूपसे ज्ञात हुआ कि धर्मसे अधर्म ही बलवान् है; क्योंकि पाण्डव अपने वृद्ध गुरुजनकी हत्या करके राज्य लेना चाहते हैं ॥ ४६ ॥

जामदग्न्यः पुरा रामः सर्वास्त्रविदनुत्तमः ।
अम्बार्थमुद्यतः संख्ये भीष्मेण युधि निर्जितः ॥ ४७ ॥
तमिन्द्रसमकर्माणं ककुदं सर्वधन्विनाम् ।
हतं शंससि मे भीष्मं किं नु दुःखमतः परम् ॥ ४८ ॥

पूर्वकालमें अम्बाके लिये उद्यत होकर सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन परशुराम युद्ध करनेके लिये आये थे, परंतु भीष्मने उन्हें परास्त कर दिया, उन्हीं इन्द्रके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ भीष्मको तुम मारा गया कह रहे हो, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ ४७-४८ ॥

असकृत् क्षत्रियव्राताः संख्ये येन विनिर्जिताः ।
जामदग्न्येन वीरेण परवीरनिघातिना ॥ ४९ ॥
न हतो यो महाबुद्धिः स हतोऽद्य शिखण्डिना ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले जिन वीरवर परशुरामजीने अनेक बार समस्त क्षत्रियोंको युद्धमें परास्त किया था, उनसे भी जो मारे न जा सके, वे ही परम बुद्धिमान् भीष्म आज शिखण्डीके हाथसे मार दिये गये ! ॥ ४९½ ॥

तस्मान्नूनं महावीर्याद् भार्गवाद् युद्धदुर्मदात् ॥ ५० ॥
तेजोवीर्यबलैर्भूयाञ्छिखण्डी द्रुपदात्मजः ।
यः शूरं कृतिनं युद्धे सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ ५१ ॥
परमास्त्रविदं वीरं जघान भरतर्षभम् ।

इससे जान पड़ता है कि महापराक्रमी युद्धदुर्मद परशुरामजीकी अपेक्षा भी तेज, पराक्रम और बलमें द्रुपदकुमार शिखण्डी निश्चय ही बहुत बढ़ा-चढ़ा है, जिसने सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण, परमास्त्रवेत्ता और शूरवीर विद्वान् भरतकुलभूषण भीष्मजीका वध कर डाला है ॥ ५०-५१½ ॥

के वीरास्तममित्रघ्नमन्वयुः शस्त्रसंसदि ॥ ५२ ॥
शंस मे तद् तथा चासीद् युद्धं भीष्मस्य पाण्डवैः ।
योषेव हतवीरा मे सेना पुत्रस्य संजय ॥ ५३ ॥

उस समय युद्धमें शत्रुहन्ता भीष्मजीके साथ कौन-कौनसे वीर थे ? संजय ! पाण्डवोंके साथ भीष्मका किस प्रकार युद्ध हुआ ? यह मुझे बताओ । उन वीर सेनापतिके मारे जानेपर मेरे पुत्रकी सेना विधवा स्त्रीके समान असहाय हो गयी है ॥

अगोपमिव चोद्भ्रान्तं गोकुलं तद् बलं मम ।
पौरुषं सर्वलोकस्य परं यस्मिन् महाहवे ॥ ५४ ॥
परासक्ते च वस्तस्मिन् कथमासीन्मनस्तदा ।

जैसे ग्वालेके बिना गौओंका समुदाय इधर-उधर भटकता-फिरता है, उसी प्रकार अब मेरी सेना उद्भ्रान्त हो रही होगी । महान् युद्धके समय जिनमें सम्पूर्ण जगत्का परम पुरुषार्थ प्रकट दिखायी देता था, वे ही भीष्म जब परलोकके पथिक हो गये, उस समय तुमलोगोंके मनकी अवस्था कैसी हुई थी ? ॥

जीवितेऽप्यद्य सामर्थ्यं किमिवास्मासु संजय ॥ ५५ ॥
घातयित्वा महावीर्यं पितरं लोकधार्मिकम् ।
अगाधे सलिले मग्नां नावं दृष्ट्वेव पारगाः ॥ ५६ ॥

संजय ! आज जीवित रहनेपर भी हमलोगोंमें क्या सामर्थ्य है ? जगत्के विख्यात धर्मात्मा महापराक्रमी पिता भीष्मको युद्धमें मरवाकर हम उसी प्रकार शोकमें डूब गये हैं, जैसे पार जानेकी इच्छावाले पथिक नावको अगाध जलमें डूबी हुई देखकर दुखी होते हैं ॥ ५५-५६ ॥

भीष्मे हते भृशं दुःखान्मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ।
अद्रिसारमयं नूनं हृदयं मम संजय ॥ ५७ ॥
यच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं भीष्मं न दीर्यते ।

मैं समझता हूँ कि भीष्मजीके मारे जानेपर मेरे बेटे दुःखके कारण अत्यन्त शोकमग्न हो गये होंगे । संजय ! मेरा हृदय निश्चय ही लोहेका बना हुआ है, जो पुरुषसिंह भीष्मको मारा गया सुनकर भी विदीर्ण नहीं हो रहा है ॥५७½॥

यस्मिन्नस्त्राणि मेधा च नीतिश्च पुरुषर्षभे ॥ ५८ ॥

अप्रमेयाणि दुर्धर्षे कथं स निहतो युधि ।

जिन पुरुषरत्न तथा दुर्धर्ष वीर-शिरोमणिमें अस्त्र, बुद्धि और नीति तीन अप्रमेय शक्तियाँ थीं, वे युद्धमें कैसे मारे गये ?॥

न चास्त्रेण न शौर्येण तपसा मेधया न च ॥ ५९ ॥
न धृत्या न पुनस्त्यागान्मृत्योः कश्चिद्विमुच्यते ।

जान पड़ता है कि अस्त्रसे, शौर्यसे, तपस्यासे, बुद्धिसे, धैर्यसे तथा त्यागके द्वारा भी कोई मृत्युसे छूट नहीं सकता है ॥

कालो नूनं महावीर्यः सर्वलोकदुरत्ययः ॥ ६० ॥
यत्र शान्तनवं भीष्मं हतं शंससि संजय ।

संजय ! निश्चय ही कालकी शक्ति बहुत बड़ी है, सम्पूर्ण जगत्‌के लिये वह दुर्लङ्घ्य है, जिसके अधीन होनेके कारण तुम शान्तनुनन्दन भीष्मको मारा गया बता रहे हो ॥६०½॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तो महद् दुःखमचिन्तयम् ॥ ६१ ॥
आशंसेऽहं परं त्राणं भीष्माच्छान्तनुनन्दनात् ।

मुझे शान्तनुनन्दन भीष्मसे अपने पक्षके परित्राणकी बड़ी आशा थी । इस समय अपने पुत्रके शोकसे संतप्त होकर मैं महान् दुःखसे चिन्तित हो उठा हूँ ॥ ६१½ ॥

यदाऽऽदित्यमिवापश्यत् पतितं भुवि संजय ॥ ६२ ॥
दुर्योधनः शान्तनवं किं तदा प्रत्यपद्यत ।

संजय ! जब दुर्योधनने शान्तनुनन्दन भीष्मको अस्ताचल-गामी सूर्यकी भाँति पृथ्वीपर पड़ा देखा, तब उसने क्या सोचा ?॥

नाहं स्वेषां परेषां वा बुद्ध्या संजय चिन्तयन् ॥ ६३ ॥
शेषं किंचित् प्रपश्यामि प्रत्यनीके महीक्षिताम् ।

संजय ! जब मैं अपनी बुद्धिसे विचार करके देखता हूँ तो अपने अथवा शत्रुपक्षके राजाओंमेंसे किसीका भी जीवन इस युद्धमें शेष रहता नहीं दिखायी देता है ॥ ६३½ ॥

दारुणः क्षत्रधर्मोऽयमृषिभिः सम्प्रदर्शितः ॥ ६४ ॥
यत्र शान्तनवं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ।

ऋषियोंने क्षत्रियोंका यह धर्म अत्यन्त कठोर निश्चित किया है, जिसमें रहते हुए पाण्डव शान्तनुनन्दन भीष्मको मारकर राज्य लेना चाहते हैं ॥ ६४½ ॥

वयं वा राज्यमिच्छामो घातयित्वा महाव्रतम् ॥ ६५ ॥
क्षत्रधर्मे स्थिताः पार्था नापराध्यन्ति पुत्रकाः ।
एतदार्येण कर्तव्यं कृच्छ्रास्वापत्सु संजय ॥ ६६ ॥
पराक्रमः परं शक्त्या तत् तु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।

अथवा हम भी तो उन महारथी भीष्मको मरवाकर ही राज्य लेना चाहते हैं । क्षत्रियधर्ममें स्थित हुए मेरे बच्चे कुन्तीकुमारोंका कोई अपराध नहीं है । संजय ! दुस्तर आपत्तिके समय श्रेष्ठ पुरुषको यही करना चाहिये, जो भीष्मजीने किया है । कि वह शक्तिके अनुसार अधिकसे अधिक पराक्रम करे । यह गुण भीष्मजीमें पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित था ॥ ६५-६६ ॥

अनीकानि विनिघ्नन्तं ह्रीमन्तमपराजितम् ॥ ६७ ॥
कथं शान्तनवं तातं पाण्डुपुत्रा न्यवारयन् ।
कथं युक्तान्यनीकानि कथं युद्धं महात्मभिः ॥ ६८ ॥

भीष्मजी किसीसे पराजित न होनेवाले और लज्जाशील थे । विपक्षी सेनाओंका संहार करते हुए उन मेरे ताऊ भीष्मजी-को पाण्डवोंने कैसे रोका ? उन महामनस्वी वीरोंने किस प्रकार सेनाएँ संगठित कीं और किस प्रकार युद्ध किया ?।६७-६८।

कथं वा निहतो भीष्मः पिता संजय मे परैः ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ६९ ॥
दुःशासनश्च कितवो हते भीष्मे किमब्रुवन् ।

संजय ! शत्रुओंने मेरे आदरणीय पिता भीष्मका किस प्रकार वध किया ? दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन तथा सुबलपुत्र जुआरी शकुनिने भीष्मजीके मारे जानेपर क्या-क्या बातें कहीं ?

यच्छरीरैरुपास्तीर्णां नरवारणवाजिनाम् ॥ ७० ॥
शरशक्तिमहाखड्गतोमराक्षां महाभयाम् ।
प्राविशन् कितवा मन्दाः सभां युद्धदुरासदाम् ॥७१॥
प्राणद्यूते प्रतिभये केऽदीव्यन्त नरर्षभाः ।

संजय ! जहाँ मनुष्य, हाथी और घोड़ोंके शरीर बिछे हुए थे, जहाँ बाण, शक्ति, महान् खड्ग और तोमररूपी पासे फेंके जाते थे । जो युद्धके कारण दुर्गम एवं महान् भय देनेवाली थी, उस रणक्षेत्ररूपी द्यूतसभामें किन-किन मन्द-बुद्धि जुआरियोंने प्रवेश किया था ? जहाँ प्राणोंकी बाजी लगायी जाती थी, वह भयंकर जूएका खेल किन-किन नरश्रेष्ठ वीरोंने खेला था ? ॥ ७०-७१½ ॥

के जीयन्ते जितास्तत्र कृतलक्ष्या निपातिताः ॥ ७२ ॥
अन्ये भीष्माच्छान्तनवात् तन्ममाचक्ष्व संजय ।

संजय ! शान्तनुनन्दन भीष्मके सिवा, उस युद्धमें कौन-कौन-से हार रहे थे, किन-किन लोगोंकी पराजय हुई तथा कौन-कौन वीर बाणोंके लक्ष्य बनकर मार गिराये गये ? यह सब मुझे बताओ ॥ ७२½ ॥

न हि मे शान्तिरस्तीह श्रुत्वा देवव्रतं हतम् ॥ ७३ ॥
पितरं भीमकर्माणं भीष्ममाहवशोभिनम् ।
आर्तिं मे हृदये रूढां महतीं पुत्रहानिजाम् ॥ ७४ ॥
त्वं हि मे सर्पिषेवाग्निमुद्दीपयसि संजय ।

युद्धभूमिमें शोभा पानेवाले भयंकर पराक्रमी अपने ताऊ देवव्रत भीष्मको मारा गया सुनकर मेरे हृदयमें शान्ति नहीं रह गयी है । उनके मारे जानेसे मेरे पुत्रोंकी जो हानि होने वाली है, उसके कारण मेरे मनमें भारी व्यथा जाग उठी है । संजय ! तुम अपने वचनरूपी घृतकी आहुति डालकर मेरी उस चिन्ता एवं व्यथारूपी अग्निको और भी उद्दीप्त कर रहे हो ॥ ७३-७४½ ॥

महान्तं भारमुद्यम्य विश्रुतं सार्वलौकिकम् ॥ ७५ ॥
दृष्ट्वा विनिहतं भीष्मं मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ।
श्रोष्यामि तानि दुःखानि दुर्योधनकृतान्यहम् ॥ ७६ ॥

जिन्होंने सम्पूर्ण जगत्‌में विख्यात इस युद्धके महान् भारको अपनी भुजाओंपर उठा रक्खा था, उन्हीं भीष्मजी-को मारा गया देख मेरे पुत्र भारी शोकमें पड़ गये होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं दुर्योधनके द्वारा प्रकट किये हुए उन दुःखोंको सुनूँगा ॥ ७५-७६ ॥

तस्मान्मे सर्वमाचक्ष्व यद् वृत्तं तत्र संजय।
यद् वृत्तं तत्र संग्रामे मन्दस्याबुद्धिसम्भवम् ॥ ७७ ॥
अपनीतं सुनीतं यत् तन्ममाचक्ष्व संजय।

इसलिये संजय! मुझसे वहाँका सारा वृत्तान्त कहो। मूर्ख दुर्योधनके अज्ञानके कारण उस युद्धमें अन्याय और न्यायकी जो-जो बातें संघटित हुई हों, उन सबका वर्णन करो।

यत् कृतं तत्र संग्रामे भीष्मेण जयमिच्छता ॥ ७८ ॥
तेजोयुक्तं कृतास्त्रेण शंस तच्चाप्यशेषतः।

विजयकी इच्छा रखनेवाले अस्त्रवेत्ता भीष्मजीने उस युद्धमें अपनी तेजस्विताके अनुरूप जो-जो कार्य किया हो, वह सभी पूर्णरूपसे मुझे बताओ ॥ ७८½ ॥

तथा तदभवद् युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ७९ ॥
क्रमेण येन यस्मिंश्च काले यच्च यथाभवत् ॥ ८० ॥

कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंका वह युद्ध जिस समय जिस क्रमसे और जिस रूपमें हुआ था, वह सब कहो ॥ ७९-८० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतापर्वणि धृतराष्ट्रप्रश्ने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें धृतराष्ट्रके प्रश्नविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

संजयका युद्धके वृत्तान्तका वर्णन आरम्भ करना—दुर्योधनका दुःशासनको भीष्मकी रक्षाके लिये समुचित व्यवस्था करनेका आदेश

संजय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो महाराज यथार्हसि।
न तु दुर्योधने दोषमिममासंक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

संजयने कहा—महाराज! आपने जो ये बारम्बार अनेक प्रश्न किये हैं, वे सर्वथा उचित और आपके योग्य ही हैं; परंतु यह सारा दोष आपको दुर्योधनके ही माथेपर नहीं मढ़ना चाहिये ॥ १ ॥

य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः।
एनसा तेन नान्यं स उपाशङ्कितुमर्हति ॥ २ ॥

जो मनुष्य अपने दुष्कर्मोंके कारण अशुभ फल भोग रहा हो, उसे उस पापकी आशंका दूसरेपर नहीं करनी चाहिये।

महाराज मनुष्येषु निन्द्यं यः सर्वमाचरेत्।
स वध्यः सर्वलोकस्य निन्दितानि समाचरन् ॥ ३ ॥

महाराज! जो पुरुष मनुष्य-समाजमें सर्वथा निन्दनीय आचरण करता है, वह निन्दित कर्म करनेके कारण सब लोगोंके लिये मार डालनेयोग्य है ॥ ३ ॥

निकारो निकृतिप्रज्ञैः पाण्डवैस्त्वत्प्रतीक्षया।
अनुभूतः सहामात्यैः क्षान्तश्च सुचिरं वने ॥ ४ ॥

पाण्डव आप लोगोंद्वारा अपने प्रति किये गये अपमान एवं कपटपूर्ण बर्तावको अच्छी तरह जानते थे, तथापि उन्होंने केवल आपकी ओर देखकर—आपके द्वारा न्यायोचित बर्ताव होनेकी आशा रखकर दीर्घकालतक अपने मन्त्रियोंसहित वनमें रहकर क्लेश भोगा और सब कुछ सहन किया ॥ ४ ॥

हयानां च गजानां च राज्ञां चामिततेजसाम्।
प्रत्यक्षं यन्मया दृष्टं दृष्टं योगबलेन च ॥ ५ ॥
शृणु तत् पृथिवीपाल मा च शोके मनः कृथाः।
दिष्टमेतत् पुरा नूनमिदमेव नराधिप ॥ ६ ॥

भूपाल! मैंने हाथियों, घोड़ों तथा अमिततेजस्वी राजाओंके विषयमें जो कुछ अपनी आँखों देखा है और योगबलसे जिसका साक्षात्कार किया है, वह सब वृत्तान्त सुना रहा हूँ, सुनिये। अपने मनको शोकमें न डालिये। नरेश्वर! निश्चय ही दैवका यह सारा विधान मुझे पहलेसे ही प्रत्यक्ष हो चुका है ॥ ५-६ ॥

नमस्कृत्वा पितुस्तेऽहं पाराशर्याय धीमते।
यस्य प्रसादाद् दिव्यं तत् प्राप्तं ज्ञानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥
दृष्टिश्चातीन्द्रिया राजन् दूराच्छ्रवणमेव च।
परचित्तस्य विज्ञानमतीतानागतस्य च ॥ ८ ॥
व्युत्थितोत्पत्तिविज्ञानमाकाशे च गतिः शुभा।
अस्त्रैरसंगो युद्धेषु वरदानान्महात्मनः ॥ ९ ॥
शृणु मे विस्तरेणेदं विचित्रं परमाद्भुतम्।
भरतानामभूद् युद्धं यथा तल्लोमहर्षणम् ॥ १० ॥

राजन्! जिनके कृपाप्रसादसे मुझे परम उत्तम दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, इन्द्रियातीत विषयको भी प्रत्यक्ष देखनेवाली दृष्टि मिली है; दूरसे भी सब कुछ सुननेकी शक्ति, दूसरेके मनकी बातोंको समझ लेनेकी सामर्थ्य, भूत और भविष्यका ज्ञान, शास्त्रके विपरीत चलनेवाले मनुष्योंकी उत्पत्तिका ज्ञान, आकाशमें चलने-फिरनेकी उत्तम शक्ति तथा युद्धके समय अस्त्रोंसे अपने शरीरके अछूते रहनेका अद्भुत चमत्कार आदि बातें जिन महात्माके वरदानसे मेरे लिये सम्भव हुई हैं, उन्हीं आपके पिता पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यासजीको नमस्कार करके भरतवंशियोंके इस अत्यन्त अद्भुत विचित्र एवं रोमाञ्चकारी युद्धका वर्णन आरम्भ करता हूँ।

आप मुझसे यह सब कुछ जिस प्रकार हुआ था, वह विस्तारपूर्वक सुनें ॥ ७—१० ॥

तेष्वनीकेषु यत्तेषु व्यूढेषु च विधानतः ।
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

महाराज ! जब समस्त सेनाएँ शास्त्रीय विधिके अनुसार व्यूह-रचनापूर्वक अपने-अपने स्थानपर युद्धके लिये तैयार हो गयीं, उस समय दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—॥ ११ ॥

दुःशासन रथास्तूर्णं युज्यन्तां भीष्मरक्षिणः ।
अनीकानि च सर्वाणि शीघ्रं त्वमनुचोदय ॥ १२ ॥

'दुःशासन ! तुम भीष्मजीकी रक्षा करनेवाले रथोंको शीघ्र तैयार कराओ । सम्पूर्ण सेनाओंको भी शीघ्र उनकी रक्षाके लिये तैयार हो जानेकी आज्ञा दो ॥ १२ ॥

अयं स मामभिप्राप्तो वर्षपूगाभिचिन्तितः ।
पाण्डवानां ससैन्यानां कुरूणां च समागमः ॥ १३ ॥

'मैं वर्षोंसे जिसके लिये चिन्तित था, वह यह सेनासहित कौरव-पाण्डवोंका महान् संग्राम मेरे सामने उपस्थित हो गया है ॥ १३ ॥

नातः कार्यतमं मन्ये रणे भीष्मस्य रक्षणात् ।
हन्याद् गुप्तो ह्यसौ पार्थान् सोमकांश्च ससृंजयान् १४

'इस समय युद्धमें भीष्मजीकी रक्षासे बढ़कर दूसरा कोई कार्य मैं आवश्यक नहीं समझता हूँ; क्योंकि वे सुरक्षित रहें तो कुन्तीके पुत्रों, सोमकवंशियों तथा सृंजयोंको भी मार सकते हैं ॥

अब्रवीच्च विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
श्रूयते स्त्री ह्यसौ पूर्वं तस्माद् वर्ज्यो रणे मम ॥ १५ ॥

'विशुद्ध हृदयवाले पितामह भीष्म मुझसे कह चुके हैं कि 'मैं शिखण्डीको युद्धमें नहीं मारूँगा; क्योंकि सुननेमें आया है कि वह पहले स्त्री था; अतः रणभूमिमें मेरे लिये वह सर्वथा त्याज्य है' ॥ १५ ॥

तस्माद् भीष्मो रक्षितव्यो विशेषेणेति मे मतिः ।
शिखण्डिनो वधे यत्ताः सर्वे तिष्ठन्तु मामकाः ॥ १६ ॥

'इसलिये मेरा विचार है कि इस समय हमें विशेषरूपसे भीष्मजीकी रक्षामें ही तत्पर रहना चाहिये । मेरे सारे सैनिक शिखण्डीको मार डालनेका प्रयत्न करें ॥ १६ ॥

तथा प्राच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्योत्तरापथाः ।
सर्वथास्त्रेषु कुशलास्ते रक्षन्तु पितामहम् ॥ १७ ॥

'पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशाके जो-जो वीर अस्त्र-विद्यामें सर्वथा कुशल हों, वे ही पितामह (भीष्म) की रक्षा करें ॥

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाबलम् ।
मा सिंहं जम्बुकेनेव घातयामः शिखण्डिना ॥ १८ ॥

'यदि महाबली सिंह भी अरक्षित-दशामें हो तो उसे एक भेड़िया भी मार सकता है । हमें चाहिये कि सियारके समान शिखण्डीके द्वारा सिंहसदृश भीष्मको न मरने दें ॥१८॥

वामं चक्रं युधामन्युरुत्तमौजाश्च दक्षिणम् ।
गोप्तारौ फाल्गुनं प्राप्तौ फाल्गुनोऽपि शिखण्डिनः॥१९॥

'अर्जुनके बायें पहियेकी रक्षा युधामन्यु और दाहिनेकी रक्षा उत्तमौजा कर रहे हैं । अर्जुनको ये दो रक्षक प्राप्त हैं और अर्जुन शिखण्डीकी रक्षा कर रहे हैं ॥ १९ ॥

संरक्ष्यमाणः पार्थेन भीष्मेण च विवर्जितः ।
यथा न हन्याद् गाङ्गेयं दुःशासन तथा कुरु ॥ २० ॥

'अतः दुःशासन ! भीष्मसे उपेक्षित तथा अर्जुनसे सुरक्षित होकर शिखण्डी जिस प्रकार गङ्गानन्दन भीष्मको न मार सके, वैसा प्रयत्न करो' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि दुर्योधनदुःशासनसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें दुर्योधन-दुःशासनसंवादविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

दुर्योधनकी सेनाका वर्णन

संजय उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां शब्दः समभवन्महान् ।
क्रोशतां भूमिपालानां युज्यतां युज्यतामिति ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर रात्रिके अन्तमें सबेरा होते ही 'रथ जोतो, युद्धके लिये तैयार हो जाओ ।' इस प्रकार जोर-जोरसे बोलनेवाले राजाओंका महान् कोलाहल सब ओर छा गया ॥ १ ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषैश्च सिंहनादैश्च भारत ।
हयहेषितनादैश्च रथनेमिस्वनैस्तथा ॥ २ ॥
गजानां बृंहतां चैव योधानां चापि गर्जताम् ।
क्ष्वेलितास्फोटितोत्क्रुष्टैस्तुमुलं सर्वतोऽभवत् ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि, वीरोंके सिंहनाद, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, रथके पहियोंकी घरघराहट, हाथियोंकी गर्जना तथा गर्जते हुए योद्धाओंके सिंहनाद करने, ताल ठोंकने और जोर-जोरसे बोलने आदिकी तुमुल ध्वनि सब ओर व्याप्त हो गयी ॥ २-३ ॥

उदतिष्ठन्महाराज सर्वं युक्तमशेषतः ।
सूर्योदये महत् सैन्यं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ४ ॥

महाराज ! सूर्योदय होते-होते कौरवों और पाण्डवोंकी वह सारी विशाल सेना सम्पूर्ण रूपसे युद्धके लिये तैयार हो उठी ॥

राजेन्द्र तव पुत्राणां पाण्डवानां तथैव च ।
दुष्प्रधृष्याणि चास्त्राणि सशस्त्रकवचानि च ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! आपके पुत्रों तथा पाण्डवोंके दुर्दम्य अस्त्र-शस्त्र तथा कवच चमक उठे ॥ ५ ॥

ततः प्रकाशे सैन्यानि समदृश्यन्त भारत।
त्वदीयानां परेषां च शस्त्रवन्ति महान्ति च ॥ ६ ॥

भारत ! तब सूर्योदयके प्रकाशमें आपकी और शत्रुओंकी सारी सेनाएँ शस्त्रोंसे सुसज्जित तथा अत्यन्त विशाल दिखायी देने लगीं ॥ ६ ॥

तत्र नागा रथाश्चैव जाम्बूनदपरिष्कृताः।
विभ्राजमाना दृश्यन्ते मेघा इव सविद्युतः ॥ ७ ॥

जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित आपके हाथी और रथ बिजलियोंसहित मेघोंकी घटाके समान प्रकाशमान दिखायी देते थे ॥ ७ ॥

रथानीकान्यदृश्यन्त नगराणीव भूरिशः।
अतीव शुशुभे तत्र पिता ते पूर्णचन्द्रवत् ॥ ८ ॥

बहुसंख्यक रथोंकी सेनाएँ नगरोंके समान दृष्टिगोचर हो रही थीं। उनके बीच आपके ताऊ भीष्मजी पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ८ ॥

धनुर्भिर्ऋष्टिभिः खड्गैर्गदाभिः शक्तितोमरैः।
योधाः प्रहरणैः शुभ्रैस्तेष्वनीकेष्ववस्थिताः ॥ ९ ॥

आपकी सेनाके सैनिक धनुष, खड्ग, ऋष्टि, गदा, शक्ति और तोमर आदि चमकीले अस्त्र-शस्त्र लेकर उन सेनाओंमें खड़े थे॥

गजाः पदाता रथिनस्तुरगाश्च विशाम्पते।
व्यतिष्ठन् वागुराकाराः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥

प्रजानाथ ! हाथी, घोड़े, पैदल और रथी, शत्रुओंको बाँधनेके लिये जाल-से बनकर एक-एक जगह सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें खड़े थे ॥ १० ॥

ध्वजा बहुविधाकारा व्यदृश्यन्त समुच्छ्रिताः।
स्वेषां चैव परेषां च द्युतिमन्तः सहस्रशः ॥ ११ ॥

अपने और शत्रुओंके अनेक प्रकारके ऊँचे ऊँचे चमकीले ध्वज हजारोंकी संख्यामें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ११ ॥

काञ्चना मणिचित्राङ्गा ज्वलन्त इव पावकाः।
अर्चिष्मन्तो व्यरोचन्त गजारोहाः सहस्रशः ॥ १२ ॥

सुवर्णमय आभूषण पहने, मणियोंके अलंकारोंसे विचित्र अङ्गोंवाले, सहस्रों हाथीसवार सैनिक अपनी प्रभासे शिखाओंसहित प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ १२ ॥

महेन्द्रकेतवः शुभ्रा महेन्द्रसदनेष्विव।
संनद्धास्ते प्रवीराश्च ददृशुर्युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १३ ॥

जैसे इन्द्रभवनमें देवराज इन्द्रके चमकीले ध्वज फहराते रहते हैं, उसी प्रकार कौरव-पाण्डवसेनाके ध्वज भी फहरा रहे थे। दोनों सेनाओंके प्रमुख वीर युद्धकी अभिलाषा रखकर कवच आदिसे सुसज्जित दिखायी दे रहे थे ॥ १३ ॥

उद्यतैरायुधैश्चित्रास्तलबद्धाः कलापिनः।
ऋषभाक्षा मनुष्येन्द्राश्चमूमुखगता बभुः ॥ १४ ॥

उनके हथियार उठे हुए थे। वे हाथमें दस्ताने और पीठपर तरकस बाँधे सेनाके मुहानेपर खड़े हुए भूपालगण अद्भुत शोभा पा रहे थे। उनकी आँखें बैलोंकी आँखोंके समान बड़ी-बड़ी दिखायी दे रही थीं ॥ १४ ॥

शकुनिः सौबलः शल्यः सैन्धवोऽथ जयद्रथः।
विन्दानुविन्दौ कैकेयाः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ १५ ॥
श्रुतायुधश्च कालिङ्गो जयत्सेनश्च पार्थिवः।
बृहद्बलश्च कौशल्यः कृतवर्मा च सात्वतः ॥ १६ ॥
दशैते पुरुषव्याघ्राः शूराः परिघबाहवः।
अक्षौहिणीनां पतयो यज्वानो भूरिदक्षिणाः ॥ १७ ॥

सुबलपुत्र शकुनि, शल्य, सिन्धुनरेश जयद्रथ, विन्द-अनुविन्द, केकयराजकुमार, काम्बोजराज सुदक्षिण, कलिङ्गराज श्रुतायुध, राजा जयत्सेन, कोशलनरेश बृहद्बल तथा भोजवंशी कृतवर्मा—ये दस पुरुषसिंह शूरवीर क्षत्रिय एक-एक अक्षौहिणी सेनाके अधिनायक थे। इनकी भुजाएँ परिघोंके समान मोटी दिखायी देती थीं। इन सबने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे और उनमें प्रचुर दक्षिणाएँ दी थीं ॥ १५—१७ ॥

एते चान्ये च बहवो दुर्योधनवशानुगाः।
राजानो राजपुत्राश्च नीतिमन्तो महारथाः ॥ १८ ॥
संनद्धाः समदृश्यन्त स्वेष्वनीकेष्ववस्थिताः।

ये तथा और भी बहुतसे नीतिज्ञ महारथी राजा और राजकुमार दुर्योधनके वशमें रहकर कवच आदिसे सुसज्जित हो अपनी-अपनी सेनाओंमें खड़े दिखायी देते थे ॥ १८½ ॥

बद्धकृष्णाजिनाः सर्वे बलिनो युद्धशालिनः ॥ १९ ॥
हृष्टा दुर्योधनस्यार्थे ब्रह्मलोकाय दीक्षिताः।
समर्था दश वाहिन्यः परिगृह्य व्यवस्थिताः ॥ २० ॥

इन सबने काले मृगचर्म बाँध रक्खे थे। सभी बलवान् और युद्धभूमिमें सुशोभित होनेवाले थे और सबने दुर्योधनके हितके लिये बड़े हर्ष और उल्लासके साथ ब्रह्मलोककी दीक्षा ली थी। ये सामर्थ्यशाली दस वीर अपने सेनापतित्वमें दस सेनाओंको लेकर युद्धके लिये तैयार खड़े थे ॥ १९ २० ॥

एकादशी धार्तराष्ट्री कौरवाणां महाचमूः।
अग्रतः सर्वसैन्यानां यत्र शान्तनवोऽग्रणीः ॥ २१ ॥

ग्यारहवीं विशाल वाहिनी दुर्योधनकी थी, जिनमें अधिकांश कौरव-योद्धा थे। यह कौरवसेना अन्य सब सेनाओंके आगे खड़ी थी। इसके अधिनायक थे शान्तनुनन्दन भीष्म॥

श्वेतोष्णीषं श्वेतहयं श्वेतवर्माणमच्युतम्।
अपश्याम महाराज भीष्मं चन्द्रमिवोदितम् ॥ २२ ॥

उनके सिरपर सफेद पगड़ी शोभा पाती थी। उनके घोड़े भी सफेद ही थे। उन्होंने अपने अङ्गोंमें श्वेत कवच बाँध रक्खा था। महाराज ! मर्यादासे कभी पीछे न हटनेवाले उन भीष्मजीको मैंने अपनी श्वेतकान्तिके कारण नवोदित चन्द्रमाके समान सुशोभित देखा ॥ २२ ॥

हेमतालध्वजं भीष्मं राजते स्यन्दने स्थितम्।
श्वेताभ्र इव तीक्ष्णांशुं ददृशुः कुरुपाण्डवाः ॥ २३ ॥
सृंजयाश्च महेष्वासा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।

भीष्मजी चाँदीके बने हुए सुन्दर रथपर विराजमान थे। उनकी तालचिह्नित स्वर्णमयी ध्वजा आकाशमें फहरा रही थी। उस समय कौरवों, पाण्डवों तथा धृष्टद्युम्न आदि महाधनुर्धर सृंजयवंशियोंने उन्हें सफेद बादलोंमें छिपे हुए सूर्यदेवके समान देखा ॥ २३½ ॥

जृम्भमाणं महासिंहं दृष्ट्वा क्षुद्रमृगा यथा ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नमुखाः सर्वे समुद्विविजिरे मुहुः।

धृष्टद्युम्न आदि सृंजयवंशी उन्हें देखकर बारंबार उद्विग्न हो उठते थे। ठीक उसी तरह, जैसे मुँह बाये हुए विशाल सिंहको देखकर क्षुद्र मृग भयसे व्याकुल हो उठते हैं ॥ २४½ ॥

एकादशैताः श्रीजुष्टा वाहिन्यस्तव पार्थिव ॥ २५ ॥
पाण्डवानां तथा सप्त महापुरुषपालिताः।

भूपाल ! आपकी ये ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ तथा पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाएँ वीर पुरुषोंसे सुरक्षित हो उत्तम शोभासे सम्पन्न दिखायी देती थीं ॥ २५½ ॥

उन्मत्तमकरावर्तौ महाग्राहसमाकुलौ ॥ २६ ॥
युगान्ते समवेतौ द्वौ दृश्येते सागराविव।

वे दोनों सेनाएँ प्रलयकालमें एक दूसरेसे मिलनेवाले उन दो समुद्रोंके समान दृष्टिगोचर हो रही थीं जिनमें मतवाले मगर और भँवरें होती हैं तथा जिनमें बड़े बड़े ग्राह सब ओर फैले रहते हैं॥ २६½ ॥

नैव नस्तादृशो राजन् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः।
अनीकानां समेतानां कौरवाणां तथाविधः ॥ २७ ॥

राजन् ! कौरवोंकी इतनी बड़ी सेनाका वैसा संगठन मैंने पहले कभी न तो देखा था और न सुना ही था ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

कौरवमहारथियोंका युद्धके लिये आगे बढ़ना तथा उनके व्यूह, वाहन और ध्वज आदिका वर्णन

संजय उवाच

यथा स भगवान् व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।
तथैव सहिताः सर्वे समाजग्मुर्महीक्षितः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासने जैसा कहा था, उसीके अनुसार सब राजा कुरुक्षेत्रमें एकत्र हुए थे ॥ १ ॥

मघाविषयगः सोमस्तद् दिनं प्रत्यपद्यत।
दीप्यमानाश्च सम्पेतुर्दिवि सप्त महाग्रहाः ॥ २ ॥

उस दिन चन्द्रमा मघा नक्षत्रपर था। आकाशमें सात महाग्रह अग्निके समान उद्दीप्त दिखायी दे रहे थे ॥ २ ॥

द्विधाभूत इवादित्य उदये प्रत्यदृश्यत।
ज्वलन्त्या शिखया भूयो भानुमानुदितो रविः॥ ३ ॥

उदयकालमें सूर्य दो भागोंमें बँटा हुआ-सा दिखायी देने लगा। साथ ही वह अपनी प्रचण्ड ज्वालाओंसे अधिकाधिक जाज्वल्यमान होकर उदित हुआ था ॥ ३ ॥

ववाशिरे च दीप्तायां दिशि गोमायुवायसाः।
लिप्समानाः शरीराणि मांसशोणितभोजनाः ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें दाह-सा हो रहा था और मांस तथा रक्तका आहार करनेवाले गीदड़ और कौए मनुष्यों तथा पशुओंकी लाशोंकी लालसा रखकर अमङ्गलसूचक शब्द कर रहे थे ॥ ४ ॥

अहन्यहनि पार्थानां वृद्धः कुरुपितामहः।
भरद्वाजात्मजश्चैव प्रातरुत्थाय संयतौ ॥ ५ ॥
जयोऽस्तु पाण्डुपुत्राणामित्यूचतुररिंदमौ।
युयुधाते तवार्थाय यथा स समयः कृतः ॥ ६ ॥

कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म तथा भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य ये दोनों शत्रुदमन महारथी प्रतिदिन सवेरे उठकर मनको संयममें रखते हुए यही आशीर्वाद देते थे कि 'पाण्डवोंकी जय हो' परंतु वे जैसी प्रतिज्ञा कर चुके थे, उसके अनुसार आपके लिये ही पाण्डवोंके साथ युद्ध करते थे ५-६

सर्वधर्मविशेषज्ञः पिता देवव्रतस्तव।
समानीय महीपालानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

उस दिन सम्पूर्ण धर्मोंके विशेषज्ञ आपके ताऊ देवव्रत भीष्मजी सब राजाओंको बुलाकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

इदं वः क्षत्रिया द्वारं स्वर्गायापावृतं महत्।
गच्छध्वं तेन शक्रस्य ब्रह्मणः सहलोकताम् ॥ ८ ॥

'क्षत्रियो ! यह युद्ध तुम्हारे लिये स्वर्गका खुला हुआ

विशाल द्वार है। तुमलोग इसके द्वारा इन्द्र अथवा ब्रह्माजीका सालोक्य प्राप्त करो ॥ ८ ॥

एष वः शाश्वतः पन्थाः पूर्वैः पूर्वतरैः कृतः।
सम्भावयध्वमात्मानमव्यग्रमनसो युधि ॥ ९ ॥

'यह तुम्हारे पूर्ववर्ती पूर्वजोंद्वारा स्वीकार किया हुआ सनातन मार्ग है। तुम सब लोग शान्तचित्त होकर युद्धमें शौर्यका परिचय देते हुए अपने-आपको सुयश और सम्मानका भागी बनाओ ॥ ९ ॥

नाभागोऽथ ययातिश्च मान्धाता नहुषो नृगः।
संसिद्धाः परमं स्थानं गताः कर्मभिरीदृशैः ॥ १० ॥

'नाभाग, ययाति, मान्धाता, नहुष और नृग ऐसे ही कर्मोंद्वारा सिद्धिको प्राप्त होकर उत्कृष्ट लोकोंमें गये हैं ॥१०॥

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यद् व्याधिमरणं गृहे।
यदयोनिधनं याति सोऽस्य धर्मः सनातनः ॥ ११ ॥

'घरमें रोगी होकर पड़े-पड़े प्राण त्याग करना क्षत्रियके लिये अधर्म माना गया है। वह युद्धमें लोहेके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा आहत होकर जो मृत्युको अङ्गीकार करता है, वही उसका सनातन धर्म है' ॥ ११ ॥

एवमुक्ता महीपाला भीष्मेण भरतर्षभ।
निर्ययुः स्वान्यनीकानि शोभयन्तो रथोत्तमैः ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भीष्मके ऐसा कहनेपर वे सभी भूपाल श्रेष्ठ रथोंद्वारा अपनी सेनाओंकी शोभा बढ़ाते हुए युद्धके लिये प्रस्थित हुए ॥ १२ ॥

स तु वैकर्तनः कर्णः सामात्यः सह बन्धुभिः।
न्यासितः समरे शस्त्रं भीष्मेण भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतभूषण ! इस युद्धमें भीष्मने मन्त्रियों और बन्धुओंसहित कर्णके अस्त्र-शस्त्र रखवा दिये थे ॥ १३ ॥

अपेतकर्णाः पुत्रास्ते राजानश्चैव तावकाः।
निर्ययुः सिंहनादेन नादयन्तो दिशो दश ॥ १४ ॥

इसलिये आपके पुत्र और अन्य नरेश बिना कर्णके ही अपने सिंहनादसे दसों दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए युद्धके लिये निकले ॥ १४ ॥

श्वेतैश्छत्रैः पताकाभिर्ध्वजवारणवाजिभिः।
तान्यनीकानि शोभन्ते रथैरथ पदातिभिः ॥ १५ ॥

श्वेत छत्रों, पताकाओं, ध्वजों, हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदल सैनिकोंसे उन समस्त सेनाओंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १५ ॥

भेरीपणवशब्दैश्च दुन्दुभीनां च निःस्वनैः।
रथनेमिनिनादैश्च बभूवाकुलिता मही ॥ १६ ॥

भेरी, पणव, दुन्दुभि आदि वाद्योंकी ध्वनियों तथा रथके पहियोंके घर्घर शब्दोंसे वहाँकी सारी भूमि व्याप्त हो रही थी।

काञ्चनाङ्गदकेयूरैः कार्मुकैश्च महारथाः।
भ्राजमाना व्यराजन्त साग्नयः पर्वता इव ॥ १७ ॥

सोनेके अङ्गद और केयूर नामक बाहुभूषण तथा धनुष धारण किये महारथी वीर अग्नियुक्त पर्वतोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १७ ॥

तालेन महता भीष्मः पञ्चतारेण केतुना।
विमलादित्यसंकाशस्तस्थौ कुरुचमूपरि ॥ १८ ॥

कौरवसेनाके प्रधान सेनापति भीष्म भी ताड़ और पाँच तारोंके चिह्नसे युक्त विशाल ध्वजा, पताकासे सुशोभित रथपर जा बैठे। उस समय वे निर्मल तेजोमय सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १८ ॥

ये त्वदीया महेष्वासा राजानो भरतर्षभ।
अवर्तन्त यथादेशं राजन् शान्तनवस्य ते ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! महाराज ! आपकी सेनाके समस्त महाधनुर्धर भूपाल सेनापति भीष्मकी आज्ञाके अनुसार चलते थे ॥१९॥

स तु गोवासनः शैब्यः सहितः सर्वराजभिः।
ययौ मातङ्गराजेन राजार्हेण पताकिना।
पद्मवर्णस्त्वनीकानां सर्वेषामग्रतः स्थितः ॥ २० ॥
अश्वत्थामा ययौ यत्तः सिंहलाङ्गूलकेतुना।

गोवासनदेशके स्वामी महाराज शैब्य अपने अधीन राजाओंके साथ पताकासे सुशोभित राजोचित गजराजपर आरूढ़ हो युद्धके लिये चले। कमलके समान कान्तिमान् अश्वत्थामा सिंहकी पूँछके चिह्नसे युक्त ध्वजा, पताकावाले रथपर आरूढ़ हो समस्त सेनाओंके आगे रहकर चलने लगे ॥ २०½ ॥

श्रुतायुधश्चित्रसेनः पुरुमित्रो विविंशतिः ॥ २१ ॥
शल्यो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च महारथः।
एते सप्त महेष्वासा द्रोणपुत्रपुरोगमाः ॥ २२ ॥
स्यन्दनैर्वरवर्माणो भीष्मस्यासन् पुरोगमाः।

श्रुतायुध, चित्रसेन, पुरुमित्र, विविंशति, शल्य, भूरिश्रवा तथा महारथी विकर्ण—ये सात महाधनुर्धर वीर रथोंपर आरूढ़ हो सुन्दर कवच धारण किये द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको अपने आगे रखकर भीष्मके आगे-आगे चल रहे थे ॥ २१-२२½ ॥

तेषामपि महोत्सेधाः शोभयन्तो रथोत्तमान् ॥ २३ ॥
भ्राजमाना व्यरोचन्त जाम्बूनदमया ध्वजाः।

इन सबके जाम्बूनद सुवर्णके बने हुए अत्यन्त ऊँचे ध्वज इनके श्रेष्ठ रथोंकी शोभा बढ़ाते हुए अत्यन्त प्रकाशित हो रहे थे ॥ २३½ ॥

जाम्बूनदमयी वेदी कमण्डलुविभूषिता ॥ २४ ॥
केतुराचार्यमुख्यस्य द्रोणस्य धनुषा सह।

आचार्यप्रवर द्रोणकी पताकापर कमण्डलुविभूषित सुवर्णमयी वेदी और धनुषके चिह्न बने हुए थे ॥ २४½ ॥

अनेकशतसाहस्रमनीकमनुकर्षतः ॥ २५ ॥
महान् दुर्योधनस्यासीन्नागो मणिमयो ध्वजः ।

कई लाख सैनिकोंकी सेनाको अपने साथ लेकर चलनेवाले दुर्योधनका मणिमय महान् ध्वज नागचिह्नसे विभूषित था ॥ २५½ ॥

तस्य पौरवकालिङ्गौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ २६ ॥
क्षेमधन्वा सुमित्रश्च तस्थुः प्रमुखतो रथाः ।

पौरव, कलिङ्गराज श्रुतायुध, काम्बोजराज सुदक्षिण, क्षेमधन्वा तथा सुमित्र—ये पाँच प्रधान रथी दुर्योधनके आगे-आगे चल रहे थे ॥ २६½ ॥

स्यन्दनेन महार्हेण केतुना वृषभेण च ।
प्रकर्षन्निव सेनाग्रं मागधस्य कृपो ययौ ॥ २७ ॥

वृषभचिह्नित ध्वजा-पताकासे युक्त बहुमूल्य रथपर बैठे हुए कृपाचार्य मगधकी श्रेष्ठ सेनाका अपने साथ लिये चल रहे थे ॥ २७ ॥

तदङ्गपतिना गुप्तं कृपेण च मनस्विना ।
शारदाम्बुधरप्रख्यं प्राच्यानां सुमहद् बलम् ॥ २८ ॥

अङ्गराज तथा मनस्वी कृपाचार्यसे सुरक्षित पूर्वदेशीय क्षत्रियोंकी वह विशाल वाहिनी शरद्ऋतुके बादलोंके समान शोभा पाती थी ॥ २८ ॥

अनीकप्रमुखे तिष्ठन् वराहेण महायशाः ।
शुशुभे केतुमुख्येन राजतेन जयद्रथः ॥ २९ ॥

महायशस्वी राजा जयद्रथ वराहके चिह्नसे युक्त रजतमय ध्वजा-पताकाके साथ रथपर आरूढ़ हो सेनाके अग्रभागमें खड़े हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ २९ ॥

शतं रथसहस्राणां तस्यासन् वशवर्तिनः ।
अष्टौ नागसहस्राणि सादिनामयुतानि षट् ॥ ३० ॥

उनके अधीन एक लाख रथ, आठ हजार हाथी और साठ हजार घुड़सवार थे ॥ ३० ॥

तत् सिन्धुपतिना राज्ञा पालितं ध्वजिनीमुखम् ।
अनन्तरथनागाश्वमशोभत महद् बलम् ॥ ३१ ॥

सिन्धुराजके द्वारा सुरक्षित अनन्त रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई वह विशाल सेना अद्भुत शोभा पा रही थी ॥

षष्ट्या रथसहस्रैस्तु नागानामयुतेन च ।
पतिः सर्वकलिङ्गानां ययौ केतुमता सह ॥ ३२ ॥

कलिङ्गदेशका राजा श्रुतायुध अपने मित्र केतुमान्के साथ साठ हजार रथ और दस हजार हाथियोंको साथ लिये युद्धके लिये चला ॥ ३२ ॥

तस्य पर्वतसंकाशा व्यरोचन्त महागजाः ।
यन्त्रतोमरतूणीरैः पताकाभिः सुशोभिताः ॥ ३३ ॥

यन्त्र, तोमर, तूणीर तथा पताकाओंसे सुशोभित उसके विशाल गजराज पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ३३ ॥

शुशुभे केतुमुख्येन पावकेन कलिङ्गकः ।
श्वेतच्छत्रेण निष्केण चामरव्यजनेन च ॥ ३४ ॥

कलिङ्गराजके रथकी ध्वजापर अग्निका चिह्न बना हुआ था। वह श्वेत छत्र और चँवररूपी पंखेसे तथा पदक (कण्ठहार) से विभूषित हो बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ३४ ॥

केतुमानपि मातङ्गं विचित्रपरमाङ्कुशम् ।
आस्थितः समरे राजन् मेघस्थ इव भानुमान् ॥ ३५ ॥

राजन्! केतुमान् भी विचित्र एवं विशाल अङ्कुशसे युक्त गजराजपर आरूढ़ हो समरभूमिमें खड़ा हुआ मेघोंकी घटाके ऊपर प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवके समान जान पड़ता था ॥

तेजसा दीप्यमानस्तु वारणोत्तममास्थितः ।
भगदत्तो ययौ राजा यथा वज्रधरस्तथा ॥ ३६ ॥
गजस्कन्धगतावास्तां भगदत्तेन सम्मितौ ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ केतुमन्तमनुव्रतौ ॥ ३७ ॥

इसी प्रकार श्रेष्ठ गजराजपर आरूढ़ हो राजा भगदत्त भी वज्रधारी इन्द्रके समान अपने तेजसे उद्दीप्त हो युद्धके लिये आगे बढ़ गये थे। अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द भी भगदत्तके समान ही तेजस्वी थे। वे दोनों भाई हाथीकी पीठपर बैठकर केतुमान्के पीछे-पीछे चल रहे थे ३६-३७

स रथानीकवान् व्यूहो हस्त्यङ्गो नृपशीर्षवान् ।
वाजिपक्षः पतत्युग्रः प्रहसन् सर्वतोमुखः ॥ ३८ ॥

राजन्! रथोंके समूहसे युक्त उस सेनाका भयंकर व्यूह सर्वतोमुखी था। वह हँसता हुआ आक्रमण-सा कर रहा था। हाथी उस व्यूहके अङ्ग थे, राजाओंका समुदाय ही उसका मस्तक था और घोड़े उसके पंख जान पड़ते थे ॥ ३८ ॥

द्रोणेन विहितो राजन् राज्ञा शान्तनवेन च ।
तथैवाचार्यपुत्रेण बाह्लीकेन कृपेण च ॥ ३९ ॥

द्रोणाचार्य, राजा शान्तनुनन्दन भीष्म, आचार्यपुत्र अश्वत्थामा, बाह्लीक और कृपाचार्यने उस सैन्यव्यूहका निर्माण किया था ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

कौरवसेनाका कोलाहल तथा भीष्मके रक्षकोंका वर्णन

संजय उवाच

ततो मुहूर्तात् तुमुलः शब्दो हृदयकम्पनः।
अश्रूयत महाराज योधानां प्रयुयुत्सताम्॥ १॥

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर दो ही घड़ीमें युद्धकी इच्छा रखनेवाले योद्धाओंका भयंकर कोलाहल सुनायी देने लगा, जो हृदयको कँपा देनेवाला था॥ १॥

शङ्खदुन्दुभिघोषैश्च वारणानां च बृंहितैः।
नेमिघोषै रथानां च दीर्यतीव वसुंधरा॥ २॥

शंख और दुन्दुभियोंके घोष; गजराजोंकी गर्जना तथा रथोंके पहियोंकी घरघराहटसे सारी पृथ्वी विदीर्ण-सी हो रही थी।

हयानां हेषमाणानां योधानां चैव गर्जताम्।
क्षणेनैव नभो भूमिः शब्देनापूरितं तदा॥ ३॥

घोड़ोंके हींसने और योद्धाओंके गर्जनेके शब्दोंसे एक ही क्षणमें वहाँकी पृथ्वी और आकाशका सारा प्रदेश गूँज उठा।

पुत्राणां तव दुर्धर्ष पाण्डवानां तथैव च।
समकम्पन्त सैन्यानि परस्परसमागमे॥ ४॥

दुर्धर्ष नरेश! आपके पुत्रों और पाण्डवोंकी सेनाएँ एक-दूसरीके निकट आनेपर काँप उठीं॥ ४॥

तत्र नागा रथाश्चैव जाम्बूनदविभूषिताः।
भ्राजमाना व्यदृश्यन्त मेघा इव सविद्युतः॥ ५॥

उस रणक्षेत्रमें स्वर्णभूषित रथ और हाथी बिजलियोंसे युक्त मेघोंके समान सुशोभित दिखायी देते थे॥ ५॥

ध्वजा बहुविधाकारास्तावकानां नराधिप।
काञ्चनाङ्गदिनो रेजुर्ज्वलिता इव पावकाः॥ ६॥

नरेश्वर! आपकी सेनाके नाना प्रकारके ध्वज और सोनेके अङ्गद (बाजूबन्द) पहने हुए सैनिक प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ ६॥

स्वेषां चैव परेषां च समदृश्यन्त भारत।
महेन्द्रकेतवः शुभ्रा महेन्द्रसदनेष्विव॥ ७॥

भारत! अपनी और शत्रुकी सेनाके चमकीले ध्वज इन्द्र-भवनमें फहरानेवाले देवेन्द्रके ध्वजोंके समान दिखायी देते थे।

काञ्चनैः कवचैर्वीरा ज्वलनार्कसमप्रभैः।
संनद्धाः समदृश्यन्त ज्वलनार्कसमप्रभाः॥ ८॥

अग्नि और सूर्यके समान कान्तिमान् काञ्चनमय कवच धारण किये वीर सैनिक अग्नि और सूर्यके ही तुल्य प्रकाशित दीख रहे थे॥ ८॥

कुरुयोधवरा राजन् विचित्रायुधकार्मुकाः।
उद्यतैरायुधैश्चित्रैस्तलबद्धाः पताकिनः॥ ९॥

राजन्! कौरवपक्षके श्रेष्ठ योद्धा विचित्र आयुध और धनुष धारण किये बड़ी शोभा पा रहे थे। उनके विचित्र आयुध ऊपरकी ओर उठे हुए थे। उन्होंने हाथोंमें दस्ताने पहन रक्खे थे और उनकी पताकाएँ आकाशमें फहरा रही थीं।

ऋषभाक्षा महेष्वासाश्चमूमुखगता बभुः।
पृष्ठगोपास्तु भीष्मस्य पुत्रास्तव नराधिप।
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुःसहस्तथा॥ १०॥
विविंशतिश्चित्रसेनो विकर्णश्च महारथः।
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयो भूरिश्रवाः शलः॥ ११॥
रथा विंशतिसाहस्रास्तथैषामनुयायिनः।

सेनाके मुहानेपर खड़े हुए, वृषभके समान विशाल नेत्रों-वाले वे महाधनुर्धर वीर बड़ी शोभा पा रहे थे। नरेश्वर! भीष्मजीके पृष्ठभागकी रक्षा आपके पुत्र दुःशासन दुर्विषह, दुर्मुख, दुःसह, विविंशति, चित्रसेन, महारथी विकर्ण, सत्य-व्रत, पुरुमित्र, जय, भूरिश्रवा, शल तथा इनके अनुयायी बीस हजार रथी कर रहे थे॥ १०—११½॥

अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः॥ १२॥
शाल्वा मत्स्यास्तथाम्बष्ठास्त्रैगर्ताः केकयास्तथा।
सौवीराः कैतवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यवासिनः॥ १३॥
द्वादशैते जनपदाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः।
महता रथवंशेन ते ररक्षुः पितामहम्॥ १४॥

अभीषाह, शूरसेन, शिबि, वसाति, शाल्व, मत्स्य, अम्बष्ठ, त्रिगर्त, केकय, सौवीर, कैतव तथा पूर्व, पश्चिम एवं उत्तर प्रदेशके निवासी—इन बारह जनपदोंके समस्त शूरवीर अपना शरीर निछावर करनेको उद्यत होकर विशाल रथसमुदायके द्वारा पितामह भीष्मकी रक्षा कर रहे थे॥ १२—१४॥

अनीकं दशसाहस्रं कुञ्जराणां तरस्विनाम्।
मागधो यत्र नृपतिस्तद् रथानीकमन्वयात्॥ १५॥

दस हजार वेगवान् हाथियोंकी सेना साथ लेकर मगधराज उपर्युक्त रथसेनाके पीछे-पीछे चल रहे थे॥ १५॥

रथानां चक्ररक्षाश्च पादरक्षाश्च दन्तिनाम्।
अभवन् वाहिनीमध्ये शतानामयुतानि षट्॥ १६॥

उस विशाल वाहिनीमें रथोंके पहियों और हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेवाले सैनिक साठ लाख थे॥ १६॥

पादाताश्चाग्रतोऽगच्छन् धनुश्चर्मासिपाणयः।
अनेकशतसाहस्रा नखरप्रासयोधिनः॥ १७॥

कुछ पैदल सैनिक, जिनकी संख्या कई लाख थी, हाथमें धनुष, ढाल और तलवार लिये आगे-आगे चल रहे थे। वे नखर (बघनखे) और प्रासद्वारा भी युद्ध करनेमें कुशल थे॥

अक्षौहिण्यो दशैका च तव पुत्रस्य भारत।
अदृश्यन्त महाराज गङ्गेव यमुनान्तरा ॥ १८ ॥

भारत! महाराज! आपके पुत्रकी ये ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ यमुनामें मिली हुई गङ्गाके समान दिखायी देती थीं॥१८

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

व्यूहनिर्माणके विषयमें युधिष्ठिर और अर्जुनकी बातचीत, अर्जुनद्वारा वज्रव्यूहकी रचना, भीमसेनकी अध्यक्षतामें सेनाका आगे बढ़ना

धृतराष्ट्र उवाच

अक्षौहिण्यो दशैका च व्यूढा दृष्ट्वा युधिष्ठिरः।
कथमल्पेन सैन्येन प्रत्यव्यूहत पाण्डवः ॥ १ ॥
यो वेद मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम्।
कथं भीष्मं स कौन्तेयः प्रत्यव्यूहत संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! मेरी ग्यारह अक्षौहिणियोंको व्यूहाकारमें खड़ी हुई देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने उसका सामना करनेके लिये अपनी थोड़ी-सी सेनाके द्वारा किस प्रकार व्यूह-रचना की? जो मनुष्य, देवता, गन्धर्व और असुर सभीकी व्यूह-निर्माण-विधिको जानते हैं, उन भीष्मजीके सामने कुन्तीकुमारने किस तरह अपनी सेनाका व्यूह बनाया? ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

धार्तराष्ट्राण्यनीकानि दृष्ट्वा व्यूढानि पाण्डवः।
अभ्यभाषत धर्मात्मा धर्मराजो धनंजयम् ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन्! आपकी सेनाओंको व्यूहाकारमें खड़ी हुई देख धर्मात्मा पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा— ॥ ३ ॥

महर्षेर्वचनात् तात वेदयन्ति बृहस्पतेः।
संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ॥ ४ ॥

'तात! महर्षि बृहस्पतिके वचनसे ऐसा ज्ञात होता है कि यदि शत्रुओंकी सेना थोड़ी हो तो अपनी सेनाको छोटे आकारमें संगठित करके युद्ध करना चाहिये और यदि अपनेसे अधिक सैनिकोंके साथ युद्ध करना हो तो अपनी सेनाको इच्छानुसार फैलाकर खड़ी करे ॥ ४ ॥

सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह।
अस्माकं च तथा सैन्यमल्पीयः सुतरां परैः ॥ ५ ॥

'थोड़े-से सैनिकोंसे बहुतोंके साथ युद्ध करनेके लिये सूचीमुख नामक व्यूह उपयोगी हो सकता है और हमारी सेना शत्रुओंसे बहुत कम है ही ॥ ५ ॥

एतद् वचनमाज्ञाय महर्षेर्व्यूह पाण्डव।
एतच्छ्रुत्वा धर्मराजं प्रत्यभाषत पाण्डवः ॥ ६ ॥

'पाण्डुनन्दन! महर्षिके इस कथनपर विचार करके तुम भी अपनी सेनाका व्यूह बनाओ।' धर्मराजकी यह बात सुनकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ६ ॥

एष व्यूहामि ते व्यूहं राजसत्तम दुर्जयम्।
अचलं नाम वज्राख्यं विहितं वज्रपाणिना ॥ ७ ॥

'नृपश्रेष्ठ! यह लीजिये, मैं आपके लिये अविचल एवं दुर्जय वज्रव्यूहकी रचना करता हूँ, जिसका आविष्कार वज्रधारी इन्द्रने किया है ॥ ७ ॥

यः स वात इवोद्धूतः समरे दुःसहः परैः।
स नः पुरो योत्स्यते वै भीमः प्रहरतां वरः ॥ ८ ॥

'जो समरभूमिमें प्रचण्ड वायुकी भाँति उठकर शत्रुओंके लिये दुःसह हो उठते हैं, वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ आर्य भीमसेन हमारे आगे रहकर युद्ध करेंगे ॥ ८ ॥

तेजांसि रिपुसैन्यानां मृद्नन् पुरुषसत्तमः।
अग्रेऽग्रणीर्योत्स्यति नो युद्धोपायविचक्षणः ॥ ९ ॥

'पुरुषश्रेष्ठ भीमसेन युद्धके विविध उपायोंके ज्ञानमें निपुण हैं। वे हमारी सेनाके अगुआ होकर शत्रुसेनाके तेजको नष्ट करते हुए युद्ध करेंगे ॥ ९ ॥

यं दृष्ट्वा कुरवः सर्वे दुर्योधनपुरोगमाः।
निवर्तिष्यन्ति संत्रस्ताः सिंहं क्षुद्रमृगा यथा ॥ १० ॥

'जैसे सिंहको देखते ही क्षुद्र मृग भयभीत होकर भाग उठते हैं, उसी प्रकार इन्हें देखकर दुर्योधन आदि समस्त कौरव त्रस्त होकर पीछे लौट जायँगे ॥ १० ॥

तं सर्वे संश्रयिष्यामः प्राकारमकुतोभयाः।
भीमं प्रहरतां श्रेष्ठं देवराजमिवामराः ॥ ११ ॥

'जैसे देवता देवराजका आश्रय लेकर निर्भय हो जाते हैं, उसी प्रकार हमलोग योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमसेनका आश्रय लेंगे। ये हमारे लिये परकोटेका काम करेंगे। फिर हमें कहींसे कोई भय नहीं रह जायगा ॥ ११ ॥

न हि सोऽस्ति पुमाँल्लोके यः संक्रुद्धं वृकोदरम्।
द्रष्टुमत्युग्रकर्माणं विषहेत नरर्षभम् ॥ १२ ॥

'संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है, जो भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले क्रोधमें भरे हुए नरश्रेष्ठ वृकोदरकी ओर देखनेका साहस कर सके ॥ १२ ॥

भीमसेनो गदां बिभ्रद् वज्रसारमयीं दृढाम् ।
चरन् वेगेन महता समुद्रमपि शोषयेत् ॥ १३ ॥
केकया धृष्टकेतुश्च चेकितानश्च वीर्यवान् ।

'जब भीमसेन लोहेसे बनी हुई अपनी सुदृढ़ गदा हाथोंमें ले महान् वेगसे विचरते हैं, उस समय वे समुद्रको भी सोख सकते हैं। केकयराजकुमार, धृष्टकेतु और चेकितान भी ऐसे ही पराक्रमी हैं ॥ १३½ ॥

एते तिष्ठन्ति सामात्याः प्रेक्षकास्ते जनाधिप ॥ १४ ॥
धृतराष्ट्रस्य दायादा इति बीभत्सुरब्रवीत् ।
भीमसेनं तदा राजन् दर्शयस्व महाबलम् ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! ये धृतराष्ट्रके पुत्र अपने मन्त्रियोंसहित आपकी ओर देख रहे हैं।' राजन् ! युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर अर्जुन भीमसेनसे बोले—'अब आप इन शत्रुओंको अपना महान् बल दिखाइये' ॥ १४-१५ ॥

ब्रुवाणं तु तथा पार्थं सर्वसैन्यानि भारत ।
अपूजयंस्तदा वाग्भिरनुकूलाभिराहवे ॥ १६ ॥

भारत ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर उस युद्धस्थलमें समस्त सैनिकोंने अनुकूल वचनोंद्वारा उस समय उनका पूजन-समादर किया ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुस्तथा चक्रे धनंजयः ।
व्यूह्य तानि बलान्याशु प्रययौ फाल्गुनस्तथा ॥ १७ ॥

महाबाहु अर्जुनने ऐसा कहकर उसी तरह किया; अपनी सब सेनाओंका शीघ्र ही व्यूह बनाया और रणके लिये प्रस्थान किया ॥ १७ ॥

सम्प्रयातान् कुरून् दृष्ट्वा पाण्डवानां महाचमूः ।
गङ्गेव पूर्णा स्तिमिता स्पन्दमाना व्यदृश्यत ॥ १८ ॥

कौरवोंको अपनी ओर आते देख पाण्डवोंकी वह विशाल सेना पहले तो भरी हुई गङ्गाके समान स्थिर दिखायी दी; फिर उसमें धीरे-धीरे कुछ चेष्टा दृष्टिगोचर होने लगी ॥

भीमसेनोऽग्रणीस्तेषां धृष्टद्युम्नश्च वीर्यवान् ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ॥ १९ ॥

पाण्डवसेनामें भीमसेन सबके आगे चलनेवाले थे। उनके साथ पराक्रमी धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव तथा चेदिराज धृष्टकेतु भी थे ॥ १९ ॥

विराटश्च ततः पश्चाद् राजाथाक्षौहिणीवृतः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च सोऽभ्यरक्षत पृष्ठतः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् राजा विराट अपने भाइयों और पुत्रोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षा कर रहे थे ॥ २० ॥

चक्ररक्षौ तु भीमस्य माद्रीपुत्रौ महाद्युती ।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पृष्ठगोपास्तरस्विनः ॥ २१ ॥

भीमके पहियोंकी रक्षा परम तेजस्वी माद्रीकुमार नकुल-सहदेव कर रहे थे। द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा अभिमन्यु—ये वेगशाली वीर उनके पृष्ठभागकी रक्षा करते थे ॥ २१ ॥

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यस्तेषां गोप्ता महारथः ।
सहितः पृतनाशूरै रथमुख्यैः प्रभद्रकैः ॥ २२ ॥

पाञ्चालराजकुमार महारथी धृष्टद्युम्न अपनी सेनाके चुने हुए शूरवीर एवं प्रधान रथी प्रभद्रकोंके साथ उन सबकी रक्षा करते थे ॥ २२ ॥

शिखण्डी तु ततः पश्चादर्जुनेनाभिरक्षितः ।
यत्तो भीष्मविनाशाय प्रययौ भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन सबके पीछे अर्जुनद्वारा सुरक्षित शिखण्डी भीष्मका विनाश करनेके लिये उद्यत हो आगे बढ़ रहा था ॥

पृष्ठतोऽप्यर्जुनस्यासीद् युयुधानो महाबलः ।
चक्ररक्षौ तु पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ २४ ॥

अर्जुनके पीछे महाबली सात्यकि थे। पाञ्चाल वीर युधामन्यु और उत्तमौजा अर्जुनके रथके पहियोंकी रक्षा करते थे॥

राजा तु मध्यमानीके कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
बृहद्भिः कुञ्जरैर्मत्तैश्चलद्भिरचलैरिव ॥ २५ ॥

चलते-फिरते पर्वतोंके समान विशाल और मतवाले गजराजोंकी सेनाके साथ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर बीचकी सेनामें उपस्थित थे ॥ २५ ॥

अक्षौहिण्याथ पाञ्चाल्यो यज्ञसेनो महामनाः ।
विराटमन्वयात् पश्चात् पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ २६ ॥

महामना पराक्रमी पाञ्चालराज द्रुपद पाण्डवोंके लिये एक अक्षौहिणी सेनाके सहित राजा विराटके पीछे-पीछे चल रहे थे॥

तेषामादित्यचन्द्राभाः कनकोत्तमभूषणाः ।
नानाचित्रधरा राजन् रथेष्वासन् महाध्वजाः ॥ २७ ॥

राजन् ! उनके रथोंपर भाँति-भाँतिके बेल-बूटोंसे विभूषित स्वर्णमण्डित विशाल ध्वज सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७ ॥

समुत्सार्य ततः पश्चाद् धृष्टद्युम्नो महारथः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च सोऽभ्यरक्षद् युधिष्ठिरम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर महारथी धृष्टद्युम्न अन्य लोगोंको हटाकर स्वयं भाइयों और पुत्रोंके साथ उपस्थित हो राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करने लगे ॥ २८ ॥

त्वदीयानां परेषां च रथेषु विपुलान् ध्वजान् ।
अभिभूयार्जुनस्यैको रथे तस्थौ महाकपिः ॥ २९ ॥

राजन् ! आपके तथा शत्रुओंके रथोंपर जो बहुसंख्यक विशाल ध्वज फहरा रहे थे, उन सबको तिरस्कृत करके केवल अर्जुनके रथपर एकमात्र महान् कपिसे उपलक्षित दिव्य ध्वज शोभा पाता था ॥ २९ ॥

पादातास्त्वग्रतोऽगच्छन्नसिशक्त्यृष्टिपाणयः ।
अनेकशतसाहस्रा भीमसेनस्य रक्षिणः ॥ ३० ॥

भीमसेनकी रक्षाके लिये उनके आगे-आगे हाथोंमें खड्ग, शक्ति तथा ऋष्टि लिये कई लाख पैदल सैनिक चल रहे थे।

वारणा दशसाहस्राः प्रभिन्नकरटामुखाः ।
शूरा हेममयैर्जालैर्दीप्यमाना इवाचलाः ॥ ३१ ॥
क्षरन्त इव जीमूता महार्हाः पद्मगन्धिनः ।
राजानमन्वयुः पश्चाज्जीमूता इव वार्षिकाः ॥ ३२ ॥

राजा युधिष्ठिरके पीछे वर्षाकालके मेघोंकी भाँति तथा पर्वतोंके समान ऊँचे-ऊँचे दस हजार गजराज जा रहे थे। उनके गण्डस्थलसे फूटकर मदकी धारा बह रही थी। वे सोनेकी जालीदार झूलोंसे उद्दीप्त हो रहे थे। उनमें शौर्य भरा था। वे मेघोंके समान मदकी बूँदें बरसाते थे। उनसे कमलके समान सुगन्ध निकलती थी और वे सभी बहुमूल्य थे ॥ ३१-३२ ॥

भीमसेनो गदां भीमां प्रकर्षन् परिघोपमाम् ।
प्रचकर्ष महासैन्यं दुराधर्षो महामनाः ॥ ३३ ॥

दुर्जय वीर महामनस्वी भीमसेन हाथमें परिघके समान मोटी एवं भयंकर गदा लिये अपने साथ विशाल सेनाको खींचे लिये जा रहे थे ॥ ३३ ॥

तमर्कमिव दुष्प्रेक्ष्यं तपन्तमिव वाहिनीम् ।
न शेकुः सर्वयोधास्ते प्रतिवीक्षितुमन्तिके ॥ ३४ ॥

उस समय सूर्यकी भाँति उनकी ओर देखना कठिन हो रहा था। वे आपकी सेनाको संतप्त-सी कर रहे थे। निकट आनेपर समस्त योद्धा उनकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी समर्थ न हो सके ॥ ३४ ॥

वज्रो नामैष स व्यूहो निर्भयः सर्वतोमुखः ।
चापविद्युद्ध्वजो घोरो गुप्तो गाण्डीवधन्वना ॥ ३५ ॥

यह वज्रनामक व्यूह सर्वथा भयरहित तथा सब ओर मुखवाला था। उसके ध्वजके निकट सुवर्णभूषित धनुष विद्युत्के समान प्रकाशित होता था। गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा ही वह भयंकर व्यूह सुरक्षित था ॥ ३५ ॥

यं प्रतिव्यूह्य तिष्ठन्ति पाण्डवास्तव वाहिनीम् ।
अजेयो मानुषे लोके पाण्डवैरभिरक्षितः ॥ ३६ ॥

पाण्डवलोग जिस व्यूहकी रचना करके आपकी सेनाका सामना करनेके लिये खड़े थे, वह उनके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण मनुष्यलोकमें अजेय था ॥ ३६ ॥

संध्यां तिष्ठत्सु सैन्येषु सूर्यस्योदयनं प्रति ।
प्रावात् सपृषतो वायुर्निरभ्रे स्तनयित्नुमान् ॥ ३७ ॥

सूर्योदयके समय जब सभी सैनिक संध्योपासना कर रहे थे, बिना बादलके ही पानीकी बूँदोंके साथ हवा चलने लगी। उसके साथ मेघकी-सी गर्जना भी होती थी ॥ ३७ ॥

विष्वग्वाताश्च विववुर्नीचैः शर्करकर्षिणः ।
रजश्चोद्धयत महत् तम आच्छादयज्जगत् ॥ ३८ ॥

वहाँ सब ओर नीचे बालू और कंकड़ बरसाती हुई तीव्र वायु बह रही थी। उस समय इतनी धूल उड़ी कि जगत्में घोर अन्धकार छा गया ॥ ३८ ॥

पपात महती चोल्का प्राङ्मुखी भरतर्षभ ।
उद्यन्तं सूर्यमाहत्य व्यशीर्यत महास्वना ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बड़ी भारी उल्का गिरी और उदय होते हुए सूर्यसे टकराकर बड़े जोरकी आवाजके साथ बिखर गयी ॥ ३९ ॥

अथ संनह्यमानेषु सैन्येषु भरतर्षभ ।
निष्प्रभोऽभ्युद्ययौ सूर्यः सघोषं भूश्चचाल च ॥ ४० ॥

भरतभूषण ! जब उभय-पक्षकी सेनाएँ युद्धके लिये पूर्णतः तैयार हो गयीं, उस समय सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी और भारी आवाजके साथ धरती काँपने लगी ॥ ४० ॥

व्यशीर्यत सनादा च भूस्तदा भरतर्षभ ।
निर्घाता बहवो राजन् दिक्षु सर्वासु चाभवन् ॥ ४१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो पृथ्वी विकट नाद करती हुई फटी जा रही है। राजन् ! सम्पूर्ण दिशाओंमें अनेक बार वज्रपातके समान भयानक शब्द प्रकट हुए।

प्रादुरासीद् रजस्तीव्रं न प्राज्ञायत किंचन ।
ध्वजानां धूयमानानां सहसा मातरिश्वना ॥ ४२ ॥
किङ्किणीजालबद्धानां काञ्चनस्रग्वराम्बरैः ।
महतां सपताकानामादित्यसमतेजसाम् ॥ ४३ ॥
सर्वं झणझणीभूतमासीत् तालवनेष्विव ।

तीव्र वेगसे धूलकी वर्षा होने लगी। कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था। सहसा वायुके वेगसे ध्वज हिलने लगे। पताकासहित वे ध्वज सूर्यके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। उन्हें सोनेके हार और सुन्दर वस्त्रोंसे सजाया गया था। उनमें छोटी-छोटी घंटियोंके साथ झालरें बँधी थीं, जिनके मधुर शब्द सब ओर फैल रहे थे। इस प्रकार उन महान् ध्वजोंके शब्दसे ताड़के जंगलोंकी भाँति उस रणभूमिमें सब ओर झनझनकी आवाज हो रही थी ॥ ४२-४३½ ॥

एवं ते पुरुषव्याघ्राः पाण्डवा युद्धनन्दिनः ॥ ४४ ॥
व्यवस्थिताः प्रतिव्यूह्य तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।
ग्रसन्त इव मज्जा नो योधानां भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
दृष्ट्वाऽग्रतो भीमसेनं गदापाणिमवस्थितम् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार युद्धसे आनन्दित होनेवाले पुरुषसिंह पाण्डव आपके पुत्रकी वाहिनीके सामने व्यूह बनाकर खड़े थे और हमारे योद्धाओंकी रक्त और मज्जा भी सुखाये देते थे। गदाधारी भीमसेनको आगे खड़ा देख हमारी सारी सेना भयभीत हो रही थी ॥ ४४-४६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि पाण्डवसैन्यव्यूहे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें पाण्डवसेनाका व्यूहनिर्माणविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

दोनों सेनाओंकी स्थिति तथा कौरवसेनाका अभियान

धृतराष्ट्र उवाच

सूर्योदये संजय के नु पूर्वं
युयुत्सवो हृष्यमाणा इवासन् ।
मामका वा भीष्मनेत्राः समीपे
पाण्डवा वा भीमनेत्रास्तदानीम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! सूर्योदयके समय किस पक्षके योद्धा युद्धकी इच्छासे अधिक हर्षका अनुभव करते हुए जान पड़ते थे ? भीष्मके नेतृत्वमें निकट आये हुए मेरे सैनिक अथवा भीमसेनकी अध्यक्षतामें आनेवाले पाण्डव सैनिक ! उस समय कौन अधिक प्रसन्न थे ? ॥ १ ॥

केषां जघन्यौ सोमसूर्यौ सवायू
केषां सेनां श्वापदाश्चाभषन्त ।
केषां यूनां मुखवर्णाः प्रसन्नाः
सर्वं ह्येतद् ब्रूहि तत्त्वं यथावत् ॥ २ ॥

चन्द्रमा, सूर्य और वायु किनके प्रतिकूल थे ? किनकी सेनाकी ओर देखकर हिंसक जन्तु भयंकर शब्द करते थे ? किस पक्षके नवयुवकोंके मुखकी कान्ति प्रसन्न थी ? ये सब बातें तुम मुझे ठीक-ठीक बताओ ॥ २ ॥

संजय उवाच

उभे सेने तुल्यमिवोपयाते
उभे व्यूहे हृष्टरूपे नरेन्द्र ।
उभे चित्रे वनराजिप्रकाशे
तथैवोभे नागरथाश्वपूर्णे ॥ ३ ॥

संजय बोले—नरेन्द्र ! दोनों ओरकी सेनाएँ समान रूपसे आगे बढ़ रही थीं। दोनों ओरके व्यूहमें खड़े हुए सैनिक हर्षसे उल्लसित थे। दोनों ही सेनाएँ वनश्रेणियोंके समान आश्चर्यरूप प्रतीत होती थीं और दोनों ही हाथी, रथ एवं घोड़ोंसे भरी हुई थीं ॥ ३ ॥

उभे सेने बृहत्यौ भीमरूपे
तथैवोभे भारत दुर्विषह्ये ।
तथैवोभे स्वर्गजयाय सृष्टे
तथैवोभे सत्पुरुषोपजुष्टे ॥ ४ ॥

भारत ! दोनों ओरकी सेनाएँ विशाल, भयंकर और दुःसह थीं, मानो विधाताने दोनों सेनाओंको स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही रचा था। दोनोंमें ही सत्पुरुष भरे हुए थे ॥ ४ ॥

पश्चान्मुखाः कुरवो धार्तराष्ट्राः
स्थिताः पार्थाः प्राङ्मुखा योत्स्यमानाः।
दैत्येन्द्रसेनेव च कौरवाणां
देवेन्द्रसेनेव च पाण्डवानाम् ॥ ५ ॥

आपके पुत्र कौरवोंका मुख पश्चिम दिशाकी ओर था और कुन्तीके पुत्र उनसे युद्ध करनेके लिये पूर्वाभिमुख खड़े थे। कौरवसेना दैत्यराजकी सेनाके समान जान पड़ती थी और पाण्डव-वाहिनी देवराज इन्द्रकी सेनाके तुल्य प्रतीत होती थी॥

चक्रे वायुः पृष्ठतः पाण्डवानां
धार्तराष्ट्राञ्श्वापदा व्याहरन्त ।
गजेन्द्राणां मदगन्धांश्च तीव्रान्
न सेहिरे तव पुत्रस्य नागाः ॥ ६ ॥

पाण्डवसेनाके पीछेकी ओरसे हवा चल रही थी और आपके पुत्रोंकी ओर देखकर हिंसक जन्तु बोल रहे थे। आपके पुत्रकी सेनामें जो हाथी थे, वे पाण्डवपक्षके गजराजोंके मदोंकी तीव्र गन्ध नहीं सहन कर पाते थे ॥ ६ ॥

दुर्योधनो हस्तिनं पद्मवर्णं
सुवर्णकक्षं जालवन्तं प्रभिन्नम् ।
समास्थितो मध्यगतः कुरूणां
संस्तूयमानो वन्दिभिर्मागधैश्च ॥ ७ ॥

दुर्योधन कमलके समान कान्तिवाले मदस्रावी गजराजपर बैठकर कौरवसेनाके मध्यभागमें खड़ा था। उसके हाथीपर सोनेका हौदा कसा हुआ था और पीठपर सोनेकी जाली बिछी हुई थी। उस समय बन्दी और मागधजन उसकी स्तुति कर रहे थे ॥ ७ ॥

चन्द्रप्रभं श्वेतमथातपत्रं
सौवर्णस्रग् भ्राजति चोत्तमाङ्गे ।
तं सर्वतः शकुनिः पर्वतीयैः
सार्धं गान्धारैर्याति गान्धारराजः ॥ ८ ॥

उसके मस्तकपर चन्द्रमाके समान कान्तिमान् श्वेत छत्र तना हुआ था और कण्ठमें सोनेकी माला सुशोभित हो रही थी । गान्धारराज शकुनि गान्धारदेशके पर्वतीय योद्धाओंके साथ आकर दुर्योधनको सब ओरसे घेरकर चल रहा था ॥८॥

भीष्मोऽग्रतः सर्वसैन्यस्य वृद्धः
श्वेतच्छत्रः श्वेतधनुः सखड्गः ।
श्वेतोष्णीषः पाण्डुरेण ध्वजेन
श्वेतैरश्वैः श्वेतशैलप्रकाशैः ॥ ९ ॥

हमारी सम्पूर्ण सेनाके आगे बूढ़े पितामह भीष्म थे । उनके सिरपर श्वेत रंगकी पगड़ी थी और श्वेत वर्णका ही छत्र तना हुआ था । उनके धनुष और खड्ग भी श्वेत ही थे । वे श्वेत शैलके समान प्रकाशित होनेवाले श्वेत घोड़ों और श्वेत ध्वजसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ९ ॥

तस्य सैन्ये धार्तराष्ट्राश्च सर्वे
बाह्लीकानामेकदेशः शलश्च ।
ये चाम्बष्ठाः क्षत्रिया ये च सिन्धा-
स्तथा सौवीराः पञ्चनदाश्च शूराः ॥१०॥

उनकी सेनामें आपके सभी पुत्र, बाह्लीकसेनाका एक अंश, शल और अम्बष्ठ, सौवीर, सिन्धु तथा पञ्चनद देशके शूरवीर क्षत्रिय विद्यमान थे ॥ १० ॥

शोणैर्हयै रुक्मरथो महात्मा
द्रोणो धनुष्पाणिरदीनसत्त्वः ।
आस्ते गुरुः प्रायशः सर्वराज्ञां
पश्चाच्च भूमीन्द्र इवाभियाति ॥ ११ ॥

उनके पीछे प्रायः समस्त राजाओंके गुरु, उदार हृदयवाले महामना द्रोणाचार्य हाथमें धनुष लिये लाल घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमय रथमें बैठकर भूमिपालकी भाँति युद्धके लिये जा रहे थे ॥

वार्धक्षत्रिः सर्वसैन्यस्य मध्ये
भूरिश्रवाः पुरुमित्रो जयश्च ।
शाल्वा मत्स्याः केकयाश्चेति सर्वे
गजानीकैर्भ्रातरो योत्स्यमानाः ॥ १२ ॥

वृद्धक्षत्रका पुत्र जयद्रथ, भूरिश्रवा, पुरुमित्र, जय, शाल्व और मत्स्यदेशीय क्षत्रिय तथा सब भाई केकयराजकुमार युद्धकी इच्छासे हाथियोंके समूहोंको साथ ले सम्पूर्ण सेनाके मध्यभागमें स्थित थे ॥ १२ ॥

शारद्वतश्चोत्तरधूर्महात्मा
महेष्वासो गौतमश्चित्रयोधी ।
शकैः किरातैर्यवनैः पह्लवैश्च
सार्धं चमूमुत्तरतोऽभियाति ॥ १३ ॥

महान् धनुर्धर और विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले गौतमवंशीय महामना कृपाचार्य गुरुतर भार ग्रहण करके शक, किरात, यवन तथा पह्लव सैनिकोंके साथ कौरवसेनाके बायें भागमें होकर चल रहे थे ॥ १३ ॥

महारथैर्वृष्णिभोजैः सुगुप्तं
सुराष्ट्रकैर्विहितैरात्तशस्त्रैः ।
बृहद् बलं कृतवर्माभिगुप्तं
बलं त्वदीयं दक्षिणेनाभियाति ॥ १४ ॥

हाथमें हथियार लिये सुशिक्षित सुराष्ट्रदेशीय वीरों तथा वृष्णि और भोजवंशके महारथियोंद्वारा पालित विशाल सेना कृतवर्माद्वारा सुरक्षित होकर आपकी सेनाके दाहिने भागसे होकर युद्धके लिये यात्रा कर रही थी ॥ १४ ॥

संशप्तकानामयुतं रथानां
मृत्युर्जयो वार्जुनस्येति सृष्टाः ।
येनार्जुनस्तेन राजन् कृतास्त्राः
प्रयातारस्ते त्रिगर्ताश्च शूराः ॥ १५ ॥

'या तो हम अर्जुनपर विजय प्राप्त करेंगे अथवा हमारी मृत्यु हो जायगी' ऐसी प्रतिज्ञा करके दस हजार संशप्तक रथी तथा बहुत-से अस्त्रवेत्ता त्रिगर्तदेशीय शूरवीर जिधर अर्जुन थे, उसी ओर जा रहे थे ॥ १५ ॥

साग्रं शतसहस्रं तु नागानां तव भारत ।
नागे नागे रथशतं शतमश्वा रथे रथे ॥ १६ ॥

भारत ! आपकी सेनामें एक लाखसे अधिक हाथी थे । एक-एक हाथीके साथ सौ सौ रथ थे और एक-एक रथके साथ सौ-सौ घोड़े थे ॥ १६ ॥

अश्वेऽश्वे दश धानुष्का धानुष्के शतचर्मिणः ।
एवं व्यूढान्यनीकानि भीष्मेण तव भारत ॥ १७ ॥

प्रत्येक अश्वके पीछे दस-दस धनुर्धर और प्रत्येक धनुर्धरके साथ सौ सौ पैदल सैनिक नियुक्त किये गये थे, जो ढाल-तलवार लिये रहते थे । भरतनन्दन ! इस प्रकार भीष्मजीने आपकी सेनाओंका व्यूह रचा था ॥१७॥

संव्यूह्य मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम् ।
दिवसे दिवसे प्राप्ते भीष्मः शान्तनवोऽग्रणीः ॥ १८ ॥
महारथौघविपुलः समुद्र इव घोषवान् ।
भीष्मेण धार्तराष्ट्राणां व्यूहः प्रत्यङ्मुखो युधि ॥ १९ ॥

शान्तनुनन्दन सेनापति भीष्म प्रत्येक दिन मानुष, दैव, गान्धर्व और आसुर प्रणालीके अनुसार व्यूह-रचना करके सेनाके अग्रभागमें स्थित होते थे । भीष्मद्वारा रचित कौरव-

सेनाका वह व्यूह महारथियोंके समुदायसे सम्पन्न हो समुद्रके समान गर्जना करता था। युद्धमें उसका मुख पश्चिमकी ओर था ॥ १८-१९ ॥

अनन्तरूपा ध्वजिनी नरेन्द्र
भीमा त्वदीया न तु पाण्डवानाम्।
तां चैव मन्ये बृहतीं दुष्प्रधर्षां
यस्या नेता केशवश्चार्जुनश्च ॥ २० ॥

नरेन्द्र! आपकी सेना अनन्त रूपवाली एवं भयंकर थी; पाण्डवोंकी वैसी नहीं थी। परंतु मैं तो उसी सेनाको विशाल और दुर्जय मानता हूँ, जिसके नेता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

कौरवसेनाको देखकर युधिष्ठिरका विषाद करना और 'श्रीकृष्णकी कृपासे ही विजय होती है' यह कहकर अर्जुनका उन्हें आश्वासन देना

संजय उवाच

बृहतीं धार्तराष्ट्रस्य सेनां दृष्ट्वा समुद्यताम्।
विषादमगमद् राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! युद्धके लिये उद्यत हुई दुर्योधनकी विशाल सेनाको देखकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके मनमें विषाद छा गया ॥ १ ॥

व्यूहं भीष्मेण चाभेद्यं कल्पितं प्रेक्ष्य पाण्डवः।
अक्षोभ्यमिव सम्प्रेक्ष्य विवर्णोऽर्जुनमब्रवीत् ॥ २ ॥

भीष्मने जिस व्यूहकी रचना की थी, उसका भेदन करना असम्भव था। उसे अक्षोभ्य-सा देखकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी अङ्ग-कान्ति फीकी पड़ गयी। वे अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥

धनंजय कथं शक्यमस्माभिर्योद्धुमाहवे।
धार्तराष्ट्रैर्महाबाहो येषां योद्धा पितामहः ॥ ३ ॥

'महाबाहु धनंजय! जिनके प्रधान योद्धा पितामह भीष्म हैं, उन धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ हम समरभूमिमें कैसे युद्ध कर सकते हैं? ॥ ३ ॥

अक्षोभ्योऽयमभेद्यश्च भीष्मेणामित्रकर्षिणा।
कल्पितः शास्त्रदृष्टेन विधिना भूरिवर्चसा ॥ ४ ॥

'महातेजस्वी शत्रुसूदन भीष्मने शास्त्रीय विधिके अनुसार यह अक्षोभ्य एवं अभेद्य व्यूह रचा है ॥ ४ ॥

ते वयं संशयं प्राप्ताः ससैन्याः शत्रुकर्षण।
कथमस्मान्महाव्यूहादुत्थानं नो भविष्यति ॥ ५ ॥

'शत्रुनाशन अर्जुन! हमलोग अपनी सेनाओंके साथ प्राणसंकटकी स्थितिमें पहुँच गये हैं। इस महान् व्यूहसे हमारा उद्धार कैसे होगा?' ॥ ५ ॥

अथार्जुनोऽब्रवीत् पार्थं युधिष्ठिरममित्रहा।
विषण्णमिव सम्प्रेक्ष्य तव राजन्ननीकिनीम् ॥ ६ ॥

राजन्! तब शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुनने आपकी सेनाको देखकर विषादग्रस्त-से हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको सम्बोधित करके कहा—॥ ६ ॥

प्रज्ञयाभ्यधिकाञ्शूरान् गुणयुक्तान् बहूनपि।
जयन्त्यल्पतरा येन तन्निबोध विशाम्पते ॥ ७ ॥

'प्रजानाथ! अधिक बुद्धिमान्, उत्तम गुणोंसे युक्त तथा बहुसंख्यक शूरवीरोंको भी बहुत थोड़े योद्धा जिस प्रकार जीत लेते हैं, उसे बताता हूँ, सुनिये ॥ ७ ॥

तत्र ते कारणं राजन् प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
नारदस्तमृषिर्वेद भीष्मद्रोणौ च पाण्डव ॥ ८ ॥

'राजन्! आप दोषदृष्टिसे रहित हैं, अतः आपको वह युक्ति बताता हूँ। पाण्डुनन्दन! उसे केवल देवर्षि नारद, भीष्म तथा द्रोणाचार्य जानते हैं ॥ ८ ॥

एनमेवार्थमाश्रित्य युद्धे देवासुरेऽब्रवीत्।
पितामहः किल पुरा महेन्द्रादीन् दिवौकसः ॥ ९ ॥

'कहते हैं, पूर्वकालमें जब देवासुर-संग्राम हो रहा था, उस समय इसी विषयको लेकर पितामह ब्रह्माने इन्द्र आदि देवताओंसे इस प्रकार कहा था—॥ ९ ॥

न तथा बलवीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषवः।
यथा सत्यानृशंस्याभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च ॥ १० ॥

'विजयकी इच्छा रखनेवाले शूरवीर अपने बल और पराक्रमसे वैसी विजय नहीं पाते, जैसी कि सत्य, सज्जनता, धर्म तथा उत्साहसे प्राप्त कर लेते हैं ॥ १० ॥

त्यक्त्वाधर्मं च लोभं च मोहं चोद्यममास्थिताः।
युद्ध्यध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ११ ॥

'देवताओ! अधर्म, लोभ और मोह त्यागकर उद्यमका सहारा ले अहंकारशून्य होकर युद्ध करो। जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय होती है' ॥ ११ ॥

एवं राजन् विजानीहि ध्रुवोऽस्माकं रणे जयः।
यथा तु नारदः प्राह यतः कृष्णस्ततो जयः॥ १२॥

'राजन्! इसी नियमके अनुसार आप भी यह निश्चितरूपसे जान लें कि युद्धमें हमारी विजय अवश्यम्भावी है। जैसा कि नारदजीने कहा है, जहाँ कृष्ण हैं, वहीं विजय है॥

गुणभूतो जयः कृष्णे पृष्ठतोऽभ्येति माधवम्।
तद् यथा विजयश्चास्य सन्नतिश्चापरो गुणः॥ १३॥

'विजय तो श्रीकृष्णका एक गुण है, अतः वह उनके पीछे-पीछे चलता है। जैसे विजय गुण है, उसी प्रकार विनय भी उनका द्वितीय गुण है॥ १३॥



अनन्ततेजा गोविन्दः शत्रुपूगेषु निर्व्यथः।
पुरुषः सनातनमयो यतः कृष्णस्ततो जयः॥ १४॥

'भगवान् गोविन्दका तेज अनन्त है। वे शत्रुओंके समुदायमें भी कभी व्यथित नहीं होते; क्योंकि वे सनातन पुरुष (परमात्मा) हैं। अतः जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है॥

पुरा ह्येष हरिर्भूत्वा विकुण्ठोऽकुण्ठसायकः।
सुरासुरानवस्फूर्जन्नब्रवीत् के जयन्त्विति॥ १५॥

'ये श्रीकृष्ण कहीं भी प्रतिहत या अवरुद्ध न होनेवाले ईश्वर हैं। इनका बाण अमोघ है। ये ही पूर्वकालमें श्रीहरिरूपमें प्रकट हो वज्रगर्जनके समान गम्भीर वाणीमें देवताओं और असुरोंसे बोले—तुमलोगोंमेंसे किसकी विजय हो?॥१५॥

कथं कृष्ण जयेमेति यैरुक्तं तत्र तैर्जितम्।
तत्प्रसादाद्धि त्रैलोक्यं प्राप्तं शक्रादिभिः सुरैः॥ १६॥

'उस समय जिन लोगोंने उनका आश्रय लेकर पूछा—'कृष्ण! हमारी जीत कैसे होगी?' उन्हींकी जीत हुई। इस प्रकार श्रीकृष्णकी कृपासे ही इन्द्र आदि देवताओंने त्रिलोकीका राज्य प्राप्त किया है॥ १६॥

तस्य ते न व्यथां काञ्चिदिह पश्यामि भारत।
यस्य ते जयमाशास्ते विश्वभुक् त्रिदिवेश्वरः॥ १७॥

'अतः भारत! मैं आपके लिये किसी प्रकारकी व्यथा या चिन्ता होनेका कारण नहीं देखता; क्योंकि देवेश्वर तथा विश्वम्भर भगवान् श्रीकृष्ण आपके लिये विजयकी आशा करते हैं।'

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें युधिष्ठिर-अर्जुनसंवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी रणयात्रा, अर्जुन और भीमसेनकी प्रशंसा तथा श्रीकृष्णका अर्जुनसे कौरवसेनाको मारनेके लिये कहना

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वां सेनां समनोदयत्।
प्रतिव्यूहन्ननीकानि भीष्मस्य भरतर्षभ॥ १॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने भीष्मजीकी सेनाका सामना करनेके लिये अपनी सेनाकी व्यूह-रचना करते हुए उसे युद्धके लिये प्रेरित किया॥ १॥

यथोद्दिष्टान्यनीकानि प्रत्यव्यूहन्त पाण्डवाः।
स्वर्गं परममिच्छन्तः सुयुद्धेन कुरूद्वहाः॥ २॥

कुरुकुलके धुरन्धर वीर पाण्डवोंने उत्तम युद्धके द्वारा उत्कृष्ट स्वर्गलोककी इच्छा रखकर शास्त्रोक्त विधिसे शत्रुके मुकाबिलेमें अपनी सेनाका व्यूह-निर्माण किया॥ २॥

मध्ये शिखण्डिनोऽनीकं रक्षितं सव्यसाचिना।
धृष्टद्युम्नश्चरन्नग्रे भीमसेनेन पालितः॥ ३॥

व्यूहके मध्यभागमें सव्यसाची अर्जुनद्वारा सुरक्षित शिखण्डीकी सेना थी और अग्रभागमें भीमसेनद्वारा पालित धृष्टद्युम्न विचरण कर रहे थे॥ ३॥

अनीकं दक्षिणं राजन् युयुधानेन पालितम्।
श्रीमता सात्वताग्र्येण शक्रेणेव धनुष्मता॥ ४॥

राजन्! उस व्यूहके दक्षिण भागकी रक्षा इन्द्रके समान धनुर्धर सात्वतशिरोमणि श्रीमान् सात्यकि कर रहे थे॥ ४॥

महेन्द्रयानप्रतिमं रथं तु
सोपस्करं हाटकरत्नचित्रम्।

युधिष्ठिरः काञ्चनभाण्डयोक्त्रं
समास्थितो नागपुरस्य मध्ये ॥ ५ ॥

राजा युधिष्ठिर हाथियोंकी सेनाके बीचमें खड़े एक सुन्दर रथपर आरूढ़ हुए, जो देवराज इन्द्रके रथकी समानता कर रहा था। उस रथमें सब आवश्यक सामग्री रक्खी गयी थी। भाँति-भाँतिके सुवर्ण तथा रत्नोंसे विभूषित होनेके कारण उस रथकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें सुवर्णमय भाण्ड तथा रस्सियाँ रक्खी हुई थीं ॥ ५ ॥

समुच्छ्रितं दन्तशलाकमस्य
सुपाण्डुरं छत्रमतीव भाति।
प्रदक्षिणं चैनमुपाचरन्त
महर्षयः संस्तुतिभिर्महेन्द्रम् ॥ ६ ॥

उस समय किसी सेवकने युधिष्ठिरके ऊपर हाथीके दाँतों-की बनी हुई शलाकाओंसे युक्त श्वेत छत्र लगा रक्खा था, जिसकी बड़ी शोभा हो रही थी। कुछ महर्षिगणोंने नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा महाराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए उनकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की ॥ ६ ॥

पुरोहिताः शत्रुवधं वदन्तो
ब्रह्मर्षिसिद्धाः श्रुतवन्त एनम्।
जप्यैश्च मन्त्रैश्च महौषधीभिः
समन्ततः स्वस्त्ययनं ब्रुवन्तः ॥ ७ ॥

शास्त्रोंके विद्वान् पुरोहित, ब्रह्मर्षि और सिद्धगण जप, मन्त्र तथा उत्तम ओषधियोंद्वारा सब ओरसे युधिष्ठिरके कल्याण और शत्रुओंके संहारका शुभ आशीर्वाद देने लगे ॥ ७ ॥

ततः स वस्त्राणि तथैव गाश्च
फलानि पुष्पाणि तथैव निष्कान्।
कुरूत्तमो ब्राह्मणसान्महात्मा
कुर्वन् ययौ शक्र इवामरेशः ॥ ८ ॥

उस समय देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी कुरुश्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर बहुत-से वस्त्र, गाय, फल-फूल और स्वर्णमय आभूषण ब्राह्मणोंको दान करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ८ ॥

सहस्रसूर्यः शतकिङ्किणीकः
परार्ध्यजाम्बूनदहेमचित्रः।
रथोऽर्जुनस्याग्निरिवार्चिमाली
विभ्राजते श्वेतहयः सुचक्रः ॥ ९ ॥

अर्जुनका रथ ज्वालमालाओंसे युक्त अग्निके समान शोभा पा रहा था। उसमें सूर्यकी आकृतिके सहस्रों चक्र विद्यमान थे। सैकड़ों क्षुद्र घंटिकाएँ लगी थीं। बहुमूल्य जाम्बूनद नामक सुवर्णसे भूषित होनेके कारण उस रथकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें श्वेत रंगके घोड़े और सुन्दर पहिये लगे थे ॥ ९ ॥

तमास्थितः केशवसंगृहीतं
कपिध्वजो गाण्डिवबाणपाणिः।
धनुर्धरो यस्य समः पृथिव्यां
न विद्यते नो भविता कदाचित् ॥ १० ॥

गाण्डीव धनुष और बाण हाथमें लिये हुए कपिध्वज अर्जुन उस रथपर आरूढ़ थे। भगवान् श्रीकृष्णने उसकी बागडोर सँभाल रखी थी। अर्जुनके समान धनुर्धर इस भूतलपर न तो कोई है और न होगा ही ॥ १० ॥

उद्वर्तयिष्यंस्तव पुत्रसेना-
मतीव रौद्रं स बिभर्ति रूपम्।
अनायुधो यः सुभुजो भुजाभ्यां
नराश्वनागान् युधि भस्म कुर्यात् ॥ ११ ॥

महाराज ! जो सुन्दर बाहोंवाले भीमसेन बिना आयुधके केवल भुजाओंसे ही युद्धमें मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंको भस्म कर सकते हैं, उन्होंने ही आपके पुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालनेके लिये अत्यन्त रौद्र रूप धारण कर रक्खा है॥११॥

स भीमसेनः सहितो यमाभ्यां
वृकोदरो वीररथस्य गोप्ता।
तं तत्र सिंहर्षभमत्तखेलं
लोके महेन्द्रप्रतिमानकल्पम् ॥ १२ ॥
समीक्ष्य सेनाग्रगतं दुरासदं
संविव्यथुः पङ्कगता यथा द्विपाः।
वृकोदरं वारणराजदर्पं
योधास्त्वदीया भयविग्नसत्त्वाः ॥ १३ ॥

वृकोदर भीमसेन नकुल और सहदेवके साथ रहकर अपने वीर रथी धृष्टद्युम्नकी रक्षा कर रहे थे। जो सिंहों और साँड़ोंके समान उन्मत्त-से होकर युद्धका खेल खेलते हैं, जिनका दर्प गजराजके समान बढ़ा हुआ है तथा जो लोकमें देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी हैं, उन्हीं दुर्धर्ष वीर भीमसेनको सेना-के अग्रभागमें उपस्थित देख आपके सैनिक भयसे उद्विग्न-चित्त हो कीचड़में फँसे हुए हाथियोंकी भाँति व्यथित हो उठे ॥

अनीकमध्ये तिष्ठन्तं राजपुत्रं दुरासदम्।
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं गुडाकेशं जनार्दनः ॥ १४ ॥

उस समय सेनाके मध्यभागमें खड़े हुए दुर्जय वीर निद्राविजयी भरतश्रेष्ठ राजकुमार अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा ॥ १४ ॥

वासुदेव उवाच

य एष रोषात् प्रतपन् बलस्थो
यो नः सेनां सिंह इवेक्षते च।
स एष भीष्मः कुरुवंशकेतु-
र्येनाहृतास्त्रिशतं वाजिमेधाः ॥ १५ ॥

भगवान् वासुदेव बोले—धनंजय ! ये जो अपनी सेनाके मध्यभागमें स्थित हो रोषसे तप रहे हैं और सिंहके समान हमारी सेनाकी ओर देखते हैं, ये ही कुरुकुलकेतु भीष्म हैं, जिन्होंने अबतक तीन सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया है॥

एतान्यनीकानि महानुभावं
गूहन्ति मेघा इव रश्मिमन्तम् ।
एतानि हत्वा पुरुषप्रवीर
काङ्क्षस्व युद्धं भरतर्षभेण ॥ १६ ॥

जैसे बादल अंशुमाली सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार ये सारी सेनाएँ इन महानुभाव भीष्मको आच्छादित किये हुए हैं । नरवीर अर्जुन ! तुम पहले इन सेनाओंको मारकर भरतकुलभूषण भीष्मजीके साथ युद्धकी अभिलाषा करो ॥१६॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीकृष्णार्जुनसंवादे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा दुर्गादेवीकी स्तुति, वरप्राप्ति और अर्जुनकृत दुर्गास्तवनके पाठकी महिमा

संजय उवाच

धार्तराष्ट्रबलं दृष्ट्वा युद्धाय समुपस्थितम् ।
अर्जुनस्य हितार्थाय कृष्णो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—दुर्योधनकी सेनाको युद्धके लिये उपस्थित देख श्रीकृष्णने अर्जुनके हितके लिये इस प्रकार कहा ॥

श्रीभगवानुवाच

शुचिर्भूत्वा महाबाहो संग्रामाभिमुखे स्थितः ।
पराजयाय शत्रूणां दुर्गास्तोत्रमुदीरय ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो ! तुम युद्धके सम्मुख खड़े हो । पवित्र होकर शत्रुओंको पराजित करनेके लिये दुर्गा देवीकी स्तुति करो ॥ २ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तोऽर्जुनः संख्ये वासुदेवेन धीमता ।
अवतीर्य रथात् पार्थः स्तोत्रमाह कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—परम बुद्धिमान् भगवान् वासुदेवके द्वारा रणक्षेत्रमें इस प्रकार आदेश प्राप्त होनेपर कुन्तीकुमार अर्जुन रथसे नीचे उतरकर दुर्गादेवीकी स्तुति करने लगे ॥

अर्जुन उवाच

नमस्ते सिद्धसेनानि आर्ये मन्दरवासिनि ।
कुमारि कालि कापालि कपिले कृष्णपिङ्गले ॥ ४ ॥
भद्रकालि नमस्तुभ्यं महाकालि नमोऽस्तु ते ।
चण्डि चण्डे नमस्तुभ्यं तारिणि वरवर्णिनि ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले—मन्दराचलपर निवास करनेवाली सिद्धोंकी सेनानेत्री आर्ये ! तुम्हें बारम्बार नमस्कार है । तुम्हीं कुमारी, काली, कापाली, कपिला, कृष्णपिङ्गला, भद्रकाली और महाकाली आदि नामोंसे प्रसिद्ध हो; तुम्हें बारम्बार प्रणाम है । दुष्टोंपर प्रचण्ड कोप करनेके कारण तुम चण्डी कहलाती हो, भक्तोंको संकटसे तारनेके कारण तारिणी हो, तुम्हारे शरीरका दिव्य वर्ण बहुत ही सुन्दर है; मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ ॥

कात्यायनि महाभागे करालि विजये जये ।
शिखिपिच्छध्वजधरे नानाभरणभूषिते ॥ ६ ॥

महाभागे ! तुम्हीं (सौम्य और सुन्दर रूपवाली) पूजनीया कात्यायनी हो और तुम्हीं विकराल रूपधारिणी काली हो । तुम्हीं विजया और जयाके नामसे विख्यात हो । मोरपंखकी तुम्हारी ध्वजा है । नाना प्रकारके आभूषण तुम्हारे अङ्गोंकी शोभा बढ़ाते हैं॥

अट्टशूलप्रहरणे खड्गखेटकधारिणि ।
गोपेन्द्रस्यानुजे ज्येष्ठे नन्दगोपकुलोद्भवे ॥ ७ ॥

तुम भयंकर त्रिशूल, खड्ग और खेटक आदि आयुधोंको धारण करती हो । नन्दगोपके वंशमें तुमने अवतार लिया था, इसलिये गोपेश्वर श्रीकृष्णकी तुम छोटी बहिन हो; परंतु गुण और प्रभावमें सर्वश्रेष्ठ हो ॥ ७ ॥

महिषासृक्प्रिये नित्यं कौशिकि पीतवासिनि ।
अट्टहासे कोकमुखे नमस्तेऽस्तु रणप्रिये ॥ ८ ॥

महिषासुरका रक्त बहाकर तुम्हें बड़ी प्रसन्नता हुई थी । तुम कुशिकगोत्रमें अवतार लेनेके कारण कौशिकी नामसे भी प्रसिद्ध हो । तुम पीताम्बर धारण करती हो । जब तुम शत्रुओंको देखकर अट्टहास करती हो, उस समय तुम्हारा मुख चक्रवाकके समान उद्दीप्त हो उठता है । युद्ध तुम्हें बहुत ही प्रिय है । मैं तुम्हें बारंबार प्रणाम करता हूँ ॥ ८ ॥

उमे शाकम्भरि श्वेते कृष्णे कैटभनाशिनि ।
हिरण्याक्षि विरूपाक्षि सुधूम्राक्षि नमोऽस्तु ते ॥ ९ ॥

उमा, शाकम्भरी, श्वेता, कृष्णा, कैटभनाशिनी, हिरण्याक्षी, विरूपाक्षी और सुधूम्राक्षी आदि नाम धारण करनेवाली देवि ! तुम्हें अनेकों बार नमस्कार है ॥ ९ ॥

वेदश्रुति महापुण्ये ब्रह्मण्ये जातवेदसि ।
जम्बूकटकचैत्येषु नित्यं सन्निहितालये ॥ १० ॥

तुम वेदोंकी श्रुति हो, तुम्हारा स्वरूप अत्यन्त पवित्र है; वेद और ब्राह्मण तुम्हें प्रिय हैं। तुम्हीं जातवेदा अग्निकी शक्ति हो; जम्बू, कटक और चैत्यवृक्षोंमें तुम्हारा नित्य निवास है ॥ १० ॥

त्वं ब्रह्मविद्या विद्यानां महानिद्रा च देहिनाम्।
स्कन्दमातर्भगवति दुर्गे कान्तारवासिनि ११ ॥

तुम समस्त विद्याओंमें ब्रह्मविद्या और देहधारियोंकी महानिद्रा हो। भगवति! तुम कार्तिकेयकी माता हो, दुर्गम स्थानोंमें वास करनेवाली दुर्गा हो ॥ ११ ॥

स्वाहाकारः स्वधा चैव कला काष्ठा सरस्वती।
सावित्रि वेदमाता च तथा वेदान्त उच्यते ॥ १२ ॥

सावित्रि! स्वाहा, स्वधा, कला, काष्ठा, सरस्वती, वेदमाता तथा वेदान्त—ये सब तुम्हारे ही नाम हैं ॥ १२ ॥

स्तुतासि त्वं महादेवि विशुद्धेनान्तरात्मना।
जयो भवतु मे नित्यं त्वत्प्रसादाद् रणाजिरे ॥ १३ ॥

महादेवि! मैंने विशुद्ध हृदयसे तुम्हारा स्तवन किया है। तुम्हारी कृपासे इस रणाङ्गणमें मेरी सदा ही जय हो ॥ १३ ॥

कान्तारभयदुर्गेषु भक्तानां चालयेषु च।
नित्यं वससि पाताले युद्धे जयसि दानवान् ॥ १४ ॥

माँ! तुम घोर जंगलमें, भयपूर्ण दुर्गम स्थानोंमें, भक्तोंके घरोंमें तथा पातालमें भी नित्य निवास करती हो। युद्धमें दानवोंको हराती हो ॥ १४ ॥

त्वं जम्भनी मोहिनी च माया ह्रीः श्रीस्तथैव च।
संध्या प्रभावती चैव सावित्री जननी तथा ॥ १५ ॥

तुम्हीं जम्भनी, मोहिनी, माया, ह्री, श्री, संध्या, प्रभावती, सावित्री और जननी हो ॥ १५ ॥

तुष्टिः पुष्टिर्धृतिर्दीप्तिश्चन्द्रादित्यविवर्धिनी।
भूतिर्भूतिमतां सङ्ख्ये वीक्ष्यसे सिद्धचारणैः ॥ १६ ॥

तुष्टि, पुष्टि, धृति तथा सूर्य-चन्द्रमाको बढ़ानेवाली दीप्ति भी तुम्हीं हो। तुम्हीं ऐश्वर्यवानोंकी विभूति हो। युद्धभूमिमें सिद्ध और चारण तुम्हारा दर्शन करते हैं ॥ १६ ॥

संजय उवाच

ततः पार्थस्य विज्ञाय भक्तिं मानववत्सला।
अन्तरिक्षगतोवाच गोविन्दस्याग्रतः स्थिता ॥ १७ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! अर्जुनके इस भक्तिभावका अनुभव करके मनुष्योंपर वात्सल्य-भाव रखनेवाली माता दुर्गा अन्तरिक्षमें भगवान् श्रीकृष्णके सामने आकर खड़ी हो गयीं और इस प्रकार बोलीं ॥ १७ ॥

देव्युवाच

स्वल्पेनैव तु कालेन शत्रूञ्जेष्यसि पाण्डव।
नरस्त्वमसि दुर्धर्ष नारायणसहायवान् ॥ १८ ॥
अजेयस्त्वं रणेऽरीणामपि वज्रभृतः स्वयम्।

देवीने कहा—पाण्डुनन्दन! तुम थोड़े ही समयमें शत्रुओंपर विजय प्राप्त करोगे। दुर्धर्ष वीर! तुम तो साक्षात् नर हो। ये साक्षात् नारायण तुम्हारे सहायक हैं। तुम रणक्षेत्रमें शत्रुओंके लिये अजेय हो। साक्षात् इन्द्र भी तुम्हें पराजित नहीं कर सकते ॥ १८½ ॥

इत्येवमुक्त्वा वरदा क्षणेनान्तरधीयत ॥ १९ ॥
लब्ध्वा वरं तु कौन्तेयो मेने विजयमात्मनः।
आरुरोह ततः पार्थो रथं परमसम्मतम् ॥ २० ॥

ऐसा कहकर वरदायिनी देवी दुर्गा वहाँसे क्षणभरमें अन्तर्धान हो गयीं। वह वरदान पाकर कुन्तीकुमार अर्जुनको अपनी विजयका विश्वास हो गया। फिर वे अपने परम सुन्दर रथपर आरूढ़ हुए ॥ १९-२० ॥

कृष्णार्जुनावेकरथौ दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।

फिर एक रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने अपने दिव्य शङ्ख बजाये ॥ २०½ ॥

य इदं पठते स्तोत्रं कल्य उत्थाय मानवः ॥ २१ ॥
यक्षरक्षःपिशाचेभ्यो न भयं विद्यते सदा।

जो मनुष्य सवेरे उठकर इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसे यक्ष, राक्षस और पिशाचोंसे कभी भय नहीं होता ॥ २१½ ॥

न चापि रिपवस्तेभ्यः सर्पाद्या ये च दंष्ट्रिणः ॥ २२ ॥
न भयं विद्यते तस्य सदा राजकुलादपि।
विवादे जयमाप्नोति बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥ २३ ॥

शत्रु तथा सर्प आदि विषैले दाँतोंवाले जीव भी उनको कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। राजकुलसे भी उन्हें कोई भय नहीं होता है। इसका पाठ करनेसे विवादमें विजय प्राप्त होती है और बंदी बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २२-२३ ॥

दुर्गं तरति चावश्यं तथा चौरैर्विमुच्यते।
संग्रामे विजयेन्नित्यं लक्ष्मीं प्राप्नोति केवलाम् ॥ २४ ॥

वह दुर्गम संकटसे अवश्य पार हो जाता है। चोर भी उसे छोड़ देते हैं। वह संग्राममें सदा विजयी होता और विशुद्ध लक्ष्मी प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

आरोग्यबलसम्पन्नो जीवेद् वर्षशतं तथा।
एतद् दृष्टं प्रसादात् तु मया व्यासस्य धीमतः ॥ २५ ॥

इतना ही नहीं, इसका पाठ करनेवाला पुरुष आरोग्य और बलसे सम्पन्न हो सौ वर्षोंकी आयुतक जीवित रहता है। यह

सब परम बुद्धिमान् भगवान् व्यासजीके कृपा-प्रसादसे मैंने प्रत्यक्ष देखा है ॥ २५ ॥

मोहादेत न जानन्ति नरनारायणावृषी ।
तव पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मन्युवशानुगाः ॥ २६ ॥

राजन् ! आपके सभी दुरात्मा पुत्र क्रोधके वशीभूत हो मोहवश यह नहीं जानते हैं कि ये श्रीकृष्ण और अर्जुन ही साक्षात् नर-नारायण ऋषि हैं ॥ २६ ॥

प्राप्तकालमिदं वाक्यं कालपाशेन गुण्ठिताः ।
द्वैपायनो नारदश्च कण्वो रामस्तथानघः ।
अवारयंस्तव सुतं न चासौ तद् गृहीतवान् ॥ २७ ॥

वे कालपाशसे बद्ध होनेके कारण इस समयोचित बातको बतानेपर भी नहीं सुनते । द्वैपायन व्यास, नारद, कण्व तथा पापशून्य परशुरामने तुम्हारे पुत्रको बहुत रोका था; परंतु उसने उनकी बात नहीं मानी ॥ २७ ॥

यत्र धर्मो द्युतिः कान्तिर्यत्र ह्रीः श्रीस्तथा मतिः ।
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ २८ ॥

जहाँ न्यायोचित बर्ताव, तेज और कान्ति है, जहाँ ह्री, श्री और बुद्धि है तथा जहाँ धर्म विद्यमान है, वहीं श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि दुर्गास्तोत्रे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें दुर्गास्तोत्रविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

सैनिकोंके हर्ष और उत्साहके विषयमें धृतराष्ट्र और संजयका संवाद

धृतराष्ट्र उवाच

केषां प्रहृष्टास्तत्राग्रे योधा युध्यन्ति संजय ।
उदग्रमनसः के वा के वा दीना विचेतसः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! उस समय किस पक्षके योद्धा अत्यन्त हर्षमें भरकर पहले युद्धमें प्रवृत्त हुए ? किनके मनमें उत्साह भरा था और कौन-कौन मनुष्य दीन एवं अचेत हो रहे थे ? ॥ १ ॥

के पूर्वं प्राहरंस्तत्र युद्धे हृदयकम्पने ।
मामकाः पाण्डवेया वा तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २

संजय ! हृदयको कम्पित कर देनेवाले संग्राममें किन्होंने पहले संग्राम किया, मेरे पुत्रोंने या पाण्डवोंने ? यह मुझे बताओ॥

कस्य सेनासमुदये गन्धमाल्यसमुद्भवः ।
वाचः प्रदक्षिणाश्चैव योधानामभिगर्जताम् ॥ ३ ॥

किसकी सेनाओंमें सुगन्धित पुष्पमाला आदिका प्रादुर्भाव हुआ ? किस पक्षके गर्जते हुए योद्धाओंकी वाणी उदारतापूर्ण और उत्साहयुक्त थीं ? ॥ ३ ॥

संजय उवाच

उभयोः सेनयोस्तत्र योधा जहृषिरे तदा ।
स्रजः समाः सुगन्धानामुभयत्र समुद्भवः ॥ ४ ॥

संजयने कहा—राजन् ! दोनों ही सेनाओंके योद्धा उस समय हर्षमें भरे हुए थे । उभयपक्षमें ही सुगन्ध और पुष्पहारोंका प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ४ ॥

संहतानामनीकानां व्यूढानां भरतर्षभ ।
संसर्गात् समुदीर्णानां विमर्दः सुमहानभूत् ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! संगठित, व्यूहबद्ध तथा युद्धविषयक उत्साहसे उद्यत हुए दोनों दलोंके योद्धाओंकी जब मुठभेड़ हुई, उस समय बड़ी भारी मार-काट मची थी ॥ ५ ॥

वादित्रशब्दस्तुमुलः शङ्खभेरीविमिश्रितः ।
शूराणां रणशूराणां गर्जतामितरेतरम् ।
उभयोः सेनयो राजन् महान् व्यतिकरोऽभवत् ॥ ६ ॥

राजन् ! शङ्ख और भेरी आदि वाद्योंका सम्मिलित भयंकर शब्द जब एक दूसरेपर गर्जन-तर्जन करनेवाले रणवीर शूरोंके सिंहनादसे मिला, तब दोनों सेनाओंमें महान् कोलाहल एवं संघर्ष होने लगा ॥ ६ ॥

अन्योन्यं वीक्षमाणानां योधानां भरतर्षभ ।
कुञ्जराणां च नदतां सैन्यानां च प्रहृष्यताम् ॥ ७ ॥

भरतभूषण ! एक-दूसरेकी ओर देखनेवाले योद्धाओं, गर्जते हुए हाथियों और हर्षमें भरी हुई सेनाओंका तुमुल नाद सर्वत्र व्याप्त हो रहा था ॥ ७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२४॥



द्रोणाचार्यके प्रति दुर्योधनका सैन्य-प्रदर्शन

पञ्चविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां प्रथमोऽध्यायः)

दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान वीरों एवं शङ्खध्वनिका वर्णन तथा स्वजनवधके पापसे भयभीत हुए अर्जुनका विषाद

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें एकत्र हुए युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥



संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजय बोले—उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा— ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

'हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न-द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

'इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले तथा युद्धमें भीम और अर्जुनके समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ४–६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

'हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! अपने पक्षमें भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये । आपकी जानकारीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ ॥ ७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

'आप—द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

'और भी मेरे लिये जीवनकी आशा त्याग देनेवाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित और सबके सब युद्धमें चतुर हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

'भीष्मपितामहद्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

'इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आपलोग सभी निःसंदेह भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें' ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

(तब) कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वरसे सिंहकी दहाड़के समान गरजकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

इसके पश्चात् शङ्ख और नगारे तथा ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे । उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुनने भी अलौकिक शङ्ख बजाये ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्ण महाराजने पाञ्चजन्यनामक, अर्जुनने देवदत्त-नामक और भयानक कर्मवाले भीमसेनने पौण्ड्रनामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजयनामक और नकुल तथा सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पकनामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभीने, हे राजन् ! (सब ओरसे) अलग-अलग शङ्ख बजाये ॥ १७-१८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

और उस भयानक शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी गुँजाते हुए धार्तराष्ट्रोंके यानी आपके पक्षवालोंके हृदय विदीर्ण कर दिये ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हे राजन् ! इसके बाद कपिध्वज अर्जुनने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको देखकर, उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराजसे यह वचन कहा—'हे अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये ॥ २०-२१ ॥

यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

'और जबतक कि मैं युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओंको भली प्रकार देख लूँ कि इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है, तबतक उसे खड़ा रखिये ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

'दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें हित चाहनेवाले जो-जो ये राजालोग इस सेनामें आये हैं, इन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँगा' ॥ २३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥

संजय बोले—हे धृतराष्ट्र ! अर्जुनद्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्रने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा कि 'हे पार्थ ! युद्धके लिये जुटे हुए इन कौरवोंको देख'* ॥ २४-२५ ॥

---

* 'कौरवोंको देख' इन शब्दोंका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'इस सेनामें जितने लोग हैं, प्रायः सभी तुम्हारे वंशके तथा आत्मीय स्वजन ही हैं । उनको तुम अच्छी तरह देख लो ।' भगवान्‌के इसी संकेतने अर्जुनके अन्तः-करणमें छिपे हुए कुटुम्ब-स्नेहको प्रकट कर दिया, मानो अर्जुनको निमित्त बनाकर लोककल्याण करनेके लिये स्वयं भगवान्‌ने ही इन शब्दोंके द्वारा उनके हृदयमें ऐसी भावना उत्पन्न कर दी, जिसमें उन्होंने युद्ध करनेसे इन्कार कर दिया और उसके फलस्वरूप साक्षात् भगवान्‌के मुखारविन्दसे त्रिलोकपावन दिव्य गीतामृतकी ऐसी परम मधुर धारा बह निकली, जो अनन्त कालतक अनन्त जीवोंका परम कल्याण करती रहेगी ।

**तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।**

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित ताऊ-चाचोंको, दादों-परदादोंको, गुरुओंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा ॥ २६½ ॥

**तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।**

उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओंको देखकर वे कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त होकर शोक करते हुए यह वचन बोले ॥ २७½ ॥

अर्जुन उवाच

**दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥**

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इस स्वजनसमुदायको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीरमें कम्प एवं रोमाञ्च हो रहा है ॥ २८-२९ ॥

**गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥**

हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिये मैं खड़ा रहनेको भी समर्थ नहीं हूँ ॥ ३० ॥

**निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥**

हे केशव ! मैं लक्षणोंको भी विपरीत ही देख रहा हूँ तथा युद्धमें स्वजन-समुदायको मारकर कल्याण भी नहीं देखता ॥ ३१ ॥

**न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥**

हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखोंको ही । हे गोविन्द ! हमें ऐसे राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगोंसे और जीवनसे भी क्या लाभ है ? ॥ ३२ ॥

**येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥**

हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवनकी आशाको त्यागकर युद्धमें खड़े हैं ॥ ३३ ॥

**आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥**

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं ॥

**एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥**

हे मधुसूदन ! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ३५ ॥

**निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥**

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको[1] मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥

**तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥**

अतएव हे माधव ! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं; क्योंकि अपने ही कुटुम्बको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ? ॥ ३७ ॥

**यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥**

यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको और मित्रोंसे विरोध करनेमें पापको नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन ! कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे हटनेके लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये ? ॥ ३८-३९ ॥

**कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥**

कुलके नाशसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलमें पाप भी बहुत फैल जाता है* ॥

---

१. वसिष्ठस्मृतिमें आततायीके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः । (३ । १९)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धन हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों ही आततायी हैं ।'

* पाँच हेतु ऐसे हैं, जिनके कारण मनुष्य अधर्मसे बचता है और धर्मको सुरक्षित रखनेमें समर्थ होता है—ईश्वरका

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय! स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वञ्चित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन कुलधर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्योंका अनिश्चित कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

हा! शोक! हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करनेवालेको शस्त्र हाथमें लिये धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

संजय बोले—रणभूमिमें शोकसे उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

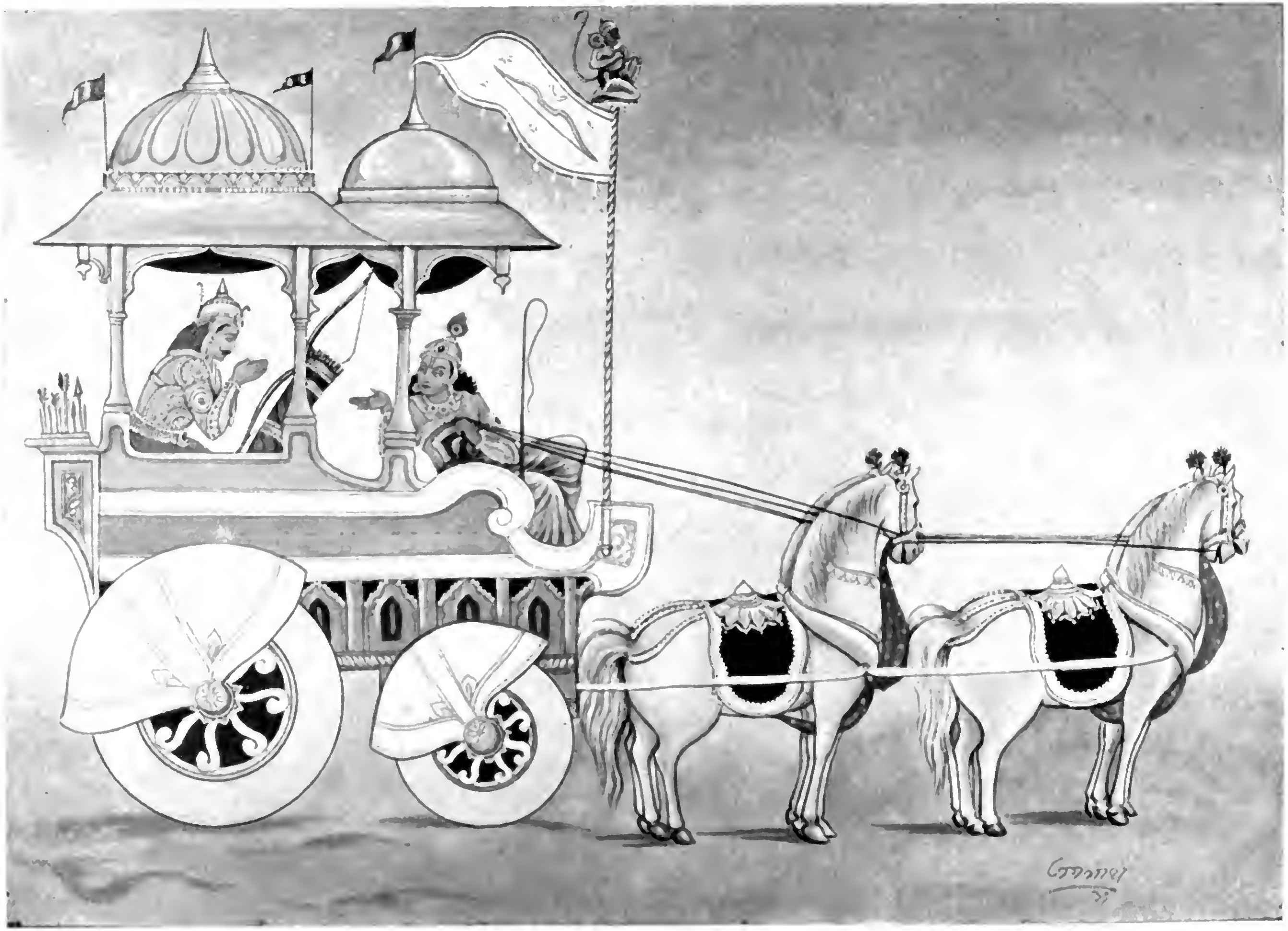
इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ भीष्मपर्वणि तु पञ्चविंशोऽध्यायः* ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥ भीष्मपर्वमें पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

भय, शास्त्रका शासन, कुलमर्यादाओंके टूटनेका डर, राज्यका कानून और शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आशङ्का। इनमें ईश्वर और शास्त्र सर्वथा सत्य होनेपर भी वे श्रद्धापर निर्भर करते हैं, प्रत्यक्ष हेतु नहीं हैं। राज्यके कानून प्रजाके लिये ही प्रधानतया होते हैं; जिनके हाथोंमें अधिकार होता है, वे उन्हें प्रायः नहीं मानते। शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आशङ्का अधिकतर व्यक्तिगत रूपमें हुआ करती है। एक कुल-मर्यादा ही ऐसी वस्तु है, जिसका सम्बन्ध सारे कुटुम्बके साथ रहता है। जिस समाज या कुलमें परम्परासे चली आती हुई शुभ और श्रेष्ठ मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं, वह समाज या कुल बिना लगामके मतवाले घोड़ोंके समान यथेच्छाचारी हो जाता है। यथेच्छाचार किसी भी नियमको सहन नहीं कर सकता, वह मनुष्यको उच्छृङ्खल बना देता है। जिस समाजके मनुष्योंमें इस प्रकारकी उच्छृङ्खलता आ जाती है, उस समाज या कुलमें स्वाभाविक ही सर्वत्र पाप छा जाता है।

*प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर जो उपर्युक्त पुष्पिका दी गयी है, इसमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य और प्रभाव ही प्रकट किया गया है। 'ॐ तत्सत्' भगवान्के पवित्र नाम हैं (गीता १७। २३), स्वयं श्रीभगवान्के द्वारा गायी जानेके कारण इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' है, इसमें उपनिषदोंका सारतत्त्व संगृहीत है और यह स्वयं भी उपनिषद् है, इससे इसको 'उपनिषद्' कहा गया है, निर्गुण-निराकार परमात्माके परमतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है और जिस कर्मयोगका योगके नामसे वर्णन हुआ है, उस निष्कामभावपूर्ण कर्मयोगका तत्त्व बतलानेवाली होनेसे इसका नाम 'योगशास्त्र' है। यह साक्षात् परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुनका संवाद है और इसके प्रत्येक अध्यायमें परमात्माको प्राप्त करानेवाले योगका वर्णन है, इसीसे इसके लिये 'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे·········योगो नाम' कहा गया है।

शरणागत अर्जुन



कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः । यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
(गीता २ । ७)

षड्विंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयोऽध्यायः)

अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए भगवान्‌के द्वारा नित्यानित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक सांख्ययोग, कर्मयोग एवं स्थितप्रज्ञकी स्थिति और महिमाका प्रतिपादन

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें गीतोक्त उपदेशकी प्रस्तावनाके रूपमें दोनों सेनाओंके महारथियोंका और उनकी शङ्खध्वनिका वर्णन करके अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेकी बात कही गयी; उसके बाद दोनों सेनाओंमें स्थित स्वजन-समुदायको देखकर शोक और मोहके कारण अर्जुनके युद्धसे निवृत्त हो जानेकी और शस्त्र-अस्त्रोंको छोड़कर विषाद करते हुए बैठ जानेकी बात कहकर उस अध्यायकी समाप्ति की गयी। ऐसी स्थितिमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे क्या बात कही और किस प्रकार उसे युद्धके लिये पुनः तैयार किया; यह सब बतलानेकी आवश्यकता होनेपर संजय अर्जुनकी स्थितिका वर्णन करते हुए दूसरे अध्यायका आरम्भ करते हैं—

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

संजय बोले—उस प्रकार करुणासे व्याप्त और आँसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है॥ २॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ ३॥

इसलिये हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा॥ ३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! मैं रणभूमिमें किस प्रकार बाणोंसे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध लड़ूँगा? क्योंकि हे अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं॥ ४॥

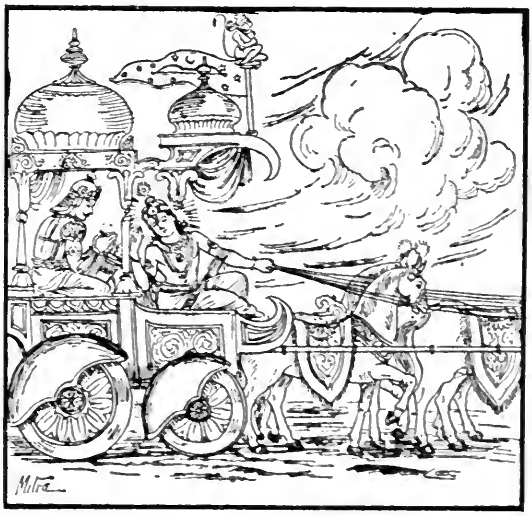
गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

इसलिये इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा॥ ५॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपना निश्चय प्रकट कर देनेपर भी जब अर्जुनको संतोष नहीं हुआ और अपने निश्चयमें शङ्का उत्पन्न हो गयी, तब वे फिर कहने लगे—

न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना और न करना—इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे मुकाबलेमें खड़े हैं॥ ६॥



कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

क्योंकि भूमिमें निष्कण्टक, धन-धान्यसम्पन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनेको प्राप्त होकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजय बोले—हे राजन्! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान्‌से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओंके बीचमें शोक करते हुए उस अर्जुनको हँसते हुए-से यह वचन बोले ॥ १० ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे चिन्तामग्न अर्जुनने जब भगवान्‌के शरण होकर अपने महान् शोककी निवृत्तिका उपाय पूछा और यह कहा कि इस लोक और परलोकका राज्यसुख इस शोककी निवृत्तिका उपाय नहीं है, तब अर्जुनको अधिकारी समझकर उसके शोक और मोहको सदाके लिये नष्ट करनेके उद्देश्यसे भगवान् पहले नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक सांख्ययोगकी दृष्टिसे भी युद्ध करना कर्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए सांख्यनिष्ठाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—पहले भगवान् आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन करके आत्मदृष्टिसे उनके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता। अर्थात् जैसे कुमार, युवा और जरा-अवस्थारूप स्थूल शरीरका विकार अज्ञानसे आत्मामें भासता है, वैसे ही एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होनारूप सूक्ष्म शरीरका विकार भी अज्ञानसे ही आत्मामें भासता है, इसलिये तत्त्वको जाननेवाला धीर पुरुष मोहित नहीं होता ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन किया तथा चौदहवें श्लोकमें इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोगोंको अनित्य बतलाया, किंतु आत्मा क्यों नित्य है और ये संयोग क्यों अनित्य हैं? इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया; अतएव इस श्लोकमें भगवान् नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनकी रीति बतलानेके लिये दोनोंके लक्षण बतलाते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है* ॥ १६ ॥

* तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंद्वारा 'असत्' और 'सत्'का विवेचन करके जो यह निश्चय कर लेना है कि जिस वस्तुका परिवर्तन और नाश होता है, जो सदा नहीं रहती, वह असत् है—अर्थात् असत् वस्तुका विद्यमान रहना सम्भव नहीं और जिसका परिवर्तन और नाश किसी भी अवस्थामें किसी भी निमित्तसे नहीं होता, जो सदा विद्यमान रहती है, वह सत् है—अर्थात् सत्‌का कभी अभाव होता ही नहीं—यही तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा उन दोनोंका तत्त्व देखा जाना है।

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

नाशरहित तो तू उसको जान; जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है । इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं । इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ॥

सम्बन्ध—अर्जुनने जो यह बात कही थी कि 'मैं इनको मारना नहीं चाहता और यदि वे मुझे मार डालें तो वह मेरे लिये क्षेमतर होगा' उसका समाधान करनेके लिये अगले श्लोकोंमें आत्माको मरने या मारनेवाला मानना अज्ञान है, यह कहते हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता * ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्माको नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ? ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह शङ्का होती है कि आत्माका जो एक शरीरसे सम्बन्ध छूटकर दूसरे शरीरसे सम्बन्ध होता है, उसमें उसे अत्यन्त कष्ट होता है; अतः उसके लिये शोक करना कैसे अनुचित है ? इसपर कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है † ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—आत्माका स्वरूप दुर्विज्ञेय होनेके कारण पुनः तीन श्लोकोंद्वारा प्रकारान्तरसे उसकी नित्यता, निराकारता और निर्विकारता-का प्रतिपादन करते हुए उसके विनाशकी आशङ्कासे शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है; यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है ॥ २४ ॥

---

१. पूर्वश्लोकमें जिस 'सत्' तत्त्वसे समस्त जडवर्गको व्याप्त बतलाया है, उसे 'शरीरी' कहकर तथा शरीरोंके साथ उसका सम्बन्ध दिखलाकर आत्मा और परमात्माकी एकताका प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक दृष्टिसे जो भिन्न-भिन्न शरीरोंको धारण करनेवाले, उनसे सम्बन्ध रखनेवाले भिन्न-भिन्न आत्मा प्रतीत होते हैं, वे वस्तुतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं, सब एक ही चेतन तत्त्व है; जैसे निद्राके समय स्वप्नकी सृष्टिमें एक पुरुषके सिवा कोई वस्तु नहीं होती; स्वप्नका समस्त नानात्व निद्राजनित होता है, जागनेके बाद पुरुष एक ही रह जाता है, वैसे ही यहाँ भी समस्त नानात्व अज्ञानजनित है, ज्ञानके अनन्तर कोई नानात्व नहीं रहता ।

* इस श्लोकमें छहों विकारोंका अभाव इस प्रकार दिखलाया गया है—आत्माको 'अजः' (अजन्मा) कहकर उसमें 'उत्पत्ति'रूप विकारका अभाव बतलाया है । 'अयं भूत्वा भूयः न भविता' अर्थात् यह जन्म लेकर फिर सत्तावाला नहीं होता, बल्कि स्वभावसे ही सत् है—यह कहकर 'अस्तित्व'रूप विकारका, 'पुराणः' (चिरकालीन और सदा एकरस रहनेवाला) कहकर 'वृद्धि'रूप विकारका, 'शाश्वतः' (सदा एकरूपमें स्थित) कहकर 'विपरिणाम'का, 'नित्यः' (अखण्ड सत्तावाला) कहकर 'क्षय'का और 'शरीरे हन्यमाने न हन्यते' (शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता)—यह कहकर 'विनाश'का अभाव दिखलाया है ।

† वास्तवमें अचल और अक्रिय होनेके कारण आत्माका किसी भी हालतमें गमनागमन नहीं होता; पर जैसे घड़ेको एक मकानसे दूसरे मकानमें ले जानेके समय उसके भीतरके आकाशका अर्थात् घटाकाशका भी घटके सम्बन्धसे गमनागमन-सा प्रतीत होता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरका गमनागमन होनेसे उसके सम्बन्धसे आत्मामें भी गमनागमनकी प्रतीति होती है । अतएव लोगोंको समझानेके लिये आत्मामें गमनागमनकी औपचारिक कल्पना की जाती है ।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है । इससे हे अर्जुन ! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥२५॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्ने आत्माको अजन्मा और अविनाशी बतलाकर उसके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया; अब दो श्लोकोंद्वारा आत्माको औपचारिकरूपसे जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी उसके लिये शोक करना अनुचित है, ऐसा सिद्ध करते हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

किंतु यदि तू इस आत्माको सदा जन्मनेवाला तथा सदा मरनेवाला मानता हो, तो भी हे महाबाहो ! तू इस प्रकार शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएका जन्म निश्चित है ।* इससे भी इस बिना उपायवाले विषयमें तू शोक करनेको योग्य नहीं है ॥

सम्बन्ध—अब अगले श्लोकमें यह सिद्ध करते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंको उद्देश्य करके भी शोक करना नहीं बनता—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है ? ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—आत्मतत्त्व अत्यन्त दुर्बोध होनेके कारण उसे समझानेके लिये भगवान्ने उपर्युक्त श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे उसके स्वरूपका वर्णन किया; अब अगले श्लोकमें उस आत्मतत्त्वके दर्शन, वर्णन और श्रवणकी अलौकिकता और दुर्लभताका निरूपण करते हैं—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई एक महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है † और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्वका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है ‡ तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता है § ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे अर्जुन ! यह आत्मा सबके शरीरमें सदा ही अवध्य है । इस कारण सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तू शोक करनेके योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्ने सांख्ययोगके अनुसार अनेक युक्तियोंद्वारा नित्य शुद्ध, बुद्ध, सम, निर्विकार और अकर्ता आत्माके एकत्व, नित्यत्व, अविनाशित्व आदिका प्रतिपादन करके तथा शरीरोंको विनाशशील बतलाकर आत्माके या शरीरोंके लिये अथवा शरीर और आत्माके वियोगके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया । साथ ही प्रसङ्गवश आत्माको जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी शोक करनेके अनौचित्यका प्रतिपादन किया और अर्जुनको युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी । अब सात श्लोकोंद्वारा क्षात्रधर्मके अनुसार शोक करना अनुचित सिद्ध करते हुए अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हैं—

---

१. आत्माको 'अविकार्य' कहकर अव्यक्त प्रकृतिसे उसकी विलक्षणताका प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरण प्रकृतिके कार्य हैं, वे अपनी कारणरूपा प्रकृतिको विषय नहीं कर सकते, इसलिये प्रकृति भी अव्यक्त और अचिन्त्य है; किंतु वह निर्विकार नहीं है, उसमें विकार होता है और आत्मामें कभी किसी भी अवस्थामें विकार नहीं होता । अतएव प्रकृतिसे आत्मा अत्यन्त विलक्षण है ।

* भगवान्का यह कथन उन अज्ञानियोंकी दृष्टिमें है, जो आत्माका जन्मना-मरना नित्य मानते हैं । उनके मतानुसार जो मरणधर्मा है, उसका जन्म होना निश्चित ही है; क्योंकि उस मान्यतामें किसीकी मुक्ति नहीं हो सकती । जिस वास्तविक सिद्धान्तमें मुक्ति मानी गयी है, उसमें आत्माको जन्मने-मरनेवाला भी नहीं माना गया है, जन्मना-मरना सब अज्ञानजनित है ।

† जैसे मनुष्य लौकिक दृश्य वस्तुओंको मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा इदंबुद्धिसे देखता है, आत्मदर्शन वैसा नहीं है; आत्माका देखना अद्भुत और अलौकिक है । जब एकमात्र चेतन आत्मासे भिन्न किसीकी सत्ता ही नहीं रहती, उस समय आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही अपनेको देखता है । उस दर्शनमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटी नहीं रहती, इसलिये वह देखना आश्चर्यकी भाँति है ।

‡ जितने भी उदाहरणोंसे आत्मतत्त्व समझाया जाता है, उनमेंसे कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे आत्मतत्त्वको समझानेवाला नहीं है । उसके किसी एक अंशको ही उदाहरणोंद्वारा समझाया जाता है; क्योंकि आत्माके सदृश अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, इस अवस्थामें कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे कैसे लागू हो सकता है ? तथापि बहुत-से आश्चर्यमय संकेतोंद्वारा महापुरुष उसका लक्ष्य कराते हैं, यही उनका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करना है । वास्तवमें आत्मा वाणीका अविषय होनेके कारण स्पष्ट शब्दोंमें वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता ।

§ जिसके अन्तःकरणमें पूर्ण श्रद्धा और आस्तिकभाव नहीं होता, जिसकी बुद्धि शुद्ध और सूक्ष्म नहीं होती—ऐसा मनुष्य इस आत्मतत्त्वको सुनकर भी संशय और विपरीत भावनाके कारण इसके स्वरूपको यथार्थ नहीं समझ सकता; अतएव इस आत्मतत्त्वका समझना अनधिकारीके लिये बड़ा ही दुर्लभ है ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

तथा अपने धर्मको देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है यानी तुझे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं ॥

अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

किंतु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्धको नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

तथा सब लोग तेरी बहुत कालतक रहनेवाली अपकीर्ति-का भी कथन करेंगे और माननीय पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है ॥ ३४ ॥

भयाद् रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५ ॥

और जिनकी दृष्टिमें तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुताको प्राप्त होगा, वे महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

तेरे वैरीलोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे बहुत-से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे; उससे अधिक दुःख और क्या होगा ? ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

या तो तू युद्धमें मारा जाकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा संग्राममें जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा । इस कारण हे अर्जुन ! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा ॥ ३७ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्ने युद्धका फल राज्यसुख या स्वर्गकी प्राप्तितक बतलाया, किंतु अर्जुनने तो पहले ही कह दिया था कि इस लोकके राज्यकी तो बात ही क्या है, मैं तो त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपने कुलका नाश नहीं करना चाहता; अतः जिसे राज्यसुख और स्वर्गकी इच्छा न हो उसको किस भावसे युद्ध करना चाहिये, यह बात अगले श्लोकमें बतलायी जाती है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझ-कर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्ने सांख्ययोगके सिद्धान्तसे तथा क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्धका औचित्य सिद्ध करके अर्जुनको समता-पूर्वक युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी; अब कर्मयोगके सिद्धान्तसे युद्धका औचित्य बतलानेके लिये कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन*—जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके बन्धनको भलीभाँति त्याग देगा यानी सर्वथा नष्ट कर डालेगा ॥ ३९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करके अब उसका रहस्यपूर्ण महत्त्व बतलाते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है; बल्कि इस कर्मयोग-रूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है† ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगका महत्त्व बतलाकर अब उसके आचरणकी विधि बतलानेके लिये पहले उस कर्मयोगमें परम आवश्यक जो सिद्ध कर्मयोगीकी निश्चयात्मिका स्थायी समबुद्धि है, उसका और कर्मयोगमें बाधक जो सकाम मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न बुद्धियाँ हैं, उनका भेद बतलाते हैं—

---

* इस श्लोकमें बुद्धिके साथ 'एषा' और 'इमाम्'—ये दो विशेषण देकर यह बात दिखलायी गयी है कि इस अध्यायके ३८ वें श्लोकमें कही हुई समत्वबुद्धि सांख्ययोगके अनुसार ११ वें श्लोकसे लेकर ३० वें श्लोकतक कही गयी, उसीको अब कर्मयोगके अनुसार कहना आरम्भ करते हैं ।

१. इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जहाँ कामनायुक्त कर्म होता है, वहीं अच्छे-बुरे फलकी सम्भावना होती है; इसमें कामनाका सर्वथा अभाव है, इसलिये इसमें प्रत्यवाय अर्थात् विपरीत फल भी नहीं होता ।

† भाव यह है कि निष्कामभावका परिणाम संसारसे उद्धार करना है । अतएव वह अपने परिणामको सिद्ध किये बिना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्तमें साधकको पूर्ण निष्काम बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन ! इस कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किंतु अस्थिर विचारवाले विवेकहीन सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं॥

सम्बन्ध—अब तीन श्लोकोंमें सकामभावको त्याज्य बतलानेके लिये सकाम मनुष्योंके स्वभाव, सिद्धान्त और आचार-व्यवहारका वर्णन करते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

हे अर्जुन ! जो भोगोंमें तन्मय हो रहे हैं, जो कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं, जिनकी बुद्धिमें स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्गसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकी जन इस प्रकारकी जिस पुष्पित यानी दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहा करते हैं जो कि जन्मरूप कर्मफल देनेवाली एवं भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है, उस वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती ॥ ४२—४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥

हे अर्जुन ! वेद उपर्युक्त प्रकारसे तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं; इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्यवस्तु परमात्मामें स्थित, योगक्षेमको न चाहनेवाला* और स्वाधीन अन्तःकरणवाला हो॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जानेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मको तत्त्वसे जाननेवाले ब्राह्मणका समस्त वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रह जाता है† ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार समबुद्धिरूप कर्मयोगका और उसके फलका महत्त्व बतलाकर अब दो श्लोकोंमें भगवान् कर्मयोगका स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है,‡ उसके फलोंमें कभी नहीं§। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो× तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ॥ ४७ ॥

* अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिको योग कहते हैं और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम क्षेम है; सांसारिक भोगोंकी कामनाका त्याग कर देनेके बाद भी शरीरनिर्वाहके लिये मनुष्यकी योगक्षेममें वासना रहा करती है, अतएव उस वासनाका भी सर्वथा त्याग करानेके लिये यहाँ अर्जुनको 'निर्योगक्षेम' होनेको कहा गया है ।

† इस दृष्टान्तका अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्यको अमृतके समान स्वादु और गुणकारी अथाह जलसे भरा हुआ जलाशय मिल जाता है, उसको जैसे जलके लिये (वापी-कूप-तडागादि) छोटे-छोटे जलाशयोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, वैसे ही जिसको परमानन्दके समुद्र पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । वह सर्वथा पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है ।

‡ जैसे सरकारके द्वारा लोगोंको आत्मरक्षाके लिये या प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पास नाना प्रकारके शस्त्र रखने और उनके प्रयोग करनेका अधिकार दिया जाता है और उसी समय उनके प्रयोगके नियम भी उनको बतला दिये जाते हैं, उसके बाद यदि कोई मनुष्य उस अधिकारका दुरुपयोग करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है और उसका अधिकार भी छीन लिया जाता है, वैसे ही जीवको जन्म-मृत्युरूप संसारबन्धनसे मुक्त होनेके लिये और दूसरोंका हित करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित यह मनुष्यशरीर देकर इसके द्वारा नवीन कर्म करनेका अधिकार दिया गया है । अतः जो इस अधिकारका सदुपयोग करता है, वह तो कर्मबन्धनसे छूटकर परमपदको प्राप्त हो जाता है और जो दुरुपयोग करता है, वह दण्डका भागी होता है तथा उससे वह अधिकार छीन लिया जाता है अर्थात् उसे पुनः सूकर-कूकरादि योनियोंमें ढकेल दिया जाता है । इस रहस्यको समझकर मनुष्यको इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये ।

§ मनुष्य कर्मोंका फल प्राप्त करनेमें कभी किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं है । उसके कौन-से कर्मका क्या फल होगा और वह फल उसको किस जन्ममें और किस प्रकार प्राप्त होगा—इसका न तो उसको कुछ पता है और न वह अपने इच्छानुसार समयपर उसे प्राप्त कर सकता है अथवा न उससे बच ही सकता है । मनुष्य चाहता कुछ और है और होता कुछ और ही है।

× मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा किये हुए शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति, वासना, आशा,

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

हे धनंजय ! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्य-कर्मोंको कर,* समत्व ही योग कहलाता है ॥ ४८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगकी प्रक्रिया बतलाकर अब सकाम भावकी निन्दा और समभावरूप बुद्धियोगका महत्त्व प्रकट करते हुए भगवान् अर्जुनको उसका आश्रय लेनेके लिये आज्ञा देते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

इस समत्वरूप बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणीका है। इसलिये हे धनंजय ! तू समबुद्धिमें ही रक्षाका उपाय ढूँढ़ अर्थात् बुद्धियोगका ही आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है।† इससे तू समत्वरूप योगमें लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥

क्योंकि समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परमपदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌ने कर्मयोगके आचरणद्वारा अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी, इसपर अर्जुनको यह जिज्ञासा हो सकती है कि अनामय परम पदकी प्राप्ति मुझे कब और कैसे होगी, इसके लिये भगवान् दो श्लोकोंमें कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥

जिस कालमें तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले इस लोक और परलोकसम्बन्धी सभी भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा‡ ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

स्पृहा और कामना करना ही कर्मफलका हेतु बनना है; क्योंकि जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्त होता है, उसीको उन कर्मोंका फल मिलता है।

* योगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि केवल सिद्धि और असिद्धिमें ही समत्व रखनेसे काम नहीं चलेगा, बल्कि प्रत्येक क्रियाके करते समय भी तुमको किसी भी पदार्थमें, कर्ममें या उसके फलमें अथवा किसी भी प्राणीमें विषमभाव न रखकर नित्य समभावमें स्थित रहना चाहिये।

१. जिसमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके समबुद्धिपूर्वक कर्तव्य-कर्मका अनुष्ठान किया जाता है, उस कर्मयोगका वाचक यहाँ 'बुद्धियोगात्' पद है; क्योंकि उन्चालीसवें श्लोकमें 'योगे त्विमां शृणु' अर्थात् अब तुम मुझसे इस बुद्धिको योगमें सुनो, यह कहकर भगवान्‌ने कर्मयोगका वर्णन आरम्भ किया है। इसके सिवा इस श्लोकमें फल चाहने-वालोंको कृपण बतलाया गया है और अगले श्लोकमें बुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगके लिये आज्ञा दी गयी है और यह कहा गया है कि बुद्धियुक्त मनुष्य कर्मफलका त्याग करके 'अनामय पद' को प्राप्त हो जाता है (गीता २ । ५१); इस कारण भी यहाँ 'बुद्धियोगात्' पदका अर्थ कर्मयोग ही है।

† जन्म-जन्मान्तरमें और इस जन्ममें किये हुए जितने भी पुण्यकर्म और पापकर्म संस्काररूपसे अन्तःकरणमें संचित रहते हैं, उन समस्त कर्मोंको समबुद्धिसे युक्त कर्मयोगी इसी लोकमें त्याग देता है—अर्थात् इस वर्तमान जन्ममें ही वह उन समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। उसका उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उसके कर्म पुनर्जन्मरूप फल नहीं दे सकते।

२. जहाँ राग-द्वेष आदि क्लेशोंका, शुभाशुभ कर्मोंका, हर्ष-शोकादि विकारोंका और समस्त दोषोंका सर्वथा अभाव है, जो इस प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा अतीत है, जो भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न भगवान्‌का परम धाम है, जहाँ पहुँचे हुए मनुष्य वापस नहीं लौटते, उस परम धामको 'अनामय पद' कहते हैं।

‡ इस लोक और परलोकके जितने भी भोगैश्वर्यादि आजतक देखने, सुनने और अनुभवमें आ चुके हैं, उनका नाम 'श्रुत' है और भविष्यमें जो देखे, सुने और अनुभव किये जा सकते हैं, उन्हें 'श्रोतव्य' कहते हैं। उन सबको दुःखके हेतु और अनित्य समझकर जो आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना है, यही उनसे वैराग्यको प्राप्त होना है।

३. इस लोक और परलोकके भोगैश्वर्य और उनकी प्राप्तिके साधनोंके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे बुद्धिमें विक्षिप्तता आ जाती है; इसके कारण वह एक निश्चयपर निश्चलरूपसे नहीं टिक सकती, अभी एक बातको अच्छी समझती है, तो कुछ ही समय बाद दूसरी बातको अच्छी मानने लगती है। ऐसी विक्षिप्त और अनिश्चयात्मिका बुद्धिको यहाँ 'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि' कहा गया है। यह बुद्धिका विक्षेपदोष है।

भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा अर्थात् तेरा परमात्मासे नित्य संयोग हो जायगा ॥ ५३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने यह बात कही कि जब तुम्हारी बुद्धि परमात्मामें निश्चल ठहर जायगी, तब तुम परमात्माको प्राप्त हो जाओगे । इसपर परमात्माको प्राप्त स्थितप्रज्ञ सिद्धयोगीके लक्षण और आचरण जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

अर्जुन बोले—हे केशव ! समाधिमें स्थित परमात्माको प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुषका क्या लक्षण है ? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ? ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध योगीके विषयमें चार बातें पूछी हैं; इन चारों बातोंका उत्तर भगवान्‌ने अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त दिया है, बीचमें प्रसङ्गवश दूसरी बातें भी कही हैं । इस अगले श्लोकमें भगवान् अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है* और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें 'स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है' इस दूसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं,† ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है‡ उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् 'वह कैसे बैठता है ?' इस तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

कछुआ सब ओरसे अपने अङ्गोंको जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये) ॥ ५८ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञके बैठनेका प्रकार बतलाकर अब उसमें होनेवाली शङ्काओंका समाधान

---

* शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा आदि अनुकूल पदार्थोंके बने रहनेकी और प्रतिकूल पदार्थोंके नष्ट हो जानेकी जो राग-द्वेषजनित सूक्ष्म कामना है, जिसका स्वरूप विकसित नहीं होता, उसे 'वासना' कहते हैं । किसी अनुकूल वस्तुके अभावका बोध होनेपर जो चित्तमें ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, उसके बिना काम नहीं चलेगा—इस अपेक्षारूप कामनाका नाम 'स्पृहा' है । यह कामनाका वासनाकी अपेक्षा विकसित रूप है । जिस अनुकूल वस्तुका अभाव होता है, उसके मिलनेकी और प्रतिकूलके विनाशकी या न मिलनेकी प्रकट कामनाका नाम 'इच्छा' है; यह कामनाका पूर्ण विकसित रूप है और स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ यथेष्ट प्राप्त रहते हुए भी जो उनके अधिकाधिक बढ़नेकी इच्छा है, उसको 'तृष्णा' कहते हैं । यह कामनाका बहुत स्थूल रूप है। इन सबका सर्वथा त्याग कर देना ही समस्त कामनाओंका भलीभाँति त्याग करना है ।

† इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है । इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित, शान्त और सरल होती है ।

‡ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (गीता ५ । २०) । इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता । एवं स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता । उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (गीता ५ । २०)। इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता ।

करनेके लिये अन्य प्रकारसे किये जानेवाले इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा स्थितप्रज्ञके इन्द्रियसंयमकी विलक्षणता दिखलाते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती । इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है*॥

सम्बन्ध—आसक्तिका नाश और इन्द्रियसंयम नहीं होनेसे क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

हे अर्जुन ! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथन-स्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ ६१ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेसे और भगवत्परायण न होनेसे क्या हानि है ? यह बात अब दो श्लोकोंमें बतलायी जाती है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ॥ ६३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेवाले मनुष्यके पतनका क्रम बतलाकर अब भगवान् 'स्थितप्रज्ञ योगी कैसे चलता है' इस चौथे प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हुए पहले दो श्लोकोंमें जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें होते हैं, ऐसे साधकद्वारा विषयोंमें विचरण किये जानेका प्रकार और उसका फल बतलाते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा† विषयोंमें विचरण करता हुआ ‡ अन्तःकरणकी

* परमात्मा एक ऐसी अद्भुत, अलौकिक, दिव्य आकर्षक वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर इतनी तल्लीनता, मुग्धता और तन्मयता होती है कि अपना सारा आपा ही मिट जाता है; फिर किसी दूसरी वस्तुका चिन्तन कौन करे ? इसीलिये परमात्माके साक्षात्कारसे आसक्तिके सर्वथा निवृत्त होनेकी बात कही गयी है ।

† उनसठवें श्लोकमें तो राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव बताया गया है और यहाँ राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयसेवनकी बात कहकर राग-द्वेषके सर्वथा अभावकी साधना बतायी गयी है । तीसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकमें इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन तीनोंको ही कामका अधिष्ठान बताया है । इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियोंमें राग-द्वेष न रहनेपर भी मन या बुद्धिमें सूक्ष्मरूपसे राग-द्वेष रह सकते हैं; परंतु उनसठवें श्लोकमें 'अस्य' पदका प्रयोग करके स्थिरबुद्धि पुरुषमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव बताया गया है । वहाँ केवल इन्द्रियोंमें ही राग-द्वेषके अभावकी बात नहीं है ।

‡ यद्यपि बाह्य विषयोंका त्याग भी भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक है, परंतु जबतक इन्द्रियोंका संयम और राग-द्वेषका त्याग न हो, तबतक केवल बाह्य विषयोंके त्यागसे विषयोंकी पूर्ण निवृत्ति नहीं हो सकती और न कोई सिद्धि ही प्राप्त होती है तथा ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषयका त्याग किये बिना इन्द्रियसंयम हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्‌की पूजा, सेवा, जप और विवेक-वैराग्य आदि दूसरे उपायोंसे सहज ही इन्द्रियसंयम हो सकता है ।

इसी प्रकार इन्द्रियसंयम भी भगवत्प्राप्तिमें सहायक है; परंतु इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हुए बिना केवल इन्द्रिय-संयमसे विषयोंकी पूर्णतया निवृत्ति होकर वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती और ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषय-त्याग तथा इन्द्रियसंयम हुए बिना इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हो ही न सकता हो । सत्सङ्ग, स्वाध्याय और विचारद्वारा सांसारिक भोगोंकी अनित्यताका भान होनेसे तथा ईश्वरकृपा और भजन-ध्यान आदिसे जिसकी इन्द्रियोंके राग-द्वेषका नाश हो गया है, उसके लिये बाह्य विषयोंका त्याग और इन्द्रियसंयम अनायास अपने-आप हो जाता है । जिसका इन्द्रियोंके विषयोंमें राग-द्वेष नहीं है, वह पुरुष यदि बाह्यरूपसे विषयोंका त्याग न करे तो विषयोंमें विचरण करता हुआ ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है; इसलिये इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित होना ही मुख्य है ।

प्रसन्नताको* प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्तभावसे इन्द्रियोंद्वारा व्यवहार करनेवाले साधकको सुख, शान्ति और स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त होनेकी बात कहकर अब दो श्लोकोंद्वारा इससे विपरीत जिसके मन-इन्द्रिय जीते हुए नहीं हैं, ऐसे विषयासक्त मनुष्यमें सुख-शान्तिका अभाव दिखलाकर विषयोंके सङ्गसे उसकी बुद्धिके विचलित हो जानेका प्रकार बतलाते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती† और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है ? ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है‡ ॥ ६७ ॥

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं,§ उसीकी बुद्धि स्थिर है ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य

---

* वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा बिना राग-द्वेषके व्यवहार करनेसे साधकका अन्तःकरण शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है, इस कारण उसमें आध्यात्मिक सुख और शान्तिका अनुभव होता है (गीता १८ । ३७); उस सुख और शान्तिको 'प्रसन्नता' कहते हैं ।

† इससे यह दिखलाया गया है कि परम आनन्द और शान्तिके समुद्र परमात्माका चिन्तन न होनेके कारण अयुक्त मनुष्यका चित्त निरन्तर विक्षिप्त रहता है; उसमें राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-ईर्ष्या आदिके कारण हर समय जलन और व्याकुलता बनी रहती है । अतएव उसको शान्ति नहीं मिलती ।

‡ यहाँ नौकाके स्थानमें बुद्धि है, वायुके स्थानमें जिसके साथ मन रहता है, वह इन्द्रिय है, जलाशयके स्थानमें संसाररूप समुद्र है और जलके स्थानमें शब्दादि समस्त विषयोंका समुदाय है । जलमें अपने गन्तव्य स्थानकी ओर जाती हुई नौकाको प्रबल वायु दो प्रकारसे विचलित करती है—या तो उसे पथभ्रष्ट करके जलकी भीषण तरङ्गोंमें भटकाती है या अगाध जलमें डुबो देती है; इसी प्रकार जिसके मन-इन्द्रिय वशमें नहीं हैं, ऐसा मनुष्य यदि अपनी बुद्धिको परमात्माके स्वरूपमें निश्चल करना चाहता है तो भी उसकी इन्द्रियाँ उसके मनको आकर्षित करके उसकी बुद्धिको दो प्रकारसे विचलित करती हैं । इन्द्रियोंका बुद्धिरूप नौकाको परमात्मासे हटाकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिका उपाय सोचनेमें लगा देना, उसे भीषण तरङ्गोंमें भटकाना है और पापोंमें प्रवृत्त करके उसका अधःपतन करा देना, उसे डुबो देना है; परंतु जिसके मन और इन्द्रिय वशमें रहते हैं उसकी बुद्धिको वे विचलित नहीं करते, वरं बुद्धिरूप नौकाको परमात्माके पास पहुँचानेमें सहायता करते हैं । चौंसठवें और पैंसठवें श्लोकोंमें यही बात कही गयी है ।

§ श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियोंके जितने भी शब्दादि विषय हैं, उन विषयोंमें बिना किसी रुकावटके प्रवृत्त हो जाना इन्द्रियोंका स्वभाव है; क्योंकि अनादिकालसे जीव इन इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता आया है, इस कारण इन्द्रियोंकी उनमें आसक्ति हो गयी है । इन्द्रियोंकी इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको सर्वथा रोक देना, उनके विषयलोलुप स्वभावको परिवर्तित कर देना, उनमें विषयासक्तिका अभाव कर देना और मन-बुद्धिको विचलित करनेकी शक्ति न रहने देना—यही उनको उनके विषयोंसे सर्वथा निगृहीत कर लेना है । इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ वशमें की हुई होती हैं, वह पुरुष जब ध्यानकालमें इन्द्रियोंकी क्रियाओंका त्याग कर देता है, उस समय उसकी कोई भी इन्द्रिय न तो किसी भी विषयको ग्रहण कर सकती है और न अपनी सूक्ष्म वृत्तियोंद्वारा मनमें विक्षेप ही उत्पन्न कर सकती है । उस समय वे मनमें तद्रूप-सी हो जाती हैं और व्युत्थानकालमें जब वह देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी क्रिया करता रहता है, उस समय वे बिना आसक्तिके नियमित रूपसे यथायोग्य शब्दादि विषयोंका ग्रहण करती हैं । किसी भी विषयमें उसके मनको आकर्षित नहीं कर सकतीं वरं मनका ही अनुसरण करती हैं । स्थितप्रज्ञ पुरुष लोकसंग्रहके लिये जिस इन्द्रियके द्वारा जितने समयतक जिस शास्त्रसम्मत विषयका ग्रहण करना उचित समझता है, वही इन्द्रिय उतने ही समयतक उसी विषयका अनासक्तभावसे

ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है* और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है† ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं,‡ वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं ॥ ७० ॥

सम्बन्ध—'स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है ?' अर्जुनका यह चौथा प्रश्न परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके विषयमें ही था; किंतु यह प्रश्न आचरणविषयक होनेके कारण उसके उत्तरमें चौंसठवें श्लोकसे यहाँतक किस प्रकार आचरण करनेवाला मनुष्य शीघ्र स्थितप्रज्ञ बन सकता है, कौन नहीं बन सकता और जब मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है उस समय उसकी कैसी स्थिति होती है—ये सब बातें बतलायी गयीं। अब उस चौथे प्रश्नका स्पष्ट उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषके आचरणका प्रकार बतलाते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है,§ वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है ॥ ७१ ॥

ग्रहण करती है; उसके विपरीत कोई भी इन्द्रिय किसी भी विषयको ग्रहण नहीं कर सकती। इस प्रकार जो इन्द्रियोंपर पूर्ण आधिपत्य कर लेना है, उनकी स्वतन्त्रताको सर्वथा नष्ट करके उनको अपने अनुकूल बना लेना है—यही इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे निगृहीत कर लेना है।

* जैसे प्रकाशसे पूर्ण दिनको उल्लू अपने नेत्रदोषसे अन्धकारमय देखता है, वैसे ही अनादिसिद्ध अज्ञानके परदेसे अन्तःकरणरूप नेत्रोंकी विवेक-विज्ञानरूप प्रकाशनशक्तिके आवृत रहनेके कारण अविवेकी मनुष्य स्वयंप्रकाश नित्यबोध परमानन्दमय परमात्माको नहीं देख पाते। उस परमात्माकी प्राप्तिरूप सूर्यके प्रकाशित होनेसे जो परम शान्ति और नित्य आनन्दका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह वास्तवमें दिनकी भाँति प्रकाशमय है, तो भी परमात्माके गुण, प्रभाव, रहस्य और तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानियोंके लिये रात्रिके समान है। उसीमें स्थितप्रज्ञ पुरुषका जो उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करके निरन्तर स्थित रहना है, यही उसका उस सम्पूर्ण प्राणियोंकी रात्रिमें जागना है।

† जैसे स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यका स्वप्नके जगत्से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही परमात्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीके अनुभवमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती। वह ज्ञानी इस दृश्य जगत्के स्थानमें इसके अधिष्ठानरूप परमात्मतत्त्वको ही देखता है, अतएव उसके लिये समस्त सांसारिक भोग और विषयानन्द रात्रिके समान है।

‡ किसी भी जड वस्तुकी उपमा देकर स्थितप्रज्ञ पुरुषकी वास्तविक स्थितिका पूर्णतया वर्णन करना सम्भव नहीं है, तथापि उपमाद्वारा उस स्थितिके किसी अंशका लक्ष्य कराया जा सकता है। अतः समुद्रकी उपमासे यह भाव समझना चाहिये कि जिस प्रकार समुद्र 'आपूर्यमाण' यानी अथाह जलसे परिपूर्ण हो रहा है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण है; जैसे समुद्रको जलकी आवश्यकता नहीं है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुषको भी किसी सांसारिक सुख-भोगकी तनिकमात्र भी आवश्यकता नहीं है, वह सर्वथा आप्तकाम है। जिस प्रकार समुद्रकी स्थिति अचल है, भारी-से-भारी आँधी-तूफान आनेपर या नाना प्रकारसे नदियोंके जलप्रवाह उसमें प्रविष्ट होनेपर भी वह अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता, मर्यादाका त्याग नहीं करता, उसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित योगीकी स्थिति भी सर्वथा अचल होती है, बड़े-से-बड़े सांसारिक सुख-दुःखोंका संयोग-वियोग होनेपर भी उसकी स्थितिमें जरा भी अन्तर नहीं पड़ता, वह सच्चिदानन्दघन परमात्मामें नित्य-निरन्तर अटल और एकरस स्थित रहता है।

§ मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें जो साधारण अज्ञानी मनुष्योंका आत्माभिमान रहता है, जिसके कारण वे शरीरको ही अपना स्वरूप मानते हैं, अपनेको शरीरसे भिन्न नहीं समझते, उस देहाभिमानका नाम अहङ्कार है; उससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'अहङ्काररहित' हो जाना है।

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरको, उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री, पुत्र, भाई और बन्धु-बान्धवोंको तथा गृह, धन, ऐश्वर्य आदि पदार्थोंको, अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और उन कर्मोंके फलरूप समस्त भोगोंको साधारण मनुष्य अपना समझते हैं; इसी भावका नाम 'ममता' है और इससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'ममतारहित' हो जाना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके चारों प्रश्नोंका उत्तर देनेके अनन्तर अब स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्थितिका महत्त्व बतलाते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

हे अर्जुन ! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है; इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता* और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ भीष्मपर्वणि तु षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २॥ भीष्मपर्वमें छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां तृतीयोऽध्यायः)

ज्ञानयोग और कर्मयोग आदि समस्त साधनोंके अनुसार कर्तव्यकर्म करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन एवं स्वधर्मपालनकी महिमा तथा कामनिरोधके उपायका वर्णन

सम्बन्ध—दूसरे अध्यायमें भगवान्ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (गीता २ । ११) से लेकर 'देही नित्यमवध्योऽयम्' (गीता २ । ३०) तक आत्मतत्त्वका निरूपण करते हुए सांख्ययोगका प्रतिपादन किया और 'बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' (गीता २ । ३९) से लेकर 'तदा योगमवाप्स्यसि' (गीता २ । ५३) तक समबुद्धिरूप कर्मयोगका वर्णन किया । इसके पश्चात् चौवनवें श्लोकसे अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने समबुद्धिरूप कर्मयोगके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुषके लक्षण, आचरण और महत्त्वका प्रतिपादन किया । वहाँ कर्मयोगकी महिमा कहते हुए भगवान्ने सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें कर्मयोगका स्वरूप बतलाकर अर्जुनको कर्म करनेके लिये कहा, उन्चासवेंमें समबुद्धिरूप कर्मयोगकी अपेक्षा सकाम कर्मका स्थान बहुत ही नीचा बतलाया, पचासवेंमें समबुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगमें लगनेके लिये कहा, इक्यावनवेंमें समबुद्धियुक्त ज्ञानी पुरुषको अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी । इस प्रसङ्गको सुनकर अर्जुन उसका यथार्थ अभिप्राय निश्चित नहीं कर सके । 'बुद्धि' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' मान लेनेसे उन्हें भ्रम हो गया, भगवान्के वचनोंमें 'कर्म' की अपेक्षा 'ज्ञान' की प्रशंसा प्रतीत होने लगी एवं वे वचन उनको स्पष्ट न दिखायी देकर मिले हुए-से जान पड़ने लगे । अतएव भगवान्से उनका स्पष्टीकरण करवानेकी और अपने लिये निश्चित श्रेयःसाधन जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! यदि आपको कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे भयंकर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? ॥ १ ॥

किसी अनुकूल वस्तुका अभाव होनेपर मनमें जो ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, उसके बिना काम न चलेगा, इस अपेक्षाका नाम स्पृहा है और इससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'स्पृहारहित' होना है ।

अहङ्कार, ममता और स्पृहा—इन तीनोंसे उपर्युक्त प्रकारसे रहित होकर अपने वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके अनुसार केवल लोकसंग्रहके लिये इन्द्रियोंके विषयोंमें विचरना अर्थात् देखना-सुनना, खाना-पीना, सोना-जागना आदि समस्त शास्त्रविहित चेष्टा करना ही समस्त कामनाओंका त्याग करके अहङ्कार, ममता और स्पृहासे रहित होकर विचरना है ।

* अर्जुनके पूछनेपर पचपनवें श्लोकसे यहाँतक स्थितप्रज्ञ पुरुषकी जिस स्थितिका जगह-जगह वर्णन किया गया है, उसमें सर्वथा निर्विकार और निश्चलभावसे नित्य-निरन्तर निमग्न रहना ही उस स्थितिको प्राप्त होना है ।

ईश्वर क्या है ? संसार क्या है ? माया क्या है ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? मेरा क्या कर्तव्य है ? और क्या कर रहा हूँ ?-आदि विषयोंका यथार्थ ज्ञान न होना ही मोह है, यह मोह जीवको अनादि-कालसे है, इसीके कारण यह इस संसारचक्रमें घूम रहा है । उपर्युक्त ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त पुरुषका यह अनादिसिद्ध मोह समूल नष्ट हो जाता है, अतएव फिर उसकी उत्पत्ति नहीं होती ।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानो मोहित कर रहे हैं।* इसलिये उस एक बातको निश्चित करके कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ ॥ २ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनका निश्चित कर्तव्य भक्तिप्रधान कर्मयोग बतलानेके उद्देश्यसे पहले उनके प्रश्नका उत्तर देते हुए यह दिखलाते हैं कि मेरे वचन 'व्यामिश्र' अर्थात् 'मिले हुए' नहीं हैं वरं सर्वथा स्पष्ट और अलग-अलग हैं—

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरेद्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे† और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे‡ होती है ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको यानी योगनिष्ठाको प्राप्त होता है और न कर्मोंके केवल त्यागमात्रसे सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठाको ही प्राप्त होता है§ ॥४॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय

* भगवान्के वचनोंका तात्पर्य न समझनेके कारण अर्जुनको भी भगवान्के वचन मिले हुए-से प्रतीत होते थे; क्योंकि 'बुद्धियोगकी अपेक्षा कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, तू बुद्धिका ही आश्रय ग्रहण कर' (गीता २ । ४९) इस कथनसे तो अर्जुनने समझा कि भगवान् ज्ञानकी प्रशंसा और कर्मोंकी निन्दा करते हैं और मुझे ज्ञानका आश्रय लेनेके लिये कहते हैं तथा 'बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पापोंको यहीं छोड़ देता है' (गीता २ । ५०) इस कथनसे यह समझा कि पुण्य-पापरूप समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवालेको भगवान् 'बुद्धियुक्त' कहते हैं। इसके विपरीत 'तेरा कर्ममें अधिकार है' (गीता २ । ४७) 'तू योगमें स्थित होकर कर्म कर' (गीता २ । ४८) इन वाक्योंसे अर्जुनने यह बात समझी कि भगवान् मुझे कर्मोंमें नियुक्त कर रहे हैं; इसके सिवा 'निस्त्रैगुण्यो भव' 'आत्मवान् भव' (गीता २ । ४५) आदि वाक्योंसे कर्मका त्याग और 'तस्माद् युध्यस्व भारत' (गीता २ । १८), 'ततो युद्धाय युज्यस्व' (गीता २ । ३८) 'तस्माद् योगाय युज्यस्व' (गीता २ । ५०) आदि वचनोंसे उन्होंने कर्मकी प्रेरणा समझी। इस प्रकार उपर्युक्त वचनोंमें उन्हें विरोध दिखायी दिया।

† प्रकृतिसे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता ३ । २८), मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित हो जाना; किसी भी क्रियामें या उसके फलमें किञ्चिन्मात्र भी अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका न रहना तथा सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अपनेको अभिन्न समझकर निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाना अर्थात् ब्रह्मभूत (ब्रह्मस्वरूप) बन जाना (गीता ५ । २४; ६ । २७)—यह पहली निष्ठा है। इसका नाम ज्ञाननिष्ठा है।

‡ वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जिन कर्मोंका शास्त्रमें विधान है, जिनका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये अवश्यकर्तव्य माना गया है, उन शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक, अपना कर्तव्य समझकर अनुष्ठान करना; उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके प्रत्येक कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें तथा उसके फलमें सदा ही सम रहना (गीता २ । ४७-४८) एवं इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्त न होकर समस्त संकल्पोंका त्याग करके योगारूढ़ हो जाना (गीता ६ । ४)—यह कर्मयोगकी निष्ठा है। तथा परमेश्वरको सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सबके सुहृद् और सबके प्रेरक समझकर और अपनेको सर्वथा उनके अधीन मानकर समस्त कर्म और उनका फल भगवान्के समर्पण करना (गीता ३ । ३०; ९ । २७-२८),उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उनकी पूजा समझकर जैसे वे करवावें, वैसे ही समस्त कर्म करना; उन कर्मोंमें या उनके फलमें किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या कामना न रखना; भगवान्के प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना तथा निरन्तर उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना (गीता १० । ९; १२ । ६; १८ । ५७)—यह भक्तिप्रधान कर्मयोगकी निष्ठा है।

§ कर्मोंका आरम्भ न करने और कर्मोंका त्याग करनेकी बात कहकर अलग-अलग यह भाव दिखाया है कि कर्मयोगीके लिये विहित कर्मोंका न करना योगनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक है; किंतु सांख्ययोगीके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना सांख्यनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक नहीं है, किंतु केवल उसीसे उसे सिद्धि नहीं मिलती, सिद्धिकी प्राप्तिके लिये उसे कर्तापनका त्याग करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदभावसे स्थित होना आवश्यक है। अतएव उसके लिये कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करना मुख्य बात नहीं है, भीतरी त्याग ही प्रधान है और कर्मयोगीके लिये स्वरूपसे कर्मोंका त्याग न करना विधेय है।

प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है* ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता; इसपर यह शङ्का होती है कि इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठसे रोककर भी तो मनुष्य कर्मोका त्याग कर सकता है । इसपर कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जो मूढबुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

किंतु हे अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनने जो यह पूछा था कि आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं, उसके उत्तरमें ऊपरसे कर्मोंका त्याग करनेवाले मिथ्याचारीकी निन्दा और कर्मयोगीकी प्रशंसा करके अब उन्हें कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है† तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म भी तो बन्धनके हेतु माने गये हैं; फिर कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ कैसे है; इसपर कहते हैं—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे बँधता है । इसलिये हे अर्जुन ! तू आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्यकर्म कर ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही कि यज्ञके निमित्त कर्म करनेवाला मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता; इसलिये यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ किसको कहते हैं, उसे क्यों करना चाहिये और उसके लिये कर्म करनेवाला मनुष्य कैसे नहीं बँधता । अतएव इन बातोंको समझानेके लिये भगवान् ब्रह्माजीके वचनोंका प्रमाण देकर कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको

---

* यद्यपि गुणातीत ज्ञानी पुरुषका गुणोंसे या उनके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतः वह गुणोंके वशमें होकर कर्म करता है, यह कहना नहीं बन सकता; तथापि मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिका सङ्घातरूप जो उसका शरीर लोगोंकी दृष्टिमें वर्तमान है, उसके द्वारा उसके और लोगोंके प्रारब्धानुसार क्रियाका होना अनिवार्य है; क्योंकि वह गुणोंका कार्य होनेसे गुणोंसे अतीत नहीं है, बल्कि उस ज्ञानीका शरीरसे सर्वथा अतीत हो जाना ही गुणातीत हो जाना है ।

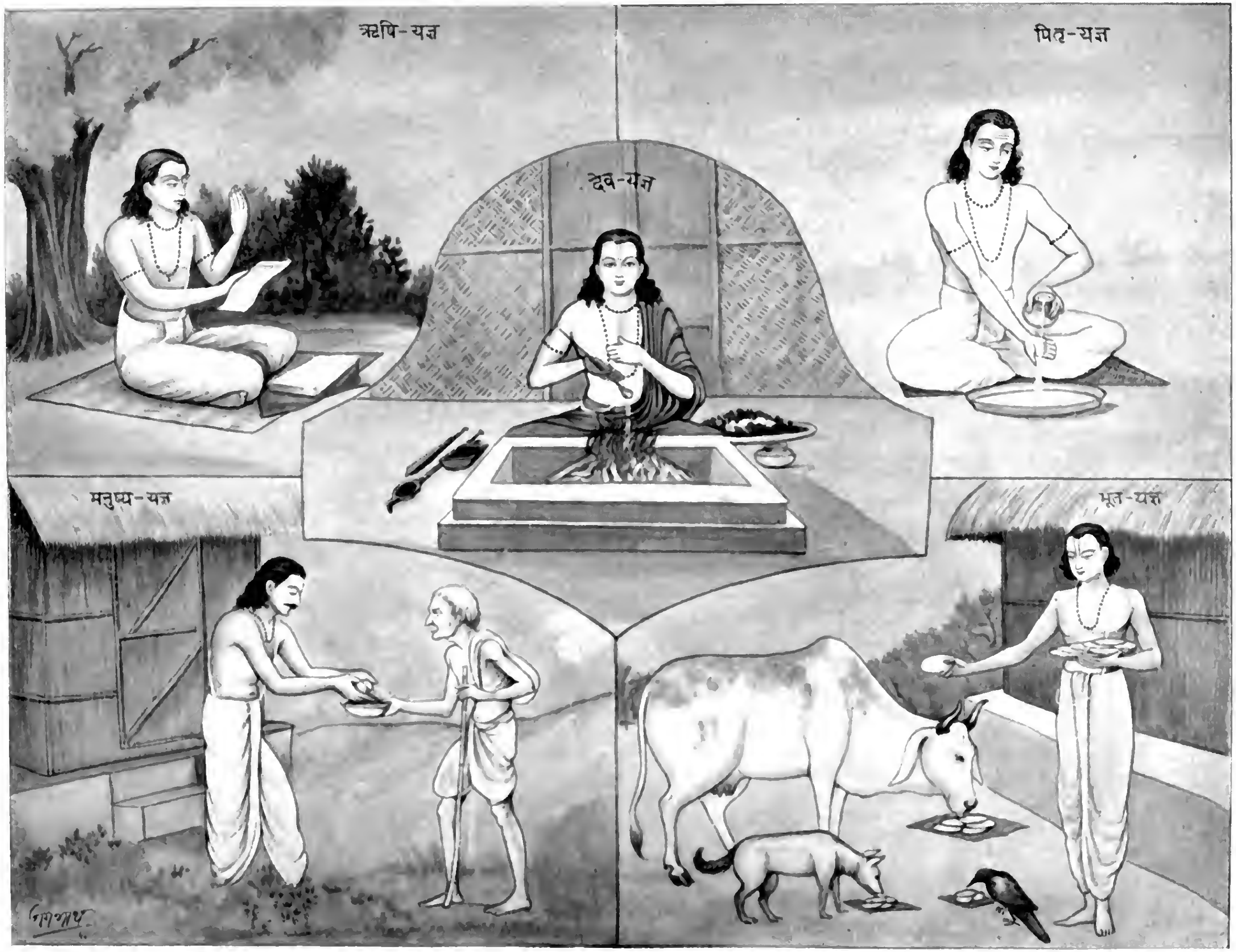
१. यहाँ 'कर्मेन्द्रियाणि' पदका पारिभाषिक अर्थ नहीं है; इसलिये जिनके द्वारा मनुष्य बाहरकी क्रिया करता है अर्थात् शब्दादि विषयोंको ग्रहण करता है, उन श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण तथा वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—इन दसों इन्द्रियोंका वाचक है; क्योंकि गीतामें श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियोंके लिये कहीं भी 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है । इसके सिवा यहाँ कर्मेन्द्रियोंका अर्थ केवल वाणी आदि पाँच इन्द्रियाँ मान लेनेसे श्रोत्र और नेत्र आदि इन्द्रियोंको रोकनेकी बात शेष रह जाती है और उसके रह जानेसे मिथ्याचारीका स्वाँग भी पूरा नहीं बनता; तथा वाणी आदि इन्द्रियोंको रोककर श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा वह क्या करता है, यह बात भी यहाँ बतलानी आवश्यक हो जाती है ।

२. यहाँ 'स विशिष्यते' पदका अभिप्राय कर्मयोगीको पूर्ववर्णित केवल मिथ्याचारीकी अपेक्षा ही श्रेष्ठ बतलाना नहीं है, क्योंकि पूर्वश्लोकमें वर्णित मिथ्याचारी तो आसुरी सम्पदावाला दम्भी है । उसकी अपेक्षा तो सकामभावसे विहित कर्म करनेवाला मनुष्य भी बहुत श्रेष्ठ है; फिर दैवी सम्पदायुक्त कर्मयोगीको मिथ्याचारीकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाना तो किसी वेश्याकी अपेक्षा सती स्त्रीको श्रेष्ठ बतलानेकी भाँति कर्मयोगीकी स्तुतिमें निन्दा करनेके समान है । अतः यहाँ यही मानना ठीक है कि 'स विशिष्यते' से कर्मयोगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर उसकी प्रशंसा की गयी है ।

† इस कथनसे भगवान्‌ने अर्जुनके उस भ्रमका निराकरण किया है, जिसके कारण उन्होंने यह समझ लिया था कि भगवान्‌के मतमें कर्म करनेकी अपेक्षा उनका न करना श्रेष्ठ है । अभिप्राय यह है कि कर्तव्यकर्म करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा कर्तव्यकर्मोंका त्याग करनेसे वह पापका भागी होता है एवं निद्रा, आलस्य और प्रमादमें फँसकर अधोगतिको प्राप्त होता है (गीता १४ । १८); अतः कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना सर्वथा श्रेष्ठ है ।



देवताओं और मनुष्योंको प्रजापतिकी शिक्षा



पञ्च महायज्ञ

रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ* तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो ॥ १० ॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

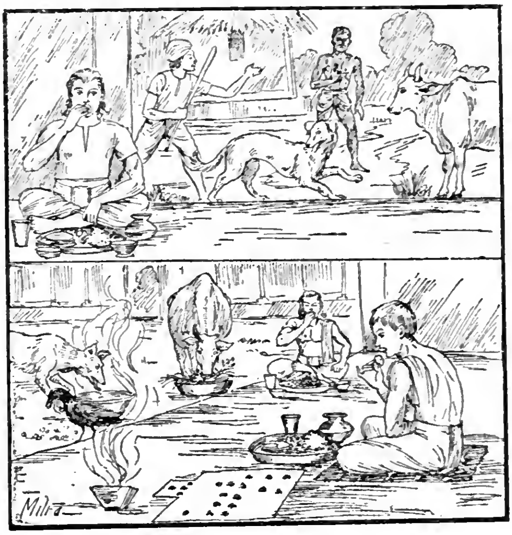
तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे† ॥ ११ ॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है‡ ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।१३।



सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ न करनेसे क्या हानि है; इसपर सृष्टिचक्रको सुरक्षित रखनेके लिये यज्ञकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—

---

* समस्त मनुष्योंके लिये वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके भेदसे भिन्न-भिन्न यज्ञ, दान, तप, प्राणायाम, इन्द्रिय-संयम, अध्ययन-अध्यापन, प्रजापालन, युद्ध, कृषि, वाणिज्य और सेवा आदि कर्तव्यकर्मोंसे सिद्ध होनेवाला जो स्वधर्म है—उसका नाम यज्ञ है।

† इस कथनसे ब्रह्माजीने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार अपने-अपने स्वार्थका त्याग करके एक-दूसरेको उन्नत बनानेके लिये अपने कर्तव्यका पालन करनेसे तुमलोग इस सांसारिक उन्नतिके साथ-साथ परमकल्याणरूप मोक्षको भी प्राप्त हो जाओगे। अभिप्राय यह है कि यहाँ देवताओंके लिये तो ब्रह्माजीका यह आदेश है कि मनुष्य यदि तुमलोगोंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि न करें तो भी तुम कर्तव्य समझकर उनकी उन्नति करो और मनुष्योंके प्रति यह आदेश है कि देवताओं-की उन्नति और पुष्टिके लिये ही स्वार्थत्यागपूर्वक देवताओंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि कर्म करो। इसके सिवा अन्य ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदिको भी निःस्वार्थभावसे स्वधर्मपालनके द्वारा सुख पहुँचाओ।

‡ देवतालोग सृष्टिके आदिकालसे मनुष्योंको सुख पहुँचानेके लिये—उनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके निमित्त पशु, पक्षी, औषध, वृक्ष, तृण आदिके सहित सबकी पुष्टि कर रहे हैं और अन्न, जल, पुष्प, फल, धातु आदि मनुष्योपयोगी समस्त वस्तुएँ मनुष्योंको दे रहे हैं; जो मनुष्य उन सब वस्तुओंको उन देवताओंका ऋण चुकाये बिना—उनका न्यायोचित स्वत्व उन्हें अर्पण किये बिना स्वयं अपने काममें लाता है, वह चोर होता है।

१. सृष्टिकार्यके सुचारुरूपसे संचालनमें और सृष्टिके जीवोंका भलीभाँति भरण-पोषण होनेमें पाँच श्रेणीके प्राणियोंका परस्पर सम्बन्ध है—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणी। इन पाँचोंके सहयोगसे ही सबकी पुष्टि होती है। देवता समस्त संसारको इष्ट भोग देते हैं, ऋषि-महर्षि सबको ज्ञान देते हैं, पितरलोग संतानका भरण-पोषण करते और हित चाहते हैं, मनुष्य कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करते हैं और पशु, पक्षी, वृक्षादि सबके सुखके साधनरूपमें अपनेको समर्पित किये रहते हैं। इन पाँचोंमें योग्यता, अधिकार और साधनसम्पन्न होनेके कारण सबकी पुष्टिका दायित्व मनुष्यपर है। इसीसे मनुष्य शास्त्रीय कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करता है। पञ्चमहायज्ञसे यहाँ लोकसेवारूप शास्त्रीय सत्कर्म ही विवक्षित है। इस दृष्टिसे मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी कमावे, उसमें इन सबका भाग समझे; क्योंकि वह सबकी सहायता और सहयोगसे ही कमाता-खाता है। इसीलिये जो यज्ञ करनेके बाद बचे हुए अन्नको अर्थात् इन सबको उनका प्राप्य भाग देकर उससे बचे हुए अन्नको खाता है, उसीको शास्त्रकार अमृताशी (अमृत खानेवाला) बतलाते हैं।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १४-१५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्र*के अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है† ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

क्योंकि उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्ने बहुत-से हेतु बतलाकर यह बात सिद्ध की कि जबतक मनुष्यको परम श्रेयरूप परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक उसके लिये स्वधर्मका पालन करना अर्थात् अपने वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका अनुष्ठान निःस्वार्थ-भावसे करना अवश्यकर्तव्य है और परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके लिये किसी प्रकारका कर्तव्य न रहनेपर भी उसके मन-इन्द्रियोंद्वारा लोकसंग्रहके लिये प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं। अब उपर्युक्त वर्णनका लक्ष्य कराते हुए भगवान् अर्जुनको अनासक्तभावसे कर्तव्य कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे।‡ इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है§ ॥ २० ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको लोकसंग्रहकी ओर देखते हुए कर्मोंका करना उचित बतलाया; इसपर यह जिज्ञासा

* मनुष्यके द्वारा की जानेवाली शास्त्रविहित क्रियाओंसे यज्ञ होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, पुनः उन प्राणियोंके ही अन्तर्गत मनुष्यके द्वारा किये हुए कर्मोंसे यज्ञ और यज्ञसे वृष्टि होती है। इस तरह यह सृष्टिपरम्परा सदासे चक्रकी भाँति चली आ रही है।

† उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त महापुरुष परमात्माको प्राप्त है, अतएव उसके समस्त कर्तव्य समाप्त हो चुके हैं, वह कृतकृत्य हो गया है; क्योंकि मनुष्यके लिये जितना भी कर्तव्यका विधान किया गया है, उस सबका उद्देश्य केवलमात्र एक परम कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना है; अतएव वह उद्देश्य जिसका पूर्ण हो गया, उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता, उसके कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है।

‡ राजा जनककी भाँति ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही कर्म करनेवाले अश्वपति, इक्ष्वाकु, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि जितने भी महापुरुष हो चुके हैं, वे सब प्रधान-प्रधान महापुरुष आसक्ति-रहित कर्मोंके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे तथा और भी आजतक बहुत-से महापुरुष ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं; यह कोई नयी बात नहीं है। अतः यह परमात्माकी प्राप्तिका स्वतन्त्र और निश्चित मार्ग है, इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है।

इसके अतिरिक्त कर्मोंद्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, उसे परमात्माकी कृपासे तत्त्वज्ञान अपने-आप मिल जाता है (गीता ४। ३८) तथा कर्मयोगयुक्त मुनि तत्काल ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता ५। ६)—इस कथनसे भी इसकी अनादिता सिद्ध होती है।

§ समस्त प्राणियोंके भरण-पोषण और रक्षणका दायित्व मनुष्यपर है; अतः अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और

होती है कि कर्म करनेसे किस प्रकार लोकसंग्रह होता है; अतः यही बात समझानेके लिये कहते हैं—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह जो कुछ प्रमाण कर देता है,* समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

क्योंकि हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं† ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ‡ ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

इसलिये हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे§ ॥ २५ ॥

परिस्थितिके अनुसार कर्तव्यकर्मोंका भलीभाँति आचरण करके जो दूसरे लोगोंको अपने आदर्शके द्वारा दुर्गुण-दुराचारसे हटाकर स्वधर्ममें लगाये रखना है—यही लोकसंग्रह है ।

अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको परम श्रेयरूप परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये तो आसक्तिसे रहित होकर कर्म करना उचित है ही, इसके सिवा लोकसंग्रहके लिये भी मनुष्यको कर्म करते रहना उचित है, उसका त्याग करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है ।

* श्रेष्ठ पुरुष स्वयं आचरण करके और लोगोंको शिक्षा देकर जिस बातको प्रामाणिक कर देता है अर्थात् लोगोंके अन्तःकरणमें विश्वास करा देता है कि अमुक कर्म अमुक मनुष्यको इस प्रकार करना चाहिये, उसीके अनुसार साधारण मनुष्य चेष्टा करने लग जाते हैं ।

† बहुत लोग तो मुझे बड़ा शक्तिशाली और श्रेष्ठ समझते हैं और बहुत-से मर्यादापुरुषोत्तम समझते हैं, इस कारण जिस कर्मको मैं जिस प्रकार करता हूँ, दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी उसे उसी प्रकार करते हैं अर्थात् मेरी नकल करते हैं । ऐसी स्थितिमें यदि मैं कर्तव्यकर्मोंकी अवहेलना करने लगूँ, उनमें सावधानीके साथ विधिपूर्वक न बरतूँ तो लोग भी उसी प्रकार करने लग जायँ और ऐसा करके स्वार्थ और परमार्थ दोनोंसे वञ्चित रह जायँ । अतएव लोगोंको कर्म करनेकी रीति सिखलानेके लिये मैं समस्त कर्मोंमें स्वयं बड़ी सावधानीके साथ विधिवत् बरतता हूँ, कभी कहीं भी जरा भी असावधानी नहीं करता ।

‡ जिस समय कर्तव्यभ्रष्ट हो जानेसे लोगोंमें सब प्रकारकी संकरता फैल जाती है, उस समय मनुष्य भोगपरायण और स्वार्थान्ध होकर भिन्न-भिन्न साधनोंसे एक दूसरेका नाश करने लग जाते हैं, अपने अत्यन्त क्षुद्र और क्षणिक सुखोपभोगके लिये दूसरोंका नाश कर डालनेमें जरा भी नहीं हिचकते । इस प्रकार अत्याचार बढ़ जानेपर उसीके साथ-साथ नयी-नयी दैवी विपत्तियाँ भी आने लगती हैं, जिनके कारण सभी प्राणियोंके लिये आवश्यक खान-पान और जीवनधारणकी सुविधाएँ प्रायः नष्ट हो जाती हैं; चारों ओर महामारी, अनावृष्टि, जल-प्रलय, अकाल, अग्निकोप, भूकम्प और उल्कापात आदि उत्पात होने लगते हैं । इससे समस्त प्रजाका विनाश हो जाता है । अतः भगवान्ने 'मैं समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ' इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया है कि यदि मैं शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दूँ तो मुझे उपर्युक्त प्रकारसे लोगोंको उच्छृङ्खल बनाकर समस्त प्रजाका नाश करनेमें निमित्त बनना पड़े ।

§ स्वाभाविक स्नेह, आसक्ति और भविष्यमें उससे सुख मिलनेकी आशा होनेके कारण माता अपने पुत्रका जिस प्रकार सच्ची हार्दिक लगन, उत्साह और तत्परताके साथ लालन-पालन करती है, उस प्रकार दूसरा कोई नहीं कर सकता; इसी तरह जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनसे प्राप्त होनेवाले भोगोंमें स्वाभाविक आसक्ति होती है और उनका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें जिसका विश्वास होता है, वह जिस प्रकार सच्ची लगनसे श्रद्धा और विधिपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंको साङ्गोपाङ्ग करता है, उस प्रकार जिनकी शास्त्रोंमें श्रद्धा और शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं है, वे मनुष्य नहीं कर सकते । अतएव यहाँ

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥ २६ ॥

परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे; किंतु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे* ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है† ॥

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

परंतु हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला‡ ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९ ॥

प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्द-बुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे§॥

सम्बन्ध—अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान्ने उसे एक निश्चित कल्याणकारक साधन बतलानेके उद्देश्यसे चौथे श्लोकसे लेकर यहाँतक यह बात सिद्ध की कि मनुष्य किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, उसे अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुरूप विहित कर्म करते ही रहना चाहिये । इस बातको सिद्ध करनेके लिये पूर्वश्लोकोंमें भगवान्ने क्रमशः निम्नलिखित बातें कही हैं—

१—कर्म किये बिना नैष्कर्म्यसिद्धिरूप कर्मनिष्ठा नहीं मिलती (गीता ३ । ४) ।

२—कर्मोंका त्याग कर देनेमात्रसे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती (गीता ३ । ४) ।

'यथा' और 'तथा' का प्रयोग करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव होनेपर भी ज्ञानी महात्माओंको केवल लोकसंग्रहके लिये कर्मासक्त मनुष्योंकी भाँति ही शास्त्रविहित कर्मोंका विधि-पूर्वक साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करना चाहिये ।

* मनुष्योंको निष्काम कर्मका और तत्त्वज्ञानका उपदेश देते समय ज्ञानीको इस बातका पूरा खयाल रखना चाहिये कि उसके किसी आचार-व्यवहार और उपदेशसे उनके अन्तःकरणमें कर्तव्यकर्मोंके या शास्त्रादिके प्रति किसी प्रकारकी अश्रद्धा या संशय उत्पन्न न हो जाय; क्योंकि ऐसा हो जानेसे वे जो कुछ शास्त्रविहित कर्मोंका श्रद्धापूर्वक सकामभावसे अनुष्ठान कर रहे हैं, उसका भी ज्ञानके या निष्कामभावके नामपर परित्याग कर देंगे । इस कारण उन्नतिके बदले उनका वर्तमान स्थिति-से भी पतन हो जायगा । अतएव भगवान्के कहनेका यहाँ यह भाव नहीं है कि अज्ञानियोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये या निष्कामभावका तत्त्व नहीं समझाना चाहिये, उनका तो यहाँ यही कहना है कि अज्ञानियोंके मनमें न तो ऐसा भाव उत्पन्न होने देना चाहिये कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये या तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेके बाद कर्म अनावश्यक है, न यही भाव पैदा होने देना चाहिये कि फलकी इच्छा न हो तो कर्म करनेकी जरूरत ही क्या है और न इसी भ्रममें रहने देना चाहिये कि फलासक्तिपूर्वक सकामभावसे कर्म करके स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही बड़े-से-बड़ा पुरुषार्थ है, इससे बढ़कर मनुष्यका और कोई कर्तव्य ही नहीं है; बल्कि अपने आचरण तथा उपदेशोंद्वारा उनके अन्तःकरणसे आसक्ति और कामनाके भावों-को हटाते हुए उनको पूर्ववत् श्रद्धापूर्वक कर्म करनेमें लगाये रखना चाहिये ।

† वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे सम्बन्ध न होनेपर भी अज्ञानी मनुष्य तेईस तत्त्वोंके इस सङ्घातमें आत्माभिमान करके उसके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंसे अपना सम्बन्ध स्थापन करके अपनेको उन कर्मोंका कर्ता मान लेता है—अर्थात् मैं निश्चय करता हूँ, मैं संकल्प करता हूँ, मैं सुनता हूँ, देखता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, सोता हूँ, चलता हूँ—इत्यादि प्रकारसे हरेक क्रियाको अपनेद्वारा की हुई समझता है ।

‡ त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय—इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्पर चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है । इन गुणविभाग और कर्मविभागसे आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है ।

§ कर्मोंमें लगे हुए अधिकारी सकाम मनुष्योंको 'कर्म अत्यन्त ही परिश्रमसाध्य हैं, कर्मोंमें रक्खा ही क्या है, यह जगत् मिथ्या है, कर्ममात्र ही बन्धनके हेतु हैं' ऐसा उपदेश देकर शास्त्रविहित कर्मोंसे हटाना या उनमें उनकी श्रद्धा और रुचि कम कर देना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा करनेसे उनके पतनकी सम्भावना है ।

३–एक क्षणके लिये भी मनुष्य सर्वथा कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता ३ । ५) ।

४–बाहरसे कर्मोंका त्याग करके मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहना मिथ्याचार है (गीता ३ । ६) ।

५–मन-इन्द्रियोंको वशमें करके निष्कामभावसे कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है (गीता ३ । ७) ।

६–कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है (गीता ३।८)।

७–बिना कर्म किये शरीरनिर्वाह भी नहीं हो सकता (गीता ३ । ८) ।

८–यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्म बन्धन करनेवाले नहीं, बल्कि मुक्तिके कारण हैं (गीता ३ । ९) ।

९–कर्म करनेके लिये प्रजापतिकी आज्ञा है और निःस्वार्थभावसे उसका पालन करनेसे श्रेयकी प्राप्ति होती है (गीता ३ । १०-११) ।

१०–कर्तव्यका पालन किये बिना भोगोंका उपभोग करनेवाला चोर है (गीता ३ । १२) ।

११–कर्तव्य-पालन करके यज्ञशेषसे शरीरनिर्वाहके लिये भोजनादि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है (गीता ३ । १३) ।

१२–जो यज्ञादि न करके केवल शरीरपालनके लिये भोजन पकाता है, वह पापी है (गीता ३ । १३) ।

१३–कर्तव्य-कर्मके त्यागद्वारा सृष्टिचक्रमें बाधा पहुँचानेवाले मनुष्यका जीवन व्यर्थ और पापमय है (गीता ३ । १६) ।

१४–अनासक्तभावसे कर्म करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है (गीता ३ । १९) ।

१५–पूर्वकालमें जनकादिने भी कर्मोंद्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी (गीता ३ । २०) ।

१६–दूसरे मनुष्य श्रेष्ठ महापुरुषका अनुकरण करते हैं, इसलिये श्रेष्ठ महापुरुषको कर्म करना चाहिये (गीता ३ । २१) ।

१७–भगवान्‌को कुछ भी कर्तव्य नहीं है, तो भी वे लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हैं (गीता ३ । २२) ।

१८–ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, तो भी उसे लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये (गीता ३ । २५) ।

१९–ज्ञानीको स्वयं विहित कर्मोंका त्याग करके या कर्मत्यागका उपदेश देकर किसी प्रकार भी लोगोंको कर्तव्यकर्मसे विचलित न करना चाहिये वरं स्वयं कर्म करना और दूसरोंसे करवाना चाहिये (गीता ३ । २६) ।

२०–ज्ञानी महापुरुषको उचित है कि विहित कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करनेका उपदेश देकर कर्मासक्त मनुष्योंको विचलित न करे (गीता ३ । २९) ।

इस प्रकार कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करके अब भगवान् अर्जुनकी दूसरे श्लोकमें की हुई प्रार्थनाके अनुसार उसे परम कल्याणकी प्राप्तिका ऐकान्तिक और सर्वश्रेष्ठ निश्चित साधन बतलाते हुए युद्धके लिये आज्ञा देते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके* आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

परंतु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि भगवान्‌के मतके अनुसार न चलनेवाला नष्ट हो जाता है । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यदि कोई भगवान्‌के मतके अनुसार कर्म न करके हठपूर्वक कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे तो क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

* सर्वान्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और स्वरूपको समझकर उनपर विश्वास करनेवाले और निरन्तर सर्वत्र उनका चिन्तन करते रहनेवाले चित्तके द्वारा जो भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर तथा परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय, परम सुहृद् और परम दयालु समझकर, अपने अन्तःकरण और इन्द्रियोंसहित शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और जगत्‌के समस्त पदार्थोंको भगवान्‌के जानकर उन सबमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरेद्वारा अपने इच्छानुसार यथायोग्य समस्त कर्म करवा रहे हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—इस प्रकार अपनेको सर्वथा भगवान्‌के अधीन समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये उन्हींकी प्रेरणासे जैसे वे करावें वैसे ही समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना, उन कर्मोंसे या उनके फलसे किसी प्रकारका भी अपना मानसिक सम्बन्ध न रखकर सब कुछ भगवान्‌का समझना—यही 'अध्यात्मचित्तसे समस्त कर्मोंको भगवान्‌में समर्पण कर देना' है ।

सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं*। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा?॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सबको प्रकृतिके अनुसार कर्म करने पड़ते हैं, तो फिर कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न† करनेवाले महान् शत्रु हैं॥ ३४ ॥

सम्बन्ध—यहाँ अर्जुनके मनमें यह बात आ सकती है कि मैं यह युद्धरूप घोर कर्म न करके यदि भिक्षावृत्तिसे अपना निर्वाह करता हुआ शान्तिमय कर्मोंमें लगा रहूँ तो सहज ही राग-द्वेषसे छूट सकता हूँ; फिर आप मुझे युद्ध करनेके लिये आज्ञा क्यों दे रहे हैं; इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुण-रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है‡। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है§ और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है॥

सम्बन्ध—मनुष्यका स्वधर्मपालन करनेमें ही कल्याण है, परधर्मका सेवन और निषिद्ध कर्मोंका आचरण करनेमें सब प्रकारसे हानि है। इस बातको भलीभाँति समझ लेनेके बाद भी मनुष्य अपने इच्छा, विचार और धर्मके विरुद्ध पापाचारमें किस कारण प्रवृत्त हो जाते हैं? इस बातको जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

---

*इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस प्रकार समस्त नदियोंका जल जो स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर बहता है, उसके प्रवाहको हठपूर्वक रोका नहीं जा सकता; उसी प्रकार समस्त प्राणी अपनी-अपनी प्रकृतिके अधीन होकर प्रकृतिके प्रवाहमें पड़े हुए प्रकृतिकी ओर जा रहे हैं; इसलिये कोई भी मनुष्य हठपूर्वक सर्वथा कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता। हाँ, जिस तरह नदीके प्रवाहको एक ओरसे दूसरी ओर घुमा दिया जा सकता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने उद्देश्यका परिवर्तन करके उस प्रवाहकी चालको बदल सकता है यानी राग-द्वेषका त्याग करके उन कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक बना सकता है।

† जिस प्रकार अपने निश्चित स्थानपर जानेके लिये राह चलनेवाले किसी मुसाफिरको मार्गमें विघ्न करनेवाले लुटेरोंसे भेंट हो जाय और वे मित्रताका-सा भाव दिखलाकर और उसके साथी गाड़ीवान आदिसे मिलकर उनके द्वारा उसकी विवेकशक्तिमें भ्रम उत्पन्न कराकर उसे मिथ्या सुखोंका प्रलोभन देकर अपनी बातोंमें फँसा लें और उसे अपने गन्तव्य स्थानकी ओर न जाने देकर उसके विपरीत जंगलमें ले जायँ और उसका सर्वस्व लूटकर उसे गहरे गड्ढेमें गिरा दें, उसी प्रकार ये राग-द्वेष कल्याणमार्गमें चलनेवाले साधकसे भेंट करके मित्रताका भाव दिखलाकर उसके मन और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट हो जाते हैं और उसकी विवेकशक्तिको नष्ट करके तथा उसे सांसारिक विषयभोगोंके सुखका प्रलोभन देकर पापाचारमें प्रवृत्त कर देते हैं। इससे उसका साधन-क्रम नष्ट हो जाता है और पापोंके फलस्वरूप उसे घोर नरकोंमें पड़कर भयानक दुःखोंका उपभोग करना होता है।

‡ वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी बहुलता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म अधिक गुणयुक्त हैं। अतः यह भाव समझना चाहिये कि जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किंतु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों, वैसे परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म ही अति उत्तम है। जैसे देखनेमें कुरूप और गुणहीन होनेपर भी अपने पतिका सेवन करना ही स्त्रीके लिये कल्याणप्रद है, उसी प्रकार देखनेमें सद्गुणोंसे हीन होनेपर तथा अनुष्ठानमें अङ्ग-वैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है; फिर जो स्वधर्म सर्वगुणसम्पन्न है और जिसका साङ्गोपाङ्ग पालन किया जाता है, उसके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

§ किसी प्रकारकी आपत्ति आनेपर मनुष्य अपने धर्मसे न डिगे और उसके कारण उसका मरण हो जाय तो वह मरण भी उसके लिये कल्याण करनेवाला हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है,* इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ॥ ३७ ॥

सम्बन्ध—यहाँ जिज्ञासा होती है कि यह काम मनुष्यको किस प्रकार पापोंमें प्रवृत्त करता है । अतः तीन श्लोकोंद्वारा इसका समाधान करते हैं—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जिस प्रकार धूएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है† ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

और हे अर्जुन ! इस अग्निके समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य वैरीके‡ द्वारा मनुष्यका ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं । यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है§ ॥ ४० ॥

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले× महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल ॥ ४१ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें इन्द्रियोंको वशमें करके कामरूप शत्रुको मारनेके लिये कहा गया । इसपर यह शङ्का होती है कि जब इन्द्रियः मन और बुद्धिपर कामका अधिकार है और उनके द्वारा कामने जीवात्माको मोहित कर रक्खा है, तब ऐसी

---

* मनुष्यको बिना इच्छा पापोंमें नियुक्त करनेवाला न तो प्रारब्ध है और न ईश्वर ही है, यह काम ही इस मनुष्यको नाना प्रकारके भोगोंमें आसक्त करके उसे बलात्कारसे पापोंमें प्रवृत्त करता है; इसलिये यह महान् पापी है ।

† इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि यह काम ही मल, विक्षेप और आवरण—इन तीनों दोषोंके रूपमें परिणत होकर मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित किये रहता है । यहाँ धूएँके स्थानमें 'विक्षेप' को समझना चाहिये । जिस प्रकार धूआँ चञ्चल होते हुए भी अग्निको ढक लेता है, उसी प्रकार 'विक्षेप' चञ्चल होते हुए भी ज्ञानको ढके रहता है; क्योंकि बिना एकाग्रताके अन्तःकरणमें ज्ञानशक्ति प्रकाशित नहीं हो सकती, वह दबी रहती है । मैलके स्थानमें 'मल' दोषको समझना चाहिये । जैसे दर्पणपर मैल जम जानेसे उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार पापोंके द्वारा अन्तःकरणके अत्यन्त मलिन हो जानेपर उसमें वस्तु या कर्तव्यका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता । इस कारण मनुष्य उसका यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता । एवं जेरके स्थानमें 'आवरण' को समझना चाहिये । जैसे जेरसे गर्भ सर्वथा आच्छादित रहता है, उसका कोई अंश भी दिखलायी नहीं देता, वैसे ही आवरणसे ज्ञान सर्वथा ढका रहता है । जिसका अन्तःकरण अज्ञानसे मोहित रहता है, वह मनुष्य निद्रा और आलस्यादिके सुखमें फँसकर किसी प्रकारका विचार करनेमें प्रवृत्त ही नहीं होता ।

‡ यहाँ 'ज्ञानी' शब्द यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले विवेकशील साधकोंका वाचक है । यह कामरूप शत्रु उन साधकोंके अन्तःकरणमें विवेक, वैराग्य और निष्कामभावको स्थिर नहीं होने देता, उनके साधनमें बाधा उपस्थित करता रहता है । इस कारण इसको ज्ञानियोंका 'नित्य वैरी' बतलाया गया है ।

§ यह 'काम' मनुष्यके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होकर उसकी विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है और भोगोंमें सुख दिखलाकर उसे पापोंमें प्रवृत्त कर देता है, जिससे मनुष्यका अधःपतन हो जाता है । इसलिये शीघ्र ही सचेत हो जाना चाहिये ।

× भगवान्‌के निर्गुण-निराकार तत्त्वके प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'ज्ञान' तथा सगुण-निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'विज्ञान' कहते हैं । इस ज्ञान और विज्ञानकी यथार्थ प्राप्तिके लिये हृदयमें जो आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है, उसको यह महान् कामरूप

स्थितिमें वह इन्द्रियोंको वशमें करके कामको कैसे मार सकता है ? इसपर कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है* ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके† हे महाबाहो ! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ भीष्मपर्वणि तु सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥ भीष्मपर्वमें सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

शत्रु अपनी मोहिनी शक्तिके द्वारा नित्य-निरन्तर दबाता रहता है अर्थात् उस आकाङ्क्षाकी जागृतिसे उत्पन्न ज्ञान-विज्ञानके साधनोंमें बाधा पहुँचाता रहता है, इसी कारण ये प्रकट नहीं हो पाते, इसीलिये कामको उनका नाश करनेवाला बतलाया गया है।

* आत्मा सबका आधार, कारण, प्रकाशक और प्रेरक तथा सूक्ष्म, व्यापक, श्रेष्ठ, बलवान् और नित्य चेतन होनेके कारण उसे 'अत्यन्त पर' कहा गया है।

१. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीव—इन सभीका वाचक आत्मा है। उनमेंसे सर्वप्रथम इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये इकतालीसवें श्लोकमें कहा जा चुका है। शरीर इन्द्रियोंके अन्तर्गत आ ही गया, जीवात्मा स्वयं वशमें करनेवाला है। अब बचे मन और बुद्धि, बुद्धिको मनसे बलवान् कहा है; अतः इसके द्वारा मनको वशमें किया जा सकता है। इसीलिये 'आत्मानम्'का अर्थ 'मन' और 'आत्मना'का अर्थ 'बुद्धि' किया गया है।

† भगवान‌ने गीताके छठे अध्यायमें मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय बतलाये हैं (गीता ६। ३५)। प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें मनुष्यका स्वाभाविक राग-द्वेष रहता है, विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होते समय जब-जब राग-द्वेषका अवसर आवे, तब-तब बड़ी सावधानीके साथ बुद्धिसे विचार करते हुए राग-द्वेषके वशमें न होनेकी चेष्टा रखनेसे शनैः-शनैः राग-द्वेष कम होते चले जाते हैं। यहाँ बुद्धिसे विचारकर इन्द्रियोंके भोगोंमें दुःख और दोषोंका बार-बार दर्शन कराकर मनकी उनमें अरुचि उत्पन्न कराना 'वैराग्य' है और व्यवहारकालमें स्वार्थके त्यागकी और ध्यानके समय मनको परमेश्वरके चिन्तनमें लगानेकी चेष्टा रखना और मनको भोगोंकी प्रवृत्तिसे हटाकर परमेश्वरके चिन्तनमें बार-बार नियुक्त करना 'अभ्यास' है।

अवश्य ही आत्मामें अनन्त बल है, वह कामको मार सकता है। वस्तुतः उसीके बलको पाकर सब बलवान् और क्रियाशील होते हैं; परंतु वह अपने महान् बलको भूल रहा है और जैसे प्रबल शक्तिशाली सम्राट् अज्ञानवश अपने बलको भूलकर अपनी अपेक्षा सर्वथा बलहीन क्षुद्र नौकर-चाकरोंके अधीन होकर उनकी हाँमें हाँ मिला देता है, वैसे ही आत्मा भी अपनेको बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अधीन मानकर उनके कामप्रेरित उच्छृङ्खलतापूर्ण मनमाने कार्योंमें मूक अनुमति दे रहा है। इसीसे उन बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अंदर छिपा हुआ काम जीवात्माको विषयोंका प्रलोभन देकर उसे संसारमें फँसाता रहता है। अतएव यह आवश्यक है कि आत्मा अपने स्वरूपको और अपनी शक्तिको पहचानकर बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको वशमें करे। अन्तमें इनको वशमें कर लेनेपर काम सहज ही मर सकता है। कामको मारनेका वस्तुतः अक्रिय आत्माके लिये यही तरीका है। इसलिये बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके कामको मारना चाहिये।



सूर्यके प्रति नारायणका उपदेश

अष्टाविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्थोऽध्यायः)

सगुण भगवान्‌के प्रभाव, निष्काम कर्मयोग तथा योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमाका वर्णन करते हुए विविध यज्ञों एवं ज्ञानकी महिमाका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकसे लेकर उन्तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने बहुत प्रकारसे विहित कर्मोंके आचरणकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके तीसवें श्लोकमें अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोगकी विधिसे ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके भगवदर्पणबुद्धिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी। उसके बाद इकतीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक उस सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेवालोंकी प्रशंसा और न करनेवालोंकी निन्दा करके राग-द्वेषके वशमें न होनेके लिये कहते हुए स्वधर्मपालनपर जोर दिया। फिर छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनके पूछनेपर सैंतीसवेंसे अध्याय-समाप्तिपर्यन्त कामको सारे अनर्थोंका हेतु बतलाकर बुद्धिके द्वारा इन्द्रियों और मनको वशमें करके उसे मारनेकी आज्ञा दी; परंतु कर्मयोगका तत्त्व बड़ा ही गहन है, इसलिये अब भगवान् पुनः उसके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें बतलानेके उद्देश्यसे उसीका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले तीन श्लोकोंमें उस कर्मयोगकी परम्परा बतलाकर उसकी अनादिता सिद्ध करते हुए प्रशंसा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं[1] प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा॥ १॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ २॥

हे परंतप अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना; किंतु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया*॥ २॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखनेयोग्य विषय है†॥ ३॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो अर्वाचीन—अभी हालका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्पके आदिमें हो चुका था; तब मैं इस बातको कैसे समझूँ कि आपहीने कल्पके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था?॥ ४॥

---

१. गीताके दूसरे अध्यायके उन्चालीसवें श्लोकमें कर्मयोगका वर्णन आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्‌ने उस अध्यायके अन्ततक कर्मयोगका ही भलीभाँति प्रतिपादन किया। उसके बाद भी तीसरे अध्यायके अन्ततक प्रायः कर्मयोगका ही अङ्ग प्रत्यङ्गोंसहित प्रतिपादन किया गया। इसके सिवा इस योगकी परम्परा बतलाते हुए भगवान्‌ने यहाँ जिन 'सूर्य' और 'मनु' आदिके नाम गिनाये हैं, वे सभी गृहस्थ और कर्मयोगी ही हैं। इससे भी यहाँ 'योगम्' पदको कर्मयोगका ही वाचक मानना उपयुक्त मालूम होता है।

* परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं—सभी नित्य हैं; इनका कभी अभाव नहीं होता। जब परमेश्वर नित्य हैं, तब उनकी प्राप्तिके लिये उन्हींके द्वारा निश्चित किये हुए अनादि नियम अनित्य नहीं हो सकते। जब-जब जगत्‌का प्रादुर्भाव होता है, तब-तब भगवान्‌के समस्त नियम भी साथ-ही-साथ प्रकट हो जाते हैं और जब जगत्‌का प्रलय होता है, उस समय नियमोंका भी तिरोभाव हो जाता है; परंतु उनका अभाव कभी नहीं होता। इस प्रकार इस कर्मयोगकी अनादिता सिद्ध करनेके लिये पूर्वश्लोकमें उसे अविनाशी कहा गया है। अतएव इस श्लोकमें जो यह बात कही गयी कि वह योग बहुत कालसे नष्ट हो गया है—इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि बहुत समयसे इस पृथ्वीलोकमें उसका तत्त्व समझनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंका अभाव-सा हो गया है, इस कारण वह अप्रकाशित हो गया है, उसका इस लोकमें तिरोभाव हो गया है; यह नहीं कि उसका अभाव हो गया है।

† इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह योग सब प्रकारके दुःखोंसे और बन्धनोंसे छुड़ाकर परमानन्दस्वरूप मुझ परमेश्वरको सुगमतापूर्वक प्राप्त करा देनेवाला है, इसलिये अत्यन्त ही उत्तम और बहुत ही गोपनीय है; इसके सिवा इसका यह भाव भी है कि अपनेको सूर्यादिके प्रति इस योगका उपदेश करनेवाला बतलाकर और वही योग मैंने तुझसे कहा है, तू मेरा भक्त है—यह कहकर मैंने जो अपना ईश्वरभाव प्रकट किया है, यह बड़े रहस्यकी बात है।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—हे परंतप अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं*। उन सबको तू नहीं जानता, किंतु मैं जानता हूँ॥ ५॥

सम्बन्ध—भगवान्‌के मुखसे यह बात सुनकर कि अबतक मेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, यह जाननेकी इच्छा होती है कि आपका जन्म किस प्रकार होता है और आपके जन्ममें तथा अन्य लोगोंके जन्ममें क्या भेद है। अतएव इस बातको समझानेके लिये भगवान् अपने जन्मका तत्त्व बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ† ॥ ६॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे उनके जन्मका तत्त्व सुननेपर यह जिज्ञासा होती है कि आप किस-किस समय और किन-किन कारणोंसे इस प्रकार अवतार धारण करते हैं। इसपर भगवान् दो श्लोकोंमें अपने अवतारके अवसर, हेतु और उद्देश्य बतलाते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है,‡ तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ॥ ७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे

---

* यहाँ भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं और तुम अभी हुए हैं, पहले नहीं थे—ऐसी बात नहीं है। हमलोग अनादि और नित्य हैं। मेरा नित्य स्वरूप तो है ही; उसके अतिरिक्त मैं अनेक रूपोंमें पहले प्रकट हो चुका हूँ। इसलिये मैंने जो यह बात कही है कि यह योग पहले सूर्यसे मैंने ही कहा था, इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि कल्पके आदिमें मैंने नारायणरूपसे सूर्यको यह योग कहा था।

१. भगवान्‌की शक्तिरूपा जो मूलप्रकृति है, जिसका वर्णन गीताके नवम अध्यायके सातवें और आठवें श्लोकोंमें किया गया है और जिसे चौदहवें अध्यायमें 'महद्ब्रह्म' कहा गया है, उसी 'मूलप्रकृति' का वाचक यहाँ 'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद है। तथा भगवान् अपनी जिस योगशक्तिसे समस्त जगत्‌को धारण किये हुए हैं, जिस असाधारण शक्तिसे वे नाना प्रकारके रूप धारण करके लोगोंके सम्मुख प्रकट होते हैं और जिसमें छिपे रहनेके कारण लोग उनको पहचान नहीं सकते—उसका वाचक यहाँ 'आत्ममायया' पद है।

† इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यद्यपि मैं अजन्मा और अविनाशी हूँ—वास्तवमें मेरा जन्म और विनाश कभी नहीं होता, तो भी मैं साधारण व्यक्तिकी भाँति जन्मता और विनष्ट होता-सा प्रतीत होता हूँ; इसी तरह समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी एक साधारण व्यक्ति-सा ही प्रतीत होता हूँ। अभिप्राय यह है कि मेरे अवतार-तत्त्वको न समझनेवाले लोग जब मैं मत्स्य, कच्छप, वराह और मनुष्यादि रूपमें प्रकट होता हूँ, तब मेरा जन्म हुआ मानते हैं और जब मैं अन्तर्धान हो जाता हूँ, उस समय मेरा विनाश समझ लेते हैं तथा जब मैं उस रूपमें दिव्य लीला करता हूँ, तब मुझे अपने-जैसा ही साधारण व्यक्ति समझकर मेरा तिरस्कार करते हैं (गीता ९। ११)। वे बेचारे इस बातको नहीं समझ पाते कि ये सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही जगत्‌का कल्याण करनेके लिये इस रूपमें प्रकट होकर दिव्य लीला कर रहे हैं; क्योंकि मैं उस समय अपनी योगमायाके परदेमें छिपा रहता हूँ (गीता ७। २५)।

‡ ऋषिकल्प, धार्मिक, ईश्वरप्रेमी, सदाचारी पुरुषों तथा निरपराधी, निर्बल प्राणियोंपर बलवान् और दुराचारी मनुष्योंका अत्याचार बढ़ जाना तथा उसके कारण लोगोंमें सद्गुण और सदाचारका अत्यन्त ह्रास होकर दुर्गुण और दुराचारका अधिक फैल जाना ही धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धिका स्वरूप है।

२. जो पुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि समस्त सामान्य धर्मोंका तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्यापन, प्रजापालन आदि अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका भलीभाँति पालन करते हैं; दूसरोंका हित करना ही जिनका स्वभाव है; जो सद्गुणोंके भण्डार और सदाचारी हैं तथा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीलादिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करनेवाले भक्त हैं—उनका वाचक यहाँ 'साधु' शब्द है।

३. जो मनुष्य निरपराध, सदाचारी और भगवान्‌के भक्तोंपर अत्याचार करनेवाले हैं, जो झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुर्गुण और दुराचारोंके भण्डार हैं, जो नाना प्रकारसे अन्याय करके धनका संग्रह करनेवाले तथा नास्तिक

स्थापना करनेके लिये* मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ† ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है‡ वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता; किंतु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

हैं; भगवान् और वेद-शास्त्रोंका विरोध करना ही जिनका स्वभाव हो गया है—ऐसे आसुर स्वभाववाले दुष्ट पुरुषोंका वाचक यहाँ 'दुष्कृताम्' पद है ।

* स्वयं शास्त्रानुकूल आचरण कर, विभिन्न प्रकारसे धर्मका महत्त्व दिखलाकर और लोगोंके हृदयोंमें प्रवेश करनेवाली अप्रतिम प्रभावशालिनी वाणीके द्वारा उपदेश-आदेश देकर सबके अन्तःकरणमें वेद, शास्त्र, परलोक, महापुरुष और भगवान्पर श्रद्धा उत्पन्न कर देना तथा सद्गुणोंमें और सदाचारोंमें विश्वास तथा प्रेम उत्पन्न करवाकर लोगोंमें इन सबको दृढ़तापूर्वक भलीभाँति धारण करा देना आदि सभी बातें धर्मकी स्थापनाके अन्तर्गत हैं ।

† यद्यपि भगवान् बिना ही अवतार लिये अनायास ही सब कुछ कर सकते हैं और करते भी हैं ही; किंतु लोगोंपर विशेष दया करके अपने दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा सुगमतासे लोगोंको उद्धारका सुअवसर देनेके लिये एवं अपने प्रेमी भक्तोंका अपनी दिव्य लीलादिका आस्वादन करानेके लिये भगवान् साकाररूपसे प्रकट होते हैं । उन अवतारोंमें धारण किये हुए रूपका तथा उनके गुण, प्रभाव, नाम, माहात्म्य और दिव्य कर्मोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके लोग सहज ही संसार-समुद्रसे पार हो सकते हैं । यह काम बिना अवतारके नहीं हो सकता ।

‡ सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमेश्वर वास्तवमें जन्म और मृत्युसे सर्वथा अतीत हैं । उनका जन्म जीवोंकी भाँति नहीं है । वे अपने भक्तोंपर अनुग्रह करके अपनी दिव्य लीलाओंके द्वारा उनके मनको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये, दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा उनको सुख पहुँचानेके लिये, संसारमें अपनी दिव्य कीर्ति फैलाकर उसके श्रवण, कीर्तन और स्मरणद्वारा लोगोंके पापोंका नाश करनेके लिये तथा जगत्में पापाचारियोंका विनाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिये जन्म-धारणकी केवल लीलामात्र करते हैं । उनका वह जन्म निर्दोष और अलौकिक है । जगत्का कल्याण करनेके लिये ही भगवान् इस प्रकार मनुष्यादिके रूपमें लोगोंके सामने प्रकट होते हैं; उनका वह विग्रह प्राकृत उपादानोंसे बना हुआ नहीं होता—वह दिव्य, चिन्मय, प्रकाशमान, शुद्ध और अलौकिक होता है; उनके जन्ममें गुण और कर्म-संस्कार हेतु नहीं होते; वे मायाके वशमें होकर जन्म-धारण नहीं करते, किंतु अपनी प्रकृतिके अधिष्ठाता होकर योगशक्तिसे मनुष्यादिके रूपमें केवल लोगोंपर दया करके ही प्रकट होते हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना ही भगवान्के जन्मको तत्त्वसे दिव्य समझना है ।

भगवान् सृष्टि-रचना और अवतार-लीलादि जितने भी कर्म करते हैं, उनमें उनका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है; केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही वे मनुष्यादि अवतारोंमें नाना प्रकारके कर्म करते हैं (गीता ३ । २२-२३) । भगवान् अपनी प्रकृतिद्वारा समस्त कर्म करते हुए भी उन कर्मोंके प्रति कर्तृत्वभाव न रहनेके कारण वास्तवमें न तो कुछ भी करते हैं और न उनके बन्धनमें पड़ते हैं; भगवान्को उन कर्मोंके फलमें किंचिन्मात्र भी स्पृहा नहीं होती (गीता ४ । १३-१४) । भगवान्के द्वारा जो कुछ भी चेष्टा होती है, लोकहितार्थ ही होती है (गीता ४ । ८); उनके प्रत्येक कर्ममें लोगोंका हित भरा रहता है । वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी होते हुए भी सर्वसाधारणके साथ अभिमानरहित दया और प्रेमपूर्ण समताका व्यवहार करते हैं (गीता ९ । २९); जो कोई मनुष्य जिस प्रकार उनको भजता है, वे स्वयं उसे उसी प्रकार भजते हैं (गीता ४ । ११); अपने अनन्यभक्तोंका योगक्षेम भगवान् स्वयं चलाते हैं (गीता ९ । २२), उनको दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं (गीता १० । १०-११) और भक्तिरूपी नौकापर बैठे हुए भक्तोंका संसारसमुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेके लिये स्वयं उनके कर्णधार बन जाते हैं (गीता १२ । ७) । इस प्रकार भगवान्के समस्त कर्म आसक्ति, अहङ्कार और कामनादि दोषोंसे सर्वथा रहित निर्मल और शुद्ध तथा केवल लोगोंका कल्याण करने एवं नीति, धर्म, शुद्ध प्रेम और भक्ति आदिका जगत्में प्रचार करनेके लिये ही होते हैं; इन सब कर्मोंको करते हुए भी भगवान्का वास्तवमें उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वे उनसे सर्वथा अतीत और अकर्ता हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना, इसमें किंचिन्मात्र भी असम्भावना या विपरीत भावना न रहकर पूर्ण विश्वास हो जाना ही भगवान्के कर्मोंको तत्त्वसे दिव्य समझना है ।

१. भगवान्में अनन्य प्रेम हो जानेके कारण जिनको सर्वत्र एक भगवान्-ही-भगवान् दीखने लग जाते हैं, उनका वाचक 'मन्मयाः' पद है ।

२. जो भगवान्की शरण ग्रहण कर लेते हैं, सर्वथा उनपर निर्भर हो जाते हैं, सदा उनमें ही संतुष्ट रहते हैं, जिनका

पहले भी जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं* ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ;† क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ‡ ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—यदि यह बात है, तो फिर लोग भगवान्‌को न भजकर अन्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं ? इसपर कहते हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है ।§ इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर

अपने लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता और जो सब कुछ भगवान्‌का समझकर उनकी आज्ञाका पालन करनेके उद्देश्यसे उनकी सेवाके रूपमें ही समस्त कर्म करते हैं—ऐसे पुरुषोंका वाचक 'मामुपाश्रिताः' पद है ।

* यहाँ सांख्ययोगका प्रसङ्ग नहीं है, भक्तिका प्रकरण है तथा पूर्वश्लोकमें भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझनेका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है; उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है । इस कारण यहाँ 'ज्ञानतपसा' पदमें ज्ञानका अर्थ आत्मज्ञान न मानकर भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझ लेनारूप ज्ञान ही माना गया है । इस ज्ञानरूप तपके प्रभावसे मनुष्यका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है, उसके समस्त पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं, अन्तःकरणमें सब प्रकारके दुर्गुणोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और समस्त कर्म भगवान्‌के कर्मोंकी भाँति दिव्य हो जाते हैं तथा वह कभी भगवान्‌से अलग नहीं होता, उसको भगवान् सदा ही प्रत्यक्ष रहते हैं—यही उन भक्तोंका ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाना है ।

† इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे भक्तोंके भजनके प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं । अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भक्त मेरे पृथक्-पृथक् रूप मानते हैं और अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मेरा भजन-स्मरण करते हैं, अतएव मैं भी उनको उनकी भावनाके अनुसार उन-उन रूपोंमें ही दर्शन देता हूँ तथा वे जिस प्रकार जिस-जिस भावसे मेरी उपासना करते हैं, मैं उनके उस-उस प्रकार और उस-उस भावका ही अनुसरण करता हूँ । जो मेरा चिन्तन करता है उसका मैं चिन्तन करता हूँ, जो मेरे लिये व्याकुल होता है उसके लिये मैं भी व्याकुल हो जाता हूँ, जो मेरा वियोग सहन नहीं कर सकता मैं भी उसका वियोग नहीं सहन कर सकता । जो मुझे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है मैं भी उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता हूँ । जो ग्वाल-बालोंकी भाँति मुझे अपना सखा मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ मैं मित्रके-जैसा व्यवहार करता हूँ । जो नन्द-यशोदाकी भाँति पुत्र मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ पुत्रके-जैसा बर्ताव करके उनका कल्याण करता हूँ । इसी प्रकार रुक्मिणीकी तरह पति समझकर भजनेवालोंके साथ पति-जैसा, हनुमान्‌की भाँति स्वामी समझकर भजनेवालोंके साथ स्वामी-जैसा और गोपियोंकी भाँति माधुर्यभावसे भजनेवालोंके साथ प्रियतम-जैसा बर्ताव करके मैं उनका कल्याण करता हूँ और उनको दिव्य लीला-रसका अनुभव कराता हूँ ।

‡ इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि लोग मेरा अनुसरण करते हैं, इसलिये यदि मैं इस प्रकार प्रेम और सौहार्दका बर्ताव करूँगा तो दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी ऐसे ही निःस्वार्थभावसे एक दूसरोंके साथ यथायोग्य प्रेम और सुहृदताका बर्ताव करेंगे । अतएव इस नीतिका जगत्‌में प्रचार करनेके लिये भी ऐसा करना मेरा कर्तव्य है । ।

§ अनादि कालसे जीवोंके जो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्म हैं, जिनका फलभोग नहीं हो गया है, उन्हींके अनुसार उनमें यथायोग्य सत्त्व, रज और तमोगुणकी न्यूनाधिकता होती है । भगवान् जब सृष्टि-रचनाके समय मनुष्योंका निर्माण करते हैं, तब उन-उन गुण और कर्मोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मणादि वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं । साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि देव, पितर और तिर्यक् आदि दूसरी-दूसरी योनियोंकी रचना भी भगवान् जीवोंके गुण और कर्मोंके अनुसार ही करते हैं । इसलिये इन सृष्टि-रचनादि कर्मोंमें भगवान्‌की किंचिन्मात्र भी विषमता नहीं है, यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि मेरे द्वारा चारों वर्णोंकी रचना उनके गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक की गयी है ।

आजकल लोग यह पूछा करते हैं कि ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग जन्मसे मानना चाहिये या कर्मसे ? तो उसका

भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान ॥*

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता† ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं‡ । इसलिये तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही कर ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है ?—इस प्रकार इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं । इसलिये वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये§ और अकर्मका

उत्तर यह हो सकता है कि यद्यपि जन्म और कर्म दोनों ही वर्णके अङ्ग होनेके कारण वर्णकी पूर्णता तो दोनोंसे ही होती है परंतु इन दोनोंमें प्रधानता जन्मकी है, इसलिये जन्मसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग मानना चाहिये; क्योंकि यदि माता-पिता एक वर्णके हों और किसी प्रकारसे भी जन्ममें संकरता न आवे तो सहज ही कर्ममें भी प्रायः संकरता नहीं आती; परंतु सङ्गदोष, आहारदोष और दूषित शिक्षा-दीक्षादि कारणोंसे कर्ममें कहीं कुछ व्यतिक्रम भी हो जाय तो जन्मसे वर्ण माननेपर वर्णरक्षा हो सकती है, तथापि कर्मशुद्धिकी कम आवश्यकता नहीं है । कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वर्णकी रक्षा बहुत ही कठिन हो जाती है । अतः जीविका और विवाहादि व्यवहारके लिये तो जन्म-की प्रधानता तथा कल्याणकी प्राप्तिमें कर्मकी प्रधानता माननी चाहिये; क्योंकि जातिसे ब्राह्मण होनेपर भी यदि उसके कर्म ब्राह्मणोचित नहीं हैं तो उसका कल्याण नहीं हो सकता तथा सामान्य धर्मके अनुसार शम-दमादिका पालन करनेवाला और अच्छे आचरणवाला शूद्र भी यदि ब्राह्मणोचित यज्ञादि कर्म करता है और उससे अपनी जीविका चलाता है तो पापका भागी होता है ।

* इससे भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताका भाव प्रकट किया गया है । अभिप्राय यह है कि भगवान्‌का किसी भी कर्ममें राग-द्वेष या कर्तापन नहीं होता । वे सदा ही उन कर्मोंसे सर्वथा अतीत हैं, उनके सकाशसे उनकी प्रकृति ही समस्त कर्म करती है । इस कारण लोकव्यवहारमें भगवान् उन कर्मोंके कर्ता माने जाते हैं; वास्तवमें भगवान् सर्वथा उदासीन हैं, कर्मों-से उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है (गीता ९ । ९-१०) ।

† उपर्युक्त वर्णनके अनुसार जो यह समझ लेना है कि विश्व-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् वास्तवमें अकर्ता ही हैं—उन कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, उनके कर्मोंमें विषमता लेशमात्र भी नहीं है, कर्मफलमें उनकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति, ममता या कामना नहीं है, अतएव उनको वे कर्म बन्धनमें नहीं डाल सकते—यही भगवान्‌को उपर्युक्त प्रकारसे तत्त्वतः जानना है और इस प्रकार भगवान्‌के कर्मोंका रहस्य यथार्थरूपसे समझ लेनेवाले महात्माके कर्म भी भगवान्‌की ही भाँति ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकारके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं; इसीलिये वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ।

‡ जो मनुष्य जन्म-मरणरूप संसारबन्धनसे मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना चाहता है, जो सांसारिक भोगोंको दुःखमय और क्षणभङ्गुर समझकर उनसे विरक्त हो गया है और जिसे इस लोक या परलोकके भोगोंकी इच्छा नहीं है—उसे 'मुमुक्षु' कहते हैं । अर्जुन भी मुमुक्षु थे, वे कर्मबन्धनके भयसे स्वधर्मरूप कर्तव्यकर्मका त्याग करना चाहते थे; अतएव भगवान्‌ने इस श्लोकमें पूर्वकालके मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर यह बात समझायी है कि कर्मोंको छोड़ देनेमात्रसे मनुष्य उनके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता, इसी कारण पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी मेरे कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व समझकर मेरी ही भाँति कर्मोंमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकारका त्याग करके निष्कामभावसे अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार उनका आचरण ही किया है ।

§ साधारणतः मनुष्य यही जानते हैं कि शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका नाम कर्म है; किंतु इतना जान लेनेमात्रसे कर्म-का स्वरूप नहीं जाना जा सकता, क्योंकि उसके आचरणमें भावका भेद होनेसे उसके स्वरूपमें भेद हो जाता है । अतः अपने अधिकारके अनुसार वर्णाश्रमोचित कर्तव्य-कर्मोंको आचरणमें लानेके लिये कर्मोंके तत्त्वको समझना चाहिये ।

स्वरूप भी जानना चाहिये* तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये;† क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रोताके अन्तःकरणमें रुचि और श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कर्मतत्त्वको गहन एवं उसका जानना आवश्यक बतलाकर अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् कर्मका तत्त्व समझाते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है‡ ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मदर्शनका महत्त्व बतलाकर अब पाँच श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न शैलीसे उपर्युक्त कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म-दर्शनपूर्वक कर्म करनेवाले सिद्ध और साधक पुरुषोंकी असङ्गताका वर्णन करके इस विषयको स्पष्ट करते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं§ तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप

---

* साधारणतः मनुष्य यही समझते हैं कि मन, वाणी और शरीरद्वारा की जानेवाली क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग कर देना ही अकर्म यानी कर्मोंसे रहित होना है; किंतु इतना समझ लेनेमात्रसे अकर्मका वास्तविक स्वरूप नहीं जाना जा सकता; क्योंकि भावके भेदसे इस प्रकारका अकर्म भी कर्म या विकर्मके रूपमें बदल जाता है। अतः किस भावसे किस प्रकार की हुई कौन-सी क्रिया या उसके त्यागका नाम अकर्म है एवं किस स्थितिमें किस मनुष्यको किस प्रकार उसका आचरण करना चाहिये, इस बातको भलीभाँति समझकर साधन करना चाहिये।

† साधारणतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्मोंका नाम ही विकर्म है—यह प्रसिद्ध है; पर इतना जान लेनेमात्रसे विकर्मका स्वरूप यथार्थ नहीं जाना जा सकता; क्योंकि शास्त्रके तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानी पुण्यको भी पाप मान लेते हैं और पापको भी पुण्य मान लेते हैं। वर्ण, आश्रम और अधिकारके भेदसे जो कर्म एकके लिये विहित होनेसे कर्तव्य (कर्म) है, वही दूसरेके लिये निषिद्ध होनेसे पाप (विकर्म) हो जाता है—जैसे सब वर्णोंकी सेवा करके जीविका चलाना शूद्रके लिये विहित कर्म है, किंतु वही ब्राह्मणके लिये निषिद्ध कर्म है; जैसे दान लेकर, वेद पढ़ाकर और यज्ञ कराकर जीविका चलाना ब्राह्मणके लिये कर्तव्य-कर्म है, किंतु दूसरे वर्णोंके लिये पाप है; जैसे गृहस्थके लिये न्यायोपार्जित द्रव्यसंग्रह करना और ऋतुकालमें स्वपत्नीगमन करना धर्म है, किंतु संन्यासीके लिये काञ्चन और कामिनीका दर्शन-स्पर्श करना भी पाप है। अतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि जो सर्वसाधारणके लिये निषिद्ध हैं तथा अधिकारभेदसे जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिये निषिद्ध हैं—उन सबका त्याग करनेके लिये विकर्मके स्वरूपको भलीभाँति समझना चाहिये।

‡ यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीर-निर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं—उन सबमें आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारका त्याग कर देनेसे वे इस लोक या परलोकमें सुख-दुःखादि फल भुगतानेके और पुनर्जन्मके हेतु नहीं बनते, बल्कि मनुष्यके पूर्वकृत समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश करके उसे संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले होते हैं—इस रहस्यको समझ लेना ही कर्ममें अकर्म देखना है। इस प्रकार कर्ममें अकर्म देखनेवाला मनुष्य आसक्ति, फलेच्छा और ममताके त्यागपूर्वक ही विहित कर्मोंका यथायोग्य आचरण करता है। अतः वह कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, इसलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है; वह परमात्माको प्राप्त है, इसलिये योगी है और उसे कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता—वह कृतकृत्य हो गया है, इसलिये वह समस्त कर्मोंको करनेवाला है।

लोकप्रसिद्धिमें मन, वाणी और शरीरके व्यापारको त्याग देनेका ही नाम अकर्म है; यह त्यागरूप अकर्म भी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारपूर्वक किया जानेपर पुनर्जन्मका हेतु बन जाता है; इतना ही नहीं, कर्तव्य-कर्मोंकी अवहेलनामें या दम्भाचारके लिये किया जानेपर तो यह विकर्म (पाप) के रूपमें बदल जाता है—इस रहस्यको समझ लेना ही अकर्ममें कर्म देखना है।

§ स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग-सुख आदि इस लोक और परलोकके जितने भी विषय (पदार्थ) हैं, उनमेंसे किसीकी किंचिन्मात्र भी इच्छा करनेका नाम 'कामना' है तथा किसी विषयको ममता, अहंकार, राग-द्वेष एवं रमणीय-बुद्धिसे स्मरण करनेका नाम 'संकल्प' है। कामना संकल्पका कार्य है और संकल्प उसका कारण है। विषयोंका स्मरण करनेसे ही उनमें आसक्ति होकर कामनाकी उत्पत्ति होती है (गीता २। ६२)। जिन कर्मोंमें किसी वस्तुके संयोग-वियोगकी किंचिन्मात्र भी कामना नहीं है; जिनमें ममता, अहंकार और आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जो केवल लोक-संग्रहके लिये चेष्टामात्र किये जाते हैं—वे सब कर्म कामना और संकल्पसे रहित हैं।

अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं,* उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि¹ नैव किंचित् करोति सः ॥ २० ॥

जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्यतृप्त है,† वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः² ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगोंकी सामग्रीका परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता‡ ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो³ द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला§ कर्मयोगी कर्म

---

* जैसे अग्निद्वारा भुने हुए बीज केवल नाममात्रके ही बीज रह जाते हैं, उनमें अङ्कुरित होनेकी शक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जो समस्त कर्मोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्तिका सर्वथा नष्ट हो जाना है—यही उन कर्मोंका ज्ञानरूप अग्निसे भस्म हो जाना है।

१. 'अपि' अव्ययसे यह भाव दिखलाया गया है कि ममता, अहङ्कार और फलासक्तिसे युक्त मनुष्य तो कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता और यह नित्यतृप्त पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ भी उनके बन्धनमें नहीं पड़ता ।

† आसक्तिका सर्वथा त्याग करके शरीरमें अहङ्कार और ममतासे सर्वथा रहित हो जाना और किसी भी सांसारिक वस्तुके या मनुष्यके आश्रित न होना अर्थात् अमुक वस्तु या मनुष्यसे ही मेरा निर्वाह होता है, यही आधार है, इसके बिना काम ही नहीं चल सकता—इस प्रकारके भावोंका सर्वथा अभाव हो जाना ही 'निराश्रय' हो जाना है। ऐसा हो जानेपर मनुष्यको किसी भी सांसारिक पदार्थकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती, वह पूर्णकाम हो जाता है; उसे परमानन्द-स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जानेके कारण वह निरन्तर आनन्दमें मग्न रहता है, उसकी स्थितिमें किसी भी घटनासे कभी जरा भी अन्तर नहीं पड़ता । यही उसका 'नित्यतृप्त' हो जाना है ।

२. जिस मनुष्यको किसी भी सांसारिक वस्तुकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है; जो किसी भी कर्मसे या मनुष्यसे किसी प्रकारका भोगप्राप्त होनेकी किंचिन्मात्र भी आशा या इच्छा नहीं रखता; जिसने सब प्रकारकी इच्छा, कामना, वासना आदिका सर्वथा त्याग कर दिया है—उसे 'निराशीः' कहते हैं; जिसका अन्तःकरण और समस्त इन्द्रियोंसहित शरीर वशमें है—अर्थात् जिसके मन और इन्द्रिय राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण उनपर शब्दादि विषयोंके सङ्गका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता और जिसका शरीर भी जैसे वह उसे रखना चाहता है वैसे ही रहता है—वह चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी 'यतचित्तात्मा' है और जिसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं है तथा जिसने समस्त भोग-सामग्रियोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग कर दिया है, वह संन्यासी तो सर्वथा ''त्यक्तसर्वपरिग्रह' है ही। इसके सिवा जो कोई दूसरे आश्रमवाला भी यदि उपर्युक्त प्रकारसे परिग्रहका त्याग कर देनेवाला है तो वह भी 'त्यक्तसर्वपरिग्रह' है।

‡ उपर्युक्त पुरुषको न तो यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे होनेवाला प्रत्यवायरूप पाप लगता है और न शरीर-निर्वाहके लिये की जानेवाली क्रियाओंमें होनेवाले पापोंसे ही उसका सम्बन्ध होता है; यही उसका 'पाप'को प्राप्त न होना है।

३. अनिच्छासे या परेच्छासे प्रारब्धानुसार जो अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थकी प्राप्ति होती है, वह 'यदृच्छालाभ' है, इस यदृच्छालाभमें सदा ही आनन्द मानना, न किसी अनुकूल पदार्थकी प्राप्ति होनेपर उसमें राग करना, उसके बने रहने या बढ़नेकी इच्छा करना और न प्रतिकूलकी प्राप्तिमें द्वेष करना, उसके नष्ट हो जानेकी इच्छा करना—इस प्रकार दोनोंको ही प्रारब्ध या भगवान्‌का विधान समझकर निरन्तर शान्त और प्रसन्नचित्त रहना—यही 'यदृच्छालाभ' में सदा संतुष्ट रहना है।

§ यज्ञ, दान और तप आदि किसी भी कर्तव्यकर्मका निर्विघ्नतासे पूर्ण हो जाना उसकी सिद्धि है और किसी प्रकार विघ्न-बाधाके कारण उसका पूर्ण न होना ही असिद्धि है। इसी प्रकार जिस उद्देश्यसे कर्म किया जाता है, उस उद्देश्यका पूर्ण हो जाना सिद्धि है और पूर्ण न होना ही असिद्धि है। इस प्रकारकी सिद्धि और असिद्धिमें भेदबुद्धिका न होना अर्थात् सिद्धिमें हर्ष और आसक्ति आदि तथा असिद्धिमें द्वेष और शोक आदि विकारोंका न होना, दोनोंमें एक-सा भाव रहना ही सिद्धि और असिद्धिमें सम रहना है।

करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता* ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे केवल यज्ञसम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं† ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि यज्ञके लिये कर्म करनेवाले पुरुषके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं। वहाँ केवल अग्निमें हविका हवन करना ही यज्ञ है और उसका सम्पादन करनेके लिये की जानेवाली क्रिया ही यज्ञके लिये कर्म करना है, इतनी ही बात नहीं है; इसी भावको सुस्पष्ट करनेके लिये अब भगवान् सात श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न योगियोंद्वारा किये जानेवाले परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका विभिन्न यज्ञोंके नामसे वर्णन करते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है‡—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं§ और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मरूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं× ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको संयम-

---

* जिस प्रकार केवल शरीरसम्बन्धी कर्मोंको करनेवाला परिग्रहरहित सांख्ययोगी अन्य कर्मोंका आचरण न करनेपर भी कर्म न करनेके पापसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार कर्मयोगी विहित कर्मोंका अनुष्ठान करके भी उनसे नहीं बँधता।

† अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यका जो शास्त्रदृष्टिसे विहित कर्तव्य है, वही उसके लिये यज्ञ है। उस शास्त्रविहित यज्ञका सम्पादन करनेके उद्देश्यसे ही जो कर्मोंका करना है—अर्थात् किसी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध न रखकर केवल लोकसंग्रहरूप यज्ञकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही जो कर्मोंका आचरण करना है, वही यज्ञके लिये कर्मोंका आचरण करना है।

उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्म उसको बाँधनेवाले नहीं होते, इतना ही नहीं; किंतु जैसे किसी घासकी ढेरीमें आगमें जलाकर गिराया हुआ घास स्वयं भी जलकर नष्ट हो जाता है और उस घासकी ढेरीको भी भस्म कर देता है—वैसे ही आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अभिमानके त्यागरूप अग्निमें जलाकर किये हुए कर्म पूर्वसंचित समस्त कर्मोंके सहित विलीन हो जाते हैं, फिर उसके किसी भी कर्ममें किसी प्रकारका फल देनेकी शक्ति नहीं रहती।

‡ इस यज्ञमें स्रुवा, हवि, हवन करनेवाला और हवनरूप क्रियाएँ आदि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं होतीं; ऐसा यज्ञ करनेवाले योगीकी दृष्टिमें सब कुछ ब्रह्म ही होता है; क्योंकि वह जिन मन, बुद्धि आदिके द्वारा समस्त जगत्को ब्रह्म समझनेका अभ्यास करता है, उनको, अपनेको, इस अभ्यासरूप क्रियाको या अन्य किसी भी वस्तुको ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझता, सबको ब्रह्मरूप ही देखता है; इसलिये उसकी उनमें किसी प्रकारकी भी भेदबुद्धि नहीं रहती।

§ ब्रह्मा, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र और वरुणादि जो शास्त्रसम्मत देव हैं—उनके लिये हवन करना, उनकी पूजा करना, उनके मन्त्रका जप करना, उनके निमित्त दान देना और ब्राह्मण-भोजन करवाना आदि समस्त कर्मोंका अपना कर्तव्य समझकर बिना ममता, आसक्ति और फलेच्छाके केवल परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शास्त्रविधिके अनुसार पूर्णतया अनुष्ठान करना ही देवताओंके पूजनरूप यज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करना है।

× अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण शरीरकी उपाधिसे आत्मा और परमात्माका भेद अनादिकालसे प्रतीत हो रहा है; इस अज्ञानजनित भेद-प्रतीतिको ज्ञानके अभ्यासद्वारा मिटा देना अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे सुने हुए तत्त्वज्ञानका निरन्तर मनन और निदिध्यासन करते-करते नित्य विज्ञानानन्दघन गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको एक कर देना—विलीन कर देना ही ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना है।

रूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं* और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं† ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोग-रूप अग्निमें हवन किया करते हैं‡ ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, § कितने ही तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं× तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं+ और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त

* श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिकाको वशमें करके प्रत्याहार करना—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि बाहर-भीतरके विषयोंसे विवेकपूर्वक उन्हें हटाकर उपरत होना ही श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमरूप अग्नियोंमें हवन करना है। इसका सुस्पष्टभाव गीताके दूसरे अध्यायके अठावनवें श्लोकमें कछुएके दृष्टान्तसे बतलाया गया है।

† कानोंके द्वारा निन्दा और स्तुतिको या अन्य किसी प्रकारके अनुकूल या प्रतिकूल शब्दोंको सुनते हुए, नेत्रोंके द्वारा अच्छे-बुरे दृश्योंको देखते हुए, जिह्वाके द्वारा अनुकूल और प्रतिकूल रसको ग्रहण करते हुए—इसी प्रकार अन्य समस्त इन्द्रियोंद्वारा भी प्रारब्धके अनुसार योग्यतासे प्राप्त समस्त विषयोंका अनासक्तभावसे सेवन करते हुए अन्तःकरणमें समभाव रखना, भेदबुद्धिजनित राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि विकारोंका न होने देना—अर्थात् उन विषयोंमें जो मन और इन्द्रियोंको विक्षिप्त (विचलित) करनेकी शक्ति है, उसका नाश करके उनको इन्द्रियोंमें विलीन करते रहना—यही शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करना है।

‡ इस प्रकारके ध्यानयोगमें जो मनोनिग्रहपूर्वक इन्द्रियोंकी देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना, आस्वादन करना एवं ग्रहण करना, त्याग करना, बोलना और चलना-फिरना आदि तथा प्राणोंकी श्वास-प्रश्वास और हिलना-डुलना आदि समस्त क्रियाओंको विलीन करके समाधिस्थ हो जाना है—यही आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें इन्द्रियोंकी और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंका हवन करना है।

§ अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार न्यायसे प्राप्त द्रव्यको ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके यथायोग्य लोकसेवामें लगाना अर्थात् उपर्युक्त भावसे बावली, कुएँ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाना; भूखे, अनाथ, रोगी, दुखी, असमर्थ, भिक्षु आदि मनुष्योंकी यथावश्यक अन्न, वस्त्र, जल, औषध, पुस्तक आदि वस्तुओंद्वारा सेवा करना; विद्वान् तपस्वी वेदपाठी सदाचारी ब्राह्मणोंको गौ, भूमि, वस्त्र, आभूषण आदि पदार्थोंका यथायोग्य अपनी शक्तिके अनुसार दान करना—इसी तरह अन्य सब प्राणियोंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे यथाशक्ति द्रव्यका व्यय करना 'द्रव्ययज्ञ' है

× परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंको पवित्र करनेके लिये ममता, आसक्ति और फलेच्छाके त्यागपूर्वक व्रत-उपवासादि करना; धर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना; मौन धारण करना; अग्नि और सूर्यके तेजको तथा वायुको सहन करना; एक वस्त्र या दो वस्त्रोंसे अधिकका त्याग कर देना; अन्नका त्याग कर देना, केवल फल या दूध खाकर ही शरीरका निर्वाह करना; वनवास करना आदि जो शास्त्रविधिके अनुसार तितिक्षासम्बन्धी क्रियाएँ हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'तपोयज्ञ' है।

+ यहाँ योगरूप यज्ञसे यह भाव समझना चाहिये कि बहुत-से साधक परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे आसक्ति, फलेच्छा और ममताका त्याग करके अष्टाङ्गयोगरूप यज्ञका ही अनुष्ठान किया करते हैं।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं।

किसी भी प्राणीको किसी प्रकार किंचिन्मात्र कभी कष्ट न देना (अहिंसा); हितकी भावनासे कपटरहित प्रिय शब्दोंमें यथार्थभाषण (सत्य); किसी प्रकारसे भी किसीके स्वत्व—हकको न चुराना और न छीनना (अस्तेय); मन, वाणी और शरीरसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा सर्वदा सब प्रकारके मैथुनोंका त्याग करना (ब्रह्मचर्य); और शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त भोग्य सामग्रीका कभी संग्रह न करना (अपरिग्रह)—इन पाँचोंका नाम 'यम' है।

सब प्रकारसे बाहर और भीतरकी पवित्रता रखना (शौच); प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा संतुष्ट रहना (संतोष); एकादशी आदि व्रत-उपवास करना (तप); कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन तथा ईश्वरके नाम और गुणोंका कीर्तन करना (स्वाध्याय); सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करके उनकी आज्ञाका पालन करना (ईश्वरप्रणिधान)—इन पाँचोंका नाम 'नियम' है।

यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं* ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं,† वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं‡ तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं§ ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और

सुखपूर्वक स्थिरतासे बैठनेका नाम 'आसन' है। आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुषके लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो, परंतु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीके मध्यभागमें रखनी चाहिये। आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं। जो पुरुष जिस आसनसे सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, उसके लिये वही आसन उत्तम है।

बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है; इन दोनोंको रोकनेका नाम 'प्राणायाम' है।

देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले—ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और संकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम चतुर्थ 'प्राणायाम' है।

अपने-अपने विषयोंके संयोगसे रहित होनेपर इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

स्थूल सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर–किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना या लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे ध्येय वस्तुमें ही लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वय भी ध्येयमें तन्मय सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने-आपका भी ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम 'समाधि' है।

*जिन शास्त्रोंमें भगवान्के तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोंका तथा उनके साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका वर्णन है—ऐसे शास्त्रोंका अध्ययन करना, भगवान्की स्तुतिका पाठ करना, उनके नाम और गुणोंका कीर्तन करना तथा वेद और वेदाङ्गोंका अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है। ऐसा स्वाध्याय अर्थज्ञानके सहित होनेसे तथा ममता, आसक्ति और फलेच्छाके अभावपूर्वक किये जानेसे 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञ' कहलाता है। इस पदमें स्वाध्यायके साथ 'ज्ञान' शब्दका समास करके यह भाव दिखलाया है कि स्वाध्यायरूप कर्म भी ज्ञानयज्ञ ही है, इसलिये गीताके अध्ययनको भी भगवान्ने 'ज्ञानयज्ञ' नाम दिया है (गीता १८ । ७०)।

† उपर्युक्त प्राणायामरूप यज्ञमें अग्निस्थानीय अपानवायु है और हविःस्थानीय प्राणवायु है। अतएव यह समझना चाहिये कि जिसे पूरक प्राणायाम कहते हैं, वही यहाँ अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करना है; क्योंकि जब साधक पूरक प्राणायाम करता है तो बाहरकी वायुको नासिकाद्वारा शरीरमें ले जाता है, तब वह बाहरकी वायु हृदयमें स्थित प्राणवायुको साथ लेकर नाभिमेंसे होती हुई अपानमें विलीन हो जाती है। इस साधनमें बार-बार बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर वहीं रोका जाता है, इसलिये इसे आभ्यन्तर कुम्भक भी कहते हैं।

‡ इस दूसरे प्राणायामरूप यज्ञमें अग्निस्थानीय प्राणवायु है और हविःस्थानीय अपानवायु है। अतः समझना चाहिये कि जिसे रेचक प्राणायाम कहते हैं, वही यहाँपर प्राणवायुमें अपानवायुका हवन करना है; क्योंकि जब साधक रेचक प्राणायाम करता है तो वह भीतरकी वायुको नासिकाद्वारा शरीरसे बाहर निकालकर रोकता है; उस समय पहले हृदयमें स्थित प्राणवायु बाहर आकर स्थित हो जाती है, पीछेसे अपानवायु आकर उसमें विलीन होती है। इस साधनमें बार-बार भीतरकी वायुको बाहर निकालकर वहीं रोका जाता है, इस कारणसे इसे बाह्य कुम्भक भी कहते हैं।

§ जिस प्राणायाममें प्राण और अपान—इन दोनोंकी गति रोक दी जाती है अर्थात् न तो पूरक प्राणायाम किया जाता है और न रेचक, किंतु श्वास और प्रश्वासको बंद करके प्राण-अपान आदि समस्त वायुभेदोंको अपने-अपने स्थानोंमें ही रोक दिया जाता है—वही यहाँ प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंका प्राणोंमें हवन करना है। इस साधनमें न तो

यज्ञोंको जाननेवाले हैं* ॥ २९-३० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार यज्ञ करनेवाले साधकोंकी प्रशंसा करके अब उन यज्ञोंको करनेसे होनेवाले लाभ और न करनेसे होनेवाली हानि दिखलाकर भगवान् उपर्युक्त प्रकारसे यज्ञ करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं† और यज्ञ न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्य-लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है ?‡ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही थी कि मैं तुम्हें वह कर्मतत्त्व बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम अशुभसे मुक्त हो जाओगे। उस प्रतिज्ञाके अनुसार अठारहवें श्लोकसे यहाँतक उस कर्मतत्त्वका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हैं—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान;§ इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उन यज्ञोंमेंसे कौन-सा यज्ञ श्रेष्ठ है। इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परंतप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है× तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं+ ॥ ३३ ॥

बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर रोका जाता है और न भीतरकी वायुको बाहर लाकर; बल्कि अपने-अपने स्थानोंमें स्थित पञ्चवायु-भेदोंको वहीं रोक दिया जाता है। इसलिये इसे 'केवल कुम्भक' कहते हैं।

* इस अध्यायमें चौबीसवें श्लोकसे लेकर यहाँतक जिन यज्ञ करनेवाले साधक पुरुषोंका वर्णन हुआ है, वे सभी ममता, आसक्ति और फलेच्छासे रहित होकर उपर्युक्त यज्ञरूप साधनोंका अनुष्ठान करके उनके द्वारा पूर्वसंचित कर्मसंस्काररूप समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश कर देनेवाले हैं; इसलिये वे यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले हैं।

† यहाँ भगवान्‌ने उपर्युक्त यज्ञके रूपकमें परमात्माकी प्राप्तिके ज्ञान, संयम, तप, योग, स्वाध्याय, प्राणायाम आदि ऐसे साधनोंका भी वर्णन किया है, जिनमें अन्नका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यहाँ उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करनेसे साधकोंका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें जो प्रमादरूप प्रसन्नताकी उपलब्धि होती है (गीता २। ६४-६५; १८। ३६-३७), वही यज्ञसे बचा हुआ अमृत है; क्योंकि वह अमृतस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है तथा उस विशुद्ध भावसे उत्पन्न सुखमें नित्यतृप्त रहना ही यहाँ उस अमृतका अनुभव करना है।

‡ जो मनुष्य उपर्युक्त यज्ञोंमेंसे या इनके सिवा जो और भी अनेक प्रकारके साधनरूप यज्ञ शास्त्रोंमें वर्णित हैं, उनमेंसे कोई-सा भी यज्ञ—किसी प्रकार भी नहीं करता, उसको यह लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक तो कैसे सुखदायक हो सकता है—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त साधनोंका अधिकार पाकर भी उनमें न लगनेके कारण उसको मुक्ति तो मिलती ही नहीं; स्वर्ग भी नहीं मिलता और मुक्तिके द्वाररूप इस मनुष्यशरीरमें भी कभी शान्ति नहीं मिलती।

§ यहाँ जिन साधनरूप यज्ञोंका वर्णन किया गया है एवं इनके सिवा और भी जितने कर्तव्यकर्मरूप यज्ञ शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, वे सब मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा ही होते हैं। उनमेंसे किसीका सम्बन्ध केवल मनसे है, किसीका मन और इन्द्रियोंसे एवं किसी-किसीका मन, इन्द्रिय और शरीर—इन सबसे है। ऐसा कोई भी यज्ञ नहीं है, जिसका इन तीनोंमेंसे किसीके साथ सम्बन्ध न हो। इसलिये साधकको चाहिये कि जिस साधनमें शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंकी क्रियाका या संकल्प-विकल्प आदि मनकी क्रियाका त्याग किया जाता है, उस त्यागरूप साधनको भी कर्म ही समझे और उसे भी फल-कामना, आसक्ति तथा ममतासे रहित होकर ही करे; नहीं तो वह भी बन्धनका हेतु बन सकता है।

× जिस यज्ञमें द्रव्यकी अर्थात् सांसारिक वस्तुकी प्रधानता हो, उसे द्रव्यमय यज्ञ कहते हैं। अतः अग्निमें घृत, चीनी, दही, दूध, तिल, जौ, चावल, मेवा, चन्दन, कपूर, धूप और सुगन्धयुक्त ओषधियाँ आदि हविका विधिपूर्वक हवन करना; दान देना; परोपकारके लिये कुँआ, बावली, तालाब, धर्मशाला आदि बनवाना; बलि-वैश्वदेव करना आदि जितने सांसारिक पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रविहित शुभकर्म हैं—वे सब द्रव्यमय यज्ञके अन्तर्गत हैं तथा जो विवेक, विचार और आध्यात्मिक ज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले साधन हैं, वे सब ज्ञानयज्ञके अन्तर्गत हैं।

+ उपर्युक्त प्रकरणमें जितने प्रकारके साधनरूप कर्म बतलाये गये हैं तथा इनके सिवा और भी जितने शुभ कर्म-

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें* और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा† ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा‡ ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्समय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है§ ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है । उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है × ॥ ३८ ॥

रूप यज्ञ वेद-शास्त्रोंमें वर्णित हैं (गीता ४ । ३२), वे सब कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं, इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त साधनोंका बड़े-से-बड़ा फल परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करा देना है ।

१. परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छासे श्रद्धा और भक्तिभावपूर्वक किसी बातको पूछना 'परिप्रश्न' है ।

२. श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महापुरुषोंके पास निवास करना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके मानसिक भावोंको समझकर हरेक प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना—ये सभी सेवाके अन्तर्गत हैं ।

* महापुरुषोंसे परमात्माके तत्त्वज्ञानका उपदेश पाकर आत्माको सर्वव्यापी, अनन्तस्वरूप समझना तथा समस्त प्राणियोंमें भेदबुद्धिका अभाव होकर सर्वत्र आत्मभाव हो जाना—अर्थात् जैसे स्वप्नसे जागा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्‌को अपने अन्तर्गत स्मृतिमात्र देखता है, वास्तवमें अपनेसे भिन्न अन्य किसीकी सत्ता नहीं देखता, उसी प्रकार समस्त जगत्‌को अपनेसे अभिन्न और अपने अन्तर्गत समझना सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषतासे आत्माके अन्तर्गत देखना है (गीता ६ । २९) ।

† सम्पूर्ण भूतोंको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखना पूर्वोक्त आत्मदर्शनरूप स्थितिका फल है; इसीको परमपदकी प्राप्ति, निर्वाण-ब्रह्मकी प्राप्ति और परमात्मामें प्रविष्ट हो जाना भी कहते हैं ।

‡ यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको यह बतलाया है कि तुम वास्तवमें पापी नहीं हो, तुम तो दैवी सम्पदाके लक्षणोंसे युक्त (गीता १६ । ५) तथा मेरे प्रिय भक्त और सखा हो (गीता ४ । ३); तुम्हारे अंदर पाप कैसे रह सकते हैं । परंतु इस ज्ञानका इतना प्रभाव और माहात्म्य है कि यदि तुम अधिक-से-अधिक पापकर्मी होओ तो भी तुम इस ज्ञानरूप नौकाके द्वारा उन समुद्रके समान अथाह पापोंसे भी अनायास तर सकते हो । बड़े-से-बड़े पाप भी तुम्हें अटका नहीं सकते ।

§ इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए समस्त कर्म संस्काररूपसे मनुष्यके अन्तःकरणमें एकत्रित रहते हैं, उनका नाम 'सञ्चित' कर्म है । उनमेंसे जो वर्तमान जन्ममें फल देनेके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं, उनका नाम 'प्रारब्ध' कर्म है और वर्तमान समयमें किये जानेवाले कर्मोंको 'क्रियमाण' कहते हैं । उपर्युक्त तत्त्वज्ञानरूप अग्निके प्रकट होते ही समस्त पूर्वसञ्चित संस्कारोंका अभाव हो जाता है । मन, बुद्धि और शरीरसे आत्माको असङ्ग समझ लेनेके कारण उन मन, इन्द्रिय और शरीरादिके साथ प्रारब्ध भोगोंका सम्बन्ध होते हुए भी उन भोगोंके कारण उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोक आदि विकार नहीं हो सकते । इस कारण वे भी उसके लिये नष्ट हो जाते हैं और क्रियमाण कर्मोंमें उसका कर्तृत्वाभिमान तथा ममता, आसक्ति और वासना न रहनेके कारण उनके संस्कार नहीं बनते; इसलिये वे कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं हैं । इस प्रकार उसके समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है ।

× कितने ही कालतक कर्मयोगका आचरण करते-करते राग-द्वेषके नष्ट हो जानेसे जिसका अन्तःकरण स्वच्छ हो गया है, जो कर्मयोगमें भलीभाँति सिद्ध हो गया है; जिसके समस्त कर्म ममता, आसक्ति और फलेच्छाके बिना भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के ही लिये होते हैं—उस योग-संसिद्ध पुरुषके अन्तःकरणमें परमेश्वरके अनुग्रहसे अपने-आप उस ज्ञानका प्रकाश हो जाता है ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान्* मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है।† ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है‡ ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

किंतु हे धनंजय ! जिसने कर्मयोगकी विधिसे समस्त कर्मोंका परमात्मामें अर्पण कर दिया है§ और जिसने विवेकद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है,× ऐसे वशमें किये हुए अन्तःकरणवाले पुरुषको कर्म नहीं बाँधते+॥४१॥

---

* वेद, शास्त्र, ईश्वर और महापुरुषोंके वचनोंमें तथा परलोकमें जो प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास है एवं उन सबमें परम पूज्यता और उत्तमताकी भावना है—उसका नाम श्रद्धा है और ऐसी श्रद्धा जिसमें हो, उसको 'श्रद्धावान्' कहते हैं।

जबतक इन्द्रिय और मन अपने काबूमें न आ जायँ, तबतक श्रद्धापूर्वक कटिबद्ध होकर उत्तरोत्तर तीव्र अभ्यास करते रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धापूर्वक तीव्र अभ्यासकी कसौटी इन्द्रियसंयम ही है, जितना ही श्रद्धापूर्ण तीव्र अभ्यास किया जाता है, उत्तरोत्तर उतना ही इन्द्रियोंका संयम होता जाता है। अतएव इन्द्रिय-संयमकी जितनी कमी है, उतनी ही साधनमें कमी समझनी चाहिये और साधनमें जितनी कमी है, उतनी ही श्रद्धामें त्रुटि समझनी चाहिये।

† वेद-शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंको तथा उनके बतलाये हुए साधनोंको ठीक-ठीक न समझ सकनेके कारण तथा जो कुछ समझमें आवे उसपर भी विश्वास न होनेके कारण जिसको हरेक विषयमें संशय होता रहता है, जो किसी प्रकार भी अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाता, हर हालतमें संशययुक्त रहता है, वह मनुष्य अपने मनुष्य-जीवनको व्यर्थ ही खो बैठता है।

जिसमें स्वयं विवेचन करनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा अज्ञ मनुष्य भी यदि श्रद्धालु हो तो श्रद्धाके कारण महापुरुषोंके कथनानुसार संशयरहित होकर साधानपरायण हो सकता है और उनकी कृपासे उसका भी कल्याण हो सकता है (गीता १३। २५); परंतु जिस संशययुक्त पुरुषमें न विवेकशक्ति है और न श्रद्धा ही है, उसके संशयके नाशका कोई उपाय नहीं रह जाता; इसलिये जबतक उसमें श्रद्धा या विवेक नहीं आ जाता, उसका अवश्य पतन हो जाता है।

‡ संशययुक्त मनुष्य केवल परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है इतनी ही बात नहीं है, जबतक मनुष्यमें संशय विद्यमान रहता है, वह उसका नाश नहीं कर लेता, तबतक वह न तो इस लोकमें यानी मनुष्यशरीरमें रहते हुए धन, ऐश्वर्य या यशकी प्राप्ति कर सकता है, न परलोकमें यानी मरनेके बाद स्वर्गादिकी प्राप्ति कर सकता है और न किसी प्रकारके सांसारिक सुखोंको ही भोग सकता है।

§ यहाँ 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' का अर्थ स्वरूपसे कर्मोंका त्याग कर देनेवाला न मानकर कर्मयोगके द्वारा समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उन सबको परमात्मामें अर्पण कर देनेवाला त्यागी (गीता ३। ३०; ५। १०) मानना ही उचित है।

× ईश्वर है या नहीं, है तो कैसा है, परलोक है या नहीं, यदि है तो कैसे है और कहाँ है, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सब आत्मा हैं या आत्मासे भिन्न हैं, जड़ हैं या चेतन, व्यापक हैं या एकदेशीय, कर्ता-भोक्ता जीवात्मा है या प्रकृति, आत्मा एक है या अनेक, यदि वह एक है तो कैसे है और अनेक है तो कैसे, जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र, यदि परतन्त्र है तो कैसे है और किसके परतन्त्र है, कर्म-बन्धनसे छूटनेके लिये कर्मोंको स्वरूपसे छोड़ देना ठीक है या कर्मयोगके अनुसार उनका करना ठीक है, अथवा सांख्ययोगके अनुसार साधन करना ठीक है—इत्यादि जो अनेक प्रकारकी शङ्काएँ तर्कशील मनुष्योंके अन्तःकरणमें उठा करती हैं, इन समस्त शङ्काओंका विवेकज्ञानके द्वारा विवेचन करके एक निश्चय कर लेना अर्थात् किसी भी विषयमें संशययुक्त न रहना और अपने कर्तव्यको निर्धारित कर लेना, यही विवेकज्ञानद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर देना है।

+ जिसके मन और इन्द्रिय वशमें किये हुए हैं—अपने काबूमें हैं, उस पुरुषके शास्त्रविहित कर्म ममता, आसक्ति और कामनासे सर्वथा रहित होते हैं; इस कारण उन कर्मोंमें बन्धन करनेकी शक्ति नहीं रहती।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेकज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके* समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ भीष्मपर्वणि तु अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥४॥ भीष्मपर्वमें अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चमोऽध्यायः)

सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तिसहित ध्यानयोगका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके तीसरे और चौथे अध्यायमें अर्जुनने भगवान्के श्रीमुखसे अनेकों प्रकारसे कर्मयोगकी प्रशंसा सुनी और उसके सम्पादनकी प्रेरणा तथा आज्ञा प्राप्त की। साथ ही यह भी सुना कि 'कर्मयोगके द्वारा भगवत्स्वरूपका तत्त्वज्ञान अपने-आप ही हो जाता है' (गीता ४ । ३८); गीताके चौथे अध्यायके अन्तमें भी उन्हें भगवान्के द्वारा कर्मयोगके सम्पादनकी ही आज्ञा मिली। परंतु बीच-बीचमें उन्होंने भगवान्के श्रीमुखसे ही 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः (गीता ४ । २४)' 'ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति (गीता ४ । २५)' 'तद् विद्धि प्रणिपातेन (गीता ४ । ३४)' आदि वचनोंद्वारा ज्ञानयोग अर्थात् कर्मसंन्यासकी भी प्रशंसा सुनी। इससे अर्जुन यह निर्णय नहीं कर सके कि इन दोनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन श्रेष्ठ है। अतएव अब भगवान्के श्रीमुखसे ही उसका निर्णय करानेके उद्देश्यसे अर्जुन उनसे प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिये† ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें

---

* संशयका कारण अविवेक है। अतः विवेकद्वारा अविवेकका नाश होते ही उसके साथ-साथ संशयका भी नाश हो जाता है। इसका स्थान हृदय यानी अन्तःकरण है; अतः जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, उसके लिये इसका नाश करना सहज है।

अर्जुनके अन्तःकरणमें संशय विद्यमान था, उनकी विवेकशक्ति मोहके कारण कुछ दबी हुई थी; इसीसे वे अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सकते थे और स्वधर्मरूप युद्धका त्याग करनेके लिये तैयार हो गये थे। इसलिये भगवान् यहाँ उन्हें उनके हृदयमें स्थित संशयका विवेकद्वारा छेदन करनेके लिये कहते हैं।

† 'सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर ऐसा समझना कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, (गीता ३ ।२८) तथा निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित रहना और सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना (गीता ४ । २४)'—यही ज्ञानयोग है—यही कर्मसंन्यास है। गीताके चौथे अध्यायमें इसी प्रकारके ज्ञानयोगकी प्रशंसा की गयी है और उसीके आधारपर अर्जुनका यह प्रश्न है।

१. मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका और शरीर तथा समस्त संसारमें अहंता-ममताका पूर्णतया त्याग ही 'संन्यास' शब्दका अर्थ है। चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें 'संन्यास' को ही 'सांख्य' कहकर भलीभाँति स्पष्टीकरण भी कर दिया है। अतएव यहाँ 'संन्यास' शब्दका अर्थ 'सांख्ययोग' ही मानना युक्त है।

भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है* ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है;† क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है‡ ॥ ४ ॥

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है§ । इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

परंतु हे अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है× और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है + ॥ ६ ॥

---

* कर्मयोगी कर्म करते हुए भी सदा संन्यासी ही है, वह सुखपूर्वक अनायास ही संसारबन्धनसे छूट जाता है (गीता ५ । ३) । उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (गीता ५ । ६) । प्रत्येक अवस्थामें भगवान् उसकी रक्षा करते हैं (गीता ९ । २२) और कर्मयोगका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मरणरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है (गीता २ । ४०) । किंतु ज्ञानयोगका साधन क्लेशयुक्त है (गीता १२ । ५), पहले कर्मयोगका साधन किये बिना उसका होना भी कठिन है (गीता ५ । ६) । इन्हीं सब कारणोंसे ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया गया है ।

† कर्मयोगी न किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी आकांक्षा करता है, वह द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो जाता है । वास्तवमें संन्यास भी इसी स्थितिका नाम है । जो राग-द्वेषसे रहित है, वही सच्चा संन्यासी है; क्योंकि उसे न तो संन्यास-आश्रम ग्रहण करनेकी आवश्यकता है और न सांख्ययोगकी ही । अतएव यहाँ कर्मयोगीको 'नित्यसंन्यासी' कहकर भगवान् उसका महत्त्व प्रकट करते हैं कि समस्त कर्म करते हुए भी वह सदा संन्यासी ही है और सुखपूर्वक अनायास ही कर्मबन्धनसे छूट जाता है ।

‡ 'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग' दोनों ही परमार्थतत्त्वके ज्ञानद्वारा परमपदरूप कल्याणकी प्राप्तिमें हेतु हैं । इस प्रकार दोनोंका फल एक होनेपर भी जो लोग कर्मयोगका दूसरा फल मानते हैं और सांख्ययोगका दूसरा, वे फलभेदकी कल्पना करके दोनों साधनोंको पृथक्-पृथक् माननेवाले लोग बालक हैं; क्योंकि दोनोंकी साधनप्रणालीमें भेद होनेपर भी फलमें एकता होनेके कारण वस्तुतः दोनोंमें एकता ही है । दोनों निष्ठाओंका फल एक ही है, अतएव यह कहना उचित ही है कि एकमें पूर्णतया स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है । गीताके तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने दोनोंको ही आत्मसाक्षात्कारके स्वतन्त्र साधन माना है ।

§ जैसे किसी मनुष्यको भारतवर्षसे अमेरिकाको जाना है, तो वह यदि ठीक रास्तेसे होकर यहाँसे पूर्व-ही-पूर्व दिशामें जाता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा और पश्चिम-ही-पश्चिमकी ओर चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा । वैसे ही सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधनप्रणालीमें परस्पर भेद होनेपर भी जो मनुष्य किसी एक साधनमें दृढ़तापूर्वक लगा रहता है, वह दोनोंके ही एकमात्र परम लक्ष्य परमात्मातक पहुँच ही जाता है ।

× जो मुमुक्षु पुरुष यह मानता है कि 'समस्त दृश्य-जगत् स्वप्नके सदृश मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है; यह सारा प्रपञ्च मायासे उसी ब्रह्ममें अध्यारोपित है, वस्तुतः दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं;' परंतु उसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, उसमें राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादि दोष वर्तमान हैं, वह यदि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मयोगका आचरण न करके केवल अपनी मान्यताके भरोसेपर ही सांख्ययोगके साधनमें लगना चाहेगा तो उसे 'सांख्यनिष्ठा' सहज ही नहीं प्राप्त हो सकेगी ।

+ जो सब कुछ भगवान्का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके भगवदाज्ञानुसार समस्त कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता है और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नाम, गुण और प्रभावसहित श्रीभगवान्के स्वरूपका चिन्तन करता है, वह भक्तियुक्त कर्मयोगका साधक मुनि भगवान्की दयासे परमार्थज्ञानके द्वारा शीघ्र ही परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है * और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी† तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ‡ ॥ ८-९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगीके साधनका स्वरूप बतलाकर अब दसवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें कर्मयोगियोंके साधनका फलसहित स्वरूप बतलाते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके§ और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ ११॥

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं× ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है+ ॥ १२ ॥

---

* मन और इन्द्रियाँ यदि साधकके वशमें न हों तो उनकी स्वाभाविक ही विषयोंमें प्रवृत्ति होती है और अन्तःकरणमें जबतक राग-द्वेषादि मल रहता है, तबतक सिद्धि और असिद्धिमें समभाव रहना कठिन होता है । अतएव जबतक मन और इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें न हो जायँ और अन्तःकरण पूर्णरूपसे परिशुद्ध न हो जाय, तबतक साधकको वास्तविक कर्मयोगी नहीं कहा जा सकता । इसीलिये यह कहा गया है कि जिसमें ये सब बातें हों वही पूर्ण कर्मयोगी है और उसीको शीघ्र ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ।

† सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण मृगतृष्णाके जल या स्वप्नके संसारकी भाँति मायामय है, केवल एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही सत्य है; उसीमें यह सारा प्रपञ्च मायासे अध्यारोपित है—इस प्रकार नित्यानित्य वस्तुके तत्त्वको समझकर जो पुरुष निरन्तर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहता है, वही तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी है ।

‡ जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य समझता है कि स्वप्नकालमें स्वप्नके शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियोंद्वारा मुझे जिन क्रियाओंके होनेकी प्रतीति होती थी, वास्तवमें न तो वे क्रियाएँ होती थीं और न मेरा उनसे कुछ भी सम्बन्ध ही था; वैसे ही तत्त्वको समझकर निर्विकार अक्रिय परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहनेवाले सांख्ययोगीको भी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण और मन आदिके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंको करते समय यही समझना चाहिये कि ये सब मायामय मन, प्राण और इन्द्रिय ही अपने-अपने मायामय विषयोंमें विचर रहे हैं । वास्तवमें न तो कुछ हो रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है ।

§ ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमानुकूल अर्थोपार्जनसम्बन्धी और खान-पानादि शरीरनिर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबको ममताका सर्वथा त्याग करके, सब कुछ भगवान्‌का समझकर, उन्हींके लिये उन्हींकी आज्ञा और इच्छाके अनुसार, जैसे वे करावें वैसे ही, कठपुतलीकी भाँति करना—परमात्मामें सब कर्मोंका अर्पण करना है ।

× कर्मप्रधान कर्मयोगी मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियोंमें ममता नहीं रखते और लौकिक स्वार्थसे सर्वथा रहित होकर निष्कामभावसे ही समस्त कर्तव्यकर्म करते रहते हैं ।

+ सकामभावसे किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार देव-मनुष्यादि योनियोंमें भटकना ही बन्धन है ।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्॥ १३॥

अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर* आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है॥ १३॥

सम्बन्ध—जब कि आत्मा वास्तवमें कर्म करनेवाला भी नहीं है और इन्द्रियादिसे करवानेवाला भी नहीं है, तो फिर सब मनुष्य अपनेको कर्मोंका कर्ता क्यों मानते हैं और वे कर्मफलके भागी क्यों होते हैं? इसपर कहते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४॥

परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं;† किंतु स्वभाव ही वर्त रहा है‡॥ १४॥

सम्बन्ध—जो साधक समस्त कर्मोंको और कर्मफलोंको भगवान्के अर्पण करके कर्मफलसे अपना सम्बन्धविच्छेद कर लेते हैं, उनके शुभाशुभ कर्मोंके फलके भागी क्या भगवान् होते हैं? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है;§ किंतु अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं×॥ १५॥

* स्वरूपसे सब कर्मोंका त्याग कर देनेपर मनुष्यकी शरीरयात्रा भी नहीं चल सकती। इसलिये मनसे—विवेकबुद्धि-के द्वारा कर्तृत्व-कारयितृत्वका त्याग करना ही सांख्ययोगीका त्याग है।

† मनुष्योंका जो कर्मोंमें कर्तापन है, वह भगवान्का बनाया हुआ नहीं है। अज्ञानी मनुष्य अहंकारके वशमें होकर अपनेको उनका कर्ता मान लेते हैं (गीता ३। २७)। मनुष्योंके कर्मोंकी रचना भगवान् नहीं करते, इस कथनका यह भाव है कि अमुक शुभ या अशुभ कर्म अमुक मनुष्यको करना पड़ेगा, ऐसी रचना भगवान् नहीं करते; क्योंकि ऐसी रचना यदि भगवान् कर दें तो विधि-निषेधशास्त्र ही व्यर्थ हो जाय—उसकी कोई सार्थकता ही नहीं रहे। कर्मफलके संयोग-की रचना भी भगवान् नहीं करते, इस कथनका यह भाव है कि कर्मोंके साथ सम्बन्ध मनुष्योंका ही अज्ञानवश जोड़ा हुआ है। कोई तो आसक्तिवश उनका कर्ता बनकर और कोई कर्मफलमें आसक्त होकर अपना सम्बन्ध कर्मोंके साथ जोड़ लेते हैं।

यदि इन तीनोंकी रचना भगवान्की की हुई होती तो मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट ही नहीं सकता, उसके उद्धारका कोई उपाय ही नहीं रह जाता। अतः साधक मनुष्यको चाहिये कि कर्मोंका कर्तापन पूर्वोक्त प्रकारसे प्रकृतिके अर्पण करके (गीता ५। ८, ९) या भगवान्के अर्पण करके (गीता ५। १०) अथवा कर्मोंके फल और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके (गीता ५। १२) कर्मोंसे अपना सम्बन्धविच्छेद कर ले (गीता ४। २०)। यही सब भाव दिखलानेके लिये यह कहा है कि परमेश्वर मनुष्योंके कर्तापन, कर्म और कर्मफलकी रचना नहीं करते।

‡ इस कथनका यह अभिप्राय है कि सत्त्व, रज और तम तीनों गुण, राग-द्वेष आदि समस्त विकार, शुभाशुभ कर्म और उनके संस्कार, इन सबके रूपमें परिणत हुई प्रकृति अर्थात् स्वभाव ही सब कुछ करता है। प्राकृत जीवोंके साथ इसका अनादिसिद्ध संयोग है। इसीसे उनमें कर्तृत्वभाव उत्पन्न हो रहा है अर्थात् अहंकारसे मोहित होकर वे अपनेको उनका कर्ता मान लेते हैं (गीता ३। २७) तथा इसीसे कर्म और कर्मफलसे भी उनका सम्बन्ध हो जाता है और वे उनके बन्धनमें पड़ जाते हैं। वास्तवमें आत्माका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

§ सबके हृदयमें रहनेवाले (गीता १३। १७; १५। १५; १८। ६१) और सम्पूर्ण जगत्का अपने संकल्पद्वारा संचालन करनेवाले सर्वशक्तिमान् सगुण निराकार परमेश्वर किसीके पुण्य-पापोंको ग्रहण नहीं करते। यद्यपि समस्त कर्म उन्हींकी शक्तिसे मनुष्योंद्वारा किये जाते हैं, सबको शक्ति, बुद्धि और इन्द्रियाँ आदि उनके कर्मानुसार वे ही प्रदान करते हैं; तथापि वे उनके द्वारा किये हुए कर्मोंको ग्रहण नहीं करते अर्थात् स्वयं उन कर्मोंके फलके भागी नहीं बनते।

× यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि वास्तवमें मनुष्योंका या परमेश्वरका कर्मोंसे और उनके फलसे सम्बन्ध नहीं है तो फिर संसारमें जो मनुष्य यह समझते हैं कि 'अमुक कर्म मैंने किया है', 'यह मेरा कर्म है', 'मुझे इसका फल मिलेगा', यह क्या बात है? इसी शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं कि अनादिसिद्ध अज्ञानद्वारा सब जीवोंका यथार्थ ज्ञान ढका हुआ है। इसीलिये वे अपने और परमेश्वरके स्वरूपको तथा कर्मके तत्त्वको न जाननेके कारण अपनेमें और ईश्वरमें कर्ता, कर्म और कर्मफलके सम्बन्धकी कल्पना करके मोहित हो रहे हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

परंतु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है* ॥१६॥

सम्बन्ध—यथार्थ ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है, यह बात संक्षेपमें कहकर अब छब्बीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त होनेके साधन तथा परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंके लक्षण, आचरण, महत्त्व और स्थितिका वर्णन करनेके उद्देश्यसे पहले यहाँ ज्ञानयोगके एकान्त साधनद्वारा परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥

जिनका मन तद्रूप हो रहा है,† जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है‡ और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है,§ ऐसे तत्परायण पुरुष× ज्ञानके द्वारा पापरहित+होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं÷ ॥ १७ ॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैंऽ ॥१८॥

---

* जिस प्रकार सूर्य अन्धकारका सर्वथा नाश करके दृश्यमात्रको प्रकाशित कर देता है, वैसे ही यथार्थ ज्ञान भी अज्ञानका सर्वथा नाश करके परमात्माके स्वरूपको भलीभाँति प्रकाशित कर देता है। जिनको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वे कभी, किसी भी अवस्थामें मोहित नहीं होते।

† सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का अभ्यास करनेवालेको चाहिये कि आचार्य और शास्त्रके उपदेशसे सम्पूर्ण जगत्‌को मायामय और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माको ही सत्य वस्तु समझकर तथा सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंके चिन्तनको सर्वथा छोड़कर, मनको परमात्माके स्वरूपमें निश्चल स्थित करनेके लिये उनके आनन्दमय स्वरूपका चिन्तन करे। बार-बार आनन्दकी आवृत्ति करता हुआ ऐसी धारणा करे कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अनन्त आनन्द, सम आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, चिन्मय आनन्द, एकमात्र आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न अन्य कोई वस्तु ही नहीं है—इस प्रकार निरन्तर मनन करते-करते सच्चिदानन्दघन परमात्मामें मनका अभिन्नभावसे निश्चल हो जाना मनका तद्रूप होना है।

‡ उपर्युक्त प्रकारसे मनके तद्रूप हो जानेपर बुद्धिमें सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका प्रत्यक्षके सदृश निश्चय हो जाता है, उस निश्चयके अनुसार निदिध्यासन (ध्यान) करते-करते जो बुद्धिकी भिन्न सत्ता न रहकर उसका सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकाकार हो जाना है, वही बुद्धिका तद्रूप हो जाना है।

§ मन-बुद्धिके परमात्मामें एकाकार हो जानेके बाद साधककी दृष्टिसे आत्मा और परमात्माके भेदभ्रमका नाश हो जाना एवं ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटीका अभाव होकर केवलमात्र एक वस्तु सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही रह जाना तन्निष्ठ होना अर्थात् परमात्मामें एकीभावसे स्थित होना है।

× उपर्युक्त प्रकारसे आत्मा और परमात्माके भेदभ्रमका नाश हो जानेपर जब परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं रहती, तब मन, बुद्धि, प्राण आदि सब कुछ परमात्मरूप ही हो जाते हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानद्वारा उनमें एकता प्राप्त कर लेना ही तत्परायण हो जाना है।

\+ उपर्युक्त प्रकारके साधनसे प्राप्त यथार्थ ज्ञानके द्वारा जिनके मल, विक्षेप और आवरणरूप समस्त पाप भलीभाँति नष्ट हो गये हैं, जिनमें उन पापोंका लेशमात्र भी नहीं रहा है, जो सर्वथा पापरहित हो गये हैं, वे 'ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए पुरुष' हैं।

÷ जिस पदको प्राप्त होकर योगी पुनः नहीं लौटता, जिसको सोलहवें श्लोकमें 'तत्परम्' के नामसे कहा है, गीतामें जिसका वर्णन कहीं 'अक्षय सुख', कहीं 'निर्वाण ब्रह्म', कहीं 'उत्तम सुख', कहीं 'परम गति', कहीं 'परमधाम', कहीं 'अव्ययपद' और कहीं 'दिव्य परमपुरुष' के नामसे आया है, उस यथार्थ ज्ञानके फलरूप परमात्माको प्राप्त होना ही अपुनरावृत्तिको प्राप्त होना है।

ऽ तत्त्वज्ञानी सिद्ध पुरुषोंका विषमभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है। उनकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये उनका सर्वत्र समभाव हो जाता है। इसी बातको समझानेके लिये मनुष्योंमें उत्तम-से-उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मण, नीच-से-नीच चाण्डाल एवं पशुओंमें उत्तम गौ, मध्यम हाथी और नीच-से-नीच कुत्तेका उदाहरण देकर उनके समत्वका दिग्दर्शन कराया गया है। इन पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें विषमता सभीको



विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (गीता ५ । १८)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया अर्थात् वे सदाके लिये जन्म-मरणसे छूटकर जीवन्मुक्त हो गये; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं* ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो,† वह स्थिरबुद्धि संशय-रहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक‡ आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है;§ तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित× पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है+ ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं

करनी पड़ती है। जैसे गौका दूध सभी पीते हैं, पर कुतियाका दूध कोई भी मनुष्य नहीं पीता। वैसे ही हाथीपर सवारी की जा सकती है, कुत्तेपर नहीं की जा सकती। जो वस्तु शरीरनिर्वाहार्थ पशुओंके लिये उपयोगी होती है, वह मनुष्योंके लिये नहीं हो सकती। श्रेष्ठ ब्राह्मणके पूजन-सत्कारादि करनेकी शास्त्रोंकी आज्ञा है, चाण्डालके नहीं। अतः इनका उदाहरण देकर भगवान्‌ने यह बात समझायी है कि जिनमें व्यावहारिक विषमता अनिवार्य है, उनमें भी ज्ञानी पुरुषोंका समभाव ही रहता है। कभी किसी भी कारणसे कहीं भी उनमें विषमभाव नहीं होता।

जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ और पैर आदि अङ्गोंके साथ भी बर्तावमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादिके सदृश भेद रखता है, जो काम मस्तक और मुखसे लेता है, वह हाथ और पैरोंसे नहीं लेता; जो हाथ-पैरोंका काम है, वह सिरसे नहीं लेता और सब अङ्गोंके आदर, मान एवं शौचादिमें भी भेद रखता है, तथापि उनमें आत्मभाव—अपनापन समान होनेके कारण वह सभी अङ्गोंके सुख-दुःखका अनुभव समानभावसे ही करता है और सारे शरीरमें उसका प्रेम एक-सा ही रहता है, प्रेम और आत्मभावकी दृष्टिसे कहीं विषमता नहीं रहती; वैसे ही तत्त्वज्ञानी महापुरुषकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हो जानेके कारण लोकदृष्टिसे व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहनेपर भी उसका आत्मभाव और प्रेम सर्वत्र सम रहता है।

* तत्त्वज्ञानी तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है। अतः उसके राग, द्वेष, मोह, ममता, अहंकार आदि समस्त अवगुणोंका और विषमभावका सर्वथा नाश होकर उसकी स्थिति समभावमें हो जाती है। समभाव ब्रह्मका ही स्वरूप है; इसलिये जिनका मन समभावमें स्थित है, वे ब्रह्ममें ही स्थित हैं।

† जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल होता है, उसे लोग 'प्रिय' कहते हैं; उन अनुकूल पदार्थोंका संयोग होनेपर वह हर्षित नहीं होता। इसी प्रकार जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके प्रतिकूल होता है, उसे लोग 'अप्रिय' कहते हैं; उन प्रतिकूल पदार्थोंका संयोग होनेपर भी वह उद्विग्न यानी दुखी नहीं होता।

‡ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि जो इन्द्रियोंके विषय हैं, उनको 'बाह्य-स्पर्श' कहते हैं; जिस पुरुषने विवेकके द्वारा अपने मनसे उनकी आसक्तिको बिल्कुल नष्ट कर डाला है, जिसका समस्त भोगोंमें पूर्ण वैराग्य है और जिसकी उन सबमें उपरति हो गयी है, वह पुरुष बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला है।

§ इन्द्रियोंके भोगोंको ही सुखरूप माननेवाले मनुष्यको यह ध्यानजनित सुख नहीं मिल सकता। बाहरके भोगोंमें वस्तुतः सुख है ही नहीं; सुखका केवल आभासमात्र है। उसकी अपेक्षा वैराग्यका सुख कहीं बढ़कर है और वैराग्यसुखकी अपेक्षा भी उपरतिका सुख तो बहुत ऊँचा है; परंतु परमात्माके ध्यानमें अटल स्थिति प्राप्त होनेपर जो सुख प्राप्त होता है, वह तो इन सबसे बढ़कर है। ऐसे सुखको प्राप्त होना ही आत्मामें स्थित आनन्दको पाना है।

× उपर्युक्त प्रकारसे जो पुरुष इन्द्रियोंके समस्त विषयोंमें आसक्तिरहित होकर उपरतिको प्राप्त हो गया है तथा परमात्माके ध्यानकी अटल स्थितिसे उत्पन्न महान् सुखका अनुभव करता है, उसे परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित कहते हैं।

+ सदा एकरस रहनेवाला परमानन्दस्वरूप अविनाशी परमात्मा ही 'अक्षय सुख' है और नित्य-निरन्तर ध्यान करते-करते उस परमात्माको जो अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, यही उसका अनुभव करना है।

तो भी दुःखके ही हेतु हैं* और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता† ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही‡ काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है,§ वही पुरुष योगी है और वही सुखी है ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे बाह्य विषयभोगोंको क्षणिक और दुःखोंका कारण समझकर तथा आसक्तिका त्याग करके जो काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर चुका है, अब ऐसे सांख्ययोगीकी अन्तिम स्थितिका फलसहित वर्णन किया जाता है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है,× आत्मामें ही

---

* जैसे पतंग अज्ञानवश परिणाम न सोचकर दीपककी लौको सुखका कारण समझते हैं और उसे प्राप्त करनेके लिये उड़-उड़कर उसकी ओर जाते तथा उसमें पड़कर भयानक ताप सहते और अपनेको दग्ध कर डालते हैं, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य भोगोंको सुखके कारण समझकर तथा उनमें आसक्त होकर उन्हें भोगनेकी चेष्टा करते हैं और परिणाममें महान् दुःखोंको प्राप्त होते हैं। विषयोंको सुखके हेतु समझकर उन्हें भोगनेसे उनमें आसक्ति बढ़ती है, आसक्तिसे काम-क्रोधादि अनर्थोंकी उत्पत्ति होती है और फिर उनसे भाँति-भाँतिके दुर्गुण और दुराचार आ-आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका जीवन पापमय हो जाता है और उसके फलस्वरूप उन्हें इस लोक और परलोकमें नाना प्रकारके भयानक ताप और यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

विषयभोगके समय मनुष्य भ्रमवश जिन स्त्री-प्रसंगादि भोगोंको सुखका कारण समझता है, वे ही परिणाममें उसके बल, वीर्य, आयु तथा मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियोंकी शक्तिका क्षय करके और शास्त्रविरुद्ध होनेपर तो परलोकमें भीषण नरकयन्त्रणादिकी प्राप्ति कराकर महान् दुःखके हेतु बन जाते हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि अज्ञानी मनुष्य जब दूसरेके पास अपनेसे अधिक भोग-सामग्री देखता है, तब उसके मनमें ईर्ष्याकी आग जल उठती है और वह उससे जलने लगता है।

सुखरूप समझकर भोगे हुए विषय कहीं प्रारब्धवश नष्ट हो जाते हैं तो उनके संस्कार बार-बार उनकी स्मृति कराते हैं और मनुष्य उन्हें याद कर-करके शोकमग्न होता, रोता-बिलखता और पछताता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि विषयोंके संयोगसे प्राप्त होनेवाले भोग वास्तवमें सर्वथा दुःखके ही कारण हैं, उनमें सुखका लेश भी नहीं है। अज्ञानवश भ्रमसे ही वे सुखरूप प्रतीत होते हैं (गीता १८ । ३८)।

† विषय-भोग वास्तवमें अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखरूप ही हैं, परंतु विवेकहीन अज्ञानी पुरुष इस बातको न जान-मानकर उनमें रमता है और भाँति-भाँतिके क्लेश भोगता है; किंतु बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनकी अनित्यता और क्षण-भङ्गुरतापर विचार करता है तथा उन्हें काम-क्रोध, पाप-ताप आदि अनर्थोंमें हेतु समझता है और उनकी आसक्तिके त्यागको अक्षय सुखकी प्राप्तिमें कारण समझता है, इसलिये वह उनमें नहीं रमता।

‡ इससे यह बतलाया गया है कि शरीर नाशवान् है—इसका वियोग होना निश्चित है और यह भी पता नहीं कि यह किस क्षणमें नष्ट हो जायगा; इसलिये मृत्युकाल उपस्थित होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये।

§ (पुरुषके लिये) स्त्री, (स्त्रीके लिये) पुरुष, (दोनोंहीके लिये) पुत्र, धन, मकान या स्वर्गादि जो कुछ भी देखे-सुने हुए मन और इन्द्रियोंके विषय हैं, उनमें आसक्ति हो जानेके कारण उनको प्राप्त करनेकी जो इच्छा होती है, उसका नाम 'काम' है और उसके कारण अन्तःकरणमें होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह काममे उत्पन्न होनेवाला 'वेग' है। इसी प्रकार मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके प्रतिकूल विषयोंकी प्राप्ति होनेपर अथवा इष्ट-प्राप्तिकी इच्छापूर्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर उस स्थितिके कारणभूत पदार्थ या जीवोंके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न होकर अन्तःकरणमें जो 'उत्तेजना'का भाव आता है, उसका नाम 'क्रोध' है और उस क्रोधके कारण होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह क्रोधसे उत्पन्न होनेवाला 'वेग' है। इन वेगोंको शान्तिपूर्वक सहन करनेकी अर्थात् इन्हें कार्यान्वित न होने देनेकी शक्ति प्राप्त कर लेना ही इनको सहन करनेमें समर्थ होना है।

× यहाँ 'अन्तः' शब्द सम्पूर्ण जगत्के अन्तःस्थित परमात्माका वाचक है, अन्तःकरणका नहीं। इसका यह अभिप्राय है कि जो पुरुष बाह्य विषयभोगरूप सांसारिक सुखोंको स्वप्नकी भाँति अनित्य समझ लेनेके कारण उनको सुख नहीं मानता, किंतु इन सबके अन्तःस्थित परम आनन्दस्वरूप परमात्मामें ही 'सुख' मानता है, वही 'अन्तःसुख' अर्थात् अन्तरात्मामें ही सुखवाला है।

रमण करनेवाला है* तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है,† वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी‡ शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है§ ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं,× जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं+ ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनों साधनोंद्वारा परमात्माकी प्राप्ति और परमात्माको प्राप्त महापुरुषोंके लक्षण कहे गये । उक्त दोनों ही प्रकारके साधकोंके लिये वैराग्यपूर्वक मन-इन्द्रियोंको वशमें करके ध्यानयोगका साधन करना उपयोगी है; अतः अब संक्षेपमें फलसहित ध्यानयोगका वर्णन करते हैं—

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाहरके विषयभोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर÷ और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके ऽ

* जो बाह्य विषय-भोगोंमें सत्ता और सुख-बुद्धि न रहनेके कारण उनमें रमण नहीं करता, इन सबमें आसक्तिरहित होकर केवल परमात्मामें ही रमण करता है अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्माका ही निरन्तर अभिन्नभावसे चिन्तन करता रहता है, वह 'अन्तराराम' अर्थात् आत्मामें ही रमण करनेवाला कहलाता है ।

† परमात्मा समस्त ज्योतियोंकी भी परम ज्योति है (गीता १३ । १७)। सम्पूर्ण जगत् उसीके प्रकाशसे प्रकाशित है। जो पुरुष निरन्तर अभिन्नभावसे ऐसे परम ज्ञानस्वरूप परमात्माका अनुभव करता हुआ उसीमें स्थित रहता है, जिसकी दृष्टिमें एक विज्ञानानन्दस्वरूप परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी बाह्य दृश्य वस्तुकी भिन्न सत्ता ही नहीं रही है, वही 'अन्तर्ज्योति' अर्थात् आत्मामें ही ज्ञानवाला है ।

‡ सांख्ययोगका साधन करनेवाला योगी अहंकार, ममता और काम-क्रोधादि समस्त अवगुणोंका त्याग करके निरन्तर अभिन्नभावसे परमात्माका चिन्तन करते-करते जब ब्रह्मरूप हो जाता है—उसका ब्रह्मके साथ किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं रहता, तब इस प्रकारकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त सांख्ययोगी 'ब्रह्मभूत' अर्थात् सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त कहलाता है ।

§ 'शान्त ब्रह्म (ब्रह्मनिर्वाण)' सच्चिदानन्दघन, निर्गुण, निराकार, निर्विकल्प एवं शान्त परमात्माका वाचक है और अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष हो जाना ही उसकी प्राप्ति है । सांख्ययोगीकी जिस अन्तिम अवस्थाका 'ब्रह्मभूत' शब्दसे निर्देश किया गया है, यह उसीका फल है । श्रुतिमें भी कहा है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक उप० ४ । ४ । ६) अर्थात् 'वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है ।' इसीको परम शान्तिकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति और परमगतिकी प्राप्ति कहते हैं ।

× इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार, राग-द्वेषादि दोष तथा उनकी वृत्तियोंके पुञ्ज, जो मनुष्यके अन्तःकरणमें इकट्ठे रहते हैं, बन्धनमें हेतु होनेके कारण सभी कल्मष—पाप हैं । परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इन सबका नाश हो जाता है । फिर उस पुरुषके अन्तःकरणमें दोषका लेशमात्र भी नहीं रहता ।

१. यहाँ 'कामक्रोधवियुक्तानाम्' से मलदोषका, 'यतचेतसाम्' से विक्षेपदोषका और 'विदितात्मनाम्' से आवरण-दोषका सर्वथा अभाव दिखलाकर परमात्माके पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी गयी है । इसलिये 'यति' शब्दका अर्थ यहाँ सांख्य-योगके द्वारा परमात्माको प्राप्त आत्मसंयमी तत्त्वज्ञानी मानना उचित है ।

+ परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महापुरुषोंके अनुभवमें ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, यहाँ-वहाँ, सर्वत्र नित्य-निरन्तर एक विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान हैं—एक अद्वितीय परमात्माके सिवा अन्य किसी भी पदार्थकी सत्ता ही नहीं है, इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि उनके लिये सभी ओरसे परमात्मा ही परिपूर्ण हैं ।

÷ विवेक और वैराग्यके बलसे सम्पूर्ण बाह्यविषयोंको क्षणभङ्गुर, अनित्य, दुःखमय और दुःखोंके कारण समझकर उनके संस्काररूप समस्त चित्रोंको अन्तःकरणसे निकाल देना—उनकी स्मृतिको सर्वथा नष्ट कर देना ही बाहरके विषयोंको बाहर निकाल देना है ।

ऽ नेत्रोंके द्वारा चारों ओर देखते रहनेसे तो ध्यानमें स्वाभाविक ही विघ्न—विक्षेप होता है और उन्हें बंद कर लेनेसे आलस्य और निद्राके वश हो जानेका भय है । इसीलिये नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थिर करनेको कहा गया है ।

तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके,* जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं†—ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि‡ इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है§ ॥ २७-२८ ॥

सम्बन्ध—जो मनुष्य इस प्रकार मन, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके कर्मयोग, सांख्ययोग या ध्यानयोगका साधन करनेमें अपनेको समर्थ नहीं समझता हो, ऐसे साधकके लिये सुगमतासे परमपदकी प्राप्ति करानेवाले भक्तियोगका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला,× सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर+ तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद्÷ अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ऽ ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें कर्मसंन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥ भीष्मपर्वमें उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

---

* प्राण और अपानकी स्वाभाविक गति विषम है। कभी तो वे वाम नासिकामें विचरते हैं और कभी दक्षिण नासिकामें। वाममें चलनेको इडानाडीमें चलना और दक्षिणमें चलनेको पिङ्गलामें चलना कहते हैं। ऐसी अवस्थामें मनुष्यका चित्त चञ्चल रहता है। इस प्रकार विषमभावसे विचरनेवाले प्राण और अपानकी गतिको दोनों नासिकाओंमें समानभावसे कर देना उनको सम करना है। यही उनका सुषुम्णामें चलना है। सुषुम्णा नाडीपर चलते समय प्राण और अपानकी गति बहुत ही सूक्ष्म और शान्त रहती है। तब मनकी चञ्चलता और अशान्ति अपने-आप ही नष्ट हो जाती है और वह सहज ही परमात्माके ध्यानमें लग जाता है।

† इन्द्रियाँ चाहे जब, चाहे जिस विषयमें स्वच्छन्द चली जाती हैं, मन सदा चञ्चल रहता है और अपनी आदतको छोड़ना ही नहीं चाहता, एवं बुद्धि एक परम निश्चयपर अटल नहीं रहती—यही इनका स्वतन्त्र या उच्छृङ्खल हो जाना है। विवेक और वैराग्यपूर्वक अभ्यासद्वारा इन्हें सुशृङ्खल, आज्ञाकारी और अन्तर्मुखी या भगवन्निष्ठ बना लेना ही इनको जीतना है।

‡ 'मुनि' मननशीलको कहते हैं, जो पुरुष ध्यान-कालकी भाँति व्यवहारकालमें भी परमात्माकी सर्वव्यापकताका दृढ निश्चय होनेके कारण सदा परमात्माका ही मनन करता रहता है, वही 'मुनि' है।

§ जो महापुरुष उपर्युक्त साधनोंद्वारा इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, वह ध्यानकालमें या व्यवहारकालमें, शरीर रहते या शरीर छूट जानेपर, सभी अवस्थाओंमें सदा मुक्त ही है—संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा छूटकर परमात्माको प्राप्त हो चुका है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

× अहिंसा, सत्य आदि धर्मोंका पालन, देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनोंका सेवन-पूजन, दीन-दुखी, गरीब और पीड़ित जीवोंकी स्नेह और आदरयुक्त सेवा और उनके दुःखनाशके लिये किये जानेवाले उपर्युक्त साधन एवं यज्ञ, दान आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, सभीका समावेश 'यज्ञ' और 'तप' शब्दोंमें समझना चाहिये। भगवान् सबके आत्मा हैं (गीता १० । २०), अतएव देवता, ब्राह्मण, दीन-दुखी आदिके रूपमें स्थित होकर भगवान् ही समस्त सेवा-पूजादि ग्रहण कर रहे हैं। इसलिये वे ही समस्त यज्ञ और तपोंके भोक्ता हैं (गीता ९ । २४)। इस प्रकार समझना ही भगवान्‌को 'यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला' समझना है।

\+ इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज आदि जितने भी लोकपाल हैं तथा विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें अपने-अपने ब्रह्माण्डका नियन्त्रण करनेवाले जितने भी ईश्वर हैं, भगवान् उन सभीके स्वामी और महान् ईश्वर हैं। इसीसे श्रुतिमें कहा है—'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' 'उन ईश्वरोंके भी परम महेश्वरको' (श्वेताश्वतर उप० ६। ७)। अपनी अनिर्वचनीय माया-शक्तिद्वारा भगवान् अपनी लीलासे ही सम्पूर्ण अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको यथायोग्य नियन्त्रणमें रखते हैं और ऐसा करते हुए भी वे सबसे ऊपर ही रहते हैं। इस प्रकार भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वरेश्वर समझना ही उन्हें 'सर्वलोकमहेश्वर' समझना है।

÷ भगवान् स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबके हितकी व्यवस्था करते हैं और बार-बार अवतीर्ण होकर नाना प्रकारके ऐसे विचित्र चरित्र करते हैं, जिन्हें गा-गाकर ही लोग तर जाते हैं। उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित भरा रहता है। भगवान् जिनको मारते या दण्ड देते हैं, उनपर भी दया ही करते हैं, उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे रहित नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं।

ऽ जो पुरुष इस बातको जान लेता है और विश्वास कर लेता है कि 'भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे मङ्गलके लिये ही करते हैं', वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको दयामय परमेश्वरका प्रेम और दयासे ओतप्रोत मङ्गलविधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। इसलिये उसे अटल शान्ति मिल जाती है। उसकी शान्तिमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां षष्ठोऽध्यायः)

निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन करते हुए आत्मोद्धारके लिये प्रेरणा तथा मनोनिग्रहपूर्वक ध्यानयोग एवं योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन

सम्बन्ध—पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने 'कर्मसंन्यास' (सांख्ययोग) और 'कर्मयोग'—इन दोनोंमेंसे कौन-सा एक साधन मेरे लिये सुनिश्चित कल्याणप्रद है ?—यह बतलानेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की थी । इसपर भगवान्‌ने दोनों साधनोंको कल्याणप्रद बतलाया और फलमें दोनोंकी समानता होनेपर भी साधनमें सुगमता होनेके कारण 'कर्मसंन्यास' की अपेक्षा 'कर्मयोग' की श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया । तदनन्तर दोनों साधनोंके स्वरूप, उनकी विधि और उनके फलका भलीभाँति निरूपण करके दोनोंके लिये ही अत्यन्त उपयोगी एवं परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान उपाय समझकर संक्षेपमें ध्यानयोगका भी वर्णन किया; परंतु दोनोंमेंसे कौन-सा साधन करना चाहिये, इस बातको न तो अर्जुनको स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा ही की गयी और न ध्यानयोगका ही अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित विस्तारसे वर्णन हुआ । इसलिये अब ध्यानयोगका अङ्गोंसहित विस्तृत वर्णन करनेके लिये छठे अध्यायका आरम्भ करते हुए सबसे पहले अर्जुनको भक्तियुक्त कर्मयोगमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर* करने योग्य कर्म करता है,† वह संन्यासी तथा योगी है‡ और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है§ तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है× ॥ १ ॥

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्म करनेवालेको संन्यासी और योगी बतलाया । उसपर यह शङ्का हो सकती है कि यदि 'संन्यास' और 'योग' दोनों भिन्न-भिन्न स्थिति हैं तो उपर्युक्त साधक दोनोंसे सम्पन्न कैसे हो सकता है; अतः इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये दूसरे श्लोकमें 'संन्यास' और 'योग' की एकताका प्रतिपादन करते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसीको तू

* स्त्री, पुत्र, धन, मान और बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गसुखादि परलोकके जितने भी भोग हैं, उन सभीका समावेश 'कर्मफल' में कर लेना चाहिये । साधारण मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी फलका आश्रय लेकर ही करता है । इसलिये उसके कर्म उसे बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें गिरानेवाले होते हैं । अतएव इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखोंमें हेतु समझकर समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका सर्वथा त्याग कर देना ही कर्मफलके आश्रयका त्याग करना है ।

† अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान, तप, शरीरनिर्वाह-सम्बन्धी तथा लोकसेवा आदिके लिये किये जानेवाले शुभ कर्म हैं, वे सभी करनेयोग्य कर्म हैं । उन सबको यथाविधि तथा यथायोग्य आलस्यरहित होकर अपनी शक्तिके अनुसार कर्तव्यबुद्धिसे उत्साहपूर्वक सदा करते रहना ही उनका करना है ।

‡ ऐसा कर्मयोगी पुरुष समस्त संकल्पोंका त्यागी होता है और उस यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाता है जो सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही निष्ठाओंका चरम फल है, इसलिये वह 'संन्यासित्व' और 'योगित्व' दोनों ही गुणोंसे युक्त माना जाता है ।

§ जिसने अग्निको त्यागकर संन्यास-आश्रमका तो ग्रहण कर लिया है; परंतु जो ज्ञानयोग (सांख्ययोग) के लक्षणोंसे युक्त नहीं है, वह वस्तुतः संन्यासी नहीं है, क्योंकि उसने केवल अग्निका ही त्याग किया है, समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग तथा ममता, आसक्ति और देहाभिमानका त्याग नहीं किया ।

× जो सब क्रियाओंका त्याग करके ध्यान लगाकर तो बैठ गया है, परंतु जिसके अन्तःकरणमें अहंता, ममता, राग, द्वेष, कामना आदि दोष वर्तमान हैं, वह भी वास्तवमें योगी नहीं है; क्योंकि उसने भी केवल बाहरी क्रियाओंका ही त्याग किया है, ममता, अभिमान, आसक्ति, कामना और क्रोध आदिका त्याग नहीं किया ।

योग जान;* क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है† और योगारूढ हो जानेपर उस योगारूढ पुरुषका जो सर्वसंकल्पोंका अभाव है‡ वही कल्याणमें हेतु कहा जाता है॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी§ पुरुष योगारूढ कहा जाता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—परमपदकी प्राप्तिमें हेतुरूप योगारूढ-अवस्थाका वर्णन करके अब उसे प्राप्त करनेके लिये उत्साहित करते हुए भगवान् मनुष्यका कर्तव्य बतलाते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे× और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है+ ॥ ५ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

---

* यहाँ संन्यास शब्दका अर्थ है—शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनका भाव मिटाकर केवल परमात्मामें ही अभिन्न-भावसे स्थित हो जाना । यह सांख्ययोगकी पराकाष्ठा है तथा 'योग' शब्दका अर्थ है—ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागद्वारा होनेवाली 'कर्मयोग' की पराकाष्ठारूप नैष्कर्म्य-सिद्धि । दोनोंमें ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और सांख्ययोगी जिस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है, कर्मयोगी भी उसीको प्राप्त होता है । इस प्रकार दोनोंमें ही समस्त संकल्पोंका त्याग है और दोनोंका एक ही फल है; इसलिये दोनोंकी एकता की गयी है ।

† अपने वर्ण, आश्रम, अधिकार और स्थितिके अनुकूल जिस समय जो कर्तव्य-कर्म हों, फल और आसक्तिका त्याग करके उनका आचरण करना योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें हेतु है—इसीलिये गीताके तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें भी कहा है कि कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य नैष्कर्म्य अर्थात् योगारूढ-अवस्थाको नहीं प्राप्त हो सकता ।

‡ मन वशमें होकर शान्त हो जानेपर ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव होता है । इसके अतिरिक्त कर्मोंका स्वरूपतः सर्वथा त्याग हो भी नहीं सकता । अतएव यहाँ 'शमः' का अर्थ सर्वसंकल्पोंका अभाव माना गया है ।

§ यहाँ 'संकल्पोंके त्याग' का अर्थ स्फुरणामात्रका सर्वथा त्याग नहीं है, यदि ऐसा माना जाय तो योगारूढ-अवस्थाका वर्णन ही असम्भव हो जाय । इसके अतिरिक्त गीताके चौथे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है कि 'जिस महापुरुषके समस्त कर्म कामना और संकल्पके बिना ही भलीभाँति होते हैं, उसे पण्डित कहते हैं ।' और वहाँ जिस महापुरुषकी ऐसी प्रशंसा की गयी है, वह योगारूढ नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता । ऐसी अवस्थामें यह नहीं माना जा सकता कि संकल्परहित पुरुषके द्वारा कर्म नहीं होते । इससे यही सिद्ध होता है कि संकल्पोंके त्यागका अर्थ स्फुरणा या वृत्तिमात्रका त्याग नहीं है । ममता, आसक्ति और द्वेषपूर्वक जो सांसारिक विषयोंका चिन्तन किया जाता है, उसे 'संकल्प' कहते हैं । ऐसे संकल्पोंका पूर्णतया त्याग ही 'सर्वसंकल्पसंन्यास' है ।

× मानव-जीवनके दुर्लभ अवसरको व्यर्थ न खोकर कर्मयोग, सांख्ययोग तथा भक्तियोग आदि किसी भी साधनमें लगकर अपने जन्मको सफल बना लेना ही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है ।

राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-मोह आदि दोषोंमें फँसकर भाँति-भाँतिके दुष्कर्म करना और उनके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरके परमफल भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रहकर पुनः शूकर-कूकरादि योनियोंमें जानेका कारण बनना अपनेको अधोगतिमें ले जाना है ।

मनुष्यको कभी भी यह नहीं समझना चाहिये कि प्रारब्ध बुरा है, इसलिये मेरी उन्नति होगी ही नहीं; उसका उत्थान-पतन प्रारब्धके अधीन नहीं है, उसीके हाथमें है । मनुष्य अपने स्वभाव और कर्मोंमें जितना ही अधिक सुधार कर लेता है, वह उतना ही उन्नत होता है । स्वभाव और कर्मोंका सुधार ही उन्नति या उत्थान है तथा इसके विपरीत स्वभाव और कर्मोंमें दोषोंका बढ़ना ही अवनति या पतन है ।

+ जो अपने उद्धारके लिये चेष्टा करता है, वह आप ही अपना मित्र है और जो इसके विपरीत करता है, वही अपना शत्रु है । इसलिये अपनेसे भिन्न दूसरा कोई भी अपना मित्र या शत्रु नहीं है ।

जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है,* उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें वर्तता है†॥

सम्बन्ध—जिसने मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको जीत लिया है, वह आप ही अपना मित्र क्यों है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये अब शरीर, इन्द्रिय और मनरूप आत्माको वशमें करनेका फल बतलाते हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं॥ ७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो[१] विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्-प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है॥ ८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य‡ और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला§ अत्यन्त श्रेष्ठ है॥ ९॥

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जितात्मा पुरुषको परमात्माकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये, वह किस साधनसे परमात्माको शीघ्र प्राप्त कर सकता है, इसलिये ध्यानयोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः[२]॥ १०॥

मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे॥ १०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

---

* परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्य जिन साधनोंमें अपने शरीर, इन्द्रिय और मनको लगाना चाहे, उनमें जब वे अनायास ही लग जायँ और उनके लक्ष्यसे विपरीत मार्गकी ओर ताकें ही नहीं, तब समझना चाहिये कि ये वशमें हो चुके हैं।

† असंयमी मनुष्य स्वयं मन, इन्द्रिय आदिके वश होकर कुपथ्य करनेवाले रोगीकी भाँति अपने ही कल्याणसाधनके विपरीत आचरण करता है। वह अहंता, ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिके कारण प्रमाद, आलस्य और विषय-भोगोंमें फँसकर पाप-कर्मोंके कठिन बन्धनमें पड़ जाता है एवं अपने-आपको बार-बार नरकादिमें डालकर और नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकाकर अनन्तकालतक भीषण दुःख भोगनेके लिये बाध्य करता है। यही शत्रुकी भाँति शत्रुताका आचरण करना है।

१. जो पुरुष तरह-तरहके बड़े-से-बड़े दुःखोंके आ पड़नेपर भी अपनी स्थितिसे तनिक भी विचलित नहीं होता, जिसके अन्तःकरणमें जरा भी विकार उत्पन्न नहीं होता और जो सदा-सर्वदा अचलभावसे परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है, उसे 'कूटस्थ' कहते हैं।

‡ सम्बन्ध और उपकार आदिकी अपेक्षा न करके विना ही कारण स्वभावतः प्रेम और हित करनेवाले 'सुहृद्' कहलाते हैं तथा परस्पर प्रेम और एक दूसरेका हित करनेवाले 'मित्र' कहलाते हैं। किसी निमित्तसे बुरा करनेकी इच्छा या चेष्टा करनेवाला 'वैरी' है और स्वभावसे ही प्रतिकूल आचरण करनेके कारण जो द्वेषका पात्र हो, वह 'द्वेष्य' कहलाता है। परस्पर झगड़ा करनेवालोंमें मेल करानेकी चेष्टा करनेवालेको और पक्षपात छोड़कर उनके हितके लिये न्याय करनेवालेको 'मध्यस्थ' कहते हैं तथा उनसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न रखनेवालेको 'उदासीन' कहते हैं।

§ उपर्युक्त अत्यन्त विलक्षण स्वभाववाले मित्र, वैरी, साधु और पापी आदिके आचरण, स्वभाव और व्यवहारके भेदका जिसपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, जिसकी बुद्धिमें किसी समय, किसी भी परिस्थितिमें, किसी भी निमित्तसे राग-द्वेषपूर्वक भेदभाव नहीं आता, वही समबुद्धियुक्त पुरुष है।

२. भोग-सामग्रीके संग्रहका नाम परिग्रह है, जो उससे रहित हो उसे 'अपरिग्रह' कहते हैं। वह यदि गृहस्थ हो तो किसी भी वस्तुका ममतापूर्वक संग्रह न रक्खे और यदि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी हो तो स्वरूपसे भी किसी प्रकारका शास्त्रप्रतिकूल संग्रह न करे। ऐसे पुरुष किसी भी आश्रमवाले हों 'अपरिग्रह' ही हैं।

शुद्ध भूमिमें,* जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके—॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर† अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ—॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित‡, भयरहित§ तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला× सावधान+ योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला÷ और मेरे परायणऽ होकर स्थित होवे ॥ १४ ॥

* ध्यानयोगका साधन करनेके लिये ऐसा स्थान होना चाहिये, जो स्वभावसे ही शुद्ध हो और झाड़-बुहारकर, लीप-पोतकर अथवा धो-पोंछकर स्वच्छ और निर्मल बना लिया गया हो। गङ्गा, यमुना या अन्य किसी पवित्र नदीका तीर, पर्वतकी गुफा, देवालय, तीर्थस्थान अथवा बगीचे आदि, पवित्र वायुमण्डलयुक्त स्थानोंमेंसे जो सुगमतासे प्राप्त हो सकता हो और स्वच्छ, पवित्र तथा एकान्त हो—ध्यानयोगके लिये साधकको ऐसा ही कोई एक स्थान चुन लेना चाहिये।

† यहाँ जंघासे ऊपर और गलेसे नीचेके स्थानका नाम 'काया' है, गलेका नाम 'ग्रीवा' है और उससे ऊपरके अङ्गका नाम 'शिर' है। कमर या पेटको आगे-पीछे या दाहिने-बायें किसी ओर भी न झुकाना, अर्थात् रीढ़की हड्डीको सीधी रखना, गलेको भी किसी ओर न झुकाना और सिरको भी इधर-उधर न घुमाना—इस प्रकार तीनोंको एक सूतमें सीधा रखते हुए किसी भी अङ्गको जरा भी न हिलने-डुलने देना—यही इन सबको 'सम' और 'अचल' धारण करना है। ध्यानयोगके साधनमें निद्रा, आलस्य, विक्षेप एवं शीतोष्णादि द्वन्द्व विघ्न माने गये हैं। इन दोषोंसे बचनेका यह बहुत ही अच्छा उपाय है। काया, सिर और गलेको सीधा तथा नेत्रोंको खुला रखनेसे आलस्य और निद्राका आक्रमण नहीं हो सकता। नाककी नोकपर दृष्टि लगाकर इधर-उधर अन्य वस्तुओंको न देखनेसे बाह्य विक्षेपोंकी सम्भावना नहीं रहती और आसनके दृढ़ हो जानेसे शीतोष्णादि द्वन्द्वोंसे भी बाधा होनेका भय नहीं रहता; इसलिये ध्यानयोगका साधन करते समय इस प्रकार आसन लगाकर बैठना बहुत ही उपयोगी है।

‡ ब्रह्मचर्यका तात्त्विक अर्थ दूसरा होनेपर भी वीर्यधारण उसका एक प्रधान अर्थ है और यहाँ वीर्यधारण अर्थ ही प्रसङ्गानुकूल भी है। मनुष्यके शरीरमें वीर्य ही एक ऐसी अमूल्य वस्तु है, जिसका भलीभाँति संरक्षण किये बिना शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक—किसी प्रकारका भी बल न तो प्राप्त होता है और न उसका संचय ही होता है; इसीलिये ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित होनेके लिये कहा गया है।

§ ध्यान करते समय साधकको निर्भय रहना चाहिये। मनमें जरा भी भय रहेगा तो एकान्त और निर्जन स्थानमें स्वाभाविक ही चित्तमें विक्षेप हो जायगा। इसलिये साधकको उस समय मनमें यह दृढ़ सत्य धारणा कर लेनी चाहिये कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् हैं और सर्वव्यापी होनेके कारण यहाँ भी सदा हैं ही, उनके रहते किसी बातका भय नहीं है। यदि कदाचित् प्रारब्धवश ध्यान करते-करते मृत्यु हो जाय तो उससे भी परिणाममें परम कल्याण ही होगा।

× ध्यान करते समय मनसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोध आदि दूषित वृत्तियोंको तथा सांसारिक संकल्प-विकल्पोंको सर्वथा दूर कर देना एवं वैराग्यके द्वारा मनको सर्वथा निर्मल और शान्त कर देना—यही 'प्रशान्तात्मा' होना है।

+ ध्यान करते समय साधकको निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदि विघ्नोंसे बचनेके लिये खूब सावधान रहना चाहिये। ऐसा न करनेसे मन और इन्द्रियाँ उसे धोखा देकर ध्यानमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित कर सकती हैं। इसी बातको दिखलानेके लिये 'युक्त' विशेषण दिया गया है।

÷ एक जगह न रुकना और रोकते-रोकते भी बलात्कारसे विषयोंमें चले जाना मनका स्वभाव है। इस मनको भलीभाँति रोके बिना ध्यानयोगका साधन नहीं बन सकता। इसलिये ध्यानयोगीको चाहिये कि वह ध्यान करते समय मनको बाह्य विषयोंसे भलीभाँति हटाकर परम हितैषी, परम सुहृद्, परम प्रेमास्पद परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, सम्पूर्ण जगत्से प्रेम हटाकर, एकमात्र उन्हींको अपना ध्येय बनावे और अनन्यभावसे चित्तको उन्हींमें लगानेका अभ्यास करे।

ऽ इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मुझको ही परम गति, परम ध्येय, परम आश्रय और परम महेश्वर तथा सबसे बढ़कर प्रेमास्पद मानकर निरन्तर मेरे ही आश्रित रहना और मुझीको अपना एकमात्र परम रक्षक, सहायक, स्वामी तथा जीवन, प्राण और सर्वस्व मानकर मेरे प्रत्येक विधानमें परम संतुष्ट रहना—यही मेरे (भगवान्के) परायण होना है।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ* मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है†॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! यह योग‡ न तो बहुत खानेवालेका, न बिल्कुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है§ ॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका,× कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका+ और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका÷ ही सिद्ध होता है॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए

---

* उपर्युक्त प्रकारसे मन-बुद्धिके द्वारा निरन्तर तैलधाराकी भाँति अविच्छिन्नभावसे भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करना और उसमें अटलभावसे तन्मय हो जाना ही आत्माको परमेश्वरके स्वरूपमें लगाना है ।

† जिसे नैष्ठिकी शान्ति (गीता ५ । १२), शाश्वती शान्ति (गीता ९ । ३१) और परा शान्ति (गीता १८ । ६२) कहते हैं और जिसका परमेश्वरकी प्राप्ति, परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, परम गतिकी प्राप्ति आदि नामोंसे वर्णन किया जाता है, वह शान्ति अद्वितीय अनन्त आनन्दकी अवधि है और परम दयालु, परम सुहृद्, आनन्दनिधि, आनन्दस्वरूप भगवान्में नित्य-निरन्तर अचल और अटलभावसे निवास करती है । ध्यानयोगका साधक उसी शान्तिको प्राप्त करता है ।

‡ 'योग' शब्द उस 'ध्यानयोग' का वाचक है, जो सम्पूर्ण दुःखोंका आत्यन्तिक नाश करके परमानन्द और परम शान्तिके समुद्र परमेश्वरकी प्राप्ति करा देनेवाला है ।

§ उचित मात्रामें नींद ली जाय तो उससे थकावट दूर होकर शरीरमें ताजगी आती है; परंतु वही नींद यदि आवश्यकतासे अधिक ली जाय तो उससे तमोगुण बढ़ जाता है, जिससे अनवरत आलस्य घेरे रहता है और स्थिर होकर बैठनेमें कष्ट मालूम होता है । इसके अतिरिक्त अधिक सोनेमें मानवजीवनका अमूल्य समय भी नष्ट होता है । इसी प्रकार सदा जागते रहनेसे थकावट बनी रहती है । कभी ताजगी नहीं आती । शरीर, इन्द्रिय और प्राण शिथिल हो जाते हैं, शरीरमें कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

× खाने-पीनेकी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिये जो अपने वर्ण और आश्रमधर्मके अनुसार सत्य और न्यायके द्वारा प्राप्त हों, शास्त्रानुकूल, सात्त्विक हों (गीता १७ । ८), रजोगुण और तमोगुणको बढ़ानेवाली न हों, पवित्र हों, अपनी प्रकृति, स्थिति और रुचिके प्रतिकूल न हों तथा योगसाधनमें सहायता देनेवाली हों । उनका परिमाण भी उतना ही परिमित होना चाहिये, जितना अपनी शक्ति, स्वास्थ्य और साधनकी दृष्टिसे हितकर एवं आवश्यक हो । इसी प्रकार घूमना-फिरना भी उतना ही चाहिये, जितना अपने लिये आवश्यक और हितकर हो ।

+ वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और वातावरण आदिके अनुसार जिसके लिये शास्त्रमें जो कर्तव्यकर्म बतलाये गये हैं, उन्हींका नाम कर्म है । उन कर्मोंका उचित स्वरूपमें और उचित मात्रामें यथायोग्य सेवन करना ही कर्मोंमें युक्त चेष्टा करना है । जैसे ईश्वर-भक्ति, देवपूजन, दीन-दुखियोंकी सेवा, माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनोंका पूजन, यज्ञ, दान, तप तथा जीविकासम्बन्धी कर्म यानी शिक्षा, पठन-पाठन-व्यापार आदि कर्म और शौच-स्नानादि क्रियाएँ—ये सभी कर्म वे ही करने चाहिये, जो शास्त्रविहित हों, साधुसम्मत हों, किसीका अहित करनेवाले न हों, स्वावलम्बनमें सहायक हों, किसीको कष्ट पहुँचाने या किसीपर भार डालनेवाले न हों और ध्यानयोगमें सहायक हों तथा इन कर्मोंका परिमाण भी उतना ही होना चाहिये, जितना जिसके लिये आवश्यक हो, जिससे न्यायपूर्वक शरीरनिर्वाह होता रहे और ध्यानयोगके लिये भी आवश्यकतानुसार पर्याप्त समय मिल जाय । ऐसा करनेसे शरीर, इन्द्रिय और मन स्वस्थ रहते हैं और ध्यानयोग सुगमतासे सिद्ध होता है ।

÷ दिनके समय जागते रहना, रातके समय पहले तथा पिछले पहरमें जागना और बीचके दो पहरोंमें सोना—साधारणतया इसीको उचित सोना-जागना माना जाता है ।

योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है* ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषके और उसके जीते हुए चित्तके लक्षण बतला देनेके बाद अब तीन श्लोकोंमें ध्यानयोगद्वारा सच्चिदानन्द परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है,† और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ ‡ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही संतुष्ट रहता है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है;§ उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता× और परमात्म-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता;+ ॥ २२ ॥

---

* यहाँ 'दीप' शब्द प्रकाशमान दीपशिखाका वाचक है। दीपशिखा चित्तकी भाँति प्रकाशमान और चञ्चल है, इसलिये उसीके साथ मनकी समानता है। जैसे वायु न लगनेसे दीपशिखा हिलती-डुलती नहीं, उसी प्रकार वशमें किया हुआ चित्त भी ध्यानकालमें सब प्रकारसे सुरक्षित होकर हिलता-डुलता नहीं, वह अविचल दीपशिखाकी भाँति समभावसे प्रकाशित रहता है।

† जिस समय योगीका चित्त परमात्माके स्वरूपमें सब प्रकारसे निरुद्ध हो जाता है, उसी समय उसका चित्त संसारसे सर्वथा उपरत हो जाता है; फिर उसके अन्तःकरणमें संसारके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

‡ एक विज्ञान-आनन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही है। उसके सिवा कोई वस्तु है ही नहीं, केवल एकमात्र वही परिपूर्ण है। उसका यह ज्ञान भी उसीको है; क्योंकि वही ज्ञानस्वरूप है। वह सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवद्य है। मन, बुद्धि, अहंकार, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि जो कुछ भी हैं, सब उस ब्रह्ममें ही आरोपित हैं और वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही हैं। वह आनन्दमय है और अवर्णनीय है। उसका वह आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। वह आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, विज्ञानमय है, कूटस्थ है, अचल है, ध्रुव है, अनामय है, बोधमय है, अनन्त है और शान्त है। इस प्रकार उसके आनन्दस्वरूपका चिन्तन करते हुए बार-बार ऐसी दृढ़ धारणा करते रहना चाहिये कि उस आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यदि कोई संकल्प उठे तो उसे भी आनन्दमयसे ही निकला हुआ, आनन्दमय ही समझकर आनन्दमयमें ही विलीन कर दे। इस प्रकार धारणा करते-करते जब समस्त संकल्प आनन्दमय बोधस्वरूप परमात्मामें विलीन हो जाते हैं और एक आनन्दघन परमात्माके अतिरिक्त किसी भी संकल्पका अस्तित्व नहीं रह जाता, तब साधककी आनन्दमय परमात्मामें अचल स्थिति हो जाती है। इस प्रकार नित्य-नियमित ध्यान करते-करते अपनी और संसारकी समस्त सत्ता जब ब्रह्मसे अभिन्न हो जाती है, जब सभी कुछ परमानन्द और परम-शान्तिस्वरूप ब्रह्म बन जाता है, तब साधकको परमात्माका वास्तविक साक्षात्कार सहज ही हो जाता है।

§ परमात्माके ध्यानसे होनेवाला सात्त्विक सुख भी इन्द्रियोंसे अतीत, बुद्धिग्राह्य और अक्षय सुखमें हेतु होनेसे अन्य सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है, किंतु वह केवल ध्यानकालमें ही रहता है, सदा एकरस नहीं रहता और वह चित्तकी ही एक अवस्थाविशेष होती है, इसलिये उसे 'आत्यन्तिक' या 'अक्षय सुख' नहीं कहा जा सकता। परमात्माका स्वरूपभूत यह सुख तो उस ध्यानजनित सुखका फल है। अतएव यह उससे अत्यन्त विलक्षण है।

× इस स्थितिमें योगीको परमानन्द और परमशान्तिके निधान परमात्माकी प्राप्ति हो जानेसे वह पूर्णकाम हो जाता है। उसकी दृष्टिमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोग, त्रिलोकीका राज्य और ऐश्वर्य, विश्वव्यापी मान और बड़ाई आदि जितने भी सांसारिक सुखके साधन हैं, सभी क्षणभङ्गुर, अनित्य, रसहीन, हेय, तुच्छ और नगण्य हो जाते हैं। अतः वह संसारकी किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेयोग्य ही नहीं मानता, फिर अधिक माननेकी तो गुंजाइश ही कहाँ है।

+ शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका अचानक वियोग और संसारमें अकारण ही महान् अपमान, तिरस्कार और निन्दा आदि जितने भी महान् दुःखोंके कारण हैं, सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसको अपनी स्थितिसे जरा भी नहीं डिगा सकते।

सम्बन्ध—बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस स्थितिके महत्त्व और लक्षणोंका वर्णन किया गया, अब उस स्थितिका नाम 'योग' बतलाते हुए उसे प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये * । वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे† निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है‡ ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें उसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये अभेदरूपसे परमात्माके ध्यानयोगका साधन करनेकी रीति बतलाते हैं—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर§ और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर× । क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो+ । तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे÷ ॥ २४-२५ ॥

* द्रष्टा और दृश्यका संयोग अर्थात् दृश्यप्रपञ्चसे आत्माका जो अज्ञानजनित अनादि सम्बन्ध है, वही बार-बार जन्म-मरणरूप दुःखकी प्राप्तिमें मूल कारण है । इस योगके द्वारा उसका अभाव हो जानेपर ही दुःखोंका भी सदाके लिये अभाव हो जाता है, अतः 'यत्रोपरमते चित्तम्' (गीता ६ । २०) से लेकर यहाँतक जिस स्थितिका वर्णन किया गया है, उसे प्राप्त करनेके लिये सिद्ध महात्मा पुरुषोंके पास जाकर एवं शास्त्रका अभ्यास करके उसके स्वरूप, महत्त्व और साधनकी विधिको भलीभाँति जानना चाहिये ।

† साधनका फल प्रत्यक्ष न होनेके कारण थोड़ा-सा साधन करनेके बाद मनमें जो ऐसा भाव आया करता है कि 'न जाने यह काम कबतक पूरा होगा, मुझसे हो सकेगा या नहीं'—उसीका नाम 'निर्विण्णता' अर्थात् साधनसे ऊब जाना है । ऐसे भावसे रहित जो धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त है, उसे 'अनिर्विण्णचित्त' कहते हैं, अतः साधकको अपने चित्तसे निर्विण्णताका दोष सर्वथा दूर कर देना चाहिये ।

‡ 'निश्चय' यहाँ विश्वास और श्रद्धाका वाचक है । योगीको योगसाधनमें, उसका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें, आचार्योंमें और योगसाधनके फलमें पूर्णरूपसे श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये ।

§ सम्पूर्ण कामनाओंके निःशेषरूपसे त्यागका अर्थ है—किसी भी भोगमें किसी प्रकारसे भी जरा भी वासना, आसक्ति, स्पृहा, इच्छा, लालसा, आशा या तृष्णा न रहने देना । बरतनमेंसे घी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें घीकी चिकनाहट शेष रह जाती है, अथवा डिबियामेंसे कपूर, केसर या कस्तूरी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें उसकी गन्ध रह जाती है, वैसे ही कामनाओंका त्याग कर देनेपर भी उसका सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है । उस शेष बचे हुए सूक्ष्म अंशका भी त्याग कर देना 'कामनाका निःशेषतः त्याग' है ।

× ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें श्लोकके वर्णनके अनुसार ध्यानयोगके साधनके लिये आसनपर बैठकर योगीको यह चाहिये कि वह विवेक और वैराग्यकी सहायतासे मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको सम्पूर्ण बाह्य विषयोंसे सब प्रकारसे सर्वथा हटा ले, किसी भी इन्द्रियको किसी भी विषयमें जरा भी न जाने देकर उन्हें सर्वथा अन्तर्मुखी बना दे । यही मनके द्वारा इन्द्रियसमुदायका भलीभाँति रोकना है ।

\+ जैसे छोटा बच्चा हाथमें कैंची या चाकू पकड़ लेता है तब माता समझा-बुझाकर और आवश्यक होनेपर डाँट-डपटकर भी धीरे-धीरे उसके हाथसे चाकू या कैंची छीन लेती है, वैसे ही विवेक और वैराग्यसे युक्त बुद्धिके द्वारा मनको सांसारिक भोगोंकी अनित्यता और क्षणभंगुरता समझाकर और भोगोंमें फँस जानेसे प्राप्त होनेवाले बन्धन और नरकादि यातनाओंका भय दिखलाकर उसे विषय-चिन्तनसे सर्वथा रहित कर देना चाहिये । यही शनैः-शनैः उपरतिको प्राप्त होना है ।

÷ साधक जब ध्यान करने बैठे और अभ्यासके द्वारा जब उसका मन परमात्मामें स्थिर हो जाय, तब फिर ऐसा सावधान रहे कि जिसमें मन एक क्षणके लिये भी परमात्मासे हटकर दूसरे विषयमें न जा सके । साधककी यह सजगता अभ्यासकी दृढ़तामें बड़ी सहायक होती है । प्रतिदिन ध्यान करते-करते ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़े, त्यों-ही-त्यों मनको और भी सावधानीके साथ कहीं न जाने देकर विशेषरूपसे विशेष कालतक परमात्मामें स्थिर रक्खे । फिर मनमें जिस किसी वस्तुकी प्रतीति हो, उसको कल्पनामात्र जानकर तुरंत ही त्याग दे । इस प्रकार चित्तमें स्फुरित वस्तुमात्रका त्याग करके क्रमशः

सम्बन्ध—यदि किसी साधकका चित्त पूर्वाभ्यासवश बलात्कारसे विषयोंकी ओर चला जाय तो उसे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे * ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक† परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका‡ अनुभव करता है ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अभेदभावसे साधन करनेवाले सांख्ययोगीके ध्यानका और उसके फलका वर्णन करके अब उस साधकके व्यवहारकालकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला§ तथा सबमें समभावसे देखनेवाला× योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है+ ॥ २९ ॥

शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी सत्ताका भी त्याग कर दे । सबका अभाव करते-करते जब समस्त दृश्य पदार्थ चित्तसे निकल जायँगे, तब सबके अभावका निश्चय करनेवाली एकमात्र वृत्ति रह जायगी । यह वृत्ति शुभ और शुद्ध है, परंतु दृढ़ धारणाके द्वारा इसका भी बाध करना चाहिये या समस्त दृश्य-प्रपञ्चका अभाव हो जानेके बाद यह अपने-आप ही शान्त हो जायगी; इसके बाद जो कुछ बच रहता है, वही अचिन्त्य तत्त्व है । वह केवल है और समस्त उपाधियोंसे रहित अकेला ही परिपूर्ण है । उसका न कोई वर्णन कर सकता है, न चिन्तन । अतएव इस प्रकार दृश्य-प्रपञ्च और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकारका अभाव करके तथा अभाव करनेवाली वृत्तिका भी अभाव करके अचिन्त्य-तत्त्वमें स्थित हो जाना ही परमात्मामें मनको स्थितकर अचिन्त्य होना है ।

* ध्यानके समय साधकको ज्यों ही पता चले कि मन अन्यत्र विषयोंमें गया, त्यों ही बड़ी सावधानी और दृढ़ताके साथ उसे रोककर तुरंत परमात्मामें लगावे । यों बार-बार विषयोंसे हटा-हटाकर उसे परमात्मामें लगानेका अभ्यास करे ।

१. विवेक और वैराग्यके प्रभावसे विषय-चिन्तन छोड़कर और चञ्चलता तथा विक्षेपसे रहित होकर जिसका चित्त सर्वथा स्थिर और सुप्रसन्न हो गया है, ऐसे योगीको 'प्रशान्तमनाः' कहते हैं ।

२. आसक्ति, स्पृहा, कामना, लोभ, तृष्णा और सकामकर्म—इन सबकी रजोगुणसे ही उत्पत्ति होती है (गीता १४ । ७, १२) और यही रजोगुणको बढ़ाते भी हैं । अतएव जो पुरुष इन सबसे रहित है, उसीका वाचक 'शान्तरजसम्' पद है ।

३. मैं देह नहीं, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते साधककी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें दृढ़ स्थिति हो जाती है । इस प्रकार अभिन्नभावसे ब्रह्ममें स्थित पुरुषको 'ब्रह्मभूत' कहते हैं ।

† जब साधकमें देहाभिमान नहीं रहता, उसकी ब्रह्मके स्वरूपमें अभेदरूपसे स्थिति हो जाती है, तब उसको ब्रह्मकी प्राप्ति सुखपूर्वक होती ही है ।

‡ इसी अनन्त आनन्दको इस अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख' और गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'अक्षय सुख' बतलाया गया है ।

§ सच्चिदानन्द, निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें जिसकी अभिन्नभावसे स्थिति हो गयी है, ऐसे ही ब्रह्मभूत योगीका वाचक यहाँ 'योगयुक्तात्मा' पद है । इसीका वर्णन गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' के नामसे तथा पाँचवेंके चौबीसवें, छठेके सत्ताईसवें और अठारहवेंके चौवनवें श्लोकमें 'ब्रह्मभूत' के नामसे हुआ है ।

× गीताके पाँचवें अध्यायके अठारहवें और इसी अध्यायके बत्तीसवें श्लोकोंमें ज्ञानी महात्माके समदर्शनका वर्णन आया है, उसी प्रकारसे यह योगी सबके साथ शास्त्रानुकूल यथायोग्य सद्व्यवहार करता हुआ नित्य-निरन्तर सभीमें अपने स्वरूपभूत एक ही अखण्ड चेतन आत्माको देखता है । यही उसका सबमें समभावसे देखना है ।

+ एक अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सत्य तत्त्व हैं, उनसे भिन्न यह सम्पूर्ण जगत् कुछ भी नहीं



सबमें भगवद्दर्शन

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगका साधन करनेवाले योगी-का और उसकी सर्वत्र समदर्शनरूप अन्तिम स्थितिका वर्णन करनेके बाद, अब भक्तियोगका साधन करनेवाले योगीकी अन्तिम स्थितिका और उसके सर्वत्र भगवद्दर्शनका वर्णन करते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है* उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता† ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर‡ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, § वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है× ॥ ३१ ॥

है । इस रहस्यको भलीभाँति समझकर उनमें अभिन्नभावसे स्थित होकर जो स्वप्नके दृश्यवर्गमें स्वप्नद्रष्टा पुरुषकी भाँति चराचर सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक अद्वितीय आत्माको ही अधिष्ठानरूपमें परिपूर्ण देखना है अर्थात् 'एक अद्वितीय आत्मा ही इन सबके रूपमें दीख रहा है, वास्तवमें उनके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं ।' इस बातको जो भलीभाँति अनुभव करना है, यही सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको देखना है । इसी तरह जो समस्त चराचर प्राणियोंको आत्मामें कल्पित देखना है, यानी जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्को या नाना प्रकारकी कल्पना करनेवाला मनुष्य कल्पित दृश्योंको अपने ही संकल्पके आधारपर अपनेमें देखता है वैसे ही देखना, सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखना है । इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्ने आत्माके साथ 'सर्वभूतस्थम्' विशेषण देकर आत्माको भूतोंमें स्थित देखनेकी बात कही, किंतु भूतोंको आत्मामें स्थित देखनेकी बात न कहकर केवल देखनेके लिये ही कहा ।

* जैसे बादलमें आकाश और आकाशमें बादल है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें भगवान् वासुदेव हैं और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूत हैं—इस प्रकार अनुभव करना सम्पूर्ण भूतोंमें वासुदेवको और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूतोंको देखना है; क्योंकि सम्पूर्ण चराचर जगत् उन्हींसे उत्पन्न होता है, अतएव वे ही इसके महाकारण हैं तथा जैसे बादलोंका आधार आकाश है, आकाशके बिना बादल रहें ही कहाँ ? एक बादल ही क्यों—वायु, तेज, जल आदि कोई भी भूत आकाशके आश्रय बिना नहीं ठहर सकता, वैसे ही इस सम्पूर्ण चराचर विश्वके एकमात्र परमाधार परमेश्वर ही हैं (गीता १० । ४२) ।

अतएव जिस प्रकार एक ही चतुर बहुरूपिया नाना प्रकारके वेष धारण करके आता है और जो उस बहुरूपियेसे और उसकी बोलचाल आदिसे परिचित है, वह सभी रूपोंमें उसे पहचान लेता है, वैसे ही समस्त जगत्में जितने भी रूप हैं, सब श्रीभगवान्के ही वेष हैं । इस प्रकार जो समस्त जगत्के सब प्राणियोंमें उनको पहचान लेते हैं, वे चाहे वेष-भेदके कारण बाहरसे व्यवहारमें भेद रक्खें, परंतु हृदयसे तो उनकी पूजा ही करते हैं ।

† अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, औदार्य आदिके अनन्त समुद्र, रसमय और आनन्दमय भगवान्के देवदुर्लभ सच्चिदानन्दस्वरूपके साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद भक्त और भगवान्का संयोग सदाके लिये अविच्छिन्न हो जाता है ।

‡ सर्वदा और सर्वत्र अपने एकमात्र इष्टदेव भगवान्का ध्यान करते-करते साधक अपनी भिन्न स्थितिको सर्वथा भूलकर इतना तन्मय हो जाता है कि फिर उसके ज्ञानमें एक भगवान्के सिवा और कुछ रह ही नहीं जाता । भगवत्प्राप्ति-रूप ऐसी स्थितिको भगवान्में एकीभावसे स्थित होना कहते हैं ।

§ जैसे भाप, बादल, कुहरा, बूँद और बर्फ आदिमें सर्वत्र जल भरा है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर विश्वमें एक भगवान् ही परिपूर्ण हैं—इस प्रकार जानना और प्रत्यक्ष देखना ही सब भूतोंमें स्थित भगवान्को भजना है ।

× जिस पुरुषको भगवान् श्रीवासुदेवकी प्राप्ति हो गयी है, उसको प्रत्यक्षरूपसे सब कुछ वासुदेव ही दिखलायी देता है । ऐसी अवस्थामें उस भक्तके शरीर, वचन और मनसे जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, उसकी दृष्टिमें सब एकमात्र भगवान्के ही साथ होती हैं । वह हाथोंसे किसीकी सेवा करता है तो वह भगवान्की ही सेवा करता है, किसीको मधुर वाणीसे सुख पहुँचाता है तो वह भगवान्को ही सुख पहुँचाता है, किसीको देखता है तो वह भगवान्को ही देखता है, किसीके साथ कहीं जाता है तो वह भगवान्के साथ भगवान्की ओर ही जाता है । इस प्रकार वह जो कुछ भी करता है, सब भगवान्में ही और भगवान्के ही साथ करता है । इसीलिये यह कहा गया है कि वह सब प्रकारसे बरतता हुआ (सब कुछ करता हुआ) भी भगवान्में ही बरतता है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भक्तियोगद्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके महत्त्वका प्रतिपादन करके अब सांख्ययोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके समदर्शनका और महत्त्वका प्रतिपादन करते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है* और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है,† वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन ! जो यह योग‡ आपने समभावसे कहा है, मनके चञ्चल होनेसे मैं इसकी नित्य स्थितिको नहीं देखता हूँ§ ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

क्योंकि हे श्रीकृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथन स्वभाववाला,× बड़ा दृढ़+ और बलवान्÷ है। इसलिये उसका वशमें करना मैं वायुके रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँऽ ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो ! निःसंदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास=और वैराग्यसे A वशमें होता है॥ ३५॥

---

* जैसे मनुष्य अपने सारे अङ्गोंमें अपने आत्माको समभावसे देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर संसारमें अपने आपको समभावसे देखना—अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखना है।

† सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जानेके कारण समस्त विराट् विश्व उपर्युक्त योगीका स्वरूप बन जाता है। जगत्‌में उसके लिये दूसरा कुछ रहता ही नहीं। इसलिये जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये ही अथक चेष्टा करता रहता है और ऐसा करके न वह कभी अपनेपर अपनेको कृपा करनेवाला मानकर बदलेमें कृतज्ञता चाहता है, न कोई अहसान करता है और न अपने-को 'कर्तव्यपरायण' समझकर अभिमान ही करता है, वह अपने सुखकी चेष्टा इसीलिये करता है कि उससे वैसा किये बिना रहा ही नहीं जाता, यह उसका सहज स्वभाव होता है; ठीक वैसे ही वह योगी समस्त विश्वको कभी किसी प्रकार किंचित् भी दुःख न पहुँचाकर सदा उसके सुखके लिये सहज स्वभावसे ही चेष्टा करता है।

‡ कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग या ज्ञानयोग आदि साधनोंकी पराकाष्ठारूप समताको ही यहाँ 'योग' कहा गया है।

§ 'चञ्चलता' चित्तके विक्षेपको कहते हैं। विक्षेपमें प्रधान कारण हैं—राग-द्वेष। जहाँ राग-द्वेष हैं, वहाँ 'समता' नहीं रह सकती; क्योंकि 'राग-द्वेष' से 'समता'का अत्यन्त विरोध है। इसीलिये 'समता'की स्थितिमें मनकी चञ्चलताको बाधक माना गया है।

× मन दीपशिखाकी भाँति चञ्चल तो है ही, परंतु मथानीके सदृश प्रमथनशील भी है। जैसे दूध-दहीको मथानी मथ डालती है, वैसे ही मन भी शरीर और इन्द्रियोंको बिल्कुल क्षुब्ध कर देता है।

+ यह चञ्चल, प्रमाथी और बलवान् मन तन्तुनाग (गोह) के सदृश अत्यन्त दृढ़ भी है। यह जिस विषयमें रमता है, उसको इतनी मजबूतीसे पकड़ लेता है कि उसके साथ तदाकार-सा हो जाता है। इसको 'दृढ़' बतलानेका यही भाव है।

÷ जैसे बड़े पराक्रमी हाथीपर बार-बार अङ्कुश-प्रहार होनेपर भी कुछ असर नहीं होता, वह मनमानी करता ही रहता है, वैसे ही विवेकरूपी अङ्कुशके द्वारा बार-बार प्रहार करनेपर भी यह बलवान् मन विषयोंके बीहड़ वनसे निकलना नहीं चाहता।

ऽ जैसे शरीरमें निरन्तर चलनेवाले श्वासोच्छ्वासरूपी वायुके प्रवाहको हठ, विचार, विवेक और बल आदि साधनोंके द्वारा रोक लेना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार विषयोंमें निरन्तर विचरनेवाले, चञ्चल, प्रमथनशील, बलवान् और दृढ़ मनको रोकना भी अत्यन्त कठिन है।

= मनको किसी लक्ष्य विषयमें तदाकार करनेके लिये, उसे अन्य विषयोंसे खींच-खींचकर बार-बार उस विषयमें लगानेके लिये किये जानेवाले प्रयत्नका नाम ही अभ्यास है। यह प्रसंग परमात्मामें मन लगानेका है, अतएव परमात्माको अपना लक्ष्य बनाकर चित्तवृत्तियोंके प्रवाहको बार-बार उन्हींकी ओर लगानेका प्रयत्न करना यहाँ 'अभ्यास' है। इसका विस्तार गीताके बारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें देखना चाहिये।

A इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमेंसे जब आसक्ति और समस्त कामनाओंका पूर्णतया नाश हो जाता है, तब उसे 'वैराग्य' कहते हैं।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि मनको वशमें न किया जाय, तो क्या हानि है; इसपर भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है* और वशमें किये हुए मनवाले† प्रयत्नशील पुरुषद्वारा‡ साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है ॥ ३६ ॥

सम्बन्ध—योगसिद्धिके लिये मनको वशमें करना परम आवश्यक बतलाया गया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि जिसका मन वशमें नहीं है, किंतु योगमें श्रद्धा होनेके कारण जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसकी मरनेके बाद क्या गति होती है; इसीके लिये अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अयतिः[1] श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं[2] कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—हे श्रीकृष्ण ! जो योगमें श्रद्धा रखनेवाला है, किंतु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकालमें योगसे विचलित हो गया है,§ ऐसा साधक योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत्साक्षात्कारको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

वैराग्यकी प्राप्तिके लिये अनेकों साधन हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) संसारके पदार्थोंमें विचारके द्वारा रमणीयता, प्रेम और सुखका अभाव देखना ।

(२) उन्हें जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि दुःख-दोषोंसे युक्त, अनित्य और भयदायक मानना ।

(३) संसारके और भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वका निरूपण करनेवाले सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करना ।

(४) परम वैराग्यवान् पुरुषोंका संग करना, संगके अभावमें उनके वैराग्यपूर्ण चित्र और चरित्रोंका स्मरण, मनन करना ।

(५) संसारके टूटे हुए विशाल महलों, वीरान हुए नगरों और गाँवोंके खँडहरोंको देखकर जगत्‌को क्षणभङ्गुर समझना ।

(६) एकमात्र ब्रह्मकी ही अखण्ड, अद्वितीय सत्ताका बोध करके अन्य सबकी भिन्न सत्ताका अभाव समझना ।

(७) अधिकारी पुरुषोंके द्वारा भगवान्‌के अकथनीय गुण, प्रभाव, तत्त्व, प्रेम, रहस्य तथा उनके लीला-चरित्रोंका एवं दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यका बार-बार श्रवण करना, उन्हें जानना और उनपर पूर्ण श्रद्धा करके मुग्ध होना ।

* जो अभ्यास और वैराग्यके द्वारा अपने मनको वशमें नहीं कर लेते, उनके मनपर राग-द्वेषका अधिकार रहता है और राग-द्वेषकी प्रेरणासे वह बंदरकी भाँति संसारमें ही इधर-उधर उछलता-कूदता रहता है। जब मन भोगोंमें इतना आसक्त होता है, तब उसकी बुद्धि भी बहुशाखावाली और अस्थिर ही बनी रहती है (गीता २ । ४१–४४)। ऐसी अवस्थामें उसे 'समत्वयोग' की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

† वशमें हो जानेपर चित्तकी चञ्चलता, प्रमथनशीलता, बलवत्ता और कठिन आग्रहकारिता दूर हो जाती है। वह सीधा, सरल और शान्त हो जाता है; फिर उसे जब, जहाँ और जितनी देरतक लगाया जाय, चुपचाप लगा रहता है। यही मनके वशमें हो जानेकी पहचान है ।

‡ मनके वशमें हो जानेके बाद भी यदि प्रयत्न न किया जाय—उस मनको परमात्मामें पूर्णतया लगानेका तीव्र साधन न किया जाय तो उससे समत्वयोगकी प्राप्ति अपने-आप नहीं हो जाती। अतः 'प्रयत्न' की आवश्यकता सिद्ध करनेके लिये ही प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे योगका प्राप्त होना सहज बतलाया गया है ।

१. पिछले श्लोकमें जिसका मन वशमें नहीं है, उस 'असंयतात्मा' के लिये योगका प्राप्त होना कठिन बतलाया गया है। वही बात अर्जुनके इस प्रश्नका बीज है। इस कारण 'जिसका मन जीता हुआ नहीं है' ऐसे साधकके लक्ष्यसे 'अयतिः' पदका 'असंयमी' अर्थ किया गया है।

२. सब प्रकारके योगोंके परिणामरूप समभावका फल जो परमात्माकी प्राप्ति है, उसका वाचक यहाँ 'योगसंसिद्धिम्' पद है ।

§ यहाँ 'योग' शब्द परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले सांख्ययोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंसे होनेवाले समभावका वाचक है। शरीरसे प्राणोंका वियोग होते समय जो समभावसे या परमात्माके स्वरूपसे मनका विचलित हो जाना है, यही मनका योगसे विचलित हो जाना है और इस प्रकार मनके विचलित होनेमें मनकी चञ्चलता, आसक्ति, कामना, शरीरकी पीड़ा और बेहोशी आदि बहुत-से कारण हो सकते हैं ।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो ! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ?* ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हे श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशयको सम्पूर्णरूपसे छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है† ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही; क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धारके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता‡ ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

योगभ्रष्ट पुरुष§ पुण्यवानोंके लोकोंको अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

सम्बन्ध—साधारण योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गति बतलाकर अब आसक्तिरहित उच्च श्रेणीके योगभ्रष्ट पुरुषोंकी विशेष गतिका वर्णन करते हैं—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है; परंतु इस प्रकारका जो यह जन्म है सो संसारमें निःसंदेह अत्यन्त दुर्लभ है× ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है ॥

सम्बन्ध—अब पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट

---

* यहाँ अर्जुनका अभिप्राय यह है कि जीवनभर फलेच्छाका त्याग करके कर्म करनेसे स्वर्गादि भोग तो उसे मिलते नहीं और अन्त समयमें परमात्माकी प्राप्तिके साधनसे मन विचलित हो जानेके कारण भगवत्प्राप्ति भी नहीं होती। अतएव जैसे बादलका एक टुकड़ा उससे पृथक् होकर पुनः दूसरे बादलसे संयुक्त न होनेपर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही वह साधक स्वर्गादि लोक और परमात्मा—दोनोंकी प्राप्तिसे वञ्चित होकर नष्ट तो नहीं हो जाता यानी उसकी कहीं अधोगति तो नहीं होती ?

† यहाँ अर्जुन भगवान्‌में अपना विश्वास प्रकट करते हुए प्रार्थना कर रहे हैं कि आप सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण मर्यादाओंके निर्माता और नियन्त्रणकर्ता साक्षात् परमेश्वर हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके अनन्त जीवोंकी समस्त गतियोंके रहस्यका आपको पूरा पता है और समस्त लोक-लोकान्तरोंकी त्रिकालमें होनेवाली समस्त घटनाएँ आपके लिये सदा ही प्रत्यक्ष हैं। ऐसी अवस्थामें योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गतिका वर्णन करना आपके लिये बहुत ही आसान बात है। जब आप स्वयं यहाँ उपस्थित हैं, तब मैं और किससे पूछूँ और वस्तुतः आपके सिवा इस रहस्यको दूसरा बतला ही कौन सकता है ! अतएव कृपापूर्वक आप ही इस रहस्यको खोलकर मेरे संशयजालका छेदन कीजिये।

‡ जो साधक अपनी शक्तिके अनुसार श्रद्धापूर्वक कल्याणका साधन करता है, उसकी किसी भी कारणसे कभी शूकर, कूकर, कीट, पतङ्ग आदि नीच योनियोंकी प्राप्तिरूप या कुम्भीपाक आदि नरकोंकी प्राप्तिरूप दुर्गति नहीं हो सकती।

§ ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और कर्मयोग आदिका साधन करनेवाले जिस पुरुषका मन विक्षेप आदि दोषोंसे या विषयासक्ति अथवा रोगादिके कारण अन्तकालमें लक्ष्यसे विचलित हो जाता है, उसे 'योगभ्रष्ट' कहते हैं।

१. योगभ्रष्ट पुरुषोंमेंसे जिनके मनमें विषयासक्ति होती है, वे तो स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं और पवित्र धनियोंके घरोंमें जन्म लेते हैं; परंतु जो वैराग्यवान् पुरुष होते हैं, वे न तो किसी लोकमें जाते हैं और न उन्हें धनियोंके घरोंमें ही जन्म लेना पड़ता है। वे तो सीधे ज्ञानवान् सिद्ध योगियोंके घरोंमें ही जन्म लेते हैं। पूर्ववर्णित योगभ्रष्टोंसे इन्हें पृथक् करनेके लिये 'अथवा' का प्रयोग किया गया है।

×परमार्थसाधन (योगसाधन) की जितनी सुविधा योगियोंके कुलमें जन्म लेनेपर मिल सकती है, उतनी स्वर्गमें, श्रीमानोंके घरमें अथवा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकती। योगियोंके कुलमें तदनुकूल वातावरणके प्रभावसे मनुष्य प्रारम्भिक जीवनमें ही योगसाधनमें लग सकता है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानीके कुलमें जन्म लेनेवाला अज्ञानी नहीं रहता, यह सिद्धान्त श्रुतियोंसे भी प्रमाणित है। इसीलिये ऐसे जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बतलाया गया है।

पुरुषकी परिस्थितिका वर्णन करते हुए योगको जाननेकी इच्छाका महत्त्व बतलाते हैं—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निस्संदेह भगवान्‌की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकामकर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है* ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

परंतु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी† तो पिछले अनेक जन्मोंके संस्कारबलसे इसी जन्ममें संसिद्ध होकर‡ सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो फिर तत्काल ही परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥४६॥

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकामकर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है,§ इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें योगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर भगवान्‌ने अर्जुनको योगी बननेके लिये कहा; किंतु ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदि साधनोंमेंसे अर्जुनको कौन-सा साधन करना चाहिये ? इस बातका स्पष्टीकरण नहीं किया । अतः अब भगवान् अपनेमें अनन्यप्रेम करनेवाले भक्त योगीकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनको अपनी ओर आकर्षित करते हैं—

योगिनामपि[1] सर्वेषां[1] मद्गतेनान्तरात्मना[2] ।
श्रद्धावान्[3]भजते[4] यो मां[5] स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

---

* जो योगका जिज्ञासु है, योगमें श्रद्धा रखता है और उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, वह मनुष्य भी वेदोक्त सकामकर्मके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके भोगजनित सुखको पार कर जाता है तो फिर जन्म-जन्मान्तरसे योगका अभ्यास करनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

† तैंतालीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष उस जन्ममें योगसिद्धिकी प्राप्तिके लिये अधिक प्रयत्न करता है । इस श्लोकमें उसी योगीको परमगतिकी प्राप्ति बतलायी जाती है, इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'योगी' को 'प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करनेवाला' बतलाया गया है; क्योंकि उसके प्रयत्नका फल वहाँ उस श्लोकमें नहीं बतलाया गया था, उसे यहाँ बतलाया गया है ।

‡ पिछले अनेक जन्मोंमें किया हुआ अभ्यास और इस जन्मका अभ्यास दोनों ही उसे योगसिद्धिकी प्राप्ति करानेमें अर्थात् साधनकी पराकाष्ठातक पहुँचानेमें हेतु हैं, क्योंकि पूर्व संस्कारोंके बलसे ही वह विशेष प्रयत्नके साथ इस जन्ममें साधनका अभ्यास करके साधनकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता है ।

§ सकामभावसे यज्ञ-दानादि शास्त्रविहित क्रिया करनेवालेका नाम ही 'कर्मी' है । इसमें क्रियाकी बहुलता है । तपस्वीमें क्रियाकी प्रधानता नहीं, मन और इन्द्रियके संयमकी प्रधानता है और शास्त्रज्ञानीमें शास्त्रीय बौद्धिक आलोचनाकी प्रधानता है । इसी विलक्षणताको ध्यानमें रखकर कर्मी, तपस्वी और शास्त्रज्ञानीका अलग-अलग निर्देश किया गया है ।

१. गीताके चौथे अध्यायमें चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवत्प्राप्तिके जितने भी साधन यज्ञके नामसे बतलाये गये हैं, उनके अतिरिक्त और भी भगवत्प्राप्तिके जिन-जिन साधनोंका अबतक वर्णन किया गया है, उन सबकी पराकाष्ठाका नाम 'योग' होनेके कारण विभिन्न साधन करनेवाले बहुत प्रकारके 'योगी' हो सकते हैं । उन सभी प्रकारके योगियोंका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ 'योगिनाम्' पदके साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके 'सर्वेषाम्' विशेषण दिया गया है ।

२. इससे भगवान् यह दिखलाते हैं कि मुझको ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वगुणाधार, सर्वशक्तिमान् और महान् प्रियतम जान लेनेसे जिसका मुझमें अनन्य प्रेम हो गया है और इसलिये जिसका मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण अचल, अटल और अनन्यभावसे मुझमें ही स्थित हो गया है, उसके अन्तःकरणको 'मद्गत अन्तरात्मा' या मुझमें लगा हुआ अन्तरात्मा कहते हैं ।

३. जो भगवान्‌की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, उनके वचनोंमें, उनके अचिन्त्यानन्त दिव्य गुणोंमें तथा नाम और लीलामें एवं उनकी महिमा, शक्ति, प्रभाव और ऐश्वर्य आदिमें प्रत्यक्षके सदृश पूर्ण और अटल विश्वास रखता हो, उसे 'श्रद्धावान्' कहते हैं ।

४. सब प्रकार और सब ओरसे अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाकर परम श्रद्धा और प्रेमके साथ चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, प्रत्येक क्रिया करते अथवा एकान्तमें स्थित रहते, निरन्तर श्रीभगवान्‌का भजन-ध्यान करना ही 'भजते' का अर्थ है ।

५. यहाँ 'माम्' पद निरतिशय ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदिके परम आश्रय, सौन्दर्य, माधुर्य और

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है* ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ भीष्मपर्वणि तु त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें आत्मसंयमयोग नामक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥ भीष्मपर्वमें तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तमोऽध्यायः)

ज्ञान-विज्ञान, भगवान्की व्यापकता, अन्य देवताओंकी उपासना एवं भगवान्को प्रभावसहित न जाननेवालोंकी निन्दा और जाननेवालोंकी महिमाका कथन

सम्बन्ध—छठे अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान्ने कहा कि—'अन्तरात्माको मुझमें लगाकर जो श्रद्धा और प्रेमके साथ मुझको भजता है, वह सब प्रकारके योगियोंमें उत्तम योगी है।' परंतु भगवान्के स्वरूप, गुण और प्रभावको मनुष्य जबतक नहीं जान पाता, तबतक उसके द्वारा अन्तरात्मासे निरन्तर भजन होना बहुत कठिन है; साथ ही भजनका प्रकार जानना भी आवश्यक है। इसलिये अब भगवान् अपने गुण, प्रभावके सहित समग्र स्वरूपका तथा अनेक प्रकारोंसे युक्त भक्तियोगका वर्णन करनेके लिये सातवें अध्यायका आरम्भ करते हैं और सबसे पहले दो श्लोकोंमें अर्जुनको उसे सावधानीके साथ सुननेके लिये प्रेरणा करके ज्ञान-विज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! अनन्यप्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्यभावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ† तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा,‡ उसको सुन ॥ १ ॥

औदार्यके अनन्त समुद्र, परम दयालु, परम सुहृद्, परम प्रेमी, दिव्य अचिन्त्यानन्दस्वरूप, नित्य, सत्य, अज और अविनाशी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वदिव्यगुणालङ्कृत, सर्वात्मा, अचिन्त्य महत्त्वसे महिमान्वित, चित्र-विचित्र लीलाकारी, लीलामात्रसे प्रकृतिद्वारा सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले तथा रससागर, रसमय, आनन्दकन्द, सगुण-निर्गुणरूप समग्र ब्रह्म पुरुषोत्तमका वाचक है।

* श्रीभगवान् यहाँपर अपने प्रेमी भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए मानो कहते हैं कि यद्यपि मुझे तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी आदि सभी प्यारे हैं और इन सबसे भी वे योगी मुझे अधिक प्यारे हैं, जो मेरी ही प्राप्तिके लिये साधन करते हैं, परंतु जो मेरे समग्ररूपको जानकर मुझसे अनन्यप्रेम करता है, केवल मुझको ही अपना परम प्रेमास्पद मानकर, किसी बातकी अपेक्षा, आकाङ्क्षा और परवा न रखकर अपने अन्तरात्माको दिन-रात मुझमें ही लगाये रखता है, वह मेरा अपना है, मेरा ही है, उससे बढ़कर मेरा प्रियतम और कौन है ! जो मेरा प्रियतम है, वही तो श्रेष्ठ है; इसलिये मेरे मनमें वही सर्वोत्तम भक्त है और वही सर्वोत्तम योगी है।

१. इस लोक और परलोकके किसी भी भोगके प्रति जिसके मनमें तनिक भी आसक्ति नहीं रह गयी है तथा जिसका मन सब ओरसे हटकर एकमात्र परम प्रेमास्पद, सर्वगुणसम्पन्न परमेश्वरमें इतना अधिक आसक्त हो गया है कि जलके जरा-से वियोगमें परम व्याकुल हो जानेवाली मछलीके समान जो क्षणभर भी भगवान्के वियोग और विस्मरणको सहन नहीं कर सकता, वह 'मय्यासक्तमनाः' है।

२. जो पुरुष संसारके सम्पूर्ण आश्रयोंका त्याग करके समस्त आशाओं और भरोसोंसे मुँह मोड़कर एकमात्र भगवान्-पर ही निर्भर करता है और सर्वशक्तिमान् भगवान्को ही परम आश्रय तथा परम गति जानकर एकमात्र उन्हींके भरोसेपर सदाके लिये निश्चिन्त हो गया है, वह 'मदाश्रयः' है।

† मन और बुद्धिको अचलभावसे भगवान्में स्थिर करके नित्य-निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनका चिन्तन करना ही योगमें लग जाना है।

‡ भगवान् नित्य हैं, सत्य हैं, सनातन हैं; वे सर्वगुणसम्पन्न, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्वरूप

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको* सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता† ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है‡ और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है§।३।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी——इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा× अर्थात् मेरी जड प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरीको, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान+॥ ४-५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं÷ और मैं सम्पूर्ण जगत्का

हैं तथा स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्के रूपमें प्रकट होते हैं। वस्तुतः उनके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं; व्यक्त, अव्यक्त और सगुण-निर्गुण सब वे ही हैं। इस प्रकार उन भगवान्के स्वरूपको निर्भ्रान्त और असंदिग्धरूपसे समझ लेना ही समग्र भगवान्को संशयरहित जानना है।

* भगवान्के निर्गुण-निराकार तत्त्वका जो प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसहित यथार्थ ज्ञान है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं; इसी प्रकार उनके सगुण निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसहित यथार्थ ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है।

† ज्ञान और विज्ञानके द्वारा भगवान्के समग्र स्वरूपकी भलीभाँति उपलब्धि हो जाती है। यह विश्व-ब्रह्माण्ड तो समग्र रूपका एक क्षुद्र-सा अंशमात्र है। जब मनुष्य भगवान्के समग्र रूपको जान लेता है, तब स्वभावतः ही उसके लिये कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता।

‡ भगवत्कृपाके फलस्वरूप मनुष्य-शरीर प्राप्त होनेपर भी जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति और भगवान्में श्रद्धा-प्रेमका अभाव या कमी रहनेके कारण अधिकांश मनुष्य तो इस मार्गकी ओर मुँह ही नहीं करते। जिसके पूर्वसंस्कार शुभ होते हैं, भगवान्, महापुरुष और शास्त्रोंमें जिसकी कुछ श्रद्धा-भक्ति होती है तथा पूर्वपुण्योंके पुञ्जसे और भगवत्कृपासे जिसको सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है, हजारों मनुष्योंमेंसे ऐसा कोई बिरला ही इस मार्गमें प्रवृत्त होकर प्रयत्न करता है।

§ चेष्टाके तारतम्यसे सबका साधन एक-सा नहीं होता। अहंकार, ममत्व, कामना, आसक्ति और सङ्गदोष आदिके कारण नाना प्रकारके विघ्न भी आते ही रहते हैं। अतएव साधन करनेवालोंमें भी बहुत थोड़े ही पुरुष ऐसे निकलते हैं जिनकी श्रद्धा-भक्ति और साधना पूर्ण होती है और उसके फलस्वरूप इसी जन्ममें वे भगवान्का साक्षात्कार कर लेते हैं।

× गीताके तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने जिस अव्यक्त मूल प्रकृतिके तेईस कार्य बतलाये हैं, उसीको यहाँ आठ भेदोंमें विभक्त बतलाया है। यह 'अपरा प्रकृति' ज्ञेय तथा जड होनेके कारण ज्ञाता चेतन जीवरूपा 'परा प्रकृति' से सर्वथा भिन्न और निकृष्ट है; यही संसारकी हेतुरूप है और इसीके द्वारा जीवका बन्धन होता है। इसीलिये इसका नाम 'अपरा प्रकृति' है।

+ समस्त जीवोंके शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण तथा भोग्यवस्तुएँ और भोगस्थानमय इस सम्पूर्ण व्यक्त प्रकृतिका नाम जगत् है। ऐसा यह जगत्रूप जड तत्त्व चेतन तत्त्वसे व्याप्त है। अतः उसीने इसे धारण कर रक्खा है।

÷ अचर और चर जितने भी छोटे-बड़े सजीव प्राणी हैं, उन सभी सजीव प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि इन 'अपरा' (जड) और 'परा' (चेतन) प्रकृतियोंके संयोगसे ही होती हैं। इसलिये उनकी उत्पत्तिमें ये ही दोनों कारण हैं। यही बात गीताके तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके नामसे कही गयी है।

प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का मूलकारण हूँ*॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

हे धनंजय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मनियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है† ॥ ७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

हे अर्जुन! मैं जलमें रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ॥ ८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

मैं पृथिवीमें पवित्र‡ गन्ध और अग्निमें तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूँ और तपस्वियोंमें तप हूँ॥ ९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मुझको ही जान§! मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ×॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूँ+॥ ११॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रधान-प्रधान वस्तुओंमें साररूपसे अपनी व्यापकता बतलाते हुए भगवान्ने प्रकारान्तरसे समस्त जगत्में अपनी सर्वव्यापकता और सर्वस्वरूपता सिद्ध कर दी, अब अपनेको ही त्रिगुणमय जगत्का मूल कारण बतलाकर इस प्रसंगका उपसंहार करते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुणसे तथा तमोगुणसे होनेवाले भाव हैं, उन सबको

---

* जैसे बादल आकाशसे उत्पन्न होते हैं, आकाशमें रहते हैं और आकाशमें ही विलीन हो जाते हैं तथा आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, वैसे ही यह सारा विश्व भगवान्से ही उत्पन्न होता है, भगवान्में ही स्थित है और भगवान्में ही विलीन हो जाता है। भगवान् ही इसके एकमात्र महान् कारण और परम आधार हैं।

† जैसे सूतकी डोरीमें उसी सूतकी गाँठें लगाकर उन्हें मनिये मानकर माला बना लेते हैं और जैसे उस डोरीमें और गाँठोंके मनियोंमें सर्वत्र केवल सूत ही व्याप्त रहता है, उसी प्रकार यह समस्त संसार भगवान्में गुँथा हुआ है। भगवान् ही सबमें ओतप्रोत हैं।

‡ शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धसे इस प्रसंगमें इनके कारणरूप तन्मात्राओंका ग्रहण है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उनके साथ पवित्र शब्द जोड़ा गया है।

§ जो सदासे हो तथा कभी नष्ट न हो, उसे 'सनातन' कहते हैं। भगवान् ही समस्त चराचर भूत-प्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है। अतएव वे ही सबके 'सनातन बीज' हैं।

× सम्पूर्ण पदार्थोंका निश्चय करनेवाली और मन-इन्द्रियोंको अपने शासनमें रखकर उनका संचालन करनेवाली अन्तःकरणकी जो परिशुद्ध बोधमयी शक्ति है, उसे बुद्धि कहते हैं; जिसमें वह बुद्धि अधिक होती है, उसे बुद्धिमान् कहते हैं; यह बुद्धिशक्ति भगवान्की अपरा प्रकृतिका ही अंश है। इसी प्रकार सब लोगोंपर प्रभाव डालनेवाली शक्तिविशेषका नाम तेजस् है; यह तेजस्तत्त्व जिसमें विशेष होता है, उसे लोग 'तेजस्वी' कहते हैं। यह तेज भी भगवान्की अपरा प्रकृतिका ही एक अंश है, इसलिये भगवान्ने इन दोनोंको अपना स्वरूप बतलाया है।

+ जिस बलमें कामना, राग, अहंकार तथा क्रोधादिका संयोग है, उस बलका वर्णन आसुरी सम्पदामें किया गया है (गीता १६।१८), अतः वह तो आसुर बल है और उसके त्यागनेकी बात कही है (गीता १८।५३)। इसी प्रकार धर्मविरुद्ध काम भी आसुरी सम्पदाका प्रधान गुण होनेसे समस्त अनर्थोंका मूल (गीता ३।३७), नरकका द्वार और त्याज्य है (गीता १६।२१)। काम-रागयुक्त 'बल' से और धर्मविरुद्ध 'काम' से विलक्षण, विशुद्ध 'बल' और विशुद्ध 'काम' ही भगवान्का स्वरूप है।



[illegible] भक्त ध्रुव

तू 'मुझसे ही होनेवाले हैं'* ऐसा जान। परंतु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं† ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌ने यह दिखलाया कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है और मुझसे ही व्याप्त है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि इस प्रकार सर्वत्र परिपूर्ण और अत्यन्त समीप होनेपर भी लोग भगवान्‌को क्यों नहीं पहचानते; इसपर भगवान् कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सब संसार—प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता‡ ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं§ ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌ने मायाकी दुस्तरता दिखलाकर अपने भजनको उससे तरनेका उपाय बतलाया। इसपर यह प्रश्न उठता है कि जब ऐसी बात है, तब सब लोग निरन्तर आपका भजन क्यों नहीं करते; इसपर भगवान् कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है ऐसे आसुर-स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें नीच, दूषित कर्म करनेवाले मूढलोग मुझको नहीं भजते ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

किंतु हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करने-

---

* मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, तन्मात्राएँ, महाभूत और समस्त गुण-अवगुण तथा कर्म आदि जितने भी भाव हैं, सभी सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अन्तर्गत हैं। इन समस्त पदार्थोंका विकास और विस्तार भगवान्‌की 'अपरा प्रकृति' से होता है और वह प्रकृति भगवान्‌की है, अतः भगवान्‌से भिन्न नहीं है; उन्हींके लीला-संकेतसे प्रकृतिके द्वारा सबका सृजन, विस्तार और उपसंहार होता रहता है—इस प्रकार जान लेना ही उन सबको 'भगवान्‌से होनेवाले' समझना है।

† जैसे आकाशमें उत्पन्न होनेवाले बादलोंका कारण और आधार आकाश है, परंतु आकाश उनसे सर्वथा निर्लिप्त है। बादल आकाशमें सदा नहीं रहते और अनित्य होनेसे वस्तुतः उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है; पर आकाश बादलोंके न रहनेपर भी सदा रहता है। जहाँ बादल नहीं है, वहाँ भी आकाश तो है ही; वह बादलोंके आश्रित नहीं है। वस्तुतः बादल भी आकाशसे भिन्न नहीं हैं, उसीमें उससे उत्पन्न होते हैं। अतएव यथार्थमें बादलोंकी भिन्न सत्ता न होनेसे आकाश किसी समय भी बादलोंमें नहीं है, वह तो सदा अपने-आपमें ही स्थित है। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् भी समस्त त्रिगुणमय भावोंके कारण और आधार हैं, तथापि वास्तवमें वे गुण भगवान्‌में नहीं हैं और भगवान् उनमें नहीं हैं। भगवान् तो सर्वथा और सर्वदा गुणातीत हैं तथा नित्य अपने-आपमें ही स्थित हैं।

‡ जगत्‌के समस्त देहाभिमानी प्राणी—यहाँतक कि मनुष्य भी—अपने-अपने स्वभाव, प्रकृति और विचारके अनुसार, अनित्य और दुःखपूर्ण इन त्रिगुणमय भावोंको ही नित्य और सुखके हेतु समझकर इनकी कल्पित रमणीयता और सुख-रूपताकी केवल ऊपरसे ही दीखनेवाली चमक-दमकमें जीवनके परम लक्ष्यको भूलकर भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप और रहस्यके चिन्तन और ज्ञानसे विमुख हो रहे हैं। इस कारण उनकी विवेकदृष्टि इतनी स्थूल हो गयी है कि वे विषयोंके संग्रह करने और भोगनेके सिवा जीवनका अन्य कोई कर्तव्य या लक्ष्य ही नहीं समझते। इसलिये वे इन सबसे सर्वथा अतीत, अविनाशी परमात्माको नहीं जान सकते।

§ जो एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय, परम गति, परम प्रिय और परम प्राप्य मानते हैं तथा सब कुछ भगवान्‌का या भगवान्‌के ही लिये है—ऐसा समझकर जो शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, गृह, कीर्ति आदिमें ममत्व और आसक्तिका त्याग करके, उन सबको भगवान्‌की ही पूजाकी सामग्री बनाकर तथा भगवान्‌के रचे हुए विधानमें सदा संतुष्ट रहकर, भगवान्‌की आज्ञाके पालनमें तत्पर और भगवान्‌के स्मरणपरायण होकर अपनेको सब प्रकारसे निरन्तर भगवान्‌में ही लगाये रखते हैं, वे शरणागत भक्त मायासे तरते हैं।

१. जन्म-जन्मान्तरसे शुभकर्म करते-करते जिनका स्वभाव सुधरकर शुभकर्मशील बन गया है और पूर्व-संस्कारोंके बलसे अथवा महत्सङ्गके प्रभावसे जो इस जन्ममें भी भगवदाज्ञानुसार शुभकर्म ही करते हैं, उन शुभकर्म करनेवालोंको 'सुकृती' कहते हैं।

वाले अर्थार्थी,* आर्त,† जिज्ञासु‡ और ज्ञानी§—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है,× क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है+ ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त प्रिय बतलाया । इसपर यह शङ्का हो सकती है कि क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ और प्रिय नहीं हैं; इसपर भगवान् कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

ये सभी उदार हैं,÷ परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही हैऽ—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥ १८ ॥

---

* स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग-सुख आदि इस लोक और परलोकके भोगोंमेंसे, जिसके मनमें एककी या बहुतोंकी कामना है, परंतु कामनापूर्तिके लिये जो केवल भगवान्‌पर ही निर्भर करता है और इसके लिये जो श्रद्धा और विश्वासके साथ भगवान्‌का भजन करता है, वह 'अर्थार्थी' भक्त है । सुग्रीव-विभीषणादि भक्त अर्थार्थी माने जाते हैं, इनमें प्रधानतासे ध्रुवका नाम लिया जाता है ।

† जो शारीरिक या मानसिक संताप, विपत्ति, शत्रुभय, रोग, अपमान, चोर, डाकू और आततायियोंके अथवा हिंस्र जानवरोंके आक्रमण आदिसे घबराकर उनसे छूटनेके लिये पूर्ण विश्वासके साथ हृदयकी अडिग श्रद्धासे भगवान्‌का भजन करता है, वह 'आर्त' भक्त है । आर्त भक्तोंमें गजराज, जरासंधके बंदी राजागण आदि बहुत-से माने जाते हैं; परंतु सती द्रौपदीका नाम मुख्यतया लिया जाता है ।

‡ धन, स्त्री, पुत्र, गृह आदि वस्तुओंकी और रोग-संकटादिकी परवा न करके एकमात्र परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी इच्छासे ही जो एकनिष्ठ होकर भगवान्‌की भक्ति करता है (गीता १४ । २६), उस कल्याणकामी भक्तको 'जिज्ञासु' कहते हैं । जिज्ञासु भक्तोंमें परीक्षित् आदि अनेकोंके नाम हैं, परंतु उद्धवजीका नाम विशेष प्रसिद्ध है ।

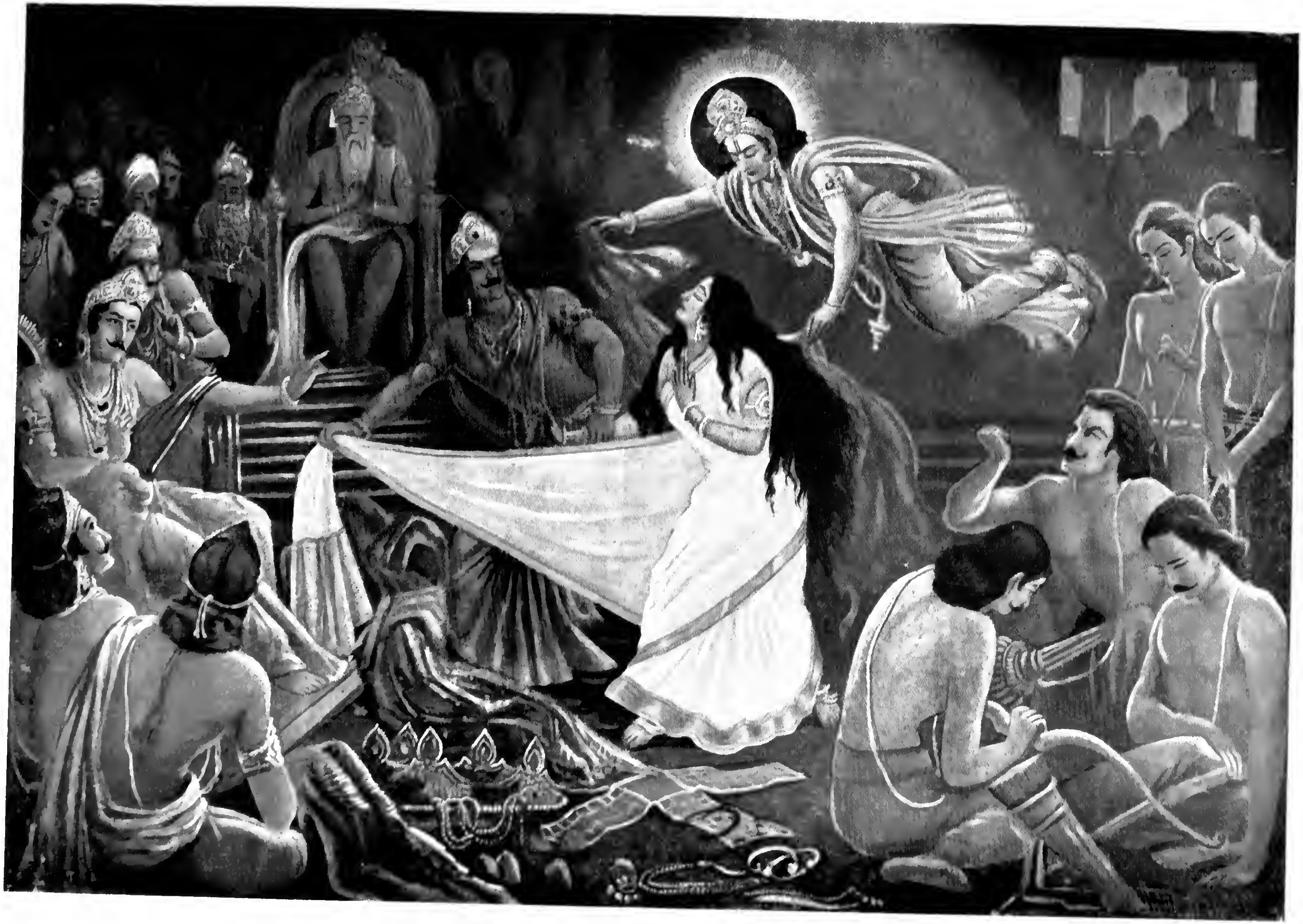
§ जो परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी दृष्टिमें एक परमात्मा ही रह गये हैं—परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और इस प्रकार परमात्माको प्राप्त कर लेनेसे जिनकी समस्त कामनाएँ निःशेषरूपसे समाप्त हो चुकी हैं, तथा ऐसी स्थितिमें जो सहज भावसे ही परमात्माका भजन करते हैं, वे 'ज्ञानी' हैं (गीता १२ । १३-१९) । गीताके नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें तथा दसवें अध्यायके तीसरे और पद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिनका वर्णन है, वे निष्काम अनन्य प्रेमी साधक भक्त भी ज्ञानी भक्तोंके अन्तर्गत हैं । ज्ञानियोंमें शुकदेवजी, सनकादि, नारदजी और भीष्मजी आदि प्रसिद्ध हैं । बालक प्रह्लाद भी ज्ञानी भक्त माने जाते हैं ।

× संसार, शरीर और अपने-आपको सर्वथा भूलकर जो अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌में ही स्थित है, उसे 'नित्ययुक्त' कहते हैं और जो भगवान्‌में ही हेतुरहित और अविरल प्रेम करता है, उसे 'एकभक्ति' कहते हैं; ऐसा भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी भक्त अन्य सबसे उत्तम है ।

+ जिन्होंने इस लोक और परलोकके अत्यन्त प्रिय, सुखप्रद तथा सांसारिक मनुष्योंकी दृष्टिसे दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले भोगों और सुखोंकी समस्त अभिलाषाओंका भगवान्‌के लिये त्याग कर दिया है, उनकी दृष्टिमें भगवान्‌का कितना महत्त्व है और उनको भगवान् कितने प्यारे हैं—दूसरे किसीके द्वारा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'ज्ञानीको' मैं अत्यन्त प्रिय हूँ ।' और जिनको भगवान् अतिशय प्रिय हैं, वे भगवान्‌को तो अतिशय प्रिय होंगे ही ।

÷ वे सब प्रकारके भक्त इस बातका भलीभाँति निश्चय कर चुके हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, परम दयालु हैं और परम सुहृद् हैं; हमारी आशा और आकाङ्क्षाओंकी पूर्ति एकमात्र उन्हींसे हो सकती है । ऐसा मान और जानकर, वे अन्य सब प्रकारके आश्रयोंका त्याग करके अपने जीवनको भगवान्‌के ही भजन-स्मरण, पूजन और सेवा आदिमें लगाये रखते हैं । उनकी एक भी चेष्टा ऐसी नहीं होती, जो भगवान्‌के विश्वासमें जरा भी त्रुटि लानेवाली हो । इसलिये सबको 'उदार' कहा गया है ।

ऽ इस कथनसे भगवान् यह भाव दिखला रहे हैं कि ज्ञानी भक्तमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है । भक्त है सो मैं हूँ और मैं हूँ सो भक्त है ।



बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है;* वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभावसे प्रेरित होकर† उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते हैं‡ ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है,§ उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी देवताके प्रति स्थिर करता हूँ ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ॥ २२ ॥

वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरेद्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसंदेह प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

परंतु उन अल्प बुद्धिवालोंका× वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं+ ।२३।

सम्बन्ध—जब भगवान् इतने प्रेमी और दयासागर हैं कि जिस-किसी प्रकारसे भी भजनेवालेको अपने स्वरूपकी प्राप्ति करा ही देते हैं, तो फिर सभी लोग उनको क्यों नहीं भजते, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको

---

१. जिस जन्ममें मनुष्य भगवान्का ज्ञानी भक्त बन जाता है, वही उसके बहुत-से जन्मोंके अन्तका जन्म है; क्योंकि भगवान्को इस प्रकार तत्त्वसे जान लेनेके पश्चात् उसका पुनः जन्म नहीं होता; वही उसका अन्तिम जन्म होता है।

२. भगवान्ने इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें विज्ञानसहित जिस ज्ञानके जाननेकी प्रशंसा की थी, जिस प्रेमी भक्तने उस विज्ञानसहित ज्ञानको प्राप्त कर लिया है तथा तीसरे श्लोकमें जिसके लिये कहा है कि कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है, उसीके लिये यहाँ 'ज्ञानवान्' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसीलिये अठारहवें श्लोकमें भगवान्ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

* सम्पूर्ण जगत् भगवान् वासुदेवका ही स्वरूप है, वासुदेवके सिवा और कुछ है ही नहीं, इस तत्त्वका प्रत्यक्ष और अटल अनुभव हो जाना और उसीमें नित्य स्थित रहना—यही 'सब कुछ वासुदेव है', इस प्रकारसे भगवान्का भजन करना है।

† जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंसे संस्कारोंका संचय होता है और उस संस्कारसमूहसे जो प्रकृति बनती है, उसे 'स्वभाव' कहा जाता है। स्वभाव प्रत्येक जीवका भिन्न होता है। उस स्वभावके अनुसार जो अन्तःकरणमें भिन्न-भिन्न देवताओंका पूजन करनेकी भिन्न-भिन्न इच्छा उत्पन्न होती है, उसीको 'उससे प्रेरित होना' कहते हैं।

‡ सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, इन्द्र, मरुत्, यमराज और वरुण आदि शास्त्रोक्त देवताओंको भगवान्से भिन्न समझकर, जिस देवताकी, जिस उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनामें जप, ध्यान, पूजन, नमस्कार, न्यास, हवन, व्रत, उपवास आदिके जो-जो भिन्न-भिन्न नियम हैं, उन-उन नियमोंको धारण करके बड़ी सावधानीके साथ उनका भलीभाँति पालन करते हुए उन देवताओंकी आराधना करना ही 'उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजना' है।

§ देवताओंकी सत्तामें, उनके प्रभाव और गुणोंमें तथा पूजन-प्रकार और उसके फलमें पूरा विश्वास करके श्रद्धापूर्वक जिस देवताकी जैसी मूर्तिका विधान हो, उसकी वैसे ही धातु, काष्ठ, मिट्टी, पाषाण आदिकी मूर्ति या चित्रपटकी विधिपूर्वक स्थापना करके अथवा मनके द्वारा मानसिक मूर्तिका निर्माण करके जिस मन्त्रकी जितनी संख्याके जपपूर्वक जिन सामग्रियोंसे जैसी पूजाका विधान हो, उसी मन्त्रकी उतनी ही संख्या जपकर उन्हीं सामग्रियोंसे उसी विधानसे पूजा करना, देवताओंके निमित्त अग्निमें आहुति देकर यज्ञादि करना, उनका ध्यान करना, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रत्यक्ष देवताओंका पूजन करना और इन सबको यथाविधि नमस्कारादि करना—यही 'देवताओंके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना' है।

× देवोपासक कामनाओंके वशमें होकर, अन्य देवताओंको भगवान्से पृथक् मानकर, भोगवस्तुओंके लिये उनकी उपासना करते हैं, इसलिये उनको भक्तोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीके और 'अल्पबुद्धि' कहा गया है।

+ भगवान्के नित्य दिव्य परमधाममें निरन्तर भगवान्के समीप निवास करना अथवा अभेदभावसे भगवान्में एकत्वको प्राप्त हो जाना, दोनोंहीका नाम 'भगवत्प्राप्ति' है।

न जानते हुए* मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं† ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको¹ मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

क्योंकि अपनी योगमायासे छिपा हुआ‡ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ,§ परंतु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

क्योंकि हे भरतवंशी अर्जुन ! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे× सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढनिश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं+ ॥

---

* अपनी अनन्त दयालुता और शरणागतवत्सलताके कारण जगत्के प्राणियोंको अपनी शरणागतिका सहारा देनेके लिये ही भगवान् अपने अजन्मा, अविनाशी और महेश्वर स्वभाव तथा सामर्थ्यके सहित ही नाना स्वरूपोंमें प्रकट होते हैं और अपनी अलौकिक लीलाओंसे जगत्के प्राणियोंको परमानन्दके महान् सागरमें निमग्न कर देते हैं। भगवान्का यही नित्य, अनुत्तम और परम भाव है तथा इसको न समझना ही 'उनके अनुत्तम अविनाशी परमभावको न जानना' है ।

† भगवान्के निर्गुण-सगुण दोनों ही रूप नित्य और दिव्य हैं। मनुष्यादिके रूपमें उनका प्रादुर्भाव होना ही जन्म है और अन्तर्धान हो जाना ही परमधामगमन है। अन्य प्राणियोंकी भाँति शरीर-संयोग-वियोगरूप जन्म-मरण उनके नहीं होते। इस रहस्यको न समझनेके कारण बुद्धिहीन मनुष्य समझते हैं कि जैसे अन्य सब प्राणी जन्मसे पहले अव्यक्त थे अर्थात् उनकी कोई सत्ता नहीं थी, अब जन्म लेकर व्यक्त हुए हैं; इसी प्रकार यह श्रीकृष्ण भी जन्मसे पहले नहीं था, अब वसुदेवके घरमें जन्म लेकर व्यक्त हुआ है; अन्य मनुष्योंमें और इसमें अन्तर ही क्या है ? अर्थात् कोई भेद नहीं है। यही बुद्धिहीन मनुष्यका भगवान्को अव्यक्तसे व्यक्त हुआ मानना है ।

१. 'लोकः' पदका प्रयोग केवल भगवान्के भक्तोंको छोड़कर शेष पापी, पुण्यात्मा—सभी श्रेणीके साधारण अज्ञानी मनुष्यसमुदायके लिये किया गया है ।

‡ गीताके चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्ने जिसको 'आत्ममाया' कहा है, जिस योगशक्तिसे भगवान् दिव्य गुणोंके सहित स्वयं मनुष्यादि रूपोंमें प्रकट होते हुए भी लोकदृष्टिमें जन्म धारण करनेवाले साधारण मनुष्य-से ही प्रतीत होते हैं, उसी मायाशक्तिका नाम 'योगमाया' है। उससे वास्तवमें भगवान् आवृत नहीं होते तथापि जैसे लोगोंकी दृष्टि बादलोंसे आवृत हो जानेके कारण ऐसा कहा जाता है कि सूर्य बादलोंसे ढका गया, उसी प्रकार यहाँ भगवान्का अपनेको योगमायासे छिपा रहना बताना है ।

§ यहाँ भगवान् यह कहते हैं कि 'देवता, मनुष्य, पशु और कीट-पतङ्गादि जितने भी भूत—चराचर प्राणी हैं, वे सब अबसे पूर्व अनन्त कल्प-कल्पान्तरोंमें कब किन-किन योनियोंमें किस प्रकार उत्पन्न होकर कैसे रहे थे और उन्होंने क्या-क्या किया था तथा वर्तमान कल्पमें कौन, कहाँ, किस योनिमें किस प्रकार उत्पन्न होकर क्या कर रहे हैं और भविष्य कल्पोंमें कौन कहाँ किस प्रकार रहेंगे, इन सब बातोंको मैं जानता हूँ।' वास्तवमें भगवान्के लिये भूत, भविष्य और वर्तमानकालका भेद नहीं है। उनके अखण्ड ज्ञानस्वरूपमें सभी कुछ सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष है ।

× जिनको भगवान्ने मनुष्यके कल्याणमार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु (परिपन्थी) बतलाया है (गीता ३। ३४) और काम-क्रोधके नामसे (गीता ३ । ३७) जिनको पापोंमें हेतु तथा मनुष्यका वैरी कहा है, उन्हीं राग-द्वेषका यहाँ 'इच्छा' और 'द्वेष' के नामसे वर्णन किया है। इन 'इच्छा-द्वेष' से जो हर्ष-शोक और सुख-दुःखादि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, वे इस जीवके अज्ञानको दृढ़ करनेमें कारण होते हैं; अतएव उन्हींका नाम 'द्वन्द्वरूप मोह' है ।

+ भगवान्को ही सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके आत्मा और परम पुरुषोत्तम समझकर बुद्धिसे उनके तत्त्वका निश्चय, मनसे उनके गुण, प्रभाव, स्वरूप और लीला-रहस्यका चिन्तन, वाणीसे उनके नाम और गुणोंका कीर्तन, सिरसे उनको नमस्कार, हाथोंसे उनकी पूजा और दीन-दुखी आदिके रूपमें उनकी सेवा, नेत्रोंसे उनके विग्रहके दर्शन, चरणोंसे उनके मन्दिर और तीर्थादिमें जाना तथा अपनी समस्त वस्तुओंको निःशेषरूपसे केवल उनके ही अर्पण करके सब प्रकार केवल उन्हींका हो रहना—यही 'सब प्रकारसे उनको भजना' है ।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं,* वे पुरुष उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं॥ २९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

एवं जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित (सबके आत्मरूप) मुझे अन्तकालमें भी जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं† अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥ भीष्मपर्वणि तु एकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ज्ञान-विज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७॥ भीष्मपर्वमें इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टमोऽध्यायः)

ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादिके विषयमें अर्जुनके सात प्रश्न और उनका उत्तर, एवं भक्तियोग तथा शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका प्रतिपादन

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक भगवान्‌ने अपने समग्र रूपका तत्त्व सुननेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए, उसके कहनेकी प्रतिज्ञा और जाननेवालोंकी प्रशंसा की। फिर सत्ताईसवें श्लोकतक अनेक प्रकारसे उस तत्त्वको समझाकर न जाननेके कारणको भी भलीभाँति समझाया और अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्‌के समग्र रूपको जाननेवाले भक्तकी महिमाका वर्णन करते हुए उस अध्यायका उपसंहार किया; किंतु उन्तीसवें और तीसवें श्लोकोंमें वर्णित ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन छहोंका तथा प्रयाणकालमें भगवान्‌को जाननेकी बातका रहस्य भलीभाँति न समझनेके कारण इस आठवें अध्यायके आरम्भमें पहले दो श्लोकोंमें अर्जुन उपर्युक्त सातों विषयोंको समझनेके लिये भगवान्‌से सात प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥

अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत नामसे क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं?॥ १॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ कौन है? और वह इस शरीरमें कैसे है? तथा युक्तचित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं?॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ३॥

---

* यहाँ भगवान् यह कहते हैं कि 'जो संसारके सब विषयोंके आश्रयको छोड़कर दृढ़ विश्वासके साथ एकमात्र मेरा ही आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें ही मन-बुद्धिको लगाये रखते हैं, वे मेरे शरण होकर यत्न करनेवाले हैं।'

† उन्तीसवें श्लोकमें वर्णित 'ब्रह्म', जीवसमुदायरूप 'अध्यात्म', भगवान्‌का आदि संकल्परूप 'कर्म' तथा उपर्युक्त जडवर्गरूप 'अधिभूत', हिरण्यगर्भरूप 'अधिदैव' और अन्तर्यामीरूप 'अधियज्ञ'—सब एक भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। यही भगवान्‌का समग्र रूप है। अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने इसी समग्र रूपको बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी। फिर सातवें श्लोकमें 'मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है', बारहवेंमें 'सात्त्विक, राजस और तामस भाव सब मुझसे ही होते हैं' और उन्नीसवेंमें 'सब कुछ वासुदेव ही है' कहकर इसी समग्रका वर्णन किया है तथा यहाँ भी उपर्युक्त शब्दोंसे इसीका वर्णन करके अध्यायका उपसंहार किया गया है। इस समग्रको जान लेना अर्थात् जैसे जलके परमाणु, भाप, बादल, धूम, जल और बर्फ सभी जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—सब कुछ वासुदेव ही हैं—इस प्रकार यथार्थरूपसे अनुभव कर लेना ही समग्र ब्रह्मको या भगवान्‌को जानना है।

श्रीभगवान्ने कहा—परम अक्षर 'ब्रह्म' है,* अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म'† नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है,‡ वह 'कर्म' नामसे कहा गया है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

उत्पत्ति विनाशधर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्मय पुरुष अधिदैव§ है और हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इस शरीरमें मैं वासुदेव ही अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ हूँ× ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है+—इसमें कुछ भी संशय नहीं है÷ ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह बात कही गयी कि भगवान्का स्मरण करते हुए मरनेवाला भगवान्को ही प्राप्त होता है । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि केवल भगवान्के स्मरणके सम्बन्धमें ही यह विशेष नियम है या सभीके सम्बन्धमें है; इसपर कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावकोऽ स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा हैA ॥ ६ ॥

---

* अक्षरके साथ 'परम' विशेषण देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि गीताके सातवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माका वाचक है; वेद, ब्रह्मा और प्रकृति आदिका नहीं ।

† 'स्वो भावः स्वभावः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अपने ही भावका नाम स्वभाव है । जीवरूपा भगवान्की चेतन परा प्रकृतिरूप आत्मतत्त्व ही जब आत्म-शब्दवाच्य शरीर, इन्द्रिय, मन-बुद्ध्यादिरूप अपरा प्रकृतिका अधिष्ठाता हो जाता है, तब उसे 'अध्यात्म' कहते हैं । अतएव गीताके सातवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें भगवान्ने 'कृत्स्न' विशेषणके साथ जो 'अध्यात्म' शब्दका प्रयोग किया है, उसका अर्थ 'चेतन जीवसमुदाय' समझना चाहिये ।

‡ 'भूत' शब्द चराचर प्राणियोंका वाचक है । इन भूतोंके भावका उद्भव और अभ्युदय जिस त्यागसे होता है, जो सृष्टि-स्थितिका आधार है, उस 'त्याग' का नाम ही कर्म है । महाप्रलयमें विश्वके समस्त प्राणी अपने-अपने कर्म संस्कारोंके साथ भगवान्में विलीन हो जाते हैं । फिर सृष्टिके आदिमें भगवान् जब यह संकल्प करते हैं कि 'मैं एक ही बहुत हो जाऊँ,' तब पुनः उनकी उत्पत्ति होती है । भगवान्का यह 'आदि संकल्प' ही अचेतन प्रकृतिरूप योनिमें चेतनरूप बीजकी स्थापना करना है । यही महान् विसर्जन है और इसी विसर्जन (त्याग)का नाम 'विसर्ग' है ।

१. अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न जो विनाशशील तत्त्व है, जिसका प्रतिक्षण क्षय होता है, उसका नाम 'क्षरभाव' है । इसीको गीताके तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' (शरीर) के नामसे और पंद्रहवें अध्यायमें 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है ।

§ 'पुरुष' शब्द यहाँ 'प्रथम पुरुष' का वाचक है; इसीको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति या ब्रह्मा कहते हैं । जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्वका यही प्राणपुरुष है, समस्त देवता इसीके अङ्ग हैं, यही सबका अधिष्ठाता, अधिपति और उत्पादक है; इसीसे इसका नाम 'अधिदैव' है ।

× अर्जुनने दो बातें पूछी थीं—'अधियज्ञ' कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? दोनों प्रश्नोंका भगवान्ने एक ही साथ उत्तर दे दिया है । भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु हैं (गीता ५ । २९; ९ । २४) और समस्त फलोंका विधान वे ही करते हैं (गीता ७ । २२) तथा वे ही अन्तर्यामीरूपसे सबके अंदर व्यापक हैं; इसलिये वे कहते हैं कि 'इस शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ मैं स्वयं ही हूँ ।'

+ यहाँ अन्तकालका विशेष महत्त्व प्रकट किया गया है, अतः भगवान्के कहनेका यहाँ यह भाव है कि जो सदा-सर्वदा मेरा अनन्यचिन्तन करते हैं उनकी तो बात ही क्या है, जो इस मनुष्य-जन्मके अन्तिम क्षणतक भी मेरा चिन्तन करते हुए शरीर त्यागकर जाते हैं, उनको भी मेरी प्राप्ति हो जाती है ।

÷ अन्तकालमें भगवान्का स्मरण करनेवाला मनुष्य किसी भी देश और किसी भी कालमें क्यों न मरे एवं पहलेके उसके आचरण चाहे जैसे भी क्यों न रहे हों, उसे भगवान्की प्राप्ति निःसंदेह हो जाती है । इसमें जरा भी शङ्का नहीं है ।

ऽ ईश्वर, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, मकान, जमीन आदि जितने भी चेतन और जड पदार्थ हैं, उन सबका नाम 'भाव' है । अन्तकालमें किसी भी पदार्थका चिन्तन करना, उस भावका स्मरण करना है ।

A अन्तकालमें प्रायः उसी भावका स्मरण होता है जिस भावसे चित्त सदा भावित होता है । पूर्वसंस्कार, संग, वातावरण, आसक्ति, कामना, भय और अध्ययन आदिके प्रभावसे मनुष्य जिस भावका बार-बार चिन्तन करता है, वह

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर ।* इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर† तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।७।

अभ्यासयोगयुक्तेन¹ चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है‡ ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्

जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता,§ सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है ॥ ९—१० ॥

उसीसे भावित हो जाता है तथा मरनेके बाद सूक्ष्मरूपसे अन्तःकरणमें अङ्कित हुए उस भावसे भावित होता-होता समयपर उस भावको पूर्णतया प्राप्त हो जाता है । किसी मनुष्यका छायाचित्र (फोटो) लेते समय जिस क्षण फोटो (चित्र) खींचा जाता है, उस क्षणमें वह मनुष्य जिस प्रकारसे स्थित होता है, उसका वैसा ही चित्र उतर जाता है; उसी प्रकार अन्तकालमें मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वैसे ही रूपका फोटो उसके अन्तःकरणमें अङ्कित हो जाता है । उसके बाद फोटोकी भाँति अन्य सहकारी पदार्थोंकी सहायता पाकर उस भावसे भावित होता हुआ वह समयपर स्थूलरूपको प्राप्त हो जाता है ।

यहाँ अन्तःकरण ही कैमरेका प्लेट है, उसमें होनेवाला स्मरण ही प्रतिबिम्ब है और अन्य सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति ही चित्र खिंचना है; अतएव जैसे चित्र लेनेवाला सबको सावधान करता है और उसकी बात न मानकर इधर-उधर हिलने-डुलनेसे चित्र बिगड़ जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंका चित्र उतारनेवाले भगवान् मनुष्यको सावधान करते हैं कि 'तुम्हारा फोटो उतरनेका समय अत्यन्त समीप है, पता नहीं वह अन्तिम क्षण कब आ जाय; इसलिये तुम सावधान हो जाओ, नहीं तो चित्र बिगड़ जायगा ।' यहाँ निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करना ही सावधान होना है और परमात्माको छोड़कर अन्य किसीका चिन्तन करना ही अपने चित्रको बिगाड़ना है ।

* जो भगवान्के गुण और प्रभावको भलीभाँति जाननेवाला अनन्यप्रेमी भक्त है, जो सम्पूर्ण जगत्को भगवान्के द्वारा ही रचित और वास्तवमें भगवान्से अभिन्न तथा भगवान्की क्रीडास्थली समझता है, उसे प्रह्लाद और गोपियोंकी भाँति प्रत्येक परमाणुमें भगवान्के दर्शन प्रत्यक्षकी भाँति होते रहते हैं; अतएव उसके लिये तो निरन्तर भगवत्स्मरणके साथ-साथ अन्यान्य कर्म करते रहना बहुत आसान बात है तथा जिसका विषयभोगोंमें वैराग्य होकर भगवान्में मुख्य प्रेम हो गया है, जो निष्काम भावसे केवल भगवान्की आज्ञा समझकर भगवान्के लिये ही वर्णधर्मके अनुसार कर्म करता है, वह भी निरन्तर भगवान्का स्मरण करता हुआ अन्यान्य कर्म कर सकता है । जैसे अपने पैरोंका ध्यान रखती हुई नटी बाँसपर चढ़कर अनेक प्रकारके खेल दिखलाती है, अथवा जैसे हैंडलपर पूरा ध्यान रखता हुआ मोटर-ड्राइवर दूसरोंसे बातचीत करता है और विपत्तिसे बचनेके लिये रास्तेकी ओर भी देखता रहता है, उसी प्रकार निरन्तर भगवान्का स्मरण करते हुए वर्णाश्रमके सब काम सुचारुरूपसे हो सकते हैं ।

† बुद्धिसे भगवान्के गुण, प्रभाव, स्वरूप, रहस्य और तत्त्वको समझकर परमश्रद्धाके साथ अटल निश्चय कर लेना और मनसे अनन्य श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गुण, प्रभावके सहित भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते रहना—यही मन-बुद्धिको भगवान्में समर्पित कर देना है ।

१. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यानके अभ्यासका नाम 'अभ्यासयोग' है । ऐसे अभ्यासयोगके द्वारा जो चित्त भलीभाँति वशमें होकर निरन्तर अभ्यासमें ही लगा रहता है, उसे 'अभ्यासयोगयुक्त' कहते हैं ।

‡ इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसको 'अधियज्ञ' कहा है और बाईसवें श्लोकमें जिसको 'परम पुरुष' बतलाया है, भगवान्के उस सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले सगुण निराकार सर्वव्यापी अव्यक्त ज्ञानस्वरूपको यहाँ 'दिव्य परम पुरुष' कहा गया है। उसका चिन्तन करते करते उसे यथार्थरूपमें जानकर उसके साथ तद्रूप हो जाना ही उसको प्राप्त होना है।

§ परमेश्वर अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंके शुभ और अशुभ कर्मके अनुसार शासन करनेवाले होनेसे 'सबके नियन्ता' हैं।

सम्बन्ध—पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌का चिन्तन करते-करते मरनेवाले साधारण मनुष्यकी गतिका संक्षेपमें वर्णन किया गया, फिर आठवेंसे दसवें श्लोकतक भगवान्‌के 'अधियज्ञ' नामक सगुण निराकार दिव्य अव्यक्त स्वरूपका चिन्तन करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिके सम्बन्धमें बतलाया, अब ग्यारहवें श्लोकसे तेरहवेंतक परम अक्षर निर्गुण निराकार परब्रह्मकी उपासना करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिका वर्णन करनेके लिये पहले उस अक्षर ब्रह्मकी प्रशंसा करके उसे बतलाते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं,* आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परम पदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा† ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर‡ तथा मनको हृद्देशमें स्थिर करके,§ फिर उस जीते हुए मनके द्वारा प्राणको मस्तकमें स्थापित करके, परमात्मासम्बन्धी योगधारणामें स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है× ॥ १२-१३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ+ ॥ १४ ॥

---

* वेदके जाननेवाले ज्ञानी महात्मा पुरुष कहते हैं कि यह 'अक्षर' है अर्थात् यह एक ऐसा महान् तत्त्व है, जिसका किसी भी अवस्थामें कभी भी किसी भी रूपमें क्षय नहीं होता; यह सदा अविनश्वर, एकरस और एकरूप रहता है। गीताके बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस अव्यक्त अक्षरकी उपासनाका वर्णन है, यहाँ भी यह उसीका प्रसंग है।

† 'ब्रह्मचर्य' का वास्तविक अर्थ है, ब्रह्ममें अथवा ब्रह्मके मार्गमें संचरण करना—जिन साधनोंसे ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हुआ जा सकता है, उनका आचरण करना। ऐसे साधन ही ब्रह्मचारीके व्रत कहलाते हैं, सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना भी इन्हींके अन्तर्गत है। ये ब्रह्मचर्य-आश्रममें आश्रमधर्मके रूपमें अवश्य पालनीय हैं और साधारणतया तो अवस्थाभेदके अनुसार सभी साधकोंको यथाशक्ति उनका अवश्य पालन करना चाहिये।

यहाँ भगवान्‌ने यह प्रतिज्ञा की है कि उपर्युक्त वाक्योंमें जिस परब्रह्म परमात्माका निर्देश किया गया है, वह ब्रह्म कौन है और अन्तकालमें किस प्रकार साधन करनेवाला मनुष्य उसको प्राप्त होता है—यह बात मैं तुम्हें संक्षेपसे कहूँगा।

१. यहाँ ज्ञानयोगीके अन्तकालका प्रसंग होनेसे 'माम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है।

‡ श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रिय—इन दसों इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण होता है, इसलिये इनको 'द्वार' कहते हैं। इसके अतिरिक्त इनके रहनेके स्थानों (गोलकों) को भी 'द्वार' कहते हैं। इन इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर अर्थात् देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंको बंद करके, साथ ही इन्द्रियोंके गोलकोंको भी रोककर इन्द्रियोंकी वृत्तिको अन्तर्मुख कर लेना ही सब द्वारोंका संयम करना है। इसीको योगशास्त्रमें 'प्रत्याहार' कहते हैं।

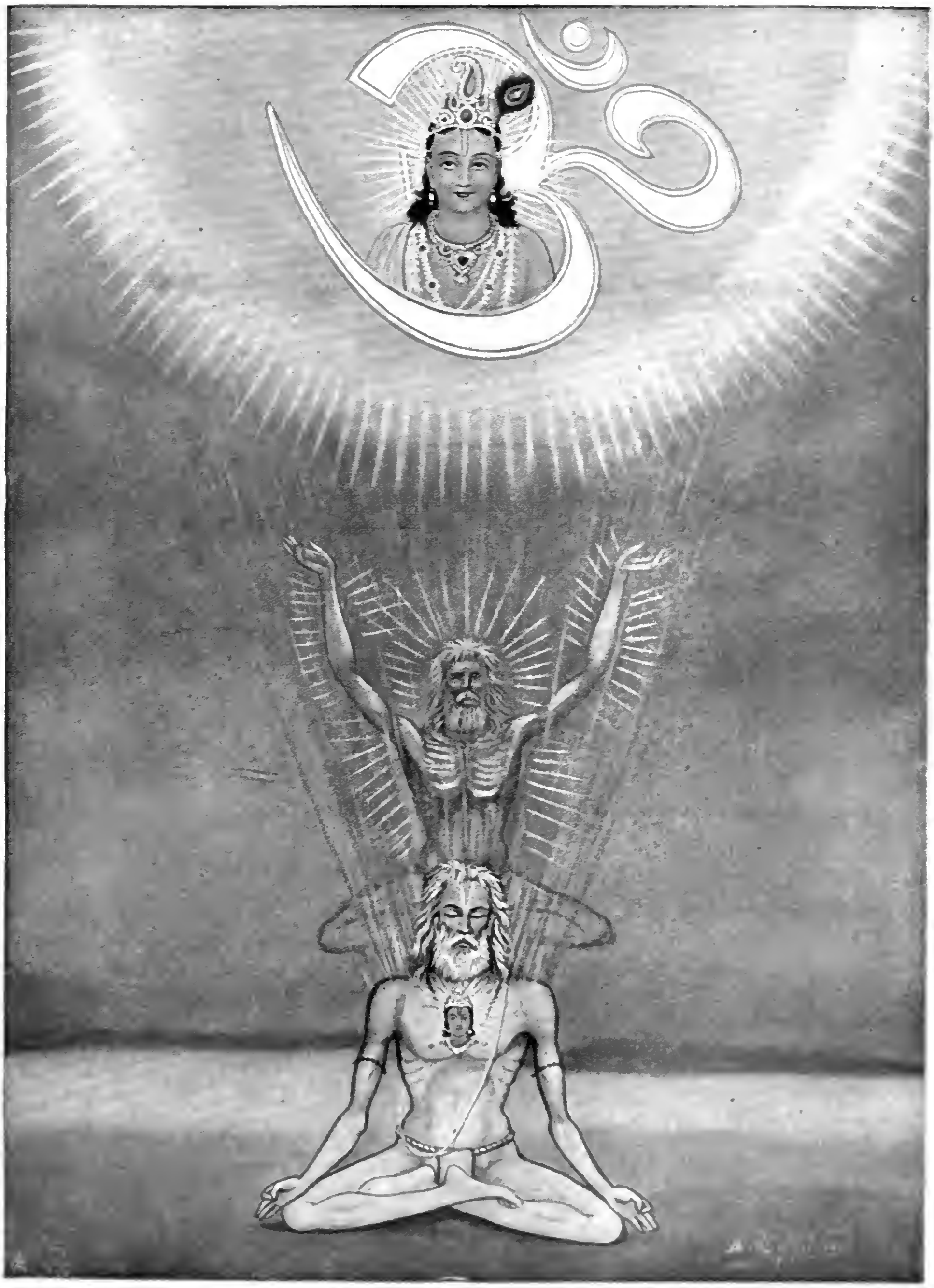
§ नाभि और कण्ठ—इन दोनों स्थानोंके बीचका स्थान, जिसे हृदयकमल भी कहते हैं और जो मन तथा प्राणोंका निवासस्थान माना गया है, हृद्देश है और इधर-उधर भटकनेवाले मनको संकल्प-विकल्पोंसे रहित करके हृदयमें निरुद्ध कर देना ही उसको हृद्देशमें स्थिर करना है।

× निर्गुण-निराकार ब्रह्मको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना, परम गतिको प्राप्त होना है। इसीको सदाके लिये आवागमनसे मुक्त होना, मुक्तिलाभ कर लेना, मोक्षको प्राप्त होना अथवा निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होना कहते हैं।

२. जिसका चित्त अन्य किसी भी वस्तुमें न लगकर निरन्तर अनन्य प्रेमके साथ केवल परम प्रेमी परमेश्वरमें ही लगा रहता हो, उसे 'अनन्यचेताः' कहते हैं।

३. यहाँ 'माम्' पद सगुण साकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है; परंतु जो श्रीविष्णु और श्रीराम या भगवान्‌के दूसरे रूपको इष्ट माननेवाले हैं, उनके लिये वह रूप भी 'माम्' का ही वाच्य है तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्‌के स्वरूपका अथवा उनके नाम, गुण, प्रभाव और लीला आदिका चिन्तन करते रहना ही उनका स्मरण करना है।

+ अनन्यभावसे भगवान्‌का चिन्तन करनेवाला प्रेमी भक्त जब भगवान्‌के वियोगको नहीं सह सकता तब 'ये यथा



ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन* मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको† नहीं प्राप्त होते ॥

सम्बन्ध—भगवत्प्राप्त महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता—इस कथनसे यह प्रकट होता है कि दूसरे जीवोंका पुनर्जन्म होता है । अतः यहाँ यह जाननेकी इच्छा होती है कि किस लोकतक पहुँचे हुए जीवोंको वापस लौटना पड़ता है । इसपर भगवान् कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त‡ सब लोक पुनरावर्ती§ हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

ब्रह्माका जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगी-तककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगी-तककी अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं,× वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं ॥ १७ ॥

मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४ । ११) के अनुसार भगवान्‌को भी उसका वियोग असह्य हो जाता है और जब भगवान् स्वयं मिलनेकी इच्छा करते हैं, तब कठिनताके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता । इसी हेतुसे ऐसे भक्तके लिये भगवान्‌को सुलभ बतलाया गया है ।

* अतिशय श्रद्धा और प्रेमके साथ नित्य-निरन्तर भजन-ध्यानका साधन करते-करते जब साधनकी वह पराकाष्ठारूप स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेके बाद फिर कुछ भी साधन करना शेष नहीं रह जाता और तत्काल ही उसे भगवान्‌का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है—उस पराकाष्ठाकी स्थितिको 'परम सिद्धि' कहते हैं और भगवान्‌के जो भक्त इस परम सिद्धिको प्राप्त हैं, उन ज्ञानी भक्तोंके लिये 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किया गया है ।

† मरनेके बाद कर्मपरवश होकर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमेंसे किसी भी योनिमें जन्म लेना ही पुनर्जन्म कहलाता है और ऐसी कोई भी योनि नहीं है, जो दुःखपूर्ण और अनित्य न हो । अतः पुनर्जन्ममें गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त दुःख-ही-दुःख होनेके कारण उसे दुःखोंका घर कहा गया है और किसी भी योनिका तथा उस योनिमें प्राप्त भोगोंका संयोग सदा न रहनेवाला होनेसे उसे अशाश्वत (क्षणभङ्गुर) बतलाया गया है ।

‡ जो चतुर्मुख ब्रह्मा सृष्टिके आदिमें भगवान्‌के नाभिकमलसे उत्पन्न होकर सारी सृष्टिकी रचना करते हैं, जिनको प्रजापति, हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मा भी कहते हैं तथा इसी अध्यायमें जिनको 'अधिदैव' कहा गया है (गीता ८ । ४), वे जिस ऊर्ध्वलोकमें निवास करते हैं, उस लोकविशेषका नाम 'ब्रह्मलोक' है । उपर्युक्त ब्रह्मलोकके सहित उससे नीचेके जितने भी विभिन्न लोक हैं, उन सबको पुनरावर्ती समझना चाहिये ।

§ बार-बार नष्ट होना और उत्पन्न होना जिनका स्वभाव हो, उन लोकोंको 'पुनरावर्ती' कहते हैं ।

× यहाँ 'युग' शब्द 'दिव्य युग'का वाचक है—जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग चारों युगोंके समयको मिलानेपर होता है । यह देवताओंका युग है, इसलिये इसको 'दिव्य युग' कहते हैं । इस देवताओंके समयका परिमाण हमारे समयके परिमाणसे तीन सौ साठ गुना अधिक माना जाता है । अर्थात् हमारा एक वर्ष देवताओंका एक दिन-रात, हमारे तीस वर्ष देवताओंका एक महीना और हमारे तीन सौ साठ वर्ष उनका एक दिव्य वर्ष होता है । ऐसे बारह हजार दिव्य वर्षोंका एक 'दिव्य युग' होता है । इसे 'महायुग' और 'चतुर्युगी' भी कहते हैं । इस संख्याके जोड़नेपर हमारे ४३,२०,००० वर्ष होते हैं । दिव्य वर्षोंके हिसाबसे बारह सौ दिव्य वर्षोंका हमारा कलियुग, चौबीस सौका द्वापर, छत्तीस सौका त्रेता और अड़तालीस सौ वर्षोंका सत्ययुग होता है । कुल मिलाकर १२,००० वर्ष होते हैं ।

इसे दूसरी तरह समझिये । हमारे युगोंके समयका परिमाण इस प्रकार है—

कलियुग—४,३२,००० वर्ष
द्वापरयुग—८,६४,००० वर्ष (कलियुगसे दुगुना)
त्रेतायुग—१२,९६,००० वर्ष (कलियुगसे तिगुना)
सत्ययुग—१७,२८,००० वर्ष (कलियुगसे चौगुना)

कुल जोड़—४३, २०, ००० वर्ष

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं* और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लीन हो जाते हैं† ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे पार्थ ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लीन होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है‡ ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—ब्रह्माकी रात्रिके आरम्भमें जिस अव्यक्तमें समस्त भूत लीन होते हैं और दिनका आरम्भ होते ही जिससे उत्पन्न होते हैं; वही अव्यक्त सर्वश्रेष्ठ है या उससे बढ़कर कोई दूसरा और है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो

यह एक दिव्य युग हुआ । ऐसे हजार दिव्य युगोंका अर्थात् हमारे ४, ३२, ००, ००, ००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है ।

मनुस्मृतिके प्रथम अध्यायमें चौंसठवेंसे तिहत्तरवें श्लोकतक इस विषयका विशद वर्णन है । ब्रह्माके दिनको 'कल्प' या 'सर्ग' और रात्रिको प्रलय कहते हैं । ऐसे तीस दिन-रातका ब्रह्माका एक महीना, ऐसे बारह महीनोंका एक वर्ष और ऐसे सौ वर्षोंकी ब्रह्माकी पूर्णायु होती है । ब्रह्माके दिन-रात्रिका परिमाण बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार ब्रह्माका जीवन और उनका लोक भी सीमित तथा कालकी अवधिवाला है, इसलिये वह भी अनित्य ही है और जब वही अनित्य है, तब उसके नीचेके लोक और उनमें रहनेवाले प्राणियोंके शरीर अनित्य हों, इसमें तो कहना ही क्या है !

* देव, मनुष्य, पितर, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें जितने भी व्यक्तरूपमें स्थित देहधारी चराचर प्राणी हैं, उन सबको 'व्यक्ति' कहा है ।

प्रकृतिका जो सूक्ष्म परिणाम है, जिसको ब्रह्माका सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं, स्थूल पञ्चमहाभूतोंके उत्पन्न होनेसे पूर्वकी जो स्थिति है, उस सूक्ष्म अपरा प्रकृतिका नाम यहाँ 'अव्यक्त' है ।

ब्रह्माके दिनके आगममें अर्थात् जब ब्रह्मा अपनी सुषुप्ति-अवस्थाका त्याग करके जाग्रत्-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, तब उस सूक्ष्म प्रकृतिमें विकार उत्पन्न होता है और वह स्थूलरूपमें परिणत हो जाती है एवं उस स्थूलरूपमें परिणत प्रकृतिके साथ सब प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न रूपोंमें सम्बद्ध हो जाते हैं । यही अव्यक्तसे व्यक्तियोंका उत्पन्न होना है ।

† एक हजार दिव्य युगोंके बीत जानेपर जिस क्षणमें ब्रह्मा जाग्रत्-अवस्थाका त्याग करके सुषुप्ति-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, उस प्रथम क्षणका नाम ब्रह्माकी रात्रिका आगम प्रवेश-काल है ।

उस समय स्थूलरूपमें परिणत प्रकृति सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त हो जाती है और समस्त देहधारी प्राणी भिन्न-भिन्न स्थूल शरीरोंसे रहित होकर प्रकृतिकी सूक्ष्म अवस्थामें स्थित हो जाते हैं । यही उस अव्यक्तमें समस्त व्यक्तियोंका लय होना है ।

‡ अव्यक्तमें लीन हो जानेसे भूतप्राणी न तो मुक्त होते हैं और न उनकी भिन्न सत्ता ही मिटती है । इसीलिये ब्रह्माकी रात्रिका समय समाप्त होते ही वे सब पुनः अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार यथायोग्य स्थूल शरीरोंको प्राप्त करके प्रकट हो जाते हैं ।

इस प्रकार यह भूतसमुदाय अनादिकालसे उत्पन्न हो-होकर लीन होता चला आ रहा है । ब्रह्माकी आयुके सौ वर्ष पूर्ण होनेपर जब ब्रह्माका शरीर भी मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है और उसके साथ-साथ सब भूतसमुदाय भी उसीमें लीन हो जाते हैं (गीता ९ । ७), तब भी इनके इस चक्करका अन्त नहीं आता । ये उसके बाद भी उसी तरह पुनः पुनः उत्पन्न होते रहते हैं (गीता ९ । ८) । जबतक प्राणीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक वह बार-बार इसी प्रकार उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिमें लीन होता रहेगा ।

यहाँ ब्रह्माके दिन-रातका प्रसंग होनेसे यही समझना चाहिये कि ब्रह्मा ही समस्त प्राणियोंको उनके गुण-कर्मानुसार शरीरोंसे सम्बद्ध करके बार-बार उत्पन्न करते हैं । महाप्रलयके बाद जिस समय ब्रह्माकी उत्पत्ति नहीं होती, उस समय तो सृष्टिकी रचना स्वयं भगवान् करते हैं; परंतु ब्रह्माके उत्पन्न होनेके बाद सबकी रचना ब्रह्मा ही करते हैं ।

गीताके नवें अध्यायमें (श्लोक ७ से १०) और चौदहवें अध्यायमें (श्लोक ३, ४) जो सृष्टिरचनाका प्रसंग है, वह महाप्रलयके बाद महासर्गके आदिकालका है और यहाँका वर्णन ब्रह्माकी रात्रिके (प्रलयके) बाद ब्रह्माके दिनके (सर्गके) आरम्भ-समयका है ।

सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता* ॥ २० ॥

सम्बन्ध—आठवें और दसवें श्लोकोंमें अधियज्ञकी उपासनाका फल परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, तेरहवें श्लोकमें परम अक्षर निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाका फल परमगतिकी प्राप्ति और चौदहवें श्लोकमें सगुण-साकार भगवान् श्रीकृष्णकी उपासनाका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है। इससे तीनोंमें किसी प्रकारके भेदका भ्रम न हो जाय, इस उद्देश्यसे अब सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए उनकी प्राप्तिके बाद पुनर्जन्मका अभाव दिखलाते हैं—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

जो अव्यक्त 'अक्षर'† इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षरनामक अव्यक्तभावको परम गति‡ कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है§ ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है,× वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है+ ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनके सातवें प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने अन्तकालमें किस प्रकार मनुष्य परमात्माको प्राप्त होता है, यह बात भलीभाँति समझायी। प्रसङ्गवश यह बात भी कही कि भगवत्प्राप्ति न होनेपर ब्रह्मलोकतक पहुँचकर भी जीव आवागमनके चक्करसे नहीं छूटता; परंतु वहाँ यह बात नहीं कही गयी कि जो वापस न लौटनेवाले स्थानको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे और कैसे जाते हैं तथा इसी प्रकार जो वापस लौटनेवाले स्थानोंको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे जाते हैं। अतः उन दोनों मार्गोंका वर्णन करनेके लिये भगवान् प्रस्तावना करते हैं—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

हे अर्जुन! जिस कालमें÷ शरीर त्यागकर गये हुए

---

* अठारहवें श्लोकमें जिस 'अव्यक्त' में समस्त व्यक्तियों (भूत-प्राणियों) का लय होना बतलाया गया है, उसीका वाचक यहाँ 'अव्यक्तात्' पद है; उस पूर्वोक्त 'अव्यक्त' से इस 'अव्यक्त' को 'पर' और 'अन्य' बतलाकर उससे इसकी अत्यन्त श्रेष्ठता और विलक्षणता सिद्ध की गयी है। अभिप्राय यह है कि दोनोंका स्वरूप 'अव्यक्त' होनेपर भी दोनों एक जातिकी वस्तु नहीं हैं। वह पहला 'अव्यक्त' जड, नाशवान् और ज्ञेय है; परंतु यह दूसरा चेतन, अविनाशी और ज्ञाता है। साथ ही यह उसका स्वामी, संचालक और अधिष्ठाता है; अतएव यह उससे अत्यन्त श्रेष्ठ और विलक्षण है। अनादि और अनन्त होनेके कारण इसे 'सनातन' कहा गया है। इसलिये यह सबके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।

† जिसे पूर्वश्लोकमें 'सनातन अव्यक्तभाव'के नामसे और आठवें तथा दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्य पुरुष' के नामसे कहा है, उसी अधियज्ञ पुरुषको यहाँ 'अव्यक्त' और 'अक्षर' कहा है।

‡ जो मुक्ति सर्वोत्तम प्राप्य वस्तु है, जिसे प्राप्त कर लेनेके बाद और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता, उसका नाम 'परम गति' है। इसलिये जिस निर्गुण-निराकार परमात्माको 'परम अक्षर' और 'ब्रह्म' कहते हैं, उसी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको 'परम गति' कहा गया है (गीता ८। १३)।

§ अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के नित्य धामकी, भगवद्भावकी और भगवान्‌के स्वरूपकी प्राप्तिमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। इसी तरह अव्यक्त अक्षरकी प्राप्तिमें तथा परमगतिकी प्राप्तिमें और भगवान्‌की प्राप्तिमें भी वस्तुतः कोई भेद नहीं है। साधनाके भेदसे साधकोंकी दृष्टिमें फलका भेद है। इसी कारण उसका भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन किया गया है। यथार्थमें वस्तुगत कुछ भी भेद न होनेके कारण यहाँ उन सबकी एकता दिखलायी गयी है।

× जैसे वायु, तेज, जल और पृथ्वी—चारों भूत आकाशके अन्तर्गत हैं, आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, उसी प्रकार समस्त चराचर प्राणी अर्थात् सारा जगत् परमेश्वरके ही अन्तर्गत है, परमेश्वरसे ही उत्पन्न है और परमेश्वरके ही आधारपर स्थित है तथा जिस प्रकार वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन सबमें आकाश व्याप्त है, उसी प्रकार यह सारा जगत् अव्यक्त परमेश्वरसे व्याप्त है, यही बात गीताके नवम अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विस्तारपूर्वक दिखलायी गयी है।

+ सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, परम पुरुष परमेश्वरमें ही सब कुछ समर्पण करके उनके विधानमें सदा परम संतुष्ट रहना और सब प्रकारसे अनन्य प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर उनका स्मरण करना ही अनन्य-भक्ति है। इस अनन्य-भक्तिके द्वारा साधक अपने उपास्यदेव परमेश्वरके गुण, स्वभाव और तत्त्वको भलीभाँति जानकर उनमें तन्मय हो जाता है और शीघ्र ही उनका साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो जाता है। यही साधकका उन परमेश्वरको प्राप्त कर लेना है।

÷ यहाँ 'काल' शब्द उस मार्गका वाचक है, जिसमें कालाभिमानी भिन्न-भिन्न देवताओंका अपनी-अपनी सीमातक अधिकार

योगीजन* तो वापस न लौटनेवाली गतिको और जिस कालमें गये हुए वापस लौटनेवाली गतिको ही प्राप्त होते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको कहूँगा ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

है; क्योंकि इस अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें इसीको 'शुक्ल' और 'कृष्ण' दो प्रकारकी 'गति'के नामसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'सृति' के नामसे कहा है। वे दोनों ही शब्द मार्गवाचक हैं। इसके सिवा 'अग्निः', 'ज्योतिः' और 'धूमः' पद भी समयवाचक नहीं हैं। अतएव चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें आये हुए 'तत्र' पदका अर्थ 'समय' मानना उचित नहीं होगा। इसीलिये यहाँ 'काल' शब्दका अर्थ कालाभिमानी देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाला 'मार्ग' मानना ही ठीक है। संसारमें लोग जो दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके समय मरना अच्छा समझते हैं, यह समझना भी एक प्रकारसे ठीक ही है; क्योंकि उस समय उस-उस कालाभिमानी देवताओंके साथ तत्काल सम्बन्ध हो जाता है। अतः उस समय मरनेवाला योगी गन्तव्य स्थानतक शीघ्र और सुगमतासे पहुँच जाता है। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि रात्रिके समय मरनेवाला तथा कृष्णपक्षमें और दक्षिणायनके छः महीनोंमें मरनेवाला अर्चिमार्गसे नहीं जाता; बल्कि यह समझना चाहिये कि चाहे जिस समय मरनेपर भी, वह जिस मार्गसे जानेका अधिकारी होगा, उसी मार्गसे जायगा।

* 'योगीजन'से यह बात समझनी चाहिये कि जो साधारण मनुष्य इसी लोकमें एक योनिसे दूसरी योनिमें बदलनेवाले हैं या जो नरकादिमें जानेवाले हैं, उनकी गतिका यहाँ वर्णन नहीं है।

१. यहाँ 'ज्योतिः' पद 'अग्निः' का विशेषण है और 'अग्निः' पद अग्नि-अभिमानी देवताका वाचक है। उपनिषदोंमें इसी देवताको 'अर्चिः' कहा गया है। इसका स्वरूप दिव्य प्रकाशमय है, पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित सब देशमें इसका अधिकार है तथा उत्तरायण-मार्गमें जानेवाले अधिकारीका दिनके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। उत्तरायण मार्गसे जानेवाला जो उपासक रात्रिमें शरीर त्याग करता है, उसे यह रातभर अपने अधिकारमें रखकर दिनके उदय होनेपर दिनके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है और जो दिनमें मरता है, उसे तुरंत ही दिनके अभिमानी देवताको सौंप देता है।

२. 'अहः' पद दिनके अभिमानी देवताका वाचक है, इसका स्वरूप अग्नि-अभिमानी देवताकी अपेक्षा बहुत अधिक दिव्य प्रकाशमय है। जहाँतक पृथ्वी-लोककी सीमा है अर्थात् जितनी दूरतक आकाशमें पृथ्वीके वायुमण्डलका सम्बन्ध है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायणमार्गमें जानेवाले उपासकको शुक्लपक्षके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। अभिप्राय यह है कि उपासक यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो शुक्लपक्ष आनेतक उसे यह अपने अधिकारमें रखकर और यदि शुक्लपक्षमें मरता है तो तुरंत ही अपनी सीमातक ले जाकर उसे शुक्लपक्षके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

३. 'शुक्लः' पद शुक्लपक्षाभिमानी देवताका वाचक है। इसका स्वरूप दिनके अभिमानी देवतासे भी अधिक दिव्य प्रकाशमय है। भूलोककी सीमासे बाहर अन्तरिक्षलोकमें—जिन पितृ-लोकोंमें पंद्रह दिनके दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण-मार्गसे जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उत्तरायणके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यह भी पहलेवालोंकी भाँति यदि साधक दक्षिणायनमें इसके अधिकारमें आता है तो उत्तरायणका समय आनेतक उसे अपने अधिकारमें रखकर और यदि उत्तरायणमें आता है तो तुरंत ही अपनी सीमासे पार करके उत्तरायण-अभिमानी देवताके अधिकारमें सौंप देता है।

४. जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशाकी ओर चलते रहते हैं, उस छमाहीको उत्तरायण कहते हैं। उस उत्तरायण-कालाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'षण्मासा उत्तरायणम्' पद है। इसका स्वरूप शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे भी बढ़कर दिव्य प्रकाशमय है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन देवताओंके लोकोंमें छः महीनोंके दिन एवं उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण-मार्गसे परमधामको जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके, उपनिषदोंमें वर्णित—(छान्दोग्य उप० ४ । १५ । ५ तथा ५ । १० । १, २; बृहदारण्यक उप० ६ । २ । १५) संवत्सरके अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे आगे संवत्सरका अभिमानी देवता उसे सूर्यलोकमें पहुँचाता है। वहाँसे क्रमशः आदित्याभिमानी देवता चन्द्राभिमानी देवताके अधिकारमें और वह विद्युत्-अभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देता है। फिर वहाँपर भगवान्‌के परमधामसे भगवान्‌के पार्षद आकर उसे परम धाममें ले जाते हैं और तब उसका भगवान्‌से मिलन हो जाता है।

ध्यान रहे कि इस वर्णनमें आया हुआ 'चन्द्र' शब्द हमें दीखनेवाले चन्द्रलोकका और उसके अभिमानी देवताका वाचक नहीं है।

जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता* योगीजन उपर्युक्त देवताओं-द्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको† प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

* इस श्लोकमें 'ब्रह्मविदः' पद निर्गुण ब्रह्मके तत्त्वको या सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपको शास्त्र और आचार्योंके उपदेशानुसार श्रद्धापूर्वक परोक्षभावसे जाननेवाले उपासकोंका तथा निष्कामभावसे कर्म करनेवाले कर्मयोगियोंका वाचक है। यहाँका 'ब्रह्मविदः' पद परब्रह्म परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महात्माओंका वाचक नहीं है; क्योंकि उनके लिये एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमनका वर्णन उपयुक्त नहीं है। श्रुतिमें भी कहा है—'न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति' (बृहदारण्यक उप० ४।४।६), 'अत्रैव समवलीयन्ते' (बृहदारण्यक उप० ३।२।११), 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक उप० ४।४।६) अर्थात् 'क्योंकि उसके प्राण उत्क्रान्तिको नहीं प्राप्त होते—शरीरसे निकलकर अन्यत्र नहीं जाते', 'यहींपर लीन हो जाते हैं', 'वह ब्रह्म हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

† यहाँ 'ब्रह्म' शब्द सगुण परमेश्वरका वाचक है। उनके कभी नाश न होनेवाले नित्य धाममें, जिसे सत्यलोक, परम धाम, साकेतलोक, गोलोक, वैकुण्ठलोक आदि नामोंसे कहा है, पहुँचकर भगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेना ही उनको प्राप्त होना है।

१. यहाँ 'धूमः' पद धूमाभिमानी देवताका अर्थात् अन्धकारके अभिमानी देवताका वाचक है। उसका स्वरूप अन्धकारमय होता है। अग्नि-अभिमानी देवताकी भाँति पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित समस्त देशमें इसका भी अधिकार है तथा दक्षिणायन मार्गसे जानेवाले साधकोंको रात्रि-अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। दक्षिणायन-मार्गसे जानेवाला जो साधक दिनमें मर जाता है, उसे यह दिनभर अपने अधिकारमें रखकर रात्रिका आरम्भ होते ही रात्रि-अभिमानी देवताको सौंप देता है और जो रात्रिमें मरता है, उसे तुरंत ही रात्रि-अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

२. यहाँ 'रात्रिः' पदको भी रात्रिके अभिमानी देवताका ही वाचक समझना चाहिये। इसका स्वरूप अन्धकारमय होता है। दिनके अभिमानी देवताकी भाँति इसका अधिकार भी जहाँतक पृथ्वीलोककी सीमा है, वहाँतक है। भेद इतना ही है कि पृथ्वीलोकमें जिस समय जहाँ दिन रहता है, वहाँ दिनके अभिमानी देवताका अधिकार रहता है और जिस समय जहाँ रात्रि रहती है, वहाँ रात्रि-अभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन मार्गसे जानेवाले साधकको पृथ्वीलोककी सीमासे पार करके अन्तरिक्षमें कृष्णपक्षके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यदि वह साधक शुक्लपक्षमें मरता है, तब तो उसे कृष्णपक्षके आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो तुरंत ही अपने अधिकारसे पार करके कृष्णपक्षाभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

३. कृष्णपक्षाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'कृष्णः' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। पृथ्वी-मण्डलकी सीमाके बाहर अन्तरिक्षलोकमें, जिन पितृलोकोंमें पंद्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँ-तक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि जिस समय जहाँ उस लोकमें शुक्लपक्ष रहता है, वहाँ शुक्लपक्षाभिमानी देवताका अधिकार रहता है और जहाँ कृष्णपक्ष रहता है, वहाँ कृष्णपक्षाभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन-मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको दक्षिणायनाभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। जो दक्षिणायन-मार्गका अधिकारी साधक उत्तरायणके समय इसके अधिकारमें आता है, उसे दक्षिणायनका समय आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और जो दक्षिणायनके समय आता है, उसे तुरंत ही यह अपने अधिकारसे पार करके दक्षिणायनाभिमानी देवताके पास पहुँचा देता है।

४. जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण दिशाकी ओर चलते रहते हैं, उस छमाहीको दक्षिणायन कहते हैं। उसके अभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'दक्षिणायनम्' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन देवताओंके लोकोंमें छः महीनोंका दिन और छः महीनोंकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि उत्तरायणके छः महीनोंमें उसके अभिमानी देवताका वहाँ अधिकार रहता है और दक्षिणायनके छः महीनोंमें इसका अधिकार रहता है। दक्षिणायन मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको अपने अधिकारसे पार करके उपनिषदोंमें वर्णित पितृलोकाभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे पितृलोकाभिमानी देवता साधकको आकाशा-भिमानी देवताके पास और वह आकाशाभिमानी देवता चन्द्रमाके लोकमें पहुँचा देता है (छान्दोग्य उप० ५।१०।४;

जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता है, रात्रि-अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्म करनेवाला योगी* उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको† प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर वापस आता है‡ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥

क्योंकि जगत्के ये दो प्रकारके—शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं ।§ इनमें एकके द्वारा गया हुआ×—जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा गया हुआ+ फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

हे पार्थ ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता ।÷ इस कारण हे अर्जुन !

बृहदारण्यक उप० ६ । २ । १६) । यहाँ चन्द्रमाका लोक उपलक्षणमात्र है; अतः ब्रह्माके लोकतक जितने भी पुनरागमनशील लोक हैं, चन्द्रलोकसे उन सभीको समझ लेना चाहिये ।

ध्यान रहे कि उपनिषदोंमें वर्णित यह पितृलोक वह पितृलोक नहीं है, जो अन्तरिक्षके अन्तर्गत है और जहाँ पंद्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है ।

* स्वर्गादिके लिये पुण्यकर्म करनेवाला पुरुष भी अपनी ऐहिक भोगोंकी प्रवृत्तिका निरोध करता है, इस दृष्टिसे उसे भी 'योगी' कहना उचित है । इसके सिवा योगभ्रष्ट पुरुष भी इस मार्गसे स्वर्गमें जाकर वहाँ कुछ कालतक निवास करके वापस लौटते हैं । वे भी इसी मार्गसे जानेवालोंमें हैं । अतः उनको 'योगी' कहना उचित ही है । यहाँ 'योगी' शब्दका प्रयोग करके यह बात भी दिखलायी गयी है कि यह मार्ग पापकर्म करनेवाले तामस मनुष्योंके लिये नहीं है, उच्च लोकोंकी प्राप्तिके अधिकारी शास्त्रीय कर्म करनेवाले पुरुषोंके लिये ही है (गीता २ । ४२, ४३, ४४ तथा ९ । २०, २१ आदि) ।

† चन्द्रमाके लोकमें उसके अभिमानी देवताका स्वरूप शीतल प्रकाशमय है । उसीके-जैसे प्रकाशमय स्वरूपका नाम 'ज्योति' है और वैसे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाना—चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होना है । वहाँ जानेवाला साधक उस लोकमें शीतल प्रकाशमय दिव्य देवशरीर पाकर अपने पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप दिव्य भोगोंको भोगता है ।

‡ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर वहाँ रहनेका नियत समय समाप्त हो जानेपर इस मृत्युलोकमें वापस आ जाना ही वहाँसे लौटना है । जिन कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और वहाँके भोग प्राप्त होते हैं, उनका भोग समाप्त हो जानेसे जब वे क्षीण हो जाते हैं, तब प्राणीको बाध्य होकर वहाँसे वापस लौटना पड़ता है । वह चन्द्रलोकसे आकाशमें आता है, वहाँसे वायुरूप हो जाता है, फिर धूमके आकारमें परिणत हो जाता है, धूमसे बादलमें आता है, बादलसे मेघ बनता है, इसके अनन्तर जलके रूपमें पृथ्वीपर बरसता है, वहाँ गेहूँ, जौ, तिल, उड़द आदि बीजोंमें या वनस्पतियोंमें प्रविष्ट होता है । उनके द्वारा पुरुषके वीर्यमें प्रविष्ट होकर स्त्रीकी योनिमें सींचा जाता है और अपने कर्मानुसार योनिको पाकर जन्म ग्रहण करता है । (छान्दोग्य उप० ५ । १० । ५, ६, ७; बृहदारण्यक उप० ६ । २ । १६) ।

§ चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते कभी-न-कभी भगवान् दया करके जीवमात्रको मनुष्यशरीर देकर अपने तथा देवताओंके लोकोंमें जानेका सुअवसर देते हैं । उस समय यदि वह जीवनका सदुपयोग करे तो दोनोंमेंसे किसी एक मार्गके द्वारा गन्तव्य स्थानको अवश्य प्राप्त कर सकता है । अतएव प्रकारान्तरसे प्राणिमात्रके साथ इन दोनों मार्गोंका सम्बन्ध है । ये मार्ग सदासे ही समस्त प्राणियोंके लिये हैं और सदैव रहेंगे । इसीलिये इनको शाश्वत कहा है । यद्यपि महाप्रलयमें जब समस्त लोक भगवान्में लीन हो जाते हैं, उस समय ये मार्ग और इनके देवता भी लीन हो जाते हैं, तथापि जब पुनः सृष्टि होती है, तब पूर्वकी भाँति ही इनका पुनः निर्माण हो जाता है । अतः इनको 'शाश्वत' कहनेमें कोई दोष नहीं है ।

× अर्थात् इसी अध्यायके २४ वें श्लोकके अनुसार अर्चिमार्गसे गया हुआ योगी ।

\+ अर्थात् इसी अध्यायके २५ वें श्लोकके अनुसार धूममार्गसे गया हुआ सकाम कर्मयोगी ।

÷ योगसाधनामें लगा हुआ भी मनुष्य इन मार्गोंका तत्त्व न जाननेके कारण स्वभाववश इस लोक या परलोकके भोगोंमें आसक्त होकर साधनसे भ्रष्ट हो जाता है; यही उसका मोहित होना है; किंतु जो इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानता है, वह फिर ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोकोंके भोगोंको नाशवान् और तुच्छ समझ लेनेके कारण किसी भी प्रकारके भोगोंमें आसक्त नहीं होता एवं निरन्तर परमेश्वरकी प्राप्तिके ही साधनमें लगा रहता है । यही उसका मोहित न होना है ।

तू सब कालमें समबुद्धिरूप योगसे युक्त हो* अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाला हो ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्

योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर† वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उस सबको निःसंदेह उल्लङ्घन कर जाता है‡ और सनातन परम पदको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ भीष्मपर्वणि तु द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥ भीष्मपर्वमें बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां नवमोऽध्यायः)

ज्ञान, विज्ञान और जगत्‌की उत्पत्तिका, आसुरी और दैवी सम्पदावालोंका, प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका, सकाम-निष्काम उपासनाका एवं भगवद्-भक्तिकी महिमाका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने विज्ञान-सहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी । उसके अनुसार उस विषयका वर्णन करते हुए, अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्‌को जाननेकी एवं अन्तकालके भगवच्चिन्तनकी बात कही। इसपर आठवें अध्यायमें अर्जुनने उन तत्त्वोंको और अन्तकालकी उपासनाके विषयको समझनेके लिये सात प्रश्न कर दिये । उनमेंसे छः प्रश्नोंका उत्तर तो भगवान्‌ने संक्षेपमें तीसरे और चौथे श्लोकोंमें दे दिया, किंतु सातवें प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने जिस उपदेशका आरम्भ किया, उसमें सारा-का-सारा आठवाँ अध्याय पूरा हो गया । इस प्रकार सातवें अध्यायमें आरम्भ किये हुए विज्ञानसहित ज्ञानका साङ्गोपाङ्ग वर्णन न होनेके कारण उसी विषयको भलीभाँति समझानेके उद्देश्यसे भगवान् इस नवम अध्यायका आरम्भ करते हैं । तथा सातवें अध्यायमें वर्णित उपदेशके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलानेके लिये पहले श्लोकमें पुनः उसी विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

* यहाँ भगवान्‌ने जो अर्जुनको सब कालमें योगयुक्त होनेके लिये कहा है, इसका यह भाव है कि मनुष्य-जीवन बहुत थोड़े ही दिनोंका है, मृत्युका कुछ भी पता नहीं है कि कब आ जाय । यदि अपने जीवनके प्रत्येक क्षणको साधनमें लगाये रखनेका प्रयत्न नहीं किया जायगा तो साधन बीच-बीचमें छूटता रहेगा और यदि कहीं साधनहीन अवस्थामें मृत्यु हो जायगी तो योगभ्रष्ट होकर पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। अतएव मनुष्यको भगवत्-प्राप्तिके साधनमें नित्य-निरन्तर लगे ही रहना चाहिये।

† इस अध्यायमें वर्णित शिक्षाको अर्थात् भगवान्‌के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपकी उपासनाको, भगवानके गुण, प्रभाव और माहात्म्यको एवं किस प्रकार साधन करनेसे मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, कहाँ जाकर मनुष्यको लौटना पड़ता है और कहाँ पहुँच जानेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता, इत्यादि जितनी बातें इस अध्यायमें बतलायी गयी हैं, उन सबको भलीभाँति समझ लेना ही उसे तत्त्वसे जानना है ।

‡ यहाँ 'वेद' शब्द अङ्गोंसहित चारों वेदोंका और उनके अनुकूल समस्त शास्त्रोंका, 'यज्ञ' शास्त्रविहित पूजन, हवन आदि सब प्रकारके यज्ञोंका, 'तप' व्रत, उपवास, इन्द्रियसंयम, स्वधर्मपालन आदि सभी प्रकारके शास्त्रविहित तपोंका और 'दान' अन्नदान, विद्यादान, क्षेत्रदान आदि सब प्रकारके शास्त्रविहित दान एवं परोपकारका वाचक है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सकामभावसे वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय तथा यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे जो पुण्यसंचय होता है, उस पुण्यका जो ब्रह्मलोकपर्यन्त भिन्न-भिन्न देवलोकोंकी और वहाँके भोगोंकी प्राप्तिरूप फल वेद-शास्त्रोंमें बतलाया गया है, वही पुण्यफल है । एवं जो उन सब लोकोंको और उनके भोगोंको क्षणभङ्गुर तथा अनित्य समझकर उनमें आसक्त न होना और उनसे सर्वथा उपरत हो जाना है, यही उनको उल्लङ्घन कर जाना है ।

१. संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखनेयोग्य रहस्यके विषय माने गये हैं, उन सबमें समग्ररूप भगवान् पुरुषोत्तमके तत्त्व, प्रेम, गुण, प्रभाव, विभूति और महत्त्व आदिके साथ उनकी शरणागतिका स्वरूप सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य है, यही भाव दिखलानेके लिये इसे 'गुह्यतम' कहा गया है ।

२. गुणवानोंके गुणोंको न मानना, गुणोंमें दोष देखना, उनकी निन्दा करना एवं उनपर मिथ्या दोषोंका आरोपण

श्रीभगवान् बोले—तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे* मुक्त हो जायगा ॥ १ ॥

राजविद्या¹ राजगुह्यं² पवित्रमिदमुत्तमम्³।
प्रत्यक्षावगमं⁴ धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्⁵ ॥ २ ॥

यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम† और अविनाशी है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—जब विज्ञानसहित ज्ञानकी इतनी महिमा है और इसका साधन भी इतना सुगम है तो फिर सभी मनुष्य इसे धारण क्यों नहीं करते ? इस जिज्ञासापर अश्रद्धाको ही इसमें प्रधान कारण दिखलानेके लिये भगवान् अब इसपर श्रद्धा न करनेवाले मनुष्योंकी निन्दा करते हैं —

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परंतप ! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष‡ मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने जिस विज्ञानसहित ज्ञानका उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा की थी तथा जिसका माहात्म्य वर्णन किया

करना 'असूया' है। जिसमें स्वभावसे ही यह 'असूया' दोष बिल्कुल ही नहीं होता, उसे 'अनसूयु' कहते हैं।

* इस श्लोकमें 'अशुभ' शब्द समस्त दुःखोंका, उनके हेतुभूत कर्मोंका, दुर्गुणोंका, जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनका और इन सबके कारणरूप अज्ञानका वाचक है। इन सबसे सदाके लिये सम्पूर्णतया छूट जाना और परमानन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त हो जाना ही 'अशुभसे मुक्त' होना है।

१. संसारमें जितनी भी ज्ञात और अज्ञात विद्याएँ हैं, यह उन सबमें बढ़कर है; जिसने इस विद्याका यथार्थ अनुभव कर लिया है उसके लिये फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। इसलिये इसे 'राजविद्या' कहा गया है।

२. इसमें भगवान्के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और महत्त्वका, उनकी उपासना-विधिका और उसके फलका भलीभाँति निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें भगवान्ने अपना समस्त रहस्य खोलकर यह तत्त्व समझा दिया है कि मैं जो श्रीकृष्णरूपमें तुम्हारे सामने विराजित हूँ, इस समस्त जगत्का कर्ता, हर्ता, सबका आधार, सर्वशक्तिमान्, परब्रह्म परमेश्वर और साक्षात् पुरुषोत्तम हूँ। तुम सब प्रकारसे मेरी शरण आ जाओ। इस प्रकारके परम गोपनीय रहस्यकी बात अर्जुन-जैसे दोषदृष्टिहीन परम श्रद्धावान् भक्तके सामने ही कही जा सकती है, हरेकके सामने नहीं। इसीलिये इसे 'राजगुह्य' बतलाया गया है।

३. यह उपदेश इतना पावन करनेवाला है कि जो कोई भी इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन और इसके अनुसार आचरण करता है, यह उसके समस्त पापों और अवगुणोंका समूल नाश करके उसे सदाके लिये परम विशुद्ध बना देता है। इसीलिये इसे 'पवित्र' कहा गया है।

४. विज्ञानसहित इस ज्ञानका फल श्राद्धादि कर्मोंकी भाँति अदृष्ट नहीं है। साधक ज्यों-ज्यों इसकी ओर आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसके दुर्गुणों, दुराचारों और दुःखोंका नाश होकर, उसे परम शान्ति और परम सुखका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है; जिसको इसकी पूर्णरूपसे उपलब्धि हो जाती है, वह तो तुरंत ही परम सुख और परम शान्तिके समुद्र, परम प्रेमी, परम दयालु और सबके सुहृद्, साक्षात् भगवान्को ही प्राप्त हो जाता है। इसीलिये यह 'प्रत्यक्षावगम' है।

५. जैसे सकामकर्म अपना फल देकर समाप्त हो जाता है और जैसे सांसारिक विद्या एक बार पढ़ लेनेके बाद, यदि उसका बार-बार अभ्यास न किया जाय तो नष्ट हो जाती है—भगवान्का यह ज्ञान-विज्ञान वैसे नष्ट नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इसका फल भी अविनाशी है; इसलिये इसे 'अव्यय' कहा गया है।

† इसमें न तो किसी प्रकारके बाहरी आयोजनकी आवश्यकता है और न कोई आयास ही करना पड़ता है। सिद्ध होनेके बादकी बात तो दूर रही, साधनके आरम्भसे ही इसमें साधकोंको शान्ति और सुखका अनुभव होने लगता है। इसलिये इसे साधन करनेमें बड़ा सुगम बतलाया है।

‡ पिछले श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानका माहात्म्य बतलाया गया है और इसके आगे पूरे अध्यायमें जिसका वर्णन है, उसीका वाचक यहाँ 'अस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है। इस प्रसंगमें वर्णन किये हुए भगवान्के स्वरूप, प्रभाव, गुण और महत्त्वको, उनकी प्राप्तिके उपायको और उसके फलको सत्य न मानकर उसमें असम्भावना और विपरीत भावना करना और उसे केवल रोचक उक्ति समझना आदि जो विश्वासविरोधिनी भावनाएँ हैं—ये जिनमें हों, वे ही श्रद्धारहित पुरुष हैं।

था, अब उसका आरम्भ करते हुए वे सबसे पहले प्रभावके साथ अपने निराकारस्वरूपके तत्त्वका वर्णन करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत्* जलसे बरफके सदृश परिपूर्ण है† और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं‡ किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ§॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख× कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है+॥ ५॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु

---

१. गीताके आठवें अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसे 'अधियज्ञ', आठवें और दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्यपुरुष', नवें श्लोकमें 'कवि' 'पुराण' आदि, बीसवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें 'अव्यक्त अक्षर' और बाईसवें श्लोकमें भक्तिद्वारा प्राप्त होनेयोग्य 'परम पुरुष' बतलाया है, उसी सर्वव्यापी सगुण निराकार स्वरूपके लक्ष्यसे यहाँ 'अव्यक्तमूर्तिना' पदका प्रयोग हुआ है।

* 'यह सब जगत्'से यहाँ सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंके सहित समस्त ब्रह्माण्ड समझना चाहिये।

† जैसे आकाशसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सुवर्णसे गहने और मिट्टीसे उसके बने हुए बर्तन व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व इसकी रचना करनेवाले सगुण परमेश्वरके निराकाररूपसे व्याप्त है। श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (ईशोपनिषद् १)

'इस संसारमें जो कुछ जड-चेतन पदार्थसमुदाय है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

‡ 'यहाँ सब भूत'से समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा उनके विषय और वासस्थानोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंको कहा गया है। भगवान् ही अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं; उन्होंने ही इस समस्त जगत्को अपने किसी अंशमें धारण कर रक्खा है (गीता १०। ४२) और एकमात्र वे ही सबके गति, भर्ता, निवासस्थान, आश्रय, प्रभव, प्रलय, स्थान और निधान हैं (गीता ९। १८)। इस प्रकार सबकी स्थिति भगवान्के अधीन है। इसीलिये सब भूतोंको भगवान्में स्थित बतलाया गया है।

§ बादलोंमें आकाशकी भाँति समस्त जगत्के अंदर अणु-अणुमें व्याप्त होनेपर भी भगवान् उससे सर्वथा अतीत और सम्बन्धरहित हैं। समस्त जगत्का नाश होनेपर भी, बादलोंके नाश होनेपर आकाशकी भाँति, भगवान् ज्यों-के-त्यों रहते हैं। जगत्के नाशसे भगवान्का नाश नहीं होता तथा जिस जगह इस जगत्की गन्ध भी नहीं है, वहाँ भी भगवान् अपनी महिमामें स्थित ही हैं। यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने यह बात कही है कि वास्तवमें मैं उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। अर्थात् मैं अपने-आपमें ही नित्य स्थित हूँ।

२. सबके उत्पादक और सबमें व्याप्त रहते हुए तथा सबका धारण-पोषण करते हुए भी सबसे सर्वथा निर्लिप्त रहनेकी जो अद्भुत प्रभावमयी शक्ति है, जो ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसीमें हो ही नहीं सकती, उसीका यहाँ 'ऐश्वरम् योगम्' इन पदोंद्वारा प्रतिपादन किया गया है। इन दो श्लोकोंमें कही हुई सभी बातोंको लक्ष्यमें रखकर भगवान्ने अर्जुनको अपना 'ईश्वरीय योग' देखनेके लिये कहा है।

× यहाँ भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन! तुम मेरी असाधारण योगशक्तिका चमत्कार देखो! यह कैसा आश्चर्य है कि आकाशमें बादलोंकी भाँति समस्त जगत् मुझमें स्थित भी है और नहीं भी है। बादलोंका आधार आकाश है, परंतु बादल उसमें सदा नहीं रहते। वस्तुतः अनित्य होनेके कारण उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है। अतः वे आकाशमें नहीं हैं। इसी प्रकार यह सारा जगत् मेरी ही योगशक्तिसे उत्पन्न है और मैं ही इसका आधार हूँ, इसलिये तो सब भूत मुझमें स्थित हैं; परंतु ऐसा होते हुए भी मैं इनसे सर्वथा अतीत हूँ, ये मुझमें सदा नहीं रहते, इसलिये ये मुझमें स्थित नहीं हैं। अतएव जबतक मनुष्यकी दृष्टिमें जगत् है, तबतक सब कुछ मुझमें ही है; मेरे सिवा इस जगत्का कोई दूसरा आधार है ही नहीं। जब मेरा साक्षात् हो जाता है, तब उसकी दृष्टिमें मुझसे भिन्न कोई वस्तु रह नहीं जाती, उस समय मुझमें यह जगत् नहीं है।

+ वास्तवमें भगवान् इस समस्त जगत्से अतीत हैं, यही भाव दिखलानेके लिये 'वह भूतोंमें स्थित नहीं है' ऐसा कहा गया है।

सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान* ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने यहाँतक प्रभावसहित अपने निराकार स्वरूपका तत्त्व समझानेके लिये अपनेको सबमें व्यापक, सबका आधार, सबका उत्पादक, असङ्ग और निर्विकार बतलाया। अब अपने भूतभावन स्वरूपका स्पष्टीकरण करते हुए सृष्टिरचनादि कर्मोंका तत्त्व समझाते हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं† अर्थात् प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ‡ ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी प्रकृतिको अङ्गीकार§ करके स्वभावके बलसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बार-बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ× ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार जगत्-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् उन कर्मोंके बन्धनमें क्यों नहीं पड़ते, अब यही तत्त्व समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते+ ॥ ९ ॥

---

* आकाशकी भाँति भगवान्‌को सम, निराकार, अकर्ता, अनन्त, असंग और निर्विकार तथा वायुकी भाँति समस्त चराचर भूतोंको भगवान्‌से ही उत्पन्न, उन्हींमें स्थित और उन्हींमें लीन होनेवाले बतलानेके लिये ऐसा कहा गया है। जैसे वायुकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आकाशमें ही होनेके कारण वह कभी किसी भी अवस्थामें आकाशसे अलग नहीं रह सकता, सदा ही आकाशमें स्थित रहता है एवं ऐसा होनेपर भी आकाशका वायुसे और उसके गमनादि विकारोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वह सदा ही उससे अतीत है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय भगवान्‌के संकल्पके आधार होनेके कारण समस्त भूतसमुदाय सदा भगवान्‌में ही स्थित रहता है; तथापि भगवान् उन भूतोंसे सर्वथा अतीत हैं और भगवान्‌में सदा ही, सब प्रकारके विकारोंका सर्वथा अभाव है।

१. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, समस्त भोगवस्तु और वासस्थानके सहित चराचर प्राणियोंका वाचक 'सर्वभूतानि' पद है।

२. ब्रह्माके एक दिनको 'कल्प' कहते हैं और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। इस अहोरात्रिके हिसाबसे जब ब्रह्माके सौ वर्ष पूरे होकर ब्रह्माकी आयु समाप्त हो जाती है, उस कालका वाचक यहाँ 'कल्पक्षय' है; वही कल्पोंका अन्त है। इसीको 'महाप्रलय' भी कहते हैं।

† समस्त जगत्‌की कारणभूता जो मूल-प्रकृति है, जिसे गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें 'महद्ब्रह्म' कहा है तथा जिसे अव्याकृत और प्रधान भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'प्रकृति' शब्द है। वह प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है, इसी बातको दिखलानेके लिये भगवान्‌ने उसको अपनी प्रकृति बतलाया है। कल्पोंके अन्तमें समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और लोकोंके सहित समस्त प्राणियोंका प्रकृतिमें लय हो जाना—अर्थात् उनके गुणकर्मोंके संस्कार-समुदायरूप कारणशरीरसहित उनका मूल-प्रकृतिमें विलीन हो जाना ही 'सब भूतोंका प्रकृतिको प्राप्त होना' है।

‡ कल्पोंका अन्त होनेके बाद यानी ब्रह्माके सौ वर्षके बराबर समय पूरा होनेपर जब पुनः जीवोंके कर्मोंका फल भुगतानेके लिये जगत्‌का विस्तार करनेकी भगवान्‌में स्फुरणा होती है, उस कालका वाचक 'कल्पादि' शब्द है। इसे महासर्गका आदि भी कहते हैं। उस समय जो भगवान्‌का सब भूतोंकी उत्पत्तिके लिये अपने संकल्पके द्वारा हिरण्यगर्भ ब्रह्माको उनके लोकसहित उत्पन्न कर देना है, यही उनका सब भूतोंको रचना है।

§ सृष्टिरचनादि कार्यके लिये भगवान्‌का जो शक्तिरूपसे अपने अंदर स्थित प्रकृतिको स्मरण करना है, वही उसे अङ्गीकार करना है।

× भिन्न-भिन्न प्राणियोंका जो अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार बना हुआ स्वभाव है, वही उनकी प्रकृति है। भगवान्‌की प्रकृति समष्टि-प्रकृति है और जीवोंकी प्रकृति उसीकी एक अंशभूता व्यष्टि-प्रकृति है। उस व्यष्टि-प्रकृतिके बन्धनमें पड़े रहना ही उसके बलसे परतन्त्र होना है। यहाँ भगवान्‌ने उनको बार-बार रचनेकी बात कहकर यह बात दिखलायी है कि जबतक जीव अपनी उस प्रकृतिके वशमें रहते हैं, तबतक मैं उनको बार-बार इसी प्रकार प्रत्येक कल्पके आदिमें उनके भिन्न-भिन्न गुणकर्मोंके अनुसार नाना योनियोंमें उत्पन्न करता रहता हूँ।

+ सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार आदिके निमित्त भगवान्‌के द्वारा जितने भी कर्म होते हैं, उन कर्मों-

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति चराचर-सहित सर्वजगत्को रचती है* और इस हेतुसे ही यह संसार-चक्र घूम रहा है ॥ १० ॥

सम्बन्ध—अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्ने चौथेसे छठे श्लोकतक प्रभावसहित सगुण-निराकार स्वरूपका तत्त्व समझाया । फिर सातवेंसे दसवें श्लोकतक सृष्टि-रचनादि समस्त कर्मोंमें अपनी असंगता और निर्विकारता दिखलाकर उन कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व बतलाया । अब अपने सगुण साकार रूपका महत्त्व, उसकी भक्तिका प्रकार और उसके गुण और प्रभावका तत्त्व समझानेके लिये पहले दो श्लोकोंमें उसके प्रभावको न जाननेवाले असुर-प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मेरे परम भावको न जाननेवाले† मूढलोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं‡ ॥ ११ ॥

में या उनके फलमें भगवान्का किसी प्रकार भी आसक्त न होना—'आसक्तिरहित रहना' है और केवल अध्यक्षतामात्रसे प्रकृतिद्वारा प्राणियोंके गुण-कर्मानुसार उनकी उत्पत्ति आदिके लिये की जानेवाली चेष्टामें कर्तृत्वाभिमान्से तथा पक्षपातसे रहित होकर निर्लिप्त रहना—'उन कर्मोंमें उदासीनके सदृश स्थित रहना' है । इसी कारण वे कर्म भगवान्को नहीं बाँधते ।

* जिस प्रकार किसान अपनी अध्यक्षतामें पृथ्वीके साथ स्वयं बीजका सम्बन्ध कर देता है, फिर पृथ्वी उन बीजोंके अनुसार भिन्न-भिन्न पौधोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार भगवान् अपनी अध्यक्षतामें चेतनसमूहरूप बीजका प्रकृतिरूपी भूमिके साथ सम्बन्ध कर देते हैं (गीता १४ । ३) । इस प्रकार जड-चेतनका संयोग कर दिये जानेपर यह प्रकृति समस्त चराचर जगत्को कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न कर देती है ।

जहाँ भगवान्ने अपनेको जगत्का रचयिता बतलाया है, वहाँ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि वस्तुतः भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते, वे अपनी शक्ति प्रकृतिको स्वीकार करके उसीके द्वारा जगत्की रचना करते हैं और जहाँ प्रकृतिको सृष्टि-रचनादि कार्य करनेवाली कहा गया है, वहाँ उसीके साथ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि भगवान्की अध्यक्षतामें उनसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति सब कुछ करती है । जबतक उसे भगवान्का सहारा नहीं मिलता, तबतक वह जड-प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती । इसीलिये भगवान्ने आठवें श्लोकमें यह कहा है कि 'मैं अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके जगत्की रचना करता हूँ' और इस श्लोकमें यह कहते हैं कि 'मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति जगत्की रचना करती है ।' वस्तुतः दो तरहकी युक्तियोंसे एक ही तत्त्व समझाया गया है ।

१. गीताके सोलहवें अध्यायके चौथे तथा सातवेंसे बीसवें श्लोकतक जिनके विविध लक्षण बतलाये गये हैं, ऐसे ही आसुरी सम्पदावाले मनुष्योंके लिये 'मूढाः' पदका प्रयोग हुआ है ।

† चौथेसे छठे श्लोकतक भगवान्के जिस 'सर्वव्यापकत्व' आदि प्रभावका वर्णन किया गया है, जिसको 'ऐश्वर योग' कहा है तथा गीताके सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें जिस 'परमभाव' को न जाननेकी बात कही है, भगवान्के उस सर्वोत्तम प्रभावका ही वाचक यहाँ 'परम' विशेषणके सहित 'भाव' शब्द है । सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सबके हर्ता कर्ता परमेश्वर ही सब जीवोंपर अनुग्रह करके सबको अपनी शरण प्रदान करने और धर्म-संस्थापन, भक्त-उद्धार आदि अनेकों लीला-कार्य करनेके लिये अपनी योगमायासे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए हैं (गीता ४ । ६, ७, ८)—इस रहस्यको न समझना और इसपर विश्वास न करना ही उस परम भावको न जानना है ।

‡ महाभारतमें भीष्मपर्वके छाछठवें अध्यायमें बतलाया है—

'सब लोकोंके महान् ईश्वर भगवान् वासुदेव सबके पूजनीय हैं । उन महान् वीर्यवान् शङ्ख-चक्र-गदाधारी वासुदेवको मनुष्य समझकर कभी उनकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये । वे ही परम गुह्य, परम पद, परम ब्रह्म और परम यशःस्वरूप हैं । वे ही अक्षर हैं, अव्यक्त हैं, सनातन हैं, परम तेज हैं, परम सुख हैं और परम सत्य हैं । देवता, इन्द्र और मनुष्य, किसीको भी उन अमित-पराक्रमी प्रभु वासुदेवको मनुष्य मानकर उनका अनादर नहीं करना चाहिये । जो मूढ-मति लोग उन हृषीकेशको मनुष्य बतलाते हैं, वे नराधम हैं । जो मनुष्य इन महात्मा योगेश्वरको मनुष्यदेहधारी मानकर इनका अनादर करते हैं और जो इन चराचरके आत्मा श्रीवत्सके चिह्नवाले महान् तेजस्वी पद्मनाभ भगवान्को नहीं पहचानते वे तामसी प्रकृतिसे युक्त हैं । जो इन कौस्तुभ-किरीटधारी और मित्रोंको अभय करनेवाले भगवान्का अपमान करता है, वह, अत्यन्त भयानक नरकमें पड़ता है ।'

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्त-चित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिको ही धारण किये रहते हैं* ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌का प्रभाव न जाननेवाले आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करके अब सगुणरूपकी भक्तिका तत्त्व समझानेके लिये भगवान्‌के प्रभावको जाननेवाले, दैवी प्रकृतिके आश्रित, उच्च श्रेणीके अनन्य भक्तोंके लक्षण बतलाते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

परंतु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित† महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षर-स्वरूप जानकर‡ अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं§॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

१. भगवान्‌के प्रभावको न जाननेवाले आसुर मनुष्य ऐसी निरर्थक आशाएँ करते रहते हैं, जो कभी पूर्ण नहीं होतीं (गीता १६ । १० से १२); इसीलिये उनको 'मोघाशाः' कहते हैं ।

२. भगवान् और शास्त्रोंपर विश्वास न करनेवाले विषयी पामर लोग शास्त्रविधिका त्याग करके अश्रद्धापूर्वक जो मनमाने यज्ञादि कर्म करते हैं, उन कर्मोंका उन्हें इस लोक या परलोकमें कुछ भी फल नहीं मिलता (गीता १६ । १७, २३; १७ । २८) । इसीलिये उनको 'मोघकर्माणः' कहा गया है ।

३. जिनका ज्ञान व्यर्थ हो, तात्त्विक अर्थसे शून्य हो और युक्तियुक्त न हो (गीता १८ । २२), उनको 'मोघज्ञानाः' कहते हैं ।

* राक्षसोंकी भाँति बिना ही कारण द्वेष करके जो दूसरोंके अनिष्ट करनेका और उन्हें कष्ट पहुँचानेका स्वभाव है, उसे 'राक्षसी प्रकृति' कहते हैं । काम और लोभके वश होकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरोंको क्लेश पहुँचाने और उनके स्वत्वहरण करनेका जो स्वभाव है, उसे 'आसुरी प्रकृति' कहते हैं और प्रमाद या मोहके कारण किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचानेका जो स्वभाव है, उसे 'मोहिनी प्रकृति' कहते हैं । ऐसे दुष्ट स्वभावका त्याग करनेके लिये चेष्टा न करना, वरं उसीको उत्तम समझकर पकड़े रहना ही 'उसे धारण करना' है । भगवान्‌के प्रभावको न जाननेवाले मनुष्य प्रायः ऐसा ही करते हैं, इसीलिये उनको उक्त प्रकृतियोंके आश्रित बतलाया है ।

४. यहाँ 'महात्मानः' पदका प्रयोग उन निष्काम अनन्यप्रेमी भगवद्भक्तोंके लिये किया गया है, जो भगवत्प्रेममें सदा सराबोर रहते हैं और भगवत्प्राप्तिके सर्वथा योग्य हैं ।

† दैव अर्थात् भगवान्‌से सम्बन्ध रखनेवाले और उनकी प्राप्ति करा देनेवाले जो सात्त्विक गुण और आचरण हैं, गीताके सोलहवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक जिनका अभय आदि छब्बीस नामोंसे वर्णन किया गया है, उन सबको भलीभाँति धारण कर लेना ही 'दैवी प्रकृतिके आश्रित होना' है ।

‡ 'माम्' पद यहाँ भगवान्‌के सगुण पुरुषोत्तमरूपका वाचक है । उस सगुण परमेश्वरसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और सम्पूर्ण लोकोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है (गीता ७ । ६; ९ । १८; १० । २, ४, ५, ६, ८)—इस तत्त्वको सम्यक् प्रकारसे समझ लेना ही भगवान्‌को 'सब भूतोंका आदि' समझना है और वे भगवान् अजन्मा तथा अविनाशी हैं, केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही लीलासे मनुष्य आदि रूपमें प्रकट और अन्तर्धान होते हैं; उन्हींको अक्षर, अविनाशी परब्रह्म परमात्मा कहते हैं और समस्त भूतोंका नाश होनेपर भी भगवान्‌का नाश नहीं होता (गीता ८ । २०)—इस बातको यथार्थतः समझना ही 'भगवान्‌को अविनाशी समझना' है ।

§ जिनका मन भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी वस्तुमें नहीं रमता और क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग जिनको असह्य प्रतीत होता है, ऐसे भगवान्‌के अनन्यप्रेमी भक्त निरन्तर भगवान्‌को भजते रहते हैं ।

५. 'सततम्' पद यहाँ 'नित्य-निरन्तर' समयका वाचक है और इसका खास सम्बन्ध उपासनाके साथ है । कीर्तन-नमस्कारादि सब उपासनाके ही अङ्ग होनेके कारण प्रकारान्तरसे उन सबके साथ भी इसका सम्बन्ध है । अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के प्रेमी भक्त कभी कीर्तन करते हुए, कभी नमस्कार करते हुए, कभी सेवा आदि प्रयत्न करते हुए तथा सदा-सर्वदा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए निरन्तर उनकी उपासना करते रहते हैं ।

६. 'यतन्तः' पदका यह भाव है कि वे प्रेमी भक्त भगवान्‌की पूजा सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी सेवा और भगवान्‌के भक्तोंद्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रवण आदि उत्साह और तत्परताके साथ करते रहते हैं ।

७. भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका निश्चय, उनकी श्रद्धा, उनके विचार और नियम—सभी अत्यन्त दृढ़ होते हैं । बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों और प्रबल विघ्नोंके समूह भी उन्हें अपने साधन और विचारसे विचलित नहीं कर सकते । इसीलिये उनको 'दृढव्रताः' (दृढ निश्चयवाले) कहा गया है ।

८. जो चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और सब कुछ करते समय तथा एकान्तमें ध्यान करते समय नित्य-

वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन* करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम† करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्यप्रेमसे मेरी उपासना करते हैं ‡ ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिको जाननेवाले अनन्यप्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाकर अब भगवान् उनसे भिन्न श्रेणीके उपासकोंकी उपासनाका प्रकार बतलाते हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं,§ और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ विराट्स्वरूप परमेश्वरकी पृथक् भावसे उपासना करते हैं × ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—समस्त विश्वकी उपासना भगवान्‌की ही उपासना कैसे है—यह स्पष्ट समझानेके लिये अब चार श्लोकोंद्वारा भगवान् इस बातका प्रतिपादन करते हैं कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

क्रतु[1] मैं हूँ, यज्ञ[2] मैं हूँ, स्वधा[3] मैं हूँ, ओषधि मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि[4] मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ + ॥ १६ ॥

निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते रहते हैं, उन्हें 'नित्ययुक्ताः' कहते हैं।

* कथा, व्याख्यान आदिके द्वारा भक्तोंके सामने भगवान्‌के गुण, प्रभाव, महिमा और चरित्र आदिका वर्णन करना; अकेले अथवा दूसरे बहुत-से लोगोंके साथ मिलकर, भगवान्‌को अपने सम्मुख समझते हुए उनके पवित्र नामोंका जप अथवा उच्चस्वरसे कीर्तन करना; और दिव्य स्तोत्र तथा सुन्दर पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना आदि भगवन्नाम-गुणगान-सम्बन्धी सभी चेष्टाएँ कीर्तनके अन्तर्गत हैं।

† भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर अर्चा-विग्रहरूप भगवान्‌को, अपने घरमें भगवान्‌की प्रतिमा या चित्रपटको, भगवान्‌के नामोंको, भगवान्‌के चरण और चरण-पादुकाओंको, एवं सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या सबके हृदयमें भगवान् विराजित हैं—ऐसा जानकर सम्पूर्ण प्राणियोंको यथायोग्य विनयपूर्वक श्रद्धा-भक्तिके साथ गद्गद होकर मन, वाणी और शरीरके द्वारा नमस्कार करना—यही 'भगवान्‌को प्रणाम करना' है।

‡ श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ उपर्युक्त साधनोंको निरन्तर करते रहना ही अनन्यप्रेमसे भगवान्‌की उपासना करना है।

§ गीताके तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस 'ज्ञानयोग' का वर्णन है, यहाँ भी 'ज्ञानयज्ञ' का वही स्वरूप है। उसके अनुसार शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें, मायामय गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर कर्तापनके अभिमानसे रहित रहना; सम्पूर्ण दृश्यवर्गको मृगतृष्णाके जलके सदृश या स्वप्नके संसारके समान अनित्य समझना; तथा एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी सत्ता न मानकर निरन्तर उसीका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हुए उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें नित्य अभिन्नभावसे स्थित रहनेका अभ्यास करते रहना—यही 'ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए उसकी उपासना करना' है।

× समस्त विश्व उस भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है और भगवान् ही इसमें व्याप्त हैं। अतः भगवान् स्वयं ही विश्वरूपमें स्थित हैं। इसलिये चन्द्र, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और वरुण आदि विभिन्न देवता तथा और भी समस्त प्राणी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं—ऐसा समझकर जो उन सबकी अपने कर्मोंद्वारा यथायोग्य निष्कामभावसे सेवा-पूजा करना है (गीता १८ । ४६)—यही 'बहुत प्रकारसे स्थित भगवान्‌के विराट्स्वरूपकी पृथग्भावसे उपासना करना' है।

१. श्रौत कर्मको 'क्रतु' कहते हैं।

२. पञ्चमहायज्ञादि स्मार्त कर्म 'यज्ञ' कहलाते हैं।

३. पितरोंके निमित्त प्रदान किया जानेवाला अन्न 'स्वधा' कहलाता है।

४. 'अग्नि'से यहाँ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि आदि सभी प्रकारके अग्नि समझने चाहिये।

+ अभिप्राय यह कि यज्ञ, श्राद्ध आदि शास्त्रीय शुभकर्ममें प्रयोजनीय समस्त वस्तुएँ, तत्सम्बन्धी मन्त्र, जिनमें यज्ञादि किये जाते हैं, वे अधिष्ठान तथा मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली तद्विषयक समस्त चेष्टाएँ—ये सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ ॥ १७ ॥

इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला, पिता, माता,* पितामह,† जाननेयोग्य, पवित्र,‡ ओङ्कार § तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ × ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी,+ शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान÷ और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ ऽ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाका आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँA । हे अर्जुन ! मैं ही अमृतB और

---

* यह चराचर प्राणियोंके सहित समस्त विश्व भगवान्से ही उत्पन्न हुआ है, भगवान् ही इसके महाकारण हैं। इसलिये भगवान्ने अपनेको इसका पिता-माता कहा है।

† जिन ब्रह्मा आदि प्रजापतियोंसे सृष्टिकी रचना होती है, उनको भी उत्पन्न करनेवाले भगवान् ही हैं; इसीलिये उन्होंने अपनेको इसका 'पितामह' बतलाया है।

‡ जो स्वयं विशुद्ध हो और सहज ही दूसरोंके पापोंका नाश करके उन्हें भी विशुद्ध बना दे, उसे 'पवित्र' कहते हैं। भगवान् परम पवित्र हैं तथा भगवान्के दर्शन, भाषण और स्मरणसे मनुष्य परम पवित्र हो जाते हैं।

§ 'ॐ' भगवानका नाम है, इसीको प्रणव भी कहते हैं। गीताके आठवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें इसे ब्रह्म बतलाया है तथा इसीका उच्चारण करनेके लिये कहा गया है। यहाँ नाम तथा नामीका अभेद प्रतिपादन करनेके लिये ही भगवान्ने अपनेको ओङ्कार बतलाया है।

× 'ऋक्', 'साम' और 'यजुः'—ये तीनों पद तीनों वेदोंके वाचक हैं। वेदोंका प्राकट्य भगवान्से हुआ है तथा सारे वेदोंसे भगवान्का ज्ञान होता है, इसलिये सब वेदोंको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

१. प्राप्त करनेकी वस्तुका नाम 'गति' है। सबसे बढ़कर प्राप्त करनेकी वस्तु एकमात्र भगवान् ही हैं, इसीलिये उन्होंने अपनेको 'गति' कहा है। 'परा गति', 'परमा गति', 'अविनाशी पद' आदि नाम भी इसीके हैं।

२. जिसकी शरण ली जाय उसे 'शरणम्' कहते हैं। भगवान्के समान शरणागतवत्सल, प्रणतपाल और शरणागतके दुःखोंका नाश करनेवाला अन्य कोई भी नहीं है। वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥ (६ । १८ । ३३)

अर्थात् 'एक बार भी 'मैं तेरा हूँ' यों कहकर मेरी शरणमें आये हुए और मुझसे अभय चाहनेवालेको मैं सभी भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' इसीलिये भगवान्ने अपनेको 'शरण' कहा है।

३. भगवान् समस्त प्राणियोंके बिना ही कारण उपकार करनेवाले परम हितैषी और सबके साथ अतिशय प्रेम करनेवाले परम बन्धु हैं, इसलिये उन्होंने अपनेको 'सुहृत्' कहा है।

४. जिसका कभी नाश न हो, उसे 'अव्यय' कहते हैं। भगवान् समस्त चराचर भूतप्राणियोंके अविनाशी कारण हैं। सबकी उत्पत्ति उन्हींसे होती है, वे ही सबके परम आधार हैं। इसीसे उनको 'अव्यय बीज' कहा है। गीताके सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें उन्हींको 'सनातन बीज' और दसवें अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें 'सब भूतोंका बीज' बतलाया गया है।

+ भगवान् ही ईश्वरोंके महान् ईश्वर, देवताओंके परम दैवत, पतियोंके परम पति, समस्त भुवनोंके स्वामी और परम पूज्य परमदेव हैं (श्वेताश्वतर उप० ६ । ७)।

÷ जिसमें कोई वस्तु बहुत दिनोंके लिये रक्खी जाती हो, उसे 'निधान' कहते हैं। महाप्रलयमें समस्त प्राणियोंके सहित अव्यक्त प्रकृति भगवान्के ही किसी एक अंशमें धरोहरकी भाँति बहुत समयतक अक्रिय-अवस्थामें स्थित रहती है, इसलिये भगवान्ने अपनेको 'निधान' कहा है।

ऽ इस श्लोकमें जितने भी शब्द आये हैं, सब-के-सब भगवान्के विशेषण हैं; अतः इस श्लोकमें पूर्व श्लोकोंकी भाँति 'अहम्' पदका प्रयोग नहीं किया गया।

A इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि अपनी किरणोंद्वारा समस्त जगत्को उष्णता और प्रकाश प्रदान करनेवाला तथा समुद्र आदि स्थानोंसे जलको उठाकर रोक रखनेवाला तथा उसे लोकहितार्थ मेघोंके द्वारा यथासमय यथायोग्य वितरण करनेवाला सूर्य भी मेरा ही स्वरूप है।

B वास्तवमें अमृत तो एक भगवान् ही हैं, जिनकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्य सदाके लिये मृत्युके पाशसे मुक्त हो

मृत्यु* हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ † ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—तेरहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक अपने सगुण-निर्गुण और विराट् रूपकी उपासनाओंका वर्णन करके भगवान्‌ने उन्नीसवें श्लोकतक समस्त विश्वको अपना स्वरूप बतलाया। 'समस्त विश्व मेरा ही स्वरूप होनेके कारण इन्द्रादि अन्य देवोंकी उपासना भी प्रकारान्तरसे मेरी ही उपासना है, परंतु ऐसा न जानकर फलासक्तिपूर्वक पृथक्-पृथक् भावसे उपासना करनेवालोंको मेरी प्राप्ति न होकर विनाशी फल ही मिलता है।' इसी बातको दिखलानेके लिये अब दो श्लोकोंमें भगवान् उस उपासनाका फलसहित वर्णन करते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥

तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकामकर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापरहित पुरुष‡ मुझको यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं; वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप स्वर्गलोकको§ प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

वे उस विशाल× स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकामकर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आते हैं+ ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

जाता है, इसीलिये भगवान्‌ने अपनेको 'अमृत' कहा है और इसलिये मुक्तिको भी 'अमृत' कहते हैं।

* सबका नाश करनेवाले 'काल' को 'मृत्यु' कहते हैं। भगवान् ही यथासमय लोकोंका संहार करनेके लिये महाकालरूप धारण किये रहते हैं। वे कालके भी काल हैं। इसीलिये भगवान्‌ने 'मृत्यु' को अपना स्वरूप बतलाया है।

† जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' कहते हैं और नाशवान् अनित्य वस्तुमात्रका नाम 'असत्' है। इन्हीं दोनोंको गीताके पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर' और 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है। ये दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं, इसलिये भगवान्‌ने सत् और असत्‌को अपना स्वरूप कहा है।

‡ ऋक्, यजु और साम—इन तीनों वेदोंको 'वेदत्रयी' अथवा त्रिविद्या कहते हैं। इन तीनों वेदोंमें वर्णित नाना प्रकारके यज्ञोंकी विधि और उनके फलमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले एवं उसके अनुसार सकाम कर्म करनेवाले मनुष्योंको 'त्रैविद्य' कहते हैं। यज्ञोंमें सोमलताके रसपानकी जो विधि बतलायी गयी है, उस विधिसे सोमलताके रसपान करनेवालोंको 'सोमपा' कहते हैं। उपर्युक्त वेदोक्त कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेसे जिनके स्वर्गप्राप्तिमें प्रतिबन्धकरूप पाप नष्ट हो गये हैं, उनको 'पूतपाप' कहते हैं। ये तीनों विशेषण ऐसी श्रेणीके मनुष्योंके लिये हैं, जो भगवान्‌की सर्वरूपतासे अनभिज्ञ हैं और वेदोक्त कर्मकाण्डपर प्रेम और श्रद्धा रखकर पापकर्मोंसे बचते हुए सकामभावसे यज्ञादि कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान किया करते हैं।

§ यज्ञादि पुण्यकर्मोंके फलरूपमें प्राप्त होनेवाले इन्द्रलोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने भी लोक हैं, उन सबको लक्ष्य करके श्लोकमें 'पुण्यम्' विशेषणके सहित 'सुरेन्द्रलोकम्' पदका प्रयोग किया गया है। अतः 'सुरेन्द्रलोकम्' पद इन्द्रलोकका वाचक होते हुए भी उसे उपर्युक्त सभी लोकोंका वाचक समझना चाहिये।

× स्वर्गादि लोकोंके विस्तारका, वहाँकी भोग्य-वस्तुओंका, भोगप्रकारोंका, भोग्यवस्तुओंकी सुखरूपताका और भोगनेयोग्य शारीरिक तथा मानसिक शक्ति और परमायु आदि सभीका अनेक प्रकारका परिमाण मृत्युलोककी अपेक्षा कहीं विशद और महान् है। इसीलिये उसको 'विशाल' कहा गया है।

\+ भगवान्‌के स्वरूप-तत्त्वको न जाननेवाले सकाम मनुष्य अनन्यचित्तसे भगवान्‌की शरण ग्रहण नहीं करते, भोगकामनाके वशमें होकर उपर्युक्त धर्मका आश्रय लेते हैं। इसी कारण उनके कर्मोंका फल अनित्य है और इसीलिये उन्हें फिर मर्त्यलोकमें लौटना पड़ता है।

१. जिनका संसारके समस्त भोगोंसे प्रेम हटकर केवलमात्र भगवान्‌में ही अटल और अचल प्रेम हो गया है, भगवान्‌का वियोग जिनके लिये असह्य है, जिनका भगवान्‌से भिन्न दूसरा कोई भी उपास्यदेव नहीं है और जो भगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति और परम प्रेमास्पद मानते हैं—ऐसे अनन्यप्रेमी एकनिष्ठ भक्तोंका विशेषण 'अनन्याः' पद है।

किंतु जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं,* उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ† ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धासे युक्त¹ जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं, किंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है‡ ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ;§ परंतु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—भगवान्के भक्त आवागमनको प्राप्त नहीं होते और अन्य देवताओंके उपासक आवागमनको प्राप्त होते हैं, इसका क्या कारण है ? इस जिज्ञासापर उपास्यके स्वरूप और उपासकके भावसे उपासनाके फलमें भेद होनेका नियम बतलाते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥२५

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं,× भूतोंको पूजने-

---

* सगुण भगवान् पुरुषोत्तमके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और एकान्तमें साधन करते, सब समय निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे उनका चिन्तन करते हुए, उन्हींके आज्ञानुसार निष्काम-भावसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये चेष्टा करते रहना—यही 'उनका चिन्तन करते हुए भजन करना' है ।

† अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है । अतः भगवान्की प्राप्तिके लिये जो साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उसकी रक्षा करना और जिस साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना—यही 'उन प्रेमी भक्तोंका योगक्षेम चलाना' है । भक्त प्रह्लादका जीवन इसका सुन्दर उदाहरण है । हिरण्यकशिपुद्वारा उसके साधनमें बड़े-बड़े विघ्न उपस्थित किये जानेपर भी सब प्रकारसे भगवान्ने उसकी रक्षा करके अन्तमें उसे अपनी प्राप्ति करवा दी ।

जो पुरुष भगवान्के ही परायण होकर अनन्यचित्तसे उनका प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करते हुए ही सब कार्य करते हैं, अन्य किसी भी विषयकी कामना, अपेक्षा और चिन्ता नहीं करते, उनके जीवननिर्वाहका सारा भार भी भगवान्-पर रहता है । अतः वे सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परमसुहृद् भगवान् ही अपने भक्तका लौकिक और पारमार्थिक सब प्रकारका योगक्षेम चलाते हैं ।

१. वेद-शास्त्रोंमें वर्णित देवता, उनकी उपासना और स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप उसके फलपर जिनका आदरपूर्वक दृढ़ विश्वास हो, उनको यहाँ 'श्रद्धासे युक्त' कहा गया है और इस विशेषणका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो बिना श्रद्धाके दम्भपूर्वक यज्ञादि कर्मोंद्वारा देवताओंका पूजन करते हैं, वे इस श्रेणीमें नहीं आ सकते; उनकी गणना तो आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंमें है ।

‡ जिस कामनाकी सिद्धिके लिये जिस देवताकी पूजाका शास्त्रमें विधान है, उस देवताकी शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्मों-द्वारा श्रद्धापूर्वक पूजा करना 'दूसरे देवताओंकी पूजा करना' है । समस्त देवता भी भगवान्के ही अङ्गभूत हैं, भगवान् ही सबके स्वामी हैं और वस्तुतः भगवान् ही उनके रूपमें प्रकट हैं—इस तत्त्वको न जानकर उन देवताओंको भगवान्से भिन्न समझकर सकाम भावसे जो उनकी पूजा करना है, यही भगवान्की 'अविधिपूर्वक' पूजा है ।

§ यह सारा विश्व भगवान्का ही विराट्रूप होनेके कारण भिन्न-भिन्न यज्ञ-पूजादि कर्मोंके भोक्तारूपमें माने जानेवाले जितने भी देवता हैं, सब भगवान्के ही अङ्ग हैं तथा भगवान् ही उन सबके आत्मा हैं (गीता १० । २०) । अतः उन देवताओंके रूपमें भगवान् ही समस्त यज्ञादि कर्मोंके भोक्ता हैं । भगवान् ही अपनी योगशक्तिके द्वारा सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हुए सबको यथायोग्य नियममें चलाते हैं; वे ही इन्द्र, वरुण, यमराज, प्रजापति आदि जितने भी लोकपाल और देवतागण हैं—उन सबके नियन्ता हैं; इसलिये वही सबके प्रभु अर्थात् महेश्वर हैं (गीता ५।२९)।

× देवताओंकी पूजा करना, उनकी पूजाके लिये बतलाये हुए नियमोंका पालन करना, उनके निमित्त यज्ञादिका अनुष्ठान करना, उनके मन्त्रका जप करना और उनके निमित्त ब्राह्मण-भोजन कराना—इत्यादि सभी बातें 'देवताओंके व्रत' हैं । इनका पालन करनेवाले मनुष्योंको अपनी उपासनाके फलस्वरूप जो उन देवताओंके लोकोंकी, उनके सदृश भोगोंकी अथवा उनके-जैसे रूपकी प्राप्ति होती है, वही देवोंको प्राप्त होना है ।

वाले भूतोंको प्राप्त होते हैं* और मेरा पूजन करनेवाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं† । इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌की भक्तिका भगवत्प्राप्तिरूप महान् फल होनेपर भी उसके साधनमें कोई कठिनता नहीं है, बल्कि उसका साधन बहुत ही सुगम है—यही बात दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

जो कोई भक्त‡ मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है,§ उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका

पितरोंके लिये यथाविधि श्राद्ध-तर्पण करना, उनके निमित्त ब्राह्मणोंको भोजन कराना, हवन करना, जप करना, पाठ-पूजा करना तथा उनके लिये शास्त्रमें बतलाये हुए व्रत और नियमोंका भलीभाँति पालन करना आदि 'पितरोंके व्रत' हैं और जो मनुष्य सकामभावसे इन व्रतोंका पालन करते हैं, वे मरनेके बाद पितृलोकमें जाते हैं और वहाँ जाकर उन पितरोंके-जैसे स्वरूपको प्राप्त करके उनके-जैसे भोग भोगते हैं । यही पितरोंको प्राप्त होना है । ये भी अधिक-से-अधिक देवताओं या दिव्य पितरोंकी आयुपर्यन्त ही वहाँ रह सकते हैं । अन्तमें इनका भी पुनरागमन होता है ।

यहाँ देव और पितरोंकी पूजाका निषेध नहीं समझना चाहिये । देव-पितृ-पूजा तो यथाविधि अपने-अपने वर्णाश्रमके अधिकारानुसार सबको अवश्य ही करनी चाहिये; परंतु वह पूजा यदि सकामभावसे होती है तो अपना अधिक-से-अधिक फल देकर नष्ट हो जाती है और यदि कर्तव्यबुद्धिसे भगवत् आज्ञा मानकर या भगवत्-पूजा समझकर की जाती है तो वह भगवत्-प्राप्तिरूप महान् फलमें कारण होती है । इसलिये यहाँ समझना चाहिये कि देव-पितृकर्म तो अवश्य ही करें; परंतु उनमें निष्कामभाव लानेका प्रयत्न करें ।

* जो प्रेत और भूतगणोंकी पूजा करते हैं, उनकी पूजाके नियमोंका पालन करते हैं, उनके लिये हवन या दान आदि करते हैं, ऐसे मनुष्योंका जो उन-उन भूत-प्रेतादिके समान रूप, भोग आदिको प्राप्त होना है, वही उनको प्राप्त होना है । भूत-प्रेतोंकी पूजा तामसी है तथा अनिष्ट फल देनेवाली है, इसलिये उसको नहीं करना चाहिये ।

† जो पुरुष भगवान्‌के सगुण निराकार अथवा साकार—किसी भी रूपका सेवन-पूजन और भजन-ध्यान आदि करते हैं, समस्त कर्म उनके अर्पण करते हैं, उनके नामका जप करते हैं, गुणानुवाद सुनते और गाते हैं तथा इसी प्रकार भगवद्-भक्ति-विषयक अनेक प्रकारके साधन करते हैं, वे भगवान्‌का पूजन करनेवाले भक्त हैं और उनका भगवान्‌के दिव्य लोकमें जाना, भगवान्‌के समीप रहना, उनके जैसे ही दिव्य रूपको प्राप्त होना अथवा उनमें लीन हो जाना—यही भगवान्‌को प्राप्त होना है ।

१. पत्र, पुष्प आदि कोई भी वस्तु जो प्रेमपूर्वक समर्पण की जाती है, उसे 'भक्त्युपहृत' कहते हैं । इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि विना प्रेमके दी हुई वस्तुको मैं स्वीकार नहीं करता और जहाँ प्रेम होता है तथा जिसको मुझे वस्तु अर्पण करनेमें और मेरेद्वारा उसके स्वीकार हो जानेमें सच्चा आनन्द होता है, वहाँ उस भक्तके द्वारा अर्पण की हुई वस्तु बहुत प्रेमसे स्वीकार कर लेता हूँ ।

२. इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार शुद्ध भावसे प्रेमपूर्वक समर्पण की हुई वस्तुओंको मैं स्वयं उस भक्तके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट होकर खा लेता हूँ अर्थात् जब मनुष्यादिके रूपमें अवतीर्ण होकर संसारमें विचरता हूँ, तब तो उस रूपमें वहाँ पहुँचकर और अन्य समयमें उस भक्तके इच्छानुसार रूपमें प्रकट होकर उसकी दी हुई वस्तुका भोग लगाकर उसे कृतार्थ कर देता हूँ ।

‡ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि किसी भी वर्ण, आश्रम और जातिका कोई भी मनुष्य पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण कर सकता है । बल, रूप, धन, आयु, जाति, गुण और विद्या आदिके कारण मेरी किसीमें भेदबुद्धि नहीं है; अवश्य ही अर्पण करनेवालेका भाव विदुर और शबरी आदिकी भाँति सर्वथा शुद्ध और प्रेमपूर्ण होना चाहिये ।

§ यहाँ पत्र, पुष्प, फल और जलका नाम लेकर यह भाव दिखलाया गया है कि जो वस्तु साधारण मनुष्योंको बिना किसी परिश्रम, हिंसा और व्ययके अनायास मिल सकती है—ऐसी कोई भी वस्तु भगवान्‌के अर्पण की जा सकती है । भगवान् पूर्णकाम होनेके कारण वस्तुके भूखे नहीं हैं, उनको तो केवल प्रेमकी ही आवश्यकता है । 'मुझ-जैसे साधारण-से साधारण मनुष्यद्वारा अर्पण की हुई छोटी-से-छोटी वस्तु भी भगवान् सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं, यह उनकी कैसी महत्ता है !' इस भावसे भावित होकर प्रेमविह्वल चित्तसे किसी भी वस्तुको भगवान्‌के समर्पण करना, उसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌के अर्पण करना है ।

प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ* ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—यदि ऐसी ही बात है तो मुझे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर भगवान् अर्जुनको उसका कर्तव्य बतलाते हैं—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है,† वह सब मेरे अर्पण कर‡ ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार समस्त कर्मोंको आपके अर्पण करनेसे क्या होगा, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा§ ॥ २८ ॥

* जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो, उसे 'शुद्धबुद्धि' कहते हैं । इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि अर्पण करनेवालेका भाव शुद्ध न हो तो बाहरसे चाहे जितने शिष्टाचारके साथ, चाहे जितनी उत्तम-से-उत्तम सामग्री मुझे अर्पण की जाय, मैं उसे कभी स्वीकार नहीं करता । मैंने दुर्योधनका निमन्त्रण अस्वीकार करके भाव शुद्ध होनेके कारण विदुरके घरपर जाकर प्रेमपूर्वक भोजन किया, सुदामाके चिउरोंका बड़ी रुचिके साथ भोग लगाया, द्रौपदीकी बटलोईमें बचे हुए 'पत्ते' को खाकर विश्वको तृप्त कर दिया, गजेन्द्रद्वारा अर्पण किये हुए 'पुष्प' को स्वयं वहाँ पहुँचकर स्वीकार किया, शबरीकी कुटियापर जाकर उसके दिये हुए 'फलों'का भोग लगाया और रन्तिदेवके 'जल'को स्वीकार करके उसे कृतार्थ किया । इसी प्रकार प्रत्येक भक्तकी प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुको मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ ।

† इससे भगवान्‌ने सब प्रकारके कर्तव्य-कर्मोंका समाहार किया है । अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त जीविकानिर्वाह आदिके लिये किये जानेवाले वर्ण, आश्रम और लोकव्यवहारके कर्म तथा भगवान्‌का भजन, ध्यान आदि जितने भी शास्त्रीय कर्म हैं, उन सबका समावेश 'यत्करोषि' में, शरीर-पालनके निमित्त किये जानेवाले खान-पान आदि कर्मोंका 'यदश्नासि' में, पूजन और हवनसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यज्जुहोषि' में, सेवा और दानसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यद्ददासि' में और संयम तथा तपसम्बन्धी समस्त कर्मोंका समावेश 'यत्तपस्यसि' में किया गया है (गीता १७ । १४—१७) ।

‡ साधारण मनुष्यकी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति होती है तथा वह उनमें फलकी कामना रखता है । अतएव समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग कर देना और यह समझना कि समस्त जगत् भगवान्‌का है, मेरे मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रिय भी भगवान्‌के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्‌का हूँ, इसलिये मेरेद्वारा जो कुछ भी यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, वे सब भगवान्‌के ही हैं । कठपुतलीको नचानेवाले सूत्रधारकी भाँति भगवान् ही मुझसे यह सब कुछ करवा रहे हैं । मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—ऐसा समझकर जो भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये निष्काम भावसे उपर्युक्त कर्मोंका करना है, यही उन कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना है ।

पहले किसी दूसरे उद्देश्यसे किये हुए कर्मोंको पीछेसे भगवान्‌को अर्पण करना, कर्म करते-करते बीचमें ही भगवान्‌के अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के अर्पण कर देना अथवा कर्मोंका फल ही भगवान्‌के अर्पण करना—इस प्रकारका अर्पण करना भी भगवान्‌के ही अर्पण करना है । पहले इसी प्रकार होता है । ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त प्रकारसे पूर्णतया भगवदर्पण होता है ।

१. यहाँ 'संन्यासयोग' पद सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोगका वाचक नहीं है, किंतु पूर्वश्लोकके अनुसार समस्त कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देना ही यहाँ 'संन्यासयोग' है । इसलिये ऐसे संन्यासयोगसे जिसका आत्मा युक्त हो, जिसके मन और बुद्धिमें पूर्वश्लोकके कथनानुसार समस्त कर्म भगवान्‌के अर्पण करनेका भाव सुदृढ़ हो गया हो, उसे 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' समझना चाहिये ।

§ भिन्न-भिन्न शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार स्वर्ग, नरक और पशु, पक्षी एवं मनुष्यादि लोकोंके अंदर नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेना तथा सुख दुःखोंका भोग करना—यही शुभाशुभ फल है, इसीको कर्मबन्धन कहते हैं; क्योंकि कर्मोंका फल भोगना ही कर्मबन्धनमें पड़ना है । उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्म भगवान्‌के अर्पण कर देनेवाला मनुष्य कर्मफलरूप पुनर्जन्मसे और सुख-दुःखोंके भोगसे मुक्त हो जाता है, यही शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाना है । मरनेके बाद भगवान्‌के परम धाममें पहुँच जाना या इसी जन्ममें भगवान्‌को प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेना ही उस कर्मबन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त होना है ।



भक्तोंके द्वारा प्रेमसे दिये हुए पत्र, पुष्प, फल, जल आदिको भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर ग्रहण करते हैं!

सम्बन्ध--उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की भक्ति करनेवालेको भगवान्‌की प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं होती--इस कथनसे भगवान्‌में विषमताके दोषकी आशङ्का हो सकती है । अतएव उसका निवारण करते हुए भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है;* परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ† ॥

अपि[1] चेत्[2] सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है‡ तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है । अर्थात् उसने भली-भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है§ ॥ ३० ॥

---

* इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे समानभावसे व्याप्त हूँ । अतएव मेरा सबमें समभाव है, किसीमें भी मेरा राग-द्वेष नहीं है । इसलिये वास्तवमें मेरा कोई भी अप्रिय या प्रिय नहीं है ।

† भगवानके साकार या निराकार–किसी भी रूपका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, महिमा और लीला-चरित्रोंका श्रवण, मनन और कीर्तन करना; उनको नमस्कार करना, पत्र, पुष्प आदि यथेष्ट सामग्रियोंके द्वारा उनकी प्रेमपूर्वक पूजा करना और अपने समस्त कर्म उनके समर्पण करना आदि सभी क्रियाओंका नाम भक्तिपूर्वक भगवान्‌को भजना है ।

जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् भी उनको वैसे ही भजते हैं । वे जैसे भगवान्‌को नहीं भूलते, वैसे ही भगवान् भी उनको नहीं भूल सकते–यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने उनको अपनेमें बतलाया है और उन भक्तोंका विशुद्ध अन्तःकरण भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है, इससे उनके हृदयमें भगवान् सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको उनमें बतलाया है ।

जैसे समभावसे सब जगह प्रकाश देनेवाला सूर्य दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थोंमें प्रतिविम्बित होता है, काष्ठादिमें नहीं होता, तथापि उसमें विषमता नहीं है, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंको मिलते हैं, दूसरोंको नहीं मिलते—इसमें उनकी विषमता नहीं है, यह तो भक्तिकी ही महिमा है ।

१. 'अपि' देनेका अभिप्राय यह है कि सदाचारी और साधारण पापियोंका मेरा भजन करनेसे उद्धार हो जाय–इसमें तो कहना ही क्या है, भजनसे अतिशय दुराचारीका भी उद्धार हो सकता है ।

२. 'चेत्' अव्यय 'यदि' के अर्थमें है । इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि प्रायः दुराचारी मनुष्योंकी विषयोंमें और पापोंमें आसक्ति रहनेके कारण वे मुझमें प्रेम करके मेरा भजन नहीं करते, तथापि किसी पूर्व शुभ संस्कारकी जागृति, भगवद्भावमय वातावरण, शास्त्रके अध्ययन और महात्मा पुरुषोंके सत्संगसे एवं मेरे गुण, प्रभाव, महत्त्व और रहस्यका श्रवण करनेसे यदि कदाचित् दुराचारी मनुष्यकी मुझमें श्रद्धा-भक्ति हो जाय और वह मेरा भजन करने लगे तो उसका भी उद्धार हो जाता है ।

‡ जिनके आचरण अत्यन्त दूषित हों, खान-पान और चाल-चलन भ्रष्ट हों, अपने स्वभाव, आसक्ति और बुरी आदतसे विवश होनेके कारण जो दुराचारोंका त्याग न कर सकते हों, ऐसे मनुष्योंको अतिशय दुराचारी समझना चाहिये । ऐसे मनुष्योंका जो भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिके सुनने और पढ़नेसे या अन्य किसी कारणसे भगवान्‌को सर्वोत्तम समझ लेना और एकमात्र भगवान्‌का ही आश्रय लेकर अतिशय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उन्हींको अपना इष्टदेव मान लेना है—यही उनका 'अनन्यभाक्' होना है । इस प्रकार भगवान्‌का भक्त बनकर जो उनके स्वरूपका चिन्तन करना, नाम, गुण, महिमा और प्रभावका श्रवण, मनन और कीर्तन करना, उनको नमस्कार करना, पत्र-पुष्प आदि यथेष्ट वस्तु उनके अर्पण करके उनका पूजन करना तथा अपने किये हुए शुभ कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण करना है–यही अनन्यभाक् होकर भगवान्‌का भजन करना है ।

§ जिसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि 'भगवान् पतितपावन, सबके सुहृद्, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु, सर्वज्ञ, सबके स्वामी और सर्वोत्तम हैं एवं उनका भजन करना ही मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य है; इससे समस्त पापों और पाप-वासनाओंका समूल नाश होकर भगवत्कृपासे मुझको अपने आप ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी ।'–यह बहुत ही उत्तम और यथार्थ निश्चय है । भगवान् कहते हैं कि जिसका ऐसा निश्चय है, वह मेरा भक्त है और मेरी भक्तिके प्रतापसे वह शीघ्र ही पूर्ण धर्मात्मा हो जायगा । अतएव उसे पापी या दुष्ट न मानकर साधु ही मानना उचित है ।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है।* हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान † कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता‡ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें भगवान् अच्छी-बुरी जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें अभाव दिखलाते हुए शरणागतिरूप भक्तिका महत्त्व प्रतिपादन करके अर्जुनको भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि१ स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि१ यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि§—

* इसी जन्ममें बहुत ही शीघ्र सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर गीताके सोलहवें अध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें वर्णित दैवी सम्पदासे युक्त हो जाना अर्थात् भगवान्‌की प्राप्तिका पात्र बन जाना ही शीघ्र धर्मात्मा बन जाना है और जो सदा रहनेवाली शान्ति है, जिसकी एक बार प्राप्ति हो जानेपर फिर कभी अभाव नहीं होता, जिसे नैष्ठिकी शान्ति (गीता ५ । १२), निर्वाणपरमा शान्ति (गीता ६ । १५) और परमा शान्ति (गीता १८ । ६२) कहते हैं, परमेश्वरकी प्राप्तिरूप उस शान्तिको प्राप्त हो जाना ही 'सदा रहनेवाली परम शान्ति' को प्राप्त होना है ।

† इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन ! मैंने जो तुम्हें अपनी भक्तिका और भक्तका यह महत्त्व बतलाया है, उसमें तुम्हें किञ्चिन्मात्र भी संशय न रखकर उसे सर्वथा सत्य समझना और दृढ़तापूर्वक धारण कर लेना चाहिये ।

‡ यहाँ भगवान्‌के कहनेका यह अभिप्राय है कि मेरे भक्तका क्रमशः उत्थान ही होता रहता है, पतन नहीं होता । अर्थात् वह न तो अपनी स्थितिसे कभी गिरता है और न उसको नीच योनि या नरकादिकी प्राप्तिरूप दुर्गतिकी ही प्राप्ति होती है; वह पूर्व कथनके अनुसार क्रमशः दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा रहित होकर शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

१. यहाँ 'अपि' का दो बार प्रयोग करके भगवान्‌ने ऊँची-नीची जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें सर्वथा अभाव दिखलाया है । भगवान्‌के कथनका यहाँ यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी अपेक्षा हीन समझे जानेवाले स्त्री, वैश्य और शूद्र एवं उनसे भी हीन समझे जानेवाले चाण्डाल आदि कोई भी हों, मेरी उनमें भेदबुद्धि नहीं है । मेरी शरण होकर जो कोई भी मुझको भजते हैं, उन्हींको परम गति मिल जाती है ।

§ पूर्वजन्मोंके पापोंके कारण चाण्डालादि योनियोंमें उत्पन्न प्राणियोंको 'पापयोनि' माना गया है । इनके सिवा शास्त्रोंके अनुसार हूण, भील, खस, यवन आदि म्लेच्छ-जातिके मनुष्य भी 'पापयोनि' ही माने जाते हैं । यहाँ 'पापयोनि' शब्द इन्हीं सबका वाचक है । भगवान्‌की भक्तिके लिये किसी जाति या वर्णके लिये कोई रुकावट नहीं है । वहाँ तो शुद्ध प्रेमकी आवश्यकता है । श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् । भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥ (११ । १४ । २१)

'हे उद्धव ! संतोंका परमप्रिय 'आत्मा' रूप मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही वशीभूत होता हूँ । मेरी भक्ति जन्मतः चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है ।'

यहाँ 'पापयोनयः' पदको स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वैश्योंकी गणना द्विजोंमें की गयी है । उनको वेद पढ़नेका और यज्ञादि वैदिक कर्मोंके करनेका शास्त्रमें पूर्ण अधिकार दिया गया है । अतः द्विज होनेके कारण वैश्योंको 'पापयोनि' कहना नहीं बन सकता । इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद्‌में जहाँ जीवोंकी कर्मानुरूप गतिका वर्णन है, यह स्पष्ट कहा गया है कि—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥ (अध्याय ५ खण्ड १० मं० ७)

'उन जीवोंमें जो इस लोकमें रमणीय आचरणवाले अर्थात् पुण्यात्मा होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं और जो इस संसारमें कपूय (अधम) आचरणवाले अर्थात् पापकर्मा होते हैं, वे अधम योनि अर्थात् कुत्तेकी, सूकरकी या चाण्डालकी योनिको प्राप्त करते हैं ।

इससे यह सिद्ध है कि वैश्योंकी गणना 'पापयोनि' में नहीं की जा सकती । अब रही स्त्रियोंकी बात—सो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी स्त्रियोंका अपने पतियोंके साथ यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार माना गया है । इस कारणसे उनको भी पापयोनि कहना नहीं बन सकता । सबसे बड़ी अड़चन तो यह पड़ेगी कि भगवान्‌की भक्तिसे चाण्डाल आदिको भी



पुण्यात्मा ब्राह्मण सुतीक्ष्ण



राजर्षि अम्बरीष

चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर* परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं । इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर† ॥ ३३ ॥

सम्बन्ध—पिछले श्लोकमें भगवान्ने अपने भजनका महत्त्व दिखलाया और अन्तमें अर्जुनको भजन करनेके लिये कहा । अतएव अब भगवान् अपने भजनका अर्थात् शरणागतिका प्रकार बतलाते हुए अध्यायकी समाप्ति करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

परमगति मिलनेकी बात, जो कि सर्वशास्त्रसम्मत है और जो भक्तिके महत्त्वको प्रकट करती है, कैसे रहेगी ? अतएव 'पापयोनयः' पदको स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण न मानकर शूद्रोंकी अपेक्षा भी हीनजातिके मनुष्योंका वाचक मानना ही ठीक प्रतीत होता है । क्योंकि भागवतमें बतलाया है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ (२ । ४ । १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन और खस आदि अधम जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-से-बड़े पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है ।'

* भगवान्पर पूर्ण विश्वास करके चौंतीसवें श्लोकके कथनानुसार प्रेमपूर्वक सब प्रकारसे भगवान्की शरण हो जाना अर्थात् उनके प्रत्येक विधानमें सदा संतुष्ट रहना, उनके नाम, रूप, गुण, लीला आदिका निरन्तर श्रवण, कीर्तन और चिन्तन करते रहना, उन्हींको अपनी गति, भर्ता, प्रभु आदि मानना, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका पूजन करना, उन्हें नमस्कार करना, उनकी आज्ञाका पालन करना और समस्त कर्म उन्हींके समर्पण कर देना आदि भगवान्की शरण होना है ।

१. 'किम्' और 'पुनः' का प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जब उपर्युक्त अत्यन्त दुराचारी (गीता ९ । ३०) और चाण्डाल आदि नीच जातिके मनुष्य भी (गीता ९ । ३२) मेरा भजन करके परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं, तब फिर जिनके आचार-व्यवहार और वर्ण अत्यन्त उत्तम हैं, ऐसे मेरे भक्त पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षिलोग मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त हो जायँ—इसमें तो कहना ही क्या है !

२. 'भक्ताः' पदका सम्बन्ध ब्राह्मण और राजर्षि दोनोंके ही साथ है, क्योंकि यहाँ भक्तिके ही कारण उनको परम गतिकी प्राप्ति बतलायी गयी है ।

† मनुष्यदेह बहुत ही दुर्लभ है । यह बड़े पुण्यबलसे और खास करके भगवान्की कृपासे मिलता है और मिलता है केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही । इस शरीरको पाकर जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसीका मनुष्य-जीवन सफल होता है । जो इसमें सुख खोजता है, वह तो असली लाभसे वञ्चित ही रह जाता है ; क्योंकि यह सर्वथा सुखरहित है, इसमें कहीं सुखका लेश भी नहीं है । जिन विषयभोगोंके सम्बन्धको मनुष्य सुखरूप समझता है, वह बार-बार जन्म मृत्युके चक्करमें डालनेवाला होनेके कारण वस्तुतः दुःखरूप ही है । अतएव इसको सुखरूप न समझकर यह जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मिला है, उस उद्देश्यको शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त कर लेना चाहिये; क्योंकि यह शरीर क्षणभङ्गुर है, पता नहीं, किस क्षण इसका नाश हो जाय ! इसलिये सावधान हो जाना चाहिये । न इसे सुखरूप समझकर विषयोंमें फँसना चाहिये और न इसे नित्य समझकर भजनमें देर ही करनी चाहिये । कदाचित् अपनी असावधानीमें यह व्यर्थ ही नष्ट हो गया तो फिर सिवा पछतानेके और कुछ भी उपाय हाथमें नहीं रह जायगा । श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । (केनोपनिषद् २ । ५)

'यदि इस मनुष्यजन्ममें परमात्माको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें नहीं जाना तब तो बड़ी भारी हानि है ।'

इसीलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसे शरीरको पाकर नित्य-निरन्तर मेरा भजन ही करो । क्षणभर भी मुझे मत भूलो ।

३. जिन परमेश्वरके सगुण, निर्गुण, निराकार, साकार आदि अनेक रूप हैं; जो विष्णुरूपसे सबका पालन करते हैं, ब्रह्मारूपसे सबकी रचना करते हैं और रुद्ररूपसे सबका संहार करते हैं; जो भगवान् युग-युगमें मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि दिव्य रूपोंमें अवतीर्ण होकर जगत्में विचित्र लीलाएँ करते हैं; जो भक्तोंकी इच्छाके अनुसार

मुझमें मनवाला हो,* मेरा भक्त बन,† मेरा पूजन करनेवाला हो,‡ मुझको प्रणाम कर§ । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके× मेरे परायण+ होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ÷ ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ भीष्मपर्वणि तु त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥ भीष्मपर्वमें तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

विभिन्न रूपोंमें प्रकट होकर उनको अपनी शरण प्रदान करते हैं—उन समस्त जगत्के कर्ता, हर्ता, विधाता, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वगुणसम्पन्न, परम पुरुषोत्तम, समग्र भगवान्का वाचक यहाँ 'माम्' पद है ।

* भगवान् ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वातीत, सर्वमय, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यके समुद्र और परम प्रेमस्वरूप हैं—इस प्रकार भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका यथार्थ परिचय हो जानेसे जब साधकको यह निश्चय हो जाता है कि एकमात्र भगवान् ही हमारे परम प्रेमास्पद हैं, तब जगत्की किसी भी वस्तुमें उसकी जरा भी रमणीय-बुद्धि नहीं रह जाती । ऐसी अवस्थामें संसारके किसी दुर्लभ-से-दुर्लभ भोगमें भी उसके लिये कोई आकर्षण नहीं रहता । जब इस प्रकारकी स्थिति हो जाती है, तब स्वाभाविक ही इस लोक और परलोककी समस्त वस्तुओंसे उसका मन सर्वथा हट जाता है और वह अनन्य तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्का ही चिन्तन करता रहता है । भगवान्का यह प्रेमपूर्ण चिन्तन ही उसके प्राणोंका आधार होता है, वह क्षणमात्रकी भी उनकी विस्मृतिको सहन नहीं कर सकता । जिसकी ऐसी स्थिति हो जाती है, उसीको 'भगवान्में मनवाला' कहते हैं ।

† भगवान् ही परमगति हैं, वे ही एकमात्र भर्ता और स्वामी हैं, वे ही परम आश्रय और परम आत्मीय संरक्षक हैं, ऐसा मानकर उन्हींपर निर्भर हो जाना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना, उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करना, भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला आदिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदिमें अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको निमग्न रखना और उन्हींकी प्रीतिके लिये प्रत्येक कार्य करना—इसीका नाम 'भगवान्का भक्त बनना' है ।

‡ भगवान्के मन्दिरोंमें जाकर उनके मङ्गलमय विग्रहका यथाविधि पूजन करना, सुविधानुसार अपने-अपने घरोंमें इष्टरूप भगवान्की मूर्ति स्थापित करके उसका विधिपूर्वक श्रद्धा और प्रेमके साथ पूजन करना, अपने हृदयमें या अन्तरिक्षमें अपने सामने भगवान्की मानसिक मूर्ति स्थापित करके उसकी मानस-पूजा करना, उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और चित्रपट आदिका आदर-सत्कार करना, उनकी सेवाके कार्योंमें अपनेको संलग्न रखना, निष्कामभावसे यज्ञादिके अनुष्ठानके द्वारा भगवान्की पूजा करना, माता-पिता, ब्राह्मण, साधु-महात्मा और गुरुजनोंको तथा अन्य समस्त प्राणियोंको भगवान्का ही स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे भगवान् सबमें व्याप्त हैं, ऐसा जानकर सबका यथायोग्य पूजन, आदर-सत्कार करना और तन-मन-धनसे सबको यथायोग्य सुख पहुँचानेकी तथा सबका हित करनेकी यथार्थ चेष्टा करना—ये सभी क्रियाएँ 'भगवान्की पूजा' ही कहलाती हैं ।

§ भगवान्के साकार या निराकार रूपको, उनकी मूर्तिको, चित्रपटको, उनके चरण, चरणपादुका या चरणचिह्नोंको, उनके तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभावका और उनकी मधुर लीलाओंका व्याख्यान करनेवाले सत्-शास्त्रोंको, माता-पिता, ब्राह्मण, गुरु, साधु-संत और महापुरुषोंको तथा विश्वके समस्त प्राणियोंको उन्हींका स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे उनको सबमें व्याप्त जानकर श्रद्धा-भक्तिसहित, मन, वाणी और शरीरके द्वारा यथायोग्य प्रणाम करना—यही 'भगवान्को नमस्कार करना' है ।

× यहाँ 'आत्मा' शब्द मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरका वाचक है; तथा इन सबको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्में लगा देना ही आत्माको उसमें युक्त करना है ।

+ इस प्रकार सब कुछ भगवान्को समर्पण कर देना और भगवान्को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और अपना सर्वस्व समझना 'भगवान्के परायण होना' है ।

÷ इसी मनुष्यशरीरमें ही भगवान्का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाना, भगवान्को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रवेश कर जाना अथवा भगवान्के दिव्य लोकमें जाना, उनके समीप रहना अथवा उनके-जैसे रूप आदिको प्राप्त कर लेना—ये सभी भगवत्प्राप्ति ही हैं ।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां दशमोऽध्यायः)

भगवान्‌की विभूति और योगशक्तिका तथा प्रभावसहित भक्तियोगका कथन, अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌द्वारा अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका पुनः वर्णन

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायसे लेकर नवें अध्यायतक विज्ञान-सहित ज्ञानका जो वर्णन किया गया, उसके बहुत गम्भीर हो जानेके कारण अब पुनः उसी विषयको दूसरे प्रकारसे भलीभाँति समझानेके लिये दसवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले श्लोकमें भगवान् पूर्वोक्त विषयका ही पुनः वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचनको सुन,* जिसे मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये हितकी इच्छासे कहूँगा॥ १॥

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्‌ने जिस विषयपर कहनेकी प्रतिज्ञा की है, उसका वर्णन आरम्भ करते हुए वे पहले पाँच श्लोकोंमें योगशब्दवाच्य प्रभावका और अपनी विभूतिका संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवता-लोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं,† क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ‡॥ २॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित, अनादि और लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है,§ वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ३॥

---

१. 'प्रीयमाणाय' विशेषणका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि हे अर्जुन! तुम्हारा मुझमें अतिशय प्रेम है, मेरे वचनोंको तुम अमृततुल्य समझकर अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ सुनते हो; इसीलिये मैं किसी प्रकारका संकोच न करके बिना पूछे भी तुम्हारे सामने अपने परम गोपनीय गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य बार-बार खोल रहा हूँ। इसमें तुम्हारा प्रेम ही कारण है।

* इस अध्यायमें भगवान्‌ने अपने गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य समझानेके लिये जो उपदेश दिया है, वही 'परम वचन' है और उसे फिरसे सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरी भक्तिका तत्त्व अत्यन्त ही गहन है; अतः उसे बार-बार सुनना परम आवश्यक समझकर बड़ी सावधानीके साथ श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सुनना चाहिये।

२. 'सुरगणाः' पद एकादश रुद्र, आठ वसु, बारह आदित्य, प्रजापति, उन्चास मरुद्गण, अश्विनीकुमार और इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रीय देवताओंके समुदाय हैं—उन सबका वाचक है।

३. 'महर्षयः' पदसे यहाँ सप्त महर्षियोंको समझना चाहिये।

† भगवान्‌का अपने अतुलनीय प्रभावसे जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करनेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके रूपमें; दुष्टोंके विनाश, धर्मके संस्थापन तथा नाना प्रकारकी लीलाओंके द्वारा जगत्‌के प्राणियोंके उद्धारके लिये श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि दिव्य अवतारोंके रूपमें; भक्तोंको दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ करनेके लिये उनके इच्छानुरूप नाना रूपोंमें तथा लीलावैचित्र्यकी अनन्त धारा प्रवाहित करनेके लिये समस्त विश्वके रूपमें जो प्रकट होना है—उसीका वाचक यहाँ 'प्रभव' शब्द है। उसे देवसमुदाय और महर्षिलोग नहीं जानते, इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं किस-किस समय किन-किन रूपोंमें किन-किन हेतुओंसे किस प्रकार प्रकट होता हूँ—इसके रहस्यको साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, अतीन्द्रिय विषयोंको समझनेमें समर्थ देवता और महर्षिलोग भी यथार्थरूपसे नहीं जानते।

‡ इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिन देवता और महर्षियोंसे इस सारे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं; उनका निमित्त और उपादान कारण मैं ही हूँ और उनमें जो विद्या, बुद्धि, शक्ति, तेज आदि प्रभाव हैं—वे सब भी उन्हें मुझसे ही मिलते हैं।

§ भगवान् अपनी योगमायासे नाना रूपोंमें प्रकट होते हुए भी अजन्मा हैं (गीता ४। ६), अन्य जीवोंकी भाँति उनका जन्म नहीं होता, वे अपने भक्तोंको सुख देने और धर्मकी स्थापना करनेके लिये केवल जन्मधारणकी लीला किया करते हैं—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना तथा इसमें जरा भी संदेह न करना—यही 'भगवान्-

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

निश्चय करनेकी शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असम्मूढता, क्षमा,* सत्य,† इन्द्रियोंका वशमें करना, मनका निग्रह तथा सुख-दुःख,‡ उत्पत्ति-प्रलय और भय अभय§ तथा अहिंसा, समता, संतोष, तप,× दान,+ कीर्ति और अपकीर्ति—ऐसे ये प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं÷ ॥४-५॥

को अजन्मा जानना' है तथा भगवान् ही सबके आदि अर्थात् महाकारण हैं, उनका आदि कोई नहीं है; वे नित्य हैं तथा सदासे हैं, अन्य पदार्थोंकी भाँति उनका किसी कालविशेषसे आरम्भ नहीं हुआ है—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना—'भगवान्‌को अनादि जानना' है। एवं जितने भी ईश्वरकोटिमें गिने जानेवाले इन्द्र, वरुण, यम, प्रजापति आदि लोकपाल हैं—भगवान् उन सबके महान् ईश्वर हैं; वे ही सबके नियन्ता, प्रेरक, कर्ता, हर्ता, सब प्रकारसे सबका भरण-पोषण और संरक्षण करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं—इस बातको श्रद्धापूर्वक संशयरहित ठीक-ठीक समझ लेना, 'भगवान्‌को लोकोंका महान् ईश्वर जानना' है।

१. कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य और भले-बुरे आदिका निर्णय करके निश्चय करनेवाली जो वृत्ति है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं।

२. किसी भी पदार्थको यथार्थ जान लेना 'ज्ञान' है; यहाँ 'ज्ञान' शब्द साधारण ज्ञानसे लेकर भगवान्‌के स्वरूपज्ञान-तक सभी प्रकारके ज्ञानका वाचक है।

३. भोगासक्त मनुष्योंको नित्य और सुखप्रद प्रतीत होनेवाले समस्त सांसारिक भोगोंको अनित्य, क्षणिक और दुःख-मूलक समझकर उनमें मोहित न होना—यही 'असम्मोह' है।

४. किसी भी प्राणीको किसी भी समय किसी भी प्रकारसे मन, वाणी या शरीरके द्वारा जरा भी कष्ट न पहुँचानेके भावको 'अहिंसा' कहते हैं।

५. सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु आदि जितने भी क्रिया, पदार्थ और घटना आदि विषमताके हेतु माने जाते हैं, उन सबमें निरन्तर राग द्वेषरहित समबुद्धि रहनेके भावको 'समता' कहते हैं।

६. जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसे प्रारब्धका भोग या भगवान्‌का विधान समझकर सदा संतुष्ट रहनेके भावको 'तुष्टि' कहते हैं।

* बुरा चाहना, बुरा करना, धनादि हर लेना, अपमान करना, आघात पहुँचाना, कड़ी जबान कहना या गाली देना, निन्दा या चुगली करना, आग लगाना, विष देना, मार डालना और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षमें क्षति पहुँचाना आदि जितने भी अपराध हैं, इनमेंसे एक या अधिक किसी प्रकारका भी अपराध करनेवाला कोई भी प्राणी क्यों न हो, अपनेमें बदला लेनेका पूरा सामर्थ्य रहनेपर भी उससे उस अपराधका किसी प्रकार भी बदला लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर देना और उस अपराधके कारण उसे इस लोक या परलोकमें कोई भी दण्ड न मिले—ऐसा भाव होना 'क्षमा' है।

† इन्द्रिय और अन्तःकरणद्वारा जो बात जिस रूपमें देखी, सुनी और अनुभव की गयी हो, ठीक उसी रूपमें दूसरेको समझानेके उद्देश्यसे हितकर प्रिय शब्दोंमें उसको प्रकट करना 'सत्य' है।

‡ 'सुख' शब्द यहाँ प्रिय (अनुकूल) वस्तुके संयोगसे और अप्रिय (प्रतिकूल) के वियोगसे होनेवाले सब प्रकारके सुखों-का वाचक है। इसी प्रकार प्रियके वियोगसे और अप्रियके संयोगसे होनेवाले आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—सब प्रकारके दुःखोंका वाचक यहाँ 'दुःख' शब्द है।

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि प्राणियोंके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले कष्टोंको 'आधिभौतिक', अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प, वज्रपात और अकाल आदि दैवीप्रकोपसे होनेवाले कष्टोंको 'आधिदैविक' और शरीर, इन्द्रिय तथा अन्तः-करणमें किसी प्रकारके रोगसे होनेवाले कष्टोंको 'आध्यात्मिक' दुःख कहते हैं।

§ सर्गकालमें समस्त चराचर जगत्‌का उत्पन्न होना 'भव' है, प्रलयकालमें उसका लीन हो जाना 'अभाव' है। किसी प्रकारकी हानि या मृत्युके कारणको देखकर अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाले भावका नाम 'भय' है और सर्वत्र एक परमेश्वरको व्याप्त समझ लेनेसे अथवा अन्य किसी कारणसे भयका जो सर्वथा अभाव हो जाना है वह 'अभय' है।

× स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना 'तप' है।

+ अपने स्वत्वको दूसरोंके हितके लिये वितरण करना 'दान' है।

÷ इस कथनसे भगवन्‌ने यह भाव दिखलाया है कि विभिन्न प्राणियोंके उनकी प्रकृतिके अनुसार उपर्युक्त प्रकारके जितने भी विभिन्न भाव होते हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं, अर्थात् वे सब मेरी ही सहायता, शक्ति और सत्तासे होते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६ ॥

सात महर्षिजन,* चार उनसे भी पूर्वमें होनेवाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु†—ये मुझमें भाववाले

१. 'चत्वारः पूर्वे' से सबसे पहले होनेवाले सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चारोंको लेना चाहिये । ये भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं और ब्रह्माजीके तप करनेपर स्वेच्छासे प्रकट हुए हैं। ब्रह्माजीने स्वयं कहा है—

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत् ।
प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन् ॥
(श्रीमद्भागवत २ । ७ । ५)

'मैंने विविध प्रकारके लोकोंको उत्पन्न करनेकी इच्छासे जो सबसे पहले तप किया, उस मेरी अखण्डित तपस्यासे ही भगवान् स्वयं सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार 'सन' नामवाले रूपोंमें प्रकट हुए और पूर्वकल्पमें प्रलय-कालके समय जो आत्मतत्त्वके ज्ञानका प्रचार इस संसारमें नष्ट हो गया था, उसका इन्होंने भलीभाँति उपदेश किया, जिससे उन मुनियोंने अपने हृदयमें आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया ।'

* सप्तर्षियोंके लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

एतान् भावानधीयाना ये चैत ऋषयो मताः । सप्तैते सप्तभिश्चैव गुणैः सप्तर्षयः स्मृताः ॥
दीर्घायुषो मन्त्रकृत ईश्वरा दिव्यचक्षुषः । वृद्धाः प्रत्यक्षधर्माणो गोत्रप्रवर्तकाश्च ये ॥
(वायुपुराण ६१ । ९३-९४)

'तथा देवर्षियोंके इन (उपर्युक्त) भावोंका जो अध्ययन (स्मरण) करनेवाले हैं, वे ऋषि माने गये हैं; इन ऋषियोंमें जो दीर्घायु, मन्त्रकर्ता, ऐश्वर्यवान्, दिव्य-दृष्टियुक्त, गुण, विद्या और आयुमें वृद्ध, धर्मका प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) करनेवाले और गोत्र चलानेवाले हैं—ऐसे सातों गुणोंसे युक्त सात ऋषियोंको ही सप्तर्षि कहते हैं ।' इन्हींसे प्रजाका विस्तार होता है और धर्मकी व्यवस्था चलती है ।

यहाँ जिन सप्तर्षियोंका वर्णन है, उनको भगवान्‌ने 'महर्षि' कहा है और उन्हें संकल्पसे उत्पन्न बतलाया है । इसलिये यहाँ उन्हींका लक्ष्य है, जो ऋषियोंसे भी उच्चस्तरके हैं । ऐसे सप्तर्षियोंका उल्लेख महाभारत-शान्तिपर्वमें मिलता है; इनके लिये साक्षात् परम पुरुष परमेश्वरने देवताओंसहित ब्रह्माजीसे कहा है—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥
एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः । प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ॥
(महा० शान्ति० ३४० । ६९-७०)

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं । ये सातों वेदके ज्ञाता हैं, इनको मैंने मुख्य वेदाचार्य बनाया है । ये प्रवृत्तिमार्गका संचालन करनेवाले हैं और (मेरे ही द्वारा) प्रजापतिके कर्ममें नियुक्त किये गये हैं ।'

इस कल्पके सर्वप्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षि यही हैं (हरिवंश० ७ । ८, ९) । अतएव यहाँ सप्तर्षियोंसे इन्हींका ग्रहण करना चाहिये ।

† ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु होते हैं, प्रत्येक मनुके अधिकारकालको 'मन्वन्तर' कहते हैं । इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक कालका एक मन्वन्तर होता है । मानवी वर्षगणनाके हिसाबसे एक मन्वन्तर तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्षसे और दिव्य-वर्षगणनाके हिसाबसे आठ लाख बावन हजार वर्षसे कुछ अधिक कालका होता है (विष्णुपुराण १ । ३) ।

सूर्यसिद्धान्तमें मन्वन्तर आदिका जो वर्णन है, उसके अनुसार इस प्रकार समझना चाहिये—

सौरमानसे ४३,२०,००० वर्षकी अथवा देवमानसे १२,००० वर्षकी एक चतुर्युगी होती है । इसीको महायुग कहते हैं । ऐसे इकहत्तर युगोंका एक मन्वन्तर होता है । प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तमें सत्ययुगके मानकी अर्थात् १७,२८,००० वर्षकी संध्या होती है । मन्वन्तर बीतनेपर जब संध्या होती है, तब सारी पृथ्वी जलमें डूब जाती है । प्रत्येक कल्पमें (ब्रह्माके एक दिनमें) चौदह मन्वन्तर अपनी-अपनी संध्याओंके मानके सहित होते हैं । इसके सिवा कल्पके आरम्भ-कालमें भी एक सत्ययुगके मानकालकी संध्या होती है । इस प्रकार एक कल्पके चौदह मनुओंमें ७१ चतुर्युगीके अतिरिक्त सत्ययुगके मानकी १५ संध्याएँ होती हैं । ७१ महायुगोंके मानसे १४ मनुओंमें ९९४ महायुग होते हैं और सत्ययुगके

सब-के-सब मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं,* जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूतिको† और योग-

मानकी १५ संध्याओंका काल पूरा ६ महायुगोंके समान हो जाता है। दोनोंका योग मिलानेपर पूरे एक हजार महायुग या दिव्ययुग बीत जाते हैं।

इस हिसाबसे निम्नलिखित अङ्कोंके द्वारा इसको समझिये—

	सौरमान या मानव वर्ष	देवमान या दिव्य वर्ष
एक चतुर्युगी (महायुग या दिव्ययुग)	४३,२०,०००	१२,०००
इकहत्तर चतुर्युगी	३०,६७,२०,०००	८,५२,०००
कल्पकी संधि	१७,२८,०००	४,८००
मन्वन्तरकी चौदह संध्या	२,४१,९२,०००	६७,२००
संधिसहित एक मन्वन्तर	३०,८४,४८,०००	८,५६,८००
चौदह संध्यासहित चौदह मन्वन्तर	४,३१,८२,७२,०००	१,१९,९६,२००
कल्पकी संधिसहित चौदह मन्वन्तर या एक कल्प	४,३२,००,००,०००	१,२०,००,०००

ब्रह्माजीका दिन ही कल्प है, इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि है। इस अहोरात्रके मानसे ब्रह्माजीकी परमायु एक सौ वर्ष है। इसे 'पर' कहते हैं। इस समय ब्रह्माजी अपनी आयुका आधा भाग अर्थात् एक परार्द्ध बिताकर दूसरे परार्द्धमें चल रहे हैं। यह उनके ५१ वें वर्षका प्रथम दिन या कल्प है। वर्तमान कल्पके आरम्भसे अबतक स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर अपनी-अपनी संध्याओंसहित बीत चुके हैं, कल्पकी संध्यासमेत सात संध्याएँ बीत चुकी हैं। वर्तमान सातवें वैवस्वत मन्वन्तरके २७ चतुर्युग बीत चुके हैं। इस समय अट्ठाईसवें चतुर्युगके कलियुगका संध्याकाल चल रहा है। (सूर्यसिद्धान्त, मध्यमाधिकार, श्लोक १५ से २४ देखिये)।

इस २०१३ वि० तक कलियुगके ५०५७ वर्ष बीते हैं। कलियुगके आरम्भमें ३६,००० वर्ष संध्याकालका मान होता है। इस हिसाबसे अभी कलियुगकी संध्याके ३०,९४३ सौर वर्ष बीतने बाकी हैं।

प्रत्येक मन्वन्तरमें धर्मकी व्यवस्था और लोकरक्षणके लिये भिन्न-भिन्न सप्तर्षि होते हैं। एक मन्वन्तरके बीत जानेपर जब मनु बदल जाते हैं, तब उन्हींके साथ सप्तर्षि, देवता, इन्द्र और मनुपुत्र भी बदल जाते हैं। वर्तमान कल्पके मनुओंके नाम ये हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि।

श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके पहले, पाँचवें और तेरहवें अध्यायोंमें इनका विस्तारसे वर्णन पढ़ना चाहिये। विभिन्न पुराणोंमें इनके नामभेद मिलते हैं। यहाँ ये नाम श्रीमद्भागवतके अनुसार दिये गये हैं।

चौदह मनुओंका एक कल्प बीत जानेपर सब मनु भी बदल जाते हैं।

* ये सभी भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम रखनेवाले हैं, यही भाव दिखलानेके लिये इनको मुझमें भाववाले बतलाया गया है तथा इनकी जो ब्रह्माजीसे उत्पत्ति होती है, वह वस्तुतः भगवान्‌से ही होती है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही जगत्‌की रचनाके लिये ब्रह्माका रूप धारण करते हैं। अतएव ब्रह्माके मनसे उत्पन्न होनेवालोंको भगवान् 'अपने मनसे उत्पन्न होनेवाले' कहें तो इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है।

१. भगवान्‌की जो अनन्यभक्ति है (गीता ११ । ५५), जिसे 'अव्यभिचारिणी भक्ति' (गीता १३ । १०) और 'अव्यभिचारी भक्तियोग' (गीता १४ । २६) भी कहते हैं; उस 'अविचल भक्तियोग' का वाचक यहाँ 'अविकम्पेन' विशेषणके सहित 'योगेन' पद है और उसमें संलग्न रहना ही उससे युक्त हो जाना है।

† इसी अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें भगवान्‌ने जिन बुद्धि आदि भावोंको और महर्षि आदिको अपनेसे उत्पन्न बतलाया है तथा गीताके सातवें अध्यायमें 'जलमें मैं रस हूँ' (७ । ८) एवं नवें अध्यायमें 'क्रतु मैं हूँ' 'यज्ञ मैं हूँ' (९ । १६) इत्यादि वाक्योंसे जिन-जिन पदार्थोंका, भावोंका और देवता आदिका वर्णन किया है—उन सबका वाचक 'विभूति' शब्द है।

शक्तिको* तत्त्वसे जानता है,† वह निश्चल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌के प्रभाव और विभूतियोंके ज्ञानका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी गयी, अब दो श्लोकोंमें उस भक्तियोगकी प्राप्तिका क्रम बतलाते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर‡ श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं§ ॥ ८ ॥

मच्चित्ता¹ मद्गतप्राणा² बोधयन्तः परस्परम्³ ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा

* भगवान्‌की जो अलौकिक शक्ति है, जिसे देवता और महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जानते (गीता १० । २, ३); जिसके कारण स्वयं सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अभिन्न-निमित्तोपादान कारण होनेपर भी भगवान् सदा उनसे न्यारे बने रहते हैं और यह कहा जाता है कि 'न तो वे भाव भगवान्‌में हैं और न भगवान् ही उनमें हैं' (गीता ७ । १२); जिस शक्तिसे सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आदि समस्त कर्म करते हुए भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌को नियममें चलाते हैं; जिसके कारण वे समस्त लोकोंके महान् ईश्वर, समस्त भूतोंके सुहृद्, समस्त यज्ञादिके भोक्ता, सर्वाधार और सर्वशक्तिमान् हैं; जिस शक्तिसे भगवान् इस समस्त जगत्‌को अपने एक अंशमें धारण किये हुए हैं (गीता १० । ४२) और युग-युगमें अपने इच्छानुसार विभिन्न कार्योंके लिये अनेक रूप धारण करते हैं तथा सब कुछ करते हुए भी समस्त कर्मोंसे, सम्पूर्ण जगत्‌से एवं जन्मादि समस्त विकारोंसे सर्वथा निर्लेप रहते हैं और गीताके नवम अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिनको 'ऐश्वर्य योग' कहा गया है—उस अद्भुत शक्ति (प्रभाव) का वाचक यहाँ 'योग' शब्द है ।

† इस प्रकार समस्त जगत् भगवान्‌की ही रचना है और सब उन्हींके एक अंशमें स्थित हैं । इसलिये जगत्‌में जो भी वस्तु शक्तिसम्पन्न प्रतीत हो, जहाँ भी कुछ विशेषता दिखलायी दे, उसे—अथवा समस्त जगत्‌को ही भगवान्‌की विभूति अर्थात् उन्हींका स्वरूप समझना एवं उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को समस्त जगत्‌के कर्ता-हर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वाधार, परम दयालु, सबके सुहृद् और सर्वान्तर्यामी मानना—यही 'भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना' है ।

‡ भगवान्‌के ही योगबलसे यह सृष्टिचक्र चल रहा है; उन्हींकी शासन-शक्तिसे सूर्य, चन्द्रमा, तारागण और पृथ्वी आदि नियमपूर्वक घूम रहे हैं; उन्हींके शासनसे समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहे हैं—इस प्रकारसे भगवान्‌को सबका नियन्ता और प्रवर्तक समझना ही 'सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌से चेष्टा करता है' यह समझना है ।

§ उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को सम्पूर्ण जगत्‌का कर्ता, हर्ता और प्रवर्तक समझकर अगले श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे अतिशय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मन, बुद्धि और समस्त इन्द्रियोंद्वारा निरन्तर भगवान्‌का स्मरण और सेवन करना ही भगवान्‌को निरन्तर भजना है ।

१. भगवान्‌को ही अपना परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम आत्मीय, परम गति और परम प्रिय समझनेके कारण जिनका चित्त अनन्यभावसे भगवान्‌में लगा हुआ है (गीता ८ । १४; ९ । २२) । भगवान्‌के सिवा किसी भी वस्तुमें जिनकी प्रीति, आसक्ति या रमणीयबुद्धि नहीं है; जो सदा-सर्वदा ही भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका चिन्तन करते रहते हैं और जो शास्त्रविधिके अनुसार कर्म करते हुए उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, व्यवहारकालमें और ध्यानकालमें कभी क्षणमात्र भी भगवान्‌को नहीं भूलते, ऐसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले भक्तोंके लिये ही यहाँ भगवान्‌ने 'मच्चित्ताः' विशेषणका प्रयोग किया है ।

२. जिनका जीवन और इन्द्रियोंकी समस्त चेष्टाएँ केवल भगवान्‌के ही लिये हैं; जिनको क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य है; जो भगवान्‌के लिये ही प्राण धारण करते हैं; खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि जितनी भी चेष्टाएँ हैं, उन सबमें जिनका अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं रह गया है—जो सब कुछ भगवान्‌के लिये ही करते हैं, उनके लिये भगवान्‌ने 'मद्गतप्राणाः' का प्रयोग किया है ।

३. भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले प्रेमी भक्तोंका जो अपने-अपने अनुभवके अनुसार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, लीला, माहात्म्य और रहस्यको परस्पर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे समझानेकी चेष्टा करना है—यही परस्पर भगवान्‌का बोध कराना है ।

कथन करते हुए ही* निरन्तर संतुष्ट होते हैं† और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं‡ ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे भजन करनेवाले भक्तोंके प्रति भगवान् क्या करते हैं, अगले दो श्लोकोंमें यह बतलाते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले§ भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ× जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ+ ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें अपने समग्र रूपका ज्ञान करानेवाले जिस विषयको सुननेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनको आज्ञा दी थी तथा दूसरे श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानको पूर्णतया कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसका वर्णन भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें किया। उसके बाद आठवें अध्यायमें अर्जुनके सात प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भी भगवान्‌ने उसी विषयका स्पष्टीकरण किया; किंतु वहाँ कहनेकी शैली दूसरी रही, इसलिये नवम अध्यायके आरम्भमें पुनः विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसी विषयको अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित भलीभाँति समझाया। तदनन्तर दूसरे शब्दोंमें पुनः उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें उसी विषयको पुनः कहनेकी प्रतिज्ञा की और पाँच श्लोकोंद्वारा अपनी योगशक्ति और विभूतियोंका वर्णन करके सातवें श्लोकमें उनके जाननेका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी। फिर आठवें और नवें श्लोकोंमें भक्तियोगके द्वारा भगवान्

---

* श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका कीर्तन और गायन करना तथा कथा-व्याख्यानादिद्वारा लोगोंमें प्रचार करना और उनकी स्तुति करना आदि सब भगवान्‌का कथन करना है।

† प्रत्येक क्रिया करते हुए निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करना ही 'नित्य संतुष्ट रहना' है। इस प्रकार-संतुष्ट रहनेवाले भक्तकी शान्ति, आनन्द और संतोषका कारण केवल भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूप आदिका श्रवण, मनन और कीर्तन तथा पठन-पाठन आदि ही होता है। सांसारिक वस्तुओंसे उसके आनन्द और संतोषका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

‡ भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, स्वरूप, तत्त्व और रहस्यका यथायोग्य श्रवण, मनन और कीर्तन करते हुए एवं उनकी रुचि, आज्ञा और संकेतके अनुसार केवल उनमें प्रेम होनेके लिये ही प्रत्येक क्रिया करते हुए, मनके द्वारा उनको सदा-सर्वदा प्रत्यक्षवत् अपने पास समझकर निरन्तर प्रेमपूर्वक उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप आदि क्रीडा करते रहना—यही भगवान्‌में निरन्तर रमण करना है।

§ इससे यह भाव दिखलाया है कि पूर्वश्लोकमें भगवान्‌के जिन भक्तोंका वर्णन हुआ है, वे भोगोंकी कामनाके लिये भगवान्‌को भजनेवाले नहीं हैं, किंतु किसी प्रकारका भी फल न चाहकर केवल निष्काम अनन्य प्रेमभावपूर्वक ही भगवान्‌का, उस श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे, निरन्तर भजन करनेवाले हैं।

× भगवान्‌का जो भक्तोंके अन्तःकरणमें अपने प्रभाव और महत्त्वादिके रहस्यसहित निर्गुण-निराकार तत्त्वको तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण निराकार और साकार तत्त्वको यथार्थरूपसे समझनेकी शक्ति प्रदान करना है—वही 'बुद्धि (तत्त्वज्ञानरूप) योगका प्रदान करना' है।

१. पूर्वश्लोकमें जिसे बुद्धियोग कहा गया है; जिसके द्वारा प्रभाव और महिमा आदिके सहित निर्गुण-निराकार तत्त्वका तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण-निराकार और साकारतत्त्वका स्वरूप भलीभाँति जाना जाता है, ऐसे संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे रहित 'दिव्य बोध' का वाचक यहाँ 'भास्वता' विशेषणके सहित 'ज्ञानदीपेन' पद है।

+ अनादिसिद्ध अज्ञानसे उत्पन्न जो आवरणशक्ति है—जिसके कारण मनुष्य भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपको यथार्थ नहीं जानता—उसको यहाँ 'अज्ञानजनित अन्धकार' कहा है। 'उसे मैं भक्तोंके अन्तःकरणमें स्थित हुआ नष्ट कर देता हूँ' भगवान्‌के इस कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सबके हृदयदेशमें अन्तर्यामीरूपसे सदा-सर्वदा स्थित रहता हूँ, तो भी लोग मुझे अपनेमें स्थित नहीं मानते; इसी कारण मैं उनका अज्ञानजनित अन्धकार नाश नहीं कर सकता। परंतु मेरे प्रेमी भक्त मुझे अपना अन्तर्यामी समझते हुए पूर्वश्लोकोंमें कहे हुए प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं, इस कारण उनके अज्ञानजनित अन्धकारका मैं सहज ही नाश कर देता हूँ।

के भजनमें लगे हुए भक्तोंके भाव और आचरणका वर्णन किया और दसवें तथा ग्यारहवेंमें उसका फल अज्ञानजनित अन्धकारका नाश और भगवान्‌की प्राप्ति करा देनेवाले बुद्धियोगकी प्राप्ति बतलाकर उस विषयका उपसंहार कर दिया। इसपर भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना भगवत्प्राप्तिमें परम सहायक है, यह बात समझकर अब सात श्लोकोंमें अर्जुन पहले भगवान्‌की स्तुति करके भगवान्‌से उनकी योगशक्ति और विभूतियोंका विस्तारसहित वर्णन करनेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

अर्जुन बोले—आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं;* क्योंकि आपको सब ऋषिगण† सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि‡ नारद तथा असित और देवल

१. ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ। एतत् संनियतं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥
गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिरादितः। यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता॥
(वायुपुराण ५९। ७९, ८१)

'ऋष्' धातु गमन (ज्ञान), श्रवण, सत्य और तप—इन अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। ये सब बातें जिसके अंदर एक साथ निश्चित रूपसे हों, उसीका नाम ब्रह्माने 'ऋषि' रक्खा है। गत्यर्थक 'ऋष्' धातुसे ही 'ऋषि' शब्दकी निष्पत्ति हुई है और आदिकालमें चूँकि यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न होता है, इसीलिये इसकी 'ऋषि' संज्ञा है।'

* इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिस निर्गुण परमात्माको 'परम ब्रह्म' कहते हैं, वे आपके ही स्वरूप हैं तथा आपका जो नित्यधाम है, वह भी सच्चिदानन्दमय दिव्य और आपसे अभिन्न होनेके कारण आपका ही स्वरूप है तथा आपके नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपोंके श्रवण, मनन और कीर्तन आदि सबको सर्वथा परम पवित्र करनेवाले हैं; इसलिये आप 'परम पवित्र' हैं।

† यहाँ 'ऋषिगण' शब्दसे मार्कण्डेय, अङ्गिरा आदि समस्त ऋषियोंको समझना चाहिये। अपनी मान्यताके समर्थनमें अर्जुन उनके कथनका प्रमाण दे रहे हैं। अभिप्राय यह है कि वे लोग आपको सनातन—नित्य एकरस रहनेवाले, क्षय-विनाशरहित, दिव्य—स्वतःप्रकाश और ज्ञानस्वरूप, सबके आदिदेव तथा अजन्मा—उत्पत्तिरूप विकारसे रहित और सर्वव्यापी बतलाते हैं। अतः आप 'परम ब्रह्म', 'परम धाम' और 'परम पवित्र' हैं—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

परम सत्यवादी धर्ममूर्ति पितामह भीष्मजीने भी दुर्योधनको भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव बतलाते हुए कहा है—

'भगवान् वासुदेव सब देवताओंके देवता और सबसे श्रेष्ठ हैं; ये ही धर्म हैं, धर्मज्ञ हैं, वरद हैं, सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं और ये ही कर्ता, कर्म और स्वयंप्रभु हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान, संध्या, दिशाएँ, आकाश और सब नियमोंको इन्हीं जनार्दनने रचा है। इन महात्मा अविनाशी प्रभुने ऋषि, तप और जगत्‌की सृष्टि करनेवाले प्रजापतिको रचा। सब प्राणियोंके अग्रज संकर्षणको भी इन्होंने ही रचा। लोक जिनको 'अनन्त' कहते हैं और जिन्होंने पहाड़ोंसमेत सारी पृथ्वीको धारण कर रक्खा है, वे शेषनाग भी इन्हींसे उत्पन्न हैं; ये ही वाराह, नृसिंह और वामनका अवतार धारण करनेवाले हैं; ये ही सबके माता-पिता हैं, इनसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है; ये ही केशव परम तेजरूप हैं और सब लोगोंके पितामह हैं, मुनिगण इन्हें हृषीकेश कहते हैं, ये ही आचार्य, पितर और गुरु हैं। ये श्रीकृष्ण जिसपर प्रसन्न होते हैं, उसे अक्षय लोककी प्राप्ति होती है। भय प्राप्त होनेपर जो इन भगवान् केशवके शरण जाता है और इनकी स्तुति करता है, वह मनुष्य परम सुखको प्राप्त होता है। जो लोग भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें चले जाते हैं, वे कभी मोहको नहीं प्राप्त होते। महान् भय (संकट) में डूबे हुए लोगोंकी भी भगवान् जनार्दन नित्य रक्षा करते हैं।' (महा० भीष्म० अ० ६७)

‡ देवर्षिके लक्षण ये हैं—

.... । देवलोकप्रतिष्ठाश्च ज्ञेया देवर्षयः शुभाः॥
देवर्षयस्तथान्ये च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्। भूतभव्यभवज्ज्ञानं सत्याभिव्याहृतं तथा॥
सम्बुद्धास्तु स्वयं ये तु सम्बद्धा ये च वै स्वयम्। तपसेह प्रसिद्धा ये गर्भे यैश्च प्रणोदितम्॥
मन्त्रव्याहारिणो ये च ऐश्वर्यात् सर्वगाश्च ये। इत्येते ऋषिभिर्युक्ता देवद्विजनृपास्तु ये॥
(वायुपुराण ६१। ८८, ९०, ९१, ९२)

'जिनका देवलोकमें निवास है, उन्हें शुभ देवर्षि समझना चाहिये। इनके सिवा वैसे ही जो दूसरे और भी देवर्षि हैं, उनके लक्षण कहता हूँ। भूत, भविष्यत् और वर्तमानका ज्ञान होना तथा सब प्रकारसे सत्य बोलना—देवर्षिका लक्षण

ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं* और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं† ॥ १२-१३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

हे केशव ! ‡जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ§ । हे भगवन् ! ×आपके लीलामय स्वरूपको न तो दानव जानते हैं न देवता ही+ ॥ १४ ॥

है । जो स्वयं भलीभाँति ज्ञानको प्राप्त हैं तथा जो स्वयं अपनी इच्छासे ही संसारसे सम्बद्ध हैं, जो अपनी तपस्याके कारण इस संसारमें विख्यात हैं, जिन्होंने (प्रह्लादादिको) गर्भमें ही उपदेश दिया है, जो मन्त्रोंके वक्ता हैं और ऐश्वर्य (सिद्धियों) के बलसे सर्वत्र सब लोकोंमें बिना किसी बाधाके जा-आ सकते हैं और जो सदा ऋषियोंसे घिरे रहते हैं, वे देवता, ब्राह्मण और राजा—ये सभी देवर्षि हैं ।'

देवर्षि अनेकों हैं, जिनमेंसे कुछके नाम ये हैं—

देवर्षी धर्मपुत्रौ तु नरनारायणावुभौ । बालखिल्याः क्रतोः पुत्राः कर्दमः पुलहस्य तु ॥
पर्वतो नारदश्चैव कश्यपस्यात्मजावुभौ । ऋषन्ति देवान् यस्मात्ते तस्माद् देवर्षयः स्मृताः ।

(वायुपुराण ६१ । ८३, ८४, ८५)

'धर्मके दोनों पुत्र नर और नारायण, क्रतुके पुत्र बालखिल्य ऋषि, पुलहके कर्दम, पर्वत और नारद तथा कश्यपके दोनों ब्रह्मवादी पुत्र असित और वत्सल—ये चूँकि देवताओंको अधीन रख सकते हैं, इसलिये इन्हें 'देवर्षि' कहते हैं ।'

* देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास—ये चारों ही भगवान्के यथार्थ तत्त्वको जाननेवाले, उनके महान् प्रेमी भक्त और परम ज्ञानी महर्षि हैं । ये अपने कालके बहुत ही सम्मान्य तथा महान् सत्यवादी महापुरुष माने जाते हैं, इसीसे इनके नाम खास तौरपर गिनाये गये हैं और भगवान्की महिमा तो ये नित्य ही गाया करते हैं । इनके जीवनका प्रधान कार्य है भगवान्की महिमाका ही विस्तार करना । महाभारतमें भी इनके तथा अन्यान्य ऋषि-महर्षियोंके भगवान्की महिमा गानेके कई प्रसंग आये हैं ।

† इस कथनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि केवल उपर्युक्त ऋषिलोग ही कहते हैं, यह बात नहीं है; स्वयं आप भी मुझसे अपने अतुलनीय प्रभावकी बातें इस समय भी कह रहे हैं (गीता ४ । ६ से ९ तक; ५ । २९; ७ । ७ से १२ तक; ९ । ४ से ११ और १६ से १९ तक; तथा १० । २, ३, ८) । अतः मैं जो आपको साक्षात् परमेश्वर समझता हूँ, यह ठीक ही है ।

‡ ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों शक्तियोंको क्रमशः 'क' 'अ' और 'ईश' (केश) कहते हैं और ये तीनों जिसके वपु यानी स्वरूप हों, उसे 'केशव' कहते हैं ।

§ गीताके चौथे अध्यायके आरम्भसे लेकर इस अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक भगवान्ने जो अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा, रहस्य और ऐश्वर्य आदिकी बातें कही हैं, जिनसे श्रीकृष्णका अपनेको साक्षात् परमेश्वर स्वीकार करना सिद्ध होता है—उन समस्त वचनोंका संकेत करनेवाले 'एतत्' और 'यत्' पद हैं तथा भगवान् श्रीकृष्णको समस्त जगत्के हर्ता, कर्ता, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सबके आदि, सबके नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, देवोंके भी देव, सच्चिदानन्दघन, साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा समझना और उनके उपदेशको सत्य मानना तथा उसमें किंचिन्मात्र भी संदेह न करना 'उन सब वचनोंको सत्य मानना' है ।

× विष्णुपुराणमें कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

(६ । ५ । ७४)

'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छहोंका नाम 'भग' है । ये सब जिसमें हों, उसे भगवान् कहते हैं ।' वहीं यह भी कहा है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैवं भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

(६ । ५ । ७८)

'उत्पत्ति और प्रलयको, भूतोंके आने और जानेको तथा विद्या और अविद्याको जो जानता है, उसे 'भगवान्' कहना चाहिये ।' अतएव यहाँ अर्जुन श्रीकृष्णको 'भगवन्' सम्बोधन देकर यह भाव दिखलाते हैं कि आप सर्वैश्वर्यसम्पन्न और सर्वज्ञ, साक्षात् परमेश्वर हैं—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ।

\+ जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेके लिये, धर्मकी स्थापना और भक्तोंको दर्शन देकर उनका उद्धार

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले! हे भूतोंके ईश्वर! हे देवोंके देव! हे जगत्के स्वामी! हे पुरुषोत्तम!* आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं† ॥ १५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं॥ १६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया॥१७॥

हे योगेश्वर! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन्! आप किन-किन भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं‡ ॥ १७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

हे जनार्दन!§ अपनी योगशक्तिको और विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती× अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है॥ १८॥

सम्बन्ध--अर्जुनके द्वारा योग और विभूतियोंका विस्तारपूर्वक पूर्णरूपसे वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की जानेपर भगवान् पहले अपने विस्तारकी अनन्तता बतलाकर प्रधानतासे अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ! अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिये प्रधानतासे कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है+ ॥ १९॥

करनेके लिये, देवताओंका संरक्षण और राक्षसोंका संहार करनेके लिये एवं अन्यान्य कारणोंसे भगवान् भिन्न-भिन्न लीलामय स्वरूप धारण किया करते हैं। उन सबको देवता और दानव नहीं जानते—यह कहकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मायासे नाना रूप धारण करनेकी शक्ति रखनेवाले दानवलोग तथा इन्द्रियातीत विषयोंका प्रत्यक्ष करनेवाले देवतालोग भी आपके उन लीलामय रूपोंको, उनके धारण करनेकी दिव्य शक्ति और युक्तिको, उनके निमित्तको और उनकी लीलाओंके रहस्यको नहीं जान सकते; फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है?

* यहाँ अर्जुनने इन पाँच सम्बोधनोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले, सबके नियन्ता, सबके पूजनीय, सबका पालन-पोषण करनेवाले तथा 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिनामक जो क्षर और अक्षर पुरुष हैं, उनसे उत्तम साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

† इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्के आदि हैं, आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य और रूप आदि अपरिमित हैं—इस कारण आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य, रहस्य और स्वरूप आदिको कोई भी दूसरा पुरुष पूर्णतया नहीं जान सकता, स्वयं आप ही अपने प्रभाव आदिको जानते हैं।

‡ किन-किन पदार्थोंमें किस प्रकारसे निरन्तर चिन्तन करके सहज ही भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझा जा सकता है—इसके सम्बन्धमें अर्जुन पूछ रहे हैं।

§ सभी मनुष्य अपनी-अपनी इच्छित वस्तुओंके लिये जिससे याचना करें, उसे 'जनार्दन' कहते हैं।

× इससे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपके वचनोंमें ऐसी माधुरी भरी है, उनसे आनन्दकी वह सुधाधारा बह रही है, जिसका पान करते-करते मन कभी अघाता ही नहीं। इस दिव्य अमृतका जितना ही पान किया जाता है, उतनी ही उसकी प्यास बढ़ती जा रही है। मन करता है कि यह अमृतमय रस निरन्तर ही पीता रहूँ।

+ जब सारा जगत् भगवान्का स्वरूप है, तब साधारणतया तो सभी वस्तुएँ उन्हींकी विभूति हैं; परंतु वे सब-के-सब दिव्य विभूति नहीं हैं। दिव्य विभूति उन्हीं वस्तुओं या प्राणियोंको समझना चाहिये, जिनमें भगवान्के तेज, बल, विद्या, ऐश्वर्य, कान्ति और शक्ति आदिका विशेष विकास हो। भगवान् यहाँ ऐसी ही विभूतियोंके लिये कहते हैं कि मेरी ऐसी विभूतियाँ अनन्त हैं, अतएव सबका तो पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता; उनमेंसे जो प्रधान-प्रधान हैं, यहाँ मैं उन्हींका वर्णन करूँगा।

विश्वमें अनन्त पदार्थों, भावों और विभिन्नजातीय प्राणियोंका विस्तार है। इन सबका यथाविधि नियन्त्रण और संचालन करनेके लिये जगत्स्रष्टा भगवान्के अटल नियमके द्वारा विभिन्नजातीय पदार्थों, भावों और जीवोंके विभिन्न समष्टि-विभाग कर दिये गये हैं और उन सबका ठीक नियमानुसार सृजन, पालन तथा संहारका कार्य चलता रहे—इसके लिये प्रत्येक समष्टि-विभागके अधिकारी नियुक्त हैं। रुद्र, वसु, आदित्य, इन्द्र, साध्य, विश्वेदेव, मरुत्, पितृदेव, मनु और

सम्बन्ध—अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् बीसवेंसे उन्चालीसवें श्लोकतक पहले अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ* तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ† ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु‡ और ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ§ तथा मैं उन्चास वायुदेवताओंका तेज×

सप्तर्षि आदि इन्हीं अधिकारियोंकी विभिन्न संज्ञाएँ हैं । इनके मूर्त और अमूर्त दोनों ही रूप माने गये हैं । ये सभी भगवान्‌की विभूतियाँ हैं ।

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च । इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥
(श्रीविष्णुपुराण ३ । १ । ४६)

'सभी देवता, समस्त मनु, सप्तर्षि तथा जो मनुके पुत्र हैं और जो ये देवताओंके अधिपति इन्द्र हैं—ये सभी भगवान् विष्णुकी ही विभूतियाँ हैं ।'

१. 'गुडाका' निद्राको कहते हैं । उसके स्वामीको 'गुडाकेश' कहते हैं । भगवान् अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्रापर विजय प्राप्त कर चुके हो; अतएव मेरे उपदेशको धारण करके अज्ञाननिद्राको भी जीत सकते हो ।

* समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित जो 'चेतन' है, जिसको परा 'प्रकृति' और 'क्षेत्रज्ञ' भी कहते हैं (गीता ७ । ५; १३ । १), उसीको यहाँ 'सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा' बतलाया है । वह भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण (गीता १५ । ७) वस्तुतः भगवत्स्वरूप ही है (गीता १३ । २) । इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि 'वह आत्मा मैं हूँ ।'

† यहाँ 'भूत' शब्दसे चराचर समस्त देहधारी प्राणी समझने चाहिये । ये सब प्राणी भगवान्‌से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हींमें स्थित हैं और प्रलयकालमें भी उन्हींमें लीन होते हैं; भगवान् ही सबके मूल कारण और आधार हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको उन सबका आदि, मध्य और अन्त बतलाया है ।

‡ अदितिके धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु नामक बारह पुत्रोंको द्वादश आदित्य कहते हैं —

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च । भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते । जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥
(महा० आदि० ६५ । १५-१६)

इनमें जो विष्णु हैं, वे इन सबके राजा हैं और अन्य सबसे श्रेष्ठ हैं । इसीलिये भगवान्‌ने विष्णुको अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजली और अग्नि आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं, उन सबमें सूर्य प्रधान हैं; इसलिये भगवान्‌ने समस्त ज्योतियोंमें सूर्यको अपना स्वरूप बतलाया है ।

× उन्चास मरुतोंके नाम ये हैं—सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रतिकृत्, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश् (वायुपुराण ६७ । १२३ से १३०) । गरुडपुराण तथा अन्यान्य पुराणोंमें कुछ नामभेद पाये जाते हैं; परंतु 'मरीचि' नाम कहीं भी नहीं मिला है । इसीलिये 'मरीचि' को मरुत् न मानकर समस्त मरुद्गणोंका तेज या किरणें माना गया है ।

दक्षकन्या मरुत्वतीसे उत्पन्न पुत्रोंको भी मरुद्गण कहते हैं (हरिवंश) । भिन्न-भिन्न मन्वन्तरोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे तथा विभिन्न प्रकारसे इनकी उत्पत्तिके वर्णन पुराणोंमें मिलते हैं ।

दितिपुत्र उन्चास मरुद्गण दिति देवीके भगवद्ध्यानरूप व्रतके तेजसे उत्पन्न हैं । उस तेजके ही कारण इनका गर्भमें विनाश नहीं हो सका था । इसलिये उनके इस तेजको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ* ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ,† देवोंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूतप्राणियोंकी चेतना अर्थात् जीवनी शक्ति हूँ‡ ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

मैं एकादश रुद्रोंमें शङ्कर हूँ§ और यक्ष तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूँ । मैं आठ वसुओंमें अग्नि हूँ× और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत हूँ+ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पुरोहितोंमें मुखिया बृहस्पति मुझको जान ।÷ हे पार्थ ! मैं सेनापतियोंमें स्कन्द ऽ और जलाशयोंमें समुद्र हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

मैं महर्षियोंमें भृगु A और शब्दोंमें एक अक्षर अर्थात्

---

* अश्विनी, भरणी और कृत्तिका आदि जो सत्ताईस नक्षत्र हैं, उन सबके स्वामी और सम्पूर्ण तारा-मण्डलके राजा होनेसे चन्द्रमा भगवान्‌की प्रधान विभूति हैं । इसलिये यहाँ उनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

† ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंमें सामवेद अत्यन्त मधुर संगीतमय तथा परमेश्वरकी अत्यन्त रमणीय स्तुतियोंसे युक्त है; अतः वेदोंमें उसकी प्रधानता है । इसलिये भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

‡ समस्त प्राणियोंकी जो ज्ञान-शक्ति है, जिसके द्वारा उनको दुःख-सुखका और समस्त पदार्थोंका अनुभव होता है, जो अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है, गीताके तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें जिसकी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है, उस ज्ञान-शक्तिका नाम 'चेतना' है । यह प्राणियोंके समस्त अनुभवोंकी हेतुभूता प्रधान शक्ति है, इसलिये इसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली—ये ग्यारह रुद्र कहलाते हैं—

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः । वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ॥
मृगव्याधश्च शर्वश्च कपाली च विशाम्पते । एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥
(हरिवंश० १ । ३ । ५१, ५२)

इनमें शम्भु अर्थात् शङ्कर सबके अधीश्वर (राजा) हैं तथा कल्याणप्रदाता और कल्याणस्वरूप हैं । इसलिये उन्हें भगवान्‌ने अपना स्वरूप कहा है ।

× धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—इन आठोंको वसु कहते हैं—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः । प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ (महा० आदि० ६६ । १८)

इनमें अनल (अग्नि) वसुओंके राजा हैं और देवताओंको हवि पहुँचानेवाले हैं । इसके अतिरिक्त वे भगवान्‌के मुख भी माने जाते हैं । इसीलिये अग्नि (पावक) को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

+ समस्त नक्षत्र सुमेरु पर्वतकी परिक्रमा करते हैं और सुमेरु पर्वत नक्षत्र और द्वीपोंका केन्द्र तथा सुवर्ण और रत्नोंका भण्डार माना जाता है तथा उसके शिखर अन्य पर्वतोंकी अपेक्षा ऊँचे हैं । इस प्रकार शिखरवाले पर्वतोंमें प्रधान होनेसे सुमेरुको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ बृहस्पति देवराज इन्द्रके गुरु, देवताओंके कुलपुरोहित और विद्या-बुद्धिमें सर्वश्रेष्ठ हैं तथा संसारके समस्त पुरोहितोंमें मुख्य और आङ्गिरसोंके राजा माने गये हैं । इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप कहा है ।

ऽ स्कन्दका दूसरा नाम कार्तिकेय है । इनके छः मुख और बारह हाथ हैं । ये महादेवजीके पुत्र और देवताओंके सेनापति हैं । कहीं-कहीं इन्हें अग्निके तेजसे तथा दक्षकन्या स्वाहाके द्वारा उत्पन्न माना गया है (महाभारत वनपर्व २२३) । इनके सम्बन्धमें महाभारत और पुराणोंमें बड़ी ही विचित्र-विचित्र कथाएँ मिलती हैं । संसारके समस्त सेनापतियोंमें ये प्रधान हैं, इसीलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है ।

A महर्षि बहुत-से हैं, उनके लक्षण और उनमेंसे प्रधान दसके नाम ये हैं—

ईश्वराः स्वयमुद्भूता मानसा ब्रह्मणः सुताः । यस्मान्न हन्यते मानैर्महान् परिगतः पुरः ॥
यस्माद्दषन्ति ये धीरा महान्तं सर्वतो गुणैः । तस्मान्महर्षयः प्रोक्ता बुद्धेः परमदर्शिनः ॥

ओङ्कार हूँ*। सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ† और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पहाड़ हूँ ‡ ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

मैं सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष, § देवर्षियोंमें नारद मुनि× गन्धर्वोंमें चित्ररथ+ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ÷ ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः। मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥
ब्रह्मणो मानसा ह्येत उद्भूताः स्वयमीश्वराः। प्रवर्तत ऋषेर्यस्मान्महांस्तस्मान्महर्षयः ॥
(वायुपुराण ५९। ८२-८३, ८९-९०)

'ब्रह्माके ये मानस पुत्र ऐश्वर्यवान् (सिद्धियोंसे सम्पन्न) एवं स्वयं उत्पन्न हैं। परिमाणसे जिसका हनन न हो (अर्थात् जो अपरिमेय हो) और जो सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी सामने (प्रत्यक्ष) हो, वही महान् है। जो बुद्धिके पार पहुँचे हुए (भगवत्प्राप्त) विज्ञजन गुणोंके द्वारा उस महान् (परमेश्वर) का सब ओरसे अवलम्बन करते हैं, वे इसी कारण ('महान्तम् ऋषन्ति इति महर्षयः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) महर्षि कहलाते हैं। भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य—ये दस महर्षि हैं। ये सब ब्रह्माके मनसे स्वयं उत्पन्न हुए हैं और ऐश्वर्यवान् हैं। चूँकि ऋषि (ब्रह्माजी) से इन ऋषियोंके रूपमें स्वयं महान् (परमेश्वर) ही प्रकट हुए, इसलिये ये महर्षि कहलाये।'

महर्षियोंमें भृगुजी मुख्य हैं। ये भगवान्के भक्त, ज्ञानी और बड़े तेजस्वी हैं; इसीलिये इनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

* किसी अर्थका बोध करानेवाले शब्दको 'गीः' (वाणी) कहते हैं और ओङ्कार (प्रणव) को 'एक अक्षर' कहते हैं (गीता ८। १३)। जितने भी अर्थबोधक शब्द हैं, उन सबमें प्रणवकी प्रधानता है; क्योंकि 'प्रणव' भगवान्का नाम है (गीता १७। २३)। प्रणवके जपसे भगवान्की प्राप्ति होती है। नाम और नामीमें अभेद माना गया है। इसलिये भगवान्ने 'प्रणव'को अपना स्वरूप बतलाया है।

† जपयज्ञमें हिंसाका सर्वथा अभाव है और जपयज्ञ भगवान्का प्रत्यक्ष करानेवाला है। मनुस्मृतिमें भी जपयज्ञकी बहुत प्रशंसा की गयी है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ (२। ८५)

'विधि-यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशुजप सौगुना और मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है।'

इसलिये समस्त यज्ञोंमें जपयज्ञकी प्रधानता है, यह भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने जपयज्ञको अपना स्वरूप बतलाया है।

‡ स्थिर रहनेवालोंको स्थावर कहते हैं। जितने भी पहाड़ हैं, सब अचल होनेके कारण स्थावर हैं। उनमें हिमालय सर्वोत्तम है। वह परम पवित्र तपोभूमि है और मुक्तिमें सहायक है। भगवान् नर और नारायण वहीं तपस्या कर चुके हैं। साथ ही, हिमालय सब पर्वतोंका राजा भी है। इसीलिये उसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

§ पीपलका वृक्ष समस्त वनस्पतियोंमें राजा और पूजनीय माना गया है। पुराणोंमें अश्वत्थका बड़ा माहात्म्य मिलता है। स्कन्दपुराणमें कहा है—

स एव विष्णुर्द्रुम एव मूर्तो महात्मभिः सेवितपुण्यमूलः। यस्याश्रयः पापसहस्रहन्ता भवेन्नृणां कामदुघो गुणाढ्यः ॥
(नागर० २४७। ४४)

'यह वृक्ष मूर्तिमान् श्रीविष्णुस्वरूप है; महात्मा पुरुष इस वृक्षके पुण्यमय मूलकी सेवा करते हैं। इसका गुणोंसे युक्त और कामनादायक आश्रय मनुष्योंके हजारों पापोंका नाश करनेवाला है।' इसलिये भगवान्ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

× देवर्षिके लक्षण इसी अध्यायके बारहवें, तेरहवें श्लोकोंकी टिप्पणीमें दिये गये हैं, उन्हें वहाँ पढ़ना चाहिये। ऐसे देवर्षियोंमें नारदजी सबसे श्रेष्ठ हैं। साथ ही वे भगवान्के परम अनन्य भक्त, महान् ज्ञानी और निपुण मन्त्रद्रष्टा हैं। इसीलिये नारदजीको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

+ गन्धर्व एक देवयोनिविशेष है; ये देवलोकमें गान, वाद्य और नाट्याभिनय किया करते हैं। स्वर्गमें ये सबसे सुन्दर और अत्यन्त रूपवान् माने जाते हैं। 'गुह्यक-लोक' से ऊपर और 'विद्याधर-लोक' से नीचे इनका 'गन्धर्व-लोक' है। देवता और पितरोंकी भाँति गन्धर्व भी दो प्रकारके होते हैं—मर्त्य और दिव्य। जो मनुष्य मरकर पुण्यबलसे गन्धर्वलोकको प्राप्त होते हैं, वे 'मर्त्य' हैं और जो कल्पके आरम्भसे ही गन्धर्व हैं, उन्हें 'दिव्य' कहते हैं। दिव्य गन्धर्वोंकी दो श्रेणियाँ हैं—'मौनेय' और 'प्राधेय'। महर्षि कश्यपकी दो पत्नियोंके नाम थे—मुनि और प्राधा। इन्हींसे अधिकांश अप्सराओं और गन्धर्वोंकी उत्पत्ति हुई। चित्ररथ दिव्य संगीत-विद्याके पारदर्शी और अत्यन्त ही निपुण हैं। इसीसे भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।

÷ जो सर्व प्रकारकी स्थूल और सूक्ष्म जगत्की सिद्धियोंको प्राप्त हों तथा धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि

घोड़ोंमें अमृतके साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथी* और मनुष्योंमें राजा मुझको जान † ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

मैं शस्त्रोंमें वज्र‡ और गौओंमें कामधेनु हूँ§ । शास्त्रोक्त रीतिसे संतानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूँ× और सर्पोंमें सर्पराज वासुकि हूँ+ ॥ ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

मैं नागोंमें शेषनाग÷ और जलचरोंका अधिपति वरुण-देवता हूँऽ और पितरोंमें अर्यमा नामक पितरA तथा शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँB ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

श्रेष्ठ गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न हों, उनको सिद्ध कहते हैं । ऐसे हजारों सिद्ध हैं, जिनमें भगवान् कपिल सर्वप्रधान हैं । भगवान् कपिल साक्षात् ईश्वरके अवतार हैं । इसीलिये भगवान्ने समस्त सिद्धोंमें कपिल मुनिको अपना स्वरूप बतलाया है ।

* बहुत-से हाथियोंमें जो श्रेष्ठ हो, उसे गजेन्द्र कहते हैं । ऐसे गजेन्द्रोंमें भी ऐरावत हाथी, जो इन्द्रका वाहन है, सर्वश्रेष्ठ और 'गज' जातिका राजा माना गया है । इसकी उत्पत्ति भी उच्चैःश्रवा घोड़ेकी भाँति समुद्रमन्थनसे ही हुई थी । इसलिये इसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

† शास्त्रोक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मपरायण राजा अपनी प्रजाको पापोंसे हटाकर धर्ममें प्रवृत्त करता है और सबकी रक्षा करता है, इस कारण अन्य मनुष्योंसे राजा श्रेष्ठ माना गया है । ऐसे राजामें भगवान्की शक्ति साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक रहती है । इसीलिये भगवान्ने राजाको अपना स्वरूप कहा है ।

‡ जितने भी शस्त्र हैं, उन सबमें वज्र अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि वज्रमें दधीचि ऋषिके तपका तथा साक्षात् भगवान्‌का तेज विराजमान है और उसे अमोघ माना गया है (श्रीमद्भागवत ६ । ११ । १९-२०) । इसलिये वज्रको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ कामधेनु समस्त गौओंमें श्रेष्ठ दिव्य गौ है, यह देवता तथा मनुष्य सभीकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली है और इसकी उत्पत्ति भी समुद्रमन्थनसे हुई है; इसलिये भगवान्ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

× इन्द्रियाराम मनुष्योंके द्वारा विषयसुखके लिये उपभोगमें आनेवाला काम निकृष्ट है, वह धर्मानुकूल नहीं है; परंतु शास्त्रविधिके अनुसार संतानकी उत्पत्तिके लिये इन्द्रियजयी पुरुषोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाला काम ही धर्मानुकूल होनेसे श्रेष्ठ है । अतः उसको भगवान्की विभूतियोंमें गिना गया है ।

+ वासुकि समस्त सर्पोंके राजा और भगवान्के भक्त होनेके कारण सर्पोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं, इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ शेषनाग समस्त नागोंके राजा और हजार फणोंसे युक्त हैं तथा भगवान्की शय्या बनकर और नित्य उनकी सेवामें लगे रहकर उन्हें सुख पहुँचानेवाले, उनके परम अनन्य भक्त और बहुत बार भगवान्के साथ-साथ अवतार लेकर उनकी लीलामें सम्मिलित रहनेवाले हैं तथा इनकी उत्पत्ति भी भगवान्से ही मानी गयी है । इसलिये भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है ।

ऽ वरुण समस्त जलचरोंके और जलदेवताओंके अधिपति, लोकपाल, देवता और भगवान्के भक्त होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ माने गये हैं । इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

A कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और बर्हिषद्—ये सात दिव्य पितृगण हैं । (शिवपुराण धर्म० ६३ । २) इनमें अर्यमानामक पितर समस्त पितरोंमें प्रधान होनेसे श्रेष्ठ माने गये हैं । इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

B मर्त्य और देवजगत्‌में, जितने भी नियमन करनेवाले अधिकारी हैं, यमराज उन सबमें बढ़कर हैं । इनके सभी दण्ड न्याय और धर्मसे युक्त, हितपूर्ण और पापनाशक होते हैं । ये भगवान्के ज्ञानी भक्त और लोकपाल भी हैं । इसीलिये भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है ।

१. यहाँ 'काल' शब्द क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास आदि नामोंसे कहे जानेवाले समयका वाचक है । यह गणित-विद्याके जाननेवालोंकी गणनाका आधार है । इसलिये कालको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद* और गणना करनेवालोंका समय हूँ तथा पशुओंमें मृगराज सिंह† और पक्षियोंमें मैं गरुड़ हूँ‡ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें श्रीराम§ हूँ तथा मछलियोंमें मगर हूँ× और नदियोंमें श्रीभागीरथी गङ्गाजी हूँ+ ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ । मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या÷ अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करनेवालोंका तत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद ऽ हूँ ॥ ३२ ॥

---

* दितिके वंशजोंको दैत्य कहते हैं । उन सबमें प्रह्लाद उत्तम माने गये हैं; क्योंकि वे सर्वसद्गुणसम्पन्न, परम धर्मात्मा और भगवान्के परम श्रद्धालु, निष्काम, अनन्यप्रेमी भक्त हैं तथा दैत्योंके राजा हैं । इसलिये भगवान्ने उनको अपना स्वरूप बतलाया है

† सिंह सब पशुओंका राजा माना गया है । वह सबसे बलवान्, तेजस्वी, शूरवीर और साहसी होता है । इसलिये भगवान्ने सिंहको अपनी विभूतियोंमें गिना है ।

‡ विनताके पुत्र गरुड़जी पक्षियोंके राजा और उन सबसे बड़े होनेके कारण पक्षियोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं । साथ ही ये भगवान्के वाहन, उनके परम भक्त और अत्यन्त पराक्रमी हैं । इसलिये गरुड़को भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ 'राम' शब्द दशरथपुत्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका वाचक है । उनको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीला करनेके लिये मैं ही भिन्न-भिन्न रूप धारण करता हूँ । श्रीराममें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है, स्वयं मैं ही श्रीरामरूपमें अवतीर्ण होता हूँ ।

× जितने प्रकारकी मछलियाँ होती हैं, उन सबमें मगर बहुत बड़ा और बलवान् होता है; इसी विशेषताके कारण मछलियोंमें मगरको भगवान्ने अपनी विभूति बतलाया है ।

\+ जाह्नवी अर्थात् श्रीभागीरथी गङ्गाजी समस्त नदियोंमें परम श्रेष्ठ हैं; ये श्रीभगवान्के चरणोदकसे उत्पन्न, परम पवित्र हैं । पुराण और इतिहासोंमें इनका बड़ा भारी माहात्म्य बतलाया गया है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
> स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥ (८ । २१ । ४)

'हे राजन् ! वह ब्रह्माजीके कमण्डलुका जल, भगवान्के चरणोंको धोनेसे पवित्रतम होकर स्वर्ग-गङ्गा हो गया । वह गङ्गा आकाशसे पृथ्वीपर गिरकर अबतक तीनों लोकोंको भगवान्की निर्मल कीर्तिके समान पवित्र कर रही है ।'

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि एक बार भगवान् विष्णु स्वयं ही द्रवरूप होकर बहने लगे थे और ब्रह्माजीके कमण्डलुमें जाकर गङ्गारूप हो गये थे । इस प्रकार साक्षात् ब्रह्मद्रव होनेके कारण भी गङ्गाजीका अत्यन्त माहात्म्य है । इसीलिये भगवान्ने गङ्गाको अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या उस विद्याको कहते हैं जिसका आत्मासे सम्बन्ध है, जो आत्मतत्त्वका प्रकाश करती है और जिसके प्रभावसे अनायास ही ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है । संसारमें ज्ञात या अज्ञात जितनी भी विद्याएँ हैं, सभी इस ब्रह्मविद्यासे निकृष्ट हैं; क्योंकि उनसे अज्ञानका बन्धन टूटता नहीं, बल्कि और भी दृढ़ होता है; परंतु इस ब्रह्मविद्यासे अज्ञानकी गाँठ सदाके लिये खुल जाती है और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है । इसीसे यह सबसे श्रेष्ठ है और इसीलिये भगवान्ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

ऽ शास्त्रार्थके तीन स्वरूप होते हैं– जल्प, वितण्डा और वाद । उचित-अनुचितका विचार छोड़कर अपने पक्षके मण्डन और दूसरेके पक्षका खण्डन करनेके लिये जो विवाद किया जाता है, उसे 'जल्प' कहते हैं; केवल दूसरे पक्षका खण्डन करनेके लिये किये जानेवाले विवादको 'वितण्डा' कहते हैं और जो तत्त्वनिर्णयके उद्देश्यसे शुद्ध नीयतसे किया जाता है, उसे 'वाद' कहते हैं । 'जल्प' और 'वितण्डा'से द्वेष, क्रोध, हिंसा और अभिमानादि दोषोंकी उत्पत्ति होती है तथा 'वाद'से सत्यके निर्णयमें और कल्याण-साधनमें सहायता प्राप्त होती है । 'जल्प' और 'वितण्डा' त्याज्य हैं तथा 'वाद' आवश्यकता होनेपर ग्राह्य है । इसी विशेषताके कारण भगवान्ने 'वाद'को अपनी विभूति बतलाया है ।



भगवानकी प्रह्लाद आदि तीन विभूतियाँ

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

मैं अक्षरोंमें अकार* हूँ और समासोंमें द्वन्द्वनामक समास† हूँ । अक्षय काल‡ अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला विराट्स्वरूप, सबका धारण-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।३४।

मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्ति-हेतु हूँ§ तथा स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ× ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५॥

तथा गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें मैं बृहत्साम+ और छन्दोंमें गायत्री छन्द ÷ हूँ तथा महीनोंमें

---

* स्वर और व्यञ्जन आदि जितने भी अक्षर हैं, उन सबमें अकार सबका आदि है और वही सबमें व्याप्त है। इसीलिये भगवान्ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

† संस्कृत-व्याकरणके अनुसार समास चार हैं—१ अव्ययीभाव, २ तत्पुरुष, ३ बहुव्रीहि और ४ द्वन्द्व । कर्मधारय और द्विगु—ये दोनों तत्पुरुषके ही अन्तर्गत हैं । द्वन्द्व समासमें दोनों पदोंके अर्थकी प्रधानता होनेके कारण वह अन्य समासोंसे श्रेष्ठ है; इसलिये भगवान्ने उसको अपनी विभूतियोंमें गिना है ।

‡ कालके तीन भेद हैं—

१—'समय' वाचक काल ।

२—'प्रकृति' रूप काल । महाप्रलयके बाद जितने समयतक प्रकृतिकी साम्यावस्था रहती है, वही प्रकृतिरूपी काल है।

३—नित्य शाश्वत विज्ञानानन्दघन परमात्मा ।

समयवाचक स्थूल कालकी अपेक्षा तो बुद्धिकी समझमें न आनेवाला प्रकृतिरूप काल सूक्ष्म और पर है तथा इस प्रकृतिरूप कालसे भी परमात्मारूप काल अत्यन्त सूक्ष्म, परातिपर और परम श्रेष्ठ है । वस्तुतः परमात्मा देश-कालसे सर्वथा रहित हैं; परंतु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारका वर्णन किया जाता है, वहाँ सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले होनेके कारण उन सबके अधिष्ठानरूप विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही वास्तविक 'काल' हैं । ये ही 'अक्षय' काल हैं ।

§ जिस प्रकार मृत्युरूप होकर भगवान् सबका नाश करते हैं अर्थात् उनका शरीरसे वियोग कराते हैं, उसी प्रकार भगवान् ही उनका पुनः दूसरे शरीरोंसे सम्बन्ध कराके उन्हें उत्पन्न करते हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने अपनेको उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्तिहेतु बतलाया है ।

× स्वायम्भुव मनुकी कन्या प्रसूति प्रजापति दक्षको ब्याही थीं, उनसे चौबीस कन्याएँ हुई । कीर्ति, मेधा, धृति, स्मृति और क्षमा उन्हींमेंसे हैं । इनमें कीर्ति, मेधा और धृतिका विवाह धर्मसे हुआ; स्मृतिका अङ्गिरासे और क्षमा महर्षि पुलहको ब्याही गयीं । महर्षि भृगुकी कन्याका नाम श्री है, जो दक्षकन्या ख्यातिके गर्भसे उत्पन्न हुई थीं । इनका पाणिग्रहण भगवान् विष्णुने किया और वाक् ब्रह्माजीकी कन्या थीं । इन सातोंके नाम जिन गुणोंका निर्देश करते हैं—उन विभिन्न गुणोंकी ये सातों अधिष्ठातृदेवता हैं तथा संसारकी समस्त स्त्रियोंमें श्रेष्ठ मानी गयी हैं । इसीलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बतलाया है ।

+ सामवेदमें 'बृहत्साम' एक गीतिविशेष है । इसके द्वारा परमेश्वरकी इन्द्ररूपमें स्तुति की गयी है । 'अतिरात्र' यागमें यही पृष्ठस्तोत्र है तथा सामवेदके 'रथन्तर' आदि सामोंमें बृहत्साम ('बृहत्' नामक साम) प्रधान होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ है, इसी कारण यहाँ भगवान्ने 'बृहत्साम'को अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ वेदोंकी जितनी भी छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं, उन सबमें गायत्रीकी ही प्रधानता है । श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण आदि शास्त्रोंमें जगह-जगह गायत्रीकी महिमा भरी है—

अभीष्टं लोकमाप्नोति प्राप्नुयात् काममीप्सितम् । गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ॥
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम् । हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे ॥

(शङ्खस्मृति १२ । २४-२५)

मार्गशीर्ष* और ऋतुओंमें वसन्त† मैं हूँ ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥३६॥

मैं छल करनेवालोंमें जूआ‡ और प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव हूँ। मैं जीतनेवालोंका विजय हूँ। निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव हूँ§ ॥ ३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव× अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा, पाण्डवोंमें धनंजय+ अर्थात् तू, मुनियोंमें

'(गायत्रीकी उपासना करनेवाला द्विज) अपने अभीष्ट लोकको पा जाता है, मनोवाञ्छित भोग प्राप्त कर लेता है। गायत्री समस्त वेदोंकी जननी और सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाली हैं। स्वर्गलोकमें तथा पृथ्वीपर गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। गायत्री देवी नरकसमुद्रमें गिरनेवालोंको हाथका सहारा देकर बचा लेनेवाली हैं।'

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं न देवः केशवात् परः। गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूतं न भविष्यति ॥
(बृहद्योगियाज्ञवल्क्य १० । १०)

'गङ्गाजीके समान तीर्थ नहीं है, श्रीविष्णुभगवान्‌से बढ़कर देवता नहीं है और गायत्रीसे बढ़कर जपनेयोग्य मन्त्र न हुआ, न होगा।'

गायत्रीकी इस श्रेष्ठताके कारण ही भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

* महाभारतकालमें महीनोंकी गणना मार्गशीर्षसे ही आरम्भ होती थी (महा० अनुशासन० १०६ और १०९)। अतः यह सब मासोंमें प्रथम मास है तथा इस मासमें किये हुए व्रत-उपवासोंका शास्त्रोंमें महान् फल बतलाया गया है। नये अन्नकी इष्टि (यज्ञ) का भी इसी महीनेमें विधान है। वाल्मीकीय रामायणमें इसे संवत्सरका भूषण बतलाया गया है। इस प्रकार अन्यान्य मासोंकी अपेक्षा इसमें कई विशेषताएँ हैं, इसलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

† वसन्त सब ऋतुओंमें श्रेष्ठ और सबका राजा है। इसमें बिना ही जलके सब वनस्पतियाँ हरी-भरी और नवीन पत्रों तथा पुष्पोंसे समन्वित हो जाती हैं। इसमें न अधिक गरमी रहती है और न सरदी। इस ऋतुमें प्रायः सभी प्राणियोंको आनन्द होता है। इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

‡ संसारमें उत्तम, मध्यम और नीच जितने भी जीव और पदार्थ हैं, सभीमें भगवान् व्याप्त हैं और भगवान्‌की ही सत्ता-स्फूर्तिसे सब चेष्टा करते हैं। ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो भगवान्‌की सत्ता और शक्तिसे रहित हो। ऐसे सब प्रकारके सात्त्विक, राजस और तामस जीवों एवं पदार्थोंमें जो विशेष गुण, विशेष प्रभाव और विशेष चमत्कारसे युक्त है, उसीमें भगवान्‌की सत्ता और शक्तिका विशेष विकास है।

इस विशेषताके कारण जिस-जिस व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया या भावका मनसे चिन्तन होने लगे, उस-उसमें भगवान्‌का ही चिन्तन करना चाहिये। इसी अभिप्रायसे छल करनेवालोंमें जूएको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बताया है। उसे उत्तम बतलाकर उसमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने तो महान् क्रूर और हिंसक सिंह और मगरको एवं सहज ही विनाश करनेवाले अग्निको तथा सर्वसंहारकारी मृत्युको भी अपना स्वरूप बतलाया है। उसका अभिप्राय यह थोड़े ही है कि कोई भी मनुष्य जाकर सिंह या मगरके साथ खेले, आगमें कूद पड़े अथवा जान-बूझकर मृत्युके मुँहमें घुस जाय। इनके करनेमें जो आपत्ति है, वही आपत्ति जूआ खेलनेमें है।

§ ये चारों ही गुण भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, इसलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है। इन चारोंको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव भी दिखलाया है कि तेजस्वी प्राणियोंमें जो तेज या प्रभाव है, वह वास्तवमें मेरा ही है। जो मनुष्य उसे अपनी शक्ति समझकर अभिमान करता है, वह भूल करता है। इसी प्रकार विजय प्राप्त करनेवालोंका विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव—ये सब गुण भी मेरे ही हैं। इनके निमित्तसे अभिमान करना भी बड़ी भारी मूर्खता है। इसके अतिरिक्त इस कथनमें यह भाव भी है कि जिन-जिनमें उपर्युक्त गुण हों, उनमें भगवान्‌के तेजकी अधिकता समझकर उनको श्रेष्ठ मानना चाहिये।

× इस कथनसे भगवान्‌ने अवतार और अवतारीकी एकता दिखलायी है। कहनेका भाव यह है कि मैं अजन्मा-अविनाशी, सब भूतोंका महेश्वर, सर्वशक्तिमान्, पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम ही यहाँ वसुदेवके पुत्रके रूपमें लीलासे प्रकट हुआ हूँ (गीता ४ । ६)।

\+ अर्जुन ही सब पाण्डवोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं। इसका कारण यह है कि नर-नारायण-अवतारमें अर्जुन नररूपसे

वेदव्यास* और कवियोंमें शुक्राचार्य कवि† भी मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

मैं दमन करनेवालोंका दण्ड अर्थात् दमन करनेकी शक्ति हूँ,‡ जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति§ हूँ, गुप्त रखने-योग्य भावोंका रक्षक मौन× हूँ और ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

और हे अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ;+ क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो÷ ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियोंका यह विस्तार तो तेरे लिये एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से उनकी विभूति और योगशक्तिका वर्णन करनेकी प्रार्थना की थी, उसके अनुसार भगवान् अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अब संक्षेपमें अपनी योगशक्तिका वर्णन करते हैं—

भगवान्‌के साथ रह चुके हैं । इसके अतिरिक्त वे भगवान्‌के परम प्रिय सखा और उनके अनन्य प्रेमी भक्त हैं । इसलिये अर्जुनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् । काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च ।
(महा० वन० १२ । ४६-४७)

'हे दुर्धर्ष अर्जुन ! तू भगवान् नर है और मैं स्वयं हरि नारायण हूँ । हम दोनों एक समय नर और नारायण ऋषि होकर इस लोकमें आये थे । इसलिये हे अर्जुन ! तू मुझसे अलग नहीं है और उसी प्रकार मैं तुझसे अलग नहीं हूँ ।'

* भगवान्‌के स्वरूपका और वेदादि शास्त्रोंका मनन करनेवालोंको 'मुनि' कहते हैं । भगवान् वेदव्यास समस्त वेदोंका भलीभाँति चिन्तन करके उनका विभाग करनेवाले, महाभारत, पुराण आदि अनेक शास्त्रोंके रचयिता, भगवान्‌के अंशावतार और सर्वसद्गुणसम्पन्न हैं । अतएव मुनिमण्डलमें उनकी प्रधानता होनेके कारण भगवान्‌ने उन्हें अपना स्वरूप बतलाया है ।

† जो पण्डित और बुद्धिमान् हो, उसे 'कवि' कहते हैं । शुक्राचार्यजी भार्गवोंके अधिपति, सब विद्याओंमें विशारद, नीतिके रचयिता, संजीवनी विद्याके जाननेवाले और कवियोंमें प्रधान हैं, इसलिये इनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

१. 'ज्ञानवताम्' पद परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका साक्षात् कर लेनेवाले यथार्थ ज्ञानियोंका वाचक है । उनका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है । इसलिये उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

‡ दण्ड (दमन करनेकी शक्ति) धर्मका त्याग करके अधर्ममें प्रवृत्त उच्छृङ्खल मनुष्योंको पापाचारसे रोककर सत्कर्ममें प्रवृत्त करता है । मनुष्योंके मन और इन्द्रिय आदि भी इस दमन-शक्तिके द्वारा ही वशमें होकर भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक बन सकते हैं । दमन-शक्तिसे समस्त प्राणी अपने-अपने अधिकारका पालन करते हैं । इसलिये जो भी देवता, राजा और शासक आदि न्यायपूर्वक दमन करनेवाले हैं, उन सबकी उस दमन-शक्तिको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ 'नीति' शब्द यहाँ न्यायका वाचक है । न्यायसे ही मनुष्यकी सच्ची विजय होती है । जिस राज्यमें नीति नहीं रहती, अनीतिका बर्ताव होने लगता है, वह राज्य भी शीघ्र नष्ट हो जाता है । अतएव नीति अर्थात् न्याय विजयका प्रधान उपाय है । इसलिये विजय चाहनेवालोंकी नीतिको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

× जितने भी गुप्त रखने योग्य भाव हैं, वे मौनसे (न बोलनेसे) ही गुप्त रह सकते हैं । बोलना बंद किये बिना उनका गुप्त रक्खा जाना कठिन है । इस प्रकार गोपनीय भावोंके रक्षक मौनकी प्रधानता होनेसे मौनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

\+ भगवान् ही समस्त चराचर भूतप्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है । अतएव वे ही सबके बीज या महान् कारण हैं । इसीसे गीताके सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें उन्हें सब भूतोंका 'सनातन बीज' और नवम अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'अविनाशी बीज' बतलाया गया है । इसीलिये भगवान्‌ने उसको यहाँ अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि चर या अचर जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें मैं व्याप्त हूँ; कोई भी प्राणी मुझसे रहित नहीं है । अतएव समस्त प्राणियोंको मेरा स्वरूप समझकर और मुझे उनमें व्याप्त समझकर जहाँ भी तुम्हारा मन जाय, वहीं तुम मेरा चिन्तन करते रहो । इस प्रकार अर्जुनके 'आपको किन-किन भावोंमें चिन्तन करना चाहिये ?' (गीता १० । १७) इस प्रश्नका भी इससे उत्तर हो जाता है ।

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान* ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है?† मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अंश-मात्रसे धारण करके स्थित हूँ‡ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ भीष्मपर्वणि तु चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥ भीष्मपर्वमें चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामेकादशोऽध्यायः)

विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना, भगवान् और संजयद्वारा विश्वरूपका वर्णन, अर्जुनद्वारा भगवान्के विश्वरूपका देखा जाना, भयभीत हुए अर्जुनद्वारा भगवान्की स्तुति-प्रार्थना, भगवान्द्वारा विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके दर्शनकी महिमा और केवल अनन्य भक्तिसे ही भगवान्की प्राप्तिका कथन

सम्बन्ध—गीताके दसवें अध्यायके सातवें श्लोकतक भगवान्ने अपनी विभूति तथा योगशक्तिका और उनके जाननेके माहात्म्यका संक्षेपमें वर्णन करके ग्यारहवें श्लोकतक भक्तियोग और उसके फलका निरूपण किया। इसपर बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्की स्तुति करके उनसे दिव्य विभूतियोंका और योगशक्तिका विस्तृत वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की। तब भगवान्ने चालीसवें श्लोकतक अपनी विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अन्तमें योग-शक्तिका प्रभाव बतलाते हुए समस्त ब्रह्माण्डको अपने एक अंशमें धारण किया हुआ कहकर अध्यायका उपसंहार किया। इस प्रसंग-को सुनकर अर्जुनके मनमें उस महान् स्वरूपको, जिसके एक अंशमें समस्त विश्व स्थित है, प्रत्यक्ष देखनेको इच्छा उत्पन्न हो गयी। इसीलिये इस ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें पहले चार श्लोकोंमें भगवान्की और उनके उपदेशको प्रशंसा करते हुए अर्जुन उनसे विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत् त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥

---

* जिस किसी भी प्राणी या जड़वस्तुमें उपर्युक्त ऐश्वर्य, शोभा, कान्ति, शक्ति, बल, तेज, पराक्रम या अन्य किसी प्रकारकी शक्ति आदि सब-के-सब या इनमेंसे कोई एक भी प्रतीत होता हो, उस प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तुको भगवान्के तेजका अंश समझना ही उसको भगवान्के तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझना है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बिजलीकी शक्तिसे कहीं रोशनी हो रही है, कहीं पंखे चल रहे हैं, कहीं जल निकल रहा है, कहीं रेडियोमें दूर-दूरके गाने सुनायी पड़ रहे हैं—इस प्रकार भिन्न-भिन्न अनेकों स्थानोंमें और भी बहुत कार्य हो रहे हैं; परंतु यह निश्चय है कि जहाँ-जहाँ ये कार्य होते हैं, वहाँ-वहाँ बिजलीका ही प्रभाव कार्य कर रहा है, वस्तुतः वह बिजलीके ही अंशकी अभिव्यक्ति है। उसी प्रकार जिस प्राणी या वस्तुमें जो भी किसी तरहकी विशेषता दिखलायी पड़ती है, उसमें भगवान्के ही तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझनी चाहिये।

† इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे पूछनेपर मैंने प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन तो कर दिया, किंतु इतना ही जानना यथेष्ट नहीं है। सार बात यह है जो मैं अब तुम्हें बतला रहा हूँ, इसको तुम अच्छी प्रकार समझ लो; फिर सब कुछ अपने-आप ही समझमें आ जायगा, उसके बाद तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा।

‡ मन, इन्द्रिय और शरीरसहित समस्त चराचर प्राणी तथा भोगसामग्री, भोगस्थान और समस्त लोकोंके सहित यह ब्रह्माण्ड भगवान्के किसी एक अंशमें उन्हींकी योगशक्तिसे धारण किया हुआ है, यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने इस जगत्के सम्पूर्ण विस्तारको अपनी योगशक्तिके एक अंशसे धारण किया हुआ बतलाया है।

१. गीताके दसवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रेम-समुद्र भगवान्ने 'अर्जुन! तुम्हारा मुझमें अत्यन्त प्रेम है, इसीसे मैं ये सब

अर्जुन बोले—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन* अर्थात् उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है† ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

क्योंकि हे कमलनेत्र ! मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है‡ ॥ २ ॥

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर !§ आप अपनेको जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है; परंतु हे पुरुषोत्तम ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे युक्त ऐश्वर-रूपको मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ× ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

बातें तुम्हारे हितके लिये कह रहा हूँ' ऐसा कहकर अपना जो अलौकिक प्रभाव सुनाया, उसे सुनकर अर्जुनको महर्षियोंकी कही हुई बातोंका स्मरण हो आया । अर्जुनके हृदयपर भगवत्कृपाकी मुहर लग गयी । वे भगवत्कृपाके अपूर्व दर्शन कर आनन्दमुग्ध हो गये; क्योंकि साधकको जबतक अपने पुरुषार्थ, साधन या अपनी योग्यताका स्मरण होता है, तबतक वह भगवत्कृपाके परमलाभसे वञ्चित-सा ही रहता है; भगवत्कृपाके प्रभावसे वह सहज ही साधनके उच्च स्तरपर नहीं चढ़ सकता, परंतु जब उसे भगवत्कृपासे ही भगवत्कृपाका भान होता है और वह प्रत्यक्षवत् यह समझ जाता है कि जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्के अनुग्रहसे ही हो रहा है, तब उसका हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है और वह पुकार उठता है, 'ओहो, भगवन् ! मैं किसी भी योग्य नहीं हूँ । मैं तो सर्वथा अनधिकारी हूँ । यह सब तो आपके अनुग्रहकी ही लीला है ।' ऐसे ही कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे अर्जुन कह रहे हैं कि भगवन् ! आपने जो कुछ भी महत्त्व और प्रभावकी बातें सुनायी हैं, मैं इसका पात्र नहीं हूँ । आपने अनुग्रह करनेके लिये ही अपना यह परम गोपनीय रहस्य मुझको सुनाया है । 'मदनुग्रहाय' पदके प्रयोगका यही अभिप्राय है ।

* गीताके सातवेंसे दसवें अध्यायतक विज्ञानसहित ज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्ने जो अपने गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपका तत्त्व और रहस्य समझाया है—उस सभी उपदेशका वाचक यहाँ 'परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन' है । जिन-जिन प्रकरणोंमें भगवान्ने स्पष्टरूपसे यह बतलाया है कि मैं श्रीकृष्ण जो तुम्हारे सामने विराजित हूँ, वही समस्त जगत्का कर्ता, हर्ता, निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, मायातीत, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर हूँ, उन प्रकरणोंको भगवान्ने स्वयं 'परम गुह्य' बतलाया है । अतएव यहाँ उन्हीं विशेषणोंका लक्ष्य करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपका यह उपदेश अवश्य ही परम गोपनीय है ।

† अर्जुन जो भगवान्के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको पूर्णरूपसे नहीं जानते थे—यही उनका मोह था । अब उपर्युक्त उपदेशके द्वारा भगवान्के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, रहस्य और स्वरूपको कुछ समझकर वे जो यह जान गये हैं कि श्रीकृष्ण ही साक्षात् परमेश्वर हैं—यही उनके मोहका नष्ट होना है ।

‡ इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि केवल भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयकी ही बात आपसे सुनी हो, ऐसी बात नहीं है; आपकी जो अविनाशी महिमा है, अर्थात् आप समस्त विश्वका सृजन, पालन और संहार आदि करते हुए भी वास्तवमें अकर्ता हैं, सबका नियमन करते हुए भी उदासीन हैं, सर्वव्यापी होते हुए भी उन-उन वस्तुओंके गुण-दोषसे सर्वथा निर्लिप्त हैं, शुभाशुभ कर्मोंका सुख-दुःखरूप फल देते हुए भी निर्दयता और विषमताके दोषसे रहित हैं, प्रकृति, काल और समस्त लोकपालोंके रूपमें प्रकट होकर सबका नियमन करनेवाले सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं—इस प्रकारके माहात्म्यको भी उन-उन प्रकरणोंमें बार-बार सुना है ।

§ 'परमेश्वर' सम्बोधनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं और सर्वसमर्थ हैं; अतएव मैं आपके जिस ऐश्वर-स्वरूपके दर्शन करना चाहता हूँ, उसके दर्शन आप सहज ही करा सकते हैं ।

× असीम और अनन्त ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि ईश्वरीय गुण और प्रभाव जिसमें प्रत्यक्ष दिखलायी देते हों तथा सारा विश्व जिसके एक अंशमें हो, ऐसे रूपको यहाँ 'ऐश्वररूप' बतलाया है और 'उसे मैं देखना चाहता हूँ' इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि ऐसा अद्भुत रूप मैंने कभी नहीं देखा, आपके मुखसे उसका वर्णन सुनकर (गीता १० । ४२) उसे देखनेकी मेरे मनमें अत्यन्त उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गयी है, उस रूपके दर्शन करके मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा—मैं ऐसा मानता हूँ ।

हे प्रभो* ! यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है—ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर ! उस अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये† ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—परम श्रद्धालु और परम प्रेमी अर्जुनके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर तीन श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपका वर्णन करते हुए उसे देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि[1] दिव्यानि[2] नानावर्णाकृतीनि[3] च ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकारके और नाना वर्ण तथा नाना आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भरतवंशी अर्जुन ! मुझमें आदित्योंको अर्थात् अदितिके द्वादश पुत्रोंको, आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको, दोनों अश्विनीकुमारोंको और उन्चास मरुद्गणोंको देख ‡ तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख ॥

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश[4] यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! अब§ इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख× तथा और भी जो कुछ

---

* 'प्रभो' सम्बोधनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामीरूपसे शासन करनेवाले होनेके कारण सर्वसमर्थ हैं । इसलिये यदि मैं आपके उस रूपके दर्शनका सुयोग्य अधिकारी नहीं हूँ तो आप कृपापूर्वक अपने सामर्थ्यसे मुझे सुयोग्य अधिकारी बना सकते हैं ।

† इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मेरे मनमें आपके उस रूपके दर्शनकी लालसा अत्यन्त प्रबल है आप अन्तर्यामी हैं, देख लें—जान लें कि मेरी वह लालसा सच्ची और उत्कट है या नहीं । यदि आप उस लालसाको सच्ची पाते हैं, तब तो प्रभो ! मैं उस स्वरूपके दर्शनका अधिकारी हो जाता हूँ; क्योंकि आप तो भक्त-वाञ्छाकल्पतरु हैं, उसके मनकी इच्छा ही देखते हैं, अन्य योग्यताको नहीं देखते । इसलिये यदि उचित समझें तो कृपा करके अपने उस स्वरूपके दर्शन मुझे कराइये ।

१. 'नानाविधानि' पद बहुत-से भेदोंका बोधक है । इसका प्रयोग करके भगवान्ने विश्वरूपमें दीखनेवाले रूपोंके जातिगत भेदकी अनेकता प्रकट की है—अर्थात् देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि समस्त चराचर जीवोंके नाना भेदोंको अपनेमें देखनेके लिये कहा है ।

२. अलौकिक और आश्चर्यजनक वस्तुको दिव्य कहते हैं । 'दिव्यानि' पदका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे शरीरमें दीखनेवाले ये भिन्न-भिन्न प्रकारके असंख्य रूप सब-के-सब दिव्य हैं ।

३. 'वर्ण' शब्द लाल, पीले, काले आदि विभिन्न रंगोंका और 'आकृति' शब्द अङ्गोंकी बनावटका वाचक है । जिन रूपोंके वर्ण और उनके अङ्गोंकी बनावट पृथक्-पृथक् अनेकों प्रकारकी हो, उनको 'नानावर्णाकृति' कहते हैं । उन्हींके लिये 'नानावर्णाकृतीनि'का प्रयोग हुआ है ।

‡ इनका नाम लेकर भगवान्ने सभी देवताओंको अपने विराट् रूपमें देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी है । इनमेंसे आदित्य और मरुद्गणोंकी व्याख्या गीताके दसवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें तथा वसु और रुद्रोंकी तेईसवेंमें की जा चुकी है । इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं किया गया है । अश्विनीकुमार दोनों भाई देव-वैद्य हैं । ये दोनों सूर्यकी पत्नी संज्ञासे उत्पन्न माने जाते हैं (विष्णुपुराण ३ । २ । ७, अग्निपुराण २७३ । ४) । कहीं इनको कश्यपके औरस पुत्र और अदितिके गर्भसे उत्पन्न (वाल्मीकीय रामायण अरण्य० १४ । १४) तथा कहीं ब्रह्माके कानोंसे उत्पन्न भी माना गया है (वायुपुराण ६५ । ५७) । कल्पभेदसे सभी वर्णन यथार्थ हैं ।

४. यहाँ अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्राके स्वामी हो, अतः सावधान होकर मेरे रूपको भलीभाँति देखो, ताकि किसी प्रकारका संशय या भ्रम न रह जाय ।

§ इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि तुमने मेरे जिस रूपके दर्शन करनेकी इच्छा प्रकट की है, उसे दिखलानेमें जरा भी विलम्ब नहीं कर रहा हूँ, इच्छा प्रकट करते ही मैं अभी दिखला रहा हूँ ।

× पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और देव, मनुष्य आदि चलने-फिरनेवाले प्राणियोंको 'चर' कहते हैं तथा पहाड़, वृक्ष आदि एक जगह स्थिर रहनेवालोंको 'अचर' कहते हैं । ऐसे समस्त प्राणियोंके तथा उनके शरीर, इन्द्रिय, भोगस्थान और भोगसामग्रियोंके सहित समस्त ब्रह्माण्डका वाचक यहाँ 'चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्' शब्द है । इससे भगवान्ने अर्जुनको यह बतलाया है कि इसी मेरे शरीरके एक अंशमें तुम समस्त जगत्को स्थित देखो । अर्जुनको

देखना चाहता हो सो देख* ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन श्लोकोंमें बार-बार अपना अद्भुत रूप देखनेके लिये आज्ञा देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्‌के रूपको नहीं देख सके, तब उसके न देख सकनेके कारणको जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् अर्जुनको दिव्यदृष्टि देनेकी इच्छा करके कहने लगे—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

परंतु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें निःसंदेह समर्थ नहीं है; इसीसे मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको† देख ॥

सम्बन्ध—अर्जुनको दिव्य दृष्टि देकर भगवान्‌ने जिस प्रकारका अपना दिव्य विराट् स्वरूप दिखलाया था, अब पाँच श्लोकोंद्वारा संजय उसका वर्णन करते हैं—

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय बोले—हे राजन् ! महायोगेश्वर और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्‌ने‡ इस प्रकार कहकर उसके पश्चात् अर्जुनको परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया§ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्[1] ।
सर्वाश्चर्यमयं[2] देवमनन्तं[3] विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, × अनेक अद्भुत

भगवान्‌ने गीताके दसवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें जो यह बात कही थी कि मैं इस समस्त जगत्‌को एक अंशमें धारण किये स्थित हूँ, उसी बातको यहाँ उन्हें प्रत्यक्ष दिखला रहे हैं ।

* इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस वर्तमान सम्पूर्ण जगत्‌को देखनेके अतिरिक्त और भी मेरे गुण, प्रभाव आदिके द्योतक कोई दृश्य, अपने और दूसरोंके जय-पराजयके दृश्य अथवा जो कुछ भी भूत, भविष्य और वर्तमानकी घटनाएँ देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो, उन सबको तुम इस समय मेरे शरीरके एक अंशमें प्रत्यक्ष देख सकते हो ।

† भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूपका दर्शन करनेके लिये अपने योगबलसे एक प्रकारकी योगशक्ति प्रदान की थी, जिसके प्रभावसे अर्जुनमें अलौकिक सामर्थ्यका प्रादुर्भाव हो गया—उस दिव्य रूपको देख सकनेकी योग्यता प्राप्त हो गयी । इसी योगशक्तिका नाम दिव्य दृष्टि है । ऐसी ही दिव्य दृष्टि श्रीवेदव्यासजीने संजयको भी दी थी। अर्जुनको जिस रूपके दर्शन हुए थे, वह दिव्य था । उसे भगवान्‌ने अपनी अद्भुत योगशक्तिसे ही प्रकट करके अर्जुनको दिखलाया था । अतः उसके देखनेसे ही भगवान्‌की अद्भुत योगशक्तिके दर्शन आप ही हो गये ।

‡ संजयके इस कथनका भाव यह है कि श्रीकृष्ण कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे बड़े-से-बड़े योगेश्वर और सब पापों तथा दुःखोंके नाश करनेवाले साक्षात् परमेश्वर हैं । उन्होंने अर्जुनको अपना जो दिव्य विश्वरूप दिखलाया था, जिसका वर्णन करके मैं अभी आपको सुनाऊँगा, वह रूप बड़े-से-बड़े योगी भी नहीं दिखला सकते; उसे तो एकमात्र स्वयं परमेश्वर ही दिखला सकते हैं ।

§ भगवान्‌ने अपना जो विराट् स्वरूप अर्जुनको दिखलाया था, वह अलौकिक, दिव्य, सर्वश्रेष्ठ और तेजोमय था, साधारण जगत्‌की भाँति पाञ्चभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ नहीं था; भगवान्‌ने अपने परम प्रिय भक्त अर्जुनपर अनुग्रह करके अपना अद्भुत प्रभाव उसको समझानेके लिये ही अपनी अद्भुत योगशक्तिके द्वारा उस रूपको प्रकट करके दिखलाया था ।

१. चन्दन आदि जो लौकिक गन्ध हैं, उनसे विलक्षण अलौकिक गन्धको 'दिव्य गन्ध' कहते हैं। ऐसे दिव्य गन्धका अनुभव प्राकृत इन्द्रियोंसे न होकर दिव्य इन्द्रियोंद्वारा ही किया जा सकता है । जिसके समस्त अङ्गोंमें इस प्रकारका अत्यन्त मनोहर दिव्य गन्ध लगा हो, उसको 'दिव्यगन्धानुलेपन' कहते हैं ।

२. भगवान्‌के उस विराट्‌रूपमें उपर्युक्त प्रकारसे मुख, नेत्र, आभूषण, शस्त्र, माला, वस्त्र और गन्ध आदि सभी आश्चर्यजनक थे; इसलिये उन्हें 'सर्वाश्चर्यमय' कहा गया है ।

३. जो प्रकाशमय और पूज्य हों, उन्हें 'देव' कहते हैं ।

× अर्जुनने भगवान्‌का जो रूप देखा, उसके प्रधान नेत्र तो चन्द्रमा और सूर्य बतलाये गये हैं (गीता ११ । १९), परंतु उसके अंदर दिखलायी देनेवाले और भी असंख्य विभिन्न मुख और नेत्र थे, इसीसे भगवान्‌को अनेक मुखों और नेत्रसे युक्त बतलाया गया है ।

दर्शनोंवाले,* बहुत-से दिव्य भूषणोंसे युक्त† और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए,‡ दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए§ और दिव्य गन्धका सारे शरीरमें लेप किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा ॥ १०-११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो× ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे विभक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण जगत्‌को देवोंके देव श्रीकृष्ण भगवान्‌के उस शरीरमें एक जगह स्थित देखा+ ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

उसके अनन्तर वह आश्चर्यसे चकित और पुलकितशरीर अर्जुन÷ प्रकाशमय विश्वरूप परमात्माको श्रद्धा-भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोला ऽ ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

* भगवान्‌के उस विराट् रूपमें अर्जुनने ऐसे असंख्य अलौकिक विचित्र दृश्य देखे थे, इसी कारण उनके लिये यह विशेषण दिया गया है ।

† जो गहने लौकिक गहनोंसे विलक्षण, तेजोमय और अलौकिक हों, उन्हें 'दिव्य' कहते हैं तथा जो रूप ऐसे असंख्य दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो, उसे 'अनेकदिव्याभरण' कहते हैं ।

‡ जो आयुध अलौकिक तथा तेजोमय हों, उनको 'दिव्य' कहते हैं—जैसे भगवान् विष्णुके चक्र, गदा और धनुष आदि हैं । इस प्रकारके असंख्य दिव्य शस्त्र भगवान्‌ने अपने हाथोंमें उठा रक्खे थे ।

§ विश्वरूप भगवान्‌ने अपने गलेमें बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर तेजोमय अलौकिक मालाएँ धारण कर रक्खी थीं तथा वे अनेक प्रकारके बहुत ही उत्तम तेजोमय अलौकिक वस्त्रोंसे सुसज्जित थे, इसलिये उनके लिये यह विशेषण दिया गया है ।

× इसके द्वारा विराट्स्वरूप भगवान्‌के दिव्य प्रकाशको निरुपम बतलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हजारों तारे एक साथ उदय होकर भी सूर्यकी समानता नहीं कर सकते, उसी प्रकार हजार सूर्य यदि एक साथ आकाशमें उदय हो जायँ तो उनका प्रकाश भी उस विराट्स्वरूप भगवान्‌के प्रकाशकी समानता नहीं कर सकता । इसका कारण यह है कि सूर्योंका प्रकाश अनित्य, भौतिक और सीमित है; परंतु विराट्स्वरूप भगवान्‌का प्रकाश नित्य, दिव्य, अलौकिक और अपरिमित है ।

+ यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और वृक्ष आदि भोक्तृवर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पाताल आदि भोग्यस्थान एवं उनके भोगनेयोग्य असंख्य सामग्रियोंके भेदसे विभक्त—इस समस्त ब्रह्माण्डको अर्जुनने भगवान्‌के शरीरके एक देशमें देखा । गीताके दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने जो यह बात कही थी कि इस सम्पूर्ण जगत्‌को मैं एक अंशमें धारण किये हुए स्थित हूँ, उसीको यहाँ अर्जुनने प्रत्यक्ष देखा ।

÷ इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के उस रूपको देखकर अर्जुनको इतना महान् हर्ष और आश्चर्य हुआ, जिसके कारण उसी क्षण उनका समस्त शरीर पुलकित हो गया । उन्होंने इससे पूर्व भगवान्‌का ऐसा ऐश्वर्यपूर्ण स्वरूप कभी नहीं देखा था; इसलिये इस अलौकिक रूपको देखते ही उनके हृदयपटपर सहसा भगवान्‌के अपरिमित प्रभावका कुछ अंश अङ्कित हो गया, भगवान्‌का कुछ प्रभाव उनकी समझमें आया । इससे उनके हर्ष और आश्चर्यकी सीमा न रही ।

ऽ अर्जुनने जब भगवान्‌का ऐसा अनन्त आश्चर्यमय दृश्योंसे युक्त परम प्रकाशमय और असीम ऐश्वर्यसमन्वित महान् स्वरूप देखा, तब उससे वे इतने प्रभावित हुए कि उनके मनमें जो पूर्व जीवनकी मित्रताका एक भाव था, वह सहसा विलुप्त-सा हो गया; भगवान्‌की महिमाके सामने वे अपनेको अत्यन्त तुच्छ समझने लगे । भगवान्‌के प्रति उनके हृदयमें अत्यन्त पूज्यभाव जाग्रत् हो गया और उस पूज्यभावके प्रवाहने बिजलीकी तरह गति उत्पन्न करके उनके मस्तकको उसी क्षण भगवान्‌के चरणोंमें टिका दिया और वे हाथ जोड़कर बड़े ही विनम्रभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌का स्तवन करने लगे ।



अर्जुनके प्रति भगवान्‌का विराट्‌रूप-प्रदर्शन

अर्जुन बोले—हे देव ! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवोंको तथा अनेक भूतोंके समुदायोंको, कमलके आसनपर विराजित ब्रह्माको, महादेवको* और सम्पूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देखता हूँ† ॥ १५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप[१] ॥१६॥

हे सम्पूर्ण विश्वके स्वामिन् ! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सबओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ । हे विश्वरूप ! मैं आपके न अन्तको देखता हूँ, न मध्यको और न आदिको ही ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं[२] समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्[३] ॥१७॥

आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजके पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब ओरसे अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं[४]
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता[५]
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आप ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत्के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं । ऐसा मेरा मत है‡ ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य[६][७]-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

---

* ब्रह्मा और शिव देवोंके भी देव हैं तथा ईश्वरकोटिमें हैं, इसलिये उनके नाम विशेषरूपसे लिये गये हैं। एवं ब्रह्माको 'कमलके आसनपर विराजित' बतलाकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं भगवान् विष्णुकी नाभिसे निकले हुए कमलपर विराजित ब्रह्माको देख रहा हूँ अर्थात् उन्हींके साथ आपके विष्णुरूपको भी आपके शरीरमें देख रहा हूँ ।

† यहाँ स्वर्ग, मर्त्य और पाताल—तीनों लोकोंके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके समुदायकी गणना करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं त्रिभुवनात्मक समस्त विश्वको आपके शरीरमें देख रहा हूँ ।

१. यहाँ अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप ही इस समस्त विश्वके कर्ता-हर्ता और सबको अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त करनेवाले सबके अधीश्वर हैं और यह समस्त विश्व वस्तुतः आपका ही स्वरूप है, आप ही इसके निमित्त और उपादान कारण हैं ।

२. अर्जुनको तो भगवान्ने उस रूपको देखनेके लिये ही दिव्य दृष्टि दी थी और उसीके द्वारा वे उसको देख रहे थे । इस कारण दूसरोंके लिये दुर्निरीक्ष्य होनेपर भी उनके लिये वैसी बात नहीं थी ।

३. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके गुण, प्रभाव, शक्ति और स्वरूप अप्रमेय हैं, अतः उनको कोई भी प्राणी किसी भी उपायसे पूर्णतया नहीं जान सकता ।

४. जिस जाननेयोग्य परमतत्त्वको मुमुक्षु पुरुष जाननेकी इच्छा करते हैं, जिसके जाननेके लिये जिज्ञासु साधक नाना प्रकारके साधन करते हैं, गीताके आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस परम अक्षरको ब्रह्म बतलाया गया है, उसी परम तत्त्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'वेदितव्यम्' और 'परमम्' विशेषणोंके सहित 'अक्षरम्' पद है ।

५. जो सदासे चला आता हो और सदा रहनेवाला हो, उस सनातन (वैदिक) धर्मको 'शाश्वतधर्म' कहते हैं । भगवान् बार बार अवतार लेकर उसी धर्मकी रक्षा करते हैं, इसलिये भगवान्को अर्जुनने 'शाश्वतधर्मगोप्ता' कहा है ।

‡ यहाँ अर्जुनने यह बतलाया है कि जिनका कभी नाश नहीं होता—ऐसे समस्त जगत्के हर्ता, कर्ता, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण विकारोंसे रहित, सनातन परम पुरुष साक्षात् परमेश्वर आप ही हैं ।

६. इस अध्यायके सोलहवें श्लोकमें अर्जुन भगवान्के विराट् रूपको असीम बतला ही चुके थे, फिर यहाँ उसे 'अनादिमध्यान्त' कहनेका भाव यह है कि वह उत्पत्ति आदि छः विकारोंसे रहित नित्य है। 'यहाँ आदि' शब्द उत्पत्तिका, 'मध्य' उत्पत्ति और विनाशके बीचमें होनेवाले स्थिति, वृद्धि, क्षय और परिणाम—इन चारों भावविकारोंका और 'अन्त' शब्द विनाशरूप विकारका वाचक है । ये तीनों जिसमें न हों, उसे 'अनादिमध्यान्त' कहते हैं ।

७. यहाँ अर्जुनने भगवान्को 'अनन्तवीर्य' कहकर यह भाव दिखलाया है कि आपके बल, वीर्य, सामर्थ्य और तेजकी कोई भी सीमा नहीं है ।

आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त, अनन्त भुजावाले,*चन्द्र-सूर्यरूप नेत्रोंवाले,† प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे इस जगत्‌को संतप्त करते हुए देखता हूँ ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्[1] ॥२०॥

हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं एवं आपके इस अलौकिक और भयंकर रूपको देखकर तीनों लोक अति व्यथाको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २० ॥

अमी[2] हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

वे ही देवताओंके समूह आपमें प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं‡ तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं§ ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च[3] ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा[4]
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गण× और पितरोंका समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धोंके

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके इस विराट् रूपमें मैं जिस ओर देखता हूँ, उसी ओर मुझे अगणित भुजाएँ दिखलायी दे रही हैं ।

† इससे अर्जुन यह अभिप्राय व्यक्त करते हैं कि आपके इस विराट्स्वरूपमें मुझे सब ओर आपके असंख्य मुख दिखलायी दे रहे हैं; उनमें जो आपका प्रधान मुख है, उस मुखपर नेत्रोंके स्थानमें मैं चन्द्रमा और सूर्यको देख रहा हूँ ।

१. समस्त विश्वके महान् आत्मा होनेसे भगवान्‌को 'महात्मन्' कहा है ।

२. 'सुरसङ्घाः' पदके साथ परोक्षवाची 'अमी' विशेषण देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं जब स्वर्गलोक गया था, तब वहाँ जिन-जिन देवसमुदायोंको मैंने देखा था—मैं आज देख रहा हूँ कि वे ही आपके इस विराट् रूपमें प्रवेश कर रहे हैं ।

‡ इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि शेष बचे हुए कितने ही देवता अपनी बहुत देरतक बचे रहनेकी सम्भावना न जानकर डरके मारे हाथ जोड़कर आपके नाम और गुणोंका बखान करते हुए आपको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहे हैं ।

§ इससे अर्जुनने यह व्यक्त किया है कि मरीचि, अङ्गिरा, भृगु आदि महर्षियोंके और ज्ञाताज्ञात सिद्धजनोंके जितने भी विभिन्न समुदाय हैं, वे आपके तत्त्वका यथार्थ रहस्य जाननेवाले होनेके कारण आपके इस उग्र रूपको देखकर भयभीत नहीं हो रहे हैं; वरं समस्त जगत्‌के कल्याणके लिये प्रार्थना करते हुए अनेकों प्रकारके सुन्दर भावमय स्तोत्रोंद्वारा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आपका स्तवन कर रहे हैं—ऐसा मैं देख रहा हूँ ।

३. जो ऊष्म (गरम) अन्न खाते हों, उनको 'ऊष्मपाः' कहते हैं । मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके दो सौ सैंतीसवें श्लोकमें कहा है कि पितरलोग गरम अन्न ही खाते हैं । अतएव यहाँ 'ऊष्मपाः' पद पितरोंके समुदायका वाचक समझना चाहिये । पितरोंके नाम गीताके दसवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोककी टिप्पणीमें बतलाये जा चुके हैं ।

४. कश्यपजीकी पत्नी मुनि और प्राधासे तथा अरिष्टासे गन्धर्वोंकी उत्पत्ति मानी गयी है, ये राग-रागिनियोंके ज्ञानमें निपुण हैं और देवलोककी वाद्य-नृत्यकलामें कुशल समझे जाते हैं । यक्षोंकी उत्पत्ति महर्षि कश्यपकी खसा नामक पत्नीसे मानी गयी है । भगवान् शङ्करके गणोंमें भी यक्षलोग हैं । इन यक्षोंके और उत्तम राक्षसोंके राजा कुबेर माने जाते हैं । देवताओंके विरोधी दैत्य, दानव और राक्षसोंको असुर कहते हैं । कश्यपजीकी स्त्री दितिसे उत्पन्न होनेवाले 'दैत्य' और 'दनु' से उत्पन्न होनेवाले 'दानव' कहलाते हैं । राक्षसोंकी उत्पत्ति विभिन्न प्रकारसे हुई है । कपिल आदि सिद्धजनोंको 'सिद्ध' कहते हैं । इन सबके विभिन्न अनेकों समुदायोंका वाचक यहाँ 'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः' पद है ।

× ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु और उनचास मरुत्—इन चार प्रकारके देवताओंके समूहोंका वर्णन तो

समुदाय हैं, वे सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं॥२२॥

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥

हे महाबाहो! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत हाथ, जङ्घा और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत-सी दाढ़ोंके कारण अत्यन्त विकराल महान् रूपको देखकर सब लोग व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो[1]॥ २४॥

क्योंकि हे विष्णो! आकाशको स्पर्श करनेवाले, देदीप्यमान, अनेक वर्णोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पाता हूँ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

दाढ़ोंके कारण विकराल और प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित आपके मुखोंको देखकर मैं दिशाओंको नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ। इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हों* ॥ २५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ[2]
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥

वे सभी धृतराष्ट्रके पुत्र राजाओंके समुदायसहित आपमें

गीताके दसवें अध्यायके इक्कीसवें और तेईसवें श्लोकोंकी टिप्पणीमें तथा अश्विनीकुमारोंका ग्यारहवें अध्यायके छठे श्लोककी टिप्पणीमें किया जा चुका है—वहाँ देखना चाहिये। मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव और विभु—ये बारह साध्यदेवता हैं —

मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो यानश्च वीर्यवान्॥
चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा।
प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्या द्वादश जज्ञिरे॥
(वायुपुराण ६६। १५-१६)

और क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान—ये दस विश्वेदेव हैं—

विश्वेदेवास्तु विश्वाया जज्ञिरे दश विश्रुताः।
क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामो धुनिस्तथा।
कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश॥
(वायुपुराण ६६। ३१-३२)

१. भगवान्‌को विष्णु नामसे सम्बोधित करके अर्जुन यह दिखलाते हैं कि आप साक्षात् विष्णु ही पृथ्वीका भार उतारनेके लिये श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं। अतः आप मेरी व्याकुलताको दूर करनेके लिये इस विश्वरूपका संवरण करके विष्णुरूपसे प्रकट हो जाइये।

* यहाँ अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप समस्त देवताओंके स्वामी, सर्वव्यापी और सम्पूर्ण जगत्‌के परमाधार हैं, इस बातको तो मैंने पहलेसे ही सुन रक्खा था और मेरा विश्वास भी था कि आप ऐसे ही हैं। आज मैंने आपका वह विराट्स्वरूप प्रत्यक्ष देख लिया। अब तो आपके 'देवेश' और 'जगन्निवास' होनेमें कोई संदेह ही नहीं रह गया। एवं प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करनेका यह भाव है कि 'प्रभो! आपका प्रभाव तो मैंने प्रत्यक्ष देख ही लिया, परंतु आपके इस विराट् रूपको देखकर मेरी बड़ी ही शोचनीय दशा हो रही है; मेरे सुख, शान्ति और धैर्यका नाश हो गया है; यहाँतक कि मुझे दिशाओंका भी ज्ञान नहीं रह गया है। अतएव दया करके अब आप अपने इस विराट् स्वरूपको शीघ्र समेट लीजिये।'

२. वीरवर कर्णसे अर्जुनकी स्वाभाविक प्रतिद्वन्द्विता थी। इसलिये उनके नामके साथ 'असौ' विशेषणका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि अपनी शूरवीरताके दर्पमें जो कर्ण सबको तुच्छ समझते थे, वे भी आज आपके विकराल मुखोंमें पड़कर नष्ट हो रहे हैं।

प्रवेश कर रहे हैं* और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य† तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंके सहित सब-के-सब आपके दाढ़ोंके कारण विकराल भयानक मुखोंमें बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें लगे हुए दीख रहे हैं ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८ ॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्रमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोकके वीर भी आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं‡ ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जैसे पतङ्ग मोहवश नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं§ ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

आप उन सम्पूर्ण लोकोंको प्रज्वलित मुखोंद्वारा ग्रास करते हुए सब ओरसे बार-बार चाट रहे हैं । हे विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत्‌को तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—अर्जुनने तीसरे और चौथे श्लोकोंमें भगवान्‌से अपने ऐश्वर्यमय रूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना की थी, उसीके अनुसार भगवान्‌ने अपना विश्वरूप अर्जुनको दिखलाया; परंतु भगवान्‌के इस भयानक उग्र रूपको देखकर अर्जुन बहुत डर गये और उनके मनमें इस बातके जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी कि ये श्रीकृष्ण वस्तुतः कौन हैं तथा इस महान् उग्र स्वरूपके द्वारा अब ये क्या करना चाहते हैं । इसीलिये वे भगवान्‌से पूछ रहे हैं—

* इससे अर्जुनने यह दिखलाया है कि केवल धृतराष्ट्रपुत्रोंको ही मैं आपके अंदर प्रविष्ट करते नहीं देख रहा हूँ, उन्हींके साथ मैं उन सब राजाओंके समूहोंको भी आपके अंदर प्रवेश करते देख रहा हूँ, जो दुर्योधनकी सहायता करनेके लिये आये थे ।

† पितामह भीष्म और गुरु द्रोण कौरवसेनाके सर्वप्रधान महान् योद्धा थे । अर्जुनके मतमें इनका परास्त होना या मारा जाना बहुत ही कठिन था । यहाँ उन दोनोंके नाम लेकर अर्जुन यह कह रहे हैं कि 'भगवन् ! दूसरोंके लिये तो कहना ही क्या है; मैं देख रहा हूँ, भीष्म और द्रोण-सरीखे महान् योद्धा भी आपके भयानक विकराल मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ।'

‡ इस श्लोकमें उन भीष्म-द्रोणादि श्रेष्ठ शूरवीर पुरुषोंके प्रवेश करनेका वर्णन किया गया है, जो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये साधन कर रहे थे तथा जिनको बिना ही इच्छाके युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा था और जो युद्धमें मरकर भगवान्‌को प्राप्त करनेवाले थे। इसी हेतुसे उनको 'नरलोकके वीर' कहा गया है । वे भौतिक युद्धमें जैसे महान् वीर थे, वैसे ही भगवत्प्राप्तिके साधनरूप आध्यात्मिक युद्धमें भी काम आदि शत्रुओंके साथ बड़ी वीरतासे लड़नेवाले थे । उनके प्रवेशमें नदी और समुद्रका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे नदियोंके जल स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर दौड़ते हैं और अन्तमें अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्र ही बन जाते हैं, वैसे ही ये शूरवीर भक्तजन भी आपकी ओर मुख करके दौड़ रहे हैं और आपके अंदर अभिन्नभावसे प्रवेश कर रहे हैं ।

यहाँ मुखोंके साथ 'प्रज्वलित' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे समुद्रमें सब ओरसे जल-ही-जल भरा रहता है और नदियोंका जल उसमें प्रवेश करके उसके साथ एकत्वको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही आपके सब मुख भी सब ओरसे अत्यन्त ज्योतिर्मय हैं और उनमें प्रवेश करनेवाले शूरवीर भक्तजन भी आपके मुखोंकी महान् ज्योतिमें अपने बाह्यरूपको जलाकर स्वयं ज्योतिर्मय हो आपमें एकताको प्राप्त हो रहे हैं ।

§ इस श्लोकमें पिछले श्लोकमें बतलाये हुए भक्तोंसे भिन्न उन समस्त साधारण लोगोंके प्रवेशका वर्णन किया गया है, जो इच्छापूर्वक युद्ध करनेके लिये आये थे; इसीलिये प्रज्वलित अग्नि और पतङ्गोंका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे मोहमें पड़े हुए पतङ्ग नष्ट होनेके लिये ही इच्छापूर्वक बड़े वेगसे उड़-उड़कर अग्निमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी आपके प्रभावको न जाननेके कारण मोहमें पड़े हुए हैं और अपना नाश करनेके लिये ही पतङ्गोंकी भाँति दौड़-दौड़कर आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं ।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

मुझे बतलाइये कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं ? हे देवोंमें श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो । आप प्रसन्न होइये । आदिपुरुष आपको मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता* ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् अपने उग्ररूप धारण करनेका कारण बतलाते हुए प्रश्नानुसार उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ ।† इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ ।‡ इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित योद्धालोग हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करनेपर भी इन सबका नाश हो जायगा§ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा युद्ध करनेमें सब प्रकारसे लाभ दिखलाकर अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए आज्ञा देते हैं—

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

अतएव तू उठ ! यश प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग ।× ये सब शूरवीर

---

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यह इतना भयंकर रूप—जिसमें कौरवपक्षके और हमारे प्रायः सभी योद्धा प्रत्यक्ष नष्ट होते दिखलायी दे रहे हैं–आप मुझे किसलिये दिखला रहे हैं तथा अब निकट भविष्यमें आप क्या करना चाहते हैं–इस रहस्यको मैं नहीं जानता । अतएव अब आप कृपा करके इसी रहस्यको खोलकर बतलाइये ।

† इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह जानना चाहा था कि आप कौन हैं । भगवान्के कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सम्पूर्ण जगत्का सृजन, पालन और संहार करनेवाला साक्षात् परमेश्वर हूँ । अतएव इस समय मुझको तुम इन सबका संहार करनेवाला साक्षात् काल समझो ।

‡ इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके उस प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह कहा था कि 'मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता ।' भगवान्के कथनका अभिप्राय यह है कि इस समय मेरी सारी चेष्टाएँ इन सब लोगोंका नाश करनेके लिये ही हो रही हैं, यही बात समझानेके लिये मैंने इस विराट् रूपके अंदर तुझको सबके नाशका भयंकर दृश्य दिखलाया है ।

§ इस कथनसे भगवान्ने यह दिखलाया है कि गुरु' ताऊ, चाचे, मामे और भाई आदि आत्मीय स्वजनोंको युद्धके लिये तैयार देखकर तुम्हारे मनमें जो कायरताका भाव आ गया है और उसके कारण तुम जो युद्धसे हटना चाहते हो—यह उचित नहीं है; क्योंकि यदि तुम युद्ध करके इनको न भी मारोगे, तब भी ये बचेंगे नहीं । इनका तो मरण ही निश्चित है । जब मैं स्वयं इनका नाश करनेके लिये प्रवृत्त हूँ, तब ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जिससे इनकी रक्षा हो सके । इसलिये तुमको युद्धसे हटना नहीं चाहिये; तुम्हारे लिये तो मेरी आज्ञाके अनुसार युद्धमें प्रवृत्त होना ही हितकर है ।

अपने पक्षके योद्धागणोंका अर्जुनके द्वारा मारा जाना सम्भव नहीं है, अतएव 'तुम न मारोगे तो भी वे तो मरेंगे ही' ऐसा कथन उनके लिये नहीं बन सकता । इसीलिये भगवान्ने यहाँ केवल कौरवपक्षके वीरोंके विषयमें कहा है । इसके सिवा अर्जुनको उत्साहित करनेके लिये भी भगवान्के द्वारा ऐसा कहा जाना युक्तिसंगत है । भगवान् मानो यह समझा रहे हैं कि शत्रुपक्षके जितने भी योद्धा हैं, वे सब एक तरहसे मरे ही हुए हैं; उन्हें मारनेमें तुम्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ेगा ।

१. 'तस्मात्' के साथ 'उत्तिष्ठ' क्रियाका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जब तुम्हारे युद्ध न करनेपर भी ये सब नहीं बचेंगे, निःसंदेह मरेंगे ही, तब तुम्हारे लिये युद्ध करना ही सब प्रकारसे लाभप्रद है । अतएव तुम किसी प्रकारसे भी युद्धसे हटो मत, उत्साहके साथ खड़े हो जाओ ।

× इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस युद्धमें तुम्हारी विजय निश्चित है; अतएव शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न महान् राज्यका उपभोग करो और दुर्लभ यश प्राप्त करो, इस अवसरको हाथसे न जाने दो ।

पहलेहीसे मेरे ही द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा* ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरेद्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओंको तू मार।† भय मत कर।‡ निस्संदेह तू युद्धमें वैरियोंको जीतेगा। इसलिये युद्ध कर§ ॥ ३४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे सब बातें सुननेके बाद अर्जुनकी कैसी परिस्थिति हुई और उन्होंने क्या किया—इस जिज्ञासापर संजय कहते हैं—

* जो बायें हाथसे भी बाण चला सकता हो, उसे 'सव्यसाची' कहते हैं। यहाँ भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम तो दोनों ही हाथोंसे बाण चलानेमें अत्यन्त निपुण हो, तुम्हारे लिये इन शूरवीरोंपर विजय प्राप्त करना कौन-सी बड़ी बात है। फिर इन सबको तो वस्तुतः तुम्हें मारना ही क्या पड़ेगा, तुमने प्रत्यक्ष देख ही लिया कि सब-के-सब मेरेद्वारा पहलेहीसे मारे हुए हैं। तुम्हारा तो सिर्फ नामभर होगा। अतएव अब तुम इन्हें मारनेमें जरा भी हिचको मत। मार तो मैंने रक्खा ही है, तुम तो केवल निमित्तमात्र बन जाओ।

निमित्तमात्र बननेके लिये कहनेका एक भाव यह भी है कि इन्हें मारनेपर तुम्हें किसी प्रकारका पाप होगा, इसकी भी सम्भावना नहीं है; क्योंकि तुम तो क्षात्रधर्मके अनुसार कर्तव्यरूपसे प्राप्त युद्धमें इन्हें मारनेमें एक निमित्तभर बनते हो। इससे पापकी बात तो दूर रही, तुम्हारे द्वारा उलटा क्षात्रधर्मका पालन होगा। अतएव तुम्हें अपने मनमें किसी प्रकारका संशय न रखकर, अहंकार और ममतासे रहित होकर उत्साहपूर्वक युद्धमें ही प्रवृत्त होना चाहिये।

† द्रोणाचार्य धनुर्वेद तथा अन्यान्य शस्त्रास्त्र-प्रयोगकी विद्यामें अत्यन्त पारंगत और युद्धकलामें परम निपुण थे। यह बात प्रसिद्ध थी कि जबतक उनके हाथमें शस्त्र रहेगा, तबतक उन्हें कोई भी मार नहीं सकेगा। इस कारण अर्जुन उन्हें अजेय समझते थे और साथ ही गुरु होनेके कारण अर्जुन उनको मारना पाप भी मानते थे। भीष्मपितामहकी शूरता जगत्प्रसिद्ध थी। परशुराम-सरीखे अजेय वीरको भी उन्होंने छका दिया था। साथ ही पिता शान्तनुका उन्हें यह वरदान था कि उनकी बिना इच्छाके मृत्यु भी उन्हें नहीं मार सकेगी। इन सब कारणोंसे अर्जुनकी यह धारणा थी कि पितामह भीष्मपर विजय प्राप्त करना सहज कार्य नहीं है, इसीके साथ-साथ वे पितामहका अपने हाथों वध करना पाप भी समझते थे। उन्होंने कई बार कहा भी है, मैं इन्हें नहीं मारना चाहता।

जयद्रथ स्वयं बड़े वीर थे और भगवान् शङ्करके भक्त होनेके कारण उनसे दुर्लभ वरदान पाकर अत्यन्त दुर्जय हो गये थे। फिर दुर्योधनकी बहिन दुःशलाके स्वामी होनेसे ये पाण्डवोंके बहनोई भी लगते थे। स्वाभाविक ही सौजन्य और आत्मीयताके कारण अर्जुन उन्हें भी मारनेमें हिचकते थे।

कर्णको भी अर्जुन किसी प्रकार भी अपनेसे कम वीर नहीं मानते थे। संसारभरमें प्रसिद्ध था कि अर्जुनके योग्य प्रतिद्वन्द्वी कर्ण ही हैं। ये स्वयं बड़े ही वीर थे और परशुरामजीके द्वारा दुर्लभ शस्त्रविद्याका इन्होंने अध्ययन किया था।

इसीलिये इन चारोंके पृथक्-पृथक् नाम लेकर और इनके अतिरिक्त भगदत्त, भूरिश्रवा और शल्यप्रभृति जिन-जिन योद्धाओंको अर्जुन बहुत बड़े वीर समझते थे और जिनपर विजय प्राप्त करना आसान नहीं समझते थे, उन सबका लक्ष्य कराते हुए उन सबको अपनेद्वारा मारे हुए बतलाकर और उन्हें मारनेके लिये आज्ञा देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुमको किसीपर भी विजय प्राप्त करनेमें किसी प्रकारका भी संदेह नहीं करना चाहिये। ये सभी मेरेद्वारा मारे हुए हैं। साथ ही इस बातका भी लक्ष्य करा दिया है कि तुम जो इन गुरुजनोंको मारनेमें पापकी आशङ्का करते थे, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि क्षत्रियधर्मानुसार इन्हें मारनेके जो तुम निमित्त बनोगे, इसमें तुम्हें कोई भी पाप नहीं होगा, वरं धर्मका ही पालन होगा। अतएव उठो और इनपर विजय प्राप्त करो।

‡ इससे भगवान्‌ने अर्जुनको आश्वासन दिया है कि मेरे उग्ररूपको देखकर तुम जो इतने भयभीत और व्यथित हो रहे हो, यह ठीक नहीं है। मैं तुम्हारा प्रिय वही कृष्ण हूँ। इसलिये तुम न तो जरा भी भय करो और न संतप्त ही होओ।

§ अर्जुनके मनमें जो इस बातकी शङ्का थी कि न जाने युद्धमें हम जीतेंगे या हमारे ये शत्रु ही हमको जीतेंगे (गीता २। ६), उस शङ्काको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने ऐसा कहा है। भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि युद्धमें निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी, इसलिये तुम्हें उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिये।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

संजय बोले—केशव भगवान्‌के इस वचनको सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपता हुआ* नमस्कार करके, फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके† भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्गद वाणीसे बोला‡ ॥ ३५ ॥

सम्बन्ध—अब छत्तीसवेंसे छियालीसवें श्लोकतक अर्जुन भगवान्‌के स्तवन, नमस्कार और क्षमायाचनासहित प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामिन्! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभावके कीर्तनसे जगत् अति हर्षित हो रहा है और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षसलोग दिशाओंमें भाग रहे हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय नमस्कार कर रहे हैं§ ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार न करें; क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास!× जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं+ ॥

---

१. अर्जुनके मस्तकपर देवराज इन्द्रका दिया हुआ सूर्यके समान प्रकाशमय दिव्य मुकुट सदा रहता था, इसीसे उनका एक नाम 'किरीटी' पड़ गया था।

स्वयं अर्जुनने विराटपुत्र उत्तरकुमारसे कहा है—

पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः। किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ॥
(महा० विराट० ४४। १७)

* इससे संजयने यह भाव दिखलाया है कि श्रीकृष्णके उस घोर रूपको देखकर अर्जुन इतने व्याकुल हो गये कि भगवान्‌के इस प्रकार आश्वासन देनेपर भी उनका डर दूर नहीं हुआ; इसलिये वे डरके मारे काँपते हुए ही भगवान्‌से उस रूपका संवरण करनेके लिये प्रार्थना करने लगे।

† इससे संजयने यह भाव दिखलाया है कि भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्यमय स्वरूपको देखकर उस स्वरूपके प्रति अर्जुनकी बड़ी सम्मान्य दृष्टि हो गयी थी और वे डरे हुए थे ही। इसीसे वे हाथ जोड़े हुए बार-बार भगवान्‌को नमस्कार और प्रणाम करते हुए उनकी स्तुति करने लगे।

‡ इसका अभिप्राय यह है कि अर्जुन जब भगवान्‌की स्तुति करने लगे, तब आश्चर्य और भयके कारण उनका हृदय पानी-पानी हो गया, नेत्रोंमें जल भर आया, कण्ठ रुक गया और इसी कारण उनकी वाणी गद्गद हो गयी। फलतः उनका उच्चारण अस्पष्ट और करुणापूर्ण हो गया।

§ भगवान्‌के द्वारा प्रदान की हुई दिव्य दृष्टिसे केवल अर्जुन ही यह सब देख रहे थे, सारा जगत् नहीं। जगत्‌का हर्षित और अनुरक्त होना, राक्षसोंका डरकर भागना और सिद्धोंका नमस्कार करना—ये सब उस विराट् रूपके ही अङ्ग हैं। अभिप्राय यह है कि यह वर्णन अर्जुनको दिखलायी देनेवाले विराट् रूपका ही है, बाहरी जगत्‌का नहीं। उनको भगवान्‌का जो विराट्‌रूप दीखता था, उसीके अंदर ये सब दृश्य दिखलायी पड़ रहे थे। इसीसे अर्जुनने ऐसा कहा है।

× यहाँ 'महात्मन्', 'अनन्त', 'देवेश' और 'जगन्निवास'—इन चार सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव व्यक्त किया है कि आप समस्त चराचर प्राणियोंके महान् आत्मा हैं, अन्तरहित हैं—आपके रूप, गुण और प्रभाव आदिकी सीमा नहीं है; आप देवताओंके भी स्वामी हैं और समस्त जगत्‌के एकमात्र परमाधार हैं। यह सारा जगत् आपमें ही स्थित है तथा आप इसमें व्याप्त हैं। अतएव इन सबका आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित ही है।

\+ जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' और नाशवान् अनित्य वस्तुमात्रको 'असत्' कहते हैं; इन्हींको गीताके सातवें अध्यायमें परा और अपरा प्रकृति तथा पंद्रहवें अध्यायमें अक्षर और क्षर पुरुष कहा गया है। इनसे परे परम अक्षर सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्व है। अर्जुन अपने नमस्कारादिके औचित्यको सिद्ध करते हुए कह रहे हैं कि यह सब आपका ही स्वरूप है। अतएव आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्के परम आश्रय और जाननेवाले* तथा जानने योग्य† और परम धाम‡ हैं । हे अनन्तरूप§ ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है× ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च[1] ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः[2]
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं । आपके लिये हजारों बार नमस्कार ! नमस्कार हो !! आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार ! नमस्कार !! ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार ! हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार हो;+ क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं÷ ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्की स्तुति और प्रणाम करके अब भगवान्के गुण, रहस्य और माहात्म्यको यथार्थ न जाननेके कारण वाणी और क्रियाद्वारा किये गये अपराधोंको क्षमा करनेके लिये भगवान्से अर्जुन प्रार्थना करते हैं—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि[3]
विहारशय्यासनभोजनेषु ।

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप इस भूत, वर्तमान और भविष्य समस्त जगत्को यथार्थ तथा पूर्णरूपसे जाननेवाले, सबके नित्य द्रष्टा हैं; इसलिये आप सर्वज्ञ हैं, आपके सदृश सर्वज्ञ कोई नहीं है (गीता ७ । २६) ।

† इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जो जाननेके योग्य है, जिसको जानना मनुष्यजन्मका परम उद्देश्य है, गीताके तेरहवें अध्यायमें बारहवेंसे सतरहवें श्लोकतक जिस ज्ञेय तत्त्वका वर्णन किया गया है—वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर आप ही हैं ।

‡ इससे अर्जुनने यह बतलाया है कि जो मुक्त पुरुषोंकी परम गति है, जिसे प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं लौटता; वह साक्षात् परम धाम आप ही हैं (गीता ८ । २१)

§ इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके रूप असीम और अगणित हैं, उनका पार कोई पा ही नहीं सकता ।

× इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि सारे विश्वके प्रत्येक परमाणुमें आप व्याप्त हैं, इसका कोई भी स्थान आपसे रहित नहीं है ।

१. इस कथनसे अर्जुनने यह दिखलाया है कि समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले कश्यप, दक्षप्रजापति तथा सप्तर्षि आदिके पिता होनेसे ब्रह्मा सबके पितामह हैं और उन ब्रह्माको भी उत्पन्न करनेवाले आप हैं; इसलिये आप सबके प्रपितामह हैं । इसलिये भी आपको नमस्कार करना सर्वथा उचित ही है ।

२. 'सहस्रकृत्वः' पदके सहित बार-बार 'नमः' पदके प्रयोगसे यह भाव समझना चाहिये कि अर्जुन भगवान्के प्रति सम्मान और अपने भयके कारण हजारों बार नमस्कार करते-करते अघाते ही नहीं हैं, वे उनको नमस्कार ही करना चाहते हैं ।

+ 'सर्व' नामसे सम्बोधित करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबके आत्मा, सर्वव्यापी और सर्वरूप हैं; इसलिये मैं आपको आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें—सभी ओरसे नमस्कार करता हूँ ।

÷ अर्जुन इस कथनसे भगवान्की सर्वताको सिद्ध करते हैं । अभिप्राय यह है कि आपने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है । विश्वमें क्षुद्रसे भी क्षुद्रतम अणुमात्र भी ऐसी कोई जगह या वस्तु नहीं है, जहाँ और जिसमें आप न हों । अतएव सब कुछ आप ही हैं । वास्तवमें आपसे पृथक् जगत् कोई वस्तु ही नहीं है, यही मेरा निश्चय है ।

३. प्रेम, प्रमाद और विनोद—इन तीन कारणोंसे मनुष्य व्यवहारमें किसीके मानापमानका खयाल नहीं रखता । प्रेममें नियम नहीं रहता, प्रमादमें भूल होती है और विनोदमें वाणीकी यथार्थताका सुरक्षित रहना कठिन हो जाता है । किसी सम्मान्य पुरुषके अपमानमें ये तीनों कारण मिलकर भी हेतु हो सकते हैं और पृथक्-पृथक् भी । इनमेंसे 'प्रेम' और 'प्रमाद'—इन कारणोंके विषयमें पिछले श्लोकमें अर्जुन कह चुके हैं । यहाँ 'अवहासार्थम्' पदसे तीसरे कारण 'हँसी-मजाक' का लक्ष्य करा रहे हैं ।

एकोऽथवाप्यच्युत[१] तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

आपके इस प्रभावको न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं ऐसा मानकर प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी मैंने 'हे कृष्ण !' 'हे यादव !' 'हे सखे !' इस प्रकार जो कुछ बिना सोचे-समझे हठात् कहा है* और हे अच्युत ! आप जो मेरे द्वारा विनोदके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिमें अकेले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानित किये गये हैं—वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ† ॥ ४१-४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

आप इस चराचर जगत्‌के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं,‡ हे अनुपम प्रभाववाले ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है ॥ ४३ ॥

तस्मात्[२] प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अतएव हे प्रभो ! मैं शरीरको भलीभाँति चरणोंमें निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको

---

१. अपने महत्त्व और स्वरूपसे जिसका कभी पतन न हो, उसे 'अच्युत' कहते हैं ।

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपकी अप्रतिम और अपार महिमाको न जाननेके कारण ही मैंने आपको अपनी बराबरीका मित्र मान रक्खा था; इसीलिये मैंने बातचीतमें कभी आपके महान् गौरव और सर्वपूज्य महत्त्वका ख्याल नहीं रक्खा; अतः प्रेम या प्रमादसे मेरे द्वारा निश्चय ही बड़ी भूल हुई । बड़े-से-बड़े देवता और महर्षिगण जिन आपके चरणोंकी वन्दना करना अपना सौभाग्य समझते हैं, मैंने उन आपके साथ बराबरीका बर्ताव किया ।

प्रभो ! कहाँ आप और कहाँ मैं ! मैं इतना मूढ़मति हो गया कि आप परम पूजनीय परमेश्वरको मैं अपना मित्र ही मानता रहा और किसी भी आदरसूचक विशेषणका प्रयोग न करके सदा बिना सोचे-समझे 'कृष्ण', 'यादव' और 'सखे' आदि कहकर आपको तिरस्कारपूर्वक पुकारता रहा ।

† यहाँ अर्जुन कह रहे हैं कि प्रभो ! आपका स्वरूप और महत्त्व अचिन्त्य है। उसको पूर्णरूपसे तो कोई भी नहीं जान सकता। किसीको उसका थोड़ा-बहुत ज्ञान होता है तो वह आपकी कृपासे ही होता है । यह आपके परम अनुग्रहका ही फल है कि मैं––जो पहले आपके प्रभावको नहीं जानता था और इसीलिये आपका अनादर किया करता था—अब आपके प्रभावको कुछ-कुछ जान सका हूँ । अवश्य ही ऐसी बात नहीं है कि मैंने आपका सारा प्रभाव जान लिया है; सारा जाननेकी बात तो दूर रही—मैं तो अभी उतना भी नहीं समझ पाया हूँ, जितना आपकी दया मुझे समझा देना चाहती है । परंतु जो कुछ समझा हूँ, उसीसे मुझे यह भलीभाँति मालूम हो गया है कि आप सर्वशक्तिमान् साक्षात् परमेश्वर हैं । मैंने जो आपको अपनी बराबरीका मित्र मानकर आपसे जैसा बर्ताव किया, उसे मैं अपराध मानता हूँ और ऐसे समस्त अपराधोंके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ ।

‡ इस कथनसे अर्जुनने अपराध क्षमा करनेके औचित्यका प्रतिपादन किया है । वे कहते हैं –'भगवन् ! यह सारा जगत् आपहीसे उत्पन्न है, अतएव आप ही इसके पिता हैं; संसारमें जितने भी बड़े-बड़े देवता, महर्षि और अन्यान्य समर्थ पुरुष हैं, उन सबमें सबकी अपेक्षा बड़े ब्रह्माजी हैं; क्योंकि सबसे पहले उन्हींका प्रादुर्भाव होता है और वे ही आपके नित्य ज्ञानके द्वारा सबको यथायोग्य शिक्षा देते हैं; परंतु हे प्रभो ! वे ब्रह्माजी भी आपहीसे उत्पन्न होते हैं और उनको वह ज्ञान भी आपहीसे मिलता है । अतएव हे सर्वेश्वर ! सबसे बड़े, सब बड़ोंसे बड़े और सबके एकमात्र महान् गुरु आप ही हैं । समस्त जगत् जिन देवताओंकी और महर्षियोंकी पूजा करता है, उन देवताओंके और महर्षियोंके भी परम पूज्य तथा नित्य वन्दनीय ब्रह्मा आदि देवता और वसिष्ठादि महर्षि यदि क्षणभरके लिये आपके प्रत्यक्ष पूजन या स्तवनका सुअवसर पा जाते हैं तो अपनेको महान् भाग्यवान् समझते हैं । अतएव सब पूजनीयोंके भी परम पूजनीय आप ही हैं, इसलिये मुझ क्षुद्रके अपराधोंको क्षमा करना आपके लिये सभी प्रकारसे उचित है ।

२. 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके अर्जुन यह कह रहे हैं कि आप इस प्रकारके महत्त्व और प्रभावसे युक्त हैं, अतएव मुझ-जैसे दीन शरणागतपर दया करके प्रसन्न होना तो, मैं समझता हूँ, आपका स्वभाव ही है ।

प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ* । हे देव ! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करते हैं—वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं† ॥ ४४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्से अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करके अब अर्जुन दो श्लोकोंमें भगवान्से चतुर्भुजरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भयसे अति व्याकुल भी हो रहा है,‡ इसलिये आप उस अपने चतुर्भुज विष्णु-रूपको ही मुझे दिखलाइये । हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ,§ इसलिये हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये× ॥ ४६ ॥

---

* जो सबका नियमन करनेवाले स्वामी हों, उन्हें 'ईश' कहते हैं और जो स्तुतिके योग्य हों, उन्हें 'ईड्य' कहते हैं । इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि हे प्रभो ! इस समस्त जगत्का नियमन करनेवाले यहाँतक कि इन्द्र, आदित्य, वरुण, कुबेर और यमराज आदि लोकनियन्ता देवताओंको भी अपने नियममें रखनेवाले आप—सबके एकमात्र महेश्वर हैं और आपके गुणगौरव तथा महत्त्वका इतना विस्तार है कि सारा जगत् सदा-सर्वदा आपका स्तवन करता रहे तब भी उसका पार नहीं पा सकता; इसलिये आप ही वस्तुतः स्तुतिके योग्य हैं । मुझमें न तो इतना ज्ञान है और न वाणीमें ही बल है कि जिससे मैं स्तवन करके आपको प्रसन्न कर सकूँ । मैं अबोध भला आपका क्या स्तवन करूँ ? मैं आपका प्रभाव बतलानेमें जो कुछ भी कहूँगा वह वास्तवमें आपके प्रभावकी छायाको भी न छू सकेगा; इसलिये वह आपके प्रभावको घटानेवाला ही होगा । अतः मैं तो बस, इस शरीरको ही लकड़ीकी भाँति आपके चरणप्रान्तमें लुटाकर—समस्त अङ्गोंके द्वारा आपको प्रणाम करके आपकी चरणधूलिके प्रसादसे ही आपकी प्रसन्नता प्राप्त करना चाहता हूँ । आप कृपा करके मेरे सब अपराधोंको भुला दीजिये और मुझ दीनपर प्रसन्न हो जाइये ।

† यहाँ अर्जुन यह प्रार्थना कर रहे हैं कि जैसे अज्ञानमें प्रमादवश किये हुए पुत्रके अपराधोंको पिता क्षमा करता है, हँसी-मजाकमें किये हुए मित्रके अपराधोंको मित्र सहता है और प्रेमवश किये हुए प्रियतमा पत्नीके अपराधोंको पति क्षमा करता है—वैसे ही मेरे तीनों ही कारणोंसे बने हुए समस्त अपराधोंको आप क्षमा कीजिये ।

१. इससे अर्जुनने यह भाव व्यक्त किया है कि आपका जो वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला देवरूप अर्थात् विष्णु-रूप है, मुझको उसी चतुर्भुजरूपके दर्शन करवाइये । यहाँ केवल 'तत्' का प्रयोग होनेसे तो यह बात भी मानी जा सकती थी कि भगवान्का जो मनुष्यावतारका रूप है, उसीको दिखलानेके लिये अर्जुन प्रार्थना कर रहे हैं; किंतु रूपके साथ 'देव' पद रहनेसे वह स्पष्ट ही मानुषरूपसे भिन्न देवसम्बन्धी रूपका वाचक हो जाता है ।

‡ अर्जुनने इससे यह भाव दिखलाया है कि आपके इस अलौकिक रूपमें जब मैं आपके गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यकी ओर देखकर विचार करता हूँ तब तो मुझे बड़ा भारी हर्ष होता है कि 'अहो ! मैं बड़ा ही सौभाग्यशाली हूँ, जो साक्षात् परमेश्वर-की मुझ तुच्छपर इतनी अनन्त दया और ऐसा अनोखा प्रेम है कि जिससे वे कृपा करके मुझको अपना यह अलौकिक रूप दिखला रहे हैं; परंतु इसीके साथ जब आपकी भयावनी विकराल मूर्तिकी ओर मेरी दृष्टि जाती है, तब मेरा मन भयसे काँप उठता है और मैं अत्यन्त व्याकुल हो जाता हूँ ।

२. अर्जुनको भगवान् जो हजारों हाथोंवाले विराट्स्वरूपसे दर्शन दे रहे हैं, उस रूपको समेटकर चतुर्भुजरूप होनेके लिये अर्जुन 'सहस्रबाहो' 'विश्वमूर्ते'—इन नामोंसे सम्बोधन करके भगवान्से प्रार्थना कर रहे हैं ।

§ महाभारत-युद्धमें भगवान्ने शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी और अर्जुनके रथपर वे अपने हाथोंमें चाबुक और घोड़ोंकी लगाम थामे विराजमान थे; परंतु इस समय अर्जुन भगवान्के इस द्विभुज रूपको देखनेसे पहले उस चतुर्भुज रूपको देखना चाहते हैं, जिसके हाथोंमें गदा और चक्रादि हैं ।

× (१) यदि चतुर्भुज रूप श्रीकृष्णका स्वाभाविक रूप होता तो फिर 'गदिनम्' और 'चक्रहस्तम्' कहनेकी कोई

सम्बन्ध—अर्जुनकी प्रार्थनापर अब अगले दो श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपकी महिमा और दुर्लभताका वर्णन करते हुए उन्चासवें श्लोकमें अर्जुनको आश्वासन देकर चतुर्भुजरूप देखनेके लिये कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे* यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट् रूप तुझको दिखलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीने पहले नहीं देखा था† ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

आवश्यकता न थी, क्योंकि अर्जुन उस रूपको सदा देखते ही थे। वरं 'चतुर्भुज' कहना भी निष्प्रयोजन था; अर्जुनका इतना ही कहना पर्याप्त होता कि मैं अभी कुछ देर पहले जो रूप देख रहा था, वही दिखलाइये।

(२) पिछले श्लोकमें 'देवरूपम्' पद आया है, जो आगे इक्यावनवें श्लोकमें आये हुए 'मानुषं रूपम्' से सर्वथा विलक्षण अर्थ रखता है; इससे भी सिद्ध है कि देवरूपसे श्रीविष्णुका ही कथन किया गया है।

(३) आगे पचासवें श्लोकमें आये हुए 'स्वकं रूपम्' के साथ 'भूयः' और 'सौम्यवपुः' के साथ 'पुनः' पद आनेसे भी यहाँ पहले चतुर्भुज और फिर द्विभुज मानुषरूप दिखलाया जाना सिद्ध होता है।

(४) आगे बावनवें श्लोकमें 'सुदुर्दर्शम्' पदसे यह दिखलाया गया है कि यह रूप अत्यन्त दुर्लभ है और फिर कहा गया है कि देवता भी इस रूपको देखनेकी नित्य आकांक्षा करते हैं। यदि श्रीकृष्णका चतुर्भुज रूप स्वाभाविक था, तब तो वह रूप मनुष्योंको भी दीखता था; फिर देवता उसकी सदा आकांक्षा क्यों करने लगे? यदि यह कहा जाय कि विश्वरूपके लिये ऐसा कहा गया है तो ऐसे घोर विश्वरूपकी देवताओंको कल्पना भी क्यों होने लगी, जिसकी दाढ़ोंमें भीष्म-द्रोणादि चूर्ण हो रहे हैं। अतएव यही प्रतीत होता है कि देवतागण वैकुण्ठवासी श्रीविष्णुरूपके दर्शनकी ही आकांक्षा करते हैं।

(५) विराट् स्वरूपकी महिमा आगे अड़तालीसवें श्लोकमें 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' इत्यादिके द्वारा गायी गयी, फिर तिरपनवें श्लोकमें 'नाहं वेदैर्न तपसा' आदिमें पुनः वैसी ही बात आती है। यदि दोनों जगह एक ही विराट् रूपकी महिमा है तो इसमें पुनरुक्तिदोष आता है; इससे भी सिद्ध है कि मानुषरूप दिखलानेके पहले भगवान्ने अर्जुनको चतुर्भुज देवरूप दिखलाया और उसीकी महिमामें तिरपनवाँ श्लोक कहा गया।

(६) इसी अध्यायके चौबीसवें और तीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने 'विष्णो' पदसे भगवान्को सम्बोधित भी किया है। इससे भी उनके विष्णुरूप देखनेकी आकांक्षा प्रतीत होती है।

इन हेतुओंसे यही सिद्ध होता है कि यहाँ अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे चतुर्भुज विष्णुरूप दिखलानेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं।

* इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे इस विराट् रूपके दर्शन सब समय और सबको नहीं हो सकते। जिस समय मैं अपनी योगशक्तिसे इसके दर्शन कराता हूँ, उसी समय होते हैं। वह भी उसीको होते हैं, जिसको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो, दूसरेको नहीं। अतएव इस रूपका दर्शन प्राप्त करना बड़े सौभाग्यकी बात है।

† यद्यपि यशोदा माताको अपने मुखमें और भीष्मादि वीरोंको कौरवोंकी सभामें विराट् रूपोंके दर्शन कराये थे, परंतु उनमें और अर्जुनको दीखनेवाले इस विराट् रूपमें बहुत अन्तर है। तीनोंके भिन्न-भिन्न वर्णन हैं। अर्जुनको भगवान्ने जिस रूपके दर्शन कराये, उसमें भीष्म और द्रोण आदि शूरवीर भगवान्के प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश करते दीख पड़ते थे। ऐसा विराट् रूप भगवान्ने पहले कभी किसीको नहीं दिखलाया था।

१. वेद-यज्ञादिके अध्ययन, दान, तप तथा अन्यान्य विभिन्न प्रकारकी क्रियाओंका अधिकार मनुष्यलोकमें ही है और मनुष्यशरीरमें ही जीव भिन्न-भिन्न प्रकारके नवीन कर्म करके भाँति-भाँतिके अधिकार प्राप्त करता है। अन्यान्य सब लोक तो प्रधानतया भोगस्थान ही हैं। मनुष्यलोकके इसी महत्त्वको समझानेके लिये यहाँ 'नृलोके' पदका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि जब मनुष्यलोकमें भी उपर्युक्त साधनोंद्वारा दूसरा कोई भगवान्के इस रूपको नहीं देख सकता, तब अन्यान्य लोकोंमें और बिना किसी साधनके कोई नहीं देख सकता—इसमें तो कहना ही क्या है!

हे अर्जुन ! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ* ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

मेरे इस प्रकारके इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिये । तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूपको फिर देख ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

संजय बोले—वासुदेव† भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूपको दिखलाया और फिर महात्मा श्रीकृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुनको धीरज दिया‡ ॥ ५० ॥

* वेदवेत्ता अधिकारी आचार्यके द्वारा अङ्ग-उपाङ्गोंसहित वेदोंको पढ़कर उन्हें भलीभाँति समझ लेनेका नाम 'वेदाध्ययन' है । यज्ञ-क्रियामें सुनिपुण याज्ञिक पुरुषोंकी सेवामें रहकर उनके द्वारा यज्ञविधियोंको पढ़ना और उन्हींकी अध्यक्षतामें विधिवत् किये जानेवाले यज्ञोंको प्रत्यक्ष देखकर यज्ञसम्बन्धी समस्त क्रियाओंको भलीभाँति जान लेना 'यज्ञका अध्ययन' है ।

धन, सम्पत्ति, अन्न, जल, विद्या, गौ, पृथ्वी आदि किसी भी अपने स्वत्वकी वस्तुका दूसरोंके सुख और हितके लिये प्रसन्न हृदयसे जो उन्हें यथायोग्य दे देना है—इसका नाम 'दान' है ।

श्रौत-स्मार्त यज्ञादिका अनुष्ठान और अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेके लिये किये जानेवाले समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको 'क्रिया' कहते हैं ।

कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत, विभिन्न प्रकारके कठोर नियमोंका पालन, मन और इन्द्रियोंका विवेक और बलपूर्वक दमन तथा धर्मके लिये शारीरिक या मानसिक कठिन क्लेशोंका सहन, अथवा शास्त्रविधिके अनुसार की जानेवाली अन्य विभिन्न प्रकारकी तपस्याएँ—इन्हीं सबका नाम 'उग्र तप' है ।

इन सब साधनोंके द्वारा भी अपने विराट् स्वरूपके दर्शनको असम्भव बतलाकर भगवान् उस रूपकी महत्ता प्रकट करते हुए यह कह रहे हैं कि इस प्रकारके महान् प्रयत्नोंसे भी जिसके दर्शन नहीं हो सकते, उसी रूपको तुम मेरी प्रसन्नता और कृपाके प्रसादसे प्रत्यक्ष देख रहे हो—यह तुम्हारा महान् सौभाग्य है । इस समय तुम्हें जो भय, दुःख और मोह हो रहा है—यह उचित नहीं है ।

१. 'स्वकं रूपम्'का अर्थ है अपना निजी रूप । वैसे तो विश्वरूप भी भगवान् श्रीकृष्णका ही है और वह भी उनका स्वकीय ही है तथा भगवान् जिस मानुषरूपमें सबके सामने प्रकट रहते थे—वह श्रीकृष्णरूप भी उनका स्वकीय ही है; किंतु यहाँ 'रूपम्'के साथ 'स्वकम्' विशेषण देनेका अभिप्राय उक्त दोनोंसे भिन्न किसी तीसरे ही रूपका लक्ष्य करानेके लिये होना चाहिये; क्योंकि विश्वरूप तो अर्जुनके सामने प्रस्तुत था ही, उसे देखकर तो वे भयभीत हो रहे थे; अतएव उसे दिखलानेकी तो यहाँ कल्पना भी नहीं की जा सकती और मानुषरूपके लिये यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि उसे भगवान्‌ने दिखलाया (दर्शयामास); क्योंकि विश्वरूपको हटा लेनेके बाद भगवान्‌का जो स्वाभाविक मनुष्यावतारका रूप है, वह तो ज्यों का-त्यों अर्जुनके सामने रहता ही; उसमें दिखलानेकी क्या बात थी, उसे तो अर्जुन स्वयं ही देख लेते । अतएव यहाँ 'स्वकम्' विशेषण और 'दर्शयामास' क्रियाके प्रयोगसे यही भाव प्रतीत होता है कि नरलीलाके लिये प्रकट किये हुए सबके सम्मुख रहनेवाले मानुषरूपसे और अपनी योगशक्तिसे प्रकट करके दिखलाये हुए विश्वरूपसे भिन्न जो नित्य वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला भगवान्‌का दिव्य चतुर्भुज निजी रूप है—उसीको देखनेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी और वही रूप भगवान्‌ने उनको दिखलाया ।

† भगवान् श्रीकृष्ण महाराज वसुदेवजीके पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं और आत्मरूपसे सबमें निवास करते हैं, इसलिये उनका नाम 'वासुदेव' है ।

‡ जिनका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् हो, उन्हें महात्मा कहते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मरूप हैं, इसलिये वे महात्मा हैं । कहनेका अभिप्राय यह है कि अर्जुनको अपने चतुर्भुज रूपका दर्शन करानेके पश्चात् महात्मा श्रीकृष्णने सौम्य अर्थात् परम शान्त श्यामसुन्दर मानुषरूपसे युक्त होकर भयसे व्याकुल हुए अर्जुनको धैर्य दिया ।



भगवान् विष्णु

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपने विश्वरूपको संवरण करके चतुर्भुजरूपके दर्शन देनेके पश्चात् जब स्वाभाविक मानुषरूपसे युक्त होकर अर्जुनको आश्वासन दिया, तब अर्जुन सावधान होकर कहने लगे—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं[1] जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ५१॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ*॥ ५१॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके वचन सुनकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा अपने चतुर्भुज देवरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महिमाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं[2] रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ५२॥

श्रीभगवान् बोले—मेरा जो चतुर्भुज रूप तुमने देखा है, यह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं। देवता भी सदा इस रूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा करते रहते हैं॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ५३॥

जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—इस प्रकार चतुर्भुज-रूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ†॥ ५३॥

सम्बन्ध—यदि उपर्युक्त उपायोंसे आपके दर्शन नहीं हो सकते तो किस उपायसे हो सकते हैं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ ५४॥

परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये‡, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ॥ ५४॥

---

१. भगवान्का जो मानुषरूप था, वह बहुत ही मधुर, सुन्दर और शान्त था तथा पिछले श्लोकमें जो भगवान्के सौम्यवपु हो जानेकी बात कही गयी है, वह भी मानुषरूपको लक्ष्य करके ही कही गयी है—इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'रूपम्' के साथ 'सौम्यम्' और 'मानुषम्' इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग किया गया है।

* इससे अर्जुनने यह बतलाया कि मेरा मोह, भ्रम और भय दूर हो गया और मैं अपनी वास्तविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ। अर्थात् भय और व्याकुलता एवं कम्प आदि जो अनेक प्रकारके विकार मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरमें उत्पन्न हो गये थे, उन सबके दूर हो जानेसे अब मैं पूर्ववत् स्वस्थ हो गया हूँ।

२. 'सुदुर्दर्शम्' विशेषण देकर भगवान्ने अपने चतुर्भुज दिव्यरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महत्ता दिखलायी है तथा 'इदम्' पद निकटवर्ती वस्तुका निर्देश करानेवाला होनेसे इसके द्वारा विश्वरूपके पश्चात् दिखलाये जानेवाले चतुर्भुज रूपका संकेत किया गया है। इससे भगवान् यह बतला रहे हैं कि मेरे जिस चतुर्भुज, मायातीत, दिव्य गुणोंसे युक्त नित्यरूपके तुमने दर्शन किये हैं, उस रूपके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं; इसके दर्शन उसीको हो सकते हैं, जो मेरा अनन्य भक्त होता है और जिसपर मेरी कृपाका पूर्ण प्रकाश हो जाता है।

† गीताके नवम अध्यायके सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोकोंमें यह कहा गया है कि तुम जो कुछ यज्ञ करते हो, दान देते हो और तप करते हो—सब मेरे अर्पण कर दो; ऐसा करनेसे तुम सब कर्मोंसे मुक्त हो जाओगे और मुझे प्राप्त हो जाओगे तथा गीताके सतरहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि मोक्षकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ फलकी इच्छा छोड़कर की जाती हैं; इससे यह भाव निकलता है कि यज्ञ, दान और तप मुक्तिमें और भगवान्की प्राप्तिमें अवश्य ही हेतु हैं, किंतु इस श्लोकमें भगवान्ने यह बात कही है कि मेरे चतुर्भुज रूपके दर्शन न तो वेदके अध्ययनाध्यापनसे ही हो सकते हैं और न तप, दान और यज्ञसे ही।

पर इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है, क्योंकि कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना अनन्यभक्तिका एक अङ्ग है। इसी अध्यायके पचपनवें श्लोकमें अनन्य भक्तिका वर्णन करते हुए भगवान्ने स्वयं 'मत्कर्मकृत्' (मेरे लिये कर्म करनेवाला) पदका प्रयोग किया है और चौवनवें श्लोकमें यह स्पष्ट घोषणा की है कि अनन्य भक्तिके द्वारा मेरे इस स्वरूपको देखना, जानना और प्राप्त करना सम्भव है। अतएव यहाँ यह समझना चाहिये कि निष्कामभावसे भगवदर्थ और भगवदर्पणबुद्धिसे किये हुए यज्ञ, दान और तप आदि कर्म भक्तिके अङ्ग होनेके कारण भगवान्की प्राप्ति में हेतु हैं—सकामभावसे किये जाने-पर नहीं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त यज्ञादि क्रियाएँ भगवान्का दर्शन करानेमें स्वभावसे समर्थ नहीं हैं। भगवान्के दर्शन तो प्रेमपूर्वक भगवान्के शरण होकर निष्कामभावसे कर्म करनेपर भगवत्कृपासे ही होते हैं।

‡ भगवान्में ही अनन्य प्रेम हो जाना तथा अपने मन, इन्द्रिय और शरीर एवं धन, जन आदि सर्वस्वको भगवान्का

सम्बन्ध—अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्‌को देखना, जानना और एकीभावसे प्राप्त करना सुलभ बतलाया जानेके कारण अनन्य भक्तिका स्वरूप जाननेकी आकाङ्क्षा होनेपर अब अनन्य भक्तके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है* ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ भीष्मपर्वणि तु पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥ भीष्मपर्वमें पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

समझकर भगवान्‌के लिये भगवान्‌की ही सेवामें सदाके लिये लगा देना—यही अनन्य भक्ति है। इस अनन्य भक्तिको ही भगवान्‌के देखे जाने आदिमें हेतु बतलाया गया है।

यद्यपि सांख्ययोगके द्वारा भी निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है और वह सर्वथा सत्य है, परंतु सांख्ययोगके द्वारा सगुण-साकार भगवान्‌के दिव्य चतुर्भुज रूपके भी दर्शन हो जायँ, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सांख्ययोगके द्वारा साकाररूपमें दर्शन देनेके लिये भगवान् बाध्य नहीं हैं। यहाँ प्रकरण भी सगुण भगवान्‌के दर्शनका ही है। अतएव यहाँ केवल अनन्य भक्तिको ही भगवद्दर्शन आदिमें हेतु बतलाना उचित ही है।

१. जो मनुष्य स्वार्थ, ममता और आसक्तिको छोड़कर, सब कुछ भगवान्‌का समझकर, अपनेको केवल निमित्तमात्र मानता हुआ यज्ञ, दान, तप और खान-पान, व्यवहार आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको निष्कामभावसे भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये भगवान्‌के आज्ञानुसार करता है—वह 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् भगवान्‌के लिये भगवान्‌के कर्मोंको करनेवाला है।

२. जो भगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति, एकमात्र शरण लेने योग्य, सर्वोत्तम, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद्, परम आत्मीय और अपने सर्वस्व समझता है तथा उनके किये हुए प्रत्येक विधानमें सदा सुप्रसन्न रहता है—वह 'मत्परमः' अर्थात् भगवान्‌के परायण है।

३. भगवान्‌में अनन्यप्रेम हो जानेके कारण जो भगवान्‌में ही तन्मय होकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और लीला आदिका श्रवण, कीर्तन और मनन आदि करता रहता है; इनके बिना जिसे क्षणभर भी चैन नहीं पड़ती और जो भगवान्‌के दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ निरन्तर लालायित रहता है—वह 'मद्भक्तः' अर्थात् भगवान्‌का भक्त है।

४. शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन, कुटुम्ब तथा मान-बड़ाई आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग्य पदार्थ हैं, उन सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंमें जिसकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं रह गयी है; भगवान्‌को छोड़कर जिसका किसीमें भी प्रेम नहीं है—वह 'सङ्गवर्जितः' अर्थात् आसक्तिरहित है।

५. समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का ही स्वरूप समझने अथवा सबमें एकमात्र भगवान्‌को व्याप्त समझनेके कारण किसीके द्वारा कितना भी विपरीत व्यवहार किया जानेपर भी जिसके मनमें विकार नहीं होता तथा जिसका किसी भी प्राणीमें किंचिन्मात्र भी द्वेष या वैरभाव नहीं रह गया है—वह 'सर्वभूतेषु निर्वैरः' अर्थात् समस्त प्राणियोंमें वैर-भावसे रहित है।

* इस कथनका भाव पिछले चौवनवें श्लोकके अनुसार सगुण भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन कर लेना, उनको भलीभाँति तत्त्वसे जान लेना और उनमें प्रवेश कर जाना है।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वादशोऽध्यायः)

साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय तथा भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं भगवत्प्राप्तिवाले पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके दूसरे अध्यायसे लेकर छठे अध्यायतक भगवान्‌ने जगह-जगह निर्गुण ब्रह्मकी और सगुण परमेश्वरकी उपासनाकी प्रशंसा की है। सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक तो विशेषरूपसे सगुण भगवान्‌की उपासनाका महत्त्व दिखलाया है। इसीके साथ पाँचवें अध्यायमें सतरहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक, छठे अध्यायमें चौबीसवेंसे उन्तीसवेंतक, आठवें अध्यायमें ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक तथा इसके सिवा और भी कितनी ही जगह निर्गुणकी उपासनाका महत्त्व भी दिखलाया है। आखिर ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें सगुण-साकार भगवान्‌की अनन्यभक्तिका फल भगवत्प्राप्ति बतलाकर 'मत्कर्मकृत्' से आरम्भ होनेवाले इस अन्तिम श्लोकमें सगुण-साकार-स्वरूप भगवान्‌के भक्तकी विशेषरूपसे बड़ाई की। इसपर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी और सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले दोनों प्रकारके उपासकोंमें उत्तम उपासक कौन है—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।*
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

अर्जुन बोले—जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं,† वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं॥ २॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें सगुण-साकार परमेश्वरके उपासकोंको उत्तम योगवेत्ता बतलाया, इसपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि तो क्या निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासक उत्तम योगवेत्ता नहीं हैं; इसपर कहते हैं—

---

* 'त्वाम्' पद यद्यपि यहाँ भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है, तथापि भिन्न-भिन्न अवतारोंमें भगवान्‌ने जितने सगुण रूप धारण किये हैं एवं दिव्य धाममें जो भगवान्‌का सगुण रूप विराजमान है—जिसे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार लोग अनेकों रूपों और नामोंसे बतलाते हैं—यहाँ 'त्वाम्' पदको उन सभीका वाचक मानना चाहिये; क्योंकि वे सभी भगवान् श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं। उन सगुण भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते हुए परम श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे जो समस्त इन्द्रियोंको उनकी सेवामें लगा देना है, यही निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहकर उनकी श्रेष्ठ उपासना करना है।

१. 'अक्षरम्' विशेषणके सहित 'अव्यक्तम्' पद यहाँ निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। यद्यपि जीवात्माको भी अक्षर और अव्यक्त कहा जा सकता है, पर अर्जुनके प्रश्नका अभिप्राय उसकी उपासनासे नहीं है; क्योंकि उसके उपासकका सगुण भगवान्‌के उपासकसे उत्तम होना सम्भव नहीं है और पूर्व प्रसङ्गमें कहीं उसकी उपासनाका भगवान्‌ने विधान भी नहीं किया है।

२. भगवान्‌की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, उनके वचनोंमें, उनकी शक्तिमें, उनके गुण, प्रभाव, लीला और ऐश्वर्य आदिमें अत्यन्त सम्मानपूर्वक जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है—वही अतिशय श्रद्धा है और भक्त प्रह्लादकी भाँति सब प्रकारसे भगवान्‌पर निर्भर हो जाना ही उपर्युक्त श्रद्धासे युक्त होना है।

† गोपियोंकी भाँति समस्त कर्म करते समय परम प्रेमास्पद, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सम्पूर्ण गुणोंके समुद्र भगवान्‌में मनको तन्मय करके उनके गुण, प्रभाव और स्वरूपका सदा-सर्वदा प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहना ही मनको एकाग्र करके निरन्तर उनके ध्यानमें स्थित रहते हुए उनको भजना है। श्रीमद्भागवतमें बतलाया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥ (१०। ४४। १५)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे (अभिन्नभावसे) ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत* और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं† ॥ ३-४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार निर्गुण-उपासना और उसके फलका प्रतिपादन करनेके पश्चात् अब देहाभिमानियोंके लिये अव्यक्त गतिकी प्राप्तिको कठिन बतलाते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है,‡ क्योंकि देहाभिमानियोंके-द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है§ ॥ ५ ॥

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं ।'

१. जिसका निर्देश नहीं किया जा सकता हो—किसी भी युक्ति या उपमासे जिसका स्वरूप समझाया या बतलाया नहीं जा सकता हो, उसे 'अनिर्देश्य' कहते हैं ।

२. जो किसी भी इन्द्रियका विषय न हो अर्थात् जो इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें न आ सके, जिसका कोई रूप या आकृति न हो, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं ।

३. जो हलन-चलनकी क्रियासे सर्वथा रहित हो, उसे 'अचल' कहते हैं ।

४. जो नित्य और निश्चित हो—जिसकी सत्तामें किसी प्रकारका संशय न हो और जिसका कभी अभाव न हो, उसे 'ध्रुव' कहते हैं ।

५. इससे यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना करनेवालोंकी कहीं भेदबुद्धि नहीं रहती । समस्त जगत्में एक ब्रह्मसे भिन्न किसीकी सत्ता न रहनेके कारण उनकी सब जगह समबुद्धि हो जाती है ।

* जिस प्रकार अविवेकी मनुष्य अपने हितमें रत रहता है, उसी प्रकार उन निर्गुण-उपासकोंका सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मभाव हो जानेके कारण वे समानभावसे सबके हितमें रत रहते हैं ।

† इस कथनसे भगवान्ने ब्रह्मको अपनेसे अभिन्न बतलाते हुए यह कहा है कि उपर्युक्त उपासनाका फल जो निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति है, वह मेरी ही प्राप्ति है; क्योंकि ब्रह्म मुझसे भिन्न नहीं है और मैं ब्रह्मसे भिन्न नहीं हूँ । वह ब्रह्म मैं ही हूँ, यही भाव भगवान्ने गीताके चौदहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' अर्थात् मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ—इस कथनसे दिखलाया है ।

‡ पूर्व श्लोकोंमें जिन निर्गुण-उपासकोंका वर्णन है, उन निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें आसक्तचित्तवाले पुरुषोंको परिश्रम विशेष है, यह कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व बड़ा ही गहन है; जिसकी बुद्धि शुद्ध, स्थिर और सूक्ष्म होती है, जिसका शरीरमें अभिमान नहीं होता, वही उसे समझ सकता है; साधारण मनुष्योंकी समझमें यह नहीं आता । इसलिये निर्गुणउपासनाके साधनके आरम्भकालमें परिश्रम अधिक होता है ।

§ उपर्युक्त कथनसे भगवान्ने पूर्वार्द्धमें बतलाये हुए परिश्रमका हेतु दिखलाया है । अभिप्राय यह है कि देहमें अभिमान रहते निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व समझमें आना बहुत कठिन है । इसलिये जिनका शरीरमें अभिमान है, उनको वैसी स्थिति बड़े परिश्रमसे प्राप्त होती है ।

किंतु जो गीताके छठे अध्यायके चौबीसवेंसे सत्ताईसवें श्लोकतक निर्गुण-उपासनाका प्रकार बतलाकर अट्ठाईसवें श्लोकमें उस प्रकारका साधन करते-करते सुखपूर्वक परमात्मप्राप्तिरूप अत्यन्तानन्दका लाभ होना बतलाया है, वह कथन जिसके समस्त पाप तथा रजोगुण और तमोगुण शान्त हो गये हैं, जो 'ब्रह्मभूत' हो गया है अर्थात् जो ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित हो गया है—ऐसे पुरुषके लिये है, देहाभिमानियोंके लिये नहीं ।



भगवान्‌के द्वारा भक्तका संसारसागरसे उद्धार

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले* भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके† मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्यभक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं‡ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ§ ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार पूर्वश्लोकोंमें निर्गुण-उपासनाकी अपेक्षा सगुण-उपासनाकी सुगमताका प्रतिपादन किया गया । इसलिये अब भगवान् अर्जुनको उसी प्रकार मन-बुद्धि लगाकर सगुण-उपासना करनेकी आज्ञा देते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा,× इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ८ ॥

---

* भाँति-भाँतिके दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति भगवान्पर निर्भर और निर्विकार रहना, उन दुःखोंको भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सुखरूप ही समझना तथा भगवान्को ही परम प्रेमी, परम गति, परम सुहृद् और सब प्रकारसे शरण लेनेयोग्य समझकर अपने आपको भगवान्के समर्पण कर देना—यही भगवान्के परायण होना है ।

† कर्मोंके करनेमें अपनेको पराधीन समझकर भगवान्की आज्ञा और संकेतके अनुसार समस्त शास्त्रानुकूल कर्म करते रहना; उन कर्मोंमें न तो ममता और आसक्ति रखना और न उनके फलसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखना; प्रत्येक क्रियामें ऐसा ही भाव रखना कि मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ, मेरी कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मुझसे कठपुतलीकी भाँति समस्त कर्म करवा रहे हैं—यही समस्त कर्मोंका भगवान्के समर्पण करना है ।

‡ एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर जो भगवान्में स्वार्थरहित तथा अत्यन्त श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना है—जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष नहीं है; जो सर्वथा पूर्ण और अटल है; जिसका किंचित् अंश भी भगवान्से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्की विस्मृति असह्य हो जाती है—उस अनन्य प्रेमको 'अनन्य भक्तियोग' कहते हैं और ऐसे भक्तियोगद्वारा निरन्तर भगवान्का चिन्तन करते हुए जो उनके गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन, उनके नामोंका उच्चारण और जप आदि करना है—यही अनन्य भक्तियोगके द्वारा भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते हुए उनको भजना है ।

§ इस संसारमें सभी कुछ मृत्युमय है; इसमें पैदा होनेवाली एक भी चीज ऐसी नहीं है, जो कभी क्षणभरके लिये भी मृत्युके आक्रमणसे बचती हो । जैसे समुद्रमें असंख्य लहरें उठती रहती हैं, वैसे ही इस अपार संसार-सागरमें अनवरत जन्म-मृत्युरूपी तरंगें उठा करती हैं। समुद्रकी लहरोंकी गणना चाहे हो जाय; पर जबतक परमेश्वरकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक भविष्यमें जीवको कितनी बार जन्मना और मरना पड़ेगा- इसकी गणना नहीं हो सकती । इसीलिये इसको 'मृत्युरूप संसार-सागर' कहते हैं ।

जो भक्त मन-बुद्धिको भगवान्में लगाकर निरन्तर भगवान्की उपासना करते हैं, उनको भगवान् तत्काल ही जन्म-मृत्युसे सदाके लिये छुड़ाकर अपनी प्राप्ति यहीं करा देते हैं अथवा मरनेके बाद अपने परम धाममें ले जाते हैं—अर्थात् जैसे केवट किसीको नौकामें बैठाकर नदीसे पार कर देता है, वैसे ही भक्तिरूपी नौकापर स्थित भक्तके लिये भगवान् स्वयं केवट बनकर, उसकी समस्त कठिनाइयों और विपत्तियोंको दूर करके बहुत शीघ्र उसे भीषण संसार-समुद्रके उस पार अपने परमधाममें ले जाते हैं । यही भगवान्का अपने उपर्युक्त भक्तको मृत्युरूप संसारसे पार कर देना है ।

× जो सम्पूर्ण चराचर संसारको व्याप्त करके सबके हृदयमें स्थित हैं और जो दयालुता, सर्वज्ञता, सुशीलता तथा सुहृदता आदि अनन्त गुणोंके समुद्र हैं, उन परम दिव्य, प्रेममय और आनन्दमय, सर्वशक्तिमान्, सर्वोत्तम, शरण लेनेके योग्य परमेश्वरके गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व तथा रहस्यको भलीभाँति समझकर उनका सदा-सर्वदा और सर्वत्र अटल निश्चय रखना—यही बुद्धिको भगवान्में लगाना है तथा इस प्रकार अपने परम प्रेमास्पद पुरुषोत्तम भगवान्के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयोंसे आसक्तिको सर्वथा हटाकर मनको केवल उन्हींमें तन्मय कर देना और नित्य-निरन्तर उपर्युक्त प्रकारसे उनका चिन्तन करते रहना—यही मनको भगवान्में लगाना है । इस प्रकार जो अपने मन-बुद्धिको भगवान्में लगा देता है, वह शीघ्र ही भगवान्को प्राप्त हो जाता है ।

इसलिये भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जाननेवाले महापुरुषोंका संग, उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण तथा भोग, आलस्य और प्रमादको छोड़कर उनके बतलाये हुए मार्गका विश्वासपूर्वक तत्परताके साथ अनुसरण करना चाहिये ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर* ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा† । इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही

* भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌में नाना प्रकारकी युक्तियोंसे चित्तको स्थापन करनेका जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसे 'अभ्यासयोग' कहते हैं । अतः भगवान्‌के जिस नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें साधककी श्रद्धा और प्रेम हो, उसीमें केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही बार-बार मन लगानेके लिये प्रयत्न करना अभ्यासयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा करना है ।

भगवान्‌में मन लगानेके साधन शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके बतलाये गये हैं, उनमेंसे निम्नलिखित कतिपय साधन सर्वसाधारणके लिये विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं—

(१) सूर्यके सामने आँखें मूँदनेपर मनके द्वारा सर्वत्र समभावसे जो एक प्रकाशका पुञ्ज प्रतीत होता है, उससे भी हजारों गुना अधिक प्रकाशका पुञ्ज भगवत्स्वरूपमें है—इस प्रकार मनसे निश्चय करके परमात्माके उस तेजोमय ज्योतिःस्वरूपमें चित्त लगानेके लिये बार-बार चेष्टा करना ।

(२) जैसे दियासलाईमें अग्नि व्यापक है, वैसे ही भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं—यह समझकर जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ ही गुण और प्रभावसहित सर्वशक्तिमान् परम प्रेमास्पद परमेश्वरके स्वरूपका प्रेमपूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन करते रहना ।

(३) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर भगवान् विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि जो भी अपने इष्टदेव हों, उनकी मानसिक या धातु आदिसे निर्मित मूर्तिमें अथवा चित्रपटमें या उनके नाम-जपमें श्रद्धा और प्रेमके साथ पुनः-पुनः मन लगानेका प्रयत्न करना ।

(४) भ्रमरके गुंजारकी तरह एकतार ओङ्कारकी ध्वनि करते हुए उस ध्वनिमें परमेश्वरके स्वरूपका पुनः-पुनः चिन्तन करना ।

(५) स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासके साथ-साथ भगवान्‌के नामका जप नित्य-निरन्तर होता रहे—इसके लिये प्रयत्न करना ।

(६) परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित्र और प्रभावके रहस्यको जाननेके लिये तद्विषयक शास्त्रोंका पुनः-पुनः अभ्यास करना ।

(७) गीताके चौथे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकके अनुसार प्राणायामका अभ्यास करना ।

इनमेंसे कोई-सा भी अभ्यास यदि श्रद्धा और विश्वास तथा लगनके साथ किया जाय तो क्रमशः सम्पूर्ण पापों और विघ्नोंका नाश होकर अन्तमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है । इसलिये बड़े उत्साह और तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये । साधकोंकी स्थिति, अधिकार तथा साधनकी गतिके तारतम्यसे फलकी प्राप्तिमें देर-सवेर हो सकती है । अतएव शीघ्र फल न मिले तो कठिन समझकर, ऊबकर या आलस्यके वश होकर न तो अपने अभ्यासको छोड़ना ही चाहिये और न उसमें किसी प्रकार कमी ही आने देनी चाहिये; बल्कि उसे बढ़ाते रहना चाहिये ।

† इस श्लोकमें कहे हुए 'मत्कर्म' शब्दसे उन कर्मोंको समझना चाहिये जो केवल भगवान्‌के लिये ही होते हैं या भगवत्-सेवा-पूजाविषयक होते हैं तथा जिन कर्मोंमें अपना जरा भी स्वार्थ, ममत्व और आसक्ति आदिका सम्बन्ध नहीं होता। गीताके ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भी 'मत्कर्मकृत्' पदमें 'मत्कर्म' शब्द आया है, वहाँ भी इसकी व्याख्या की गयी है ।

एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय और परम गति मानना और केवल उन्हींकी प्रसन्नताके लिये परम श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ मन, वाणी और शरीरसे उनकी सेवा-पूजा आदि तथा यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंको अपना कर्तव्य समझकर निरन्तर करते रहना—यही उन कर्मोंके परायण होना है ।

प्राप्त होगा* ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११ ॥

यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मोंके फलका त्याग कर† ॥ ११ ॥

* इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार कर्मोंका करना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र और सुगम साधन है। जैसे भजन-ध्यानरूपी साधन करनेवालोंको मेरी प्राप्ति होती है, वैसे ही मेरे लिये कर्म करनेवालोंको भी मैं प्राप्त हो सकता हूँ। अतएव मेरे लिये कर्म करना पूर्वोक्त साधनोंकी अपेक्षा किसी अंशमें भी निम्न श्रेणीका साधन नहीं है।

१. इस अध्यायके नवें श्लोकमें 'अभ्यासयोग' बतलाया गया है और भगवान्में मन-बुद्धि लगानेके लिये जितने भी साधन हैं, सभी अभ्यासयोगके अन्तर्गत आ जाते हैं—इस कारण वहाँ 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है और दसवें श्लोकमें भक्तियुक्त कर्मयोगका वर्णन है, उसमें भगवान्का आश्रय है और साधकके समस्त कर्म भी भगवदर्थ ही होते हैं; अतएव उसमें भी 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहना प्रयोजनीय नहीं है, परंतु इस श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप कर्मयोगका साधन बतलाया गया है, इसमें मन-बुद्धिको वशमें रक्खे बिना काम नहीं चल सकता; क्योंकि वर्णाश्रमोचित समस्त व्यावहारिक कर्म करते हुए यदि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर आदि वशमें न हों तो उनकी भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामना हो जाना बहुत ही सहज है और ऐसा होनेपर 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधन बन नहीं सकता। इसीलिये यहाँ 'यतात्मवान्' पदका प्रयोग करके मन-बुद्धि आदिको वशमें रखनेके लिये विशेष सावधान किया गया है।

† यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमानुसार जीविका तथा शरीरनिर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रसम्मत सभी कर्मोंको यथायोग्य करते हुए, इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप जो उनका फल है, उसमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही 'सब कर्मोंका फलत्याग करना' है।

इस अध्यायके छठे श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंको भगवान्में अर्पण करना, दसवें श्लोकके कथनानुसार भगवान्के लिये भगवान्के कर्मोंको करना तथा इस श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना——ये तीनों ही 'कर्मयोग' हैं और तीनोंका ही फल परमेश्वरकी प्राप्ति है, अतएव फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। केवल साधकोंकी प्रकृति, भावना और उनके साधनकी प्रणालीके भेदसे इनका भेद किया गया है। समस्त कर्मोंको भगवान्में अर्पण करना और भगवान्के लिये समस्त कर्म करना——इन दोनोंमें तो भक्तिकी प्रधानता है; 'सर्वकर्मफलत्याग'में केवल फल-त्यागकी प्रधानता है। यही इनका मुख्य भेद है।

सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर देनेवाला पुरुष समझता है कि मैं भगवान्के हाथकी कठपुतली हूँ, मुझमें कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं है, मेरे मन, बुद्धि और इन्द्रियादि जो कुछ हैं—सब भगवान्के हैं और भगवान् ही इनसे अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, उन कर्मोंसे और उनके फलसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारके भावसे उस साधकका कर्मोंमें और उनके फलमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं रहता; उसे प्रारब्धानुसार जो कुछ भी सुख-दुःखोंके भोग प्राप्त होते हैं, उन सबको वह भगवान्का प्रसाद समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। अतएव उसका सबमें समभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।

भगवदर्थ कर्म करनेवाला मनुष्य पूर्वोक्त साधककी भाँति यह नहीं समझता कि 'मैं कुछ नहीं करता हूँ और भगवान् ही मुझसे सब कुछ करवा लेते हैं।' वह यह समझता है कि भगवान् मेरे परम पूज्य, परम प्रेमी और परम सुहृद् हैं; उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना ही मेरा परम कर्तव्य है। अतएव वह भगवान्को समस्त जगत्में व्याप्त समझकर उनकी सेवाके उद्देश्यसे शास्त्रद्वारा प्राप्त उनकी आज्ञाके अनुसार यज्ञ, दान और तप, वर्णाश्रमके अनुकूल आजीविका और शरीरनिर्वाहके तथा भगवान्की पूजा-सेवादिके कर्मोंमें लगा रहता है। उसकी प्रत्येक क्रिया भगवान्के आज्ञानुसार और भगवान्की ही सेवाके उद्देश्यसे होती है (गीता ११। ५५), अतः उन समस्त क्रियाओं और उनके फलोंमें उसकी आसक्ति और कामनाका अभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।

केवल 'सब कर्मोंके फलका त्याग' करनेवाला पुरुष न तो यह समझता है कि मुझसे भगवान् कर्म करवाते हैं और न यही समझता है कि मैं भगवान्के लिये समस्त कर्म करता हूँ। वह यह समझता है कि कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, उसके फलमें नहीं (गीता २। ४७ से ५१ तक), अतः किसी प्रकारका फल न चाहकर यज्ञ, दान, तप, सेवा तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीरनिर्वाहके खान-पान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको करना ही मेरा कर्तव्य

सम्बन्ध—छठे श्लोकसे आठवेंतक अनन्य ध्यानका फलसहित वर्णन करके नवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक एक प्रकारके साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा साधन बतलाते हुए अन्तमें 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधनका वर्णन किया गया। इससे यह शङ्का हो सकती है कि 'कर्मफलत्याग' रूप साधन पूर्वोक्त अन्य साधनोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीका होगा; अतः ऐसी शङ्काको हटानेके लिये कर्मफलके त्यागका महत्त्व अगले श्लोकमें बतलाया जाता है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है,*

है। अतएव वह समस्त कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है; इससे उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार तीनोंके ही साधनका भगवत्प्राप्तिरूप एक फल होनेपर भी साधकोंकी मान्यता, स्वभाव और साधन-प्रणालीमें भेद होनेके कारण तीन तरहके साधन अलग-अलग बतलाये गये हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि झूठ, कपट, व्यभिचार, हिंसा और चोरी आदि निषिद्ध कर्म 'सर्वकर्म' में सम्मिलित नहीं हैं। भोगोंमें आसक्ति और उनकी कामना होनेके कारण ही ऐसे पापकर्म होते हैं और उनके फलस्वरूप मनुष्यका सब तरहसे पतन हो जाता है। इसीलिये उनका स्वरूपसे ही सर्वथा त्याग कर देना बतलाया गया है और जब वैसे कर्मोंका ही सर्वथा निषेध है, तब उनके फलत्यागका तो प्रसंग ही कैसे आ सकता है!

भगवान्‌ने पहले मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेके लिये कहा, फिर अभ्यासयोग बतलाया, तदनन्तर मदर्थ कर्मके लिये कहा और अन्तमें सर्वकर्म फलत्यागके लिये आज्ञा दी और एकमें असमर्थ होनेपर दूसरेका आचरण करनेके लिये कहा; भगवान्‌का इस प्रकारका यह कथन न तो फलभेदकी दृष्टिसे है, क्योंकि सभीका एक ही फल भगवत्प्राप्ति है और न एककी अपेक्षा दूसरेको सुगम ही बतलानेके लिये है, क्योंकि उपर्युक्त साधन एक-दूसरेकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सुगम नहीं हैं। जो साधन एकके लिये सुगम है, वही दूसरेके लिये कठिन हो सकता है। इस विचारसे यह समझमें आता है कि इन चारों साधनोंका वर्णन केवल अधिकारिभेदसे ही किया गया है।

जिस पुरुषमें सगुण भगवान्‌के प्रेमकी प्रधानता है, जिसकी भगवान्‌में स्वाभाविक श्रद्धा है, उनके गुण, प्रभाव और रहस्यकी बातें तथा उनकी लीलाका वर्णन जिसको स्वभावसे ही प्रिय लगता है—ऐसे पुरुषके लिये इस अध्यायके आठवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषका भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम तो नहीं है, किंतु श्रद्धा होनेके कारण जो हठपूर्वक साधन करके भगवान्‌में मन लगाना चाहता है—ऐसी प्रकृतिवाले पुरुषके लिये इस अध्यायके नवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषकी सगुण परमेश्वरमें श्रद्धा है तथा यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंमें जिसका स्वाभाविक प्रेम है और भगवान्‌की प्रतिमादिकी सेवा-पूजा करनेमें जिसकी श्रद्धा है—ऐसे पुरुषके लिये इस अध्यायके दसवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषका सगुण-साकार भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम और श्रद्धा नहीं है, जो ईश्वरके स्वरूपको केवल सर्वव्यापी निराकार मानता है, व्यावहारिक और लोकहितके कर्म करनेमें ही जिसका स्वाभाविक प्रेम है—ऐसे पुरुषके लिये इस श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

* यहाँ 'अभ्यास' शब्द इसी अध्यायके नवें श्लोकमें बतलाये हुए अभ्यासयोगमेंसे केवल अभ्यासमात्रका वाचक है अर्थात् सकामभावसे प्राणायाम, मनोनिग्रह, स्तोत्र-पाठ, वेदाध्ययन, भगवन्नाम-जप आदिके लिये बार-बार की जानेवाली ऐसी चेष्टाओंका नाम यहाँ 'अभ्यास' है, जिनमें न तो विवेकज्ञान है, न ध्यान है और न कर्म-फलका त्याग ही है। अभिप्राय यह है कि नवें श्लोकमें जो योग यानी निष्कामभाव और विवेकज्ञानका फल भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है, वह इसमें नहीं है; क्योंकि ये दोनों जिसके अन्तर्गत हों, ऐसे अभ्यासके साथ ज्ञानकी तुलना करना और उसकी अपेक्षा अभ्यास-रहित ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

इसी प्रकार यहाँ 'ज्ञान' शब्द भी सत्सङ्ग और शास्त्रसे उत्पन्न उस विवेकज्ञानका वाचक है, जिसके द्वारा मनुष्य आत्मा और परमात्माके स्वरूपको तथा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदिको समझता है एवं संसार और भोगोंकी अनित्यता आदि अन्य आध्यात्मिक बातोंको भी समझता है; परंतु जिसके साथ न तो अभ्यास है, न ध्यान है और न कर्म-

ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है* और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है;† क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है‡ ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अलग-अलग साधन बतलाकर उनका फल परमेश्वरकी प्राप्ति बतलाया गया, अतएव भगवान्‌को प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण जाननेकी इच्छा होनेपर अब सात श्लोकोंमें उन भगवत्प्राप्त भक्तोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—

फलकी इच्छाका त्याग ही है; क्योंकि ये सब जिसके अन्तर्गत हों, उस ज्ञानके साथ अभ्यास, ध्यान और कर्मफलके त्यागका तुलनात्मक विवेचन करना और उसकी अपेक्षा ध्यानको तथा कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

उपर्युक्त अभ्यास और ज्ञान दोनों ही अपने-अपने स्थानपर भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं; श्रद्धा-भक्ति और निष्कामभावके सम्बन्धसे दोनोंके द्वारा ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, तथापि दोनोंकी परस्पर तुलना की जानेपर अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। विवेकहीन अभ्यास भगवत्प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता, जितना कि अभ्यास-हीन विवेकज्ञान सहायक हो सकता है; क्योंकि वह भगवत्प्राप्तिकी इच्छाका हेतु है। यही बात दिखलानेके लिये यहाँ अभ्यास-की अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाया है।

* यहाँ 'ध्यान' शब्द भी छठेसे आठवें श्लोकतक बतलाये हुए ध्यानयोगमेंसे केवल ध्यानमात्रका वाचक है अर्थात् उपास्यदेव मानकर भगवान्‌के साकार या निराकार किसी भी स्वरूपमें सकामभावसे केवल मन-बुद्धिको स्थिर कर देनेको यहाँ 'ध्यान' कहा गया है। इसमें न तो पूर्वोक्त विवेकज्ञान है और न भोगोंकी कामनाका त्यागरूप निष्कामभाव ही है। अभिप्राय यह है कि उस ध्यानयोगमें जो समस्त कर्मोंका भगवान्‌के समर्पण कर देना, भगवान्‌को ही परम प्राप्य समझना और अनन्य प्रेमसे भगवान्‌का ध्यान करना—ये सब भाव भी सम्मिलित हैं, वे इसमें नहीं हैं; क्योंकि भगवान्‌को सर्वश्रेष्ठ समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे किया जानेवाला जो ध्यानयोग है, उसमें विवेकज्ञान और कर्मफलके त्यागका अन्तर्भाव है। अतः उसके साथ विवेकज्ञानकी तुलना करना और उसकी अपेक्षा कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

उपर्युक्त विवेकज्ञान और ध्यान—दोनों ही श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावके सम्बन्धसे परमात्माकी प्राप्ति करा देनेवाले हैं, इसलिये दोनों ही भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक हैं; परंतु दोनोंकी परस्पर तुलना करनेपर ध्यान और अभ्याससे रहित ज्ञानकी अपेक्षा विवेकरहित ध्यान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है; क्योंकि बिना ध्यान और अभ्यासके केवल विवेकज्ञान भगवान्‌की प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता, जितना बिना विवेकज्ञानके केवल ध्यान हो सकता है। ध्यानद्वारा चित्त स्थिर होनेपर चित्तकी मलिनता और चञ्चलताका नाश होता है; परंतु केवल जानकारीसे वैसा नहीं होता। यही भाव दिखलानेके लिये ज्ञानसे ध्यानको श्रेष्ठ बतलाया गया है।

† ग्यारहवें श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' का स्वरूप बतलाया गया है, उसीका वाचक 'कर्मफलत्याग' है। ऊपर बतलाया हुआ ध्यान भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक है; परंतु जबतक मनुष्यकी कामना और आसक्तिका नाश नहीं हो जाता, तबतक उसे परमात्माकी प्राप्ति सहज ही नहीं हो सकती। अतः फलासक्तिके त्यागसे रहित ध्यान परमात्माकी प्राप्तिमें उतना लाभप्रद नहीं हो सकता, जितना कि बिना ध्यानके भी समस्त कर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग हो सकता है।

‡ इस श्लोकमें अभ्यासयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और कर्मयोगका तुलनात्मक विवेचन नहीं है; क्योंकि उन सभी साधनोंमें कर्मफलरूप भोगोंकी आसक्तिका त्यागरूप निष्कामभाव अन्तर्गत है। अतः उनका तुलनात्मक विवेचन नहीं हो सकता। यहाँ तो कर्मफलके त्यागका महत्त्व दिखलानेके लिये अभ्यास, ज्ञान और ध्यानरूप साधन, जो संसारके झंझटोंसे अलग रहकर किये जाते हैं और क्रियाकी दृष्टिसे एककी अपेक्षा दूसरा क्रमसे सात्त्विक और निवृत्तिपरक होनेके नाते श्रेष्ठ भी हैं, उनकी अपेक्षा कर्मफलके त्यागको भावकी प्रधानताके कारण श्रेष्ठ बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक उन्नतिमें क्रियाकी अपेक्षा भावका ही अधिक महत्त्व है। वर्ण-आश्रमके अनुसार यज्ञ, दान, युद्ध, वाणिज्य, सेवा आदि तथा शरीर-निर्वाहकी क्रिया; प्राणायाम, स्तोत्र-पाठ, वेद-पाठ, नाम-जप आदि अभ्यासकी क्रिया; सत्सङ्ग और शास्त्रोंके द्वारा आध्यात्मिक बातोंको जाननेके लिये ज्ञानविषयक क्रिया और मनको स्थिर करनेके लिये ध्यानविषयक क्रिया—ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होनेपर भी उनमेंसे वही श्रेष्ठ है, जिसके साथ कर्मफलका त्यागरूप निष्कामभाव है; क्योंकि निष्कामभावसे परमात्माकी प्राप्ति होती है, अतः कर्मफलका त्याग ही श्रेष्ठ है; फिर चाहे वह किसी भी शास्त्रसम्मत क्रियाके साथ क्यों न रहे, वही क्रिया दीखनेमें साधारण होनेपर भी सर्वश्रेष्ठ हो जाती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है* तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम† और क्षमावान्‡ है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है,§ मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है× और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है,+ वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला÷ मेरा भक्त मुझको प्रिय हैऽ ॥ १३-१४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

* भक्तिके साधकमें आरम्भसे ही मैत्री और दयाके भाव विशेषरूपसे रहते हैं, इसलिये सिद्धावस्थामें भी उसके स्वभाव और व्यवहारमें वे सहज ही पाये जाते हैं। जैसे भगवान्‌में हेतुरहित अपार दया और प्रेम आदि रहते हैं, वैसे ही उनके सिद्ध भक्तमें भी इनका रहना उचित ही है।

† यहाँ 'सुख-दुःख' हर्ष-शोकके हेतुओंके वाचक हैं न कि हर्ष-शोकके; क्योंकि सुख-दुःखसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंका नाम हर्ष-शोक है। अज्ञानी मनुष्योंकी सुखमें आसक्ति होती है, इस कारण सुखकी प्राप्तिमें उनको हर्ष होता है और दुःखमें उनका द्वेष होता है, इसलिये उसकी प्राप्तिमें उनको शोक होता है; पर ज्ञानी भक्तका सुख और दुःखमें समभाव हो जानेके कारण किसी भी अवस्थामें उसके अन्तःकरणमें हर्ष, शोक आदि विकार नहीं होते। श्रुतिमें भी कहा है—'हर्षशोकौ जहाति' (कठोपनिषद् १। २। १२), अर्थात् 'ज्ञानी पुरुष हर्ष-शोकोंको सर्वथा त्याग देता है।' प्रारब्ध-भोगके अनुसार शरीरमें रोग हो जानेपर उनको पीड़ारूप दुःखका बोध तो होता है और शरीर स्वस्थ रहनेसे उसमें पीड़ाके अभावका बोधरूप सुख भी होता है, किंतु राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण हर्ष और शोक उन्हें नहीं होते। इसी तरह किसी भी अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ या घटनाके संयोग-वियोगमें किसी प्रकारसे भी उनको हर्ष-शोक नहीं होते। यही उनका सुख-दुःखमें सम रहना है।

‡ अपना अपकार करनेवालेको किसी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर उसे अभय देनेवालेको 'क्षमावान्' कहते हैं। भगवान्‌के ज्ञानी भक्तोंमें क्षमाभाव भी असीम रहता है। क्षमाकी व्याख्या गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोककी टिप्पणीमें विस्तारसे की गयी है।

§ भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए ज्ञानी भक्तको यहाँ 'योगी' कहा गया है; ऐसा भक्त परमानन्दके अक्षय और अनन्त भण्डार श्रीभगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेता है, इस कारण वह सदा ही संतुष्ट रहता है। उसे किसी समय, किसी भी अवस्थामें, किसी भी घटनामें संसारकी किसी भी वस्तुके अभावमें असंतोषका अनुभव नहीं होता; क्योंकि वह पूर्णकाम है, यही उसका निरन्तर संतुष्ट रहना है।

× इससे यह भाव दिखलाया है कि भगवान्‌के ज्ञानी भक्तोंका मन और इन्द्रियोंसहित शरीर सदा ही उनके वशमें रहता है। वे कभी मन और इन्द्रियोंके वशमें नहीं हो सकते, इसीसे उनमें किसी प्रकारके दुर्गुण और दुराचारकी सम्भावना नहीं होती।

+ जिसने बुद्धिके द्वारा परमेश्वरके स्वरूपका भलीभाँति निश्चय कर लिया है, जिसे सर्वत्र भगवान्‌का प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा जिसकी बुद्धि गुण, कर्म और दुःख आदिके कारण परमात्माके स्वरूपसे कभी किसी प्रकार विचलित नहीं हो सकती, उसको 'दृढनिश्चय' कहते हैं।

÷ नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन और बुद्धिसे उसका निश्चय करते-करते मन और बुद्धिका भगवान्‌के स्वरूपमें सदाके लिये तन्मय हो जाना ही उनको 'भगवान्‌में अर्पण करना' है।

ऽ जो उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न है; जिसका भगवान्‌में अहैतुक और अनन्य प्रेम है, जिसकी भगवान्‌के स्वरूपमें अटल स्थिति है, जिसका कभी भगवान्‌से वियोग नहीं होता, जिसके मन-बुद्धि भगवान्‌के अर्पित हैं, भगवान् ही जिसके जीवन, धन, प्राण एवं सर्वस्व हैं, जो भगवान्‌के ही हाथकी कठपुतली है—ऐसे सिद्ध भक्तको भगवान् अपना प्रिय बतलाते हैं।

१. पूर्वार्द्धमें केवल दूसरे प्राणीसे उसे उद्वेग नहीं होता, इतना ही कहा गया है। इससे परेच्छाजनित उद्वेगकी निवृत्ति तो हुई; किंतु अनिच्छा और स्वेच्छासे प्राप्त घटना और पदार्थमें भी तो मनुष्यको उद्वेग होता है, इसलिये उत्तरार्द्धमें पुनः उद्वेगसे मुक्त होनेकी बात कहकर भगवान् यह सिद्ध कर रहे हैं कि भक्तको कभी किसी प्रकार भी उद्वेग नहीं होता।

जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता* और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता † तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, ‡ वह भक्त मुझको प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, § बाहर-भीतरसे शुद्ध, × चतुर, + पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, ÷ वह सब आरम्भोंका त्यागी ऽ मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥ १७॥

जो न कभी हर्षित होता है, A न द्वेष करता

---

* सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण भक्त जान-बूझकर तो किसीको दुःख, संताप, भय और क्षोभ पहुँचा ही नहीं सकता, बल्कि उसके द्वारा तो स्वाभाविक ही सबकी सेवा और परम हित ही होते हैं। अतएव उसकी ओरसे किसीको कभी उद्वेग नहीं होना चाहिये। यदि भूलसे किसी व्यक्तिको उद्वेग होता है तो उसमें उस व्यक्तिके अपने अज्ञानजनित राग, द्वेष और ईर्ष्यादि दोष ही प्रधान कारण हैं, भगवद्भक्त नहीं; क्योंकि जो दया और प्रेमकी मूर्ति है एवं दूसरोंका हित करना ही जिसका स्वभाव है, वह परम दयालु प्रेमी भगवत्प्राप्त भक्त तो किसीके उद्वेगका कारण हो ही नहीं सकता।

† ज्ञानी भक्तको भी प्रारब्धके अनुसार परेच्छासे दुःखके निमित्त तो प्राप्त हो सकते हैं, परंतु उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण बड़े-से-बड़े दुःखकी प्राप्तिमें भी वह विचलित नहीं होता (गीता ६। २२); इसीलिये ज्ञानी भक्तको किसी भी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता।

‡ अभिप्राय यह है कि वास्तवमें मनुष्यको अपने अभिलषित मान, बड़ाई और धन आदि वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर जिस तरह हर्ष होता है, उसी तरह अपने ही समान या अपनेसे अधिक दूसरोंको भी उन वस्तुओंकी प्राप्ति होते देखकर प्रसन्नता होनी चाहिये; किंतु प्रायः ऐसा न होकर अज्ञानके कारण लोगोंको उलटा अमर्ष होता है और वह अमर्ष विवेकशील पुरुषोंके चित्तमें भी देखा जाता है। वैसे ही इच्छा, नीति और धर्मके विरुद्ध पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर उद्वेग तथा नीति और धर्मके अनुकूल भी दुःखप्रद पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर या उसकी आशङ्कासे भय होता देखा जाता है। दूसरोंकी तो बात ही क्या, मृत्युका भय तो विवेकियोंको भी होता है; किंतु भगवान्‌के ज्ञानी भक्तकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जाती है और वह सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्‌की लीला समझता है; इस कारण ज्ञानी भक्तको न अमर्ष होता है, न उद्वेग होता है और न भय ही होता है—यह भाव दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है।

§ परमात्माको प्राप्त भक्तका किसी भी वस्तुसे किंचित् भी प्रयोजन नहीं रहता; अतएव उसे किसी तरहकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा, स्पृहा अथवा वासना नहीं रहती। वह पूर्णकाम हो जाता है। यह भाव दिखलानेके लिये उसे आकाङ्क्षासे रहित कहा है।

× भगवान्‌के भक्तमें पवित्रताकी पराकाष्ठा होती है। उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, उनके आचरण और शरीर आदि इतने पवित्र हो जाते हैं कि उसके साथ वार्तालाप होनेपर तो कहना ही क्या है—उसके दर्शन और स्पर्शमात्रसे ही दूसरे लोग पवित्र हो जाते हैं। ऐसा भक्त जहाँ निवास करता है, वह स्थान पवित्र हो जाता है और उसके सङ्गसे वहाँका वायुमण्डल, जल, स्थल आदि सब पवित्र हो जाते हैं।

+ जिस उद्देश्यकी सफलताके लिये मनुष्यशरीरकी प्राप्ति हुई है, उस उद्देश्यको पूरा कर लेना ही यथार्थ चतुरता है।

÷ शरीरमें रोग आदिका होना, स्त्री-पुत्र आदिका वियोग होना और धन-गृह आदिकी हानि होना—इत्यादि दुःखके हेतु तो प्रारब्धके अनुसार उसे प्राप्त होते हैं, परंतु इन सबके होते हुए भी उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका शोक नहीं होता।

ऽ संसारमें जो कुछ भी हो रहा है—सब भगवान्‌की लीला है, सब उनकी मायाशक्तिका खेल है; वे जिससे जब जैसा करवाना चाहते हैं, वैसा ही करवा लेते हैं। मनुष्य मिथ्या ही ऐसा अभिमान कर लेता है कि अमुक कर्म मैं करता हूँ, मेरी ऐसी सामर्थ्य है, इत्यादि। पर भगवान्‌का भक्त इस रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, इससे वह सदा भगवान्‌के हाथकी कठपुतली बना रहता है। भगवान् उसको जब जैसा नचाते हैं, वह प्रसन्नतापूर्वक वैसे ही नाचता है। अपना तनिक भी अभिमान नहीं रखता और अपनी ओरसे कुछ भी नहीं करता, इसलिये वह लोकदृष्टिमें सब कुछ करता हुआ भी वास्तवमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण 'सब आरम्भोंका त्यागी' ही है।

A भक्तके लिये सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, परम दयालु भगवान् ही परम प्रिय वस्तु हैं और वह उन्हें सदाके लिये प्राप्त है। अतएव वह सदा-सर्वदा परमानन्दमें स्थित रहता है। संसारकी किसी वस्तुमें उसका किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होता। इस कारण लोकदृष्टिसे होनेवाले किसी प्रिय वस्तुके संयोगसे या अप्रियके वियोगसे उसके अन्तःकरणमें कभी किंचिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता।

है,* न शोक करता है,† न कामना करता है‡ तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है,§ वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

जो शत्रु-मित्रमें× और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है+ और आसक्तिसे रहित है ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

---

* भगवान्‌का भक्त सम्पूर्ण जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप समझता है, इसलिये उसका किसी भी वस्तु या प्राणीमें कभी किसी भी कारणसे द्वेष नहीं हो सकता । उसके अन्तःकरणमें द्वेषभावका सदाके लिये सर्वथा अभाव हो जाता है ।

† अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें और इष्टके वियोगमें प्राणियोंको शोक हुआ करता है । भगवद्भक्तको लीलामय परम दयालु परमेश्वरकी दयासे भरे हुए किसी भी विधानमें कभी प्रतिकूलता प्रतीत ही नहीं होती । अतः उसे शोक कैसे हो सकता है ?

‡ भक्तको साक्षात् भगवान्‌की प्राप्ति हो जानेके कारण वह सदाके लिये परमानन्द और परम शान्तिमें स्थित होकर पूर्णकाम हो जाता है, उसके मनमें कभी किसी वस्तुके अभावका अनुभव होता ही नहीं, इसलिये उसके अन्तःकरणमें सांसारिक वस्तुओंकी आकाङ्क्षा होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता ।

§ यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रमके अनुसार जीविका तथा शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्मोंका वाचक यहाँ 'शुभ' शब्द है और झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि पापकर्मका वाचक 'अशुभ' शब्द है । भगवान्‌का ज्ञानी भक्त इन दोनों प्रकारके कर्मोंका त्यागी होता है; क्योंकि उसके शरीर, इन्द्रिय और मनके द्वारा किये जानेवाले समस्त शुभ कर्मोंको वह भगवान्‌के समर्पण कर देता है । उनमें उसकी किंचिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या फलेच्छा नहीं रहती; इसीलिये ऐसे कर्म कर्म ही नहीं माने जाते (गीता ४ । २०) और राग-द्वेषका अभाव हो जानेके कारण पापकर्म उसके द्वारा होते ही नहीं, इसलिये उसे 'शुभ और अशुभ कर्मोंका त्यागी' कहा गया है ।

१. संसारमें मनुष्यकी जो आसक्ति (स्नेह) है, वही समस्त अनर्थोंका मूल है; बाहरसे मनुष्य संसारका संसर्ग छोड़ भी दे, किंतु मनमें आसक्ति बनी रहे तो ऐसे त्यागसे विशेष लाभ नहीं हो सकता । पक्षान्तरमें मनकी आसक्ति नष्ट हो चुकनेपर बाहरसे राजा जनक आदिकी तरह सबसे ममता और आसक्तिरहित संसर्ग रहनेपर भी कोई हानि नहीं है । ऐसा आसक्तिका त्यागी ही वस्तुतः सच्चा 'सङ्गविवर्जित' है ।

× यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें उसका कोई शत्रु-मित्र नहीं होता, तो भी लोग अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मूर्खतावश भक्तके द्वारा अपना अनिष्ट होता हुआ समझकर या उसका स्वभाव अपने अनुकूल न दीखनेके कारण अथवा ईर्ष्यावश उसमें शत्रुभावका भी आरोप कर लेते हैं, ऐसे ही दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्रभावका आरोप कर लेते हैं; परंतु सम्पूर्ण जगत्‌में सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन करनेवाले भक्तका सबमें समभाव ही रहता है । उसकी दृष्टिमें शत्रु-मित्रका किंचित् भी भेद नहीं रहता, वह तो सदा-सर्वदा सबके साथ परम प्रेमका ही व्यवहार करता रहता है । सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर समभावसे सबकी सेवा करना ही उसका स्वभाव बन जाता है । जैसे वृक्ष अपनेको काटनेवाले और जल सींचनेवाले दोनोंकी ही छाया, फल और फूल आदिके द्वारा सेवा करनेमें किसी प्रकारका भेद नहीं करता, वैसे ही भक्तमें भी किसी तरहका भेदभाव नहीं रहता । भक्तका समत्व वृक्षकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वका होता है । उसकी दृष्टिमें परमेश्वरसे भिन्न कुछ भी न रहनेके कारण उसमें भेदभावकी आशङ्का ही नहीं रहती । इसलिये उसे शत्रु-मित्रमें सम कहा गया है ।

+ मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख आदि अनुकूल और प्रतिकूल द्वन्द्वोंका मन, इन्द्रिय और शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे उनका अनुभव होते हुए भी भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें राग-द्वेष या हर्ष-शोक आदि किसी तरहका किंचिन्मात्र भी विकार नहीं होता । वह सदा सम रहता है ।

२. जो भक्त अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर चुके हैं, जिनके घर-द्वार, शरीर, विद्या-बुद्धि आदि सभी कुछ भगवान्‌के हो चुके हैं—फिर वे चाहे ब्रह्मचारी हों या गृहस्थ, अथवा वानप्रस्थ हों, वे भी 'अनिकेत' ही हैं । जैसे शरीरमें अहंता, ममता और आसक्ति न होनेपर शरीर रहते हुए भी ज्ञानीको विदेह कहा जाता है—वैसे ही जिसकी घरमें ममता और आसक्ति नहीं है, वह घरमें रहते हुए भी बिना घरवाला—'अनिकेत' ही है ।

जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला,* मननशील † और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है‡ तथा रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि§ भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है× ॥

* भगवान्‌के भक्तका अपने नाम और शरीरमें किंचिन्मात्र भी अभिमान या ममत्व नहीं रहता। इसलिये न तो उसको स्तुतिसे हर्ष होता है और न निन्दासे किसी प्रकारका शोक ही होता है। उसका दोनोंमें ही समभाव रहता है। सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण स्तुति करनेवालों और निन्दा करनेवालोंमें भी उसकी जरा भी भेद-बुद्धि नहीं होती। यही उसका निन्दा-स्तुतिको समान समझना है।

† मनुष्य केवल वाणीसे ही नहीं बोलता, मनसे भी बोलता रहता है। विषयोंका अनवरत चिन्तन ही मनका निरन्तर बोलना है। भक्तका चित्त भगवान्‌में इतना संलग्न हो जाता है कि उसमें भगवान्‌के सिवा दूसरेकी स्मृति ही नहीं होती, वह सदा-सर्वदा भगवान्‌के ही मननमें लगा रहता है; यही वास्तविक मौन है। बोलना बंद कर दिया जाय और मनसे विषयोंका चिन्तन होता रहे—ऐसा मौन बाह्य मौन है। मनको निर्विषय करने तथा वाणीको परिशुद्ध और संयत बनानेके उद्देश्यसे किया जानेवाला बाह्य मौन भी लाभदायक होता है; परंतु यहाँ भगवान्‌के प्रिय भक्तके लक्षणोंका वर्णन है, उसकी वाणी तो स्वाभाविक ही परिशुद्ध और संयत है। इससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसमें केवल वाणीका ही मौन है; बल्कि उस भक्तकी वाणीसे तो प्रायः निरन्तर भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन ही हुआ करता है, जिससे जगत्‌का परम उपकार होता है। इसके सिवा भगवान् अपनी भक्तिका प्रचार भी भक्तोंद्वारा ही करवाया करते हैं। अतः वाणीसे मौन रहनेवाला भगवान्‌का प्रिय भक्त होता है और बोलनेवाला नहीं होता, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। गीताके अठारहवें अध्यायके अड़सठवें और उनहत्तरवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने गीताके प्रचार करनेवालेको अपना सबसे प्रिय कार्य करनेवाला कहा है, यह महत्कार्य वाणीके मौनीसे नहीं हो सकता। इसके सिवा गीताके सत्तरहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें मानसिक तपके लक्षणोंमें भी 'मौन' शब्द आया है। यदि भगवान्‌को 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन अभीष्ट होता तो वे उसे वाणीके तपके प्रसङ्गमें कहते; परंतु ऐसा नहीं किया, इससे भी यही सिद्ध है कि मुनिभावका नाम ही मौन है और यह मुनिभाव जिसमें होता है, वही मौनी या मननशील है। वाणीका मौन मनुष्य हठसे भी कर सकता है, इसलिये यह कोई विशेष महत्त्वकी बात भी नहीं है। अतः यहाँ 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन न मानकर मनकी मननशीलता ही मानना उचित है। वाणीका संयम तो इसके अन्तर्गत आप ही आ जाता है।

‡ भक्त अपने परम इष्ट भगवान्‌को पाकर सदा ही संतुष्ट रहता है। बाहरी वस्तुओंके आने-जानेसे उसकी तुष्टिमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ता। प्रारब्धानुसार सुख-दुःखादिके हेतुभूत जो कुछ भी पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं, वह उन्हींमें संतुष्ट रहता है।

§ भक्तको भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हो जानेके कारण उसके सम्पूर्ण संशय समूल नष्ट हो जाते हैं, उसका निश्चय अटल और निश्चल होता है। अतः वह साधारण मनुष्योंकी भाँति काम, क्रोध, लोभ, मोह या भय आदि विकारोंके वशमें होकर धर्मसे या भगवान्‌के स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता।

× उपर्युक्त सभी लक्षण भगवद्भक्तोंके हैं तथा सभी शास्त्रानुकूल और श्रेष्ठ हैं, परंतु स्वभाव आदिके भेदसे भक्तोंके भी गुण और आचरणोंमें थोड़ा-बहुत अन्तर रह जाना स्वाभाविक है। सबमें सभी लक्षण एक-से नहीं मिलते। इतना अवश्य है कि समता और शान्ति सभीमें होती हैं तथा राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकार किसीमें भी नहीं रहते। इसीलिये इन श्लोकोंमें पुनरुक्ति पायी जाती है। विचार कर देखिये तो इन पाँचों विभागोंमें कहीं भावसे और कहीं शब्दोंसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव सभीमें मिलता है। पहले विभागमें 'अद्वेष्टा' से द्वेषका, 'निर्ममः' से रागका और 'समदुःखसुखः' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया गया है। दूसरेमें हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगका अभाव बतलाया है; इससे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव अपने-आप सिद्ध हो जाता है। तीसरेमें 'अनपेक्षः' से रागका, 'उदासीनः' से द्वेषका और 'गतव्यथः' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। चौथेमें 'न काङ्क्षति' से रागका, 'न द्वेष्टि' से द्वेषका, 'न हृष्यति' तथा 'न शोचति' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। इसी प्रकार पाँचवें विभागमें 'सङ्गविवर्जितः' तथा 'संतुष्टः' से राग-द्वेषका और 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः' से हर्ष-शोकका अभाव दिखलाया है। 'संतुष्टः' पद भी इस प्रकरणमें दो बार आया है। इससे सिद्ध है कि राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि विकारोंका अभाव और समता तथा शान्ति तो सभीमें आवश्यक हैं। अन्यान्य लक्षणोंमें स्वभाव-भेदसे कुछ भेद भी रह सकता है। इसी भेदके कारण भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें विभक्त करके भक्तोंके लक्षणोंको यहाँ पाँच बार पृथक्-पृथक् बतलाया है; इनमेंसे किसी एक विभागके अनुसार भी सब लक्षण जिसमें पूर्ण हों, वही भगवान्‌का प्रिय भक्त है।

सम्बन्ध—परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतलाकर अब उन लक्षणोंको आदर्श मानकर बड़े प्रयत्नके साथ उनका भलीभाँति सेवन करनेवाले, परम श्रद्धालु, शरणागत भक्तोंकी प्रशंसा करनेके लिये, उनको अपना अत्यन्त प्रिय बतलाकर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर* इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको† निष्काम प्रेम-भावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं‡ ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ भीष्मपर्वणि तु षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥ भीष्मपर्वमें छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

इसके सिवा कर्मयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे परम सिद्धिको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् भी उनकी वास्तविक स्थितिमें या प्राप्त किये हुए परम तत्त्वमें तो कोई अन्तर नहीं रहता; किंतु स्वभावकी भिन्नताके कारण आचरणोंमें कुछ भेद रह सकता है। 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' (गीता ३ । ३३) इस कथनसे भी यही सिद्ध होता है कि सब ज्ञानवानोंके आचरण और स्वभावमें ज्ञानोत्तरकालमें भी भेद रहता है।

अहंता, ममता और राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अज्ञानजनित विकारोंका अभाव तथा समता और परम शान्ति—ये लक्षण तो सभीमें समानभावसे पाये जाते हैं; किंतु मैत्री और करुणा, ये भक्तिमार्गसे भगवान्‌को प्राप्त हुए महापुरुषमें विशेषरूपसे रहते हैं। संसार, शरीर और कर्मोंमें उपरामता—यह ज्ञानमार्गसे परम पदको प्राप्त महात्माओंमें विशेषरूपसे रहती है। इसी प्रकार मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए अनासक्त भावसे कर्मोंमें तत्पर रहना, यह लक्षण विशेषरूपसे कर्मयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंमें रहता है।

गीताके दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें श्लोकतक कितने ही श्लोकोंमें कर्मयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके तथा चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए गुणातीत पुरुषके लक्षण बतलाये गये हैं और यहाँ तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

* सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के अवतारोंमें, वचनोंमें एवं उनके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और चरित्रादिमें जो प्रत्यक्षके सदृश सम्मानपूर्वक विश्वास रखता हो, वह श्रद्धावान् है। परम प्रेमी और परम दयालु भगवान्‌को ही परम गति, परम आश्रय एवं अपने प्राणोंके आधार, सर्वस्व मानकर उन्हींपर निर्भर और उनके किये हुए विधानमें प्रसन्न रहनेवालेको भगवत्परायण पुरुष कहते हैं।

† भगवद्भक्तोंके उपर्युक्त लक्षण ही वस्तुतः मानवधर्मका सच्चा स्वरूप है। इन्हींके पालनमें मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है, क्योंकि इनके पालनसे साधक सदाके लिये मृत्युके पंजेसे छूट जाता है और उसे अमृतस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इसी भावको स्पष्ट समझानेके लिये यहाँ इस लक्षण-समुदायका नाम 'धर्ममय अमृत' रक्खा गया है।

‡ जिन सिद्ध भक्तोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी है, उनमें तो उपर्युक्त लक्षण स्वाभाविक ही रहते हैं; इसलिये उनमें इन गुणोंका होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है; परंतु जिन साधक भक्तोंको भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं, तो भी वे भगवान्‌पर विश्वास करके परम श्रद्धाके साथ तन, मन, धन, सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण करके उन्हींके परायण हो जाते हैं तथा भगवान्‌के दर्शनोंके लिये निरन्तर उन्हींका निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहते हैं और सतत चेष्टा करके उपर्युक्त लक्षणोंके अनुसार ही अपना जीवन बिताना चाहते हैं—बिना प्रत्यक्ष दर्शन हुए भी केवल विश्वासपर उनका इतना निर्भर हो जाना विशेष महत्त्वकी बात है। ऐसे प्रेमी भक्तोंको सिद्ध भक्तोंकी अपेक्षा भी 'अतिशय प्रिय' कहना उचित ही है।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां त्रयोदशोऽध्यायः)

ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने सगुण और निर्गुणके उपासकोंकी श्रेष्ठताके विषयमें प्रश्न किया था, उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें संक्षेपमें सगुण उपासकोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करके तीसरेसे पाँचवें श्लोकतक निर्गुण उपासनाका स्वरूप, उसका फल और देहाभिमानियोंके लिये उसके अनुष्ठानमें कठिनताका निरूपण किया। तदनन्तर छठेसे बीसवें श्लोकतक सगुण उपासनाका महत्त्व, फल, प्रकार और भगवद्भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते-करते ही अध्यायकी समाप्ति हो गयी; निर्गुणका तत्त्व, महिमा और उसकी प्राप्तिके साधनोंको विस्तारपूर्वक नहीं समझाया गया। अतएव निर्गुण-निराकारका तत्त्व अर्थात् ज्ञानयोगका विषय भलीभाँति समझानेके लिये तेरहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले भगवान् क्षेत्र (शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के लक्षण बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र'* इस नामसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ'† इस नामसे उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं॥ १॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान‡ और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है, वह ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है॥ २॥

सम्बन्ध—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर संसारभ्रमका नाश हो जाता है और परमात्माकी प्राप्ति होती है, अतएव 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूप आदिको भलीभाँति विभागपूर्वक समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

तत् क्षेत्रं यच्च[1] यादृक्[2] च यद्विकारि[3] यतश्च यत्[4]।

* जैसे खेतमें बोये हुए बीजोंका उनके अनुरूप फल समयपर प्रकट होता है, वैसे ही इस शरीरमें बोये हुए कर्म-संस्काररूप बीजोंका फल भी समयपर प्रकट होता रहता है। इसके अतिरिक्त इसका प्रतिक्षण क्षय होता रहता है, इसलिये भी इसे 'क्षेत्र' कहते हैं और इसीलिये गीताके पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें इसको 'क्षर' पुरुष कहा गया है।

† इससे भगवान्‌ने अन्तरात्मा द्रष्टाका लक्ष्य करवाया है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय, महाभूत और इन्द्रियोंके विषय आदि जितना भी ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) दृश्यवर्ग है—सब जड, विनाशी, परिवर्तनशील है। चेतन आत्मा उस जड दृश्यवर्गसे सर्वथा विलक्षण है। यह उसका ज्ञाता है, उसमें अनुस्यूत है और उसका अधिपति है। इसीलिये इसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। इसी ज्ञाता चेतन आत्माको गीताके सातवें अध्यायमें 'परा प्रकृति' (७। ५), आठवेंमें 'अध्यात्म' (८। ३) और पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर पुरुष' (१५। १६) कहा गया है। यह आत्मतत्त्व बड़ा ही गहन है, इसीसे भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके द्वारा कहीं स्त्रीवाचक, कहीं नपुंसकवाचक और कहीं पुरुषवाचक नामसे इसका वर्णन किया है। वास्तवमें आत्मा विकारोंसे सर्वथा रहित, अलिङ्ग, नित्य, निर्विकार एवं चेतन—ज्ञानस्वरूप है।

‡ इससे 'आत्मा' और 'परमात्मा' की एकताका प्रतिपादन किया गया है। आत्मा और परमात्मामें वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है, प्रकृतिके संगसे भेद-सा प्रतीत होता है; इसीलिये गीताके दूसरे अध्यायके चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें निर्गुण-निराकार परमात्माके लक्षणोंका वर्णन करते समय भी प्रायः उन्हींके भावोंके द्योतक शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

१. 'यत्' पदसे भगवान्‌ने क्षेत्रका स्वरूप बतलानेका संकेत किया है और उसे पाँचवें श्लोकमें बतलाया है।

२. 'यादृक्' पदसे क्षेत्रका स्वभाव बतलानेका संकेत किया है और उसका वर्णन छब्बीसवें और सत्ताईसवें श्लोकोंमें समस्त भूतोंको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर किया है।

३. 'यद्विकारि' पदसे क्षेत्रके विकारोंका वर्णन करनेका संकेत किया है और उनका वर्णन छठे श्लोकमें किया है।

४. जिन पदार्थोंके समुदायका नाम 'क्षेत्र' है, उनमेंसे कौन पदार्थ किससे उत्पन्न हुआ—यह बतलानेका संकेत 'यतः च यत्' पदोंसे किया है और उसका वर्णन उन्नीसवें श्लोकके उत्तरार्द्धमें तथा बीसवेंके पूर्वार्द्धमें किया गया है।

स[1] च यो[1] यत्प्रभावश्च[2] तत् समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के जिस तत्त्वको संक्षेपमें सुननेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—अब उसके विषयमें ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रकी उक्तिका प्रमाण देकर भगवान् ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रको आदर देते हैं—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः[3] पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव[4] हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा* बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो[5] बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥†

१. 'सः' पद 'क्षेत्रज्ञ'का वाचक है तथा 'यः' पदसे उसका स्वरूप बतलानेका संकेत किया गया है और आगे चलकर उसके प्रकृतिस्थ एवं वास्तविक दोनों स्वरूपोंका वर्णन किया गया है—जैसे उन्नीसवें श्लोकमें उसे 'अनादि' बीसवेंमें 'सुख-दुःखोंका भोक्ता' एवं इक्कीसवेंमें 'अच्छी बुरी योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेवाला' बतलाकर तो प्रकृतिस्थ पुरुषका स्वरूप बतलाया गया है और बाईसवेंमें तथा सत्ताईसवेंसे तीसवेंतक परमात्माके साथ एकता करके उसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण किया गया है ।

२. 'यत्प्रभावः' से क्षेत्रज्ञका प्रभाव बतलानेके लिये संकेत किया गया है और उसे इकतीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक बतलाया गया है ।

३. 'विविधैः' विशेषणके सहित 'छन्दोभिः' पद ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके 'संहिता' और 'ब्राह्मण' दोनों ही भागोंका वाचक है; समस्त उपनिषद् और भिन्न-भिन्न शाखाओंको भी इन्हींके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये ।

४. 'ब्रह्मसूत्रपदैः' पद 'वेदान्तदर्शन' के जो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' आदि सूत्ररूप पद हैं, उन्हींका वाचक प्रतीत होता है; क्योंकि उपर्युक्त सब लक्षण उनमें ठीक-ठीक मिलते हैं । यहाँ इस कथनका यह भाव है कि श्रुति-स्मृति आदिमें वर्णित जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा युक्तिपूर्वक समझाया गया है, उसका निचोड़ भी भगवान् यहाँ संक्षेपमें कह रहे हैं ।

* मन्त्रोंके द्रष्टा एवं शास्त्र और स्मृतियोंके रचयिता ऋषिगणोंने 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूपको और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातोंको अपने-अपने ग्रन्थोंमें और पुराण-इतिहासोंमें बहुत प्रकारसे वर्णन करके विस्तारपूर्वक समझाया है; उन्हींका सार यहाँ बहुत थोड़े शब्दोंमें भगवान् कहते हैं ।

५. स्थूल भूतोंके और शब्दादि विषयोंके कारणरूप जो पञ्चतन्मात्राएँ यानी सूक्ष्म पञ्चमहाभूत हैं—गीताके सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें जिनका 'भूमिः', 'आपः', 'अनलः', 'वायुः' और 'खम्' के नामसे वर्णन हुआ है—उन्हीं पाँचोंका वाचक यहाँ 'महाभूतानि' पद है ।

† इसीसे मिलता-जुलता वर्णन सांख्यकारिका और योगदर्शनमें भी आता है, जैसे—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

(सांख्यकारिका ३)

अर्थात् एक मूल प्रकृति है, वह किसीकी विकृति (विकार) नहीं है । महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धतन्मात्रा)—ये सात प्रकृति-विकृति हैं, अर्थात् ये सातों पञ्चभूतादिके कारण होनेसे 'प्रकृति' भी हैं और मूल प्रकृतिके कार्य होनेसे 'विकृति' भी हैं । पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन—ये ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चमहाभूत—ये सोलह केवल विकृति (विकार) हैं, वे किसीकी प्रकृति अर्थात् कारण नहीं हैं । इनमें ग्यारह इन्द्रिय तो अहंकारके तथा पञ्च स्थूल महाभूत पञ्चतन्मात्राओंके कार्य हैं; किंतु पुरुष न किसीका कारण है और न किसीका कार्य है, वह सर्वथा असङ्ग है ।

योगदर्शनमें कहा है—'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।' (२ । १९) विशेष यानी पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, एक मन और पञ्च स्थूल भूत; अविशेष यानी अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ; लिङ्गमात्र यानी महत्तत्त्व और अलिङ्ग यानी मूल प्रकृति—ये चौबीस तत्त्व गुणोंकी अवस्थाविशेष हैं; इन्हींको 'दृश्य' कहते हैं ।

योगदर्शनमें जिसको 'दृश्य' कहा है, उसीको गीतामें 'क्षेत्र' कहा गया है ।

पाँच महाभूत, अहंकार*, बुद्धि† और मूल प्रकृति‡ भी; तथा दस इन्द्रियाँ§, एक मन× और पाँच इन्द्रियोंके विषय+ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

तथा इच्छा,÷ द्वेष,ऽ सुख,A दुःख,B स्थूल देहका पिण्ड, चेतनाC और धृतिD—इस प्रकार विकारोंके सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें कहा गयाE ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षेत्रके स्वरूप और उसके विकारोंका वर्णन करनेके बाद अब जो दूसरे श्लोकमें यह बात कही थी कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—उस ज्ञानको प्राप्त करनेके साधनोंका 'ज्ञान' के ही नामसे पाँच श्लोकोंद्वारा वर्णन करते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

* यह समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है। अहंकार ही पञ्चतन्मात्राओं, मन और समस्त इन्द्रियोंका कारण है तथा महत्तत्त्वका कार्य है; इसीको 'अहंभाव' भी कहते हैं। यहाँ 'अहंकार' शब्द उसीका वाचक है।

† जिसे 'महत्तत्त्व' (महान्) और 'समष्टि बुद्धि' भी कहते हैं, जो समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है, निश्चय ही जिसका स्वरूप है—उसको यहाँ 'बुद्धि' कहा गया है।

‡ यहाँ 'अव्यक्त' का अर्थ मूल प्रकृति समझना चाहिये, जो महत्तत्त्व आदि समस्त पदार्थोंकी कारणरूपा है, सांख्यशास्त्रमें जिसको 'प्रधान' कहते हैं, भगवान्ने गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिसको 'महद्ब्रह्म' कहा है तथा इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिसको 'प्रकृति' नाम दिया गया है।

§ वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), उपस्थ और गुदा—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ये सब मिलकर दस इन्द्रियाँ हैं। इन सबका कारण अहंकार है।

× यहाँ 'एक' शब्दसे उस मनको ही बतलाया गया है जो समष्टि अन्तःकरणकी मनन करनेवाली शक्ति-विशेष है, संकल्प-विकल्प ही जिसका स्वरूप है। यह भी अहंकारका कार्य है।

+ यहाँ 'पञ्च इन्द्रियगोचराः' पदोंका अर्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध समझना चाहिये, जो कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके स्थूल विषय हैं। ये सूक्ष्म भूतोंके कार्य हैं।

÷ जिन पदार्थोंको मनुष्य सुखके हेतु और दुःखनाशक समझता है, उनको प्राप्त करनेकी जो आसक्तियुक्त कामना है—जिसके वासना, तृष्णा, आशा, लालसा और स्पृहा आदि अनेकों भेद हैं—उसीका वाचक यहाँ 'इच्छा' शब्द है।

ऽ जिन पदार्थोंको मनुष्य दुःखमें हेतु या सुखमें बाधक समझता है, उनमें जो विरोध-बुद्धि होती है—उसका नाम 'द्वेष' है। इसके स्थूल रूप वैर, ईर्ष्या, घृणा और क्रोध आदि हैं।

A अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलकी निवृत्तिसे अन्तःकरणमें जो प्रसन्नताकी वृत्ति होती है, उसका नाम 'सुख' है।

B प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके विनाशसे जो अन्तःकरणमें व्याकुलता होती है, जिसे व्यथा भी कहते हैं—उसका वाचक 'दुःख' है।

C अन्तःकरणमें जो ज्ञान-शक्ति है, जिसके द्वारा प्राणी सुख-दुःख और समस्त पदार्थोंका अनुभव करते हैं, जिसे गीताके दसवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें 'चेतना' कहा गया है—उसीका वाचक यहाँ 'चेतना' है, यह भी अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है; अतएव इसकी भी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

D गीताके अठारहवें अध्यायके तैंतीसवें, चौंतीसवें और पैंतीसवें श्लोकोंमें जिस धारण-शक्तिके सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद किये गये हैं, उसीका वाचक यहाँ 'धृति' है। अन्तःकरणका विकार होनेसे इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

E यहाँतक विकारोंसहित क्षेत्रका संक्षेपसे वर्णन हो गया, अर्थात् पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रका स्वरूप संक्षेपमें बतला दिया गया और छठेमें उसके विकारोंका वर्णन संक्षेपमें कर दिया गया।

१. अपनेको श्रेष्ठ, सम्मान्य, पूज्य या बहुत बड़ा समझना एवं मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा-पूजा आदिकी इच्छा करना; अथवा बिना ही इच्छा किये इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना—यह मानित्व है। इन सबका न होना ही 'अमानित्व' है।

२. मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगने आदिके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, दानशील, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा विख्यात करना और बिना ही हुए धर्मपालन, उदारता, दातापन, भक्ति,

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना*, क्षमाभाव,† मन-वाणी आदिकी सरलता,‡ श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा,§ बाहर-भीतरकी शुद्धि,× अन्तःकरणकी स्थिरता+ और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह÷ ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करनाऽ ॥८॥

योगसाधना, व्रत-उपवासादिका अथवा अन्य किसी भी प्रकारके गुणका ढोंग करना—दम्भित्व है। इसके सर्वथा अभावका नाम 'अदम्भित्व' है।

* किसी भी प्राणीको मन, वाणी या शरीरसे किसी प्रकार भी कभी कष्ट देना—मनसे किसीका बुरा चाहना, वाणीसे किसीको गाली देना, कठोर वचन कहना, किसीकी निन्दा करना या अन्य किसी प्रकारके दुःखदायक और अहित-कारक वचन कह देना; शरीरसे किसीको मारना, कष्ट पहुँचाना या किसी प्रकारसे भी हानि पहुँचाना आदि जो हिंसाके भाव हैं, इन सबके सर्वथा अभावका नाम 'अहिंसा' अर्थात् किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना है।

† अपना अपराध करनेवालेके लिये किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव मनमें न रखना, उससे बदला लेनेकी अथवा अपराधके बदले उसे इस लोक या परलोकमें दण्ड मिले—ऐसी इच्छा न रखना और उसके अपराधोंको वस्तुतः अपराध ही न मानकर उन्हें सर्वथा भुला देना 'क्षमाभाव' है। गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इसकी कुछ विस्तारसे व्याख्या की गयी है।

‡ जिस साधकमें मन, वाणी और शरीरकी सरलताका भाव पूर्णरूपसे आ जाता है, वह सबके साथ सरलताका व्यवहार करता है; उसमें कुटिलताका सर्वथा अभाव हो जाता है। अर्थात् उसके व्यवहारमें दाव-पेंच, कपट या टेढ़ापन जरा भी नहीं रहता; वह बाहर और भीतरसे सदा समान और सरल रहता है।

§ विद्या और सदुपदेश देनेवाले गुरुका नाम 'आचार्य' है। ऐसे गुरुके पास रहकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, मन, वाणी और शरीरके द्वारा सब प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना, नमस्कार करना, उनकी आज्ञाओंका पालन करना और उनके अनुकूल आचरण करना आदि 'आचार्योपासन' यानी गुरु-सेवा है।

× सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी शुद्धि होती है, उस द्रव्यसे उपार्जित अन्नसे आहारकी शुद्धि होती है। यथायोग्य शुद्ध बर्तावसे आचरणोंकी शुद्धि होती है और जल-मिट्टी आदिके द्वारा प्रक्षालनादि क्रियासे शरीरकी शुद्धि होती है। यह सब बाहरकी शुद्धि है। राग-द्वेष और छल-कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि है। दोनों ही प्रकारकी शुद्धियोंको 'शौच' कहा जाता है।

+ बड़े-से-बड़े कष्ट, विपत्ति, भय या दुःखके आ पड़नेपर भी विचलित न होना एवं काम, क्रोध, भय या लोभ आदिसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे जरा भी न डिगना तथा मन और बुद्धिमें किसी तरहकी चञ्चलताका न रहना 'अन्तःकरणकी स्थिरता' है।

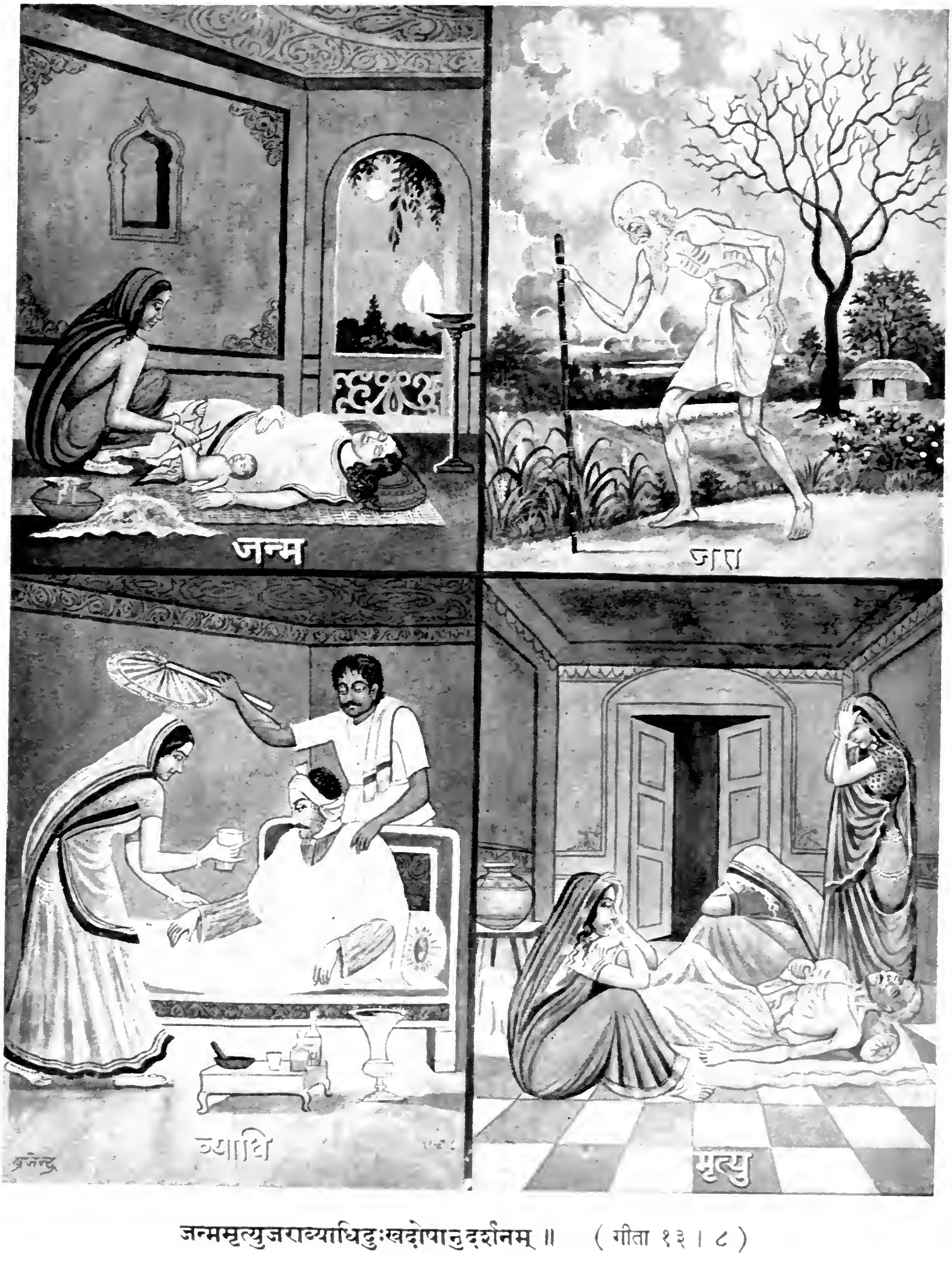
÷ यहाँ 'आत्मा' से अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरको समझना चाहिये। अतः इन सबको भलीभाँति अपने वशमें कर लेना ही इनका निग्रह करना है।

१. इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिनको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किंतु वास्तवमें जो दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' है।

२. मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहम्' बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्मवस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहंकार' कहलाता है।

ऽ जन्मका कष्ट सहज नहीं है; पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लंबे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश होते हैं, फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं। मृत्युकालमें भी महान् कष्ट होता है। जिस शरीर और घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्कारसे छोड़कर जाना पड़ता है। मरणसमयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती; इन्द्रियाँ शिथिल और शक्तिहीन हो जाती

चार अवस्था



जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ (गीता १३ । ८)

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति* तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति† और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना‡—यह सब ज्ञान है,§ और जो इससे

हैं, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरङ्गें उछलती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है। ऐसी अवस्थामें जो कष्ट होता है, वह बड़ा ही भयानक होता है। इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है। शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है। निरुपाय स्थिति है। यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं। इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है।

जीवोंको ये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि प्राप्त होते हैं—पापोंके परिणामस्वरूप; अतएव ये चारों ही दोषमय हैं। इसीका बार-बार विचार करना इनमें दोषोंको देखना है।

१. यद्यपि आठवें श्लोकमें इन्द्रियोंके अर्थोंमें वैराग्य होनेकी बात कही जा चुकी, किंतु स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इनमें उसकी विशेष आसक्ति होती है; इसीलिये इनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जानेकी बात विशेषरूपसे पृथक् कही गयी है।

२. अहंकारके अभावकी बात पूर्वश्लोकके 'अनहंकारः' पदमें स्पष्टतः आ चुकी है, इसीलिये यहाँ 'अनभिष्वङ्ग' का अर्थ 'ममताका अभाव' किया गया है।

३. अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें हर्ष आदि न होना तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके शोक, भय और क्रोध आदिका न होना--सदा ही निर्विकार, एकरस, सम रहना—इसको 'प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें समचित्तता' कहते हैं।

४. जहाँ किसी प्रकारका शोर-गुल या भीड़भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जल, वायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों, ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्तदेश' कहते हैं तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

५. यहाँ 'जनसंसदि' पद 'प्रमादी' और 'विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके सङ्गको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उससे विरक्त रहना ही उसमें प्रेम नहीं करना है। संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका सङ्ग तो साधनमें सहायक होता है; अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ 'जनसंसदि' नहीं समझना चाहिये।

* भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करनेयोग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं; उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्य योग' है तथा इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्का ही भजन, ध्यान करते रहना ही अनन्य योगके द्वारा भगवान्में अव्यभिचारिणी भक्ति करना है।

† आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है; उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—वे सब अनात्मा हैं, आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्मज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्मतत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है।

‡ तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है। उन सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर अनुभव करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है।

§ 'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक जिनका वर्णन किया गया है, वे सभी ज्ञानप्राप्तिके साधन हैं;

विपरीत है, वह अज्ञान* है—ऐसा कहा है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञानके साधनोंका 'ज्ञान' के नामसे वर्णन सुननेपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि इन साधनोंद्वारा प्राप्त 'ज्ञान' से जाननेयोग्य वस्तु क्या है और उसे जान लेनेसे क्या होता है । उसका उत्तर देनेके लिये भगवान् अब जाननेके योग्य वस्तुके स्वरूपका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके जाननेका फल 'अमरत्वकी प्राप्ति' बतलाकर छः श्लोकोंमें जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

ज्ञेयं[1] यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म[2] न सत् तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा । वह अनादिवाला परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही† ॥ १२ ॥

इसलिये उनका नाम भी 'ज्ञान' रक्खा गया है । अभिप्राय यह है कि दूसरे श्लोकमें भगवान्ने जो यह बात कही है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—इस कथनसे कोई ऐसा न समझ ले कि शरीरका नाम 'क्षेत्र' है और इसके अंदर रहनेवाले ज्ञाता आत्माका नाम 'क्षेत्रज्ञ' है—यह बात हमने समझ ही ली; बस, हमें ज्ञान प्राप्त हो गया; किंतु वास्तवमें सच्चा ज्ञान वही है जो उपर्युक्त बीस साधनोंके द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपको यथार्थरूपसे जान लेनेपर होता है । इसी बातको समझानेके लिये यहाँ इन साधनोंको 'ज्ञान' के नामसे कहा गया है । अतएव ज्ञानीमें उपर्युक्त गुणोंका समावेश पहलेसे ही होना आवश्यक है, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि ये सभी गुण सभी साधकोंमें एक ही समयमें हों । अवश्य ही, इनमें जो 'अमानित्व', 'अदम्भित्व' आदि बहुत-से सबके उपयोगी गुण हैं, वे तो सबमें रहते ही हैं । इनके अतिरिक्त 'अव्यभिचारिणी भक्ति', 'एकान्तदेशसेवित्व', 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्व', 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शन'—इनमें अपनी-अपनी साधन-शैलीके अनुसार विकल्प भी हो सकता है ।

* उपर्युक्त अमानित्वादि गुणोंसे विपरीत जो मान-बड़ाईकी कामना, दम्भ, हिंसा, क्रोध, कपट, कुटिलता, द्रोह, अपवित्रता, अस्थिरता, लोलुपता, आसक्ति, अहंता, ममता, विषमता, अश्रद्धा और कुसंग आदि दोष हैं, वे सभी जन्म-मृत्युके हेतुभूत अज्ञानको बढ़ानेवाले और जीवका पतन करनेवाले हैं; इसलिये वे सब अज्ञान ही हैं । अतएव उन सबका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

१. यहाँ 'ज्ञेयम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण और सगुण ब्रह्मका वाचक है, क्योंकि इसी प्रकरणमें स्वयं भगवान्ने ही उसको निर्गुण और गुणोंका भोक्ता बतलाया है ।

२. यहाँ 'परम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पदका प्रयोग, वह ज्ञेय तत्त्व ही निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा है, यह बतलानेके उद्देश्यसे किया गया है । 'ब्रह्म' पद वेद, ब्रह्मा और प्रकृतिका भी वाचक हो सकता है; अतएव ज्ञेयतत्त्वका स्वरूप उनसे विलक्षण है, यह बतलानेके लिये 'ब्रह्म' पदके साथ 'परम्' विशेषण दिया गया है ।

† जो वस्तु प्रमाणोंद्वारा सिद्ध की जाती है, उसे 'सत्' कहते हैं । स्वतः प्रमाण नित्य अविनाशी परमात्मा किसी भी प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि परमात्मासे ही सबकी सिद्धि होती है, परमात्मातक किसी भी प्रमाणकी पहुँच नहीं है । वह प्रमाणोंद्वारा जाननेमें आनेवाली वस्तुओंसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये परमात्माको 'सत्' नहीं कहा जा सकता तथा जिस वस्तुका वास्तवमें अस्तित्व नहीं होता, उसे 'असत्' कहते हैं; किंतु परब्रह्म परमात्माका अस्तित्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है । वह अवश्य है और वह है—इसीसे अन्य सबका होना भी सिद्ध होता है; अतः उसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता । इसीलिये परमात्मा 'सत्' और 'असत्' दोनोंसे ही परे है ।

यद्यपि गीताके नवम अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें तो भगवान्ने कहा है कि 'सत्' भी मैं हूँ और 'असत्' भी मैं हूँ और यहाँ यह कहते हैं कि उस जाननेयोग्य परमात्माको न 'सत्' कहा जा सकता है और न 'असत्'; किंतु वहाँ विधि-मुखसे वर्णन है, इसलिये भगवान्का यह कहना कि 'सत्' भी मैं हूँ और 'असत्' भी मैं हूँ, उचित ही है । पर यहाँ निषेधमुखसे वर्णन है, किंतु वास्तवमें उस परब्रह्म परमात्माका स्वरूप वाणीके द्वारा न तो विधिमुखसे बतलाया जा सकता है और न निषेधमुखसे ही । उसके विषयमें जो कुछ भी कहा जाता है, सब केवल शाखाचन्द्रन्यायसे उसे लक्ष्य करानेके लिये ही है, उसके साक्षात् स्वरूपका वर्णन वाणीद्वारा हो ही नहीं सकता । श्रुति भी कहती है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्तिरीय उप० २ । ९), अर्थात् 'मनके सहित वाणी जिसे न पाकर वापस लौट आती है (वह ब्रह्म है) ।' इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ भगवान्ने निषेधमुखसे कहा है कि वह न 'सत्' कहा जाता है और न 'असत्' ही । अर्थात् मैं जिस ज्ञेयवस्तुका वर्णन करना चाहता हूँ, उसका वास्तविक स्वरूप तो मन-वाणीका अविषय है; अतः उसका जो कुछ भी वर्णन किया जायगा, उसे उसका तटस्थ लक्षण ही समझना चाहिये ।

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥*

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है†; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है‡ ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है§ तथा आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है× ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥+

वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है÷ एवं वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय हैऽ तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही हैA ॥१५॥

---

* यह श्लोक श्वेताश्वतरोपनिषद् (३ । १६) में अक्षरशः आया है ।

† वह परब्रह्म परमात्मा सब ओर हाथवाला है । उसे कोई भी वस्तु कहींसे भी समर्पण की जाय, वह वहींसे उसे ग्रहण करनेमें समर्थ है । इसी तरह वह सब जगह पैरवाला है । कोई भी भक्त कहींसे उसके चरणोंमें प्रणामादि करते हैं, वह वहीं उसे स्वीकार कर लेता है । वह सब जगह आँखवाला है । उससे कुछ भी छिपा नहीं है । वह सब जगह सिर-वाला है । जहाँ कहीं भी भक्तलोग उसका सत्कार करनेके उद्देश्यसे पुष्प आदि उसके मस्तकपर चढ़ाते हैं, वे सब ठीक उसपर चढ़ते हैं । वह सब जगह मुखवाला है । उसके भक्त जहाँ भी उसको खानेकी वस्तु समर्पण करते हैं, वह वहीं उस वस्तुको स्वीकार कर सकता है । अर्थात् वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा सबका साक्षी, सब कुछ देखनेवाला तथा सबकी पूजा और भोग स्वीकार करनेकी शक्तिवाला है । वह परमात्मा सब जगह सुननेकी शक्तिवाला है । जहाँ कहीं भी उसके भक्त उसकी स्तुति करते हैं या उससे प्रार्थना अथवा याचना करते हैं, उन सबको वह भलीभाँति सुनता है ।

‡ आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारण होनेसे उनको व्याप्त किये हुए स्थित है, उसी प्रकार वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा भी इस चराचर जीवसमूहसहित समस्त जगत्का कारण होनेसे सबको व्याप्त किये हुए स्थित है, अतः सब कुछ उसीसे परिपूर्ण है ।

§ अभिप्राय यह है कि तेरहवें श्लोकमें जो उसको सब जगह हाथ-पैरवाला और अन्य सब इन्द्रियोंवाला बतलाया गया है, उससे यह बात नहीं समझनी चाहिये कि वह ज्ञेय परमात्मा अन्य जीवोंकी भाँति हाथ-पैर आदि इन्द्रियोंवाला है; वह इस प्रकारकी इन्द्रियोंसे सर्वथा रहित होते हुए भी सब जगह उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ है । इसलिये उसको सब जगह सब इन्द्रियोंवाला और सब इन्द्रियोंसे रहित कहा गया है । श्रुतिमें भी कहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३ । १९)

'वह परमात्मा बिना पैर-हाथके ही वेगसे चलता और ग्रहण करता है तथा बिना नेत्रोंके देखता और बिना कानोंके ही सुनता है ।'

अतएव उसका स्वरूप अलौकिक है, इस वर्णनमें यही बात समझायी गयी है ।

× अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा सब गुणोंका भोक्ता होते हुए भी अन्य जीवोंकी भाँति प्रकृतिके गुणोंसे लिप्त नहीं है । वह वास्तवमें गुणोंसे सर्वथा अतीत है, तो भी प्रकृतिके सम्बन्धसे समस्त गुणोंका भोक्ता है । यही उसकी अलौकिकता है ।

+ श्रुतिमें भी कहा है—'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥' (ईशोपनिषद् ५) अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है, वह इस सम्पूर्ण जगत्के भीतर भी है और इन सबके बाहर भी है ।

÷ वह परमात्मा चराचर भूतोंके बाहर और भीतर भी है, इससे कोई यह बात न समझ ले कि चराचर भूत उससे भिन्न होंगे । इसीको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं कि चराचर भूत भी वही है । अर्थात् जैसे बरफके बाहर-भीतर भी जल है और स्वयं बरफ भी वस्तुतः जल ही है—जलसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार यह समस्त चराचर जगत् उस परमात्माका ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है ।

ऽ जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित परमाणुरूप जल साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता—उनके लिये वह दुर्विज्ञेय है, उसी प्रकार वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा भी उस परमाणुरूप जलकी अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता; इसलिये वह अविज्ञेय है ।

A सम्पूर्ण जगत्में और इसके बाहर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ परमात्मा न हों । इसलिये वह अत्यन्त

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है * तथा वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः[1] परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं[2] ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति† एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है । वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य‡ है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है§ ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जाननेयोग्य परमात्माका स्वरूप संक्षेपसे कहा गया× । मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है+ ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने क्षेत्रके विषयमें चार बातें और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो बातें संक्षेपमें सुननेके लिये अर्जुनसे कहा था, फिर विषय आरम्भ करते ही क्षेत्रके स्वरूपका और उसके विकारोंका वर्णन करनेके अनन्तर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके तत्त्वको भलीभाँति

समीपमें भी है और दूरमें भी है; क्योंकि जिसको मनुष्य दूर और समीप मानता है, उन सभी स्थानोंमें वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा सदा ही परिपूर्ण है । इसलिये इस तत्त्वको समझनेवाले श्रद्धालु मनुष्योंके लिये वह परमात्मा अत्यन्त समीप है और अश्रद्धालुके लिये अत्यन्त दूर है ।

* इस वाक्यसे उस जाननेयोग्य परमात्माके एकत्वका प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि जैसे महाकाश वास्तवमें विभागरहित है तो भी भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा वास्तवमें विभागरहित है, तो भी समस्त चराचर प्राणियोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे पृथक्-पृथक्के सदृश स्थित प्रतीत होता है; किंतु यह भिन्नता केवल प्रतीतिमात्र ही है, वास्तवमें वह परमात्मा एक है और वह सर्वत्र परिपूर्ण है ।

१. यहाँ 'तमसः' पद अन्धकार और अज्ञान अर्थात् मायाका वाचक है और वह परमात्मा स्वयंज्योति तथा ज्ञानस्वरूप है; अन्धकार और अज्ञान उसके निकट नहीं रह सकते, इसलिये उसे मायासे अत्यन्त परे—इनसे सर्वथा रहित—बतलाया गया है ।

२. उसे पुनः 'ज्ञेय' कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि जिस ज्ञेयका बारहवें श्लोकमें प्रकरण आरम्भ किया गया है, उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर लेना ही इस संसारमें मनुष्य-शरीरका परम कर्तव्य है; इस संसारमें जाननेके योग्य एकमात्र परमात्मा ही है । अतएव उसका तत्त्व जाननेके लिये सभीको पूर्णरूपसे उद्योग करना चाहिये, अपने अमूल्य जीवनको सांसारिक भोगोंमें लगाकर नष्ट नहीं कर डालना चाहिये ।

† चन्द्रमा, सूर्य, विद्युत्, तारे आदि जितनी भी बाह्य ज्योतियाँ हैं; बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ आदि जितनी आध्यात्मिक ज्योतियाँ हैं तथा विभिन्न लोकों और वस्तुओंके अधिष्ठातृदेवतारूप जो देवज्योतियाँ हैं—उन सभीका प्रकाशक वह परमात्मा है तथा उन सबमें जितनी प्रकाशनशक्ति है, वह भी उसी परब्रह्म परमात्माका एक अंशमात्र है ।

‡ अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त अमानित्वादि ज्ञान-साधनोंके द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञानसे वह जाना जाता है ।

§ वह परमात्मा सब जगह समानभावसे परिपूर्ण होते हुए भी, हृदयमें उसकी विशेष अभिव्यक्ति है । जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समानरूपसे विस्तृत रहनेपर भी दर्पण आदिमें उसके प्रतिबिम्बकी विशेष अभिव्यक्ति होती है एवं सूर्यमुखी शीशेमें उसका तेज प्रत्यक्ष प्रकट होकर अग्नि उत्पन्न कर देता है, अन्य पदार्थोंमें उस प्रकारकी अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार हृदय उस परमात्माकी उपलब्धिका स्थान है । ज्ञानीके हृदयमें तो वह प्रत्यक्ष ही प्रकट है । यही बात समझानेके लिये उसको सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित बतलाया गया है ।

× इस अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारोंसहित क्षेत्रके स्वरूपका वर्णन किया गया है, सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक ज्ञानके नामसे ज्ञानके बीस साधनोंका और बारहवेंसे सतरहवेंतक ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया है ।

+ क्षेत्रको प्रकृतिका कार्य, जड, विकारी, अनित्य और नाशवान् समझना, ज्ञानके साधनोंको भलीभाँति धारण करना और उनके द्वारा भगवान्‌के निर्गुण, सगुण रूपको भलीभाँति समझ लेना—यही क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयको जानना है तथा उस ज्ञेयस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाना ही भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाना है ।

जाननेके उपायभूत साधनोंका और जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन प्रसंगवश किया गया । इससे क्षेत्रके विषयमें उसके स्वभावका और किस कारणसे कौन कार्य उत्पन्न होता है, इस विषयका तथा प्रभावसहित क्षेत्रज्ञके स्वरूपका भी वर्णन नहीं हुआ । अतः अब उन सबका वर्णन करनेके लिये भगवान् पुनः प्रकृति और पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १९ ॥

प्रकृति* और पुरुष, इन दोनोंको ही तू अनादि जान† । और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें, जिससे जो उत्पन्न हुआ है, यह बात सुननेके लिये कहा गया था, उसका वर्णन पूर्व श्लोकके उत्तरार्द्धमें कुछ किया गया । अब उसीकी कुछ बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें कहते हुए इसके उत्तरार्द्धमें और इक्कीसवें श्लोकमें प्रकृतिमें स्थित पुरुषके स्वरूपका वर्णन किया जाता है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

कार्य और करणको उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है‡ और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है§ ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है× और इन गुणोंका संग ही इस

---

१. इसी अध्यायके छठे श्लोकमें जिन इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि विकारोंका वर्णन किया गया है—उन सबका वाचक यहाँ 'विकारान्' पद है तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका और इनसे उत्पन्न समस्त जड पदार्थोंका वाचक 'गुणान्' पद है । इन दोनोंको प्रकृतिसे उत्पन्न समझनेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका नाम प्रकृति नहीं है; प्रकृति अनादि है । तीनों गुण सृष्टिके आदिमें उससे उत्पन्न होते हैं (भागवत २ । ५ । २२ तथा ११ । २४ । ५) । इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्ने गीताके चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें सत्त्व, रज और तम—इस प्रकार तीनों गुणोंका नाम देकर तीनोंको प्रकृतिसम्भव बतलाया है ।

* यहाँ 'प्रकृति' शब्द ईश्वरकी अनादिसिद्ध मूल प्रकृतिका वाचक है । गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें इसीको महद्ब्रह्मके नामसे कहा गया है । सातवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें अपरा प्रकृतिके नामसे और इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रके नामसे भी इसीका वर्णन है । भेद इतना ही है कि वहाँ सातवें अध्यायमें उसके कार्य—मन, बुद्धि, अहंकार और पञ्चमहाभूतादिके सहित प्रकृतिका वर्णन है और यहाँ केवल 'मूल प्रकृति' का वर्णन है ।

† जीवका जीवत्व अर्थात् प्रकृतिके साथ उसका सम्बन्ध किसी हेतुसे होनेवाला—आगन्तुक नहीं है, यह अनादिसिद्ध है और इसी प्रकार ईश्वरकी शक्ति यह प्रकृति भी अनादिसिद्ध है—ऐसा समझना चाहिये ।

‡ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों सूक्ष्म महाभूत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय; इन दसोंका वाचक यहाँ 'कार्य' शब्द है । बुद्धि, अहंकार और मन—ये तीनों अन्तःकरण; श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ; इन तेरहका वाचक यहाँ 'करण' शब्द है । ये तेईस तत्त्व प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृति ही इनका उपादान कारण है; क्योंकि प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे पाँच सूक्ष्म महाभूत, मन और दस इन्द्रिय तथा पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि पाँचों स्थूल विषयोंकी उत्पत्ति मानी जाती है । सांख्यकारिकामें भी कहा है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥
(सांख्यकारिका २२)

'प्रकृतिसे महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि) की यानी बुद्धितत्त्वकी, उससे अहंकारकी और अहंकारसे पाँच तन्मात्राएँ, एक मन और दस इन्द्रियाँ—इन सोलहके समुदायकी उत्पत्ति हुई तथा उन सोलहमेंसे पाँच तन्मात्राओंसे पाँच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति हुई ।'

गीताके वर्णनमें पाँच तन्मात्राओंकी जगह पाँच सूक्ष्म महाभूतोंका नाम आया है और पाँच स्थूल भूतोंके स्थानमें पाँच इन्द्रियोंके विषयोंका नाम आया है, इतना ही भेद है ।

§ प्रकृति जड है, उसमें भोक्तापनकी सम्भावना नहीं है और पुरुष असङ्ग है, इसलिये उसमें भी वास्तवमें भोक्तापन नहीं है । प्रकृतिके संगसे ही पुरुषमें भोक्तापनकी प्रतीति-सी होती है और यह प्रकृति-पुरुषका संग अनादि है, इसलिये यहाँ पुरुषको सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु यानी निमित्त माना गया है ।

× प्रकृतिसे बने हुए स्थूल, सूक्ष्म और कारण-इन तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरके साथ जबतक इस जीवात्मा-

जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है* ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रकृतिस्थ पुरुषके स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब जीवात्मा और परमात्माकी एकता करते हुए आत्माके गुणातीत स्वरूपका वर्णन करते हैं—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ २२ ॥

इस देहमें स्थित यह आत्मा वास्तवमें परमात्मा ही है† । वही साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा—ऐसा कहा गया है‡ ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है,§ वह सब प्रकारसे कर्तव्य कर्म करता हुआ भी× फिर नहीं जन्मता + ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार गुणोंके सहित प्रकृति और पुरुषके ज्ञानका महत्त्व सुनकर यह इच्छा हो सकती है कि ऐसा ज्ञान कैसे होता है । इसलिये अब दो श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करते हैं—

का सम्बन्ध रहता है, तबतक वह प्रकृतिमें स्थित (प्रकृतिस्थ) कहलाता है, अतएव जबतक आत्माका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है, तभीतक वह प्रकृतिजनित गुणोंका भोक्ता है ।

* मनुष्यसे लेकर उससे ऊँची जितनी भी देवादि योनियाँ हैं, सब सत्-योनियाँ हैं और मनुष्यसे नीची जितनी भी पशु, पक्षी, वृक्ष और लता आदि योनियाँ हैं, वे असत् हैं । सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके साथ जो जीवका अनादिसिद्ध सम्बन्ध है एवं उनके कार्यरूप सांसारिक पदार्थोंमें जो आसक्ति है, वही गुणोंका संग है; जिस मनुष्यकी जिस गुणमें या उसके कार्यरूप पदार्थमें आसक्ति होगी, उसकी वैसी ही वासना होगी, वासनाके अनुसार ही अन्तकालमें स्मृति होगी और उसीके अनुसार उसे पुनर्जन्म प्राप्त होगा । इसीलिये यहाँ अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें गुणोंके संगको कारण बतलाया गया है ।

† प्रकृतिजनित शरीरोंकी उपाधिसे जो चेतन आत्मा अज्ञानके कारण जीवभावको प्राप्त-सा प्रतीत होता है, वह क्षेत्रज्ञ वास्तवमें इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत परमात्मा ही है; क्योंकि उस परब्रह्म परमात्मामें और क्षेत्रज्ञमें वस्तुतः किसी प्रकारका भेद नहीं है, केवल शरीररूप उपाधिसे ही भेदकी प्रतीति हो रही है ।

‡ इस कथनसे इस बातका प्रतिपादन किया गया है कि भिन्न-भिन्न निमित्तोंसे एक ही परब्रह्म परमात्मा भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जाता है । वस्तुदृष्टिसे ब्रह्ममें किसी प्रकारका भेद नहीं है ।

§ जितने भी पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञोंकी प्रतीति होती है, सब उस एक परब्रह्म परमात्माके ही अभिन्न स्वरूप हैं; प्रकृतिके संगसे उनमें भिन्नता-सी प्रतीत होती है, वस्तुतः कोई भेद नहीं है और वह परमात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और अविनाशी तथा प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है—इस बातको संशयरहित यथार्थ समझ लेना एवं एकीभावसे उस सच्चिदानन्दघनमें नित्य स्थित हो जाना ही 'पुरुषको तत्त्वसे जानना' है । तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं, यह समस्त विश्व प्रकृतिका ही पसारा है और वह नाशवान्, जड, क्षणभङ्गुर और अनित्य है—इस रहस्यको समझ लेना ही 'गुणोंके सहित प्रकृतिको तत्त्वसे जानना' है ।

× वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—किसी भी वर्णमें एवं ब्रह्मचर्यादि किसी भी आश्रममें रहता हुआ तथा उन-उन वर्णाश्रमोंके लिये शास्त्रमें विधान किये हुए समस्त कर्मोंको यथायोग्य करता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ।

यहाँ 'सर्वथा वर्तमानः' का अर्थ निषिद्ध कर्म करता हुआ नहीं समझना चाहिये; क्योंकि आत्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीमें काम-क्रोधादि दोषोंका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण (गीता ५ । २६) उसके द्वारा निषिद्ध कर्मका बनना सम्भव नहीं है । इसीलिये उसके आचरण संसारमें प्रमाणरूप माने जाते हैं (गीता ३ । २१) । पापोंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति काम-क्रोधादि अवगुणोंके कारण ही होती है; अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने तीसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें इस बातको स्पष्टरूपसे कह भी दिया है ।

+ प्रकृति और पुरुषके तत्त्वको जान लेनेके साथ ही पुरुषका प्रकृतिसे सम्बन्ध टूट जाता है; क्योंकि प्रकृति और पुरुषका संयोग स्वप्नवत्, अवास्तविक और केवल अज्ञानजनित माना गया है । जबतक प्रकृति और पुरुषका पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभीतक पुरुषका प्रकृतिसे और उसके गुणोंसे सम्बन्ध रहता है और तभीतक उसका बार-बार नाना योनियोंमें जन्म होता है (गीता १३ । २१) । अतएव इनका तत्त्व जान लेनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं;* अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा† और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा‡ देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।§
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमात्मसम्बन्धी तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करके अब तीसरे श्लोकमें जो 'यादृक्' पदसे क्षेत्रके स्वभावको सुननेके लिये कहा था, उसके अनुसार भगवान् दो श्लोकोंद्वारा उस क्षेत्रको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर उसके स्वभावका वर्णन करते हुए आत्माके यथार्थ तत्त्वको जाननेवालेकी प्रशंसा करते हैं—

यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न जान× ॥ २६ ॥

---

* गीताके छठे अध्यायके ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें बतलायी हुई विधिके अनुसार शुद्ध और एकान्त स्थानमें उपयुक्त आसनपर निश्चलभावसे बैठकर इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर, मनको वशमें करके तथा एक परमात्माके सिवा दृश्यमात्रको भूलकर निरन्तर परमात्माका चिन्तन करना ध्यान है । इस प्रकार ध्यान करते रहनेसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है और उस विशुद्ध सूक्ष्मबुद्धिसे जो हृदयमें सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किया जाता है, वही ध्यानद्वारा आत्मासे आत्मामें आत्माको देखना है ।

परंतु भेदभावसे सगुण-निराकारका और सगुण-साकारका ध्यान करनेवाले साधक भी यदि इस प्रकारका फल चाहते हों तो उनको भी अभेदभावसे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है ।

† सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जल अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामात्र हैं; इसलिये प्रकृतिके कार्यरूप समस्त गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं-ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हो जाना तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीकी भी भिन्न सत्ता न समझना—यह 'सांख्ययोग' नामक साधन है और इसके द्वारा जो आत्मा और परमात्माके अभेदका प्रत्यक्ष होकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्न भावसे प्राप्त हो जाना है, वही सांख्ययोगके द्वारा आत्माको आत्मामें देखना है ।

यह साधन साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारीके द्वारा ही सुगमतासे किया जा सकता है । इसका विस्तार 'गीतातत्त्व-विवेचनी' में देखना चाहिये ।

‡ जिस साधनका गीताके दूसरे अध्यायमें चालीसवें श्लोकसे उक्त अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त फलसहित वर्णन किया गया है, उसका वाचक यहाँ 'कर्मयोग' है । अर्थात् आसक्ति और कर्मफलका सर्वथा त्याग करके सिद्धि और असिद्धिमें समत्व रखते हुए शास्त्रानुसार निष्कामभावसे अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सब प्रकारके विहित कर्मोंका अनुष्ठान करना कर्मयोग है और इसके द्वारा जो सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको अभिन्नभावसे प्राप्त हो जाना है, वही कर्मयोगके द्वारा आत्मामें आत्माको देखना है ।

§ बुद्धिकी मन्दताके कारण जो लोग पूर्वोक्त ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग—इनमेंसे किसी भी साधनको भलीभाँति नहीं समझ पाते, ऐसे साधकोंका वाचक यहाँ 'एवम् अजानन्तः' विशेषणके सहित 'अन्ये' पद है ।

तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंका आदेश प्राप्त करके अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ जो जबालाके पुत्र सत्यकामकी भाँति उसके अनुसार आचरण करना है, वही दूसरोंसे सुनकर उपासना करना है ।

१. तेईसवें श्लोकमें जो बात 'न स भूयोऽभिजायते' से और चौबीसवेंमें जो बात 'आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति'से कही है, वही बात यहाँ 'मृत्युम् अतितरन्ति' से कही गयी है ।

× इस अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिन चौबीस तत्त्वोंके समुदायको क्षेत्रका स्वरूप बतलाया गया है, गीताके सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें जिसको 'अपरा प्रकृति' कहा गया है, वही 'क्षेत्र' है और उसको जो जाननेवाला है,

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वर-को नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है* ॥ २७ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता,† इससे वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्वको सर्वत्र समभावसे देखनेका महत्त्व और फल बतलाकर अब अगले श्लोकमें उसे अकर्ता देखनेवालेकी महिमा कहते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है‡ ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

जिसको गीताके सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'परा प्रकृति' कहा गया है, वह चेतन तत्त्व ही 'क्षेत्रज्ञ' है, उसका यानी 'प्रकृतिस्थ' पुरुषका जो प्रकृतिसे बने हुए भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना है, वही क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका संयोग है और इसके होते ही जो भिन्न-भिन्न योनियोंद्वारा भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें प्राणियोंका प्रकट होना है, वही उनका उत्पन्न होना है ।

* यहाँ 'परमेश्वर' शब्द प्रकृतिसे सर्वथा अतीत उस निर्विकार चेतन तत्त्वका वाचक है, जिसका वर्णन 'क्षेत्रज्ञ' के साथ एकता करते हुए इसी अध्यायके बाईसवें श्लोकमें उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्माके नामसे किया गया है । समस्त प्राणियोंके जितने भी शरीर हैं, जिनके सम्बन्धसे वे विनाशशील कहे जाते हैं, उन समस्त शरीरोंमें उनके वास्तविक स्वरूपभूत एक ही अविनाशी निर्विकार चेतनतत्त्व परमात्माको जो विनाशशील बादलोंमें आकाशकी भाँति समभावसे स्थित और नित्य देखना है—वही उस 'परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें विनाशरहित और समभाव-से स्थित देखना' है ।

† एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र समभावसे स्थित है, अज्ञानके कारण ही भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसकी भिन्नता प्रतीत होती है—वस्तुतः उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है—इस तत्त्वको भलीभाँति समझकर प्रत्यक्ष कर लेना ही 'सर्वत्र समभावसे स्थित परमेश्वरको सम देखना' है । जो इस तत्त्वको नहीं जानते, उनका देखना सम देखना नहीं है; क्योंकि उनकी सबमें विषमबुद्धि होती है, वे किसीको अपना प्रिय, हितैषी और किसीको अप्रिय तथा अहित करनेवाला समझते हैं एवं अपने-आपको दूसरोंसे भिन्न, एकदेशीय मानते हैं । अतएव वे शरीरोंके जन्म और मरणको अपना जन्म और मरण माननेके कारण बार-बार नाना योनियोंमें जन्म लेकर मरते रहते हैं, यही उनका अपनेद्वारा अपनेको नष्ट करना है; परंतु जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे एक ही परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है, वह न तो अपनेको उस परमेश्वरसे भिन्न समझता है और न इन शरीरोंसे अपना कोई सम्बन्ध ही मानता है । इसलिये वह शरीरोंके विनाशसे अपना विनाश नहीं देखता और इसीलिये वह अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता । अभिप्राय यह है कि उसकी स्थिति सर्वज्ञ, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे हो जाती है, अतएव वह सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है ।

‡ गीताके तीसरे अध्यायके सत्ताईसवें, अट्ठाईसवें और चौदहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकोंमें समस्त कर्मोंको गुणोंद्वारा किये जाते हुए बतलाया गया है तथा पाँचवें अध्यायके आठवें, नवें श्लोकोंमें सब इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना कहा गया है और यहाँ सब कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये जाते हुए देखनेको कहते हैं । इस प्रकार तीन तरहके वर्णनका तात्पर्य एक ही है; क्योंकि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके ही कार्य हैं तथा समस्त इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि आदि एवं इन्द्रियोंके विषय—ये सब भी गुणोंके ही विस्तार हैं । अतएव इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना, गुणोंका गुणोंमें बरतना और गुणोंद्वारा समस्त कर्मोंको किये जाते हुए बतलाना भी सब कर्मोंको प्रकृति-द्वारा ही किये जाते हुए बतलाना है । अतः सभी जगहोंके कथनका अभिप्राय आत्मामें कर्तापनका अभाव दिखलाना है ।

आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सब प्रकारके विकारोंसे रहित है; प्रकृतिसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । अतएव वह न किसी भी कर्मका कर्ता है और न कर्मोंके फलका भोक्ता ही है—इस बातका अपरोक्षभावसे अनुभव कर लेना 'आत्माको अकर्ता समझना' है तथा जो ऐसा देखता है, वही यथार्थ देखता है ।

जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है,* उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्माको सब प्राणियोंमें समभावसे स्थित, निर्विकार और अकर्ता बतलाया जानेपर यह शङ्का होती है कि समस्त शरीरोंमें रहता हुआ भी आत्मा उनके दोषोंसे निर्लिप्त और अकर्ता कैसे रह सकता है; इस शङ्काका निवारण करनेके लिये अब भगवान्—इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें जो 'यत्प्रभावश्च' पदसे क्षेत्रज्ञका प्रभाव सुननेका संकेत किया गया था, उसके अनुसार—तीन श्लोकोंद्वारा आत्माके प्रभावका वर्णन करते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा† शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है‡ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा क्यों नहीं लिप्त होता ? इसपर कहते हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होनेके कारण देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होता§ ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा कर्ता क्यों नहीं है ? इसपर कहते हैं—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है× ॥ ३३ ॥

---

* जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नकालमें दिखलायी देनेवाले समस्त प्राणियोंके नानात्वको अपने-आपमें ही देखता है और यह भी समझता है कि उन सबका विस्तार मुझसे ही हुआ था; वस्तुतः स्वप्नकी सृष्टिमें मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था, एक मैं ही अपने-आपको अनेक रूपमें देख रहा था—इसी प्रकार जो समस्त प्राणियोंको केवल एक परमात्मामें ही स्थित और उसीसे सबका विस्तार देखता है, वही ठीक देखता है और इस प्रकार देखना ही सबको एकमें स्थित और उसी एकसे सबका विस्तार देखना है ।

१. इस अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें जिसको 'परमेश्वर', अट्ठाईसवेंमें 'ईश्वर', उन्तीसवेंमें आत्मा और तीसवेंमें 'ब्रह्म' कहा गया है, उसीको यहाँ 'परमात्मा' बतलाया गया है । अर्थात् इन सबकी अभिन्नता—एकता दिखलानेके लिये यहाँ 'अयम्' पदका प्रयोग किया गया है ।

† जिसका कोई आदि यानी कारण न हो एवं जिसकी किसी भी कालमें नयी उत्पत्ति न हुई हो और जो सदासे ही हो, उसे 'अनादि' कहते हैं । प्रकृति और उसके गुणोंसे जो सर्वथा अतीत हो, गुणोंसे और गुणोंके कार्यसे जिसका किसी कालमें और किसी भी अवस्थामें वास्तविक सम्बन्ध न हो, उसे 'निर्गुण' कहते हैं । अतएव यहाँ 'अनादि' और 'निर्गुण'—इन दोनों शब्दोंका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जिसका प्रकरण चल रहा है, वह आत्मा 'अनादि' और 'निर्गुण' है; इसलिये वह अकर्ता, निर्लिप्त और अव्यय है—जन्म, मृत्यु आदि छः विकारोंसे सर्वथा अतीत है ।

‡ जैसे आकाश बादलोंमें स्थित होनेपर भी उनका कर्ता नहीं बनता और उनसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा कर्मोंका कर्ता नहीं बनता और शरीरोंसे लिप्त भी नहीं होता ।

§ आकाशके दृष्टान्तसे आत्मामें निर्लेपता सिद्ध की गयी है । अभिप्राय यह है कि जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें सब जगह समभावसे व्याप्त होते हुए भी उनके गुण-दोषोंसे किसी तरह भी लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी इस शरीरमें सब जगह व्याप्त होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म और गुणोंसे सर्वथा अतीत होनेके कारण बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरके गुण-दोषोंसे जरा भी लिपायमान नहीं होता ।

× इस श्लोकमें रवि (सूर्य) का दृष्टान्त देकर आत्मामें अकर्तापनकी और 'रविः' पदके साथ 'एकः' विशेषण देकर आत्माके अद्वैतभावकी सिद्धि की गयी है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा समस्त क्षेत्रको—यानी इसी अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारसहित क्षेत्रके नामसे जिसके स्वरूपका वर्णन किया गया है, उस समस्त जडवर्गरूप समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, सबको सत्ता-स्फूर्ति देता है तथा भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंके सम्बन्धसे भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसका भिन्न-भिन्न प्राकट्य होता-सा देखा जाता है ऐसा होनेपर भी वह आत्मा सूर्यकी भाँति न तो उनके कर्मोंको करनेवाला और न करवानेवाला ही होता है तथा न द्वैतभाव या वैषम्यादि

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें जिन छः बातोंको कहनेका भगवान्‌ने संकेत किया था, उनका वर्णन करके अब इस अध्यायमें वर्णित समस्त उपदेशको भलीभाँति समझनेका फल परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हुए अध्यायका उपसंहार करते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं,* वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ।३४।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्‌भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ भीष्मपर्वणि तु सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३॥ भीष्मपर्वमें सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३७॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्दशोऽध्यायः)

ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्तिका, सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंका, भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं गुणातीत पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के लक्षणोंका निर्देश करके उन दोनोंके ज्ञानको ही ज्ञान बतलाया और उसके अनुसार क्षेत्रके स्वरूप, स्वभाव, विकार और उसके तत्त्वोंकी उत्पत्तिके क्रम आदि तथा क्षेत्रज्ञके स्वरूप और उसके प्रभावका वर्णन किया । वहाँ उन्नीसवें श्लोकसे प्रकृति-पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करके गुणोंको प्रकृतिजन्य बतलाया और इक्कीसवें श्लोकमें यह बात भी कही कि पुरुषके बार-बार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होनेमें गुणोंका सङ्ग ही हेतु है । इससे गुणोंके भिन्न-भिन्न स्वरूप क्या हैं, ये जीवात्माको कैसे शरीरमें बाँधते हैं, किस गुणके सङ्गसे किस योनिमें जन्म होता है, गुणोंसे छूटनेके उपाय क्या हैं, गुणोंसे छूटे

दोषोंसे ही युक्त होता है । वह अविनाशी आत्मा प्रत्येक अवस्थामें सदा-सर्वदा शुद्ध, विज्ञानस्वरूप, अकर्ता, निर्विकार, सम और निरञ्जन ही रहता है ।

* इस अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको अपने मतसे 'ज्ञान' कहा है और गीताके पाँचवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें जिसको अज्ञानका नाश करनेमें कारण बतलाया है, जिसकी प्राप्ति अमानित्वादि साधनोंसे होती है, इस श्लोकमें 'ज्ञानचक्षुषा' पदमें आया हुआ 'ज्ञान' शब्द उसी 'तत्त्वज्ञान' का वाचक है ।

उस ज्ञानके द्वारा जो भलीभाँति तत्त्वसे यह समझ लेना है कि महाभूतादि चौबीस तत्त्वोंके समुदायरूप समष्टिशरीरका नाम 'क्षेत्र' है; वह जाननेमें आनेवाला, परिवर्तनशील, विनाशी, विकारी, जड, परिणामी और अनित्य है तथा 'क्षेत्रज्ञ' उसका ज्ञाता (जाननेवाला), चेतन, निर्विकार, अकर्ता, नित्य, अविनाशी, असङ्ग, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और एक है । इस प्रकार दोनोंमें विलक्षणता होनेके कारण क्षेत्रज्ञ क्षेत्रसे सर्वथा भिन्न है । जो उसकी क्षेत्रके साथ एकता प्रतीत होती है, वह अज्ञानमूलक है । वास्तवमें क्षेत्रज्ञका उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । यही ज्ञानचक्षुके द्वारा 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के भेदको जानना है ।

इस श्लोकमें 'भूत' शब्द प्रकृतिके कार्यरूप समस्त दृश्यवर्गका और 'प्रकृति' उसके कारणका वाचक है । अतः कार्यसहित प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त हो जाना ही 'भूतप्रकृतिमोक्ष' है तथा उपर्युक्त प्रकारसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको जाननेके साथ-साथ जो क्षेत्रज्ञका प्रकृतिसे अलग होकर अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें अभिन्न-भावसे प्रतिष्ठित हो जाना है, यही कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त हो जानेको जानना है ।

अभिप्राय यह है कि जैसे स्वप्नमें मनुष्यको किसी निमित्तसे अपनी जाग्रत्-अवस्थाकी स्मृति हो जानेसे यह मालूम हो जाता है कि यह स्वप्न है, अतः अपने असली शरीरमें जग जाना ही इसके दुःखोंसे छूटनेका उपाय है—इस भावका उदय होते ही वह जग उठता है; वैसे ही ज्ञानयोगीका क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी विलक्षणताको समझकर साथ-ही-साथ जो यह समझ लेना है कि अज्ञानवश क्षेत्रको सच्ची वस्तु समझनेके कारण ही इसके साथ मेरा सम्बन्ध-सा हो रहा था । अतः वास्तविक सच्चिदानन्दघन परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ही इससे मुक्त होना है; यही उसका कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जानना है ।

हुए पुरुषोंके लक्षण तथा आचरण कैसे होते हैं—ये सब बातें जाननेकी स्वाभाविक ही इच्छा होती है; अतएव इसी विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिये इस चौदहवें अध्यायका आरम्भ किया गया है। तेरहवें अध्यायमें वर्णित ज्ञानको ही स्पष्ट करके चौदहवें अध्यायमें विस्तारपूर्वक समझाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—ज्ञानोंमें भी अति उत्तम उस परम ज्ञानको मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं* ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानको आश्रय करके† अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते‡ ॥ २ ॥

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है§ और मैं उस योनिमें चेतन-समुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ×। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है+ ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं,÷ प्रकृति तो उन

---

१. श्रुति-स्मृति-पुराणादिमें विभिन्न विषयोंको समझानेके लिये जो नाना प्रकारके बहुत-से उपदेश हैं, उन सभीका वाचक यहाँ 'ज्ञानानाम्' पद है। उनमेंसे प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका विवेचन करके पुरुषके वास्तविक स्वरूपको प्रत्यक्ष करा देनेवाला जो तत्त्वज्ञान है, यहाँ भगवान् उसी ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। वह ज्ञान परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाला और जीवात्माको प्रकृतिके बन्धनसे छुड़ाकर सदाके लिये मुक्त कर देनेवाला है, इसलिये उस ज्ञानको अन्यान्य ज्ञानोंकी अपेक्षा उत्तम और पर (अत्यन्त उत्कृष्ट) बतलाया गया है।

* यहाँ 'मुनिजन' शब्दसे ज्ञानयोगके साधनद्वारा परम गतिको प्राप्त ज्ञानियोंको समझना चाहिये; तथा जिसको 'परब्रह्मकी प्राप्ति' कहते हैं, जिसका वर्णन 'परम शान्ति', 'आत्यन्तिक सुख' और 'अपुनरावृत्ति' आदि अनेक नामोंसे किया गया है, जहाँ जाकर फिर कोई वापस नहीं लौटता—यहाँ मुनिजनोंद्वारा प्राप्त की जानेवाली 'परम सिद्धि' भी वही है।

२. पिछले श्लोकमें 'परां सिद्धिं गताः' से जो बात कही गयी है, इस श्लोकमें 'मम साधर्म्यमागताः' से भी वही कही गयी है। अभिप्राय यह है कि भगवान्के निर्गुण रूपको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना ही भगवान्के साधर्म्यको प्राप्त होना है।

† इस प्रकरणमें वर्णित ज्ञानके अनुसार प्रकृति और पुरुषके स्वरूपको समझकर गुणोंके सहित प्रकृतिसे सर्वथा अतीत हो जाना और निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहना ही इस ज्ञानका आश्रय लेना है।

‡ इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि इन अध्यायोंमें बतलाये हुए ज्ञानका आश्रय लेकर तदनुसार साधन करके जो पुरुष परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको अभेदभावसे प्राप्त हो चुके हैं, वे मुक्त पुरुष न तो महासर्गके आदिमें पुनः उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें पीडित ही होते हैं। वस्तुतः सृष्टिके सर्ग और प्रलयसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता।

§ समस्त जगत्की कारणरूपा जो मूल प्रकृति है, जिसे 'अव्यक्त' और 'प्रधान' भी कहते हैं; उस प्रकृतिका वाचक 'महत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' शब्द है। यहाँ उसे 'योनि' नाम देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त प्राणियोंके विभिन्न शरीरोंका यही उपादान-कारण है और यही गर्भाधानका आधार है।

× महाप्रलयके समय अपने-अपने संस्कारोंके सहित परमेश्वरमें स्थित जीवसमुदायका जो महासर्गके आदिमें प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध कर देना है, वही उस चेतनसमुदायरूप गर्भको प्रकृतिरूप योनिमें स्थापन करना है।

\+ उपर्युक्त जड-चेतनके संयोगसे जो भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें सब प्राणियोंका सूक्ष्मरूपसे प्रकट होना है, वही उनकी उत्पत्ति है।

÷ यहाँ 'मूर्ति' शब्द देव, मनुष्य, राक्षस, पशु और पक्षी आदि नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न वर्ण और आकृतिवाले शरीरोंसे युक्त समस्त प्राणियोंका वाचक है। उन प्राणियोंका स्थूलरूपसे जन्म ग्रहण करना ही उनका उत्पन्न होना है।

सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ* ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—जीवोंके नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेनेकी बात तो चौथे श्लोकतक कही गयी, किंतु वहाँ गुणोंकी कोई बात नहीं आयी । इसलिये अब वे गुण क्या हैं ? उनका संग क्या है ? किस गुणके संगसे अच्छी योनिमें और किस गुणके संगसे बुरी योनिमें जन्म होता है ?—इन सब बातोंको स्पष्ट करनेके लिये इस प्रकरणका आरम्भ करते हुए भगवान् अब पहले उन तीनों गुणोंकी प्रकृतिसे उत्पत्ति और उनके विभिन्न नाम बतलाकर फिर उनके स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बन्धन-प्रकारका क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण† अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं‡ ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है,§ वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है× ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुणको कामना और आसक्तिसे उत्पन्न जान+ । वह इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है÷ ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवालेA तमोगुणको तो अज्ञानसे उत्पन्न जानB । वह इस

* इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि उन सब मूर्तियोंके जो सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, वे सब प्रकृतिके अंशसे बने हुए हैं और उन सबमें जो चेतन आत्मा है, वह मेरा अंश है । उन दोनोंके सम्बन्धसे समस्त मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी प्रकट होते हैं, अतएव प्रकृति उनकी माता है और मैं पिता हूँ ।

† अभिप्राय यह है कि गुण तीन हैं; सत्त्व, रज और तम उनके नाम हैं और तीनों परस्पर भिन्न हैं । ये तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं एवं समस्त जड पदार्थ इन्हीं तीनोंका विस्तार है ।

‡ जिसका शरीरमें अभिमान है, उसीपर इन गुणोंका प्रभाव पड़ता है और वास्तवमें स्वरूपसे वह सब प्रकारके विकारोंसे रहित और अविनाशी है, अतएव उसका बन्धन हो ही नहीं सकता । अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसने बन्धन मान रक्खा है । इन तीनों गुणोंका जो अपने अनुरूप भोगोंमें और शरीरोंमें इसका ममत्व, आसक्ति और अभिमान उत्पन्न कर देना है—यही उन तीनों गुणोंका उसको शरीरमें बाँध देना है ।

§ सत्त्वगुणका स्वरूप सर्वथा निर्मल है, उसमें किसी भी प्रकारका कोई दोष नहीं है; इसी कारण वह प्रकाशक और अनामय है । उससे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें प्रकाशकी वृद्धि होती है; एवं दुःख, विक्षेप, दुर्गुण और दुराचारोंका नाश होकर शान्तिकी प्राप्ति होती है ।

× 'सुख' शब्द यहाँ गीताके अठारहवें अध्यायके छत्तीसवें और सैंतीसवें श्लोकोंमें जिसके लक्षण बतलाये गये हैं, उस 'सात्त्विक सुख' का वाचक है । उस सुखकी प्राप्तिके समय जो 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार अभिमान हो जाता है तथा 'ज्ञान' बोधशक्तिका नाम है; उसके प्रकट होनेपर जो उसमें 'मैं ज्ञानी हूँ', ऐसा अभिमान हो जाता है; वह उसे गुणातीत अवस्थासे वञ्चित रख देता है, अतः यही सत्त्वगुणका जीवात्माको सुख और ज्ञानके संगसे बाँधना है ।

+ कामना और आसक्तिसे रजोगुण बढ़ता है तथा रजोगुणसे कामना और आसक्ति बढ़ती है । इनका परस्पर बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । इनमें रजोगुण बीजस्थानीय और कामना, आसक्ति आदि वृक्षस्थानीय हैं । बीज वृक्षसे ही उत्पन्न होता है, तथापि वृक्षका कारण भी बीज ही है । इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये कहीं रजोगुणसे कामादिकी उत्पत्ति और कहीं कामनादिसे रजोगुणकी उत्पत्ति बतलायी गयी है ।

÷ 'इन सब कर्मोंको मैं करता हूँ' कर्मोंमें कर्तापनके इस अभिमानपूर्वक 'मुझे इसका अमुक फल मिलेगा' ऐसा मानकर कर्मोंके और उनके फलोंके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेनेका नाम 'कर्मसङ्ग' है; इसके द्वारा रजोगुणका जो इस जीवात्माको जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है, वही उसका कर्मसङ्गके द्वारा जीवात्माको बाँधना है ।

A अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें ज्ञानशक्तिका अभाव करके उनमें मोह उत्पन्न कर देना ही तमोगुणका सब देहाभिमानियोंको मोहित करना है ।

B इस अध्यायके सतरहवें श्लोकमें तो अज्ञानकी उत्पत्ति तमोगुणसे बतलायी है और यहाँ तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न

जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है* ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बँधे जानेका प्रकार बतलाकर अब उन तीनों गुणोंका स्वाभाविक व्यापार बतलाते हैं—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है† और रजोगुण कर्ममें ‡ तथा तमोगुण तो ज्ञानको ढककर प्रमादमें भी लगाता है§ ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—सत्त्व आदि तीनों गुण जिस समय अपने-अपने कार्यमें जीवको नियुक्त करते हैं, उस समय वे ऐसा करनेमें किस प्रकार समर्थ होते हैं—यह बात अगले श्लोकमें बतलाते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण,× सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण,+—वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण÷ होता है अर्थात् बढ़ता हैA ॥ १० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अन्य दो गुणोंको दबाकर प्रत्येक गुणके बढ़नेकी बात कही गयी। अब प्रत्येक गुणकी वृद्धिके लक्षण बतलाया गया—इसका अभिप्राय यह है कि तमोगुणसे अज्ञान बढ़ता है और अज्ञानसे तमोगुण बढ़ता है। इन दोनोंमें भी बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अज्ञान बीजस्थानीय है और तमोगुण वृक्षस्थानीय है।

* अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी व्यर्थ चेष्टाका एवं शास्त्रविहित कर्तव्यपालनमें अवहेलनाका नाम 'प्रमाद' है। कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमताका नाम 'आलस्य' है। तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति—इन सबका नाम 'निद्रा' है। इन सबके द्वारा जो तमोगुणका इस जीवात्माको मुक्तिके साधनसे वञ्चित रखकर जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है—यही उसका प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

† 'सुख' शब्द यहाँ सात्त्विक सुखका वाचक है (गीता १८। ३६, ३७) और सत्त्वगुणका जो इस मनुष्यको सांसारिक भोगों और चेष्टाओंसे तथा प्रमाद, आलस्य और निद्रासे हटाकर आत्मचिन्तन आदिके द्वारा सात्त्विक सुखसे संयुक्त कर देना है—यही उसको सुखमें लगाना है।

‡ 'कर्म' शब्द यहाँ (इस लोक और परलोकके भोगरूप फल देनेवाले) शास्त्रविहित सकामकर्मोंका वाचक है। नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा उत्पन्न करके उनकी प्राप्तिके लिये उन कर्मोंमें मनुष्यको प्रवृत्त कर देना ही रजोगुणका मनुष्यको उन कर्मोंमें लगाना है।

§ जब तमोगुण बढ़ता है, तब वह कभी तो मनुष्यकी कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है और कभी अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी चेतनाको नष्ट करके निद्राकी वृत्ति उत्पन्न कर देता है—यही उसका मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित करना है और कर्तव्यपालनमें अवहेलना कराके व्यर्थ चेष्टाओंमें नियुक्त कर देना 'प्रमाद' में लगाना है।

× रजोगुणके कार्य लोभ, प्रवृत्ति और भोगवासनादि तथा तमोगुणके कार्य निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिको दबाकर जो सत्त्वगुणका ज्ञान, प्रकाश और सुख आदिको उत्पन्न कर देना है, यही रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुणका बढ़ जाना है।

+ जिस समय सत्त्वगुण और तमोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर रजोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें चञ्चलता, अशान्ति, लोभ, भोगवासना और नाना प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाती है—यही सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुणका बढ़ जाना है।

÷ जिस समय सत्त्वगुण और रजोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर तमोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणमें मोह आदि बढ़ जाते हैं और प्रमादमें प्रवृत्ति हो जाती है, वृत्तियाँ विवेकशून्य हो जाती हैं—यही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुणका बढ़ना है।

A गुणोंकी वृद्धिमें निम्नलिखित दस हेतु श्रीमद्भागवतमें बतलाये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च। ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥
(११ । १३ । १०)

'शास्त्र, जल, संतान, देश, काल, कर्म, योनि, चिन्तन, मन्त्र और संस्कार—ये दस गुणोंके हेतु हैं अर्थात् गुणोंको बढ़ानेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पदार्थ जिस गुणसे युक्त होते हैं, उनका संग उसी गुणको बढ़ा देता है।'

जाननेकी इच्छा होनेपर क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षण बतलाये जाते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

जिस समय इस देहमें* तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है† ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धिसे कर्मोंका सकामभावसे आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगोंकी लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं‡ ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

हे अर्जुन ! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब ही उत्पन्न होते हैं§ ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तीनों गुणोंकी वृद्धिके भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाकर अब दो श्लोकोंमें उन गुणोंमेंसे किस गुणकी वृद्धिके समय मरकर मनुष्य किस गतिको प्राप्त होता है, यह बतलाया जाता है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है× तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

---

* अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुणकी वृद्धिका अवसर मनुष्य-शरीरमें ही मिल सकता है और इसी शरीरमें सत्त्वगुणकी सहायता पाकर मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है, दूसरी योनियोंमें ऐसा अधिकार नहीं है।

† शरीरमें चेतनता, हलकापन तथा इन्द्रिय और अन्तःकरणमें निर्मलता और चेतनाकी अधिकता हो जाना ही 'प्रकाश'का उत्पन्न होना है। एवं सत्य-असत्य तथा कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिका जाग्रत् हो जाना 'ज्ञान' का उत्पन्न होना है। जिस समय प्रकाश और ज्ञान—इन दोनोंका प्रादुर्भाव होता है, उस समय अपने आप ही संसारमें वैराग्य होकर मनमें उपरति और सुख-शान्तिकी बाढ़-सी आ जाती है तथा राग-द्वेष, दुःख-शोक, चिन्ता, भय, चञ्चलता, निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिका अभाव-सा हो जाता है। उस समय मनुष्यको सावधान होकर अपना मन भजन-ध्यानमें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये; तभी सत्त्वगुणकी प्रवृत्ति अधिक समय ठहर सकती है; अन्यथा उसकी अवहेलना कर देनेसे शीघ्र ही तमोगुण या रजोगुण उसे दबाकर अपना कार्य आरम्भ कर सकते हैं।

‡ जिसके कारण मनुष्य प्रतिक्षण धनकी वृद्धिके उपाय सोचता रहता है, धनके व्यय करनेका समुचित अवसर प्राप्त होनेपर भी उसका त्याग नहीं करता एवं धनोपार्जनके समय कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेचन छोड़कर दूसरेके स्वत्वपर भी अधिकार जमानेकी इच्छा या चेष्टा करने लगता है, उस धनकी लालसाका नाम 'लोभ' है। नाना प्रकारके कर्म करनेके लिये मानसिक भावोंका जाग्रत् होना 'प्रवृत्ति' है। उन कर्मोंको सकामभावसे करने लगना उनका 'आरम्भ' है। मनकी चञ्चलताका नाम 'अशान्ति' है और किसी भी प्रकारके सांसारिक पदार्थोंको अपने लिये आवश्यक मानना 'स्पृहा' है। रजोगुणकी वृद्धिके समय इन लोभ आदि भावोंका प्रादुर्भाव होना ही उनका उत्पन्न हो जाना है।

§ मनुष्यके इन्द्रिय और अन्तःकरणमें दीप्तिका अभाव हो जाना ही 'अप्रकाश' का उत्पन्न होना है। कोई भी कर्म अच्छा नहीं लगना, केवल पड़े रहकर ही समय बितानेकी इच्छा होना, यह 'अप्रवृत्ति'का उत्पन्न होना है। शरीर और इन्द्रियोंद्वारा व्यर्थ चेष्टा करते रहना और कर्तव्यकर्ममें अवहेलना करना, यह 'प्रमाद' का उत्पन्न होना है। मनका मोहित हो जाना; किसी बातकी स्मृति न रहना; तन्द्रा, स्वप्न या सुषुप्ति-अवस्थाका प्राप्त हो जाना; विवेकशक्तिका अभाव हो जाना; किसी विषयको समझनेकी शक्तिका न रहना—यही सब 'मोह' का उत्पन्न होना है। ये सब लक्षण तमोगुणकी वृद्धिके समय उत्पन्न होते हैं, अतएव इनमेंसे कोई-सा भी लक्षण अपनेमें देखा जाय, तब मनुष्यको समझना चाहिये कि तमोगुण बढ़ा हुआ है।

१. 'देहभृत्' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो देहधारी हैं, जिनकी शरीरमें अहंता और ममता है, उन्हींकी पुनर्जन्मरूप भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं। जिनका शरीरमें अभिमान नहीं है, ऐसे जीवन्मुक्त महात्माओंका आवागमन नहीं होता।

× इस प्रकरणमें ऐसे मनुष्यकी गतिका निरूपण किया जाता है, जिसकी स्वाभाविक स्थिति दूसरे गुणोंमें होते हुए

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर* कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ† मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ़योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी वृद्धिमें मरनेके भिन्न-भिन्न फल बतलाये गये; इससे यह जाननेकी इच्छा होती है कि इस प्रकार कभी किसी गुणकी और कभी किसी गुणकी वृद्धि क्यों होती है; इसपर कहते हैं—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है।‡ राजस कर्मका फल दुःख§ एवं तामस कर्मका फल अज्ञान× कहा है ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें सत्त्व, रज और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका क्रमसे वर्णन किया गया; इसपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि 'ज्ञान' आदिकी उत्पत्तिको सत्त्व आदि गुणोंकी वृद्धिके लक्षण क्यों माना गया। अतएव कार्यकी उत्पत्तिसे कारणकी सत्ताको जान लेनेके लिये ज्ञान आदिकी उत्पत्तिमें सत्त्व आदि गुणोंको कारण बतलाते हैं—

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान+ उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निस्संदेह

भी सात्त्विक गुणकी वृद्धिमें मृत्यु हो जाती है। ऐसे मनुष्यमें जिस समय पूर्वसंस्कार आदि किसी कारणसे सत्त्वगुण बढ़ जाता है—अर्थात् जिस समय ग्यारहवें श्लोकके वर्णनानुसार उसके समस्त शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें 'प्रकाश' और 'ज्ञान' उत्पन्न हो जाता है, उस समय स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

* सात्त्विक और तामस पुरुषके भी हृदयमें जिस समय बारहवें श्लोकके अनुसार लोभ, प्रवृत्ति आदि राजस भाव बढ़े हुए होते हैं, उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्धविच्छेद हो जाना है—वही रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

† जिस समय सात्त्विक और राजस पुरुषके भी हृदयमें तेरहवें श्लोकके अनुसार 'अप्रकाश', 'अप्रवृत्ति' और 'प्रमाद' आदि तामस भाव बढ़े हुए हों, उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्धविच्छेद हो जाना है, वही तमोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

१. सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों प्रकारके कर्म-संस्कार प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें संचित रहते हैं; उनमेंसे जिस समय जैसे संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही सात्त्विक आदि भाव बढ़ते हैं और उन्हींके अनुसार नवीन कर्म होते हैं। कर्मोंसे संस्कार, संस्कारोंसे सात्त्विकादि गुणोंकी वृद्धि और वैसे ही स्मृति, स्मृतिके अनुसार पुनर्जन्म और पुनः कर्मोंका आरम्भ—इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

‡ जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म निष्कामभावसे किये जाते हैं, उन सात्त्विक कर्मोंके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें जो ज्ञान-वैराग्यादि निर्मल भावोंका बार-बार प्रादुर्भाव होता रहता है और मरनेके बाद जो दुःख और दोषोंसे रहित दिव्य प्रकाशमय लोकोंकी प्राप्ति होती है, वही उनका 'सात्त्विक और निर्मल फल' है।

§ जो कर्म भोगोंकी प्राप्तिके लिये अहंकारपूर्वक बहुत परिश्रमके साथ किये जाते हैं (गीता १८। २४), वे राजस हैं। ऐसे कर्मोंके करते समय तो परिश्रमरूप दुःख होता ही है, परंतु उसके बाद भी वे दुःख ही देते रहते हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें बार-बार भोग, कामना, लोभ और प्रवृत्ति आदि राजस भाव स्फुरित होते हैं—जिनसे मन विक्षिप्त होकर अशान्ति और दुःखोंसे भर जाता है। उन कर्मोंके फलस्वरूप जो भोग प्राप्त होते हैं, वे भी अज्ञानसे सुखरूप दीखनेपर भी वस्तुतः दुःखरूप ही होते हैं और फल भोगनेके लिये जो बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहना पड़ता है, वह तो महान् दुःख है ही।

× जो कर्म बिना सोचे-समझे मूर्खतावश किये जाते हैं और जिनमें हिंसा आदि दोष भरे रहते हैं (गीता १८। २५), वे 'तामस' हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें मोह बढ़ता है और मरनेके बाद जिन योनियोंमें तमोगुणकी अधिकता है—ऐसी जडयोनियोंकी प्राप्ति होती है; वही उसका फल 'अज्ञान' है।

+ यहाँ 'ज्ञान' शब्दसे यह समझना चाहिये कि ज्ञान, प्रकाश और सुख, शान्ति आदि सभी सात्त्विक भावोंकी उत्पत्ति सत्त्वगुणसे होती है।

लोभ* तथा तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥†

सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं‡ ॥

सम्बन्ध—गीताके तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो यह बात कही थी कि गुणोंका संग ही इस मनुष्यके अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिरूप पुनर्जन्मका कारण है; उसीके अनुसार इस अध्यायमें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक गुणोंके स्वरूप तथा गुणोंके कार्य-द्वारा बँधे हुए मनुष्योंकी गति आदिका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया। इस वर्णनसे यह बात समझायी गयी कि मनुष्यको पहले तम और रजोगुणका त्याग करके सत्त्वगुणमें अपनी स्थिति करनी चाहिये और उसके बाद सत्त्वगुणका भी त्याग करके गुणातीत हो जाना चाहिये। अतएव गुणातीत होनेके उपाय और गुणातीत अवस्थाका फल अगले दो श्लोकोंद्वारा बतलाया जाता है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

जिस समय द्रष्टा§ तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता× और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है+ ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

यह पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके÷ जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ परमानन्दको प्राप्त होता हैA ॥ २० ॥

---

* यहाँ 'लोभ' शब्दसे भी यही समझना चाहिये कि लोभ, प्रवृत्ति, आसक्ति, कामना, स्वार्थपूर्वक कर्मोंका आरम्भ आदि सभी राजस भावोंकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है।

† महाभारत, अश्वमेधपर्वके उन्चालीसवें अध्यायका दसवाँ श्लोक भी इसीसे मिलता-जुलता है।

‡ चौदहवें और पंद्रहवें श्लोकोंमें तो दूसरे गुणोंमें स्वाभाविक स्थितिके होते हुए भी मरणकालमें जिस गुणकी वृद्धिमें मृत्यु होती है, उसीके अनुसार गति होनेकी बात कही गयी है और यहाँ जिनकी स्वाभाविक स्थायी स्थिति सत्त्वादि गुणोंमें है, उनकी गतिके भेदका वर्णन किया गया है। इसलिये ही यहाँ सदा तमोगुणके कार्योंमें स्थित रहनेवाले तामस मनुष्यको नरकादिकी प्राप्ति होनेकी बात भी कही गयी है।

§ मनुष्य स्वाभाविक तो अपनेको शरीरधारी समझकर कर्ता और भोक्ता बना रहता है, परंतु जिस समय शास्त्र और आचार्यके उपदेशद्वारा विवेक प्राप्त करके वह अपनेको द्रष्टा समझने लग जाता है, उस समयका वर्णन यहाँ किया जाता है।

× इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण आदिकी श्रवण, दर्शन, खान-पान, चिन्तन-मनन, शयन-आसन और व्यवहार आदि सभी स्वाभाविक चेष्टाओंके होते समय सदा-सर्वदा अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित देखते हुए जो ऐसे समझना है कि गुणोंके अतिरिक्त अन्य कोई कर्ता नहीं है; गुणोंके कार्य इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण आदि ही गुणोंके कार्यरूप इन्द्रियादिके विषयोंमें बरत रहे हैं (गीता ५ । ८, ९); अतः गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता ३ । २८); मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—यही गुणोंसे अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता न देखना है।

+ अपनेको निर्गुण-निराकार ब्रह्मसे अभिन्न समझ लेनेपर जो उस एकमात्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी सत्ताका न रहना और सर्वत्र एवं सदा-सर्वदा केवल परमात्माका प्रत्यक्ष हो जाना ही उसे तत्त्वसे जानना है। ऐसी स्थितिके बाद जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी अभिन्नभावसे साक्षात् प्राप्ति हो जाती है, वही भगवद्भाव यानी भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त होना है।

÷ रज और तमका सम्बन्ध छूटनेके बाद यदि सत्त्वगुणसे सम्बन्ध बना रहे तो वह भी मुक्तिमें बाधक होकर पुनर्जन्मका कारण बन सकता है; अतएव उसका सम्बन्ध भी त्याग देना चाहिये। आत्मा वास्तवमें असङ्ग है, गुणोंके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; तथापि जो अनादिसिद्ध अज्ञानसे इनके साथ सम्बन्ध माना हुआ है, उस सम्बन्धको ज्ञानके द्वारा तोड़ देना और अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अभिन्न और गुणोंसे सर्वथा सम्बन्धरहित समझ लेना अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना ही गुणोंसे अतीत हो जाना यानी तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करना है।

A जन्म और मरण तथा बाल, युवा और वृद्ध-अवस्था शरीरकी होती है; एवं आधि और व्याधि आदि सब प्रकारके दुःख भी इन्द्रिय, मन और प्राण आदिके संघातरूप शरीरमें ही व्याप्त रहते हैं। अतः तत्त्वज्ञानके द्वारा शरीरसे सर्वथा सम्बन्धरहित हो जाना ही जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखोंसे सर्वथा मुक्त हो जाना है तथा जो अमृतस्वरूप सच्चिदानन्दघन

सम्बन्ध—इस प्रकार जीवन-अवस्थामें ही तीनों गुणोंसे अतीत होकर मनुष्य अमृतको प्राप्त हो जाता है—इस रहस्ययुक्त बातको सुनकर गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण और गुणातीत बननेके उपाय जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता है तथा हे प्रभो ! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनके प्रश्नोंमेंसे 'लक्षण' और 'आचरण' विषयक दो प्रश्नोंका उत्तर चार श्लोकोंद्वारा देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको* और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको† तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको‡ भी न तो प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा करता है ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता§ और गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है× एवं उस स्थितिसे कभी विचलित

ब्रह्मको अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, जिसे उन्नीसवें श्लोकमें भगवद्भावकी प्राप्तिके नामसे कहा गया है—वही यहाँ 'अमृत' का अनुभव करना है ।

* गुणातीत पुरुषके अंदर ज्ञान, शान्ति और आनन्द नित्य रहते हैं; उनका कभी अभाव नहीं होता । इसीलिये यहाँ सत्त्वगुणके कार्योंमें केवल प्रकाशके विषयमें कहा है कि उसके शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें यदि अपने-आप सत्त्वगुणकी प्रकाश-वृत्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है तो गुणातीत पुरुष उससे द्वेष नहीं करता और जब तिरोभाव हो जाता है तो पुनः उसके आगमनकी इच्छा नहीं करता; उसके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी स्थिति रहती है ।

† नाना प्रकारके कर्म करनेकी स्फुरणाका नाम प्रवृत्ति है । इसके सिवा जो काम, लोभ, स्पृहा और आसक्ति आदि रजोगुणके कार्य हैं—वे गुणातीत पुरुषमें नहीं होते । कर्मोंका आरम्भ गुणातीतके शरीर-इन्द्रियोंद्वारा भी होता है, वह 'प्रवृत्ति' के अन्तर्गत ही आ जाता है; अतएव यहाँ रजोगुणके कार्योंमेंसे केवल 'प्रवृत्ति'में ही राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि किसी भी स्फुरणा और क्रियाके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी ही स्थिति रहती है ।

‡ अन्तःकरणकी जो मोहिनी वृत्ति है—जिससे मनुष्यको तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं तथा शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें सत्त्वगुणके कार्य प्रकाशका अभाव-सा हो जाता है—उसका नाम 'मोह' है । इसके सिवा जो अज्ञान और प्रमाद आदि तमोगुणके कार्य हैं, उनका गुणातीतमें अभाव हो जाता है; क्योंकि अज्ञान तो ज्ञानके पास आ नहीं सकता और प्रमाद बिना कर्ताके करे कौन ? इसलिये यहाँ तमोगुणके कार्यमें केवल 'मोह'के प्रादुर्भाव और तिरोभावमें राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जब गुणातीत पुरुषके शरीरमें तन्द्रा, स्वप्न या निद्रा आदि तमोगुणकी वृत्तियाँ व्याप्त होती हैं, तब तो गुणातीत उनसे द्वेष नहीं करता और जब वे निवृत्त हो जाती हैं, तब वह उनके पुनरागमनकी इच्छा नहीं करता । दोनों अवस्थाओंमें ही उसकी स्थिति सदा एक-सी रहती है ।

१. गुणातीत पुरुषका तीनों गुणोंसे और उनके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण एवं समस्त पदार्थों और घटनाओंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेके कारण वह उदासीनके सदृश स्थित कहा जाता है ।

§ जिन जीवोंका गुणोंके साथ सम्बन्ध है, उनको ये तीनों गुण उनकी इच्छा न होते हुए भी बलात्कारसे नाना प्रकारके कर्मोंमें और उनके फलभोगोंमें लगा देते हैं एवं उनको सुखी-दुखी बनाकर विक्षेप उत्पन्न कर देते हैं तथा अनेकों योनियोंमें भटकाते रहते हैं; परंतु जिसका इन गुणोंसे सम्बन्ध नहीं रहता, उसपर इन गुणोंका कोई प्रभाव नहीं रह जाता। गुणोंके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणकी अवस्थाओंका परिवर्तन तथा नाना प्रकारके सांसारिक पदार्थोंका संयोग-वियोग होते रहनेपर भी वह अपनी स्थितिमें सदा निर्विकार एकरस रहता है; यही उसका गुणोंद्वारा विचलित नहीं किया जाना है।

× इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण आदि समस्त करण और शब्दादि सब विषय—ये सभी गुणोंके ही विस्तार हैं; अतएव इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका जो अपने-अपने विषयोंमें विचरना है—वह गुणोंका ही गुणोंमें बरतना है, आत्माका

नहीं होता * ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दाऽऽत्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला,† मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला‡ और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है§ ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

जो मान और अपमानमें सम है,× मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है+ एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है÷ ॥ २५ ॥

इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । आत्मा नित्य, चेतन, सर्वथा असङ्ग, सदा एकरस, सच्चिदानन्दस्वरूप है—ऐसा समझकर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मामें जो अभिन्नभावसे सदाके लिये नित्य स्थित हो जाना है, वही 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं यह समझकर परमात्मामें स्थित रहना' है ।

* गुणातीत पुरुषको गुण विचलित नहीं कर सकते, इतनी ही बात नहीं है; वह स्वयं भी अपनी स्थितिसे कभी किसी भी कालमें विचलित नहीं होता ।

† साधरण मनुष्योंकी स्थिति प्रकृतिके कार्यरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन प्रकारके शरीरोंमेंसे किसी एकमें रहती ही है; अतः वे 'स्वस्थ' नहीं हैं, किंतु 'प्रकृतिस्थ' हैं और ऐसे पुरुष ही प्रकृतिके गुणोंको भोगनेवाले हैं (गीता १३ । २१), इसलिये वे सुख-दुःखमें सम नहीं हो सकते । गुणातीत पुरुषका प्रकृति और उसके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतएव वह 'स्वस्थ' है—अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें स्थित है । इसलिये शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें सुख और दुःखोंका प्रादुर्भाव और तिरोभाव होते रहनेपर भी गुणातीत पुरुषका उनसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण वह उनके द्वारा सुखी-दुखी नहीं होता; उसकी स्थिति सदा सम ही रहती है । यही उसका सुख-दुःखको समान समझना है ।

‡ जो पदार्थ शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके अनुकूल हो तथा उनका पोषक, सहायक एवं सुखप्रद हो, वह लोकदृष्टिसे 'प्रिय' कहलाता है और जो पदार्थ उनके प्रतिकूल हो, उनका क्षयकारक, विरोधी एवं ताप पहुँचानेवाला हो, वह लोकदृष्टिसे 'अप्रिय' माना जाता है । साधारण मनुष्योंको प्रिय वस्तुके संयोगमें और अप्रियके वियोगमें राग और हर्ष तथा अप्रियके संयोगमें और प्रियके वियोगमें द्वेष और शोक होते हैं; किंतु गुणातीतमें ऐसा नहीं होता, वह सदा-सर्वदा राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे सर्वथा अतीत रहता है ।

§ किसीके सच्चे या झूठे दोषोंका वर्णन करना निन्दा है और गुणोंका बखान करना स्तुति है; इन दोनोंका सम्बन्ध—अधिकतर नामसे और कुछ शरीरसे है । गुणातीत पुरुषका 'शरीर' और उसके 'नाम' से किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न रहनेके कारण उसे निन्दा या स्तुतिके कारण शोक या हर्ष कुछ भी नहीं होता ।

१. गुणातीत पुरुषके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे जो कुछ भी शास्त्रानुकूल क्रियाएँ प्रारब्धानुसार लोकसंग्रहके लिये अर्थात् लोगोंको बुरे मार्गसे हटाकर अच्छे मार्गपर लगानेके उद्देश्यसे हुआ करती हैं, उन सबका वह किसी अंशमें भी कर्ता नहीं बनता । यही भाव दिखलानेके लिये उसे 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहा है ।

× मान और अपमानका सम्बन्ध अधिकतर शरीरसे है । अतः जिनका शरीरमें अभिमान है, वे संसारी मनुष्य मानमें राग और अपमानमें द्वेष करते हैं; इससे उनको मानमें हर्ष और अपमानमें शोक होता है तथा वे मान करनेवालेके साथ प्रेम और अपमान करनेवालेसे वैर भी करते हैं; परंतु 'गुणातीत' पुरुषका शरीरसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण न तो शरीरका मान होनेसे उसे हर्ष होता है और न अपमान होनेसे शोक ही होता है । उसकी दृष्टिमें जिसका मानापमान होता है, जिसके द्वारा होता है एवं जो मान-अपमानरूप कार्य है—ये सभी मायिक और स्वप्नवत् हैं; अतएव मान-अपमानसे उसमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष और हर्ष-शोक नहीं होते । यही उसका मान और अपमानमें सम रहना है ।

+ यद्यपि गुणातीत पुरुषका अपनी ओरसे किसी भी प्राणीमें मित्र या शत्रुभाव नहीं होता, इसलिये उसकी दृष्टिमें कोई मित्र अथवा वैरी नहीं है, तथापि लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्र और शत्रुभावकी कल्पना कर लेते हैं; किंतु वह दोनों पक्षवालोंमें समभाव रखता है, उसके द्वारा बिना राग-द्वेषके ही समभावसे सबके हितकी चेष्टा हुआ करती है, वह किसीका भी बुरा नहीं करता और उसकी किसीमें भी भेदबुद्धि नहीं होती । यही उसका मित्र और वैरीके पक्षोंमें सम रहना है ।

÷ अभिप्राय यह है कि इस अध्यायके बाईसवें, तेईसवें, चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें जिन लक्षणोंका वर्णन किया गया

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके दो प्रश्नोंका उत्तर देकर अब गुणातीत बननेके उपायविषयक तीसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है। यद्यपि इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने गुणातीत बननेका उपाय अपनेको अकर्ता समझकर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें नित्य-निरन्तर स्थित रहना बतला दिया था। एवं उपर्युक्त चार श्लोकोंमें गुणातीतके जिन लक्षण और आचरणोंका वर्णन किया गया है, उनको आदर्श मानकर धारण करनेका अभ्यास भी गुणातीत बननेका उपाय माना जाता है; किंतु अर्जुनने इन उपायोंसे भिन्न दूसरा कोई सरल उपाय जाननेकी इच्छासे प्रश्न किया था, इसलिये प्रश्नके अनुकूल भगवान् दूसरा सरल उपाय बतलाते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है,* वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है† ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें सगुण परमेश्वरकी उपासनाका फल निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया तथा इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें गुणातीत-अवस्थाका फल भगवद्भावकी प्राप्ति एवं बीसवें श्लोकमें 'अमृत' की प्राप्ति बतलाया गया। अतएव फलमें विषमताकी शङ्काका निराकरण करनेके लिये सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मणो[1] हि प्रतिष्ठाहममृतस्या[2]व्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य[3] सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

है, उन सब लक्षणोंसे जो युक्त है, उसे लोग 'गुणातीत' कहते हैं। यही गुणातीत पुरुषकी पहचानके चिह्न हैं और यही उसका आचार-व्यवहार है। अतएव जबतक अन्तःकरणमें राग-द्वेष, विषमता, हर्ष-शोक, अविद्या और अभिमानका लेशमात्र भी रहे, तबतक साधकको समझना चाहिये कि अभी गुणातीत-अवस्था नहीं प्राप्त हुई है।

* केवलमात्र एक परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ हैं; वे ही हमारे स्वामी, शरण लेने योग्य, परम गति और परम आश्रय तथा माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी और सर्वस्व हैं; उनके अतिरिक्त हमारा और कोई नहीं है—ऐसा समझकर उनमें जो स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेम है अर्थात् जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष न हो, जो सर्वथा और सर्वदा पूर्ण और अटल रहे, जिसका तनिक-सा अंश भी भगवान्से भिन्न वस्तुके प्रति न हो और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्की विस्मृति असह्य हो जाय, उस अनन्यप्रेमका नाम 'अव्यभिचारी भक्तियोग' है।

ऐसे भक्तियोगके द्वारा जो निरन्तर भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण-कीर्तन मनन, उनके नामोंका उच्चारण, जप तथा उनके स्वरूपका चिन्तन आदि करते रहना है एवं मन, बुद्धि और शरीर आदिको तथा समस्त पदार्थोंको भगवान्का ही समझकर निष्कामभावसे अपनेको केवल निमित्तमात्र समझते हुए उनके आज्ञानुसार उन्हींकी सेवारूपमें समस्त क्रियाओंको उन्हींके लिये करते रहना है—यही अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा भगवान्को निरन्तर भजना है।

† गुणातीत होनेके साथ ही मनुष्य ब्रह्मभावको अर्थात् जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म है, जिसको पा लेनेके बाद कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता, उसको अभिन्नभावसे प्राप्त करनेके योग्य बन जाता है और तत्काल ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

१. ब्रह्मकी प्रतिष्ठा मैं हूँ, इस कथनसे भगवान्ने यहाँ यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'वह ब्रह्म मुझ सगुण परमेश्वरसे भिन्न नहीं है और मैं उससे भिन्न नहीं हूँ अर्थात् मैं और ब्रह्म दो वस्तु नहीं है, एक ही तत्त्व है। अतएव पिछले श्लोकमें जो ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है, वह मेरी ही प्राप्ति है।' क्योंकि वास्तवमें एक परब्रह्म परमात्माके ही अधिकारी-भेदसे उपासनाके लिये भिन्न-भिन्न रूप बतलाये गये हैं। उनमेंसे परमात्माका जो मायातीत, अचिन्त्य, मन-वाणीका अविषय, निर्गुण स्वरूप है, वह तो एक ही है, परंतु सगुणरूपके साकार और निराकार—ऐसे दो भेद हैं। जिस स्वरूपसे यह सारा जगत् व्याप्त है, जो सबका आश्रय है, अपनी अचिन्त्य शक्तिसे सबका धारण-पोषण करता है, वह तो भगवान्का सगुण अव्यक्त निराकार रूप है। श्रीशिव, श्रीविष्णु एवं श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि भगवान्के साकार रूप हैं तथा यह सारा जगत् भगवान्का साकार विराट् स्वरूप है।

२. 'अमृतस्य' पद भी जिसको पाकर मनुष्य अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्युरूप संसारसे सदाके लिये छूट जाता है, उस ब्रह्मका ही वाचक है। उसकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह दिखलाया है कि वह अमृत भी मैं ही हूँ, अतएव इस अध्यायके बीसवें श्लोकमें और गीताके तेरहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें जो 'अमृत' की प्राप्ति बतलायी गयी है, वह मेरी ही प्राप्ति है।

३. जो नित्यधर्म है, जिस धर्मको गीताके नवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'धर्म्य' कहा है और बारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें 'धर्म्यामृत' नाम दिया गया है तथा इस प्रकरणमें जो गुणातीतके लक्षणोंके नामसे वर्णित हुआ है—उसका वाचक

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ*॥२७॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥ भीष्मपर्वणि तु अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४॥ भीष्मपर्वमें अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३८॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चदशोऽध्यायः)

संसारवृक्षका, भगवत्प्राप्तिके उपायका, जीवात्माका, प्रभावसहित परमेश्वरके स्वरूपका एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके तत्त्वका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके चौदहवें अध्यायमें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक तीनों गुणोंके स्वरूप, उनके कार्य एवं उनकी बन्धन-कारिताका और बँधे हुए मनुष्योंकी उत्तम, मध्यम और अधम गति आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उन्नीसवें और बीसवें श्लोकोंमें उन गुणोंसे अतीत होनेका उपाय और फल बतलाया गया। उसके बाद अर्जुनके पूछनेपर बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोंका वर्णन करके छब्बीसवें श्लोकमें सगुण परमेश्वरके अव्यभिचारी भक्तियोगको गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मप्राप्तिके लिये योग्य बननेका सरल उपाय बतलाया गया; अतएव भगवान्में अव्यभिचारी भक्तियोगरूप अनन्य प्रेम उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे अब उस सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपका एवं गुणोंसे अतीत होनेमें प्रधान साधन वैराग्य और भगवत्-शरणागतिका वर्णन करनेके लिये पंद्रहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले संसारमें वैराग्य उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे तीन श्लोकोंद्वारा संसारका वर्णन वृक्षके रूपमें करते हुए वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उसका छेदन करनेके लिये कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

यहाँ 'शाश्वतस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है। ऐसे धर्मकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वह मेरी प्राप्तिका साधन होनेके कारण मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि इस धर्मका आचरण करनेवाला किसी अन्य फलको न पाकर मुझको ही प्राप्त होता है।

* गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो 'अक्षय सुख' के नामसे, छठे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख'के नामसे और अठाईसवें श्लोकमें 'अत्यन्त सुख'के नामसे कहा गया है, उसी नित्य परमानन्दको यहाँ 'ऐकान्तिक सुख' अर्थात् अखण्ड एकरस आनन्द कहा गया है। उसका आश्रय (प्रतिष्ठा) अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वह नित्य परमानन्द मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है; अतः उसकी प्राप्ति मेरी ही प्राप्ति है।

१. 'मूल' शब्द कारणका वाचक है। इस संसारवृक्षकी उत्पत्ति और इसका विस्तार आदिपुरुष नारायणसे ही हुआ है, यह बात अगले चौथे श्लोकमें और अन्यत्र भी स्थान-स्थानपर कही गयी है। वे आदिपुरुष परमेश्वर नित्य, अनन्त और सबके आधार हैं एवं सगुणरूपसे सबसे ऊपर नित्य-धाममें निवास करते हैं, इसलिये 'ऊर्ध्व' नामसे कहे जाते हैं। यह संसारवृक्ष उन्हीं मायापति सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसको 'ऊर्ध्वमूल' अर्थात् ऊपरकी ओर मूलवाला कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्य साधारण वृक्षोंका मूल तो नीचे पृथ्वीके अंदर रहा करता है, पर इस संसारवृक्षका मूल ऊपर है—यह बड़ी अलौकिक बात है।

२. संसारवृक्षकी उत्पत्तिके समय सबसे पहले ब्रह्माका उद्भव होता है, इस कारण ब्रह्मा ही इसकी प्रधान शाखा हैं। ब्रह्माका लोक आदिपुरुष नारायणके नित्यधामकी अपेक्षा नीचे है एवं ब्रह्माजीका अधिकार भी भगवान्की अपेक्षा नीचा है—ब्रह्मा उन आदिपुरुष नारायणसे ही उत्पन्न होते हैं और उन्हींके शासनमें रहते हैं—इसलिये इस संसारवृक्षको 'नीचेकी ओर शाखावाला' कहा है।

संसार-वृक्ष



ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (गीता १५ । १)

श्रीभगवान् बोले—आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी कहते हैं* तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं†, उस संसाररूप वृक्षको जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है‡ ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

उस संसारवृक्षकी तीनों गुणोंरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोगरूप कोंपलोंवाली§ देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ× नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है।+ इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर÷—॥ ३ ॥

* यद्यपि यह संसारवृक्ष परिवर्तनशील होनेके कारण नाशवान्, अनित्य और क्षणभङ्गुर है, तो भी इसका प्रवाह अनादिकालसे चला आता है, इसके प्रवाहका अन्त भी देखनेमें नहीं आता; इसलिये इसको अव्यय अर्थात् अविनाशी कहते हैं; क्योंकि इसका मूल सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नित्य अविनाशी हैं, किंतु वास्तवमें यह संसारवृक्ष अविनाशी नहीं है। यदि यह अव्यय होता तो न तो अगले तीसरे श्लोकमें यह कहा जाता कि इसका जैसा स्वरूप बतलाया गया है, वैसा उपलब्ध नहीं होता और न इसको वैराग्यरूप दृढ़ शस्त्रके द्वारा छेदन करनेके लिये ही कहना बनता।

† पत्ते वृक्षकी शाखासे उत्पन्न एवं वृक्षकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले होते हैं। वेद भी इस संसाररूप वृक्षकी मुख्य शाखारूप ब्रह्मासे प्रकट हुए हैं और वेदविहित कर्मोंसे ही संसारकी वृद्धि और रक्षा होती है, इसलिये वेदोंको पत्तोंका स्थान दिया गया है।

‡ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य मूलसहित इस संसारवृक्षको इस प्रकार तत्त्वसे जानता है कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी मायासे उत्पन्न यह संसार वृक्षकी भाँति उत्पत्ति-विनाशशील और क्षणिक है, अतएव इसकी चमक-दमकमें न फँसकर इसको उत्पन्न करनेवाले मायापति परमेश्वरकी शरणमें जाना चाहिये और ऐसा समझकर संसारसे विरक्त और उपरत होकर जो भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेता है, वही वास्तवमें वेदोंको जाननेवाला है; क्योंकि पंद्रहवें श्लोकमें सब वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य भगवान्‌को ही बतलाया है।

१. मनुष्यशरीरमें कर्म करनेका अधिकार है एवं मनुष्यशरीरके द्वारा अहंता, ममता और वासनापूर्वक किये हुए कर्म बन्धनके हेतु माने गये हैं; इसीलिये ये मूल मनुष्यलोकमें कर्मानुसार बाँधनेवाले हैं। दूसरी सभी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं, उनमें कर्मोंका अधिकार नहीं है; अतः वहाँ अहंता, ममता और वासनारूप मूल होनेपर भी वे कर्मानुसार बाँधनेवाले नहीं बनते।

§ अच्छी और बुरी योनियोंकी प्राप्ति गुणोंके सङ्गसे होती है (गीता १३ । २१) एवं समस्त लोक और प्राणियोंके शरीर तीनों गुणोंके ही परिणाम हैं, यह भाव समझानेके लिये उन शाखाओंको गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई कहा गया है और उन शाखा-स्थानीय देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंके रसोपभोगको ही यहाँ कोंपल बतलाया गया है।

× ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त जितने भी लोक और उनमें निवास करनेवाली योनियाँ हैं, वे ही सब इस संसारवृक्षकी बहुत-सी शाखाएँ हैं।

+ इस बातका पता नहीं है कि इसकी यह प्रकट होने और लय होनेकी परम्परा कबसे आरम्भ हुई और कबतक चलती रहेगी। स्थितिकालमें भी यह निरन्तर परिवर्तित होता रहता है; जो रूप पहले क्षणमें है, वह दूसरे क्षणमें नहीं रहता। इस प्रकार इस संसारवृक्षका आदि, अन्त और स्थिति—तीनों ही उपलब्ध नहीं होते।

÷ इस संसार वृक्षके जो अविद्यामूलक अहंता, ममता और वासनारूप मूल हैं, वे अनादिकालसे पुष्ट होते रहनेके कारण अत्यन्त दृढ़ हो गये हैं; अतएव उस वृक्षको अति दृढ़ मूलोंसे युक्त बतलाया गया है। विवेकद्वारा समस्त संसारको नाशवान् और क्षणिक समझकर इस लोक और परलोकके स्त्री-पुत्र, धन, मकान तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ, इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये* ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे आदिपुरुष परमपदस्वरूप परमेश्वरकी शरण होकर उसको प्राप्त हो जानेवाले पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं, वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त† ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥ ६ ॥

जिस परम पदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही;‡ वही मेरा

आदि समस्त भोगोंमें सुख, प्रीति और रमणीयताका न भासना—उनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना ही दृढ़ वैराग्य है, उसीका नाम यहाँ 'असङ्ग-शस्त्र' है । इस असङ्ग-शस्त्रद्वारा जो चराचर समस्त संसारके चिन्तनका त्याग कर देना—उससे उपरत हो जाना है एवं अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंका उच्छेद कर देना है—यही उस संसारवृक्षका दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा समूल उच्छेद करना है ।

* इस अध्यायके पहले श्लोकमें जिसे 'ऊर्ध्व' कहा गया है, गीताके चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें जो 'माम्' पदसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'अहम्' पदसे कहा गया है एवं अन्यान्य स्थलोंमें जिसको कहीं परम पद, कहीं अव्यय पद और कहीं परम गति तथा कहीं परम धामके नामसे भी कहा है, उसीको यहाँ परम पदके नामसे कहते हैं । उस सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरको प्राप्त करनेकी इच्छासे जो बार-बार उनके गुण और प्रभावके सहित स्वरूपका मनन और निदिध्यासनद्वारा अनुसंधान करते रहना है, यही उस परम पदको खोजना है । अतः उपर्युक्त प्रकारसे उसका अनुसंधान करनेके लिये अपने अंदर जरा भी अभिमान न आने देकर और सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी शरण लेकर—उसका अनन्य आश्रय लेकर उसीपर पूर्ण विश्वासपूर्वक निर्भर हो जाना चाहिये ।

१. जो जाति, गुण, ऐश्वर्य और विद्या आदिके सम्बन्धसे अपने अंदर तनिक भी बड़प्पनकी भावना नहीं करते एवं जिनका मान, बड़ाई या प्रतिष्ठासे तथा अविवेक और भ्रम आदि तमोगुणके भावोंसे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रह गया है—ऐसे पुरुषोंको 'निर्मानमोहाः' कहते हैं ।

२. जिनकी इस लोक और परलोकके भोगोंमें जरा भी आसक्ति नहीं रह गयी है, विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी जिनके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं हो सकता—ऐसे पुरुषोंको 'जितसङ्गदोषाः' कहते हैं ।

३. 'अध्यात्म' शब्द यहाँ परमात्माके स्वरूपका वाचक है । अतएव परमात्माके स्वरूपमें जिनकी नित्य स्थिति हो गयी है, जिनका क्षणमात्रके लिये भी परमात्मासे वियोग नहीं होता और जिनकी स्थिति सदा अटल बनी रहती है—ऐसे पुरुषोंको 'अध्यात्मनित्याः' कहते हैं ।

४. जिनकी सब प्रकारकी कामनाएँ सर्वथा नष्ट हो गयी हैं, जिनमें इच्छा, कामना, तृष्णा या वासना आदि लेशमात्र भी नहीं रह गयी हैं—ऐसे पुरुषोंको 'विनिवृत्तकामाः' कहते हैं ।

† शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—इत्यादि द्वन्द्वोंको सुख और दुःखमें हेतु होनेसे सुख-दुःखसंज्ञक कहा गया है । इन सबसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न रखना अर्थात् किसी भी द्वन्द्वके संयोग-वियोगमें जरा भी राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारका न होना ही उन द्वन्द्वोंसे सर्वथा मुक्त होना है ।

‡ समस्त संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि एवं ये जिनके देवता हैं—वे चक्षु, मन और वाणी कोई भी उस परम पदको प्रकाशित नहीं कर सकते । इनके अतिरिक्त और भी जितने प्रकाशक तत्त्व माने गये हैं, उनमेंसे भी कोई या सब मिलकर भी उस परम पदको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि ये सब उसीके प्रकाशसे—उसीकी सत्ता-स्फूर्तिके किसी अंशसे स्वयं प्रकाशित होते हैं (गीता १५ । १२) ।

परम धाम है* ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पहलेसे तीसरे श्लोकतक संसारवृक्षके नामसे क्षर पुरुषका वर्णन किया, उसमें जीवरूप अक्षर पुरुषके बन्धनका हेतु उसके द्वारा मनुष्ययोनिमें अहंता-ममता और आसक्तिपूर्वक किये हुए कर्मोंको बताया तथा उस बन्धनसे छूटनेका उपाय सृष्टिकर्ता आदिपुरुष पुरुषोत्तमकी शरण ग्रहण करना बताया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकारसे बँधे हुए जीवका क्या स्वरूप है और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, उसे कौन कैसे जानता है; अतः इन सब बातोंका स्पष्टीकरण करनेके लिये पहले जीवका स्वरूप बतलाते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है† और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको‡ आकर्षण करता है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—यह जीवात्मा मनसहित छः इन्द्रियोंको किस समय, किस प्रकार और किसलिये आकर्षित करता है तथा वे मनसहित छः इन्द्रियाँ कौन-कौन हैं—ऐसी जिज्ञासा होनेपर अब दो श्लोकोंमें इसका उत्तर दिया जाता है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

वायु गन्धके स्थानसे गन्धको जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है§ ॥ ८ ॥

---

* जहाँ पहुँचनेके बाद इस संसारसे कभी किसी भी कालमें और किसी भी अवस्थामें पुनः सम्बन्ध नहीं हो सकता, वही मेरा परम धाम अर्थात् मायातीत धाम है और वही मेरा भाव और स्वरूप है। इसीको अव्यक्त, अक्षर और परम गति भी कहते हैं (गीता ८। २१)। इसीका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

'यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः।'

(बृहज्जाबाल उप० ८। ६)

'जहाँ सूर्य नहीं तपता, जहाँ वायु नहीं बहता, जहाँ चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होता, जहाँ तारे नहीं चमकते, जहाँ अग्नि नहीं जलाता, जहाँ मृत्यु नहीं प्रवेश करती, जहाँ दुःख नहीं प्रवेश करते और जहाँ जाकर योगी लौटते नहीं—वह सदानन्द, परमानन्द, शान्त, सनातन, सदा कल्याणस्वरूप, ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा वन्दित, योगियोंका ध्येय परम पद है।'

१. 'जीवलोके' पद यहाँ जीवात्माके निवासस्थान 'शरीर' का वाचक है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंका इसमें अन्तर्भाव है। इनमें स्थित जीवात्माको सनातन और अपना अंश बतलाया है।

† जैसे सर्वत्र समभावसे स्थित विभागरहित महाकाश घड़े और मकान आदिके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होने लगता है और उन घड़े आदिमें स्थित आकाश महाकाशका अंश माना जाता है, उसी प्रकार यद्यपि मैं विभागरहित समभावसे सर्वत्र व्याप्त हूँ, तो भी भिन्न-भिन्न शरीरोंके सम्बन्धसे पृथक्-पृथक् विभक्त-सा प्रतीत होता हूँ (गीता १३। १६) और उन शरीरोंमें स्थित जीव मेरा अंश माना जाता है तथा इस प्रकारका यह विभाग अनादि है, नवीन नहीं बना है। यही भाव दिखलानेके लिये जीवात्माको भगवान्‌ने अपना सनातन अंश बतलाया है।

‡ पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन—इन छहोंकी ही सब विषयोंका अनुभव करनेमें प्रधानता है, कर्मेन्द्रियोंका कार्य भी बिना ज्ञानेन्द्रियोंके नहीं चलता; इसलिये यहाँ मनके सहित इन्द्रियोंकी संख्या छः बतलायी गयी है। अतएव पाँच कर्मेन्द्रियोंका इनमें अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

२. जीवात्माको ईश्वर कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह इन मन-बुद्धिके सहित समस्त इन्द्रियोंका शासक और स्वामी है, इसीलिये इनको आकर्षित करनेमें समर्थ है।

३. मन अन्तःकरणका उपलक्षण होनेसे बुद्धिका उसमें अन्तर्भाव है और पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राणोंका अन्तर्भाव ज्ञानेन्द्रियोंमें है, अतः यहाँ 'एतानि' पद इन सतरह तत्त्वोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरका बोधक है।

§ यहाँ आधारके स्थानमें स्थूलशरीर है, गन्धके स्थानमें सूक्ष्मशरीर है और वायुके स्थानमें जीवात्मा है। जैसे वायु गन्धको एक स्थानसे उड़ाकर दूसरे स्थानमें ले जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राणोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरको एक स्थूलशरीरसे निकालकर दूसरे स्थूलशरीरमें ले जाता है।

यद्यपि जीवात्मा परमात्माका ही अंश होनेके कारण वस्तुतः नित्य और अचल है, उसका कहीं आना-जाना नहीं

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है* ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको अथवा विषयोंको भोगते हुएको–इस प्रकार तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं† ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं; ‡ किंतु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते§ ॥ ११ ॥

सम्बन्ध–छठे श्लोकपर दो शङ्काएँ होती हैं–पहली यह कि सबके प्रकाशक सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि तेजोमय पदार्थ परमात्माको क्यों नहीं प्रकाशित कर सकते और दूसरी यह कि परमधामको प्राप्त होनेके बाद पुरुष वापस क्यों नहीं लौटते । इनमेंसे दूसरी शङ्काके उत्तरमें सातवें श्लोकमें जीवात्माको परमेश्वरका सनातन अंश बतलाकर ग्यारहवें श्लोकतक उसके स्वरूप, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करते हुए उसका यथार्थ स्वरूप जाननेवालोंकी महिमा कही गयी । अब पहली शङ्काका उत्तर देनेके लिये भगवान् बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यसहित अपने स्वरूपका वर्णन करते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२॥

सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उसको तू मेरा ही तेज जान× ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३ ॥

और मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ+ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय

बन सकता, तथापि सूक्ष्मशरीरके साथ इसका सम्बन्ध होनेके कारण सूक्ष्मशरीरके द्वारा एक स्थूलशरीरसे दूसरे स्थूलशरीरमें जीवात्माका जाना-सा प्रतीत होता है; इसलिये यहाँ 'संयाति' क्रियाका प्रयोग करके जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना बतलाया गया है । गीताके दूसरे अध्यायके २२ वें श्लोकमें भी यही बात कही गयी है ।

* वास्तवमें आत्मा न तो कर्मोंका कर्ता है और न उनके फलस्वरूप विषय एवं सुख-दुःखादिका भोक्ता ही; किंतु प्रकृति और उसके कार्योंके साथ जो उसका अज्ञानसे अनादि सम्बन्ध माना हुआ है, उसके कारण वह कर्ता-भोक्ता बना हुआ है (गीता १३ । २१)। श्रुतिमें भी कहा है—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।' (कठोपनिषद् १ । ३ ।४) अर्थात् 'मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे युक्त आत्माको ही ज्ञानीजन भोक्ता—ऐसा कहते हैं ।'

† ज्ञानीजन शरीर छोड़कर जाते समय, शरीरमें रहते समय और विषयोंका उपभोग करते समय हरेक अवस्थामें ही वह आत्मा वास्तवमें प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, शुद्ध, बोधस्वरूप और असङ्ग ही है–ऐसा समझते हैं ।

‡ जिनका अन्तःकरण शुद्ध है और अपने वशमें है तथा जो आत्मस्वरूपको जाननेके लिये निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासनादि प्रयत्न करते रहते हैं, ऐसे उच्चकोटिके साधक ही 'यत्न करनेवाले योगीजन' हैं तथा जिस जीवात्माका प्रकरण चल रहा है और जो शरीरके सम्बन्धसे हृदयमें स्थित कहा जाता है, उसके नित्य-शुद्ध-विज्ञानानन्दमय वास्तविक स्वरूपको यथार्थ जान लेना ही उनका 'इस आत्माको तत्त्वसे जानना' है ।

§ जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है अर्थात् न तो निष्काम कर्म आदिके द्वारा जिनके अन्तःकरणका मल सर्वथा धुल गया है एवं न जिन्होंने भक्ति आदिके द्वारा चित्तको स्थिर करनेका ही कभी समुचित अभ्यास किया है, ऐसे मलिन और विक्षिप्त अन्तःकरणवाले पुरुषोंको 'अकृतात्मा' कहते हैं । ऐसे मनुष्य अपने अन्तःकरणको शुद्ध बनानेकी चेष्टा न करके यदि केवल उस आत्माको जाननेके लिये शास्त्रालोचनरूप प्रयत्न करते रहें तो भी उसके तत्त्वको नहीं समझ सकते ।

× सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें स्थित समस्त तेजको अपना तेज बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि उन तीनोंमें और वे जिनके देवता हैं–ऐसे नेत्र, मन और वाणीमें वस्तुको प्रकाशित करनेकी जो कुछ भी शक्ति है—वह मेरे ही तेजका एक अंश है । इसीलिये छठे श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—ये सब मेरे स्वरूपको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं ।

\+ इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस पृथ्वीमें जो भूतोंको धारण करनेकी शक्ति प्रतीत होती है तथा

चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ* ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाला प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ† ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है‡ और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ§ तथा वेदान्तका कर्ता× और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—पहलेसे छठे श्लोकतक वृक्षरूपसे संसारका, दृढ़ वैराग्यके द्वारा उसके छेदनका, परमेश्वरकी शरणमें जानेका, परमात्माको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंके लक्षणोंका और परमधामस्वरूप परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करते हुए अश्वत्थ वृक्षरूप क्षर पुरुषका प्रकरण पूरा किया गया। तदनन्तर सातवें श्लोकसे 'जीव' शब्द-वाच्य उपासक अक्षर पुरुषका प्रकरण आरम्भ करके उसके स्वरूप, शक्ति, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करनेके बाद उसे जाननेवालों-की महिमा कहते हुए ग्यारहवें श्लोकतक उस प्रकरणको पूरा किया। फिर बारहवें श्लोकसे उपास्यदेव 'पुरुषोत्तम' का प्रकरण आरम्भ करके पंद्रहवें श्लोकतक उसके गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन करते हुए उस प्रकरणको भी पूरा किया। अब अध्यायकी समाप्तितक पूर्वोक्त तीनों प्रकरणोंका सार संक्षेपमें बतलानेके लिये अगले श्लोकों-में क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमका वर्णन करते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते+ ॥ १६ ॥

इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ॥ १६ ॥

इसी प्रकार और किसीमें जो धारण करनेकी शक्ति है, वह वास्तवमें उसकी नहीं, मेरी ही शक्तिका एक अंश है। अतएव मैं स्वयं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपने बलसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ।

* 'ओषधिः' शब्द पत्र, पुष्प और फल आदि समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके सहित वृक्ष, लता और तृण आदि जिनके भेद हैं—ऐसी समस्त वनस्पतियोंका वाचक है तथा 'मैं ही चन्द्रमा बनकर समस्त ओषधियोंका पोषण करता हूँ' इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि जिस प्रकार चन्द्रमामें प्रकाशनशक्ति मेरे ही प्रकाशका अंश है, उसी प्रकार जो उसमें पोषण करनेकी शक्ति है, वह भी मेरी ही शक्तिका एक अंश है; अतएव मैं ही चन्द्रमाके रूपमें प्रकट होकर सबका पोषण करता हूँ।

† यहाँ भगवान् यह बतला रहे हैं कि जिस प्रकार अग्निकी प्रकाशनशक्ति मेरे ही तेजका अंश है, उसी प्रकार उसका जो उष्णत्व है अर्थात् उसकी जो पाचन, दीपन करनेकी शक्ति है, वह भी मेरी ही शक्तिका अंश है। अतएव मैं ही प्राण और अपानसे संयुक्त प्राणियोंके शरीरमें निवास करनेवाले वैश्वानर अग्निके रूपमें भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य पदार्थोंको अर्थात् दाँतोंसे चबाकर खाये जानेवाले रोटी, भात आदि; निगलकर खाये जानेवाले रबड़ी, दूध, पानी आदि; चाटकर खाये जानेवाले शहद, चटनी आदि और चूसकर खाये जानेवाले ऊख आदि-ऐसे चार प्रकारके भोजनको पचाता हूँ।

‡ पहले देखी-सुनी या किसी प्रकार भी अनुभव की हुई वस्तु या घटनादिके स्मरणका नाम 'स्मृति' है। किसी भी वस्तुको यथार्थ जान लेनेकी शक्तिका नाम 'ज्ञान' है तथा संशय, विपर्यय आदि वितर्क-जालका वाचक 'ऊहन' है और उसके दूर होनेका नाम 'अपोहन' है। ये तीनों मुझसे ही होते हैं; यह कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि सबके हृदयमें स्थित मैं अन्तर्यामी परमेश्वर ही सब प्राणियोंके कर्मानुसार उपर्युक्त स्मृति, ज्ञान और अपोहन आदि भावोंको उनके अन्तःकरणमें उत्पन्न करता हूँ।

§ इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डात्मक जितने भी वर्णन हैं, उन सबका अन्तिम लक्ष्य संसारमें वैराग्य उत्पन्न करके सब प्रकारके अधिकारियोंको मेरा ही ज्ञान करा देना है। अतएव उनके द्वारा जो मनुष्य मेरे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे ही वेदोंके अर्थको ठीक समझते हैं। इसके विपरीत जो लोग सांसारिक भोगोंमें फँसे रहते हैं, वे उनके अर्थको ठीक नहीं समझते।

× इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें प्रतीत होनेवाले विरोधोंका वास्तविक समन्वय करके मनुष्यको शान्ति प्रदान करनेवाला मैं ही हूँ।

+ जिन दोनों तत्त्वोंका वर्णन गीताके सातवें अध्यायमें 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिके नामसे (७ । ४, ५), आठवें अध्यायमें 'अधिभूत' और 'अध्यात्म' के नामसे (८ । ४, ३), तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के नामसे (१३ । १) और इस अध्यायमें पहले 'अश्वत्थ' और 'जीव' के नामसे किया गया है, उनमेंसे एकको 'क्षर' और दूसरेको 'अक्षर' कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि दोनों परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं; क्योंकि

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है,* जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है†॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग-क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ,‡ इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥१८॥

यो मामेवमसम्मूढो[1] जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्[2] भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

हे भारत ! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है,§ वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है× ॥ १९ ॥

'भूतानि' पद यहाँ समस्त जीवोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों प्रकारके शरीरोंका वाचक है और 'कूटस्थ' शब्द यहाँ समस्त शरीरोंमें रहनेवाले आत्माका वाचक है । यह सदा एक-सा रहता है, इसमें परिवर्तन नहीं होता; इसलिये इसे 'कूटस्थ' कहते हैं और इसका कभी किसी अवस्थामें क्षय, नाश या अभाव नहीं होता; इसलिये यह अक्षर है ।

* 'उत्तम पुरुष' नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वशक्तिमान्, परमदयालु, सर्वगुणसम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान्का वाचक है, वह पूर्वोक्त क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे विलक्षण और अत्यन्त श्रेष्ठ है ।

† जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट रहकर उनके नाश होनेपर भी कभी नष्ट नहीं होता, सदा ही निर्विकार, एकरस रहता है तथा जो क्षर और अक्षर—इन दोनोंका नियामक और स्वामी तथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर है एवं जो गुणातीत, शुद्ध और सबका आत्मा है—वही परमात्मा 'पुरुषोत्तम' है ।

क्षर, अक्षर और ईश्वर—इन तीनों तत्त्वोंका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद्में इस प्रकार आया है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।

(१ । १०)

'प्रधान यानी प्रकृतिका नाम क्षर है और उसके भोक्ता अविनाशी आत्माका नाम अक्षर है । प्रकृति और आत्मा—इन दोनोंका शासन एक देव (पुरुषोत्तम) करता है ।'

‡ अपनेको 'क्षर' पुरुषसे अतीत बतलाकर भगवान्ने यह दिखलाया है कि मैं क्षर पुरुषसे सर्वथा सम्बन्धरहित और अतीत हूँ । अक्षरसे अपनेको उत्तम बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि क्षर पुरुषकी भाँति अक्षरसे मैं अतीत तो नहीं हूँ, क्योंकि वह मेरा ही अंश होनेके कारण अविनाशी और चेतन है; किंतु उससे मैं उत्तम अवश्य हूँ; क्योंकि वह अल्पज्ञ है, मैं सर्वज्ञ हूँ; वह नियम्य है, मैं नियामक हूँ; वह मेरा उपासक है, मैं उसका स्वामी उपास्यदेव हूँ; और वह अल्पशक्तिसम्पन्न है, मैं सर्वशक्तिमान् हूँ; अतएव उसकी अपेक्षा मैं सब प्रकारसे उत्तम हूँ ।

१. जिसका ज्ञान संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे शून्य हो, जिसमें मोहका जरा भी अंश न हो, उसे 'असम्मूढ' कहते हैं ।

२. इस अध्यायमें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इस प्रकार तीन भागोंमें विभक्त करके समस्त पदार्थोंका वर्णन किया गया है । अतएव जो क्षर और अक्षर दोनोंके यथार्थ स्वरूपको समझकर उनसे भी अत्यन्त उत्तम पुरुषोत्तमके तत्त्वको जानता है, वही 'सर्वविद्' है ।

§ इस कथनसे भगवान्ने यह बतलाया है कि मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, समस्त जगत्का सृजन, पालन और संहार आदि करनेवाले, सबके परम सुहृद् सबके एकमात्र नियन्ता, सर्वगुणसम्पन्न, परम दयालु, परम प्रेमी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वरको उपर्युक्त दो श्लोकोंमें वर्णित प्रकारसे क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे उत्तम निर्गुण-सगुण—गुणातीत और सर्वगुणसम्पन्न साकार-निराकार, व्यक्ताव्यक्तस्वरूप परम पुरुष मान लेना ही मुझको 'पुरुषोत्तम' जानना है ।

× भगवान्को पुरुषोत्तम समझनेवाले पुरुषका जो समस्त जगत्से प्रेम हटाकर केवलमात्र परम प्रेमास्पद एक परमेश्वरमें ही पूर्ण प्रेम करना; एवं बुद्धिसे भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला, स्वरूप और महिमापर पूर्ण विश्वास करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, चरित्र और स्वरूप आदिका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मनसे चिन्तन करना, कानोंसे श्रवण करना, वाणीसे कीर्तन करना, नेत्रोंसे दर्शन करना एवं उनकी आज्ञाके अनुसार सब कुछ उनका समझकर तथा सबमें उनको व्याप्त समझकर कर्तव्य-कर्मोंद्वारा सबको सुख पहुँचाते हुए उनकी सेवा आदि करना है—यही भगवान्को सब प्रकारसे भजना है ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है* ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥ भीष्मपर्वमें उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां षोडशोऽध्यायः)

फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन तथा शास्त्रविपरीत आचरणोंको त्यागने और शास्त्रके अनुकूल आचरण करनेके लिये प्रेरणा

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके ग्यारहवें और बारहवें श्लोकोंमें भगवान्ने कहा था कि 'आसुरी और राक्षसी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ मेरा भजन नहीं करते, वरं मेरा तिरस्कार करते हैं।' तथा नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें कहा कि 'दैवी प्रकृतिसे युक्त महात्माजन मुझे सब भूतोंका आदि और अविनाशी समझकर अनन्य प्रेमके साथ सब प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं।' परंतु दूसरा प्रसंग चलता रहनेके कारण वहाँ दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृतिके लक्षणोंका वर्णन नहीं किया जा सका। फिर पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि 'जो ज्ञानी महात्मा मुझे 'पुरुषोत्तम' जानते हैं, वे सब प्रकारसे मेरा भजन करते हैं।' इसपर स्वाभाविक ही भगवान्को पुरुषोत्तम जानकर सर्वभावसे उनका भजन करनेवाले दैवी प्रकृतियुक्त महात्मा पुरुषोंके और उनका भजन न करनेवाले आसुरी प्रकृतियुक्त अज्ञानी मनुष्योंके क्या-क्या लक्षण हैं—यह जाननेकी इच्छा होती है। अतएव अब भगवान् दोनोंके लक्षण और स्वभावका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये सोलहवाँ अध्याय आरम्भ करते हैं। इसमें पहले तीन श्लोकोंद्वारा दैवी-सम्पद्से युक्त सात्त्विक पुरुषोंके स्वाभाविक लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है—

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप[3] आर्जवम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ॥ १ ॥

१. इसे गुह्यतम बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस अध्यायमें मुझ सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बात प्रधानतासे कही गयी है; इसलिये यह अतिशय गुप्त रखनेयोग्य है। मैं हर किसीके सामने इस प्रकारसे अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और ऐश्वर्यको प्रकट नहीं करता; अतएव तुम्हें भी अपात्रके सामने इस रहस्यको नहीं कहना चाहिये।

२. भगवान्ने अर्जुनको यहाँ 'अनघ' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे अंदर पाप नहीं है, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल है, अतः तुम मेरे इस गुह्यतम उपदेशको सुनने और धारण करनेके पात्र हो।

* इस अध्यायमें वर्णित भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूप आदिको भलीभाँति समझकर भगवान्को पूर्वोक्त प्रकारसे साक्षात् पुरुषोत्तम समझ लेना ही इस शास्त्रको तत्त्वसे जानना है तथा उसे जाननेवालेका जो उस पुरुषोत्तम भगवान्को अपरोक्षभावसे प्राप्त कर लेना है, यही उसका बुद्धिमान् अर्थात् ज्ञानवान् हो जाना है और समस्त कर्तव्योंको पूर्ण कर चुकना—सबके फलको प्राप्त हो जाना ही कृतकृत्य हो जाना है।

३. अपने धर्मका पालन करनेके लिये कष्ट सहन करके जो अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तपाना है, उसीका नाम यहाँ 'तपः' पद है। गीताके सतरहवें अध्यायमें जिस शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका निरूपण है—यहाँ 'तपः' पदसे

अहिंसा[1] सत्यमक्रोधस्त्यागः[2] शान्तिरपैशुनम्[3] ।
दया[4] भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं[5] ह्रीरचापलम्[6] ॥ २ ॥

मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज,* क्षमा, धैर्य,† बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन ! दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं‡ ॥ ३ ॥

दम्भो[7] दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

उसका निर्देश नहीं है; क्योंकि उसमें अहिंसा, सत्य, शौच, स्वाध्याय और आर्जव आदि जिन लक्षणोंका तपके अङ्गरूपमें निरूपण हुआ है, यहाँ उनका अलग वर्णन किया गया है ।

१. किसी भी प्राणीको कभी कहीं भी लोभ, मोह या क्रोधपूर्वक अधिक मात्रामें, मध्य मात्रामें या थोड़ा-सा भी किसी प्रकारका कष्ट स्वयं देना, दूसरेसे दिलवाना या कोई किसीको कष्ट देता हो तो उसका अनुमोदन करना—हर हालतमें हिंसा है । इस प्रकारकी हिंसाका किसी भी निमित्तसे मन, वाणी, शरीरद्वारा न करना—अर्थात् मनसे किसीका बुरा न चाहना, वाणीसे किसीको न तो गाली देना, न कठोर वचन कहना और न किसी प्रकारके हानिकारक वचन ही कहना तथा शरीरसे न किसीको मारना, न कष्ट पहुँचाना और न किसी प्रकारकी हानि ही पहुँचाना आदि—ये सभी अहिंसाके भेद हैं ।

२. केवल गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, मेरा इन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा मानकर, अथवा मैं तो भगवान्के हाथकी कठपुतलीमात्र हूँ, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मेरे मन, वाणी और शरीरसे सब कर्म करवा रहे हैं, मुझमें न तो अपने-आप कुछ करनेकी शक्ति है और न मैं कुछ करता ही हूँ—ऐसा मानकर कर्तृत्व-अभिमानका त्याग करना ही त्याग है या कर्तव्यकर्म करते हुए उनमें ममता, आसक्ति, फल और स्वार्थका सर्वथा त्याग करना भी त्याग है, एवं आत्मोन्नतिमें विरोधी वस्तु, भाव और क्रियामात्रके त्यागका नाम भी 'त्याग' कहा जा सकता है ।

३. दूसरेके दोष देखना या उन्हें लोगोंमें प्रकट करना, अथवा किसीकी निन्दा या चुगली करना पिशुनता है; इसके सर्वथा अभावका नाम 'अपैशुन' है ।

४. किसी भी प्राणीको दुखी देखकर उसके दुःखको जिस किसी प्रकारसे किसी भी स्वार्थकी कल्पना किये बिना ही निवारण करनेका और सब प्रकारसे उसे सुखी बनानेका जो भाव है, उसे 'दया' कहते हैं । दूसरोंको कष्ट नहीं पहुँचाना 'अहिंसा' है और उनको सुख पहुँचानेका भाव 'दया' है । यही अहिंसा और दयाका भेद है ।

५. अन्तःकरण, वाणी और व्यवहारमें जो कठोरताका सर्वथा अभाव होकर उनका अतिशय कोमल हो जाना है, उसीको 'मार्दव' कहते हैं ।

६. हाथ-पैर आदिको हिलाना, तिनके तोड़ना, जमीन कुरेदना, बेमतलब बकते रहना, बेसिर-पैरकी बातें सोचना आदि हाथ-पैर, वाणी और मनकी व्यर्थ चेष्टाओंका नाम चपलता है । इसीको प्रमाद भी कहते हैं । इसके सर्वथा अभावको 'अचापल' कहते हैं ।

* श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिविशेषका नाम तेज है, जिसके कारण उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं ।

† भारी-से-भारी आपत्ति, भय या दुःख उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना; काम, क्रोध, भय या लोभसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे विमुख न होना 'धैर्य' है ।

‡ इस अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर इस श्लोकके पूर्वार्द्धतक ढाई श्लोकोंमें छब्बीस लक्षणोंके रूपमें उस दैवीसम्पद्रूप सद्गुण और सदाचारका ही वर्णन किया गया है । अतः ये सब लक्षण जिसमें स्वभावसे विद्यमान हों अथवा जिसने साधनद्वारा प्राप्त कर लिये हों, वही पुरुष दैवीसम्पद्से युक्त है ।

७. मान, बड़ाई, पूजा और प्रतिष्ठाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगनेके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा प्रसिद्ध करना अथवा दिखाऊ धर्मपालनका, दानीपनका, भक्तिका, व्रत-उपवासादिका, योगसाधनका और जिस किसी भी रूपमें रहनेसे अपना काम सधता हो, उसीका ढोंग रचना 'दम्भ' है ।

हे पार्थ ! दम्भ, घमण्ड* और अभिमान† तथा क्रोध,‡ कठोरता§ और अज्ञान× भी—ये सब आसुरी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं+ ॥ ४ ॥

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी-सम्पदा मुक्तिके लिये÷ और आसुरी-सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है । इसलिये हे अर्जुन ! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्यसमुदाय दो ही प्रकारका है,ऽ एक तो दैवी प्रकृतिवाला और दूसरा आसुरी प्रकृतिवाला । उनमेंसे दैवी प्रकृतिवाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायको भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुर-स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनोंको ही नहीं जानतेA । इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ॥ ७ ॥

* विद्या, धन, कुटुम्ब, जाति, अवस्था, बल और ऐश्वर्य आदिके सम्बन्धसे जो मनमें गर्व होता है—जिसके कारण मनुष्य दूसरोंको तुच्छ समझकर उनकी अवहेलना करता है, उसका नाम 'घमण्ड' है ।

† अपनेको श्रेष्ठ, बड़ा या पूज्य समझना, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजा आदिकी इच्छा रखना एवं इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना 'अभिमान' है ।

‡ बुरी आदतके अथवा क्रोधी मनुष्योंके सङ्गके कारण या किसीके द्वारा अपना तिरस्कार, अपकार या निन्दा किये जानेपर, मनके विरुद्ध कार्य होनेपर, किसीके द्वारा दुर्वचन सुनकर या किसीका अन्याय देखकर—इत्यादि किसी भी कारणसे अन्तःकरणमें जो द्वेषयुक्त उत्तेजना हो जाती है—जिसके कारण मनुष्यके मनमें प्रतिहिंसाके भाव जाग्रत् हो उठते हैं, नेत्रोंमें लाली आ जाती है, होठ फड़कने लगते हैं, मुखकी आकृति भयानक हो जाती है, बुद्धि मारी जाती है और कर्तव्यका विवेक नहीं रह जाता—इत्यादि किसी प्रकारकी भी 'उत्तेजित वृत्ति' का नाम 'क्रोध' है ।

§ कोमलताके अत्यन्त अभावका नाम कठोरता है । किसीको गाली देना, कटुवचन कहना, ताने मारना आदि वाणीकी कठोरता है, विनयका अभाव शरीरकी कठोरता है तथा क्षमा और दयाके विरुद्ध प्रतिहिंसा और क्रूरताके भावको मनकी कठोरता कहते हैं ।

× सत्य-असत्य और धर्म-अधर्म आदिको यथार्थ न समझना या उनके सम्बन्धमें विपरीत निश्चय कर लेना ही यहाँ 'अज्ञान' है ।

+ इस श्लोकमें दुर्गुण और दुराचारोंके समुदायरूप आसुरीसम्पद् संक्षेपमें बतलायी गयी है । अतः ये सब या इनमेंसे कोई भी लक्षण जिसमें विद्यमान हो, उसे आसुरीसम्पदासे युक्त समझना चाहिये ।

÷ इसी अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर तीसरे श्लोकतक सात्त्विक गुण और आचरणोंके समुदायरूप जिस दैवी-सम्पदाका वर्णन किया गया है, वह मनुष्यको संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त करके सच्चिदानन्दघन परमेश्वरसे मिला देनेवाली है—ऐसा वेद, शास्त्र और महात्मा सभी मानते हैं ।

१. 'सर्ग' सृष्टिको कहते हैं, भूतोंकी सृष्टिको भूतसर्ग कहते हैं । यहाँ 'अस्मिन् लोके' से मनुष्यलोकका संकेत किया गया है तथा इस अध्यायमें मनुष्योंके लक्षण बतलाये गये हैं, इसी कारण यहाँ 'भूतसर्गौ' पदका अर्थ 'मनुष्यसमुदाय' किया गया है ।

ऽ मनुष्योंके दो समुदायोंमेंसे जो सात्त्विक है, वह तो दैवी प्रकृतिवाला है और जो रजोमिश्रित तमःप्रधान है, वह आसुरी प्रकृतिवाला है । 'राक्षसी' और 'मोहिनी' प्रकृतिवाले मनुष्योंको यहाँ आसुरी प्रकृतिवाले समुदायके अन्तर्गत ही समझना चाहिये ।

A जिस कर्मके आचरणसे इस लोक और परलोकमें मनुष्यका यथार्थ कल्याण होता है, वही कर्तव्य है । मनुष्यको उसीमें प्रवृत्त होना चाहिये और जिस कर्मके आचरणसे अकल्याण होता है, वह अकर्तव्य है, उससे निवृत्त होना चाहिये । भगवान्‌ने यहाँ यह भाव दिखलाया है कि आसुर-स्वभाववाले मनुष्य इस कर्तव्य-अकर्तव्य-सम्बन्धी प्रवृत्ति और निवृत्तिको बिल्कुल नहीं समझते; इसलिये जो कुछ उनके मनमें आता है, वही करने लगते हैं ।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके,* अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है । इसके सिवा और क्या है ? ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—ऐसे नास्तिक सिद्धान्तके माननेवालोंके स्वभाव और आचरण कैसे होते हैं ? इस जिज्ञासापर अब भगवान् अगले चार श्लोकोंमें उनके लक्षणोंका वर्णन करते हैं—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके—जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्‌के नाशके लिये ही समर्थ होते हैं† ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर, अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणोंको धारण करके‡ संसारमें विचरते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

तथा वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर रहनेवाले और 'इतना ही सुख है' इस प्रकार माननेवाले होते हैं ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए§ मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंको संग्रह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं× ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा । मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह हो जायगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा । मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ । मैं सब सिद्धियोंसे युक्त हूँ और बलवान् तथा सुखी हूँ+ ॥

* यहाँ आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंकी मनगढ़ंत कल्पनाका वर्णन किया गया है । वे लोग ऐसा मानते हैं कि न तो इस चराचर जगत्‌का भगवान् या कोई धर्माधर्म ही आधार है तथा न इस जगत्‌की कोई नित्य सत्ता है । अर्थात् न तो जन्मसे पहले या मरनेके बाद किसी भी जीवका अस्तित्व है एवं न कोई इसका रचयिता, नियामक और शासक ईश्वर ही है ।

† नास्तिक सिद्धान्तवाले मनुष्य आत्माकी सत्ता नहीं मानते, वे केवल देहवादी या भौतिकवादी ही होते हैं; इससे उनका स्वभाव भ्रष्ट हो जाता है, उनकी किसी भी सत्कार्यके करनेमें प्रवृत्ति नहीं होती । उनकी बुद्धि भी अत्यन्त मन्द होती है; वे जो कुछ निश्चय करते हैं, सब केवल भोग-सुखकी दृष्टिसे ही करते हैं । उनका मन निरन्तर सबका अहित करनेकी बात ही सोचा करता है, इससे वे अपना भी अहित ही करते हैं तथा मन, वाणी, शरीरसे चराचर जीवोंको डराने, दुःख देने और उनका नाश करनेवाले बड़े-बड़े भयानक कर्म ही करते रहते हैं ।

‡ जिनके खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल, व्यवसाय-वाणिज्य, देन-लेन और बर्ताव-व्यवहार आदि शास्त्रविरुद्ध और भ्रष्ट होते हैं, वे भ्रष्ट आचरणोंवाले कहे जाते हैं ।

§ आसुर-स्वभाववाले मनुष्य मनमें उठनेवाली कल्पनाओंकी पूर्तिके लिये भाँति-भाँतिकी सैकड़ों आशाएँ लगाये रहते हैं । उनका मन कभी किसी विषयकी आशामें लटकता है, कभी किसीमें खिंचता है और कभी किसीमें अटकता है; इस प्रकार आशाओंके बन्धनसे वे कभी छूटते ही नहीं । इसीसे उनको सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए कहा गया है ।

× विषय-भोगोंके उद्देश्यसे जो काम-क्रोधका अवलम्बन करके अन्यायपूर्वक अर्थात् चोरी, ठगी, डाका, झूठ, कपट, छल, दम्भ, मार-पीट, कूटनीति, जूआ, धोखेबाजी, विष-प्रयोग, झूठे मुकद्दमे और भय-प्रदान आदि शास्त्रविरुद्ध उपायोंके द्वारा दूसरोंके धनादिको हरण करनेकी चेष्टा करना है—यही विषय-भोगोंके लिये अन्यायसे अर्थसंचय करनेका प्रयत्न करना है ।

+ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि अहंकारके साथ ही वे मानमें भी चूर रहते हैं, इससे ऐसा समझते हैं कि 'संसारमें हमसे बड़ा और है ही कौन; हम जिसे चाहें, मार दें, बचा दें, जिसकी चाहें जड़ उखाड़ दें या रोप दें ।' अतः बड़े गर्वके साथ कहते हैं—'अरे ! हम सर्वथा स्वतन्त्र हैं, सब कुछ हमारे ही हाथोंमें तो है; हमारे सिवा दूसरा कौन ऐश्वर्यवान् है,

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित रहनेवाले तथा अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुरलोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं* ॥ १५-१६ ॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

वे अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधिरहित यजन करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं† ॥

सम्बन्ध--इस प्रकार सातवेंसे अठारहवें श्लोकतक आसुरी स्वभाववालोंके दुर्गुण और दुराचार आदिका वर्णन करके अब उन दुर्गुण-दुराचारोंमें त्याज्य-बुद्धि करानेके लिये अगले दो श्लोकोंमें भगवान् वैसे लोगोंकी घोर निन्दा करते हुए उनकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें‡ ही डालता हूँ ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर§ जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ॥ २० ॥

सम्बन्ध—आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंको लगातार आसुरी योनियोंके और घोर नरकोंके प्राप्त होनेकी बात सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि उनके लिये इस दुर्गतिसे बचकर परम गतिको प्राप्त करनेका क्या उपाय है; इसपर कहते हैं—

सारे ऐश्वर्योंके स्वामी हमीं तो हैं। सारे ईश्वरोंके ईश्वर परम पुरुष भी तो हमीं हैं। सबको हमारी ही पूजा करनी चाहिये। हम केवल ऐश्वर्यके स्वामी ही नहीं, समस्त ऐश्वर्यका भोग भी करते हैं। हमने अपने जीवनमें कभी विफलताका अनुभव किया ही नहीं; हमने जहाँ हाथ डाला, वहीं सफलताने हमारा अनुगमन किया। हम सदा सफलजीवन हैं, परम सिद्ध हैं, भविष्यमें होनेवाली घटना हमें पहलेसे ही मालूम हो जाती है। हम सब कुछ जानते हैं, कोई बात हमसे छिपी नहीं है। इतना ही नहीं, हम बड़े बलवान् हैं; हमारे मनोबल या शारीरिक बलका इतना प्रभाव है कि जो कोई उसका सहारा लेगा, वही उस बलसे जगत्पर विजय पा लेगा। इन्हीं सब कारणोंसे हम परम सुखी हैं; संसारके सारे सुख सदा हमारी सेवा करते हैं और करते रहेंगे।'

* अभिप्राय यह है कि ऐसे मनुष्य कामोपभोगके लिये भाँति-भाँतिके पाप करते हैं और उनका फल भोगनेके लिये उन्हें विष्ठा, मूत्र, रुधिर, पीब आदि गंदी वस्तुओंसे भरे दुःखदायक कुम्भीपाक, रौरवादि घोर नरकोंमें गिरना पड़ता है।

१. जो अपने ही मनसे अपने-आपको सब बातोंमें सर्वश्रेष्ठ, सम्मान्य, उच्च और पूज्य मानते हैं, वे 'आत्मसम्भावित' हैं।

२. जो घमण्डके कारण किसीके साथ—यहाँतक कि पूजनीयोंके प्रति भी विनयका व्यवहार नहीं करते, वे 'स्तब्ध' हैं।

३. दूसरोंके दोष देखना, देखकर उनकी निन्दा करना, उनके गुणोंका खण्डन करना और गुणोंमें दोषारोपण करना एवं भगवान् और संत पुरुषोंमें भी दोष देखते रहना—इन सब दोषोंसे युक्त मनुष्यको 'अभ्यसूयक' कहते हैं।

† सभीके अंदर अन्तर्यामीरूपसे परमेश्वर स्थित हैं। अतः किसीसे विरोध या द्वेष करना, किसीका अहित करना और किसीको दुःख पहुँचाना अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित परमेश्वरसे ही द्वेष करना है।

‡ सिंह, बाघ, सर्प, बिच्छू, सूअर, कुत्ते और कौए आदि जितने भी पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग हैं—ये सभी आसुरी योनियाँ हैं।

§ मनुष्ययोनिमें जीवको भगवत्प्राप्तिका अधिकार है। इस अधिकारको प्राप्त होकर भी जो मनुष्य इस बातको भूलकर, दैव-स्वभावरूप भगवत्प्राप्तिके मार्गको छोड़कर आसुर-स्वभावका अवलम्बन करते हैं, वे मनुष्य-शरीरका सुअवसर पाकर भी भगवान्को नहीं पा सकते—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने अपनेको न पानेकी बात कही है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं* । अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है,† इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—जो उपर्युक्त दैवीसम्पदाका आचरण न करके अपनी मान्यताके अनुसार कर्म करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है या नहीं ? इसपर कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही‡ ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है । ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है§ ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ भीष्मपर्वणि तु चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें दैवासुरसम्पद्विभागयोगनामक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥ भीष्मपर्वमें चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

---

* स्त्री, पुत्र आदि समस्त भोगोंकी कामनाका नाम 'काम' है; इस कामनाके वशीभूत होकर ही मनुष्य चोरी, व्यभिचार और अभक्ष्य-भोजनादि नाना प्रकारके पाप करते हैं । मनके विपरीत होनेपर जो उत्तेजनामय वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम 'क्रोध' है; क्रोधके आवेशमें मनुष्य हिंसा-प्रतिहिंसा आदि भाँति-भाँतिके पाप करते हैं । धनादि विषयोंकी अत्यन्त बढ़ी हुई लालसाको 'लोभ' कहते हैं । लोभी मनुष्य उचित अवसरपर धनका त्याग नहीं करते एवं अनुचितरूपसे भी उपार्जन और संग्रह करनेमें लगे रहते हैं; इसके कारण उनके द्वारा झूठ, कपट, चोरी और विश्वासघात आदि बड़े-बड़े पाप बन जाते हैं । मनुष्य जबसे काम, क्रोध, लोभके वशमें होते हैं, तभीसे वे अपने विचार, आचरण और भावोंमें गिरने लगते हैं । काम, क्रोध और लोभके कारण उनसे ऐसे कर्म होते हैं, जिनसे उनका शारीरिक पतन हो जाता है, मन बुरे विचारोंसे भर जाता है, बुद्धि बिगड़ जाती है, क्रियाएँ सब दूषित हो जाती हैं और इसके फलस्वरूप उनका वर्तमान जीवन सुख, शान्ति और पवित्रतासे रहित होकर दुःखमय बन जाता है तथा मरनेके बाद उनको आसुरी योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है । इसीलिये इन त्रिविध दोषोंको 'नरकके द्वार और आत्माका नाश करनेवाले' बतलाया गया है ।

† काम, क्रोध और लोभ आदि आसुरी सम्पदाका त्याग करके शास्त्रप्रतिपादित सद्गुण और सदाचाररूप दैवी-सम्पदाका निष्कामभावसे सेवन करना ही कल्याणके लिये आचरण करना है ।

‡ वेद और वेदोंके आधारपर रचित स्मृति, पुराण, इतिहासादि सभीका नाम शास्त्र है । आसुरीसम्पदाके आचार-व्यवहार आदिके त्यागका और दैवीसम्पदारूप कल्याणकारी गुण-आचरणोंके सेवनका ज्ञान शास्त्रोंसे ही होता है । कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान करानेवाले शास्त्रोंके विधानकी अवहेलना करके अपनी बुद्धिसे अच्छा समझकर जो मनमाने तौरपर मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि किसीकी भी इच्छाविशेषको लेकर आचरण करना है, यही शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करना है। ऐसे कर्म करनेवाले कर्ताको कोई भी फल नहीं मिलता । अर्थात् परमगति नहीं मिलती—इसमें तो कहना ही क्या है, लौकिक अणिमादि सिद्धि और स्वर्गप्राप्तिरूप सिद्धि भी नहीं मिलती एवं संसारमें सात्त्विक सुख भी नहीं मिलता ।

§ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसकी व्यवस्था श्रुति, वेदमूलक स्मृति और पुराण-इतिहासादि शास्त्रोंसे प्राप्त होती है । अतएव इस विषयमें मनुष्यको मनमाना आचरण न करके शास्त्रोंको ही प्रमाण मानना चाहिये । अर्थात् इन शास्त्रोंमें जिन कर्मोंके करनेका विधान है, उनको करना चाहिये और जिनका निषेध है, उन्हें नहीं करना चाहिये ।

तथा उन शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका आचरण भी निष्कामभावसे ही करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रोंमें निष्कामभावसे किये हुए शुभ कर्मोंको ही भगवत्प्राप्तिमें हेतु बतलाया है ।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तदशोऽध्यायः)

श्रद्धाका और शास्त्रविपरीत घोर तप करनेवालोंका वर्णन, आहार, यज्ञ, तप और दानके पृथक्-पृथक् भेद तथा ॐ, तत्, सत्के प्रयोगकी व्याख्या

सम्बन्ध—गीताके सोलहवें अध्यायके आरम्भमें श्रीभगवान्ने निष्काम-भावसे सेवन किये जानेवाले शास्त्रविहित गुण और आचरणोंका दैवीसम्पदाके नामसे वर्णन करके फिर शास्त्रविपरीत आसुरी सम्पत्तिका कथन किया। साथ ही आसुर-स्वभाववाले पुरुषोंको नरकोंमें गिरानेकी बात कही और यह बतलाया कि काम, क्रोध, लोभ ही आसुरी सम्पदाके प्रधान अवगुण हैं और ये तीनों ही नरकोंके द्वार हैं; इनका त्याग करके जो आत्मकल्याणके लिये साधन करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। इसके अनन्तर यह कहा कि जो शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे अपनी समझसे जिसको अच्छा कर्म समझता है, वही करता है, उसे अपने उन कर्मोंका फल नहीं मिलता, यह तो ठीक ही है; परंतु ऐसे लोग भी तो हो सकते हैं, जो शास्त्रविधिका तो न जाननेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे त्याग कर बैठते हैं तथा यज्ञ-पूजादि शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक करते हैं, उनकी क्या स्थिति होती है? इस जिज्ञासाको व्यक्त करते हुए अर्जुन भगवान्से पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो श्रद्धासे युक्त मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर देवादिका पूजन करते हैं,* उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी†? ॥ १॥

* यद्यपि शास्त्रविधिके त्यागकी बात गीताके सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भी कही जा चुकी थी और यहाँ भी कहते हैं; पर इन दोनोंके भावमें बड़ा अन्तर है। वहाँ अवहेलनापूर्वक किये जानेवाले शास्त्रविधिके त्यागका वर्णन है और यहाँ न जाननेके कारण होनेवाले शास्त्रविधिके त्यागका है। उनको तो शास्त्रकी परवा ही नहीं है; अतः वे मनमाने ढंगसे जिस कर्मको अच्छा समझते हैं, उसे करते हैं। इसीलिये वहाँ 'वर्तते कामकारतः' कहा गया है; परंतु यहाँ 'यजन्ते श्रद्धयान्विताः' कहा है, अतः इन लोगोंमें श्रद्धा है। जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ अवहेलना नहीं हो सकती। इन लोगोंको परिस्थिति और वातावरणकी प्रतिकूलतासे, अवकाशके अभावसे अथवा परिश्रम तथा अध्ययन आदिकी कमीसे शास्त्रविधिका ज्ञान नहीं होता और इस अज्ञताके कारण ही इनके द्वारा उसका त्याग होता है।

† जो शास्त्रको न जाननेके कारण शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धाके साथ पूजन आदि करनेवाले हैं, वे कैसे स्वभाववाले हैं—दैव स्वभाववाले या आसुर स्वभाववाले? इसका स्पष्टीकरण पहले नहीं हुआ। अतः उसीको समझनेके लिये अर्जुनका यह प्रश्न है कि ऐसे लोगोंकी स्थिति सात्त्विकी है अथवा राजसी या तामसी? अर्थात् वे दैवीसम्पदावाले हैं या आसुरीसम्पदावाले?

ऊपरके विवेचनसे यह पता लगता है कि संसारमें निम्नलिखित पाँच प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं—

(१) जिनमें श्रद्धा भी है और जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं, ऐसे पुरुष दो प्रकारके हैं—एक तो निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण करनेवाले और दूसरे सकामभावसे कर्मोंका आचरण करनेवाले। निष्कामभावसे आचरण करनेवाले दैवीसम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुष मोक्षको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन प्रधानतया गीताके सोलहवें अध्यायके पहले तीन श्लोकोंमें तथा इस अध्यायके ग्यारहवें, चौदहवेंसे सतरहवें और बीसवें श्लोकोंमें है। सकामभावसे आचरण करनेवाले सत्त्वमिश्रित राजस पुरुष सिद्धि, सुख तथा स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन गीताके दूसरे अध्यायके बयालीसवें, तैंतालीसवें और चौवालीसवेंमें, चौथे अध्यायके बारहवेंमें, सातवेंके बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवेंमें और नवें अध्यायके बीसवें, इक्कीसवें और तेईसवें तथा इस अध्यायके बारहवें, अठारहवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें है।

(२) जो लोग शास्त्रविधिका किसी अंशमें पालन करते हुए यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तो करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा नहीं होती, उन पुरुषोंके कर्म असत् (निष्फल) होते हैं; उन्हें इस लोक और परलोकमें उन कर्मोंसे कोई भी लाभ नहीं होता। इनका वर्णन गीताके इस अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें किया गया है।

(३) जो लोग अज्ञताके कारण शास्त्रविधिका तो त्याग करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा है, ऐसे पुरुष श्रद्धाके भेदसे

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा[१] सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी—ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है। उसको तू मुझसे सुन ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है * ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—श्रद्धाके अनुसार मनुष्योंकी निष्ठाका स्वरूप बतलाया गया; इससे यह जाननेकी इच्छा हो सकती है कि ऐसे मनुष्योंकी पहचान कैसे हो कि कौन किस निष्ठावाला है। इसपर भगवान् कहते हैं—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक पुरुष देवोंको पूजते हैं,† राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको‡ तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको§ पूजते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

सात्त्विक भी होते हैं और राजस तथा तामस भी। इनकी गति भी इनके स्वरूपके अनुसार ही होती है। इनका वर्णन इस अध्यायके दूसरे, तीसरे तथा चौथे श्लोकोंमें किया गया है।

(४) जो लोग न तो शास्त्रको मानते हैं और न जिनमें श्रद्धा ही है; इससे जो काम, क्रोध और लोभके वश होकर अपना पापमय जीवन बिताते हैं, वे आसुरी-सम्पदावाले लोग नरकोंमें गिरते हैं तथा नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। उनका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें, नवेंके बारहवेंमें, सोलहवें अध्यायके सातवेंसे लेकर बीसवेंतकमें और इस अध्यायके पाँचवें, छठे एवं तेरहवें श्लोकोंमें है।

(५) जो लोग अवहेलनासे शास्त्रविधिका त्याग करते हैं और अपनी समझसे उन्हें जो अच्छा लगता है, वही करते हैं, उन यथेच्छाचारी पुरुषोंमें जिनके कर्म शास्त्रनिषिद्ध होते हैं, उन तामस पुरुषोंको तो नरकादि दुर्गतिकी प्राप्ति होती है और जिनके कर्म अच्छे होते हैं, उन पुरुषोंको शास्त्रविधिका त्याग कर देनेके कारण कोई भी फल नहीं मिलता। इसका वर्णन गीताके सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें किया गया है। ध्यान रहे कि इनके द्वारा जो पापकर्म किये जाते हैं, उनका फल—तिर्यक् योनियोंकी प्राप्ति और नरकोंकी प्राप्ति—अवश्य होता है।

इन पाँच प्रकारके मनुष्योंके वर्णनमें प्रमाणस्वरूप जिन श्लोकोंका संकेत किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्यान्य श्लोकोंमें भी इनका वर्णन है; परंतु यहाँ उन सबका उल्लेख करनेसे बहुत विस्तार हो जाता, इसलिये नहीं किया गया।

१. जो श्रद्धा शास्त्रके श्रवण-पठनादिसे होती है, उसे 'शास्त्रजा' कहते हैं और जो पूर्वजन्मोंके तथा इस जन्मके कर्मोंके संस्कारानुसार स्वाभाविक होती है, वह 'स्वभावजा' कहलाती है।

* पुरुषका वास्तविक स्वरूप तो गुणातीत ही है; परंतु यहाँ उस पुरुषकी बात है, जो प्रकृतिमें स्थित है और प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंसे सम्बद्ध है; क्योंकि गुणजन्य भेद 'प्रकृतिस्थ पुरुष' में ही सम्भव है। जो गुणोंसे परे है, उसमें तो गुणोंके भेदकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यहाँ भगवान् यह बतलाते हैं कि जिसकी अन्तःकरणके अनुरूप जैसी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है—वैसी ही उस पुरुषकी निष्ठा या स्थिति होती है। अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वही उसका स्वरूप है। इससे भगवान्‌ने श्रद्धा, निष्ठा और स्वरूपकी एकता करते हुए 'उनकी कौन-सी निष्ठा है' अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर दिया है।

† अभिप्राय यह है कि देवताओंको पूजनेवाले मनुष्य सात्त्विक हैं—सात्त्विकी निष्ठावाले हैं। देवताओंसे यहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, यम, अश्विनीकुमार और विश्वेदेव आदि शास्त्रोक्त देव समझने चाहिये।

यहाँ देवपूजनरूप क्रिया सात्त्विक होनेके कारण उसे करनेवालोंको सात्त्विक बतलाया है; परंतु पूर्ण सात्त्विक तो वही है, जो सात्त्विक क्रियाको निष्कामभावसे करता है।

‡ यक्षसे कुबेरादि और राक्षसोंसे राहु-केतु आदि समझना चाहिये।

§ मरनेके बाद जो पाप-कर्मवश भूत-प्रेतादिके वायुप्रधान देहको प्राप्त होते हैं, वे भूत-प्रेत कहलाते हैं।

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहङ्कारसे युक्त* एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं ॥ ५ ॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले हैं,† उन अज्ञानियोंको तू आसुर-स्वभाववाले जान ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—त्रिविध स्वाभाविक श्रद्धावालोंके तथा घोर तप करनेवाले लोगोंके लक्षण बतलाकर अब भगवान् सात्त्विकका ग्रहण और राजस-तामसका त्याग करानेके उद्देश्यसे सात्त्विक-राजस-तामस आहार, यज्ञ, तप और दानके भेद सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है । वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं ।‡ उनके इस पृथक्-पृथक् भेदको तू मुझसे सुन ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले§ रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय–ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

---

* जिसमें नाना प्रकारके आडम्बरोंसे शरीर और इन्द्रियोंको कष्ट पहुँचाया जाता है और जिसका स्वरूप बड़ा भयानक होता है, इस प्रकारके शास्त्रविरुद्ध भयानक तप करनेवाले मनुष्योंमें श्रद्धा नहीं होती । वे लोगोंको ठगनेके लिये और उनपर रोब जमानेके लिये पाखण्ड रचते हैं तथा सदा अहङ्कारसे फूले रहते हैं । इसीसे उन्हें दम्भ और अहङ्कारसे युक्त कहा गया है ।

१. पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार, दस इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियोंके विषय—इन तेईस तत्त्वोंके समूहका नाम 'भूतग्राम' है ।

† शरीरको क्षीण और दुर्बल करना तथा स्वयं अपने आत्माको या किसीके भी आत्माको दुःख पहुँचाना भूतसमुदायको और परमात्माको कृश करना है; क्योंकि सबके हृदयमें आत्मरूपसे परमात्मा ही स्थित हैं ।

‡ मनुष्य जैसा आहार करता है, वैसा ही उसका अन्तःकरण बनता है और अन्तःकरणके अनुरूप ही श्रद्धा भी होती है । आहार शुद्ध होगा तो उसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण भी शुद्ध होगा । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः ।' (छान्दोग्य० ७ । २६ । २) । अन्तःकरणकी शुद्धिसे ही विचार, भाव, श्रद्धादि गुण और क्रियाएँ शुद्ध होंगी । अतएव इस प्रसङ्गमें आहारका विवेचन करके यह भाव दिखलाया गया है कि सात्त्विक, राजस और तामस आहारोंमें जो आहार जिसको प्रिय होता है, वह उसी गुणवाला होता है । इसी भावसे श्लोकमें 'प्रिय' शब्द देकर विशेष लक्ष्य कराया गया है । अतः आहारकी दृष्टिसे भी उसकी पहचान हो सकती है । यही बात यज्ञ, दान और तपके विषयमें भी समझ लेनी चाहिये ।

२. दूध, चीनी आदि रसयुक्त पदार्थोंको 'रस्याः' कहते हैं ।

३. मक्खन, घी तथा सात्त्विक पदार्थोंसे निकाले हुए तैल आदि स्नेहयुक्त पदार्थोंको 'स्निग्धाः' कहते हैं ।

४. जिन पदार्थोंका सार बहुत कालतक शरीरमें स्थिर रह सकता है, ऐसे ओज उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंको 'स्थिराः' कहते हैं ।

५. जो गंदे और अपवित्र नहीं हैं तथा देखते ही मनमें सात्त्विक रुचि उत्पन्न करनेवाले हैं, ऐसे पदार्थोंको 'हृद्याः' कहते हैं ।

६. भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—इन चार प्रकारके खानेयोग्य पदार्थोंको 'आहार' कहते हैं ।

§ (१) आयुका अर्थ है उम्र या जीवन । जीवनकी अवधिका बढ़ जाना आयुका बढ़ना है ।

(२) सत्त्वका अर्थ है बुद्धि । बुद्धिका निर्मल, तीक्ष्ण एवं यथार्थ तथा सूक्ष्मदर्शिनी होना ही सत्त्वका बढ़ना है ।

(३) बलका अर्थ है सत्कार्यमें सफलता दिलानेवाली मानसिक और शारीरिक शक्ति । इस आन्तर एवं बाह्यशक्तिका बढ़ना ही बलका बढ़ना है ।

(४) मानसिक और शारीरिक रोगोंका नष्ट होना ही आरोग्यका बढ़ना है ।

(५) हृदयमें संतोष, सात्त्विक प्रसन्नता और पुष्टिका होना तथा मुखादि शरीरके अङ्गोंपर शुद्ध भावजनित आनन्दके चिह्नोंका प्रकट होना सुख है; इनकी वृद्धि सुखका बढ़ना है ।

(६) चित्तवृत्तिका प्रेम-भावसम्पन्न हो जाना और शरीरमें प्रीतिकर चिह्नोंका प्रकट होना ही प्रीतिका बढ़ना है ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ* राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं[1] गतरसं[2] पूति[3] पर्युषितं[4] च यत् ।
उच्छिष्टम[5]पि चामेध्यं[6] भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है ॥ १० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो[7][8] विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति[9] मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

जो शास्त्रविधिसे नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनको समाधान करके, फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥ ११ ॥

उपर्युक्त आयु, बुद्धि और बल आदिको बढ़ानेवाले जो दूध, घी, शाक, फल, चीनी, गेहूँ, जौ, चना, मूँग और चावल आदि सात्त्विक आहार हैं, उन सबको समझानेके लिये आहारका यह लक्षण किया गया है ।

* नीम, करेला आदि पदार्थ कड़वे हैं, इमली आदि खट्टे हैं, क्षार तथा विविध भाँतिके नमक नमकीन हैं, बहुत गरम-गरम वस्तुएँ अति उष्ण हैं, लाल मिर्च आदि तीखे हैं, भाड़में भूँजे हुए अन्नादि रूखे हैं और राई आदि पदार्थ दाहकारक हैं ।

उपर्युक्त पदार्थोंको खानेके समय गले आदिमें तकलीफका होना, जीभ, तालू आदिका जलना, दाँतोंका आम जाना, चबानेमें दिक्कत होना, आँखों और नाकोंमें पानी आ जाना, हिचकी आना आदि जो कष्ट होते हैं, उन्हें 'दुःख' कहते हैं । खानेके बाद जो पश्चात्ताप होता है, उसे 'चिन्ता' कहते हैं और खानेसे जो बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें 'रोग' कहते हैं । इन कड़वे, खट्टे आदि पदार्थोंके खानेसे ये दुःख, चिन्ता और रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये इन्हें 'दुःख, चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले' कहा है । अतएव इनका त्याग करना उचित है ।

१. 'यातयाम' अर्थात् अधपका उन फलों अथवा उन खाद्य पदार्थोंको समझना चाहिये, जो पूरी तरहसे पके न हों, अथवा जिनके सिद्ध होनेमें (सीझनेमें) कमी रह गयी हो ।

इसी श्लोकमें 'पर्युषितम्' यानी बासी अन्नको तामस बतलाया गया है । 'यातयामम्' का अर्थ एक प्रहर पहलेका बना भोजन मान लेनेसे 'बासी' भोजनको तामस बतलानेकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती; यह सोचकर यहाँ 'यातयामम्' का अर्थ 'अधपका' किया गया है ।

२. अग्नि आदिके संयोगसे, हवासे अथवा मौसिम बीत जाने आदिके कारणोंसे जिन रसयुक्त पदार्थोंका रस सूख गया हो (जैसे संतरे, ऊख आदिका रस सूख जाया करता है), उनको 'गतरस' कहते हैं ।

३. खानेकी जो वस्तुएँ स्वभावसे ही दुर्गन्धयुक्त हों (जैसे प्याज, लहसुन आदि) अथवा जिनमें किसी क्रियासे दुर्गन्ध उत्पन्न कर दी गयी हो, उन वस्तुओंको 'पूति' कहते हैं ।

४. पहले दिनके बनाये हुए भोजनको 'पर्युषित' या बासी कहते हैं । उन फलोंको भी बासी समझना चाहिये, जिनमें पेड़से तोड़े बहुत समय बीत जानेके कारण विकार उत्पन्न हो गया हो ।

५. अपने या दूसरेके भोजन कर लेनेपर बची हुई जूठी चीजोंको 'उच्छिष्ट' कहते हैं ।

६. मांस, अण्डे आदि हिंसामय और शराब-ताड़ी आदि निषिद्ध मादक वस्तुएँ, जो स्वभावसे ही अपवित्र हैं अथवा जिनमें किसी प्रकारके सङ्गदोषसे, किसी अपवित्र वस्तु, स्थान, पात्र या व्यक्तिके संयोगसे या अन्याय और अधर्मसे उपार्जित असत् धनके द्वारा प्राप्त होनेके कारण अपवित्रता आ गयी हो, उन सब वस्तुओंको 'अमेध्य' कहते हैं । ऐसे पदार्थ देव-पूजनमें भी निषिद्ध माने गये हैं । इनके सिवा गाँजा, भाँग, अफीम, तम्बाकू, सिगरेट-बीड़ी, अर्क, आसव और अपवित्र दवाइयाँ आदि तमोगुण उत्पन्न करनेवाली जितनी भी खान-पानकी वस्तुएँ हैं—सभी अपवित्र हैं ।

७. यज्ञ करनेवाले जो पुरुष उस यज्ञसे स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, विजय या स्वर्ग आदिकी प्राप्ति एवं किसी प्रकारके अनिष्टकी निवृत्तिरूप इस लोक या परलोकके किसी प्रकारके सुखभोग या दुःख-निवृत्तिकी जरा भी इच्छा नहीं करते, उनका वाचक 'अफलाकाङ्क्षिभिः' पद है (गीता ६ । १) ।

८. देवता आदिके उद्देश्यसे घृतादिके द्वारा अग्निमें हवन करना या अन्य किसी प्रकारसे किसी भी वस्तुका समर्पण करके किसीकी यथायोग्य पूजा करना 'यज्ञ' कहलाता है ।

९. अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जिस यज्ञका जिसके लिये शास्त्रोंमें विधान है, उसको अवश्य करना चाहिये;

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

परंतु हे अर्जुन ! केवल दम्भाचरणके लिये अथवा फलको भी दृष्टिमें रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान* ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन तरहके यज्ञोंके लक्षण बतलाकर, अब तपके लक्षणोंका प्रकरण आरम्भ करते हुए चार श्लोकोंद्वारा सात्त्विक तपके लक्षण बतलाते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता,† सरलता,‡ ब्रह्मचर्य§ और अहिंसा×—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है+ ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।÷
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

ऐसे शास्त्रविहित कर्तव्यरूप यज्ञका न करना भगवान्के आदेशका उल्लङ्घन करना है—इस प्रकार यज्ञ करनेके लिये मनमें दृढ़ निश्चय करके निष्कामभावसे जो यज्ञ किया जाता है, वही यज्ञ सात्त्विक होता है।

* जो यज्ञ किसी फलप्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया है, वह शास्त्रविहित और श्रद्धापूर्वक किया हुआ होनेपर भी राजस है, एवं जो दम्भपूर्वक किया जाता है, वह भी राजस है; फिर जिसमें ये दोनों दोष हों, उसके 'राजस' होनेमें तो कहना ही क्या है ?

१. जो यज्ञ शास्त्रविहित न हो या जिसके सम्पादनमें शास्त्रविधिकी कमी हो, अथवा जो शास्त्रोक्त विधानकी अवहेलना करके मनमाने ढंगसे किया गया हो, उसे 'विधिहीन' कहते हैं।

२. जो यज्ञ शास्त्रोक्त मन्त्रोंसे रहित हो, जिसमें मन्त्रप्रयोग हुए ही न हों या विधिवत् न हुए हों, अथवा अवहेलनासे त्रुटि रह गयी हो—उस यज्ञको 'मन्त्रहीन' कहते हैं।

३. ब्रह्मा, महादेव, सूर्य, चन्द्रमा, दुर्गा, अग्नि, वरुण, यम, इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रोक्त देवता हैं—शास्त्रोंमें जिनके पूजनका विधान है, उन सबका वाचक यहाँ 'देव' शब्द है। 'द्विज' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णोंका वाचक होनेपर भी यहाँ केवल ब्राह्मणोंहीके लिये प्रयुक्त है; क्योंकि शास्त्रानुसार ब्राह्मण ही सबके पूज्य हैं। 'गुरु' शब्द यहाँ माता, पिता, आचार्य, वृद्ध एवं अपनेसे जो वर्ण, आश्रम और आयु आदिमें किसी प्रकार भी बड़े हों, उन सबका वाचक है तथा 'प्राज्ञ' शब्द यहाँ परमेश्वरके स्वरूपको भलीभाँति जाननेवाले महात्मा ज्ञानी पुरुषोंका वाचक है। इन सबका यथायोग्य आदर-सत्कार करना; इनको नमस्कार करना; दण्डवत्-प्रणाम करना; इनके चरण धोना; इन्हें चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि समर्पण करना; इनकी यथायोग्य सेवा आदि करना और इन्हें सुख पहुँचानेकी उचित चेष्टा करना आदि इनका पूजन करना है।

† यहाँ 'पवित्रता' केवल शारीरिक शौचका वाचक है; क्योंकि वाणीकी शुद्धिका वर्णन अगले पंद्रहवें श्लोकमें और मनकी शुद्धिका वर्णन सोलहवें श्लोकमें अलग किया गया है। जल-मृत्तिकादिके द्वारा शरीरको स्वच्छ और पवित्र रखना एवं शरीरसम्बन्धी समस्त चेष्टाओंका उत्तम होना ही शरीरकी पवित्रता है (गीता १६ । ३)।

‡ यहाँ शरीरकी अकड़ और ऐंठ आदि वक्रताके त्यागका नाम 'सरलता' है।

§ यहाँ 'ब्रह्मचर्य' शब्द शरीरसम्बन्धी सब प्रकारके मैथुनोंके त्याग और भलीभाँति वीर्य धारण करनेका बोधक है।

× शरीरद्वारा किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारसे कभी जरा भी कष्ट न पहुँचानेका नाम ही यहाँ 'अहिंसा' है।

\+ उपर्युक्त क्रियाओंमें शरीरकी प्रधानता है अर्थात् इनसे शरीरका विशेष सम्बन्ध है और ये इन्द्रियोंके सहित शरीरको उसके समस्त दोषोंका नाश करके पवित्र बना देनेवाली हैं, इसलिये इन सबको 'शरीर-सम्बन्धी तप' कहते हैं।

÷ जो वचन किसीके भी मनमें जरा भी उद्वेग उत्पन्न करनेवाले न हों तथा निन्दा या चुगली आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों, उन्हें 'अनुद्वेगकर' कहते हैं। जैसा देखा, सुना और अनुभव किया हो, ठीक वैसा-का-वैसा ही भाव दूसरेको समझानेके लिये जो यथार्थ वचन बोले जायँ, उनको 'सत्य' कहते हैं। जो सुननेवालेको प्रिय लगते हों तथा कटुता, रूखापन, तीखापन, ताना और अपमानके भाव आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों—ऐसे प्रेमयुक्त, मीठे, सरल और शान्त वचनोंको 'प्रिय' कहते हैं; तथा जिनसे परिणाममें सबका हित होता हो; जो हिंसा, द्वेष, डाह, वैरसे सर्वथा शून्य हों

जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वर-के नाम-जपका अभ्यास है, वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परमश्रद्धासे किये हुए* उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं† ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—अब राजस तपके लक्षण बतलाये जाते हैं—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

और प्रेम, दया तथा मङ्गलसे भरे हों, उनको 'हित' कहते हैं। जिस वाक्यमें उपर्युक्त सभी गुणोंका समावेश हो एवं जो शास्त्रवर्जित वाणीसम्बन्धी सब प्रकारके दोषोंसे रहित हो, उसी वाक्यके उच्चारणको 'वाचिक तप' माना जा सकता है।

१. विषाद-भय, चिन्ता-शोक, व्याकुलता-उद्विग्नता आदि दोषोंसे रहित होकर सात्त्विक प्रसन्नता, हर्ष और बोध-शक्तिसे युक्त हो जाना ही 'मनका प्रसाद' है।

२. रूक्षता, डाह, हिंसा, प्रतिहिंसा, क्रूरता, निर्दयता आदि तापकारक दोषोंसे सर्वथा शून्य होकर मनका सदा-सर्वदा शान्त और शीतल बने रहना ही 'सौम्यत्व' है।

३. मनका निरन्तर भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप, लीला और नाम आदिके चिन्तनमें या ब्रह्मविचारमें लगे रहना ही 'मौन' है।

४. अन्तःकरणकी चञ्चलताका सर्वथा नाश होकर उसका स्थिर तथा अच्छी प्रकार अपने वशमें हो जाना ही 'आत्मविनिग्रह' है।

५. अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, ईर्ष्या-वैर, घृणा-तिरस्कार, असूया-असहिष्णुता, प्रमाद, व्यर्थ विचार, इष्टविरोध और अनिष्टचिन्तन आदि दुर्भावोंका सर्वथा नष्ट हो जाना और इनके विरोधी दया, क्षमा, प्रेम, विनय आदि समस्त सद्भावोंका सदा विकसित रहना 'भावसंशुद्धि' है।

६. जो मनुष्य इस लोक या परलोकके किसी प्रकारके भी सुखभोग अथवा दुःखकी निवृत्तिरूप फलकी कभी किसी भी कारणसे किंचिन्मात्र भी कामना नहीं करता, उसे 'अफलाकाङ्क्षी' कहते हैं और जिसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय अनासक्त, निगृहीत तथा शुद्ध होनेके कारण कभी किसी भी प्रकारके भोगके सम्बन्धसे विचलित नहीं हो सकते, जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है, उसे 'युक्त' कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारका तप जब ऐसे निष्काम पुरुषोंद्वारा किया जाता है, तभी वह पूर्ण सात्त्विक होता है।

* शास्त्रोंमें उपर्युक्त तपका जो कुछ भी महत्त्व, प्रभाव और स्वरूप बतलाया गया है, उसपर प्रत्यक्षसे भी बढ़कर सम्मानपूर्वक पूर्ण विश्वास होना 'परमश्रद्धा' है और ऐसी श्रद्धासे युक्त होकर बड़े-से-बड़े विघ्नों या कष्टोंकी कुछ भी परवा न करके सदा अविचलित रहते हुए अत्यन्त आदर और उत्साहपूर्वक उपर्युक्त तपका आचरण करते रहना ही उसे परम श्रद्धासे करना है।

† अभिप्राय यह है कि शरीर, वाणी और मन-सम्बन्धी उपर्युक्त तप ही सात्त्विक हो सकते हैं। साथ ही यह भी दिखलाया है कि यद्यपि ये तप स्वरूपसे तो सात्त्विक हैं; परंतु वे पूर्ण सात्त्विक तब होते हैं, जब इस श्लोकमें बतलाये हुए भावसे किये जाते हैं।

७. तपमें वस्तुतः आस्था न होनेपर भी लोगोंको धोखा देकर किसी प्रकारका स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये तपस्वीका-सा स्वाँग रचकर जो किसी लौकिक या शास्त्रीय तपका बाहरसे दिखाने भरके लिये आचरण किया जाता है, उसे दम्भसे तप करना कहते हैं।

८. जिस फलकी प्राप्तिके लिये उसका अनुष्ठान किया जाता है, उसका प्राप्त होना या न होना निश्चित नहीं है; इसलिये उसे 'अध्रुव' कहा है और जो कुछ फल मिलता है, वह भी सदा नहीं रहता, उसका निश्चय ही नाश हो जाता है; इसलिये उसे 'चल' कहा है।

जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा अन्य किसी स्वार्थके लिये भी* स्वभावसे या पाखण्डसे किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—अब तामस तपके लक्षण बतलाते हैं, जो कि सर्वथा त्याज्य है—

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

जो तप मूढतापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है† ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—तीन प्रकारके तपोंका लक्षण करके अब दानके तीन प्रकारके लक्षण कहते हैं—

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

दान देना ही कर्तव्य है‡—ऐसे भावसे जो दान देश तथा काल§ और पात्रके प्राप्त होनेपर× उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है+ ॥

---

* तपकी प्रसिद्धिसे जो इस प्रकार जगत्में बड़ाई होती है कि यह मनुष्य बड़ा भारी तपस्वी है, इसकी बराबरी कौन कर सकता है, यह बड़ा श्रेष्ठ है आदि—उसका नाम 'सत्कार' है। किसीको तपस्वी समझकर उसका स्वागत करना, उसके सामने खड़े हो जाना, प्रणाम करना, मानपत्र देना या अन्य किसी क्रियासे उसका आदर करना 'मान' है, तथा उसकी आरती उतारना, पैर धोना, पत्र-पुष्पादि षोडशोपचारसे पूजा करना, उसकी आज्ञाका पालन करना—इन सबका नाम 'पूजा' है। इन सबके लिये जो लौकिक या शास्त्रीय तपका आचरण किया जाता है, वही सत्कार, मान और पूजाके लिये तप करना है। इसके सिवा अन्य किसी स्वार्थकी सिद्धिके लिये किया जानेवाला तप भी राजस है।

१. तपके वास्तविक लक्षणोंको न समझकर जिस किसी भी क्रियाको तप मानकर उसे करनेका जो हठ या दुराग्रह है, उसे 'मूढग्राह' कहते हैं।

† जिस तपका वर्णन इसी अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें किया गया है, जो अशास्त्रीय, मनःकल्पित, घोर और स्वभावसे ही तामस है, जिसमें दम्भकी प्रेरणासे या अज्ञानसे पैरोंको पेड़की डालीमें बाँधकर सिर नीचा करके लटकना, लोहेके काँटोंपर बैठना तथा इसी प्रकारकी अन्यान्य घोर क्रियाएँ करके बुरी भावनासे अर्थात् दूसरोंकी सम्पत्तिका हरण करने, उसका नाश करने, उनके वंशका उच्छेद करने अथवा उनका किसी प्रकार कुछ भी अनिष्ट करनेके लिये जो अपने मन, वाणी और शरीरको ताप पहुँचाना है—उसे 'तामस तप' कहते हैं।

‡ वर्ण, आश्रम, अवस्था और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रविहित दान करना—अपने स्वत्वको यथाशक्ति दूसरोंके हितमें लगाना मनुष्यका परम कर्तव्य है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो मनुष्यत्वसे गिरता है और भगवान्‌के कल्याणमय आदेशका अनादर करता है। अतः जो दान केवल इस कर्तव्य-बुद्धिसे ही दिया जाता है, जिसमें इस लोक और परलोकके किसी भी फलकी जरा भी अपेक्षा नहीं होती—वही दान पूर्ण सात्त्विक है।

§ जिस देश और जिस कालमें जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, उस वस्तुके दानद्वारा सबको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये वही योग्य देश और काल है। इसके अतिरिक्त कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, मथुरा, काशी, प्रयाग, नैमिषारण्य आदि तीर्थस्थान और ग्रहण, पूर्णिमा, अमावास्या, संक्रान्ति, एकादशी आदि पुण्यकाल—जो दानके लिये शास्त्रोंमें प्रशस्त माने गये हैं, वे भी योग्य देश-काल हैं।

× जिसके पास जहाँ जिस समय जिस वस्तुका अभाव हो, वह वहीं और उसी समय उस वस्तुके दानका पात्र है। जैसे—भूखे, प्यासे, नंगे, दरिद्र, रोगी, आर्त, अनाथ और भयभीत प्राणी अन्न, जल, वस्त्र, निर्वाहयोग्य धन, औषध, आश्वासन, आश्रय और अभयदानके पात्र हैं। आर्त प्राणियोंकी पात्रतामें जाति, देश और कालका कोई बन्धन नहीं है। उनकी आतुरदशा ही पात्रताकी पहचान है। इनके सिवा जो श्रेष्ठ आचरणोंवाले विद्वान्, ब्राह्मण, उत्तम ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तथा सेवाव्रती लोग हैं—जिनको जिस वस्तुका दान देना शास्त्रमें कर्तव्य बतलाया गया है—वे भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार यथाशक्ति धन आदि सभी आवश्यक वस्तुओंके दानपात्र हैं।

+ जिसका अपने ऊपर उपकार है, उसकी सेवा करना तथा यथासाध्य उसे सुख पहुँचानेका प्रयास करना तो मनुष्यका कर्तव्य ही है। उसे जो लोग दान समझते हैं, वे वस्तुतः उपकारीका तिरस्कार करते हैं और जो लोग उपकारीकी सेवा नहीं करना चाहते, वे तो कृतघ्नकी श्रेणीमें हैं; अतएव अपना उपकार करनेवालेकी तो सेवा करनी ही चाहिये।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

किंतु जो दान क्लेशपूर्वक* तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे† अथवा फलको दृष्टिमें रखकर‡ फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद् दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो दान बिना सत्कारके§ अथवा तिरस्कारपूर्वक× अयोग्य देश-कालमें+ और कुपात्रके÷ प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—अब सात्त्विक यज्ञ, दान और तप उपादेय क्यों हैं; भगवान्‌से उनका क्या सम्बन्ध है तथा उन सात्त्विक यज्ञ, तप और दानोंमें जो अङ्ग-वैगुण्य हो जाय, उसकी पूर्ति किस प्रकार होती है—यह सब बतलानेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है;A उसी ब्रह्मसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिB रचे गये ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—परमेश्वरके उपर्युक्त ॐ, तत् और सत्—इन तीन नामोंका यज्ञ, दान, तप आदिके साथ क्या सम्बन्ध है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैंC ॥ २४ ॥

यहाँ अनुपकारीको दान देनेकी बात कहकर भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि दान देनेवाला दानके पात्रसे बदलेमें किसी प्रकारके जरा भी उपकार पानेकी इच्छा न रक्खे। जिससे किसी भी प्रकारका अपना स्वार्थका सम्बन्ध मनमें नहीं है, उस मनुष्यको जो दान दिया जाता है—वही सात्त्विक है। इससे वस्तुतः दाताकी स्वार्थबुद्धिका ही निषेध किया गया है।

* किसीके धरना देने, हठ करने या भय दिखलाने अथवा प्रतिष्ठित और प्रभावशाली पुरुषोंके कुछ दबाव डालनेपर बिना ही इच्छाके मनमें विषाद और दुःखका अनुभव करते हुए निरुपाय होकर जो दान दिया जाता है, वह क्लेशपूर्वक दान देना है।

† जो मनुष्य बराबर अपने काममें आता है या आगे चलकर जिससे अपना कोई छोटा या बड़ा काम निकालनेकी सम्भावना या आशा है, ऐसे व्यक्ति या संस्थाओंको दान देना प्रत्युपकारके प्रयोजनसे दान देना है।

‡ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादि इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये या रोग आदिकी निवृत्तिके लिये जो किसी वस्तुका दान किसी व्यक्ति या संस्थाको दिया जाता है, वह फलके उद्देश्यसे दान देना है।

§ यथायोग्य अभिवादन, कुशल-प्रश्न, प्रियभाषण और आसन आदिद्वारा सम्मान न करके जो रूखाईसे दान दिया जाता है, वह बिना सत्कारके दिया जानेवाला दान है।

× पाँच बात सुनाकर, कड़वा बोलकर, धमकाकर, फिर न आनेकी कड़ी हिदायत देकर, दिल्लगी उड़ाकर अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे वचन, शरीर या संकेतके द्वारा अपमानित करके जो दान दिया जाता है, वह तिरस्कारपूर्वक दिया जानेवाला दान है।

+ जिस देश-कालमें दान देना आवश्यक नहीं है अथवा जहाँ दान देना शास्त्रमें निषेध किया है, वे देश और काल दानके लिये अयोग्य हैं।

÷ जिन मनुष्योंको दान देनेकी आवश्यकता नहीं है तथा जिनको दान देनेका शास्त्रमें निषेध है, वे धर्मध्वजी, पाखण्डी, कपटवेषधारी, हिंसा करनेवाले, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले, दूसरोंकी जीविकाका छेदन करके अपने स्वार्थसाधनमें तत्पर, बनावटी विनय दिखानेवाले, मद्य-मांस आदि अभक्ष्य वस्तुओंको भक्षण करनेवाले, चोरी, व्यभिचार आदि नीच कर्म करनेवाले, ठग, जुआरी और नास्तिक आदि सभी दानके लिये अपात्र हैं।

A जिस परमात्मासे समस्त कर्ता, कर्म और कर्म-विधिकी उत्पत्ति हुई है, उस भगवान्‌के वाचक 'ॐ', 'तत्' और 'सत्'—ये तीनों नाम हैं; अतः इनके उच्चारण आदिसे उन सबके अङ्ग-वैगुण्यकी पूर्ति हो जाती है। अतएव प्रत्येक कामके आरम्भमें परमेश्वरके नामोंका उच्चारण करना परम आवश्यक है।

B यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द ब्राह्मण आदि समस्त प्रजाका, 'वेद' चारों वेदोंका, 'यज्ञ' शब्द यज्ञ, तप, दान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका वाचक है।

C जिस परमेश्वरसे इन यज्ञादि कर्मोंकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाम होनेके कारण ओङ्कारके उच्चारणसे समस्त कर्मोंका अङ्गवैगुण्य दूर हो जाता है तथा वे पवित्र और कल्याणप्रद हो जाते हैं। यह भगवान्‌के नामकी अपार महिमा है।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥२५॥

तत् अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं* ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

'सत्'—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें† और श्रेष्ठभावमें‡ प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी§ 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है× और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है+ ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रद्धापूर्वक किये हुए शास्त्रविहित यज्ञ, तप, दान आदि कर्मोंका महत्त्व बतलाया गया; उसे सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि जो शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म बिना श्रद्धाके किये जाते हैं, उनका क्या फल होता है; इसपर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्[1] ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे अर्जुन ! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है—वह समस्त 'असत्'—इस प्रकार कहा जाता है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही÷॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥ भीष्मपर्वमें इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

इसीलिये वेदोक्त मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक यज्ञादि कर्म करनेके अधिकारी विद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके यज्ञ, दान, तप आदि समस्त शास्त्रविहित शुभ कर्म सदा ओङ्कारके उच्चारणपूर्वक ही होते हैं ।

* जो विहित कर्म करनेवाले साधारण वेदवादी हैं, वे फलकी इच्छा या अहंता-ममताका त्याग नहीं करते; किंतु जो कल्याणकामी मनुष्य हैं, जिनको परमेश्वरकी प्राप्तिके सिवा अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, वे समस्त कर्म अहंता, ममता, आसक्ति और फल-कामनाका सर्वथा त्याग करके केवल परमेश्वरके ही लिये उनके आज्ञानुसार किया करते हैं ।

† 'सद्भाव' (सत्यभाव) नित्य भावका अर्थात् जिसका अस्तित्व सदा रहता है, उस अविनाशी तत्त्वका वाचक है और वही परमेश्वरका स्वरूप है । इसलिये उसे 'सत्' नामसे कहा जाता है ।

‡ अन्तःकरणका जो शुद्ध और श्रेष्ठभाव है, उसका वाचक यहाँ 'साधुभाव' है । वह परमेश्वरकी प्राप्तिका हेतु है; इसलिये उसमें परमेश्वरके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है अर्थात् उसे 'सद्भाव' कहा जाता है ।

§ जो शास्त्रविहित करनेयोग्य शुभ कर्म है, वह निष्कामभावसे किये जानेपर परमात्माकी प्राप्तिका हेतु है; इसलिये उसमें परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है, अर्थात् उसे 'सत् कर्म' कहा जाता है ।

× यज्ञ, तप और दानसे यहाँ सात्त्विक यज्ञ, तप और दानका निर्देश किया गया है तथा उनमें जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आस्तिक बुद्धि है, जिसे निष्ठा भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'स्थिति' शब्द है; ऐसी स्थिति परमेश्वरकी प्राप्तिमें हेतु है, इसलिये वह 'सत्' है ।

+ जो कोई भी कर्म केवल भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये किया जाता है, जिसमें कर्ताका जरा भी स्वार्थ नहीं रहता—ऐसा कर्म कर्ताके अन्तःकरणको शुद्ध बनाकर उसे परमेश्वरकी प्राप्ति करा देता है, इसलिये वह 'सत्' है ।

१. 'यत्' पदसे यहाँ निषिद्ध कर्मोंका समाहार नहीं है; क्योंकि निषिद्ध कर्मोंके करनेमें श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं है और उनका फल भी श्रद्धापर निर्भर नहीं है । उनको करते भी वे ही मनुष्य हैं, जिनकी शास्त्र, महापुरुष और ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा नहीं होती । जिनको विश्वास नहीं है, उनको भी पाप कर्मोंका दुःखरूप फल अवश्य ही मिलता है । अतः यहाँ यज्ञ, दान और तपरूप शुभ क्रियाओंके साथ-साथ आया हुआ 'यत् कृतम्' पद उसी जातिकी क्रियाका वाचक है ।

÷ हवन, दान और तप तथा अन्यान्य शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक किये जानेपर ही अन्तःकरणकी शुद्धिमें और इस लोक या परलोकके फल देनेमें समर्थ होते हैं । बिना श्रद्धाके किये हुए शुभ कर्म व्यर्थ हैं, इसीसे उनको 'असत्' और 'वे इस लोक या परलोकमें कहीं भी लाभप्रद नहीं हैं'—ऐसा कहा है ।

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टादशोऽध्यायः)

त्यागका, सांख्यसिद्धान्तका, फलसहित वर्ण-धर्मका, उपासनासहित ज्ञाननिष्ठाका, भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगका एवं गीताके माहात्म्यका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे गीताके उपदेशका आरम्भ हुआ। वहाँसे आरम्भ करके तीसवें श्लोकतक भगवान्ने ज्ञानयोगका उपदेश दिया और प्रसङ्गवश क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी कर्तव्यताका प्रतिपादन करके उन्चालीसवें श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त कर्मयोगका उपदेश दिया, उसके बाद तीसरे अध्यायसे सतरहवें अध्यायतक कहीं ज्ञानयोगकी दृष्टिसे और कहीं कर्मयोगकी दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके बहुत-से साधन बतलाये। उन सबको सुननेके अनन्तर अब अर्जुन इस अठारहवें अध्यायमें समस्त अध्यायोंके उपदेशका सार जाननेके उद्देश्यसे भगवान्के सामने संन्यास यानी ज्ञानयोगका और त्याग यानी फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट करते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन॥ १॥

अर्जुन बोले—हे महाबाहो! हे अन्तर्यामिन्! हे वासुदेव! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ* ॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—कितने ही पण्डितजन तो काम्यकर्मोंके† त्यागको संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं‡ ॥ २॥

---

* अर्जुनके प्रश्नका यह भाव है कि संन्यास (ज्ञानयोग) का क्या स्वरूप है, उसमें कौन-कौनसे भाव और कर्म सहायक एवं कौन-कौनसे बाधक हैं, उपासनासहित सांख्ययोगका और केवल सांख्ययोगका साधन किस प्रकार किया जाता है; इसी प्रकार त्याग (फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोग) का क्या स्वरूप है; केवल कर्मयोगका साधन किस प्रकार होता है, क्या करना इसके लिये उपयोगी है और क्या करना इसमें बाधक है; भक्तिमिश्रित कर्मयोग कौन-सा है; भक्तिप्रधान कर्मयोग कौन-सा है तथा लौकिक और शास्त्रीय कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित एवं भक्तिप्रधान कर्मयोगका साधन किस प्रकार किया जाता है—इन सब बातोंको भी मैं भलीभाँति जानना चाहता हूँ।

उत्तरमें भगवान्ने इस अध्यायके तेरहवेंसे सतरहवें श्लोकतक संन्यास (ज्ञानयोग) का स्वरूप बतलाया है। उन्नीसवेंसे चालीसवें श्लोकतक जो सात्त्विक भाव और कर्म बतलाये हैं, वे इसके साधनमें उपयोगी हैं और राजस, तामस इसके विरोधी हैं। पचासवेंसे पचपनवेंतक उपासनासहित सांख्ययोगकी विधि और फल बतलाया है तथा सतरहवें श्लोकमें केवल सांख्ययोगका साधन करनेका प्रकार बतलाया है।

इसी प्रकार छठे श्लोकमें (फलासक्तिके त्यागरूप) कर्मयोगका स्वरूप बतलाया है। नवें श्लोकमें सात्त्विक त्यागके नामसे केवल कर्मयोगके साधनकी प्रणाली बतलायी है। सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें स्वधर्मके पालनको इस साधनमें उपयोगी बतलाया है और सातवें तथा आठवें श्लोकोंमें वर्णित तामस, राजस त्यागको इसमें बाधक बतलाया है। पैंतालीसवें और छियालीसवें श्लोकोंमें भक्तिमिश्रित कर्मयोगका और छप्पनवेंसे छाछठवें श्लोकतक भक्तिप्रधान कर्मयोगका वर्णन है। छियालीसवें श्लोकमें लौकिक और शास्त्रीय समस्त कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है और सत्तावनवें श्लोकमें भगवान्ने भक्तिप्रधान कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है।

† स्त्री, पुत्र, धन और स्वर्गादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये और रोग-संकटादि अप्रियकी निवृत्तिके लिये यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि जिन शुभ कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान किया गया है—ऐसे शुभ कर्मोंका नाम 'काम्यकर्म' है।

‡ ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाके कर्म और शरीरसम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं, उनके अनुष्ठानसे प्राप्त होनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गसुख आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग हैं—उन सबकी कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं* और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं† ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार संन्यास और त्यागके विषयोंमें विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अब भगवान् त्यागके विषयमें अपना निश्चय बतलाना आरम्भ करते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! संन्यास और त्याग, इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन; क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५ ॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है;‡ क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

इसलिये हे पार्थ ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है§ ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब तीन श्लोकोंमें क्रमसे उपर्युक्त तीन प्रकारके त्यागोंके लक्षण बतलाते हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

(निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है) परंतु नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित

---

* आरम्भ (क्रिया) मात्रमें ही कुछ-न-कुछ पापका सम्बन्ध हो जाता है, अतः विहित कर्म भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं; इस भावको लेकर कितने ही विद्वानोंका कहना है कि कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको नित्य, नैमित्तिक और काम्य आदि सभी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये ।

† बहुत-से विद्वानोंके मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्म वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं । वे मानते हैं कि उन कर्मोंके निमित्त किये जानेवाले आरम्भमें जिन अवश्यम्भावी हिंसादि पापोंका होना देखा जाता है, वे वास्तवमें पाप नहीं हैं । इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको निषिद्ध कर्मोंका ही त्याग करना चाहिये, शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये ।

१. शास्त्रविधिके अनुसार अङ्ग-उपाङ्गोंसहित निष्कामभावसे भलीभाँति अनुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् मुमुक्षु पुरुषोंका वाचक यहाँ 'मनीषिणाम्' पद है ।

‡ शास्त्रोंमें अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जिसके लिये जिस कर्मका विधान है—जिसको जिस समय जिस प्रकार यज्ञ करनेके लिये, दान देनेके लिये और तप करनेके लिये कहा गया है—उसे उसका त्याग नहीं करना चाहिये, यानी शास्त्र-आज्ञाकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके त्यागसे किसी प्रकारका लाभ होना तो दूर रहा, उलटा प्रत्यवाय होता है । इसलिये इन कर्मोंका अनुष्ठान मनुष्यको अवश्य करना चाहिये ।

§ भगवान्के कथनका भाव यह है कि ऊपर विद्वानोंके मतानुसार जो त्याग और संन्यासके लक्षण बतलाये गये हैं, वे पूर्ण नहीं हैं; क्योंकि केवल काम्य कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेपर भी अन्य नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें और उनके फलमें मनुष्यकी ममता, आसक्ति और कामना रहनेसे वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं । सब कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग कर देनेपर भी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति रह जानेसे वे बन्धनकारक हो सकते हैं । अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग किये बिना यदि समस्त कर्मोंको दोषयुक्त समझकर कर्तव्यकर्मोंका भी स्वरूपसे त्याग कर दिया जाय तो मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा करनेपर वह विहित कर्मके त्यागरूप प्रत्यवायका भागी होता है । इसी प्रकार यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको करते रहनेपर भी यदि उनमें आसक्ति और उनके फलकी कामनाका त्याग न किया जाय तो वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं । इसलिये उन विद्वानोंके बतलाये हुए लक्षणोंवाले संन्यास और त्यागसे मनुष्य कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म स्वरूपतः बन्धनकारक नहीं हैं, उनके साथ ममता, आसक्ति और फलका सम्बन्ध ही बन्धनकारक है । अतः कर्मोंमें जो ममता और फलासक्तिका त्याग है, वही वास्तविक त्याग है; क्योंकि इस प्रकार कर्म करनेवाला मनुष्य समस्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त हो जाता है ।

नहीं है*। इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है †॥ ७॥

दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

जो कुछ कर्म है वह सब दुःखरूप ही है—ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर दे,‡ तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागके फलको किसी प्रकार भी नहीं पाता§॥ ८॥

कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

हे अर्जुन ! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है—इसी भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है×॥ ९॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे सात्त्विक त्याग करनेवाले पुरुषका निषिद्ध और काम्यकर्मोंको स्वरूपसे छोड़नेमें और कर्तव्यकर्मोंके करनेमें कैसा भाव रहता है, इस जिज्ञासापर सात्त्विक त्यागी पुरुषको अन्तिम स्थितिके लक्षण बतलाते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता+ और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, ÷ वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त

* वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये यज्ञ, दान, तप, अध्ययन-अध्यापन, उपदेश, युद्ध, प्रजापालन, पशुपालन, कृषि, व्यापार, सेवा और खान-पान आदि जो-जो कर्म शास्त्रोंमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं, उसके लिये वे नियत कर्म हैं। ऐसे कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन न करनेके कारण पापका भागी होता है; क्योंकि इससे कर्मोंकी परम्परा टूट जाती है और समस्त जगत्‌में विप्लव हो जाता है (गीता ३। २३-२४)। इसलिये नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है।

† कर्तव्यकर्मके त्यागको भूलसे मुक्तिका हेतु समझकर त्याग करना मोहपूर्वक होनेके कारण तामस त्याग है; इसलिये उपर्युक्त त्याग ऐसा त्याग नहीं है; जिसके करनेसे मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है। यह तो प्रत्यवायका हेतु होनेसे उलटा अधोगतिको ले जानेवाला है।

‡ कर्तव्य कर्मोंके अनुष्ठानमें मन, इन्द्रिय और शरीरको परिश्रम होता है; अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं; बहुत-सी सामग्री एकत्र करनी पड़ती है; शरीरके आरामका त्याग करना पड़ता है; व्रत, उपवास आदि करके कष्ट सहन करना पड़ता है और बहुत-से भिन्न-भिन्न नियमोंका पालन करना पड़ता है—इस कारण समस्त कर्मोंको दुःखरूप समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमसे बचनेके लिये तथा आराम करनेकी इच्छासे जो यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करना है—यही उनको दुःखरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उनका त्याग करना है।

§ जबतक मनुष्यकी मन, इन्द्रिय और शरीरमें ममता और आसक्ति रहती है, तबतक वह किसी प्रकार भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। अतः यह राजस त्याग नाममात्रका ही त्याग है, सच्चा त्याग नहीं है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले साधकोंको ऐसा त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि मन, इन्द्रिय और शरीरके आराममें आसक्तिका होना रजोगुणका कार्य है। अतएव ऐसा त्याग करनेवाला मनुष्य वास्तविक त्यागके फलको, जो कि समस्त कर्मबन्धनोंसे छूटकर परमात्माको पा लेना है, नहीं पाता।

× वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म शास्त्रमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं, वे समस्त कर्म ही नियत कर्म हैं, निषिद्ध और काम्य कर्म नियत कर्म नहीं हैं। नियत कर्मोंको न करना भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन करना है—इस भावसे भावित होकर उन कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उत्साहपूर्वक विधिवत् उनको करते रहना ही सात्त्विक त्याग है; क्योंकि कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्ति और कामनाका त्याग ही वास्तविक त्याग है। त्यागका परिणाम कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेद होना चाहिये और यह परिणाम ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागसे ही हो सकता है—केवल स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेसे नहीं।

+ शास्त्रनिषिद्ध कर्म और काम्यकर्म सभी अकुशल कर्म हैं; क्योंकि पापकर्म तो मनुष्यको नाना प्रकारकी नीच योनियोंमें और नरकमें गिरानेवाले हैं एवं काम्यकर्म भी फलभोगके लिये पुनर्जन्म देनेवाले हैं। सात्त्विक त्यागीमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण वह जो निषिद्ध और काम्यकर्मोंका त्याग करता है, वह द्वेष-बुद्धिसे नहीं करता; किंतु शास्त्रदृष्टिसे लोकसंग्रहके लिये उनका त्याग करता है।

÷ शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म निष्कामभावसे किये जानेपर मनुष्यके पूर्वकृत

पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है*॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है;† इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—यह कहा जाता है‡।११।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२ ॥

कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है;§ किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता×॥ १२ ॥

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट की थी। उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें इस विषयपर विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अपने मतके अनुसार चौथे श्लोकसे बारहवें श्लोकतक त्यागका यानी कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति समझाया; अब संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व समझानेके लिये पहले सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु बतलाते हैं—

संचित पापोंका नाश करके उसे कर्मबन्धनसे छुड़ा देनेमें समर्थ हैं, इसलिये ये कुशल कहलाते हैं। सात्त्विक त्यागी जो उपर्युक्त शुभ कर्मोंका विधिवत् अनुष्ठान करता है, वह आसक्तिपूर्वक नहीं करता; किंतु शास्त्रविहित कर्मोंका करना मनुष्यका कर्तव्य है—इस भावसे ममता, आसक्ति और फलेच्छा छोड़कर लोकसंग्रहके लिये ही उनका अनुष्ठान करता है।

* इस प्रकार राग-द्वेषसे रहित होकर केवल कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंका ग्रहण और त्याग करनेवाला शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित है, यानी उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि यह कर्मयोगरूप सात्त्विक त्याग ही कर्मबन्धनसे छूटकर परमपदको प्राप्त कर लेनेका पूर्ण साधन है। इसीलिये वह बुद्धिमान् है और वही सच्चा त्यागी है।

† कोई भी देहधारी मनुष्य बिना कर्म किये रह नहीं सकता (गीता ३। ५); क्योंकि बिना कर्म किये शरीरका निर्वाह ही नहीं हो सकता (गीता ३। ८)। इसलिये मनुष्य किसी भी आश्रममें क्यों न रहता हो—जबतक वह जीवित रहेगा, तबतक उसे अपनी परिस्थितिके अनुसार खाना-पीना, सोना-बैठना, चलना-फिरना और बोलना आदि कुछ-न-कुछ कर्म तो करना ही पड़ेगा। अतएव सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाना सम्भव नहीं है।

‡ जो निषिद्ध और काम्य-कर्मोंका सर्वथा त्याग करके यथावश्यक शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी है।

ऊपरसे इन्द्रियोंकी क्रियाओंका संयम करके मनसे विषयोंका चिन्तन करनेवाला मनुष्य त्यागी नहीं है तथा अहंता, ममता और आसक्तिके रहते हुए शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि कर्तव्यकर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेवाला भी त्यागी नहीं है।

§ जिन्होंने अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग नहीं किया है; जो आसक्ति और फलेच्छापूर्वक सब प्रकारके कर्म करनेवाले हैं, उनके द्वारा किये हुए शुभ कर्मोंका जो स्वर्गादिकी प्राप्ति या अन्य किसी प्रकारके सांसारिक इष्ट भोगोंकी प्राप्तिरूप फल है, वह अच्छा फल है; तथा उनके द्वारा किये हुए पाप-कर्मोंका जो पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और वृक्ष आदि तिर्यक् योनियोंकी प्राप्ति या नरकोंकी प्राप्ति अथवा अन्य किसी प्रकारके दुःखोंकी प्राप्तिरूप फल है—वह बुरा फल है। इसी प्रकार जो मनुष्यादि योनियोंमें उत्पन्न होकर कभी इष्ट भोगोंको प्राप्त होना और कभी अनिष्ट भोगोंको प्राप्त होना है, वह मिश्रित फल है।

उन पुरुषोंके कर्म अपना फल भुगताये बिना नष्ट नहीं हो सकते, जन्म-जन्मान्तरोंमें शुभाशुभ फल देते रहते हैं; इसीलिये ऐसे मनुष्य संसारचक्रमें घूमते रहते हैं।

× कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका जिन्होंने सर्वथा त्याग कर दिया है; इस अध्यायके दसवें श्लोकमें त्यागीके नामसे जिनके लक्षण बतलाये गये हैं; गीताके छठे अध्यायके पहले श्लोकमें जिनके लिये 'संन्यासी' और 'योगी' दोनों पदोंका प्रयोग किया गया है तथा गीताके दूसरे अध्यायके इक्यावनवें श्लोकमें जिनको अनामय पदकी प्राप्तिका होना बतलाया गया है—ऐसे कर्मयोगियोंको यहाँ 'संन्यासी' कहा गया है।

इस प्रकार कर्म फलका त्याग कर देनेवाले त्यागी मनुष्य जितने कर्म करते हैं, वे भूने हुए बीजकी भाँति होते हैं, उनमें फल उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं होती तथा इस प्रकार यज्ञार्थ किये जानेवाले निष्काम कर्मोंसे पूर्वसंचित समस्त शुभाशुभ कर्मोंका भी नाश हो जाता है (गीता ४। २३)। इस कारण उनके इस जन्ममें या जन्मान्तरोंमें किये हुए किसी भी कर्मका किसी प्रकारका भी फल किसी भी अवस्थामें, जीते हुए या मरनेके बाद कभी नहीं होता; वे कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले सांख्य-शास्त्रमें कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

इस विषयमें अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान*और कर्ता†तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण‡एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ§और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव×है ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

मनुष्य+मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है, उसके ये पाँचों कारण हैं÷ ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगके सिद्धान्तसे समस्त कर्मोंकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच कारणोंका निरूपण करके अब, वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा सर्वथा शुद्ध, निर्विकार और अकर्ता है—यह बात समझानेके लिये आत्माको कर्ता माननेवालेकी निन्दा करके अकर्ता माननेवालेकी स्तुति करते हैं—

---

१. 'कृत' नाम कर्मोंका है; अतः जिस शास्त्रमें उनका अन्त करनेका उपाय बतलाया गया हो, उसका नाम 'कृतान्त' है । 'सांख्य' का अर्थ ज्ञान है (सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परमात्मानेनेति सांख्यं तत्त्वज्ञानम्) । अतएव जिस शास्त्रमें तत्त्व-ज्ञानके साधनरूप ज्ञानयोगका प्रतिपादन किया गया हो, उसको सांख्य कहते हैं । इसलिये यहाँ 'कृतान्ते' विशेषणके सहित 'सांख्ये' पद उस शास्त्रका वाचक मालूम होता है, जिसमें ज्ञानयोगका भलीभाँति प्रतिपादन किया गया हो और उसके अनुसार समस्त कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये हुए एवं आत्माको सर्वथा अकर्ता समझकर कर्मोंका अभाव करनेकी रीति बतलायी गयी हो ।

२. 'सर्वकर्मणाम्' पद यहाँ शास्त्रविहित और निषिद्ध, सभी प्रकारके कर्मोंका वाचक है तथा किसी कर्मका पूर्ण हो जाना यानी उसका बन जाना ही उसकी सिद्धि है ।

* 'अधिष्ठान' शब्द यहाँ मुख्यतासे करण और क्रियाके आधाररूप शरीरका वाचक है; किंतु गौणरूपसे यज्ञादि कर्मोंमें तद्विषयक क्रियाके आधाररूप भूमि आदिका वाचक भी माना जा सकता है ।

† यहाँ 'कर्ता' शब्द प्रकृतिस्थ पुरुषका वाचक है । इसीको गीताके तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भोक्ता बतलाया गया है ।

‡ मन, बुद्धि और अहङ्कार भीतरके करण हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये दस बाहरके करण हैं; इनके सिवा गौणरूपसे जैसे स्रुवा आदि उपकरण यज्ञादि कर्मोंके करनेमें सहायक होते हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मोंके करनेमें जितने भी भिन्न-भिन्न द्वार अथवा सहायक हैं, उन सबको यहाँ बाह्य करण कहा जा सकता है ।

§ एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन करना, हाथ-पैर आदि अङ्गोंका संचालन, श्वासोंका आना-जाना, अङ्गोंको सिकोड़ना-फैलाना, आँखोंको खोलना और मूँदना, मनमें संकल्प-विकल्पोंका होना आदि जितनी भी हलचलरूप क्रियाएँ हैं, वे ही नाना प्रकारकी अलग अलग चेष्टाएँ हैं ।

× पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंको 'दैव' कहते हैं, प्रारब्ध भी इसीके अन्तर्गत है ।

३. वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जो कर्म कर्तव्य माने गये हैं—उन न्यायपूर्वक किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप, विद्याध्ययन, युद्ध, कृषि, गोरक्षा, व्यापार, सेवा आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंके समुदायका वाचक यहाँ 'न्याय्यम्' पद है ।

४. वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जिन कर्मोंके करनेका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है तथा जो कर्म नीति और धर्मके प्रतिकूल हैं—ऐसे असत्यभाषण, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, मद्यपान, अभक्ष्य-भक्षण आदि समस्त पापकर्मोंका वाचक यहाँ 'विपरीतम्' पद है ।

\+ मनुष्यशरीरमें ही जीव पुण्य और पापरूप नवीन कर्म कर सकता है । अन्य सब भोगयोनियाँ हैं; उनमें पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगा जाता है, नवीन कर्म करनेका अधिकार नहीं है ।

÷ यहाँ मन, वाणी और शरीरद्वारा किये जानेवाले जितने भी पुण्य और पापरूप कर्म हैं—जिनका इस जन्म तथा जन्मान्तरमें जीवको फल भोगना पड़ता है—उन सबके 'ये पाँचों कारण हैं'—इनमेंसे किसी एकके न रहनेसे कर्म नहीं बन सकता । इसीलिये बिना कर्तापनके किया जानेवाला कर्म वास्तवमें कर्म नहीं है ।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

परंतु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्धबुद्धि होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता* ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है† तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती,‡ वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है§ ।१७।

सम्बन्ध—इस प्रकार संन्यास (ज्ञानयोग) का तत्त्व समझानेके लिये आत्माके अकर्तापनका प्रतिपादन करके अब उसके अनुसार कर्मके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको भलीभाँति समझानेके लिये कर्म-प्रेरणा, कर्म-संग्रह और उनके सात्त्विक आदि भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा×

---

१. सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्यासद्वारा तथा विवेक, विचार और शम-दमादि आध्यात्मिक साधनोंद्वारा जिसकी बुद्धि शुद्ध की हुई नहीं है—ऐसे प्राकृत अज्ञानी मनुष्यको 'अकृतबुद्धि' कहते हैं ।

* वास्तवमें आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार और सर्वथा असङ्ग है; प्रकृतिसे, प्रकृतिजनित पदार्थोंसे या कर्मोंसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; किंतु अनादिसिद्ध अविद्याके कारण असङ्ग आत्माका ही इस प्रकृतिके साथ सम्बन्ध-सा हो रहा है; अतः वह दुर्मति प्रकृतिद्वारा सम्पादित क्रियाओंमें मिथ्या अभिमान करके (गीता ३ । २७) स्वयं उन कर्मोंका कर्ता बन जाता है । इस प्रकार कर्ता बने हुए पुरुषका नाम ही 'प्रकृतिस्थ पुरुष' है; वह उन प्रकृतिद्वारा सम्पन्न हुई क्रियाओंका कर्ता बनता है, तभी उनकी 'कर्म' संज्ञा होती है और वे कर्म फल देनेवाले बन जाते हैं । इसीलिये उस प्रकृतिस्थ पुरुषको अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके उन कर्मोंका फल भोगना पड़ता है (गीता १३ । २१) । इसलिये चौदहवें श्लोकमें कर्मोंकी सिद्धिके पाँच हेतुओंमें एक हेतु जो 'कर्ता' माना गया है, वह प्रकृतिमें स्थित पुरुष है और यहाँ आत्माके केवल यानी संगरहित, शुद्ध स्वरूपका वर्णन है, अतः उसको अकर्ता बतलाकर उसके यथार्थ स्वरूपका लक्षण किया गया है । जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझ लेता है, उसके कर्मोंमें 'कर्ता' रूप पाँचवाँ हेतु नहीं रहता । इसी कारण उसके कर्मोंकी कर्म संज्ञा नहीं रहती । यही बात अगले श्लोकमें समझायी गयी है ।

† सांख्ययोगी पुरुषमें मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा की जानेवाली समस्त क्रियाओंमें 'अमुक कर्म मैंने किया है' 'यह मेरा कर्तव्य है' इस प्रकारके भावका लेशमात्र भी न रहना—यही 'मैं कर्ता हूँ' इस भावका न होना है ।

‡ कर्मोंमें और उनके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका अभाव हो जाना, किसी भी कर्मसे या उसके फलसे अपना किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न समझना तथा उन सबको स्वप्नके कर्म और भोगोंकी भाँति क्षणिक, नाशवान् और कल्पित समझ लेनेके कारण अन्तःकरणमें उनके संस्कारोंका संगृहीत न होना ही बुद्धिका लिपायमान न होना है ।

§ उपर्युक्त प्रकारसे आत्मस्वरूपको भलीभाँति जान लेनेके कारण जिसका अज्ञानजनित अहंभाव सर्वथा नष्ट हो गया है; मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले कर्मोंसे या उनके फलसे जिसका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा है, उस पुरुषके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जो लोकसंग्रहार्थ प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं, वे सब शास्त्रानुकूल और सबका हित करनेवाले ही होते हैं । अतः जैसे अग्नि, वायु और जल आदिके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी मृत्यु हो जाय तो वे अग्नि, वायु आदि न तो वास्तवमें उस प्राणीको मारनेवाले हैं और न वे उस कर्मसे बँधते ही हैं—उसी प्रकार उपर्युक्त महापुरुष शुभकर्मोंको करके उनका कर्ता नहीं बनता और उनके फलसे नहीं बँधता, इसमें तो कहना ही क्या है; किंतु क्षात्रधर्म-जैसे—किसी कारणसे योग्यता प्राप्त हो जानेपर समस्त प्राणियोंका संहाररूप—क्रूर कर्म करके भी उसका वह कर्ता नहीं बनता और उसके फलसे भी नहीं बँधता ।

जैसे भगवान् सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि कार्य करते हुए भी वास्तवमें उनके कर्ता नहीं हैं (गीता ४ । १३) और उन कर्मोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है (गीता ४ । १४; ९ । ९)—उसी प्रकार सांख्ययोगीका भी उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; किंतु उसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो जानेके कारण उसके द्वारा अज्ञानमूलक चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषण, हिंसा, कपट, दम्भ आदि पापकर्म नहीं होते ।

× किसी भी पदार्थके स्वरूपका निश्चय करनेवालेको 'ज्ञाता' कहते हैं; वह जिस वृत्तिके द्वारा वस्तुके स्वरूपका

है और कर्ता, करण तथा क्रिया—यह तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है* ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन† ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान‡ ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

किंतु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान§ ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत् तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

परंतु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह तामस कहा गया है× ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञान' है और जिस वस्तुके स्वरूपका निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञेय' है। इन तीनोंका सम्बन्ध ही मनुष्यको कर्ममें प्रवृत्त करनेवाला है; क्योंकि जब अधिकारी मनुष्य ज्ञानवृत्तिद्वारा यह निश्चय कर लेता है कि अमुक-अमुक साधनोंद्वारा अमुक प्रकारसे अमुक सुखकी प्राप्तिके लिये अमुक कर्म मुझे करना है, तभी उसकी उस कर्ममें प्रवृत्ति होती है।

* देखना, सुनना, समझना, स्मरण करना, खाना, पीना आदि समस्त क्रियाओंको करनेवाले प्रकृतिस्थ पुरुषको 'कर्ता' कहते हैं; उसके जिन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा उपर्युक्त समस्त क्रियाएँ की जाती हैं, उनको 'करण' और उपर्युक्त समस्त क्रियाओंको 'कर्म' कहते हैं। इन तीनोंके संयोगसे ही कर्मका संग्रह होता है, क्योंकि जब मनुष्य स्वयं कर्ता बनकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा क्रिया करके किसी कर्मको करता है, तभी कर्म बनता है, इसके बिना कोई भी कर्म नहीं बन सकता। इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें जो कर्मकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच हेतु बतलाये गये हैं, उनमेंसे अधिष्ठान और दैवको छोड़कर शेष तीनोंको 'कर्म-संग्रह' नाम दिया गया है।

† जिस शास्त्रमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके सम्बन्धसे समस्त पदार्थोंके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना की गयी हो, ऐसे शास्त्रका वाचक 'गुणसंख्याने' पद है। अतः उसमें बतलाये हुए गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ज्ञान, कर्म और कर्ताको सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने उस शास्त्रको इस विषयमें आदर दिया है और कहे जानेवाले उपदेशको ध्यानपूर्वक सुननेके लिये अर्जुनको सावधान किया है।

ध्यान रहे कि ज्ञाता और कर्ता अलग-अलग नहीं हैं, इस कारण भगवान्‌ने ज्ञाताके भेद अलग नहीं बतलाये हैं तथा करणके भेद बुद्धिके और धृतिके नामसे एवं ज्ञेयके भेद सुखके नामसे आगे बतलायेंगे। इस कारण यहाँ पूर्वोक्त छः पदार्थोंमेंसे तीनके ही भेद पहले बतलानेका संकेत किया है।

‡ जिस प्रकार आकाश-तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य घड़ा, मकान, गुफा, स्वर्ग, पाताल और समस्त वस्तुओंके सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें एक ही आकाश-तत्त्वको देखता है, वैसे ही लोकदृष्टिसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले समस्त चराचर प्राणियोंमें गीताके छठे अध्यायके उन्तीसवें और तेरहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें वर्णित सांख्ययोगके साधनसे होनेवाले अनुभवके द्वारा एक अद्वितीय अविनाशी निर्विकार ज्ञानस्वरूप परमात्मभावको विभागरहित समभावसे व्याप्त देखना ही सात्त्विक ज्ञान है।

§ कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, मनुष्य, राक्षस और देवता आदि जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें आत्माको उनके शरीरोंकी आकृतिके भेदसे और स्वभावके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक और अलग-अलग समझना ही राजस ज्ञान है।

× जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य प्रकृतिके कार्यरूप शरीरको ही अपना स्वरूप समझ लेता है और ऐसा समझकर उस क्षणभङ्गुर नाशवान् शरीरमें सर्वस्वकी भाँति आसक्त रहता है—अर्थात् उसके सुखसे सुखी एवं उसके दुःखसे दुखी होता है तथा उसके नाशसे ही सर्वनाश मानता है, आत्माको उससे भिन्न या सर्वव्यापी नहीं समझता—वह ज्ञान वास्तवमें ज्ञान नहीं है। इसलिये भगवान्‌ने इस श्लोकमें 'ज्ञान' पदका प्रयोग भी नहीं किया है; क्योंकि यह विपरीत ज्ञान वास्तवमें अज्ञान ही है।

१. नियत कर्मकी व्याख्या इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें देखनी चाहिये।

२. यहाँ 'सङ्ग' नाम आसक्तिका नहीं है; क्योंकि आसक्तिका अभाव 'अरागद्वेषतः' पदसे अलग बतलाया गया है।

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो*—वह सात्त्विक कहा जाता है† ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना[1] कर्म साहंकारेण[2] वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद् राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

परंतु जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त होता है‡ तथा भोगोंको चाहनेवाले पुरुषद्वारा या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है§ ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत् तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है× ॥ २५ ॥

इसलिये यहाँ जो कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान करके उन कर्मोंसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेना है, उसका नाम 'संग' समझना चाहिये ।

* कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके जितने भी भोग हैं, उनमें ममता और आसक्तिका अभाव हो जानेके कारण जिसको किंचिन्मात्र भी उन भोगोंकी आकाङ्क्षा नहीं रही है, जो किसी भी कर्मसे अपना कोई भी स्वार्थ सिद्ध करना नहीं चाहता, जो अपने लिये किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं समझता—ऐसे पुरुषद्वारा होनेवाले जो कर्म राग-द्वेषके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये होते हैं—उन कर्मोंको 'बिना राग-द्वेषके किया हुआ कर्म' कहते हैं ।

† इसी अध्यायके नवें श्लोकमें वर्णित सात्त्विक त्यागसे इस सात्त्विक कर्ममें यह विशेषता है कि इसमें कर्तापनके अभिमानका और राग-द्वेषका भी अभाव दिखलाया गया है; किंतु नवें श्लोकमें कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छाका त्याग ही बतलाया गया है, कर्तापनके अभावकी बात नहीं कही है, बल्कि कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंको करनेके लिये कहा है । दोनोंका ही फल तत्त्वज्ञानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति है; भेद केवल अनुष्ठानके प्रकारका है ।

१. जो पुरुष समस्त कर्म—स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके भोगोंके लिये ही करता है—ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक यहाँ 'कामेप्सुना' पद है ।

२. जिस मनुष्यका शरीरमें अभिमान है और जो प्रत्येक कर्म अहंकारपूर्वक करता है तथा 'मैं अमुक कर्मका करनेवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है; मैं यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ'—इस प्रकारके भाव मनमें रखनेवाला और वाणीद्वारा इस तरहकी बातें करनेवाला है, उसका वाचक यहाँ 'साहंकारेण' पद है ।

‡ सात्त्विक कर्मसे राजस कर्मका यह भेद है कि सात्त्विक कर्मोंके कर्ताका शरीरमें अहंकार नहीं होता और कर्मोंमें कर्तापन नहीं होता; अतः उसे किसी भी क्रियाके करनेमें किसी प्रकारके परिश्रम या क्लेशका बोध नहीं होता । इसलिये उसके कर्म आयासयुक्त नहीं हैं; किंतु राजस कर्मके कर्ताका शरीरमें अहंकार होनेके कारण वह शरीरके परिश्रम और दुःखोंसे स्वयं दुखी होता है । इस कारण उसे प्रत्येक क्रियामें परिश्रमका बोध होता है । इसके सिवा सात्त्विक कर्मोंके कर्ताद्वारा केवल शास्त्रदृष्टिसे या लोकदृष्टिसे कर्तव्यरूपमें प्राप्त हुए कर्म ही किये जाते हैं; अतः उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार नहीं होता; किंतु राजस कर्मका कर्ता आसक्ति और कामनासे प्रेरित होकर प्रतिदिन नये-नये कर्मोंका आरम्भ करता रहता है, इससे उसके कर्मोंका बहुत विस्तार हो जाता है । इस कारण यहाँ बहुत परिश्रमवाले कर्मोंको राजस बतलाया गया है ।

§ जिस पुरुषमें भोगोंकी कामना और अहंकार दोनों हैं, उसके द्वारा किये हुए कर्म राजस हैं—इसमें तो कहना ही क्या है; किंतु इनमेंसे किसी एक दोषसे युक्त पुरुषद्वारा किये हुए कर्म भी राजस ही हैं ।

× किसी भी कर्मका आरम्भ करनेसे पहले अपनी बुद्धिसे विचार करके जो यह सोच लेना है कि अमुक कर्म करनेसे उसका भावी परिणाम अमुक प्रकारसे सुखकी प्राप्ति या अमुक प्रकारसे दुःखकी प्राप्ति होगा, यह उसके अनुबन्धका यानी परिणामका विचार करना है तथा जो यह सोचना है कि अमुक कर्ममें इतना धन व्यय करना पड़ेगा, इतने बलका प्रयोग करना पड़ेगा, इतना समय लगेगा, अमुक अंशमें धर्मकी हानि होगी और अमुक-अमुक प्रकारकी दूसरी हानियाँ होंगी—यह क्षयका यानी हानिका विचार करना है और जो यह सोचना है कि अमुक कर्मके करनेसे अमुक मनुष्योंको या अन्य प्राणियोंको अमुक प्रकारसे इतना कष्ट पहुँचेगा, अमुक मनुष्योंका या अन्य प्राणियोंका जीवन नष्ट होगा—यह हिंसाका विचार करना है । इसी तरह जो यह सोचना है कि अमुक कर्म करनेके लिये इतने सामर्थ्यकी आवश्यकता है, अतः इसे पूरा करनेकी सामर्थ्य हममें है या नहीं—यह पौरुषका यानी सामर्थ्यका विचार करना है । इस तरह परिणाम, हानि, हिंसा और पौरुष—इन चारोंका या चारोंमेंसे किसी एकका विचार न करके केवल मोहसे कर्मका आरम्भ करना ही तामस कर्म है ।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

जो कर्ता संगरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित है, वह सात्त्विक कहा जाता है* ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिप्त है, वह राजस कहा गया है ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

---

१. मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं, उनमें और उनके फलरूप मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें जिसकी किंचिन्मात्र भी ममता, आसक्ति और कामना नहीं रही है—ऐसे मनुष्यको 'मुक्तसंग' कहते हैं ।

२. मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर—इन अनात्म पदार्थोंमें आत्मबुद्धि न रहनेके कारण जो किसी भी कर्ममें कर्तापनका अभिमान नहीं करता तथा इसी कारण जो आसुरी प्रकृतिवालोंकी भाँति, मैंने अमुक मनोरथ सिद्ध कर लिया है, अमुकको और सिद्ध कर लूँगा; मैं ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा (गीता १६ । १३, १४, १५) इत्यादि अहंकारके वचन कहनेवाला नहीं है, किंतु सरलभावसे अभिमानशून्य वचन बोलनेवाला है—ऐसे मनुष्यको 'अनहंवादी' कहते हैं ।

* शास्त्रविहित स्वधर्मपालनरूप किसी भी कर्मके करनेमें बड़ी-से-बड़ी विघ्न-बाधाओंके उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना 'धैर्य' है और कर्म-सम्पादनमें सफलता न प्राप्त होनेपर या ऐसा समझकर कि यदि मुझे फलकी इच्छा नहीं है तो कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है—किसी भी कर्मसे न उकताना, किंतु जैसे कोई सफलता प्राप्त कर चुकनेवाला और कर्मफलको चाहनेवाला मनुष्य करता है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक उसे करनेके लिये उत्सुक रहना 'उत्साह' है । इन दोनों गुणोंसे युक्त होकर जो मनुष्य न तो किसी भी कर्मके पूर्ण होनेमें हर्षित होता है और न उसमें विघ्न उपस्थित होनेपर शोक ही करता है तथा इसी तरह जिसमें अन्य किसी प्रकारका भी कोई विकार नहीं होता, जो हरेक अवस्थामें सदा-सर्वदा सम रहता है—ऐसा समतायुक्त पुरुष ही सात्त्विक कर्ता है ।

३. जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता और आसक्ति है—ऐसे मनुष्यको 'रागी' कहते हैं ।

४. जो कर्मोंके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा करता रहता है, ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक 'कर्मफलप्रेप्सुः' पद है ।

५. धनादि पदार्थोंमें आसक्ति रहनेके कारण जो न्यायसे प्राप्त अवसरपर भी अपनी शक्तिके अनुरूप धनका व्यय नहीं करता तथा न्याय-अन्यायका विचार न करके सदा धनसंग्रहकी लालसा रखता है, यहाँतक कि दूसरोंके स्वत्वको हड़पनेकी भी इच्छा रखता है और वैसी ही चेष्टा करता है—ऐसे मनुष्यका वाचक 'लुब्धः' पद है ।

६. जिस किसी भी प्रकारसे दूसरोंको कष्ट पहुँचाना ही जिसका स्वभाव है, जो अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये कर्म करते समय अपने आराम तथा भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता रहता है—ऐसे हिंसापरायण मनुष्यका वाचक यहाँ 'हिंसात्मकः' पद है ।

७. जो न तो शास्त्रविधिके अनुसार जल-मृत्तिकादिसे शरीर और वस्त्रादिको शुद्ध रखता है और न यथायोग्य बर्ताव करके अपने आचरणोंको ही शुद्ध रखता है, किंतु भोगोंमें आसक्त होकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके लिये शौचाचार और सदाचारका त्याग कर देता है—ऐसे मनुष्यका वाचक यहाँ 'अशुचिः' पद है ।

८. जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें किये हुए नहीं हैं, बल्कि जो स्वयं उनके वशीभूत हो रहा है तथा जिसमें श्रद्धा और आस्तिकताका अभाव है—ऐसे पुरुषको 'अयुक्त' कहते हैं ।

९. जिसको किसी प्रकारकी सुशिक्षा नहीं मिली है, जिसका स्वभाव बालकके समान है, जिसको अपने कर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं है, जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंका सुधार नहीं हुआ है—ऐसे संस्काररहित स्वाभाविक मूर्खको 'प्राकृत' कहते हैं ।

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षासे रहित, घमंडी,* धूर्त† और दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला‡ तथा शोक करनेवाला आलसी§ और दीर्घसूत्री× है—वह तामस कहा जाता है+ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तत्त्वज्ञानमें सहायक सात्त्विक भावको ग्रहण करानेके लिये और उसके विरोधी राजस-तामस भावोंका त्याग करानेके लिये कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रहमेंसे ज्ञान, कर्म और कर्ताके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब बुद्धि और धृतिके सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार त्रिविध भेद क्रमशः बतलानेकी प्रस्तावना करते हुए बतलाते हैं—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

हे धनंजय ! अब तू बुद्धिका और धृतिका भी गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक कहा जानेवाला सुन÷ ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ३०

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्गA और निवृत्तिमार्गकोB

* जिसका स्वभाव अत्यन्त कठोर है, जिसमें विनयका अत्यन्त अभाव है, जो सदा ही घमंडमें चूर रहता है—अपने सामने दूसरोंको कुछ भी नहीं समझता—ऐसे मनुष्यको 'घमंडी' कहते हैं ।

† जो दूसरोंको ठगनेवाला वञ्चक है, द्वेषको छिपाये रखकर गुप्तभावसे दूसरोंका अपकार करनेवाला है, मन-ही-मन दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये दाव-पेंच सोचता रहता है—ऐसे मनुष्यको 'धूर्त' कहते हैं ।

‡ नाना प्रकारसे दूसरोंकी वृत्तिमें बाधा डालना ही जिसका स्वभाव है—ऐसे मनुष्यको दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला कहते हैं ।

§ जिसका रात-दिन पड़े रहनेका स्वभाव है, किसी भी शास्त्रीय या व्यावहारिक कर्तव्य-कर्ममें जिसकी प्रवृत्ति और उत्साह नहीं होते, जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें आलस्य भरा रहता है—वह मनुष्य 'आलसी' है ।

× जो किसी कार्यका आरम्भ करके बहुत कालतक उसे पूरा नहीं करता—आज कर लेंगे, कल कर लेंगे, इस प्रकार विचार करते-करते एक रोजमें हो जानेवाले कार्यके लिये बहुत समय निकाल देता है और फिर भी उसे पूरा नहीं कर पाता—ऐसे शिथिल प्रकृतिवाले मनुष्यको 'दीर्घसूत्री' कहते हैं ।

+ जिस पुरुषमें उपर्युक्त समस्त लक्षण घटते हों या उनमेंसे कितने ही लक्षण घटते हों, उसे तामस कर्ता समझना चाहिये ।

÷ 'बुद्धि' शब्द यहाँ निश्चय करनेकी शक्तिविशेषका वाचक है, इस अध्यायके बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें जिस ज्ञानके तीन भेद बतलाये गये हैं, वह बुद्धिसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यानी बुद्धिकी वृत्तिविशेष है और यह बुद्धि उसका कारण है। अठारहवें श्लोकमें 'ज्ञान' शब्द कर्म-प्रेरणाके अन्तर्गत आया है और बुद्धिका ग्रहण 'करण' के नामसे कर्म-संग्रहमें किया गया है । यही ज्ञानका और बुद्धिका भेद है । यहाँ कर्म-संग्रहमें वर्णित करणोंके सात्त्विक-राजस-तामस भेदोंको भलीभाँति समझानेके लिये प्रधान 'करण' बुद्धिके तीन भेद बतलाये जाते हैं ।

'धृति' शब्द धारण करनेकी शक्तिविशेषका वाचक है; यह भी बुद्धिकी ही वृत्ति है । मनुष्य किसी भी क्रिया या भावको इसी शक्तिके द्वारा दृढ़तापूर्वक धारण करता है। इस कारण वह'करण' के ही अन्तर्गत है । इस अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें सात्त्विक कर्ताके लक्षणोंमें 'धृति' शब्दका प्रयोग हुआ है, इससे यह समझनेकी गुंजाइश हो जाती है कि 'धृति' केवल सात्त्विक ही होती है; किंतु ऐसी बात नहीं है, इसके भी तीन भेद होते हैं—यही बात समझानेके लिये इस प्रकरणमें 'धृति' के तीन भेद बतलाये गये हैं ।

A गृहस्थ-वानप्रस्थादि आश्रमोंमें रहकर ममता, आसक्ति, अहंकार और फलेच्छाका त्याग करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये उसकी उपासनाका तथा शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका, अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार जीविकाके कर्मोंका और शरीरसम्बन्धी खान-पान आदि कर्मोंका निष्कामभावसे आचरणरूप जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है—वह 'प्रवृत्तिमार्ग' है । और राजा जनक, अम्बरीष, महर्षि वसिष्ठ और याज्ञवल्क्य आदिकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है ।

B समस्त कर्मोंका और भोगोंका बाहर-भीतरसे सर्वथा त्याग करके, संन्यास-आश्रममें रहकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारकी सांसारिक झंझटोंसे विरक्त होकर अहंता, ममता और आसक्तिके त्यागपूर्वक शम, दम, तितिक्षा आदि साधनोंके सहित निरन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना या केवल भगवान्‌के भजन, स्मरण, कीर्तन आदिमें ही लगे रहना—इस प्रकार जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है, उसका नाम 'निवृत्तिमार्ग' है और श्रीसनकादि, नारदजी,

कर्तव्य और अकर्तव्यको,* भय और अभयको † तथा बन्धन और मोक्षको‡ यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

हे पार्थ ! मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको§ तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको× भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है+ ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे अर्जुन ! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है÷ तथा इसी प्रकार अन्य

ऋषभदेवजी और शुकदेवजीकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है ।

* वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिकी तथा देश-कालकी अपेक्षासे जिसके लिये जिस समय जो कर्म करना उचित है, वही उसके लिये 'कर्तव्य' है; और जिस समय जिसके लिये जिस कर्मका त्याग उचित है, वही उसके लिये 'अकर्तव्य' है । इन दोनोंको भलीभाँति समझ लेना—अर्थात् किसी भी कार्यके सामने आनेपर यह मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, इस बातका यथार्थ निर्णय कर लेना ही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ जानना है ।

† किसी दुःखप्रद वस्तुके या घटनाके उपस्थित हो जानेपर या उसकी सम्भावना होनेसे मनुष्यके अन्तःकरणमें जो एक आकुलताभरी कम्पवृत्ति होती है, उसे 'भय' कहते हैं और इससे विपरीत जो भयके अभावकी वृत्ति है, उसे 'अभय' कहते हैं । इन दोनोंके तत्त्वको भलीभाँति समझकर निर्भय हो जाना ही भय और अभय—इन दोनोंको यथार्थ जानना है ।

‡ शुभाशुभ कर्मोंके सम्बन्धसे जो जीवको अनादि कालसे निरन्तर परवश होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकना पड़ रहा है, यही 'बन्धन' है और सत्संगके प्रभावसे कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोगादि साधनोंमेंसे किसी साधनके द्वारा भगवत्कृपासे समस्त शुभाशुभ कर्मबन्धनोंका कट जाना और जीवका भगवान्‌को प्राप्त हो जाना ही 'मोक्ष' है ।

§ अहिंसा, सत्य, दया, शान्ति, ब्रह्मचर्य, शम, दम, तितिक्षा तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्ययन, प्रजापालन, कृषि, पशुपालन और सेवा आदि जितने भी वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित शुभकर्म हैं—जिन आचरणोंका फल शास्त्रोंमें इस लोक और परलोकके सुख-भोग बतलाया गया है—तथा जो दूसरोंके हितके कर्म हैं, उन सबका नाम 'धर्म' है एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, दम्भ, अभक्ष्यभक्षण आदि जितने भी पापकर्म हैं—जिनका फल शास्त्रोंमें दुःख बतलाया है—उन सबका नाम 'अधर्म' है । किस समय किस परिस्थितिमें कौन-सा कर्म धर्म है और कौन-सा कर्म अधर्म है—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें बुद्धिका कुण्ठित हो जाना, या संशययुक्त हो जाना आदि उन दोनोंका यथार्थ न जानना है ।

× वर्ण, आश्रम, प्रकृति, परिस्थिति तथा देश और कालकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्रविहित करनेयोग्य कर्म है—वह कार्य (कर्तव्य) है और जिसके लिये शास्त्रमें जिस कर्मको न करनेयोग्य—निषिद्ध बतलाया है, बल्कि जिसका न करना ही उचित है—वह अकार्य (अकर्तव्य) है । इस दृष्टिसे शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म तो सबके लिये अकार्य हैं ही, किंतु शास्त्रविहित शुभ कर्मोंमें भी किसीके लिये कोई कर्म कार्य होता है और किसीके लिये कोई अकार्य । जैसे शूद्रके लिये सेवा करना कार्य है और यज्ञ, वेदाध्ययन आदि करना अकार्य है; संन्यासीके लिये विवेक, वैराग्य, शम, दमादिका साधन कार्य है और यज्ञ-दानादिका आचरण अकार्य है; ब्राह्मणके लिये यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना, वेद पढ़ना-पढ़ाना कार्य है और नौकरी करना अकार्य है; वैश्यके लिये कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यादि कार्य है और दान लेना आदि अकार्य है । इसी तरह स्वर्गादिकी कामनावाले मनुष्यके लिये काम्य-कर्म कार्य हैं और मुमुक्षुके लिये अकार्य हैं; विरक्त ब्राह्मणके लिये संन्यास ग्रहण करना कार्य है और भोगासक्तके लिये अकार्य है । इससे यह सिद्ध है कि शास्त्रविहित धर्म होनेसे ही वह सबके लिये कर्तव्य नहीं हो जाता । इस प्रकार धर्म कार्य भी हो सकता है और अकार्य भी । यही धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यका भेद है । किसी भी कर्मके करनेका या त्यागनेका अवसर आनेपर 'अमुक कर्म मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, मुझे कौन-सा कर्म किस प्रकार करना चाहिये और कौन-सा नहीं करना चाहिये'—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें जो बुद्धिका किंकर्तव्यविमूढ हो जाना या संशययुक्त हो जाना है—यही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ न जानना है ।

+ जिस बुद्धिसे मनुष्य धर्म-अधर्मका और कर्तव्य-अकर्तव्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकता, जो बुद्धि इसी प्रकार अन्यान्य बातोंका भी ठीक-ठीक निर्णय करनेमें समर्थ नहीं होती, वह रजोगुणके सम्बन्धसे विवेकमें अप्रतिष्ठित, विक्षिप्त और अस्थिर रहती है; इसी कारण वह राजसी है ।

÷ ईश्वरनिन्दा, देवनिन्दा, शास्त्रविरोध, माता-पिता-गुरु आदिका अपमान, वर्णाश्रमधर्मके प्रतिकूल आचरण,

सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है;* वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है† ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन ! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है,‡ वह धारणशक्ति राजसी है ३४

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको तथा उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है,§ वह धारणशक्ति तामसी है ॥ ३५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सात्त्विकी बुद्धि और धृतिका ग्रहण तथा राजसी-तामसीका त्याग करनेके लिये बुद्धि और धृतिके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब, जिसके लिये मनुष्य समस्त कर्म करता है, उस सुखके भी सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार तीन भेद क्रमसे बतलाते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे

असंतोष, दम्भ, कपट, व्यभिचार, असत्यभाषण, परपीडन, अभक्ष्य-भोजन, यथेच्छाचार और पर-स्वत्वापहरण आदि निषिद्ध पापकर्मोंको धर्म मान लेना और धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, ईश्वरपूजन, देवोपासना, शास्त्रसेवन, वर्णाश्रमधर्मानुसार आचरण, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन, सरलता, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक भोजन, अहिंसा और परोपकार आदि शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंको अधर्म मानना—यही अधर्मको धर्म और धर्मको अधर्म मानना है ।

* अधर्मको धर्म मान लेनेकी भाँति ही अकर्तव्यको कर्तव्य, दुःखको सुख, अनित्यको नित्य, अशुद्धको शुद्ध और हानिको लाभ मान लेना आदि जितनी भी विपरीत मान्यताएँ हैं, वे सब अन्य पदार्थोंको विपरीत मान लेनेके अन्तर्गत हैं ।

† किसी भी क्रिया, भाव या वृत्तिको धारण करनेकी—उसे दृढ़तापूर्वक स्थिर रखनेकी जो शक्तिविशेष है, जिसके द्वारा धारण की हुई कोई भी क्रिया, भावना या वृत्ति विचलित नहीं होती, प्रत्युत चिरकालतक स्थिर रहती है, उस शक्तिका नाम 'धृति' है; परंतु इसके द्वारा मनुष्य जबतक भिन्न-भिन्न उद्देश्योंसे, नाना विषयोंको धारण करता रहता है, तबतक इसका व्यभिचार-दोष नष्ट नहीं होता; जब इसके द्वारा मनुष्य अपना एक अटल उद्देश्य स्थिर कर लेता है, उस समय यह 'अव्यभिचारिणी' हो जाती है । सात्त्विक धृतिका एक ही उद्देश्य होता है—परमात्माको प्राप्त करना । इसी कारण उसे 'अव्यभिचारिणी' कहते हैं । ऐसी धारणशक्तिसे परमात्माको प्राप्त करनेके लिये ध्यानयोगद्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको अटलरूपसे परमात्मामें रोके रखना ही 'सात्त्विक धृति' है ।

‡ आसक्तिपूर्वक धर्मका पालन करना धृतिके द्वारा धर्मको धारण करना है एवं धनादि पदार्थोंको और उनसे सिद्ध होनेवाले भोगोंको ही जीवनका लक्ष्य बनाकर अत्यन्त आसक्तिके कारण दृढ़तापूर्वक उनको पकड़े रखना धृतिके द्वारा अर्थ और कामोंको धारण करना है ।

१. जिसकी बुद्धि अत्यन्त मन्द और मलिन हो, जिसके अन्तःकरणमें दूसरोंका अनिष्ट करने आदिके भाव भरे रहते हों—ऐसे दुष्टबुद्धि मनुष्यको 'दुर्मेधा' कहते हैं ।

§ निद्रा और तन्द्रा आदि जो मन और इन्द्रियोंको तमसाच्छन्न, बाह्य क्रियासे रहित और मूढ़ बनानेवाले भाव हैं, उन सबका नाम 'निद्रा' है; धन आदि पदार्थोंके नाशकी, मृत्युकी, दुःखप्राप्तिकी, सुखके नाशकी अथवा इसी तरह अन्य किसी प्रकारके इष्टके नाश और अनिष्ट-प्राप्तिकी आशङ्कासे अन्तःकरणमें जो एक आकुलता और घबराहट-भरी वृत्ति होती है, उसका नाम 'भय' है; मनमें होनेवाली नाना प्रकारकी दुश्चिन्ताओंका नाम 'शोक' है; उसके द्वारा जो इन्द्रियोंमें संताप हो जाता है, उसे 'दुःख' कहते हैं; यह शोकका ही स्थूल भाव है तथा जो धन, जन और बल आदिके कारण होनेवाली—विवेक, भविष्यके विचार और दूरदर्शितासे रहित—उन्मत्तवृत्ति है, उसे 'मद' कहते हैं; इसीका नाम गर्व, घमंड और उन्मत्तता भी है । इन सबको तथा प्रमाद आदि अन्यान्य तामस भावोंको जो अन्तःकरणसे दूर हटानेकी चेष्टा न करके इन्हींमें डूबे रहना है, यही धृतिके द्वारा इनको न छोड़ना अर्थात् धारण किये रहना है ।

सुन। जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है* और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है—† जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है,‡ परंतु परिणाममें अमृतके तुल्य है;§ इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख× सात्त्विक कहा गया है ॥ ३६-३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है+ ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख÷ तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

* मनुष्यको इस सुखका अनुभव तभी होता है, जब वह इस लोक और परलोकके समस्त भोग-सुखोंको क्षणिक समझकर उन सबसे आसक्ति हटाकर निरन्तर परमात्मस्वरूपके चिन्तनका अभ्यास करता है (गीता ५ । २१); बिना साधनके इसका अनुभव नहीं हो सकता—यही भाव दिखलानेके लिये इस सुखका 'जिसमें अभ्याससे रमण करता है' यह लक्षण किया गया है ।

† जिस सुखमें रमण करनेवाला मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सब प्रकारके दुःखोंके सम्बन्धसे सदाके लिये छूट जाता है; जिस सुखके अनुभवका फल निरतिशय सुखस्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है (गीता ५ । २१, २४; ६ । २८)—वही सात्त्विक सुख है ।

‡ जिस प्रकार बालक अपने घरवालोंसे विद्याकी महिमा सुनकर विद्याभ्यासकी चेष्टा करता है, पर उसके महत्त्वका यथार्थ अनुभव न होनेके कारण आरम्भकालमें अभ्यास करते समय उसे खेल-कूदको छोड़कर विद्याभ्यासमें लगे रहना अत्यन्त कष्टप्रद और कठिन प्रतीत होता है, उसी प्रकार सात्त्विक सुखके लिये अभ्यास करनेवाले मनुष्यको भी विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक विवेक, वैराग्य, शम, दम और तितिक्षा आदि साधनोंमें लगे रहना अत्यन्त श्रमपूर्ण और कष्टप्रद प्रतीत होता है; यही सात्त्विक सुखका आरम्भकालमें विषके तुल्य प्रतीत होना है।

§ जब सात्त्विक सुखकी प्राप्तिके लिये साधन करते-करते साधकको उस ध्यानजनित सुखका अनुभव होने लगता है, तब उसे वह अमृतके तुल्य प्रतीत होता है; उस समय उसके सामने संसारके समस्त भोग-सुख तुच्छ, नगण्य और दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं।

× उपर्युक्त प्रकारसे अभ्यास करते-करते निरन्तर परमात्माका ध्यान करनेके फलस्वरूप अन्तःकरणके स्वच्छ होनेपर इस सुखका अनुभव होता है, इसीलिये इस सुखको परमात्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला बतलाया गया है ।

+ जब मनुष्य मनसहित इन्द्रियोंद्वारा किसी विषयका सेवन करता है, तब वह उसे आसक्तिके कारण अत्यन्त प्रिय मालूम होता है; उस समय वह उसके सामने किसी भी अदृष्ट सुखको कोई चीज नहीं समझता, परंतु यह राजस सुख प्रतीतिमात्रका ही सुख है, वस्तुतः सुख नहीं है। प्रत्युत विषयोंमें आसक्ति बढ़ जानेसे पुनः उनकी प्राप्ति न होनेपर अभावके दुःखका अनुभव होता है तथा उनसे वियोग होते समय भी अत्यन्त दुःख होता है। इसलिये विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला यह क्षणिक सुख यद्यपि वस्तुतः सब प्रकारसे दुःखरूप ही है, तथापि जैसे रोगी मनुष्य आसक्तिके कारण स्वादके लोभसे परिणामका विचार न करके कुपथ्यका सेवन करता है और परिणाममें रोग बढ़ जानेसे दुखी होता है या मृत्यु हो जाती है; उसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य भी मूर्खता और आसक्तिवश परिणामका विचार न करके सुखबुद्धिसे विषयोंका सेवन करता है और परिणाममें अनेकों प्रकारसे भाँति-भाँतिके भीषण दुःख भोगता है (गीता ५ । २२)।

÷ निद्राके समय मन और इन्द्रियोंकी क्रिया बंद हो जानेके कारण थकावटसे होनेवाले दुःखका अभाव होनेसे तथा मन और इन्द्रियोंको विश्राम मिलनेसे जो सुखकी प्रतीति होती है, वह निद्राजनित सुख जितनी देरतक निद्रा रहती है उतनी ही देरतक रहता है, निरन्तर नहीं रहता—इस कारण क्षणिक है। इसके अतिरिक्त उस समय मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाशका अभाव हो जाता है, किसी भी वस्तुका अनुभव करनेकी शक्ति नहीं रहती। इस कारण तो वह सुख भोग-कालमें आत्माको यानी अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तथा इनके अभिमानी पुरुषको मोहित करनेवाला है, और इस सुखकी आसक्तिके कारण परिणाममें मनुष्यको अज्ञानमय वृक्ष, पहाड़ आदि जड योनियोंमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है, अतएव यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो* ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इस अध्यायके चौथेसे बारहवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने मतके अनुसार त्याग और त्यागीके लक्षण बतलाये। तदनन्तर तेरहवेंसे सतरहवें श्लोकतक संन्यास (सांख्य) के स्वरूपका निरूपण करके संन्यासमें सहायक सत्त्वगुणका ग्रहण और उसके विरोधी रज एवं तमका त्याग करानेके उद्देश्यसे अठारहवेंसे चालीसवें श्लोकतक गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता आदि मुख्य-मुख्य पदार्थोंके भेद समझाये और अन्तमें समस्त सृष्टिको गुणोंसे युक्त बतलाकर उस विषयका उपसंहार किया। वहाँ त्यागका स्वरूप बतलाते समय भगवान्‌ने यह बात कही थी कि नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है (गीता १८। ७) अपितु नियत कर्मोंको आसक्ति और फलके त्यागपूर्वक करते रहना ही वास्तविक त्याग है (गीता १८। ९), किंतु वहाँ यह बात नहीं बतलायी कि किसके लिये कौन-सा कर्म नियत है। अतएव अब संक्षेपमें नियत कर्मोंका स्वरूप, त्यागके नामसे वर्णित कर्मयोगमें भक्तिका सहयोग और उसका फल परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलानेके लिये पुनः उसी त्यागरूप कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके† कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं‡ ॥

इसी तरह समस्त क्रियाओंका त्याग करके पड़े रहनेके समय जो मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमका त्याग कर देनेसे आरामकी प्रतीति होती है, वह आलस्यजनित सुख भी निद्राजनित सुखकी भाँति भोगकालमें और परिणाममें भी मोहित करनेवाला है।

व्यर्थ क्रियाओंके करनेमें मनकी प्रसन्नताके कारण और कर्तव्यका त्याग करनेमें परिश्रमसे बचनेके कारण मूर्खतावश जो सुखकी प्रतीति होती है, उस प्रमादजनित सुख-भोगके समय मनुष्यको कर्तव्य-अकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, उसकी विवेकशक्ति मोहसे ढक जाती है; अतः कर्तव्यकी अवहेलना होती है। इस कारण यह प्रमादजनित सुख भोगकालमें आत्माको मोहित करनेवाला है तथा उपर्युक्त व्यर्थ कर्मोंमें अज्ञान और आसक्तिवश होनेवाले झूठ, कपट, हिंसा आदि पापकर्मोंका और कर्तव्य-कर्मोंके त्यागका फल भोगनेके लिये ऐसा करनेवालोंको सूकर-कूकर आदि नीच योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है; इससे यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है।

* 'सत्त्व' शब्द यहाँ वस्तुमात्रका यानी सब प्रकारके प्राणियोंका और समस्त पदार्थोंका वाचक है। ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो; क्योंकि समस्त जडवर्ग तो गुणोंका कार्य होनेसे गुणमय है ही और समस्त प्राणियोंका उन गुणोंसे और गुणोंके कार्यरूप पदार्थोंसे सम्बन्ध है, इससे ये सब भी तीनों गुणोंसे युक्त ही हैं; इसलिये पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा देवलोकके एवं अन्य सब लोकोंके प्राणी एवं पदार्थ सभी इन तीनों गुणोंसे युक्त हैं।

† ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों ही द्विज हैं। तीनोंका ही यज्ञोपवीतधारणपूर्वक वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार है; इसी हेतुसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंको सम्मिलित करके कहा गया है। शूद्र द्विज नहीं हैं, अतएव उनका यज्ञोपवीतधारणमें तथा वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार नहीं है—यह भाव दिखलानेके लिये उनको इन तीनोंसे अलग कहा गया है।

‡ प्राणियोंके जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्मोंके जो संस्कार हैं, उनका नाम स्वभाव है; उस स्वभावके अनुरूप प्राणियोंके अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाली सत्त्व, रज और तम—इन गुणवृत्तियोंके अनुसार ही ब्राह्मण आदि वर्णोंमें मनुष्य उत्पन्न होते हैं; इस कारण उन गुणोंकी अपेक्षासे ही शास्त्रमें चारों वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है। जिसके स्वभावमें केवल सत्त्वगुण अधिक होता है, वह ब्राह्मण होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शम-दमादि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें सत्त्वमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह क्षत्रिय होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शूरवीरता, तेज आदि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह वैश्य होता है; इसलिये उसके स्वाभाविक कर्म कृषि, गोरक्षा आदि बतलाये गये हैं और जिसके स्वभावमें रजोमिश्रित तमोगुण प्रधान होता है, वह शूद्र होता है; इस कारण उसका स्वाभाविक कर्म तीनों वर्णोंकी सेवा करना बतलाया गया है। इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्ण-विभाग बनता है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई शृङ्खला या नियम ही न रहेगा; सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी, परंतु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

अन्तःकरणका निग्रह करना, इन्द्रियोंका दमन करना, धर्मपालनके लिये कष्ट सहना, बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना, दूसरोंके अपराधोंको क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना, वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदिमें श्रद्धा रखना, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्माके तत्त्वका अनुभव करना—ये सब-के-सब ही ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं* ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शूरवीरता†, तेज‡, धैर्य§, चतुरता× और युद्धमें न भागना+, दान देना और स्वामिभाव÷—ये सब-के-सब ही

---

१. अन्तःकरणको अपने वशमें करके उसे विक्षेपरहित—शान्त बना लेना तथा सांसारिक विषयोंके चिन्तनका त्याग कर देना 'शम' है ।

२. समस्त इन्द्रियोंको वशमें कर लेना तथा वशमें की हुई इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंमें लगाना 'दम' है ।

३. स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना—अर्थात् अहिंसादि महाव्रतोंका पालन करना, भोग-सामग्रियोंका त्याग करके सादगीसे रहना, एकादशी आदि व्रत-उपवास करना और वनमें निवास करना—ये सब 'तप' के अन्तर्गत हैं ।

४. मन, इन्द्रिय और शरीरको तथा उनके द्वारा की जानेवाली क्रियाओंको पवित्र रखना, उनमें किसी प्रकारकी अशुद्धिको प्रवेश न होने देना ही 'शौच' है । इसका विस्तार गीताके तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोककी टिप्पणीमें है ।

५. दूसरोंके द्वारा किये हुए अपराधोंको क्षमा कर देनेका नाम 'क्षान्ति' है । गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोककी टिप्पणीमें इसका विस्तार है ।

६. मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना अर्थात् मनमें किसी प्रकारका दुराग्रह और ऐंठ नहीं रखना; जैसा मनका भाव हो, वैसा ही इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करना; इसके अतिरिक्त शरीरमें भी किसी प्रकारकी ऐंठ नहीं रखना—यह सब 'आर्जव'के अन्तर्गत है।

७. वेद-शास्त्रोंके श्रद्धापूर्वक अध्ययन-अध्यापन करनेका और उनमें वर्णित उपदेशको भलीभाँति समझनेका नाम यहाँ 'ज्ञान' है ।

८. वेद-शास्त्रोंमें बतलाये हुए और महापुरुषोंसे सुने हुए साधनोंद्वारा परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार कर लेनेका नाम यहाँ 'विज्ञान' है ।

९. वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक–इन सबकी सत्तामें पूर्ण विश्वास रखना; वेद-शास्त्रोंके और महात्माओंके वचनोंको यथार्थ मानना और धर्मपालनमें दृढ़ विश्वास रखना—ये सब 'आस्तिकता'के लक्षण हैं ।

* ब्राह्मणमें केवल सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है; उसका स्वभाव उपर्युक्त कर्मोंके अनुकूल होता है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंके करनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनता नहीं होती । इन कर्मोंमें बहुत-से सामान्य धर्मोंका भी वर्णन हुआ है । इससे यह समझना चाहिये कि क्षत्रिय आदि अन्य वर्णोंके वे स्वाभाविक कर्म तो नहीं हैं; परंतु परमात्माकी प्राप्तिमें सबका अधिकार है, अतएव उनके लिये वे प्रयत्नसाध्य हैं ।

† बड़े-से-बड़े बलवान् शत्रुका न्याययुक्त सामना करनेमें भय न करना तथा न्याययुक्त युद्ध करनेके लिये सदा ही उत्साहित रहना और युद्धके समय साहसपूर्वक गम्भीरतासे लड़ते रहना 'शूरवीरता' है। भीष्मपितामहका जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है ।

‡ जिस शक्तिके प्रभावसे मनुष्य दूसरोंका दबाव मानकर किसी भी कर्तव्यपालनसे कभी विमुख नहीं होता और दूसरे लोग न्यायके और उसके प्रतिकूल व्यवहार करनेमें डरते रहते हैं, उस शक्तिका नाम 'तेज' है। इसीको प्रताप और प्रभाव भी कहते हैं।

§ बड़े-से-बड़ा संकट उपस्थित हो जानेपर—युद्धस्थलमें शरीरपर भारी-से-भारी चोट लग जानेपर, अपने पुत्र-पौत्रादिके मर जानेपर, सर्वस्वका नाश हो जानेपर या इसी तरह अन्य किसी प्रकारकी भारी-से-भारी विपत्ति आ पड़नेपर भी व्याकुल न होना और अपने कर्तव्यपालनसे कभी विचलित न होकर न्यायानुकूल कर्तव्यपालनमें संलग्न रहना—इसीका नाम 'धैर्य' है ।

× परस्पर झगड़ा करनेवालोंका न्याय करनेमें, अपने कर्तव्यका निर्णय और पालन करनेमें, युद्ध करनेमें तथा मित्र, वैरी और मध्यस्थोंके साथ यथायोग्य व्यवहार करने आदिमें जो कुशलता है, उसीका नाम 'चतुरता' है ।

+ युद्ध करते समय भारी-से-भारी संकट आ पड़नेपर भी पीठ न दिखलाना, हर हालतमें न्यायपूर्वक सामना करके अपनी शक्तिका प्रयोग करते रहना और प्राणोंकी परवा न करके युद्धमें डटे रहना ही 'युद्धमें न भागना' है । इसी धर्मको ध्यानमें रखते हुए वीर बालक अभिमन्युने छः महारथियोंसे अकेले युद्ध करके प्राण दे दिये, किंतु शस्त्र नहीं छोड़े (महा० द्रोण० ४९ । २२) ।

÷ शासनके द्वारा लोगोंको अन्यायाचरणसे रोककर सदाचारमें प्रवृत्त करना, दुराचारियोंको दण्ड देना, लोगोंसे

क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं* ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती†, गोपालन‡ और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार§ ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णोंकी सेवा करना× शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करके अब भक्तियुक्त कर्मयोगका स्वरूप और फल बतलानेके लिये, उन कर्मोंका किस प्रकार आचरण करनेसे मनुष्य अनायास परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है—यह बात दो श्लोकोंमें बतलाते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है+ ।

अपनी आज्ञाका न्याययुक्त पालन करवाना तथा समस्त प्रजाका हित सोचकर निःस्वार्थभावसे प्रेमपूर्वक पुत्रकी भाँति उसकी रक्षा और पालन-पोषण करना—'स्वामिभाव' है ।

* उपर्युक्त कर्मोंमें क्षत्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इनका पालन करनेमें उन्हें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं होती । इन कर्मोंमें भी जो धृति, दान आदि सामान्य धर्म हैं, उनमें सबका अधिकार होनेके कारण वे अन्य वर्णवालोंके लिये अधर्म या परधर्म नहीं हैं; किंतु वे उनके स्वाभाविक कर्म नहीं हैं । इसी कारण वे उनके लिये प्रयत्नसाध्य हैं ।

† जमीनमें बीज बोकर गेहूँ, जौ, चने, मूँग, धान, मक्की, उड़द, हल्दी, धनियाँ आदि समस्त खाद्य पदार्थोंको, कपास और नाना प्रकारकी ओषधियोंको और इसी प्रकार देवता, मनुष्य और पशु आदिके उपयोगमें आनेवाली अन्य पवित्र वस्तुओंको न्यायानुकूल उत्पन्न करनेका नाम 'कृषि' यानी खेती करना है ।

‡ नन्द आदि गोपोंकी भाँति गौओंको अपने घरमें रखना; उनको जंगलमें चराना, घरमें भी यथावश्यक चारा देना, जल पिलाना तथा व्याघ्र आदि हिंसक जीवोंसे उनको बचाना; उनसे दूध, दही, घृत आदि पदार्थोंको उत्पन्न करके उन पदार्थोंसे लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना और उसके परिवर्तनमें प्राप्त धनसे अपनी गृहस्थीके सहित उन गौओंका भलीभाँति न्यायपूर्वक निर्वाह करना 'गौरक्ष्य' यानी गोपालन है । पशुओंमें 'गौ' प्रधान है तथा मनुष्यमात्रके लिये सबसे अधिक उपकारी पशु भी 'गौ' ही है; इसलिये भगवान्‌ने यहाँ 'पशुपालनम्' पदका प्रयोग न करके उसके बदलेमें 'गौरक्ष्यम्' पदका प्रयोग किया है । अतएव यह समझना चाहिये कि मनुष्यके उपयोगी भैंस, ऊँट, घोड़े और हाथी आदि अन्यान्य पशुओंका पालन करना भी वैश्योंका कर्म है; अवश्य ही गोपालन उन सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है ।

§ मनुष्योंके और देवता, पशु, पक्षी आदि अन्य समस्त प्राणियोंके उपयोगमें आनेवाली समस्त पवित्र वस्तुओंको धर्मानुकूल खरीदना और बेचना तथा आवश्यकतानुसार उनको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचाकर लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना 'वाणिज्य' यानी क्रय-विक्रयरूप व्यवहार है । वाणिज्य करते समय वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम दे देना या अधिक ले लेना; वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलाकर अच्छीके बदले खराब दे देना या खराबके बदले अच्छी ले लेना; नफा, आढ़त और दलाली आदि ठहराकर उससे अधिक लेना या कम देना; इसी तरह किसी भी व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीका या अन्य किसी प्रकारके अन्यायका प्रयोग करके दूसरोंके स्वत्वको हड़प लेना—ये सब वाणिज्यके दोष हैं । इन सब दोषोंसे रहित जो सत्य और न्याययुक्त पवित्र वस्तुओंका खरीदना और बेचना है, वही क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार है । तुलाधारने इस व्यवहारसे ही सिद्धि प्राप्त की थी (महाभारत शान्तिपर्व) ।

× उपर्युक्त द्विजाति वर्णोंकी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी दासवृत्तिसे रहना; उनकी आज्ञाओंका पालन करना; घरमें जल भर देना, स्नान करा देना, उनके जीवन-निर्वाहके कार्योंमें सुविधा कर देना, दैनिक कार्यमें यथायोग्य सहायता करना, उनके पशुओंका पालन करना, उनकी वस्तुओंको सम्हालकर रखना, कपड़े साफ करना, क्षौरकर्म करना आदि जितने भी सेवाके कार्य हैं, उन सबको करके उनको संतुष्ट रखना; अथवा सबके काममें आनेवाली वस्तुओंको कारीगरीके द्वारा तैयार करके उन वस्तुओंसे उनकी सेवा करके अपनी जीविका चलाना—ये सब 'परिचर्यात्मक' यानी सब वर्णोंकी सेवा करनारूप कर्मके अन्तर्गत हैं ।

+ समाज-शरीरका मस्तिष्क ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है । चारों एक ही समाज-शरीरके चार आवश्यक अङ्ग हैं और एक-दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं । घृणा या अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती । न इनमें ऊँच-नीचकी कल्पना है । अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं । ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल या श्रमबलसे बड़ा है और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है ।

अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके* मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है† ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करके परम सिद्धिको पा लेता है; इसपर यह शङ्का होती है कि यदि कोई क्षत्रिय अपने युद्धादि क्रूर कर्मोंको न करके, ब्राह्मणोंकी भाँति अध्यापनादि शान्तिमय कर्मोंसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त करनेकी चेष्टा करे या इसी तरह कोई वैश्य या शूद्र अपने कर्मोंको उच्च वर्णोंके कर्मोंसे हीन समझकर उनका त्याग कर दे और अपनेसे ऊँचे वर्णकी वृत्तिसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त करनेका प्रयत्न करे तो उचित है या नहीं । इसपर दूसरेके धर्मकी अपेक्षा स्वधर्मको श्रेष्ठ बतलाकर उसके त्यागका निषेध करते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे‡

एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई प्रसन्नता और योग्यताके अनुसार बाँटे हुए अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्यपालनमें लगे रहते हैं । यों चारों वर्ण परस्पर—ब्राह्मण धर्म-स्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक-दूसरेका हित करते हुए, समाजकी शक्ति बढ़ाते हुए परम सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं ।

* भगवान् इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सबके आत्मा, सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी हैं; यह सारा जगत् उन्हींकी रचना है और वे स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्के रूप-में प्रकट हुए हैं, अतएव यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्का है; मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान आदि स्ववर्णोचित कर्म किये जाते हैं—वे सब भी भगवान्के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्का ही हूँ; समस्त देवताओंके एवं अन्य प्राणियोंके आत्मा होनेके कारण वे ही समस्त कर्मोंके भोक्ता हैं (गीता ५ । २९)—परम श्रद्धा और विश्वासके साथ इस प्रकार समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका सर्वथा त्याग करके भगवान्के आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपना कर्तव्य पालन करते हुए अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा समस्त जगत्की सेवा करना—समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचाना ही अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करना है ।

† प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रममें स्थित हो, अपने कर्मोंसे भगवान्की पूजा करके परम सिद्धि-रूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है; परमात्माको प्राप्त करनेमें सबका समान अधिकार है । अपने शम, दम आदि कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के समर्पण करके उनके द्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला ब्राह्मण जिस पदको प्राप्त होता है, अपने शूरवीरता आदि कर्मोंके द्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला क्षत्रिय भी उसी पदको प्राप्त होता है; उसी प्रकार अपने कृषि आदि कर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला वैश्य तथा अपने सेवा-सम्बन्धी कर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला शूद्र भी उसी परमपदको प्राप्त होता है। अतएव कर्मबन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करनेका यह बहुत ही सुगम मार्ग है । इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त भावसे अपने कर्तव्य-पालनद्वारा परमेश्वरकी पूजा करनेका अभ्यास करना चाहिये ।

१. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो कर्म विहित है, उसके लिये वही स्वधर्म है । झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, ठगी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं और काम्यकर्म भी किसीके लिये अवश्यकर्तव्य नहीं हैं; इस कारण उनकी गणना यहाँ किसीके स्वधर्मोंमें नहीं है । इनको छोड़कर जिस वर्ण और आश्रमके जो विशेष धर्म बतलाये गये हैं, जिनमें एकसे दूसरे वर्ण-आश्रमवालोंका अधिकार नहीं है,वे तो उन-उन वर्ण-आश्रमवालोंके अलग-अलग स्वधर्म हैं और जिन कर्मोंमें द्विजमात्रका अधिकार बतलाया गया है, वे वेदाध्ययन और यज्ञादि कर्म द्विजोंके लिये स्वधर्म हैं तथा जिनमें सभी वर्णाश्रमोंके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है, वे ईश्वर-भक्ति, सत्य-भाषण, माता-पिताकी सेवा, इन्द्रियोंका संयम, ब्रह्मचर्यपालन और विनय आदि सामान्य धर्म सबके स्वधर्म हैं ।

‡ जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किंतु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों—ऐसे भलीभाँति आचरित कर्मोंकी अपेक्षा अर्थात् जैसे वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी अधिकता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म गुणयुक्त हैं, ऐसे परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म श्रेष्ठ है । भाव यह है कि जैसे देखनेमें कुरूप और गुणरहित होनेपर भी स्त्रीके लिये अपने ही पतिका सेवन करना कल्याणप्रद है,उसी

गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है,* क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता† ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मको‡ नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं§ ॥ ४८ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌ने तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक संन्यास यानी सांख्यका निरूपण किया । फिर इकतालीसवें श्लोकसे यहाँतक कर्मयोगरूप त्यागका तत्त्व समझानेके लिये स्वाभाविक कर्मोंका स्वरूप और उनकी अवश्यकर्तव्यताका निर्देश करके तथा कर्मयोगमें भक्तिका सहयोग दिखलाकर उसका फल भगवत्प्राप्ति बतलाया; किंतु वहाँ संन्यासके प्रकरणमें यह बात नहीं कही गयी कि संन्यासका क्या फल होता है और कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान त्याग कर उपासनाके सहित सांख्ययोगका किस प्रकार साधन करना चाहिये । अतः यहाँ उपासनाके सहित विवेक और वैराग्यपूर्वक एकान्तमें रहकर साधन करनेकी विधि और उसका फल बतलानेके लिये पुनः सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष× सांख्ययोगके द्वारा उस परम

प्रकार देखनेमें गुणोंसे हीन होनेपर भी तथा उसके अनुष्ठानमें अङ्गवैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है ।

* क्षत्रियका स्वधर्म युद्ध करना और दुष्टोंको दण्ड देना आदि है; उसमें अहिंसा और शान्ति आदि गुणोंकी कमी मालूम होती है । इसी तरह वैश्यके 'कृषि' आदि कर्मोंमें भी हिंसा आदि दोषोंकी बहुलता है, इस कारण ब्राह्मणोंके शान्तिमय कर्मोंकी अपेक्षा वे भी विगुण यानी गुणहीन हैं एवं शूद्रोंके कर्म वैश्यों और क्षत्रियोंकी अपेक्षा भी निम्न श्रेणीके हैं । इसके सिवा उन कर्मोंके पालनमें किसी अङ्गका छूट जाना भी गुणकी कमी है । उपर्युक्त प्रकारसे स्वधर्ममें गुणोंकी कमी रहनेपर भी वह गुणयुक्त परधर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ।

† दूसरेका धर्म पालन करनेसे उसमें हिंसादि दोष कम होनेपर भी परवृत्तिच्छेदन आदि पाप लगते हैं; किंतु अपने स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक आचरण करते समय उनमें जो आनुषङ्गिक हिंसादि पाप बन जाते हैं, वे उसको नहीं लगते ।

१. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिसके लिये जो कर्म बतलाये गये हैं, उसके लिये वे ही सहज कर्म हैं । अतएव इस अध्यायमें जिन कर्मोंका वर्णन स्वधर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावनियत कर्म और स्वभावज कर्मके नामसे हुआ है, उन्हींको यहाँ 'सहज' कर्म कहा है ।

‡ जो स्वाभाविक कर्म श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त हों, उनका त्याग न करना चाहिये—इसमें तो कहना ही क्या है; पर जिनमें साधारणतः हिंसादि दोषोंका मिश्रण दीखता हो, वे भी शास्त्रविहित एवं न्यायोचित होनेके कारण दोषयुक्त दीखनेपर भी वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं । इसलिये उन कर्मोंका भी त्याग नहीं करना चाहिये ।

§ जिस प्रकार धूएँसे अग्नि ओतप्रोत रहती है, धूआँ अग्निसे सर्वथा अलग नहीं हो सकता—उसी प्रकार आरम्भमात्र दोषसे ओतप्रोत हैं, क्रियामात्रमें किसी-न-किसी प्रकारसे किसी-न-किसी प्राणीकी हिंसा हो जाती है; क्योंकि संन्यास-आश्रममें भी शौच, स्नान और भिक्षाटनादि कर्मद्वारा किसी-न-किसी अंशमें प्राणियोंकी हिंसा होती ही है और ब्राह्मणके यज्ञादि कर्मोंमें भी आरम्भकी बहुलता होनेसे क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसा होती है । इसलिये किसी भी वर्ण-आश्रमके कर्म साधारण दृष्टिसे सर्वथा दोषरहित नहीं हैं और कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता (गीता ३ । ५); इस कारण स्वधर्मका त्याग कर देनेपर भी कुछ-न-कुछ कर्म तो मनुष्यको करना ही पड़ेगा तथा वह जो कुछ करेगा, वही दोषयुक्त होगा । इसीलिये अमुक कर्म नीचा है या दोषयुक्त है—ऐसा समझकर मनुष्यको स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; बल्कि उसमें ममता, आसक्ति और फलेच्छारूप दोषोंका त्याग करके उनका न्याययुक्त आचरण करना चाहिये । ऐसा करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

× अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें तथा समस्त भोगोंमें और चराचर प्राणियोंके सहित समस्त जगत्‌में जिसकी आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है; जिसके मन-बुद्धिकी कहीं किंचिन्मात्र भी संलग्नता नहीं रही है—वह 'सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला' है । जिसकी स्पृहाका सर्वथा अभाव हो गया है, जिसको किसी भी सांसारिक वस्तुकी किंचिन्मात्र भी परवा नहीं रही है, उसे 'स्पृहारहित' कहते हैं और जिसका इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरण अपने वशमें किया हुआ है, उसे 'जीते हुए अन्तःकरणवाला' कहते हैं । जो उपर्युक्त तीनों गुणोंसे सम्पन्न होता है, वही मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति कर सकता है ।

नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है* ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

जो कि ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है, उस नैष्कर्म्यसिद्धिको† जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है,‡ उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र ! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त§ तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला,× सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके+ मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला,÷ राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करकेA भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवालाB ममता-

---

* संन्यास--ज्ञानयोग यानी सांख्ययोगका स्वरूप भगवान्‌ने इक्यावनवेंसे तिरपनवें श्लोकतक बतलाया है । इस साधनका फल जो कि कर्मबन्धनसे सर्वथा छूटकर सच्चिदानन्दघन निर्विकार परमात्माके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाना है, वही 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' है, जिसको संन्यासके द्वारा प्राप्त किया जाता है ।

† जो ज्ञानयोगकी अन्तिम स्थिति है, जिसको परा भक्ति और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, जो समस्त साधनोंकी अवधि है, जो पूर्वश्लोकमें 'नैष्कर्म्यसिद्धि' के नामसे कही गयी है, वही यहाँ 'सिद्धि' के नामसे तथा वही 'परा निष्ठा' के नामसे कही गयी है ।

‡ नित्य-निर्विकार, निर्गुण-निराकार, सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'ब्रह्म' पद है और तत्त्वज्ञानके द्वारा पचपनवें श्लोकके वर्णनानुसार अभिन्नभावसे उसमें प्रविष्ट हो जाना ही उसको प्राप्त होना है ।

१. जो साधनके उपयुक्त अनायास हजम हो जानेवाले सात्त्विक पदार्थोंका (गीता १७ । ८) अपनी प्रकृति, आवश्यकता और शक्तिके अनुरूप नियमित और परिमित भोजन करता है—ऐसे युक्त आहारके करनेवाले (गीता ६ । १७) पुरुषको 'लघ्वाशी' कहते हैं ।

§ पूर्वार्जित पापके संस्कारोंसे रहित अन्तःकरणवाला ही 'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त' कहलाता है ।

× जहाँका वायुमण्डल पवित्र हो, जहाँ बहुत लोगोंका आना-जाना न हो, जो स्वभावसे ही एकान्त और स्वच्छ हो या झाड़-बुहारकर और धोकर जिसे स्वच्छ बना लिया गया हो—ऐसे नदीतट, देवालय, वन और पहाड़की गुफा आदि स्थानोंमें निवास करना ही 'एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करना' है ।

+ इन्द्रियों और अन्तःकरणका समस्त विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर देना ही उनका संयम करना है ।

÷ मन, वाणी और शरीरमें इच्छाचारिताका तथा बुद्धिके विचलित करनेकी शक्तिका अभाव कर देना ही उनको वशमें कर लेना है ।

A इस लोक या परलोकके किसी भी भोगमें, किसी भी प्राणीमें तथा किसी भी पदार्थ, क्रिया अथवा घटनामें किंचिन्मात्र भी आसक्ति या द्वेष न रहने देना 'राग-द्वेषका सर्वथा नाश कर देना' है ।

B शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जो आत्मबुद्धि है, जिसके कारण मनुष्य मन, बुद्धि और शरीरद्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें अपनेको कर्ता मान लेता है, उसका नाम 'अहंकार' है । अन्यायपूर्वक बलात्कारसे जो दूसरोंपर प्रभुत्व जमानेका साहस है, उसका नाम 'बल' है । धन, जन, विद्या, जाति और शारीरिक शक्ति आदिके कारण होनेवाला जो गर्व है, उसका नाम 'दर्प' यानी घमंड है । इस लोक और परलोकके भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छाका नाम 'काम' है । अपने मनके प्रतिकूल आचरण करनेवालेपर और नीतिविरुद्ध व्यवहार करनेवालेपर जो अन्तःकरणमें उत्तेजनाका भाव उत्पन्न होता है—जिसके कारण मनुष्यके नेत्र लाल हो जाते हैं, होंठ फड़कने लगते हैं, हृदयमें जलन होने लगती है और मुख विकृत हो जाता है—उसका नाम 'क्रोध' है । भोग्यबुद्धिसे सांसारिक भोग-सामग्रियोंके संग्रहका नाम 'परिग्रह' है, अतएव इन सबका त्याग करके पूर्वोक्त प्रकारसे सात्त्विक धृतिके द्वारा मन-इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोककर समस्त स्फुरणाओंका सर्वथा अभाव करके, नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्नभावसे चिन्तन करना (गीता ६ । २५) तथा उठते-बैठते, सोते-जागते एवं शौच-स्नान, खान-पान आदि आवश्यक क्रिया करते समय भी नित्य-निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं उसीको सबसे बढ़कर परम कर्तव्य समझना 'ध्यानयोगके परायण रहना' है ।

रहित* और शान्तियुक्त पुरुष† सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है ॥ ५१—५३ ॥

ब्रह्मभूतः[१] प्रसन्नात्मा[२] न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है ।‡ ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्तिको§ प्राप्त हो जाता है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

उस परा भक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है× तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है+ ॥ ५५ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनकी जिज्ञासाके अनुसार त्यागका यानी कर्मयोगका और संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व अलग-अलग समझाकर यहाँतक उस प्रकरणको समाप्त कर दिया; किंतु इस वर्णनमें भगवान्ने यह बात नहीं कही कि दोनोंमेंसे तुम्हारे लिये अमुक साधन कर्तव्य है; अतएव अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोग ग्रहण करानेके उद्देश्यसे अब भक्तिप्रधान कर्मयोगकी महिमा कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि[१] सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

मेरे परायण हुआ÷ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा

---

* मन और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, समस्त प्राणियोंमें, कर्मोंमें, समस्त भोगोंमें एवं जाति, कुल, देश, वर्ण और आश्रममें ममताका सर्वथा त्याग कर देना ही 'ममतासे रहित होना' है ।

† जिसके अन्तःकरणमें विक्षेपका सर्वथा अभाव हो गया है और जिसका अन्तःकरण अटल शान्ति और शुद्ध सात्त्विक प्रसन्नतासे व्याप्त रहता है, वह उपरत पुरुष 'शान्तियुक्त' कहा जाता है ।

१. जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित हो जाता है, जिसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती, 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ (बृहदारण्यक उप० १ । ४ । १०), 'सोऽहमस्मि'—वह ब्रह्म ही मैं हूँ, आदि महावाक्योंके अनुसार जिसकी परमात्मामें अभिन्नभावसे नित्य अटल स्थिति हो जाती है, ऐसे सांख्ययोगीका वाचक यहाँ 'ब्रह्मभूतः' पद है । गीताके पाँचवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें और छठे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भी इस स्थितिवाले योगीको 'ब्रह्मभूत' कहा है ।

२. जिसका मन पवित्र, स्वच्छ और शान्त हो तथा निरन्तर शुद्ध प्रसन्न रहता हो, उसे 'प्रसन्नात्मा' कहते हैं ।

‡ ब्रह्मभूत योगीकी सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेके कारण संसारकी किसी भी वस्तुमें उसकी भिन्न सत्ता, रमणीय-बुद्धि और ममता नहीं रहती । अतएव शरीरादिके साथ किसीका संयोग-वियोग होनेमें उसका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं; इस कारण वह किसी भी हालतमें किसी भी कारणसे किंचिन्मात्र भी चिन्ता या शोक नहीं करता और वह पूर्णकाम हो जाता है, इसलिये वह कुछ भी नहीं चाहता ।

§ जो ज्ञानयोगका फल है, जिसको ज्ञानकी परा निष्ठा और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, उसीको 'परा भक्ति' कहा है ।

× इस परा भक्तिरूप तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेके साथ ही वह योगी उस तत्त्वज्ञानके द्वारा मेरे यथार्थ रूपको जान लेता है; मेरा निर्गुण-निराकार रूप क्या है तथा सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूप क्या है, मैं निराकारसे साकार कैसे होता हूँ और पुनः साकारसे निराकार कैसे होता हूँ—इत्यादि कुछ भी जानना उसके लिये शेष नहीं रहता ।

+ परमात्माके तत्त्वज्ञान और उनकी प्राप्तिमें अन्तर यानी व्यवधान नहीं होता, परमात्माके स्वरूपको यथार्थ जानना और उनमें प्रविष्ट होना—दोनों एक साथ होते हैं । परमात्मा सबके आत्मरूप होनेसे वास्तवमें किसीको अप्राप्त नहीं हैं, अतः उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेके साथ ही उनकी प्राप्ति हो जाती है ।

१. अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं—जिनका वर्णन पहले 'नियत कर्म' और 'स्वभावज कर्म' के नामसे किया गया है तथा जो भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके अनुकूल हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'सर्वकर्माणि' पद है ।

÷ समस्त कर्मोंका और उनके फलरूप समस्त भोगोंका आश्रय त्यागकर जो भगवान्‌के ही आश्रित हो गया है, जो अपने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको, उसके द्वारा किये जानेवाले समस्त कर्मोंको और उनके फलको भगवान्‌के समर्पण करके उन सबसे ममता, आसक्ति और कामना हटाकर भगवान्‌के ही परायण हो गया है, भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम प्रिय, परम हितैषी, परमाधार और सर्वस्व समझकर जो भगवान्‌के विधानमें सदैव प्रसन्न रहता है—किसी भी सांसारिक वस्तुके संयोग-वियोगमें और किसी भी घटनामें कभी हर्ष-शोक नहीं करता, सदा भगवान्‌पर ही निर्भर रहता है, वह भक्तिप्रधान कर्मयोगी ही भगवत्परायण है ।

करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको* प्राप्त हो जाता है†॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके‡तथा समबुद्धिरूप योगको§अवलम्बन करके मेरे परायण×और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो+॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा÷और यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगाA॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

जो तू अहङ्कारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा',B तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगाC॥ ५९ ॥

---

* जो सदासे है और सदा रहता है, जिसका कभी अभाव नहीं होता, वह सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर परम प्राप्य है, इसलिये उसे 'परम पद' के नामसे कहा गया है। इसीको पैंतालीसवें श्लोकमें 'संसिद्धि', छियालीसवेंमें 'सिद्धि' और पचपनवें श्लोकमें 'माम्' पदवाच्य परमेश्वर कहा गया है।

† सांख्ययोगी समस्त परिग्रह और समस्त भोगोंका त्याग करके एकान्त देशमें निरन्तर परमात्माके ध्यानका साधन करता हुआ जिस परमात्माको प्राप्त करता है, भगवदाश्रयी कर्मयोगी स्ववर्णाश्रमोचित समस्त कर्मोंको सदा करता हुआ भी उसी परमात्माको प्राप्त हो जाता है; दोनोंके फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता।

‡ अपने मन, इन्द्रिय और शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और संसारकी समस्त वस्तुओंको भगवान्की समझकर उन सबमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरेद्वारा अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, मैं कुछ भी नहीं करता—ऐसा समझकर भगवान्के आज्ञानुसार उन्हींके लिये, उन्हींकी प्रेरणासे, जैसे करावें वैसे ही, निमित्तमात्र बनकर समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना—यही समस्त कर्मोंको मनसे भगवान्में अर्पण कर देना है।

§ सिद्धि और असिद्धिमें, सुख और दुःखमें, लाभ और हानिमें, इसी प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंमें और प्राणियोंमें जो समबुद्धि है, उसको 'बुद्धियोग' कहते हैं।

× भगवान्को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय और परमाधार मानना, उनके विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना और उनकी प्राप्तिके साधनोंमें तत्पर रहना भगवान्के परायण होना है।

+ मन-बुद्धिको अटल भावसे भगवान्में लगा देना; भगवान्के सिवा अन्य किसीमें किंचिन्मात्र भी प्रेमका सम्बन्ध न रखकर अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्का ही चिन्तन करते रहना; क्षणमात्रके लिये भी भगवान्की विस्मृतिका असह्य हो जाना; उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते और समस्त कर्म करते समय भी नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्के दर्शन करते रहना—यही निरन्तर भगवान्में चित्तवाला होना है।

÷ निरन्तर मुझमें मन लगा देनेके बाद तुम्हें और कुछ भी नहीं करना पड़ेगा, मेरी दयाके प्रभावसे अनायास ही तुम्हारे इस लोक और परलोकके समस्त दुःख टल जायँगे, तुम सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर सदाके लिये जन्म-मरणरूप महान् संकटसे मुक्त हो जाओगे और मुझ नित्य-आनन्दघन परमेश्वरको प्राप्त कर लोगे।

A यद्यपि भगवान् अर्जुनसे पहले यह कह चुके हैं कि तुम मेरे भक्त हो (गीता ४ । ३) और यह भी कह आये हैं कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति' अर्थात् मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता (गीता ९ । ३१) और यहाँ यह कहते हैं कि तुम नष्ट हो जाओगे अर्थात् तुम्हारा पतन हो जायगा; इसमें विरोध मालूम होता है; किंतु भगवान्ने स्वयं ही उपर्युक्त वाक्यमें 'चेत्' पदका प्रयोग करके इस विरोधका समाधान कर दिया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्के भक्तका कभी पतन नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है और यह भी सत्य है कि अर्जुन भगवान्के परम भक्त हैं; इसलिये वे भगवान्की बात न सुनें, उनकी आज्ञाका पालन न करें—यह हो ही नहीं सकता; किंतु इतनेपर भी यदि अहंकारके वशमें होकर भगवान्की आज्ञाकी अवहेलना कर दें तो फिर भगवान्के भक्त नहीं समझे जा सकते, इसलिये फिर उनका पतन होना भी युक्तिसङ्गत ही है।

B पहले भगवान्के द्वारा युद्ध करनेकी आज्ञा दी जानेपर (गीता २ । ३) जो अर्जुनने भगवान्से यह कहा था कि 'न योत्स्ये'—मैं युद्ध नहीं करूँगा (गीता २ । ९), उसी बातको स्मरण कराते हुए भगवान् कहते हैं कि तुम जो यह मानते हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', तुम्हारा यह मानना केवल अहंकारमात्र है; युद्ध न करना तुम्हारे हाथकी बात नहीं है।

C जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार जो वर्तमान जन्ममें स्वभावरूपसे प्रादुर्भूत हुए हैं, उनके समुदायको

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०॥

हे कुन्तीपुत्र ! जिस कर्मको तू मोहके कारण* करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा†॥ ६०॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें कर्म करनेमें मनुष्यको स्वभावके अधीन बतलाया गया; इसपर यह शङ्का हो सकती है कि प्रकृति या स्वभाव जड है, वह किसीको अपने वशमें कैसे कर सकता है; इसलिये भगवान् कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥६१॥

हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर‡ अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है§॥ ६१॥

प्रकृति यानी स्वभाव कहते हैं। इस स्वभावके अनुसार ही मनुष्यका भिन्न-भिन्न कर्मोंके अधिकारीसमुदायमें जन्म होता है और उस स्वभावके अनुसार ही भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न कर्मोंमें प्रवृत्ति हुआ करती है। अतएव यहाँ उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्ने यह दिखलाया है कि जिस स्वभावके कारण तुम्हारा क्षत्रियकुलमें जन्म हुआ है, वह स्वभाव तुम्हारी इच्छा न रहनेपर भी तुमको जबर्दस्ती युद्धमें प्रवृत्त करा देगा। योग्यता प्राप्त होनेपर वीरतापूर्वक युद्ध करना, युद्धसे डरना या भागना नहीं—यह तुम्हारा सहज कर्म है; अतएव तुम इसे किये बिना रह नहीं सकोगे, तुमको युद्ध अवश्य करना पड़ेगा। यहाँ क्षत्रियके नाते अर्जुनको युद्धके विषयमें जो बात कही है, वही बात अन्य वर्णवालोंको अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंके विषयमें समझ लेनी चाहिये।

१. अर्जुनकी माता कुन्ती बड़ी वीर महिला थी, उसने स्वयं श्रीकृष्णके हाथ सँदेशा भेजते समय पाण्डवोंको युद्धके लिये उत्साहित किया था। अतः भगवान् यहाँ अर्जुनको 'कौन्तेय' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम वीर माताके पुत्र हो, स्वयं भी शूरवीर हो, इसलिये तुमसे युद्ध किये बिना नहीं रहा जायगा।

* न्यायसे प्राप्त सहजकर्मको न करनेका अविवेकके अतिरिक्त दूसरा कोई युक्तियुक्त कारण नहीं है।

† यहाँ भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि युद्ध तो तुम्हें अपने स्वभावके वशमें होकर करना ही पड़ेगा। इसलिये यदि मेरी आज्ञाके अनुसार अर्थात् सत्तावनवें श्लोकमें बतलायी हुई विधिके अनुसार उसे करोगे तो कर्मबन्धनसे मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जाओगे, नहीं तो राग-द्वेषके जालमें फँसकर जन्म-मृत्युरूप संसारसागरमें गोते लगाते रहोगे।

जिस प्रकार नदीके प्रवाहमें बहता हुआ मनुष्य उस प्रवाहका सामना करके नदीके पार नहीं जा सकता, वरं अपना नाश कर लेता है और जो किसी नौका या काठका आश्रय लेकर या तैरनेकी कलासे जलके ऊपर तैरता रहकर उस प्रवाहके अनुकूल चलता है, वह किनारे लगकर उसको पार कर जाता है; उसी प्रकार प्रकृतिके प्रवाहमें पड़ा हुआ जो मनुष्य प्रकृतिका सामना करता है, यानी हठसे कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर देता है, वह प्रकृतिसे पार नहीं हो सकता, वरं उसमें अधिक फँसता जाता है और जो परमेश्वरका या कर्मयोगका आश्रय लेकर या ज्ञानमार्गके अनुसार अपनेको प्रकृतिसे ऊपर उठाकर प्रकृतिके अनुकूल कर्म करता रहता है, वह कर्मबन्धनसे मुक्त होकर प्रकृतिके पार चला जाता है अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

‡ यहाँ शरीरको यन्त्रका रूपक देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जैसे रेलगाड़ी आदि किन्हीं यन्त्रोंपर बैठा हुआ मनुष्य स्वयं नहीं चलता, तो भी रेलगाड़ी आदि यन्त्रके चलनेसे उसका चलना हो जाता है—उसी प्रकार यद्यपि आत्मा निश्चल है, उसका किसी भी क्रियासे वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तो भी अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसका शरीरसे सम्बन्ध होनेसे उस शरीरकी क्रिया उसकी क्रिया मानी जाती है तथा ईश्वरको सब भूतोंके हृदयमें स्थित बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि यन्त्रको चलानेवाला प्रेरक जैसे स्वयं भी उस यन्त्रमें रहता है, उसी प्रकार ईश्वर भी समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित है।

§ समस्त प्राणियोंको उनके पूर्वार्जित कर्म-संस्कारोंके अनुसार फल भुगतानेके लिये बार-बार नाना योनियोंमें उत्पन्न करना तथा भिन्न-भिन्न पदार्थोंसे, क्रियाओंसे और प्राणियोंसे उनका संयोग-वियोग कराना और उनके स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार उन्हें पुनः चेष्टा करनेमें लगाना—यही भगवान्का उन प्राणियोंको अपनी मायाद्वारा भ्रमण कराना है।

यहाँ यदि कोई यह कहे कि कर्म करनेमें और न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? यदि परतन्त्र है तो किसके परतन्त्र है—प्रकृतिके या स्वभावके अथवा ईश्वरके ? क्योंकि प्राणीको उनसठवें और साठवें श्लोकोंमें प्रकृति-के और स्वभावके अधीन बतलाया है तथा इस श्लोकमें ईश्वरके अधीन बतलाया है, तो कहना होगा कि कर्म करने और

सम्बन्ध—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कर्मबन्धनसे छूटकर परम शान्तिलाभ करनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये; इसपर भगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ६२

हे भारत ! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा*। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा† ॥ ६२ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको अन्तर्यामी परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके लिये आज्ञा देकर अब भगवान् उक्त उपदेशका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया‡। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया

न करनेमें मनुष्य परतन्त्र है, इसीलिये यह कहा गया है कि कोई भी प्राणी क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता (गीता ३ । ५) । मनुष्यका जो कर्म करनेमें अधिकार बतलाया गया है, उसका अभिप्राय भी उसको स्वतन्त्र बतलाना नहीं है, बल्कि परतन्त्र बतलाना ही है; क्योंकि वहाँ कर्मोंके त्यागमें अशक्यता सूचित की गयी है तथा मनुष्यको प्रकृतिके अधीन बतलाना, स्वभावके अधीन बतलाना और ईश्वरके अधीन बतलाना—ये तीनों बातें एक ही हैं। क्योंकि स्वभाव और प्रकृति तो पर्यायवाची शब्द हैं और ईश्वर स्वयं निरपेक्षभावसे अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहते हुए ही जीवोंकी प्रकृतिके अनुरूप अपनी मायाशक्तिके द्वारा उनको कर्मोंमें नियुक्त करते हैं, इसलिये ईश्वरके अधीन बतलाना प्रकृतिके ही अधीन बतलाना है। दूसरे पक्षमें ईश्वर ही प्रकृतिके स्वामी और प्रेरक हैं, इस कारण प्रकृतिके अधीन बतलाना भी ईश्वरके ही अधीन बतलाना है।

इसपर कोई यह कहे कि यदि मनुष्य सर्वथा ही परतन्त्र है तो फिर उसके उद्धार होनेका क्या उपाय है और उसके लिये कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है; तो कहना होगा कि कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्र मनुष्यको उसके स्वाभाविक कर्मोंसे हटानेके लिये या उससे स्वभावविरुद्ध कर्म करवानेके लिये नहीं हैं, किंतु उन कर्मोंको करनेमें जो राग-द्वेषके वशमें होकर वह अन्याय कर लेता है, उस अन्यायका त्याग कराकर उसे न्यायपूर्वक कर्तव्यकर्मोंमें लगानेके लिये है। इसलिये मनुष्य कर्म करनेमें स्वभावके परतन्त्र होते हुए भी उस स्वभावका सुधार करनेमें परतन्त्र नहीं है। अतएव यदि वह शास्त्र और महापुरुषोंके उपदेशसे सचेत होकर प्रकृतिके प्रेरक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी शरण ग्रहण कर ले और राग-द्वेषादि विकारोंका त्याग करके शास्त्रविधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने स्वाभाविक कर्मोंको निष्कामभावसे करता हुआ अपना जीवन बिताने लगे तो उसका उद्धार हो सकता है।

* भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्‌को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना तथा उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना एवं सब कुछ भगवान्‌का समझकर और भगवान्‌को सर्वव्यापी जानकर समस्त कर्मोंमें ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनाका त्याग करके भगवान्‌के आज्ञानुसार अपने कर्मोंद्वारा समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमेश्वरकी सेवा करना; जो कुछ भी दुःख-सुखके भोग प्राप्त हों, उनको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सदा ही संतुष्ट रहना; भगवान्‌के किसी भी विधानमें कभी किंचिन्मात्र भी असंतुष्ट न होना; मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करके भगवान्‌के सिवा किसी भी सांसारिक वस्तुमें ममता और आसक्ति न रखना; अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और स्वरूपका नित्य-निरन्तर श्रवण, चिन्तन और कथन करते रहना—ये सभी भाव तथा क्रियाएँ सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके अन्तर्गत हैं।

† उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेवाले भक्तपर परम दयालु, परम सुहृद्, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अपार दयाका स्रोत बहने लगता है—जो उसके समस्त दुःखों और बन्धनोंको सदाके लिये बहा ले जाता है। इस प्रकार भक्तका जो समस्त दुःखोंसे और समस्त बन्धनोंसे छूटकर सदाके लिये परमानन्दसे युक्त हो जाना और सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म सनातन परमेश्वरको प्राप्त हो जाना है, यही परमेश्वरकी कृपासे परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त हो जाना है।

‡ भगवान्‌ने गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ करके यहाँतक अर्जुनको अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका रहस्य भलीभाँति समझानेके लिये जितनी बातें कही हैं—उस समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'ज्ञान' शब्द है; वह सारा-का-सारा उपदेश भगवान्‌का प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाला है, इसलिये उसका नाम 'ज्ञान' रक्खा गया है। संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखनेयोग्य रहस्यके विषय माने गये हैं, उन सबमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करा देनेवाला उपदेश सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य माना गया है; इसलिये इस उपदेशका महत्त्व समझानेके

भलीभाँति विचारकर जैसे चाहता है वैसे ही कर* ॥६३॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको सारे उपदेशपर विचार करके अपना कर्तव्य निर्धारित करनेके लिये कहे जानेपर भी जब अर्जुनने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वे अपनेको अनधिकारी तथा कर्तव्य निश्चय करनेमें असमर्थ समझकर खिन्नचित्त हो गये, तब सबके हृदयकी बात जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् स्वयं ही अर्जुनपर दया करके कहने लगे—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन† । तू मेरा अतिशय प्रिय है,‡ इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो,§ मेरा भक्त बन,× मेरा पूजन करनेवाला हो+ और मुझको प्रणाम

लिये और यह बात समझानेके लिये कि अनधिकारीके सामने इन बातोंको प्रकट नहीं करना चाहिये, इस ज्ञानको अत्यन्त गोपनीय बतलाया गया है।

* गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे उपदेश आरम्भ करके भगवान्ने अर्जुनको सांख्ययोग और कर्मयोग, इन दोनों ही साधनोंके अनुसार स्वधर्मरूप युद्ध करना जगह-जगह (गीता २ । १८,३७; ३ । ३०; ८ । ७; ११ । ३४) कर्तव्य बतलाया तथा अपनी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा । इसपर भी कोई उत्तर न मिलनेसे पुनः अर्जुनको सावधान करनेके लिये परमेश्वरको सबका प्रेरक और सबके हृदयमें स्थित बतलाकर उसकी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा । इतनेपर भी जब अर्जुनने कुछ नहीं कहा, तब इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें उपदेशका उपसंहार करके एवं कहे हुए उपदेशका महत्त्व दिखलाकर इस वाक्यसे पुनः उसपर विचार करनेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए अन्तमें भगवान्ने यह कहा कि मैंने जो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि बहुत प्रकारके साधन बतलाये हैं, उनमेंसे तुम्हें जो साधन अच्छा मालूम पड़े, उसीका पालन करो अथवा और जो कुछ तुम ठीक समझो, वही करो।

† भगवान्ने यहाँतक अर्जुनको जितनी बातें कहीं, वे सभी बातें गुप्त रखनेयोग्य हैं; अतः उनको भगवान्ने जगह-जगह 'परम गुह्य' और 'उत्तम रहस्य' नाम दिया है। उस समस्त उपदेशमें भी जहाँ भगवान्ने खास अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा और ऐश्वर्यको प्रकट करके यानी मैं ही स्वयं सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, साक्षात् सगुण-निर्गुण परमेश्वर हूँ—इस प्रकार कहकर अर्जुनको अपना भजन करनेके लिये और अपनी शरणमें आनेके लिये कहा है, वे वचन अधिक-से-अधिक गुप्त रखनेयोग्य हैं (गीता ९ । १-२) । वे पहले भी कहे जा चुके हैं (गीता ९ । ३४; १२ । ६-७; १८ । ५६-५७) । अतः यहाँ भगवान्के कहनेका यह अभिप्राय है कि पहले कहे हुए उपदेशमें भी जो अत्यन्त गुप्त रखने योग्य सबसे अधिक महत्त्वकी बात है, वह मैं तुम्हें अगले दो श्लोकोंमें फिर कहूँगा।

‡ तिरसठवें श्लोकमें कही हुई बातको सुनकर भगवान्ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका निश्चय करनेके लिये स्वतन्त्र विचार करनेको कह दिया, उसका भार उन्होंने अपने ऊपर नहीं रक्खा; इस बातको सुनकर जब अर्जुनके मनमें उदासी छा गयी, वे सोचने लगे कि क्या मेरा भगवान्पर विश्वास नहीं है, क्या मैं इनका भक्त और प्रेमी नहीं हूँ, तब अर्जुनका शोक दूर करनेके लिये उन्हें उत्साहित करते हुए भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, तुम्हारा और मेरा प्रेमका सम्बन्ध अटल है; अतः तुम किसी तरहका शोक मत करो।

§ भगवान्को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर तथा अतिशय सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य आदि गुणोंके समुद्र समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निश्चलभावसे मनको भगवान्में लगा देना, क्षणमात्र भी भगवान्की विस्मृतिको न सह सकना 'भगवान्में मनवाला' होना है।

× भगवान्को ही एकमात्र अपना भर्ता, स्वामी, संरक्षक, परम गति और परम आश्रय समझकर सर्वथा उनके अधीन हो जाना, किंचिन्मात्र भी अपनी स्वतन्त्रता न रखना, सब प्रकारसे उनपर निर्भर रहना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना और उनकी आज्ञाका सदा पालन करना तथा उनमें अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य प्रेम करना 'भगवान्का भक्त बनना' है।

+ गीताके नवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकके वर्णनानुसार पत्र-पुष्पादिसे श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक भगवान्के विग्रह-का पूजन करना; मनसे भगवान्का आवाहन करके उनकी मानसिक पूजा करना; उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और उनके विग्रहका सब प्रकारसे आदर-सम्मान करना तथा सबमें भगवान्को व्याप्त समझकर या समस्त प्राणियोंको भगवान्का स्वरूप समझकर उनकी यथायोग्य सेवा-पूजा, आदर-सत्कार करना आदि सब 'भगवान्की पूजा' करनेके अन्तर्गत हैं।

कर*। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा,† यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ;‡ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर§ तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा×। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा,+ तू शोक मत कर÷ ॥ ६६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् गीताके उपदेशका उपसंहार

* जिन परमेश्वरके सगुण-निर्गुण, निराकार-साकार आदि अनेक रूप हैं; जो अर्जुनके सामने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश सुना रहे हैं; जिन्होंने रामरूपमें प्रकट होकर संसारमें धर्मकी मर्यादाका स्थापन किया और नृसिंहरूप धारण करके भक्त प्रह्लादका उद्धार किया—उन्हीं सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, अन्तर्यामी, परमाधार, समग्र पुरुषोत्तम भगवान्‌के किसी भी रूपको, चित्रको, चरणचिह्नोंको या चरणपादुकाओंको तथा उनके गुण, प्रभाव और तत्त्वका वर्णन करनेवाले शास्त्रोंको साष्टाङ्ग प्रणाम करना या समस्त प्राणियोंमें उनको व्याप्त या समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबको प्रणाम करना 'भगवान्‌को नमस्कार करना' है।

† जिसमें चारों साधन पूर्णरूपसे होते हैं, उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है; परंतु इनमेंसे एक-एक साधनसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं ही गीताके आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें केवल अनन्यचिन्तनसे अपनी प्राप्तिको सुलभ बतलाया है। गीताके सातवें अध्यायके तेईसवें और नवेंके पचीसवेंमें अपने भक्तको अपनी प्राप्ति बतलायी है और नवें अध्यायके छब्बीसवेंसे अट्टाईसवेंतक एवं इस अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें केवल पूजनसे अपनी प्राप्ति बतलायी है।

‡ अर्जुन भगवान्‌के प्रिय भक्त और सखा थे, अतएव उनपर प्रेम और दया करके उनका अपने ऊपर अतिशय दृढ़ विश्वास करानेके लिये और अर्जुनके निमित्तसे अन्य अधिकारी मनुष्योंका विश्वास दृढ़ करानेके लिये भगवान्‌ने कहा है कि मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ।

§ वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म कर्तव्य बतलाये गये हैं, गीताके बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'सर्वाणि' विशेषणके सहित 'कर्माणि' पदसे और इस अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें 'सर्वकर्माणि' पदसे जिनका वर्णन किया गया है, उन शास्त्रविहित समस्त कर्मोंको जो उन दोनों श्लोकोंकी व्याख्यामें बतलाये हुए प्रकारसे भगवान्‌में समर्पण कर देना है अर्थात् सब कुछ भगवान्‌का समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरमें तथा उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति, अभिमान और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना और केवल भगवान्‌के ही लिये भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार, जैसे वे करवावें, वैसे कठपुतलीकी भाँति उनको करते रहना—यही यहाँ समस्त धर्मोंका परित्याग करना है, उनका स्वरूपसे त्याग करना नहीं।

× गीताके बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें, नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तथा इस अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परमाधार, परम प्रिय, परम हितैषी, परम सुहृद्, परम आत्मीय तथा भर्ता, स्वामी, संरक्षक समझकर उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हरेक प्रकारसे उनकी आज्ञाओंका पालन करते समय परम श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेमसे नित्य-निरन्तर उनका चिन्तन करते रहना और उनके विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना एवं सब प्रकारसे केवलमात्र एक भगवान्‌पर ही भक्त प्रह्लादकी भाँति निर्भर रहना एकमात्र परमेश्वरकी शरणमें चला जाना है।

+ शुभाशुभ कर्मोंका फलरूप जो कर्मबन्धन है—जिससे बँधा हुआ मनुष्य जन्म-जन्मान्तरसे नाना योनियोंमें घूम रहा है, उस कर्मबन्धनसे मुक्त कर देना ही पापोंसे मुक्त कर देना है। इसलिये गीताके तीसरे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें 'कर्मभिः मुच्यन्ते' से, बारहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता भवामि' से और इस अध्यायके अट्ठावनवें श्लोकमें 'मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि' से जो बात कही गयी है, वही बात यहाँ 'मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा' इस वाक्यसे कही गयी है।

÷ गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'अशोच्यान्' पदसे जिस उपदेशका उपक्रम किया था, उसका 'मा शुचः' पदसे उपसंहार करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि गीताके दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें तुम मेरी शरणागति स्वीकार कर ही चुके हो, अब पूर्णरूपसे मेरे शरणागत होकर तुम कुछ भी चिन्ता न करो और शोकका सर्वथा त्याग करके सदा-सर्वदा मुझ परमेश्वरपर निर्भर हो रहो। यह शोकका सर्वथा अभाव और भगवत्साक्षात्कार ही गीताका मुख्य तात्पर्य है।

करके अब उस उपदेशके अध्यापन और अध्ययन आदिका माहात्म्य बतलानेके लिये पहले अनधिकारीके लक्षण बतलाकर उसे गीताका उपदेश सुनानेका निषेध करते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्ति-रहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये* ॥ ६७ ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त† गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें‡ कहेगा,§ वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है× ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं+ ॥ ६९ ॥

* इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यह गीताशास्त्र बड़ा ही गुप्त रखनेयोग्य विषय है, तुम मेरे अतिशय प्रेमी भक्त और दैवी सम्पदासे युक्त हो, इसलिये इसका अधिकारी समझकर मैंने तुम्हारे हितके लिये तुम्हें यह उपदेश दिया है। अतः जो मनुष्य स्वधर्मपालनरूप तप करनेवाला न हो, ऐसे मनुष्यको मेरे गुण, प्रभाव और तत्त्वके वर्णनसे भरपूर यह गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये।

तथा जिसका मुझ परमेश्वरमें विश्वास, प्रेम और पूज्यभाव नहीं है, जो अपनेको ही सर्वे-सर्वा समझनेवाला नास्तिक है—ऐसे मनुष्यको भी यह अत्यन्त गोपनीय गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये।

इसी प्रकार यदि कोई अपने धर्मका पालनरूप तप भी करता हो; किंतु गीताशास्त्रमें श्रद्धा और प्रेम न होनेके कारण वह उसे सुनना न चाहता हो, तो उसे भी यह परम गोपनीय शास्त्र नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि ऐसा मनुष्य उसको ग्रहण नहीं कर सकता, इससे मेरे उपदेशका और मेरा अनादर होता है।

एवं संसारका उद्धार करनेके लिये सगुणरूपसे प्रकट मुझ परमेश्वरमें जिसकी दोषदृष्टि है, जो मेरे गुणोंमें दोषारोपण करके मेरी निन्दा करनेवाला है—ऐसे मनुष्यको तो किसी भी हालतमें यह उपदेश नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि वह मेरे गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यको न सह सकनेके कारण इस उपदेशको सुनकर मेरी पहलेसे भी अधिक अवज्ञा करेगा, अतः वह अधिक पापका भागी होगा।

† यह उपदेश मनुष्यको संसारबन्धनसे छुड़ाकर साक्षात् परमेश्वरकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे अत्यन्त ही श्रेष्ठ और गुप्त रखनेयोग्य है।

‡ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो मुझको समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और पालन करनेवाले, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर समझकर मुझमें प्रेम करता है; जिसके चित्तमें मेरे गुण, प्रभाव, लीला और तत्त्वकी बातें सुननेकी उत्सुकता रहती है और सुनकर प्रसन्नता होती है—वह मेरा भक्त है। उसमें पूर्वश्लोकमें वर्णित चारों दोषोंका अभाव अपने-आप हो जाता है। इसलिये जो मेरा भक्त है, वही इसका अधिकारी है तथा सभी मनुष्य—चाहे किसी भी वर्ण और जातिके क्यों न हों—मेरे भक्त बन सकते हैं (गीता ९। ३२); अतः वर्ण और जाति आदिके कारण इसका कोई भी अनधिकारी नहीं है।

§ स्वयं भगवान्‌में या उनके वचनोंमें अतिशय श्रद्धायुक्त होकर एवं भगवान्‌के नाम, गुण, लीला, प्रभाव और स्वरूपकी स्मृतिसे उनके प्रेममें विह्वल होकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके ही लिये निष्कामभावसे उपर्युक्त भगवद्भक्तोंमें इस गीताशास्त्रका वर्णन करना, इसके मूल श्लोकोंका अध्ययन कराना, उनकी व्याख्या करके अर्थ समझाना, शुद्ध पाठ करवाना, उनके भावोंको भलीभाँति प्रकट करना और समझाना, श्रोताओंकी शङ्काओंका समाधान करके गीताके उपदेश-को उनके हृदयमें जमा देना और गीताके उपदेशानुसार चलनेकी उनमें दृढ़ भावना उत्पन्न कर देना आदि सभी क्रियाएँ भगवान्‌में परम प्रेम करके भगवान्‌के भक्तोंमें गीताका कथन करना है।

× इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि गीताशास्त्रका उपर्युक्त प्रकारसे प्रचार करना—यह मेरी प्राप्तिका ऐकान्तिक उपाय है; इसलिये मेरी प्राप्ति चाहनेवाले अधिकारी भक्तोंको इस गीताशास्त्रके कथन तथा प्रचारका कार्य अवश्य करना चाहिये।

+ यहाँ भगवान् यह बतलाते हैं कि यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा और जप, ध्यान आदि जितने भी मेरे प्रिय कार्य हैं, उन सबसे बढ़कर 'मेरे भावोंको मेरे भक्तोंमें विस्तार करना' मुझे अधिक प्रिय है। इस कारण जो मेरा प्रेमी भक्त मेरे भावोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें विस्तार करता है, वही सबसे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला है; उससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं। केवल इस समय ही उससे बढ़कर मेरा कोई प्रिय कार्य करनेवाला नहीं है, यही बात नहीं है; किंतु उससे बढ़कर मेरा प्यारा काम करनेवाला कोई हो सकेगा, यह भी सम्भव नहीं है। इसलिये मेरी प्राप्तिके जितने

सम्बन्ध—इस प्रकार उपर्युक्त दो श्लोकोंमें गीताशास्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवद्भक्तोंमें विस्तार करनेका फल और माहात्म्य बतलाया; किंतु सभी मनुष्य इस कार्यको नहीं कर सकते, इसका अधिकारी तो कोई विरला ही होता है। इसलिये अब गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

जो पुरुष इस धर्ममय* हम दोनोंके संवादरूप गीता-शास्त्रको पढ़ेगा,† उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे‡ पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ॥ ७० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाकर, अब जो उपर्युक्त प्रकारसे अध्ययन करनेमें असमर्थ हैं—ऐसे मनुष्यके लिये उसके श्रवणका फल बतलाते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥

जो मनुष्य§ श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा,× वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा+ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके कथन, पठन और श्रवणका माहात्म्य बतलाकर अब भगवान् स्वयं सब कुछ जानते हुए भी अर्जुनको सचेत करनेके लिये उससे उसकी स्थिति पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! क्या इस (गीताशास्त्र) को तूने एकाग्रचित्त-से श्रवण किया ?÷ और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?ऽ ॥ ७२ ॥

भी साधन हैं, उन सबमें यह 'भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें मेरे भावोंका विस्तार करनारूप' साधन सर्वोत्तम है—ऐसा समझकर मेरे भक्तोंको यह कार्य करना चाहिये।

* यह साक्षात् परमेश्वरके द्वारा कहा हुआ शास्त्र है; इस कारण इसमें जो कुछ उपदेश दिया गया है, वह सब-का-सब धर्मसे ओतप्रोत है।

† गीताका मर्म जाननेवाले भगवान्के भक्तोंसे इस गीताशास्त्रको पढ़ना, इसका नित्य पाठ करना, इसके अर्थका पाठ करना, अर्थपर विचार करना और इसके अर्थको जाननेवाले भक्तोंसे इसके अर्थको समझनेकी चेष्टा करना आदि सभी अभ्यास गीताशास्त्रको पढ़नेके अन्तर्गत है।

श्लोकोंका अर्थ बिना समझे इस गीताको पढ़ने और उसका नित्य पाठ करनेकी अपेक्षा उसके अर्थको भी साथ-साथ पढ़ना और अर्थज्ञानके सहित उसका नित्य पाठ करना अधिक उत्तम है तथा उसके अर्थको समझकर पढ़ते या पाठ करते समय प्रेममें विह्वल होकर भावान्वित हो जाना उससे भी अधिक उत्तम है।

‡ इस गीताशास्त्रका अध्ययन करनेसे मनुष्यको मेरे सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार तत्त्वका भलीभाँति यथार्थ ज्ञान हो जाता है। अतः इस गीताशास्त्रका अध्ययन करना ज्ञानयज्ञके द्वारा मेरी पूजा करना है; क्योंकि सभी साधनोंका अन्तिम फल भगवान्के तत्त्वको भलीभाँति जान लेना है और वह फल इस ज्ञानयज्ञसे अनायास ही मिल जाता है।

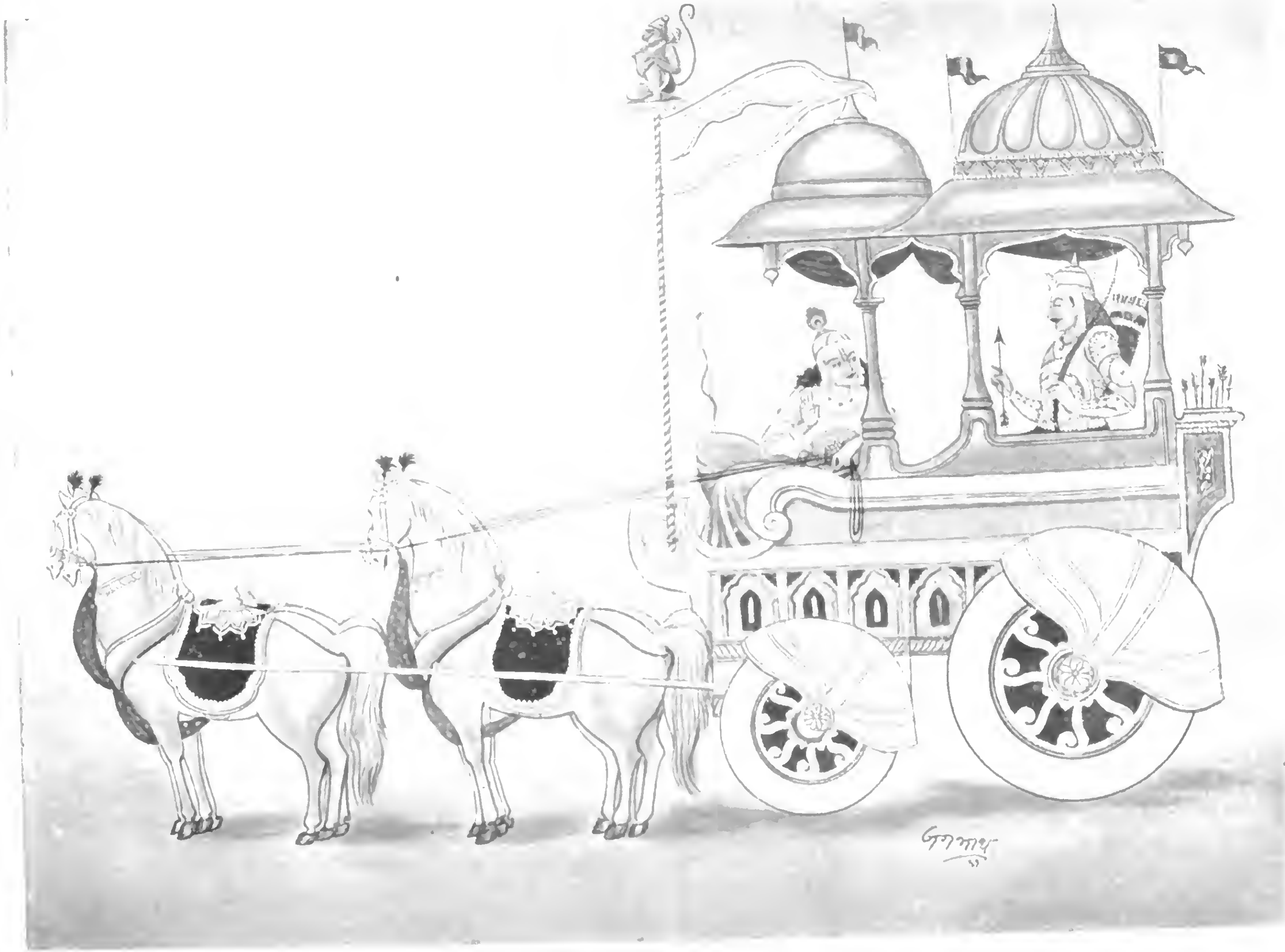
§ जिसके अंदर इस गीताशास्त्रको श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेकी भी रुचि नहीं है, वह तो मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं है; क्योंकि उसका मनुष्यजन्म पाना व्यर्थ हो रहा है। इस कारण वह मनुष्यके रूपमें पशुके ही तुल्य है।

× भगवान्की सत्तामें और उनके गुण-प्रभावमें विश्वास करके तथा यह गीताशास्त्र साक्षात् भगवान्की ही वाणी है, इसमें जो कुछ भी कहा गया है सब-का-सब यथार्थ है—ऐसा निश्चयपूर्वक मानकर और उसके वक्तापर विश्वास करके प्रेम और रुचिके साथ गीताजीके मूल श्लोकोंके पाठका या उसके अर्थकी व्याख्याका श्रवण करना, यह श्रद्धासे युक्त होकर गीताशास्त्रका श्रवण करना है और उसका श्रवण करते समय भगवान्पर या भगवान्के वचनोंपर किसी प्रकारका दोषा-रोपण न करना—यह दोषदृष्टिसे रहित होकर उसका श्रवण करना है।

+ जो अड़सठवें श्लोकके वर्णनानुसार इस गीताशास्त्रका दूसरोंको अध्ययन कराता है तथा जो सत्तरवें श्लोकके कथनानुसार स्वयं अध्ययन करता है, उन लोगोंकी तो बात ही क्या है, पर जो इसका श्रद्धापूर्वक श्रवणमात्र भी कर पाता है, वह भी जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंके और नरकके हेतुभूत पापकर्मसे छूटकर इन्द्रलोकसे लेकर भगवान्के परमधामपर्यन्त अपने-अपने प्रेम और श्रद्धाके अनुरूप भिन्न-भिन्न लोकोंको प्राप्त हो जाता है।

÷ भगवान्के इस प्रश्नका अभिप्राय यह है कि मेरा यह उपदेश बड़ा ही दुर्लभ है, मैं हरेक मनुष्यके सामने 'मैं ही साक्षात् परमेश्वर हूँ, तू मेरी ही शरणमें आ जा' इत्यादि बातें नहीं कह सकता; इसलिये तुमने मेरे उपदेशको भलीभाँति ध्यानपूर्वक सुन तो लिया है न ? क्योंकि यदि कहीं तुमने उसपर ध्यान न दिया होगा तो तुमने निःसंदेह बड़ी भूल की है।

ऽ भगवान्के इस प्रश्नका भाव यह है कि जिस मोहसे युक्त होकर तुम धर्मके विषयमें अपनेको मूढ़चेता बतला रहे थे (गीता २। ७) तथा अपने स्वधर्मका पालन करनेमें पाप समझ रहे थे (गीता १। ३६ से ३९) और समस्त कर्तव्यकर्मोंका त्याग करके भिक्षाके अन्नसे जीवन बिताना श्रेष्ठ समझ रहे थे (गीता २। ५) एवं जिसके कारण तुम स्वजन-वधके भयसे व्याकुल हो रहे थे (गीता १। ४५–४७) और अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाते थे (गीता २। ६-७)—तुम्हारा वह अज्ञानजनित मोह



नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ (गीता १८ । ७३)

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशय-रहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा*॥

सम्बन्ध—इस प्रकार धृतराष्ट्रके प्रश्नानुसार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीताशास्त्रका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हुए संजय धृतराष्ट्रके सामने गीताका महत्त्व प्रकट करते हैं—

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवादको सुना† ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥

श्रीव्यासजीकी कृपासे‡ दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको§ अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है ॥ ७५ ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित होता हूँ× ॥ ७६ ॥

अब नष्ट हो गया या नहीं? यदि मेरे उपदेशको तुमने ध्यानपूर्वक सुना होगा तो अवश्य ही तुम्हारा मोह नष्ट हो जाना चाहिये और यदि तुम्हारा मोह नष्ट नहीं हुआ है तो यही मानना पड़ेगा कि तुमने उस उपदेशको एकाग्रचित्तसे नहीं सुना ।

यहाँ भगवान्‌के इन दोनों प्रश्नोंमें यह उपदेश भरा हुआ है कि मनुष्यको इस गीताशास्त्रका अध्ययन और श्रवण बड़ी सावधानीके साथ एकाग्रचित्तसे तत्पर होकर करना चाहिये और जबतक अज्ञानजनित मोहका सर्वथा नाश न हो जाय, तबतक यह समझना चाहिये कि अभीतक मैं भगवान्‌के उपदेशको यथार्थ नहीं समझ सका हूँ, अतः पुनः उसपर श्रद्धा और विवेकपूर्वक विचार करना आवश्यक है ।

* अर्जुनके कहनेका अभिप्राय यह है कि आपने यह दिव्य उपदेश सुनाकर मुझपर बड़ी भारी दया की है, आपके उपदेशको सुननेसे मेरा अज्ञानजनित मोह सर्वथा नष्ट हो गया है अर्थात् आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको यथार्थ न जाननेके कारण जिस मोहसे व्याप्त होकर मैं आपकी आज्ञाको माननेके लिये तैयार नहीं होता था (गीता २ । ९) और बन्धु-बान्धवोंके विनाशका भय करके शोकसे व्याकुल हो रहा था (गीता १ । २८ से ४७ तक)–वह सब मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया है तथा मुझे आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपकी पूर्ण स्मृति प्राप्त हो गयी है और आपका समग्र रूप मेरे प्रत्यक्ष हो गया है–मुझे कुछ भी अज्ञात नहीं रहा है। अब आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके विषयमें तथा धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य आदिके विषयमें मुझे किंचिन्मात्र भी संशय नहीं रहा है । आपकी दयासे मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे लिये अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा; अतएव आपके कथनानुसार लोकसंग्रहके लिये युद्धादि समस्त कर्म जैसे आप करवायेंगे, निमित्तमात्र बनकर लीलारूपसे मैं वैसे ही करूँगा ।

† संजयके कथनका यह भाव है कि साक्षात् नर-ऋषिके अवतार महात्मा अर्जुनके पूछनेपर सबके हृदयमें निवास करनेवाले सर्वव्यापी परमेश्वर श्रीकृष्णके द्वारा यह उपदेश दिया गया है, इस कारण यह बड़े ही महत्त्वका है तथा यह उपदेश बड़ा ही आश्चर्यजनक और असाधारण है; इससे मनुष्यको भगवान्‌के दिव्य अलौकिक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्ययुक्त समग्ररूपका पूर्ण ज्ञान हो जाता है तथा मनुष्य इसे जैसे-जैसे सुनता और समझता है, वैसे-ही-वैसे हर्ष और आश्चर्यके कारण उसका शरीर पुलकित हो जाता है, उसके समस्त शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है ।

‡ संजयके कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान् व्यासजीने दया करके जो मुझे दिव्य दृष्टि अर्थात् दूर देशमें होनेवाली समस्त घटनाओंको देखने, सुनने और समझने आदिकी अद्भुत शक्ति प्रदान की है,उसीके कारण आज मुझे भगवान्‌का यह दिव्य उपदेश सुननेके लिये मिला; नहीं तो मुझे ऐसा सुयोग कैसे मिलता !

§ भगवान्‌की प्राप्तिके उपायभूत कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और भक्तियोग आदि साधनोंका इसमें भलीभाँति वर्णन किया गया है तथा यह स्वयं भी अर्थात् श्रद्धापूर्वक इसका पाठ भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन होनेसे योगरूप ही है ।

× संजयके कथनका यह भाव है कि भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका दिव्य संवादरूप यह गीताशास्त्र अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, मनन और वर्णन आदि करनेवाले मनुष्यको परम पवित्र करके उसका सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला तथा भगवान्‌के आश्चर्यमय गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, तत्त्व, रहस्य और स्वरूपको बतानेवाला है; अतः यह अत्यन्त ही पवित्र, दिव्य एवं अलौकिक है । इस उपदेशने मेरे हृदयको इतना आकर्षित कर लिया है कि अब मुझे दूसरी कोई बात ही अच्छी नहीं लगती; मेरे मनमें बार-बार उस उपदेशकी स्मृति हो रही है और उन भावोंके आवेशमें मैं असीम हर्षका अनुभव कर रहा हूँ, प्रेम और हर्षके कारण विह्वल हो रहा हूँ ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः[1]।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

हे राजन् ! श्रीहरिके उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ* ॥ ७७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए गीताके उपदेशकी और भगवान्‌के अद्भुत रूपकी स्मृतिका महत्त्व प्रकट करके, अब संजय धृतराष्ट्रसे पाण्डवोंकी विजयकी निश्चित सम्भावना प्रकट करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

हे राजन् ! जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है† ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ भीष्मपर्वणि तु द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८॥ भीष्मपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४२ ॥

'श्रीमद्भगवद्गीता' 'आनन्दचिद्घन' षडैश्वर्यपूर्ण चराचरवन्दित परमपुरुषोत्तम, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है । यह अनन्त रहस्योंसे पूर्ण है । परम दयामय भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही किसी अंशमें इसका रहस्य समझमें आ सकता है । जो पुरुष परम श्रद्धा और प्रेममयी विशुद्ध भक्तिसे अपने हृदयको भरकर भगवद्गीताका मनन करते हैं, वे ही भगवत्-कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके गीताके स्वरूपका किसी अंशमें अनुभव कर सकते हैं । अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले नर-नारियोंको उचित है कि वे भक्तवर अर्जुनको आदर्श मानकर अपनेमें अर्जुनके-से दैवी गुणोंका अर्जन करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गीताका श्रवण-मनन और अध्ययन करें एवं भगवान्‌के आज्ञानुसार यथायोग्य तत्परताके साथ साधनमें लग जायँ । जो पुरुष इस प्रकार करते हैं, उनके अन्तःकरणमें नित्य नये-नये परमानन्ददायक अनुपम और दिव्य भावोंकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं तथा वे सर्वथा शुद्धान्तःकरण होकर भगवान्‌की अलौकिक कृपा-सुधाका रसास्वादन करते हुए शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं ।

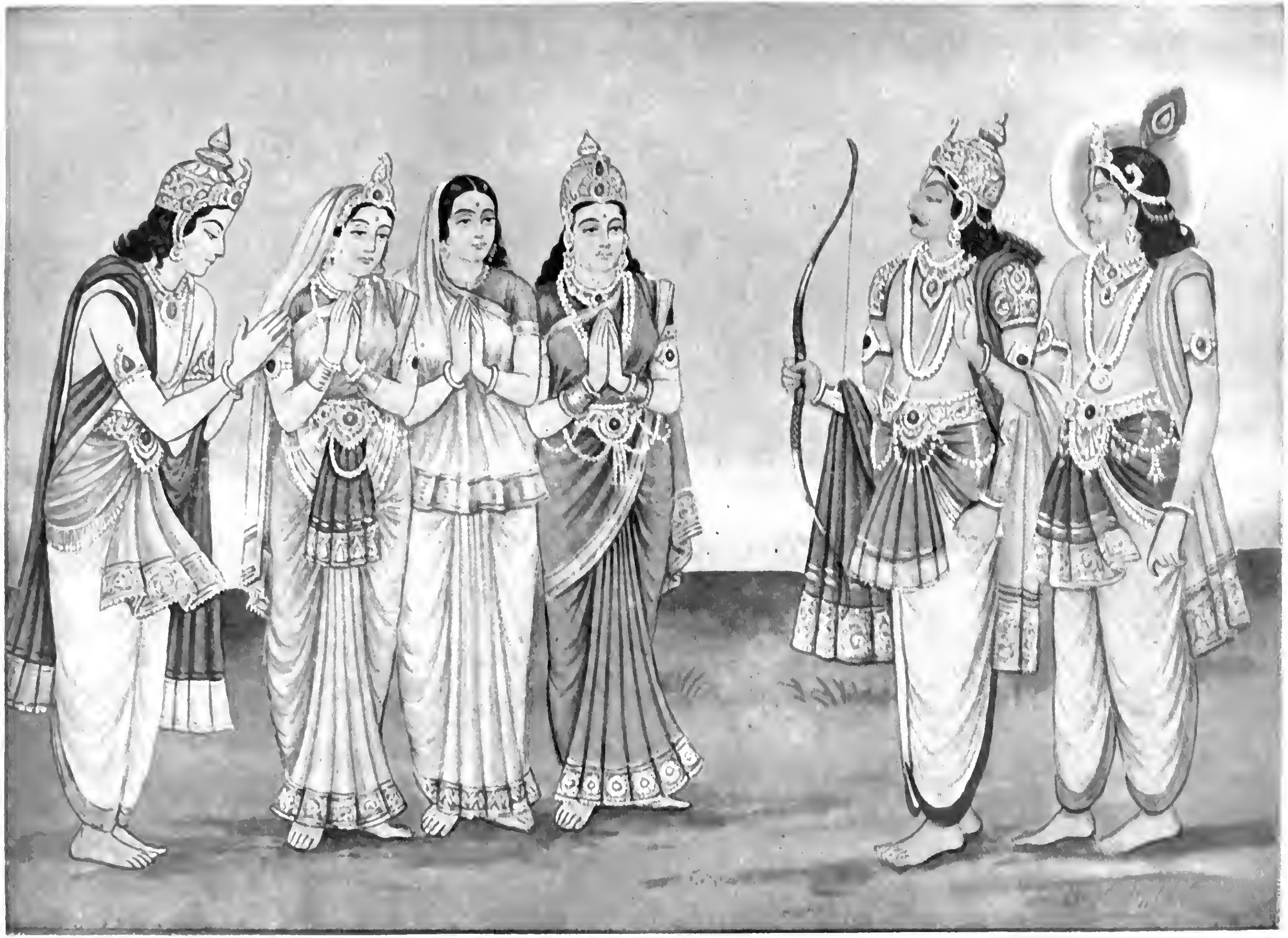
---

१. भगवान् श्रीकृष्णके गुण, प्रभाव, लीला, ऐश्वर्य, महिमा, नाम और स्वरूपका श्रवण, मनन, कीर्तन, दर्शन और स्पर्श आदिके द्वारा उनके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध हो जानेसे वे मनुष्यके समस्त पापोंको, अज्ञानको और दुःखको हरण कर लेते हैं तथा वे अपने भक्तोंके मनको चुरानेवाले हैं; इसलिये उन्हें 'हरि' कहते हैं ।

* जिस अत्यन्त आश्चर्यमय दिव्य विश्वरूपका भगवान्‌ने अर्जुनको दर्शन कराया था और जिसके दर्शनका महत्त्व भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें स्वयं बतलाया है, उसी विराट् स्वरूपको लक्ष्य करके संजय यह कह रहे हैं कि भगवान्‌का वह रूप मेरे चित्तसे उतरता ही नहीं, उसे मैं बार-बार स्मरण करता रहता हूँ और मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि भगवान्‌के अतिशय दुर्लभ उस दिव्य रूपका दर्शन मुझे कैसे हो गया ! मेरा तो ऐसा कुछ भी पुण्य नहीं था, जिससे मुझे ऐसे रूपके दर्शन हो सकते । अहो ! इसमें केवलमात्र भगवान्‌की अहैतुकी दया ही कारण है । साथ ही उस रूपके अत्यन्त अद्भुत दृश्योंको और घटनाओंको याद कर-करके भी मुझे बड़ा आश्चर्य होता है तथा उसे बार-बार याद करके मैं हर्ष और प्रेममें विह्वल भी हो रहा हूँ; मेरे आनन्दका पारावार नहीं है ।

† यहाँ संजयके कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त योगशक्तियोंके स्वामी हैं; वे अपनी योगशक्तिसे क्षणभरमें समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार कर सकते हैं; वे साक्षात् नारायण भगवान् श्रीकृष्ण जिस धर्मराज युधिष्ठिरके सहायक हैं, उसकी विजयमें क्या शङ्का है ।

इसके सिवा अर्जुन भी नर ऋषिके अवतार, भगवान्‌के प्रिय सखा और गाण्डीव-धनुषके धारण करनेवाले महान् वीर पुरुष हैं; वे भी अपने भाई युधिष्ठिरकी विजयके लिये कटिबद्ध हैं । अतः आज उस युधिष्ठिरकी बराबरी दूसरा कौन कर सकता है; क्योंकि जहाँ सूर्य रहता है, प्रकाश उसके साथ ही रहता है—उसी प्रकार जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन रहते हैं, वहीं सम्पूर्ण शोभा, सारा ऐश्वर्य और अटल न्याय (धर्म)—ये सब उनके साथ-साथ रहते हैं और जिस पक्षमें धर्म रहता है, उसीकी विजय होती है । अतः पाण्डवोंकी विजयमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं है । यदि अब भी तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अपने पुत्रोंको समझाकर पाण्डवोंसे संधि कर लो ।



भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके साथ विजय, विभूति, नीति और श्री



भीष्मपितामहपर भगवान श्रीकृष्णकी कृपा

(भीष्मवधपर्व)

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

गीताका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरका भीष्म, द्रोण, कृप और शल्यसे अनुमति लेकर युद्धके लिये तैयार होना

वैशम्पायन उवाच

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अन्य बहुत-से शास्त्रोंका संग्रह करनेकी क्या आवश्यकता है ? गीताका ही अच्छी तरहसे गान (श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है ॥ १ ॥

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥ २॥

गीता सर्वशास्त्रमयी है (गीतामें सब शास्त्रोंके सार-तत्त्वका समावेश है)। भगवान् श्रीहरि सर्वदेवमय हैं । गङ्गा सर्वतीर्थमयी हैं और मनु (उनका धर्मशास्त्र) सर्व-वेदमय हैं ॥ २ ॥

गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते॥ ३॥

गीता, गङ्गा, गायत्री और गोविन्द–इन 'ग' कारयुक्त चार नामोंको हृदयमें धारण कर लेनेपर मनुष्यका फिर इस संसारमें जन्म नहीं होता ॥ ३ ॥

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु संजयः॥ ४॥
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते।

इस गीतामें छः सौ बीस श्लोक भगवान् श्रीकृष्णने कहे हैं, सत्तावन श्लोक अर्जुनके कहे हुए हैं, सड़सठ श्लोक संजयने कहे हैं और एक श्लोक धृतराष्ट्रका कहा हुआ है । यह गीता-का मान बताया जाता है ॥ ४½ ॥

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्॥ ५॥

भारतरूपी अमृतराशिके सर्वस्व सारभूत गीताका मन्थन करके उसका सार निकालकर श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें (कानोंद्वारा मन-बुद्धिमें) डाल दिया है ॥ ५ ॥*

संजय उवाच

ततो धनंजयं दृष्ट्वा बाणगाण्डीवधारिणम्।
पुनरेव महानादं व्यसृजन्त महारथाः॥ ६॥
पाण्डवाः सोमकाश्चैव ये चैषामनुयायिनः।
दध्मुश्च मुदिताः शङ्खान् वीराः सागरसम्भवान्॥ ७॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अर्जुनको गाण्डीव धनुष और बाण धारण किये देख पाण्डव महारथियों, सोमकों तथा उनके अनुगामी सैनिकोंने पुनः बड़े जोरसे सिंहनाद किया । साथ ही उन सभी वीरोंने प्रसन्नतापूर्वक समुद्रसे प्रकट होनेवाले शङ्खोंको बजाया ॥ ६-७ ॥

ततो भेर्यश्च पेश्यश्च क्रकचा गोविषाणिकाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त ततः शब्दो महानभूत्॥ ८॥

तदनन्तर भेरी, पेशी, क्रकच और नरसिंहे आदि बाजे सहसा बज उठे । इससे वहाँ महान् शब्द गूँजने लगा ॥ ८ ॥

तथा देवाः सगन्धर्वाः पितरश्च जनाधिप।
सिद्धचारणसंघाश्च समीयुस्ते दिदृक्षया॥ ९॥
ऋषयश्च महाभागाः पुरस्कृत्य शतक्रतुम्।
समीयुस्तत्र सहिता द्रष्टुं तद् वैशसं महत्॥ १०॥

नरेश्वर ! उस समय देवता, गन्धर्व, पितर, सिद्ध, चारण तथा महाभाग महर्षिगण देवराज इन्द्रको आगे करके उस भीषण मार-काटको देखनेके लिये एक साथ वहाँ आये ॥ ९-१० ॥

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा युद्धाय समवस्थिते।
ते सेने सागरप्रख्ये मुहुः प्रचलिते नृप॥ ११॥
विमुच्य कवचं वीरो निक्षिप्य च वरायुधम्।
अवरुह्य रथात् क्षिप्रं पद्भ्यामेव कृताञ्जलिः॥ १२॥
पितामहमभिप्रेक्ष्य धर्मराजो युधिष्ठिरः।
वाग्यतः प्रययौ येन प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम्॥ १३॥

राजन् ! तदनन्तर वीर राजा युधिष्ठिरने समुद्रके समान उन दोनों सेनाओंको युद्धके लिये उपस्थित और चञ्चल हुई देख कवच खोलकर अपने उत्तम आयुधोंको नीचे डाल दिया और रथसे शीघ्र उतरकर वे पैदल ही हाथ जोड़े पितामह भीष्मको लक्ष्य करके चल दिये । धर्मराज युधिष्ठिर मौन एवं पूर्वाभिमुख हो शत्रुसेनाकी ओर चले गये ॥ ११–१३ ॥

तं प्रयान्तमभिप्रेक्ष्य कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अवतीर्य रथात् तूर्णं भ्रातृभिः सहितोऽन्वयात्॥ १४॥
वासुदेवश्च भगवान् पृष्ठतोऽनुजगाम तम्।
तथा मुख्याश्च राजानस्तच्चित्ता जग्मुरुत्सुकाः॥ १५॥

कुन्तीपुत्र धनंजय उन्हें शत्रु-सेनाकी ओर जाते देख

* उपर्युक्त पाँच श्लोक कितनी ही प्रतियोंमें नहीं हैं और कितनी ही प्रतियोंमें हैं ।

तुरंत रथसे उतर पड़े और भाइयोंसहित उनके पीछे-पीछे जाने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण भी उनके पीछे गये तथा उन्हींमें चित्त लगाये रहनेवाले प्रधान-प्रधान राजा भी उत्सुक होकर उनके साथ गये ॥ १४-१५ ॥

अर्जुन उवाच

किं ते व्यवसितं राजन् यदस्मानपहाय वै।
पद्भ्यामेव प्रयातोऽसि प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम् ॥ १६॥

अर्जुनने पूछा—राजन्! आपने क्या निश्चय किया है कि हमलोगोंको छोड़कर आप पूर्वाभिमुख हो पैदल ही शत्रुसेनाकी ओर चल दिये हैं? ॥ १६ ॥

भीमसेन उवाच

क्व गमिष्यसि राजेन्द्र निक्षिप्तकवचायुधः।
दंशितेष्वरिसैन्येषु भ्रातॄनुत्सृज्य पार्थिव ॥ १७ ॥

भीमसेनने भी पूछा—महाराज! पृथ्वीनाथ! कवच और आयुध नीचे डालकर भाइयोंको भी छोड़कर कवच आदिसे सुसज्जित हुई शत्रु-सेनामें कहाँ जायँगे? ॥ १७ ॥

नकुल उवाच

एवं गते त्वयि ज्येष्ठे मम भ्रातरि भारत।
भीर्मे दुनोति हृदयं ब्रूहि गन्ता भवान् क्व नु ॥ १८ ॥

नकुलने पूछा—भारत! आप मेरे बड़े भाई हैं। आपके इस प्रकार शत्रुसेनाकी ओर चल देनेपर भारी भय मेरे हृदयको पीड़ित कर रहा है। बताइये, आप कहाँ जायँगे? ॥ १८ ॥

सहदेव उवाच

अस्मिन् रणसमूहे वै वर्तमाने महाभये।
उत्सृज्य क्व नु गन्तासि शत्रूनभिमुखो नृप ॥ १९ ॥

सहदेवने पूछा—नरेश्वर! इस रणक्षेत्रमें जहाँ शत्रु-सेनाका समूह जुटा हुआ है और महान् भय उपस्थित है, आप हमें छोड़कर शत्रुओंकी ओर कहाँ जायँगे? ॥ १९ ॥

संजय उवाच

एवमाभाष्यमाणोऽपि भ्रातृभिः कुरुनन्दनः।
नोवाच वाग्यतः किंचिद् गच्छत्येव युधिष्ठिरः ॥२०॥

संजय कहते हैं—राजन्! भाइयोंके इस प्रकार कहनेपर भी कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले राजा युधिष्ठिर उनसे कुछ नहीं बोले। चुपचाप चलते ही गये ॥ २० ॥

तानुवाच महाप्राज्ञो वासुदेवो महामनाः।
अभिप्रायोऽस्य विज्ञातो मयेति प्रहसन्निव ॥ २१ ॥

तब परम बुद्धिमान् महामना भगवान् वासुदेवने उन चारों भाइयोंसे हँसते हुए-से कहा—'इनका अभिप्राय मुझे ज्ञात हो गया है ॥ २१ ॥

एष भीष्मं तथा द्रोणं गौतमं शल्यमेव च।
अनुमान्य गुरून् सर्वान् योत्स्यते पार्थिवोऽरिभिः ॥२२॥

'ये राजा युधिष्ठिर भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और शल्य—इन समस्त गुरुजनोंसे आज्ञा लेकर शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ २२ ॥

श्रूयते हि पुराकल्पे गुरूननुमान्य यः।
युध्यते स भवेद् व्यक्तमपध्यातो महत्तरैः ॥ २३ ॥

'सुना जाता है कि प्राचीन कालमें जो गुरुजनोंकी अनुमति लिये बिना ही युद्ध करता था, वह निश्चय ही उन माननीय पुरुषोंकी दृष्टिमें गिर जाता था ॥ २३ ॥

अनुमान्य यथाशास्त्रं यस्तु युध्येन्महत्तरैः।
ध्रुवस्तस्य जयो युद्धे भवेदिति मतिर्मम ॥ २४ ॥

'जो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार माननीय पुरुषोंसे आज्ञा लेकर युद्ध करता है, उसकी उस युद्धमें अवश्य विजय होती है, ऐसा मेरा विश्वास है' ॥ २४ ॥

एवं ब्रुवति कृष्णेऽत्र धार्तराष्ट्रचमूं प्रति।
(नेत्रैरनिमिषैः सर्वैः प्रेक्षन्ते स्म युधिष्ठिरम् ॥)
हाहाकारो महानासीन्निःशब्दास्त्वपरेऽभवन् ॥ २५ ॥

जब भगवान् श्रीकृष्ण ये बातें कह रहे थे, उस समय दुर्योधनकी सेनाकी ओर आते हुए युधिष्ठिरको सब लोग अपलक नेत्रोंसे देख रहे थे। कहीं महान् हाहाकार हो रहा था और कहीं दूसरे लोग मुँहसे एक शब्द भी न बोलकर चुप हो गये थे ॥ २५ ॥

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं दूराद् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकाः।
मिथः संकथयाञ्चक्रुर्नेषो हि कुलपांसनः ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरको दूरसे ही देखकर दुर्योधनके सैनिक आपसमें इस प्रकार बातचीत करने लगे—'यह युधिष्ठिर तो अपने कुलका जीता-जागता कलङ्क ही है ॥ २६ ॥

व्यक्तं भीत इवाभ्येति राजासौ भीष्ममन्तिकम्।
युधिष्ठिरः ससोदर्यः शरणार्थं प्रयाचकः ॥ २७ ॥

'देखो, स्पष्ट ही दिखायी दे रहा है कि वह राजा युधिष्ठिर भयभीतकी भाँति भाइयोंसहित भीष्मजीके निकट शरण माँगनेके लिये आ रहा है ॥ २७ ॥

धनंजये कथं नाथे पाण्डवे च वृकोदरे।
नकुले सहदेवे च भीतिरभ्येति पाण्डवम् ॥ २८ ॥

'पाण्डुनन्दन धनंजय, वृकोदर भीम तथा नकुल-सहदेव-जैसे सहायकोंके रहते हुए युधिष्ठिरके मनमें भय कैसे हो गया! ॥ २८ ॥



श्रीकृष्ण एवं भाइयोंसहित युधिष्ठिरका भीष्मको प्रणाम करके उनसे युद्धके लिये आज्ञा माँगना

न नूनं क्षत्रियकुले जातः सम्प्रथिते भुवि ।
यथास्य हृदयं भीतमल्पसत्त्वस्य संयुगे ॥ २९ ॥

'निश्चय ही यह भूमण्डलमें विख्यात क्षत्रियोंके कुलमें उत्पन्न नहीं हुआ है। इसका मानसिक बल अत्यन्त अल्प है; इसीलिये युद्धके अवसरपर इसका हृदय इतना भयभीत है' ॥ २९ ॥

ततस्ते सैनिकाः सर्वे प्रशंसन्ति स्म कौरवान् ।
हृष्टाः सुमनसो भूत्वा चैलानि दुधुवुश्च ह ॥ ३० ॥

तदनन्तर वे सब सैनिक कौरवोंकी प्रशंसा करने लगे और प्रसन्नचित्त हो हर्षमें भरकर अपने कपड़े हिलाने लगे ॥

व्यनिन्दंश्च तथा सर्वे योधास्तव विशाम्पते ।
युधिष्ठिरं ससोदर्यं सहितं केशवेन हि ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! आपके वे सब योद्धा भाइयों तथा श्रीकृष्ण-सहित युधिष्ठिरकी विशेषरूपसे निन्दा करते थे ॥ ३१ ॥

ततस्तत् कौरवं सैन्यं धिक्कृत्वा तु युधिष्ठिरम् ।
निःशब्दमभवत् तूर्णं पुनरेव विशाम्पते ॥ ३२ ॥

राजन् ! इस प्रकार युधिष्ठिरको धिक्कार देकर सारी कौरव-सेना पुनः शीघ्र ही चुप हो गयी ॥ ३२ ॥

किं नु वक्ष्यति राजासौ किं भीष्मः प्रतिवक्ष्यति ।
किं भीमः समरश्लाघी किं नु कृष्णार्जुनाविति ॥ ३३ ॥

सब लोग मन-ही-मन सोचने लगे कि वह राजा क्या कहेगा और भीष्मजी क्या उत्तर देंगे ? युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेन तथा श्रीकृष्ण और अर्जुन भी क्या कहेंगे ? ॥ ३३ ॥

विवक्षितं किमस्येति संशयः सुमहानभूत् ।
उभयोः सेनयो राजन् युधिष्ठिरकृते तदा ॥ ३४ ॥

राजन् ! दोनों ही सेनाओंमें युधिष्ठिरके विषयमें महान् संशय उत्पन्न हो गया था। सब सोचते थे कि राजा युधिष्ठिर क्या कहना चाहते हैं ॥ ३४ ॥

सोऽवगाह्य चमूं शत्रोः शरशक्तिसमाकुलाम् ।
भीष्ममेवाभ्ययात् तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ३५ ॥

बाण और शक्तियोंसे भरी हुई शत्रुकी सेनामें घुसकर भाइयोंसे घिरे हुए युधिष्ठिर तुरंत ही भीष्मजीके पास जा पहुँचे ॥ ३५ ॥

तमुवाच ततः पादौ कराभ्यां पीड्य पाण्डवः ।
भीष्मं शान्तनवं राजा युद्धाय समुपस्थितम् ॥ ३६ ॥

वहाँ जाकर उन पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने दोनों हाथोंसे पितामहके चरणोंको दबाया और युद्धके लिये उपस्थित हुए उन शान्तनुनन्दन भीष्मसे इस प्रकार कहा ॥ ३६ ॥



युधिष्ठिर उवाच

आमन्त्रये त्वां दुर्धर्ष त्वया योत्स्यामहे सह ।
अनुजानीहि मां तात आशिषश्च प्रयोजय ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर बोले—दुर्धर्ष वीर पितामह ! मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ, मुझे आपके साथ युद्ध करना है। तात ! इसके लिये आप मुझे आज्ञा और आशीर्वाद प्रदान करें ॥

भीष्म उवाच

यद्येवं नाभिगच्छेथा युधि मां पृथिवीपते ।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय भारत ॥ ३८ ॥

भीष्मजी बोले—पृथ्वीपते ! भरतकुलनन्दन ! महाराज ! यदि इस युद्धके समय तुम इस प्रकार मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हें पराजित होनेके लिये शाप दे देता ॥

प्रीतोऽहं पुत्र युध्यस्व जयमाप्नुहि पाण्डव ।
यत् तेऽभिलषितं चान्यत् तदवाप्नुहि संयुगे ॥ ३९ ॥

पाण्डुनन्दन ! पुत्र ! अब मैं प्रसन्न हूँ और तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम युद्ध करो और विजय पाओ। इसके सिवा और भी जो तुम्हारी अभिलाषा हो, वह इस युद्धभूमिमें प्राप्त करो ॥ ३९ ॥

व्रियतां च वरः पार्थ किमस्मत्तोऽभिकाङ्क्षसि ।
एवंगते महाराज न तवास्ति पराजयः ॥ ४० ॥

पार्थ ! वर माँगो। तुम मुझसे क्या चाहते हो ? महाराज ! ऐसी स्थितिमें तुम्हारी पराजय नहीं होगी ॥ ४० ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ४१ ॥

महाराज ! पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है । यह सच्ची बात है । मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ४१ ॥

अतस्त्वां क्लीववद् वाक्यं ब्रवीमि कुरुनन्दन ।
भृतोऽस्म्यर्थेन कौरव्य युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ४२ ॥

कुरुनन्दन ! इसीलिये आज मैं तुम्हारे सामने नपुंसकके समान वचन बोलता हूँ । कौरव ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंने धनके द्वारा मेरा भरण-पोषण किया है; इसलिये (तुम्हारे पक्षमें होकर) उनके साथ युद्ध करनेके अतिरिक्त तुम क्या चाहते हो, यह बताओ ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मन्त्रयस्व महाबाहो हितैषी मम नित्यशः ।
युध्यस्व कौरवस्यार्थे ममैष सततं वरः ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो ! आप सदा मेरा हित चाहते हुए मुझे अच्छी सलाह दें और दुर्योधनके लिये युद्ध करें । मैं सदाके लिये यही वर चाहता हूँ ॥ ४३ ॥

भीष्म उवाच

राजन् किमत्र साह्यं ते करोमि कुरुनन्दन ।
कामं योत्स्ये परस्यार्थे ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ॥ ४४ ॥

भीष्म बोले—राजन् ! कुरुनन्दन ! मैं यहाँ तुम्हारी क्या सहायता करूँ ? युद्ध तो मैं इच्छानुसार तुम्हारे शत्रुकी ओरसे ही करूँगा; अतः बताओ, तुम क्या कहना चाहते हो ?॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं जयेयं संग्रामे भवन्तमपराजितम् ।
एतन्मे मन्त्रय हितं यदि श्रेयः प्रपश्यसि ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! आप तो किसीसे पराजित होनेवाले हैं नहीं, फिर मैं आपको युद्धमें कैसे जीत सकूँगा ? यदि आप मेरा कल्याण देखते और सोचते हैं तो मेरे हितकी सलाह दीजिये ॥ ४५ ॥

भीष्म उवाच

नैनं पश्यामि कौन्तेय यो मां युध्यन्तमाहवे ।
विजयेत पुमान् कश्चित् साक्षादपि शतक्रतुः ॥ ४६ ॥

भीष्मने कहा—कुन्तीनन्दन ! मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो संग्रामभूमिमें युद्ध करते समय मुझे पराजित कर सके । युद्धकालमें कोई पुरुष, साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, मुझे परास्त नहीं कर सकता ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

हन्त पृच्छामि तस्मात् त्वां पितामह नमोऽस्तु ते ।
वधोपायं ब्रवीहि त्वमात्मनः समरे परैः ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! आपको नमस्कार है । इसलिये अब मैं आपसे पूछता हूँ, आप युद्धमें शत्रुओंद्वारा अपने मारे जानेका उपाय बताइये ॥ ४७ ॥

भीष्म उवाच

न स्म तं तात पश्यामि समरे यो जयेत माम् ।
न तावन्मृत्युकालोऽपि पुनरागमनं कुरु ॥ ४८ ॥

भीष्म बोले—बेटा ! जो समरभूमिमें मुझे जीत ले, ऐसे किसी वीरको मैं नहीं देखता हूँ । अभी मेरा मृत्युकाल भी नहीं आया है; अतः अपने इस प्रश्नका उत्तर लेनेके लिये फिर कभी आना ॥ ४८ ॥

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो वाक्यं भीष्मस्य कुरुनन्दन ।
शिरसा प्रतिजग्राह भूयस्तमभिवाद्य च ॥ ४९ ॥
प्रायात् पुनर्महाबाहुराचार्यस्य रथं प्रति ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां मध्येन भ्रातृभिः सह ॥ ५० ॥
स द्रोणमभिवाद्याथ कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
उवाच राजा दुर्धर्षमात्मनिःश्रेयसं वचः ॥ ५१ ॥

संजय बोले—कुरुनन्दन ! तदनन्तर महाबाहु युधिष्ठिरने भीष्मकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और पुनः उन्हें प्रणाम करके वे द्रोणाचार्यके रथकी ओर गये । सारी सेना देख रही थी और वे उसके बीचसे होकर भाइयोंसहित द्रोणाचार्यके पास जा पहुँचे । वहाँ राजाने उन्हें प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की और उन दुर्जय वीर-शिरोमणिसे अपने हितकी बात पूछी—॥ ४९—५१ ॥



आमन्त्रये त्वां भगवन् योत्स्ये विगतकल्मषः ।
कथं जये रिपून् सर्वाननुज्ञातस्त्वया द्विज ॥ ५२ ॥

'भगवन् ! मैं सलाह पूछता हूँ, किस प्रकार आपके

साथ निरपराध एवं पापरहित होकर युद्ध करूँगा ? विप्रवर ! आपकी आज्ञासे मैं समस्त शत्रुओंको किस प्रकार जीतूँ ?' ॥

द्रोण उवाच

यदि मां नाभिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय सर्वशः ॥ ५३ ॥

द्रोणाचार्य बोले—महाराज ! यदि युद्धका निश्चय कर लेनेपर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हारी सर्वथा पराजय होनेके लिये शाप दे देता ॥ ५३ ॥

तद् युधिष्ठिर तुष्टोऽस्मि पूजितश्च त्वयानघ।
अनुजानामि युध्यस्व विजयं समवाप्नुहि ॥ ५४ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुमने मेरा बड़ा आदर किया। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, शत्रुओंसे लड़ो और विजय प्राप्त करो ॥ ५४ ॥

करवाणि च ते कामं ब्रूहि त्वमभिकाङ्क्षितम्।
एवंगते महाराज युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ५५ ॥

महाराज ! मैं तुम्हारी कामना पूर्ण करूँगा। तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ क्या है ? वर्तमान परिस्थितिमें मैं तुम्हारी ओरसे युद्ध तो कर नहीं सकता; उसे छोड़कर तुम बताओ, क्या चाहते हो ? ॥ ५५ ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ५६ ॥

पुरुष अर्थका दास है। अर्थ किसीका दास नहीं है। महाराज ! यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ५६ ॥

ब्रवीम्येतत् क्लीबवत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि।
योत्स्येऽहं कौरवस्यार्थे तवाशास्यो जयो मया ॥ ५७ ॥

इसीलिये आज नपुंसककी तरह तुमसे पूछता हूँ कि तुम युद्धके सिवा और क्या चाहते हो ? मैं दुर्योधनके लिये युद्ध करूँगा; परंतु जीत तुम्हारी ही चाहूँगा ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

जयमाशास्व मे ब्रह्मन् मन्त्रयस्व च मद्धितम्।
युद्ध्यस्व कौरवस्यार्थे वर एष वृतो मया ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन् ! आप मेरी विजय चाहें और मेरे हितकी सलाह देते रहें; युद्ध दुर्योधनकी ओरसे ही करें। यही वर मैंने आपसे माँगा है ॥ ५८ ॥

द्रोण उवाच

ध्रुवस्ते विजयो राजन् यस्य मन्त्री हरिस्तव।
अहं त्वामभिजानामि रणे शत्रून् विमोक्ष्यसे ॥ ५९ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजन् ! तुम्हारी विजय तो निश्चित है; क्योंकि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे मन्त्री हैं। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्धमें शत्रुओंको उनके प्राणोंसे विमुक्त कर दोगे ॥ ५९ ॥

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।
युद्ध्यस्व गच्छ कौन्तेय पृच्छ मां किं ब्रवीमि ते ॥ ६० ॥

जहाँ धर्म है, वहाँ श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। कुन्तीकुमार ! जाओ, युद्ध करो। और भी पूछो, तुम्हें क्या बताऊँ ? ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर उवाच

पृच्छामि त्वां द्विजश्रेष्ठ शृणु यन्मेऽभिकाङ्क्षितम्।
कथं जयेयं संग्रामे भवन्तमपराजितम् ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर बोले—द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपसे पूछता हूँ। आप मेरे मनोवाञ्छित प्रश्नको सुनिये। आप किसीसे भी परास्त होनेवाले नहीं हैं; फिर आपको मैं युद्धमें कैसे जीत सकूँगा ? ॥ ६१ ॥

द्रोण उवाच

न तेऽस्ति विजयस्तावद् यावद् युद्ध्याम्यहं रणे।
ममाशु निधने राजन् यतस्व सह सोदरैः ॥ ६२ ॥

द्रोणाचार्य बोले—राजन् ! मैं जबतक समरभूमिमें युद्ध करूँगा, तबतक तुम्हारी विजय नहीं हो सकती। तुम अपने भाइयोंसहित ऐसा प्रयत्न करो, जिससे शीघ्र मेरी मृत्यु हो जाय ॥ ६२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

हन्त तस्मान्महाबाहो वधोपायं वदात्मनः।
आचार्य प्रणिपत्यैष पृच्छामि त्वां नमोऽस्तु ते ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु आचार्य ! इसलिये अब आप अपने वधका उपाय मुझे बताइये। आपको नमस्कार है। मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करके यह प्रश्न कर रहा हूँ ॥ ६३ ॥

द्रोण उवाच

न शत्रुं तात पश्यामि यो मां हन्याद् रथे स्थितम्।
युध्यमानं सुसंरब्धं शरवर्षौघवर्षिणम् ॥ ६४ ॥

द्रोणाचार्य बोले—तात ! जब मैं रथपर बैठकर कुपित हो बाणोंकी वर्षा करते हुए युद्धमें संलग्न रहूँ, उस समय जो मुझे मार सके, ऐसे किसी शत्रुको नहीं देख रहा हूँ ॥ ६४ ॥

ऋते प्रायगतं राजन् न्यस्तशस्त्रमचेतनम्।
हन्यान्मां युधि योधानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६५ ॥

राजन् ! जब मैं हथियार डालकर अचेत-सा होकर आमरण अनशनके लिये बैठ जाऊँ, उस अवस्थाको छोड़कर और किसी समय कोई मुझे नहीं मार सकता। उसी अवस्थामें कोई श्रेष्ठ योद्धा युद्धमें मुझे मार सकता है; यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ ६५ ॥

शस्त्रं चाहं रणे जह्यां श्रुत्वा तु महदप्रियम्।
श्रद्धेयवाक्यात् पुरुषादेतत् सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ६६ ॥

यदि मैं किसी विश्वसनीय पुरुषसे युद्धभूमिमें कोई अत्यन्त अप्रिय समाचार सुन लूँ तो हथियार नीचे डाल दूँगा। यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ ६६ ॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाराज भारद्वाजस्य धीमतः।
अनुमान्य तमाचार्यं प्रायाच्छारद्वतं प्रति ॥ ६७ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! परम बुद्धिमान् द्रोणाचार्यकी यह बात सुनकर उनका सम्मान करके राजा युधिष्ठिर कृपाचार्यके पास गये ॥ ६७ ॥

सोऽभिवाद्य कृपं राजा कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
उवाच दुर्धर्षतमं वाक्यं वाक्यविदां वरः ॥ ६८ ॥

उन्हें नमस्कार करके उनकी परिक्रमा करनेके पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने दुर्द्धर्ष वीर कृपाचार्यसे कहा—॥ ६८ ॥



अनुमानये त्वां योत्स्येऽहं गुरो विगतकल्मषः।
जयेयं च रिपून् सर्वाननुज्ञातस्त्वयानघ ॥ ६९ ॥

'निष्पाप गुरुदेव! मैं पापरहित रहकर आपके साथ युद्ध कर सकूँ, इसके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ। आपका आदेश पाकर मैं समस्त शत्रुओंको संग्राममें जीत सकता हूँ' ॥ ६९ ॥

कृप उवाच

यदि मां नाभिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय सर्वशः ॥ ७० ॥

कृपाचार्य बोले—महाराज! यदि युद्धका निश्चय कर लेनेपर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हारी सर्वथा पराजय होनेके लिये तुम्हें शाप दे देता ॥ ७० ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ७१ ॥

पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। महाराज! यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ७१ ॥

तेषामर्थे महाराज योद्धव्यमिति मे मतिः।
अतस्त्वां क्लीबवद् ब्रूयां युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ७२ ॥

महाराज! मैं निश्चय कर चुका हूँ कि मुझे उन्हींके लिये युद्ध करना है; अतः तुमसे नपुंसककी तरह पूछ रहा हूँ कि तुम युद्धसम्बन्धी सहयोगको छोड़कर मुझसे और क्या चाहते हो? ॥ ७२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

हन्त पृच्छामि ते तस्मादाचार्य शृणु मे वचः।
इत्युक्त्वा व्यथितो राजा नोवाच गतचेतनः ॥ ७३ ॥

युधिष्ठिर बोले—आचार्य! इसलिये अब मैं आपसे पूछता हूँ। आप मेरी बात सुनिये। इतना कहकर राजा युधिष्ठिर व्यथित और अचेत-से होकर उनसे कुछ भी बोल न सके ॥ ७३ ॥

संजय उवाच

तं गौतमः प्रत्युवाच विज्ञायास्य विवक्षितम्।
अवध्योऽहं महीपाल युद्ध्यस्व जयमाप्नुहि ॥ ७४ ॥

संजय कहते हैं—पृथ्वीपते! कृपाचार्य यह समझ गये कि युधिष्ठिर क्या कहना चाहते हैं; अतः उन्होंने उनसे इस प्रकार कहा—'राजन्! मैं अवध्य हूँ। जाओ, युद्ध करो और विजय प्राप्त करो ॥ ७४ ॥

प्रीतस्तेऽभिगमेनाहं जयं तव नराधिप।
आशासिष्ये सदोत्थाय सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ७५ ॥

'नरेश्वर! तुम्हारे इस आगमनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है; अतः सदा उठकर मैं तुम्हारी विजयके लिये शुभकामना करूँगा। यह तुमसे सच्ची बात कहता हूँ' ॥ ७५ ॥

एतच्छ्रुत्वा महाराज गौतमस्य विशाम्पते।
अनुमान्य कृपं राजा प्रययौ येन मद्रराट् ॥ ७६ ॥

महाराज! प्रजानाथ! कृपाचार्यकी यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर उनकी अनुमति ले जहाँ मद्रराज शल्य थे, उस ओर चले गये ॥ ७६ ॥

स शल्यमभिवाद्याथ कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
उवाच राजा दुर्धर्षमात्मनिःश्रेयसं वचः ॥ ७७ ॥

दुर्जय वीर शल्यको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा करनेके पश्चात् राजा युधिष्ठिरने उनसे अपने हितकी बात कही—॥



अनुमानये त्वां दुर्धर्ष योत्स्ये विगतकल्मषः।
जयेयं नु परान् राजन्ननुज्ञातस्त्वया रिपून् ॥ ७८ ॥

'दुर्धर्ष वीर ! मैं पापरहित एवं निरपराध रहकर आपके साथ युद्ध करूँगा; इसके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ । राजन् ! आपकी आज्ञा पाकर मैं समस्त शत्रुओं-को युद्धमें परास्त कर सकता हूँ' ॥ ७८ ॥

शल्य उवाच

यदि मां नाधिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः ।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय वै रणे ॥ ७९ ॥

शल्य बोले—महाराज ! यदि युद्धका निश्चय कर लेने-पर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं युद्धमें तुम्हारी पराजयके लिये तुम्हें शाप दे देता ॥ ७९ ॥

तुष्टोऽस्मि पूजितश्चास्मि यत् काङ्क्षसि तदस्तु ते।
अनुजानामि चैव त्वां युध्यस्व जयमाप्नुहि ॥ ८० ॥

अब मैं बहुत संतुष्ट हूँ । तुमने मेरा बड़ा सम्मान किया। तुम जो चाहते हो, वह पूर्ण हो । मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्ध करो और विजय प्राप्त करो ॥ ८० ॥

ब्रूहि चैव परं वीर केनार्थः किं ददामि ते ।
एवंगते महाराज युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ८१ ॥

वीर ! तुम कुछ और बताओ, किस प्रकार तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा ? मैं तुम्हें क्या दूँ ? महाराज ! इस परिस्थितिमें युद्ध-विषयक सहयोगको छोड़कर तुम मुझसे और क्या चाहते हो ? ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ८२ ॥

पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है । महाराज ! यह सच्ची बात है । कौरवोंके द्वारा मैं अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ८२ ॥

करिष्यामि हि ते कामं भागिनेय यथेप्सितम् ।
ब्रवीम्यतः क्लीबवत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि॥ ८३॥

इसलिये मैं तुमसे नपुंसककी भाँति कह रहा हूँ । बताओ, तुम युद्धविषयक सहयोगके सिवा और क्या चाहते हो ? मेरे भानजे ! मैं तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करूँगा ॥

युधिष्ठिर उवाच

मन्त्रयस्व महाराज नित्यं मद्धितमुत्तमम् ।
कामं युद्ध्य परस्यार्थे वरमेतं वृणोम्यहम् ॥ ८४ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाराज ! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि आप प्रतिदिन उत्तम हितकी सलाह मुझे देते रहें । अपने इच्छानुसार युद्ध दूसरेके लिये करें ॥ ८४ ॥

शल्य उवाच

किमत्र ब्रूहि साह्यं ते करोमि नृपसत्तम ।
कामं योत्स्ये परस्यार्थे बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ८५ ॥

शल्य बोले—नृपश्रेष्ठ ! बताओ, इस विषयमें मैं तुम्हारी क्या सहायता करूँ ? कौरवोंके द्वारा मैं अर्थसे बँधा हुआ हूँ; अतः अपने इच्छानुसार युद्ध तो मैं तुम्हारे विपक्षी-की ओरसे ही करूँगा ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स एव मे वरः शल्य उद्योगे यस्त्वया कृतः ।
सूतपुत्रस्य संग्रामे कार्यस्तेजोवधस्त्वया ॥ ८६ ॥
(त्वां हि योक्ष्यति सूतत्वे सूतपुत्रस्य मातुल ।
दुर्योधनो रणे शूरमिति मे नैष्ठिकी मतिः ॥)

युधिष्ठिर बोले—मामाजी ! जब युद्धके लिये उद्योग चल रहा था, उन दिनों आपने मुझे जो वर दिया था, वही वर आज भी मेरे लिये आवश्यक है । सूतपुत्रका अर्जुनके साथ युद्ध हो तो उस समय आपको उसका उत्साह नष्ट करना चाहिये । मामाजी ! मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उस युद्धमें दुर्योधन आप-जैसे शूरवीरको सूतपुत्रके सारथिका कार्य करनेके लिये अवश्य नियुक्त करेगा ॥ ८६ ॥

शल्य उवाच

सम्पत्स्यत्येष ते कामः कुन्तीपुत्र यथेप्सितम् ।
गच्छ युध्यस्व विश्रब्धः प्रतिजाने वचस्तव ॥ ८७ ॥

शल्य बोले—कुन्तीनन्दन ! तुम्हारा यह अभीष्ट मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा । जाओ, निश्चिन्त होकर युद्ध करो । मैं तुम्हारे वचनका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ॥

संजय उवाच

अनुमान्याथ कौन्तेयो मातुलं मद्रकेश्वरम् ।
निर्जगाम महासैन्याद् भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ८८ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार अपने मामा मद्रराज शल्यकी अनुमति लेकर भाइयोंसे घिरे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उस विशाल सेनासे बाहर निकल गये ॥ ८८ ॥

वासुदेवस्तु राधेयमाहवेऽभिजगाम वै ।
तत एनमुवाचेदं पाण्डवार्थे गदाग्रजः ॥ ८९ ॥

इसी समय भगवान् श्रीकृष्ण उस युद्धमें राधानन्दन कर्णके पास गये । वहाँ जाकर उन गदाग्रजने पाण्डवोंके हितके लिये उससे इस प्रकार कहा—॥ ८९ ॥

श्रुतं मे कर्ण भीष्मस्य द्वेषात् किल न योत्स्यसे ।
अस्मान् वरय राधेय यावद् भीष्मो न हन्यते ॥ ९० ॥

'कर्ण ! मैंने सुना है, तुम भीष्मसे द्वेष होनेके कारण युद्ध नहीं करोगे । राधानन्दन ! ऐसी दशामें जबतक भीष्म मारे नहीं जाते हैं, तबतक हमलोगोंका पक्ष ग्रहण कर लो ॥

हते तु भीष्मे राधेय पुनरेष्यसि संयुगम् ।
धार्तराष्ट्रस्य साहाय्यं यदि पश्यसि चेत् समम् ॥ ९१ ॥

'राधेय ! जब भीष्म मारे जायँ, उसके बाद तुम यदि ठीक समझो तो युद्धमें पुनः दुर्योधनकी सहायताके लिये चले आना' ॥ ९१ ॥

कर्ण उवाच

न विप्रियं करिष्यामि धार्तराष्ट्रस्य केशव ।
त्यक्तप्राणं हि मां विद्धि दुर्योधनहितैषिणम् ॥ ९२ ॥

कर्ण बोला—केशव ! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं दुर्योधनका हितैषी हूँ । उसके लिये अपने प्राणोंको निछावर किये बैठा हूँ; अतः मैं उसका अप्रिय कदापि नहीं करूँगा ॥ ९२ ॥

संजय उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं कृष्णः संन्यवर्तत भारत ।
युधिष्ठिरपुरोगैश्च पाण्डवैः सह संगतः ॥ ९३ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! कर्णकी यह बात सुनकर श्रीकृष्ण लौट आये और युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंसे जा मिले ॥

अथ सैन्यस्य मध्ये तु प्राक्रोशत् पाण्डवाग्रजः ।
योऽस्मान् वृणोति तमहं वरये साह्यकारणात् ॥ ९४ ॥

तदनन्तर ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरने सेनाके बीचमें खड़े होकर पुकारा—'जो कोई वीर सहायताके लिये हमारे पक्षमें आना स्वीकार करे, उसे मैं भी स्वीकार करूँगा' ॥ ९४ ॥

अथ तान् समभिप्रेक्ष्य युयुत्सुरिदमब्रवीत् ।
प्रीतात्मा धर्मराजानं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ९५ ॥

उस समय आपके पुत्र युयुत्सुने पाण्डवोंकी ओर देखकर प्रसन्नचित्त हो धर्मराज कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—॥ ९५ ॥

अहं योत्स्यामि भवतः संयुगे धृतराष्ट्रजान् ।
युष्मदर्थे महाराज यदि मां वृणुषेऽनघ ॥ ९६ ॥

'महाराज ! निष्पाप नरेश ! यदि आप मुझे स्वीकार करें तो मैं आपलोगोंके लिये युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे युद्ध करूँगा' ॥ ९६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एह्येहि सर्वे योत्स्यामस्तव भ्रातॄनपण्डितान् ।
युयुत्सो वासुदेवश्च वयं च ब्रूम सर्वशः ॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर बोले—युयुत्सो ! आओ, आओ । हम सब लोग मिलकर तुम्हारे इन मूर्ख भाइयोंसे युद्ध करेंगे । यह बात हम और भगवान् श्रीकृष्ण सभी कह रहे हैं ।९७।

वृणोमि त्वां महाबाहो युद्धयस्व मम कारणात् ।
त्वयि पिण्डश्च तन्तुश्च धृतराष्ट्रस्य दृश्यते ॥ ९८ ॥

महाबाहो ! मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ । तुम मेरे लिये युद्ध करो । राजा धृतराष्ट्रकी वंशपरम्परा तथा पिण्डोदक-क्रिया तुमपर ही अवलम्बित दिखायी देती है ॥ ९८ ॥

भजस्वास्मान् राजपुत्र भजमानान् महाद्युते ।
न भविष्यति दुर्बुद्धिर्धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ॥ ९९ ॥

महातेजस्वी राजकुमार ! हम तुम्हें अपनाते हैं । तुम भी हमें स्वीकार करो । अत्यन्त क्रोधी दुर्बुद्धि दुर्योधन अब इस संसारमें जीवित नहीं रहेगा ॥ ९९ ॥

संजय उवाच

ततो युयुत्सुः कौरव्यान् परित्यज्य सुतांस्तव ।
(स सत्यमिति मन्वानो युधिष्ठिरवचस्तदा ।)
जगाम पाण्डुपुत्राणां सेनां विश्राव्य दुन्दुभिम् ॥ १०० ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर युयुत्सु युधिष्ठिरकी बातको सच मानकर आपके सभी पुत्रोंको त्यागकर डंका पीटता हुआ पाण्डवोंकी सेनामें चला गया ॥

(अवसद् धार्तराष्ट्रस्य कुत्सयन् कर्म दुष्कृतम् ।
सेनामध्ये हि तैः साकं युद्धाय कृतनिश्चयः ॥)

वह दुर्योधनके पापकर्मकी निन्दा करता हुआ युद्धका निश्चय करके पाण्डवोंके साथ उन्हींकी सेनामें रहने लगा ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा सम्प्रहृष्टः सहानुजः ।
जग्राह कवचं भूयो दीप्तिमत् कनकोज्ज्वलम् ॥ १०१ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने भाइयोंसहित अत्यन्त प्रसन्न हो सोनेका बना हुआ चमकीला कवच धारण किया ॥ १०१ ॥

प्रत्यपद्यन्त ते सर्वे स्वरथान् पुरुषर्षभाः ।
ततो व्यूहं यथापूर्वं प्रत्यव्यूहन्त ते पुनः ॥ १०२ ॥

फिर वे सभी श्रेष्ठ पुरुष अपने-अपने रथपर आरूढ़ हुए; इसके बाद उन्होंने पुनः शत्रुओंके मुकाबिलेमें पहलेकी भाँति ही अपनी सेनाकी व्यूह-रचना की ॥ १०२ ॥

अवादयन् दुन्दुभींश्च शतशश्चैव पुष्करान् ।
सिंहनादांश्च विविधान् विनेदुः पुरुषर्षभाः ॥ १०३ ॥

उन श्रेष्ठ पुरुषोंने सैकड़ों दुन्दुभियाँ और नगारे बजाये तथा अनेक प्रकारसे सिंह-गर्जनाएँ कीं ॥ १०३ ॥

रथस्थान् पुरुषव्याघ्रान् पाण्डवान् प्रेक्ष्य पार्थिवाः।
धृष्टद्युम्नादयः सर्वे पुनर्जहृषिरे तदा ॥१०४॥

पुरुषसिंह पाण्डवोंको पुनः रथपर बैठे देख धृष्टद्युम्न आदि राजा बड़े प्रसन्न हुए ॥ १०४ ॥

गौरवं पाण्डुपुत्राणां मान्यान् मानयतां च तान्।
दृष्ट्वा महीक्षितस्तत्र पूजयाञ्चक्रिरे भृशम् ॥१०५॥

माननीय पुरुषोंका सम्मान करनेवाले पाण्डवोंके उस गौरवको देखकर सब भूपाल उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे ॥ १०५ ॥

सौहृदं च कृपां चैव प्राप्तकालं महात्मनाम्।
दयां च ज्ञातिषु परां कथयाञ्चक्रिरे नृपाः ॥१०६॥

सब राजा महात्मा पाण्डवोंके सौहार्द, कृपाभाव, समयोचित कर्तव्यके पालन तथा कुटुम्बियोंके प्रति परम दयाभावकी चर्चा करने लगे ॥ १०६ ॥

साधु साध्विति सर्वत्र निश्चेरुः स्तुतिसंहिताः।
वाचः पुण्याः कीर्तिमतां मनोहृदयहर्षणाः ॥१०७॥

यशस्वी पाण्डवोंके लिये सब ओरसे उनकी स्तुति-प्रशंसासे भरी हुई 'साधु-साधु' की बातें निकलती थीं। उन्हें ऐसी पवित्र वाणी सुननेको मिलती थी, जो मन और हृदयके हर्षको बढ़ानेवाली थी ॥ १०७ ॥

म्लेच्छाश्चार्याश्च ये तत्र ददृशुः शुश्रुवुस्तथा।
वृत्तं तत् पाण्डुपुत्राणां रुरुदुस्ते सगद्गदाः ॥१०८॥

वहाँ जिन-जिन म्लेच्छों और आर्योंने पाण्डवोंका वह बर्ताव देखा तथा सुना, वे सब गद्गदकण्ठ होकर रोने लगे ॥ १०८ ॥

ततो जघ्नुर्महाभेरीः शतशश्च सहस्रशः।
शङ्खांश्च गोक्षीरनिभान् दध्मुर्हृष्टा मनस्विनः ॥१०९॥

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए सभी मनस्वी पुरुषोंने सैकड़ों और हजारों बड़ी-बड़ी भेरियों तथा गोदुग्धके समान श्वेत शङ्खोंको बजाया ॥ १०९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मादिसम्मानने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म आदिका समादरविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके तीन श्लोक मिलाकर कुल ११२ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवोंके प्रथम दिनके युद्धका आरम्भ

धृतराष्ट्र उवाच

एवं व्यूढेष्वनीकेषु मामकेष्वितरेषु च।
के पूर्वं प्राहरंस्तत्र कुरवः पाण्डवा नु किम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार जब मेरे पुत्रों और पाण्डवोंने अपनी-अपनी सेनाओंका व्यूह लगा लिया, तब वहाँ उनमेंसे पहले किन्होंने प्रहार किया, कौरवोंने या पाण्डवोंने ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

भ्रातृभिः सहितो राजन् पुत्रो दुर्योधनस्तव।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रययौ सह सेनया ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! भाइयोंसहित आपका पुत्र दुर्योधन भीष्मको आगे करके सेनासहित आगे बढ़ा ॥ २ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे भीमसेनपुरोगमाः।
भीष्मेण युद्धमिच्छन्तः प्रययुर्हृष्टमानसाः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी भीमसेनको आगे करके भीष्मसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर प्रसन्न मनसे आगे बढ़े ॥

क्ष्वेडाः किलकिलाशब्दाः क्रकचा गोविषाणिकाः।
भेरीमृदङ्गमुरजा हयकुञ्जरनिःस्वनाः ॥ ४ ॥

उभयोः सेनयोर्ह्यासंस्ततस्तेऽस्मान् समाद्रवन्।
वयं तान् प्रतिनर्दन्तस्तदासीत् तुमुलं महत् ॥ ५ ॥

फिर तो दोनों सेनाओंमें सिंहनाद, किलकारियोंके शब्द, क्रकच, नरसिंहे, भेरी, मृदङ्ग और ढोल आदि बाजोंकी ध्वनि तथा घोड़ों और हाथियोंके गर्जनेके शब्द गूँजने लगे। पाण्डव सैनिक हमलोगोंपर टूट पड़े और हमलोगोंने भी विकट गर्जना करते हुए उनपर धावा बोल दिया। इस प्रकार अत्यन्त घोर युद्ध होने लगा ॥ ४-५ ॥

महान्त्यनीकानि महासमुच्छ्रये
समागमे पाण्डवधार्तराष्ट्रयोः।
चकम्पिरे शङ्खमृदङ्गनिःस्वनैः
प्रकम्पितानीव वनानि वायुना ॥ ६ ॥

भीषण मारकाटसे युक्त उस महान् संग्राममें आपके पुत्रों तथा पाण्डवोंकी विशाल सेनाएँ प्रचण्ड वायुसे विकम्पित हुए वनोंकी भाँति शङ्ख और मृदङ्गके शब्दोंसे काँपने लगीं ॥

नरेन्द्रनागाश्वरथाकुलाना-
मभ्यागतानामशिवे मुहूर्ते।
बभूव घोषस्तुमुलश्चमूनां
वातोद्धुतानामिव सागराणाम् ॥ ७ ॥

राजाओं, हाथियों, घोड़ों तथा रथोंसे भरी हुई उभय पक्षकी सेनाएँ उस अमङ्गलमय मुहूर्तमें जब एक दूसरेके सम्मुख और समीप आयीं, उस समय वायुसे उद्वेलित समुद्रोंकी भाँति उनका भयंकर कोलाहल सब ओर गूँजने लगा ॥ ७ ॥

तस्मिन् समुत्थिते शब्दे तुमुले लोमहर्षणे ।
भीमसेनो महाबाहुः प्राणदद् गोवृषो यथा ॥ ८ ॥

उस रोमाञ्चकारी भयंकर शब्दके प्रकट होते ही महाबाहु भीमसेन साँड़की भाँति गर्जने लगे ॥ ८ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषं वारणानां च बृंहितम् ।
सिंहनादं च सैन्यानां भीमसेनरवोऽभ्यभूत् ॥ ९ ॥

भीमसेनकी वह गर्जना शङ्ख और दुन्दुभियोंके गम्भीर घोष, गजराजोंके चिग्घाड़नेकी आवाज तथा सैनिकोंके सिंहनादको भी दबाकर सब ओर सुनायी देने लगी ॥ ९ ॥

हयानां हेषमाणानामनीकेषु सहस्रशः ।
सर्वानभ्यभवच्छब्दान् भीमस्य नदतः स्वनः ॥ १० ॥

उन सेनाओंमें हजारों घोड़े जोर-जोरसे हिनहिना रहे थे; परंतु गर्जना करते हुए भीमसेनका शब्द उन सब शब्दोंको दबाकर ऊपर उठ गया था ॥ १० ॥

तं श्रुत्वा निनदं तस्य सैन्यास्तव वितत्रसुः ।
जीमूतस्येव नदतः शक्राशनिसमस्वनम् ॥ ११ ॥

वे मेघके समान गम्भीर स्वरमें गर्जन-तर्जन कर रहे थे। उनका शब्द इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान भयानक था। उस सिंहनादको सुनकर आपके समस्त सैनिक संत्रस्त हो उठे थे ॥ ११ ॥

वाहनानि च सर्वाणि शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः ।
शब्देन तस्य वीरस्य सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ १२ ॥

जैसे सिंहकी आवाज सुनकर दूसरे वन्य पशु भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार वीर भीमसेनकी गर्जनासे भयभीत हो कौरवसेनाके समस्त वाहन मल मूत्र करने लगे ॥ १२ ॥

दर्शयन् घोरमात्मानं महाभ्रमिव नादयन् ।
बिभीषयंस्तव सुतान् भीमसेनः समभ्ययात् ॥ १३ ॥

महान् मेघके समान अपने भयंकर रूपको प्रकट करते, गर्जते तथा आपके पुत्रोंको डराते हुए भीमसेन कौरव-सेनापर चढ़ आये ॥ १३ ॥

तमायान्तं महेष्वासं सोदर्याः पर्यवारयन् ।
छादयन्तः शरव्रातैर्मेघा इव दिवाकरम् ॥ १४ ॥

महान् धनुर्धर भीमसेनको आते देख दुर्योधनके भाइयों (तथा अन्य वीरों) ने जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार बाणसमूहोंसे उन्हें आच्छादित करते हुए सब ओरसे घेर लिया ॥ १४ ॥

दुर्योधनश्च पुत्रस्ते दुर्मुखो दुःशलः शलः ।
दुःशासनश्चातिरथस्तथा दुर्मर्षणो नृप ॥ १५ ॥
विविंशतिश्चित्रसेनो विकर्णश्च महारथः ।
पुरुमित्रो जयो भोजः सौमदत्तिश्च वीर्यवान् ॥ १६ ॥
महाचापानि धुन्वन्तो मेघा इव सविद्युतः ।
आददानाश्च नाराचान् निर्मुक्ताशीविषोपमान् ॥ १७ ॥
(अग्रतः पाण्डुसेनाया ह्यतिष्ठन् पृथिवीक्षितः ॥)

नरेश्वर ! आपके पुत्र दुर्योधन, दुर्मुख, दुःशल, शल, अतिरथी दुःशासन, दुर्मर्षण, विविंशति, चित्रसेन, महारथी विकर्ण, पुरुमित्र, जय, भोज तथा पराक्रमी भूरिश्रवा—ये सभी वीर अपने बड़े-बड़े धनुषोंको कँपाते और छूटनेपर विषधर सर्पके समान प्रतीत होनेवाले बाणोंको हाथमें लेते हुए बिजलियों-सहित मेघोंके समान जान पड़ते थे। ये सभी भूपाल पाण्डव-सेनाके सम्मुख (भीमसेनको घेरकर) खड़े हो गये ।१५—१७।

अथ ते द्रौपदीपुत्राः सौभद्रश्च महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ १८ ॥
धार्तराष्ट्रान् प्रतिययुरर्दयन्तः शितैः शरैः ।
वज्रैरिव महावेगैः शिखराणि धराभृताम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर द्रौपदीके पाँचों पुत्र, महारथी अभिमन्यु, नकुल, सहदेव तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न—ये सभी योद्धा वज्रके समान महान् वेगशाली तीक्ष्ण बाणोंद्वारा पर्वतशिखरोंकी भाँति धृतराष्ट्रपुत्रोंको पीड़ा देते हुए उनपर चढ़ आये १८-१९

तस्मिन् प्रथमसंग्रामे भीमज्यातलनिःस्वने ।
तावकानां परेषां च नासीत् कश्चित् पराङ्मुखः ॥२०॥

उस प्रथम संग्राममें जब भयानक धनुषोंकी टंकार तथा ताल ठोंकनेकी आवाज हो रही थी, आपके तथा पाण्डवोंके दलमें भी कोई युद्धसे विमुख नहीं हुआ ॥ २० ॥

लाघवं द्रोणशिष्याणामपश्यं भरतर्षभ ।
निमित्तवेधिनां चैव शरानुत्सृजतां भृशम् ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय मैंने द्रोणाचार्यके उन शिष्योंकी फुर्ती देखी। वे बड़ी तीव्र गतिसे बाण छोड़ते और लक्ष्यको बींध डालते थे ॥ २१ ॥

नोपशाम्यति निर्घोषो धनुषां कूजतां तथा ।
विनिश्चेरुः शरा दीप्ता ज्योतींषीव नभस्तलात् ॥ २२ ॥

वहाँ टंकार करते हुए धनुषोंके शब्द कभी शान्त नहीं होते थे। आकाशसे नक्षत्रोंके समान उन धनुषोंसे चमकीले बाण प्रकट हो रहे थे ॥ २२ ॥

सर्वे त्वन्ये महीपालाः प्रेक्षका इव भारत ।
ददृशुर्दर्शनीयं तं भीमं ज्ञातिसमागमम् ॥ २३ ॥

भरतनन्दन ! दूसरे सब राजालोग उस कुटुम्बीजनोंके भयंकर दर्शनीय संग्रामको दर्शककी भाँति देखने लगे ।२३।

ततस्ते जातसंरम्भाः परस्परकृतागसः।
अन्योन्यस्पर्धया राजन् व्यायच्छन्त महारथाः ॥२४॥

राजन्! बाल्यावस्थामें वे सभी एक दूसरेका अपराध कर चुके थे। सबका स्मरण हो आनेसे वे सभी महारथी रोषमें भर गये और एक दूसरेके प्रति स्पर्धा रखनेके कारण युद्धमें विजयी होनेके लिये विशेष परिश्रम करने लगे ॥२४॥

कुरुपाण्डवसेने ते हस्त्यश्वरथसंकुले।
शुशुभाते रणेऽतीव पटे चित्रार्पिते इव ॥ २५ ॥

हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई कौरव-पाण्डवोंकी वे सेनाएँ पटपर अङ्कित हुई चित्रमयी सेनाओंकी भाँति उस रण-भूमिमें विशेष शोभा पा रही थीं ॥ २५ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रगृहीतशरासनाः।
सहसैन्याः समापेतुः पुत्रस्य तव शासनात् ॥ २६ ॥

तदनन्तर आपके पुत्र दुर्योधनकी आज्ञासे अन्य सब राजा भी हाथमें धनुष-बाण लिये सेनाओंसहित वहाँ आ पहुँचे ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरेण चादिष्टाः पार्थिवास्ते सहस्रशः।
विनदन्तः समापेतुः पुत्रस्य तव वाहिनीम् ॥ २७ ॥

इसी प्रकार युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर सहस्रों नरेश गर्जना करते हुए आपके पुत्रकी सेनापर टूट पड़े ॥ २७ ॥

उभयोः सेनयोस्तीव्रः सैन्यानां स समागमः।
अन्तर्धीयत चादित्यः सैन्येन रजसाऽऽवृतः ॥ २८ ॥

उन दोनों सेनाओंका वह संघर्ष अत्यन्त दुःसह था। सेनाकी धूलसे आच्छादित हो सूर्यदेव अदृश्य हो गये ॥२८॥

प्रयुद्धानां प्रभग्नानां पुनरावर्तिनामपि।
नात्र स्वेषां परेषां वा विशेषः समदृश्यत ॥ २९ ॥

कुछ लोग युद्ध करते, कुछ भागते और कुछ भागकर फिर लौट आते थे। इस बातमें अपने और शत्रुपक्षके सैनिकोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ २९ ॥

तस्मिंस्तु तुमुले युद्धे वर्तमाने महाभये।
अतिसर्वाण्यनीकानि पिता तेऽभिव्यरोचत ॥ ३० ॥

जिस समय वह अत्यन्त भयानक तुमुल युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय आपके ताऊ भीष्मजी उन समस्त सेनाओंसे ऊपर उठकर अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि युद्धारम्भे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें युद्धका आरम्भविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३०½ श्लोक हैं)

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

उभय पक्षके सैनिकोंका द्वन्द्व-युद्ध

संजय उवाच

पूर्वाह्णे तस्य रौद्रस्य युद्धमह्नो विशाम्पते।
प्रावर्तत महाघोरं राज्ञां देहावकर्तनम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ! उस भयंकर दिनके प्रथम भागमें महाभयानक युद्ध होने लगा, जो राजाओंके शरीरका उच्छेद करनेवाला था ॥ १ ॥

कुरूणां सृञ्जयानां च जिगीषूणां परस्परम्।
सिंहानामिव संह्रादो दिवमुर्वीं च नादयन् ॥ २ ॥

कौरव और संजयवंशी वीर एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखकर सिंहोंके समान दहाड़ रहे थे। उनका वह सिंहनाद पृथ्वी और आकाशको प्रतिध्वनित कर रहा था ॥ २ ॥

आसीत् किलकिलाशब्दस्तलशङ्खरवैः सह।
जज्ञिरे सिंहनादाश्च शूराणां प्रतिगर्जताम् ॥ ३ ॥

तल और शङ्खोंकी ध्वनिके साथ सैनिकोंका किलकिल शब्द गूँज उठा। एक दूसरेके प्रति गर्जना करनेवाले शूरवीरोंके सिंहनाद होने लगे ॥ ३ ॥

तलत्राभिहताश्चैव ज्याशब्दा भरतर्षभ।
पत्तीनां पादशब्दश्च वाजिनां च महास्वनः ॥ ४ ॥
तोत्राङ्कुशनिपातश्च आयुधानां च निःस्वनः।
घण्टाशब्दश्च नागानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ ५ ॥
तस्मिन् समुदिते शब्दे तुमुले लोमहर्षणे।
बभूव रथनिर्घोषः पर्जन्यनिनदोपमः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ! तलत्राणके आघातसे टकरायी हुई प्रत्यञ्चाओंके शब्द, पैदल सिपाहियोंके पैरोंकी धमक, उच्चस्वरसे होनेवाली घोड़ोंकी हिनहिनाहट, हाथियोंके चाबुक और अङ्कुशके आघातका शब्द, हथियारोंकी झनझनाहट तथा एक दूसरेपर धावा करनेवाले गजराजोंके घण्टानाद—ये सब शब्द मिलकर ऐसी भयंकर आवाज प्रकट करने लगे, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। उसीमें रथोंके पहियोंकी घरघराहट होने लगी, जो मेघोंकी विकट गर्जनाके समान जान पड़ती थी ॥४–६॥

ते मनः क्रूरमाधाय समभित्यक्तजीविताः।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त सर्व एवोच्छ्रितध्वजाः ॥ ७ ॥

वे समस्त कौरव सैनिक अपने मनको कठोर बना

प्राणोंकी बाजी लगाकर ऊँची ध्वजाएँ फहराते हुए पाण्डवोंपर धावा करने लगे ॥ ७ ॥

अथ शान्तनवो राजन्नभ्यधावद् धनंजयम् ।
प्रगृह्य कार्मुकं घोरं कालदण्डोपमं रणे ॥ ८ ॥

राजन् ! तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म उस युद्धभूमिमें कालदण्डके समान भीषण धनुष लेकर अर्जुनकी ओर दौड़े ॥ ८ ॥

अर्जुनोऽपि धनुर्गृह्य गाण्डीवं लोकविश्रुतम् ।
अभ्यधावत तेजस्वी गाङ्गेयं रणमूर्धनि ॥ ९ ॥

उधरसे महातेजस्वी अर्जुन भी अपना लोकविख्यात गाण्डीव धनुष लेकर युद्धके मुहानेपर गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर दौड़े ॥ ९ ॥

तावुभौ कुरुशार्दूलौ परस्परवधैषिणौ ।
गाङ्गेयस्तु रणे पार्थं विद्ध्वा नाकम्पयत् बली ॥ १० ॥

वे दोनों कुरुकुलके सिंह थे और एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखते थे । बलवान् भीष्म युद्धमें अर्जुनको घायल करके भी उन्हें विचलित न कर सके ॥ १० ॥

तथैव पाण्डवो राजन् भीष्मं नाकम्पयद् युधि ।
सात्यकिस्तु महेष्वासः कृतवर्माणमभ्ययात् ॥ ११ ॥

राजन् ! उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुन भी भीष्मको युद्धमें हिला न सके । दूसरी ओर महाधनुर्धर सात्यकिने कृतवर्मापर धावा किया ॥ ११ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
सात्यकिः कृतवर्माणं कृतवर्मा च सात्यकिम् ॥ १२ ॥
आनर्च्छतुः शरैर्घोरैस्तक्षमाणौ परस्परम् ।

उन दोनोंमें बड़ा भयंकर रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ । सात्यकिने कृतवर्माको और कृतवर्माने सात्यकिको भयंकर बाणोंसे घायल करते हुए एक दूसरेको बड़ी पीड़ा पहुँचायी ॥

तौ शरार्चितसर्वाङ्गौ शुशुभाते महाबलौ ॥ १३ ॥
वसन्ते पुष्पशबलौ पुष्पिताविव किंशुकौ ।

वे दोनों महाबली वीर सर्वाङ्गमें बाणोंसे छिदे होनेके कारण वसन्त ऋतुमें खिले हुए दो पुष्पयुक्त पलाश वृक्षोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ १३½ ॥

अभिमन्युर्महेष्वासं बृहद्बलमयोधयत् ॥ १४ ॥
ततः कोसलराजासावभिमन्योर्विशाम्पते ।
ध्वजं चिच्छेद समरे सारथिं च न्यपातयत् ॥ १५ ॥

अभिमन्युने महान् धनुर्धर बृहद्बलके साथ युद्ध किया । प्रजानाथ ! कोसलनरेश बृहद्बलने उस युद्धमें अभिमन्युके ध्वजको काट दिया और सारथिको मार गिराया ॥१४-१५॥

सौभद्रस्तु ततः क्रुद्धः पातिते रथसारथौ ।
बृहद्बलं महाराज विव्याध नवभिः शरैः ॥ १६ ॥

महाराज ! अपने रथके सारथिके मारे जानेपर सुभद्राकुमार अभिमन्यु कुपित हो उठे और उन्होंने बृहद्बलको नौ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १६ ॥

अथापराभ्यां भल्लाभ्यां शिताभ्यामरिमर्दनः ।
ध्वजमेकेन चिच्छेद पार्ष्णिमेकेन सारथिम् ॥ १७ ॥
अन्योन्यं च शरैः क्रुद्धौ ततक्षाते परस्परम् ।

तत्पश्चात् शत्रुमर्दन अभिमन्युने अन्य दो तीखे बाणोंसे बृहद्बलके ध्वजको काट डाला फिर एक बाणसे उनके पृष्ठ-रक्षकको और दूसरेसे सारथिको मार डाला । फिर वे दोनों अत्यन्त कुपित हो तीखे सायकोंद्वारा एक दूसरेको बेधने लगे ॥

मानिनं समरे दृप्तं कृतवैरं महारथम् ॥ १८ ॥
भीमसेनस्तव सुतं दुर्योधनमयोधयत् ।

युद्धमें अभिमान प्रकट करनेवाले, घमंडी और पहलेके वैरी आपके महारथी पुत्र दुर्योधनसे भीमसेन युद्ध करने लगे॥

तावुभौ नरशार्दूलौ कुरुमुख्यौ महाबलौ ॥ १९ ॥
अन्योन्यं शरवर्षाभ्यां ववृषाते रणाजिरे ।

वे दोनों नरश्रेष्ठ महाबली वीर कुरुकुलके प्रधान व्यक्ति थे । उन्होंने समराङ्गणमें एक दूसरेपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १९½ ॥

तौ वीक्ष्य तु महात्मानौ कृतिनौ चित्रयोधिनौ ॥ २० ॥
विस्मयः सर्वभूतानां समपद्यत भारत ।

भारत ! वे दोनों महामनस्वी अस्त्रविद्याके विद्वान् तथा विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले थे । उन्हें देखकर समस्त प्राणियोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ २०½ ॥

दुःशासनस्तु नकुलं प्रत्युद्याय महाबलम् ॥ २१ ॥
अविध्यन्निशितैर्बाणैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः ।

दुःशासनने आगे बढ़कर मर्मस्थानोंको विदीर्ण करनेवाले अपने बहुसंख्यक तीखे बाणोंद्वारा महाबली नकुलको घायल कर दिया ॥ २१½ ॥

तस्य माद्रीसुतः केतुं सशरं च शरासनम् ॥ २२ ॥
चिच्छेद निशितैर्बाणैः प्रहसन्निव भारत ।
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ॥ २३ ॥

भारत ! तब माद्रीकुमार नकुलने भी हँसते हुए-से तीखे बाण मारकर दुःशासनके धनुष-बाण और ध्वजको काट गिराया और पचीस बाण मारकर उसे घायल कर दिया ॥२२-२३॥

पुत्रस्तु तव दुर्धर्षो नकुलस्य महाहवे ।
तुरङ्गांश्चिच्छिदे बाणैर्ध्वजं चैवाभ्यपातयत् ॥ २४ ॥

इसके बाद आपके दुर्धर्ष पुत्रने उस महायुद्धमें नकुलके घोड़ोंको अपने सायकोंद्वारा काट डाला और ध्वजको भी नीचे गिरा दिया ॥ २४ ॥

दुर्मुखः सहदेवं च प्रत्युद्याय महाबलम् ।
विव्याध शरवर्षेण यतमानं महाहवे ॥ २५ ॥

महाबली सहदेव उस महासमरमें अपनी विजयके लिये बड़ा प्रयत्न कर रहे थे। उन्हें आपके पुत्र दुर्मुखने धावा करके अपने बाणोंकी वर्षासे घायल कर दिया ॥ २५ ॥

सहदेवस्ततो वीरो दुर्मुखस्य महारणे।
शरेण भृशतीक्ष्णेन पातयामास सारथिम् ॥ २६ ॥

तब वीरवर सहदेवने उस महायुद्धमें अत्यन्त तीखे बाणसे दुर्मुखके सारथिको मार गिराया ॥ २६ ॥

तावन्योन्यं समासाद्य समरे युद्धदुर्मदौ।
त्रासयेतां शरैर्घोरैः कृतप्रतिकृतैषिणौ ॥ २७ ॥

वे दोनों युद्धदुर्मद वीर समराङ्गणमें एक दूसरेसे टक्कर लेकर पूर्वकृत अपराधोंका बदला लेनेकी इच्छा रखते हुए भयंकर बाणोंद्वारा एक दूसरेको भयभीत करने लगे ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरः स्वयं राजा मद्रराजानमभ्ययात्।
तस्य मद्राधिपश्चापं द्विधा चिच्छेद मारिष ॥ २८ ॥

स्वयं राजा युधिष्ठिरने मद्रराज शल्यपर आक्रमण किया। राजन्! मद्रराजने युधिष्ठिरके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अन्यत् कार्मुकमादाय वेगवद् बलवत्तरम् ॥ २९ ॥
ततो मद्रेश्वरं राजा शरैः संनतपर्वभिः।
छादयामास संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ३० ॥

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा वेगयुक्त एवं प्रबलतर धनुष ले लिया और झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंद्वारा मद्रराज शल्यको ढक दिया। फिर क्रोधमें भरकर कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो' ॥२९-३०॥

धृष्टद्युम्नस्ततो द्रोणमभ्यद्रवत भारत।
तस्य द्रोणः सुसंक्रुद्धः परासुकरणं दृढम् ॥ ३१ ॥
त्रिधा चिच्छेद समरे पाञ्चालस्य तु कार्मुकम्।

भरतनन्दन! एक ओरसे धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यपर आक्रमण किया। तब द्रोणने अत्यन्त क्रुद्ध होकर युद्धमें दूसरोंके मारनेके साधनभूत धृष्टद्युम्नके सुदृढ़ धनुषके तीन टुकड़े कर डाले ॥ ३१½ ॥

शरं चैव महाघोरं कालदण्डमिवापरम् ॥ ३२ ॥
प्रेषयामास समरे सोऽस्य काये न्यमज्जत।

तदनन्तर उस रणक्षेत्रमें उन्होंने द्वितीय कालदण्डके समान अत्यन्त भयंकर बाण चलाया। वह बाण धृष्टद्युम्नके शरीरमें धँस गया ॥ ३२½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सायकांश्च चतुर्दश ॥ ३३ ॥
द्रोणं द्रुपदपुत्रस्तु प्रतिविव्याध संयुगे।
तावन्योन्यं सुसंक्रुद्धौ चक्रतुः सुभृशं रणम् ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर चौदह सायक चलाये और उस युद्धभूमिमें द्रोणाचार्यको घायल कर दिया। फिर तो वे दोनों एक दूसरेपर अत्यन्त कुपित हो भीषण संग्राम करने लगे ॥ ३३-३४ ॥

सौमदत्तिं रणे शङ्खो रभसं रभसो युधि।
प्रत्युद्ययौ महाराज तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ३५ ॥

महाराज! वेगशाली शङ्खने उस युद्धमें वेगवान् वीर भूरिश्रवापर धावा किया और कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो'॥

तस्य वै दक्षिणं वीरो निर्बिभेद रणे भुजम्।
सौमदत्तिस्तथा शङ्खं जत्रुदेशे समाहनत् ॥ ३६ ॥

वीर शङ्खने रणभूमिमें भूरिश्रवाकी दाहिनी भुजा विदीर्ण कर डाली; फिर भूरिश्रवाने भी शङ्खके गलेकी हँसलीपर बाण मारा ॥ ३६ ॥

तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं विशाम्पते।
दृप्तयोः समरे पूर्वं वृत्रवासवयोरिव ॥ ३७ ॥

राजन्! उस समरभूमिमें इन्द्र और वृत्रासुरकी भाँति उन दोनों अभिमानी वीरोंमें बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥३७॥

बाह्लीकं तु रणे क्रुद्धं क्रुद्धरूपो विशाम्पते।
अभ्यद्रवदमेयात्मा धृष्टकेतुर्महारथः ॥ ३८ ॥

प्रजानाथ! रणक्षेत्रमें कुपित हुए बाह्लीकपर अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न महारथी धृष्टकेतुने क्रोधपूर्वक आक्रमण किया॥

बाह्लीकस्तु रणे राजन् धृष्टकेतुममर्षणः।
शरैर्बहुभिरानर्च्छत् सिंहनादमथानदत् ॥ ३९ ॥

राजन्! अमर्षशील बाह्लीकने समराङ्गणमें बहुतसे बाणोंद्वारा धृष्टकेतुको पीड़ा दी और सिंहके समान गर्जना की ॥

चेदिराजस्तु संक्रुद्धो बाह्लीकं नवभिः शरैः।
विव्याध समरे तूर्णं मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ४० ॥

तब चेदिराज धृष्टकेतुने अत्यन्त क्रुद्ध होकर जैसे मतवाला हाथी किसी मदोन्मत्त गजराजपर हमला करता है, उसी प्रकार तुरंत ही नौ बाण मारकर उस युद्धभूमिमें बाह्लीकको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ४० ॥

तौ तत्र समरे क्रुद्धौ नर्दन्तौ च पुनः पुनः।
समीयतुः सुसंक्रुद्धावङ्गारकबुधाविव ॥ ४१ ॥

उस रणभूमिमें वे दोनों वीर परस्पर कुपित हो रोषमें भरे हुए मंगल और बुधकी भाँति बारंबार गर्जते हुए युद्ध कर रहे थे ॥ ४१ ॥

राक्षसं रौद्रकर्माणं क्रूरकर्मा घटोत्कचः।
अलम्बुषं प्रत्युदियाद् बलं शक्र इवाहवे ॥ ४२ ॥

जैसे इन्द्रने युद्धमें बल नामक दैत्यपर चढ़ाई की थी, उसी प्रकार क्रूरकर्मा घटोत्कचने भयंकर कर्म करनेवाले अलम्बुष नामक राक्षसपर आक्रमण किया ॥ ४२ ॥

घटोत्कचस्ततः क्रुद्धो राक्षसं तं महाबलम्।
नवत्या सायकैस्तीक्ष्णैर्दारयामास भारत ॥ ४३ ॥

भरतनन्दन ! क्रोधमें भरे हुए घटोत्कचने नब्बे तीखे बाणोंद्वारा उस महाबली राक्षस अलम्बुषको विदीर्ण कर दिया॥

अलम्बुषस्तु समरे भैमसेनिं महाबलम्।
बहुधा दारयामास शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४४ ॥

तब अलम्बुषने भी महाबली भीमसेनपुत्र घटोत्कचको झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा समराङ्गणमें बहुत प्रकारसे घायल कर दिया ॥ ४४ ॥

व्यभ्राजेतां ततस्तौ तु संयुगे शरविक्षतौ।
यथा देवासुरे युद्धे बलशक्रौ महाबलौ ॥ ४५ ॥

जैसे देवासुर-संग्राममें महाबली बलासुर और इन्द्र घायल हो गये थे, उसी प्रकार इस युद्धमें एक दूसरेके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो अलम्बुष और घटोत्कच अद्भुत शोभा धारण कर रहे थे ॥ ४५ ॥

शिखण्डी समरे राजन् द्रौणिमभ्युद्ययौ बली।
अश्वत्थामा ततः क्रुद्धः शिखण्डिनमुपस्थितम् ॥ ४६ ॥
नाराचेन सुतीक्ष्णेन भृशं विद्ध्वा ह्यकम्पयत्।
शिखण्ड्यपि ततो राजन् द्रोणपुत्रमताडयत् ॥ ४७ ॥
सायकेन सुपीतेन तीक्ष्णेन निशितेन च।
तौ जघ्नतुस्तदान्योन्यं शरैर्बहुविधैर्मृधे ॥ ४८ ॥

राजन् ! बलवान् शिखण्डीने रणक्षेत्रमें द्रोणपुत्र अश्वत्थामा-पर धावा किया। तब अश्वत्थामाने कुपित हो एक तीखे नाराच-के द्वारा निकट आये हुए शिखण्डीको अत्यन्त घायल करके कम्पित कर दिया। महाराज ! तब शिखण्डीने भी पीले रंगके तेज धारवाले तीखे सायकसे द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको गहरी चोट पहुँचायी; तदनन्तर वे दोनों अनेक प्रकारके बाणोंद्वारा एक दूसरेपर प्रहार करने लगे ॥ ४६–४८ ॥

भगदत्तं रणे शूरं विराटो वाहिनीपतिः।
अभ्ययात् त्वरितो राजंस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ४९ ॥

राजन् ! संग्रामशूर भगदत्तपर सेनापति विराटने बड़ी उतावलीके साथ आक्रमण किया। फिर तो उन दोनोंमें युद्ध होने लगा ॥ ४९ ॥

विराटो भगदत्तं तु शरवर्षेण भारत।
अभ्यवर्षत् सुसंक्रुद्धो मेघो वृष्ट्या इवाचलम् ॥ ५० ॥

भारत ! विराटने अत्यन्त कुपित होकर भगदत्तपर अपने बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ पर्वतपर जलकी बूँदें बरसा रहा हो ॥ ५० ॥

भगदत्तस्ततस्तूर्णं विराटं पृथिवीपतिम्।
छादयामास समरे मेघः सूर्यमिवोदितम् ॥ ५१ ॥

तब जैसे बादल उगे हुए सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार भगदत्तने समरभूमिमें बाणोंकी वर्षाद्वारा पृथ्वीपति विराटको आच्छादित कर दिया ॥ ५१ ॥

बृहत्क्षत्रं तु कैकेयं कृपः शारद्वतो ययौ।
तं कृपः शरवर्षेण छादयामास भारत ॥ ५२ ॥
गौतमं कैकयः क्रुद्धः शरवृष्ट्याभ्यपूरयत्।

भरतनन्दन ! केकयराज बृहत्क्षत्रपर शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने आक्रमण किया और अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा उन्हें ढक दिया। तब केकयराजने भी क्रुद्ध होकर अपने सायकोंकी वर्षासे कृपाचार्यको आच्छादित कर दिया ॥ ५२½ ॥

तावन्योन्यं हयान् हत्वा धनुश्छित्त्वा च भारत ॥ ५३ ॥
विरथावसियुद्धाय समीयतुरमर्षणौ।
तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं सुदारुणम् ॥ ५४ ॥

भारत ! वे दोनों वीर एक दूसरेके घोड़ोंको मार धनुष-के टुकड़े करके रथहीन हो अमर्षमें भरकर खड्गद्वारा युद्ध करनेके लिये आमने-सामने खड़े हुए। फिर तो उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर एवं दारुण युद्ध होने लगा ॥ ५३-५४ ॥

द्रुपदस्तु ततो राजन् सैन्धवं वै जयद्रथम्।
अभ्युद्ययौ हृष्टरूपो हृष्टरूपं परंतपः ॥ ५५ ॥

राजन् ! दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले द्रुपदने बड़े हर्षके साथ सिन्धुराज जयद्रथपर धावा किया। जयद्रथ भी बहुत प्रसन्न था॥ ५५ ॥

ततः सैन्धवको राजा द्रुपदं विशिखैस्त्रिभिः।
ताडयामास समरे स च तं प्रत्यविध्यत ॥ ५६ ॥

तत्पश्चात् सिन्धुराज जयद्रथने समराङ्गणमें तीन बाणों-द्वारा द्रुपदको गहरी चोट पहुँचायी। द्रुपदने भी बदलेमें उसे बींध डाला ॥ ५६ ॥

तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं सुदारुणम्।
ईक्षणप्रीतिजननं शुक्राङ्गारकयोरिव ॥ ५७ ॥

उन दोनोंका वह घोर एवं अत्यन्त भयंकर युद्ध शुक्र और मंगलके संघर्षकी भाँति नेत्रोंके लिये हर्ष उत्पन्न करनेवाला था ॥ ५७ ॥

विकर्णस्तु सुतस्तुभ्यं सुतसोमं महाबलम्।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ५८ ॥

आपके पुत्र विकर्णने तेज चलनेवाले घोड़ोंद्वारा महाबली सुतसोमपर धावा किया। तत्पश्चात् उनमें भारी युद्ध होने लगा ॥ ५८ ॥

विकर्णः सुतसोमं तु विद्ध्वा नाकम्पयच्छरैः।
सुतसोमो विकर्णं च तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ५९ ॥

विकर्ण अपने बाणोंसे सुतसोमको घायल करके भी उन्हें कम्पित न कर सका। इसी प्रकार सुतसोम भी विकर्णको विचलित न कर सके। उन दोनोंका यह पराक्रम अद्भुत-सा प्रतीत हुआ ॥ ५९ ॥

सुशर्माणं नरव्याघ्रश्चेकितानो महारथः।
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धः पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ ६० ॥

नरश्रेष्ठ पराक्रमी महारथी चेकितानने पाण्डवोंके लिये अत्यन्त कुपित होकर सुशर्मापर धावा किया ॥ ६० ॥

सुशर्मा तु महाराज चेकितानं महारथम्।
महता शरवर्षेण वारयामास संयुगे ॥ ६१ ॥

महाराज ! सुशर्माने भारी बाण-वर्षाके द्वारा महारथी चेकितानको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ६१ ॥

चेकितानोऽपि संरब्धः सुशर्माणं महाहवे।
प्राच्छादयत् तमिषुभिर्महामेघ इवाचलम् ॥ ६२ ॥

तब चेकितानने भी रोषमें भरकर उस महायुद्धमें अपने बाणोंकी वर्षासे सुशर्माको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे महामेघ जलकी वर्षासे पर्वतको आच्छादित कर देता है ॥

शकुनिः प्रतिविन्ध्यं तु पराक्रान्तं पराक्रमी।
अभ्यद्रवत राजेन्द्र मत्तः सिंह इव द्विपम् ॥ ६३ ॥

राजेन्द्र ! पराक्रमी शकुनि पराक्रमसम्पन्न प्रतिविन्ध्यपर चढ़ आया, ठीक उसी तरह जैसे मतवाला सिंह किसी हाथीपर आक्रमण करता है ॥ ६३ ॥

यौधिष्ठिरस्तु संक्रुद्धः सौबलं निशितैः शरैः।
व्यदारयत संग्रामे मघवानिव दानवम् ॥ ६४ ॥

जिस प्रकार इन्द्र संग्रामभूमिमें किसी दानवको विदीर्ण करते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिरके पुत्र प्रतिविन्ध्यने अत्यन्त कुपित होकर सुबलपुत्र शकुनिको अपने तीखे बाणोंसे बेध डाला ॥ ६४ ॥

शकुनिः प्रतिविन्ध्यं तु प्रतिविध्यन्तमाहवे।
व्यदारयन्महाप्राज्ञः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ६५ ॥

युद्धमें अपनेको बेधनेवाले प्रतिविन्ध्यको भी परम बुद्धिमान् शकुनिने झुके हुए गाँठवाले बाणोंसे घायल कर दिया॥

सुदक्षिणं तु राजेन्द्र काम्बोजानां महारथम्।
श्रुतकर्मा पराक्रान्तमभ्यद्रवत संयुगे ॥ ६६ ॥

राजेन्द्र ! काम्बोजदेशके राजा पराक्रमी महारथी सुदक्षिणपर रणभूमिमें श्रुतकर्माने आक्रमण किया ॥ ६६ ॥

सुदक्षिणस्तु समरे साहदेविं महारथम्।
विद्ध्वा नाकम्पयत वै मैनाकमिव पर्वतम् ॥ ६७ ॥

तब सुदक्षिणने समराङ्गणमें सहदेव-पुत्र महारथी श्रुतकर्माको क्षत-विक्षत कर दिया; तो भी वह उन्हें कम्पित न कर सका। वे मैनाक पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे ॥ ६७ ॥

श्रुतकर्मा ततः क्रुद्धः काम्बोजानां महारथम्।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् दारयन्निव सर्वशः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर श्रुतकर्माने कुपित होकर महारथी काम्बोजराजको सब ओरसे विदीर्ण-सा करते हुए अपने बहुसंख्यक बाणोंद्वारा भलीभाँति पीड़ित किया ॥ ६८ ॥

इरावानथ संक्रुद्धः श्रुतायुषमरिंदमम्।
प्रत्युद्ययौ रणे यत्तो यत्तरूपं परंतपः ॥ ६९ ॥

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले यत्नशील इरावान्ने युद्धमें कुपित होकर शत्रुदमन श्रुतायुषपर धावा किया। श्रुतायुष भी प्रयत्नपूर्वक उनका सामना कर रहा था ॥६९॥

आर्जुनिस्तस्य समरे हयान् हत्वा महारथः।
ननाद बलवन्नादं तत् सैन्यं प्रत्यपूरयत् ॥ ७० ॥

अर्जुनके उस महारथी पुत्र इरावान्ने रणक्षेत्रमें श्रुतायुषके घोड़ोंको मारकर बड़े जोरसे गर्जना की और उसकी सेनाको बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ७० ॥

श्रुतायुस्तु ततः क्रुद्धः फाल्गुनेः समरे हयान्।
निजघान गदाग्रेण ततो युद्धमवर्तत ॥ ७१ ॥

यह देख श्रुतायुषने भी रुष्ट होकर रणभूमिमें अर्जुनपुत्र इरावान्के घोड़ोंको अपनी गदाकी चोटसे मार डाला। तत्पश्चात् उन दोनोंमें खूब जमकर युद्ध होने लगा ॥ ७१ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ कुन्तिभोजं महारथम्।
ससेनं ससुतं वीरं संससज्जतुराहवे ॥ ७२ ॥

अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्दने सेना और पुत्रसहित वीर महारथी कुन्तिभोजके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ ७२ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तयोर्घोरं पराक्रमम्।
अयुध्येतां स्थिरौ भूत्वा महत्या सेनया सह ॥ ७३ ॥

वहाँ मैंने उन दोनोंका अद्भुत और भयंकर पराक्रम देखा। वे दोनों ही अपनी विशाल वाहिनीके साथ स्थिरतापूर्वक खड़े होकर एक दूसरेका सामना कर रहे थे ॥ ७३ ॥

अनुविन्दस्तु गदया कुन्तिभोजमताडयत्।
कुन्तिभोजश्च तं तूर्णं शरव्रातैरवाकिरत् ॥ ७४ ॥

अनुविन्दने कुन्तिभोजपर गदासे आघात किया। तब कुन्तिभोजने भी तुरंत ही अपने बाणसमूहोंद्वारा उसे आच्छादित कर दिया ॥ ७४ ॥

कुन्तिभोजसुतश्चापि विन्दं विव्याध सायकैः।
स च तं प्रतिविव्याध तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ७५ ॥

साथ ही कुन्तिभोजके पुत्रने विन्दको भी अपने सायकोंसे घायल कर दिया। विन्दने भी बदलेमें कुन्तिभोजपुत्रको क्षत-विक्षत कर दिया। वह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ७५ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च गान्धारान् पञ्च मारिष।
ससैन्यास्ते ससैन्यांश्च योधयामासुराहवे ॥ ७६ ॥

राजन् ! पाँच भाई केकय-राजकुमारोंने सेनासहित आकर युद्धमें अपनी विशाल वाहिनीके साथ खड़े हुए गान्धारदेशीय पाँच वीरोंके साथ युद्ध आरम्भ किया ।७६ ।

वीरबाहुश्च ते पुत्रो वैराटिं रथसत्तमम् ।
उत्तरं योधयामास विव्याध निशितैः शरैः ॥ ७७ ॥
उत्तरश्चापि तं वीरं विव्याध निशितैः शरैः ।

आपके पुत्र वीरबाहुने विराटके पुत्र श्रेष्ठ रथी उत्तरके साथ युद्ध किया और उसे तीखे बाणोंद्वारा घायल कर दिया। उत्तरने भी वीरबाहुको अपने तीक्ष्ण सायकोंका लक्ष्य बनाकर बेध डाला ॥ ७७½ ॥

चेदिराट् समरे राजन्नुलूकं समभिद्रवत् ॥ ७८ ॥
तथैव शरवर्षेण उलूकं समविद्ध्यत ।
उलूकश्चापि तं बाणैर्निशितैर्लोमवाहिभिः ॥ ७९ ॥

राजन्! चेदिराजने समराङ्गणमें उलूकपर धावा किया और उसे अपने बाणोंकी वर्षासे बींध डाला। वैसे ही उलूकने भी पंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा चेदिराजको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ७८-७९ ॥

तयोर्युद्धं समभवद् घोररूपं विशाम्पते ।
दारयेतां सुसंक्रुद्धावन्योन्यमपराजितौ ॥ ८० ॥

प्रजानाथ! फिर उन दोनोंमें बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा। किसीसे पराजित न होनेवाले वे दोनों वीर अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेको विदीर्ण किये देते थे ॥ ८० ॥

एवं द्वन्द्वसहस्राणि रथवारणवाजिनाम् ।
पदातीनां च समरे तव तेषां च संकुले ॥ ८१ ॥

इस प्रकार उस घमासान युद्धमें आपके और पाण्डव-पक्षके रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैन्यके सहस्रों योद्धाओंमें द्वन्द्व-युद्ध चल रहा था ॥ ८१ ॥

मुहूर्तमिव तद् युद्धमासीन्मधुरदर्शनम् ।
तत उन्मत्तवद् राजन् न प्राज्ञायत किंचन ॥ ८२ ॥

महाराज! दो घड़ीतक तो वह युद्ध देखनेमें बड़ा मनोरम प्रतीत हुआ; फिर उन्मत्तकी भाँति विकट युद्ध चलने लगा। उस समय किसीको कुछ सूझ नहीं पड़ता था ॥ ८२ ॥

गजो गजेन समरे रथिनं च रथी ययौ ।
अश्वोऽश्वं समभिप्रायात् पदातिश्च पदातिनम् ॥ ८३ ॥

उस समरभूमिमें हाथी हाथीके साथ भिड़ गया, रथीने रथीपर आक्रमण किया, घुड़सवार घुड़सवारपर चढ़ आया और पैदलने पैदलके साथ युद्ध किया ॥ ८३ ॥

ततो युद्धं सुदुर्धर्षं व्याकुलं समपद्यत ।
शूराणां समरे तत्र समासाद्येतरेतरम् ॥ ८४ ॥

कुछ ही देरमें उस रणक्षेत्रके भीतर शूरवीर सैनिकोंका एक दूसरेसे भिड़कर अत्यन्त दुर्धर्ष एवं घमासान युद्ध होने लगा ॥ ८४ ॥

तत्र देवर्षयः सिद्धाश्चारणाश्च समागताः ।
प्रैक्षन्त तद् रणं घोरं देवासुरसमं भुवि ॥ ८५ ॥

वहाँ आये हुए देवर्षियों, सिद्धों तथा चारणोंने भूतलपर होनेवाले उस युद्धको देवासुर-संग्रामके समान भयंकर देखा ॥

ततो दन्तिसहस्राणि रथानां चापि मारिष ।
अश्वौघाः पुरुषौघाश्च विपरीतं समाययुः ॥ ८६ ॥

आर्य! तदनन्तर हजारों हाथी, रथ, घुड़सवार और पैदल सैनिक द्वन्द्व-युद्धके पूर्वोक्त क्रमका उल्लङ्घन करके सभी सबके साथ युद्ध करने लगे ॥ ८६ ॥

तत्र तत्र प्रदृश्यन्ते रथवारणपत्तयः ।
सादिनश्च नरव्याघ्र युध्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ ८७ ॥

नरश्रेष्ठ! जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती, वहीं रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदल सैनिक बारंबार युद्ध करते दिखायी देते थे ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्व-युद्धविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवसेनाका घमासान युद्ध

संजय उवाच

राजन् शतसहस्राणि तत्र तत्र पदातिनाम् ।
निर्मर्यादं प्रयुद्धानि तत् ते वक्ष्यामि भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतवंशी नरेश! उस रणभूमिमें जहाँ-तहाँ लाखों सैनिकोंका मर्यादाशून्य युद्ध चल रहा था। वह सब आपको बता रहा हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

न पुत्रः पितरं जज्ञे पिता वा पुत्रमौरसम् ।
न भ्राता भ्रातरं तत्र स्वस्रीयं न च मातुलः ॥ २ ॥

न पुत्र पिताको पहचानता था, न पिता अपने औरस पुत्रको। न भाई भाईको जानता था, न मामा अपने भानजेको॥

न मातुलं च स्वस्रीयो न सखायं सखा तथा ।
आविष्टा इव युध्यन्ते पाण्डवाः कुरुभिः सह ॥ ३ ॥

न भानजेने मामाको पहचाना, न मित्रने मित्रको। उस समय पाण्डव-योद्धा कौरव-सैनिकोंके साथ इस प्रकार युद्ध करते थे, मानो उनमें किसी ग्रह आदिका आवेश हो गया हो ॥ ३ ॥

रथानीकं नरव्याघ्राः केचिदभ्यपतन् रथैः ।
अभज्यन्त युगैरेव युगानि भरतर्षभ ॥ ४ ॥

कुछ नरश्रेष्ठ वीर अपने रथोंद्वारा शत्रुपक्षकी रथसेनापर टूट पड़े। भरतश्रेष्ठ ! कितने ही रथोंके जूए विपक्षी रथोंके जूओंसे ही टकराकर टूट गये ॥ ४ ॥

रथेषाश्च रथेषाभिः कूबरा रथकूबरैः।
संगतैः सहिताः केचित् परस्परजिघांसवः ॥ ५ ॥
न शेकुश्चलितुं केचित् संनिपत्य रथा रथैः।

रथोंके ईषादण्ड और कूबर भी सामने आये हुए रथोंके ईषादण्ड और कूबरोंसे भिड़कर टूक-टूक हो गये। एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखनेवाले कितने ही रथ दूसरे रथोंसे आमने-सामने भिड़कर एक पग भी इधर-उधर चल न सके ॥ ५½ ॥

प्रभिन्नास्तु महाकायाः संनिपत्य गजा गजैः ॥ ६ ॥
बहुधादारयन् क्रुद्धा विषाणैरितरेतरम्।

गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले विशालकाय गजराज कुपित हो दूसरे हाथियोंसे टक्कर लेते हुए अपने दाँतोंके आघातसे एक दूसरेको नाना प्रकारसे विदीर्ण करने लगे ६½

सतोरणपताकैश्च वारणा वरवारणैः ॥ ७ ॥
अभिसृत्य महाराज वेगवद्भिर्महागजैः।
दन्तैरभिहतास्तत्र चुक्रुशुः परमातुराः ॥ ८ ॥

महाराज ! कितने ही हाथी तोरण और पताकाओंसहित वेगशाली महाकाय एवं श्रेष्ठ गजराजोंसे भिड़कर उनके दाँतोंके आघातसे अत्यन्त पीड़ित हो आतुर भावसे चिग्घाड़ रहे थे ॥ ७-८ ॥

अभिनीताश्च शिक्षाभिस्तोत्रांकुशसमाहताः।
अप्रभिन्नाः प्रभिन्नानां सम्मुखाभिमुखा ययुः ॥ ९ ॥

जिन्हें अनेक प्रकारकी शिक्षाएँ मिली थीं तथा जिनका मद अभी प्रकट नहीं हुआ था, वे हाथी तोत्र और अङ्कुशोंकी चोट खाकर सम्मुख खड़े हुए मदस्रावी गजराजोंके सामने जाकर युद्धके लिये डट गये ॥ ९ ॥

प्रभिन्नैरपि संसक्ताः केचित् तत्र महागजाः।
क्रौञ्चवन्निनदं कृत्वा दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ॥ १० ॥

कुछ महान् गजराज मदस्रावी हाथियोंसे टक्कर लेकर क्रौञ्च पक्षीकी भाँति चीत्कार करते हुए सब दिशाओंमें भाग गये ॥ १० ॥

सम्यक् प्रणीता नागाश्च प्रभिन्नकरटामुखाः।
ऋष्टितोमरनाराचैर्निर्विद्धा वरवारणाः ॥ ११ ॥
प्रणेदुर्भिन्नमर्माणो निपेतुश्च गतासवः।
प्राद्रवन्त दिशः केचिन्नदन्तो भैरवान् रवान् ॥ १२ ॥

अच्छी तरह शिक्षा पाये हुए कितने ही हाथी तथा श्रेष्ठ गज, जिनके गण्डस्थलसे मद चू रहा था, ऋष्टि, तोमर और नाराचोंसे विद्ध होकर मर्म विदीर्ण हो जानेके कारण चिग्घाड़ते और प्राणशून्य हो धरतीपर गिर पड़ते थे। कितने ही भयानक चीत्कार करते हुए सब दिशाओंमें भाग जाते थे ॥ ११-१२ ॥

गजानां पादरक्षास्तु व्यूढोरस्काः प्रहारिणः।
ऋष्टिभिश्च धनुर्भिश्च विमलैश्च परश्वधैः ॥ १३ ॥
गदाभिर्मुसलैश्चैव भिन्दिपालैः सतोमरैः।
आयसैः परिघैश्चैव निस्त्रिंशैर्विमलैः शितैः ॥ १४ ॥
प्रगृहीतैः सुसंरब्धा द्रवमाणास्ततस्ततः।
व्यदृश्यन्त महाराज परस्परजिघांसवः ॥ १५ ॥

महाराज ! हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेवाले योद्धा, जिनके वक्षःस्थल विस्तृत एवं विशाल थे, अत्यन्त क्रोधमें भरकर इधर-उधर दौड़ रहे थे और हाथोंमें लिये हुए ऋष्टि, धनुष, चमकीले फरसे, गदा, मूसल, भिन्दिपाल, तोमर, लोहेकी परिघ तथा तेज धारवाले उज्ज्वल खड्ग आदि आयुधोंद्वारा एक दूसरेके वधके लिये उत्सुक दिखायी दे रहे थे १३-१५

राजमानाश्च निस्त्रिंशाः संसिक्ता नरशोणितैः।
प्रत्यदृश्यन्त शूराणामन्योन्यमभिधावताम् ॥ १६ ॥

परस्पर धावा करनेवाले शूरवीरोंके चमकीले खड्ग मनुष्योंके रक्तसे रँगे हुए देखे जाते थे ॥ १६ ॥

अवक्षिप्तावधूतानामसीनां वीरबाहुभिः।
संजज्ञे तुमुलः शब्दः पततां परमर्मसु ॥ १७ ॥

वीरोंकी भुजाओंसे घुमाकर चलाये हुए खड्ग जब दूसरोंके मर्मपर आघात करते थे, उस समय उनका भयंकर शब्द सुनायी पड़ता था ॥ १७ ॥

गदामुसलरुग्णानां भिन्नानां च वरासिभिः।
दन्तिदन्तावभिन्नानां मृदितानां च दन्तिभिः ॥ १८ ॥
तत्र तत्र नरौघाणां क्रोशतामितरेतरम्।
शुश्रुवुर्दारुणा वाचः प्रेतानामिव भारत ॥ १९ ॥

उस युद्धस्थलमें गदा और मूसलके आघातसे कितने ही मनुष्योंके अङ्ग-भङ्ग हो गये थे, कितने ही अच्छी श्रेणीके तलवारोंसे छिन्न-भिन्न हो रहे थे, कितनोंके शरीर हाथियोंके दाँतोंसे दबकर विदीर्ण हो गये थे और कितनोंको हाथियोंने कुचल दिया था। इस प्रकार असंख्य मनुष्योंके समुदाय अधमरे-से होकर एक दूसरेको पुकार रहे थे। भारत ! उनके वे भयंकर आर्तनाद प्रेतोंके कोलाहलके समान श्रवणगोचर हो रहे थे ॥ १८-१९ ॥

हयैरपि हयारोहाश्चामरापीडधारिभिः।
हंसैरिव महावेगैरन्योन्यमभिविद्रुताः ॥ २० ॥

चँवर और कलंगीसे सुशोभित हंस-तुल्य सफेद एवं महान् वेगशाली घोड़ोंपर बैठे हुए कितने ही घुड़सवार एक दूसरेपर धावा कर रहे थे ॥ २० ॥

तैर्विमुक्ता महाप्रासा जाम्बूनदविभूषणाः।
आशुगा विमलास्तीक्ष्णाः सम्पेतुर्भुजगोपमाः ॥ २१ ॥

उनके द्वारा चलाये हुए सुवर्णभूषित निर्मल और तेज धारवाले शीघ्रगामी महाप्रास (भाले) सर्पोंके समान गिर रहे थे ॥ २१ ॥

अश्वैरग्र्यजवैः केचिदाप्लुत्य महतो रथान्।
शिरांस्याददिरे वीरा रथिनामश्वसादिनः ॥ २२ ॥

कितने ही वीर घुड़सवार शीघ्रगामी अश्वोंद्वारा धावा करके बड़े-बड़े रथोंपर कूद पड़ते और रथियोंके मस्तक काट लेते थे ॥ २२ ॥

बहूनपि हयारोहान् भल्लैः संनतपर्वभिः।
रथी जघान सम्प्राप्य बाणगोचरमागतान् ॥ २३ ॥

इसी प्रकार एक-एक रथी झुकी हुई गाँठवाले भल्ल नामक बाणोंद्वारा निशानेपर आये हुए बहुत-से घुड़सवारोंका संहार कर डालता था ॥ २३ ॥

नवमेघप्रतीकाशाश्चाक्षिप्य तुरगान् गजाः।
पादैरेव विमृद्नन्ति मत्ताः कनकभूषणाः ॥ २४ ॥

नूतन मेघोंके समान शोभा पानेवाले स्वर्णभूषित मतवाले हाथी बहुत-से घोड़ोंको सूँड़ोंसे झटककर पैरोंसे ही रौंद डालते थे ॥ २४ ॥

पाट्यमानेषु कुम्भेषु पार्श्वेष्वपि च वारणाः।
प्रासैर्विनिहताः केचिद् विनेदुः परमातुराः ॥ २५ ॥

कितने ही हाथी प्रासोंकी चोट खाकर कुम्भस्थल और पार्श्वभागोंके विदीर्ण हो जानेपर अत्यन्त आतुर हो घोर चिग्घाड़ मचा रहे थे ॥ २५ ॥

साश्वारोहान् हयान् कांश्चिदुन्मथ्य वरवारणाः।
सहसा चिक्षिपुस्तत्र संकुले भैरवे सति ॥ २६ ॥

बहुत-से बड़े-बड़े हाथी कितने ही घुड़सवारोंसहित घोड़ोंको पैरोंसे कुचलकर सहसा भयंकर युद्धमें फेंक देते थे ॥

साश्वारोहान् विषाणाग्रैरुत्क्षिप्य तुरगान् गजाः।
रथौघानभिमृद्नन्तः सध्वजानभिचक्रमुः ॥ २७ ॥

कितने ही हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागसे घुड़सवारों-सहित घोड़ोंको उछालकर ध्वजों सहित रथसमूहोंको पैरोंतले रौंदते हुए रणभूमिमें विचर रहे थे ॥ २७ ॥

पुंस्त्वाद‌तिमदत्वाच्च केचित् तत्र महागजाः।
साश्वारोहान् हयाञ्जघ्नुः करैः सचरणैस्तथा ॥२८॥

वहाँ कितने ही महान् गज अत्यन्त मदोन्मत्ततथा पुरुष होनेके कारण सूँड़ों और पैरोंसे घोड़ों और घुड़सवारोंका संहार कर डालते थे ॥ २८ ॥

अश्वारोहैश्च समरे हस्तिसादिभिरेव च।
प्रतिमानेषु गात्रेषु पार्श्वेष्वभि च वारणान्।
आशुगा विमलास्तीक्ष्णाः सम्पेतुर्भुजगोपमाः ॥ २९ ॥

युद्धमें घुड़सवारों और गजारोहियोंके चलाये हुए निर्मल, तीक्ष्ण तथा सर्पोंके समान भयंकर शीघ्रगामी बाण हाथियोंके ललाटों, अन्यान्य अङ्गों तथा पसलियोंपर चोट करते थे ॥ २९ ॥

नराश्वकायान् निर्भिद्य लौहानि कवचानि च।
निपेतुर्विमलाः शक्तयो वीरबाहुभिरर्पिताः ॥ ३० ॥
महोल्काप्रतिमा घोरास्तत्र तत्र विशाम्पते।

वीरोंकी भुजाओंसे चलायी हुई निर्मल शक्तियाँ, मनुष्यों और घोड़ोंकी काया तथा लोहमय कवचोंको भी विदीर्ण करके धरतीपर गिर जाती थीं। प्रजानाथ! वहाँ गिरते समय वे भयंकर शक्तियाँ बड़ी भारी उल्काओंके समान प्रतीत होती थीं॥ ३०½॥

द्वीपिचर्मावनद्धैश्च व्याघ्रचर्मच्छदैरपि ॥ ३१ ॥
विकोशैर्विमलैः खड्गैरभिजग्मुः परान् रणे।

जो चमकीली तलवारें पहले चितकबरे अथवा साधारण व्याघ्र-चर्मकी बनी हुई म्यानोंमें बंद रहती थीं, उन्हें उन म्यानोंसे निकालकर उनके द्वारा वीर पुरुष रणभूमिमें विपक्षियोंका वध कर रहे थे ॥ ३१½ ॥

अभिप्लुतमभिक्रुद्धमेकपार्श्वावदारितम् ॥ ३२ ॥
विदर्शयन्तः सम्पेतुः खड्गचर्मपरश्वधैः।

कितने ही योद्धा ढाल, तलवार तथा फरसोंसे निर्भय होकर शत्रुके सम्मुख जाने, क्रोधपूर्वक दाँतोंसे ओठ दबाकर आक्रमण करने तथा बायीं पसलीपर चोट करके उसे विदीर्ण करने आदिके पैंतरे दिखाते हुए शत्रुओंपर टूटे पड़ते थे ॥ ३२½ ॥

केचिदाक्षिप्य करिणः साश्वानपि रथान् करैः ॥ ३३ ॥
विकर्षन्तो दिशः सर्वाः सम्पेतुः सर्वशब्दगाः।

प्रत्येक शब्दकी ओर गमन करनेवाले कितने ही हाथी घोड़ोंसहित रथोंको अपनी सूँड़ोंसे खींचकर उन्हें लिये-दिये सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ रहे थे ॥ ३३½ ॥

शङ्कुभिर्दारिताः केचित् सम्भिन्नाश्च परश्वधैः ॥ ३४ ॥
हस्तिभिर्मृदिताः केचित् क्षुण्णाश्चान्ये तुरंगमैः।
रथनेमिनिकृत्ताश्च निकृत्ताश्च परश्वधैः ॥ ३५ ॥

कुछ मनुष्य बाणोंसे विदीर्ण होकर पड़े थे, कितने ही फरसोंसे छिन्न-भिन्न हो रहे थे, कितनोंको हाथियोंने मसल डाला था, कितने ही घोड़ोंकी टापसे कुचल गये थे, कितनोंके शरीर रथके पहियोंसे कट गये थे और कितने ही कूबरोंसे काट डाले गये थे ॥ ३४-३५ ॥

व्याक्रोशन्त नरा राजंस्तत्र तत्र स्म बान्धवान्।
पुत्रानन्ये पितॄनन्ये भ्रातॄंश्च सह बन्धुभिः ॥ ३६ ॥
मातुलान् भागिनेयांश्च परानपि च संयुगे।

राजन्! रणभूमिमें जहाँ-तहाँ गिरे हुए अगणित मनुष्य अपने कुटुम्बीजनोंको पुकार रहे थे। कुछ बेटोंको, कुछ पिताको, कुछ भाई-बन्धुओंको, कुछ मामा-भानजोंको

और कुछ लोग दूसरों-दूसरोंके नाम ले-लेकर विलाप कर रहे थे ॥ ३६½ ॥

विकीर्णान्त्राः सुबहवो भग्नसक्थाश्च भारत ॥ ३७ ॥
बाहुभिश्चापरे छिन्नैः पार्श्वेषु च विदारिताः ।
क्रन्दन्तः समदृश्यन्त तृषिता जीवितेप्सवः ॥ ३८ ॥

भारत ! बहुतोंकी आँतें बाहर निकलकर बिखर गयी थीं, जाँघें टूट गयी थीं, कितनोंकी बाहें कट गयी थीं, बहुतोंकी पसलियाँ फट गयी थीं और कितने ही घायल अवस्थामें प्याससे पीड़ित हो जीवनके लोभसे रोते दिखायी देते थे ॥ ३७-३८ ॥

तृषा परिगताः केचिदल्पसत्त्वा विशाम्पते ।
भूमौ निपतिताः संख्ये मृगयांचक्रिरे जलम् ॥ ३९ ॥

राजन् ! कुछ लोग धरतीपर अधमरे पड़े थे । उनमें जीवनकी शक्ति बहुत थोड़ी रह गयी थी और वे पिपासासे पीड़ित हो युद्धभूमिमें ही जलकी खोज कर रहे थे ॥ ३९ ॥

रुधिरौघपरिक्लिन्नाः क्लिश्यमानाश्च भारत ।
व्यनिन्दन् भृशमात्मानं तव पुत्रांश्च संगतान् ॥ ४० ॥

भरतनन्दन ! लहू-लुहान होकर कष्ट पाते हुए वे समस्त घायल सैनिक अपनी और आपके पुत्रोंकी अत्यन्त निन्दा करते थे ॥ ४० ॥

अपरे क्षत्रियाः शूराः कृतवैराः परस्परम् ।
नैव शस्त्रं विमुञ्चन्ति नैव क्रन्दन्ति मारिष ॥ ४१ ॥

माननीय महाराज ! दूसरे शूरवीर क्षत्रिय आपसमें वैर बाँधे हुए उस घायल अवस्थामें भी न हथियार छोड़ते थे और न क्रन्दन ही करते थे ॥ ४१ ॥

तर्जयन्ति च संहृष्टास्तत्र तत्र परस्परम् ।
आदश्य दशनैश्चापि क्रोधात् स्वदनच्छदम् ॥ ४२ ॥
भ्रुकुटीकुटिलैर्वक्त्रैः प्रेक्षन्ति च परस्परम् ।

वे बार-बार उत्साहित होकर एक-दूसरेको डाँट बताते और क्रोधपूर्वक ओठोंको दाँतसे दबाकर भौंहें टेढ़ी करके परस्पर दृष्टिपात करते थे ॥ ४२½ ॥

अपरे क्लिश्यमानास्तु शरार्ता व्रणपीडिताः ॥ ४३ ॥
निष्कूजाः समपद्यन्त दृढसत्त्वा महाबलाः ।

धैर्यको दृढ़तापूर्वक धारण किये रहनेवाले दूसरे महाबली वीर बाणोंके आघातसे पीड़ित हो क्लेश सहन करते हुए भी मौन ही रहते थे—अपनी वेदना प्रकाशित नहीं करते थे ॥

अन्ये च विरथाः शूरा रथमन्यस्य संयुगे ॥ ४४ ॥
प्रार्थयाना निपतिताः संक्षुण्णा वरवारणैः ।
अशोभन्त महाराज सपुष्पा इव किंशुकाः ॥ ४५ ॥

महाराज ! कुछ वीर पुरुष अपना रथ भग्न हो जानेके कारण युद्धमें पृथ्वीपर गिरकर दूसरेका रथ माँग रहे थे, इतनेहीमें बड़े-बड़े हाथियोंके पैरोंसे वे कुचल गये । उस समय उनके रक्तरंजित शरीर फूले हुए पलाशके समान शोभा पा रहे थे ॥ ४४-४५ ॥

सम्बभूवुरनीकेषु बहवो भैरवस्वनाः ।
वर्तमाने महाभीमे तस्मिन् वीरवरक्षये ॥ ४६ ॥
निजघान पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं रणे ।
स्वस्रीयो मातुलं चापि स्वस्रीयं चापि मातुलः ॥ ४७ ॥
सखा सखायं च तथा सम्बन्धी बान्धवं तथा ।

उन सेनाओंमें अनेकानेक भयंकर शब्द सुनायी पड़ते थे । बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस महाभयानक संग्राममें पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको, भानजेने मामाको, मामाने भानजेको, मित्रने मित्रको तथा सगे-सम्बन्धीने अपने सगे बान्धवजनोंको मार डाला ॥ ४६-४७½ ॥

एवं युयुधिरे तत्र कुरवः पाण्डवैः सह ॥ ४८ ॥
वर्तमाने तथा तस्मिन् निर्मर्यादे भयानके ।
भीष्ममासाद्य पार्थानां वाहिनी समकम्पत ॥ ४९ ॥

इस प्रकार उस मर्यादाशून्य भयानक संग्राममें कौरवोंका पाण्डवोंके साथ घोर युद्ध हो रहा था । इतनेहीमें सेनापति भीष्मके पास पहुँचकर पाण्डवोंकी सारी सेना काँपने लगी ॥ ४८-४९ ॥

केतुना पञ्चतारेण तालेन भरतर्षभ ।
राजतेन महाबाहुरुच्छ्रितेन महारथे ।
बभौ भीष्मस्तदा राजंश्चन्द्रमा इव मेरुणा ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! महाबाहु भीष्म अपने विशाल रथपर बैठकर चाँदीके बने हुए पाँच तारोंसे युक्त तालाङ्कित ध्वजके द्वारा मेरुके शिखरपर स्थित हुए चन्द्रमाकेसमान शोभा पा रहे थे॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें दोनों सेनाओंका घमासान युद्धविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४६॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मके साथ अभिमन्युका भयंकर युद्ध, शल्यके द्वारा उत्तरकुमारका वध और श्वेतका पराक्रम

संजय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि दारुणे ।
वर्तमाने तथा रौद्रे महावीरवरक्षये ॥ १ ॥
दुर्मुखः कृतवर्मा च कृपः शल्यो विविंशतिः ।
भीष्मं जुगुपुरासाद्य तव पुत्रेण चोदिताः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस अत्यन्त भयंकर

दिनका पूर्वभाग जब प्रायः व्यतीत हो गया, तब बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस भयानक संग्राममें आपके पुत्र-की आज्ञासे दुर्मुख, कृतवर्मा, कृपाचार्य, शल्य और विविंशति वहाँ आकर भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ १-२ ॥

एतैरतिरथैर्गुप्तः पञ्चभिर्भरतर्षभः।
पाण्डवानामनीकानि विजगाहे महारथः॥ ३ ॥

इन पाँच अतिरथी वीरोंसे सुरक्षित हो भरतभूषण महा-रथी भीष्मजीने पाण्डवोंकी सेनाओंमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

चेदिकाशिकरूषेषु पञ्चालेषु च भारत।
भीष्मस्य बहुधा तालश्चलत्केतुरदृश्यत॥ ४ ॥

भारत ! चेदि, काशि, करूष तथा पाञ्चालोंमें विचरते हुए भीष्मका तालचिह्नित चञ्चल पताकाओंवाला रथ अनेक-सा दिखायी देने लगा ॥ ४ ॥

स शिरांसि रणेऽरीणां रथांश्च सयुगध्वजान्।
निचकर्त महावेगैर्भल्लैः संनतपर्वभिः॥ ५ ॥

वे युद्धमें झुकी हुई गाँठवाले अत्यन्त वेगशाली भल्लों-द्वारा शत्रुओंके मस्तक, रथ, जूआ तथा ध्वज काट-काटकर गिराने लगे ॥ ५ ॥

नृत्यतो रथमार्गेषु भीष्मस्य भरतर्षभ।
भृशमार्तस्वरं चक्रुर्नागा मर्मणि ताडिताः॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे रथके मार्गोंपर नृत्य-सा कर रहे थे। उनके बाणोंसे मर्मस्थानोंमें चोट खाये हुए हाथी अत्यन्त आर्तनाद करने लगे ॥ ६ ॥

अभिमन्युः सुसंक्रुद्धः पिशङ्गैस्तुरगोत्तमैः।
संयुक्तं रथमास्थाय प्रायाद् भीष्मरथं प्रति॥ ७ ॥
जाम्बूनदविचित्रेण कर्णिकारेण केतुना।
अभ्यवर्तत भीष्मं च तांश्चैव रथसत्तमान्॥ ८ ॥

यह देख अभिमन्यु अत्यन्त कुपित हो पिङ्गलवर्णके श्रेष्ठ घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर भीष्मके रथकी ओर दौड़े आये। उनका वह रथ कर्णिकारके चिह्नसे युक्त स्वर्णनिर्मित विचित्र ध्वजसे सुशोभित था। उन्होंने भीष्मपर तथा उनकी रक्षाके लिये आये हुए उन श्रेष्ठ रथियोंपर भी आक्रमण किया ॥ ७-८ ॥

स तालकेतोस्तीक्ष्णेन केतुमाहत्य पत्रिणा।
भीष्मेण युयुधे वीरस्तस्य चानुरथैः सह॥ ९ ॥

वीर अभिमन्युने तीखे बाणसे उस तालचिह्नित ध्वजको छेद डाला और भीष्म तथा उनके अनुगामी रथियोंके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया ॥ ९ ॥

कृतवर्माणमेकेन शल्यं पञ्चभिराशुगैः।
विद्ध्वा नवभिरानर्च्छेच्छिताग्रैः प्रपितामहम्॥१० ॥

उन्होंने एक बाणसे कृतवर्माको और पाँच शीघ्रगामी बाणोंसे शल्यको बेधकर तीखी धारवाले नौ बाणोंसे प्रपितामह भीष्मको भी चोट पहुँचायी ॥ १० ॥

पूर्णायतविसृष्टेन सम्यक् प्रणिहितेन च।
ध्वजमेकेन विव्याध जाम्बूनदपरिष्कृतम्॥ ११ ॥

तत्पश्चात् धनुषको अच्छी तरह खींचकर पूरे मनोयोगसे चलाये हुए एक बाणके द्वारा उनके सुवर्णभूषित ध्वजको भी छेद डाला ॥ ११ ॥

दुर्मुखस्य तु भल्लेन सर्वावरणभेदिना।
जहार सारथेः कायाच्छिरः संनतपर्वणा॥ १२ ॥

इसके बाद झुकी हुई गाँठवाले तथा सब प्रकारके आवरणोंका भेदन करनेवाले एक भल्लके द्वारा दुर्मुखके सारथिका मस्तक धड़से अलग कर दिया ॥ १२ ॥

धनुश्चिच्छेद भल्लेन कार्तस्वरविभूषितम्।
कृपस्य निशिताग्रेण तांश्च तीक्ष्णमुखैः शरैः॥ १३ ॥
जघान परमक्रुद्धो नृत्यन्निव महारथः।

साथ ही कृपाचार्यके स्वर्णभूषित धनुषको भी तेज धार-वाले भालेसे काट गिराया; फिर सब ओर घूमकर नृत्य-सा करते हुए महारथी अभिमन्युने अत्यन्त कुपित हो तीखी नोकवाले बाणोंसे भीष्मकी रक्षा करनेवाले उन महारथियोंको भी घायल कर दिया ॥ १३½ ॥

तस्य लाघवमुद्वीक्ष्य तुतुषुर्देवता अपि॥ १४ ॥
लब्धलक्षतया कार्ष्णेः सर्वे भीष्ममुखा रथाः।
सत्त्ववन्तममन्यन्त साक्षादिव धनंजयम्॥ १५ ॥

अभिमन्युके हाथोंकी यह फुर्ती देखकर देवताओंको भी बड़ी प्रसन्नता हुई। अर्जुनकुमारके इस लक्ष्य-वेधकी सफलतासे प्रभावित हो भीष्म आदि सभी रथियोंने उन्हें साक्षात् अर्जुनके समान शक्तिशाली समझा ॥ १४-१५ ॥

तस्य लाघवमार्गस्थमलातसदृशप्रभम्।
दिशः पर्यपतच्चापं गाण्डीवमिव घोषवत्॥ १६ ॥

अभिमन्युका धनुष गाण्डीवके समान टंकारध्वनि प्रकट करनेवाला, हाथोंकी फुर्ती दिखानेका उपयुक्त स्थान और खींचे जानेपर अलातचक्रके समान मण्डलाकार प्रकाशित होनेवाला था। वह वहाँ सम्पूर्ण दिशाओंमें घूम रहा था ॥ १६ ॥

तमासाद्य महावेगैर्भीष्मो नवभिराशुगैः।
विव्याध समरे तूर्णमार्जुनिं परवीरहा॥ १७ ॥

अर्जुनकुमार अभिमन्युको पाकर शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले भीष्मने समरभूमिमें नौ शीघ्रगामी महावेगवान् बाणोंद्वारा तुरंत ही उन्हें वेध दिया ॥ १७ ॥

ध्वजं चास्य त्रिभिर्भल्लैश्चिच्छेद परमौजसः।
सारथिं च त्रिभिर्बाणैराजघान यतव्रतः॥ १८ ॥

साथ ही उस महातेजस्वी वीरके ध्वजको भी तीन बाणोंसे काट गिराया; इतना ही नहीं, नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले भीष्मने तीन बाणोंसे अभिमन्युके सारथिको भी मार डाला ॥ १८ ॥

तथैव कृतवर्मा च कृपः शल्यश्च मारिष।
विद्ध्वा नाकम्पयत् कार्ष्णिं मैनाकमिव पर्वतम् ॥ १९ ॥

आर्य ! इसी प्रकार कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा शल्य उस मैनाक पर्वतकी भाँति स्थिर हुए अर्जुनकुमारको बाणविद्ध करके भी कम्पित न कर सके ॥ १९ ॥

स तैः परिवृतः शूरो धार्तराष्ट्रैर्महारथैः।
ववर्ष शरवर्षाणि कार्ष्णिः पञ्चरथान् प्रति ॥ २० ॥

दुर्योधनके उन महारथियोंसे घिर जानेपर भी शूरवीर अर्जुनकुमार उन पाँचों रथियोंपर बाणवर्षा करता रहा ॥

ततस्तेषां महास्त्राणि संवार्य शरवृष्टिभिः।
ननाद बलवान् कार्ष्णिर्भीष्माय विसृजञ्शरान्॥ २१ ॥

इस प्रकार अपने बाणोंकी वर्षासे उन सबके महान् अस्त्रोंका निवारण करके बलवान् अर्जुनकुमार अभिमन्युने भीष्मपर सायकोंका प्रहार करते हुए बड़े जोरका सिंहनाद किया ॥ २१ ॥

तत्रास्य सुमहद् राजन् बाह्वोर्बलमदृश्यत।
यतमानस्य समरे भीष्ममर्दयतः शरैः ॥ २२ ॥

राजन् ! उस समय समरभूमिमें प्रयत्नपूर्वक अपने बाणोंद्वारा भीष्मको पीड़ा देते हुए अभिमन्युकी भुजाओंका महान् बल प्रत्यक्ष देखा गया ॥ २२ ॥

पराक्रान्तस्य तस्यैव भीष्मोऽपि प्राहिणोच्छरान्।
स तांश्चिच्छेद समरे भीष्मचापच्युताञ्शरान्॥ २३ ॥

तब भीष्मने भी उस पराक्रमी वीरपर बाणोंका प्रहार किया; परंतु अभिमन्युने रणभूमिमें भीष्मके धनुषसे छूटे हुए समस्त बाणोंको काट डाला ॥ २३ ॥

ततो ध्वजममोघेषुर्भीष्मस्य नवभिः शरैः।
चिच्छेद समरे वीरस्तत उच्चुकुशुर्जनाः ॥ २४ ॥

अभिमन्युके बाण अमोघ थे। उस वीरने समराङ्गणमें नौ बाणोंद्वारा भीष्मके ध्वजको काट गिराया। यह देख सब लोग उच्च स्वरसे कोलाहल कर उठे ॥ २४ ॥

स राजतो महास्कन्धस्तालो हेमविभूषितः।
सौभद्रविशिखैश्छिन्नः पपात भुवि भारत ॥ २५ ॥

भरतनन्दन ! वह रजतनिर्मित, स्वर्णभूषित अत्यन्त ऊँचा ताल-चिह्नसे युक्त भीष्मका ध्वज सुभद्राकुमारके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २५ ॥

तं तु सौभद्रविशिखैः पातितं भरतर्षभ।
दृष्ट्वा भीमो ननादोच्चैः सौभद्रमभिहर्षयन् ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अभिमन्युके बाणोंसे कटकर गिरे हुए उस ध्वजको देखकर भीमसेनने सुभद्राकुमारका हर्ष बढ़ाते हुए उच्चस्वरसे गर्जना की ॥ २६ ॥

अथ भीष्मो महास्त्राणि दिव्यानि सुबहूनि च।
प्रादुश्चक्रे महारौद्रे रणे तस्मिन् महाबलः ॥ २७ ॥

तब महाबली भीष्मने उस अत्यन्त भयंकर संग्राममें बहुत-से महान् दिव्यास्त्र प्रकट किये ॥ २७ ॥

ततः शरसहस्रेण सौभद्रं प्रपितामहः।
अवाकिरदमेयात्मा तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २८ ॥

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न प्रपितामह भीष्मने सुभद्राकुमारपर हजारों बाणोंकी वर्षा की। वह एक अद्भुत-सी घटना प्रतीत हुई ॥ २८ ॥

ततो दश महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः।
रक्षार्थमभ्यधावन्त सौभद्रं त्वरिता रथैः ॥ २९ ॥
विराटः सह पुत्रेण धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
भीमश्च केकयाश्चैव सात्यकिश्च विशाम्पते ॥ ३० ॥

राजन् ! तब पुत्रसहित विराट, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, भीमसेन, पाँचों भाई केकय-राजकुमार तथा सात्यकि—ये पाण्डव-पक्षके महान् धनुर्धर दस महारथी अभिमन्युकी रक्षाके लिये रथोंद्वारा तुरंत वहाँ दौड़े आये ॥ २९-३० ॥

तेषां जवेनापततां भीष्मः शान्तनवो रणे।
पाञ्चाल्यं त्रिभिरानर्च्छत् सात्यकिं नवभिः शरैः॥ ३१॥

शान्तनुनन्दन भीष्मने रणभूमिमें वेगपूर्वक आक्रमण करनेवाले उन दसों महारथियोंमेंसे धृष्टद्युम्नको तीन और सात्यकिको नौ बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३१ ॥

पूर्णायतविसृष्टेन क्षुरेण निशितेन च।
ध्वजमेकेन चिच्छेद भीमसेनस्य पत्रिणा ॥ ३२ ॥

फिर धनुषको पूरी तरहसे खींचकर छोड़े हुए एक पंखयुक्त तीखे बाणसे भीमसेनकी ध्वजा काट डाली ॥ ३२ ॥

जाम्बूनदमयः श्रीमान् केसरी स नरोत्तम।
पपात भीमसेनस्य भीष्मेण मथितो रथात् ॥ ३३ ॥

नरश्रेष्ठ ! भीमसेनका वह सुवर्णमय सुन्दर ध्वज सिंहके चिह्नसे युक्त था। वह भीष्मके द्वारा काट दिये जानेपर रथसे नीचे गिर पड़ा ॥ ३३ ॥

ततो भीमस्त्रिभिर्विद्ध्वा भीष्मं शान्तनवं रणे।
कृपमेकेन विव्याध कृतवर्माणमष्टभिः ॥ ३४ ॥

तब भीमसेनने उस रणक्षेत्रमें शान्तनुनन्दन भीष्मको तीन बाणोंसे घायल करके कृपाचार्यको एक और कृतवर्माको आठ बाणोंसे बेध दिया ॥ ३४ ॥

प्रगृहीताग्रहस्तेन वैराटिरपि दन्तिना।
अभ्यद्रवत राजानं मद्राधिपतिमुत्तरः ॥ ३५ ॥

इसी समय जिसने अपनी सूँड़को मोड़कर मुखमें रख लिया था, उस दन्तार हाथीपर आरूढ़ हो विराटकुमार उत्तरने मद्रदेशके स्वामी राजा शल्यपर धावा किया ॥ ३५ ॥

तस्य वारणराजस्य जवेनापततो रथे।
शल्यो निवारयामास वेगमप्रतिमं शरैः ॥ ३६ ॥

वह गजराज बड़े वेगसे शल्यके रथकी ओर झपटा। उस समय शल्यने अपने बाणोंद्वारा उसके अप्रतिम वेगको रोक दिया ॥ ३६ ॥

तस्य क्रुद्धः स नागेन्द्रो बृहतः साधुवाहिनः।
पदा युगमधिष्ठाय जघान चतुरो हयान् ॥ ३७ ॥

इससे वह गजेन्द्र शल्यपर अत्यन्त कुपित हो उठा और अपना एक पैर रथके जूएपर रखकर उसे अच्छी तरह वहन करनेवाले चारों विशाल घोड़ोंको मार डाला ॥ ३७ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठन् मद्राधिपतिरायसीम्।
उत्तरान्तकरीं शक्तिं चिक्षेप भुजगोपमाम् ॥ ३८ ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर बैठे हुए मद्रराज शल्यने लोहेकी बनी हुई एक शक्ति चलायी, जो सर्पके समान भयंकर और राजकुमार उत्तरका अन्त करनेवाली थी ॥

तया भिन्नतनुत्राणः प्रविश्य विपुलं तमः।
स पपात गजस्कन्धात् प्रमुक्ताङ्कुशतोमरः ॥ ३९ ॥

उस शक्तिने उनके कवचको काट दिया। उसकी चोटसे उनपर अत्यन्त मोह छा गया। उनके हाथसे अंकुश और तोमर छूटकर गिर गये और वे भी अचेत होकर हाथीकी पीठसे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३९ ॥

असिमादाय शल्योऽपि अवप्लुत्य रथोत्तमात्।
तस्य वारणराजस्य चिच्छेदाथ महाकरम् ॥ ४० ॥

इसी समय शल्य हाथमें तलवार लेकर अपने श्रेष्ठ रथसे कूद पड़े और उसीके द्वारा उस गजराजकी विशाल सूँड़को उन्होंने काट गिराया ॥ ४० ॥

भिन्नमर्मा शरशतैश्छिन्नहस्तः स वारणः।
भीममार्तस्वरं कृत्वा पपात च ममार च ॥ ४१ ॥

सैकड़ों बाणोंसे उसके मर्म विद्ध हो गये थे और उसकी सूँड़ भी काट डाली गयी। इससे भयंकर आर्तनाद करके वह गजराज भूमिपर गिरा और मर गया ॥ ४१ ॥

एतदीदृशकं कृत्वा मद्रराजो नराधिप।
आरुरोह रथं तूर्णं भास्वरं कृतवर्मणः ॥ ४२ ॥

नरेश्वर! यह पराक्रम करके मद्रराज शल्य तुरंत ही कृतवर्माके तेजस्वी रथपर चढ़ गये ॥ ४२ ॥

उत्तरं वै हतं दृष्ट्वा वैराटिर्भ्रातरं तदा।
कृतवर्मणा च सहितं दृष्ट्वा शल्यमवस्थितम् ॥ ४३ ॥
श्वेतः क्रोधात् प्रजज्वाल हविषा हव्यवाडिव।

अपने भाई उत्तरको मारा गया और शल्यको कृतवर्माके साथ रथपर बैठा हुआ देख विराटपुत्र श्वेत क्रोधसे जल उठे, मानो अग्निमें घीकी आहुति पड़ गयी हो ॥ ४३½ ॥

स विस्फार्य महच्चापं शक्रचापोपमं बली ॥ ४४ ॥
अभ्यधावज्जिघांसन् वै शल्यं मद्राधिपं बली।

उस बलवान् वीरने इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल शरासनको कानोंतक खींचकर मद्रराज शल्यको मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया ॥ ४४½ ॥

महता रथवंशेन समन्तात् परिवारितः ॥ ४५ ॥
मुञ्चन् बाणमयं वर्षं प्रायाच्छल्यरथं प्रति।

वह विशाल रथ-सेनाके द्वारा सब ओरसे घिरकर बाणोंकी वर्षा करता हुआ शल्यके रथपर चढ़ आया ॥ ४५½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम् ॥ ४६ ॥
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन्।
मद्रराजमभीप्सन्तो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम् ॥ ४७ ॥

मतवाले हाथीके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले श्वेतको धावा करते देख आपके सात रथियोंने मौतके दाँतोंमें फँसे हुए मद्रराज शल्यको बचानेकी इच्छा रखकर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४६-४७ ॥

बृहद्बलश्च कौसल्यो जयत्सेनश्च मागधः।
तथा रुक्मरथो राजन् शल्यपुत्रः प्रतापवान् ॥ ४८ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः।
बृहत्क्षत्रस्य दायादः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ४९ ॥

राजन्! उन रथियोंके नाम ये हैं—कोसलनरेश बृहद्बल, मगधदेशीय जयत्सेन, शल्यके प्रतापी पुत्र रुक्मरथ, अवन्तिके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण तथा बृहत्क्षत्रके पुत्र सिंधुराज जयद्रथ ॥ ४८-४९ ॥

नानावर्णविचित्राणि धनूंषि च महात्मनाम्।
विस्फारितानि दृश्यन्ते तोयदेष्विव विद्युतः ॥ ५० ॥

इन महामना वीरोंके फैलाये हुए अनेक रूपरंगके विचित्र धनुष बादलोंमें बिजलियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥

ते तु बाणमयं वर्षं श्वेतमूर्धन्यपातयन्।
निदाघान्तेऽनिलोद्धूता मेघा इव नगे जलम् ॥ ५१ ॥

उन सबने श्वेतके मस्तकपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें वायुके द्वारा उठाये हुए मेघ पर्वतपर जल बरसा रहे हों ॥ ५१ ॥

ततः क्रुद्धो महेष्वासः सप्तभल्लैः सुतेजनैः।
धनूंषि तेषामाच्छिद्य ममर्द पृतनापतिः ॥ ५२ ॥

उस समय महान् धनुर्धर सेनापति श्वेतने कुपित होकर तेज किये हुए भल्ल नामक सात बाणोंद्वारा उन सातों रथियोंके धनुष काटकर उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ५२ ॥

निकृत्तान्येव तानि स्म समदृश्यन्त भारत।
ततस्ते तु निमेषार्धात् प्रत्यपद्यन् धनूंषि च ॥ ५३ ॥
सप्त चैव पृषत्कांश्च श्वेतस्योपर्यपातयन् ।
ततः पुनरमेयात्मा भल्लैः सप्तभिराशुगैः।
निचकर्त महाबाहुस्तेषां चापानि धन्विनाम् ॥ ५४ ॥

भारत ! वे सातों धनुष कट जानेपर ही दृष्टिमें आये। तदनन्तर उन सबने आधे निमेषमें ही दूसरे धनुष ले लिये और श्वेतके ऊपर एक ही साथ सात बाण चलाये। तब अमेय आत्मबलसे युक्त महाबाहु श्वेतने पुनः शीघ्रगामी सात भल्ल मारकर उन धनुर्धरोंके धनुष काट दिये ॥ ५३-५४ ॥

ते निकृत्तमहाचापास्त्वरमाणा महारथाः।
रथशक्तीः परामृश्य विनेदुर्भैरवान् रवान् ॥ ५५ ॥

अपने विशाल धनुषोंके कट जानेपर उन सातों महारथियोंने बड़ी उतावलीके साथ रथ-शक्तियाँ उठा लीं और भयंकर गर्जना की ॥ ५५ ॥

अन्वयुर्भरतश्रेष्ठ सप्त श्वेतरथं प्रति।
ततस्ता ज्वलिताः सप्त महेन्द्राशनिनिःस्वनाः ॥ ५६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे सातों शक्तियाँ प्रज्वलित हो देवराज इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर शब्द करती हुई श्वेतके रथकी ओर एक साथ चलीं ॥ ५६ ॥

अप्राप्ताः सप्तभिर्भल्लैश्चिच्छेद परमास्त्रवित्।
ततः समादाय शरं सर्वकायविदारणम् ॥ ५७ ॥
प्राहिणोद् भरतश्रेष्ठ श्वेतो रुक्मरथं प्रति।

परंतु श्वेत उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता थे। उन्होंने सात भल्ल मारकर अपने निकट आनेसे पहले ही उन शक्तियोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् श्वेतने सबकी काया-को विदीर्ण कर देनेवाले एक बाणको लेकर उसे रुक्म-रथकी ओर चलाया ॥ ५७½ ॥

तस्य देहे निपतितो बाणो वज्रातिगो महान् ॥ ५८ ॥
ततो रुक्मरथो राजन् सायकेन दृढाहतः।
निषसाद रथोपस्थे कश्मलं चाविशन्महत् ॥ ५९ ॥

वज्रसे भी अधिक प्रभावशाली वह महान् बाण रुक्म-रथके शरीरपर जा गिरा। राजन् ! उस बाणसे अत्यन्त घायल होकर रुक्मरथ अपने रथके पिछले भागमें बैठ गया और अत्यन्त मूर्छित हो गया ॥ ५८-५९ ॥

तं विसंज्ञं विमनसं त्वरमाणस्तु सारथिः।
अपोवाह न सम्भ्रान्तः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ६० ॥

उसे अचेत और अनमना देख सारथि तनिक भी घबराहटमें न पड़कर अत्यन्त उतावलीके साथ सबके देखते-देखते रणभूमिसे दूर हटा ले गया ॥ ६० ॥

ततोऽन्यान् षट् समादाय श्वेतो हेमविभूषितान्।
तेषां षण्णां महाबाहुर्ध्वजशीर्षाण्यपातयत् ॥ ६१ ॥

तब महाबाहु श्वेतने दूसरे स्वर्णभूषित छः बाण लेकर उन छहों रथियोंके ध्वजके अग्रभाग काट गिराये ॥ ६१ ॥

हयांश्च तेषां निर्भिद्य सारथींश्च परंतप।
शरैश्चैतान् समाकीर्य प्रायाच्छल्यरथं प्रति ॥ ६२ ॥

परंतप ! फिर उनके घोड़ों और सारथियोंको विदीर्ण करके उनके शरीरोंमें भी बहुत-से बाण जड़ दिये। इसके बाद श्वेतने शल्यके रथपर धावा किया ॥ ६२ ॥

ततो हलहलाशब्दस्तव सैन्येषु भारत।
दृष्ट्वा सेनापतिं तूर्णं यान्तं शल्यरथं प्रति ॥ ६३ ॥

भारत ! तब सेनापति श्वेतको शीघ्रतापूर्वक शल्यके रथकी ओर जाते देख आपकी सेनाओंमें हाहाकार मच गया ॥ ६३ ॥

ततो भीष्मं पुरस्कृत्य तव पुत्रो महाबलः।
वृतस्तु सर्वसैन्येन प्रायाच्छ्वेतरथं प्रति ॥ ६४ ॥
मृत्योरास्यमनुप्राप्तं मद्रराजममोचयत्।

तब आपके महाबली पुत्र दुर्योधनने भीष्मजीको आगे करके सम्पूर्ण सेनाके साथ श्वेतके रथपर चढ़ाई की और मृत्युके मुखमें पहुँचे हुए मद्रराज शल्यको छुड़ा लिया ।६४½।

ततो युद्धं समभवत् तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ ६५ ॥
तावकानां परेषां च व्यतिषक्तरथद्विपम्।

तदनन्तर आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें अत्यन्त भयंकर रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। रथसे रथ और हाथीसे हाथी गुँथ गये ॥ ६५½ ॥

सौभद्रे भीमसेने च सात्यकौ च महारथे ॥ ६६ ॥
कैकेये च विराटे च धृष्टद्युम्ने च पार्षते।
एतेषु नरसिंहेषु चेदिमत्स्येषु चैव ह।
ववर्ष शरवर्षाणि कुरुवृद्धः पितामहः ॥ ६७ ॥

पाण्डवपक्षकी ओरसे सुभद्राकुमार अभिमन्यु, भीमसेन, महारथी सात्यकि, केकयराजकुमार, राजा विराट तथा द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न—ये पुरुषसिंह और चेदि एवं मत्स्यदेशके क्षत्रिय युद्ध कर रहे थे। कुरुकुलके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मने इन सबपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥६६-६७॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि श्वेतयुद्धे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें श्वेतयुद्धविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

श्वेतका महाभयंकर पराक्रम और भीष्मके द्वारा उसका वध

धृतराष्ट्र उवाच

एवं श्वेते महेष्वासे प्राप्ते शल्यरथं प्रति ।
कुरवः पाण्डवेयाश्च किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥
भीष्मः शान्तनवः किं वा तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार महान् धनुर्धर श्वेतके शल्यके रथके समीप पहुँचनेपर कौरवों तथा पाण्डवोंने क्या किया ?अथवा शान्तनुनन्दन भीष्मने कौन-सा पुरुषार्थ किया ? मेरे पूछनेके अनुसार ये सब बातें मुझसे कहो ॥ १½ ॥

संजय उवाच

राजञ्शतसहस्राणि ततः क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ २ ॥
श्वेतं सेनापतिं शूरं पुरस्कृत्य महारथाः ।
राज्ञो बलं दर्शयन्तस्तव पुत्रस्य भारत ॥ ३ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य त्रातुमैच्छन्महारथाः ।
अभ्यवर्तन्त भीष्मस्य रथं हेमपरिष्कृतम् ॥ ४ ॥
जिघांसन्तं युधां श्रेष्ठं तदाऽऽसीत् तुमुलं महत् ।

संजय कहते हैं—राजन् ! पाण्डवपक्षके लाखों क्षत्रिय-शिरोमणि महारथी विराट-सेनापति शूरवीर श्वेतको आगे करके आपके पुत्र दुर्योधनको अपना बल दिखाते हुए शिखण्डीको सामने रखकर भीष्मके सुवर्णभूषित रथपर चढ़ आये। भारत ! वे महारथी श्वेतकी रक्षा करना चाहतेथे। इसलिये उसे मारनेकी इच्छावाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्मपर उन्होंने धावा किया। उस समय बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥

तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि महावैशसमद्भुतम् ॥ ५ ॥
तावकानां परेषां च यथा युद्धमवर्तत ।

आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें जो महान् संहारकारी युद्ध जिस प्रकार हुआ, उसका उसी रूपमें आपसे वर्णन करता हूँ ॥ ५½ ॥

तत्राकरोद् रथोपस्थाञ्शून्याञ्शान्तनवो बहून् ॥ ६ ॥
तत्राद्भुतं महच्चक्रे शरैराच्छेद् रथोत्तमान् ।
समावृणोच्छरैरर्कमर्कतुल्यप्रतापवान् ॥ ७ ॥

उस युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मने बहुत-से रथोंकी बैठकोंको रथियोंसे शून्य कर दिया। वहाँ उन्होंने अत्यन्त अद्भुत कार्य किया। अपने बाणोंद्वारा बहुत-से श्रेष्ठ रथियोंको बहुत पीड़ा दी। वे सूर्यके समान तेजस्वी थे। उन्होंने अपने सायकोंद्वारा सूर्यदेवको भी आच्छादित कर दिया ॥ ६-७ ॥

नुदन् समन्तात् समरे रविरुद्यन् यथा तमः ।
तेनाजौ प्रेषिता राजन् शराः शतसहस्रशः ॥ ८ ॥
क्षत्रियान्तकराः संख्ये महावेगा महाबलाः ।
शिरांसि पातयामासुर्वीराणां शतशो रणे ॥ ९ ॥

जैसे सूर्य उदित होकर अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार वे सब ओर समरभूमिमें शत्रुसेनाओंका संहार कर रहे थे। राजन् ! उनके द्वारा चलाये हुए महान् वेग और बलसे सम्पन्न तथा क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले लाखों बाणोंने रणभूमिमें सैकड़ों श्रेष्ठ वीरोंके मस्तक काट गिराये ॥ ८-९ ॥

गजान् कण्टकसन्नाहान् वज्रेणेव शिलोच्चयान् ।
रथा रथेषु संसक्ता व्यदृश्यन्त विशाम्पते ॥ १० ॥

उन बाणोंने वज्रके मारे हुए पर्वतोंकी भाँति काँटेदार कवचोंसे सुसज्जित हाथियोंको भी धराशायी कर दिया। प्रजानाथ ! उस समय रथ रथोंसे सटे हुए दिखायी देते थे ॥

एके रथं पर्यवहंस्तुरगाः सतुरङ्गमम् ।
युवानं निहतं वीरं लम्बमानं सकार्मुकम् ॥ ११ ॥

कितने ही घोड़े अपनेसहित रथको लिये हुए दूर भागे जा रहे थे और उसपर मरा हुआ नवयुवक वीर रथी धनुषके साथ ही लटक रहा था ॥ ११ ॥

उदीर्णाश्च हया राजन् वहन्तस्तत्र तत्र ह ।
बद्धखड्गनिषङ्गाश्च विध्वस्तशिरसो हताः ॥ १२ ॥
शतशः पतिता भूमौ वीरशय्यासु शेरते ।

राजन् ! वे प्रचण्ड घोड़े उस रथको लिये-दिये यत्र-तत्र घूम रहे थे। कमरमें तलवार और पीठपर तरकस बाँधे हुए सैकड़ों आहत वीर मस्तक कट जानेके कारण पृथ्वीपर गिरकर वीरोचित शय्याओंपर शयन कर रहे थे ॥ १२½ ॥

परस्परेण धावन्तः पतिताः पुनरुत्थिताः ॥ १३ ॥
उत्थाय च प्रधावन्तो द्वन्द्वयुद्धमवाप्नुवन् ।
पीडिताः पुनरन्योन्यं लुठन्तो रणमूर्धनि ॥ १४ ॥

एक दूसरेपर धावा करनेवाले कितने ही सैनिक गिर पड़ते और फिर उठकर खड़े हो जाते थे। खड़े होकर वे दौड़ते और परस्पर द्वन्द्वयुद्ध करने लगते थे। फिर आपसके प्रहारोंसे पीड़ित हो वे युद्धके मुहानेपर ही गिरकर लुढ़क जाते थे ॥ १३-१४ ॥

सचापाः सनिषङ्गाश्च जातरूपपरिष्कृताः ।
विस्रब्धहतवीराश्च शतशः परिपीडिताः ॥ १५ ॥
तेन तेनाभ्यधावन्त विसृजन्तश्च भारत ।

भारत ! सैकड़ों वीर धनुष और तरकस लिये सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित हो कितने ही विपक्षी वीरोंका विश्वस्त-भावसे विनाश करके स्वयं भी शत्रुओंके प्रहारसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे और स्वयं भी अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करते

हुए विभिन्न मार्गोंसे इधर-उधर भाग-दौड़ कर रहे थे ॥१५½॥

मत्तो गजः पर्यवर्तद्धयांश्च हतसादिनः ॥ १६ ॥
सरथा रथिनश्चापि विमृद्नन्तः समन्ततः ।

मतवाले हाथी उन घोड़ोंके पीछे पड़े थे, जिनके सवार मारे गये थे। इसी प्रकार रथोंसहित रथी चारों ओर भूतलपर पड़ी हुई लाशोंको रौंदते हुए विचरण करते थे ॥१६½॥

स्यन्दनादपतत् कश्चिन्निहतोऽन्येन सायकैः ॥ १७ ॥
हतसारथिरप्युच्चैः पपात काष्ठवद् रथः ।

कितने ही वीर दूसरोंके बाणोंसे मारे जाकर रथसे गिर पड़ते थे। कहीं सारथिके मारे जानेपर रथ साधारण काष्ठकी भाँति ऊँचेसे नीचे गिर पड़ता था ॥ १७½ ॥

युध्यमानस्य संग्रामे व्यूढे रजसि चोत्थिते ॥ १८ ॥
धनुःकूजितविज्ञानं तत्रासीत् प्रतियुद्ध्यतः ।
गात्रस्पर्शेन योधानां व्यज्ञासीत् परिपन्थिनम् ॥ १९ ॥

उस संग्राममें इतनी धूल उड़ी कि कुछ सूझ नहीं पड़ता था। केवल धनुषकी टंकारसे ही यह जाना जाता था कि प्रतिद्वन्द्वी युद्ध कर रहा है। कितने ही योद्धा दूसरे योद्धाओंके शरीरका स्पर्श करके ही यह समझ पाते थे कि यह शत्रु-दलका है ॥ १८-१९ ॥

युद्ध्यमानं शरै राजन् सिञ्जिनीध्वजिनीरवात् ।
अन्योन्यं वीरसंशब्दो नाश्रूयत भटैः कृतः ॥ २० ॥

राजन् ! कुछ लोग धनुषकी टंकार और सेनाका कोलाहल सुनकर ही यह समझ पाते थे कि कोई बाणोंद्वारा युद्ध कर रहा है। योद्धा एक दूसरेके प्रति जो वीरोचित गर्जना करते थे, वह भी उस समय अच्छी तरह सुनायी नहीं देती थी ॥

शब्दायमाने संग्रामे पटहे कर्णदारिणि ।
युद्ध्यमानस्य संग्रामे कुर्वतः पौरुषं स्वकम् ॥ २१ ॥
नाश्रौषं नामगोत्राणि कीर्तनं च परस्परम् ।

कानोंका परदा फाड़नेवाले डंकेकी आवाजसे सारी रण-भूमि गूँज उठी थी। अतः वहाँ अपने पुरुषार्थको प्रकट करनेवाले किसी योद्धाकी बात मुझे नहीं सुनायी देती थी। वे लोग जो आपसमें नाम-गोत्र आदिका परिचय देते थे, उसे भी मैं नहीं सुन पाता था ॥ २१½ ॥

भीष्मचापच्युतैर्बाणैरार्तानां युध्यतां मृधे ॥ २२ ॥
परस्परेषां वीराणां मनांसि समकम्पयन् ।

युद्धमें भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बाणोंसे समस्त योद्धा पीड़ित हो रहे थे। उन बाणोंने परस्पर सभी वीरोंके हृदय कँपा दिये थे ॥ २२½ ॥

तस्मिन्नत्याकुले युद्धे दारुणे लोमहर्षणे ॥ २३ ॥
पिता पुत्रं च समरे नाभिजानाति कश्चन ।

वह युद्ध अत्यन्त भयंकर, रोमाञ्चकारी तथा सबको व्याकुल कर देनेवाला था। उसमें कोई पिता अपने पुत्रको भी पहचान नहीं पाता था ॥ २३½ ॥

चक्रे भग्ने युगे छिन्ने एकधुर्ये हये हतः ॥ २४ ॥
आक्षिप्तः स्यन्दनाद् वीरः ससारथिरजिह्मगैः ।

भीष्मके बाणोंसे पहिये टूट गये, जूआ कट गया और एकमात्र बचा हुआ रथका घोड़ा भी मारा गया। उस दशामें रथपर बैठा हुआ सारथिसहित वीर रथी भी उनके बाणोंसे आहत होकर स्वर्ग सिधारा ॥ २४½ ॥

एवं च समरे सर्वे वीराश्च विरथीकृताः ॥ २५ ॥
तेन तेन स्म दृश्यन्ते धावमानाः समन्ततः ।

इस प्रकार उस समराङ्गणमें रथहीन हुए सभी वीर भिन्न-भिन्न मार्गोंसे सब ओर दौड़ते दिखायी देते थे ॥२५½॥

गजो हतः शिरश्छिन्नं मर्म भिन्नं हयो हतः ॥ २६ ॥
अहतः कोऽपि नैवासीद् भीष्मे निघ्नति शात्रवान् ।

किसीका हाथी मारा गया, किसीका मस्तक कट गया, किसीके मर्मस्थान विदीर्ण हो गये और किसीका घोड़ा ही नष्ट हो गया। जब भीष्मजी शत्रुओंका संहार कर रहे थे, उस समय (उनके सम्मुख आया हुआ) कोई भी ऐसा विपक्षी नहीं बचा, जो घायल न हुआ हो ॥ २६½ ॥

श्वेतः कुरूणामकरोत् क्षयं तस्मिन् महाहवे ॥ २७ ॥
राजपुत्रान् रथोदारानवधीच्छतसंघशः ।

इसी प्रकार उस महायुद्धमें श्वेत भी कौरवोंका संहार कर रहे थे। उन्होंने सैकड़ों श्रेष्ठ रथी राजकुमारोंका संहार कर डाला ॥ २७½ ॥

चिच्छेद रथिनां बाणैः शिरांसि भरतर्षभ ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! श्वेतने अपने बाणोंद्वारा बहुत-से रथियोंके मस्तक काट डाले ॥ २८ ॥

साङ्गदा बाहवश्चैव धनूंषि च समन्ततः ।
रथेषां रथचक्राणि तूणीराणि युगानि च ॥ २९ ॥

उन्होंने सब ओर बाण मारकर कितने ही योद्धाओंके धनुष और बाजूबंदसहित भुजाएँ काट डालीं। रथके ईषादण्ड, रथ-चक्र, तूणीर और जूए भी छिन्न-भिन्न कर दिये ॥ २९ ॥

छत्राणि च महार्हाणि पताकाश्च विशाम्पते ।
हयौघाश्च रथौघाश्च नरौघाश्चैव भारत ॥ ३० ॥
वारणाः शतशश्चैव हताः श्वेतेन भारत ।

राजन् ! बहुमूल्य छत्र और पताकाएँ भी उनके बाणोंसे खण्डित हो गयीं। भरतनन्दन ! श्वेतने अश्वों, रथों और मनुष्योंके समुदायका तो वध किया ही; सैकड़ों हाथी भी मार गिराये ॥ ३०½ ॥

वयं श्वेतभयाद् भीता विहाय रथसत्तमम् ॥ ३१ ॥

अपयातास्तथा पश्चाद् विभुं पश्याम धृष्णवः ।
शरपातमतिक्रम्य कुरवः कुरुनन्दन ॥ ३२ ॥
भीष्मं शान्तनवं युद्धे स्थिताः पश्याम सर्वशः ।

कुरुनन्दन ! हमलोग भी श्वेतके भयसे महारथी भीष्मको अकेला छोड़कर भाग खड़े हुए । इसीलिये इस समय जीवित रहकर महाराजका दर्शन कर रहे हैं। हम सभी कौरव श्वेतका बाण जहाँतक पहुँच पाता था, उतनी दूरीको लाँघकर युद्धभूमिमें खड़े हो दर्शककी भाँति शान्तनुनन्दन भीष्मको देख रहे थे॥

अदीनो दीनसमये भीष्मोऽस्माकं महाहवे ॥ ३३ ॥
एकस्तस्थौ नरव्याघ्रो गिरिर्मेरुरिवाचलः ।

उस महान् संग्राममें हमलोगोंके लिये कातरताका समय आ गया था, तो भी अकेले नरश्रेष्ठ भीष्म ही दीनतासे रहित हो मेरुपर्वतकी भाँति वहाँ अविचलभावसे खड़े रहे ॥३३½॥

आददान इव प्राणान् सविता शिशिरात्यये । ३४ ॥
गभस्तिभिरिवादित्यस्तस्थौ शरमरीचिमान् ।

जैसे सर्दीके अन्तमें सूर्यदेव धरतीका जल सोखने लगते हैं, उसी प्रकार भीष्म समस्त सैनिकोंके प्राणों का अपहरण-सा कर रहे थे । किरणोंसे सुशोभित सूर्यदेवकी भाँति भीष्म बाणरूपी रश्मियोंसे शोभा पाते हुए वहाँ खड़े थे ॥ ३४½ ॥

स मुमोच महेष्वासः शरसंघाननेकशः ॥ ३५ ॥
निघ्नन्नमित्रान् समरे वज्रपाणिरिवासुरान् ।

जैसे वज्रपाणि इन्द्र असुरोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार महाधनुर्धर भीष्म उस रणक्षेत्रमें शत्रुओंका विनाश करते हुए बारंबार बाणसमूहोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ ३५½ ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण प्रजहुस्तं महाबलम् ॥ ३६ ॥
स्वयूथादिव ते यूथान्मुक्तं भूमिषु दारुणम् ।

महाबली भीष्मजी अपने झुंडसे बिछुड़े हुए हाथीकी भाँति आपकी सेनासे बिलग होकर उस रणभूमिमें अत्यन्त भयंकर हो रहे थे; उनकी मार खाकर सम्पूर्ण शत्रु उन्हें छोड़-कर भाग गये ॥ ३६½ ॥

तमेवमुपलक्ष्यैको हृष्टः पुष्टः परंतप ॥ ३७ ॥
दुर्योधनप्रिये युक्तः पाण्डवान् परिशोचयन् ।
जीवितं दुस्त्यजं त्यक्त्वा भयं च सुमहाहवे ॥ ३८ ॥

परंतप ! श्वेतको पूर्वोक्तरूपसे कौरव-सेनाका संहार करते देख एकमात्र भीष्म ही उत्साहित और प्रफुल्ल हो पाण्डवोंको शोकमें डालते हुए जीवनका मोह और भय छोड़कर उस महासमरमें दुर्योधनके प्रिय कार्यमें जुट गये ॥ ३७-३८ ॥

पातयामास सैन्यानि पाण्डवानां विशाम्पते ।
प्रहरन्तमनीकानि पिता देवव्रतस्तव ॥ ३९ ॥
दृष्ट्वा सेनापतिं भीष्मस्त्वरितः श्वेतमभ्ययात् ।

राजन् ! भीष्मजीने पाण्डवोंके बहुत-से सैनिकोंको मार गिराया । आपके पिता देवव्रतने जब देखा कि सेनापति श्वेत हमारी सेनापर प्रहार कर रहे हैं, तब वे तुरंत उनका सामना करनेके लिये गये ॥ ३९½ ॥

स भीष्मं शरजालेन महता समवाकिरत् ॥ ४० ॥
श्वेतं चापि तथा भीष्मः शरौघैः समवाकिरत् ।

श्वेतने अपने असंख्य बाणोंका जाल-सा बिछाकर भीष्मको ढक दिया । तब भीष्मने भी श्वेतपर बाणसमूहोंकी वर्षा की ॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ मत्ताविव महाद्विपौ ॥ ४१ ॥
व्याघ्राविव सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ।

वे दोनों वीर गर्जते हुए दो साँड़ों, मदसे उन्मत्त हुए दो गजराजों तथा क्रोधमें भरे हुए दो सिंहोंकी भाँति एक दूसरेपर चोट करने लगे ॥ ४१½ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य ततस्तौ पुरुषर्षभौ ॥ ४२ ॥
भीष्मः श्वेतश्च युयुधे परस्परवधैषिणौ ।

तदनन्तर वे दोनों पुरुषश्रेष्ठ भीष्म और श्वेत अपने अस्त्रोंद्वारा विपक्षीके अस्त्रोंका निवारण करके एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे युद्ध करने लगे ॥ ४२½ ॥

एकाह्ना निर्दहेद् भीष्मः पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ ४३ ॥
शरैः परमसंक्रुद्धो यदि श्वेतो न पालयेत् ।

यदि श्वेत पाण्डव-सेनाकी रक्षा न करते तो भीष्मजी अत्यन्त क्रुद्ध होकर एक ही दिनमें उसे भस्म कर डालते ॥ ४३½ ॥

पितामहं ततो दृष्ट्वा श्वेतेन विमुखीकृतम् ॥ ४४ ॥
प्रहर्षं पाण्डवा जग्मुः पुत्रस्ते विमनाऽभवत् ।

तदनन्तर पितामह भीष्मको श्वेतके द्वारा युद्धसे विमुख किया हुआ देख समस्त पाण्डवोंको बड़ा हर्ष हुआ; परंतु आपके पुत्र दुर्योधनका मन उदास हो गया ॥ ४४½ ॥

ततो दुर्योधनः क्रुद्धः पार्थिवैः परिवारितः ॥ ४५ ॥
ससैन्यः पाण्डवानीकमभ्यद्रवत संयुगे ।

तब दुर्योधनने कुपित हो समस्त राजाओं तथा सेनाके साथ उस युद्धभूमिमें पाण्डव-सेनापर आक्रमण किया ॥४५½॥

दुर्मुखः कृतवर्मा च कृपः शल्यो विशाम्पतिः ॥ ४६ ॥
भीष्मं जुगुपुरासाद्य तव पुत्रेण नोदिताः ।

दुर्मुख, कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा राजा शल्य आपके पुत्रकी आज्ञासे आकर भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ ४६½ ॥

दृष्ट्वा तु पार्थिवैः सर्वैर्दुर्योधनपुरोगमैः ॥ ४७ ॥
पाण्डवानामनीकानि वध्यमानानि संयुगे ।
श्वेतो गाङ्गेयमुत्सृज्य तव पुत्रस्य वाहिनीम् ॥ ४८ ॥
नाशयामास वेगेन वायुर्वृक्षानिवौजसा ।

दुर्योधन आदि सब राजाओंके द्वारा पाण्डवसेनाको युद्धमें मारी जाती देख श्वेतने गङ्गापुत्र भीष्मको छोड़कर आपके

पुत्रकी सेनाका उसी प्रकार वेगपूर्वक विनाश आरम्भ किया, जैसे आँधी अपनी शक्तिसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है ॥

द्रावयित्वा चमूं राजन् वैराटिः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४९ ॥
आपतत् सहसा भूयो यत्र भीष्मो व्यवस्थितः ।

राजन्! विराटपुत्र श्वेत उस समय क्रोधसे मूर्छित हो रहे थे। वे आपकी सेनाको दूर भगाकर फिर सहसा वहीं आ पहुँचे, जहाँ भीष्म खड़े थे ॥ ४९½ ॥

तौ तत्रोपगतौ राजन् शरदीप्तौ महाबलौ ॥ ५० ॥
अयुध्येतां महात्मानौ यथोभौ वृत्रवासवौ ।
अन्योन्यं तु महाराज परस्परवधैषिणौ ॥ ५१ ॥

महाराज! वे दोनों महाबली महामना वीर बाणोंसे उद्दीप्त हो एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे समीप आकर वृत्रासुर और इन्द्रके समान युद्ध करने लगे ॥ ५०-५१ ॥

निगृह्य कार्मुकं श्वेतो भीष्मं विव्याध सप्तभिः ।
पराक्रमं ततस्तस्य पराक्रम्य पराक्रमी ॥ ५२ ॥
तरसा वारयामास मत्तो मत्तमिव द्विपम् ।

श्वेतने धनुष खींचकर सात बाणोंद्वारा भीष्मको बेध डाला। तब पराक्रमी भीष्मने श्वेतके उस पराक्रमको स्वयं पराक्रम करके वेगपूर्वक रोक दिया; मानो किसी मतवाले हाथीने दूसरे मतवाले हाथीको रोक दिया हो॥ ५२½ ॥

श्वेतः शान्तनवं भूयः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ५३ ॥
विव्याध पञ्चविंशत्या तदद्भुतमिवाभवत् ।

तदनन्तर श्वेतने पुनः झुकी हुई गाँठवाले पचीस बाणोंसे शान्तनुनन्दन भीष्मको बींध डाला। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ५४ ॥
स विद्धस्तेन बलवान् नाकम्पत यथाचलः ।

तब शान्तनुनन्दन भीष्मने भी दस बाण मारकर बदला चुकाया। उनके द्वारा घायल किये जानेपर भी बलवान् श्वेत विचलित नहीं हुआ। वह पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ॥ ५४½ ॥

वैराटिः समरे क्रुद्धो भृशमायम्य कार्मुकम् ॥ ५५ ॥
आजघान ततो भीष्मं श्वेतः क्षत्रियनन्दनः ।

तदनन्तर क्षत्रियकुलको आनन्दित करनेवाले विराट-कुमार श्वेतने युद्धमें कुपित हो धनुषको जोर-जोरसे खींचकर भीष्मपर पुनः बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ ५५½ ॥

सम्प्रहस्य ततः श्वेतः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ५६ ॥
धनुश्चिच्छेद भीष्मस्य नवभिर्दशधा शरैः ।

इसके बाद उन्होंने हँसकर अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए नौ बाण मारकर भीष्मके धनुषके दस टुकड़े कर दिये ॥ ५६½ ॥

संधाय विशिखं चैव शरं लोमप्रवाहिनम् ॥ ५७ ॥
उन्ममाथ ततस्तालं ध्वजशीर्षं महात्मनः ।

फिर शिखाशून्य पंखयुक्त बाणका संधान करके उसके द्वारा महात्मा भीष्मके तालचिह्नयुक्त ध्वजका ऊपरी भाग काट डाला ॥ ५७½ ॥

केतुं निपतितं दृष्ट्वा भीष्मस्य तनयास्तव ॥ ५८ ॥
हतं भीष्मममन्यन्त श्वेतस्य वशमागतम् ।

भीष्मके ध्वजको नीचे गिरा देख आपके पुत्रोंने उन्हें श्वेतके वशमें पड़कर मरा हुआ ही माना ॥ ५८½ ॥

पाण्डवाश्चापि संहृष्टा दध्मुः शङ्खान् मुदा युताः॥ ५९ ॥
भीष्मस्य पतितं केतुं दृष्ट्वा तालं महात्मनः ।

महात्मा भीष्मके तालध्वजको पृथ्वीपर पड़ा देख पाण्डव हर्षसे उल्लसित हो प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाने लगे ॥ ५९½ ॥

ततो दुर्योधनः क्रोधात् स्वमनीकमनोदयत् ॥ ६० ॥
यत्ता भीष्मं परीप्सध्वं रक्षमाणाः समन्ततः ।
मा नः प्रपश्यमानानां श्वेतान्मृत्युमवाप्स्यति ॥ ६१ ॥
भीष्मः शान्तनवः शूरस्तथा सत्यं ब्रवीमि वः ।

तब दुर्योधनने क्रोधपूर्वक अपनी सेनाको आदेश दिया—'वीरो! सावधान होकर सब ओरसे भीष्मकी रक्षा करते हुए उन्हें घेरकर खड़े हो जाओ। कहीं ऐसा न हो कि ये हमारे देखते-देखते श्वेतके हाथों मारे जायँ। मैं तुमलोगोंको सत्य कहता हूँ कि शान्तनुनन्दन भीष्म महान् शूरवीर हैं'॥ ६०-६१½ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा त्वरमाणा महारथाः ॥ ६२ ॥
बलेन चतुरङ्गेण गाङ्गेयमन्वपालयन् ।

राजा दुर्योधनकी यह बात सुनकर सब महारथी बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये और चतुरङ्गिणी सेनाद्वारा गङ्गा-नन्दन भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ ६२½ ॥

बाह्लीकः कृतवर्मा च शलः शल्यश्च भारत ॥ ६३ ॥
जलसंधो विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ।
त्वरमाणास्त्वराकाले परिवार्य समन्ततः ॥ ६४ ॥
शस्त्रवृष्टिं सुतुमुलां श्वेतस्योपर्यपातयन् ।

भारत! बाह्लीक, कृतवर्मा, शल, शल्य, जलसंध, विकर्ण, चित्रसेन और विविंशति—इन सबने शीघ्रताके अवसरपर शीघ्रता करते हुए चारों ओरसे भीष्मजीको घेर लिया और श्वेतके ऊपर भयंकर शस्त्र-वर्षा करने लगे ॥ ६३-६४½ ॥

तान् क्रुद्धो निशितैर्बाणैस्त्वरमाणो महारथः ॥ ६५ ॥
अवारयदमेयात्मा दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

तब अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न महारथी श्वेतने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए बड़ी उतावलीके साथ क्रोधपूर्वक पैने बाणोंद्वारा उन सबको रोक दिया ॥ ६५½ ॥

स निवार्य तु तान् सर्वान् केसरी कुञ्जरानिव ॥ ६६ ॥
महता शरवर्षेण भीष्मस्य धनुराच्छिनत् ।

जैसे सिंह हाथियोंके समूहको आगे बढ़नेसे रोक देता है, उसी प्रकार उन सभी महारथियोंको रोककर भारी बाणवर्षाके द्वारा श्वेतने भीष्मका धनुष काट दिया ॥ ६६½ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय भीष्मः शान्तनवो युधि॥ ६७ ॥
श्वेतं विव्याध राजेन्द्र कङ्कपत्रैः शितैः शरैः ।

राजेन्द्र ! तब शान्तनुनन्दन भीष्मने दूसरा धनुष लेकर युद्धस्थलमें कंकपत्रयुक्त पैने बाणोंद्वारा श्वेतको घायल कर दिया॥

ततः सेनापतिः क्रुद्धो भीष्मं बहुभिरायसैः ॥ ६८ ॥
विव्याध समरे राजन् सर्वलोकस्य पश्यतः ।

राजन् ! तब सेनापति श्वेतने कुपित हो उस समरभूमिमें बहुत-से लोहमय बाणोंद्वारा सब लोगोंके देखते-देखते भीष्मको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ६८½ ॥

ततः प्रव्यथितो राजा भीष्मं दृष्ट्वा निवारितम् ॥ ६९ ॥
प्रवीरं सर्वलोकस्य श्वेतेन युधि वै तदा ।
निष्ठानकश्च सुमहांस्तव सैन्यस्य चाभवत् ॥ ७० ॥

श्वेतने सम्पूर्ण विश्वके विख्यात वीर भीष्मको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया, यह देखकर राजा दुर्योधनके मनमें बड़ी व्यथा हुई । साथ ही आपकी सेनामें सब लोगोंपर महान् भय छा गया ॥ ६९-७० ॥

तं वीरं वारितं दृष्ट्वा श्वेतेन शरविक्षतम् ।
हतं श्वेतेन मन्यन्ते श्वेतस्य वशमागतम् ॥ ७१ ॥

श्वेतने वीरवर भीष्मको कुण्ठित कर दिया और उनका शरीर बाणोंसे क्षत विक्षत हो गया है, यह देखकर सब लोग यह मानने लगे कि भीष्मजी श्वेतके वशमें पड़ गये हैं और अब उन्हींके हाथसे मारे जायँगे ॥ ७१ ॥

ततः क्रोधवशं प्राप्तः पिता देवव्रतस्तव ।
ध्वजमुन्मथितं दृष्ट्वा तां च सेनां निवारिताम् ॥ ७२ ॥

तब आपके पिता देवव्रत भीष्म अपने ध्वजको टूटकर गिरा हुआ और सेनाको निवारित की हुई देखकर क्रोधके अधीन हो गये ॥ ७२ ॥

श्वेतं प्रति महाराज व्यसृजत् सायकान् बहून् ।
तानावार्य रणे श्वेतो भीष्मस्य रथिनां वरः ॥ ७३ ॥
धनुश्चिच्छेद भल्लेन पुनरेव पितुस्तव ।

महाराज ! उन्होंने श्वेतपर बहुत-से बाणोंकी वर्षा की, परंतु रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतने रणक्षेत्रमें उन सब सायकोंका निवारण करके पुनः एक भल्लके द्वारा आपके पिता भीष्मका धनुष काट दिया ॥ ७३½ ॥

उत्सृज्य कार्मुकं राजन् गाङ्गेयः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ७४ ॥
अन्यत् कार्मुकमादाय विपुलं बलवत्तरम् ।
तत्र संधाय विपुलान् भल्लान् सप्त शिलाशितान् ।७५।
चतुर्भिश्च जघानाश्वाञ्छ्वेतस्य पृतनापतेः ।
ध्वजं द्वाभ्यां तु चिच्छेद सप्तमेन च सारथेः ॥ ७६ ॥
शिरश्चिच्छेद भल्लेन संक्रुद्धो लघुविक्रमः ।

राजन् ! यह देख गङ्गानन्दन भीष्मने क्रोधसे मूर्छित हो उस धनुषको फेंककर दूसरा अत्यन्त प्रबल एवं विशाल धनुष ले लिया और उसके ऊपर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए सात विशाल भल्लोंका संधान किया । उनमेंसे चार भल्लोंके द्वारा उन्होंने सेनापति श्वेतके चार घोड़ोंको मार डाला, दोसे उनका ध्वज काट दिया और अपनी फुर्तीका परिचय देते हुए सातवें भल्लके द्वारा क्रोधपूर्वक उनके सारथिका सिर उड़ा दिया ॥ ७४-७६½ ॥

हताश्वसूतात् स रथादवप्लुत्य महाबलः ॥ ७७ ॥
अमर्षवशमापन्नो व्याकुलः समपद्यत ।

घोड़े और सारथिके मारे जानेपर महाबली श्वेत उस रथसे कूद पड़े और अमर्षके वशीभूत होकर व्याकुल हो उठे॥

विरथं रथिनां श्रेष्ठं श्वेतं दृष्ट्वा पितामहः ॥ ७८ ॥
ताडयामास निशितैः शरसंघैः समन्ततः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतको रथहीन हुआ देख पितामह भीष्मने चारों ओरसे पैने बाणसमूहोंद्वारा उन्हें पीड़ा देनी प्रारम्भ की ॥

स ताड्यमानः समरे भीष्मचापच्युतैः शरैः ॥ ७९ ॥
स्वरथे धनुरुत्सृज्य शक्तिं जग्राह काञ्चनीम् ।

उस समरभूमिमें भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा पीड़ित होनेपर श्वेतने धनुषको रथपर ही छोड़कर सुवर्णमयी शक्ति हाथमें ले ली ॥ ७९½ ॥

ततः शक्तिं रणे श्वेतो जग्राहोग्रां महाभयाम् ॥ ८० ॥
कालदण्डोपमां घोरां मृत्योर्जिह्वामिव श्वसन् ।
अब्रवीच्च तदा श्वेतो भीष्मं शान्तनवं रणे ॥ ८१ ॥

अत्यन्त उग्र, महाभयंकर, कालदण्डके समान घोर और मृत्युकी जिह्वा-सी प्रतीत होनेवाली उस शक्तिको श्वेतने हाथमें उठाया और लंबी साँस लेते हुए रणक्षेत्रमें शान्तनुपुत्र भीष्मसे इस प्रकार कहा—॥ ८०-८१ ॥

तिष्ठेदानीं सुसंरब्धः पश्य मां पुरुषो भव ।
एवमुक्त्वा महेष्वासो भीष्मं युधि पराक्रमी ॥ ८२ ॥
ततः शक्तिममेयात्मा चिक्षेप भुजगोपमाम् ।
पाण्डवार्थे पराक्रान्तस्तवानर्थं चिकीर्षुकः ॥ ८३ ॥

'भीष्म ! इस समय साहसपूर्वक खड़े रहो । मुझे देखो और पुरुष बनो', ऐसा कहकर अमित आत्मबलसे सम्पन्न महाधनुर्धर और पराक्रमी वीर श्वेतने भीष्मपर वह सर्पके समान भयंकर शक्ति चलायी । श्वेत पाण्डवोंका हित और आपके पक्षका अहित करनेकी इच्छासे पराक्रम दिखा रहे थे ॥

हाहाकारो महानासीत् पुत्राणां ते विशाम्पते ।
दृष्ट्वा शक्तिं महाघोरां मृत्योर्दण्डसमप्रभाम् ॥ ८४ ॥
श्वेतस्य करनिर्मुक्तां निर्मुक्तोरगसंनिभाम् ।

राजन् ! श्वेतके हाथसे छूटकर यमदण्डके समान प्रकाशित होनेवाली और केंचुल छोड़कर निकली हुई सर्पिणी-की भाँति अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाली उस शक्तिको देखकर आपके पुत्रोंके दलमें महान् हाहाकार मच गया ८४½

अपतत् सहसा राजन् महोल्केव नभस्तलात् ॥ ८५ ॥
ज्वलन्तीमन्तरिक्षे तां ज्वालाभिरिव संवृताम् ।
असम्भ्रान्तस्तदा राजन् पिता देवव्रतस्तव ॥ ८६ ॥
अष्टभिर्नवभिर्भीष्मः शक्तिं चिच्छेद पत्रिभिः ।

राजन् ! वह शक्ति आकाशसे बहुत बड़ी उल्काके समान सहसा गिरी । अन्तरिक्षमें ज्वालाओंसे घिरी हुई-सी उस प्रज्वलित शक्तिको देखकर आपके पिता देवव्रतको तनिक



भी घबराहट नहीं हुई । उन्होंने आठ-नौ बाण मारकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ८५-८६½ ॥

उत्कृष्टहेमविकृतां निकृतां निशितैः शरैः ॥ ८७ ॥
उच्चुक्रुशुस्ततः सर्वे तावका भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उत्तम सुवर्णकी बनी हुई उस शक्तिको भीष्मके पैने बाणोंसे नष्ट हुई देख आपके पुत्र हर्षके मारे जोर-जोरसे कोलाहल करने लगे ॥ ८७½ ॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा वैराटिः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ८८ ॥
कालोपहतचेतास्तु कर्तव्यं नाभ्यजानत ।
क्रोधसम्मूर्च्छितो राजन् वैराटिः प्रहसन्निव ॥ ८९ ॥
गदां जग्राह संहृष्टो भीष्मस्य निधनं प्रति ।

अपनी शक्तिको इस प्रकार विफल हुई देख विराटपुत्र श्वेत क्रोधसे मूर्छित हो गये । कालने उनकी विवेकशक्तिको नष्ट कर दिया था; अतः उन्हें अपने कर्तव्यका भान न रहा । उन्होंने हर्षसे उत्साहित हो हँसते-हँसते भीष्मको मार डालनेके लिये हाथमें गदा उठा ली ॥ ८८-८९½ ॥

क्रोधेन रक्तनयनो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ९० ॥
भीष्मं समभिदुद्राव जलौघ इव पर्वतम् ।

उस समय उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं । वे हाथमें दण्ड लिये यमराजके समान जान पड़ते थे । जैसे महान् जलप्रवाह किसी पर्वतसे टकराता हो, उसी प्रकार वे गदा लिये भीष्मकी ओर दौड़े ॥ ९०½ ॥

तस्य वेगमसंवार्यं मत्वा भीष्मः प्रतापवान् ॥ ९१ ॥
प्रहारविप्रमोक्षार्थं सहसा धरणीं गतः ।

प्रतापी भीष्म उसके वेगको अनिवार्य समझकर उस प्रहारसे बचनेके लिये सहसा पृथ्वीपर कूद पड़े ॥ ९१½ ॥

श्वेतः क्रोधसमाविष्टो भ्रामयित्वा तु तां गदाम् ॥ ९२ ॥
रथे भीष्मस्य चिक्षेप यथा देवो धनेश्वरः ।

उधर श्वेतने क्रोधसे व्याप्त हो उस गदाको आकाशमें घुमाकर भीष्मके रथपर फेंक दिया, मानो कुबेरने गदाका प्रहार किया हो ॥ ९२½ ॥

तया भीष्मनिपातिन्या स रथो भस्मसात्कृतः ॥ ९३ ॥
सध्वजः सह सूतेन साश्वः सयुगबन्धुरः ।

भीष्मको मार डालनेके लिये चलायी हुई उस गदाके आघातसे ध्वज, सारथि, घोड़े, जूआ और धुरा आदिके साथ वह सारा रथ चूर-चूर हो गया ॥ ९३½ ॥

विरथं रथिनां श्रेष्ठं भीष्मं दृष्ट्वा रथोत्तमाः ॥ ९४ ॥
अभ्यधावन्त सहिताः शल्यप्रभृतयो रथाः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मको रथहीन हुआ देख शल्य आदि उत्तम महारथी एक साथ दौड़े ॥ ९४½ ॥

ततोऽन्यं रथमास्थाय धनुर्विस्फार्य दुर्मनाः ॥ ९५ ॥
शनकैरभ्ययाच्छ्वेतं गाङ्गेयः प्रहसन्निव ।

तब दूसरे रथपर बैठकर धनुषकी टङ्कार करते हुए गङ्गानन्दन भीष्म उदास मनसे हँसते हुए-से धीरे-धीरे श्वेतकी ओर चले ॥ ९५½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे भीष्मः शुश्राव विपुलां गिरम् ॥ ९६ ॥
आकाशादीरितां दिव्यामात्मनो हितसम्भवाम् ।
भीष्म भीष्म महाबाहो शीघ्रं यत्नं कुरुष्व वै ॥ ९७ ॥
एष ह्यस्य जये कालो निर्दिष्टो विश्वयोनिना ।

इसी बीचमें भीष्मने अपने हितसे सम्बन्ध रखनेवाली एक दिव्य एवं गम्भीर आकाशवाणी सुनी—'महाबाहु भीष्म ! शीघ्र प्रयत्न करो । इस श्वेतपर विजय पानेके लिये ब्रह्माजीने यही समय निश्चित किया है' ॥ ९६-९७½ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं देवदूतेन भाषितम् ॥ ९८ ॥
सम्प्रहृष्टमना भूत्वा वधे तस्य मनो दधे ।

देवदूतका कहा हुआ यह वचन सुनकर भीष्मजीका मन प्रसन्न हो गया और उन्होंने श्वेतके वधका विचार किया ॥

विरथं रथिनां श्रेष्ठं श्वेतं दृष्ट्वा पदातिनम् ॥ ९९ ॥
सहितास्त्वभ्यवर्तन्त परीप्सन्तो महारथाः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतको रथहीन और पैदल देख उसकी रक्षा करनेके लिये एक साथ बहुत-से महारथी दौड़े आये ९९½

सात्यकिर्भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥१००॥
कैकेयो धृष्टकेतुश्च अभिमन्युश्च वीर्यवान् ।

उनके नाम इस प्रकार हैं—सात्यकि, भीमसेन, द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न, केकयराजकुमार, धृष्टकेतु तथा पराक्रमी अभिमन्यु ॥ १००½ ॥

एतानापततः सर्वान् द्रोणशल्यकृपैः सह ॥१०१॥
अवारयदमेयात्मा वारिवेगानिवाचलः ।

इन सबको आते देख अमेय शक्तिसम्पन्न भीष्मजीने द्रोणाचार्य, शल्य तथा कृपाचार्यके साथ जाकर उनकी गति रोक दी, मानो किसी पर्वतने जलके प्रवाहको अवरुद्ध कर दिया हो ॥ १०१½ ॥

स निरुद्धेषु सर्वेषु पाण्डवेषु महात्मसु ॥१०२॥
श्वेतः खड्गमथाकृष्य भीष्मस्य धनुराच्छिनत् ।

समस्त महामना पाण्डवोंके अवरुद्ध हो जानेपर श्वेतने तलवार खींचकर भीष्मका धनुष काट दिया ॥ १०२½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं त्वरमाणः पितामहः ॥१०३॥
देवदूतवचः श्रुत्वा वधे तस्य मनो दधे ।

उस कटे हुए धनुषको फेंककर पितामह भीष्मने देव-दूतके कथनपर ध्यान देकर तुरंत ही श्वेतके वधका निश्चय किया ॥ १०३½ ॥

ततः प्रचरमाणस्तु पिता देवव्रतस्तव ॥१०४॥
अन्यत् कार्मुकमादाय त्वरमाणो महारथः ।
क्षणेन सज्यमकरोच्छक्रचापसमप्रभम् ॥१०५॥

तदनन्तर ! आपके पिता महारथी देवव्रतने तुरंत ही दूसरा धनुष लेकर वहाँ विचरण करते हुए ही क्षणभरमें उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी । वह इन्द्रधनुषके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ १०४-१०५ ॥

पिता ते भरतश्रेष्ठ श्वेतं दृष्ट्वा महारथैः ।
वृतं तं मनुजव्याघ्रैर्भीमसेनपुरोगमैः ॥१०६॥
अभ्यवर्तत गाङ्गेयः श्वेतं सेनापतिं द्रुतम् ।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पिता गङ्गानन्दन भीष्मने नरश्रेष्ठ भीमसेन आदि महारथियोंसे घिरे हुए सेनापति श्वेतको देखकर उनपर तुरंत धावा किया ॥ १०६½ ॥

आपतन्तं ततो भीष्मो भीमसेनं प्रतापवान् ॥१०७॥
आजघ्ने विशिखैः षष्ट्या सेनान्यं स महारथः ।

उस समय सेनानायक भीमसेनको सामने आते देख प्रतापी महारथी भीष्मने उन्हें साठ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १०७½ ॥

अभिमन्युं च समरे पिता देवव्रतस्तव ॥१०८॥
आजघ्ने भरतश्रेष्ठस्त्रिभिः संनतपर्वभिः ।

उस समरभूमिमें आपके पिता भरतश्रेष्ठ भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले तीन बाणोंसे अभिमन्युको चोट पहुँचायी १०८½

सात्यकिं च शतेनाजौ भरतानां पितामहः ॥१०९॥
धृष्टद्युम्नं च विंशत्या कैकेयं चापि पञ्चभिः ।
तांश्च सर्वान् महेष्वासान् पिता देवव्रतस्तव ॥११०॥
वारयित्वा शरैर्घोरैः श्वेतमेवाभिदुद्रुवे ।

भरतवंशियोंके उन पितामहने युद्धस्थलमें सौ बाणोंसे सात्यकिको, बीस सायकोंद्वारा धृष्टद्युम्नको और पाँच बाणोंसे केकयराजकुमारको क्षत-विक्षत कर दिया । इस प्रकार आपके पिता भीष्मने अपने भयंकर बाणोंद्वारा उन सम्पूर्ण महा-धनुर्धरोंको जहाँके तहाँ रोककर पुनः श्वेतपर ही आक्रमण किया ॥ १०९-११०½ ॥

ततः शरं मृत्युसमं भारसाधनमुत्तमम् ॥१११॥
विकृष्य बलवान् भीष्मः समाधत्त दुरासदम् ।
ब्रह्मास्त्रेण सुसंयुक्तं तं शरं लोमवाहिनम् ॥११२॥

तदनन्तर महाबली भीष्मने धनुषको खींचकर उसके ऊपर एक मृत्युके समान भयंकर, भारी-से-भारी लक्ष्यको बेधनेमें समर्थ, उत्तम और दुःसह पंखयुक्त बाण रक्खा; फिर उसे ब्रह्मास्त्रद्वारा अभिमन्त्रित करके छोड़ दिया १११-११२

ददृशुर्देवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ।
स तस्य कवचं भित्त्वा हृदयं चामितौजसः ॥११३॥
जगाम धरणीं बाणो महाशनिरिव ज्वलन् ।

उस समय देवताओं, गन्धर्वों, पिशाचों, नागों तथा राक्षसोंने भी देखा, वह बाण महान् वज्रके समान प्रज्वलित हो उठा और अमित बलशाली श्वेतके कवच तथा हृदयको भी छेदकर धरतीमें समा गया ॥ ११३½ ॥

अस्तं गच्छन् यथाऽऽदित्यः प्रभामादाय सत्वरः ॥११४॥
एवं जीवितमादाय श्वेतदेहाज्जगाम ह ।

जैसे डूबता हुआ सूर्य अपनी प्रभा साथ लेकर शीघ्र ही अस्त हो जाता है, उसी प्रकार वह बाण श्वेतके शरीरसे उसके प्राण लेकर चला गया ॥ ११४½॥

तं भीष्मेण नरव्याघ्रं तथा विनिहतं युधि ॥११५॥
प्रपतन्तमपश्याम गिरेः शृङ्गमिव च्युतम् ।

भीष्मके द्वारा मारे गये नरश्रेष्ठ श्वेतको युद्धस्थलमें हमने देखा । वह टूटकर गिरे हुए पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ११५½ ॥

अशोचन् पाण्डवास्तत्र क्षत्रियाश्च महारथाः ॥११६॥
प्रहृष्टाश्च सुतास्तुभ्यं कुरवश्चापि सर्वशः ।

महारथी पाण्डव तथा उस दलके दूसरे क्षत्रिय श्वेतके लिये शोकमें डूब गये। इधर आपके पुत्र समस्त कौरव हर्षसे उल्लसित हो उठे ॥ ११६½ ॥

ततो दुःशासनो राजञ्श्वेतं दृष्ट्वा निपातितम् ॥ ११७॥
वादित्रनिनदैर्घोरैर्नृत्यति स्म समन्ततः।

राजन्! श्वेतको मारा गया देख आपका पुत्र दुःशासन बाजे-गाजेकी भयंकर ध्वनिके साथ चारों ओर नाचने लगा ॥ ११७½ ॥

तस्मिन् हते महेष्वासे भीष्मेणाहवशोभिना ॥ ११८॥
प्रावेपन्त महेष्वासाः शिखण्डिप्रमुखा रथाः।

संग्रामभूमिमें शोभा पानेवाले भीष्मजीके द्वारा महाधनुर्धर श्वेतके मारे जानेपर शिखण्डी आदि महाधनुर्धर रथी भयके मारे काँपने लगे ॥ ११८½ ॥

ततो धनंजयो राजन् वार्ष्णेयश्चापि सर्वशः ॥ ११९॥
अवहारं शनैश्चक्रुर्निहते वाहिनीपतौ।
ततोऽवहारः सैन्यानां तव तेषां च भारत ॥ १२०॥

राजन्! तव सेनापति श्वेतके मारे जानेके कारण अर्जुन और श्रीकृष्णने धीरे-धीरे अपनी सेनाको युद्धभूमिसे पीछे हटा लिया। भारत! फिर आपकी और पाण्डवोंकी सेना भी उस समय युद्धसे विरक्त हो गयी ॥ ११९-१२० ॥

तावकानां परेषां च नर्दतां च मुहुर्मुहुः।
पार्था विमनसो भूत्वा न्यवर्तन्त महारथाः।
चिन्तयन्तो वधं घोरं द्वैरथेन परंतपाः ॥ १२१॥

उस समय आपके और शत्रुपक्षके सैनिक भी बारंबार गर्जना कर रहे थे। उस द्वैरथ युद्धमें जो भयंकर संहार हुआ था, उसके लिये चिन्ता करते हुए शत्रुसंतापी पाण्डव महारथी उदास मनसे शिविरमें लौट आये ॥ १२१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि श्वेतवधे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें श्वेतवधविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शङ्खका युद्ध, भीष्मका प्रचण्ड पराक्रम तथा प्रथम दिनके युद्धकी समाप्ति

धृतराष्ट्र उवाच

श्वेते सेनापतौ तात संग्रामे निहते परैः।
किमकुर्वन् महेष्वासाः पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—तात! सेनापति श्वेतके शत्रुओंद्वारा युद्धस्थलमें मारे जानेपर महान् धनुर्धर पाञ्चालों और पाण्डवोंने क्या किया? ॥ १ ॥

सेनापतिं समाकर्ण्य श्वेतं युधि निपातितम्।
तदर्थं यततां चापि परेषां प्रपलायिनाम् ॥ २ ॥
मनः प्रीणाति मे वाक्यं जयं संजय शृण्वतः।
प्रत्युपायं चिन्तयतो लज्जां प्राप्नोति मे न हि ॥ ३ ॥
स हि वीरोऽनुरक्तश्च वृद्धः कुरुपतिस्तदा।

संजय! सेनापति श्वेत युद्धमें मारे गये। उनकी रक्षाके लिये प्रयत्न करनेपर भी शत्रुओंको पलायन करना पड़ा तथा अपने पक्षकी विजय हुई—ये सब बातें सुनकर मेरे मनमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। शत्रुओंके प्रतीकारका उपाय सोचते हुए मुझे अपने पक्षके द्वारा की गयी अनीतिका स्मरण करके भी लज्जा नहीं आती है। वे वृद्ध एवं वीर कुरुराज भीष्म हमपर सदा अनुराग रखते हैं (इस कारण ही उन्होंने श्वेतके साथ ऐसा व्यवहार किया होगा) ॥ २-३½ ॥

कृतं वैरं सदा तेन पितुः पुत्रेण धीमता ॥ ४ ॥
तस्योद्वेगभयाच्चापि संश्रितः पाण्डवान् पुरा।

उस बुद्धिमान् विराटपुत्र श्वेतने अपने पिताके साथ वैर बाँध रक्खा था, इस कारण पिताके द्वारा प्राप्त होनेवाले उद्वेग एवं भयसे श्वेतने पहले ही पाण्डवोंकी शरण ले ली थी ॥ ४½ ॥

सर्वं बलं परित्यज्य दुर्गं संश्रित्य तिष्ठति ॥ ५ ॥
पाण्डवानां प्रतापेन दुर्गं देशं निवेश्य च।
सपत्नान् सततं बाधन्नार्यवृत्तिमनुष्ठितः ॥ ६ ॥

पहले तो वह समस्त सेनाका परित्याग करके (अकेला ही) दुर्गमें छिपा रहता था। फिर पाण्डवोंके प्रतापसे दुर्गम प्रदेशमें रहकर निरन्तर शत्रुओंको बाधा पहुँचाते हुए सदाचारका पालन करने लगा ॥ ५-६ ॥

आश्चर्यं वै सदा तेषां पुरा राज्ञां सुदुर्मतिः।
ततो युधिष्ठिरे भक्तः कथं संजय सूदितः ॥ ७ ॥

क्योंकि पूर्वकालमें अपने साथ विरोध करनेवाले उन राजाओंके प्रति उसकी बुद्धिमें दुर्भाव था; पर संजय! आश्चर्य तो यह है कि ऐसा शूरवीर श्वेत, जो युधिष्ठिरका बड़ा भक्त था, मारा कैसे गया? ॥ ७ ॥

प्रक्षिप्तः सम्मतः क्षुद्रः पुत्रो मे पुरुषाधमः।
न युद्धं रोचयेद् भीष्मो न चाचार्यः कथंचन ॥ ८ ॥
न कृपो न च गान्धारी नाहं संजय रोचये।

मेरा पुत्र दुर्योधन क्षुद्र स्वभावका है। वह कर्ण आदिका प्रिय तथा चञ्चल बुद्धिवाला है। मेरी दृष्टिमें वह समस्त पुरुषोंमें अधम है (इसीलिये उसके मनमें युद्धके

लिये आग्रह है)। संजय ! मैं, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा गान्धारी-इनमेंसे कोई भी युद्ध नहीं चाहता था ॥८½॥

न वासुदेवो वार्ष्णेयो धर्मराजश्च पाण्डवः ॥ ९ ॥
न भीमो नार्जुनश्चैव न यमौ पुरुषर्षभौ।

वृष्णिवंशी भगवान् वासुदेव, पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा पुरुषरत्न नकुल-सहदेव भी युद्ध नहीं पसंद करते थे ॥ ९½ ॥

वार्यमाणो मया नित्यं गान्धार्या विदुरेण च ॥ १० ॥
जामदग्न्येन रामेण व्यासेन च महात्मना।
दुर्योधनो युध्यमानो नित्यमेव हि संजय ॥ ११ ॥
कर्णस्य मतमास्थाय सौबलस्य च पापकृत्।
दुःशासनस्य च तथा पाण्डवान् नान्वचिन्तयत् ॥१२॥

मैंने, गान्धारीने और विदुरने तो सदा ही उसे मना किया है, जमदग्निपुत्र परशुरामने तथा महात्मा व्यासजीने भी उसे युद्धसे रोकनेका प्रयत्न किया है; तथापि कर्ण, शकुनि तथा दुःशासनके मतमें आकर पापी दुर्योधन सदा युद्धका ही निश्चय रखता आया है। उसने पाण्डवोंको कभी कुछ नहीं समझा ॥ १०–१२ ॥

तस्याहं व्यसनं घोरं मन्ये प्राप्तं तु संजय।
श्वेतस्य च विनाशेन भीष्मस्य विजयेन च ॥ १३ ॥
संक्रुद्धः कृष्णसहितः पार्थः किमकरोद् युधि।

संजय ! मेरा तो विश्वास है कि दुर्योधनपर घोर संकट प्राप्त होनेवाला है। श्वेतके मारे जाने और भीष्मकी विजय होनेसे अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए श्रीकृष्णसहित अर्जुनने युद्ध-स्थलमें क्या किया ? ॥ १३½ ॥

अर्जुनाद्धि भयं भूयस्तन्मे तात न शाम्यति ॥ १४ ॥
स हि शूरश्च कौन्तेयः क्षिप्रकारी धनंजयः।
मन्ये शरैः शरीराणि शत्रूणां प्रमथिष्यति ॥ १५ ॥

तात ! अर्जुनसे मुझे अधिक भय बना रहता है और वह भय कभी शान्त नहीं होता; क्योंकि कुन्तीनन्दन अर्जुन शूरवीर तथा शीघ्रतापूर्वक अस्त्र संचालन करनेवाला है। मैं समझता हूँ कि वह अपने बाणोंद्वारा शत्रुओंके शरीरोंको मथ डालेगा ॥ १४-१५ ॥

ऐन्द्रिमिन्द्रानुजसमं महेन्द्रसदृशं बले।
अमोघक्रोधसंकल्पं दृष्ट्वा वः किमभून्मनः ॥ १६ ॥

इन्द्रकुमार अर्जुन भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी और महेन्द्रके समान बलवान् है। उसका क्रोध और संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता। उसे देखकर तुमलोगोंके मनमें क्या विचार उठा था ? ॥ १६ ॥

तथैव वेदविच्छूरो ज्वलनार्कसमद्युतिः।
इन्द्रास्त्रविदमेयात्मा प्रपतन् समितिंजयः ॥ १७ ॥
वज्रसंस्पर्शरूपाणामस्त्राणां च प्रयोजकः।
स खड्गाक्षेपहस्तस्तु घोषं चक्रे महारथः ॥ १८ ॥

अर्जुन वेदज्ञ, शौर्यसम्पन्न, अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी, इन्द्रास्त्रका ज्ञाता, अमेय आत्मबलसे सम्पन्न, वेग-पूर्वक आक्रमण करनेवाला और बड़े-बड़े संग्रामोंमें विजय पानेवाला है। वह ऐसे-ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग करता है, जिनका हल्का-सा स्पर्श भी वज्रके समान कठोर है। महारथी अर्जुन अपने हाथमें सदा तलवार खींचे ही रहता है और उसका प्रहार करके विकट गर्जना करता है ॥ १७-१८ ॥

स संजय महाप्राज्ञो द्रुपदस्यात्मजो बली।
धृष्टद्युम्नः किमकरोच्छ्वेते युधि निपातिते ॥ १९ ॥

संजय ! द्रुपदके परम बुद्धिमान् पुत्र बलवान् धृष्टद्युम्नने श्वेतके युद्धमें मारे जानेपर क्या किया ? ॥ १९ ॥

पुरा चैवापराधेन वधेन च चमूपतेः।
मन्ये मनः प्रजज्वाल पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ २० ॥

पहले भी कौरवोंद्वारा पाण्डवोंका अपराध हुआ है; उससे तथा सेनापतिके वधसे महामना पाण्डवोंके हृदयमें आग-सी लग गयी होगी, यह मेरा विश्वास है ॥ २० ॥

तेषां क्रोधं चिन्तयंस्तु अहःसु च निशासु च।
न शान्तिमधिगच्छामि दुर्योधनकृतेन हि।
कथं चाभून्महायुद्धं सर्वमाचक्ष्व संजय ॥ २१ ॥

दुर्योधनके कारण पाण्डवोंके मनमें जो क्रोध है, उसका चिन्तन करके मुझे न तो दिनमें शान्ति मिलती है, न रात्रिमें ही। संजय ! वह महायुद्ध किस प्रकार हुआ, यह सब मुझे बताओ ॥ २१ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा तवापनयनो महान्।
न च दुर्योधने दोषमिममाधातुमर्हसि ॥ २२ ॥

संजयने कहा—राजन् ! स्थिर होकर सुनिये। इस युद्धके होनेमें सबसे बड़ा अन्याय आपका ही है। इसका सारा दोष आपको दुर्योधनके ही माथे नहीं मढ़ना चाहिये ॥

गतोदके सेतुबन्धो यादृक् तादृङ्मतिस्तव।
संदीप्ते भवने यद्वत् कूपस्य खननं तथा ॥ २३ ॥

जैसे पानीकी बाढ़ निकल जानेपर पुल बाँधनेका प्रयास किया जाय अथवा घरमें आग लग जानेपर उसे बुझानेके लिये कुआँ खोदनेकी चेष्टा की जाय, उसी प्रकार आपकी यह समझ है ॥ २३ ॥

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि दारुणे।
तावकानां परेषां च पुनर्युद्धमवर्तत ॥ २४ ॥

उस भयंकर दिनके पूर्वभागका अधिकांश व्यतीत हो जानेपर आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें पुनः युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २४ ॥

श्वेतं तु निहतं दृष्ट्वा विराटस्य चमूपतिम्।
कृतवर्मणा च सहितं दृष्ट्वा शल्यमवस्थितम्॥ २५॥
शङ्खः क्रोधात् प्रजज्वाल हविषा हव्यवाडिव।

विराटके सेनापति श्वेतको मारा गया और राजा शल्यको कृतवर्माके साथ रथपर बैठा हुआ देख शङ्ख क्रोधसे जल उठा, मानो अग्निमें घीकी आहुति पड़ गयी हो॥ २५½॥

स विस्फार्य महच्चापं शक्रचापोपमं बली॥ २६॥
अभ्यधावज्जिघांसन् वै शल्यं मद्राधिपं युधि।

उस बलवान् वीरने इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल शरासनको कानोंतक खींचकर मद्रराज शल्यको युद्धमें मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया॥ २६½॥

महता रथसंघेन समन्तात् परिरक्षितः॥ २७॥
सृजन् बाणमयं वर्षं प्रायाच्छल्यरथं प्रति।

विशाल रथसेनाके द्वारा सब ओरसे घिरकर बाणोंकी वर्षा करते हुए उसने शल्यके रथपर आक्रमण किया॥ २७½॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम्॥ २८॥
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन्।
मद्रराजं परीप्सन्तो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम्॥ २९॥

मतवाले हाथीके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले शङ्खको धावा करते देख आपके सात रथियोंने मौतके दाँतोंमें फँसे हुए मद्रराज शल्यको बचानेकी इच्छा रखकर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया॥ २८-२९॥

बृहद्बलश्च कौसल्यो जयत्सेनश्च मागधः।
तथा रुक्मरथो राजन् पुत्रः शल्यस्य मानितः॥ ३०॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः।
बृहत्क्षत्रस्य दायादः सैन्धवश्च जयद्रथः॥ ३१॥

राजन्! उन रथियोंके नाम ये हैं—कोसलनरेश बृहद्बल, मगधदेशीय जयत्सेन, शल्यके प्रतापी पुत्र रुक्मरथ, अवन्तिके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण तथा बृहत्क्षत्रके पुत्र सिन्धुराज जयद्रथ॥ ३०-३१॥

नानाधातुविचित्राणि कार्मुकाणि महात्मनाम्।
विस्फारितान्यदृश्यन्त तोयदेष्विव विद्युतः॥ ३२॥

इन महामना वीरोंके फैलाये हुए अनेक रूप-रंगके विचित्र धनुष बादलोंमें बिजलियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे॥

ते तु बाणमयं वर्षं शङ्खमूर्ध्नि न्यपातयन्।
निदाघान्तेऽनिलोद्धूता मेघा इव नगे जलम्॥ ३३॥

उन सबने शङ्खके मस्तकपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें वायुद्वारा उठाये हुए मेघ पर्वतपर जल बरसा रहे हों॥ ३३॥

ततः क्रुद्धो महेष्वासः सप्तभल्लैः सुतेजनैः।
धनूंषि तेषामाच्छिद्य ननर्द पृतनापतिः॥ ३४॥

उस समय महान् धनुर्धर सेनापति शङ्खने कुपित होकर तेज किये हुए भल्ल नामक सात बाणोंद्वारा उन सातों रथियोंके धनुष काटकर गर्जना की॥ ३४॥

ततो भीष्मो महाबाहुर्विनद्य जलदो यथा।
तालमात्रं धनुर्गृह्य शङ्खमभ्यद्रवद् रणे॥ ३५॥

तदनन्तर महाबाहु भीष्मने मेघके समान गर्जना करके चार हाथ लंबा धनुष लेकर रणभूमिमें शङ्खपर धावा किया॥

तमुद्यन्तमुदीक्ष्याथ महेष्वासं महाबलम्।
संत्रस्ता पाण्डवी सेना वातवेगहतेव नौः॥ ३६॥

उस समय महाधनुर्धर महाबली भीष्मको युद्धके लिये उद्यत देख पाण्डवसेना वायुके वेगसे डगमग होनेवाली नौकाकी भाँति काँपने लगी॥ ३६॥

ततोऽर्जुनः संत्वरितः शङ्खस्यासीत् पुरःसरः।
भीष्माद् रक्ष्योऽयमद्येति ततो युद्धमवर्तत ३७॥

यह देख अर्जुन तुरंत ही शङ्खके आगे आ गये। उनके आगे आनेका उद्देश्य यह था कि आज भीष्मके हाथसे शङ्खको बचाना चाहिये। फिर तो महान् युद्ध आरम्भ हुआ॥

हाहाकारो महानासीद् योधानां युधि युध्यताम्।
तेजस्तेजसि सम्पृक्तमित्येवं विस्मयं ययुः॥ ३८॥

उस समय रणक्षेत्रमें जूझनेवाले योद्धाओंका महान् हाहाकार सब ओर फैल गया। तेजके साथ तेज टक्कर ले रहा है, यह कहते हुए सब लोग बड़े विस्मयमें पड़ गये॥ ३८॥

अथ शल्यो गदापाणिरवतीर्य महारथात्।
शङ्खस्य चतुरो वाहानहनद् भरतर्षभ॥ ३९॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय राजा शल्यने हाथमें गदा लिये अपने विशाल रथसे उतरकर शङ्खके चारों घोड़ोंको मार डाला॥ ३९॥

स हताश्वाद् रथात् तूर्णं खड्गमादाय विद्रुतः।
बीभत्सोश्च रथं प्राप्य पुनः शान्तिमविन्दत॥ ४०॥

घोड़े मारे जानेपर शङ्ख तुरंत ही तलवार लेकर रथसे कूद पड़ा और अर्जुनके रथपर चढ़कर उसने पुनः शान्तिकी साँस ली॥ ४०॥

ततो भीष्मरथात् तूर्णमुत्पतन्ति पतत्रिणः।
यैरन्तरिक्षं भूमिश्च सर्वतः समवस्तृता॥ ४१॥

तत्पश्चात् भीष्मके रथसे शीघ्रतापूर्वक पंखयुक्त बाण पक्षीके समान उड़ने लगे, जिन्होंने पृथ्वी और आकाश सबको आच्छादित कर लिया॥ ४१॥

पञ्चालानथ मत्स्यांश्च केकयांश्च प्रभद्रकान्।
भीष्मः प्रहरतां श्रेष्ठः पातयामास पत्रिभिः॥ ४२॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म पाञ्चाल, मत्स्य, केकय तथा प्रभद्रक वीरोंको अपने बाणोंसे मार-मारकर गिराने लगे॥ ४२॥

उत्सृज्य समरे राजन् पाण्डवं सव्यसाचिनम् ।
अभ्यद्रवत पाञ्चाल्यं द्रुपदं सेनया वृतम् ॥ ४३ ॥
प्रियं सम्बन्धिनं राजञ्शरानवकिरन् बहून् ।

राजन् ! भीष्मने समरभूमिमें सव्यसाची अर्जुनको छोड़कर सेनासे घिरे हुए पाञ्चालराज द्रुपदपर धावा किया और अपने प्रिय सम्बन्धीपर बहुत-से बाणोंकी वर्षा की ॥ ४३½ ॥

अग्निनेव प्रदग्धानि वनानि शिशिरात्यये ॥ ४४ ॥
शरदग्धान्यदृश्यन्त सैन्यानि द्रुपदस्य ह ।

जैसे ग्रीष्म ऋतुमें आग लगनेसे सारे वन दग्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार द्रुपदकी सारी सेनाएँ भीष्मके बाणोंसे दग्ध दिखायी देने लगीं ॥ ४४½ ॥

अत्यतिष्ठद् रणे भीष्मो विधूम इव पावकः ॥ ४५ ॥
मध्यंदिने यथाऽऽदित्यं तपन्तमिव तेजसा ।
न शेकुः पाण्डवेयस्य योधा भीष्मं निरीक्षितुम् ॥ ४६ ॥

उस समय भीष्म रणभूमिमें धूमरहित अग्निके समान खड़े थे । जैसे दुपहरीमें अपने तेजसे तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन है, उसी प्रकार पाण्डव-सेनाके सैनिक भीष्मकी ओर दृष्टिपात करनेमें भी असमर्थ हो गये ॥ ४५-४६ ॥

वीक्षांचक्रुः समन्तात् ते पाण्डवा भयपीडिताः ।
त्रातारं नाध्यगच्छन्त गावः शीतार्दिता इव ॥ ४७ ॥

पाण्डव योद्धा भयसे पीड़ित हो सब ओर देखने लगे; परंतु सर्दीसे पीड़ित हुई गौओंकी भाँति उन्हें अपना कोई रक्षक नहीं मिला ॥ ४७ ॥

सा तु यौधिष्ठिरी सेना गाङ्गेयशरपीडिता ।
सिंहेनेव विनिर्भिन्ना शुक्ला गौरिव गोपते ॥ ४८ ॥

राजन् ! गङ्गानन्दन भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हुई वह युधिष्ठिरकी (श्वेत-परिधानविभूषित) सेना सिंहके द्वारा सतायी हुई सफेद गायके समान प्रतीत होने लगी ॥ ४८ ॥

हते विप्रद्रुते सैन्ये निरुत्साहे विमर्दिते ।
हाहाकारो महानासीत् पाण्डुसैन्येषु भारत ॥ ४९ ॥

भारत ! पाण्डव-सेनाके सैनिक बहुत-से मारे गये, बहुतेरे भाग गये, कितने रौंद डाले गये और कितने ही उत्साहशून्य हो गये । इस प्रकार पाण्डवदलमें बड़ा हाहाकार मच गया था ॥ ४९ ॥

ततो भीष्मः शान्तनवो नित्यं मण्डलकार्मुकः ।
मुमोच बाणान् दीप्ताग्रानहीनाशीविषानिव ॥ ५० ॥

उस समय शान्तनुनन्दन भीष्म अपने धनुषको खींचकर गोल बना देते और उसके द्वारा विषैले सर्पोंकी भाँति भयंकर प्रज्वलित अग्रभागवाले बाणोंकी निरन्तर वर्षा करते थे ॥ ५० ॥

शरैरेकायनीकुर्वन् दिशः सर्वा यतव्रतः ।
जघान पाण्डवरथानादिश्यादिश्य भारत ॥ ५१ ॥

भारत ! नियमपूर्वक व्रतोंका पालन करनेवाले भीष्म सम्पूर्ण दिशाओंमें बाणोंसे एक रास्ता बना देते और पाण्डव-रथियोंको चुन-चुनकर—उनके नाम ले-लेकर मारते थे ॥

ततः सैन्येषु भग्नेषु मथितेषु च सर्वशः ।
प्राप्ते चास्तं दिनकरे न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५२ ॥

इस प्रकार सारी सेना मथित हो उठी, व्यूह भंग हो गया और सूर्य अस्ताचलको चले गये; उस समय अँधेरेमें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ ५२ ॥

भीष्मं च समुदीर्यन्तं दृष्ट्वा पार्था महाहवे ।
अवहारमकुर्वन्त सैन्यानां भरतर्षभ ॥ ५३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इधर, उस महान् युद्धमें भीष्मका वेग अधिकाधिक प्रचण्ड होता जा रहा था, यह देख कुन्तीके पुत्रोंने अपनी सेनाओंको युद्धक्षेत्रसे पीछे हटा लिया ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि शङ्खयुद्धे प्रथमदिवसावहारे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें शङ्खका युद्ध तथा प्रथम दिनके युद्धका उपसंहारविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, भगवान् श्रीकृष्णद्वारा आश्वासन, धृष्टद्युम्नका उत्साह तथा द्वितीय दिनके युद्धके लिये क्रौञ्चारुणव्यूहका निर्माण

संजय उवाच

कृतेऽवहारे सैन्यानां प्रथमे भरतर्षभ ।
भीष्मे च युद्धसंरब्धे हृष्टे दुर्योधने तथा ॥ १ ॥
धर्मराजस्ततस्तूर्णमभिगम्य जनार्दनम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः सर्वैश्चैव जनेश्वरैः ॥ २ ॥
शुचा परमया युक्तश्चिन्तयानः पराजयम् ।
वार्ष्णेयमब्रवीद् राजन् दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम् ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! प्रथम दिनके युद्धमें जब पाण्डव-सेना पीछे हटा दी गयी, भीष्मजीका युद्धविषयक उत्साह बढ़ता ही गया और दुर्योधन हर्षातिरेकसे उल्लसित

हो उठा, उस समय धर्मराज युधिष्ठिर अपने सभी भाइयों और सम्पूर्ण राजाओंके साथ तुरंत भगवान् श्रीकृष्णके पास गये और अत्यन्त शोकसे संतप्त हो भीष्मका पराक्रम देखकर अपनी पराजयके लिये चिन्ता करते हुए भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥१-३॥

कृष्ण पश्य महेष्वासं भीष्मं भीमपराक्रमम्।
शरैर्दहन्तं सैन्यं मे ग्रीष्मे कक्षमिवानलम्॥ ४ ॥

'श्रीकृष्ण! देखिये, महान् धनुर्धर और भयंकर पराक्रमी भीष्म अपने बाणोंद्वारा मेरी सेनाको उसी प्रकार दग्ध कर रहे हैं, जैसे ग्रीष्म ऋतुमें लगी हुई आग घास-फूँसको जलाकर भस्म कर डालती है॥ ४ ॥

कथमेनं महात्मानं शक्ष्यामः प्रतिवीक्षितुम्।
लेलिह्यमानं सैन्यं मे हविष्मन्तमिवानलम्॥ ५ ॥

'जैसे अग्निदेव प्रज्वलित होकर हविष्यकी आहुति ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार ये महामना भीष्म अपनी बाणरूपी जिह्वासे मेरी सेनाको चाटते जा रहे हैं। हमलोग कैसे इनकी ओर देख सकेंगे—किस प्रकार इनका सामना कर सकेंगे?॥

एतं हि पुरुषव्याघ्रं धनुष्मन्तं महाबलम्।
दृष्ट्वा विप्रद्रुतं सैन्यं समरे मार्गणाहतम्॥ ६ ॥

'हाथमें धनुष लिये इन महाबली पुरुषसिंह भीष्मको देखकर और समरभूमिमें इनके बाणोंसे आहत होकर मेरी सारी सेना भागने लगती है॥ ६ ॥

शक्यो जेतुं यमः क्रुद्धो वज्रपाणिश्च संयुगे।
वरुणः पाशभृद् वापि कुबेरो वा गदाधरः॥ ७ ॥
न तु भीष्मो महातेजाः शक्यो जेतुं महाबलः।

'क्रोधमें भरे हुए यमराज, वज्रधारी इन्द्र, पाशधारी वरुण अथवा गदाधारी कुबेर भी कदाचित् युद्धमें जीते जा सकते हैं; परंतु महातेजस्वी, महाबली भीष्मको जीतना अशक्य है॥ ७½ ॥

सोऽहमेवंगते मग्नो भीष्मागाधजलेऽप्लवे॥ ८ ॥
आत्मनो बुद्धिदौर्बल्याद् भीष्ममासाद्य केशव।

'केशव! ऐसी दशामें मैं तो अपनी बुद्धिकी दुर्बलताके कारण भीष्मसे टक्कर लेकर भीष्मरूपी अगाध जलराशिमें नावके बिना डूबा जा रहा हूँ॥ ८½ ॥

वनं यास्यामि वार्ष्णेय श्रेयो मे तत्र जीवितुम्॥ ९ ॥
न त्वेतान् पृथिवीपालान् दातुं भीष्माय मृत्यवे।

'वार्ष्णेय! अब मैं वनको चला जाऊँगा। वहीं जीवन बिताना मेरे लिये कल्याणकारी होगा। इन भूपालोंको व्यर्थ ही भीष्मरूपी मृत्युको सौंप देनेमें कोई भलाई नहीं है॥९½॥

क्षपयिष्यति सेनां मे कृष्ण भीष्मो महास्त्रवित्॥ १० ॥
यथानलं प्रज्वलितं पतङ्गाः समभिद्रुताः।
विनाशायोपगच्छन्ति तथा मे सैनिको जनः॥ ११ ॥

'श्रीकृष्ण! भीष्म महान् दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता हैं। वे मेरी सारी सेनाका संहार कर डालेंगे। जैसे पतिंगे मरनेके लिये ही जलती आगमें कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार मेरे समस्त सैनिक अपने विनाशके लिये ही भीष्मके समीप जाते हैं॥

क्षयं नीतोऽस्मि वार्ष्णेय राज्यहेतोः पराक्रमी।
भ्रातरश्चैव मे वीराः कर्शिताः शरपीडिताः॥ १२ ॥

'वार्ष्णेय! राज्यके लिये पराक्रम करके मैं सब प्रकारसे क्षीण होता जा रहा हूँ। मेरे वीर भ्राता बाणोंसे पीड़ित होकर अत्यन्त कृश होते जा रहे हैं॥ १२ ॥

मत्कृते भ्रातृहार्देन राज्याद् भ्रष्टास्तथा सुखात्।
जीवितं बहु मन्येऽहं जीवितं ह्यद्य दुर्लभम्॥ १३ ॥

'ये बन्धुजनोचित सौहार्दके कारण मेरे लिये राज्य और सुखसे वञ्चित हो दुःख भोग रहे हैं। इस समय मैं इनके और अपने जीवनको ही बहुत अच्छा समझता हूँ; क्योंकि अब जीवन भी दुर्लभ है॥ १३ ॥

जीवितस्य च शेषेण तपस्तप्स्यामि दुश्चरम्।
न घातयिष्यामि रणे मित्राणीमानि केशव॥ १४ ॥

'केशव! जीवन बच जानेपर मैं दुष्कर तपस्या करूँगा; परंतु रणक्षेत्रमें इन मित्रोंकी व्यर्थ हत्या नहीं कराऊँगा॥

रथान् मे बहुसाहस्रान् दिव्यैरस्त्रैर्महाबलः।
घातयत्यनिशं भीष्मः प्रवराणां प्रहारिणाम्॥ १५ ॥

'महाबली भीष्म अपने दिव्य अस्त्रोंद्वारा मेरे पक्षके श्रेष्ठ एवं प्रहारकुशल कई सहस्र रथियोंका निरन्तर संहार कर रहे हैं॥ १५ ॥

किं नु कृत्वा हितं मे स्याद् ब्रूहि माधव माचिरम्।
मध्यस्थमिव पश्यामि समरे सव्यसाचिनम्॥ १६ ॥

'माधव! शीघ्र बताइये, क्या करनेसे मेरा हित होगा? सव्यसाची अर्जुनको तो मैं इस युद्धमें मध्यस्थ (उदासीन)—सा देख रहा हूँ॥ १६ ॥

एको भीमः परं शक्त्या युध्यत्येव महाभुजः।
केवलं बाहुवीर्येण क्षत्रधर्ममनुस्मरन्॥ १७ ॥

'एकमात्र महाबाहु भीमसेन ही क्षत्रिय-धर्मका विचार करता हुआ केवल बाहुबलके भरोसे अपनी पूरी शक्ति लगाकर युद्ध कर रहा है॥ १७ ॥

गदया वीरघातिन्या यथोत्साहं महामनाः।
करोत्यसुकरं कर्म रथाश्वनरदन्तिषु॥ १८ ॥

'महामना भीमसेन उत्साहपूर्वक अपनी वीरघातिनी गदाके द्वारा रथ, घोड़े, मनुष्य और हाथियोंपर अपना दुष्कर पराक्रम प्रकट कर रहा है॥ १८ ॥

नालमेष क्षयं कर्तुं परसैन्यस्य मारिष।
आर्जवेनैव युद्धेन वीर वर्षशतैरपि ॥ १९ ॥

'माननीय वीर श्रीकृष्ण ! यदि इस तरह सरलतापूर्वक ही युद्ध किया जाय तो यह भीमसेन अकेला सौ वर्षोंमें भी शत्रु-सेनाका विनाश नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

एकोऽस्त्रवित् सखा तेऽयं सोऽप्यस्मान् समुपेक्षते।
निर्दह्यमानान् भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना ॥ २० ॥

'केवल आपका यह सखा अर्जुन ही दिव्यास्त्रोंका ज्ञाता है, परंतु यह भी महामना भीष्म और द्रोणके द्वारा दग्ध होते हुए हमलोगोंकी उपेक्षा कर रहा है ॥ २० ॥

दिव्यान्यस्त्राणि भीष्मस्य द्रोणस्य च महात्मनः।
धक्ष्यन्ति क्षत्रियान् सर्वान् प्रयुक्तानि पुनः पुनः॥ २१ ॥

'महामना भीष्म और द्रोणके दिव्यास्त्र बार-बार प्रयुक्त होकर सम्पूर्ण क्षत्रियोंको भस्म कर डालेंगे ॥ २१ ॥

कृष्ण भीष्मः सुसंरब्धः सहितः सर्वपार्थिवैः।
क्षपयिष्यति नो नूनं यादृशोऽस्य पराक्रमः ॥ २२ ॥

'श्रीकृष्ण ! भीष्म क्रोधमें भरकर अपने पक्षके समस्त राजाओंके साथ मिलकर निश्चय ही हमलोगोंका विनाश कर देंगे । जैसा उनका पराक्रम है, उससे यही सूचित होता है ॥ २२ ॥

स त्वं पश्य महाभाग योगेश्वर महारथम्।
भीष्मं यः शमयेत् संख्ये दावाग्निं जलदो यथा॥ २३ ॥

'महाभाग योगेश्वर ! आप ऐसे किसी महारथीको ढूँढ निकालिये, जो संग्राममभूमिमें भीष्मको उसी प्रकार शान्त कर दे, जैसे बादल दावानलको बुझा देता है ॥ २३ ॥

तव प्रसादाद् गोविन्द पाण्डवा निहतद्विषः।
स्वराज्यमनुसम्प्राप्ता मोदिष्यन्ते सबान्धवाः ॥ २४ ॥

'गोविन्द ! आपकी कृपासे ही पाण्डव अपने शत्रुओंको मारकर स्वराज्य प्राप्त करके बन्धु-बान्धवोंसहित सुखी होंगे'॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थो ध्यायन्नास्ते महामनाः।
चिरमन्तर्मना भूत्वा शोकोपहतचेतनः।
शोकार्तं तमथो ज्ञात्वा दुःखोपहतचेतसम् ॥ २५ ॥
अब्रवीत् तत्र गोविन्दो हर्षयन् सर्वपाण्डवान्।

ऐसा कहकर महामना युधिष्ठिर शोकसे व्याकुलचित्त हो बहुत देरतक मनको अन्तर्मुख करके ध्यानमग्न बैठे रहे । युधिष्ठिरको शोकसे आतुर और दुःखसे व्यथितचित्त जानकर गोविन्दने समस्त पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—॥२५½॥

मा शुचो भरतश्रेष्ठ न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
यस्य ते भ्रातरः शूराः सर्वलोकेषु धन्विनः।
अहं च प्रियकृद् राजन् सात्यकिश्च महायशाः॥ २७ ॥
विराटद्रुपदौ चेमौ धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
तथैव सबलाश्चेमे राजानो राजसत्तम ॥ २८ ॥
त्वत्प्रसादं प्रतीक्षन्ते त्वद्भक्ताश्च विशाम्पते।

'भरतश्रेष्ठ ! तुम शोक न करो । इस प्रकार शोक करना तुम्हारे योग्य नहीं है । तुम्हारे शूर-वीर भाई सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात धनुर्धर हैं । राजन् ! मैं भी तुम्हारा प्रिय करनेवाला ही हूँ । नृपश्रेष्ठ ! महायशस्वी सात्यकि, विराट, द्रुपद, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न तथा सेनासहित ये सम्पूर्ण नरेश आपके कृपाप्रसादकी प्रतीक्षा करते हैं । महाराज ! ये सब-के-सब आपके भक्त हैं ॥

एष ते पार्षतो नित्यं हितकामः प्रिये रतः ॥ २९ ॥
सैनापत्यमनुप्राप्तो धृष्टद्युम्नो महाबलः।

'ये द्रुपदपुत्र महाबली धृष्टद्युम्न भी सदा आपका हित चाहते हैं और आपके प्रिय-साधनमें तत्पर होकर ही इन्होंने प्रधान सेनापतिका गुरुतर भार ग्रहण किया है ॥२९½ ॥

शिखण्डी च महाबाहो भीष्मस्य निधनं किल ॥ ३० ॥
(करिष्यति न संदेहो नृपाणां युधि पश्यताम्।)

'महाबाहो ! निश्चय ही इन समस्त राजाओंके देखते-देखते यह शिखण्डी भीष्मका वध कर डालेगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है'॥ ३० ॥

एतच्छ्रुत्वा ततो राजा धृष्टद्युम्नं महारथम्।
अब्रवीत् समितौ तस्यां वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ ३१ ॥

यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते ही उस सभामें महारथी धृष्टद्युम्नसे कहा—॥ ३१ ॥

धृष्टद्युम्न निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि मारिष।
नातिक्रम्यं भवेत् तच्च वचनं मम भाषितम् ॥ ३२ ॥

'आदरणीय वीर धृष्टद्युम्न ! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो । मेरे कहे हुए वचनोंका तुम्हें उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये ॥ ३२ ॥

भवान् सेनापतिर्मह्यं वासुदेवेन सम्मितः।
कार्तिकेयो यथा नित्यं देवानामभवत् पुरा ॥ ३३ ॥
तथा त्वमपि पाण्डूनां सेनानीः पुरुषर्षभ।

'तुम मेरे सेनापति हो, भगवान् श्रीकृष्णके समान पराक्रमी हो । पुरुषरत्न ! पूर्वकालमें भगवान् कार्तिकेय जिस प्रकार देवताओंके सेनापति हुए थे, उसी प्रकार तुम भी पाण्डवोंके सेनानायक होओ' ॥ ३३½ ॥

(तच्छ्रुत्वा जहृषुः पार्थाः पार्थिवाश्च महारथाः।
साधु साध्विति तद्वाक्यमूचुः सर्वे महीक्षितः॥
पुनरप्यब्रवीद् राजा धृष्टद्युम्नं महाबलम् ॥)

युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर समस्त पाण्डव और महारथी भूपालगण सब-के-सब 'साधु-साधु' कहकर उनके

इन वचनोंकी सराहना करने लगे। तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने पुनः महाबली धृष्टद्युम्नसे कहा—॥

स त्वं पुरुषशार्दूल विक्रम्य जहि कौरवान् ॥ ३४ ॥
अहं च तेऽनुयास्यामि भीमः कृष्णश्च मारिष ।
माद्रीपुत्रौ च सहितौ द्रौपदेयाश्च दंशिताः ॥ ३५ ॥
ये चान्ये पृथिवीपालाः प्रधानाः पुरुषर्षभ ।

'पुरुषसिंह ! तुम पराक्रम करके कौरवोंका नाश करो। मारिष ! नरश्रेष्ठ ! मैं, भीमसेन, श्रीकृष्ण, माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा अन्य प्रधान-प्रधान भूपाल कवच धारण करके तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे' ॥ ३४-३५½ ॥

तत उद्धर्षयन् सर्वान् धृष्टद्युम्नोऽभ्यभाषत ॥ ३६ ॥
अहं द्रोणान्तकः पार्थ विहितः शम्भुना पुरा ।
रणे भीष्मं कृपं द्रोणं तथा शल्यं जयद्रथम् ॥ ३७ ॥
सर्वानद्य रणे दृप्तान् प्रतियोत्स्यामि पार्थिव ।

तब धृष्टद्युम्नने सबका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—'पार्थ ! मुझे भगवान् शङ्करने पहलेसे ही द्रोणाचार्यका काल बनाकर उत्पन्न किया है। पृथ्वीपते ! आज समराङ्गणमें मैं भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य तथा जयद्रथ—इन समस्त अभिमानी योद्धाओंका सामना करूँगा' ॥ ३६-३७½ ॥

अथोत्क्रुष्टं महेष्वासैः पाण्डवैर्युद्धदुर्मदैः ॥ ३८ ॥
समुद्यते पार्थिवेन्द्रे पार्षते शत्रुसूदने ।
तमब्रवीत् ततः पार्थः पार्षतं पृतनापतिम् ॥ ३९ ॥

यह सुनकर युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले महान् धनुर्धर पाण्डवोंने उच्चस्वरमें सिंहनाद किया तथा शत्रुसूदन नृपश्रेष्ठ द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके इस प्रकार युद्धके लिये उद्यत होनेपर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने सेनापति द्रुपदकुमारसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ ३८-३९ ॥

व्यूहः क्रौञ्चारुणो नाम सर्वशत्रुनिबर्हणः ।
यं बृहस्पतिरिन्द्राय तदा देवासुरेऽब्रवीत् ॥ ४० ॥

'सेनापते ! क्रौञ्चारुण नामक व्यूह समस्त शत्रुओंका संहार करनेवाला है; जिसे बृहस्पतिने देवासुर-संग्रामके अवसर-पर इन्द्रको बताया था ॥ ४० ॥

तं यथावत् प्रतिव्यूह परानीकविनाशनम् ।
अदृष्टपूर्वं राजानः पश्यन्तु कुरुभिः सह ॥ ४१ ॥

'शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले उस क्रौञ्चारुण व्यूहका तुम यथावत् रूपसे निर्माण करो। आज समस्त राजा कौरवोंके साथ उस अदृष्टपूर्व व्यूहको अपनी आँखोंसे देखें' ॥ ४१ ॥

यथोक्तः स नृदेवेन विष्णुर्वज्रभृता यथा ।
(बार्हस्पत्येन विधिना व्यूहमार्गविचक्षणः ।)
प्रभाते सर्वसैन्यानामग्रे चक्रे धनंजयम् ॥ ४२ ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र भगवान् विष्णुसे कुछ कहते हों, उसी प्रकार नरदेव युधिष्ठिरके पूर्वोक्त बात कहनेपर व्यूहरचनामें कुशल धृष्टद्युम्नने बृहस्पतिकी बतायी हुई विधिसे प्रातःकाल (सूर्योदयसे पूर्व) ही समस्त सेनाओंका व्यूह निर्माण किया; उन्होंने सबसे आगे अर्जुनको खड़ा किया ॥ ४२ ॥

आदित्यपथगः केतुस्तस्याद्भुतमनोरमः ।
शासनात् पुरुहूतस्य निर्मितो विश्वकर्मणा ॥ ४३ ॥

उनका अद्भुत एवं मनोरम ध्वज सूर्यके पथमें (ऊँचे आकाशमें) फहरा रहा था। इन्द्रके आदेशसे साक्षात् विश्व-कर्माने उसका निर्माण किया था ॥ ४३ ॥

इन्द्रायुधसवर्णाभिः पताकाभिरलङ्कृतः ।
आकाशग इवाकाशे गन्धर्वनगरोपमः ॥ ४४ ॥

इन्द्रधनुषके रंगकी पताकाएँ उस ध्वजकी शोभा बढ़ाती थीं। वह ध्वज आकाशमें आकाशचारी पक्षीकी भाँति बिना आधारके ही चलता था। वह दूरसे गन्धर्वनगरके समान जान पड़ता था ॥ ४४ ॥

नृत्यमान इवाभाति रथचर्यासु मारिष ।
तेन रत्नवता पार्थः स च गाण्डीवधन्वना ॥ ४५ ॥
बभूव परमोपेतः सुमेरुरिव भानुना ।

आर्य ! रथके मार्गोंपर अर्जुनका वह ध्वज नृत्य करता-सा प्रतीत होता था। उस रत्नयुक्त ध्वजसे अर्जुनकी और गाण्डीव-धारी अर्जुनसे उस ध्वजकी बड़ी शोभा होती थी, ठीक उसी तरह जैसे मेरु पर्वतसे सूर्यकी और सूर्यसे मेरु पर्वतकी शोभा होती है ॥ ४५½ ॥

शिरोऽभूद् द्रुपदो राजन् महत्या सेनया वृतः ॥ ४६ ॥
कुन्तिभोजश्च चैद्यश्च चक्षुर्भ्यां तौ जनेश्वरौ ।
दाशार्णकाः प्रभद्राश्च दाशेरकगणैः सह ॥ ४७ ॥
अनूपकाः किराताश्च ग्रीवायां भरतर्षभ ।

राजन् ! अपनी विशाल सेनाके साथ राजा द्रुपद उस व्यूहके सिरके स्थानपर थे। कुन्तिभोज और धृष्टकेतु—ये दोनों नरेश नेत्रोंके स्थानपर प्रतिष्ठित हुए। भरतश्रेष्ठ ! दाशार्णक, दाशेरकसमूहोंके साथ प्रभद्रक, अनूपक और किरातगण गर्दनके स्थानमें खड़े किये गये ॥ ४६-४७½ ॥

पटच्चरैश्च पौण्ड्रैश्च राजन् पौरवकैस्तथा ॥ ४८ ॥
निषादैः सहितश्चापि पृष्ठमासीद् युधिष्ठिरः ।
पक्षौ तु भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ४९ ॥
द्रौपदेयाभिमन्युश्च सात्यकिश्च महारथः ।
पिशाचा दारदाश्चैव पुण्ड्राः कुण्डीविषैः सह ॥ ५० ॥
मारुता धेनुकाश्चैव तङ्गणाः परतङ्गणाः ।
बाह्लिकास्तित्तिराश्चैव चोलाः पाण्ड्याश्च भारत ॥ ५१ ॥
एते जनपदा राजन् दक्षिणं पक्षमाश्रिताः ।

पटच्चर, पौण्ड्र, पौरव तथा निषादोंके साथ स्वयं राजा युधिष्ठिर पृष्ठभागमें स्थित हुए। भीमसेन और धृष्टद्युम्न क्रौञ्चपक्षीके दोनों पंखोंके स्थानपर नियुक्त किये गये। राजन्! द्रौपदीके पुत्र, अभिमन्यु और महारथी सात्यकिके साथ पिशाच, दारद, पुण्ड्र, कुण्डीविष, मारुत, धेनुक, तङ्गण, परतङ्गण, बाह्लिक, तित्तिर, चोल तथा पाण्ड्य—इन जनपदोंके लोग दाहिने पक्षका आश्रय लेकर खड़े हुए॥ ४८—५१½ ॥

अग्निवेश्यास्तु हुण्डाश्च मालवा दानभारयः ॥ ५२ ॥
शबरा उद्भसाश्चैव वत्साश्च सह नाकुलैः ।
नकुलः सहदेवश्च वामं पक्षं समाश्रिताः ॥ ५३ ॥

अग्निवेश्य, हुण्ड, मालव, दानभारि, शबर, उद्भस, वत्स तथा नाकुल जनपदोंके साथ दोनों भाई नकुल और सहदेवने बायें पंखका आश्रय लिया॥ ५२-५३ ॥

रथानामयुतं पक्षौ शिरस्तु नियुतं तथा ।
पृष्ठमर्बुदमेवासीत् सहस्राणि च विंशतिः ॥ ५४ ॥
ग्रीवायां नियुतं चापि सहस्राणि च सप्ततिः ।

उस क्रौञ्चपक्षीके पंखभागमें दस हजार, शिरोभागमें एक[1] लाख, पृष्ठभागमें एक अर्बुद[2] बीस हजार तथा ग्रीवा-भागमें एक लाख सत्तर हजार रथ मौजूद थे॥ ५४½ ॥

पक्षकोटिप्रपक्षेषु पक्षान्तेषु च वारणाः ॥ ५५ ॥
जग्मुः परिवृता राजंश्चलन्त इव पर्वताः ।

राजन्! पक्ष[3], कोटि[4], प्रपक्ष[5] तथा पक्षान्त-भागोंमें चलते-फिरते पर्वतोंके समान हाथियोंके झुंड चले। वे सब-के-सब सेनाओंसे घिरे हुए थे॥ ५५½ ॥

जघनं पालयामास विराटः सह केकयैः ॥ ५६ ॥
काशिराजश्च शैब्यश्च रथानामयुतैस्त्रिभिः ।

राजा विराट केकय राजकुमारोंके साथ उस व्यूहके जघन (कटिके अग्रभाग) की रक्षा करते थे। काशिराज और शैब्य भी तीस हजार रथियोंके साथ उसीकी रक्षामें तत्पर थे॥

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः ॥ ५७ ॥
सूर्योदयं त इच्छन्तः स्थिता युद्धाय दंशिताः ।

भारत! इस प्रकार पाण्डव क्रौञ्चारुण नामक महाव्यूह-की रचना करके सूर्योदयकी प्रतीक्षा करते हुए युद्धके लिये कवच आदिसे सुसज्जित हो खड़े हो गये॥ ५७½ ॥

तेषामादित्यवर्णानि विमलानि महान्ति च ।
श्वेतच्छत्राण्यशोभन्त वारणेषु रथेषु च ॥ ५८ ॥

उनके हाथियों और रथोंके ऊपर सूर्यके समान प्रकाशमान, निर्मल एवं महान् श्वेतच्छत्र शोभा पा रहे थे॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि क्रौञ्चव्यूहनिर्माणे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें क्रौञ्चव्यूहनिर्माणविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं)

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कौरव-सेनाकी व्यूह-रचना तथा दोनों दलोंमें शङ्खध्वनि और सिंहनाद

संजय उवाच

क्रौञ्चं दृष्ट्वा ततो व्यूहमभेद्यं तनयस्तव ।
रक्ष्यमाणं महाघोरं पार्थेनामिततेजसा ॥ १ ॥
आचार्यमुपसंगम्य कृपं शल्यं च पार्थिव ।
सौमदत्तिं विकर्णं च सोऽश्वत्थामानमेव च ॥ २ ॥
दुःशासनादीन् भ्रातॄंश्च सर्वानेव च भारत ।
अन्यांश्च सुबहूञ्शूरान् युद्धाय समुपागतान् ॥ ३ ॥
प्राहेदं वचनं काले हर्षयंस्तनयस्तव ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ४ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! उस अत्यन्त भयंकर अभेद्य क्रौञ्चव्यूहको अमिततेजस्वी अर्जुनके द्वारा सुरक्षित देख-कर आपका पुत्र दुर्योधन आचार्य द्रोण, कृप, शल्य, भूरिश्रवा, विकर्ण, अश्वत्थामा और दुःशासन आदि सब भाइयों तथा युद्धके लिये आये हुए अन्य बहुतेरे शूर-वीरोंके पास जाकर उन सबका हर्ष बढ़ाता हुआ यह समयोचित वचन बोला—



१. यहाँ 'नियुत' का अर्थ एक लाख किया गया है। किसी-किसीके मतमें उसका अर्थ दस लाख भी होता है। २. दस करोड़-की संख्याको अर्बुद कहते हैं। ३. पंख। ४. अग्रभाग। ५. पंखके भीतरके छोटे-छोटे पंख।

'वीरो ! आप सब लोग नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारमें कुशल तथा युद्धकी कलामें निपुण हैं ॥ १–४ ॥

एकैकशः समर्था हि यूयं सर्वे महारथाः ।
पाण्डुपुत्रान् रणे हन्तुं ससैन्यान् किमु संहताः ॥ ५ ॥

'आप सभी महारथी हैं । आपमेंसे प्रत्येक योद्धा रणक्षेत्रमें सेनासहित पाण्डवोंका वध करनेमें समर्थ हैं । फिर सब लोग मिलकर उन्हें परास्त कर दें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ ५ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तमिदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ ६ ॥
संस्थानाः शूरसेनाश्च वेत्रिकाः कुकुरास्तथा ।
आरोचकास्त्रिगर्ताश्च मद्रका यवनास्तथा ॥ ७ ॥
शत्रुंजयेन सहितास्तथा दुःशासनेन च ।
विकर्णेन च वीरेण तथा नन्दोपनन्दकैः ॥ ८ ॥
चित्रसेनेन सहिताः सहिताः पारिभद्रकैः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु सहसैन्यपुरस्कृताः ॥ ९ ॥

'भीष्मपितामहके द्वारा सुरक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है, परंतु भीमसेनके द्वारा सुरक्षित इन पाण्डवोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है; अतः मेरी राय है कि संस्थान, शूरसेन, वेत्रिक, कुकुर, आरोचक, त्रिगर्त, मद्रक तथा यवन आदि देशोंके लोग शत्रुंजय, दुःशासन, वीर विकर्ण, नन्द, उपनन्द, चित्रसेन तथा पारिभद्रक वीरोंके साथ जाकर अपनी सेनाको आगे रखते हुए भीष्मकी ही रक्षा करें' ॥ ६–९ ॥

(*संजय उवाच*

दुर्योधनवचः श्रुत्वा सर्व एव महारथाः ।
तथेत्येनं नृपा ऊचुस्तदा द्रोणपुरोगमाः ॥)

संजय कहते हैं—महाराज ! दुर्योधनकी यह बात सुनकर द्रोण आदि सभी महारथियों एवं राजाओंने उस समय 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली ॥

ततो भीष्मश्च द्रोणश्च तव पुत्राश्च मारिष ।
अव्यूहन्त महाव्यूहं पाण्डूनां प्रतिबाधनम् ॥ १० ॥

आर्य ! तदनन्तर भीष्म, द्रोण तथा आपके पुत्रोंने मिलकर अपनी सेनाका महान् व्यूह बनाया, जो पाण्डव-सैनिकोंको बाधा पहुँचानेमें समर्थ था ॥ १० ॥

भीष्मः सैन्येन महता समन्तात् परिवारितः ।
ययौ प्रकर्षन् महतीं वाहिनीं सुरराडिव ॥ ११ ॥

तदनन्तर बहुत-बड़ी सेनाद्वारा सब ओरसे घिरे हुए भीष्म देवराज इन्द्रकी भाँति विशाल वाहिनी साथ लिये आगे-आगे चले ॥ ११ ॥

तमन्वयान्महेष्वासो भारद्वाजः प्रतापवान् ।
कुन्तलैश्च दशार्णैश्च मागधैश्च विशाम्पते ॥ १२ ॥
विदर्भैर्मेकलैश्चैव कर्णप्रावरणैरपि ।
सहिताः सर्वसैन्येन भीष्ममाहवशोभिनम् ॥ १३ ॥
गान्धाराः सिन्धुसौवीराः शिवयोऽथ वसातयः ।

उनके पीछे प्रतापी वीर महाधनुर्धर द्रोणाचार्यने युद्धके लिये प्रस्थान किया । महाराज ! उस समय कुन्तल, दशार्ण, मागध, विदर्भ, मेकल तथा कर्णप्रावरण आदि देशोंके सैनिकोंके साथ गान्धार, सिन्धु, सौवीर, शिवि तथा वसाति देशोंके वीर क्षत्रिय युद्धमें शोभा पानेवाले भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ १२-१३½ ॥

शकुनिश्च स्वसैन्येन भारद्वाजमपालयत् ॥ १४ ॥
ततो दुर्योधनो राजा सहितः सर्वसोदरैः ।
अश्वातकैर्विकर्णैश्च तथा चाम्बष्ठकोसलैः ॥ १५ ॥
दरदैश्च शकैश्चैव तथा क्षुद्रकमालवैः ।
अभ्यरक्षत संहृष्टः सौबलेयस्य वाहिनीम् ॥ १६ ॥

शकुनिने अपनी सेना साथ लेकर द्रोणाचार्यकी रक्षामें योग दिया । तत्पश्चात् अपने भाइयोंसहित राजा दुर्योधन अत्यन्त हर्षमें भरकर अश्वातक, विकर्ण, अम्बष्ठ, कोसल, दरद, शक, क्षुद्रक तथा मालव आदि देशोंके योद्धाओंके साथ सुबलपुत्र शकुनिकी सेनाका संरक्षण करने लगा ॥१४–१६॥

भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तश्च मारिष ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ वामं पार्श्वमपालयन् ॥ १७ ॥
सौमदत्तिः सुशर्मा च काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
श्रुतायुश्चाच्युतायुश्च दक्षिणं पक्षमास्थिताः ॥ १८ ॥

भूरिश्रवा, शल, शल्य, आदरणीय राजा भगदत्त तथा अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द उस सारी सेनाके वामभागकी रक्षा कर रहे थे । सोमदत्तपुत्र भूरि, त्रिगर्तराज सुशर्मा, काम्बोजराज सुदक्षिण, श्रुतायु तथा अच्युतायु—ये दक्षिणभागमें स्थित होकर उस सेनाकी रक्षा कर रहे थे ॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
महत्या सेनया सार्धं सेनापृष्ठे व्यवस्थिताः ॥ १९ ॥

अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा सात्वतवंशी कृतवर्मा अपनी विशाल सेनाके साथ कौरवसेनाके पृष्ठभागमें खड़े होकर उसका संरक्षण करते थे ॥ १९ ॥

पृष्ठगोपास्तु तस्यासन् नानादेश्या जनेश्वराः ।
केतुमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ॥ २० ॥

केतुमान्, वसुदान, काशिराजके पुत्र अभिभू तथा अन्य अनेक देशोंके नरेश सेना पृष्ठके पोषक थे ॥ २० ॥

ततस्ते तावकाः सर्वे हृष्टा युद्धाय भारत ।
दध्मुः शङ्खान् मुदा युक्ताः सिंहनादांस्तथोन्नदन् ॥ २१ ॥

भारत ! तदनन्तर आपकी सेनाके समस्त सैनिक हर्षसे उल्लसित हो प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाने और सिंहनाद करने लगे॥

तेषां श्रुत्वा तु हृष्टानां वृद्धः कुरुपितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ २२ ॥

उनका हर्षनाद सुनकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह प्रतापी भीष्मने जोर-जोरसे सिंहनाद करके अपना शङ्ख बजाया ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवा विविधाः परे।
आनकाश्चाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ २३ ॥

तदनन्तर शङ्ख, भेरी, नाना प्रकारके पणव और आनक आदि अन्य बाजे सहसा बज उठे और उन सबका सम्मिलित शब्द सब ओर गूँज उठा ॥ २३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
प्रदध्मतुः शङ्खवरौ हेमरत्नपरिष्कृतौ ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए विशाल रथपर बैठे भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन अपने सुवर्णभूषित श्रेष्ठ शङ्खोंको बजाने लगे ॥ २४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ २५ ॥

हृषीकेशने पाञ्चजन्य, अर्जुनने देवदत्त तथा भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महान् शङ्ख बजाया ॥२५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ २६ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय तथा नकुल सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाया ॥२६॥

काशिराजश्च शैब्यश्च शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्च महारथः ॥ २७ ॥
पाञ्चाल्याश्च महेष्वासा द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः।
सर्वे दध्मुर्महाशङ्खान् सिंहनादांश्च नेदिरे ॥ २८ ॥

काशिराज, शैब्य, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, महारथी सात्यकि, पाञ्चालवीर, महाधनुर्धर द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी बड़े-बड़े शङ्खोंको बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥ २७-२८ ॥

स घोषः सुमहांस्तत्र वीरैस्तैः समुदीरितः।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयत् ॥ २९ ॥

वहाँ उन वीरोंद्वारा प्रकट किया हुआ वह महान् तुमुल घोष पृथ्वी और आकाशको निनादित करने लगा ॥ २९ ॥

एवमेते महाराज प्रहृष्टाः कुरुपाण्डवाः।
पुनर्युद्धाय संजग्मुस्तापयानाः परस्परम् ॥ ३० ॥

महाराज ! इस प्रकार ये हर्षमें भरे हुए कौरव-पाण्डव एक दूसरेको संताप देते हुए पुनः युद्धके लिये रणक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि कौरवव्यूहरचनायामेकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें कौरव-व्यूह-रचनाविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्म और अर्जुनका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

एवं व्यूढेष्वनीकेषु मामकेष्वितरेषु च।
कथं प्रहरतां श्रेष्ठाः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार मेरे और पाण्डवोंके सैनिकोंकी व्यूह-रचना हो जानेपर उन श्रेष्ठ योद्धाओंने किस प्रकार युद्ध प्रारम्भ किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

(तावकाः पाण्डवैः सार्धं यथायुध्यन्त तच्छृणु।)
समं व्यूढेष्वनीकेषु संनद्धरुचिरध्वजम्।
अपारमिव संदृश्य सागरप्रतिमं बलम् ॥ २ ॥
तेषां मध्ये स्थितो राजन् पुत्रो दुर्योधनस्तव।
अब्रवीत् तावकान् सर्वान् युद्ध्यध्वमिति दंशिताः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! आपके पुत्रोंने पाण्डवोंके साथ जिस प्रकार युद्ध किया, वह बताता हूँ, सुनिये। जब सब सेनाओंकी व्यूहरचना हो गयी, तब समस्त सेना एक होकर एक अपार महासागरके समान प्रतीत होने लगी। उसमें सब ओर रथ आदिमें आबद्ध सुन्दर ध्वजा फहराती दिखायी देती थी। उसे देखकर सैनिकोंके बीचमें खड़ा हुआ आपका पुत्र दुर्योधन आपके सभी योद्धाओंसे इस प्रकार बोला—'कवचधारी वीरो ! युद्ध आरम्भ करो' ॥ २-३ ॥

ते मनः क्रूरमाधाय समभित्यक्तजीविताः।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त सर्व एवोच्छ्रितध्वजाः ॥ ४ ॥

तब उन सबने मनको कठोर बनाकर प्राणोंका मोह छोड़कर ऊँची ध्वजाएँ फहराते हुए पाण्डवोंपर आक्रमण किया॥

ततो युद्धं समभवत् तुमुलं लोमहर्षणम्।
तावकानां परेषां च व्यतिषक्तरथद्विपम् ॥ ५ ॥

फिर तो आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें रोमाञ्चकारी घमासान युद्ध होने लगा। उसमें उभय पक्षके रथ और हाथी एक दूसरेसे गुँथ गये थे ॥ ५ ॥

मुक्तास्तु रथिभिर्बाणा रुक्मपुङ्खाः सुतेजसः।
संनिपेतुरकुण्ठाग्रा नागेषु च हयेषु च ॥ ६ ॥

रथियोंके छोड़े हुए सुवर्णमय पंखयुक्त तेजस्वी बाण कहीं भी कुण्ठित न होकर हाथियों और घोड़ोंपर पड़ने लगे ॥ ६ ॥

तथा प्रवृत्ते संग्रामे धनुरुद्यम्य दंशितः।
अभिपत्य महाबाहुर्भीष्मो भीमपराक्रमः ॥ ७ ॥
सौभद्रे भीमसेने च सात्यकौ च महारथे।
कैकेये च विराटे च धृष्टद्युम्ने च पार्षते ॥ ८ ॥
एतेषु नरवीरेषु चेदिमत्स्येषु चाभिभूः।
ववर्ष शरवर्षाणि वृद्धः कुरुपितामहः ॥ ९ ॥

इस प्रकार युद्ध आरम्भ हो जानेपर भयंकर पराक्रमी एवं कुरुकुलके प्रभावशाली वृद्ध पितामह महाबाहु भीष्म धनुष उठाये कवच बाँधे सहसा आगे बढ़े और अभिमन्यु, भीमसेन, महारथी सात्यकि, केकय, विराट एवं द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न—इन सब नरवीरोंपर और चेदि तथा मत्स्यदेशीय योद्धाओंपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७—९ ॥

अभिद्यत ततो व्यूहस्तस्मिन् वीरसमागमे।
सर्वेषामेव सैन्यानामासीद् व्यतिकरो महान् ॥ १० ॥

वीरोंके इस संघर्षमें सेनाओंका व्यूह भंग हो गया और सभी सैनिकोंका आपसमें महान् सम्मिश्रण हो गया ॥ १० ॥

सादिनो ध्वजिनश्चैव हताः प्रवरवाजिनः।
विप्रद्रुतरथानीकाः समपद्यन्त पाण्डवाः ॥ ११ ॥

घुड़सवार, ध्वजा धारण करनेवाले सैनिक तथा उत्तम घोड़े मारे गये। पाण्डवोंकी रथसेना पलायन करने लगी ॥

अर्जुनस्तु नरव्याघ्रो दृष्ट्वा भीष्मं महारथम्।
वार्ष्णेयमब्रवीत् क्रुद्धो याहि यत्र पितामहः ॥ १२ ॥
एष भीष्मः सुसंक्रुद्धो वार्ष्णेय मम वाहिनीम्।
नाशयिष्यति सुव्यक्तं दुर्योधनहिते रतः ॥ १३ ॥

तब नरश्रेष्ठ अर्जुनने महारथी भीष्मको देखकर भगवान् श्रीकृष्णसे कुपित होकर कहा—'वार्ष्णेय! जहाँ पितामह भीष्म हैं, वहाँ चलिये। अन्यथा ये भीष्म अत्यन्त क्रोधमें भरकर निश्चय ही मेरी सारी सेनाका विनाश कर डालेंगे; क्योंकि इस समय ये दुर्योधनके हितमें तत्पर हैं ॥ १२-१३॥

एष द्रोणः कृपः शल्यो विकर्णश्च जनार्दन।
धार्तराष्ट्राश्च सहिता दुर्योधनपुरोगमाः ॥ १४ ॥
पञ्चालान् निहनिष्यन्ति रक्षिता दृढधन्वना।
सोऽहं भीष्मं वधिष्यामि सैन्यहेतोर्जनार्दन ॥ १५ ॥

'जनार्दन! सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले भीष्मके द्वारा सुरक्षित हो ये द्रोण, कृप, शल्य, विकर्ण तथा दुर्योधन आदि समस्त धृतराष्ट्रपुत्र मिलकर पाञ्चाल योद्धाओंका संहार कर डालेंगे। अतः सेनाकी रक्षाके लिये मैं भीष्मका वध कर डालूँगा' ॥ १४-१५ ॥

तमब्रवीद् वासुदेवो यत्तो भव धनंजय।
एष त्वां प्रापयिष्यामि पितामहरथं प्रति ॥ १६ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'धनंजय! सावधान हो जाओ। अभी तुम्हें भीष्मके रथके समीप पहुँचाये देता हूँ' ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा ततः शौरी रथं तं लोकविश्रुतम्।
प्रापयामास भीष्मस्य रथं प्रति जनेश्वर ॥ १७ ॥

जनेश्वर! ऐसा कहकर श्रीकृष्णने उस विश्वविख्यात रथको भीष्मजीके रथके निकट पहुँचा दिया ॥ १७ ॥

चलद्बहुपताकेन बलाकावर्णवाजिना।
समुच्छ्रितमहाभीमनदद्वानरकेतुना ॥ १८ ॥
महता मेघनादेन रथेनामिततेजसा।
विनिघ्नन् कौरवानीकं शूरसेनांश्च पाण्डवः ॥ १९ ॥
प्रायाच्छरणदः शीघ्रं सुहृदां हर्षवर्धनः।

उस रथपर बहुत-सी पताकाएँ फहरा रही थीं। उसमें बकपंक्तिके समान श्वेतवर्णवाले चार घोड़े जुते हुए थे। उसके अत्यन्त ऊँचे ध्वजके ऊपर एक वानर भयंकर गर्जना करता था। उस रथके पहियोंकी घरघराहट मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर थी तथा वह रथ अनन्त तेज (कान्ति) से सम्पन्न था। उस विशाल रथपर आरूढ़ हो पाण्डुनन्दन अर्जुन, जो सबको शरण देनेवाले और सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाले थे, कौरवसेना एवं शूरसेनदेशीय योद्धाओंका वध करते हुए शीघ्रतापूर्वक भीष्मके पास गये ॥ १८-१९½ ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम् ॥ २० ॥
त्रासयन्तं रणे शूरान् मर्दयन्तं च सायकैः।
सैन्धवप्रमुखैर्गुप्तः प्राच्यसौवीरकेकयैः ॥ २१ ॥
सहसा प्रत्युदीयाय भीष्मः शान्तनवोऽर्जुनम्।

मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति उन्हें वेगसे आते और रणक्षेत्रमें सायकोंद्वारा शूरवीरोंका मर्दन करके उन्हें भयभीत करते देख जयद्रथ आदि राजाओं तथा पूर्वदेश, सौवीर राज्य और केकय प्रदेशके योद्धाओंसे सुरक्षित शान्तनुनन्दन भीष्म सहसा अर्जुनकी ओर बढ़े ॥ २०-२१½ ॥

को हि गाण्डीवधन्वानमन्यः कुरुपितामहात् ॥ २२ ॥
द्रोणवैकर्तनाभ्यां वा रथी संयातुमर्हति।

महाराज! कुरुकुलके पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य तथा

कर्णके सिवा दूसरा कौन ऐसा रथी है, जो गाण्डीवधारी अर्जुनका सामना कर सके ॥ २२½ ॥

ततो भीष्मो महाराज सर्वलोकमहारथः ॥ २३ ॥
अर्जुनं सप्तसप्तत्या नाराचानां समाचिनोत् ।
द्रोणश्च पञ्चविंशत्या कृपः पञ्चाशता शरैः ॥ २४ ॥
दुर्योधनश्चतुःषष्ट्या शल्यश्च नवभिः शरैः ।
सैन्धवो नवभिश्चैव शकुनिश्चापि पञ्चभिः ॥ २५ ॥
विकर्णो दशभिर्भल्लै राजन् विव्याध पाण्डवम् ।

नरेश्वर ! तदनन्तर सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात महारथी भीष्मने अर्जुनपर सतहत्तर बाण चलाये, द्रोणने पचीस, कृपाचार्यने पचास, दुर्योधनने चौसठ, शल्यने नौ, जयद्रथने नौ, शकुनिने पाँच तथा विकर्णने दस भल्ल नामक बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुनको बींध डाला ॥ २३-२५½ ॥

स तैर्विद्धो महेष्वासः समन्तान्निशितैः शरैः ॥ २६ ॥
न विव्यथे महाबाहुर्भिद्यमान इवाचलः ।

इन समस्त तीखे बाणोंद्वारा चारों ओरसे विद्ध होनेपर भी महाधनुर्धर महाबाहु अर्जुन तनिक भी व्यथित नहीं हुए । ऐसा जान पड़ता था, मानो किसी पर्वतको बाणोंसे बींध दिया हो ॥ २६½ ॥

स भीष्मं पञ्चविंशत्या कृपं च नवभिः शरैः ॥ २७ ॥
द्रोणं षष्ट्या नरव्याघ्रो विकर्णं च त्रिभिः शरैः ।
शल्यं चैव त्रिभिर्बाणै राजानं चैव पञ्चभिः ॥ २८ ॥
प्रत्यविध्यदमेयात्मा किरीटी भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न, किरीटधारी पुरुषसिंह अर्जुनने भीष्मको पचीस, कृपाचार्यको नौ, द्रोणको साठ, विकर्णको तीन, शल्यको तीन तथा राजा दुर्योधनको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २७-२८½

तं सात्यकिर्विराटश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २९ ॥
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च परिवव्रुर्धनंजयम् ।

उस समय सात्यकि, विराट, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और अभिमन्यु—इन सबने अर्जुनको उनकी रक्षाके लिये चारों ओरसे घेर लिया ॥ २९½ ॥

ततो द्रोणं महेष्वासं गाङ्गेयस्य प्रिये रतम् ॥ ३० ॥
अभ्यवर्तत पाञ्चाल्यः संयुक्तः सह सोमकैः ।

तदनन्तर गङ्गानन्दन भीष्मका प्रिय करनेमें लगे हुए महाधनुर्धर द्रोणाचार्यपर सोमकोंसहित धृष्टद्युम्नने आक्रमण किया ॥ ३०½ ॥

भीष्मस्तु रथिनां श्रेष्ठो राजन् विव्याध पाण्डवम् ॥ ३१ ॥
अशीत्या निशितैर्बाणैस्ततोऽक्रोशन्त तावकाः ।

राजन् ! तब रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने पाण्डुनन्दन अर्जुनको अस्सी पैने बाण मारकर बींध डाला । यह देखकर आपके सैनिक हर्षसे कोलाहल करने लगे ॥ ३१½ ॥

तेषां तु निनदं श्रुत्वा सहितानां प्रहृष्टवत् ॥ ३२ ॥
प्रविवेश ततो मध्यं नरसिंहः प्रतापवान् ।
तेषां महारथानां स मध्यं प्राप्य धनंजयः ॥ ३३ ॥
चिक्रीड धनुषा राजँल्लक्ष्यं कृत्वा महारथान् ।
ततो दुर्योधनो राजा भीष्ममाह जनेश्वरः ॥ ३४ ॥
पीड्यमानं स्वकं सैन्यं दृष्ट्वा पार्थेन संयुगे ।

उन समस्त कौरवोंका हर्षनाद सुनकर प्रतापी पुरुषसिंह अर्जुनने उनकी सेनाके भीतर प्रवेश किया । राजन् ! उन महारथियोंके भीतर पहुँचकर अर्जुन उन सबको अपने बाणोंका निशाना बनाकर धनुषसे खेल करने लगे । तब प्रजापालक राजा दुर्योधनने अर्जुनके द्वारा युद्धमें अपनी सेनाको पीड़ित हुई देख भीष्मसे कहा—॥ ३२-३४½ ॥

एष पाण्डुसुतस्तात कृष्णेन सहितो बली ॥ ३५ ॥
यततां सर्वसैन्यानां मूलं नः परिकृन्तति ।
त्वयि जीवति गाङ्गेय द्रोणे च रथिनां वरे ॥ ३६ ॥

'तात ! ये पाण्डुके बलवान् पुत्र अर्जुन श्रीकृष्णके साथ आकर समस्त सैन्योंके प्रयत्नशील होनेपर भी हमलोगोंका मूलोच्छेद कर रहे हैं । गङ्गानन्दन ! आपके तथा रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यके जीते-जी हमारे सैनिक मारे जा रहे हैं ३५-३६

त्वत्कृते चैव कर्णोऽपि न्यस्तशस्त्रो विशाम्पते ।
न युध्यति रणे पार्थं हितकामः सदा मम ॥ ३७ ॥
स तथा कुरु गाङ्गेय यथा हन्येत फाल्गुनः ।

'प्रजानाथ ! आपहीके कारण कर्णने भी हथियार डाल दिया है और वह रणभूमिमें अर्जुनसे युद्ध नहीं कर रहा है । कर्ण मेरा सदा हित चाहनेवाला है । गङ्गानन्दन ! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे अर्जुन मार डाले जायँ' ॥ ३७½ ॥

एवमुक्तस्ततो राजन् पिता देवव्रतस्तव ॥ ३८ ॥
धिक् क्षात्रं धर्ममित्युक्त्वा प्रायात् पार्थरथं प्रति ।

राजन् ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपके पितृ-तुल्य भीष्म 'क्षत्रिय-धर्मको धिक्कार है' ऐसा कहकर अर्जुनके रथकी ओर चले ॥ ३८½ ॥

उभौ श्वेतहयौ राजन् संसक्तौ प्रेक्ष्य पार्थिवाः ॥ ३९ ॥
सिंहनादान् भृशं चक्रुः शङ्खान् दध्मुश्च मारिष ।

महाराज ! उन दोनोंके रथोंमें श्वेत घोड़े जुते हुए थे । आर्य ! उन्हें एक दूसरेसे भिड़े हुए देख सब राजा जोर-जोरसे सिंहनाद करने और शङ्ख फूँकने लगे ॥ ३९½ ॥

द्रौणिर्दुर्योधनश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः ॥ ४० ॥
परिवार्य रणे भीष्मं स्थिता युद्धाय मारिष ।

आर्य ! उस समय अश्वत्थामा, दुर्योधन और आपके पुत्र विकर्ण—ये सभी समराङ्गणमें भीष्मको घेरकर युद्धके लिये खड़े थे ॥ ४०½ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे परिवार्य धनंजयम् ॥ ४१ ॥
स्थिता युद्धाय महते ततो युद्धमवर्तत ।

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी अर्जुनको सब ओरसे घेरकर महायुद्धके लिये वहाँ डटे हुए थे, अतः उनमें भारी युद्ध छिड़ गया ॥ ४१½ ॥

गाङ्गेयस्तु रणे पार्थमानर्च्छन्नवभिः शरैः ॥ ४२ ॥
तमर्जुनः प्रत्यविध्यद् दशभिर्मर्मभेदिभिः ।

गङ्गानन्दन भीष्मने उस रणक्षेत्रमें नौ बाणोंसे अर्जुनको गहरी चोट पहुँचायी। तब अर्जुनने भी उन्हें दस मर्मभेदी बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ४२½ ॥

ततः शरसहस्रेण सुप्रयुक्तेन पाण्डवः ॥ ४३ ॥
अर्जुनः समरश्लाघी भीष्मस्यावारयद् दिशः ।

तदनन्तर युद्धकी श्लाघा रखनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने अच्छी तरह छोड़े हुए एक हजार बाणोंद्वारा भीष्मको सब ओरसे रोक दिया ॥ ४३½ ॥

शरजालं ततस्तत् तु शरजालेन मारिष ॥ ४४ ॥
वारयामास पार्थस्य भीष्मः शान्तनवस्तदा ।

माननीय महाराज ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनके इस बाणसमूहका अपने बाणसमूहसे निवारण कर दिया ॥ ४४½ ॥

उभौ परमसंहृष्टावुभौ युद्धाभिनन्दिनौ ॥ ४५ ॥
निर्विशेषमयुध्येतां कृतप्रतिकृतैषिणौ ।

वे दोनों वीर अत्यन्त हर्षमें भरकर युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे। दोनों ही दोनोंके किये हुए प्रहारका प्रतीकार करते हुए समानभावसे युद्ध करने लगे ॥ ४५½ ॥

भीष्मचापविमुक्तानि शरजालानि संघशः ॥ ४६ ॥
शीर्यमाणान्यदृश्यन्त भिन्नान्यर्जुनसायकैः ।

भीष्मके धनुषसे छूटे हुए सायकोंके समूह अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर बिखरे दिखायी देने लगे ॥ ४६½ ॥

तथैवार्जुनमुक्तानि शरजालानि सर्वशः ॥ ४७ ॥
गाङ्गेयशरनुन्नानि प्रापतन्त महीतले ।

इसी प्रकार अर्जुनके छोड़े हुए बाणसमूह गङ्गानन्दन भीष्मके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो पृथ्वीपर सब ओर पड़े हुए थे ॥ ४७½ ॥

अर्जुनः पञ्चविंशत्या भीष्ममार्च्छच्छितैः शरैः॥ ४८ ॥
भीष्मोऽपि समरे पार्थं विव्याध निशितैः शरैः ।

अर्जुनने पचीस तीखे बाणोंसे मारकर भीष्मको पीड़ित कर दिया। फिर भीष्मने भी समरभूमिमें अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा अर्जुनको बींध दिया ॥ ४८½ ॥

अन्योन्यस्य हयान् विद्ध्वा ध्वजौ च सुमहाबलौ॥ ४९॥
रथेषां रथचक्रे च चिक्रीडतुररिंदमौ ।

वे दोनों शत्रुओंका दमन करनेवाले तथा अत्यन्त बलवान् थे। अतः एक दूसरेके घोड़ों, ध्वजाओं, रथके ईषादण्ड तथा पहियोंको बाणोंसे बींधकर खेल-सा करने लगे ४९½

ततः क्रुद्धो महाराज भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ५० ॥
वासुदेवं त्रिभिर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ।

महाराज ! तदनन्तर प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ भीष्मने कुपित होकर तीन बाणोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ५०½ ॥

भीष्मचापच्युतैस्तैस्तु निर्विद्धो मधुसूदनः ॥ ५१ ॥
विरराज रणे राजन् सपुष्प इव किंशुकः ।

राजन् ! भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंसे विद्ध होकर भगवान् मधुसूदन रणभूमिमें रक्तरंजित हो खिले हुए पलाशके वृक्षके समान शोभा पाने लगे ॥ ५१½ ॥

ततोऽर्जुनो भृशं क्रुद्धो निर्विद्धं प्रेक्ष्य माधवम् ॥ ५२ ॥
सारथिं कुरुवृद्धस्य निर्बिभेद शितैः शरैः ।

श्रीकृष्णको घायल हुआ देख अर्जुन अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने तीखे सायकोंद्वारा कुरुकुलवृद्ध भीष्मके सारथिको विदीर्ण कर डाला ॥ ५२½ ॥

यतमानौ तु तौ वीरावन्योन्यस्य वधं प्रति ॥ ५३ ॥
न शक्नुतां तदान्योन्यमभिसंधातुमाहवे ।

इस प्रकार वे दोनों वीर एक दूसरेके वधके लिये पूरा प्रयत्न कर रहे थे; तथापि वे युद्धभूमिमें परस्पर अभिसंधान (घातक प्रहार) करनेमें सफल न हो सके ॥ ५३½ ॥

तौ मण्डलानि चित्राणि गतप्रत्यागतानि च ॥ ५४ ॥
अदर्शयेतां बहुधा सूतसामर्थ्यलाघवात् ।

वे दोनों अपने सारथिकी शक्ति तथा शीघ्रकारिताके कारण नाना प्रकारके विचित्र मण्डल, आगे बढ़ने और पीछे हटने आदिके पैंतरे दिखाने लगे ॥ ५४½ ॥

अन्तरं च प्रहारेषु तर्कयन्तौ परस्परम् ॥ ५५ ॥
राजन्नन्तरमार्गस्थौ स्थितावास्तां मुहुर्मुहुः ।

राजन् ! दोनों ही एक दूसरेके प्रहारोंमें छिद्र ढूँढ़नेके लिये सतर्क थे। वे बारंबार छिद्रान्वेषणके मार्गमें स्थित हो छिद्र देखनेमें संलग्न रहते थे ॥ ५५½ ॥

उभौ सिंहरवोन्मिश्रं शङ्खशब्दं च चक्रतुः ॥ ५६ ॥
तथैव चापनिर्घोषं चक्रतुस्तौ महारथौ ।

वे दोनों महारथी सिंहनादसे मिला हुआ शङ्खनाद करते और धनुषकी टंकार फैलाते रहते थे ॥ ५६½ ॥

तयोः शङ्खनिनादेन रथनेमिस्वनेन च ॥ ५७ ॥
दारिता सहसा भूमिश्चकम्पे च ननाद च ।

उनकी शङ्खध्वनि तथा रथके पहियोंकी घरघराहटसे पृथ्वी सहसा विदीर्ण-सी होकर काँपने और आर्तनाद करने लगी ॥ ५७½ ॥

नोभयोरन्तरं कश्चिद् ददृशे भरतर्षभ ॥ ५८ ॥
बलिनौ युद्धदुर्धर्षावन्योन्यसदृशावुभौ ।

भरतश्रेष्ठ ! वे दोनों वीर बलवान्, युद्धमें दुर्जय तथा एक दूसरेके अनुरूप थे । अतः ढूँढ़नेपर भी कोई उनमेंसे किसीका अन्तर न देख सका ॥ ५८½ ॥

चिह्नमात्रेण भीष्मं तु प्रजज्ञुस्तत्र कौरवाः ॥ ५९ ॥
तथा पाण्डुसुताः पार्थं चिह्नमात्रेण जज्ञिरे ।

उस समय कौरवोंने भीष्मको तालध्वज आदि चिह्नमात्रसे ही पहचाना । इसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंने भी कपिध्वज आदि चिह्नमात्रसे ही पार्थकी पहचान की ॥ ५९½ ॥

तयोर्नृवरयोर्दृष्ट्वा तादृशं तं पराक्रमम् ॥ ६० ॥
विस्मयं सर्वभूतानि जग्मुर्भारत संयुगे ।

भारत ! उस संग्राममें उन दोनों श्रेष्ठ पुरुषोंके वैसे पराक्रमको देखकर सम्पूर्ण प्राणी बड़े विस्मयमें पड़ गये६०½

न तयोर्विवरं कश्चिद् रणे पश्यति भारत ॥ ६१ ॥
धर्मे स्थितस्य हि यथा न कश्चिद् वृजिनं क्वचित् ।

भरतनन्दन ! जैसे कोई धर्मनिष्ठ पुरुषमें कहीं कोई पाप नहीं देख पाता, उसी प्रकार कोई भी रणक्षेत्रमें उन दोनों योद्धाओंका छिद्र नहीं देख पाता था ॥ ६१½ ॥

उभौ च शरजालेन तावदृश्यौ बभूवतुः ॥ ६२ ॥
प्रकाशौ च पुनस्तूर्णं बभूवतुरुभौ रणे ।

दोनों ही संग्रामभूमिमें एक दूसरेके बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर अदृश्य हो जाते और उन्हें छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही प्रकाशमें आ जाते थे ॥ ६२½ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वाश्चारणाश्च महर्षिभिः सह ॥ ६३ ॥
अन्योन्यं प्रत्यभाषन्त तयोर्दृष्ट्वा पराक्रमम् ।
न शक्यौ युधि संरब्धौ जेतुमेतौ कथञ्चन ॥ ६४ ॥
सदेवासुरगन्धर्वैर्लोकैरपि महारथौ ।

वहाँ आये हुए देवता, गन्धर्व, चारण और महर्षिगण उन दोनोंका पराक्रम देखकर आपसमें कहने लगे कि ये दोनों महारथी वीर रोषावेशमें भरे हुए हैं; अतः ये देवता, असुर और गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण लोकोंके द्वारा भी किसी प्रकार जीते नहीं जा सकते ॥ ६३-६४½ ॥

आश्चर्यभूतं लोकेषु युद्धमेतन्महाद्भुतम् ॥ ६५ ॥
नैतादृशानि युद्धानि भविष्यन्ति कथञ्चन ।
न हि शक्यो रणे जेतुं भीष्मः पार्थेन धीमता ॥ ६६ ॥
सधनुः सरथः साश्वः प्रवपन् सायकान् रणे ।

यह अत्यन्त अद्भुत युद्ध सम्पूर्ण लोकोंके लिये आश्चर्यजनक घटना है । भविष्यमें ऐसे युद्ध होनेकी किसी प्रकार भी सम्भावना नहीं है । बुद्धिमान् पार्थ रणभूमिमें भीष्मको कदापि जीत नहीं सकते; क्योंकि वे समरभूमिमें रथ, घोड़े और धनुषसहित उपस्थित हो बाणोंको बीजकी भाँति बो रहे हैं ॥ ६५-६६½ ॥

तथैव पाण्डवं युद्धे देवैरपि दुरासदम् ॥ ६७ ॥
न विजेतुं रणे भीष्म उत्सहेत धनुर्धरम् ।
आलोकादपि युद्धं हि सममेतद् भविष्यति ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार भीष्म भी युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय, गाण्डीवधारी पाण्डुपुत्र अर्जुनको जीतनेमें समर्थ नहीं हो सकते । यदि ये दोनों लड़ते रहें तो जबतक यह संसार स्थित है, तबतक इन दोनोंका यह युद्ध समानरूपसे ही चलता रहेगा ॥६७-६८॥

इति स्म वाचोऽश्रूयन्त प्रोच्चरन्त्यस्ततस्ततः ।
गाङ्गेयार्जुनयोः संख्ये स्तवयुक्ता विशाम्पते ॥ ६९ ॥

प्रजानाथ ! इस प्रकार रणभूमिमें भीष्म और अर्जुनकी स्तुतिप्रशंसासे युक्त बहुत-सी बातें इधर-उधर लोगोंके मुँहसे निकलती और सुनायी देती थीं ॥ ६९ ॥

त्वदीयास्तु तदा योधाः पाण्डवेयाश्च भारत ।
अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तयोस्तत्र पराक्रमे ॥ ७० ॥

भारत ! उस समय वहाँ उन दोनों वीरोंके पराक्रम करते समय युद्धस्थलमें आपके और पाण्डवपक्षके योद्धा भी एक दूसरेको मार रहे थे ॥ ७० ॥

शितधारैस्तथा खड्गैर्विमलैश्च परश्वधैः ।
शरैरन्यैश्च बहुभिः शस्त्रैर्नानाविधैरपि ॥ ७१ ॥
उभयोः सेनयोः शूरा न्यकृन्तन्त परस्परम् ।

तीखी धारवाले खड्गों, चमचमाते हुए फरसों, अन्य अनेक प्रकारके बाणों तथा भाँति-भाँतिके शस्त्रोंसे दोनों सेनाओंके शूरवीर एक दूसरेको मारते थे ॥ ७१½ ॥

वर्तमाने तथा घोरे तस्मिन् युद्धे सुदारुणे ।
द्रोणपाञ्चाल्ययो राजन् महानासीत् समागमः ॥ ७२ ॥

राजन् ! जहाँ एक ओर इस प्रकार भयानक तथा अत्यन्त दारुण युद्ध चल रहा था, वहीं दूसरी ओर द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नमें भयंकर मुठभेड़ हो रही थी ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मार्जुनयुद्धे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और अर्जुनका युद्धविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७२½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्यका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

कथं द्रोणो महेष्वासः पाञ्चाल्यश्चापि पार्षतः।
उभौ समीयतुर्यत्तौ तन्ममाचक्ष्व संजय॥ १॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! महाधनुर्धर द्रोणाचार्य तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ये दोनों वीर किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक आपसमें युद्ध कर रहे थे, वह सब वृत्तान्त मुझसे कहो ॥

दिष्टमेव परं मन्ये पौरुषादिति मे मतिः।
यत्र शान्तनवो भीष्मो नातरद् युधि पाण्डवम्॥ २॥

मैं तो पुरुषार्थसे अधिक प्रबल भाग्यको ही मानता हूँ और इसीपर विश्वास करता हूँ, जिसके अनुसार शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धमें पाण्डुपुत्र अर्जुनसे पार न पा सके ॥ २॥

भीष्मो हि समरे क्रुद्धो हन्याल्लोकांश्चराचरान्।
स कथं पाण्डवं युद्धे नातरत् संजयौजसा॥ ३॥

संजय ! भीष्म रणक्षेत्रमें कुपित हो जायँ तो वे चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण लोकोंको मार सकते हैं। फिर वे अपने पराक्रमद्वारा युद्धमें पाण्डुकुमार अर्जुनसे क्यों न पार पा सके ? ॥ ३॥

संजय उवाच

शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा युद्धमेतत् सुदारुणम्।
न शक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः॥ ४॥

संजयने कहा—राजन् ! पाण्डवोंको तो इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी नहीं जीत सकते। अब आप इस अत्यन्त भयंकर युद्धका वृत्तान्त स्थिर होकर सुनिये ॥ ४॥

द्रोणस्तु निशितैर्बाणैर्धृष्टद्युम्नमविध्यत।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत्॥ ५॥

द्रोणाचार्यने अपने तीखे बाणोंसे धृष्टद्युम्नको घायल कर दिया और उनके सारथिको भल्लके द्वारा मारकर रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥ ५॥

तथास्य चतुरो वाहांश्चतुर्भिः सायकोत्तमैः।
पीडयामास संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नस्य मारिष॥ ६॥

आर्य ! क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यने चार उत्तम सायकोंसे धृष्टद्युम्नके चारों घोड़ोंको भी बहुत पीड़ा दी ॥ ६॥

धृष्टद्युम्नस्ततो द्रोणं नवत्या निशितैः शरैः।
विव्याध प्रहसन् वीरस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ ७॥

तब धृष्टद्युम्नने हँसकर नब्बे पैने बाणोंसे द्रोणाचार्यको घायल कर दिया और कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो' ॥ ७॥

ततः पुनरमेयात्मा भारद्वाजः प्रतापवान्।
शरैः प्रच्छादयामास धृष्टद्युम्नममर्षणम्॥ ८॥

तदनन्तर अमेय आत्मबलसे सम्पन्न प्रतापी द्रोणाचार्यने पुनः अमर्षशील धृष्टद्युम्नको अपने बाणोंसे ढक दिया ॥ ८॥

आददे च शरं घोरं पार्षतान्तचिकीर्षया।
शक्राशनिसमस्पर्शं कालदण्डमिवापरम्॥ ९॥

तत्पश्चात् धृष्टद्युम्नका अन्त कर डालनेकी इच्छासे द्वितीय कालदण्डके समान एक भयंकर बाण हाथमें लिया, जिसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान कठोर था ॥ ९॥

हाहाकारो महानासीत् सर्वसैन्येषु भारत।
तमिषुं संधितं दृष्ट्वा भारद्वाजेन संयुगे॥ १०॥

भरतनन्दन ! युद्धमें द्रोणाचार्यके द्वारा उस बाणका संधान होता देख सम्पूर्ण पाण्डवसेनामें महान् हाहाकार मच गया ॥

तत्राद्भुतमपश्याम धृष्टद्युम्नस्य पौरुषम्।
यदेकः समरे वीरस्तस्थौ गिरिरिवाचलः॥ ११॥

उस समय मैंने वहाँ धृष्टद्युम्नका अद्भुत पराक्रम देखा। वह वीर समराङ्गणमें अकेला ही पर्वतके समान अविचल भावसे खड़ा रहा ॥ ११॥

तं च दीप्तं शरं घोरमायान्तं मृत्युमात्मनः।
चिच्छेद शरवृष्टिं च भारद्वाजे मुमोच ह॥ १२॥

अपने लिये मृत्यु बनकर आते हुए उस भयंकर तेजस्वी बाणको देखकर धृष्टद्युम्नने तत्काल ही उसे काट गिराया और द्रोणाचार्यपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १२॥

तत उच्चुक्रुशुः सर्वे पञ्चालाः पाण्डवैः सह।
धृष्टद्युम्नेन तत् कर्म कृतं दृष्ट्वा सुदुष्करम्॥ १३॥

धृष्टद्युम्नके द्वारा किये हुए उस अत्यन्त दुष्कर कर्मको देखकर पाण्डवसहित समस्त पाञ्चाल वीर हर्षसे कोलाहल कर उठे ॥ १३॥

ततः शक्तिं महावेगां स्वर्णवैदूर्यभूषिताम्।
द्रोणस्य निधनाकाङ्क्षी चिक्षेप स पराक्रमी॥ १४॥

तदनन्तर द्रोणाचार्यकी मृत्यु चाहनेवाले पराक्रमी वीर धृष्टद्युम्नने उनके ऊपर सुवर्ण और वैदूर्यमणिसे भूषित अत्यन्त वेगशालिनी शक्ति चलायी ॥ १४॥

तामापतन्तीं सहसा शक्तिं कनकभूषिताम्।
त्रिधा चिच्छेद समरे भारद्वाजो हसन्निव॥ १५॥

उस सुवर्णभूषित शक्तिको सहसा आती देख द्रोणाचार्यने समरभूमिमें हँसते-हँसते उसके तीन टुकड़े कर दिये ॥ १५॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नः प्रतापवान्।
ववर्ष शरवर्षाणि द्रोणं प्रति जनेश्वर ॥ १६ ॥

जनेश्वर ! अपनी शक्तिको नष्ट हुई देख प्रतापी धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यपर पुनः बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

शरवर्षं ततस्तत् तु संनिवार्य महायशाः।
द्रोणो द्रुपदपुत्रस्य मध्ये चिच्छेद कार्मुकम् ॥ १७ ॥

तब महायशस्वी द्रोणने उस बाण-वर्षाका निवारण करके द्रुपदपुत्रके धनुषको बीचसे ही काट डाला ॥ १७ ॥

स च्छिन्नधन्वा समरे गदां गुर्वीं महायशाः।
द्रोणाय प्रेषयामास गिरिसारमयीं बली ॥ १८ ॥

धनुष कट जानेपर महायशस्वी बलवान् वीर धृष्टद्युम्नने समरभूमिमें द्रोणाचार्यपर लोहेकी बनी हुई एक भारी गदा चलायी ॥ १८ ॥

सा गदा वेगवन्मुक्ता प्रायाद् द्रोणजिघांसया।
तत्राद्भुतमपश्याम भारद्वाजस्य विक्रमम् ॥ १९ ॥

द्रोणाचार्यके वधकी इच्छासे वेगपूर्वक छोड़ी हुई वह गदा बड़े जोरसे चली; परंतु वहाँ हमलोगोंने उस समय द्रोणाचार्यका अद्भुत पराक्रम देखा ॥ १९ ॥

लाघवाद् व्यंसयामास गदां हेमविभूषिताम्।
व्यंसयित्वा गदां तां च प्रेषयामास पार्षतम् ॥ २० ॥
भल्लान् सुनिशितान् पीतान् रुक्मपुंखान् सुदारुणान्।
ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ॥ २१ ॥

उन्होंने बड़ी फुर्तीसे उस स्वर्णभूषित गदाको व्यर्थ कर दिया। इस प्रकार उस गदाको निष्फल करके द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नपर सुवर्णमय पंखोंसे युक्त अत्यन्त तीक्ष्ण पानीदार और भयंकर 'भल्ल' नामक बाण चलाये। वे बाण धृष्टद्युम्नका कवच छेदकर रणक्षेत्रमें उनका रक्त पीने लगे ॥ २०-२१ ॥

अथान्यद् धनुरादाय धृष्टद्युम्नो महारथः।
द्रोणं युधि पराक्रम्य शरैर्विव्याध पञ्चभिः ॥ २२ ॥

तब महारथी धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर युद्धमें पराक्रमपूर्वक पाँच बाण मारकर द्रोणाचार्यको क्षत-विक्षत कर दिया॥

रुधिराक्तौ ततस्तौ तु शुशुभाते नरर्षभौ।
वसन्तसमये राजन् पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ २३ ॥

राजन् ! उस समय वे दोनों नरश्रेष्ठ लहू-लुहान होकर वसंत ऋतुमें खिले हुए दो पलाश वृक्षोंकी भाँति अत्यन्त शोभा पाने लगे ॥ २३ ॥

अमर्षितस्ततो राजन् पराक्रम्य चमूमुखे।
द्रोणो द्रुपदपुत्रस्य पुनश्चिच्छेद कार्मुकम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तब उस सेनाके अग्रभागमें खड़े हो अमर्षमें भरे हुए द्रोणाचार्यने पराक्रम प्रकट करते हुए पुनः धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया ॥ २४ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं शरैः संनतपर्वभिः।
अभ्यवर्षदमेयात्मा वृष्ट्या मेघ इवाचलम् ॥ २५ ॥

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न द्रोणाचार्यने जिसका धनुष कट गया था, उन धृष्टद्युम्नपर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ किसी पर्वतपर जलकी बूँदें बरसा रहा हो॥

सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत्।
अथास्य चतुरो वाहांश्चतुर्भिर्निशितैः शरैः ॥ २६ ॥
पातयामास समरे सिंहनादं ननाद च।
ततोऽपरेण भल्लेन हस्ताच्चापमथाच्छिनत् ॥ २७ ॥

साथ ही उन्होंने भल्ल मारकर धृष्टद्युम्नके सारथिको रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया और चार तीखे बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको भी मार गिराया। फिर वे समराङ्गणमें जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे। इतना ही नहीं, उन्होंने दूसरा बाण मारकर उनके हाथमें स्थित दूसरे धनुषको भी काट डाला ॥ २६-२७ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
गदापाणिरवारोहत् ख्यापयन् पौरुषं महत् ॥ २८ ॥
तामस्य विशिखैस्तूर्णं पातयामास भारत।
रथादनवरूढस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २९ ॥

इस प्रकार धनुष कट जाने और घोड़े तथा सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए धृष्टद्युम्न हाथमें गदा लेकर उतरने लगे। भारत ! इतनेहीमें अपने महान् पौरुषका परिचय देते हुए द्रोणाचार्यने तुरंत ही बाण मारकर रथसे उतरते-उतरते ही उनकी गदाको भी गिरा दिया। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥ २८-२९ ॥

ततः स विपुलं चर्म शतचन्द्रं च भानुमत्।
खड्गं च विपुलं दिव्यं प्रगृह्य सुभुजो बली ॥ ३० ॥
अभिदुद्राव वेगेन द्रोणस्य वधकाङ्क्षया।
आमिषार्थी यथा सिंहो वने मत्तमिव द्विपम् ॥ ३१ ॥

तब सुन्दर बाँहोंवाले बलवान् वीर धृष्टद्युम्नने चन्द्राकार सौ फुल्लियोंसे सुशोभित तेजस्वी और विस्तृत ढाल तथा दिव्य एवं विशाल खड्ग हाथमें लेकर द्रोणका वध करनेकी इच्छासे उनके ऊपर वेगपूर्वक आक्रमण किया। ठीक उसी तरह, जैसे मांस चाहनेवाला सिंह वनमें किसी मतवाले हाथीपर धावा करता है ॥ ३०-३१ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम भारद्वाजस्य पौरुषम्।
लाघवं चास्त्रयोगं च बलं बाह्वोश्च भारत ॥ ३२ ॥

भारत ! उस समय हमने वहाँ द्रोणाचार्यका अद्भुत हस्तलाघव, अस्त्र-प्रयोग, बाहुबल तथा पुरुषार्थ देखा ॥ ३२ ॥

यदेनं शरवर्षेण वारयामास पार्षतम्।
न शशाक ततो गन्तुं बलवानपि संयुगे ॥ ३३ ॥

उन्होंने अपने बाणोंकी वर्षासे द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको सहसा आगे बढ़नेसे रोक दिया। अतः वे बलवान् होनेपर भी युद्धमें द्रोणाचार्यके पासतक न पहुँच सके ॥ ३३ ॥

निवारितस्तु द्रोणेन धृष्टद्युम्नो महारथः।
न्यवारयच्छरौघांस्तांश्चर्मणा कृतहस्तवत् ॥ ३४ ॥

द्रोणाचार्यसे रोके गये महारथी धृष्टद्युम्न सिद्धहस्त वीर पुरुषकी भाँति अपनी ढालसे ही उनके बाण-समूहोंका निवारण करने लगे ॥ ३४ ॥

ततो भीमो महाबाहुः सहसाभ्यपतद् बली।
साहाय्यकारी समरे पार्षतस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

तब बलवान् वीर महाबाहु भीम सहसा समरमें महामना धृष्टद्युम्नकी सहायता करनेके लिये आ पहुँचे ॥ ३५ ॥

स द्रोणं निशितैर्बाणै राजन् विव्याध सप्तभिः।
पार्षतं च रथं तूर्णं स्वकमारोहयत् तदा ॥ ३६ ॥

राजन्! उन्होंने सात पैने बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको घायल कर दिया और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको तुरंत ही अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ३६ ॥

ततो दुर्योधनो राजन् भानुमन्तमचोदयत्।
सैन्येन महता युक्तं भारद्वाजस्य रक्षणे ॥ ३७ ॥

महाराज! तब दुर्योधनने विशाल सेनासे युक्त भानुमान्को द्रोणाचार्यकी रक्षाके कार्यमें नियुक्त किया ॥ ३७ ॥

ततः सा महती सेना कलिङ्गानां जनेश्वर।
भीममभ्युद्ययौ तूर्णं तव पुत्रस्य शासनात् ॥ ३८ ॥

जनेश्वर! उस समय आपके पुत्रकी आज्ञासे कलिंग-देशीय वीरोंकी वह विशाल सेना तुरंत ही भीमसेनके सम्मुख आ पहुँची ॥ ३८ ॥

पाञ्चाल्यमथ संत्यज्य द्रोणोऽपि रथिनां वरः।
विराटद्रुपदौ वृद्धौ वारयामास संयुगे ॥ ३९ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य भी धृष्टद्युम्नको छोड़कर युद्धस्थलमें विराट और द्रुपद इन दोनों वृद्ध नरेशोंको आगे बढ़नेसे रोकने लगे ॥ ३९ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि समरे धर्मराजानमभ्ययात्।
ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ ४० ॥
कलिङ्गानां च समरे भीमस्य च महात्मनः।
जगतः प्रक्षयकरं घोररूपं भयावहम् ॥ ४१ ॥

इधर धृष्टद्युम्न भी उस समराङ्गणमें धर्मराज युधिष्ठिरके पास चले गये। तत्पश्चात् समरभूमिमें कलिंगदेशीय योद्धाओं और महामनस्वी भीमसेनका अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्च-कारी युद्ध होने लगा। जो सम्पूर्ण जगत्का विनाश करने-वाला घोरस्वरूप एवं महान् भयदायक था ॥ ४०-४१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि धृष्टद्युम्नद्रोणयुद्धे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें धृष्टद्युम्न और द्रोणका युद्धविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेनका कलिंगों और निषादोंसे युद्ध, भीमसेनके द्वारा शक्रदेव, भानुमान् और केतुमान्का वध तथा उनके बहुत-से सैनिकोंका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

तथा प्रतिसमादिष्टः कालिङ्गो वाहिनीपतिः।
कथमद्भुतकर्माणं भीमसेनं महाबलम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! दुर्योधनकी वैसी आज्ञा पाकर सेनापति कलिंगराजने अद्भुत पराक्रमी महाबली भीम-सेनके साथ किस प्रकार युद्ध किया? ॥ १ ॥

चरन्तं गदया वीरं दण्डहस्तमिवान्तकम्।
योधयामास समरे कालिङ्गः सह सेनया ॥ २ ॥

वीरवर भीमसेन जब गदा हाथमें लेकर विचरते हैं, तब दण्डधारी यमराजके समान जान पड़ते हैं। उनके साथ समराङ्गणमें सेनासहित कलिंगराजने किस प्रकार युद्ध किया? ॥

संजय उवाच

पुत्रेण तव राजेन्द्र स तथोक्तो महाबलः।
महत्या सेनया गुप्तः प्रायाद् भीमरथं प्रति ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजेन्द्र! आपके पुत्रका उपर्युक्त आदेश पाकर अपनी विशाल सेनासे सुरक्षित हो महाबली कलिंगराज भीमसेनके रथके पास गया ॥ ३ ॥

तामापतन्तीं महतीं कलिङ्गानां महाचमूम्।
रथाश्वनागकलिलां प्रगृहीतमहायुधाम् ॥ ४ ॥
भीमसेनः कलिङ्गानामार्च्छद् भारत वाहिनीम्।
केतुमन्तं च नैषादिमायान्तं सह चेदिभिः ॥ ५ ॥

भारत! रथ, घोड़े, हाथी और पैदलोंसे भरी हुई कलिंगोंकी उस विशाल वाहिनीको हाथोंमें बड़े-बड़े आयुध लिये आती देख चेदिदेशीय सैनिकोंके साथ भीमसेनने उसे बाणोंद्वारा पीड़ित करना आरम्भ किया। साथ ही युद्ध-के लिये आते हुए निषादराजपुत्र केतुमान्को भी चोट पहुँचायी ॥ ४-५ ॥

ततः श्रुतायुः संक्रुद्धो राज्ञा केतुमता सह।
आससाद रणे भीमं व्यूढानीकेषु चेदिषु ॥ ६ ॥

तब राजा केतुमान्‌के साथ क्रोधमें भरा हुआ श्रुतायु भी रणक्षेत्रमें भीमसेनके सामने आया। उस समय चेदिदेशीय सैनिकोंकी सेनाएँ व्यूहबद्ध होकर खड़ी थीं ॥ ६ ॥

रथैरनेकसाहस्रैः कलिङ्गानां नराधिप।
अयुतेन गजानां च निषादैः सह केतुमान् ॥ ७ ॥
भीमसेनं रणे राजन् समन्तात् पर्यवारयत्।

नरेश्वर ! कलिंगोंके कई सहस्र रथ और दस हजार हाथियों एवं निषादोंके साथ केतुमान् उस रणस्थलमें भीमसेनको सब ओरसे रोकने लगा ॥ ७½ ॥

चेदिमत्स्यकरूपाश्च भीमसेनपदानुगाः ॥ ८ ॥
अभ्यधावन्त समरे निषादान् सह राजभिः।
ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ॥ ९ ॥

तब भीमसेनके पदचिह्नोंपर चलनेवाले चेदि, मत्स्य तथा करूपदेशके क्षत्रियोंने समरभूमिमें निषादों एवं उनके राजाओंपर आक्रमण किया। फिर तो दोनों दलोंमें अत्यन्त घोर और भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ८-९ ॥

न प्राजानन्त योधाः स्वान् परस्परजिघांसया।
घोरमासीत् ततो युद्धं भीमस्य सहसा परैः ॥ १० ॥
यथेन्द्रस्य महाराज महत्या दैत्यसेनया।

महाराज ! उस समय एक-दूसरोंको मार डालनेकी इच्छा रखकर सब योद्धा अपने और परायेकी पहचान नहीं कर पाते थे। शत्रुओंके साथ भीमसेनका वह युद्ध सहसा उसी प्रकार अत्यन्त भयंकर हो चला, जैसे विशाल दैत्य सेनाके साथ देवराज इन्द्रका युद्ध हुआ करता है ॥ १०½ ॥

तस्य सैन्यस्य संग्रामे युध्यमानस्य भारत ॥ ११ ॥
बभूव सुमहाञ्शब्दः सागरस्येव गर्जतः।

भरतनन्दन ! संग्रामभूमिमें युद्ध करती हुई उस कलिंगसेनाका महान् कोलाहल समुद्रकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ ११½ ॥

अन्योन्यं स तदा योधा विकर्षन्तो विशाम्पते ॥ १२ ॥
महीं चक्रुश्चितां सर्वां शशलोहितसंनिभाम्।

राजन् ! उस समय सब योद्धाओंने छिन्न-भिन्न होकर परस्पर एक दूसरेको खींचते हुए वहाँकी सारी भूमिको अपनी रक्तरंजित लाशोंसे पाट दिया। वह भूमि खरगोशके रक्तकी भाँति लाल दिखायी देने लगी ॥ १२½ ॥

योधांश्च स्वान् परान् वापि नाभ्यजानञ्जिघांसया १३
स्वानप्याददते स्वाश्च शूराः परमदुर्जयाः।

परम दुर्जय शूर सैनिक विपक्षीको मार डालनेकी अभिलाषा लेकर अपने और परायेको भी जान नहीं पाते थे। बहुधा अपने ही पक्षके सैनिक अपने ही योद्धाओंको मारनेके लिये पकड़ लेते थे ॥ १३½ ॥

विमर्दः सुमहानासीदल्पानां बहुभिः सह ॥ १४ ॥
कलिङ्गैः सह चेदीनां निषादैश्च विशाम्पते।

राजन् ! इस प्रकार वहाँ बहुसंख्यक कलिङ्गों और निषादोंके साथ अल्पसंख्यक चेदिदेशीय सैनिकोंका बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा ॥ १४½ ॥

कृत्वा पुरुषकारं तु यथाशक्ति महाबलाः ॥ १५ ॥
भीमसेनं परित्यज्य संन्यवर्तन्त चेदयः।

महाबली चेदि सैनिक यथाशक्ति पुरुषार्थ प्रकट करके भीमसेनको छोड़कर भाग चले ॥ १५½ ॥

सर्वैः कलिङ्गैरासन्नः संनिवृत्तेषु चेदिषु ॥ १६ ॥
स्वबाहुबलमास्थाय न न्यवर्तत पाण्डवः।
न चचाल रथोपस्थाद् भीमसेनो महाबलः ॥ १७ ॥

चेदिदेशीय सैनिकोंके पलायन कर जानेपर समस्त कलिङ्ग भीमसेनके निकट जा पहुँचे; तो भी महाबली पाण्डुनन्दन भीमसेन अपने बाहुबलका भरोसा करके पीछे नहीं हटे और न रथकी बैठकसे तनिक भी विचलित हुए ॥

शितैरवाकिरद् बाणैः कलिङ्गानां वरूथिनीम्।
कालिङ्गस्तु महेष्वासः पुत्रश्चास्य महारथः ॥ १८ ॥
शक्रदेव इति ख्यातो जघ्नतुः पाण्डवं शरैः।

वे कलिङ्गोंकी सेनापर अपने तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे। महाधनुर्धर कलिङ्गराज और उसका महारथी पुत्र शक्रदेव दोनों मिलकर पाण्डुनन्दन भीमसेनपर बाणोंका प्रहार करने लगे ॥ १८½ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्विधुन्वन् रुचिरं धनुः ॥ १९ ॥
योधयामास कालिङ्गं स्वबाहुबलमाश्रितः।

तब महाबाहु भीमने अपने बाहुबलका आश्रय लेकर सुन्दर धनुषकी टंकार फैलाते हुए कलिङ्गराजसे युद्ध आरम्भ किया ॥ १९½ ॥

शक्रदेवस्तु समरे विसृजन् सायकान् बहून् ॥ २० ॥
अश्वाञ्जघान समरे भीमसेनस्य सायकैः।

शक्रदेवने समरभूमिमें बहुत-से सायकोंकी वर्षा करते हुए उन सायकोंद्वारा भीमसेनके घोड़ोंको मार डाला॥२०½॥

तं दृष्ट्वा विरथं तत्र भीमसेनमरिंदमम् ॥ २१ ॥
शक्रदेवोऽभिदुद्राव शरैरवकिरञ्शितैः।

शत्रुदमन भीमसेनको वहाँ रथहीन हुआ देख शक्रदेव तीखे बाणोंकी वर्षा करता हुआ उनकी ओर दौड़ा ॥२१½॥

भीमस्योपरि राजेन्द्र शक्रदेवो महाबलः ॥ २२ ॥
ववर्ष शरवर्षाणि तपान्ते जलदो यथा।

राजेन्द्र ! जैसे गर्मीके अन्तमें बादल पानीकी बूँदें

बरसाता है, उसी प्रकार महाबली शक्रदेव भीमसेनके ऊपर बाणोंकी वृष्टि करने लगा ॥ २२½ ॥

हताश्वे तु रथे तिष्ठन् भीमसेनो महाबलः ॥ २३ ॥
शक्रदेवाय चिक्षेप सर्वशैक्यायसीं गदाम् ।

जिसके घोड़े मारे गये थे, उसी रथपर खड़े हुए महाबली भीमसेनने शक्रदेवको लक्ष्य करके सम्पूर्णतः लोहके सारतत्त्वकी बनी हुई अपनी गदा चलायी ॥ २३½ ॥

स तया निहतो राजन् कालिङ्गतनयो रथात् ॥ २४ ॥
सध्वजः सह सूतेन जगाम धरणीतलम् ।

राजन्! उस गदाकी चोट खाकर कलिङ्गराजकुमार प्राणशून्य हो अपने सारथि और ध्वजके साथ ही रथसे नीचे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २४½ ॥

हतमात्मसुतं दृष्ट्वा कलिङ्गानां जनाधिपः ॥ २५ ॥
रथैरनेकसाहस्रैर्भीमस्यावारयद् दिशः ।

अपने पुत्रको मारा गया देख कलिङ्गराजने कई हजार रथोंके द्वारा भीमसेनकी सम्पूर्ण दिशाओंको रोक लिया। २५½ ।

ततो भीमो महावेगां त्यक्त्वा गुर्वीं महागदाम् ॥ २६ ॥
निस्त्रिंशमाददे घोरं चिकीर्षुः कर्म दारुणम् ।
चर्म चाप्रतिमं राजन्नार्षभं पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥
नक्षत्रैरर्धचन्द्रैश्च शातकुम्भमयैश्चितम् ।

नरश्रेष्ठ! तब भीमसेनने अत्यन्त वेगशालिनी एवं भारी और विशाल गदाको वहीं छोड़कर अत्यन्त भयंकर कर्म करनेकी इच्छासे तलवार खींच ली तथा ऋषभके चमड़ेकी बनी हुई अनुपम ढाल हाथमें ले ली। राजन्! उस ढालमें सुवर्णमय नक्षत्र और अर्धचन्द्रके आकारकी फूलियाँ जड़ी हुई थीं ॥ २६-२७½ ॥

कालिङ्गस्तु ततः क्रुद्धो धनुर्ज्यामवमृज्य च ॥ २८ ॥
प्रगृह्य च शरं घोरमेकं सर्पविषोपमम् ।
प्राहिणोद् भीमसेनाय वधाकाङ्क्षी जनेश्वरः ॥ २९ ॥

इधर क्रोधमें भरे हुए कलिङ्गराजने धनुषकी प्रत्यञ्चाको रगड़कर सर्पके समान विषैला एक भयंकर बाण हाथमें लिया और भीमसेनके वधकी इच्छासे उनपर चलाया ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रेरितं निशितं शरम् ।
भीमसेनो द्विधा राजंश्चिच्छेद विपुलासिना ॥ ३० ॥
उदक्रोशच्च संहृष्टस्त्रासयानो वरूथिनीम् ।

राजन्! भीमसेनने अपने विशाल खड्गसे उसके वेगपूर्वक चलाये हुए तीखे बाणके दो टुकड़े कर दिये और कलिङ्गोंकी सेनाको भयभीत करते हुए हर्षमें भरकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ३०½ ॥

कालिङ्गोऽथ ततः क्रुद्धो भीमसेनाय संयुगे ॥ ३१ ॥
तोमरान् प्राहिणोच्छीघ्रं चतुर्दश शिलाशितान् ।

तब कलिङ्गराजने रणक्षेत्रमें अत्यन्त कुपित हो भीमसेनपर तुरंत ही चौदह तोमरोंका प्रहार किया, जिन्हें सानपर चढ़ाकर तेज किया गया था ॥ ३१½ ॥

तानप्राप्तान् महाबाहुः खगतानेव पाण्डवः ॥ ३२ ॥
चिच्छेद सहसा राजन्नसम्भ्रान्तो वरासिना ।

राजन्! वे तोमर अभी भीमसेनतक पहुँच ही नहीं पाये थे कि उन महाबाहु पाण्डुकुमारने बिना किसी घबराहटके अपनी अच्छी तलवारसे सहसा उन्हें आकाशमें ही काट डाला ॥ ३२½ ॥

निकृत्य तु रणे भीमस्तोमरान् वै चतुर्दश ॥ ३३ ॥
भानुमन्तं ततो भीमः प्राद्रवत् पुरुषर्षभः ।

इस प्रकार पुरुषश्रेष्ठ भीमसेनने रणक्षेत्रमें उन चौदह तोमरोंको काटकर भानुमान्‌पर धावा किया ॥ ३३½ ॥

भानुमांस्तु ततो भीमं शरवर्षेण च्छादयन् ॥ ३४ ॥
ननाद बलवन्नादं नादयानो नभस्तलम् ।

यह देख भानुमान्‌ने अपने बाणोंकी वर्षासे भीमसेनको आच्छादित करके आकाशको प्रतिध्वनित करते हुए बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ३४½ ॥

न च तं ममृषे भीमः सिंहनादं महाहवे ॥ ३५ ॥
ततः शब्देन महता विननाद महास्वनः ।
तेन नादेन वित्रस्ता कलिङ्गानां वरूथिनी ॥ ३६ ॥

भीमसेन उस महासमरमें भानुमान्‌की वह गर्जना न सह सके। उन्होंने और भी अधिक जोरसे सिंहके समान दहाड़ना आरम्भ किया। उनकी उस गर्जनासे कलिङ्गोंकी वह विशाल वाहिनी संत्रस्त हो उठी ॥ ३५-३६ ॥

न भीमं समरे मेने मानुषं भरतर्षभ ।
ततो भीमो महाबाहुर्नदित्वा विपुलं स्वनम् ॥ ३७ ॥
सासिर्वेगवदाप्लुत्य दन्ताभ्यां वारणोत्तमम् ।
आरुरोह ततो मध्यं नागराजस्य मारिष ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस सेनाके सैनिकोंने भीमसेनको युद्धमें मनुष्य नहीं, कोई देवता समझा। आर्य! तदनन्तर महाबाहु भीमसेन जोर-जोरसे गर्जना करके हाथमें तलवार लिये वेगपूर्वक उछलकर गजराजके दाँतोंके सहारे उसके मस्तकपर चढ़ गये ॥

ततो मुमोच कालिङ्गः शक्तिं तामकरोद् द्विधा ।
खड्गेन पृथुना मध्ये भानुमन्तमथाच्छिनत् ॥ ३९ ॥

इतनेहीमें कलिङ्गराजकुमारने उनके ऊपर शक्ति चलायी; किंतु भीमसेनने उसके दो टुकड़े कर दिये और

अपने विशाल खड्गसे भानुमान्‌के शरीरको बीचसे काट डाला॥



सोऽन्तरायुधिनं हत्वा राजपुत्रमरिंदमः।
गुरुं भारसहं स्कन्धे नागस्यासिमपातयत् ॥ ४० ॥

इस प्रकार गजारूढ़ होकर युद्ध करनेवाले कलिङ्ग-राजकुमारको मारकर शत्रुदमन भीमसेनने भार सहनेमें समर्थ अपनी भारी तलवारको उस हाथीके कंधेपर भी दे मारा ।४०।

छिन्नस्कन्धः स विनदन् पपात गजयूथपः।
आरुग्णः सिन्धुवेगेन सानुमानिव पर्वतः ॥ ४१ ॥

कंधा कट जानेसे वह गजयूथपति चिग्घाड़ता हुआ समुद्रके वेगसे भग्न होकर गिरनेवाले शिखरयुक्त पर्वतके समान धराशायी हो गया ॥ ४१ ॥

ततस्तस्मादवप्लुत्य गजाद् भारत भारतः।
खड्गपाणिरदीनात्मा तस्थौ भूमौ सुदंशितः ॥ ४२ ॥

भारत ! फिर कवचधारी, खड्गपाणि, उदारचित्त, भरतवंशी भीमसेन उस हाथीसे सहसा कूदकर धरतीपर खड़े हो गये ॥ ४२ ॥

स चचार बहून् मार्गानभितः पातयन् गजान्।
अग्निचक्रमिवाविद्धं सर्वतः प्रत्यदृश्यत ॥ ४३ ॥

फिर दोनों ओर घूम-घूमकर हाथियोंको गिराते हुए वे अनेक मार्गोंसे विचरण करने लगे। उस समय घूमते हुए अलातचक्रकी भाँति वे सब ओर दिखायी देते थे ॥ ४३ ॥

अश्ववृन्देषु नागेषु रथानीकेषु चाभिभूः।
पदातीनां च संघेषु विनिघ्नञ्शोणितोक्षितः ॥ ४४ ॥

शक्तिशाली भीमसेन घोड़ों, हाथियों, रथों और पैदलोंके समूहोंमें घुसकर सबका संहार करते हुए रक्तसे भीग गये ॥

श्येनवद् व्यचरद् भीमो रणेऽरिपु बलोत्कटः।
छिन्दंस्तेषां शरीराणि शिरांसि च महाबलः ॥ ४५ ॥

प्रचण्डबलवाले महान् शक्तिशाली भीमसेन शत्रुओंके समूहमें घुसकर उनके शरीर और मस्तक काटते हुए बाज पक्षीकी तरह रणभूमिमें विचरने लगे ॥ ४५ ॥

खड्गेन शितधारेण संयुगे गजयोधिनाम्।
पदातिरेकः संक्रुद्धः शत्रूणां भयवर्धनः ॥ ४६ ॥
सम्मोहयामास स तान् कालान्तकयमोपमः।

उस रण-क्षेत्रमें गजारूढ़ होकर युद्ध करनेवाले योद्धाओंके मस्तकोंको अपनी तीखी धारवाली तलवारसे काटते हुए वे अकेले ही क्रोधमें भरकर पैदल विचरते और शत्रुओंके भयको बढ़ाते थे। उन्होंने प्रलयकालीन यमराजके समान भयंकर रूप धारण करके उन सबको भयसे मोहित कर दिया था॥४६½॥

मूढाश्च ते तमेवाजौ विनदन्तः समाद्रवन् ॥ ४७ ॥
सासिमुत्तमवेगेन विचरन्तं महारणे।

वे मूढ़ सैनिक गर्जना करते हुए उन्हींके पास दौड़े चले आते (और मारे जाते) थे। भीमसेन हाथमें तलवार लिये उस महान् संग्राममें बड़े वेगसे विचरण करते थे ॥ ४७½ ॥

निकृत्य रथिनां चाजौ रथेषाश्च युगानि च ॥ ४८ ॥
जघान रथिनश्चापि बलवान् रिपुमर्दनः।

शत्रुओंका मर्दन करनेवाले बलवान् भीम युद्धमें रथा-रोहियोंके रथोंके ईषादण्ड और जूए काटकर उन रथियोंका भी संहार कर डालते थे ॥ ४८½ ॥

भीमसेनश्चरन् मार्गान् सुबहून् प्रत्यदृश्यत ॥ ४९ ॥
भ्रान्तमाविद्धमुद्भ्रान्तमाप्लुतं प्रसृतं प्लुतम्।
सम्पातं समुदीर्णं च दर्शयामास पाण्डवः ॥ ५० ॥

उस समय पाण्डुनन्दन भीमसेन अनेक मार्गोंपर विचरते हुए दिखायी देते थे। उन्होंने खड्गयुद्धके भ्रान्त, आविद्ध, उद्भ्रान्त, आप्लुत, प्रसृत, प्लुत, सम्पात तथा समुदीर्ण आदि बहुत-से पैंतरे दिखाये* ॥ ४९-५० ॥

केचिदग्रासिना छिन्नाः पाण्डवेन महात्मना।
विनेदुर्भिन्नमर्माणो निपेतुश्च गतासवः ॥ ५१ ॥

पाण्डुनन्दन महामना भीमसेनके श्रेष्ठ खड्गकी चोटसे कितने ही हाथियोंके अङ्ग छिन्न-भिन्न हो उनके मर्मस्थल विदीर्ण हो गये और वे चिग्घाड़ते हुए प्राणशून्य होकर धरती-पर गिर पड़े ॥ ५१ ॥

---

* तलवारको मण्डलाकार घुमाना 'भ्रान्त' कहलाता है। यही अधिक परिश्रमसाध्य होनेपर 'आविद्ध' कहा गया है। 'भ्रान्त' की क्रिया यदि ऊपर उठते हुए की जाय तो उसे 'उद्भ्रान्त' कहते हैं। तलवार चलाते हुए ऊपर उछलना 'आप्लुत' है। सब दिशाओंमें फैलावका नाम 'प्रसृत' है। तलवार चलाते हुए एक ही दिशामें आगे बढ़ना 'प्लुत' है। वेगको 'सम्पात' कहते हैं। समस्त शत्रुओंको मारने या चोट पहुँचानेके उद्यमको 'समुदीर्ण' कहा गया है।

छिन्नदन्ताग्रहस्ताश्च भिन्नकुम्भास्तथा परे ।
वियोधाः स्वान्यनीकानि जघ्नुर्भारत वारणाः ॥ ५२ ॥
निपेतुरुर्व्यां च तथा विनदन्तो महारवान् ।

भरतनन्दन ! कुछ गजराजोंके दाँत और सूँडके अग्रभाग कट गये, कुम्भस्थल फट गये और सवार मारे गये । उस अवस्थामें उन्होंने इधर-उधर भागकर अपनी ही सेनाओंको कुचल डाला और अन्तमें जोर-जोरसे चिग्घाड़ते हुए वे पृथ्वीपर गिरे और मर गये ॥ ५२½ ॥

छिन्नांश्च तोमरान् राजन् महामात्रशिरांसि च ॥ ५३ ॥
परिस्तोमान् विचित्रांश्च कक्ष्याश्च कनकोज्ज्वलाः ।
ग्रैवेयाण्यथ शक्तीश्च पताकाः कणपांस्तथा ॥ ५४ ॥
तूणीरानथ यन्त्राणि विचित्राणि धनूंषि च ।
भिन्दिपालानि शुभ्राणि तोत्राणि चाङ्कुशैः सह ॥ ५५ ॥
घण्टाश्च विविधा राजन् हेमगर्भांस्त्सरूनपि ।
पततः पातितांश्चैव पश्यामः सह सादिभिः ॥ ५६ ॥

राजन् ! हमलोगोंने वहाँ देखा, बहुत-से तोमर और महावतोंके मस्तक कटकर गिरे हैं, हाथियोंकी पीठोंपर बिछी हुई विचित्र-विचित्र झूलें पड़ी हुई हैं । हाथियोंको कसनेके उपयोगमें आनेवाली स्वर्णभूषित चमकीली रस्सियाँ गिरी हुई हैं, हाथी और घोड़ोंके गलेके आभूषण, शक्ति, पताका, कणप (अस्त्रविशेष), तरकस, विचित्र यन्त्र, धनुष, चमकीले भिन्दिपाल, तोत्र, अङ्कुश, भाँति-भाँतिके घंटे तथा स्वर्ण-जटित खड्गमुष्टि—ये सब वस्तुएँ हाथीसवारोंसहित गिरी हुई हैं और गिरती जा रही हैं ॥ ५३–५६ ॥

छिन्नगात्रावरकरैर्निहतैश्चापि वारणैः ।
आसीद् भूमिः समास्तीर्णा पतितैर्भूधरैरिव ॥ ५७ ॥

कहीं कटे हुए हाथियोंके शरीरके ऊर्ध्वभाग पड़े थे, कहीं अधोभाग पड़े थे । कहीं कटी हुई सूँडें पड़ी थीं और कहीं मारे गये हाथियोंकी लोथें पड़ी थीं । उनसे आच्छादित हुई वह समरभूमि ढहे हुए पर्वतोंसे ढकी-सी जान पड़ती थी ॥

विमृद्यैवं महानागान् ममर्दान्यान् महाबलः ।
अश्वारोहवरांश्चैव पातयामास संयुगे ॥ ५८ ॥
तद् घोरमभवद् युद्धं तस्य तेषां च भारत ।

भारत ! इस प्रकार महाबली भीमसेनने कितने ही बड़े-बड़े गजराजोंको नष्ट करके दूसरे प्राणियोंका भी विनाश आरम्भ किया । उन्होंने युद्धस्थलमें बहुत-से प्रमुख अश्वारोहियोंको मार गिराया । इस प्रकार भीमसेन और कलिङ्ग सैनिकोंका वह युद्ध अत्यन्त घोर रूप धारण करता गया ॥ ५८½ ॥

खलीनान्यथ योक्त्राणि कक्ष्याश्च कनकोज्ज्वलाः ॥ ५९ ॥
परिस्तोमाश्च प्रासाश्च ऋष्टयश्च महाधनाः ।
कवचान्यथ चर्माणि चित्राण्यास्तरणानि च ॥ ६० ॥
तत्र तत्रापविद्धानि व्यदृश्यन्त महाहवे ।

उस महासमरमें घोड़ोंकी लगाम, जोत, सुवर्णमण्डित चमकीली रस्सियाँ, पीठपर कसी जानेवाली गद्दियाँ (जीन), प्रास, बहुमूल्य ऋष्टियाँ, कवच, ढाल तथा भाँति-भाँतिके विचित्र आस्तरण इधर-उधर बिखरे दिखायी देने लगे ५९-६०½

प्रासैर्यन्त्रैर्विचित्रैश्च शस्त्रैश्च विमलैस्तथा ॥ ६१ ॥
स चक्रे वसुधां कीर्णां शबलैः कुसुमैरिव ।

भीमसेनने बहुत-से प्रासों, विचित्र यन्त्रों और चमकीले शस्त्रोंसे वहाँकी भूमिको पाट दिया, जिससे वह चितकबरे पुष्पोंसे आच्छादित-सी प्रतीत होने लगी ॥ ६१½ ॥

आप्लुत्य रथिनः कांश्चित् परामृश्य महाबलः ॥ ६२ ॥
पातयामास खड्गेन सध्वजानपि पाण्डवः ।

महाबली पाण्डुनन्दन भीम उछलकर कितने ही रथियोंके पास पहुँच जाते और उन्हें पकड़कर ध्वजोंसहित तलवारसे काट गिराते थे ॥ ६२½ ॥

मुहुरुत्पततो दिक्षु धावतश्च यशस्विनः ॥ ६३ ॥
मार्गांश्च चरतश्चित्रं व्यस्मयन्त रणे जनाः ।

वे बार-बार उछलते, सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ते और युद्धके विचित्र पैंतरे दिखाते हुए रणभूमिमें विचरते थे । यशस्वी भीमसेनका यह पराक्रम देखकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य होता था ॥ ६३½ ॥

स जघान पदा कांश्चिद् व्याक्षिप्यान्यानपोथयत् ॥ ६४ ॥
खड्गेनान्यांश्च चिच्छेद नादेनान्यांश्च भीषयन् ।
ऊरुवेगेन चाप्यन्यान् पातयामास भूतले ॥ ६५ ॥

उन्होंने कितने ही योद्धाओंको पैरोंसे कुचलकर मार डाला, कितनोंको ऊपर उछालकर पटक दिया, कितनोंको तलवारसे काट दिया, दूसरे कितने ही योद्धाओंको अपनी भीषण गर्जनासे डरा दिया और कितनोंको अपने महान् वेगसे पृथ्वीपर दे मारा ॥ ६४-६५ ॥

अपरे चैनमालोक्य भयात् पञ्चत्वमागताः ।
एवं सा बहुला सेना कलिङ्गानां तरस्विनाम् ॥ ६६ ॥
परिवार्य रणे भीष्मं भीमसेनमुपाद्रवत् ।

दूसरे बहुत-से योद्धा इन्हें देखते ही भयके मारे निष्प्राण हो गये । इस प्रकार मारी जानेपर भी वेगशाली कलिंग वीरोंकी उस विशाल वाहिनीने रणक्षेत्रमें भीष्मकी रक्षाके लिये उन्हें चारों ओरसे घेरकर पुनः भीमसेनपर धावा किया ॥

ततः कालिङ्गसैन्यानां प्रमुखे भरतर्षभ ॥ ६७ ॥
श्रुतायुषमभिप्रेक्ष्य भीमसेनः समभ्ययात् ।

भरतश्रेष्ठ ! कलिंगसेनाके अग्रभागमें राजा श्रुतायुको देखकर भीमसेन उसका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य कालिङ्गो नवभिः शरैः ॥ ६८ ॥
भीमसेनममेयात्मा प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।

उन्हें आते देख अमेय आत्मबलसे सम्पन्न कलिंगराज श्रुतायुने भीमसेनकी छातीमें नौ बाण मारे ॥ ६८½ ॥

कालिङ्गबाणाभिहतस्तोत्रार्दित इव द्विपः ॥ ६९ ॥
भीमसेनः प्रजज्वाल क्रोधेनाग्निरिवेंधितः।

कलिंगराजके बाणोंसे आहत हो भीमसेन अंकुशकी मार खाये हुए हाथीके समान क्रोधसे जल उठे, मानो घीकी आहुति पाकर आग प्रज्वलित हो उठी हो ॥ ६९½ ॥

अथाशोकः समादाय रथं हेमपरिष्कृतम् ॥ ७० ॥
भीमं सम्पादयामास रथेन रथसारथिः।

इसी समय भीमसेनके सारथि अशोकने एक सुवर्णभूषित रथ लेकर उसे भीमके पास पहुँचा कर उन्हें भी रथसे सम्पन्न कर दिया ॥ ७०½ ॥

तमारुह्य रथं तूर्णं कौन्तेयः शत्रुसूदनः ॥ ७१ ॥
कालिङ्गमभिदुद्राव तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्।

शत्रुसूदन कुन्तीकुमार भीम तुरंत ही उस रथपर आरूढ़ हो कलिंगराजकी ओर दौड़े और बोले—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ७१½ ॥

ततः श्रुतायुर्बलवान् भीमाय निशिताञ्शरान्॥ ७२ ॥
प्रेषयामास संक्रुद्धो दर्शयन् पाणिलाघवम्।

तब बलवान् श्रुतायुने कुपित हो अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए बहुत-से पैने बाण भीमसेनपर चलाये ॥ ७२½ ॥

स कार्मुकवरोत्सृष्टैर्नवभिर्निशितैः शरैः ॥ ७३ ॥
समाहतो महाराज कालिङ्गेन महात्मना।
संचुक्रुशे भृशं भीमो दण्डाहत इवोरगः ॥ ७४ ॥

महाराज ! महामना कलिंगराजके द्वारा श्रेष्ठ धनुषसे छोड़े हुए नौ तीखे बाणोंसे घायल हो भीमसेन डंडेकी चोट खाये हुए सर्पकी भाँति अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ७३-७४ ॥

क्रुद्धश्च चापमायम्य बलवद् बलिनां वरः।
कालिङ्गमवधीत् पार्थो भीमः सप्तभिरायसैः ॥ ७५ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र भीमने क्रुद्ध हो अपने सुदृढ़ धनुषको बलपूर्वक खींचकर लोहेके सात बाणोंद्वारा कलिंगराज श्रुतायुको घायल कर दिया ॥ ७५ ॥

क्षुराभ्यां चक्ररक्षौ च कालिङ्गस्य महाबलौ।
सत्यदेवं च सत्यं च प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ ७६ ॥

तत्पश्चात् दो क्षुर नामक बाणोंसे कलिंगराजके चक्ररक्षक महाबली सत्यदेव तथा सत्यको यमलोक पहुँचा दिया ॥७६॥

ततः पुनरमेयात्मा नाराचैर्निशितैस्त्रिभिः।
केतुमन्तं रणे भीमोऽगमयद् यमसादनम् ॥ ७७ ॥

इसके बाद अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भीमने तीन तीखे नाराचोंद्वारा रणक्षेत्रमें केतुमान्‌को मारकर उसे यमलोक भेज दिया ॥ ७७ ॥

ततः कलिङ्गाः संनद्धा भीमसेनममर्षणम्।
अनीकैर्बहुसाहस्रैः क्षत्रियाः समवारयन् ॥ ७८ ॥

तब कलिंगदेशीय समस्त क्षत्रियोंने कई हजार सैनिकोंके साथ आकर युद्धके लिये उद्यत हो अमर्षशील भीमसेनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ७८ ॥

ततः शक्तिगदाखड्गतोमरर्ष्टिपरश्वधैः।
कलिङ्गाश्च ततो राजन् भीमसेनमवाकिरन् ॥ ७९ ॥

राजन् ! उस समय कलिंग-योद्धा भीमसेनपर शक्ति, गदा, खड्ग, तोमर, ऋष्टि तथा फरसोंकी वर्षा करने लगे ॥

संनिवार्य स तां घोरां शरवृष्टिं समुत्थिताम्।
गदामादाय तरसा संनिपत्य महाबलः ॥ ८० ॥
भीमः सप्त शतान् वीराननयद् यमसादनम्।
पुनश्चैव द्विसाहस्रान् कलिङ्गानरिमर्दनः ॥ ८१ ॥
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय तदद्भुतमिवाभवत्।

वहाँ होती हुई उस भयंकर बाण-वर्षाको रोककर महाबली भीमसेन हाथमें गदा ले बड़े वेगसे कलिंग-सेनामें कूद पड़े। उस सेनामें घुसकर शत्रुमर्दन भीमने पहले सात सौ वीरोंको यमलोक पहुँचाया। फिर दो हजार कलिंगोंको मृत्युके लोकमें भेज दिया। यह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ८०–८१½ ॥

एवं स तान्यनीकानि कलिङ्गानां पुनः पुनः ॥ ८२ ॥
बिभेद समरे तूर्णं प्रेक्ष्य भीष्मं महारथम्।

इस प्रकार भीमसेनने महारथी भीष्मकी ओर देखते हुए कलिंगोंकी सेनाको बार-बार समर-भूमिमें शीघ्रतापूर्वक विदीर्ण किया ॥ ८२½ ॥

हतारोहाश्च मातङ्गाः पाण्डवेन कृता रणे ॥ ८३ ॥
विप्रजग्मुरनीकेषु मेघा वातहता इव।
मृद्नन्तः स्वान्यनीकानि विनदन्तः शरातुराः ॥ ८४ ॥

उस रणभूमिमें पाण्डुनन्दन भीमके द्वारा सवारोंके मार दिये जानेपर बहुत-से मतवाले हाथी वायुके थपेड़े खाये हुए बादलोंके समान कौरव-सेनामें इधर-उधर भागने तथा अपने ही सैनिकोंको कुचलते हुए बाणोंकी व्यथासे व्याकुल हो चीत्कार करने लगे ॥ ८३-८४ ॥

ततो भीमो महाबाहुः खड्गहस्तो महाभुजः।
सम्प्रहृष्टो महाघोषं शङ्खं प्राध्मापयद् बली ॥ ८५ ॥

तदनन्तर महाबली महाबाहु भीमसेनने खड्ग हाथमें लिये हुए अत्यन्त प्रसन्न हो बड़े जोरसे शङ्ख बजाया ॥८५॥

सर्वकालिङ्गसैन्यानां मनांसि समकम्पयत्।
मोहश्चापि कलिङ्गानामाविवेश परंतप ॥ ८६ ॥

परंतप ! उस शङ्खनादके द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण कलिंगोंके हृदयमें कम्प मचा दिया और उन सबपर बड़ा भारी मोह छा गया॥

प्राकम्पन्त च सैन्यानि वाहनानि च सर्वशः।
भीमेन समरे राजन् गजेन्द्रेणेव सर्वशः ॥ ८७ ॥
मार्गान् बहून् विचरता धावता च ततस्ततः।
मुहुरुत्पतता चैव सम्मोहः समपद्यत ॥ ८८ ॥

राजन्! उस समराङ्गणमें गजराजके समान अनेक मार्गों-पर विचरते और इधर-उधर दौड़ते हुए भीमसेनके भयसे समस्त सैनिक और वाहन थर-थर काँपने लगे। उनके बार-बार उछलनेसे सबपर मोह छा गया ॥ ८७-८८ ॥

भीमसेनभयत्रस्तं सैन्यं च समकम्पत।
क्षोभ्यमाणमसम्बाधं ग्राहेणेव महत् सरः ॥ ८९ ॥

जैसे महान् तालाब किसी ग्राहके द्वारा मथित होनेपर क्षुब्ध हो उठता है, उसी प्रकार वह सारी सेना भीमसेनके द्वारा बेरोक-टोक मथित होनेपर भयसे संत्रस्त हो काँपने लगी॥

त्रासितेषु च सर्वेषु भीमेनाद्भुतकर्मणा।
पुनरावर्तमानेषु विद्रवत्सु च सङ्घशः ॥ ९० ॥
सर्वकालिङ्गयोधेषु पाण्डूनां ध्वजिनीपतिः।
अब्रवीत् स्वान्यनीकानि युध्यध्वमिति पार्षतः ॥ ९१ ॥

अद्भुतकर्मा भीमसेनके द्वारा भयभीत कर दिये जानेपर कलिंग देशके समस्त योद्धा जब दल बनाकर भागने और भाग-भागकर पुनः लौटने लगे, तब पाण्डव-सेनापति द्रुपद-कुमार धृष्टद्युम्नने अपने समस्त सैनिकोंसे कहा—'वीरो! (उत्साहके साथ) युद्ध करो' ॥ ९०-९१ ॥

सेनापतिवचः श्रुत्वा शिखण्डिप्रमुखा गणाः।
भीममेवाभ्यवर्तन्त रथानीकैः प्रहारिभिः ॥ ९२ ॥

सेनापतिकी बात सुनकर शिखण्डी आदि महारथी प्रहार-कुशल रथियोंकी सेनाओंके साथ भीमसेनका ही अनुसरण करने लगे ॥ ९२ ॥

धर्मराजश्च तान् सर्वानुपजग्राह पाण्डवः।
महता मेघवर्णेन नागानीकेन पृष्ठतः ॥ ९३ ॥

तत्पश्चात् पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर मेघोंकी घटाके समान हाथियोंकी विशाल सेना साथ लिये पीछेसे आकर उन सबकी सहायता करने लगे ॥ ९३ ॥

एवं संनोद्य सर्वाणि स्वान्यनीकानि पार्षतः।
भीमसेनस्य जग्राह पार्ष्णिं सत्पुरुषैर्वृतः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने अपनी सारी सेनाओंको युद्धके लिये प्रेरित करके श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ भीमसेनके पृष्ठ-भागकी रक्षाका कार्य हाथमें लिया ॥ ९४ ॥

न हि पञ्चालराजस्य लोके कश्चन विद्यते।
भीमसात्यकयोरन्यः प्राणेभ्यः प्रियकृत्तमः ॥ ९५ ॥

जगत्‌में पाञ्चालराज धृष्टद्युम्नके लिये भीम और सात्यकि-को छोड़कर दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं था, जो प्राणोंसे भी बढ़कर हो ॥ ९५ ॥

सोऽपश्यच्च कलिङ्गेषु चरन्तमरिसूदनः।
भीमसेनं महाबाहुं पार्षतः परवीरहा ॥ ९६ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले वैरिविनाशक द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने महाबाहु भीमसेनको कलिंगोंकी सेनामें विचरते देखा॥

ननर्द बहुधा राजन् हृष्टश्चासीत् परंतपः।
शङ्खं दध्मौ च समरे सिंहनादं ननाद च ॥ ९७ ॥

राजन्! उन्हें देखते ही परंतप धृष्टद्युम्नके हृदयमें हर्षकी सीमा न रही। वे बारंबार गर्जना करने लगे। उन्होंने समराङ्गणमें शङ्ख बजाया और सिंहनाद किया ॥ ९७ ॥

स च पारावताश्वस्य रथे हेमपरिष्कृते।
कोविदारध्वजं दृष्ट्वा भीमसेनः समाश्वसत् ॥ ९८ ॥

कबूतरके समान रंगवाले घोड़े जिनके रथमें जोते जाते हैं, उन धृष्टद्युम्नके सुवर्णभूषित रथमें कचनार वृक्षके चिह्नसे युक्त ध्वजा फहराती देख भीमसेनको बड़ा आश्वासन मिला॥

धृष्टद्युम्नस्तु तं दृष्ट्वा कलिङ्गैः समभिद्रुतम्।
भीमसेनममेयात्मा त्राणायाजौ समभ्ययात् ॥ ९९ ॥

कलिंगोंने भीमसेनपर धावा किया है, यह देखकर अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न धृष्टद्युम्न भीमसेनकी रक्षाके लिये युद्धस्थलमें उनके पास जा पहुँचे ॥ ९९ ॥

तौ दूरात् सात्यकिं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नवृकोदरौ।
कलिङ्गान् समरे वीरौ योधयेतां मनस्विनौ ॥१००॥

उस समरभूमिमें मनस्वी वीर धृष्टद्युम्न और भीमसेनने सात्यकिको भी दूरसे आते देखा; अतः वे अधिक उत्साहसे सम्पन्न हो कलिंगोंसे युद्ध करने लगे ॥ १०० ॥

स तत्र गत्वा शैनेयो जवेन जयतां वरः।
पार्थपार्षतयोः पार्ष्णिं जग्राह पुरुषर्षभः ॥१०१॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ पुरुषप्रवर सात्यकिने बड़े वेगसे वहाँ पहुँचकर भीमसेन और धृष्टद्युम्नके पृष्ठपोषणका कार्य सँभाला॥

स कृत्वा दारुणं कर्म प्रगृहीतशरासनः।
आस्थितो रौद्रमात्मानं कलिङ्गानन्ववैक्षत ॥१०२॥

उन्होंने धनुष हाथमें लेकर भयंकर पराक्रम प्रकट करनेके पश्चात् अपने रौद्र रूपका आश्रय ले कलिंगसेनाकी ओर दृष्टिपात किया ॥ १०२ ॥

कलिङ्गप्रभवां चैव मांसशोणितकर्दमाम्।
रुधिरस्यन्दिनीं तत्र भीमः प्रावर्तयन्नदीम् ॥१०३॥

भीमसेनने वहाँ एक भयंकर नदी प्रकट कर दी, जो कलिंग-सेनारूपी उद्गमस्थानसे निकली थी। उसमें मांस और शोणितकी ही कीच थी। वह नदी रक्तकी ही धारा बहा रही थी ॥ १०३ ॥

अन्तरेण कलिङ्गानां पाण्डवानां च वाहिनीम्।
तां संततार दुस्तारां भीमसेनो महाबलः ॥१०४॥

कलिंग और पाण्डव-सेनाके बीचमें बहनेवाली उस रक्तकी दुस्तर नदीको महाबली भीमसेन अपने पराक्रमसे पार कर गये ॥ १०४ ॥

भीमसेनं तथा दृष्ट्वा प्राक्रोशंस्तावका नृप।
कालोऽयं भीमरूपेण कलिङ्गैः सह युध्यते ॥१०५॥

राजन्! भीमसेनको उस रूपमें देखकर आपके सैनिक पुकार-पुकारकर कहने लगे, यह साक्षात् काल ही भीमसेनके रूपमें प्रकट होकर कलिंगोंके साथ युद्ध कर रहा है ॥१०५॥

ततः शान्तनवो भीष्मः श्रुत्वा तं निनदं रणे।
अभ्ययात् त्वरितो भीमं व्यूढानीकः समन्ततः ॥१०६॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म रणभूमिमें उस कोलाहलको सुनकर अपनी सेनाको सब ओरसे व्यूहबद्ध करके तुरंत ही भीमसेनके पास आये ॥ १०६ ॥

तं सात्यकिर्भीमसेनो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
अभ्यद्रवन्त भीष्मस्य रथं हेमपरिष्कृतम् ॥१०७॥

भीष्मके उस सुवर्णभूषित रथपर सात्यकि, भीमसेन तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने एक साथ ही धावा किया ॥१०७॥

परिवार्य तु ते सर्वे गाङ्गेयं तरसा रणे।
त्रिभिस्त्रिभिः शरैर्घोरैर्भीष्ममानर्च्छुरोजसा ॥१०८॥

उन सब लोगोंने रणक्षेत्रमें गङ्गानन्दन भीष्मको वेगपूर्वक घेरकर तीन-तीन भयंकर बाणोंद्वारा उन्हें यथाशक्ति पीड़ा पहुँचायी ॥ १०८ ॥

प्रत्यविध्यत तान् सर्वान् पिता देवव्रतस्तव।
यतमानान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ॥१०९॥

उस समय आपके पितृतुल्य भीष्मने वहाँ युद्धके लिये प्रयत्न करनेवाले उन सभी महाधनुर्धर योद्धाओंको सीधे जानेवाले तीन-तीन बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया ॥ १०९ ॥

ततः शरसहस्रेण संनिवार्य महारथान्।
हयान् काञ्चनसंनाहान् भीमस्य न्यहनच्छरैः ॥११०॥

तदनन्तर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करके उन तीनों महारथियोंको रोककर सोनेके साज-बाज धारण करनेवाले भीमसेनके घोड़ोंको भीष्मने अपने बाणोंसे मार डाला ॥ ११० ॥

हताश्वे स रथे तिष्ठन् भीमसेनः प्रतापवान्।
शक्तिं चिक्षेप तरसा गाङ्गेयस्य रथं प्रति ॥१११॥

अश्वोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़े हुए प्रतापी भीमसेनने भीष्मजीके रथपर बड़े वेगसे शक्ति चलायी ॥१११॥

अप्राप्तामथ तां शक्तिं पिता देवव्रतस्तव।
त्रिधा चिच्छेद समरे सा पृथिव्यामशीर्यत ॥११२॥

वह शक्ति अभी पासतक पहुँची ही न थी कि आपके पितृतुल्य भीष्मने समरभूमिमें उसके तीन टुकड़े कर डाले और वह भूतलपर बिखर गयी ॥ ११२ ॥

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं प्रगृह्य बलवान् गदाम्।
भीमसेनस्ततस्तूर्णं पुप्लुवे मनुजर्षभ ॥११३॥

नरश्रेष्ठ! तब बलवान् भीमसेन पूर्णतः लोहेके सारतत्त्व (फौलाद) की बनी हुई भारी गदा हाथमें लेकर तुरंत उस रथसे कूद पड़े ॥ ११३ ॥

सात्यकोऽपि ततस्तूर्णं भीमस्य प्रियकाम्यया।
गाङ्गेयसारथिं तूर्णं पातयामास सायकैः ॥११४॥

इधर सात्यकिने भी भीमसेनका प्रिय करनेकी इच्छासे भीष्मके सारथिको तुरंत ही अपने सायकोंद्वारा मार गिराया॥

भीष्मस्तु निहते तस्मिन् सारथौ रथिनां वरः।
वातायमानैस्तैरश्वैरपनीतो रणाजिरात् ॥११५॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्म सारथिके मारे जानेपर हवाके समान भागनेवाले घोड़ोंके द्वारा रणभूमिसे बाहर कर दिये गये॥

भीमसेनस्ततो राजन्नपयाते महाव्रते।
प्रजज्वाल यथा वह्निर्दहन् कक्षमिवेधितः ॥११६॥

राजन्! महान् व्रतधारी भीष्मके रणभूमिसे हट जानेपर भीमसेन घास-फूसके ढेरमें लगी हुई आगके समान अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे ॥ ११६ ॥

स हत्वा सर्वकालिङ्गान् सेनामध्ये व्यतिष्ठत।
नैनमभ्युत्सहन् केचित् तावका भरतर्षभ ॥११७॥

भरतश्रेष्ठ! भीमसेन सम्पूर्ण कलिंगोंका संहार करके सेनाके मध्यभागमें ही खड़े थे, परंतु आपके सैनिकोंमेंसे कोई भी उनके पास जानेका साहस न कर सके ॥ ११७ ॥

धृष्टद्युम्नस्तमारोप्य स्वरथे रथिनां वरः।
पश्यतां सर्वसैन्यानामपोवाह यशस्विनम् ॥११८॥

तत्पश्चात् रथियोंमें श्रेष्ठ धृष्टद्युम्न यशस्वी भीमसेनको अपने रथपर चढ़ाकर सब सैनिकोंके देखते-देखते अपने दलमें ले गये ॥ ११८ ॥

सम्पूज्यमानः पाञ्चाल्यैर्मत्स्यैश्च भरतर्षभ।
धृष्टद्युम्नं परिष्वज्य समेयादथ सात्यकिम् ॥११९॥

भरतश्रेष्ठ! वहाँ पाञ्चालों तथा मत्स्यदेशीय नरेशोंसे पूजित हो भीमसेन धृष्टद्युम्न और सात्यकिको भुजाओंमें भरकर दोनोंसे प्रसन्नतापूर्वक मिले ॥ ११९ ॥

अथाब्रवीद् भीमसेनं सात्यकिः सत्यविक्रमः।
प्रहर्षयन् यदुव्याघ्रो धृष्टद्युम्नस्य पश्यतः ॥१२०॥

उस समय सत्यपराक्रमी यदुकुलसिंह सात्यकिने धृष्टद्युम्नके सामने ही भीमसेनका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे इस प्रकार कहा—॥

दिष्ट्या कलिङ्गराजश्च राजपुत्रश्च केतुमान्।
शक्रदेवश्च कालिङ्गः कलिङ्गाश्च मृधे हताः ॥१२१॥

'वीरवर! बड़े सौभाग्यकी बात है कि कलिंगराज भानुमान्, राजकुमार केतुमान्, कलिंगवीर शक्रदेव तथा अन्य

बहुसंख्यक कलिंग-सैनिक आपके द्वारा युद्धमें मारे गये ॥

स्वबाहुबलवीर्येण नागाश्वरथसंकुलः ।
महापुरुषभूयिष्ठो धीरयोधनिषेवितः ॥ १२२॥
महाव्यूहः कलिङ्गानामेकेन मृदितस्त्वया ।

'आपने अकेले अपनी ही भुजाओंके बल और पराक्रमसे कलिंगोंके उस महान् व्यूहको रौंदकर मिट्टीमें मिला दिया, जिसमें बहुत-से हाथी, घोड़े और रथ भरे हुए थे। उसके अधिकांश सैनिक संसारके महान् पुरुषोंमें गिने जाने योग्य थे। अगणित धीर-वीर योद्धा उस महान् व्यूहका सेवन करते थे'॥

एवमुक्त्वा शिनेर्नप्ता दीर्घबाहुररिंदम ॥ १२३॥
रथाद् रथमभिद्रुत्य पर्यष्वजत पाण्डवम् ।

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश्वर ! ऐसा कहकर बड़ी भुजाओंवाले सात्यकि अपने रथसे कूदकर भीमसेनके रथपर जा चढ़े और उनको हृदयसे लगा लिया ॥ १२३½ ॥

ततः स्वरथमास्थाय पुनरेव महारथः ।
तावकानवधीत् क्रुद्धो भीमस्य बलमादधत् ॥ १२४॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए महारथी सात्यकिने पुनः अपने रथपर बैठकर भीमसेनका बल बढ़ाते हुए आपके सैनिकोंका संहार आरम्भ किया ॥ १२४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वितीययुद्धदिवसे कलिङ्गराजवधे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वितीय दिनके युद्धमें कलिंगराजका वधविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अभिमन्यु और अर्जुनका पराक्रम तथा दूसरे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि भारत ।
रथनागाश्वपत्तीनां सादिनां च महाक्षये ॥ १ ॥
द्रोणपुत्रेण शल्येन कृपेण च महात्मना ।
समसज्जत पाञ्चाल्यस्त्रिभिरेतैर्महारथैः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! उस दूसरे दिन जब पूर्वाह्णका अधिक भाग व्यतीत हो गया और बहुसंख्यक रथ, हाथी, घोड़े, पैदल और सवारोंका महान् संहार होने लगा, उस समय पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्न अकेला ही द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, शल्य तथा महामनस्वी कृपाचार्य इन तीनों महारथियोंके साथ युद्ध करने लगा ॥ १-२ ॥

स लोकविदितानश्वान् निजघान महाबलः ।
द्रौणेः पाञ्चालदायादः शितैर्दशभिराशुगैः ॥ ३ ॥

महाबली पाञ्चाल-राजकुमारने दस शीघ्रगामी पैने बाण मारकर अश्वत्थामाके विश्वविख्यात घोड़ोंको मार डाला ॥

ततः शल्यरथं तूर्णमास्थाय हतवाहनः ।
द्रौणिः पाञ्चालदायादमभ्यवर्षदथेषुभिः ॥ ४ ॥

वाहनोंके मारे जानेपर अश्वत्थामा तुरंत ही शल्यके रथपर चढ़ गया और वहींसे धृष्टद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ४ ॥

धृष्टद्युम्नं तु संयुक्तं द्रौणिना वीक्ष्य भारत ।
सौभद्रोऽभ्यपतत् तूर्णं विकिरन् निशिताञ्शरान् ॥ ५॥

भरतनन्दन ! धृष्टद्युम्नको अश्वत्थामाके साथ भिड़ा हुआ देख सुभद्रानन्दन अभिमन्यु भी पैने बाण बिखेरता हुआ तुरंत वहाँ आ पहुँचा ॥ ५ ॥

स शल्यं पञ्चविंशत्या कृपं च नवभिः शरैः ।
अश्वत्थामानमष्टाभिर्विव्याध पुरुषर्षभः ॥ ६ ॥

उस पुरुषरत्न अभिमन्युने शल्यको पचीस, कृपाचार्यको नौ और अश्वत्थामाको आठ बाणोंसे बींध डाला ॥ ६ ॥

आर्जुनिं तु ततस्तूर्णं द्रौणिर्विव्याध पत्रिणा ।
शल्योऽथ दशभिश्चैव कृपश्च निशितैस्त्रिभिः ॥ ७ ॥

तब अश्वत्थामाने शीघ्र ही एक बाणसे अभिमन्युको घायल कर दिया। तत्पश्चात् शल्यने दस और कृपाचार्यने तीन पैने बाण उसे मारे ॥ ७ ॥

लक्ष्मणस्तव पौत्रस्तु सौभद्रं समवस्थितम् ।
अभ्यवर्तत संहृष्टस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ८ ॥

तदनन्तर आपके पौत्र लक्ष्मणने सुभद्राकुमार अभिमन्युको सामने खड़ा देख हर्ष और उत्साहमें भरकर उसपर आक्रमण किया। फिर तो दोनोंमें युद्ध आरम्भ हो गया ॥

दौर्योधनिः सुसंक्रुद्धः सौभद्रं परवीरहा ।
विव्याध समरे राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ९ ॥

राजन् ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुर्योधनके पुत्र लक्ष्मणने अत्यन्त कुपित हो समरभूमिमें (अनेक बाणोंसे) अभिमन्युको बींध डाला। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥

अभिमन्युः सुसंक्रुद्धो भ्रातरं भरतर्षभ ।
शरैः पञ्चाशता राजन् क्षिप्रहस्तोऽभ्यविध्यत ॥ १० ॥

महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! यह देख शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाला वीर अभिमन्यु अत्यन्त कुपित हो उठा और अपने भाई लक्ष्मणको उसने पचास बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १० ॥

लक्ष्मणोऽपि पुनस्तस्य धनुश्चिच्छेद पत्रिणा ।
मुष्टिदेशे महाराज ततस्ते चुक्रुशुर्जनाः ॥ ११ ॥

राजन् ! तब लक्ष्मणने भी पुनः एक बाण मारकर उसके धनुषको, जहाँ मुट्ठी रक्खी जाती है, वहींसे काट दिया । यह देख आपके सैनिक हर्षसे कोलाहल कर उठे ॥ ११ ॥

तद् विहाय धनुश्छिन्नं सौभद्रः परवीरहा ।
अन्यदादत्तवांश्चित्रं कार्मुकं वेगवत्तरम् ॥ १२ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा विचित्र धनुष हाथमें लिया, जो अत्यन्त वेगशाली था ॥ १२ ॥

तौ तत्र समरे युक्तौ कृतप्रतिकृतैषिणौ ।
अन्योन्यं विशिखैस्तीक्ष्णैर्जघ्नतुः पुरुषर्षभौ ॥ १३ ॥

वे दोनों पुरुषरत्न वहाँ एक-दूसरेके अस्त्रोंका निवारण अथवा प्रतीकार करनेकी इच्छा रखकर युद्धमें संलग्न थे और पैने बाणोंद्वारा एक-दूसरेको घायल कर रहे थे ॥

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा पुत्रं महारथम् ।
पीडितं तव पौत्रेण प्रायात् तत्र प्रजेश्वरः ॥ १४ ॥

तब प्रजाजनोंका स्वामी राजा दुर्योधन अपने महारथी पुत्रको आपके पौत्र अभिमन्युसे पीड़ित देख वहाँ स्वयं जा पहुँचा ॥ १४ ॥

संनिवृत्ते तव सुते सर्व एव जनाधिपाः ।
आर्जुनिं रथवंशेन समन्तात् पर्यवारयन् ॥ १५ ॥

आपके पुत्र दुर्योधनके उधर लौटनेपर कौरव-पक्षके सभी नरेशोंने विशाल रथसेनाके द्वारा अर्जुनकुमार अभिमन्युको सब ओरसे घेर लिया ॥ १५ ॥

स तैः परिवृतः शूरैः शूरो युधि सुदुर्जयैः ।
न स्म प्रव्यथते राजन् कृष्णतुल्यपराक्रमः ॥ १६ ॥

राजन् ! अभिमन्युका पराक्रम भगवान् श्रीकृष्णके समान था । वह युद्धमें अत्यन्त दुर्जय उन शूरवीरोंसे घिर जानेपर भी व्यथित या चिन्तित नहीं हुआ ॥ १६ ॥

सौभद्रमथ संसक्तं दृष्ट्वा तत्र धनंजयः ।
अभिदुद्राव वेगेन त्रातुकामः स्वमात्मजम् ॥ १७ ॥

इसी समय अर्जुन सुभद्राकुमारको वहाँ युद्धमें संलग्न देख अपने पुत्रकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे दौड़े आये ॥१७॥

ततः सरथनागाश्वा भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।
अभ्यवर्तन्त राजानः सहिताः सव्यसाचिनम् ॥ १८ ॥

यह देख भीष्म और द्रोण आदि सभी कौरव-पक्षीय नरेश रथ, हाथी और घोड़ोंकी सेनासहित एक साथ अर्जुनपर चढ़ आये ॥ १८ ॥

उद्धूतं सहसा भौमं नागाश्वरथपत्तिभिः ।
दिवाकररथं प्राप्य रजस्तीव्रमदृश्यत ॥ १९ ॥

उस समय हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंद्वारा उड़ायी हुई धरतीकी तीव्र धूल सहसा सूर्यके रथतक पहुँचकर सब ओर व्याप्त दिखायी देने लगी ॥ १९ ॥

तानि नागसहस्राणि भूमिपालशतानि च ।
तस्य बाणपथं प्राप्य नाभ्यवर्तन्त सर्वशः ॥ २० ॥
प्रणेदुः सर्वभूतानि बभूवुस्तिमिरा दिशः ।

इधर सहस्रों हाथी और सैकड़ों भूमिपाल अर्जुनके बाणोंके पथमें आकर किसी प्रकार आगे न बढ़ सके । समस्त प्राणी आर्तनाद करने लगे और सम्पूर्ण दिशाओंमें अन्धकार छा गया ॥ २०½ ॥

कुरूणां चानयस्तीव्रः समदृश्यत दारुणः ॥ २१ ॥
नाप्यन्तरिक्षं न दिशो न भूमिर्न च भास्करः ।
प्रजज्ञे भरतश्रेष्ठ शरसङ्घैः किरीटिनः ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय कौरवोंको अपने दुःसह एवं भयंकर अन्यायका परिणाम प्रत्यक्ष दिखायी देने लगा । किरीटधारी अर्जुनके शरसमूहोंसे सब कुछ आच्छादित हो जानेके कारण आकाश, दिशा, पृथ्वी और सूर्य किसीका भी भान नहीं होता था ॥ २१-२२ ॥

सादिता रथनागाश्च हताश्वा रथिनो रणे ।
विप्रद्रुतरथाः केचिद् दृश्यन्ते रथयूथपाः ॥ २३ ॥

उस रणभूमिमें कितने ही रथ टूट गये, बहुतेरे हाथी नष्ट हो गये, कितने ही रथियोंके घोड़े मार डाले गये और कितने ही रथ-यूथपतियोंके रथ भागते दिखायी दिये ॥२३॥

विरथा रथिनश्चान्ये धावमानाः समन्ततः ।
तत्र तत्रैव दृश्यन्ते सायुधाः साङ्गदैर्भुजैः ॥ २४ ॥

अन्यान्य बहुत-से रथी रथहीन होकर अङ्गदभूषित भुजाओंमें आयुध धारण किये जहाँ-तहाँ चारों ओर दौड़ते देखे जाते थे ॥ २४ ॥

हयारोहा हयांस्त्यक्त्वा गजारोहाश्च दन्तिनः ।
अर्जुनस्य भयाद् राजन् समन्ताद् विप्रदुद्रुवुः ॥ २५ ॥

महाराज ! अर्जुनके भयसे घुड़सवार घोड़ोंको और हाथीसवार हाथियोंको छोड़कर सब ओर भाग चले ॥२५॥

रथेभ्यश्च गजेभ्यश्च हयेभ्यश्च नराधिपाः ।
पतिताः पात्यमानाश्च दृश्यन्तेऽर्जुनसायकैः ॥ २६ ॥

वहाँ बहुत-से नरेश अर्जुनके सायकोंसे कटकर रथों, हाथियों और घोड़ोंसे गिरे और गिराये जाते हुए दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २६ ॥

सगदानुद्यतान् बाहून् सखड्गांश्च विशाम्पते ।
सप्रासांश्च सतूणीरान् सशरान् सशरासनान् ॥ २७ ॥
साङ्कुशान् सपताकांश्च तत्र तत्रार्जुनो नृणाम् ।
निचकर्त शरैरुग्रै रौद्रं वपुरधारयत् ॥ २८ ॥

प्रजानाथ ! अर्जुनने उस रणक्षेत्रमें अत्यन्त भयंकर रूप धारण किया था । उन्होंने अपने उग्र बाणोंद्वारा योद्धाओंकी ऊपर उठी हुई भुजाओंको, जिनमें गदा, खड्ग, प्रास, तूणीर, धनुष-बाण, अङ्कुश और ध्वजा-पताका आदि शोभा पा रहे थे, काट गिराया ॥ २७-२८ ॥

परिघाणां प्रदीप्तानां मुद्गराणां च मारिष ।
प्रासानां भिन्दिपालानां निस्त्रिंशानां च संयुगे ॥ २९ ॥
परश्वधानां तीक्ष्णानां तोमराणां च भारत ।
वर्मणां चापविद्धानां काञ्चनानां च भूमिप ॥ ३० ॥
ध्वजानां चर्मणां चैव व्यजनानां च सर्वशः ।
छत्राणां हेमदण्डानां तोमराणां च भारत ॥ ३१ ॥
प्रतोदानां च योक्त्राणां कशानां चैव मारिष ।
राशयः स्मात्र दृश्यन्ते विनिकीर्णा रणक्षितौ ॥ ३२ ॥

आर्य ! भरतनन्दन ! भूपाल ! उस रणभूमिमें गिरे हुए उद्दीप्त परिघ, मुद्गर, प्रास, भिन्दिपाल, खड्ग, फरसे, तीखे तोमर, सुवर्णमय कवच, ध्वज, ढाल, सोनेके डंडोंसे विभूषित छत्र, व्यजन, चाबुक, जोते, कोड़े और अंकुश ढेर-के-ढेर बिखरे दिखायी देते थे ॥ २९-३२ ॥

नासीत् तत्र पुमान् कश्चित् तव सैन्यस्य भारत ।
योऽर्जुनं समरे शूरं प्रत्युद्यायात् कथंचन ॥ ३३ ॥

भारत ! उस समय आपकी सेनामें कोई भी ऐसा पुरुष नहीं था, जो समरमें शूरवीर अर्जुनका सामना करनेके लिये किसी प्रकार आगे बढ़ सके ॥ ३३ ॥

यो यो हि समरे पार्थं प्रत्युद्याति विशाम्पते ।
स संख्ये विशिखैस्तीक्ष्णैः परलोकाय नीयते ॥ ३४ ॥

प्रजानाथ ! उस युद्धभूमिमें जो-जो वीर अर्जुनकी ओर बढ़ता था, वही-वही उनके पैने बाणोंद्वारा परलोक पहुँचा दिया जाता था ॥ ३४ ॥

तेषु विद्रवमाणेषु तव योधेषु सर्वशः ।
अर्जुनो वासुदेवश्च दध्मतुर्वारिजोत्तमौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर आपके सब योद्धा सब ओर भागने लगे । यह देख अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रेष्ठ शङ्ख बजाये ॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा पिता देवव्रतस्तव ।
अब्रवीत् समरे शूरं भारद्वाजं स्मयन्निव ॥ ३६ ॥

कौरव-सेनाको इस प्रकार भागती देख समरभूमिमें खड़े हुए आपके ताऊ भीष्मने वीरवर आचार्य द्रोणसे मुसकराते हुए-से कहा— ॥ ३६ ॥

एष पाण्डुसुतो वीरः कृष्णेन सहितो बली ।
तथा करोति सैन्यानि यथा कुर्याद् धनंजयः ॥ ३७ ॥

'यह श्रीकृष्णसहित बलवान् वीर पाण्डुकुमार अर्जुन कौरव-सेनाकी वही दशा कर रहा है, जैसी उसे करनी चाहिये ॥

न ह्येष समरे शक्यो विजेतुं हि कथंचन ।
यथास्य दृश्यते रूपं कालान्तकयमोपमम् ॥ ३८ ॥

'यह किसी प्रकार भी समरभूमिमें जीता नहीं जा सकता; क्योंकि इसका रूप इस समय प्रलयकालके यमराज-सा दिखायी दे रहा है ॥ ३८ ॥

न निवर्तयितुं चापि शक्येयं महती चमूः ।
अन्योन्यप्रेक्षया पश्य द्रवतीयं वरूथिनी ॥ ३९ ॥

'यह विशाल सेना इस समय पीछे नहीं लौटायी जा सकती । देखिये, सारे सैनिक एक-दूसरेकी देखा-देखी भागे जा रहे हैं ॥ ३९ ॥

एष चास्तं गिरिश्रेष्ठं भानुमान् प्रतिपद्यते ।
चक्षूंषि सर्वलोकस्य संहरन्निव सर्वथा ॥ ४० ॥

'इधर ये भगवान् सूर्य सम्पूर्ण जगत्के नेत्रोंकी ज्योति सर्वथा समेटते हुए-से गिरिश्रेष्ठ अस्ताचलको जा पहुँचे हैं ॥

तत्रावहारं सम्प्राप्तं मन्येऽहं पुरुषर्षभ ।
श्रान्ता भीताश्च नो योधा न योत्स्यन्ति कथंचन ॥ ४१ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ ! मैं इस समय समस्त सैनिकोंको युद्धसे हटा लेना ही उचित समझता हूँ । हमारे सभी योद्धा थके-माँदे और डरे हुए हैं; अतः इस समय किसी तरह युद्ध नहीं कर सकेंगे' ॥ ४१ ॥

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो द्रोणमाचार्यसत्तमम् ।
अवहारमथो चक्रे तावकानां महारथः ॥ ४२ ॥

आचार्यप्रवर द्रोणसे ऐसा कहकर महारथी भीष्मने आपके समस्त सैनिकोंको युद्धभूमिसे लौटा लिया ॥ ४२ ॥

(ततः सरथनागाश्वा जयं प्राप्य ससोमकाः ।
पञ्चालाः पाण्डवाश्चैव प्रणेदुश्च पुनः पुनः ॥
प्रययुः शिबिरायैव धनंजयपुरस्कृताः ।
वादित्रघोषैः संहृष्टाः प्रनृत्यन्तो महारथाः ॥)

तदनन्तर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित सोमक, पाञ्चाल तथा पाण्डव वीर विजय पाकर बारंबार सिंहनाद करने लगे । वे सभी महारथी विजयसूचक वाद्योंकी ध्वनिके साथ अत्यन्त हर्षमें भरकर नाचने लगे और अर्जुनको आगे करके शिबिरकी ओर चल दिये ॥

ततोऽवहारः सैन्यानां तव तेषां च भारत।
अस्तं गच्छति सूर्येऽभूत् संध्याकाले च वर्तति॥४३॥

भारत! इस प्रकार सूर्यके अस्ताचलको चले जानेपर संध्याके समय आपकी और पाण्डवोंकी सेनाएँ लौट आयीं॥ ४३॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वितीययुद्धदिवसावहारे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वितीय युद्धदिवसमें सेनाको लौटानेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४५ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

तीसरे दिन—कौरव-पाण्डवोंकी व्यूह-रचना तथा युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

प्रभातायां च शर्वर्यां भीष्मः शान्तनवस्तदा।
अनीकान्यनुसंयाने व्यादिदेशाथ भारत॥ १॥

संजयने कहा—भारत! जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी सेनाओंको युद्धभूमिमें चलनेका आदेश दिया॥ १॥

गारुडं च महाव्यूहं चक्रे शान्तनवस्तदा।
पुत्राणां ते जयाकाङ्क्षी भीष्मः कुरुपितामहः॥ २॥

उस समय कुरुकुलके पितामह शान्तनुकुमार भीष्मने आपके पुत्रोंको विजय दिलानेकी इच्छासे महान् गरुडव्यूहकी रचना की॥ २॥

गरुडस्य स्वयं तुण्डे पिता देवव्रतस्तव।
चक्षुषी च भरद्वाजः कृतवर्मा च सात्वतः॥ ३॥

स्वयं आपके ताऊ भीष्म उस व्यूहके अग्रभागमें चोंचके स्थानपर खड़े हुए। आचार्य द्रोण और यदुवंशी कृतवर्मा दोनों नेत्रोंके स्थानपर स्थित हुए॥ ३॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव शीर्षमास्तां यशस्विनौ।
त्रैगर्तैरथ कैकेयैर्वाटधानैश्च संयुगे॥ ४॥

यशस्वी वीर अश्वत्थामा और कृपाचार्य शिरोभागमें खड़े हुए। इनके साथ त्रिगर्त, केकय और वाटधान भी युद्धभूमिमें उपस्थित थे॥ ४॥

भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तश्च मारिष।
मद्रकाः सिन्धुसौवीरास्तथा पाञ्चनदाश्च ये॥ ५॥
जयद्रथेन सहिता ग्रीवायां संनिवेशिताः।

आर्य! भूरिश्रवा, शल, शल्य और भगदत्त—ये जयद्रथके साथ ग्रीवाभागमें खड़े किये गये। इन्हींके साथ मद्र, सिंधु, सौवीर तथा पञ्चनद देशके योद्धा भी थे॥ ५½॥

पृष्ठे दुर्योधनो राजा सोदर्यैः सानुगैर्वृतः॥ ६॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजाश्च शकैः सह।
पुच्छमासन् महाराज शूरसेनाश्च सर्वशः॥ ७॥

अपने सहोदर भाइयों और अनुचरोंके साथ राजा दुर्योधन पृष्ठभागमें स्थित हुआ। महाराज! अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द तथा कम्बोज, शक एवं शूरसेनदेशके योद्धा उस महाव्यूहके पुच्छ भागमें खड़े हुए॥ ६-७॥

मागधाश्च कलिङ्गाश्च दासेरकगणैः सह।
दक्षिणं पक्षमासाद्य स्थिता व्यूहस्य दंशिताः॥ ८॥

मगध और कलिङ्गदेशके योद्धा दासेरकगणोंके साथ कवच धारण करके व्यूहके दायें पंखके स्थानमें स्थित हुए॥

कारूषाश्च विकुञ्जाश्च मुण्डाः कुण्डीवृषास्तथा।
बृहद्बलेन सहिता वामं पार्श्वमवस्थिताः॥ ९॥

कारूष, विकुञ्ज, मुण्ड और कुण्डीवृष आदि योद्धा राजा बृहद्बलके साथ बायें पंखके स्थानमें खड़े हुए॥ ९॥

व्यूढं दृष्ट्वा तु तत् सैन्यं सव्यसाची परंतपः।
धृष्टद्युम्नेन सहितः प्रत्यव्यूहत संयुगे॥ १०॥
अर्धचन्द्रेण व्यूहेन व्यूहं तमतिदारुणम्।
दक्षिणं शृङ्गमास्थाय भीमसेनो व्यरोचत॥ ११॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने कौरव-सेनाकी वह व्यूहरचना देखकर युद्धभूमिमें उसका सामना करनेके लिये धृष्टद्युम्नको साथ लेकर अपनी सेनाका अत्यन्त भयंकर अर्धचन्द्राकार व्यूह बनाया। उसके दक्षिण शिखरपर भीमसेन सुशोभित हुए॥ १०-११॥

नानाशस्त्रौघसम्पन्नैर्नानादेश्यैर्नृपैर्वृतः।
तदन्वेव विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ १२॥

उनके साथ नाना प्रकारके शस्त्रसमुदायोंसे सम्पन्न विभिन्न देशोंके नरेश भी थे। भीमसेनके पीछे ही राजा विराट और महारथी द्रुपद खड़े हुए॥ १२॥

तदनन्तरमेवासीन्नीलो नीलायुधैः सह।
नीलादनन्तरश्चैव धृष्टकेतुर्महाबलः॥ १३॥

उनके बाद नील आयुधधारी सैनिकोंके साथ राजा नील और नीलके बाद महाबली धृष्टकेतु खड़े हुए ॥ १३ ॥

चेदिकाशिकरूषैश्च पौरवैरपि संवृतः ।
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ॥ १४ ॥
मध्ये सैन्यस्य महतः स्थिता युद्धाय भारत ।
तत्रैव धर्मराजोऽपि गजानीकेन संवृतः ॥ १५ ॥

भारत ! धृष्टकेतुके साथ चेदि, काशी, करूष और पौरव आदि देशोंके सैनिक भी थे । धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा पाञ्चाल और प्रभद्रकगण उस विशाल सेनाके मध्य-भागमें युद्धके लिये खड़े हुए । हाथियोंकी सेनासे घिरे हुए धर्मराज युधिष्ठिर भी वहीं थे ॥ १४-१५ ॥

ततस्तु सात्यकी राजन् द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।
अभिमन्युस्ततः शूर इरावांश्च ततः परम् ॥ १६ ॥

राजन् ! तदनन्तर सात्यकि और द्रौपदीके पाँचों पुत्र खड़े हुए । इनके बाद शूरवीर अभिमन्यु और अभिमन्युके बाद इरावान् थे ॥ १६ ॥

भैमसेनिस्ततो राजन् केकयाश्च महारथाः ।
ततोऽभूद् द्विपदां श्रेष्ठो वामं पार्श्वमुपाश्रितः ॥ १७ ॥
सर्वस्य जगतो गोप्ता गोप्ता यस्य जनार्दनः ।

नरेश्वर ! इरावान्‌के बाद भीमसेन-पुत्र घटोत्कच तथा महारथी केकय खड़े हुए । तत्पश्चात् मनुष्योंमें श्रेष्ठ अर्जुन उस व्यूहके बायें पार्श्व या शिखरके स्थानमें खड़े हुए, जिनके रक्षक सम्पूर्ण जगत्‌का पालन करनेवाले साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं ॥ १७½ ॥

एवमेतं महाव्यूहं प्रत्यव्यूहन्त पाण्डवाः ॥ १८ ॥
वधार्थं तव पुत्राणां तत्पक्षं ये च सङ्गताः ।

इस प्रकार पाण्डवोंने आपके पुत्रों तथा उनके पक्षमें आये हुए अन्यान्य भूपालोंके वधके लिये इस महाव्यूहकी रचना की ॥ १८½ ॥

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ॥ १९ ॥
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ।

तदनन्तर एक दूसरेपर प्रहार करते हुए आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंका घोर युद्ध आरम्भ हो गया, जिसमें रथसे रथ और हाथीसे हाथी भिड़ गये थे ॥ १९½ ॥

हयौघाश्च रथौघाश्च तत्र तत्र विशाम्पते ॥ २० ॥
सम्पतन्तो व्यदृश्यन्त निघ्नन्तस्ते परस्परम् ।

प्रजानाथ ! जहाँ-तहाँ सब ओर घोड़ों और रथोंके समुदाय एक दूसरेपर टूटते और प्रहार करते दिखायी दे रहे थे ॥ २०½ ॥

धावतां च रथौघानां निघ्नतां च पृथक्‌पृथक् ॥ २१ ॥
बभूव तुमुलः शब्दो विमिश्रो दुन्दुभिस्वनैः ।
दिवस्पृङ् नरवीराणां निघ्नतामितरेतरम् ।
सम्प्रहारे सुतुमुले तव तेषां च भारत ॥ २२ ॥

भारत ! दौड़ते तथा पृथक्-पृथक् प्रहार करते हुए रथसमूहोंका शब्द दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे मिलकर और भी भयंकर हो गया । आपके और पाण्डवोंके घमासान युद्धमें परस्पर आघात-प्रत्याघात करनेवाले नरवीरोंका भयानक शब्द आकाशमें व्याप्त हो रहा था ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे परस्परव्यूहरचनायां षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तीसरे दिनके युद्धमें परस्पर व्यूहरचनाविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध

संजय उवाच

ततो व्यूढेष्वनीकेषु तावकेषु परेषु च ।
धनंजयो रथानीकमवधीत् तव भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! आपकी और पाण्डवोंकी पूर्वोक्तरूपसे व्यूहरचना सम्पन्न हो जानेपर अर्जुनने आपके रथियोंकी सेनाका संहार आरम्भ किया ॥ १ ॥

शरैरतिरथो युद्धे दारयन् रथयूथपान् ।
ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ॥ २ ॥
धार्तराष्ट्रा रणे यत्नात् पाण्डवान् प्रत्ययोधयन् ।

वे अतिरथी वीर थे । उन्होंने अपने बाणोंद्वारा युद्ध-स्थलमें रथयूथपतियोंको विदीर्ण करके यमलोक भेज दिया । युगान्तमें कालके समान उस युद्धमें कुन्तीकुमार अर्जुनके द्वारा आपके सैनिकोंका भयंकर विनाश हो रहा था, तो भी वे यत्नपूर्वक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते रहे ॥ २½ ॥

प्रार्थयाना यशो दीप्तं मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ३ ॥
एकाग्रमनसो भूत्वा पाण्डवानां वरूथिनीम् ।
बभञ्जुर्बहुशो राजंस्ते चासज्जन्त संयुगे ॥ ४ ॥

वे उज्ज्वल यश प्राप्त करना चाहते थे । अतः यह

निश्चय करके कि अब मृत्यु ही हमें युद्धसे निवृत्त कर सकती है, एकाग्रचित्त होकर युद्धमें डटे रहे। राजन्! उन्होंने युद्धमें ऐसी तत्परता दिखायी कि बार-बार पाण्डव-सेनाको तितर-बितर कर दिया ॥ ३-४ ॥

द्रवद्भिरथ भग्नैश्च परिवर्तद्भिरेव च।
पाण्डवैः कौरवेयैश्च न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५ ॥

तदनन्तर क्षत-विक्षत होकर भागते और पुनः लौटकर सामना करते हुए पाण्डवों तथा कौरवोंके सैनिकोंको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ ५ ॥

उदतिष्ठद् रजो भौमं छादयानं दिवाकरम्।
न दिशः प्रदिशो वापि तत्र हन्युः कथं नराः ॥ ६ ॥

भूतलसे इतनी धूल उड़ी कि सूर्यदेव आच्छादित हो गये। दिशा और प्रदिशाका कुछ भी पता नहीं चलता था। वैसी दशामें वहाँ युद्ध करनेवाले लोग कैसे किसीपर प्रहार करें ॥ ६ ॥

अनुमानेन संज्ञाभिर्नामगोत्रैश्च संयुगे।
वर्तते च तथा युद्धं तत्र तत्र विशाम्पते ॥ ७ ॥

प्रजानाथ! उस रणक्षेत्रमें अनुमानसे, संकेतोंसे तथा नाम और गोत्रोंके उच्चारणसे अपने या पराये पक्षका निश्चय करके जहाँ-तहाँ युद्ध हो रहा था ॥ ७ ॥

न व्यूहो भिद्यते तत्र कौरवाणां कथंचन।
रक्षितः सत्यसंधेन भारद्वाजेन संयुगे ॥ ८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण कौरवसेनाका व्यूह किसी प्रकार भंग न हो सका ॥ ८ ॥

तथैव पाण्डवानां च रक्षितः सव्यसाचिना।
नाभिद्यत महाव्यूहो भीमेन च सुरक्षितः ॥ ९ ॥

इसी तरह सव्यसाची अर्जुन और भीमसे सुरक्षित पाण्डवोंके महाव्यूहका भी भेदन न हो सका ॥ ९ ॥

सेनाग्रादपि निष्पत्य प्रायुध्यंस्तत्र मानवाः।
उभयोः सेनयो राजन् व्यतिषक्तरथद्विपाः ॥ १० ॥

वहाँ सेनाके अग्रभागसे भी निकलकर (व्यूह छोड़कर) वीर सैनिक युद्ध करते थे। राजन्! दोनों सेनाओंके रथ और हाथी परस्पर भिड़ गये ॥ १० ॥

हयारोहैर्हयारोहाः पात्यन्ते स्म महाहवे।
ऋष्टिभिर्विमलाभिश्च प्रासैरपि च संयुगे ॥ ११ ॥

उस महासमरमें घुड़सवार घुड़सवारोंको चमकीली ऋष्टियों और प्रासोंद्वारा मार गिराते थे ॥ ११ ॥

रथी रथिनमासाद्य शरैः कनकभूषणैः।
पातयामास समरे तस्मिन्नतिभयङ्करे ॥ १२ ॥

वह संग्राम अत्यन्त भयानक हो रहा था। उसमें रथी रथियोंके सामने जाकर उन्हें स्वर्णभूषित बाणोंसे मार गिराते थे ॥ १२ ॥

गजारोहा गजारोहान् नाराचशरतोमरैः।
संसक्तान् पातयामासुस्तव तेषां च सर्वशः ॥ १३ ॥

आपके और पाण्डव-पक्षके हाथीसवार अपनेसे भिड़े हुए विपक्षी हाथीसवारोंको सब ओरसे नाराच, बाण और तोमरोंकी मारसे धराशायी कर देते थे ॥ १३ ॥

कश्चिदुत्पत्य समरे वरवारणमास्थितः।
केशपक्षे परामृश्य जहार समरे शिरः ॥ १४ ॥

कोई योद्धा रणक्षेत्रमें उछलकर बड़े-बड़े हाथियोंपर चढ़ जाता और विपक्षी योद्धाके केशोंको पकड़कर उसका सिर काट लेता था ॥ १४ ॥

अन्ये द्विरददन्ताग्रनिर्भिन्नहृदया रणे।
वेमुश्च रुधिरं वीरा निःश्वसन्तः समन्ततः ॥ १५ ॥

बहुत-से वीर युद्धस्थलमें हाथियोंके दाँतोंके अग्रभागसे अपना हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण सब ओर लंबी साँस खींचते हुए मुखसे रक्त वमन कर रहे थे ॥ १५ ॥

कश्चित् करिविषाणस्थो वीरो रणविशारदः।
प्रावेपच्छक्तिनिर्भिन्नो गजशिक्षास्त्रवेदिना ॥ १६ ॥

कोई रणविशारद वीर हाथीके दाँतोंपर खड़ा होकर युद्ध कर रहा था। इतनेहीमें गजशिक्षा और अस्त्रविद्याके ज्ञाता किसी विपक्षी योद्धाने उसके ऊपर शक्ति चला दी। उस शक्तिके आघातसे वक्षःस्थल विदीर्ण हो जानेके कारण वह मरणोन्मुख वीर वहीं काँपने लगा ॥ १६ ॥

पत्तिसङ्घा रणे पत्तीन् भिन्दिपालपरश्वधैः।
न्यपातयन्त संहृष्टाः परस्परकृतागसः ॥ १७ ॥

हर्ष और उल्लासमें भरकर एक दूसरेका अपराध करनेवाले पैदलसमूह विपक्षके पैदल सैनिकोंको भिन्दिपाल और फरसोंसे मार-मारकर रणभूमिमें गिरा रहे थे ॥ १७ ॥

रथी च समरे राजन्नासाद्य गजयूथपम्।
सगजं पातयामास गजी च रथिनां वरम् ॥ १८ ॥

राजन्! उस समरभूमिमें कोई रथी किसी गजयूथपतिसे भिड़ जाता और सवार तथा हाथी दोनोंको मार गिराता था। उसी प्रकार गजारोही भी रथियोंमें श्रेष्ठ वीरका वध कर देता था ॥ १८ ॥

रथिनं च हयारोहः प्रासेन भरतर्षभ।
पातयामास समरे रथी च हयसादिनम् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस संग्राममें घुड़सवार रथीको तथा रथी घुड़सवारको प्रासद्वारा मारकर धराशायी कर देता था ॥

पदाती रथिनं संख्ये रथी चापि पदातिनम् ।
न्यपातयच्छितैः शस्त्रैः सेनयोरुभयोरपि ॥ २० ॥

दोनों ही सेनाओंमें पैदल वीर रथीको और रथी योद्धा पैदल सैनिकको अपने तीखे अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा रणभूमिमें मार गिराता था ॥ २० ॥

गजारोहा हयारोहान् पातयाञ्चक्रिरे तदा ।
हयारोहा गजस्थांश्च तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २१ ॥

हाथीसवार घुड़सवारोंको और घुड़सवार हाथीसवारोंको युद्धस्थलमें गिरा देते थे । ये घटनाएँ आश्चर्यजनक-सी प्रतीत होती थीं ॥ २१ ॥

गजारोहवरैश्चापि तत्र तत्र पदातयः ।
पातिताः समदृश्यन्त तैश्चापि गजयोधिनः ॥ २२ ॥

उस रणक्षेत्रमें जहाँ-तहाँ श्रेष्ठ गजारोहियोंद्वारा गिराये हुए पैदल और पैदलोंद्वारा गिराये हुए हाथीसवार दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २२ ॥

पत्तिसङ्घा हयारोहैः सादिसङ्घाश्च पत्तिभिः ।
पात्यमाना व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २३ ॥

घुड़सवारोंद्वारा पैदलोंके समूह और पैदलोंद्वारा घुड़सवारोंके समूह सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें गिराये जाते हुए दिखायी देते थे ॥ २३ ॥

ध्वजैस्तत्रापविद्धैश्च कार्मुकैस्तोमरैस्तथा ।
प्रासैस्तथा गदाभिश्च परिघैः कम्पनैस्तथा ॥ २४ ॥
शक्तिभिः कवचैश्चित्रैः कणपैरङ्कुशैरपि ।
निस्त्रिंशैर्विमलैश्चापि स्वर्णपुङ्खैः शरैस्तथा ॥ २५ ॥
परिस्तोमैः कुथाभिश्च कम्बलैश्च महाधनैः ।
भूर्भाति भरतश्रेष्ठ स्रग्दामैरिव चित्रिता ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ इधर-उधर गिरे हुए ध्वज, धनुष, तोमर, प्रास, गदा, परिघ, कम्पन, शक्ति, विचित्र कवच, कणप, अङ्कुश, चमचमाते हुए खड्ग, सुवर्णमय पाँखवाले बाण, झूल, गद्दी और बहुमूल्य कम्बलोंद्वारा आच्छादित हुई वहाँकी भूमि भाँति-भाँतिके पुष्पहारोंसे चित्रित हुई-सी जान पड़ती थी ॥ २४—२६ ॥

नराश्वकायैः पतितैर्दन्तिभिश्च महाहवे ।
अगम्यरूपा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा ॥ २७ ॥

उस महासमरमें मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंकी लाशें पड़ी हुई थीं । मांस और रक्तकी कीचड़ जम गयी थी । वहाँकी भूमिमें जाना असम्भव हो गया था ॥ २७ ॥

प्रशशाम रजो भौमं व्युक्षितं रणशोणितैः ।
दिशश्च विमलाः सर्वाः सम्बभूवुर्जनेश्वर ॥ २८ ॥

जनेश्वर ! रणभूमिमें बहे हुए रक्तसे सिंचकर धरतीकी धूल बैठ गयी और सारी दिशाएँ साफ हो गयीं ॥ २८ ॥

उत्थितान्यगणेयानि कबन्धानि समन्ततः ।
चिह्नभूतानि जगतो विनाशार्थाय भारत ॥ २९ ॥

भारत ! उस समय जगत्‌के विनाशको सूचित करनेवाले असंख्य कबन्ध चारों ओर उठने लगे ॥ २९ ॥

तस्मिन् युद्धे महारौद्रे वर्तमाने सुदारुणे ।
प्रत्यदृश्यन्त रथिनो धावमानाः समन्ततः ॥ ३० ॥

उस अत्यन्त दारुण और महाभयंकर युद्धमें रथी योद्धा चारों ओर दौड़ते दिखायी देते थे ॥ ३० ॥

ततो भीष्मश्च द्रोणश्च सैन्धवश्च जयद्रथः ।
पुरुमित्रो जयो भोजः शल्यश्चापि ससौबलः ॥ ३१ ॥
एते समरदुर्धर्षाः सिंहतुल्यपराक्रमाः ।
पाण्डवानामनीकानि बभञ्जुः स्म पुनः पुनः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर भीष्म, द्रोण, सिन्धुराज जयद्रथ, पुरुमित्र, जय, भोज, शल्य और शकुनि—ये सिंहतुल्य पराक्रमी रणदुर्जय वीर पाण्डवोंकी सेनाको बार-बार भंग करने लगे ३१-३२

तथैव भीमसेनोऽपि राक्षसश्च घटोत्कचः ।
सात्यकिश्चेकितानश्च द्रौपदेयाश्च भारत ॥ ३३ ॥
तावकांस्तव पुत्रांश्च सहितान् सर्वराजभिः ।
द्रावयामासुराजौ ते त्रिदशा दानवानिव ॥ ३४ ॥

भरतनन्दन ! इसी प्रकार भीमसेन, राक्षस घटोत्कच, सात्यकि, चेकितान तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सब मिलकर जैसे देवता दानवोंको खदेड़ते हैं, उसी प्रकार समस्त राजाओंसहित आपके पुत्रों और सैनिकोंको रणभूमिमें भगाने लगे ॥ ३३-३४ ॥

तथा ते समरेऽन्योन्यं निघ्नन्तः क्षत्रियर्षभाः ।
रक्तोक्षिता घोररूपा विरेजुर्दानवा इव ॥ ३५ ॥

संग्रामभूमिमें एक दूसरेको मारते हुए श्रेष्ठ क्षत्रिय वीर रक्तरंजित हो भयानक रूपधारी दानवोंके समान सुशोभित होने लगे ॥ ३५ ॥

विनिर्जित्य रिपून् वीराः सेनयोरुभयोरपि ।
व्यदृश्यन्त महामात्रा ग्रहा इव नभस्तले ॥ ३६ ॥

दोनों सेनाओंके वीर शत्रुओंको जीतकर आकाशमें फैले हुए विशाल ग्रहोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३६ ॥

ततो रथसहस्रेण पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अभ्ययात् पाण्डवं युद्धे राक्षसं च घटोत्कचम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन सहस्रों रथियोंके साथ पाण्डववंशी राक्षस घटोत्कचके साथ युद्ध करनेके लिये वहाँ आया ॥ ३७ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे महत्या सेनया सह ।
द्रोणभीष्मौ रणे यत्तौ प्रत्युद्ययुररिंदमौ ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार विशाल सेनाके साथ समस्त पाण्डव भी युद्धके लिये तैयार खड़े हुए शत्रुदमन द्रोणाचार्य और भीष्मसे भिड़नेके लिये आगे बढ़े ॥ ३८ ॥

किरीटी च ययौ क्रुद्धः समन्तात् पार्थिवोत्तमान् ।
आर्जुनिः सात्यकिश्चैव ययतुः सौबलं बलम् ॥ ३९ ॥

क्रोधमें भरे हुए किरीटधारी अर्जुन सब ओर खड़े हुए श्रेष्ठ राजाओंका सामना करनेके लिये चले । अभिमन्यु और सात्यकिने शकुनिकी सेनापर आक्रमण किया ॥ ३९ ॥

ततः प्रववृते भूयः संग्रामो लोमहर्षणः ।
तावकानां परेषां च समरे विजयैषिणाम् ॥ ४० ॥

इस प्रकार युद्धमें विजय चाहनेवाले आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें पुनः रोमाञ्चकारी संग्राम छिड़ गया ४०

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे संकुलयुद्धे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें युद्धसम्बन्धी तीसरे दिनका घमासान युद्धविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पाण्डव-वीरोंका पराक्रम, कौरव-सेनामें भगदड़ तथा दुर्योधन और भीष्मका संवाद

संजय उवाच

ततस्ते पार्थिवाः क्रुद्धाः फाल्गुनं वीक्ष्य संयुगे ।
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् पर्यवारयन् ॥ १ ॥

संजयने कहा—राजन् ! तदनन्तर वे समस्त भूपाल समरभूमिमें अर्जुनको देखते ही कुपित हो उठे और उन्होंने अनेक सहस्र रथियोंके साथ उन्हें सब ओरसे घेर लिया ॥ १ ॥

अथैनं रथवृन्देन कोष्ठकीकृत्य भारत ।
शरैः सुबहुसाहस्रैः समन्तादभ्यवारयन् ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! उन राजाओंने रथसमूहद्वारा अर्जुनको सब ओरसे वेष्टित करके उनके ऊपर अनेक सहस्र बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ २ ॥

शक्तीश्च विमलास्तीक्ष्णा गदाश्च परिघैः सह ।
प्रासान् परश्वधांश्चैव मुद्गरान् मुसलानपि ॥ ३ ॥
चिक्षिपुः समरे क्रुद्धाः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।

वे क्रोधमें भरकर युद्धमें अर्जुनके रथपर चमचमाती हुई शक्ति, दुःसह गदा, परिघ, प्रास, फरसे, मुद्गर और मुसल आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३½ ॥

शस्त्राणामथ तां वृष्टिं शलभानामिवायतिम् ॥ ४ ॥
रुरोध सर्वतः पार्थः शरैः कनकभूषणैः ।

शलभोंकी श्रेणीके समान अस्त्र-शस्त्रोंकी उस वर्षाको अर्जुनने स्वर्णभूषित बाणोंद्वारा सब ओरसे रोक दिया ॥४½॥

तत्र तल्लाघवं दृष्ट्वा बीभत्सोरतिमानुषम् ॥ ५ ॥
देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ।
साधु साध्विति राजेन्द्र फाल्गुनं प्रत्यपूजयन् ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! अर्जुनकी वह अलौकिक फुर्ती देख देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग तथा राक्षस साधु-साधु (वाह-वाह) कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ५-६ ॥

सात्यकिश्चाभिमन्युश्च महत्या सेनया वृतौ ।
गान्धारान् समरे शूरावजग्मतुः सहसौबलान् ॥ ७ ॥

उधर विशाल सेनासे घिरे हुए सात्यकि और अभिमन्युने समर-भूमिमें सुबलके पुत्रोंसहित गान्धारदेशीय शूरवीरोंपर आक्रमण किया ॥ ७ ॥

तत्र सौबलकाः क्रुद्धा वार्ष्णेयस्य रथोत्तमम् ।
तिलशश्चिच्छिदुः क्रोधाच्छस्त्रैर्नानाविधैर्युधि ॥ ८ ॥

वहाँ जाते ही क्रोधमें भरे हुए सुबलपुत्रोंने युद्ध-स्थलमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा सात्यकिके श्रेष्ठ रथको रोषपूर्वक तिल-तिल करके काट डाला ॥ ८ ॥

सात्यकिस्तु रथं त्यक्त्वा वर्तमाने भयावहे ।
अभिमन्यो रथं तूर्णमारुरोह परंतपः ॥ ९ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले सात्यकि उस समय छिड़े हुए भयंकर संग्राममें अपने टूटे हुए रथको त्यागकर तुरंत ही अभिमन्युके रथपर जा बैठे ॥ ९ ॥

तावेकरथसंयुक्तौ सौबलेयस्य वाहिनीम् ।
व्यधमेतां शितैस्तूर्णं शरैः संनतपर्वभिः ॥ १० ॥

फिर एक ही रथपर बैठे हुए वे दोनों वीर झुकी हुई गाँठवाले पैने बाणोंसे तुरंत ही सुबलपुत्र शकुनिकी सेनाका संहार करने लगे ॥ १० ॥

द्रोणभीष्मौ रणे यत्तौ धर्मराजस्य वाहिनीम् ।
नाशयेतां शरैस्तीक्ष्णैः कङ्कपत्रपरिच्छदैः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार एक ओरसे आकर युद्धके लिये सदा उद्यत

रहनेवाले द्रोणाचार्य और भीष्मने कङ्कपक्षीके पंखोंसे युक्त तीखे बाणोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरकी सेनाका विनाश आरम्भ कर दिया ॥ ११ ॥

ततो धर्मसुतो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
मिषतां सर्वसैन्यानां द्रोणानीकमुपाद्रवन् ॥ १२ ॥

तब धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेवने समस्त सेनाओंके देखते-देखते द्रोणाचार्यकी सेनापर धावा किया ॥ १२ ॥

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
यथा देवासुरं युद्धं पूर्वमासीत् सुदारुणम् ॥ १३ ॥

जैसे पूर्वकालमें अत्यन्त भयंकर देवासुर-संग्राम हुआ था, उसी प्रकार वहाँ अत्यन्त भयानक रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ १३ ॥

कुर्वाणौ सुमहत् कर्म भीमसेनघटोत्कचौ ।
(दुर्योधनस्य महतीं द्रावयामास वाहिनीम् ।)
दुर्योधनस्ततोऽभ्येत्य तावुभावप्यवारयत् ॥ १४ ॥

दूसरी ओर भीमसेन और घटोत्कचने महान् पराक्रमका परिचय देते हुए दुर्योधनकी विशाल वाहिनीको खदेड़ना आरम्भ किया। उस समय दुर्योधनने सामने आकर उन दोनोंको रोक दिया ॥ १४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम हैडिम्बस्य पराक्रमम् ।
अतीत्य पितरं युद्धे यदयुध्यत भारत ॥ १५ ॥

भारत ! वहाँ हमने हिडिम्बापुत्र घटोत्कचका अद्भुत पराक्रम देखा। वह रणक्षेत्रमें पितासे भी बढ़कर पुरुषार्थ प्रकट करते हुए युद्ध कर रहा था ॥ १५ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धो दुर्योधनममर्षणम् ।
हृद्यविध्यत् पृषत्केन प्रहसन्निव पाण्डवः ॥ १६ ॥

क्रोधमें भरे हुए पाण्डुनन्दन भीमसेनने हँसते हुए-से एक बाण मारकर अमर्षशील दुर्योधनकी छाती छेद डाली।१६।

ततो दुर्योधनो राजा प्रहारवरपीडितः ।
निषसाद रथोपस्थे कश्मलं च जगाम ह ॥ १७ ॥

तब उस बाणके गहरे आघातसे पीड़ित हो राजा दुर्योधन रथकी बैठकमें बैठ गया और उसे मूर्च्छा आ गयी ॥ १७ ॥

तं विसंज्ञं विदित्वा तु त्वरमाणोऽस्य सारथिः।
अपोवाह रणाद् राजंस्ततः सैन्यमभज्यत ॥ १८ ॥

राजन् ! उसे संज्ञाशून्य जानकर उसका सारथि बड़ी उतावलीके साथ उसे रणभूमिसे बाहर ले गया। फिर तो उसकी सेनामें भगदड़ मच गयी ॥ १८ ॥

ततस्तां कौरवीं सेनां द्रवमाणां समन्ततः ।
निघ्नन् भीमः शरैस्तीक्ष्णैरनुवव्राज पृष्ठतः ॥ १९ ॥

तब चारों ओर भागती हुई उस कौरव-सेनापर तीखे बाणोंका प्रहार करते हुए भीमसेन उसे पीछे-से खदेड़ने लगे ॥ १९ ॥

पार्षतश्च रथश्रेष्ठो धर्मपुत्रश्च पाण्डवः ।
द्रोणस्य पश्यतः सैन्यं गाङ्गेयस्य च पश्यतः ॥ २० ॥
जघ्नतुर्विशिखैस्तीक्ष्णैः परानीकविनाशनैः ।

दूसरी ओरसे रथियोंमें श्रेष्ठ द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा धर्मपुत्र युधिष्ठिर शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले तीखे बाणोंद्वारा द्रोणाचार्य और भीष्मके देखते-देखते कौरव-सेनाको पीडित करते हुए उसका पीछा करने लगे ॥ २०½ ॥

द्रवमाणं तु तत् सैन्यं तव पुत्रस्य संयुगे ॥ २१ ॥
नाशक्नुतां वारयितुं भीष्मद्रोणौ महारथौ ।

महाराज ! उस युद्धस्थलमें आपके पुत्रकी भागती हुई सेनाको महारथी द्रोण और भीष्म भी रोक न सके ॥२१½॥

वार्यमाणं च भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना ॥ २२ ॥
विद्रवत्येव तत् सैन्यं पश्यतोर्द्रोणभीष्मयोः ।

महामना भीष्म और द्रोणके रोकनेपर भी उनके सामने ही वह सेना भागती ही चली जा रही थी ॥ २२½ ॥

ततो रथसहस्रेषु विद्रवत्सु ततस्ततः ॥ २३ ॥
तावास्थितावेकरथं सौभद्रशिनिपुङ्गवौ ।
सौबलीं समरे सेनां शातयेतां समन्ततः ॥ २४ ॥

उधर सहस्रों रथी जब इधर-उधर भाग रहे थे, उसी समय एक रथपर बैठे हुए अभिमन्यु और सात्यकि सुबलपुत्रकी सेनाका संग्रामभूमिमें सब ओरसे संहार करने लगे ॥

शुशुभाते तदा तौ तु शैनेयकुरुपुङ्गवौ ।
अमावास्यां गतौ यद्वत् सोमसूर्यौ नभस्तले ॥ २५ ॥

उस अवसरपर (एक रथमें बैठे हुए) सात्यकि और अभिमन्यु उसी प्रकार शोभा पा रहे थे, जैसे अमावास्या तिथिको आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा एक ही स्थानमें सुशोभित होते हैं ॥ २५ ॥

अर्जुनस्तु ततः क्रुद्धस्तव सैन्यं विशाम्पते ।
ववर्ष शरवर्षेण धाराभिरिव तोयदः ॥ २६ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अर्जुन आपकी सेनापर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे बादल पानीकी धारा बरसाता है ॥ २६ ॥

वध्यमानं ततस्तत्र शरैः पार्थस्य संयुगे ।
दुद्राव कौरवं सैन्यं विषादभयकम्पितम् ॥ २७ ॥

तब पार्थके बाणोंसे संग्राम-भूमिमें पीड़ित हुई कौरवसेना विषाद और भयसे काँपती हुई इधर-उधर भाग चली।२७।

द्रवतस्तान् समालक्ष्य भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
न्यवारयेतां संरब्धौ दुर्योधनहितैषिणौ ॥ २८ ॥

उन योद्धाओंको भागते देख दुर्योधनका हित चाहनेवाले महारथी भीष्म और द्रोण क्रोधपूर्वक उन्हें रोकने लगे ॥ २८ ॥

ततो दुर्योधनो राजा समाश्वस्य विशाम्पते ।
न्यवर्तयत तत् सैन्यं द्रवमाणं समन्ततः ॥ २९ ॥

प्रजानाथ ! इसी बीचमें राजा दुर्योधनकी मूर्छा दूर हो गयी और उसने आश्वस्त होकर चारों ओर भागती हुई सेनाको पुनः लौटाया ॥ २९ ॥

यत्र यत्र सुतस्तुभ्यं यं यं पश्यति भारत ।
तत्र तत्र न्यवर्तन्त क्षत्रियाणां महारथाः ॥ ३० ॥

भारत ! आपका पुत्र दुर्योधन जहाँ-जहाँ जिस-जिसकी ओर दृष्टिपात करता, वहीं-वहींसे ऐसे योद्धा भी लौट आते थे जो क्षत्रियोंमें महारथी थे ॥ ३० ॥

तान् निवृत्तान् समीक्ष्यैव ततोऽन्येऽपीतरे जनाः ।
अन्योन्यस्पर्धया राजँल्लज्जया चावतस्थिरे ॥ ३१ ॥

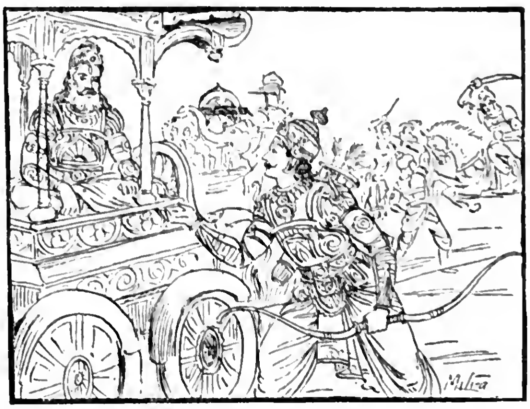
राजन् ! उन सबको लौटते देख दूसरे लोग भी एक दूसरेकी स्पर्धा तथा लज्जाके कारण ठहर गये ॥ ३१ ॥

पुनरावर्ततां तेषां वेग आसीद् विशाम्पते ।
पूर्यतः सागरस्येव चन्द्रस्योदयनं प्रति ॥ ३२ ॥

महाराज ! पुनः लौटते हुए उन योद्धाओंका महान् वेग चन्द्रोदयके समय बढ़ते हुए महासागरके समान जान पड़ता था ॥

संनिवृत्तांस्ततस्तांस्तु दृष्ट्वा राजा सुयोधनः ।
अब्रवीत् त्वरितो गत्वा भीष्मं शान्तनवं वचः ॥ ३३ ॥

तब उन सबको लौटा हुआ देख राजा दुर्योधन तुरंत ही शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जाकर बोला—॥ ३३ ॥



पितामह निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि भारत ।
नानुरूपमहं मन्ये त्वयि जीवति कौरव ॥ ३४ ॥
द्रोणे चास्त्रविदां श्रेष्ठे सपुत्रे ससुहृज्जने ।
कृपे चैव महेष्वासे द्रवते यद् वरूथिनी ॥ ३५ ॥

'पितामह भरतनन्दन ! मैं आपसे जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनिये । कुरुनन्दन ! आपके, अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यके और महाधनुर्धर कृपाचार्यके पुत्रों और सुहृदोंसहित जीते-जी जो मेरी सेना भाग रही है, इसे मैं आपलोगोंके योग्य नहीं मानता हूँ ॥ ३४-३५ ॥

न पाण्डवान् प्रतिबलांस्तव मन्ये कथंचन ।
तथा द्रोणस्य संग्रामे द्रौणेश्चैव कृपस्य च ॥ ३६ ॥

'मैं किसी तरह यह नहीं मान सकता कि पाण्डव संग्राममें आपके, द्रोणाचार्यके, कृपाचार्यके और अश्वत्थामाके समान बलवान् हैं ॥ ३६ ॥

अनुग्राह्याः पाण्डुसुतास्तव नूनं पितामह ।
यथेमां क्षमसे वीर वध्यमानां वरूथिनीम् ॥ ३७ ॥

'वीर पितामह ! निश्चय ही पाण्डव आपके कृपापात्र हैं, तभी तो मेरी सेनाका वध हो रहा है और आप चुपचाप इसकी दुर्दशाको सहते चले जा रहे हैं ॥ ३७ ॥

सोऽस्मि वाच्यस्त्वया राजन् पूर्वमेव समागमे ।
न योत्स्ये पाण्डवान् संख्ये नापि पार्षतसात्यकी ॥ ३८ ॥

'महाराज ! यदि पाण्डवोंपर दया ही करनी थी तो आप युद्ध आरम्भ होनेके पहले ही मुझे यह बता देते कि मैं संग्रामभूमिमें पाण्डुपुत्रोंसे, धृष्टद्युम्नसे और सात्यकिसे भी युद्ध नहीं करूँगा ॥ ३८ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तुभ्यमाचार्यस्य कृपस्य च ।
कर्णेन सहितः कृत्यं चिन्तयानस्तदैव हि ॥ ३९ ॥

'उस अवस्थामें आपका, आचार्यका तथा कृपका वचन सुनकर मैं कर्णके साथ उसी समय अपने कर्तव्यका निश्चय कर लेता ॥ ३९ ॥

यदि नाहं परित्याज्यो युवाभ्यामिह संयुगे ।
विक्रमेणानुरूपेण युध्येतां पुरुषर्षभौ ॥ ४० ॥

'यदि युद्धमें आप दोनोंको मेरा परित्याग करना उचित नहीं जान पड़ता हो तो द्रोणाचार्य और आप दोनों श्रेष्ठ पुरुष अपने योग्य पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध कीजिये' ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो भीष्मः प्रहसन् वै मुहुर्मुहुः ।
अब्रवीत् तनयं तुभ्यं क्रोधादुद्वृत्य चक्षुषी ॥ ४१ ॥

यह सुनकर भीष्म बारंबार हँसकर क्रोधसे आँखें तरेरते हुए आपके पुत्रसे बोले—॥ ४१ ॥

बहुशोऽसि मया राजंस्तथ्यमुक्तो हितं वचः ।
अजेयाः पाण्डवा युद्धे देवैरपि सवासवैः ॥ ४२ ॥

'राजन् ! मैंने तुमसे अनेक बार यह सत्य और हितकी बात बतायी है कि युद्धमें पाण्डवोंको इन्द्र आदि देवता भी जीत नहीं सकते ॥ ४२ ॥

यत् तु शक्यं मया कर्तुं वृद्धेनाद्य नृपोत्तम ।
करिष्यामि यथाशक्ति प्रेक्षेदानीं सबान्धवः ॥ ४३ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! तो भी मुझ वृद्धके द्वारा जो कुछ किया जा सकता है, उसे आज यथाशक्ति करूँगा। तुम इस समय अपने भाइयोंसहित देखो ॥ ४३ ॥

अद्य पाण्डुसुतानेकःससैन्यान् सह बन्धुभिः।
सोऽहं निवारयिष्यामि सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ४४ ॥

'आज मैं अकेला ही सबके देखते-देखते सेना और बन्धुओंसहित समस्त पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा' ॥

एवमुक्ते तु भीष्मेण पुत्रास्तव जनेश्वर।
दध्मुः शङ्खान् मुदा युक्ता भेरीः संजघ्निरे भृशम् ॥ ४५ ॥

जनेश्वर ! भीष्मके ऐसा कहनेपर आपके पुत्र आनन्द-मग्न होकर जोर-जोरसे शङ्ख बजाने और डंका पीटने लगे ॥

पाण्डवा हि ततो राजञ्श्रुत्वा तं निनदं महत्।
दध्मुः शङ्खांश्च भेरीश्च मुरजांश्चाप्यनादयन् ॥ ४६ ॥

राजन् ! उनका वह महान् शङ्खनाद सुनकर पाण्डव वीर शङ्ख बजाने तथा नगारे और ढोल पीटने लगे ॥४६॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे भीष्मदुर्योधनसंवादे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तृतीय युद्धदिवसमें भीष्म और दुर्योधनका संवादविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ४६$\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भीष्मका पराक्रम, श्रीकृष्णका भीष्मको मारनेके लिये उद्यत होना, अर्जुनकी प्रतिज्ञा और उनके द्वारा कौरवसेनाकी पराजय, तृतीय दिवसके युद्धकी समाप्ति

धृतराष्ट्र उवाच

प्रतिज्ञाते ततस्तस्मिन् युद्धे भीष्मेण दारुणे।
क्रोधितो मम पुत्रेण दुःखितेन विशेषतः ॥ १ ॥
भीष्मः किमकरोत् तत्र पाण्डवेयेषु संयुगे।
पितामहे वा पञ्चालास्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! उस भयंकर युद्धमें जब भीष्मने मेरे विशेष दुखी हुए पुत्रके क्रोध दिलानेपर प्रतिज्ञा कर ली, तब उन्होंने उस युद्धस्थलमें पाण्डवोंके प्रति क्या किया ? तथा पाञ्चाल योद्धाओंने पितामह भीष्मके प्रति क्या किया ? ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि भारत।
पश्चिमां दिशमास्थाय स्थिते चापि दिवाकरे ॥ ३ ॥
जयं प्राप्तेषु हृष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
सर्वधर्मविशेषज्ञः पिता देवव्रतस्तव ॥ ४ ॥
अभ्ययाज्जवनैरश्वैः पाण्डवानामनीकिनीम्।
महत्या सेनया गुप्तस्तव पुत्रैश्च सर्वशः ॥ ५ ॥

संजयने कहा—भारत ! उस दिन जब पूर्वाह्णकालका अधिक भाग व्यतीत हो गया, सूर्यदेव पश्चिम दिशामें जाकर स्थित हुए और विजयको प्राप्त हुए महामना पाण्डव खुशी मनाने लगे, उस समय सब धर्मोंके विशेषज्ञ आपके ताऊ भीष्मजीने वेगशाली अश्वोंद्वारा पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया। उनके साथ विशाल सेना चली और आपके पुत्र सब ओरसे उनकी रक्षा करने लगे ॥ ३-५ ॥

प्रावर्तत ततो युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
अस्माकं पाण्डवैः सार्धमनयात् तव भारत ॥ ६ ॥

भारत ! तदनन्तर आपके अन्यायसे हमलोगोंका पाण्डवोंके साथ रोमाञ्चकारी भयंकर संग्राम होने लगा ॥६॥

धनुषां कूजतां तत्र तलानां चाभिहन्यताम्।
महान् समभवच्छब्दो गिरीणामिव दीर्यताम् ॥ ७ ॥

उस समय वहाँ धनुषोंकी टङ्कार तथा हथेलियोंके आघात-से पर्वतोंके विदीर्ण होनेके समान बड़े जोरसे शब्द होता था॥

तिष्ठ स्थितोऽस्मि विद्ध्येनं निवर्तस्व स्थिरो भव।
स्थिरोऽस्मि प्रहरस्वेति शब्दोऽश्रूयत सर्वशः ॥ ८ ॥

उस समय 'खड़े रहो, खड़ा हूँ, इसे बींध डालो, लौटो, स्थिर भावसे रहो, हाँ-हाँ स्थिरभावसे ही हूँ, तुम प्रहार करो' ऐसे शब्द सब ओर सुनायी पड़ते थे ॥ ८ ॥

काञ्चनेषु तनुत्रेषु किरीटेषु ध्वजेषु च।
शिलानामिव शैलेषु पतितानामभूद् ध्वनिः ॥ ९ ॥

जब सोनेके कवचों, किरीटों और ध्वजोंपर योद्धाओंके अस्त्र-शस्त्र टकराते, तब उनसे पर्वतोंपर गिरकर टकरानेवाली शिलाओंके समान भयानक शब्द होता था ॥ ९ ॥

पतितान्युत्तमाङ्गानि बाहवश्च विभूषिताः।
व्यचेष्टन्त महीं प्राप्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥

सैनिकोंके सैकड़ों-हजारों मस्तक तथा स्वर्णभूषित भुजाएँ कट-कटकर पृथ्वीपर गिरने और तड़पने लगीं ॥ १० ॥

हतोत्तमाङ्गाः केचित् तु तथैवोद्यतकार्मुकाः।
प्रगृहीतायुधाश्चापि तस्थुः पुरुषसत्तमाः ॥ ११ ॥

कितने ही पुरुषशिरोमणि वीरोंके मस्तक तो कट गये, परंतु उनके धड़ पूर्ववत् धनुष-बाण एवं अन्य आयुध लिये खड़े ही रह गये ॥ ११ ॥

प्रावर्तत महावेगा नदी रुधिरवाहिनी।
मातङ्गाङ्गशिला रौद्रा मांसशोणितकर्दमा ॥ १२ ॥
वराश्वनरनागानां शरीरप्रभवा तदा।
परलोकार्णवमुखी गृध्रगोमायुमोदिनी ॥ १३ ॥

रणक्षेत्रमें बड़े वेगसे रक्तकी नदी बह चली, जो देखनेमें बड़ी भयानक थी। हाथियोंके शरीर उसके भीतर शिलाखण्डोंके समान जान पड़ते थे। खून और मांस कीचड़के समान प्रतीत होते थे। बड़े-बड़े हाथी, घोड़े और मनुष्योंके शरीरोंसे ही वह नदी निकली थी और परलोकरूपी समुद्रकी ओर प्रवाहित हो रही थी। वह रक्त-मांसकी नदी गीधों और गीदड़ोंको आनन्द प्रदान करनेवाली थी ॥ १२-१३ ॥

न दृष्टं न श्रुतं वापि युद्धमेतादृशं नृप।
यथा तव सुतानां च पाण्डवानां च भारत ॥ १४ ॥

भारत ! नरेश्वर ! पाण्डवों और आपके पुत्रोंका उस दिन जैसा भयानक युद्ध हुआ, वैसा न कभी देखा गया है और न सुना ही गया है ॥ १४ ॥

नासीद् रथपथस्तत्र योधैर्युधि निपातितैः।
गजैश्च पतितैर्नीलैर्गिरिशृङ्गैरिवावृतः ॥ १५ ॥

वहाँ युद्धस्थलमें गिराये हुए योद्धाओं तथा पर्वतके श्याम शिखरोंके समान पड़े हुए हाथियोंसे अवरुद्ध हो जानेके कारण रथोंके आने-जानेके लिये रास्ता नहीं रह गया था ॥ १५ ॥

विकीर्णैः कवचैश्चित्रैः शिरस्त्राणैश्च मारिष।
शुशुभे तद् रणस्थानं शरदीव नभस्तलम् ॥ १६ ॥

माननीय महाराज ! इधर-उधर बिखरे हुए विचित्र कवचों तथा शिरस्त्राणों (लोहेके टोपों) से वह रणभूमि शरद्-ऋतुमें तारिकाओंसे विभूषित आकाशकी भाँति शोभा पाने लगी ॥ १६ ॥

विनिर्भिन्नाः शरैः केचिदन्त्रापीडप्रकर्षिणः।
अभीताः समरे शत्रूनभ्यधावन्त दर्पिताः ॥ १७ ॥

कुछ वीर बाणोंसे विदीर्ण होकर आँतोंमें उठनेवाली पीड़ासे अत्यन्त कष्ट पानेपर भी समरभूमिमें निर्भय तथा दर्पयुक्त भावसे शत्रुओंकी ओर दौड़ रहे थे ॥ १७ ॥

तात भ्रातः सखे बन्धो वयस्य मम मातुल।
मा मां परित्यजेत्यन्ये चुक्रुशुः पतिता रणे ॥ १८ ॥

कितने ही योद्धा रणभूमिमें गिरकर इस प्रकार आर्तभावसे स्वजनोंको पुकार रहे थे—'तात ! भ्रातः ! सखे ! बन्धो ! मेरे मित्र ! मेरे मामा ! मुझे छोड़कर न जाओ' ॥

अथाभ्येहि त्वमागच्छ किं भीतोऽसि क यास्यसि।
स्थितोऽहं समरे मा भैरिति चान्ये विचुक्रुशुः ॥ १९ ॥

दूसरे सैनिक यों चिल्ला रहे थे—'अरे आओ, मेरे पास आओ, क्यों डरे हुए हो ? कहाँ जाओगे ? मैं संग्राममें डटा हुआ हूँ। तुम भय न करो' ॥ १९ ॥

तत्र भीष्मः शान्तनवो नित्यं मण्डलकार्मुकः।
मुमोच बाणान् दीप्ताग्रानहीनाशीविषानिव ॥ २० ॥

वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्म अपने धनुषको मण्डलाकार करके विषधर सर्पोंके समान भयंकर एवं प्रज्वलित बाणोंकी निरन्तर वर्षा कर रहे थे ॥ २० ॥

शरैरेकायनीकुर्वन् दिशः सर्वा यतव्रतः।
जघान पाण्डवरथानादिश्य भरतर्षभ ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले भीष्म सम्पूर्ण दिशाओंको बाणोंसे व्याप्त करते हुए पाण्डव-पक्षीय रथियोंको अपना नाम सुना-सुनाकर मारने लगे ॥ २१ ॥

स नृत्यन् वै रथोपस्थे दर्शयन् पाणिलाघवम्।
अलातचक्रवद् राजंस्तत्र तत्र स्म दृश्यते ॥ २२ ॥

राजन् ! उस समय भीष्म अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए रथकी बैठकपर नृत्य-सा कर रहे थे। घूमते हुए अलातचक्रकी भाँति वे यत्र-तत्र सर्वत्र दिखायी देने लगे ॥ २२ ॥

तमेकं समरे शूरं पाण्डवाः सृंजयैः सह।
अनेकशतसाहस्रं समपश्यन्त लाघवात् ॥ २३ ॥

युद्धमें शूरवीर भीष्म यद्यपि अकेले थे, तथापि सृंजयोंसहित पाण्डवोंको वे अपनी फुर्तीके कारण कई लाख व्यक्तियोंके समान दिखायी दिये ॥ २३ ॥

मायाकृतात्मानमिव भीष्मं तत्र स्म मेनिरे।
पूर्वस्यां दिशि तं दृष्ट्वा प्रतीच्यां ददृशुर्जनाः ॥ २४ ॥

लोगोंको ऐसा मालूम हो रहा था कि रणक्षेत्रमें भीष्मजीने मायासे अपनेको अनेक रूपोंमें प्रकट कर लिया है। जिन लोगोंने उन्हें पूर्वदिशामें देखा था, उन्हीं लोगोंको आँख फिरते ही वे पश्चिममें दिखायी दिये ॥ २४ ॥

उदीच्यां चैवमालोक्य दक्षिणस्यां पुनः प्रभो।
एवं स समरे शूरो गाङ्गेयः प्रत्यदृश्यत ॥ २५ ॥

प्रभो ! बहुतोंने उन्हें उत्तर दिशामें देखकर तत्काल ही दक्षिण दिशामें भी देखा। इस प्रकार समरभूमिमें वे शूरवीर गङ्गानन्दन भीष्म सब ओर दिखायी दे रहे थे ॥ २५ ॥

न चैवं पाण्डवेयानां कश्चिच्छक्नोति वीक्षितुम्।
विशिखानेव पश्यन्ति भीष्मचापच्युतान् बहून् ॥ २६ ॥

पाण्डवोंमेंसे कोई भी उन्हें देख नहीं पाता था। सब लोग भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बहुसंख्यक बाणोंको ही देखते थे ॥ २६ ॥

कुर्वाणं समरे कर्म सूदयानं च वाहिनीम्।
व्याक्रोशन्त रणे तत्र नरा बहुविधा बहु ॥ २७ ॥
अमानुषेण रूपेण चरन्तं पितरं तव।

उस समय रणक्षेत्रमें अद्भुत कर्म करते हुए आपके ताऊ भीष्म अमानुषरूपसे विचरते तथा पाण्डवसेनाका संहार करते थे। वहाँ अनेक प्रकारके मनुष्य उनके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी बातें कर रहे थे ॥ २७½ ॥

शलभा इव राजानः पतन्ति विधिचोदिताः ॥ २८ ॥
भीष्माग्निमभिसंक्रुद्धं विनाशाय सहस्रशः ।

वहाँ विधातासे प्रेरित होकर पतंगोंके समान सहस्रों राजा क्रोधमें भरे हुए भीष्मरूपी प्रचण्ड अग्निमें अपने विनाशके लिये स्वयं ही आ गिरते थे ॥ २८½ ॥

न हि मोघः शरः कश्चिदासीद् भीष्मस्य संयुगे ॥ २९ ॥
नरनागाश्वकायेषु बहुत्वाल्लघुयोधिनः ।

युद्धमें मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंके शरीरोंपर चलाया हुआ भीष्मका कोई भी बाण व्यर्थ नहीं होता था। एक तो उनके पास बाण बहुत थे और दूसरे वे बड़ी फुर्तीसे चलाते थे ॥ २९½ ॥

(प्रच्छादयञ्शरान् भीष्मो निशितान् कङ्कपत्रिणः ।)
भिनत्त्येकेन बाणेन सुमुखेन पतत्रिणा ॥ ३० ॥
गजकण्टकसंनद्धं वज्रेणेव शिलोच्चयम् ।

भीष्म कंकपत्रसे युक्त बहुसंख्यक तीखे बाणोंको युद्धमें बिखेर रहे थे। वे एक ही पंखयुक्त सीधे बाणसे लोहेकी झूलसे युक्त हाथीको भी विदीर्ण कर डालते थे। जैसे इन्द्र महान् पर्वतको अपने वज्रसे विदीर्ण कर देते हैं ॥ ३०½ ॥

द्वौ त्रीनपि गजारोहान् पिण्डितान् वर्मितानपि॥ ३१ ॥
नाराचेन सुमुक्तेन निजघान पिता तव।

आपके ताऊ भीष्म अच्छी तरहसे छोड़े हुए एक ही नाराचके द्वारा एक जगह बैठे हुए दो-तीन हाथीसवारोंको कवच धारण किये होनेपर भी छेद डालते थे ॥

यो यो भीष्मं नरव्याघ्रमभ्येति युधि कश्चन ॥ ३२ ॥
मुहूर्तदृष्टः स मया पतितो भुवि दृश्यते ।

जो कोई भी योद्धा नरश्रेष्ठ भीष्मके सम्मुख आ जाता, वह मुझे एक ही मुहूर्तमें खड़ा दिखायी देकर उसी क्षण धरतीपर लोटता दिखायी देता था ॥ ३२½ ॥

एवं सा धर्मराजस्य वध्यमाना महाचमूः ॥ ३३ ॥
भीष्मेणातुलवीर्येण व्यशीर्यत सहस्रधा ।

इस प्रकार अतुल पराक्रमी भीष्मके द्वारा मारी जाती हुई धर्मराज युधिष्ठिरकी वह विशाल वाहिनी सहस्रों भागोंमें बिखर गयी ॥ ३३½ ॥

प्राकम्पत महासेना शरवर्षेण तापिता ॥ ३४ ॥
पश्यतो वासुदेवस्य पार्थस्याथ शिखण्डिनः ।

उनकी बाण-वर्षासे संतप्त हो पाण्डवोंकी वह महती सेना श्रीकृष्ण, अर्जुन और शिखण्डीके देखते-देखते काँपने लगी॥

वर्तमानाऽपि ते वीरा द्रवमाणान् महारथान् ॥ ३५ ॥
नाशक्नुवन् वारयितुं भीष्मबाणप्रपीडितान् ।

वे सब वीर वहाँ मौजूद होते हुए भी भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर भागते हुए अपने महारथियोंको रोकनेमें समर्थ न हो सके ॥ ३५½ ॥

महेन्द्रसमवीर्येण वध्यमाना महाचमूः ॥ ३६ ॥
अभज्यत महाराज न च द्वौ सह धावतः ।

महाराज! महेन्द्रके समान पराक्रमी भीष्मकी मार खाकर वह विशाल सेना इस प्रकार तितर-बितर हुई कि उसके दो-दो सैनिक भी एक साथ नहीं भाग सकते थे ॥ ३६½ ॥

आविद्धनरनागाश्वं पतितध्वजकूबरम् ॥ ३७ ॥
अनीकं पाण्डुपुत्राणां हाहाभूतमचेतनम् ।

मनुष्य, हाथी और घोड़े सभी बाणोंसे छिद गये थे। रथके ध्वज और कूबर टूटकर गिर चुके थे। इस प्रकार पाण्डवोंकी सेना अचेत-सी होकर हाहाकार कर रही थी ॥

जघानात्र पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ॥ ३८ ॥
प्रियं सखायं चाक्रन्दे सखा दैवबलात्कृतः ।

इस युद्धमें दैवके वशीभूत होकर पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको और मित्रने प्रिय मित्रको मार डाला ॥ ३८½ ॥

विमुच्य कवचान्यन्ये पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ॥ ३९ ॥
विमुक्तकेशा धावन्तः प्रत्यदृश्यन्त भारत ।

भारत! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके बहुत-से सैनिक कवच खोलकर बाल बिखेरे इधर-उधर दौड़ते दिखायी देते थे ॥

तद् गोकुलमिवोद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तरथयूथपम् ॥ ४० ॥
ददृशे पाण्डुपुत्रस्य सैन्यमार्तस्वरं तदा ।
प्रभज्यमानं सैन्यं तु दृष्ट्वा यादवनन्दनः ॥ ४१ ॥
उवाच पार्थं बीभत्सुं निगृह्य रथमुत्तमम् ।

उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी वह सेना व्याकुल होकर भटकती हुई गौओंके समूहकी भाँति आर्तस्वरसे हाहाकार करती हुई देखी गयी। कितने ही रथयूथपति भी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर घूम रहे थे। अपनी सेनामें इस प्रकार भगदड़ मची हुई देख यदुकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अपने उत्तम रथको खड़ा करके कुन्तीपुत्र अर्जुनसे कहा— ॥ ४०-४१½ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः पार्थ यस्तेऽभिकाङ्क्षितः॥ ४२ ॥
प्रहरस्व नरव्याघ्र न चेन्मोहाद् विमुह्यसे ।

'पुरुषसिंह! जिसकी तुम दीर्घकालसे अभिलाषा करते थे, वही यह अवसर प्राप्त हुआ है। यदि तुम मोहसे किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हो गये हो तो पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करो ॥

यत् त्वया कथितं वीर पुरा राज्ञां समागमे ॥ ४३ ॥
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान्।
सानुबन्धान् हनिष्यामि ये मां योत्स्यन्ति संयुगे॥ ४४॥

इति तत् कुरु कौन्तेय सत्यं वाक्यमरिंदम ।
बीभत्सो पश्य सैन्यं स्वं भज्यमानं ततस्ततः ॥ ४५ ॥

'वीर ! पहले राजाओंकी मण्डलीमें तुमने जो यह कहा था कि 'जो मेरे साथ संग्रामभूमिमें उतरकर युद्ध करेंगे, दुर्योधनके उन भीष्म, द्रोण आदि समस्त सैनिकोंको मैं सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा ।' शत्रुसूदन कुन्तीनन्दन ! अपनी उस बातको सत्य कर दिखाओ । अर्जुन ! देखो, तुम्हारी सेना इधर-उधर भाग रही है ॥ ४३—४५ ॥

द्रवतश्च महीपालान् पश्य यौधिष्ठिरे बले ।
दृष्ट्वा हि भीष्मं समरे व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ४६ ॥
भयार्ताः प्रपलायन्ते सिंहात् क्षुद्रमृगा इव ।

'समरभूमिमें मुँह बाये हुए कालके समान भीष्मको देखकर युधिष्ठिरकी सेनामें भागते हुए इन राजाओंकी ओर दृष्टिपात करो । ये सिंहसे डरे हुए क्षुद्र मृगोंकी भाँति भयसे आतुर होकर पलायन कर रहे हैं' ॥ ४६½ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच वासुदेवं धनंजयः ॥ ४७ ॥
नोदयाश्वान् यतो भीष्मो विगाह्यैतद् बलार्णवम्।
पातयिष्यामि दुर्धर्षं वृद्धं कुरुपितामहम् ॥ ४८ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'भगवन् ! इन घोड़ोंको हाँककर वहीं ले चलिये, जहाँ भीष्म मौजूद हैं । इस सेनारूपी समुद्रमें प्रवेश कीजिये । आज मैं कुरुकुलके वृद्ध पितामह दुर्धर्ष वीर भीष्म-को रथसे नीचे गिरा दूँगा' ॥ ४७-४८ ॥

संजय उवाच

ततोऽश्वान् रजतप्रख्यान् नोदयामास माधवः।
यतो भीष्मरथो राजन् दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिवानिव॥ ४९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके चाँदीके समान सफेद घोड़ोंको उसी दिशाकी ओर हाँका, जिस ओर भीष्मजीका रथ विद्यमान था । सूर्यकी भाँति उस रथकी ओर आँख उठाकर देखना भी कठिन था ॥

ततस्तत् पुनरावृत्तं युधिष्ठिरबलं महत् ।
दृष्ट्वा पार्थं महाबाहुं भीष्मायोद्यतमाहवे ॥ ५० ॥

उस समय महाबाहु अर्जुनको समरभूमिमें भीष्मसे लोहा लेनेके लिये उद्यत देख युधिष्ठिरकी वह विशाल सेना पुनः लौट आयी ॥ ५० ॥

ततो भीष्मः कुरुश्रेष्ठ सिंहवद् विनदन् मुहुः ।
धनंजयरथं शीघ्रं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ५१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तदनन्तर भीष्म सिंहके समान बारंबार गर्जना करते हुए अर्जुनके रथपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ५१ ॥

क्षणेन स रथस्तस्य सहयः सहसारथिः ।
शरवर्षेण महता संछन्नो न प्रकाशते ॥ ५२ ॥

उस महान् बाणवर्षासे एक ही क्षणमें घोड़े और सारथि-सहित आच्छादित होकर अर्जुनका रथ किसीकी दृष्टिमें नहीं आता था ॥ ५२ ॥

वासुदेवस्त्वसम्भ्रान्तो धैर्यमास्थाय सत्त्ववान् ।
चोदयामास तानश्वान् विचितान् भीष्मसायकैः॥५३॥

परंतु शक्तिशाली भगवान् श्रीकृष्ण तनिक भी घबराहटमें न पड़कर धैर्यका सहारा ले उन घोड़ोंको हाँकते रहे । यद्यपि भीष्मके बाण उन अश्वोंके सभी अङ्गोंमें धँसे हुए थे ॥५३॥

ततः पार्थो धनुर्गृह्य दिव्यं जलदनिःस्वनम् ।
पातयामास भीष्मस्य धनुश्छित्त्वा त्रिभिः शरैः॥ ५४॥

तब अर्जुनने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले दिव्य धनुषको हाथमें लेकर तीन बाणोंसे भीष्मके धनुषको काट गिराया ॥ ५४ ॥

स च्छिन्नधन्वा कौरव्यः पुनरन्यन्महद् धनुः ।
निमिषान्तरमात्रेण सज्यं चक्रे पिता तव ॥ ५५ ॥

धनुष कट जानेपर आपके ताऊ कुरुनन्दन भीष्मने पलक मारते-मारते पुनः दूसरे विशाल धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी ॥

विचकर्ष ततो दोर्भ्यां धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
अथास्य तदपि क्रुद्धश्चिच्छेद धनुरर्जुनः ॥ ५६ ॥

फिर मेघके समान गम्भीर शब्द करनेवाले उस धनुषको दोनों हाथोंसे खींचा । इतनेहीमें कुपित हुए अर्जुनने उनके उस धनुषको भी काट डाला ॥ ५६ ॥

तस्य तत् पूजयामास लाघवं शान्तनोः सुतः ।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भोः पाण्डुनन्दन ॥ ५७ ॥
त्वय्येवैतद् युक्तरूपं महत् कर्म धनंजय ।
प्रीतोऽस्मि सुभृशं पुत्र कुरु युद्धं मया सह ॥ ५८ ॥

अर्जुनकी इस फुर्तीको देखकर शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ी प्रशंसा की और कहा—'महाबाहु कुन्तीकुमार ! तुम्हें साधुवाद । पाण्डुनन्दन ! धन्यवाद । बेटा ! तुम्हारी इस फुर्तीसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ । धनंजय ! यह महान् कर्म तुम्हारे ही योग्य है । तुम मेरे साथ युद्ध करो' ॥ ५७-५८ ॥

इति पार्थं प्रशस्याथ प्रगृह्यान्यन्महद् धनुः ।
मुमोच समरे वीरः शरान् पार्थरथं प्रति ॥ ५९ ॥

इस प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुनकी प्रशंसा करके फिर दूसरा विशाल धनुष हाथमें लेकर वीर भीष्मने युद्धस्थलमें उनके रथकी ओर बाण बरसाना आरम्भ किया ॥ ५९ ॥

अदर्शयद् वासुदेवो हययाने परं बलम् ।
मोघान् कुर्वञ्शरांस्तस्य मण्डलान्याचरल्लघु ॥ ६० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंको हाँकनेकी कलामें अपने उत्तम बलका परिचय दिया । वे भीष्मके बाणोंको व्यर्थ करते हुए बड़ी फुर्तीके साथ रथको मण्डलाकार चलाने लगे ॥६०॥

तथा भीष्मस्तु सुदृढं वासुदेवधनंजयौ।
विव्याध निशितैर्बाणैः सर्वगात्रेषु भारत ॥ ६१ ॥

भारत ! तथापि भीष्मने श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें अपने पैने बाणोंसे गहरे आघात किये ॥ ६१ ॥

शुशुभाते नरव्याघ्रौ तौ भीष्मशरविक्षतौ।
गोवृषाविव संरब्धौ विषाणैर्लिखिताङ्कितौ ॥ ६२ ॥

भीष्मके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो वे नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन क्रोधमें भरे हुए उन दो साँड़ोंके समान सुशोभित हुए, जिनके सम्पूर्ण शरीरमें सींगोंके आघातसे बहुत-से घाव हो गये हों ॥ ६२ ॥

पुनश्चापि सुसंरब्धः शरैः शतसहस्रशः।
कृष्णयोर्युधि संरब्धो भीष्मोऽथावारयद् दिशः॥ ६३ ॥

तत्पश्चात् रोषावेशमें भरे हुए भीष्मने सैकड़ों-हजारों बाणोंकी वर्षा करके युद्धभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित एवं अवरुद्ध कर दिया ॥ ६३ ॥

वार्ष्णेयं च शरैस्तीक्ष्णैः कम्पयामास रोषितः।
मुहुरभ्यर्दयन् भीष्मः प्रहस्य स्वनवत् तदा ॥ ६४ ॥

इतना ही नहीं, रोषमें भरे हुए भीष्मने जोर-जोरसे हँसकर अपने तीखे बाणोंसे बारंबार पीड़ित करते हुए वृष्णि-कुलभूषण श्रीकृष्णको कम्पित-सा कर दिया ॥ ६४ ॥

ततस्तु कृष्णः समरे दृष्ट्वा भीष्मपराक्रमम्।
सम्प्रेक्ष्य च महाबाहुः पार्थस्य मृदुयुद्धताम् ६५ ॥
भीष्मं च शरवर्षाणि सृजन्तमनिशं युधि।
प्रतपन्तमिवादित्यं मध्यमासाद्य सेनयोः ॥ ६६ ॥
वरान् वरान् विनिघ्नन्तं पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान्।
युगान्तमिव कुर्वाणं भीष्मं यौधिष्ठिरे बले ॥ ६७ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने उस समराङ्गणमें भीष्मका पराक्रम देखकर यह विचार किया कि अर्जुन तो कोमलता-पूर्वक युद्ध कर रहा है और भीष्म युद्धस्थलमें निरन्तर बाणों-की वर्षा कर रहे हैं। ये दोनों सेनाओंके बीचमें आकर तपते हुए सूर्यकी भाँति सुशोभित होते और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके अच्छे-अच्छे सैनिकोंको चुन-चुनकर मार रहे हैं। युधिष्ठिरकी सेनामें भीष्मने प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित कर दिया है॥

अमृष्यमाणो भगवान् केशवः परवीरहा।
अचिन्तयदमेयात्मा नास्ति यौधिष्ठिरं बलम् ॥ ६८ ॥
एकाह्ना हि रणे भीष्मो नाशयेद् देवदानवान्।
किं नु पाण्डुसुतान् युद्धे सबलान् सपदानुगान्॥ ६९ ॥

यह सब देख और सोचकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण सहन न कर सके। उन्होंने मन ही-मन विचार किया कि युधिष्ठिरकी सेनाका अस्तित्व मिटना चाहता है। भीष्म रणभूमिमें एक ही दिनमें सम्पूर्ण देवताओं और दानवोंका नाश कर सकते हैं। फिर सेना और सेवकोंसहित पाण्डवोंको युद्धमें परास्त करना इनके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ ६८-६९ ॥

द्रवते च महासैन्यं पाण्डवस्य महात्मनः।
एते च कौरवास्तूर्णं प्रभग्नान् वीक्ष्य सोमकान् ॥ ७० ॥
प्राद्रवन्ति रणे दृष्ट्वा हर्षयन्तः पितामहम्।
सोऽहं भीष्मं निहन्म्यद्य पाण्डवार्थाय दंशितः ॥ ७१ ॥

महात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी यह विशाल सेना भागी जा रही है और ये कौरवलोग रणक्षेत्रमें सोमकोंको शीघ्रता-पूर्वक भागते देख पितामहका हर्ष बढ़ाते हुए उन्हें खदेड़ रहे हैं; अतः आज पाण्डवोंके लिये कवच धारण किया हुआ मैं स्वयं ही भीष्मको मारे डालता हूँ ॥ ७०-७१ ॥

भारमेतं विनेष्यामि पाण्डवानां महात्मनाम्।
अर्जुनो हि शरैस्तीक्ष्णैर्वध्यमानोऽपि संयुगे ॥ ७२ ॥
कर्तव्यं नाभिजानाति रणे भीष्मस्य गौरवात्।

महामना पाण्डवोंके इस भारी भारको मैं ही दूर करूँगा। अर्जुन इस युद्धमें तीखे बाणोंकी मार खाकर भी भीष्मके प्रति गौरवबुद्धि रखनेके कारण अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहा है ॥ ७२½ ॥

तथा चिन्तयतस्तस्य भूय एव पितामहः।
प्रेषयामास संक्रुद्धः शरान् पार्थरथं प्रति ॥ ७३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार चिन्तन करते समय अत्यन्त कुपित हुए पितामह भीष्मने अर्जुनके रथपर पुनः बहुत-से बाण चलाये ॥ ७३ ॥

तेषां बहुत्वात् तु भृशं शराणां
दिशश्च सर्वाः पिहिता बभूवुः।
न चान्तरिक्षं न दिशो न भूमि-
र्न भास्करोऽदृश्यत रश्मिमाली।
ववुश्च वातास्तुमुलाः सधूमा
दिशश्च सर्वाः क्षुभिता बभूवुः ॥ ७४ ॥

उन बाणोंकी अत्यधिकताके कारण उनसे सम्पूर्ण दिशाएँ आच्छादित हो गयीं। न आकाश दिखायी देता था, न दिशाएँ; न तो भूमि दिखायी देती थी और न मरीचिमाली भगवान् भास्करका ही दर्शन होता था। उस समय धूमयुक्त भयंकर हवा चलने लगी। सम्पूर्ण दिशाएँ क्षुब्ध हो उठीं॥

द्रोणो विकर्णोऽथ जयद्रथश्च
भूरिश्रवाः कृतवर्मा कृपश्च।
श्रुतायुरम्बष्ठपतिश्च राजा
विन्दानुविन्दौ च सुदक्षिणश्च ॥ ७५ ॥
प्राच्याश्च सौवीरगणाश्च सर्वे
वसातयः क्षुद्रकमालवाश्च।
किरीटिनं त्वरमाणाऽभिसस्रु-
र्निदेशगाः शान्तनवस्य राज्ञः ॥ ७६ ॥

तब द्रोण, विकर्ण, जयद्रथ, भूरिश्रवा, कृतवर्मा, कृपाचार्य, श्रुतायु, राजा अम्बष्ठपति, विन्द, अनुविन्द, सुदक्षिण, पूर्वीय नरेशगण, सौवीरदेशीय क्षत्रियगण, वसाति, क्षुद्रक और मालवगण,—ये सभी शान्तनुनन्दन भीष्मकी आज्ञाके अनुसार चलते हुए तुरंत ही किरीटधारी अर्जुनका सामना करनेके लिये निकट चले आये ॥ ७५-७६ ॥

तं वाजिपादातरथौघजालै-
रनेकसाहस्रशतैर्ददर्श ।
किरीटिनं सम्परिवार्यमाणं
शिनेर्नप्ता वारणयूथपैश्च ॥ ७७ ॥

सात्यकिने दूरसे देखा, किरीटधारी अर्जुन घोड़े, पैदल तथा रथियोंसहित कई लाख सैनिकोंसे घिर गये हैं, गजराज-यूथपतियोंने भी उन्हें सब ओरसे घेर रक्खा है ॥ ७७ ॥

ततस्तु दृष्ट्वार्जुनवासुदेवौ
पदातिनागाश्वरथैः समन्तात् ।
अभिद्रुतौ शस्त्रभृतां वरिष्ठौ
शिनिप्रवीरोऽभिससार तूर्णम् ॥ ७८ ॥

तत्पश्चात् पैदल, हाथी, घोड़े और रथोंद्वारा चारों ओरसे आक्रान्त हुए शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुनको देखकर शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकि तुरंत वहाँ आ पहुँचे ॥ ७८ ॥

स तान्यनीकानि महाधनुष्मा-
ञ्छिनिप्रवीरः सहसाभिपत्य ।
चकार साहाय्यमथार्जुनस्य
विष्णुर्यथा वृत्रनिषूदनस्य ॥ ७९ ॥

महाधनुर्धर शिनिवीर सात्यकिने सहसा उन सेनाओंके समीप पहुँचकर अर्जुनकी उसी प्रकार सहायता की, जैसे भगवान् विष्णु वृत्रविनाशक इन्द्रकी सहायता करते हैं ॥७९॥

विशीर्णनागाश्वरथध्वजौघं
भीष्मेण वित्रासितसर्वयोधम् ।
युधिष्ठिरानीकमभिद्रवन्तं
प्रोवाच संदृश्य शिनिप्रवीरः ॥ ८० ॥

युधिष्ठिरकी सेनाके हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजाओंके समूह तितर-बितर हो गये थे। भीष्मने उनके सम्पूर्ण योद्धाओंको भयभीत कर दिया था। इस प्रकार युधिष्ठिरके सैनिकोंको भागते देख शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकिने उनसे कहा—॥

क्व क्षत्रिया यास्यथ नैष धर्मः
सतां पुरस्तात् कथितः पुराणैः ।
मा स्वां प्रतिज्ञां त्यजत प्रवीराः
स्वं वीरधर्मं परिपालयध्वम् ॥ ८१ ॥

'क्षत्रियो! कहाँ जा रहे हो ? प्राचीन महापुरुषोंद्वारा यह श्रेष्ठ क्षत्रियोंका धर्म नहीं बताया गया है। वीरो ! अपनी प्रतिज्ञा न छोड़ो, अपने वीर-धर्मका पालन करो' ॥ ८१ ॥

तान् वासवानन्तरजो निशाम्य
नरेन्द्रमुख्यान् द्रवतः समन्तात् ।
पार्थस्य दृष्ट्वा मृदुयुद्धतां च
भीष्मं च संख्ये समुदीर्यमाणम् ॥ ८२ ॥
अमृष्यमाणः स ततो महात्मा
यशस्विनं सर्वदशार्हभर्ता ।
उवाच शैनेयमभिप्रशंसन्
दृष्ट्वा कुरूनापततः समग्रान् ॥ ८३ ॥

इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने उन श्रेष्ठ राजाओंको सब ओर भागते देखा और इस बातपर भी लक्ष्य किया कि अर्जुन तो कोमलताके साथ युद्ध कर रहा है और भीष्म इस संग्राममें अधिकाधिक प्रचण्ड होते जा रहे हैं। यह सब देखकर सम्पूर्ण यदुकुलका भरण-पोषण करनेवाले महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण सहन न कर सके। उन्होंने समस्त कौरवोंको सब ओरसे आक्रमण करते देख यशस्वी वीर सात्यकिकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ ८२-८३ ॥

ये यान्ति ते यान्तु शिनिप्रवीर
येऽपि स्थिताः सात्वत तेऽपि यान्तु ।
भीष्मं रथात् पश्य निपात्यमानं
द्रोणं च संख्ये सगणं मयाद्य ॥ ८४ ॥

'शिनिवंशके प्रमुख वीर ! सात्वतरत्न ! जो भाग रहे हैं, वे भाग जायँ। जो खड़े हैं, वे भी चले जायँ। (मैं इन लोगोंका भरोसा नहीं करता।) तुम देखो, मैं अभी संग्रामभूमिमें सहायकगणोंके साथ भीष्म और द्रोणाचार्यको रथसे मार गिराता हूँ ॥ ८४ ॥

न मे रथी सात्वत कौरवाणां
क्रुद्धस्य मुच्येत रणेऽद्य कश्चित् ।
तस्मादहं गृह्य रथाङ्गमुग्रं
प्राणं हरिष्यामि महाव्रतस्य ॥ ८५ ॥

'सात्वत वीर ! आज कौरवसेनाका कोई भी रथी क्रोधमें भरे हुए मुझ कृष्णके हाथसे जीवित नहीं छूट सकता। मैं अपना भयंकर चक्र लेकर महान् व्रतधारी भीष्मके प्राण हर लूँगा ॥ ८५ ॥

निहत्य भीष्मं सगणं तथाऽऽजौ
द्रोणं च शैनेय रथप्रवीरौ ।
प्रीतिं करिष्यामि धनंजयस्य
राज्ञश्च भीमस्य तथाश्विनोश्च ॥ ८६ ॥

'सात्यके ! सहायकगणोंसहित भीष्म और द्रोण—इन दोनों वीर महारथियोंको युद्धमें मारकर मैं अर्जुन, राजा युधिष्ठिर, भीमसेन तथा नकुल-सहदेवको प्रसन्न करूँगा ॥

निहत्य सर्वान् धृतराष्ट्रपुत्रां-
स्तत्पक्षिणो ये च नरेन्द्रमुख्याः ।
राज्येन राजानमजातशत्रुं
सम्पादयिष्याम्यहमद्य हृष्टः ॥ ८७

'धृतराष्ट्रके सभी पुत्रों तथा उसके पक्षमें आये हुए सभी श्रेष्ठ नरेशोंको मारकर मैं प्रसन्नतापूर्वक आज अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरको राज्यसे सम्पन्न कर दूँगा' ॥ ८७ ॥

संजय उवाच

(इतीदमुक्त्वा स महानुभावः
सस्मार चक्रं निशितं पुराणम् ।
सुदर्शनं चिन्तितमात्रमेव
तस्याग्रहस्तं स्वयमारुरोह ॥)

संजय कहते हैं—ऐसा कहकर महानुभाव श्रीकृष्णने अपने पुरातन एवं तीक्ष्ण आयुध सुदर्शनचक्रका स्मरण किया । उनके चिन्तन करने मात्रसे ही वह स्वयं उनके हाथके अग्रभागमें प्रस्तुत हो गया ॥

ततः सुनाभं वसुदेवपुत्रः
सूर्यप्रभं वज्रसमप्रभावम् ।
क्षुरान्तमुद्यम्य भुजेन चक्रं
रथादवप्लुत्य विसृज्य वाहान् ॥ ८८ ॥
संकम्पयन् गां चरणैर्महात्मा
वेगेन कृष्णः प्रससार भीष्मम् ।
मदान्धमाजौ समुदीर्णदर्पं
सिंहो जिघांसन्निव वारणेन्द्रम् ॥ ८९ ॥

उस चक्रकी नाभि बड़ी सुन्दर थी । उसका प्रकाश सूर्यके समान और प्रभाव वज्रके तुल्य था । उसके किनारे छूरेके समान तीक्ष्ण थे । वसुदेवनन्दन महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ोंकी लगाम छोड़कर हाथमें उस चक्रको घुमाते हुए रथसे कूद पड़े और जिस प्रकार सिंह बढ़े हुए घमंडवाले मदान्ध एवं उन्मत्त गजराजको मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर झपटे, उसी प्रकार वे भी अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कँपाते हुए युद्धस्थलमें भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े ॥ ८८-८९ ॥

सोऽभिद्रवन् भीष्ममनीकमध्ये
क्रुद्धो महेन्द्रावरजः प्रमाथी ।
व्यालम्बिपीतान्तपटश्चकाशे
घनो यथा खे तडितावनद्धः ॥ ९० ॥

देवराज इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्ण समस्त शत्रुओंको मथ डालनेकी शक्ति रखते थे । वे उस सेनाके मध्यभागमें कुपित होकर जिस समय भीष्मकी ओर झपटे, उस समय उनके श्याम विग्रहपर लटककर हवाके वेगसे फहराता हुआ पीताम्बरका छोर उन्हें ऐसी शोभा दे रहा था, मानो आकाशमें बिजलीसे आवेष्टित हुआ श्याम मेघ सुशोभित हो रहा हो ॥ ९० ॥

सुदर्शनं चास्य रराज शौरे-
स्तच्चक्रपद्मं सुभुजोरुनालम् ।
यथादिपद्मं तरुणार्कवर्णं
रराज नारायणनाभिजातम् ॥ ९१ ॥

श्रीकृष्णकी सुन्दर भुजारूपी विशाल नालसे सुशोभित वह सुदर्शनचक्र कमलके समान शोभा पा रहा था, मानो भगवान् नारायणके नाभिसे प्रकट हुआ प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिवाला आदिकमल प्रकाशित हो रहा हो ॥ ९१ ॥

तत् कृष्णकोपोदयसूर्यबुद्धं
क्षुरान्ततीक्ष्णाग्रसुजातपत्रम् ।
तस्यैव देहोरुसरःप्ररूढं
रराज नारायणबाहुनालम् ॥ ९२ ॥

श्रीकृष्णके क्रोधरूपी सूर्योदयसे वह कमल विकसित हुआ था । उसके किनारे छूरेके समान तीक्ष्ण थे । वे ही मानो उसके सुन्दर दल थे । भगवान्‌के श्रीविग्रहरूपी महान् सरोवरमें ही वह बढ़ा हुआ था और नारायणस्वरूप श्रीकृष्णकी बाहुरूपी नाल उसकी शोभा बढ़ा रही थी ॥ ९२ ॥

तमात्तचक्रं प्रणदन्तमुच्चैः
क्रुद्धं महेन्द्रावरजं समीक्ष्य ।
सर्वाणि भूतानि भृशं विनेदुः
क्षयं कुरूणामिव चिन्तयित्वा ॥ ९३ ॥

महेन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्ण कुपित हो हाथमें चक्र उठाये बड़े जोरसे गरज रहे थे । उन्हें इस रूपमें देखकर कौरवोंके संहारका विचार करके सभी प्राणी हाहाकार करने लगे ॥ ९३ ॥

स वासुदेवः प्रगृहीतचक्रः
संवर्तयिष्यन्निव सर्वलोकम् ।
अभ्युत्पतल्लँोकगुरुर्बभासे
भूतानि धक्ष्यन्निव धूमकेतुः ॥ ९४ ॥

वे जगद्गुरु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हाथमें चक्र ले मानो सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करनेके लिये उद्यत थे और समस्त प्राणियोंको जलाकर भस्म कर डालनेके लिये उठी हुई प्रलयाग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ९४ ॥

तमाद्रवन्तं प्रगृहीतचक्रं
दृष्ट्वा देवं शान्तनवस्तदानीम् ।
असम्भ्रमं तद् विचकर्ष दोर्भ्यां
महाधनुर्गाण्डिवतुल्यघोषम् ॥ ९५ ॥

भगवान्‌को चक्र लिये अपनी ओर वेगपूर्वक आते देख शान्तनुनन्दन भीष्म उस समय तनिक भी भय अथवा घबराहटका अनुभव न करते हुए दोनों हाथोंसे गाण्डीव धनुषके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने महान् धनुषको खींचने लगे ॥ ९५ ॥

उवाच भीष्मस्तमनन्तपौरुषं
गोविन्दमाजावविमूढचेताः ।

एह्येहि देवेश जगन्निवास
नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे ॥ ९६ ॥
प्रसह्य मां पातय लोकनाथ
रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये ॥ ९७ ॥

उस समय युद्ध स्थलमें भीष्मके चित्तमें तनिक भी मोह नहीं था। वे अनन्त पुरुषार्थशाली भगवान् श्रीकृष्णका आह्वान करते हुए बोले—'आइये, आइये, देवेश्वर! जगन्निवास! आपको नमस्कार है। हाथमें चक्र लिये आये हुए माधव! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ! आज युद्धभूमिमें बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये ॥ ९६-९७ ॥

त्वया हतस्यापि ममाद्य कृष्ण
श्रेयः परस्मिन्निह चैव लोके।
सम्भावितोऽस्म्यन्धकवृष्णिनाथ
लोकैस्त्रिभिर्वीर तवाभियानात्॥ ९८ ॥

'श्रीकृष्ण! आज आपके हाथसे यदि मैं मारा जाऊँगा तो इहलोक और परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा। अन्धक और वृष्णिकुलकी रक्षा करनेवाले वीर! आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकोंमें मेरा गौरव बढ़ गया' ॥ ९८ ॥

रथादवप्लुत्य ततस्त्वरावान्
पार्थोऽप्यनुद्रुत्य यदुप्रवीरम्।
जग्राह पीनोत्तमलम्बबाहुं
बाह्वोर्हरिं व्यायतपीनबाहुः ॥ ९९ ॥

मोटी, लंबी और उत्तम भुजाओंवाले यदुकुलके श्रेष्ठ वीर भगवान् श्रीकृष्णको आगे बढ़ते देख अर्जुन भी बड़ी उतावलीके साथ रथसे कूदकर उनके पीछे दौड़े और निकट जाकर भगवान्‌की दोनों बाहें पकड़ लीं। अर्जुनकी भुजाएँ भी मोटी और विशाल थीं ॥ ९९ ॥

निगृह्यमाणश्च तदाऽऽदिदेवो
भृशं सरोषः किल चात्मयोगी।
आदाय वेगेन जगाम विष्णु-
र्जिष्णुं महावात इवैकवृक्षम् ॥१००॥

आदिदेव आत्मयोगी भगवान् श्रीकृष्ण बहुत रोषमें भरे हुए थे। वे अर्जुनके पकड़नेपर भी रुक न सके। जैसे आँधी किसी वृक्षको खींचे लिये चली जाय, उसी प्रकार वे भगवान् विष्णु अर्जुनको लिये हुए ही बड़े वेगसे आगे बढ़ने लगे ॥

पार्थस्तु विष्टभ्य बलेन पादौ
भीष्मान्तिकं तूर्णमभिद्रवन्तम्।
बलान्निजग्राह हरिं किरीटी
पदेऽथ राजन् दशमे कथञ्चित् ॥१०१॥

राजन्! तब किरीटधारी अर्जुनने भीष्मके निकट बड़े वेगसे जाते हुए श्रीहरिके चरणोंको बलपूर्वक पकड़ लिया और किसी प्रकार दसवें कदमपर पहुँचते-पहुँचते उन्हें रोका॥

अवस्थितं च प्रणिपत्य कृष्णं
प्रीतोऽर्जुनः काञ्चनचित्रमाली।
उवाच कोपं प्रतिसंहरेति
गतिर्भवान् केशव पाण्डवानाम् ॥१०२॥

जब श्रीकृष्ण खड़े हो गये, तब सुवर्णका विचित्र हार पहने हुए अर्जुनने अत्यन्त प्रसन्न हो उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'केशव! आप अपना क्रोध रोकिये। प्रभो! आप ही पाण्डवोंके परम आश्रय हैं ॥ १०२ ॥

न हास्यते कर्म यथाप्रतिज्ञं
पुत्रैः शपे केशव सोदरैश्च।
अन्तं करिष्यामि यथा कुरूणां
त्वयाहमिन्द्रानुज सम्प्रयुक्तः ॥ १०३ ॥

'केशव! अब मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कर्तव्यका पालन करूँगा, उसका त्याग कभी नहीं करूँगा। यह बात मैं अपने पुत्रों और भाइयोंकी शपथ खाकर कहता हूँ। उपेन्द्र! आपकी आज्ञा मिलनेपर मैं समस्त कौरवोंका अन्त कर डालूँगा' ॥ १०३ ॥

ततः प्रतिज्ञां समयं च तस्य
जनार्दनः प्रीतमना निशम्य।
स्थितः प्रिये कौरवसत्तमस्य
रथं सचक्रः पुनरारुरोह ॥१०४॥

अर्जुनकी यह प्रतिज्ञा और कर्तव्य-पालनका यह निश्चय सुनकर भगवान् श्रीकृष्णका मन प्रसन्न हो गया। वे कुरुश्रेष्ठ अर्जुनका प्रिय करनेके लिये उद्यत हो पुनः चक्र लिये रथपर जा बैठे ॥ १०४ ॥

स तानभीषून् पुनराददानः
प्रगृह्य शङ्खं द्विषतां निहन्ता।
निनादयामास ततो दिशश्च
स पाञ्चजन्यस्य रवेण शौरिः ॥१०५॥

शत्रुओंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने पुनः घोड़ोंकी बागडोर सँभाली और पाञ्चजन्य शङ्ख लेकर उसकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित कर दिया ॥ १०५ ॥

व्याविद्धनिष्काङ्गदकुण्डलं तं
रजोविकीर्णाञ्चितपद्मनेत्रम्।
विशुद्धदंष्ट्रं प्रगृहीतशङ्खं
विचुक्रुशुः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीराः ॥१०६॥

उस समय उनके कण्ठका हार, भुजाओंके बाजूबन्द और कानोंके कुण्डल हिलने लगे थे। उनके कमलके समान सुन्दर नेत्रोंपर सेनासे उठी हुई धूल बिखरी थी। उनकी दन्तावली शुद्ध एवं स्वच्छ थी और उन्होंने अपने हाथमें शङ्ख ले रक्खा था। उस अवस्थामें श्रीकृष्णको देखकर कौरवपक्षके प्रमुख वीर कोलाहल कर उठे ॥ १०६ ॥

मृदङ्गभेरीपणवप्रणादा
नेमिस्वना दुन्दुभिनिःस्वनाश्च ।
ससिंहनादाश्च बभूवुरुग्राः
सर्वेष्वनीकेषु ततः कुरूणाम् ॥१०७॥

तत्पश्चात् कौरवोंके सम्पूर्ण सैन्यदलोंमें मृदंग, भेरी, पणव तथा दुन्दुभिकी ध्वनि होने लगी । रथके पहियोंकी घरघराहट सुनायी देने लगी । वे सभी शब्द वीरोंके सिंहनादसे मिलकर अत्यन्त उग्र प्रतीत हो रहे थे ॥ १०७ ॥

गाण्डीवघोषः स्तनयित्नुकल्पो
जगाम पार्थस्य नभो दिशश्च ।
जग्मुश्च बाणा विमलाः प्रसन्नाः
सर्वा दिशः पाण्डवचापमुक्ताः ॥१०८॥

अर्जुनके गाण्डीव धनुषका गम्भीर घोष मेघकी गर्जनाके समान आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल गया तथा उनके धनुषसे छूटे हुए निर्मल एवं स्वच्छ बाण सम्पूर्ण दिशाओंमें बरसने लगे ॥ १०८ ॥

तं कौरवाणामधिपो जवेन
भीष्मेण भूरिश्रवसा च सार्धम् ।
अभ्युद्ययावुद्यतबाणपाणिः
कक्षं दिधक्षन्निव धूमकेतुः ॥१०९॥

उस समय कौरवराज दुर्योधन हाथमें धनुष-बाण लिये बड़े वेगसे अर्जुनके सामने आया, मानो घास-फूँसको जलानेके लिये प्रज्वलित आग बढ़ती चली आ रही हो । भीष्म और भूरिश्रवाने भी दुर्योधनका साथ दिया ॥ १०९ ॥

अथार्जुनाय प्रजिघाय भल्लान्
भूरिश्रवाः सप्त सुवर्णपुङ्खान् ।
दुर्योधनस्तोमरमुग्रवेगं
शल्यो गदां शान्तनवश्च शक्तिम् ॥११०॥

तदनन्तर भूरिश्रवाने सोनेके पंखसे युक्त सात भल्ल अर्जुनपर चलाये । दुर्योधनने भयंकर वेगशाली तोमरका प्रहार किया । शल्यने गदा और शान्तनुनन्दन भीष्मने शक्ति चलायी ॥

स सप्तभिः सप्त शरप्रवेकान्
संवार्य भूरिश्रवसा विसृष्टान् ।
शितेन दुर्योधनबाहुमुक्तं
क्षुरेण तत् तोमरमुन्ममाथ ॥१११॥

अर्जुनने सात बाणोंसे भूरिश्रवाके छोड़े हुए सातों भल्लोंको काटकर तीखे छूरेसे दुर्योधनकी भुजाओंसे मुक्त हुए उस तोमरको भी नष्ट कर दिया ॥ १११ ॥

ततः शुभामापततीं स शक्तिं
विद्युत्प्रभां शान्तनवेन मुक्ताम् ।
गदां च मद्राधिपबाहुमुक्तां
द्वाभ्यां शराभ्यां निचकर्त वीरः॥११२॥

तत्पश्चात् वीर अर्जुनने शान्तनुनन्दन भीष्मकी छोड़ी हुई बिजलीके समान चमकीली और शोभामयी शक्तिको तथा मद्रराज शल्यकी भुजाओंसे मुक्त हुई गदाको भी दो बाणोंसे काट डाला ॥

ततो भुजाभ्यां बलवद् विकृष्य
चित्रं धनुर्गाण्डिवमप्रमेयम् ।
माहेन्द्रमस्त्रं विधिवत् सुघोरं
प्रादुश्चकाराद्भुतमन्तरिक्षे ॥११३॥

तदनन्तर अप्रमेय शक्तिशाली विचित्र गाण्डीव धनुषको दोनों भुजाओंसे बलपूर्वक खींचकर अर्जुनने विधिपूर्वक अत्यन्त भयंकर माहेन्द्र अस्त्रको प्रकट किया । वह अद्भुत अस्त्र अन्तरिक्षमें चमक उठा ॥ ११३ ॥

तेनोत्तमास्त्रेण ततो महात्मा
सर्वाण्यनीकानि महाधनुष्मान् ।
शरौघजालैर्विमलाग्निवर्णै-
र्निवारयामास किरीटमाली ॥११४॥

फिर किरीटधारी महामना महाधनुर्धर अर्जुनने उस उत्तम अस्त्रद्वारा निर्मल एवं अग्निके समान प्रज्वलित बाणोंका जाल-सा बिछाकर कौरवोंके समस्त सैनिकोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ११४ ॥

शिलीमुखाः पार्थधनुःप्रमुक्ता
रथान् ध्वजाग्राणि धनूंषि बाहून् ।
निकृत्य देहान् विविशुः परेषां
नरेन्द्रनागेन्द्रतुरङ्गमाणाम् ॥११५॥

अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए बाण शत्रुओंके रथ, ध्वजाग्र, धनुष और बाहु काटकर नरेशों, गजराजों तथा घोड़ोंके शरीरोंमें घुसने लगे ॥ ११५ ॥

ततो दिशः सोऽनुदिशश्च पार्थः
शरैः सुधारैः समरे वितत्य ।
गाण्डीवशब्देन मनांसि तेषां
किरीटमाली व्यथयांचकार ॥११६॥

तदनन्तर तीखी धारवाले बाणोंसे युद्धस्थलमें सम्पूर्ण दिशाओं और कोणोंको आच्छादित करके किरीटधारी अर्जुनने गाण्डीव धनुषकी टंकारसे कौरवोंके मनमें भारी व्यथा उत्पन्न कर दी ॥

तस्मिंस्तथा घोरतमे प्रवृत्ते
शङ्खस्वना दुन्दुभिनिःस्वनाश्च ।
अन्तर्हिता गाण्डिवनिःस्वनेन
बभूवुरुग्राश्वरथप्रणादाः ॥११७॥

इस प्रकारके उस अत्यन्त भयंकर युद्धमें शङ्ख-ध्वनि, दुन्दुभि-ध्वनि तथा घोड़ों और रथके पहियोंके भयंकर शब्द गाण्डीव धनुषकी टंकारके सामने दब गये ॥ ११७॥

गाण्डीवशब्दं तमथो विदित्वा
विराटराजप्रमुखाः प्रवीराः ।
पाञ्चालराजो द्रुपदश्च वीर-
स्तं देशमाजग्मुरदीनसत्त्वाः ॥११८॥

तब उस गाण्डीवके शब्दको पहचानकर राजा विराट आदि प्रमुख वीर और वीरवर पाञ्चालराज द्रुपद—ये सभी उदारचित्त नरेश उस स्थानपर आ गये ॥ ११८ ॥

सर्वाणि सैन्यानि तु तावकानि
यतो यतो गाण्डिवजः प्रणादः ।
ततस्ततः संनतिमेव जग्मु-
र्न तं प्रतीपोऽभिससार कश्चित् ॥११९॥

जहाँ-जहाँ गाण्डीव धनुषकी टंकार होती, वहाँ-वहाँ आपके सारे सैनिक मस्तक टेक देते थे । कोई भी उनके प्रतिकूल आक्रमण नहीं करता था ॥ ११९ ॥

तस्मिन् सुघोरे नृपसम्प्रहारे
हताः प्रवीराः सरथाश्वसूताः ।
गजाश्च नाराचनिपाततप्ता
महापताकाः शुभरुक्मकक्ष्याः ॥१२०॥
परीतसत्त्वाः सहसा निपेतुः
किरीटिना भिन्नतनुत्रकायाः ।
दृढं हताः पत्रिभिरुग्रवेगैः
पार्थेन भल्लैर्विमलैः शिताग्रैः ॥१२१॥

राजाओंके उस भयानक संग्राममें रथ, घोड़े और सारथिसहित बड़े-बड़े वीर मारे गये । सुन्दर सुनहरे रस्सोंसे कसे हुए, बड़ी-बड़ी पताकाओंवाले हाथी नाराचोंकी मारसे पीड़ित हो शक्ति और चेतना खोकर सहसा धराशायी हो गये । कुन्तीकुमार अर्जुनके भयंकर वेगवाले तीखे एवं पंखयुक्त निर्मल भल्लोंसे गहरी चोट पड़नेपर कवच और शरीर दोनोंके विदीर्ण हो जानेसे कौरव सैनिक सहसा प्राणशून्य होकर गिर जाते थे ॥ १२०-१२१ ॥

निकृत्तयन्त्रा निहतेन्द्रकीला
ध्वजा महान्तो ध्वजिनीमुखेषु ।
पदातिसङ्घाश्च रथाश्च संख्ये
हयाश्च नागाश्च धनंजयेन ॥१२२॥
बाणाहतास्तूर्णमपेतसत्त्वा
विष्टभ्य गात्राणि निपेतुरुर्व्याम् ।
ऐन्द्रेण तेनास्त्रवरेण राजन्
महाहवे भिन्नतनुत्रदेहाः ॥१२३॥

युद्धके मुहानेपर जिनके यन्त्र कट गये और इन्द्रकील नष्ट हो गये थे, ऐसे बड़े-बड़े ध्वज छिन्न-भिन्न होकर गिरने लगे । उस संग्राममें अर्जुनके बाणोंसे घायल पैदलोंके समूह, रथी, घोड़े और हाथी शीघ्र ही सत्त्वशून्य होकर अपने अङ्गोंको पकड़े हुए पृथ्वीपर गिरने लगे । राजन् ! उस महान् ऐन्द्रास्त्रसे समरभूमिमें सभी सैनिकोंके शरीर और कवच छिन्न-भिन्न हो गये ॥ १२२-१२३ ॥

ततः शरौघैर्निशितैः किरीटिना
नृदेहशस्त्रक्षतलोहितोदा ।
नदी सुघोरा नरमेदफेना
प्रवर्तिता तत्र रणाजिरे वै ॥१२४॥

उस समय समराङ्गणमें किरीटधारी अर्जुनने अपने तीखे बाणसमूहोंद्वारा योद्धाओंके शरीरमें लगे हुए आघातसे निकलनेवाले रक्तकी एक भयंकर नदी बहा दी; जिसमें मनुष्योंके मेदे फेनके समान जान पड़ते थे ॥ १२४ ॥

वेगेन सातीव पृथुप्रवाहा
परेतनागाश्वशरीररोधा ।
नरेन्द्रमज्जोच्छ्रितमांसपङ्का
प्रभूतरक्षोगणभूतसेविता ॥१२५॥

वह नदी बड़े वेगसे बह रही थी । उसका प्रवाह पुष्ट था । मरे हुए हाथी, घोड़ोंके शरीर तटोंके समान प्रतीत होते थे । राजाओंके मज्जा और मांस कीचड़के समान थे । बहुत-से राक्षस और भूतगण उसका सेवन करते थे ॥१२५॥

शिरःकपालाकुलकेशशाद्वला
शरीरसङ्घातसहस्रवाहिनी ।
विशीर्णनानाकवचोर्मिसंकुला
नराश्वनागास्थिनिकृत्तशर्करा ॥१२६॥

मुर्दोंकी खोपड़ियोंके केश सेवारका भ्रम उत्पन्न करते थे । सहस्रों शरीर उसमें जल-जन्तुओंके समान बह रहे थे । छिन्न-भिन्न होकर बिखरे हुए कवच लहरोंके समान उसमें सर्वत्र व्याप्त थे । मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंकी कटी हुई हड्डियाँ छोटे-छोटे कंकड़-पत्थरोंका काम दे रही थीं ॥ १२६ ॥

श्वकङ्कशालावृकगृध्रकाकैः
क्रव्यादसङ्घैश्च तरक्षुभिश्च ।
उपेतकूलां ददृशुर्मनुष्याः
क्रूरां महावैतरणीप्रकाशाम् ॥१२७॥

उसके दोनों किनारोंपर कुत्ते, कौवे, भेड़िये, गीध, कंक, तरक्षु* तथा अन्यान्य मांसभक्षी जन्तु निवास करते थे । उस भयानक नदीको लोगोंने महावैतरणीके समान देखा ॥१२७॥

प्रवर्तितामर्जुनबाणसङ्घै-
र्मेदोवसासृक्प्रवहां सुभीमाम् ।
हतप्रवीरां च तथैव दृष्ट्वा
सेनां कुरूणामथ फाल्गुनेन ॥१२८॥

* सेई जन्तु, जिसके वदनमें काँटे होते हैं ।

ते चेदिपाञ्चालकरूषमत्स्याः
पार्थाश्च सर्वे सहिताः प्रणेदुः ।
जयप्रगल्भाः पुरुषप्रवीराः
संत्रासयन्तः कुरुवीरयोधान् ॥१२९॥

अर्जुनके बाणसमूहोंसे उस नदीका प्राकट्य हुआ था । वह चर्बी, मज्जा तथा रक्त बहानेके कारण बड़ी भयंकर जान पड़ती थी । इस प्रकार कौरवसेनाके प्रधान-प्रधान वीर अर्जुनके द्वारा मारे गये । यह देखकर चेदि, पाञ्चाल, करूष और मत्स्यदेशके क्षत्रिय तथा कुन्तीके पुत्र—ये सभी नर-वीर विजय पानेसे निर्भय हो कौरवयोद्धाओंको भयभीत करते हुए एक साथ सिंहनाद करने लगे ॥ १२८-१२९ ॥

हतप्रवीराणि बलानि दृष्ट्वा
किरीटिना शत्रुभयावहेन ।
वित्रास्य सेनां ध्वजिनीपतीनां
सिंहो मृगाणामिव यूथसङ्घान् ॥१३०॥
विनेदतुस्तावतिहर्षयुक्तौ
गाण्डीवधन्वा च जनार्दनश्च ।

शत्रुओंको भय देनेवाले किरीटधारी अर्जुनके द्वारा कौरवसेनाके प्रमुख वीरोंको मारे गये देख पाण्डवपक्षके वीरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई थी । गाण्डीवधारी अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण मृगोंके यूथोंको भयभीत करनेवाले सिंहके समान कौरवसेनापतियोंकी सारी सेनाको संत्रस्त करके अत्यन्त हर्षमें भरकर गर्जना करने लगे ॥ १३०½ ॥

ततो रविं संवृतरश्मिजालं
दृष्ट्वा भृशं शस्त्रपरिक्षताङ्गाः ॥१३१॥
तदैन्द्रमस्त्रं विततं च घोर-
मसह्यमुद्वीक्ष्य युगान्तकल्पम् ।
अथापयानं कुरवः सभीष्माः
सद्रोणदुर्योधनबाह्लिकाश्च ॥१३२॥
चक्रुर्निशां संधिगतां समीक्ष्य
विभावसोर्लोहितरागयुक्ताम् ।

तदनन्तर शस्त्रोंके आघातसे अत्यन्त क्षत-विक्षत अङ्गोंवाले भीष्म, द्रोण, दुर्योधन, बाह्लिक तथा अन्य कौरवयोद्धाओंने सूर्यदेवको अपनी किरणोंको समेटते देख और उस भयंकर ऐन्द्रास्त्रको प्रलयंकर अग्निके समान सर्वत्र व्याप्त एवं असह्य हुआ जानकर सूर्यकी लालीसे युक्त संध्या एवं निशाके आरम्भकालका अवलोकन कर सेनाको युद्धभूमिसे लौटा लिया ॥ १३१-१३२½ ॥

अवाप्य कीर्तिं च यशश्च लोके
विजित्य शत्रूंश्च धनंजयोऽपि ॥१३३॥
ययौ नरेन्द्रैः सह सोदरैश्च
समाप्तकर्मा शिबिरं निशायाम् ।

धनंजय भी शत्रुओंको जीतकर एवं लोकमें सुयश और सुकीर्ति पाकर भाइयों तथा राजाओंके साथ सारा कार्य समाप्त करके निशाके आरम्भमें अपने शिबिरको लौट गये ॥१३३½॥

ततः प्रजज्ञे तुमुलः कुरूणां
निशामुखे घोरतमः प्रणादः ॥१३४॥
रणे रथानामयुतं निहत्य
हता गजाः सप्तशतार्जुनेन ।
प्राच्याश्च सौवीरगणाश्च सर्वे
निपातिताः क्षुद्रकमालवाश्च ॥१३५॥
महत् कृतं कर्म धनंजयेन
कर्तुं यथा नार्हति कश्चिदन्यः ।

उस समय रात्रिके आरम्भमें कौरवोंके दलमें बड़ा भयंकर कोलाहल होने लगा । वे आपसमें कहने लगे—'आज अर्जुनने रणक्षेत्रमें दस हजार रथियोंका विनाश करके सात सौ हाथी मार डाले हैं । प्राच्य, सौवीर, क्षुद्रक और मालव सभी क्षत्रियगणोंको मार गिराया है । धनंजयने जो महान् पराक्रम किया है, उसे दूसरा कोई वीर नहीं कर सकता ॥१३४-१३५½ ॥

श्रुतायुरम्बष्ठपतिश्च राजा
तथैव दुर्मर्षणचित्रसेनौ ॥१३६॥
द्रोणः कृपः सैन्धवबाह्लिकौ च
भूरिश्रवाः शल्यशलौ च राजन् ।
अन्ये च योधाः शतशः समेताः
क्रुद्धेन पार्थेन रणस्य मध्ये ॥१३७॥
स्वबाहुवीर्येण जिताः सभीष्माः
किरीटिना लोकमहारथेन ।

'श्रुतायु, राजा अम्बष्ठपति, दुर्मर्षण, चित्रसेन, द्रोण, कृप, जयद्रथ, बाह्लिक, भूरिश्रवा, शल्य और शल—ये तथा और भी सैकड़ों योद्धा क्रोधमें भरे हुए लोकमहारथी, किरीटधारी कुन्तीकुमार अर्जुनके द्वारा रणभूमिमें अपनी ही भुजाओंके पराक्रमसे भीष्मसहित परास्त किये गये हैं' ॥ १३६-१३७½ ॥

इति ब्रुवन्तः शिबिराणि जग्मुः
सर्वे गणा भारत ये त्वदीयाः ॥१३८॥
उल्कासहस्रैश्च सुसम्प्रदीप्तै-
र्विभ्राजमानैश्च तथा प्रदीपैः ।
किरीटिवित्रासितसर्वयोधा
चक्रे निवेशं ध्वजिनी कुरूणाम् ॥१३९ ॥

भारत ! उपर्युक्त बातें कहते हुए आपके समस्त सैनिक

सहस्रों जलती हुई मशालें तथा प्रकाशमान दीपोंके उजालेमें अपने-अपने शिबिरमें गये। कौरवसेनाके सम्पूर्ण सैनिकोंपर अर्जुनका त्रास छा रहा था। इसी अवस्थामें उस सेनाने रातमें विश्राम किया ॥ १३८-१३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीयदिवसावहारे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तीसरे दिन सेनाके विश्रामके लिये लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १४०½ श्लोक हैं)

षष्टितमोऽध्यायः

चौथे दिन—दोनों सेनाओंका व्यूहनिर्माण तथा भीष्म और अर्जुनका द्वैरथ-युद्ध

संजय उवाच

व्युष्टां निशां भारत भारताना-
मनीकिनीनां प्रमुखे महात्मा।
ययौ सपत्नान् प्रति जातकोपो
वृतः समग्रेण बलेन भीष्मः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब भरतवंशियोंकी सेनाके अग्रभागमें स्थित हुए महामना भीष्म समग्रसेनासे घिरकर शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये चले। उस समय उनके मनमें शत्रुओंके प्रति बड़ा क्रोध था ॥ १ ॥

तं द्रोणदुर्योधनबाह्लिकाश्च
तथैव दुर्मर्षणचित्रसेनौ।
जयद्रथश्चातिबलो बलौघै-
र्नृपास्तथान्ये प्रययुः समन्तात् ॥ २ ॥

उनके साथ चारों ओरसे द्रोण, दुर्योधन, बाह्लिक, दुर्मर्षण, चित्रसेन, अत्यन्त बलवान् जयद्रथ तथा अन्य नरेश विशाल वाहिनीको साथ लिये प्रस्थित हुए ॥ २ ॥

स तैर्महद्भिश्च महारथैश्च
तेजस्विभिर्वीर्यवद्भिश्च राजन्।
रराज राजा स तु राजमुख्यै-
र्वृतः स देवैरिव वज्रपाणिः ॥ ३ ॥

राजन् ! इन महान्, तेजस्वी, पराक्रमी और महारथी नरपतियोंसे घिरा हुआ राजा दुर्योधन देवताओंसहित वज्रपाणि इन्द्रके समान शोभा पा रहा था ॥ ३ ॥

तस्मिन्ननीकप्रमुखे विषक्ता
दोधूयमानाश्च महापताकाः।
सुरक्तपीतासितपाण्डुराभा
महागजस्कन्धगता विरेजुः ॥ ४ ॥

इस सेनाके प्रमुख भागमें बड़े-बड़े गजराजोंके कंधोंपर लगी हुई लाल, पीली, काली और सफेद रंगकी फहराती हुई विशाल पताकाएँ शोभा पा रही थीं ॥ ४ ॥

सा वाहिनी शान्तनवेन गुप्ता
महारथैर्वारणवाजिभिश्च।
बभौ सविद्युत्स्तनयित्नुकल्पा
जलागमे द्यौरिव जातमेघा ॥ ५ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्मसे रक्षित वह विशाल वाहिनी बड़े-बड़े रथों, हाथियों और घोड़ोंसे ऐसी शोभा पा रही थी, मानो वर्षाकालमें मेघोंकी घटासे आच्छादित आकाश बिजली-सहित बादलोंसे सुशोभित हो ॥ ५ ॥

ततो रणायाभिमुखी प्रयाता
प्रत्यर्जुनं शान्तनवाभिगुप्ता।
सेना महोग्रा सहसा कुरूणां
वेगो यथा भीम इवापगायाः ॥ ६ ॥

तदनन्तर नदीके भयानक वेगकी भाँति कौरवोंकी वह अत्यन्त भयंकर सेना शान्तनुनन्दन भीष्मसे सुरक्षित हो रणके लिये अर्जुनकी ओर सहसा चली ॥ ६ ॥

तं व्यालनानाविधगूढसारं
गजाश्वपादातरथौघपक्षम्।
व्यूहं महामेघसमं महात्मा
ददर्श दूरात् कपिराजकेतुः ॥ ७ ॥

महामना कपिध्वज अर्जुनने दूरसे देखा कि कौरवसेना व्याल नामक व्यूहमें आबद्ध होनेके कारण अनेक प्रकारकी दिखायी दे रही है। उसकी शक्ति छिपी हुई है। उसमें हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथियोंके समूह भरे हुए हैं। सेनाका वह व्यूह महान् मेघोंकी घटाके समान जान पड़ता है ॥ ७ ॥

विनिर्ययौ केतुमता रथेन
नरर्षभः श्वेतहयेन वीरः।
वरूथिना सैन्यमुखे महात्मा
वधे धृतः सर्वसपत्नयूनाम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ महामना वीर अर्जुन समस्त शत्रुपक्षीय युवकोंके वधका संकल्प लेकर श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए ध्वज एवं आवरणसे युक्त रथपर आरूढ़ हो शत्रुसेनाके सामने चले ॥

सूपस्करं सोत्तरबन्धुरेषं
यत्तं यदूनामृषभेण संख्ये ।
कपिध्वजं प्रेक्ष्य विषेदुराजौ
सहैव पुत्रैस्तव कौरवेयाः ॥ ९ ॥

जिसमें सब सामग्री सुन्दरतासे सजाकर रक्खी गयी थी, अच्छी तरह बँधी होनेके कारण जिसकी ईषा अत्यन्त मनोहर दिखायी देती है तथा यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण जिसका संचालन करते हैं, उस वानरके चिह्नवाली ध्वजासे युक्त रथको युद्धभूमिमें उपस्थित देख आपके पुत्रोंसहित समस्त कौरव-सैनिक विषादमग्न हो गये ॥ ९ ॥

प्रकर्षता गुप्तमुदायुधेन
किरीटिना लोकमहारथेन ।
तं व्यूहराजं ददृशुस्त्वदीया-
श्चतुश्चतुर्व्यालसहस्रकर्णम् ॥ १० ॥

लोकविख्यात महारथी किरीटधारी अर्जुन अस्त्र-शस्त्र लेकर जिसे सुरक्षितरूपसे अपने साथ ले आ रहे थे और जिसमें चार-चार हजार मतवाले हाथी प्रत्येक दिशामें खड़े किये गये थे, उस व्यूहराजको आपके सैनिकोंने देखा ॥१०॥

यथा हि पूर्वेऽहनि धर्मराज्ञा
व्यूहः कृतः कौरवसत्तमेन ।
तथा न भूतो भुवि मानुषेषु
न दृष्टपूर्वो न च संश्रुतश्च ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने पहले दिन जैसा व्यूह बनाया था, वैसा ही वह भी था। वैसा व्यूह इस भूतलपर मनुष्यों-की सेनाओंमें न तो पहले कभी देखा गया था और न कभी सुना ही गया था ॥ ११ ॥

ततो यथादेशमुपेत्य तस्थुः
पाञ्चालमुख्याः सह चेदिमुख्यैः ।
ततः समादेशसमाहतानि
भेरीसहस्राणि विनेदुराजौ ॥ १२ ॥

तदनन्तर सेनापतिकी आज्ञाके अनुसार यथोचित स्थान-पर पहुँचकर पाञ्चाल और चेदिदेशके प्रमुख वीर खड़े हुए। फिर उस युद्धस्थलमें प्रधानके आदेशानुसार सहस्रों रणभेरियाँ एक साथ बज उठीं ॥ १२ ॥

शङ्खस्वनास्तूर्यरथस्वनाश्च
सर्वेष्वनीकेषु ससिंहनादाः ।
ततः सबाणानि महास्वनानि
विस्फार्यमाणानि धनूंषि वीरैः ॥ १३ ॥

सभी सेनाओंमें शङ्खनाद, तूर्यनाद (वाद्योंकी ध्वनि) तथा वीरोंके सिंहनादसहित रथोंकी घरघराहटके शब्द होने लगे। फिर वीरोंके द्वारा खींचे जानेवाले बाणसहित धनुषके महान् टंकार-शब्द गूँज उठे ॥ १३ ॥

क्षणेन भेरीपणवप्रणादा-
नन्तर्दधुः शङ्खमहास्वनाश्च ।
तच्छङ्खशब्दावृतमन्तरिक्ष-
मुद्धूतभीमाद्भुतरेणुजालम् ॥ १४ ॥

क्षणभरमें भेरी और पणव आदिके शब्दोंको महान् शङ्खनादोंने दबा लिया तथा उस शङ्खध्वनिसे व्याप्त हुए आकाशमें (पृथ्वीसे) उठी हुई धूलोंका भयंकर एवं अद्भुत जाल-सा फैल गया ॥ १४ ॥

महानुभावाश्च ततः प्रकाश-
मालोक्य वीराः सहसाभिपेतुः ।
रथी रथेनाभिहतः ससूतः
पपात साश्वः सरथः सकेतुः ॥ १५ ॥

तदनन्तर महान् प्रभावशाली वीर सूर्यदेवका प्रकाश देखकर सहसा शत्रुमण्डलीपर टूट पड़े। रथी रथीसे भिड़कर सारथि, घोड़े, रथ और ध्वजसहित मरकर गिरने लगा।१५।

गजो गजेनाभिहतः पपात
पदातिना चाभिहतः पदातिः ।
आवर्तमानान्यभिवर्तमानै-
र्घोरीकृतान्यद्भुतदर्शनानि ।
प्रासैश्च खड्गैश्च समाहतानि
सदश्ववृन्दानि सदश्ववृन्दैः ॥ १६ ॥
सुवर्णतारागणभूषितानि
सूर्यप्रभाभानि शरावराणि ।
विदार्यमाणानि परश्वधैश्च
प्रासैश्च खड्गैश्च निपेतुरुर्व्याम् ॥ १७ ॥

हाथी हाथीके आघातसे और पैदल पैदलकी चोटसे धराशायी होने लगे। श्रेष्ठ घोड़ोंके समूहपर उत्तम अश्वोंके समुदाय आक्रमण-प्रत्याक्रमण करते थे। ये सवारोंद्वारा किये हुए खड्ग और प्रासोंके आघातसे घायल होकर भयंकर और अद्भुत दिखायी देते थे। स्वर्णमय तारागणोंके चिह्नोंसे विभूषित सूर्यके समान चमकीले कवच फरसों, तलवारों और प्रासोंकी चोटसे विदीर्ण होकर धरतीपर गिर रहे थे॥ १६-१७॥

गजैर्विषाणैर्वरहस्तरुग्णाः
केचित् ससूता रथिनः प्रपेतुः ।
गजर्षभाश्चापि रथर्षभेण
निपातिता बाणहताः पृथिव्याम् ॥ १८ ॥

दन्तार हाथियोंके दाँतों और सूँड़ोंके आघातसे रथ चूर-चूर हो जानेके कारण कितने ही रथी सारथिसहित धरतीपर गिर पड़ते थे। कितने ही श्रेष्ठ रथियोंने बड़े-बड़े हाथियोंको अपने बाणोंसे मारकर धराशायी कर दिया ॥ १८ ॥

गजौघवेगोद्धतसादितानां
श्रुत्वा विषेदुः सहसा मनुष्याः ।

आर्तस्वनं सादिपदातियूनां
विषाणगात्रावरताडितानाम् ॥ १९ ॥

हाथियोंके वेगसे कुचलकर कितने ही घुड़सवार और पैदल युवक मारे गये। वे उनके दाँतों और नीचेके अङ्गसे कुचलकर हताहत हो रहे थे। सहसा उनकी आर्त चीत्कार सुनकर सभी मनुष्योंको बड़ा खेद होता था ॥ १९ ॥

सम्भ्रान्तनागाश्वरथे मुहूर्ते
महाक्षये सादिपदातियूनाम्।
महारथैः सम्परिवार्यमाणो
ददर्श भीष्मः कपिराजकेतुम् ॥ २० ॥

उस मुहूर्तमें जब कि घुड़सवारों और पैदल युवकोंका विकट संहार हो रहा था तथा हाथी, घोड़े और रथ सभी अत्यन्त घबराहटमें पड़े हुए थे, महारथियोंसे घिरे हुए भीष्मने वानरचिह्नसे युक्त ध्वजवाले अर्जुनको देखा ॥ २० ॥

तं पञ्चतालोच्छ्रिततालकेतुः
सदश्ववेगाद्भुतवीर्ययानः।
महास्त्रबाणाशनिदीप्तिमन्तं
किरीटिनं शान्तनवोऽभ्यधावत् ॥ २१ ॥

भीष्मका ध्वज पाँच तालवृक्षोंसे चिह्नित और ऊँचा था। उनके रथमें अच्छे घोड़े जुते हुए थे, जिनके वेगसे वह रथ अद्भुत शक्तिशाली जान पड़ता था। उसपर आरूढ़ होकर शान्तनुनन्दन भीष्मने किरीटधारी अर्जुनपर धावा किया, जो बाण और अशनि आदि महान् दिव्यास्त्रोंकी दीप्तिसे उद्दीप्त हो रहे थे ॥ २१ ॥

तथैव शक्रप्रतिमप्रभाव-
मिन्द्रात्मजं द्रोणमुखा विसस्रुः।
कृपश्च शल्यश्च विविंशतिश्च
दुर्योधनः सौमदत्तिश्च राजन् ॥ २२ ॥

राजन्! इसी प्रकार इन्द्रतुल्य प्रभावशाली इन्द्रकुमार अर्जुनपर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य, विविंशति, दुर्योधन तथा भूरिश्रवाने भी आक्रमण किया ॥ २२ ॥

ततो रथानां प्रमुखादुपेत्य
सर्वास्त्रवित् काञ्चनचित्रवर्मा।
जवेन शूरोऽभिससार सर्वा-
स्तानर्जुनस्यात्मसुतोऽभिमन्युः ॥ २३ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता, सोनेके विचित्र कवच धारण करनेवाले शूरवीर अर्जुनपुत्र अभिमन्युने एक श्रेष्ठ रथके द्वारा वेगपूर्वक वहाँ पहुँचकर उन समस्त कौरव महारथियोंपर धावा किया ॥ २३ ॥

तेषां महास्त्राणि महारथाना-
मसह्यकर्मा विनिहत्य कार्ष्णिः।
बभौ महामन्त्रहुतार्चिमाली
सदोगतः सन् भगवानिवाग्निः ॥ २४ ॥

अर्जुनकुमारका पराक्रम दूसरोंके लिये असह्य था। वह उन कौरव महारथियोंके बड़े-बड़े अस्त्रोंको नष्ट करके यज्ञमण्डपमें महान् मन्त्रोंद्वारा हविष्यकी आहुति पाकर प्रज्वलित हुई ज्वालामालाओंसे अलंकृत भगवान् अग्निदेवके समान शोभा पाने लगा ॥ २४ ॥

ततः स तूर्णं रुधिरोदफेनां
कृत्वा नदीमाशु रणे रिपूणाम्।
जगाम सौभद्रमतीत्य भीष्मो
महारथं पार्थमदीनसत्त्वः ॥ २५ ॥

तदनन्तर उदार शक्तिशाली भीष्मने रणभूमिमें तुरंत ही शत्रुओंके रक्तरूपी जल एवं फेनसे भरी नदी बहाकर सुभद्राकुमार अभिमन्युको टालकर महारथी अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ २५ ॥

ततः प्रहस्याद्भुतविक्रमेण
गाण्डीवमुक्तेन शिलाशितेन।
विपाठजालेन महास्त्रजालं
विनाशयामास किरीटमाली ॥ २६ ॥

तब किरीटधारी अर्जुनने हँसकर अद्भुत पराक्रम दिखाते हुए गाण्डीव धनुषसे छोड़े और शिलापर रगड़कर तेज किये हुए विपाठ नामक बाणोंके समूहसे शत्रुओंके बड़े-बड़े अस्त्रोंके जालको छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ २६ ॥

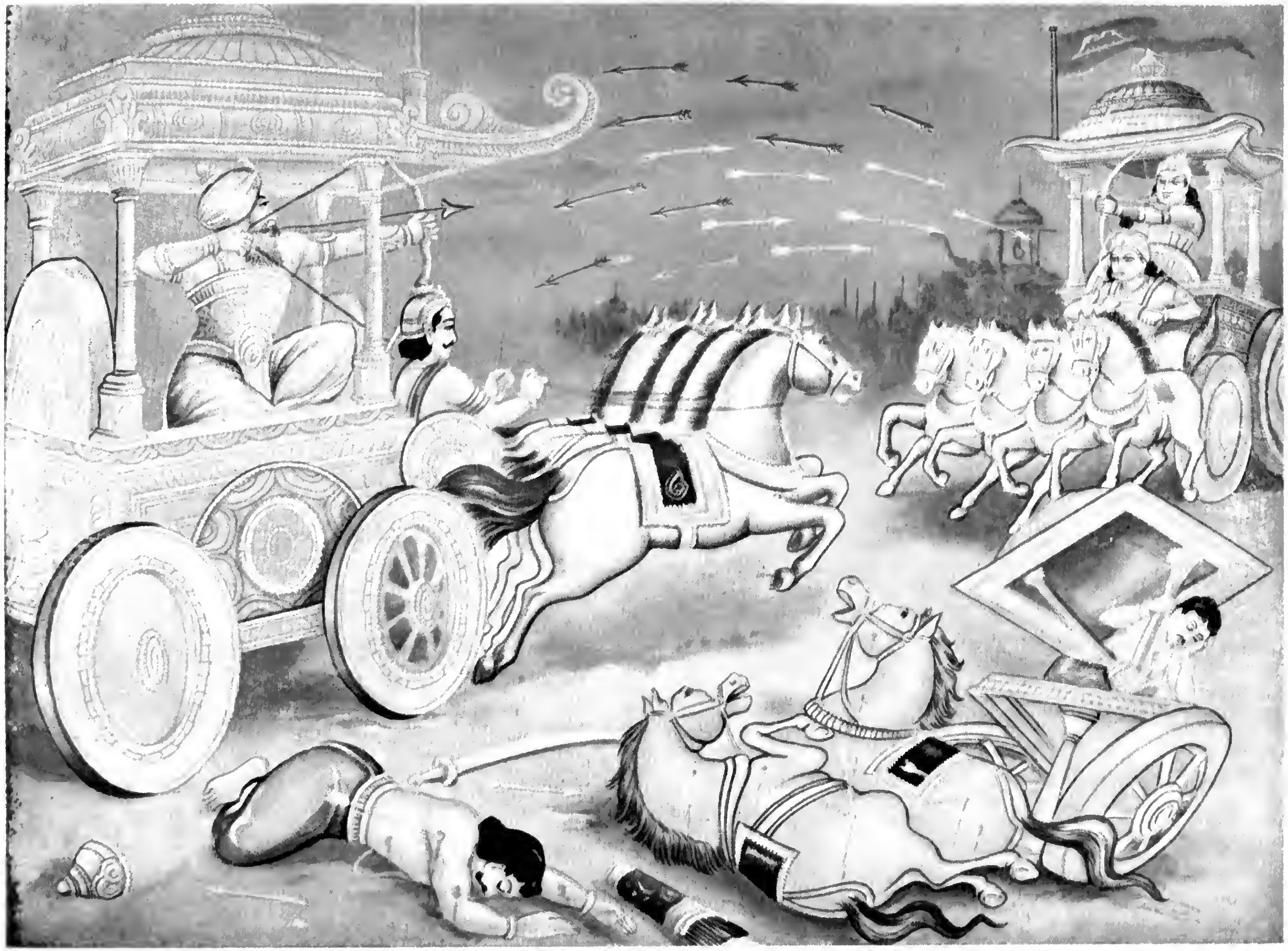
तमुत्तमं सर्वधनुर्धराणा-
मसक्तकर्मा कपिराजकेतुः।
भीष्मं महात्माभिववर्ष तूर्णं
शरौघजालैर्विमलैश्च भल्लैः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् अप्रतिहत पराक्रमवाले महामना कपिध्वज अर्जुनने सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ भीष्मपर तुरंत ही निर्मल भल्लों तथा बाणसमूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २७ ॥

तथैव भीष्माहतमन्तरिक्षे
महास्त्रजालं कपिराजकेतोः।
विशीर्यमाणं ददृशुस्त्वदीया
दिवाकरेणेव तमोऽभिभूतम् ॥ २८ ॥

इसी प्रकार आपके सैनिकोंने देखा कि आकाशमें कपिध्वज अर्जुनके बिछाये हुए महान् अस्त्रजालको भीष्मजीने अपने अस्त्रोंके आघातसे उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया है, जैसे भगवान् सूर्य अन्धकारराशिको नष्ट कर देते हैं ॥ २८ ॥

एवंविधं कार्मुकभीमनाद-
मदीनवत् सत्पुरुषोत्तमाभ्याम्।



भीष्म और अर्जुनका युद्ध

दद‍र्श लोकः कुरुसृंजयाश्च
तद् द्वैरथं भीष्मधनंजयाभ्याम् ॥ २९ ॥

इस तरह सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ भीष्म और अर्जुनमें धनुषोंकी भयंकर टंकारसे युक्त, दैन्यरहित द्वैरथ-युद्ध होने लगा, जिसे कौरव और सृञ्जय वीरों तथा दूसरे लोगोंने भी देखा ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मार्जुनद्वैरथे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और अर्जुनके द्वैरथ-युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

अभिमन्युका पराक्रम और धृष्टद्युम्नद्वारा शलके पुत्रका वध

संजय उवाच

द्रौणिर्भूरिश्रवाः शल्यश्चित्रसेनश्च मारिष ।
पुत्रः सांयमनेश्चैव सौभद्रं पर्यवारयन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—माननीय राजन् ! द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, शल्य, चित्रसेन तथा शलके पुत्रने सुभद्राकुमार अभिमन्युको आगे बढ़नेसे रोका ॥ १ ॥

संसक्तमतितेजोभिस्तमेकं ददृशुर्जनाः ।
पञ्चभिर्मनुजव्याघ्रैर्गजैः सिंहशिशुं यथा ॥ २ ॥

जैसे सिंहका बच्चा पाँच हाथियोंसे भिड़ा हुआ हो, उसी प्रकार सुभद्राकुमार अभिमन्यु उन अत्यन्त तेजस्वी पाँच पुरुषसिंहोंसे अकेला ही युद्ध कर रहा था। यह बात वहाँ सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखी ॥ २ ॥

नातिलक्ष्यतया कश्चिन्न शौर्ये न पराक्रमे ।
बभूव सदृशः कार्ष्णेर्नास्त्रे नापि च लाघवे ॥ ३ ॥

लक्ष्य वेधने, शौर्य प्रकट करने, पराक्रम दिखाने, अस्त्रज्ञान प्रदर्शित करने तथा हाथोंकी फुर्तीमें कोई भी अभिमन्युकी समानता न कर सका ॥ ३ ॥

तथा तमात्मजं युद्धे विक्रमन्तमरिंदमम् ।
दृष्ट्वा पार्थः सुसंयत्तं सिंहनादमथानदत् ॥ ४ ॥

अपने शत्रुसूदन पुत्र अभिमन्युको युद्धमें इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक पराक्रम प्रकट करते देख कुन्तीपुत्र अर्जुनने सिंहके समान गर्जना की ॥ ४ ॥

पीडयानं तु तत् सैन्यं पौत्रं तव विशाम्पते ।
दृष्ट्वा त्वदीया राजेन्द्र समन्तात् पर्यवारयन् ॥ ५ ॥

प्रजानाथ ! राजेन्द्र ! आपके पौत्र अभिमन्युको कौरव-सेनाको पीड़ा देते देख आपके ही सैनिकोंने सब ओरसे घेर लिया ॥ ५ ॥

ध्वजिनीं धार्तराष्ट्राणां दीनशत्रुरदीनवत् ।
प्रत्युद्ययौ स सौभद्रस्तेजसा च बलेन च ॥ ६ ॥

अपने शत्रुओंको दीन बना देनेवाले सुभद्राकुमारने दैन्यरहित होकर अपने तेज और बलसे कौरवसेनापर धावा किया ॥ ६ ॥

तस्य लाघवमार्गस्थमादित्यसदृशप्रभम् ।
व्यदृश्यत महच्चापं समरे युध्यतः परैः ॥ ७ ॥

समरभूमिमें शत्रुओंके साथ युद्ध करते हुए अभिमन्युका विशाल धनुष अस्त्रलाघवके पथपर स्थित हो सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ ७ ॥

स द्रौणिमिषुणैकेन विद्ध्वा शल्यं च पञ्चभिः ।
ध्वजं सांयमनेश्चैव सोऽष्टाभिश्चिच्छिदे ततः ॥ ८ ॥

उसने अश्वत्थामाको एक और शल्यको पाँच बाणोंसे घायल करके शलके ध्वजको आठ बाणोंसे काट डाला ।८।

रुक्मदण्डां महाशक्तिं प्रेषितां सौमदत्तिना ।
शितेनोरगसंकाशां पत्रिणापजहार ताम् ॥ ९ ॥

फिर भूरिश्रवाकी चलायी हुई स्वर्णदण्डविभूषित सर्प-सदृश महाशक्तिको तीखे बाणसे छिन्न-भिन्न कर डाला ॥९॥

शल्यस्य च महावेगानस्यतः समरे शरान् ।
(धनुश्चिच्छेद भल्लेन तीव्रवेगेन फाल्गुनिः ।)
निवार्यार्जुनदायादो जघान चतुरो हयान् ॥ १० ॥

शल्य समरभूमिमें बड़े वेगशाली बाणोंका प्रहार कर रहे थे; किंतु अर्जुनपुत्र अभिमन्युने तीव्र वेगवाले भल्लसे उनके धनुषके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उनकी प्रगतिको रोककर पार्थकुमारने चारों घोड़ोंको मार गिराया ॥ १० ॥

भूरिश्रवाश्च शल्यश्च द्रौणिः सांयमनिः शलः ।
नाभ्यवर्तन्त संरब्धाः कार्ष्णेर्बाहुबलोदयम् ॥ ११ ॥

भूरिश्रवा, शल्य, अश्वत्थामा तथा सांयमनि (सोमदत्त-पुत्र) शल—ये सब लोग अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए थे, तथापि अभिमन्युके बाहुबलकी वृद्धिको रोक न सके ॥ ११ ॥

ततस्त्रिगर्ता राजेन्द्र मद्राश्च सह केकयैः ।
पञ्चविंशतिसाहस्रास्तव पुत्रेण चोदिताः ॥ १२ ॥
धनुर्वेदविदो मुख्या अजेयाः शत्रुभिर्युधि ।
सहपुत्रं जिघांसन्तं परिवव्रुः किरीटिनम् ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! तब आपके पुत्र दुर्योधनसे प्रेरित होकर त्रिगर्तों तथा केकयोंसहित मद्रदेशके पचीस हजार योद्धाओंने शत्रुवधकी इच्छा रखनेवाले पुत्रसहित किरीटधारी अर्जुनको घेर लिया। वे सब-के-सब धनुर्वेदके प्रधान ज्ञाता और युद्ध-स्थलमें शत्रुओंके लिये अजेय थे ॥ १२-१३ ॥

तौ तु तत्र पितापुत्रौ परिक्षिप्तौ महारथौ।
ददर्श राजन् पाञ्चाल्यः सेनापतिररिंदम ॥ १४ ॥
स वारणरथौघानां सहस्रैर्बहुभिर्वृतः।
वाजिभिः पत्तिभिश्चैव वृतः शतसहस्रशः ॥ १५ ॥
धनुर्विस्फार्य संक्रुद्धो नोदयित्वा च वाहिनीम्।
ययौ तं मद्रकानीकं केकयांश्च परंतप ॥ १६ ॥

शत्रुदमन नरेश ! पिता-पुत्र महारथी अर्जुन और अभिमन्युको शत्रुओंद्वारा घिरे हुए देख पाञ्चाल-राजकुमार सेनापति धृष्टद्युम्न कई हजार हाथियों और रथों तथा सैकड़ों-हजारों घुड़सवारों एवं पैदलोंसे घिरकर अपनी विशाल वाहिनीको आगे बढ़ाते तथा क्रोधपूर्वक धनुषकी टंकार करते हुए मद्रों और केकयोंकी सेनापर चढ़ आये ॥ १४–१६ ॥

तेन कीर्तिमता गुप्तमनीकं दृढधन्वना।
संरब्धरथनागाश्वं योत्स्यमानमशोभत ॥ १७ ॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले यशस्वी धृष्टद्युम्नसे सुरक्षित हुई वह सेना युद्धके लिये उद्यत हो बड़ी शोभा पाने लगी, उसके रथी, हाथीसवार और घुड़सवार सभी रोषावेशमें भरे हुए थे ॥ १७ ॥

सोऽर्जुनप्रमुखे यान्तं पाञ्चालकुलवर्धनः।
त्रिभिः शारद्वतं बाणैर्जत्रुदेशे समार्पयत् ॥ १८ ॥

पाञ्चालवंशकी वृद्धि करनेवाले धृष्टद्युम्नने अर्जुनके सामने जाते हुए कृपाचार्यको उनके गलेकी हँसलीपर तीन बाण मारे ॥ १८ ॥

ततः स मद्रकान् हत्वा दशैव दशभिः शरैः।
पृष्ठरक्षं जघानाशु भल्लेन कृतवर्मणः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् दस बाणोंसे मद्रदेशीय दस योद्धाओंको मार-कर तुरंत ही एक भल्लके द्वारा कृतवर्माके पृष्ठरक्षकको मार डाला ॥ १९ ॥

दमनं चापि दायादं पौरवस्य महात्मनः।
जघान विमलाग्रेण नाराचेन परंतपः ॥ २० ॥

इसके बाद शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डवसेनापतिने निर्मल धारवाले नाराचसे महामना पौरवके पुत्र दमनको भी मार डाला ॥ २० ॥

ततः सांयमनेः पुत्रः पाञ्चाल्यं युद्धदुर्मदम्।
अविध्यत् त्रिंशता बाणैर्दशभिश्चास्य सारथिम् ॥ २१ ॥

तब शलके पुत्रने तीस बाणोंसे रणदुर्मद धृष्टद्युम्नको और दस बाणोंद्वारा उनके सारथिको घायल कर दिया ॥ २१ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः सृक्किणी परिसंलिहन्।
भल्लेन भृशतीक्ष्णेन निचकर्तास्य कार्मुकम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार अत्यन्त घायल होकर अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नने अत्यन्त तीखे भल्लसे शलके पुत्रका धनुष काट दिया ॥ २२ ॥

अथैनं पञ्चविंशत्या क्षिप्रमेव समार्पयत्।
अश्वांश्चास्यावधीद् राजन्नुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ॥ २३ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् उन्होंने शीघ्र ही पचीस बाणोंसे शलपुत्रको घायल कर दिया तथा उसके घोड़ों एवं दोनों पृष्ठरक्षकोंको भी मृत्युके मुखमें डाल दिया ॥ २३ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठन् ददर्श भरतर्षभ।
पुत्रः सांयमनेः पुत्रं पाञ्चाल्यस्य महात्मनः ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जिसके घोड़े मार दिये गये थे, उसी रथपर खड़े हुए शलके पुत्रने महामना धृष्टद्युम्नके पुत्रको देखा ॥

स प्रगृह्य महाघोरं निस्त्रिंशवरमायसम्।
पदातिस्तूर्णमागच्छद् रथस्थं पुरुषर्षभः ॥ २५ ॥

तब पुरुषश्रेष्ठ शलपुत्र तुरंत ही एक अत्यन्त भयंकर लोहेकी बनी हुई बड़ी तलवार हाथमें ले पैदल ही रथपर बैठे हुए पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नकी ओर चला ॥ २५ ॥

तं महौघमिवायान्तं खात् पतन्तमिवोरगम्।
भ्रान्तावरणनिस्त्रिंशं कालोत्सृष्टमिवान्तकम् ॥ २६ ॥
दीप्यमानमिवादित्यं मत्तवारणविक्रमम्।
अपश्यन् पाण्डवास्तत्र धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २७ ॥

उस युद्धमें पाण्डवों तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने मतवाले गजराजके समान पराक्रमी और सूर्यके समान दीप्तिमान् शल-पुत्रको आते देखा। वह महान् वेगशाली जलप्रवाह, आकाशसे गिरते हुए सर्प तथा कालकी भेजी हुई मृत्युके समान जान पड़ता था। उसके हाथमें नंगी तलवार थी ॥

तस्य पाञ्चालदायादः प्रतीपमभिधावतः।
शितनिस्त्रिंशहस्तस्य शरावरणधारिणः ॥ २८ ॥
बाणवेगमतीतस्य तथाभ्याशमुपेयुषः।
त्वरन् सेनापतिः क्रुद्धो बिभेद गदया शिरः ॥ २९ ॥

वह विरोधभाव लेकर धावा कर रहा था। उसके हाथमें तीखी तलवार थी। उसने अपने अङ्गोंमें कवच धारण कर रक्खा था। वह बाणके वेगको लाँघकर अत्यन्त निकट आ पहुँचा था। उस दशामें पाञ्चालराजकुमार सेनापति धृष्टद्युम्न-ने तुरंत क्रोधपूर्वक गदासे आघात करके उसके मस्तकको विदीर्ण कर दिया ॥ २८-२९ ॥

तस्य राजन् सनिस्त्रिंशं सुप्रभं च शरावरम्।
हतस्य पततो हस्ताद् वेगेन न्यपतद् भुवि ॥ ३० ॥

राजन्! उसके मारे जानेपर शरीरसे चमकीला कवच और हाथसे तलवार उसके गिरनेके साथ ही वेगपूर्वक पृथ्वीपर गिरी ॥ ३० ॥

तं निहत्य गदाग्रेण स लेभे परमां मुदम्।
पुत्रः पाञ्चालराजस्य महात्मा भीमविक्रमः ॥ ३१ ॥

पाञ्चालराजका भयानक पराक्रमी पुत्र महामना धृष्टद्युम्न गदाके अग्रभागसे शलपुत्रको मारकर अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥

तस्मिन् हते महेष्वासे राजपुत्रे महारथे।
हाहाकारो महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ॥ ३२ ॥

आर्य! उस महाधनुर्धर महारथी राजकुमारके मारे जानेपर आपकी सेनामें महान् हाहाकार मच गया ॥ ३२ ॥

ततः सांयमनिः क्रुद्धो दृष्ट्वा निहतमात्मजम्।
अभिदुद्राव वेगेन पाञ्चाल्यं युद्धदुर्मदम् ॥ ३३ ॥

अपने पुत्रको मारा गया देख संयमनकुमार शलने कुपित होकर रणदुर्मद पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नपर बड़े वेगसे धावा किया ॥ ३३ ॥

तौ तत्र समरे शूरौ समेतौ युद्धदुर्मदौ।
ददृशुः सर्वराजानः कुरवः पाण्डवास्तथा ॥ ३४ ॥

युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले वे दोनों शूरवीर उस समरभूमिमें एक दूसरेसे भिड़ गये। कौरव और पाण्डव दोनों पक्षोंके समस्त भूपाल उनका युद्ध देखने लगे ॥३४॥

ततः सांयमनिः क्रुद्धः पार्षतं परवीरहा।
आजघान त्रिभिर्बाणैस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ ३५ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले शलने जैसे महावत किसी महान् गजराजको अङ्कुशोंसे मारे, उसी प्रकार द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नको क्रोधपूर्वक तीन बाणोंसे घायल किया ॥ ३५ ॥

तथैव पार्षतं शूरं शल्यः समितिशोभनः।
आजघानोरसि क्रुद्धस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार संग्राममें शोभा पानेवाले शल्यने भी क्रुद्ध होकर शूरवीर धृष्टद्युम्नकी छातीपर प्रहार किया। फिर तो वहाँ भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थयुद्धदिवसे सांयमनिपुत्रवधे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिनके युद्धमें शल-पुत्रके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ३६$\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

द्विषष्टितमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न और शल्य आदि दोनों पक्षके वीरोंका युद्ध तथा भीमसेनके द्वारा गजसेनाका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

दैवमेव परं मन्ये पौरुषादपि संजय।
यत् सैन्यं मम पुत्रस्य पाण्डुसैन्येन बाध्यते ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! मैं पुरुषार्थकी अपेक्षा भी दैवको ही प्रधान मानता हूँ, जिससे मेरे पुत्र दुर्योधनकी सेना पाण्डवोंकी सेनासे पीड़ित हो रही है ॥ १ ॥

नित्यं हि मामकांस्तात हतानेव हि शंससि।
अव्यग्रांश्च प्रहृष्टांश्च नित्यं शंससि पाण्डवान् ॥ २ ॥

तात! तुम प्रतिदिन मेरे ही सैनिकोंके मारे जानेकी बात कहते हो और पाण्डवोंको सदा व्यग्रतासे रहित तथा हर्षोल्लाससे परिपूर्ण बताते हो ॥ २ ॥

हीनान् पुरुषकारेण मामकानद्य संजय।
पातितान् पात्यमानांश्च हतानेव च शंससि ॥ ३ ॥

संजय! आजकल मेरे पुत्र और सैनिक पुरुषार्थसे हीन हो रहे हैं और शत्रुओंने उन्हें धराशायी किया एवं मार डाला है। प्रतिदिन वे शत्रुओंके हाथसे मारे ही जा रहे हैं। उनके सम्बन्धमें तुम सदा ऐसे ही समाचार देते हो ॥

युध्यमानान् यथाशक्ति घटमानाञ्जयं प्रति।
पाण्डवा हि जयन्त्येव जीयन्ते चैव मामकाः ॥ ४ ॥

मेरे बेटे विजयके लिये यथाशक्ति चेष्टा करते और लड़ते हैं, तो भी पाण्डव ही विजयी होते और मेरे पुत्रोंकी ही पराजय होती है ॥ ४ ॥

सोऽहं तीव्राणि दुःखानि दुर्योधनकृतानि च।
श्रोष्यामि सततं तात दुःसहानि बहूनि च ॥ ५ ॥

तात! ऐसा जान पड़ता है कि मुझे दुर्योधनके कारण सदा अत्यन्त दुःसह एवं तीव्र दुःखकी ही बहुत-सी बातें सुननी पड़ेंगी ॥ ५ ॥

तमुपायं न पश्यामि जीयेरन् येन पाण्डवाः।
मामका विजयं युद्धे प्राप्नुयुर्येन संजय ॥ ६ ॥

संजय! मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता, जिससे पाण्डव हार जायँ और मेरे पुत्रोंको युद्धमें विजय प्राप्त हो ॥ ६ ॥

संजय उवाच

क्षयं मनुष्यदेहानां गजवाजिरथक्षयम्।
शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा तवैवापनयो महान् ॥ ७ ॥

संजयने कहा—राजन् ! उस युद्धमें मानवशरीरोंका भारी संहार हुआ है। हाथी, घोड़े और रथोंका भी विनाश देखा गया है। वह सब आप स्थिर होकर सुनिये। यह आपके ही महान् अन्यायका फल है ॥ ७ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु शल्येन पीडितो नवभिः शरैः।
पीडयामास संक्रुद्धो मद्राधिपतिमायसैः ॥ ८ ॥

शल्यके बाणोंसे पीड़ित होकर धृष्टद्युम्न अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने लोहेके बने हुए नौ बाणोंसे मद्रराज शल्यको गहरी पीड़ा पहुँचायी ॥ ८ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम पार्षतस्य पराक्रमम्।
न्यवारयत यस्तूर्णं शल्यं समितिशोभनम् ॥ ९ ॥

वहाँ हमलोगोंने धृष्टद्युम्नका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि उन्होंने संग्रामभूमिमें शोभा पानेवाले राजा शल्यको तुरंत ही आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ९ ॥

नान्तरं दृश्यते तत्र तयोश्च रथिनोस्तदा।
मुहूर्तमिव तद् युद्धं तयोः सममिवाभवत् ॥ १० ॥

उस समय उन दोनों महारथियोंमें पराक्रमकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था। दो घड़ीतक दोनोंमें समान-सा युद्ध होता रहा ॥ १० ॥

ततः शल्यो महाराज धृष्टद्युम्नस्य संयुगे।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन पीतेन निशितेन च ॥ ११ ॥

महाराज ! तदनन्तर राजा शल्यने युद्धस्थलमें शाणपर तीक्ष्ण किये हुए पीले रंगके भल्ल नामक बाणसे धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया ॥ ११ ॥

अथैनं शरवर्षेण च्छादयामास संयुगे।
गिरिं जलागमे यद्वज्जलदा जलवृष्टिभिः ॥ १२ ॥

इसके बाद जैसे बादल बरसातमें पर्वतपर जलकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने धृष्टद्युम्नपर रणभूमिमें बाणोंकी वर्षा करके उन्हें सब ओरसे ढक दिया ॥ १२ ॥

अभिमन्युस्ततः क्रुद्धो धृष्टद्युम्ने च पीडिते।
अभिदुद्राव वेगेन मद्रराजरथं प्रति ॥ १३ ॥

तदनन्तर धृष्टद्युम्नके पीड़ित होनेपर क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने मद्रराज शल्यके रथपर बड़े वेगसे आक्रमण किया॥

ततो मद्राधिपरथं कार्ष्णिः प्राप्यातिकोपनः।
आर्तायनिममेयात्मा विव्याध निशितैः शरैः ॥ १४ ॥

मद्रराजके रथके निकट पहुँचकर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न अर्जुनकुमारने अपने पैने बाणोंद्वारा ऋतायनपुत्र राजा शल्यको घायल कर दिया ॥

ततस्तु तावका राजन् परीप्सन्तोऽर्जुनिं रणे।
मद्रराजरथं तूर्णं परिवार्यावतस्थिरे ॥ १५ ॥

राजन् ! तब आपके पुत्र रणभूमिमें अभिमन्युको बन्दी बनानेकी इच्छासे तुरंत वहाँ आये और मद्रराज शल्यके रथको चारों ओरसे घेरकर युद्धके लिये खड़े हो गये ॥१५॥

दुर्योधनो विकर्णश्च दुःशासनविविंशती।
दुर्मर्षणो दुःसहश्च चित्रसेनोऽथ दुर्मुखः ॥ १६ ॥
सत्यव्रतश्च भद्रं ते पुरुमित्रश्च भारत।
एते मद्राधिपरथं पालयन्तः स्थिता रणे ॥ १७ ॥

भारत ! आपका भला हो। दुर्योधन, विकर्ण, दुःशासन, विविंशति, दुर्मर्षण, दुःसह, चित्रसेन, दुर्मुख, सत्यव्रत तथा पुरुमित्र—ये आपके पुत्र मद्रराजके रथकी रक्षा करते हुए युद्धभूमिमें डटे हुए थे ॥ १६-१७ ॥

तान् भीमसेनः संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १८ ॥
धार्तराष्ट्रान् दश रथान् दशैव प्रत्यवारयन्।
नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो विशाम्पते ॥ १९ ॥

आपके इन दस महारथी पुत्रोंको क्रोधमें भरे हुए भीमसेन, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव, पाँचों भाई द्रौपदीकुमार और अभिमन्यु—इन दस ही महारथियोंने रोका। प्रजानाथ ! ये सब लोग नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार कर रहे थे ॥ १८-१९ ॥

अभ्यवर्तन्त संहृष्टाः परस्परवधैषिणः।
ते वै समेयुः संग्रामे राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ २० ॥

राजन् ! ये सब एक दूसरेके वधकी इच्छा रखकर हर्ष और उत्साहके साथ क्षत्रियोंका सामना करते थे। आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप ही इन सब योद्धाओंकी आपसमें भिड़न्त हुई थी ॥ २० ॥

तस्मिन् दशरथे क्रुद्धे वर्तमाने महाभये।
तावकानां परेषां वा प्रेक्षका रथिनोऽभवन् ॥ २१ ॥

जिस समय ये दसों महारथी क्रोधमें भरकर अत्यन्त भयंकर युद्धमें लगे हुए थे, उस समय आपकी और पाण्डवों-की सेनाके दूसरे रथी दर्शक होकर देखते थे ॥ २१ ॥

शस्त्राण्यनेकरूपाणि विसृजन्तो महारथाः।
अन्योन्यमभिनर्दन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ॥ २२ ॥

किंतु आपके और पाण्डवोंके वे महारथी वीर एक दूसरेपर अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए गर्जते और युद्ध करते थे ॥ २२ ॥

ते तदा जातसंरम्भाः सर्वेऽन्योन्यं जिघांसवः।
अन्योन्यमभिमर्दन्तः स्पर्धमानाः परस्परम् ॥ २३ ॥

उस समय उन सबमें क्रोध भरा हुआ था। सभी एक दूसरेके वधकी इच्छा रखते थे। सबमें परस्पर लाग-डाँट थी और सभी सबको कुचलनेकी चेष्टा करते थे ॥ २३ ॥

अन्योन्यस्पर्धया राजञ्ज्ञातयः सङ्गता मिथः ।
महास्त्राणि विमुञ्चन्तः समापेतुरमर्षिणः ॥ २४ ॥

महाराज ! वे सब आपसमें कुटुम्बी—भाई-बन्धु थे, परंतु परस्पर स्पर्धा रखनेके कारण लड़ रहे थे। एक दूसरेके प्रति अमर्षमें भरकर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रहार करते हुए आक्रमण-प्रत्याक्रमण करते थे ॥ २४ ॥

दुर्योधनस्तु संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नं महारणे ।
विव्याध निशितैर्बाणैश्चतुर्भिः समरे द्रुतम् ॥ २५ ॥

दुर्योधनने कुपित होकर उस महासंग्राममें अपने चार तीखे बाणोंद्वारा तुरंत ही धृष्टद्युम्नको बींध दिया ॥ २५ ॥

दुर्मर्षणश्च विंशत्या चित्रसेनश्च पञ्चभिः ।
दुर्मुखो नवभिर्बाणैर्दुःसहश्चापि सप्तभिः ॥ २६ ॥
विविंशतिः पञ्चभिश्च त्रिभिर्दुःशासनस्तथा ।
तान् प्रत्यविध्यद् राजेन्द्र पार्षतः शत्रुतापनः ॥ २७ ॥
एकैकं पञ्चविंशत्या दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

दुर्मर्षणने बीस, चित्रसेनने पाँच, दुर्मुखने नौ, दुःसहने सात, विविंशतिने पाँच तथा दुःशासनने तीन बाणोंसे उन सबको बींध डाला । राजेन्द्र ! तब शत्रुओंको संताप देनेवाले धृष्टद्युम्नने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए दुर्योधन आदिमेंसे प्रत्येकको पचीस-पचीस बाणोंसे घायल किया ॥ २६-२७½ ॥

सत्यव्रतं च समरे पुरुमित्रं च भारत ॥ २८ ॥
अभिमन्युरविध्यत् तु दशभिर्दशभिः शरैः ।

भारत ! अभिमन्युने समरभूमिमें सत्यव्रत और पुरुमित्र-को दस-दस बाणोंसे पीड़ित किया ॥ २८½ ॥

माद्रीपुत्रौ तु समरे मातुलं मातृनन्दनौ ॥ २९ ॥
अविध्येतां शरैस्तीक्ष्णैस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

माताको आनन्दित करनेवाले माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने अपने मामा शल्यको पैने बाणोंसे घायल कर दिया । यह अद्भुत-सी बात हुई ॥ २९½ ॥

ततः शल्यो महाराज स्वस्रीयौ रथिनां वरौ ॥ ३० ॥
शरैर्बहुभिरानर्च्छत् कृतप्रतिकृतैषिणौ ।
छाद्यमानौ ततस्तौ तु माद्रीपुत्रौ न चेलतुः ॥ ३१ ॥

महाराज ! तदनन्तर शल्यने किये हुए प्रहारका बदला चुकानेकी इच्छा रखनेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ अपने दोनों भानजोंको अनेक बाणोंसे पीड़ित किया । उनके बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी नकुल-सहदेव विचलित नहीं हुए ॥ ३०-३१ ॥

अथ दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
विधित्सुः कलहस्यान्तं गदां जग्राह पाण्डवः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर महाबली पाण्डुपुत्र भीमसेनने दुर्योधनको देखकर झगड़ेका अन्त कर डालनेकी इच्छासे गदा उठा ली॥

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
भीमसेनं महाबाहुं पुत्रास्ते प्राद्रवन् भयात् ॥ ३३ ॥

गदा उठाये हुए महाबाहु भीमसेनको एक शिखरसे युक्त कैलास पर्वतके समान उपस्थित देख आपके सभी पुत्र भयके मारे भाग गये ॥ ३३ ॥

दुर्योधनस्तु संक्रुद्धो मागधं समचोदयत् ।
अनीकं दशसाहस्रं कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥ ३४ ॥

तब दुर्योधनने कुपित होकर मगधदेशीय दस हजार हाथियोंकी वेगशाली सेनाको युद्धके लिये प्रेरित किया ॥ ३४ ॥

गजानीकेन सहितस्तेन राजा सुयोधनः ।
मागधं पुरतः कृत्वा भीमसेनं समभ्ययात् ॥ ३५ ॥

उस गजसेनाके साथ मागधको आगे करके दुर्योधन-ने भीमसेनपर आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

आपतन्तं च तं दृष्ट्वा गजानीकं वृकोदरः ।
गदापाणिरवारोहद् रथात् सिंह इवोन्नदन् ॥ ३६ ॥

उस गजसेनाको आते देख भीमसेन हाथमें गदा लेकर सिंहके समान गर्जना करते हुए रथसे उतर पड़े ॥ ३६ ॥

अद्रिसारमयीं गुर्वीं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
अभ्यधावद् गजानीकं व्यादितास्य इवान्तकः ॥ ३७ ॥

लोहेकी उस विशाल एवं भारी गदाको लेकर वे मुँह बाये हुए कालके समान उस गजसेनाकी ओर दौड़े ॥ ३७ ॥

स गजान् गदया निघ्नन् व्यचरत् समरे बली ।
भीमसेनो महाबाहुः सवज्र इव वासवः ॥ ३८ ॥

बलवान् महाबाहु भीमसेन वज्रधारी इन्द्रके समान गदासे हाथियोंका संहार करते हुए समराङ्गणमें विचरने लगे ॥ ३८ ॥

तस्य नादेन महता मनोहृदयकम्पिना ।
व्यत्यचेष्टन्त संहत्य गजा भीमस्य गर्जतः ॥ ३९ ॥

मन और हृदयको कँपा देनेवाली गर्जते हुए भीमसेनकी उस भीषण गर्जनासे सब हाथी एकत्र हो भयके मारे निश्चेष्ट एवं अचेत-से हो गये ॥ ३९ ॥

ततस्तु द्रौपदीपुत्राः सौभद्रश्च महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ४० ॥
पृष्ठं भीमस्य रक्षन्तः शरवर्षेण वारणान् ।
अभ्यवर्षन्त धावन्तो मेघा इव गिरीन् यथा ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् द्रौपदीके पाँचों पुत्र, महारथी अभिमन्यु, नकुल-सहदेव तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न—ये सब लोग भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षा करते हुए हाथियोंपर उसी प्रकार दौड़-दौड़-कर बाणवर्षा करने लगे, जैसे बादल पर्वतोंपर पानीकी बूँदें बरसाते हैं ॥ ४०-४१ ॥

क्षुरैः क्षुरप्रैर्भल्लैश्च पीतैश्चाञ्जलिकैः शितैः ।
व्यहरन्नुत्तमाङ्गानि पाण्डवा गजयोधिनाम् ॥ ४२ ॥

पाण्डव रथी क्षुर, क्षुरप्र, पीले रंगके भल्ल तथा तीखे आञ्जलिक नामक बाणोंद्वारा हाथीसवार योद्धाओंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगे ॥ ४२ ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्च बाहुभिश्च विभूषितैः ।
अश्मवृष्टिरिवाभाति पाणिभिश्च सहाङ्कुशैः ॥ ४३ ॥

उनके शिरों, बाजूबन्दविभूषित भुजाओं और अङ्कुशों-सहित हाथोंके गिरनेसे ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशसे ओले और पत्थरोंकी वर्षा हो रही हो ॥ ४३ ॥

हृतोत्तमाङ्गाः स्कन्धेषु गजानां गजयोधिनः ।
अदृश्यन्ताचलाग्रेषु द्रुमा भग्नशिखा इव ॥ ४४ ॥

मस्तक कट जानेपर भी हाथियोंकी पीठपर टिके हुए गजारोही योद्धाओंके धड़ पर्वतके शिखरोंपर स्थित हुए शिखा-हीन वृक्षोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ४४ ॥

धृष्टद्युम्नहतानन्यानपश्याम महागजान् ।
पततः पात्यमानांश्च पार्षतेन महात्मना ॥ ४५ ॥

हमलोगोंने धृष्टद्युम्नके द्वारा मारे गये बहुत से हाथियों-को देखा, महामना द्रुपदकुमारकी मार खाकर बहुत-से हाथी गिरे और गिराये जा रहे थे ॥ ४५ ॥

मागधोऽथ महीपालो गजमैरावणोपमम् ।
प्रेषयामास समरे सौभद्रस्य रथं प्रति ॥ ४६ ॥

इसी समय मगधदेशीय भूपालने युद्धस्थलमें अभिमन्युके रथकी ओर ऐरावतके समान एक विशाल हाथीको प्रेरित किया॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मागधस्य महागजम् ।
जघानैकेषुणा वीरः सौभद्रः परवीरहा ॥ ४७ ॥

मगधनरेशके उस विशाल गजको आते देख शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले वीर सुभद्राकुमारने उसे एक ही बाणसे मार डाला॥

तस्यावर्जितनागस्य कार्ष्णिः परपुरंजयः ।
राज्ञो रजतपुङ्खेन भल्लेनापाहरच्छिरः ॥ ४८ ॥

फिर शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले अर्जुनपुत्र अभिमन्युने मरनेपर भी हाथीको न छोड़नेवाले मगधराजका मस्तक रजत-मय पंखवाले भल्लके द्वारा काट गिराया ॥ ४८ ॥

विगाह्य तद् गजानीकं भीमसेनोऽपि पाण्डवः ।
व्यचरत् समरे मृद्नन् गजानिन्द्रो गिरीनिव ॥ ४९ ॥

उधर पाण्डुनन्दन भीमसेन भी गजसेनामें घुसकर पर्वतों-को विदीर्ण करनेवाले देवेन्द्रके समान हाथियोंको रौंदते हुए समराङ्गणमें विचरने लगे ॥ ४९ ॥

एकप्रहारनिहतान् भीमसेनेन दन्तिनः ।
अपश्याम रणे तस्मिन् गिरीन् वज्रहतानिव ॥ ५० ॥

महाराज ! उस युद्धस्थलमें हमने वज्रके मारे हुए पर्वतों-की भाँति भीमसेनके एक ही प्रहारसे दन्तार हाथियोंको भी मरते देखा था ॥ ५० ॥



भग्नदन्तान् भग्नकरान् भग्नसक्थांश्च वारणान् ।
भग्नपृष्ठत्रिकानन्यान् निहतान् पर्वतोपमान् ॥ ५१ ॥
नदतः सीदतश्चान्यान् विमुखान् समरे गतान् ।
विद्रुतान् भयसंविग्नांस्तथा विशकृतोऽपरान् ॥ ५२ ॥

किन्हींके दाँत टूट गये, किन्हींकी सूँड कट गयी, कितनों-की जाँघें टूट गयीं, किन्हींकी पीठ टूट गयी और कितने ही पर्वतोंके समान विशालकाय गजराज मारे गये, कुछ चिग्घाड़ रहे थे, कुछ कष्टसे कराह रहे थे, कुछ युद्धभूमिसे विमुख होकर भागने लगे थे और कुछ भयसे व्याकुल होकर मल-मूत्र कर रहे थे । इन सबको मैंने अपनी आँखों देखा था ॥ ५१-५२ ॥

भीमसेनस्य मार्गेषु पतितान् पर्वतोपमान् ।
अपश्यं निहतान् नागान् राजन् निष्टीवतोऽपरान् ॥ ५३ ॥

भीमसेनके मार्गोंमें उनके द्वारा मारे गये पर्वतोपम हाथी पड़े दिखायी दिये । राजन् ! अन्य बहुत-से हाथियोंको मैंने मुँहसे फेन फेंकते देखा था ॥ ५३ ॥

वमन्तो रुधिरं चान्ये भिन्नकुम्भा महागजाः ।
विह्वलन्तो गता भूमिं शैला इव धरातले ॥ ५४ ॥

कितने ही विशालकाय हाथी खून उगल रहे थे और उनके कुम्भस्थल फट गये थे । बहुत से व्याकुल होकर इस भूतलपर पर्वतोंके समान पड़े थे ॥ ५४ ॥

मेदोरुधिरदिग्धाङ्गो वसामज्जासमुक्षितः ।
व्यचरत् समरे भीमो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ५५ ॥

भीमसेनका सारा शरीर मेदा तथा रक्तसे लिप्त हो रहा था । वे वसा और मज्जासे नहा गये थे और हाथमें गदा लिये दण्डपाणि यमराजके समान उस युद्धभूमिमें विचर रहे थे ॥ ५५ ॥

गजानां रुधिरक्लिन्नां गदां बिभ्रद् वृकोदरः ।
घोरः प्रतिभयश्चासीत् पिनाकीव पिनाकधृक् ॥ ५६ ॥

हाथियोंके खूनसे भीगी हुई गदा धारण किये भीमसेन पिनाकधारी भगवान् रुद्रके समान घोर एवं भयंकर दिखायी देते थे ॥ ५६ ॥

सम्मथ्यमानाः क्रुद्धेन भीमसेनेन दन्तिनः ।
सहसा प्राद्रवन् क्लिष्टा मृद्नन्तस्तव वाहिनीम् ॥ ५७ ॥

क्रोधमें भरे हुए भीमसेन हाथियोंको मथे डालते थे; अतः वे उनके द्वारा अत्यन्त क्लेश पाकर आपकी सेनाको कुचलते हुए सहसा युद्धस्थलसे भाग चले ॥ ५७ ॥

तं हि वीरं महेष्वासं सौभद्रप्रमुखा रथाः ।
पर्यरक्षन्त युध्यन्तं वज्रायुधमिवामराः ॥ ५८ ॥

जैसे देवता वज्रधारी इन्द्रकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सुभद्राकुमार आदि पाण्डव योद्धा युद्धमें तत्पर हुए महाधनुर्धर वीर भीमसेनकी सब ओरसे रक्षा करते थे ॥५८॥

शोणिताक्तां गदां बिभ्रदुक्षितां गजशोणितैः ।
कृतान्त इव रौद्रात्मा भीमसेनो व्यदृश्यत ॥ ५९ ॥

खूनमें सनी तथा हाथियोंके रक्तसे भीगी हुई गदा लिये रौद्ररूपधारी भीमसेन यमराजके समान दिखायी देते थे॥

व्यायच्छमानं गदया दिक्षु सर्वासु भारत ।
अपश्याम रणे भीमं नृत्यन्तमिव शंकरम् ॥ ६० ॥

भारत ! भीमसेन गदा लेकर सम्पूर्ण दिशाओंमें व्यायाम-सा कर रहे थे । समरभूमिमें भीमको हमलोगोंने ताण्डव-नृत्य करते हुए भगवान् शङ्करके समान देखा था ॥ ६० ॥

यमदण्डोपमां गुर्वीमिन्द्राशनिसमस्वनाम् ।
अपश्याम महाराज रौद्रां विशसनीं गदाम् ॥ ६१ ॥

महाराज ! भीमसेनकी भारी और भयंकर गदा सबका संहार करनेवाली है । हमें तो वह यमदण्डके समान दिखायी देती थी । प्रहार करनेपर उससे इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान आवाज होती थी ॥ ६१ ॥

विमिश्रां केशमज्जाभिः प्रदिग्धां रुधिरेण च ।
पिनाकमिव रुद्रस्य क्रुद्धस्याभिघ्नतः पशून् ॥ ६२ ॥

रक्तसे भीगी तथा केश और मज्जासे मिली हुई उस गदाको हमने प्रलयकालमें क्रोधसे भरकर समस्त पशुओं (जीवों) का संहार करनेवाले रुद्रदेवके पिनाकके समान समझा था ॥ ६२ ॥

यथा पशूनां संघातं यष्ट्या पालः प्रकालयेत् ।
तथा भीमो गजानीकं गदया समकालयत् ॥ ६३ ॥

जैसे चरवाहा पशुओंके झुंडको डंडेसे हाँकता है, उसी प्रकार भीमसेन हाथियोंके समूहको अपनी गदासे हाँक रहे थे॥

गदया वध्यमानास्ते मार्गणैश्च समन्ततः ।
स्वान्यनीकानि मृद्नन्तः प्राद्रवन् कुञ्जरास्तव ॥ ६४ ॥

महाराज ! चारों ओरसे गदा और बाणोंकी मार पड़नेपर आपकी सेनाके वे समस्त हाथी अपने ही सैनिकोंको कुचलते हुए भाग रहे थे ॥ ६४ ॥

महावात इवाभ्राणि विधमित्वा स वारणान् ।
अतिष्ठत् तुमुले भीमः श्मशान इव शूलभृत् ॥ ६५ ॥

जैसे आँधी बादलोंको छिन्न-भिन्न करके उड़ा देती है, उसी प्रकार भीमसेन उस भयंकर युद्धमें हाथियोंकी सेनाको नष्ट करके श्मशानभूमिमें त्रिशूलधारी भगवान् शंकरके समान खड़े थे ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थदिवसे भीमयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिन भीमसेनका युद्धविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६२॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

युद्धस्थलमें प्रचण्ड पराक्रमकारी भीमसेनका भीष्मके साथ युद्ध तथा सात्यकि और भूरिश्रवाकी मुठभेड़

संजय उवाच

हते तस्मिन् गजानीके पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
भीमसेनं घ्नतेत्येवं सर्वसैन्यान्यचोदयत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! हाथियोंकी उस सेनाके मारे जानेपर आपके पुत्र दुर्योधनने समस्त सैनिकोंको आज्ञा दी कि सब मिलकर भीमसेनको मार डालो ॥ १ ॥

ततः सर्वाण्यनीकानि तव पुत्रस्य शासनात् ।
अभ्यद्रवन् भीमसेनं नदन्तं भैरवान् रवान् ॥ २ ॥

तदनन्तर आपके पुत्रकी आज्ञासे समस्त सेनाएँ भैरव गर्जना करती हुई भीमसेनपर टूट पड़ीं ॥ २ ॥

तं बलौघमपर्यन्तं देवैरपि सुदुःसहम् ।
आपतन्तं सुदुष्पारं समुद्रमिव पर्वणि ॥ ३ ॥

सेनाका वह अनन्त वेग देवताओंके लिये भी दुःसह था । पूर्णिमाको बढ़े हुए समुद्रके समान अपार जान पड़ता था॥

रथनागाश्वकलिलं शङ्खदुन्दुभिनादितम् ।
अनन्तरथपादातं रजसा सर्वतो वृतम् ॥ ४ ॥

वह सैन्य-समुद्र रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरा हुआ था । शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे कोलाहलपूर्ण हो रहा था ।

उसमें रथ और पैदलोंकी संख्या नहीं बतायी जा सकती थी तथा उस सेनामें सब ओर धूल व्याप्त हो रही थी ॥ ४ ॥

तं भीमसेनः समरे महोदधिमिवापरम् ।
सेनासागरमक्षोभ्यं वेलेव समवारयत् ॥ ५ ॥

दूसरे महासागरके समान उस अक्षोभ्य सैन्य-समुद्रको युद्धमें भीमसेनने तटप्रदेशकी भाँति रोक दिया ॥ ५ ॥

तदाश्चर्यमपश्याम पाण्डवस्य महात्मनः ।
भीमसेनस्य समरे राजन् कर्मातिमानुषम् ॥ ६ ॥

राजन् ! उस समय संग्राम-भूमिमें हमलोगोंने महामना पाण्डुनन्दन भीमसेनका अत्यन्त आश्चर्यमय अतिमानुष कर्म देखा था ॥ ६ ॥

उदीर्णान् पार्थिवान् सर्वान् साश्वान् सरथकुञ्जरान् ।
असम्भ्रमं भीमसेनो गदया समवारयत् ॥ ७ ॥

घोड़े, हाथी तथा रथसहित जितने भी भूपाल वहाँ आगे बढ़ रहे थे, उन सबको केवल गदाकी सहायतासे भीमसेनने बिना किसी घबराहटके रोक दिया ॥ ७ ॥

स संवार्य बलौघांस्तान् गदया रथिनां वरः ।
अतिष्ठत् तुमुले भीमो गिरिर्मेरुरिवाचलः ॥ ८ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन उस सारे सैन्यसमूहको गदाद्वारा रोककर उस भयंकर युद्धमें मेरु पर्वतके समान अविचल-भावसे खड़े रहे ॥ ८ ॥

तस्मिन् सुतुमुले घोरे काले परमदारुणे ।
भ्रातरश्चैव पुत्राश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ९ ॥
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च शिखण्डी चापराजितः ।
न प्राजहन् भीमसेनं भये जाते महाबलम् ॥ १० ॥

उस महान् भयंकर तथा अत्यन्त दारुण भयके समय महाबली भीमसेनको उनके भाई, पुत्र, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, अभिमन्यु और अपराजित वीर शिखण्डी—ये कोई भी छोड़कर नहीं गये ॥ ९-१० ॥

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
अधावत् तावकान् योधान् दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् पूर्णतः फौलादकी बनी हुई विशाल एवं भारी गदा हाथमें लेकर भीमसेन दण्डपाणि यमराजकी भाँति आपके सैनिकोंपर टूट पड़े ॥ ११ ॥

पोथयन् रथवृन्दानि वाजिवृन्दानि चाभिभूः ।
कर्षयन् रथवृन्दानि बाहुवेगेन पाण्डवः ॥ १२ ॥
विनिघ्नन् व्यचरत् संख्ये युगान्ते कालवद् विभुः ।

फिर वे प्रभावशाली बलवान् पाण्डुनन्दन रथियों और घोड़ोंके समूहको नष्ट करके अपनी भुजाओंके वेगसे रथोंके समुदायको खींचते और नष्ट करते हुए प्रलयकालके यमराजकी भाँति संग्रामभूमिमें विचरने लगे ॥ १२½ ॥

ऊरुवेगेन संकर्षन् रथजालानि पाण्डवः ॥ १३ ॥
बलानि सम्ममर्दाशु नड्वलानीव कुञ्जरः ।

पाण्डुनन्दन भीम अपने महान् वेगसे रथसमूहोंको खींचकर नष्ट कर देते और शीघ्र ही सारी सेनाको उसी प्रकार रौंद डालते थे, जैसे हाथी नरकुलके पौधोंको ॥ १३½ ॥

मृद्नन् रथेभ्यो रथिनो गजेभ्यो गजयोधिनः ॥ १४ ॥
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातिनः ।
गदया व्यधमत् सर्वान् वातो वृक्षानिवौजसा ॥ १५ ॥
भीमसेनो महाबाहुस्तव पुत्रस्य वै बले ।

महाबाहु भीमसेन रथोंसे रथियोंको, हाथियोंसे हाथीसवारों-को, घोड़ोंकी पीठोंसे घुड़सवारोंको और पृथ्वीपर पैदलोंको मसलते हुए गदासे आपके पुत्रकी सेनाके सब लोगोंको उसी प्रकार नष्ट कर देते थे, जैसे हवा अपने वेगसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है ॥ १४-१५½ ॥

सापि मज्जावसामांसैः प्रदिग्धा रुधिरेण च ॥ १६ ॥
अदृश्यत महारौद्रा गदा नागाश्वपातनी ।

हाथियों और घोड़ोंको मार गिरानेवाली उनकी वह गदा भी मज्जा, वसा, मांस तथा रक्तमें सनकर बड़ी भयानक दिखायी देती थी ॥ १६½ ॥

तत्र तत्र हतैश्चापि मनुष्यगजवाजिभिः ॥ १७ ॥
रणाङ्गणं समभवन्मृत्योरावाससंनिभम् ।

जहाँ-तहाँ मरकर गिरे हुए मनुष्य, हाथी और घोड़ोंसे वह सारी रणभूमि मृत्युके निवासस्थान-सी प्रतीत होती थी ॥

पिनाकमिव रुद्रस्य क्रुद्धस्याभिघ्नतः पशून् ॥ १८ ॥
यमदण्डोपमामुग्रामिन्द्राशनिसमस्वनाम् ।
ददृशुर्भीमसेनस्य रौद्रीं विशसनीं गदाम् ॥ १९ ॥

भीमसेनकी उस संहारकारिणी भयंकर गदाको लोगोंने प्रलयकालमें पशुओं (जीवों) का संहार करनेवाले रुद्रके पिनाक और यमदण्डके समान भयंकर देखा । उसकी आवाज इन्द्रके वज्रके समान थी ॥ १८-१९ ॥

आविद्ध्यतो गदां तस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
बभौ रूपं महाघोरं कालस्येव युगक्षये ॥ २० ॥

अपनी गदाको घुमाते हुए महामना कुन्तीकुमार भीम-सेनका रूप युगान्त-कालके यमराजके समान अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था ॥ २० ॥

तं तथा महतीं सेनां द्रावयन्तं पुनः पुनः ।
दृष्ट्वा मृत्युमिवायान्तं सर्वे विमनसोऽभवन् ॥ २१ ॥

उस विशाल सेनाको बारंबार भगानेवाले भीमसेनको मौतके समान सामने आते देख समस्त योद्धाओंका मन

उदास हो जाता था ॥ २१ ॥

यतो यतः प्रेक्षते स गदामुद्यम्य पाण्डवः ।
तेन तेन स दीर्यन्ते सर्वसैन्यानि भारत ॥ २२ ॥

भारत ! भीमसेन गदा उठाकर जिस-जिस ओर देखते थे, उधर-उधरसे सारी सेनाओंमें दरार पड़ जाती थी। (वहाँके सैनिक भागकर स्थान खाली कर देते थे) ॥ २२ ॥

प्रदारयन्तं सैन्यानि बलेनामितविक्रमम् ।
ग्रसमानमनीकानि व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥ २३ ॥
तं तथा भीमकर्माणं प्रगृहीतमहागदम् ।
दृष्ट्वा वृकोदरं भीष्मः सहसैव समभ्ययात् ॥ २४ ॥

अपने बलसे सेनाको विदीर्ण करनेवाले भीमसेन सम्पूर्ण सैनिकोंको अपना ग्रास बनानेके लिये मुँह बाये हुए कालके समान जान पड़ते थे । उस समय बड़ी भारी गदा उठाये हुए भयंकर पराक्रमी भीमसेनको देखकर भीष्मजी सहसा वहाँ पहुँचे ॥२३-२४॥

महता रथघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
छादयञ्शरवर्षेण पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ २५ ॥

वे सूर्यके समान तेजस्वी तथा पहियोंके गम्भीर घोषसे युक्त विशाल रथपर आरूढ़ हो बरसते हुए मेघके समान बाणोंकी वर्षासे सबको आच्छादित करते हुए वहाँ आये थे ॥

तमायान्तं तथा दृष्ट्वा व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
भीष्मं भीमो महाबाहुः प्रत्युदीयादमर्षितः ॥ २६ ॥

मुँह फैलाये हुए यमराजके समान भीष्मजीको आते देख महाबाहु भीमसेन अमर्षमें भरकर उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ २६ ॥

तस्मिन् क्षणे सात्यकिः सत्यसंधः
शिनिप्रवीरोऽभ्यपतत् पितामहम् ।
निघ्नन्नमित्रान् धनुषा दृढेन
संकम्पयंस्तव पुत्रस्य सैन्यम् ॥२७॥

उस समय शिनिवंशके प्रमुख वीर सत्यप्रतिज्ञ सात्यकि अपने सुदृढ़ धनुषसे शत्रुओंका संहार करते और आपके पुत्रकी सेनाको कँपाते हुए पितामह भीष्मपर चढ़ आये।२७।

तं यान्तमश्वै रजतप्रकाशैः
शरान् वपन्तं निशितान् सुपुङ्खान् ।
नाशक्नुवन् धारयितुं तदानीं
सर्वे गणा भारत ये त्वदीयाः ॥२८॥

भारत ! चाँदीके समान श्वेत घोड़ोंद्वारा जाते और सुन्दर पंखयुक्त तीखे बाणोंकी वर्षा करते हुए सात्यकिको उस समय आपके समस्त सैनिकगण रोक न सके ॥ २८ ॥

अविध्यदेनं दशभिः पृषत्कै-
रलम्बुषो राक्षसोऽसौ तदानीम् ।
शरैश्चतुर्भिः प्रतिविद्ध्य तं च
नप्ता शिनेरभ्यपतद् रथेन ॥२९॥

केवल अलम्बुष नामक राक्षसने उस समय उन्हें दस बाणोंसे घायल किया । तब शिनिके पौत्रने भी उस राक्षसको चार बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया और रथके द्वारा भीष्मपर धावा किया ॥ २९ ॥

अन्वागतं वृष्णिवरं निशम्य
तं शत्रुमध्ये परिवर्तमानम् ।
प्रद्रावयन्तं कुरुपुङ्गवांश्च
पुनः पुनश्च प्रणदन्तमाजौ ॥३०॥
योधास्त्वदीयाः शरवर्षैरवर्षन्
मेघा यथा भूधरमम्बुवेगैः ।
तथापि तं धारयितुं न शेकु-
र्मध्यन्दिने सूर्यमिवातपन्तम् ॥३१॥

वृष्णिवंशके श्रेष्ठ पुरुष सात्यकि आकर शत्रुओंके बीचमें विचर रहे हैं और युद्धस्थलमें कौरवसेनाके मुख्य-मुख्य वीरोंको भगाते हुए बारंबार गर्जना कर रहे हैं; यह सुनकर आपके योद्धा उनपर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराते हैं, इतनेपर भी वे दोपहरके तपते हुए सूर्यकी भाँति उन्हें रोक न सके ।३०-३१।

न तत्र कश्चिन्नविषण्ण आसी-
दृते राजन् सोमदत्तस्य पुत्रात् ।
स वै समादाय धनुर्महात्मा
भूरिश्रवा भारत सौमदत्तिः ॥३२॥
दृष्ट्वा रथान् स्वान् व्यपनीयमानान्
प्रत्युद्ययौ सात्यकिं योद्धुमिच्छन् ॥३३॥

राजन् ! उस समय वहाँ सोमदत्त-पुत्र भूरिश्रवाको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा योद्धा नहीं था, जो विषादग्रस्त न हुआ हो । भारत ! सोमदत्तकुमार महामना भूरिश्रवाने अपने रथियोंको विवश होकर भागते देख धनुष ले युद्ध करनेकी इच्छासे सात्यकिपर चढ़ाई की ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सात्यकिभूरिश्रवःसमागमे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सात्यकि-भूरिश्रवा-समागमविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेन और घटोत्कचका पराक्रम, कौरवोंकी पराजय तथा चौथे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

ततो भूरिश्रवा राजन् सात्यकिं नवभिः शरैः।
प्राविध्यद् भृशसंक्रुद्धस्तोत्त्रैरिव महाद्विपम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तब भूरिश्रवाने अत्यन्त क्रुद्ध होकर सात्यकिको नौ बाणोंसे उसी प्रकार बींध डाला, जैसे महान् गजराजको अङ्कुशोंद्वारा पीड़ित किया जाता है ॥

कौरवं सात्यकिश्चैव शरैः संनतपर्वभिः।
अवारयदमेयात्मा सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ २ ॥

तब अमेय आत्मबलसम्पन्न सात्यकिने भी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे सब लोगोंके देखते-देखते कुरुवंशी भूरिश्रवाको रोक दिया ॥ २ ॥

ततो दुर्योधनो राजा सोदर्यैः परिवारितः।
सौमदत्तिं रणे यत्तः समन्तात् पर्यवारयत् ॥ ३ ॥

यह देख भाइयोंसहित राजा दुर्योधनने युद्धके लिये उद्यत होकर भूरिश्रवाको चारों ओरसे घेरकर उसकी रक्षामें तत्पर हो गये ॥ ३ ॥

तं चैव पाण्डवाः सर्वे सात्यकिं रभसं रणे।
परिवार्य स्थिताः संख्ये समन्तात् सुमहौजसः ॥ ४ ॥

उधर महान् तेजस्वी समस्त पाण्डव भी युद्धमें वेगपूर्वक आगे बढ़नेवाले सात्यकिको सब ओरसे घेरकर समरभूमिमें डट गये ॥ ४ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धो गदामुद्यम्य भारत।
दुर्योधनमुखान् सर्वान् पुत्रांस्ते पर्यवारयत् ॥ ५ ॥

भारत! क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने गदा उठाकर आपके दुर्योधन आदि सब पुत्रोंको अकेले ही रोक दिया ॥

रथैरनेकसाहस्रैः क्रोधामर्षसमन्वितः।
नन्दकस्तव पुत्रस्तु भीमसेनं महाबलम् ॥ ६ ॥
विव्याध विशिखैः षड्भिः कङ्कपत्रैः शिलाशितैः।

तब क्रोध और अमर्षमें भरे हुए आपके पुत्र नन्दकने कई हजार रथियोंके साथ आकर शिलापर तेज किये हुए कंकपत्रयुक्त छः बाणोंसे महाबली भीमसेनको बींध डाला।६½।

दुर्योधनश्च समरे भीमसेनं महारथम् ॥ ७ ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो मार्गणैर्नवभिः शितैः।

कुपित हुए दुर्योधनने भी महारथी भीमसेनको उस युद्धमें उनकी छातीको लक्ष्य करके नौ तीखे बाण मारे।७½।

ततो भीमो महाबाहुः स्वरथं सुमहाबलः ॥ ८ ॥
आरुरोह रथश्रेष्ठं विशोकं चेदमब्रवीत्।

तब महाबली महाबाहु भीमसेन अपने श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो गये और सारथि विशोकसे इस प्रकार बोले—।८½।

एते महारथाः शूरा धार्तराष्ट्राः समागताः ॥ ९ ॥
मामेव भृशसंक्रुद्धा हन्तुमभ्युद्यता युधि।

'ये महारथी शूरवीर धृतराष्ट्रपुत्र अत्यन्त कुपित हो युद्धमें मुझे ही मारनेके लिये उद्यत हो यहाँ आये हैं ॥ ९½ ॥

मनोरथद्रुमोऽस्माकं चिन्तितो बहुवार्षिकः ॥ १० ॥
सफलः सूत चाद्येह योऽहं पश्यामि सोदरान्।

'सूत! मेरे मनमें बहुत वर्षोंसे जिसका चिन्तन हो रहा था, वह मनोरथरूपी वृक्ष आज सफल होना चाहता है; क्योंकि इस समय यहाँ मैं दुर्योधनके भाइयोंको एकत्र देख रहा हूँ ॥ १०½ ॥

यत्राशोक समुत्क्षिप्ता रेणवो रथनेमिभिः ॥ ११ ॥
प्रयास्यन्त्यन्तरिक्षं हि शरवृन्दैर्दिगन्तरे।
तत्र तिष्ठति संनद्धः स्वयं राजा सुयोधनः ॥ १२ ॥

'विशोक! जहाँ रथके पहियोंसे ऊपर उड़ी हुई धूल बाणसमूहोंके साथ अन्तरिक्ष और दिगन्तमें फैल रही है, वहीं स्वयं राजा दुर्योधन कवच आदिसे सुसज्जित होकर युद्धके लिये खड़ा है ॥ ११-१२ ॥

भ्रातरश्चास्य संनद्धाः कुलपुत्रा मदोत्कटाः।
एतानद्य हनिष्यामि पश्यतस्ते न संशयः ॥ १३ ॥
तस्मान्ममाश्वान् संग्रामे यत्तः संयच्छ सारथे।

'उसके कुलीन और मदोन्मत्त भाई भी वहीं कवच बाँधकर खड़े हैं। आज तुम्हारे देखते-देखते मैं इन सबका विनाश करूँगा, इसमें संशय नहीं है। अतः सारथे! तुम सावधान होकर संग्राममें मेरे घोड़ोंको काबूमें रक्खो'।१३½।

एवमुक्त्वा ततः पार्थस्तव पुत्रं विशाम्पते ॥ १४ ॥
विव्याध दशभिस्तीक्ष्णैः शरैः कनकभूषणैः।
नन्दकं च त्रिभिर्बाणैरभ्यविध्यत् स्तनान्तरे ॥ १५ ॥

राजन्! ऐसा कहकर कुन्तीकुमार भीमने स्वर्णभूषित दस तीखे बाणोंद्वारा आपके पुत्र दुर्योधनको बींध डाला और नन्दककी छातीमें भी तीन बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी॥

तं तु दुर्योधनः षष्ट्या विद्ध्वा भीमं महाबलम्।
त्रिभिरन्यैः सुनिशितैर्विशोकं प्रत्यविध्यत ॥ १६ ॥

यह देख दुर्योधनने साठ बाणोंसे महाबली भीमसेनको घायल करके अन्य तीन पैने बाणोंसे सारथि विशोकको भी घायल कर दिया ॥ १६ ॥

भीमस्य च रणे राजन् धनुश्चिच्छेद भासुरम्।
मुष्टिदेशे भृशं तीक्ष्णैस्त्रिभिर्भल्लैर्हसन्निव ॥ १७ ॥

राजन्! इसके बाद दुर्योधनने युद्धस्थलमें तीन अत्यन्त तीखे भल्लोंद्वारा हँसते हुए-से भीमके तेजस्वी धनुषको भी बीचसे काट दिया ॥ १७ ॥

समरे प्रेक्ष्य यन्तारं विशोकं तु वृकोदरः।
पीडितं विशिखैस्तीक्ष्णैस्तव पुत्रेण धन्विना ॥ १८ ॥
अमृष्यमाणः संरब्धो धनुर्दिव्यं परामृशत्।
पुत्रस्य ते महाराज वधार्थं भरतर्षभ ॥ १९ ॥
समाधत्त सुसंक्रुद्धः क्षुरप्रं लोमवाहिनम्।
तेन चिच्छेद नृपतेर्भीमः कार्मुकमुत्तमम् ॥ २० ॥

आपके धनुर्धर पुत्रद्वारा समराङ्गणमें अपने सारथि विशोकको तीखे बाणोंके आघातसे पीड़ित होता देख भीमसेन सह न सके। उन्होंने कुपित होकर अपना दिव्य धनुष हाथमें लिया। महाराज! भरतश्रेष्ठ! फिर आपके पुत्रके वधके लिये अत्यन्त कुपित होकर उन्होंने पंखयुक्त क्षुरप्रका संधान किया और उसके द्वारा राजा दुर्योधनके उत्तम धनुषको काट डाला॥

सोऽपविद्ध्य धनुश्छिन्नं पुत्रस्ते क्रोधमूर्च्छितः।
अन्यत् कार्मुकमादत्त सत्वरं वेगवत्तरम् ॥ २१ ॥

राजन्! धनुष कटनेपर आपका पुत्र क्रोधसे मूर्छित हो उठा। उसने उस कटे हुए धनुषको फेंककर तुरंत ही उससे भी अधिक वेगशाली दूसरा धनुष ले लिया ॥ २१ ॥

संदधे विशिखं घोरं कालमृत्युसमप्रभम्।
तेनाजघान संक्रुद्धो भीमसेनं स्तनान्तरे ॥ २२ ॥

फिर उसके ऊपर काल और मृत्युके समान तेजस्वी भयंकर बाण रक्खा और कुपित हो उसके द्वारा भीमसेनकी छातीमें गहरा आघात किया ॥ २२ ॥

स गाढविद्धो व्यथितः स्यन्दनोपस्थ आविशत्।
स निषण्णो रथोपस्थे मूर्च्छामभिजगाम ह ॥ २३ ॥

उस बाणसे अत्यन्त घायल हो भीमसेन व्यथाके मारे रथकी बैठकमें बैठ गये। वहाँ बैठते ही उन्हें मूर्छा आ गयी॥

तं दृष्ट्वा व्यथितं भीममभिमन्युपुरोगमाः।
नामृष्यन्त महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ॥ २४ ॥

भीमसेनको प्रहारसे पीड़ित हुआ देख अभिमन्यु आदि महाधनुर्धर पाण्डव महारथी यह सहन न कर सके ॥ २४ ॥

ततस्तु तुमुलां वृष्टिं शस्त्राणां तिग्मतेजसाम्।
पातयामासुरव्यग्राः पुत्रस्य तव मूर्धनि ॥ २५ ॥

फिर तो सब लोगोंने आपके पुत्रके मस्तकपर निर्भय होकर तेजस्वी शस्त्रोंकी भयंकर वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥२५॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां भीमसेनो महाबलः।
दुर्योधनं त्रिभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् होशमें आनेपर महाबली भीमसेनने दुर्योधनको पहले तीन बाणोंसे बींधकर फिर पाँच बाणोंसे घायल किया ॥

शल्यं च पञ्चविंशत्या शरैर्विव्याध पाण्डवः।
रुक्मपुङ्खैर्महेष्वासः स विद्धो व्यपयाद् रणात् ॥ २७ ॥

फिर महाधनुर्धर पाण्डुपुत्र भीमने सुवर्णमय पंखसे युक्त पचीस बाणोंद्वारा राजा शल्यको बींध दिया। उन बाणोंसे घायल होकर वे रणभूमिसे भाग गये ॥ २७ ॥

प्रत्युद्ययुस्ततो भीमं तव पुत्राश्चतुर्दश।
सेनापतिः सुषेणश्च जलसंधः सुलोचनः ॥ २८ ॥
उग्रो भीमरथो भीमो वीरबाहुरलोलुपः।
दुर्मुखो दुष्प्रधर्षश्च विवित्सुर्विकटः समः ॥ २९ ॥
विसृजन्तो बहून् बाणान् क्रोधसंरक्तलोचनाः।
भीमसेनमभिद्रुत्य विव्यधुः सहिता भृशम् ॥ ३० ॥

राजन्! तब आपके चौदह पुत्रोंने भीमसेनपर धावा किया। उनके नाम ये हैं—सेनापति, सुषेण, जलसंध, सुलोचन, उग्र, भीमरथ, भीम, वीरबाहु, अलोलुप, दुर्मुख, दुष्प्रधर्ष, विवित्सु, विकट और सम—ये सब क्रोधसे लाल आँखें करके बहुत-से बाणोंकी वर्षा करते हुए भीमसेनपर टूट पड़े और एक साथ होकर उन्हें अत्यन्त घायल करने लगे॥

पुत्रांस्तु तव सम्प्रेक्ष्य भीमसेनो महाबलः।
सृक्किणी विलिहन् वीरः पशुमध्ये यथा वृकः ॥ ३१ ॥
अभिपत्य महाबाहुर्गरुत्मानिव वेगितः।
सेनापतेः क्षुरप्रेण शिरश्चिच्छेद पाण्डवः ॥ ३२ ॥

महाबली महाबाहु वीर भीमसेन आपके पुत्रोंको देखकर पशुओंके बीचमें खड़े हुए भेड़ियेके समान अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए गरुड़के समान बड़े वेगसे उनके सामने गये। वहाँ पहुँचकर पाण्डुकुमारने क्षुरप्र नामक बाणसे सेनापतिका सिर काट लिया ॥ ३१-३२ ॥

सम्प्रहस्य च हृष्टात्मा त्रिभिर्बाणैर्महाभुजः।
जलसंधं विनिर्भिद्य सोऽनयद् यमसादनम् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् प्रसन्नचित्त हो उन महाबाहुने हँसते-हँसते जलसंधको तीन बाणोंसे विदीर्ण करके यमलोक पहुँचा दिया ॥

सुषेणं च ततो हत्वा प्रेषयामास मृत्यवे।
उग्रस्य सशिरस्त्राणं शिरश्चन्द्रोपमं भुवि ॥ ३४ ॥
पातयामास भल्लेन कुण्डलाभ्यां विभूषितम्।

तदनन्तर सुषेणको मारकर मौतके घर भेज दिया और उग्रके कुण्डलमण्डित चन्द्रोपम मस्तकको एक भल्लके द्वारा शिरस्त्राणसहित काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ३४½ ॥

वीरबाहुं च सप्तत्या साश्वकेतुं ससारथिम् ॥ ३५ ॥
निनाय समरे वीरः परलोकाय पाण्डवः।

इसके बाद पाण्डुनन्दन वीरवर भीमसेनने समरभूमिमें

घोड़े, ध्वज और सारथिसहित वीरबाहुको सत्तर बाणोंसे मारकर परलोक पहुँचा दिया ॥ ३५½ ॥

भीमभीमरथौ चोभौ भीमसेनो हसन्निव ॥ ३६ ॥
पुत्रौ ते दुर्मदौ राजन्ननयद् यमसादनम् ।

राजन् ! तत्पश्चात् भीमसेनने हँसते हुए-से आपके दो पुत्र भीम और भीमरथको भी, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे, यमलोक भेज दिया ॥ ३६½ ॥

ततः सुलोचनं भीमः क्षुरप्रेण महामृधे ॥ ३७ ॥
मिषतां सर्वसैन्यानामनयद् यमसादनम् ।

इसके बाद उस महासमरमें भीमसेनने सम्पूर्ण सेनाओंके देखते-देखते क्षुरप्रसे मारकर सुलोचनको भी यमलोकका अतिथि बना दिया ॥ ३७½ ॥

पुत्रास्तु तव तं दृष्ट्वा भीमसेनपराक्रमम् ॥ ३८ ॥
शेषा येऽन्येऽभवंस्तत्र ते भीमस्य भयार्दिताः ।
विप्रद्रुता दिशो राजन् वध्यमाना महात्मना ॥ ३९ ॥

राजन् ! आपके जो अन्य शेष पुत्र वहाँ मौजूद थे, वे भीमसेनका पराक्रम देखकर उनके भयसे पीड़ित हो उन महामना पाण्डुकुमारके बाणकी मार खाते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ ३८-३९ ॥

ततोऽब्रवीच्छान्तनवः सर्वानेव महारथान् ।
एष भीमो रणे क्रुद्धो धार्तराष्ट्रान् महारथान् ॥ ४० ॥
यथा प्राग्र्यान् यथा ज्येष्ठान् यथा शूरांश्च संगतान्।
निपातयत्युग्रधन्वा तं प्रगृह्णीत माचिरम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्मने सभी महारथियोंसे कहा—'ये भयंकर धनुर्धर भीमसेन युद्धमें क्रुद्ध होकर सामने आये हुए श्रेष्ठ, ज्येष्ठ एवं शूर महारथी धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार गिराते हैं। अतः तुम सब लोग मिलकर इन्हें शीघ्र काबूमें करो'॥

एवमुक्तास्ततः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य सैनिकाः ।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धा भीमसेनं महाबलम् ॥ ४२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर दुर्योधनके सभी सैनिक कुपित हो महाबली भीमसेनकी ओर दौड़े ॥ ४२ ॥

भगदत्तः प्रभिन्नेन कुञ्जरेण विशाम्पते ।
अभ्ययात् सहसा तत्र यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥ ४३ ॥

प्रजानाथ ! राजा भगदत्त मदवर्षी गजराजपर आरूढ़ हो सहसा उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ भीमसेन खड़े थे ॥

आपतन्नेव च रणे भीमसेनं शिलीमुखैः ।
अदृश्यं समरे चक्रे जीमूत इव भास्करम् ॥ ४४ ॥

युद्धमें आते ही उन्होंने अपने बाणोंसे भीमसेनको अदृश्य कर दिया, मानो सूर्य बादलोंसे ढक गये हों ॥ ४४ ॥

अभिमन्युमुखास्तत् तु नामृष्यन्त महारथाः ।
भीमस्याच्छादनं संख्ये स्वबाहुबलमाश्रिताः ॥ ४५ ॥
त एनं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवारयन् ।
गजं च शरवृष्ट्या तु बिभिदुस्ते समन्ततः ॥ ४६ ॥

उस समय अभिमन्यु आदि महारथी भीमका इस प्रकार बाणोंसे आच्छादित हो जाना सहन न कर सके। वे अपने बाहुबलका आश्रय ले युद्धमें भगदत्तपर सब ओरसे बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्हें रोकने लगे। उन्होंने अपने बाणोंकी वृष्टिसे भगदत्तके हाथीको भी सब ओरसे छेद डाला ॥

स शस्त्रवृष्ट्याभिहतः समस्तैस्तैर्महारथैः ।
प्राग्ज्योतिषगजो राजन् नानालिङ्गैः सुतेजनैः ॥ ४७ ॥
संजातरुधिरोत्पीडः प्रेक्षणीयोऽभवद् रणे ।
गभस्तिभिरिवार्कस्य संस्यूतो जलदो महान् ॥ ४८ ॥

राजन् ! जो नाना प्रकारके चिह्न धारण करनेवाले और अत्यन्त तेजस्वी थे, उन समस्त महारथियोंद्वारा की हुई अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे बहुत ही घायल होकर प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्तका वह हाथी मस्तकपर रक्तसे रंजित हो रणक्षेत्रमें देखने ही योग्य हो रहा था, मानो सूर्यकी अरुण किरणोंसे व्याप्त रँगा हुआ महामेघ हो ॥ ४७-४८ ॥

संचोदितो मदस्रावी भगदत्तेन वारणः ।
अभ्यधावत तान् सर्वान् कालोत्सृष्ट इवान्तकः ॥ ४९ ॥
द्विगुणं जवमास्थाय कम्पयंश्चरणैर्महीम् ।

भगदत्तसे प्रेरित होकर कालके भेजे हुए यमराजकी भाँति वह मदस्रावी गजराज दूने वेगका आश्रय ले अपने पैरोंकी धमकसे इस पृथ्वीको कँपाता हुआ उन सबकी ओर दौड़ा ॥

तस्य तत् सुमहद् रूपं दृष्ट्वा सर्वे महारथाः ॥ ५० ॥
असह्यं मन्यमानाश्च नातिप्रमनसोऽभवन् ।

उसके उस विशाल रूपको देखकर सब महारथी अपने लिये असह्य मानते हुए हतोत्साह हो गये ॥ ५०½ ॥

ततस्तु नृपतिः क्रुद्धो भीमसेनं स्तनान्तरे ॥ ५१ ॥
आजघान महाराज शरेणानतपर्वणा ।

महाराज ! तत्पश्चात् राजा भगदत्तने कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे भीमसेनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासस्तेन राज्ञा महारथः ॥ ५२ ॥
मूर्च्छयाभिपरीतात्मा ध्वजयष्टिं समाश्रयत् ।

राजा भगदत्तसे इस प्रकार अत्यन्त घायल किये गये महाधनुर्धर महारथी भीमसेनने मूर्छासे व्याप्त हो ध्वजका डंडा थाम लिया ॥ ५२½ ॥

तांस्तु भीतान् समालक्ष्य भीमसेनं च मूर्च्छितम्॥५३॥
ननाद बलवन्नादं भगदत्तः प्रतापवान् ।

उन सब महारथियोंको भयभीत और भीमसेनको मूर्छित हुआ देख प्रतापी भगदत्तने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥५३½॥

ततो घटोत्कचो राजन् प्रेक्ष्य भीमं तथागतम्॥ ५४ ॥

संक्रुद्धो राक्षसो घोरस्तत्रैवान्तरधीयत ।

राजन् ! तदनन्तर भीमको वैसी अवस्थामें देखकर भयंकर राक्षस घटोत्कच अत्यन्त कुपित हो वहीं अदृश्य हो गया ॥ ५४½ ॥

स कृत्वा दारुणां मायां भीरूणां भयवर्धिनीम् ॥ ५५ ॥
अदृश्यत निमेषार्धाद् घोररूपं समास्थितः ।
ऐरावणं समारूढः स वै मायाकृतं स्वयम् ॥ ५६ ॥
(कैलासगिरिसंकाशं वज्रपाणिरिवाभ्ययात् ।)

फिर उसने कायरोंका भय बढ़ानेवाली अत्यन्त दारुण माया प्रकट की । वह आधे निमेषमें ही भयंकर रूप धारण करके दृष्टिगोचर हुआ । घटोत्कच अपनी ही मायाद्वारा निर्मित कैलासपर्वतके समान श्वेत वर्णवाले ऐरावत हाथीपर बैठकर वज्रधारी इन्द्रके समान वहाँ आया था ॥ ५५-५६ ॥

तस्य चान्येऽपि दिङ्नागा बभूवुरनुयायिनः ।
अञ्जनो वामनश्चैव महापद्मश्च सुप्रभः ॥ ५७ ॥
त्रय एते महानागा राक्षसैः समधिष्ठिताः ।

उसके पीछे अंजन, वामन और उत्तम कान्तिसे युक्त महापद्म—ये तीन दिग्गज और थे, जिनपर उसके साथी राक्षस सवार थे ॥ ५७½ ॥

महाकायास्त्रिधा राजन् प्रस्रवन्तो मदं बहु ॥ ५८ ॥
तेजोवीर्यबलोपेता महाबलपराक्रमाः ।

राजन् ! वे सभी विशालकाय दिग्गज तीन स्थानोंसे बहुत मद बहा रहे थे और तेज, वीर्य एवं बलसे सम्पन्न तथा महाबली और महापराक्रमी थे ॥ ५८½ ॥

घटोत्कचस्तु स्वं नागं चोदयामास तं तदा ॥ ५९ ॥
सगजं भगदत्तं तु हन्तुकामः परंतपः ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले घटोत्कचने अपने हाथीको गजारूढ़ राजा भगदत्तकी ओर बढ़ाया । वह उन्हें हाथीसहित मार डालना चाहता था ॥ ५९½ ॥

ते चान्ये चोदिता नागा राक्षसैस्तैर्महाबलैः ॥ ६० ॥
परिपेतुः सुसंरब्धाश्चतुर्दंष्ट्राश्चतुर्दिशम् ।

महाबली राक्षसोंद्वारा प्रेरित अन्यान्य दिग्गज भी जिनके चार-चार दाँत थे, अत्यन्त कुपित हो चारों दिशाओंमें टूट पड़े ॥

भगदत्तस्य तं नागं विषाणैरभ्यपीडयन् ॥ ६१ ॥
स पीड्यमानस्तैर्नागैर्वेदनार्तः शराहतः ।
अनदत् सुमहानादमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥ ६२ ॥

वे सब-के-सब भगदत्तके हाथीको अपने दाँतोंसे पीड़ा देने लगे । वह बाणोंसे बहुत घायल हो चुका था; अतः इन हाथियोंद्वारा पीड़ित होनेपर वेदनासे व्याकुल हो बड़े जोर-जोरसे चीत्कार करने लगा । उसकी आवाज इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी ॥ ६१-६२ ॥

तस्य तं नदतो नादं सुघोरं भीमनिःस्वनम् ।
श्रुत्वा भीष्मोऽब्रवीद् द्रोणं राजानं च सुयोधनम् ॥ ६३ ॥

भयंकर आवाजके साथ अत्यन्त घोर शब्द करनेवाले हाथीके उस चीत्कारको सुनकर भीष्मने द्रोणाचार्य तथा राजा दुर्योधनसे कहा— ॥ ६३ ॥

एष युध्यति संग्रामे हैडिम्बेन दुरात्मना ।
भगदत्तो महेष्वासः कृच्छ्रे च परिवर्तते ॥ ६४ ॥

'ये महाधनुर्धर राजा भगदत्त युद्धमें दुरात्मा घटोत्कचके साथ जूझ रहे हैं और संकटमें पड़ गये हैं ॥ ६४ ॥

राक्षसश्च महाकायः स च राजातिकोपनः ।
एतौ समेतौ समरे कालमृत्युसमावुभौ ॥ ६५ ॥

'वह राक्षस विशालकाय है और वे राजा भी अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए हैं । वे दोनों समरमें काल और मृत्युके समान हैं ॥ ६५ ॥

श्रूयते चैव हृष्टानां पाण्डवानां महास्वनः ।
हस्तिनश्चैव सुमहान् भीतस्य रुदितध्वनिः ॥ ६६ ॥

'देखो, हर्षमें भरे हुए पाण्डवोंका महान् सिंहनाद सुनायी पड़ता है और भगदत्तके डरे हुए हाथीके रोनेकी ध्वनि भी बड़े जोर-जोरसे कानोंमें आ रही है ॥ ६६ ॥

तत्र गच्छाम भद्रं वो राजानं परिरक्षितुम् ।
अरक्ष्यमाणः समरे क्षिप्रं प्राणान् विमोक्ष्यति ॥ ६७ ॥

'तुम सब लोगोंका कल्याण हो । हम राजा भगदत्तकी रक्षा करनेके लिये वहाँ चलें; अन्यथा अरक्षित होनेपर वे समर-भूमिमें शीघ्र ही प्राण त्याग देंगे ॥ ६७ ॥

ते त्वरध्वं महावीर्याः किं चिरेण प्रयामहे ।
महान् हि वर्तते रौद्रः संग्रामो लोमहर्षणः ॥ ६८ ॥

'महापराक्रमी वीरो ! जल्दी करो । विलम्बसे क्या लाभ ? हमें जल्दी चलना चाहिये; क्योंकि वह संग्राम अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी है ॥ ६८ ॥

भक्तश्च कुलपुत्रश्च शूरश्च पृतनापतिः ।
युक्तं तस्य परित्राणं कर्तुमस्माभिरच्युत ॥ ६९ ॥

'राजा भगदत्त कुलीन, शूरवीर, हमारे भक्त और सेनापति हैं । अतः अच्युत ! हमें उनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये' ॥

भीष्मस्य तद् वचः श्रुत्वा सर्व एव महारथाः ।
द्रोणभीष्मौ पुरस्कृत्य भगदत्तपरीप्सया ॥ ७० ॥
उत्तमं जवमास्थाय प्रययुर्यत्र सोऽभवत् ।

भीष्मका यह वचन सुनकर सभी महारथी द्रोणाचार्य और भीष्मको आगे करके भगदत्तकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे उस स्थानपर गये, जहाँ भगदत्त थे ॥ ७०½ ॥

तान् प्रयातान् समालोक्य युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥ ७१ ॥
पञ्चालाः पाण्डवैः सार्धं पृष्ठतोऽनुययुः परान् ।

उन्हें जाते देख युधिष्ठिर आदि पाण्डवों तथा पाञ्चालोंने भी शत्रुओंका पीछा किया ॥ ७१½ ॥

तान्यनीकान्यथालोक्य राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ ७२ ॥
ननाद सुमहानादं विस्फोटमशनेरिव ।

उन सेनाओंको आते देख प्रतापी राक्षसराज घटोत्कचने बड़े जोरसे सिंहनाद किया, मानो वज्र फट पड़ा हो ॥७२½॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा दृष्ट्वा नागांश्च युध्यतः ॥ ७३ ॥
भीष्मः शान्तनवो भूयो भारद्वाजमभाषत ।

घटोत्कचकी वह गर्जना सुनकर तथा जूझते हुए हाथियों-को देखकर शान्तनुनन्दन भीष्मने पुनः द्रोणाचार्यसे कहा—॥

न रोचते मे संग्रामो हैडिम्बेन दुरात्मना ॥ ७४ ॥
बलवीर्यसमाविष्टः ससहायश्च साम्प्रतम् ।

'मुझे इस समय दुरात्मा घटोत्कचके साथ युद्ध करना अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वह बल और पराक्रमसे सम्पन्न है और इस समय उसे प्रबल सहायक भी मिल गये हैं ॥

नैष शक्यो युधा जेतुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥ ७५ ॥
लब्धलक्ष्यः प्रहारी च वयं च श्रान्तवाहनाः ।
पाञ्चालैः पाण्डवेयैश्च दिवसं क्षतविक्षताः ॥ ७६ ॥

'ऐसी दशामें साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी उसे युद्धमें पराजित नहीं कर सकते । यह प्रहार करनेमें कुशल तथा लक्ष्य भेदनेमें सफल है । इधर हमलोगोंके वाहन थक गये हैं । पाण्डवों और पाञ्चालोंके द्वारा दिनभर क्षत-विक्षत होते रहे हैं ॥ ७५-७६ ॥

तन्न मे रोचते युद्धं पाण्डवैर्जितकाशिभिः ।
घुष्यतामवहारोऽद्य श्वो योत्स्यामः परैः सह ॥ ७७ ॥

'इसलिये विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डवोंके साथ इस समय युद्ध करना मुझे पसंद नहीं आता । आज युद्धका विराम घोषित कर दिया जाय । कल सबेरे हमलोग शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे' ॥ ७७ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा तथा चक्रुः स्म कौरवाः ।
उपायेनापयानं ते घटोत्कचभयार्दिताः ॥ ७८ ॥

पितामह भीष्मकी यह बात सुनकर कौरवोंने उपायपूर्वक युद्धसे हट जाना स्वीकार कर लिया; क्योंकि उस समय वे घटोत्कचके भयसे पीड़ित थे ॥ ७८ ॥

कौरवेषु निवृत्तेषु पाण्डवा जितकाशिनः ।
सिंहनादान् भृशं चक्रुः शङ्खान् दध्मुश्च भारत ॥ ७९॥

भारत ! कौरवोंके निवृत्त हो जानेपर विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डव बारंबार सिंहनाद करने और शङ्ख बजाने लगे ॥ ७९ ॥

एवं तदभवद् युद्धं दिवसं भरतर्षभ ।
पाण्डवानां कुरूणां च पुरस्कृत्य घटोत्कचम् ॥ ८० ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार उस दिन दिनभर घटोत्कचको आगे करके कौरवों और पाण्डवोंका युद्ध चलता रहा ॥८०॥

कौरवास्तु ततो राजन् प्रययुः शिबिरं स्वकम् ।
व्रीडमाना निशाकाले पाण्डवेयैः पराजिताः ॥ ८१ ॥

राजन् ! तदनन्तर निशाके प्रारम्भकालमें पाण्डवोंसे पराजित होकर कौरव लज्जित हो अपने शिबिरको गये ।८१।

शरविक्षतगात्रास्तु पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
युद्धे सुमनसो भूत्वा जग्मुः स्वशिबिरं प्रति ॥ ८२ ॥

महारथी पाण्डवोंके शरीर भी युद्धमें बाणोंसे क्षत-विक्षत हो गये थे, तथापि वे प्रसन्नचित्त होकर अपने शिबिरको लौटे॥

पुरस्कृत्य महाराज भीमसेनघटोत्कचौ ।
पूजयन्तस्तदान्योन्यं मुदा परमया युताः ॥ ८३ ॥
नदन्तो विविधान् नादांस्तूर्यस्वनविमिश्रितान् ।
सिंहनादांश्च कुर्वन्तो विमिश्राञ्शङ्खनिःस्वनैः ॥ ८४ ॥

महाराज ! भीमसेन और घटोत्कचको आगे करके परस्पर एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए पाण्डवसैनिक बड़ी प्रसन्नताके साथ नाना प्रकारके सिंहनाद करते हुए गये । उनकी उस गर्जनाके साथ विविध वाद्योंकी ध्वनि तथा शङ्खोंके शब्द भी मिले हुए थे ॥ ८३-८४ ॥

विनदन्तो महात्मानः कम्पयन्तश्च मेदिनीम् ।
घट्टयन्तश्च मर्माणि तव पुत्रस्य मारिष ॥ ८५ ॥
प्रयाताः शिबिरायैव निशाकाले परंतप ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रेष्ठ नरेश ! महात्मा पाण्डव गर्जते, पृथ्वीको कँपाते और आपके पुत्रके मर्मस्थानोंपर चोट पहुँचाते हुए निशाकालमें शिबिरको ही लौट गये ॥ ८५½ ॥

दुर्योधनस्तु नृपतिर्दीनो भ्रातृवधेन च ॥ ८६ ॥
मुहूर्तं चिन्तयामास बाष्पशोकसमाकुलः ।

अपने भाइयोंके मारे जानेसे राजा दुर्योधन अत्यन्त दीन हो रहा था । वह नेत्रोंसे आँसू बहाता हुआ शोकसे व्याकुल हो दो घड़ीतक भारी चिन्तामें पड़ा रहा ॥ ८६½ ॥

ततः कृत्वा विधिं सर्वं शिबिरस्य यथाविधि ।
प्रदध्यौ शोकसंतप्तो भ्रातृव्यसनकर्शितः ॥ ८७ ॥

वह शिबिरकी यथायोग्य सारी आवश्यक व्यवस्था करके भाइयोंके मारे जानेसे दुखी एवं शोकसंतप्त हो चिन्तामें डूब गया ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थदिवसावहारे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिनका युद्धविराम विषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८७½ श्लोक हैं)

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र-संजय-संवादके प्रसङ्गमें दुर्योधनके द्वारा पाण्डवोंकी विजयका कारण पूछनेपर भीष्मका ब्रह्माजीके द्वारा की हुई भगवत्-स्तुतिका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

भयं मे सुमहज्जातं विस्मयश्चैव संजय ।
श्रुत्वा पाण्डुकुमाराणां कर्म देवैः सुदुष्करम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! पाण्डवोंका देवताओंके लिये भी दुष्कर पराक्रम सुनकर मुझे बड़ा भारी भय और विस्मय हो रहा है ॥ १ ॥

पुत्राणां च पराभावं श्रुत्वा संजय सर्वशः ।
चिन्ता मे महती सूत भविष्यति कथं त्विति ॥ २ ॥

सूत संजय ! अपने पुत्रोंकी सब प्रकारसे पराजयका हाल सुनकर मेरी चिन्ता बढ़ती ही जा रही है । सोचता हूँ कैसे उनकी विजय होगी ॥ २ ॥

ध्रुवं विदुरवाक्यानि धक्ष्यन्ति हृदयं मम ।
यथा हि दृश्यते सर्वं दैवयोगेन संजय ॥ ३ ॥

संजय ! निश्चय ही विदुरके वाक्य मेरे हृदयको जलाकर भस्म कर डालेंगे, क्योंकि उन्होंने जैसा कहा था, दैवयोगसे वह सब वैसा ही होता दिखायी देता है ॥ ३ ॥

यत्र भीष्ममुखान् सर्वाञ्शस्त्रज्ञान् योधसत्तमान् ।
पाण्डवानामनीकेषु योधयन्ति प्रहारिणः ॥ ४ ॥

पाण्डवोंकी सेनाओंमें ऐसे-ऐसे प्रहारकुशल योद्धा हैं, जो शस्त्रविद्याके ज्ञाता एवं योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म आदि समस्त महारथियोंके साथ भी युद्ध कर लेते हैं ॥ ४ ॥

केनावध्या महात्मानः पाण्डुपुत्रा महाबलाः ।
केन दत्तवरास्तात किं वा ज्ञानं विदन्ति ते ॥ ५ ॥

तात ! महाबली महात्मा पाण्डव किस कारणसे अवध्य हैं ? किसने उन्हें वर दिया है अथवा कौन-सा ज्ञान वे जानते हैं ? ॥ ५ ॥

येन क्षयं न गच्छन्ति दिवि तारागणा इव ।
पुनः पुनर्न मृष्यामि हतं सैन्यं तु पाण्डवैः ॥ ६ ॥

जिससे आकाशके तारोंके समान वे नष्ट नहीं हो रहे हैं। मैं पाण्डवोंके द्वारा बारंबार अपनी सेनाके मारे जानेकी बात सुनकर सहन नहीं कर पाता हूँ ॥ ६ ॥

मय्येव दण्डः पतति दैवात् परमदारुणः ।
यथावध्याः पाण्डुसुता यथा वध्याश्च मे सुताः ॥ ७ ॥
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व याथातथ्येन संजय ।

दैववश मेरे ही ऊपर अत्यन्त भयंकर दण्ड पड़ रहा है । संजय ! क्यों पाण्डव अवध्य हैं और क्यों मेरे पुत्र मारे जा रहे हैं ? यह सब यथार्थरूपसे मुझे बताओ ॥ ७½ ॥

न हि पारं प्रपश्यामि दुःखस्यास्य कथंचन ॥ ८ ॥
समुद्रस्येव महतो भुजाभ्यां प्रतरन् नरः ।

जैसे अपनी भुजाओंसे तैरनेवाला मनुष्य महासागरका पार नहीं पा सकता, उसी प्रकार मैं इस दुःखका अन्त किसी प्रकार नहीं देखता हूँ ॥ ८½ ॥

पुत्राणां व्यसनं मन्ये ध्रुवं प्राप्तं सुदारुणम् ॥ ९ ॥
घातयिष्यति मे सर्वान् पुत्रान् भीमो न संशयः ।

निश्चय ही मेरे पुत्रोंपर अत्यन्त भयंकर संकट प्राप्त हो गया है । मेरा विश्वास है कि भीमसेन मेरे सभी पुत्रोंको मार डालेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ९½ ॥

न हि पश्यामि तं वीरं यो मे रक्षेत् सुतान् रणे ॥ १० ॥
ध्रुवं विनाशः सम्प्राप्तः पुत्राणां मम संजय ।

मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो रणक्षेत्रमें मेरे पुत्रोंकी रक्षा कर सके । संजय ! अवश्य ही मेरे पुत्रोंके विनाशकी घड़ी आ पहुँची है ॥ १०½ ॥

तस्मान्मे कारणं सूत शक्तिं चैव विशेषतः ॥ ११ ॥
पृच्छतो वै यथातत्त्वं सर्वमाख्यातुमर्हसि ।

अतः सूत ! मैं तुमसे शक्ति[1] और कारणके विषयमें[2] जो विशेष प्रश्न कर रहा हूँ, वह सब यथार्थरूपसे बताओ ११½

दुर्योधनश्च यच्चक्रे दृष्ट्वा स्वान् विमुखान् रणे ॥ १२ ॥
भीष्मद्रोणौ कृपश्चैव सौबलश्च जयद्रथः ।
द्रौणिर्वापि महेष्वासो विकर्णो वा महाबलः ॥ १३ ॥
निश्चयो वापि कस्तेषां तदा ह्यासीन्महात्मनाम् ।
विमुखेषु महाप्राज्ञ मम पुत्रेषु संजय ॥ १४ ॥

युद्धमें अपने सैनिकोंको विमुख हुआ देख दुर्योधनने क्या किया ? भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, शकुनि, जयद्रथ, महाधनुर्धर अश्वत्थामा और महाबली विकर्णने भी क्या किया ? महाप्राज्ञ संजय ! मेरे पुत्रोंके विमुख होनेपर उन महामना महारथियोंने उस समय क्या निश्चय किया ? ॥ १२—१४ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन्नवहितः श्रुत्वा चैवावधारय ।
नैव मन्त्रकृतं किंचिन्नैव मायां तथाविधाम् ॥ १५ ॥

संजयने कहा—महाराज ! सावधान होकर सुनिये और सुनकर स्वयं ही पाण्डवोंकी शक्ति और अपनी पराजयके

---

१. शक्तिसे तात्पर्य यहाँ पाण्डवोंकी शक्तिसे है ।

२. मेरे पुत्रोंकी बार-बार पराजयका क्या कारण है, यही कारणविषयक प्रश्न है ।

कारणके विषयमें निश्चय कीजिये। पाण्डवोंमें न कोई मन्त्र-का प्रभाव है और न कोई वैसी माया ही वे करते हैं ॥ १५ ॥

न वै विभीषिकां कांचिद् राजन् कुर्वन्ति पाण्डवाः।
युध्यन्ति ते यथान्यायं शक्तिमन्तश्च संयुगे ॥ १६ ॥

राजन् ! पाण्डवलोग युद्धमें किसी विभीषिकाका प्रदर्शन नहीं करते। अर्थात् किसी भी प्रकारसे भयभीत नहीं होते। वे न्यायपूर्वक युद्ध करते हैं। शक्तिशाली तो वे हैं ही ॥ १६ ॥

धर्मेण सर्वकार्याणि जीवितादीनि भारत।
आरभन्ते सदा पार्थाः प्रार्थयाना महद् यशः ॥ १७ ॥

भारत ! कुन्तीके पुत्र जीवन-निर्वाह आदिके सभी कार्य सदा धर्मपूर्वक ही आरम्भ करते हैं। कारण कि वे जगत्में अपना महान् यश फैलाना चाहते हैं ॥ १७ ॥

न ते युद्धान्निवर्तन्ते धर्मोपेता महाबलाः।
श्रिया परमया युक्ता यतो धर्मस्ततो जयः ॥ १८ ॥

वे युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते हैं। धर्मबलसे सम्पन्न होनेके कारण ही वे महाबली और उत्तम समृद्धिसे युक्त हैं। जहाँ धर्म होता है, उसी पक्षकी विजय होती है ॥ १८ ॥

तेनावध्या रणे पार्था जययुक्ताश्च पार्थिव।
तव पुत्रा दुरात्मानः पापेष्वभिरताः सदा ॥ १९ ॥
निष्ठुरा हीनकर्माणस्तेन हीयन्ति संयुगे।

महाराज ! धर्मके ही कारण कुन्तीके पुत्र युद्धमें अवध्य और विजयी हो रहे हैं। इधर आपके दुरात्मा पुत्र सदा पापोंमें ही तत्पर रहते हैं। निर्दय होनेके साथ ही निकृष्ट कर्ममें लगे रहते हैं। इसीलिये युद्धस्थलमें उन्हें हानि उठानी पड़ती है ॥ १९½ ॥

सुबहूनि नृशंसानि पुत्रैस्तव जनेश्वर ॥ २० ॥
निकृतानीह पाण्डूनां नीचैरिव यथा नरैः।
सर्वं च तदनादृत्य पुत्राणां तव किल्बिषम् ॥ २१ ॥
सापह्नवाः सदैवासन् पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज।
न चैतान् बहु मन्यन्ते पुत्रास्तव विशाम्पते ॥ २२ ॥

जनेश्वर ! आपके पुत्रोंने नीच मनुष्योंकी भाँति पाण्डवों-के प्रति बहुत-से क्रूरतापूर्ण बर्ताव तथा छल-कपट किये हैं, परंतु आपके पुत्रोंका वह सारा अपराध भुलाकर पाण्डव सदा उन दोषोंपर पर्दा ही डालते आये हैं। पाण्डुके बड़े भाई महाराज ! इसपर भी आपके पुत्र इन पाण्डवोंको अधिक आदर नहीं देते हैं ॥ २०-२२ ॥

तस्य पापस्य सततं क्रियमाणस्य कर्मणः।
साम्प्रतं सुमहद् घोरं फलं प्राप्तं जनेश्वर ॥ २३ ॥

जनेश्वर ! निरन्तर किये जानेवाले उसी पाप-कर्मका इस समय यह अत्यन्त भयंकर फल प्राप्त हुआ है ॥ २३ ॥

स त्वं भुङ्क्ष्व महाराज सपुत्रः ससुहृज्जनः।
नावबुध्यसि यद् राजन् वार्यमाणः सुहृज्जनैः ॥ २४ ॥

महाराज ! आप सुहृदोंके मना करनेपर भी जो ध्यान नहीं देते हैं, इससे अब स्वयं ही पुत्रों और सुहृदोंसहित अपनी अनीतिका फल भोगिये ॥ २४ ॥

विदुरेणाथ भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना।
तथा मया चाप्यसकृद् वार्यमाणो न बुध्यसे ॥ २५ ॥

विदुर, भीष्म तथा महात्मा द्रोणने और मैंने भी बार-बार आपको मना किया है; किंतु आप कभी समझ नहीं पाते थे ॥ २५ ॥

वाक्यं हितं च पथ्यं च मर्त्याः पथ्यमिवौषधम्।
पुत्राणां मतमाज्ञाय जितान् मन्यसि पाण्डवान् ॥ २६ ॥

जैसे मरणासन्न मनुष्य हितकारी औषधको भी फेंक देते हैं, उसी प्रकार आपने हमलोगोंके कहे हुए लाभकारी और हितकर वचनोंको भी ठुकरा दिया। एवं अब अपने पुत्रोंकी बातमें आकर यह मान रहे हैं कि हमने पाण्डवोंको जीत लिया ॥

शृणु भूयो यथातत्त्वं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
कारणं भरतश्रेष्ठ पाण्डवानां जयं प्रति ॥ २७ ॥
तत् तेऽहं कथयिष्यामि यथाश्रुतमरिंदम।

भरतश्रेष्ठ ! आप पाण्डवोंकी विजय और अपनी पराजय-का जो कारण पूछते हैं, उसके विषयमें यथार्थ बातें सुनिये। शत्रुदमन ! मैंने जैसा सुन रक्खा है, वह आपको बताऊँगा ॥ २७½ ॥

दुर्योधनेन सम्पृष्ट एतमर्थं पितामहः ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा भ्रातॄन् रणे सर्वान् निर्जितांस्तु महारथान्।
शोकसम्मूढहृदयो निशाकाले स कौरवः ॥ २९ ॥
पितामहं महाप्राज्ञं विनयेनोपगम्य ह।
यदब्रवीत् सुतस्तेऽसौ तन्मे शृणु जनेश्वर ॥ ३० ॥

दुर्योधनने यही बात पितामह भीष्मसे पूछी थी। महाराज ! युद्धमें अपने समस्त महारथी भाइयोंको पराजित हुआ देख आपके पुत्र कुरुराज दुर्योधनका हृदय शोकसे मोहित हो गया। उसने रातमें महाज्ञानी पितामह भीष्मके पास विनय-पूर्वक जाकर जो कुछ पूछा था, वह बताता हूँ, मुझसे सुनिये ॥ २८-३० ॥

दुर्योधन उवाच

द्रोणश्च त्वं च शल्यश्च कृपो द्रौणिस्तथैव च।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ ३१ ॥
भूरिश्रवा विकर्णश्च भगदत्तश्च वीर्यवान्।
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ॥ ३२ ॥

दुर्योधनने पूछा—पितामह ! आप, द्रोणाचार्य, शल्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, हृदिकपुत्र कृतवर्मा, कम्बोज-राज सुदक्षिण, भूरिश्रवा, विकर्ण तथा पराक्रमी भगदत्त—ये सब महारथी कहे जाते हैं। सभी कुलीन और युद्धमें मेरे लिये अपना शरीर निछावर करनेको तैयार हैं ॥ ३१-३२ ॥

त्रयाणामपि लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ।
पाण्डवानां समस्ताश्च नातिष्ठन्त पराक्रमे ॥ ३३ ॥

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि आप सब लोग मिल जायँ तो तीनों लोकोंपर भी विजय पानेमें समर्थ हो सकते हैं, परंतु पाण्डवोंके पराक्रमके सामने आप सब लोग टिक नहीं पाते हैं। इसका क्या कारण है ? ॥ ३३ ॥

तत्र मे संशयो जातस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।
यं समाश्रित्य कौन्तेया जयन्त्यस्मान् क्षणे क्षणे ॥ ३४ ॥

इस विषयमें मुझे बड़ा भारी संदेह है; अतः मेरे प्रश्नके अनुसार आप उसका उत्तर दीजिये। किसका आश्रय लेकर ये कुन्तीके पुत्र क्षण-क्षणमें हमलोगोंपर विजय पा रहे हैं ॥ ३४ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् वचो मह्यं यथा वक्ष्यामि कौरव ।
बहुशश्च मयोक्तोऽसि न च मे तत् त्वया कृतम् ॥ ३५ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुनन्दन ! नरेश्वर ! मेरी बात सुनो। इस विषयमें जो यथार्थ बात है, उसे बताता हूँ। मैंने अनेक बार पहले भी तुमसे ये बातें कही हैं, परंतु तुमने उन्हें माना नहीं है ॥ ३५ ॥

क्रियतां पाण्डवैः सार्धं शमो भरतसत्तम ।
एतत् क्षेममहं मन्ये पृथिव्यास्तव वा विभो ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। प्रभो ! इसीमें मैं तुम्हारा और भूमण्डलका कल्याण समझता हूँ ॥

भुङ्क्ष्वेमां पृथिवीं राजन् भ्रातृभिः सहितः सुखी।
दुर्हृदस्तापयन् सर्वान् नन्दयंश्चापि बान्धवान् ॥ ३७ ॥

राजन् ! तुम अपने सभी शत्रुओंको संताप और बन्धु-बान्धवोंको आनन्द प्रदान करते हुए भाइयोंके साथ मिलकर सुखी रहो और इस पृथ्वीका राज्य भोगो ॥ ३७ ॥

न च मे क्रोशतस्तात श्रुतवानसि वै पुरा ।
तदिदं समनुप्राप्तं यत् पाण्डूनवमन्यसे ॥ ३८ ॥

तात ! इस तरहकी बातें मैंने पहले पुकार-पुकारकर कही हैं, परंतु तुमने उन सबको अनसुनी कर दिया है। तुम जो पाण्डवोंका अपमान करते आये हो, आज उसीका यह फल प्राप्त हुआ है ॥ ३८ ॥

यश्च हेतुरवध्यत्वे तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तं शृणुष्व महाबाहो मम कीर्तयतः प्रभो ॥ ३९ ॥

महाबाहो ! प्रभो ! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले पाण्डवोंके अवध्य होनेमें जो हेतु है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥

नास्ति लोकेषु तद् भूतं भविता नो भविष्यति।
यो जयेत् पाण्डवान् सर्वान् पालिताञ्छार्ङ्गधन्वना॥४०॥
(ससुरासुरमर्त्येषु यो विद्यात् तत्त्वतो हरिम्।)

लोकमें ऐसा कोई प्राणी न हुआ है, न है और न होगा, जो शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित इन सब पाण्डवोंपर विजय पा सके तथा देवता, असुर और मनुष्योंमें ऐसा भी कोई नहीं है, जो उन भगवान् श्रीहरिको यथार्थरूपसे जान सके ॥ ४० ॥

यत् तु मे कथितं तात मुनिभिर्भावितात्मभिः ।
पुराणगीतं धर्मज्ञ तच्छृणुष्व यथातथम् ॥ ४१ ॥

तात धर्मज्ञ ! पवित्र अन्तःकरणवाले मुनियोंने मुझसे जो पुराणप्रतिपादित यथार्थ बातें कही हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ४१ ॥

पुरा किल सुराः सर्वे ऋषयश्च समागताः ।
पितामहमुपासेदुः पर्वते गन्धमादने ॥ ४२ ॥

पहलेकी बात है, समस्त देवता और महर्षि गन्धमादन पर्वतपर आकर पितामह ब्रह्माजीके पास बैठे ॥ ४२ ॥

तेषां मध्ये समासीनः प्रजापतिरपश्यत ।
विमानं प्रज्वलद् भासा स्थितं प्रवरमम्बरे ॥ ४३ ॥

उस समय उनके बीचमें बैठे हुए प्रजापति ब्रह्माने आकाशमें खड़ा हुआ एक श्रेष्ठ विमान देखा, जो अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहा था ॥ ४३ ॥

ध्यानेनावेद्य तद् ब्रह्मा कृत्वा च नियतोऽञ्जलिम्।
नमश्चकार हृष्टात्मा पुरुषं परमेश्वरम् ॥ ४४ ॥

अपने मनको संयममें रखनेवाले ब्रह्माजीने ध्यानसे यथार्थ बात जानकर हाथ जोड़ लिये और प्रसन्नचित्त होकर उन परम पुरुष परमेश्वरको नमस्कार किया ॥ ४४ ॥

ऋषयस्त्वथ देवाश्च दृष्ट्वा ब्रह्माणमुत्थितम् ।
स्थिताः प्राञ्जलयः सर्वे पश्यन्तो महदद्भुतम् ॥ ४५ ॥

ऋषि तथा देवता ब्रह्माजीको खड़े (और हाथ जोड़े) हुए देख स्वयं भी उस परम अद्भुत तेजका दर्शन करते हुए हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ४५ ॥

यथावच्च तमभ्यर्च्य ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ।
जगाद जगतः स्रष्टा परं परमधर्मवित् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, परम धर्मज्ञ, जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीने उन तेजोमय परम पुरुषका यथावत् पूजन करके उनकी स्तुति की ॥ ४६ ॥

विश्वावसुर्विश्वमूर्तिर्विश्वेशो
विष्वक्सेनो विश्वकर्मा वशी च।
विश्वेश्वरो वासुदेवोऽसि तस्माद्
योगात्मानं दैवतं त्वामुपैमि ॥ ४७ ॥

प्रभो ! आप सम्पूर्ण विश्वको आच्छादित करनेवाले, विश्वस्वरूप और विश्वके स्वामी हैं। विश्वमें सब ओर आपकी सेना है। यह विश्व आपका कार्य है। आप सबको अपने

वशमें रखनेवाले हैं । इसीलिये आपको विश्वेश्वर और वासुदेव कहते हैं । आप योगस्वरूप देवता हैं, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ४७ ॥

जय विश्व महादेव जय लोकहिते रत ।
जय योगीश्वर विभो जय योगपरावर ॥ ४८ ॥

विश्वरूप महादेव ! आपकी जय हो, लोकहितमें लगे रहनेवाले परमेश्वर ! आपकी जय हो । सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले योगीश्वर ! आपकी जय हो । योगके आदि और अन्त ! आपकी जय हो ॥ ४८ ॥

पद्मगर्भ विशालाक्ष जय लोकेश्वरेश्वर ।
भूतभव्यभवन्नाथ जय सौम्यात्मजात्मज ॥ ४९ ॥
असंख्येयगुणाधार जय सर्वपरायण ।
नारायण सुदुष्पार जय शार्ङ्गधनुर्धर ॥ ५० ॥

आपकी नाभिसे आदि कमलकी उत्पत्ति हुई है, आपके नेत्र विशाल हैं, आप लोकेश्वरोंके भी ईश्वर हैं; आपकी जय हो । भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी ! आपकी जय हो । आपका स्वरूप सौम्य है, मैं स्वयम्भू ब्रह्मा आपका पुत्र हूँ । आप असंख्य गुणोंके आधार और सबको शरण देनेवाले हैं, आपकी जय हो । शार्ङ्ग-धनुष धारण करनेवाले नारायण ! आपकी महिमाका पार पाना बहुत ही कठिन है, आपकी जय हो ॥ ४९-५० ॥

जय सर्वगुणोपेत विश्वमूर्ते निरामय ।
विश्वेश्वर महाबाहो जय लोकार्थतत्पर ॥ ५१ ॥

आप समस्त कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न, विश्वमूर्ति और निरामय हैं; आपकी जय हो । जगत्का अभीष्ट साधन करनेवाले महाबाहु विश्वेश्वर ! आपकी जय हो ॥ ५१ ॥

महोरग वराहाद्य हरिकेश विभो जय ।
हरिवास दिशामीश विश्ववासामिताव्यय ॥ ५२ ॥

आप महान् शेषनाग और महावाराह-रूप धारण करनेवाले हैं, सबके आदि कारण हैं । हरिकेश ! प्रभो ! आपकी जय हो, आप पीताम्बरधारी, दिशाओंके स्वामी, विश्वके आधार, अप्रमेय और अविनाशी हैं ॥ ५२ ॥

व्यक्ताव्यक्तामितस्थान नियतेन्द्रिय सत्क्रिय ।
असंख्येयात्मभावज्ञ जय गम्भीर कामद ॥ ५३ ॥

व्यक्त और अव्यक्त—सब आपहीका स्वरूप है, आपके रहनेका स्थान असीम-अनन्त है, आप इन्द्रियोंके नियन्ता हैं । आपके सभी कर्म शुभ-ही-शुभ हैं । आपकी कोई इयत्ता नहीं है, आप आत्मस्वरूपके ज्ञाता, स्वभावतः गम्भीर और भक्तोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले हैं; आपकी जय हो ॥

अनन्तविदित ब्रह्मन् नित्य भूतविभावन ।
कृतकार्य कृतप्रज्ञ धर्मज्ञ विजयावह ॥ ५४ ॥

ब्रह्मन् ! आप अनन्तबोधस्वरूप हैं, नित्य हैं और सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाले हैं । आपको कुछ करना बाकी नहीं है, आपकी बुद्धि पवित्र है, आप धर्मका तत्त्व जाननेवाले और विजयप्रदाता हैं ॥ ५४ ॥

गुह्यात्मन् सर्वयोगात्मन् स्फुटं सम्भूतसम्भव ।
भूताद्य लोकतत्त्वेश जय भूतविभावन ॥ ५५ ॥

पूर्णयोगस्वरूप परमात्मन् ! आपका स्वरूप गूढ होता हुआ भी स्पष्ट है । अबतक जो हो चुका है और जो हो रहा है, सब आपका ही रूप है । आप सम्पूर्ण भूतोंके आदि कारण और लोकतत्त्वके स्वामी हैं । भूतभावन ! आपकी जय हो ॥ ५५ ॥

आत्मयोने महाभाग कल्पसंक्षेप तत्पर ।
उद्भावनमनोभाव जय ब्रह्म जनप्रिय ॥ ५६ ॥

आप स्वयम्भू हैं, आपका सौभाग्य महान् है । आप इस कल्पका संहार करनेवाले एवं विशुद्ध परब्रह्म हैं । ध्यान करनेसे अन्तःकरणमें आपका आविर्भाव होता है, आप जीवमात्रके प्रियतम परब्रह्म हैं, आपकी जय हो ॥ ५६ ॥

निसर्गसर्गनिरत कामेश परमेश्वर ।
अमृतोद्भव सद्भाव मुक्तात्मन् विजयप्रद ॥ ५७ ॥

आप स्वभावतः संसारकी सृष्टिमें प्रवृत्त रहते हैं, आप ही सम्पूर्ण कामनाओंके स्वामी परमेश्वर हैं । अमृतकी उत्पत्तिके स्थान, सत्यस्वरूप, मुक्तात्मा और विजय देनेवाले आप ही हैं॥

प्रजापतिपते देव पद्मनाभ महाबल ।
आत्मभूत महाभूत सत्त्वात्मन् जय सर्वदा ॥ ५८ ॥

देव ! आप ही प्रजापतियोंके भी पति, पद्मनाभ और महाबली हैं । आत्मा और महाभूत भी आप ही हैं । सत्त्वस्वरूप परमेश्वर ! सदा आपकी जय हो ॥ ५८ ॥

पादौ तव धरा देवी दिशो बाहू दिवं शिरः ।
मूर्तिस्तेऽहं सुराः कायश्चन्द्रादित्यौ च चक्षुषी ॥ ५९ ॥

पृथ्वीदेवी आपके चरण हैं, दिशाएँ बाहु हैं और द्युलोक मस्तक है । मैं ब्रह्मा आपका शरीर, देवता अङ्ग-प्रत्यङ्ग और चन्द्रमा तथा सूर्य नेत्र हैं ॥ ५९ ॥

बलं तपश्च सत्यं च कर्म धर्मात्मकं तव ।
तेजोऽग्निः पवनः श्वास आपस्ते स्वेदसम्भवाः ॥ ६० ॥

तप और सत्य आपका बल है तथा धर्म और कर्म आपका स्वरूप है । अग्नि आपका तेज, वायु साँस और जल पसीना है ॥ ६० ॥

अश्विनौ श्रवणौ नित्यं देवी जिह्वा सरस्वती ।
वेदाः संस्कारनिष्ठा हि त्वयीदं जगदाश्रितम् ॥ ६१ ॥

अश्विनीकुमार आपके कान और सरस्वती देवी आपकी जिह्वा हैं । वेद आपकी संस्कारनिष्ठा हैं । यह जगत् सदा आपहीके आधारपर टिका हुआ है ॥ ६१ ॥

न संख्यानं परीमाणं न तेजो न पराक्रमम् ।
न बलं योगयोगीश जानीमस्ते न सम्भवम् ॥ ६२ ॥

योग-योगीश्वर ! हम न तो आपकी संख्या जानते हैं, न परिमाण । आपके तेज, पराक्रम और बलका भी हमें पता नहीं है । हम यह भी नहीं जानते कि आपका आविर्भाव कैसे होता है ॥ ६२ ॥

त्वद्भक्तिनिरता देव नियमैस्त्वां समाश्रिताः ।
अर्चयामः सदा विष्णो परमेशं महेश्वरम् ॥ ६३ ॥
ऋषयो देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
पिशाचा मानुषाश्चैव मृगपक्षिसरीसृपाः ॥ ६४ ॥
एवमादि मया सृष्टं पृथिव्यां त्वत्प्रसादजम् ।

देव ! हम तो आपकी उपासनामें लगे रहते हैं । आपके नियमोंका पालन करते हुए आपके ही शरण हैं । विष्णो ! हम सदा आप परमेश्वर एवं महेश्वरका पूजन ही करते हैं । आपकी ही कृपासे हमने पृथ्वीपर ऋषि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, पिशाच, मनुष्य, मृग, पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े आदिकी सृष्टि की है ॥ ६३-६४½ ॥

पद्मनाभ विशालाक्ष कृष्ण दुःखप्रणाशन ॥ ६५ ॥
त्वं गतिः सर्वभूतानां त्वं नेता त्वं जगद्गुरुः ।
त्वत्प्रसादेन देवेश सुखिनो विबुधाः सदा ॥ ६६ ॥

पद्मनाभ ! विशाललोचन ! दुःखहारी श्रीकृष्ण ! आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंके आश्रय और नेता हैं, आप ही संसारके गुरु हैं । देवेश्वर ! आपकी कृपादृष्टि होनेसे ही सब देवता सदा सुखी रहते हैं ॥ ६५-६६ ॥

पृथिवी निर्भया देव त्वत्प्रसादात् सदाभवत् ।
तस्माद् भव विशालाक्ष यदुवंशविवर्धनः ॥ ६७ ॥

देव ! आपके ही प्रसादसे पृथ्वी सदा निर्भय रही है, इसलिये विशाललोचन ! आप पुनः पृथ्वीपर यदुवंशमें अवतार लेकर उसकी कीर्ति बढ़ाइये ॥ ६७ ॥

धर्मसंस्थापनार्थाय दैत्यानां च वधाय च ।
जगतो धारणार्थाय विज्ञाप्यं कुरु मे विभो ॥ ६८ ॥

प्रभो ! धर्मकी स्थापना, दैत्योंके वध और जगत्की रक्षाके लिये हमारी प्रार्थना अवश्य स्वीकार कीजिये ॥ ६८ ॥

यत् तत् परमकं गुह्यं त्वत्प्रसादादिदं विभो ।
वासुदेव तदेतत् ते मयोद्गीतं यथातथम् ॥ ६९ ॥

वासुदेव ! आप ही पूर्णतम परमेश्वर हैं । आपका जो परम गुह्य यथार्थस्वरूप है, उसीका यहाँ इस रूपमें आपकी कृपासे ही गान किया गया है ॥ ६९ ॥

सृष्ट्वा संकर्षणं देवं स्वयमात्मानमात्मना ।
कृष्ण त्वमात्मनास्राक्षीः प्रद्युम्नं चात्मसम्भवम् ॥ ७० ॥

श्रीकृष्ण ! आपने आत्माद्वारा स्वयं अपने आपको ही संकर्षणदेवके रूपमें प्रकट करके अपने ही द्वारा आत्मज-स्वरूप प्रद्युम्नकी सृष्टि की है ॥ ७० ॥

प्रद्युम्नादनिरुद्धं त्वं यं विदुर्विष्णुमव्ययम् ।
अनिरुद्धोऽसृजन्मां वै ब्रह्माणं लोकधारिणम् ॥ ७१ ॥

प्रद्युम्नसे आपने ही उन अनिरुद्धको प्रकट किया है जिन्हें ज्ञानीजन अविनाशी विष्णुरूपसे जानते हैं । उन विष्णुरूप अनिरुद्धने ही मुझ लोकधाता ब्रह्माकी सृष्टि की है॥

वासुदेवमयः सोऽहं त्वयैवास्मि विनिर्मितः ।
(तस्माद् याचामि लोकेश चतुरात्मानमात्मना ।)
विभज्य भागशोऽऽत्मानं व्रज मानुषतां विभो ॥ ७२ ॥

प्रभो ! इस प्रकार आपने ही मेरी सृष्टि की है । आपसे अभिन्न होनेके कारण मैं भी वासुदेवमय हूँ । लोकेश्वर ! इसलिये याचना करता हूँ कि आप अपने आपको स्वयं ही (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) इन चार रूपोंमें विभक्त करके मानव-शरीर ग्रहण कीजिये ॥

तत्रासुरवधं कृत्वा सर्वलोकसुखाय वै ।
धर्मं प्राप्य यशः प्राप्य योगं प्राप्स्यसि तत्त्वतः ॥ ७३ ॥

वहाँ सब लोगोंके सुखके लिये असुरोंका वध करके धर्म और यशका विस्तार कीजिये । अन्तमें अवतारका उद्देश्य पूर्ण करके आप पुनः अपने पारमार्थिक स्वरूपसे संयुक्त हो जायँगे ॥ ७३ ॥

त्वां हि ब्रह्मर्षयो लोके देवाश्चामितविक्रम ।
तैस्तैर्हि नामभिर्युक्ता गायन्ति परमात्मकम् ॥ ७४ ॥

अमित पराक्रमी परमेश्वर ! संसारमें महर्षि और देवगण एकाग्रचित्त हो उन-उन लीलानुसारी नामोंद्वारा आपके परमात्मस्वरूपका गान करते रहते हैं ॥ ७४ ॥

स्थिताश्च सर्वे त्वयि भूतसंघाः
कृत्वाऽऽश्रयं त्वां वरदं सुबाहो ।
अनादिमध्यान्तमपारयोगं
लोकस्य सेतुं प्रवदन्ति विप्राः ॥ ७५ ॥

सुबाहो ! आप वरदायक प्रभुका ही आश्रय लेकर समस्त प्राणिसमुदाय आपमें ही स्थित हैं । ब्राह्मणलोग आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, किसी सीमाके सम्बन्धसे शून्य (असीम) तथा लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये सेतुस्वरूप बताते हैं ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ७६ श्लोक हैं)

षट्षष्टितमोऽध्यायः

नारायणावतार श्रीकृष्ण एवं नरावतार अर्जुनकी महिमाका प्रतिपादन

भीष्म उवाच

ततः स भगवान् देवो लोकानामीश्वरेश्वरः।
ब्रह्माणं प्रत्युवाचेदं स्निग्धगम्भीरया गिरा ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—दुर्योधन ! तब लोकेश्वरोंके भी ईश्वर दिव्यरूपधारी श्रीभगवान्ने स्नेहमधुर गम्भीर वाणीमें ब्रह्माजीसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

विदितं तात योगान्मे सर्वमेतत् तवेप्सितम्।
तथा तद् भवितेत्युक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥ २ ॥

'तात ! तुम्हारे मनमें जैसी इच्छा है, वह सब मुझे योगबलसे ज्ञात हो गयी है। उसके अनुसार ही सब कार्य होगा'—ऐसा कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २ ॥

ततो देवर्षिगन्धर्वा विस्मयं परमं गताः।
कौतूहलपराः सर्वे पितामहमथाब्रुवन् ॥ ३ ॥

तब देवता, ऋषि और गन्धर्व सभी बड़े विस्मयमें पड़े। उन सबने अत्यन्त उत्सुक होकर पितामह ब्रह्माजीसे कहा—॥ ३ ॥



को न्वयं यो भगवता प्रणम्य विनयाद् विभो।
वाग्भिः स्तुतो वरिष्ठाभिः श्रोतुमिच्छाम तं वयम् ॥४॥

'प्रभो ! आपने विनयपूर्वक प्रणाम करके श्रेष्ठ वचनोंद्वारा जिनकी स्तुति की है, ये कौन थे ? हम उनके विषयमें सुनना चाहते हैं' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु भगवान् प्रत्युवाच पितामहः।
देवब्रह्मर्षिगन्धर्वान् सर्वान् मधुरया गिरा ॥ ५ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर भगवान् ब्रह्माने उन समस्त देवताओं, ब्रह्मर्षियों और गन्धर्वोंसे मधुर वाणीमें कहा—॥

यत् तत् परं भविष्यं च भवितव्यं च यत्परम्।
भूतात्मा च प्रभुश्चैव ब्रह्म यच्च परं पदम् ॥ ६ ॥
तेनास्मि कृतसंवादः प्रसन्नेन सुरर्षभाः।
जगतोऽनुग्रहार्थाय याचितो मे जगत्पतिः ॥ ७ ॥
मानुषं लोकमातिष्ठ वासुदेव इति श्रुतः।
असुराणां वधार्थाय सम्भवस्व महीतले ॥ ८ ॥

'श्रेष्ठ देवताओ ! जो परम तत्त्व हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों जिनके उत्कृष्ट स्वरूप हैं तथा जो इन सबसे विलक्षण हैं, जिन्हें सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा और सर्वशक्तिमान् प्रभु कहा गया है, जो परम ब्रह्म और परम पदके नामसे विख्यात हैं, उन्हीं परमात्माने मुझे दर्शन देकर मुझसे प्रसन्न हो बातचीत की है। मैंने उन जगदीश्वरसे सम्पूर्ण जगत्पर कृपा करनेके लिये यों प्रार्थना की है कि प्रभो ! आप वासुदेव नामसे विख्यात होकर कुछ कालतक मनुष्यलोकमें रहें और असुरोंके वधके लिये इस भूतलपर अवतीर्ण हों ॥ ६–८ ॥

संग्रामे निहता ये ते दैत्यदानवराक्षसाः।
त इमे नृषु सम्भूता घोररूपा महाबलाः ॥ ९ ॥

'जो-जो दैत्य, दानव तथा राक्षस संग्रामभूमिमें मारे गये थे, वे मनुष्यलोकमें उत्पन्न हुए हैं और अत्यन्त बलवान् होकर जगत्के लिये भयंकर बन बैठे हैं ॥ ९ ॥

तेषां वधार्थं भगवान् नरेण सहितो वशी।
मानुषीं योनिमास्थाय चरिष्यति महीतले ॥ १० ॥

'उन सबका वध करनेके लिये सबको वशमें करनेवाले भगवान् नारायण नरके साथ मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण होकर भूतलपर विचरेंगे ॥ १० ॥

नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ।
सहितौ मानुषे लोके सम्भूतावमितद्युती ॥ ११ ॥

'ऋषियोंमें श्रेष्ठ जो पुरातन महर्षि अमित तेजस्वी नर और नारायण हैं, वे एक साथ मानवलोकमें अवतीर्ण होंगे ॥

अजेयौ समरे यत्तौ सहितैरमरैरपि।
मूढास्त्वेतौ न जानन्ति नरनारायणावृषी ॥ १२ ॥

'युद्धभूमिमें यदि वे विजयके लिये यत्नशील हों तो सम्पूर्ण देवता भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते। मूढ़ मनुष्य उन नर-नारायण ऋषिको नहीं जान सकेंगे ॥ १२ ॥

तस्याहमग्रजः पुत्रः सर्वस्य जगतः प्रभुः।
वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्वलोकमहेश्वरः ॥ १३ ॥

'सम्पूर्ण जगत्‌का स्वामी मैं ब्रह्मा उन भगवान्‌का ज्येष्ठ पुत्र हूँ। तुम सब लोगोंको उन सर्वलोकमहेश्वर भगवान् वासुदेवकी आराधना करनी चाहिये ॥ १३ ॥

तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित् सुरसत्तमाः।
नावज्ञेयो महावीर्यः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ १४ ॥

'सुरश्रेष्ठगण! शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले उन महापराक्रमी भगवान् वासुदेवका 'ये मनुष्य हैं' ऐसा समझकर अनादर नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

एतत् परमकं गुह्यमेतत् परमकं पदम्।
एतत् परमकं ब्रह्म एतत् परमकं यशः ॥ १५ ॥
एतदक्षरमव्यक्तमेतद् वै शाश्वतं महः।

'ये भगवान् ही परम गुह्य हैं। ये ही परम पद हैं। ये ही परम ब्रह्म हैं। ये ही परम यश हैं और ये ही अक्षर, अव्यक्त एवं सनातन तेज हैं ॥ १५½ ॥

यत् तत् पुरुषसंज्ञं वै गीयते ज्ञायते न च ॥ १६ ॥
एतत् परमकं तेज एतत् परमकं सुखम्।
एतत् परमकं सत्यं कीर्तितं विश्वकर्मणा ॥ १७ ॥

'ये ही पुरुष नामसे कहे जाते हैं, किंतु इनका वास्तविक रूप जाना नहीं जा सकता। ये ही विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीके द्वारा परम सुख, परम तेज और परम सत्य कहे गये हैं ॥ १६-१७ ॥

तस्मात् सेन्द्रैः सुरैः सर्वैर्लोकैश्चामितविक्रमः।
नावज्ञेयो वासुदेवो मानुषोऽयमिति प्रभुः ॥ १८ ॥

'इसलिये 'ये मनुष्य हैं,' ऐसा समझकर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओं तथा संसारके मनुष्योंको अमित पराक्रमी भगवान् वासुदेवकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये ॥ १८ ॥

यश्च मानुषमात्रोऽयमिति ब्रूयात् स मन्दधीः।
हृषीकेशमवज्ञानात् तमाहुः पुरुषाधमम् ॥ १९ ॥

'जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी इन भगवान् वासुदेवको केवल मनुष्य कहता है, वह मूर्ख है। भगवान्‌की अवहेलना करनेके कारण उसे नराधम कहा गया है ॥ १९ ॥

योगिनं तं महात्मानं प्रविष्टं मानुषीं तनुम्।
अवमन्येद् वासुदेवं तमाहुस्तामसं जनाः ॥ २० ॥

'भगवान् वासुदेव साक्षात् परमात्मा हैं और योगशक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण उन्होंने मानव-शरीरमें प्रवेश किया है। जो उनकी अवहेलना करता है, उसे ज्ञानी पुरुष तमोगुणी बताते हैं ॥ २० ॥

देवं चराचरात्मानं श्रीवत्साङ्कं सुवर्चसम्।
पद्मनाभं न जानाति तमाहुस्तामसं बुधाः ॥ २१ ॥

'जो चराचरस्वरूप श्रीवत्स-चिह्नभूषित उत्तम कान्तिसे सम्पन्न भगवान् पद्मनाभको नहीं जानता, उसे विद्वान् पुरुष तमोगुणी कहते हैं ॥ २१ ॥

किरीटकौस्तुभधरं मित्राणामभयंकरम्।
अवजानन् महात्मानं घोरे तमसि मज्जति ॥ २२ ॥

'जो किरीट और कौस्तुभमणि धारण करनेवाले तथा मित्रों (भक्तजनों) को अभय देनेवाले हैं, उन परमात्माकी अवहेलना करनेवाला मनुष्य घोर नरकमें डूबता है ॥ २२ ॥

एवं विदित्वा तत्त्वार्थं लोकानामीश्वरेश्वरः।
वासुदेवो नमस्कार्यः सर्वलोकैः सुरोत्तमाः ॥ २३ ॥

'सुरश्रेष्ठगण! इस प्रकार तात्त्विक वस्तुको समझकर सब लोगोंको लोकेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् वासुदेवको नमस्कार करना चाहिये' ॥ २३ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् देवान् सर्षिगणान् पुरा।
विसृज्य सर्वभूतात्मा जगाम भवनं स्वकम् ॥ २४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—दुर्योधन! देवताओं तथा ऋषियोंसे ऐसा कहकर पूर्वकालमें सर्वभूतात्मा भगवान् ब्रह्माने उन सबको विदा कर दिया। फिर वे अपने लोकको चले गये ॥ २४ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा मुनयोऽप्सरसोऽपि च।
कथां तां ब्रह्मणा गीतां श्रुत्वा प्रीता दिवं ययुः ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजीकी कही हुई उस परमार्थ-चर्चाको सुनकर देवता, गन्धर्व, मुनि और अप्सराएँ—ये सभी प्रसन्नतापूर्वक स्वर्गलोकमें चले गये ॥ २५ ॥

एतच्छ्रुतं मया तात ऋषीणां भावितात्मनाम्।
वासुदेवं कथयतां समवाये पुरातनम् ॥ २६ ॥

तात! एक समय शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका एक समाज जुटा हुआ था, जिसमें वे पुरातन भगवान् वासुदेवकी माहात्म्य-कथा कह रहे थे। उन्हींके मुँहसे मैंने ये सब बातें सुनी हैं ॥ २६ ॥

रामस्य जामदग्न्यस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः।
व्यासनारदयोश्चापि सकाशाद् भरतर्षभ ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ! इसके सिवा जमदग्निनन्दन परशुराम, बुद्धिमान् मार्कण्डेय, व्यास तथा नारदसे भी मैंने यह बात सुनी है ॥ २७ ॥

एतमर्थं च विज्ञाय श्रुत्वा च प्रभुमव्ययम्।
वासुदेवं महात्मानं लोकानामीश्वरेश्वरम् ॥ २८ ॥
(जानामि भरतश्रेष्ठ कृष्णं नारायणं प्रभुम्।)

भरतकुलभूषण! इस विषयको सुन और समझकर मैं वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको अविनाशी प्रभु परमात्मा लोकेश्वरेश्वर और सर्वशक्तिमान् नारायण जानता हूँ ॥ २८ ॥

यस्य चैवात्मजो ब्रह्मा सर्वस्य जगतः पिता।

कथं न वासुदेवोऽयमर्च्यश्चेज्यश्च मानवैः ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण जगत्‌के पिता ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं, वे भगवान् वासुदेव मनुष्योंके लिये आराधनीय तथा पूजनीय कैसे नहीं हैं ? ॥

वारितोऽसि मया तात मुनिभिर्वेदपारगैः ।
मा गच्छ संयुगं तेन वासुदेवेन धन्विना ॥ ३० ॥
मा पाण्डवैः सार्धमिति तत् त्वं मोहान्न बुध्यसे ।
मन्ये त्वां राक्षसं क्रूरं तथा चासि तमोवृतः ॥ ३१ ॥

तात ! वेदोंके पारंगत विद्वान् महर्षियोंने तथा मैंने तुमको मना किया था कि तुम धनुर्धर भगवान् वासुदेवके साथ विरोध न करो, पाण्डवोंके साथ लोहा न लो; परंतु मोहवश तुमने इन बातोंका कोई मूल्य नहीं समझा । मैं समझता हूँ, तुम कोई क्रूर राक्षस हो; क्योंकि राक्षसोंके ही समान तुम्हारी बुद्धि सदा तमोगुणसे आच्छन्न रहती है ॥ ३०-३१ ॥

यस्माद् द्विषसि गोविन्दं पाण्डवं तं धनंजयम् ।
नरनारायणौ देवौ कोऽन्यो द्विष्याद्धि मानवः ॥ ३२ ॥

तुम भगवान् गोविन्द तथा पाण्डुनन्दन धनंजयसे द्वेष करते हो । वे दोनों ही नर और नारायण देव हैं । तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य उनसे द्वेष कर सकता है ? ॥

तस्माद् ब्रवीमि ते राजन्नेष वै शाश्वतोऽव्ययः ।
सर्वलोकमयो नित्यः शास्ता धात्रीधरो ध्रुवः ॥ ३३ ॥

राजन् ! इसलिये तुम्हें यह बता रहा हूँ कि ये भगवान् श्रीकृष्ण सनातन, अविनाशी, सर्वलोकस्वरूप, नित्य शासक, धरणीधर एवं अविचल हैं ॥ ३३ ॥

यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः ।
योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः ॥ ३४ ॥

ये चराचरगुरु भगवान् श्रीहरि तीनों लोकोंको धारण करते हैं । ये ही योद्धा हैं, ये ही विजय हैं और ये ही विजयी हैं । सबके कारणभूत परमेश्वर भी ये ही हैं ॥ ३४ ॥

राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः ।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३५ ॥

राजन् ! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप और तम एवं रागसे रहित हैं । जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है ॥ ३५ ॥

तस्य माहात्म्ययोगेन योगेनात्ममयेन च ।
धृताः पाण्डुसुता राजञ्जयश्चैषां भविष्यति ॥ ३६ ॥

उनके माहात्म्य-योगसे तथा आत्मस्वरूपयोगसे समस्त पाण्डव सुरक्षित हैं । राजन् ! इसीलिये इनकी विजय होगी ॥

श्रेयोयुक्तां सदा बुद्धिं पाण्डवानां दधाति यः ।
बलं चैव रणे नित्यं भयेभ्यश्चैव रक्षति ॥ ३७ ॥

वे पाण्डवोंको सदा कल्याणमयी बुद्धि प्रदान करते हैं, युद्धमें बल देते हैं और भयसे नित्य उनकी रक्षा करते हैं ॥

स एष शाश्वतो देवः सर्वगुह्यमयः शिवः ।
वासुदेव इति ज्ञेयो यन्मां पृच्छसि भारत ॥ ३८ ॥

भारत ! जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे हो, वे सनातन देवता सर्वगुह्यमय कल्याणस्वरूप परमात्मा ही 'वासुदेव' नामसे जानने योग्य हैं ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः ।
सेव्यतेऽभ्यर्च्यते चैव नित्ययुक्तैः स्वकर्मभिः ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुभ लक्षणसम्पन्न शूद्र—ये सभी नित्य तत्पर होकर अपने कर्मोंद्वारा इन्हींकी सेवा-पूजा करते हैं ॥ ३९ ॥

द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ।
सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन वै ॥ ४० ॥
(कृष्णेति नाम्ना विख्यात इमं लोकं स रक्षति ।)

द्वापरयुगके अन्त और कलियुगके आदिमें संकर्षणने श्रीकृष्णोपासनाकी विधिका आश्रय ले इन्हींकी महिमाका गान किया है । ये ही श्रीकृष्णनामसे विख्यात होकर इस लोककी रक्षा करते हैं ॥ ४० ॥

स एष सर्वं सुरमर्त्यलोकं
समुद्रकक्ष्यान्तरितां पुरीं च ।
युगे युगे मानुषं चैव वासं
पुनः पुनः सृजते वासुदेवः ॥ ४१ ॥

ये भगवान् वासुदेव ही युग-युगमें देवलोक, मर्त्यलोक तथा समुद्रसे घिरी हुई द्वारिका नगरीका निर्माण करते हैं और ये ही बारंबार मनुष्यलोकमें अवतार ग्रहण करते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा

दुर्योधन उवाच

वासुदेवो महद् भूतं सर्वलोकेषु कथ्यते ।
तस्यागमं प्रतिष्ठां च ज्ञातुमिच्छे पितामह ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—पितामह ! वासुदेव श्रीकृष्णको सम्पूर्ण लोकोंमें महान् बताया जाता है; अतः मैं उनकी उत्पत्ति और स्थितिके विषयमें जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥



भीष्म उवाच

वासुदेवो महद् भूतं सर्वदैवतदैवतम् ।
न परं पुण्डरीकाक्षाद् दृश्यते भरतर्षभ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण वास्तवमें महान् हैं । वे सम्पूर्ण देवताओंके भी देवता हैं । कमलनयन श्रीकृष्णसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥ २ ॥

मार्कण्डेयश्च गोविन्दे कथयत्यद्भुतं महत् ।
सर्वभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः ॥ ३ ॥
आपो वायुश्च तेजश्च त्रयमेतदकल्पयत् ।

मार्कण्डेयजी भगवान् गोविन्दके विषयमें अत्यन्त अद्भुत बातें कहते हैं । वे भगवान् ही सर्वभूतमय हैं और वे ही सबके आत्मस्वरूप महात्मा पुरुषोत्तम हैं । सृष्टिके आरम्भमें इन्हीं परमात्माने जल, वायु और तेज—इन तीन भूतों तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि की थी ॥ ३½ ॥

स सृष्ट्वा पृथिवीं देवीं सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ॥ ४ ॥
अप्सु वै शयनं चक्रे महात्मा पुरुषोत्तमः ।
सर्वतेजोमयो देवो योगात् सुष्वाप तत्र ह ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वर इन भगवान् श्रीहरिने पृथ्वीदेवीकी सृष्टि करके जलमें शयन किया । वे महात्मा पुरुषोत्तम सर्वतेजोमय देवता योगशक्तिसे उस जलमें सोये ॥ ४-५ ॥

मुखतः सोऽग्निमसृजत् प्राणाद् वायुमथापि च ।
सरस्वतीं च वेदांश्च मनसः ससृजेऽच्युतः ॥ ६ ॥

उन अच्युतने अपने मुखसे अग्निकी, प्राणसे वायुकी तथा मनसे सरस्वतीदेवी और वेदोंकी रचना की ॥ ६ ॥

एष लोकान् ससर्जादौ देवांश्च ऋषिभिः सह ।
निधनं चैव मृत्युं च प्रजानां प्रभवाप्ययौ ॥ ७ ॥

इन्होंने ही सर्गके आरम्भमें सम्पूर्ण लोकों तथा ऋषियोंसहित देवताओंकी रचना की थी । ये ही प्रलयके अधिष्ठान और मृत्युस्वरूप हैं । प्रजाकी उत्पत्ति और विनाश इन्हींसे होते हैं ॥ ७ ॥

एष धर्मश्च धर्मज्ञो वरदः सर्वकामदः ।
एष कर्ता च कार्यं च पूर्वदेवः स्वयम्प्रभुः ॥ ८ ॥

ये धर्मज्ञ, वरदाता, सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले तथा धर्मस्वरूप हैं । ये ही कर्ता, कार्य, आदिदेव तथा स्वयं सर्वसमर्थ हैं ॥ ८ ॥

भूतं भव्यं भविष्यच्च पूर्वमेतदकल्पयत् ।
उभे संध्ये दिशः खं च नियमांश्च जनार्दनः ॥ ९ ॥

भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी सृष्टि भी पूर्वकालमें इन्हींके द्वारा हुई है । इन जनार्दनने ही दोनों संध्याओं, दसों दिशाओं, आकाश तथा नियमोंकी रचना की है ॥ ९ ॥

ऋषींश्चैव हि गोविन्दस्तपश्चैवाभ्यकल्पयत् ।
स्रष्टारं जगतश्चापि महात्मा प्रभुरव्ययः ॥ १० ॥

महात्मा अविनाशी प्रभु गोविन्दने ही ऋषियों तथा तपस्याकी रचना की है । जगत्स्रष्टा प्रजापतिको भी उन्होंने ही उत्पन्न किया है ॥ १० ॥

अग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत् ।
तस्मान्नारायणो जज्ञे देवदेवः सनातनः ॥ ११ ॥

उन पूर्णतम परमात्मा श्रीकृष्णने पहले सम्पूर्ण भूतोंके अग्रज संकर्षणको प्रकट किया, उनसे सनातन देवाधिदेव नारायणका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ११ ॥

नाभौ पद्मं बभूवास्य सर्वलोकस्य सम्भवात् ।
तस्मात् पितामहो जातस्तस्माज्जातास्त्विमाः प्रजाः ।१२।

नारायणकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ । सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके स्थानभूत उस कमलसे पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीसे ये सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं ॥

शेषं चाकल्पयद् देवमनन्तं विश्वरूपिणम् ।
यो धारयति भूतानि धरां चेमां सपर्वताम् ॥ १३ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंको तथा पर्वतोंसहित इस पृथ्वीको धारण करते हैं, जिन्हें विश्वरूपी अनन्तदेव तथा शेष कहा गया है, उन्हें भी उन परमात्माने ही उत्पन्न किया है ॥ १३ ॥

ध्यानयोगेन विप्राश्च तं विदन्ति महौजसम् ।
कर्णस्रोतोद्भवं चापि मधुं नाम महासुरम् ॥ १४ ॥
तमुग्रमुग्रकर्माणमुग्रां बुद्धिं समास्थितम् ।
ब्रह्मणोऽपचितिं कुर्वञ् जघान पुरुषोत्तमः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणलोग ध्यानयोगके द्वारा इन्हीं परम तेजस्वी वासुदेवका ज्ञान प्राप्त करते हैं । जलशायी नारायणके कानकी मैलसे महान् असुर मधुका प्राकट्य हुआ था । वह मधु बड़े ही उग्र स्वभावका तथा क्रूरकर्मा था । उसने ब्रह्माजीका समादर करते हुए अत्यन्त भयंकर बुद्धिका आश्रय लिया था। इसलिये ब्रह्माजीका समादर करते हुए भगवान् पुरुषोत्तमने मधुको मार डाला था ॥ १४-१५ ॥

तस्य तात वधादेव देवदानवमानवाः ।
मधुसूदनमित्याहुर्ऋषयश्च जनार्दनम् ॥ १६ ॥

तात ! मधुका वध करनेके कारण ही देवता, दानव, मनुष्य तथा ऋषिगण श्रीजनार्दनको मधुसूदन कहते हैं॥१६॥

वराहश्चैव सिंहश्च त्रिविक्रमगतिः प्रभुः ।
एष माता पिता चैव सर्वेषां प्राणिनां हरिः ॥ १७ ॥

वे ही भगवान् समय-समयपर वाराह, नृसिंह और वामनके रूपमें प्रकट हुए हैं । ये श्रीहरि ही समस्त प्राणियोंके पिता और माता हैं ॥ १७ ॥

परं हि पुण्डरीकाक्षान्न भूतं न भविष्यति ।
मुखतः सोऽसृजद् विप्रान् बाहुभ्यां क्षत्रियांस्तथा।१८।
वैश्यांश्चाप्यूरुतो राजञ्शूद्रान् वै पादतस्तथा।

इन कमलनयन भगवान्से बढ़कर दूसरा कोई तत्त्व न हुआ है, न होगा । राजन् ! इन्होंने अपने मुखसे ब्राह्मणों, दोनों भुजाओंसे क्षत्रियों, जंघासे वैश्यों और चरणोंसे शूद्रोंको उत्पन्न किया है ॥ १८½ ॥

तपसा नियतो देवं विधानं सर्वदेहिनाम् ॥ १९ ॥
ब्रह्मभूतममावास्यां पौर्णमास्यां तथैव च ।
योगभूतं परिचरन् केशवं महदाप्नुयात् ॥ २० ॥

जो मनुष्य तपस्यामें तत्पर हो संयम-नियमका पालन करते हुए अमावास्या और पूर्णिमाको समस्त देहधारियोंके आश्रय, ब्रह्म एवं योगस्वरूप भगवान् केशव[1]की आराधना करता है, वह परम पदको प्राप्त कर लेता है ॥१९-२०॥

केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः ।
एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! सम्पूर्ण लोकोंके पितामह भगवान् श्रीकृष्ण परम तेज हैं । मुनिजन इन्हें हृषीकेश कहते हैं ॥ २१ ॥

एवमेनं विजानीहि आचार्यं पितरं गुरुम् ।
कृष्णो यस्य प्रसीदेत लोकास्तेनाक्षया जिताः ॥ २२ ॥

इस प्रकार इन भगवान् गोविन्दको तुम आचार्य, पिता और गुरु समझो । भगवान् श्रीकृष्ण जिनके ऊपर प्रसन्न हो जायँ, वह अक्षय लोकोंपर विजय पा जाता है ॥ २२ ॥

यश्चैवैनं भयस्थाने केशवं शरणं व्रजेत् ।
सदा नरः पठंश्चेदं स्वस्तिमान् स सुखी भवेत् ॥ २३ ॥

जो मनुष्य भयके समय इन भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेता है और सर्वदा इस स्तुतिका पाठ करता है, वह सुखी एवं कल्याणका भागी होता है ॥ २३ ॥

ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः ।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः ॥ २४ ॥

जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते । जनार्दन महान् भयमें निमग्न भगवान् उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं ॥ २४ ॥

स तं युधिष्ठिरो ज्ञात्वा याथातथ्येन भारत ।
सर्वात्मना महात्मानं केशवं जगदीश्वरम् ।
प्रपन्नः शरणं राजन् योगानां प्रभुमीश्वरम् ॥ २५ ॥

भरतवंशी नरेश ! इस बातको अच्छी तरह समझकर राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण हृदयसे योगोंके स्वामी, सर्वसमर्थ, जगदीश्वर एवं महात्मा भगवान् केशवकी शरण ली है ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

---

१. केशव नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—क=ब्रह्मा, अ=विष्णु, ईश=शिव जिनके वपु हैं ।

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

ब्रह्मभूतस्तोत्र तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महत्ता

भीष्म उवाच

शृणु चेदं महाराज ब्रह्मभूतं स्तवं मम।
ब्रह्मर्षिभिश्च देवैश्च यः पुरा कथितो भुवि ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज दुर्योधन ! पूर्वकालमें इस भूतलपर ब्रह्मर्षियों तथा देवताओंने इनका जो ब्रह्मभूत स्तोत्र कहा है, उसे तुम मुझसे सुनो—॥ १ ॥

साध्यानामपि देवानां देवदेवेश्वरः प्रभुः।
लोकभावनभावज्ञ इति त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

'प्रभो ! आप साध्यगण और देवताओंके भी स्वामी एवं देवदेवेश्वर हैं। आप सम्पूर्ण जगत्के हृदयके भावोंको जाननेवाले हैं। आपके विषयमें नारदजीने ऐसा ही कहा है ॥

भूतं भव्यं भविष्यं च मार्कण्डेयोऽभ्युवाच ह।
यज्ञं त्वां चैव यज्ञानां तपश्च तपसामपि ॥ ३ ॥

'मार्कण्डेयजीने आपको भूत, भविष्य और वर्तमान स्वरूप बताया है। वे आपको यज्ञोंका यज्ञ और तपस्याओंका भी सारभूत तप बताया करते हैं ॥ ३ ॥

देवानामपि देवं च त्वामाह भगवान् भृगुः।
पुराणं चैव परमं विष्णो रूपं तवेति च ॥ ४ ॥

'भगवान् भृगुने आपको देवताओंका भी देवता कहा है। विष्णो ! आपका रूप अत्यन्त पुरातन और उत्कृष्ट है ॥

वासुदेवो वसूनां त्वं शक्रं स्थापयिता तथा।
देव देवोऽसि देवानामिति द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

'प्रभो ! आप वसुओंके वासुदेव तथा इन्द्रको स्वर्गके राज्यपर स्थापित करनेवाले हैं। देव ! आप देवताओंके भी देवता हैं। महर्षि द्वैपायन आपके विषयमें ऐसा ही कहते हैं॥

पूर्वे प्रजानिसर्गे च दक्षमाहुः प्रजापतिम्।
स्रष्टारं सर्वलोकानामङ्गिरास्त्वां तथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

'प्रथम प्रजासृष्टिके समय आपको ही दक्ष प्रजापति कहा गया है। आप ही सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा हैं—इस प्रकार अङ्गिरा मुनि आपके विषयमें कहते हैं ॥ ६ ॥

अव्यक्तं ते शरीरोत्थं व्यक्तं ते मनसि स्थितम्।
देवास्त्वत्सम्भवाश्चैव देवलस्त्वसितोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥

'अव्यक्त (प्रधान) आपके शरीरसे उत्पन्न हुआ है, व्यक्त महत्तत्त्व आदि कार्यवर्ग आपके मनमें स्थित है तथा सम्पूर्ण देवता भी आपसे ही उत्पन्न हुए हैं; ऐसा असित और देवलका कथन है ॥ ७ ॥

शिरसा ते दिवं व्याप्तं बाहुभ्यां पृथिवी तथा।
जठरं ते त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ८ ॥
एवं त्वामभिजानन्ति तपसा भाविता नराः।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणां चासि सत्तमः ॥ ९ ॥

'आपके मस्तकसे द्युलोक और भुजाओंसे भूलोक व्याप्त है। तीनों लोक आपके उदरमें स्थित हैं। आप ही सनातन पुरुष हैं। तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा पुरुष आपको ऐसा ही जानते हैं। आत्मसाक्षात्कारसे तृप्त हुए ज्ञानी महर्षियोंकी दृष्टिमें भी आप सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ ८-९ ॥

राजर्षीणामुदाराणामाहवेष्वनिवर्तिनाम्।
सर्वधर्मप्रधानानां त्वं गतिर्मधुसूदन ॥ १० ॥

'मधुसूदन ! जो सम्पूर्ण धर्मोंमें प्रधान और संग्रामसे कभी पीछे हटनेवाले नहीं हैं, उन उदार राजर्षियोंके परम आश्रय भी आप ही हैं ॥ १० ॥

इति नित्यं योगविद्भिर्भगवान् पुरुषोत्तमः।
सनत्कुमारप्रमुखैः स्तूयतेऽभ्यर्च्यते हरिः ॥ ११ ॥

'इस प्रकार सनत्कुमार आदि योगवेत्ता पापापहारी आप भगवान् पुरुषोत्तमकी सदा ही स्तुति और पूजा करते हैं' ॥

एष ते विस्तरस्तात संक्षेपश्च प्रकीर्तितः।
केशवस्य यथातत्त्वं सुप्रीतो भज केशवम् ॥ १२ ॥

तात दुर्योधन ! इस तरह विस्तार और संक्षेपसे मैंने तुम्हें भगवान् केशवकी यथार्थ महिमा बतायी है। अब तुम अत्यन्त प्रसन्न होकर उनका भजन करो ॥ १२ ॥

संजय उवाच

पुण्यं श्रुत्वैतदाख्यानं महाराज सुतस्तव।
केशवं बहु मेने स पाण्डवांश्च महारथान् ॥ १३ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! भीष्मजीके मुखसे यह पवित्र आख्यान सुनकर तुम्हारे पुत्रने भगवान् श्रीकृष्ण तथा महारथी पाण्डवोंको बहुत महत्त्वशाली समझा ॥ १३ ॥

तमब्रवीन्महाराज भीष्मः शान्तनवः पुनः।
माहात्म्यं ते श्रुतं राजन् केशवस्य महात्मनः ॥ १४ ॥
नरस्य च यथातत्त्वं यन्मां त्वं पृच्छसे नृप।

राजन् ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मजीने पुनः दुर्योधनसे कहा—'नरेश्वर ! तुमने महात्मा केशव तथा नरस्वरूप अर्जुनका यथार्थ माहात्म्य, जिसके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे थे, मुझसे अच्छी तरह सुन लिया ॥ १४½ ॥

यदर्थं नृषु सम्भूतौ नरनारायणावृषी ॥ १५ ॥
अवध्यौ च यथा वीरौ संयुगेष्वपराजितौ।
यथा च पाण्डवा राजन्नवध्या युधि कस्यचित् ॥ १६ ॥

'ऋषि नर और नारायण जिस उद्देश्यसे मनुष्योंमें

अवतीर्ण हुए हैं, वे दोनों अपराजित वीर जिस प्रकार युद्धमें अवध्य हैं तथा समस्त पाण्डव भी जिस प्रकार समरभूमिमें किसीके लिये भी वध्य नहीं हैं, वह सब विषय तुमने अच्छी तरह सुन लिया ॥ १५-१६ ॥

प्रीतिमान् हि दृढं कृष्णः पाण्डवेषु यशस्विषु ।
तस्माद् ब्रवीमि राजेन्द्र शमो भवतु पाण्डवैः ॥ १७ ॥

'राजेन्द्र ! भगवान् श्रीकृष्ण यशस्वी पाण्डवोंपर बहुत प्रसन्न हैं । इसीलिये मैं कहता हूँ कि पाण्डवोंके साथ तुम्हारी संधि हो जाय ॥ १७ ॥

पृथिवीं भुङ्क्ष्व सहितो भ्रातृभिर्बलिभिर्वशी ।
नरनारायणौ देवाववज्ञाय नशिष्यसि ॥ १८ ॥

'वे तुम्हारे बलवान् भाई हैं । तुम अपने मनको वशमें रखते हुए उनके साथ मिलकर पृथ्वीका राज्य भोगो । भगवान् नर-नारायण (अर्जुन और श्रीकृष्ण) की अवहेलना करके तुम नष्ट हो जाओगे ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा तव पिता तूष्णीमासीद् विशाम्पते ।
व्यसर्जयच्च राजानं शयनं च विवेश ह ॥ १९ ॥

प्रजानाथ ! ऐसा कहकर आपके ताऊ भीष्मजी चुप हो गये । तत्पश्चात् उन्होंने राजा दुर्योधनको विदा किया और स्वयं शयन करने चले गये ॥ १९ ॥

राजा च शिबिरं प्रायात् प्रणिपत्य महात्मने ।
शिश्ये च शयने शुभ्रे रात्रिं तां भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा दुर्योधन भी महात्मा भीष्मको प्रणाम करके अपने शिबिरमें चला आया और अपनी शुभ्र शय्या पर सो गया ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

कौरवोंद्वारा मकरव्यूह तथा पाण्डवोंद्वारा श्येनव्यूहका निर्माण एवं पाँचवें दिनके युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

व्युषितायां तु शर्वर्यामुदिते च दिवाकरे ।
उभे सेने महाराज युद्धायैव समीयतुः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! वह रात बीतनेपर जब सूर्योदय हुआ, तब दोनों ओरकी सेनाएँ आमने-सामने आकर युद्धके लिये डट गयीं ॥ १ ॥

अभ्यधावन्त संक्रुद्धाः परस्परजिगीषवः ।
ते सर्वे सहिता युद्धे समालोक्य परस्परम् ॥ २ ॥
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च राजन् दुर्मन्त्रिते तव ।
व्यूहौ च व्यूह्य संरब्धाः सम्प्रहृष्टाः प्रहारिणः ॥ ३ ॥

सबने एक दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अत्यन्त क्रोधमें भरकर विपक्षी सेनापर आक्रमण किया । राजन् ! आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप आपके पुत्र और पाण्डव एक दूसरेको देखकर कुपित हो सब-के-सब अपने सहायकोंके साथ आकर सेनाकी व्यूह-रचना करके हर्ष और उत्साहमें भरकर परस्पर प्रहार करनेको उद्यत हो गये ॥ २-३ ॥

अरक्षन्मकरव्यूहं भीष्मो राजन् समन्ततः ।
तथैव पाण्डवा राजन्नरक्षन् व्यूहमात्मनः ॥ ४ ॥

राजन् ! भीष्म सेनाका मकरव्यूह बनाकर सब ओरसे उसकी रक्षा करने लगे । इसी प्रकार पाण्डवोंने भी अपने व्यूहकी रक्षा की ॥ ४ ॥

(अजातशत्रुः शत्रूणां मनांसि समकम्पयत् ।
श्येनवद् व्यूह्य तं व्यूहं धौम्यस्य वचनात् स्वयम् ॥
स हि तस्य सुविज्ञात अग्निचित्येषु भारत ।
मकरस्तु महाव्यूहस्तव पुत्रस्य धीमतः ॥
स्वयं सर्वेण सैन्येन द्रोणेनानुमतस्तदा ।
यथाव्यूहं शान्तनवः सोऽन्ववर्तत तत् पुनः ॥)
स निर्ययौ महाराज पिता देवव्रतस्तव ।
महता रथवंशेन संवृतो रथिनां वरः ॥ ५ ॥

स्वयं अजातशत्रु युधिष्ठिरने धौम्य मुनिकी आज्ञासे श्येनव्यूहकी रचना करके शत्रुओंके हृदयमें कँपकँपी पैदा कर दी । भारत ! अग्निचयनसम्बन्धी कर्मोंमें रहते हुए उन्हें श्येनव्यूहका विशेष परिचय था । आपके बुद्धिमान् पुत्रकी सेनाका मकरनामक महाव्यूह निर्मित हुआ था । द्रोणाचार्यकी अनुमति लेकर उसने स्वयं सारी सेनाके द्वारा उस व्यूहकी रचना की थी । फिर शान्तनुनन्दन भीष्मने व्यूहकी विधिके अनुसार निर्मित हुए उस महाव्यूहका स्वयं भी अनुसरण किया था । महाराज ! रथियोंमें श्रेष्ठ आपके ताऊ भीष्म विशाल रथसेनासे घिरे हुए युद्धके लिये निकले ॥ ५ ॥

इतरेतरमन्वीयुर्यथाभागमवस्थिताः ।
रथिनः पत्तयश्चैव दन्तिनः सादिनस्तथा ॥ ६ ॥

फिर यथाभाग खड़े हुए रथी, पैदल, हाथीसवार और

घुड़सवार सब एक दूसरेका अनुसरण करते हुए चल दिये ॥

तान् दृष्ट्वाभ्युद्यतान् संख्ये पाण्डवा हि यशस्विनः।
श्येनेन व्यूहराजेन तेनाजय्येन संयुगे ॥ ७ ॥
अशोभत मुखे तस्य भीमसेनो महाबलः।
नेत्रे शिखण्डी दुर्धर्षो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ८ ॥

शत्रुओंको युद्धके लिये उद्यत हुए देख यशस्वी पाण्डव युद्धमें अजेय व्यूहराज श्येनके रूपमें संगठित हो शोभा पाने लगे। उस व्यूहके मुखभागमें महाबली भीमसेन शोभा पा रहे थे। नेत्रोंके स्थानमें दुर्धर्ष वीर शिखण्डी तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न खड़े थे ॥ ७-८ ॥

शीर्षे तस्याभवद् वीरः सात्यकिः सत्यविक्रमः।
विधुन्वन् गाण्डिवं पार्थो ग्रीवायामभवत् तदा ॥ ९ ॥

शिरोभागमें सत्यपराक्रमी वीर सात्यकि और ग्रीवाभागमें गाण्डीव-धनुषकी टंकार करते हुए कुन्तीकुमार अर्जुन खड़े हुए ॥ ९ ॥

अक्षौहिण्या समं तत्र वामपक्षोऽभवत् तदा।
महात्मा द्रुपदः श्रीमान् सह पुत्रेण संयुगे ॥ १० ॥

पुत्रसहित श्रीमान् महात्मा द्रुपद एक अक्षौहिणी सेनाके साथ युद्धमें बायें पंखके स्थानमें खड़े थे ॥ १० ॥

दक्षिणश्चाभवत् पक्षः कैकेयोऽक्षौहिणीपतिः।
पृष्ठतो द्रौपदेयाश्च सौभद्रश्चापि वीर्यवान् ॥ ११ ॥

एक अक्षौहिणी सेनाके अधिपति केकय दाहिने पंखमें स्थित हुए। द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी सुभद्राकुमार अभिमन्यु—ये पृष्ठभागमें खड़े हुए ॥ ११ ॥

पृष्ठे समभवच्छ्रीमान् स्वयं राजा युधिष्ठिरः।
भ्रातृभ्यां सहितो वीरो यमाभ्यां चारुविक्रमः ॥ १२ ॥

उत्तम पराक्रमसे सम्पन्न स्वयं श्रीमान् वीर राजा युधिष्ठिर भी अपने दो भाई नकुल और सहदेवके साथ पृष्ठभागमें ही सुशोभित हुए ॥ १२ ॥

प्रविश्य तु रणे भीमो मकरं मुखतस्तदा।
भीष्ममासाद्य संग्रामे छादयामास सायकैः ॥ १३ ॥

तदनन्तर भीमसेनने रणक्षेत्रमें प्रवेश करके मकरव्यूहके मुखभागमें खड़े हुए भीष्मको अपने सायकोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १३ ॥

ततो भीष्मो महास्त्राणि पातयामास भारत।
मोहयन् पाण्डुपुत्राणां व्यूढं सैन्यं महाहवे ॥ १४ ॥

भारत! तब उस महासमरमें पाण्डवोंकी उस व्यूहबद्ध सेनाको मोहित करते हुए भीष्म उसपर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रयोग करने लगे ॥ १४ ॥

सम्मुह्यति तदा सैन्ये त्वरमाणो धनंजयः।
भीष्मं शरसहस्रेण विव्याध रणमूर्धनि ॥ १५ ॥

उस समय अपनी सेनाको मोहित होती देख अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ युद्धके मुहानेपर एक हजार बाणोंकी वर्षा करके भीष्मको घायल कर दिया ॥ १५ ॥

प्रतिसंवार्य चास्त्राणि भीष्ममुक्तानि संयुगे।
स्वेनानीकेन हृष्टेन युद्धाय समुपस्थितः ॥ १६ ॥

संग्राममें भीष्मके छोड़े हुए सम्पूर्ण अस्त्रोंका निवारण करके हर्षमें भरी हुई अपनी सेनाके साथ वे युद्धके लिये उपस्थित हुए ॥ १६ ॥

ततो दुर्योधनो राजा भारद्वाजमभाषत।
पूर्वं दृष्ट्वा वधं घोरं बलस्य बलिनां वरः ॥ १७ ॥
भ्रातॄणां च वधं युद्धे स्मरमाणो महारथः।
आचार्य सततं हि त्वं हितकामो ममानघ ॥ १८ ॥

तब बलवानोंमें श्रेष्ठ महारथी राजा दुर्योधनने पहले जो अपनी सेनाका घोर संहार हुआ था, उसको दृष्टिमें रखते हुए और युद्धमें भाइयोंके वधका स्मरण करते हुए भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यसे कहा—'निष्पाप आचार्य! आप सदा ही मेरा हित चाहनेवाले हैं ॥ १७-१८ ॥

वयं हि त्वां समाश्रित्य भीष्मं चैव पितामहम्।
देवानपि रणे जेतुं प्रार्थयामो न संशयः ॥ १९ ॥
किमु पाण्डुसुतान् युद्धे हीनवीर्यपराक्रमान्।
स तथा कुरु भद्रं ते यथा वध्यन्ति पाण्डवाः ॥ २० ॥

'हमलोग आप तथा पितामह भीष्मकी शरण लेकर देवताओंको भी समरभूमिमें जीतनेकी अभिलाषा रखते हैं, इसमें संशय नहीं है। फिर जो बल और पराक्रममें हीन हैं, उन पाण्डवोंको जीतना कौन बड़ी बात है। आपका कल्याण हो। आप ऐसा प्रयत्न करें जिससे पाण्डव मारे जायँ' ॥ १९-२० ॥

एवमुक्तस्ततो द्रोणस्तव पुत्रेण मारिष।
(उवाच तत्र राजानं संक्रुद्ध इव निःश्वसन्।

आर्य! आपके पुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर द्रोणाचार्य कुछ कुपित-से हो उठे और लंबी साँस खींचते हुए राजा दुर्योधनसे बोले ॥

द्रोण उवाच

बालिशस्त्वं न जानीषे पाण्डवानां पराक्रमम्।
न शक्या हि यथा जेतुं पाण्डवा हि महाबलाः ॥
यथाबलं यथावीर्यं कर्म कुर्यामहं हि ते।

द्रोणाचार्यने कहा—तुम नादान हो। पाण्डवोंका पराक्रम कैसा है, यह नहीं जानते। महाबली पाण्डवोंको युद्धमें जीतना असम्भव है, तथापि मैं अपने बल और पराक्रमके अनुसार तुम्हारा कार्य कर सकता हूँ ॥

संजय उवाच

इत्युक्त्वा ते सुतं राजन्नभ्यपद्यत वाहिनीम्।)
अभिनत् पाण्डवानीकं प्रेक्षमाणस्य सात्यकेः ॥ २१ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपके पुत्रसे ऐसा कहकर द्रोणाचार्य पाण्डवोंकी सेनाका सामना करनेके लिये गये। वे सात्यकिके देखते-देखते पाण्डवसेनाको विदीर्ण करने लगे ॥

सात्यकिस्तु ततो द्रोणं वारयामास भारत।
तयोः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ॥ २२ ॥

भारत ! उस समय सात्यकिने आगे बढ़कर द्रोणाचार्यको रोका। फिर तो उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया ॥ २२ ॥

शैनेयं तु रणे क्रुद्धो भारद्वाजः प्रतापवान्।
अविध्यन्निशितैर्बाणैर्जत्रुदेशे हसन्निव ॥ २३ ॥

प्रतापी द्रोणाचार्यने युद्धमें कुपित होकर सात्यकिके गलेकी हँसलीमें हँसते हुए-से पैने बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥२३॥

भीमसेनस्ततः क्रुद्धो भारद्वाजमविध्यत।
संरक्षन् सात्यकिं राजन् द्रोणाच्छस्त्रभृतां वरात्॥२४॥

राजन् ! तब भीमसेनने कुपित होकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे सात्यकिकी रक्षा करते हुए आचार्यको अपने बाणोंसे बींध डाला ॥ २४ ॥

ततो द्रोणश्च भीष्मश्च तथा शल्यश्च मारिष।
भीमसेनं रणे क्रुद्धाश्छादयांचक्रिरे शरैः ॥ २५ ॥

आर्य ! तदनन्तर द्रोणाचार्य, भीष्म तथा शल्य तीनोंने कुपित होकर भीमसेनको युद्धस्थलमें अपने बाणोंसे ढक दिया॥

तत्राभिमन्युः संक्रुद्धो द्रौपदेयाश्च मारिष।
विव्यधुर्निशितैर्बाणैः सर्वांस्तानुद्यतायुधान् ॥ २६ ॥

महाराज ! तब वहाँ क्रोधमें भरे हुए अभिमन्यु और द्रौपदीके पुत्रोंने आयुध लेकर खड़े हुए उन सब कौरव महारथियोंको तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २६ ॥

द्रोणभीष्मौ तु संक्रुद्धावापतन्तौ महाबलौ।
प्रत्युद्ययौ शिखण्डी तु महेष्वासो महाहवे ॥ २७ ॥

उस समय कुपित होकर आक्रमण करते हुए महाबली द्रोणाचार्य और भीष्मका उस महासमरमें सामना करनेके लिये महाधनुर्धर शिखण्डी आगे बढ़ा ॥ २७ ॥

प्रगृह्य बलवद् वीरो धनुर्जलदनिःस्वनम्।
अभ्यवर्षच्छरैस्तूर्णं छादयानो दिवाकरम् ॥ २८ ॥

उस वीरने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने धनुषको बलपूर्वक खींचकर बड़ी शीघ्रताके साथ इतने बाणोंकी वर्षा की कि सूर्य भी आच्छादित हो गये ॥ २८ ॥

शिखण्डिनं समासाद्य भरतानां पितामहः।
अवर्जयत संग्रामं स्त्रीत्वं तस्यानुसंस्मरन् ॥ २९ ॥

भरतकुलके पितामह भीष्मने शिखण्डीके सामने पहुँचकर उसके स्त्रीत्वका बारंबार स्मरण करते हुए युद्ध बंद कर दिया ॥

ततो द्रोणो महाराज अभ्यद्रवत तं रणे।
रक्षमाणस्तदा भीष्मं तव पुत्रेण चोदितः ॥ ३० ॥

महाराज ! यह देखकर द्रोणाचार्य युद्धमें आपके पुत्रके कहनेसे भीष्मकी रक्षाके लिये शिखण्डीकी ओर दौड़े ॥

शिखण्डी तु समासाद्य द्रोणं शस्त्रभृतां वरम्।
अवर्जयत संत्रस्तो युगान्ताग्निमिवोल्बणम् ॥ ३१ ॥

शिखण्डी प्रलयकालकी प्रचण्ड अग्निके समान शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणका सामना पड़नेपर भयभीत हो युद्ध छोड़कर चल दिया ॥ ३१ ॥

ततो बलेन महता पुत्रस्तव विशाम्पते।
जुगोप भीष्ममासाद्य प्रार्थयानो महद् यशः ॥ ३२ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन महान् यश पानेकी इच्छा रखता हुआ अपनी विशाल सेनाके साथ भीष्मके पास पहुँचकर उनकी रक्षा करने लगा ॥ ३२ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् पुरस्कृत्य धनंजयम्।
भीष्ममेवाभ्यवर्तन्त जये कृत्वा दृढां मतिम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! इसी प्रकार पाण्डव भी विजय-प्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय करके अर्जुनको आगे कर भीष्मपर ही टूट पड़े ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं देवानां दानवैरिव।
जयमाकाङ्क्षतां संख्ये यशश्च सुमहाद्भुतम् ॥३४॥

उस युद्धमें विजय तथा अत्यन्त अद्भुत यशकी अभिलाषा रखनेवाले पाण्डवोंका कौरवोंके साथ उसी प्रकार भयंकर युद्ध हुआ, जैसे देवताओंका दानवोंके साथ हुआ था॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसयुद्धारम्भे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिवसके युद्धका आरम्भविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

सप्ततितमोऽध्यायः

भीष्म और भीमसेनका घमासान युद्ध

संजय उवाच

अकरोत् तुमुलं युद्धं भीष्मः शान्तनवस्तदा।
भीमसेनभयादिच्छन् पुत्रांस्तारयितुं तव ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! आपके पुत्रोंको भीमसेनके भयसे छुड़ानेकी इच्छा रखकर उस दिन शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ा भयंकर युद्ध किया ॥ १ ॥

पूर्वाह्णे तन्महारौद्रं राज्ञां युद्धमवर्तत ।
कुरूणां पाण्डवानां च मुख्यशूरविनाशनम् ॥ २ ॥

पूर्वाह्णकालमें कौरव-पाण्डव नरेशोंका वह महाभयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, जो बड़े-बड़े शूरवीरोंका विनाश करनेवाला था ॥ २ ॥

तस्मिन्नाकुलसंग्रामे वर्तमाने महाभये ।
अभवत् तुमुलः शब्दः संस्पृशन् गगनं महत् ॥ ३ ॥

उस अत्यन्त भयानक घमासान युद्धमें बड़ा भयंकर कोलाहल होने लगा, जिससे अनन्त आकाश गूँज उठा ॥ ३ ॥

नदद्भिश्च महानागैर्हेषमाणैश्च वाजिभिः ।
भेरीशङ्खनिनादैश्च तुमुलं समपद्यत ॥ ४ ॥

चिग्घाड़ते हुए बड़े-बड़े गजराजों, हिनहिनाते हुए घोड़ों तथा भेरी और शङ्खकी ध्वनियोंसे भयंकर कोलाहल छा गया ॥

युयुत्सवस्ते विक्रान्ता विजयाय महाबलाः ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तो गोष्ठेष्विव महर्षभाः ॥ ५ ॥

जैसे बड़े-बड़े साँड़ गोशालाओंमें गरजते हुए एक दूसरेसे भिड़ जाते हैं, उसी प्रकार पराक्रमी और महाबली सैनिक विजयके लिये युद्धकी इच्छा रखकर गरजते हुए एक दूसरेके सामने आये ॥ ५ ॥

शिरसां पात्यमानानां समरे निशितैः शरैः ।
अश्मवृष्टिरिवाकाशे बभूव भरतर्षभ ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समरभूमिमें तीखे बाणोंसे गिराये जानेवाले मस्तकोंकी वर्षा होने लगी, मानो आकाशसे पत्थरोंकी वृष्टि हो रही है ॥ ६ ॥

कुण्डलोष्णीषधारीणि जातरूपोज्ज्वलानि च ।
पतितानि स्म दृश्यन्ते शिरांसि भरतर्षभ ॥ ७ ॥

भरतवंशी नरेश ! कुण्डल और पगड़ी धारण करनेवाले तथा स्वर्णमय मुकुट आदिसे उद्भासित होनेवाले अगणित मस्तक कटकर धरतीपर पड़े दिखायी देते थे ॥ ७ ॥

विशिखोन्मथितैर्गात्रैर्बाहुभिश्च सकार्मुकैः ।
सहस्ताभरणैश्चान्यैरभवच्छादिता मही ॥ ८ ॥

सारी पृथ्वी बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुई लाशों, धनुष तथा हस्ताभरणोंसहित कटी हुई दोनों भुजाओंसे पट गयी थी ॥

कवचोपहितैर्गात्रैर्हस्तैश्च समलंकृतैः ।
मुखैश्च चन्द्रसंकाशै रक्तान्तनयनैः शुभैः ॥ ९ ॥
गजवाजिमनुष्याणां सर्वगात्रैश्च भूपते ।
आसीत् सर्वा समास्तीर्णा मुहूर्तेन वसुंधरा ॥ १० ॥

भूपाल ! दो ही घड़ीमें वहाँकी सारी वसुधा कवचसे ढके हुए शरीरों, आभूषणोंसे विभूषित हाथों, चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखों, जिनके अन्तभागमें कुछ-कुछ लाली थी, ऐसे सुन्दर नेत्रों तथा हाथी, घोड़े और मनुष्योंके सम्पूर्ण अङ्गोंसे बिछ गयी थी ॥ ९-१० ॥

रजोमेघैश्च तुमुलैः शस्त्रविद्युत्प्रकाशिभिः ।
आयुधानां च निर्घोषः स्तनयित्नुसमोऽभवत् ॥ ११ ॥

धूलके भयंकर बादल छा रहे थे । उनमें अस्त्र-शस्त्ररूपी विद्युत्के प्रकाश देखे जाते थे । धनुष आदि आयुधोंका जो गम्भीर घोष होता था, वह मेघ-गर्जनाके समान प्रतीत होता था ॥ ११ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलः कटुकः शोणितोदकः ।
प्रावर्तत कुरूणां च पाण्डवानां च भारत ॥ १२ ॥

भारत ! कौरवों और पाण्डवोंका वह भयानक युद्ध बड़ा ही कटु और रक्तको पानीकी तरह बहानेवाला था । १२।

तस्मिन् महाभये घोरे तुमुले लोमहर्षणे ।
ववृषुः शरवर्षाणि क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः ॥ १३ ॥

उस महान् भयदायक, घोर, रोमाञ्चकारी एवं तुमुल संग्राममें रणदुर्मद क्षत्रिय बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १३ ॥

आक्रोशन् कुञ्जरास्तत्र शरवर्षप्रतापिताः ।
तावकानां परेषां च संयुगे भरतर्षभ ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बाणोंकी वर्षासे पीड़ित हुए आपके और पाण्डवोंके हाथी उस युद्धमें चिग्घाड़ मचा रहे थे ॥ १४ ॥

संरब्धानां च वीराणां धीराणाममितौजसाम् ।
धनुर्ज्यातलशब्देन न प्राज्ञायत किंचन ॥ १५ ॥

क्रोधावेशमें भरे हुए अमित तेजस्वी धीर-वीरोंके धनुषोंकी टंकारसे वहाँ कुछ भी सुनायी नहीं पड़ता था ॥ १५ ॥

उत्थितेषु कबन्धेषु सर्वतः शोणितोदके ।
समरे पर्यधावन्त नृपा रिपुवधोद्यताः ॥ १६ ॥

चारों ओर केवल कबन्ध (बिना सिरके शरीर) खड़े थे । रक्तका प्रवाह पानीके समान बह रहा था । शत्रुओंका वध करनेके लिये उद्यत हुए नरेशगण समरभूमिमें चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ॥ १६ ॥

शरशक्तिगदाभिस्ते खड्गैश्चामिततेजसः ।
निजघ्नुः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ॥ १७ ॥

परिघके समान मोटी भुजाओंवाले अमित तेजस्वी शूरवीर योद्धा बाण, शक्ति और गदाओंद्वारा रणक्षेत्रमें एक दूसरेको मार रहे थे ॥ १७ ॥

बभ्रमुः कुञ्जराश्चात्र शरैर्विद्धा निरङ्कुशाः ।
अश्वाश्च पर्यधावन्त हतारोहा दिशो दश ॥ १८ ॥

जिनके सवार मारे गये थे, वे अङ्कुशरहित गजराज बाणविद्ध होकर वहाँ इधर-उधर चक्कर काट रहे थे । सवारोंके मारे जानेसे घोड़े भी शराघातसे पीड़ित हो चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ॥ १८ ॥

उत्पत्य निपतन्त्यन्ये शरघातप्रपीडिताः ।
तावकानां परेषां च योधा भरतसत्तम ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके और शत्रुपक्षके कितने ही योद्धा बाणोंके गहरे आघातसे अत्यन्त पीड़ित हो उछलकर गिर पड़ते थे ॥ १९ ॥

वाहानामुत्तमाङ्गानां कार्मुकाणां च भारत ।
गदानां परिघाणां च हस्तानां चोरुभिः सह ॥ २० ॥
पादानां भूषणानां च केयूराणां च संघशः ।
राशयस्तत्र दृश्यन्ते भीष्मभीमसमागमे ॥ २१ ॥

भारत ! भीष्म और भीमके उस संग्राममें मरे हुए वाहनों, कटे हुए मस्तकों, धनुषों, गदाओं, परिघों, हाथों, जाँघों, पैरों, आभूषणों तथा बाजूबन्द आदिके ढेर-के-ढेर दिखायी दे रहे थे ॥ २०-२१ ॥

अश्वानां कुञ्जराणां च रथानां चानिवर्तिनाम् ।
संघाताः स्म प्रदृश्यन्ते तत्र तत्र विशाम्पते ॥ २२ ॥

प्रजानाथ ! उस युद्धस्थलमें जहाँ तहाँ घोड़ों, हाथियों तथा युद्धसे पीछे न हटनेवाले रथोंके समूह दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २२ ॥

गदाभिरसिभिः प्रासैर्बाणैश्च नतपर्वभिः ।
जघ्नुः परस्परं तत्र क्षत्रियाः काल आगते ॥ २३ ॥

क्षत्रियगण गदा, खड्ग, प्रास तथा झुकी हुई गाँठ वाले बाणोंद्वारा एक दूसरेको मार रहे थे; क्योंकि उन सबका काल आ गया था ॥ २३ ॥

अपरे बाहुभिर्वीरा नियुद्धकुशला युधि ।
बहुधा समसज्जन्त आयसैः परिघैरिव ॥ २४ ॥

कितने ही मल्लयुद्धमें कुशल वीर उस युद्धस्थलमें लोहेके परिघोंके समान मोटी भुजाओंसे परस्पर भिड़कर अनेक प्रकारके दाँव-पेंच दिखाते हुए लड़ रहे थे ॥ २४ ॥

मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव तलैश्चैव विशाम्पते ।
अन्योन्यं जघ्निरे वीरास्तावकाः पाण्डवैः सह ॥ २५ ॥

प्रजानाथ ! आपके वीर सैनिक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते समय मुक्कों, घुटनों और तमाचोंसे एक दूसरेपर चोट करते थे ॥ २५ ॥

पतितैः पात्यमानैश्च विचेष्टद्भिश्च भूतले ।
घोरमायोधनं जज्ञे तत्र तत्र जनेश्वर ॥ २६ ॥

जनेश्वर ! कुछ लोग पृथ्वीपर गिरे हुए थे, कुछ गिराये जा रहे थे और कितने ही गिरकर छटपटा रहे थे। इस प्रकार यत्र-तत्र भयंकर युद्ध चल रहा था ॥ २६ ॥

विरथा रथिनश्चात्र निस्त्रिंशवरधारिणः ।
अन्योन्यमभिधावन्तः परस्परवधैषिणः ॥ २७ ॥

कितने ही रथी रथहीन होकर हाथमें सुदृढ़ तलवार लिये एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे परस्पर टूटे पड़ते थे ॥ २७ ॥

ततो दुर्योधनो राजा कलिङ्गैर्बहुभिर्वृतः ।
पुरस्कृत्य रणे भीष्मं पाण्डवानभ्यवर्तत ॥ २८ ॥

उस समय बहुसंख्यक कलिंगोंसे घिरे हुए राजा दुर्योधनने युद्धमें भीष्मको आगे करके पाण्डवोंपर आक्रमण किया ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे परिवार्य वृकोदरम् ।
भीष्ममभ्यद्रवन् क्रुद्धास्ततो युद्धमवर्तत ॥ २९ ॥

इसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए समस्त पाण्डवोंने भी भीमसेनको घेरकर भीष्मपर धावा किया। फिर दोनों पक्षोंमें भयंकर युद्ध होने लगा ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुल-युद्धविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

भीष्म, अर्जुन आदि योद्धाओंका घमासान युद्ध

संजय उवाच

दृष्ट्वा भीष्मेण संसक्तान् भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान् ।
समभ्यधावद् गाङ्गेयमुद्यतास्त्रो धनंजयः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! अपने भाइयों तथा दूसरे राजाओंको भीष्मके साथ उलझा हुआ देख अस्त्र उठाये हुए अर्जुनने भी गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा किया ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं धनुषो गाण्डिवस्य च ।
ध्वजं च दृष्ट्वा पार्थस्य सर्वान् नो भयमाविशत्॥ २ ॥

पाञ्चजन्य शङ्ख और गाण्डीव धनुषका शब्द सुनकर तथा अर्जुनके ध्वजको देखकर हमारे सब सैनिकोंके मनमें भय समा गया ॥ २ ॥

सिंहलाङ्गूलमाकाशे ज्वलन्तमिव पर्वतम् ।
असज्जमानं वृक्षेषु धूमकेतुमिवोत्थितम् ॥ ३ ॥
बहुवर्णं विचित्रं च दिव्यं वानरलक्षणम् ।
अपश्याम महाराज ध्वजं गाण्डीवधन्वनः ॥ ४ ॥

महाराज ! अर्जुनका ध्वज सिंहपुच्छके समान वानरकी पूँछसे युक्त था। वह प्रज्वलित पर्वत-सा दिखायी देता था। वृक्षोंमें कहीं भी अटकता नहीं था। आकाशमें उदित हुए धूमकेतु-सा दृष्टिगोचर होता था। वह अनेक रंगोंसे सुशोभित, विचित्र, दिव्य एवं वानरचिह्नसे युक्त था। इस प्रकार हमने गाण्डीवधारी अर्जुनके उस ध्वजको उस समय देखा ३-४



भीमसेन और भीष्मका युद्ध

विद्युतं मेघमध्यस्थां भ्राजमानामिवाम्बरे ।
ददृशुर्गाण्डिवं योधा रुक्मपृष्ठं महामृधे ॥ ५ ॥

उस महान् समरमें हमारे पक्षके योद्धाओंने सुवर्णमय पीठसे युक्त गाण्डीव धनुषको आकाशके भीतर मेघोंकी घटामें चमकती हुई बिजलीके समान देखा ॥ ५ ॥

अशुश्रुम भृशं चास्य शक्रस्येवाभिगर्जतः ।
सुघोरं तलयोः शब्दं निघ्नतस्तव वाहिनीम् ॥ ६ ॥

अर्जुन आपकी सेनाका संहार करते हुए इन्द्रके समान गर्जना कर रहे थे। इस समय हमलोगोंने उनके हस्ततलोंका बड़ा भयंकर शब्द सुना ॥ ६ ॥

चण्डवातो यथा मेघः सविद्युत्स्तनयित्नुमान् ।
दिशः सम्प्लावयन् सर्वाः शरवर्षैः समन्ततः ॥ ७ ॥
समभ्यधावद् गाङ्गेयं भैरवास्त्रो धनंजयः ।

भयंकर अस्त्रवाले अर्जुनने प्रचण्ड आँधी, बिजली तथा गर्जनासे युक्त मेघके समान सम्पूर्ण दिशाओंको अपनी बाण-वर्षासे आप्लावित करते हुए गङ्गानन्दन भीष्मपर सब ओर-से धावा किया ॥ ७½ ॥

दिशं प्राचीं प्रतीचीं च न जानीमोऽस्त्रमोहिताः॥ ८ ॥
कांदिग्भूताः श्रान्तपत्रा हताश्वा हतचेतसः ।
अन्योन्यमभिसंश्लिष्य योधास्ते भरतर्षभ ॥ ९ ॥
भीष्ममेवाभ्यलीयन्त सह सर्वैस्तवात्मजैः ।
तेषामार्तायनमभूद् भीष्मः शान्तनवो रणे ॥ १० ॥

उस समय हमलोग उनके अस्त्रोंसे इतने मोहित हो गये थे कि हमें पूर्व और पश्चिमका भी पता नहीं चलता था। भरतश्रेष्ठ ! आपके सभी योद्धा घबराकर यह सोचने लगे कि हम किस दिशामें जायँ। उनके सारे वाहन थक गये थे। कितनोंके घोड़े मार डाले गये थे। उन सबका हार्दिक उत्साह नष्ट हो गया था। वे सब-के-सब एक दूसरेसे सटकर आपके पुत्रोंके साथ भीष्मजीकी ही शरणमें छिपने लगे। उस युद्ध-स्थलमें उन्हें केवल शान्तनुनन्दन भीष्म ही आर्त सैनिकोंको शरण देनेवाले प्रतीत हुए ॥ ८—१० ॥

समुत्पतन्ति वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातयः ॥ ११ ॥

वे सभी लोग ऐसे भयभीत हो गये कि रथी रथोंसे और घुड़सवार घोड़ोंकी पीठोंसे गिरने लगे तथा पैदल सैनिक भी पृथ्वीपर लोट-पोट हो गये ॥ ११ ॥

श्रुत्वा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
सर्वसैन्यानि भीतानि व्यवालीयन्त भारत ॥ १२ ॥

भारत ! बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीवका गम्भीर घोष सुनकर हमारे समस्त सैनिक भयभीत हो लुकने-छिपने लगे ॥ १२ ॥

अथ काम्बोजजैरश्वैर्महद्भिः शीघ्रगामिभिः ।
गोपानां बहुसाहस्रैर्बलैर्गोपायनैर्वृतः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् काम्बोजराज सुदक्षिण काम्बोजदेशीय विशाल एवं शीघ्रगामी घोड़ोंपर आरूढ़ हो युद्धके लिये चले। उनके साथ गोपायन नामवाले कई हजार गोपसैनिक थे ॥ १३ ॥

मद्रसौवीरगान्धारैस्त्रैगर्तैश्च विशाम्पते ।
सर्वकालिङ्गमुख्यैश्च कलिङ्गाधिपतिर्वृतः ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! समस्त कलिंगदेशीय प्रमुख वीरोंसे घिरे हुए कलिंगराज भी युद्धके लिये आगे बढ़े। उनके साथ मद्र, सौवीर, गान्धार और त्रिगर्तदेशीय योद्धा भी मौजूद थे ॥

नानानरगणौघैश्च दुःशासनपुरःसरः ।
जयद्रथश्च नृपतिः सहितः सर्वराजभिः ॥ १५ ॥

इनके सिवा राजा जयद्रथ सम्पूर्ण राजाओंको साथ ले दुःशासनको आगे करके चला। उसके साथ भी अनेक जन-पदोंके लोगोंकी पैदल सेना मौजूद थी ॥ १५ ॥

हयारोहवराश्चैव तव पुत्रेण चोदिताः ।
चतुर्दश सहस्राणि सौबलं पर्यवारयन् ॥ १६ ॥

इसके सिवा आपके पुत्रकी आज्ञासे चौदह हजार अच्छे घुड़सवार सुबलपुत्र शकुनिको घेरकर खड़े हुए ॥ १६ ॥

ततस्ते सहिताः सर्वे विभक्तरथवाहनाः ।
अर्जुनं समरे जघ्नुस्तावका भरतर्षभ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! फिर पृथक् पृथक् रथ और वाहन लिये आपके पक्षके ये सब महारथी वीर समराङ्गणमें अर्जुनपर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे ॥ १७ ॥

(चेदिकाशिपदातैश्च रथैः पाञ्चालसृंजयैः ।
सहिताः पाण्डवाः सर्वे धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥
तावकान् समरे जघ्नुर्धर्मपुत्रेण चोदिताः ।)

इधर, चेदि और काशिदेशके पैदलसैनिकोंके तथा पाञ्चाल और सृंजयदेशके रथियोंसहित धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डववीर धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञासे समरभूमिमें आपके सैनिकोंका संहार करने लगे ॥

रथिभिर्वारणैरश्वैः पादातैश्च समीरितम् ।
घोरमायोधनं चक्रे महाभ्रसदृशं रजः ॥ १८ ॥

रथियों, हाथियों, घोड़ों और पैदलोंके पैरोंसे उड़ी हुई धूलराशिने मेघोंकी भारी घटाके समान आकाशमें व्याप्त होकर उस युद्धको भयंकर बना दिया ॥ १८ ॥

तोमरप्रासनाराचगजाश्वरथयोधिनाम् ।
बलेन महता भीष्मः समसज्जत् किरीटिना ॥ १९ ॥

भीष्म तोमर, नाराच और प्रास आदि धारण करने-वाले हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथारोही योद्धाओंकी विशाल वाहिनीके साथ किरीटधारी अर्जुनसे भिड़ गये ॥ १९ ॥

आवन्त्यः काशिराजेन भीमसेनेन सैन्धवः ।
अजातशत्रुर्मद्राणामृषभेण यशस्विना ॥ २० ॥
सहपुत्रः सहामात्यः शल्येन समसज्जत ।

फिर, अवन्तीनरेश काशिराजके साथ, सिन्धुराज जयद्रथ भीमसेनके साथ तथा पुत्रों और मन्त्रियोंसहित अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर यशस्वी मद्रराज शल्यके साथ युद्ध करने लगे २०½

विकर्णः सहदेवेन चित्रसेनः शिखण्डिना ॥ २१ ॥
मत्स्या दुर्योधनं जग्मुः शकुनिं च विशाम्पते ।
द्रुपदश्चेकितानश्च सात्यकिश्च महारथः ॥ २२ ॥
द्रोणेन समसज्जन्त सपुत्रेण महात्मना ।

प्रजानाथ ! विकर्ण सहदेवके साथ और चित्रसेन शिखण्डीके साथ भिड़ गये । मत्स्यदेशीय योद्धाओंने दुर्योधन और शकुनिका सामना किया । द्रुपद, चेकितान और महारथी सात्यकि—ये अश्वत्थामासहित महामना द्रोणसे भिड़ गये ॥ २१-२२½ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च धृष्टद्युम्नमभिद्रुतौ ॥ २३ ॥
एवं प्रव्रजिताश्वानि भ्रान्तनागरथानि च ।
सैन्यानि समसज्जन्त प्रयुद्धानि समन्ततः ॥ २४ ॥

कृपाचार्य और कृतवर्मा—इन दोनोंने धृष्टद्युम्नपर धावा किया । इस प्रकार अपने-अपने घोड़ोंको आगे बढ़ाकर तथा हाथी एवं रथोंको घुमाकर समस्त सैनिक सब ओर युद्ध करने लगे ॥ २३-२४ ॥

निरभ्रे विद्युतस्तीव्रा दिशश्च रजसाऽऽवृताः ।
प्रादुरासन् महोल्काश्च सनिर्घाता विशाम्पते ॥ २५ ॥

प्रजानाथ ! बिना बादलके ही दुःसह बिजलियाँ चमकने लगीं, सम्पूर्ण दिशाएँ धूलसे भर गयीं और भयंकर वज्रपातकी-सी आवाजके साथ बड़ी-बड़ी उल्काएँ गिरने लगीं ॥

प्रादुर्भूतो महावातः पांसुवर्षं पपात च ।
नभस्यन्तर्दधे सूर्यः सैन्येन रजसाऽऽवृतः ॥ २६ ॥

बड़े जोरकी आँधी उठ गयी । धूलकी वर्षा होने लगी। सेनाके द्वारा उड़ायी हुई धूलसे आकाशमें सूर्यदेव छिप गये ॥ २६ ॥

प्रमोहः सर्वसत्त्वानामतीव समपद्यत ।
रजसा चाभिभूतानामस्त्रजालैश्च तुद्यताम् ॥ २७ ॥

उस समय समस्त प्राणियोंपर बड़ा भारी मोह छा गया; क्योंकि वे धूलसे तो दबे ही थे, अस्त्रोंके समुदायसे भी पीड़ित हो रहे थे ॥ २७ ॥

वीरबाहुविसृष्टानां सर्वावरणभेदिनाम् ।
संघातः शरजालानां तुमुलः समपद्यत ॥ २८ ॥

वीरोंकी भुजाओंसे छूटकर सब प्रकारके आवरणों (कवच आदि) का भेदन करनेवाले बाणसमूहोंके भयानक आघात सब ओर हो रहे थे ॥ २८ ॥

प्रकाशं चक्रुराकाशमुद्यतानि भुजोत्तमैः ।
नक्षत्रविमलाभानि शस्त्राणि भरतर्षभ ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उत्तम भुजाओंद्वारा ऊपर उठाये हुए नक्षत्रोंके समान निर्मल एवं चमकीले अस्त्र आकाशमें प्रकाश फैला रहे थे ॥ २९ ॥

आर्षभाणि विचित्राणि रुक्मजालावृतानि च ।
सम्पेतुर्दिक्षु सर्वासु चर्माणि भरतर्षभ ॥ ३० ॥

भरतभूषण ! सोनेकी जालीसे ढकी और ऋषभचर्मकी बनी हुई विचित्र ढालें सम्पूर्ण दिशाओंमें गिर रही थीं ॥ ३० ॥

सूर्यवर्णैश्च निस्त्रिंशैः पात्यमानानि सर्वशः ।
दिक्षु सर्वास्वदृश्यन्त शरीराणि शिरांसि च ॥ ३१ ॥

सूर्यके समान चमकीले खड्गोंसे सब ओर काटकर गिराये जानेवाले शरीर और मस्तक सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ३१ ॥

भग्नचक्राक्षनीडाश्च निपातितमहाध्वजाः ।
हताश्वाः पृथिवीं जग्मुस्तत्र तत्र महारथाः ॥ ३२ ॥

कितने ही महारथियोंके रथोंके पहिये, धुरे और भीतरकी बैठकें टूट-फूटकर नष्ट हो गयीं, बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ खण्डित होकर गिर गयीं, घोड़े मार दिये गये और वे महारथी स्वयं भी मारे जाकर धरतीपर जहाँ-तहाँ गिर पड़े ॥ ३२ ॥

परिपेतुर्हयाश्चात्र केचिच्छस्त्रकृतव्रणाः ।
रथान् विपरिकर्षन्तो हतेषु रथयोधिषु ॥ ३३ ॥

उस युद्धस्थलमें कितने ही घोड़े अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे घायल होकर अपने रथियोंके मारे जानेके बाद भी रथ खींचते हुए भागते और गिर पड़ते थे ॥ ३३ ॥

शराहता भिन्नदेहा बद्धयोक्त्रा हयोत्तमाः ।
युगानि पर्यकर्षन्त तत्र तत्र स्म भारत ॥ ३४ ॥

भारत ! कितने ही उत्तम घोड़ोंके शरीर बाणोंसे आहत होकर क्षत-विक्षत हो गये थे, तो भी रथके साथ रस्सीमें बँधे हुए थे, इसलिये रथके जूओंको इधर-उधर खींचते रहते थे ॥ ३४ ॥

अदृश्यन्त ससूताश्च साश्वाः सरथयोधिनः ।
एकेन बलिना राजन् वारणेन विमर्दिताः ॥ ३५ ॥

राजन् ! कितने ही रथारोही युद्धस्थलमें एक ही महाबली गजराजके द्वारा घोड़ों और सारथियोंसहित कुचले हुए दिखायी पड़ते थे ॥ ३५ ॥

गन्धहस्तिमदस्रावमाघ्राय बहवो रणे ।
संनिपाते बलौघानां वीतमाददिरे गजाः ॥ ३६ ॥

समस्त सेनाओंमें भीषण मार-काट मची हुई थी और बहुत-से हाथी गन्धयुक्त गजराजके मदकी गन्ध सूँघकर उसी-

के भ्रमसे निर्बल हाथीको भी मार गिरानेके लिये पकड़ लेते थे ॥ ३६ ॥

सतोमरैर्महामात्रैर्निपतद्भिर्गतासुभिः ।
बभूवायोधनं छन्नं नाराचाभिहतैर्गजैः ॥ ३७ ॥

तोमरोंसहित प्राणशून्य होकर गिरे हुए महावतों और नाराचोंकी मारसे मरकर गिरनेवाले हाथियोंसे वह रणभूमि आच्छादित हो गयी थी ॥ ३७ ॥

संनिपाते बलौघानां प्रेषितैर्वरवारणैः ।
निपेतुर्युधि सम्भग्नाः सयोधाः सध्वजा गजाः॥ ३८ ॥

सैन्यसमूहोंके उस भीषण संघर्षमें आगे बढ़ाये हुए बड़े-बड़े हाथियोंसे टकराकर युद्धमें कितने ही छोटे-छोटे हाथी अङ्ग-भङ्ग हो जानेके कारण सवारों और ध्वजोंसहित गिर जाते थे ॥ ३८ ॥

नागराजोपमैर्हस्तैर्नागैराक्षिप्य संयुगे ।
व्यदृश्यन्त महाराज सम्भग्ना रथकूबराः ॥ ३९ ॥

महाराज ! उस युद्धमें कितने ही हाथियोंके द्वारा विशाल सर्पराजके समान सूँड़ोंसे खींचकर फेंके हुए रथोंके ध्वज और कूबर चूर-चूर होकर गिरते देखे जाते थे ॥ ३९ ॥

विशीर्णरथसंघाश्च केशेष्वाक्षिप्य दन्तिभिः ।
द्रुमशाखा इवाविध्य निष्पिष्टा रथिनो रणे ॥ ४० ॥

कितने ही दन्तार हाथी रथसमूहोंको तोड़-फोड़कर उनमें बैठे हुए रथियोंको उनके केश पकड़कर खींच लेते और वृक्षकी शाखाकी भाँति उन्हें घुमाकर धरतीपर दे मारते थे। इस प्रकार उस युद्धमें उन रथियोंकी धज्जियाँ उड़ जाती थीं ॥ ४० ॥

रथेषु च रथान् युद्धे संसक्तान् वरवारणाः ।
विकर्षन्तो दिशः सर्वाः सम्पेतुः सर्वशब्दगाः॥ ४१ ॥

कितने ही बड़े-बड़े गजराज रथसमूहोंमें घुसकर युद्धमें उलझे हुए रथोंको पकड़ लेते और सब प्रकारके शब्दोंका अनुसरण करते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें उन रथोंको खींचे फिरते थे ॥

तेषां तथा कर्षतां तु गजानां रूपमाबभौ ।
सरःसु नलिनीजालं विषक्तमिव कर्षताम् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार रथोंसे रथियोंको खींचनेवाले उन हाथियोंका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो वे तालाबमें वहाँ उगे हुए कमलोंका समूह खींच रहे हों ॥ ४२ ॥

एवं संछादितं तत्र बभूवायोधनं महत् ।
सादिभिश्च पदातैश्च सध्वजैश्च महारथैः ॥ ४३ ॥

इस तरह सवारों, पैदलों और ध्वजोंसहित महारथियोंके शरीरोंसे वह विशाल युद्धस्थल पट गया था ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

दोनों सेनाओंका परस्पर घोर युद्ध

संजय उवाच

शिखण्डी सह मत्स्येन विराटेन विशाम्पते ।
भीष्ममाशु महेष्वासमाससाद सुदुर्जयम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! मत्स्यनरेश विराटके साथ मिलकर शिखण्डीने अत्यन्त दुर्जय महाधनुर्धर भीष्मपर शीघ्रतापूर्वक चढ़ाई की ॥ १ ॥

द्रोणं कृपं विकर्णं च महेष्वासं महाबलम् ।
राज्ञश्चान्यान् रणे शूरान् बहूनार्च्छद् धनंजयः॥ २ ॥

उस समय अर्जुनने उस रणभूमिमें महाधनुर्धर एवं महाबली द्रोण, कृपाचार्य, विकर्ण तथा अन्यान्य बहुत-से शूरवीर नरेशोंको अपने बाणोंद्वारा पीड़ा पहुँचायी ॥ २ ॥

सैन्धवं च महेष्वासं सामात्यं सह बन्धुभिः ।
प्राच्यांश्च दाक्षिणात्यांश्च भूमिपान् भूमिपर्षभ॥ ३ ॥

पुत्रं च ते महेष्वासं दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःसहं चैव समरे भीमसेनोऽभ्यवर्तत ॥ ४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मन्त्री और बन्धुओंसहित महाधनुर्धर सिंधुराज जयद्रथपर, पूर्व और दक्षिणके भूमिपालोंपर तथा आपके अमर्षशील पुत्र महाधनुर्धर दुर्योधन एवं दुःसहपर भीमसेनने आक्रमण किया ॥ ३-४ ॥

सहदेवस्तु शकुनिमुलूकं च महारथम् ।
पितापुत्रौ महेष्वासावभ्यवर्तत दुर्जयौ ॥ ५ ॥

सहदेवने शकुनि और महारथी उलूक—इन दोनों दुर्जय महाधनुर्धर पिता-पुत्रोंपर धावा किया ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरो महाराज गजानीकं महारथः ।
समवर्तत संग्रामे पुत्रेण निकृतस्तव ॥ ६ ॥

महाराज ! आपके पुत्रद्वारा ठगे गये महारथी राजा

युधिष्ठिरने संग्राममें गजसेनापर आक्रमण किया ॥ ६ ॥

माद्रीपुत्रस्तु नकुलः शूरसंक्रन्दनो युधि ।
त्रिगर्तानां बलैः सार्धं समसज्जत पाण्डवः ॥ ७ ॥

माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल युद्धमें बड़े-बड़े शूरवीरोंको रुलानेवाले थे । उन्होंने त्रिगर्तोंकी सेनाके साथ युद्ध ठाना ॥ ७ ॥

अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धाः समरे शाल्वकेकयान् ।
सात्यकिश्चेकितानश्च सौभद्रश्च महारथः ॥ ८ ॥

सात्यकि, चेकितान और महारथी अभिमन्युने समरभूमिमें कुपित होकर शाल्वों तथा केकयोंपर धावा किया ॥ ८ ॥

धृष्टकेतुश्च समरे राक्षसश्च घटोत्कचः ।
(नाकुलिश्च शतानीकः समरे रथपुङ्गवः।)
पुत्राणां ते रथानीकं प्रत्युद्याताः सुदुर्जयाः ॥ ९ ॥

धृष्टकेतु, राक्षस घटोत्कच और नकुलपुत्र श्रेष्ठ रथी शतानीक—इन अत्यन्त दुर्जय वीरोंने समराङ्गणमें आपकी रथ-सेनापर आक्रमण किया ॥ ९ ॥

सेनापतिरमेयात्मा धृष्टद्युम्नो महाबलः ।
द्रोणेन समरे राजन् समियायोग्रकर्मणा ॥ १० ॥

राजन्! अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डव-सेनापति महाबली धृष्टद्युम्नने संग्रामभूमिमें भयंकर कर्म करनेवाले द्रोणाचार्यसे लोहा लिया ॥ १० ॥

एवमेते महेष्वासास्तावकाः पाण्डवैः सह ।
समेत्य समरे शूराः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ॥ ११ ॥

इस प्रकार ये आपके महाधनुर्धर शूरवीर योद्धा पाण्डवोंके साथ समरभूमिमें युद्ध करने लगे ॥ ११ ॥

मध्यंदिनगते सूर्ये नभस्याकुलतां गते ।
कुरवः पाण्डवेयाश्च निजघ्नुरितरेतरम् ॥ १२ ॥

सूर्यदेव दिनके मध्यभागमें आ गये । आकाश तपने लगा । परंतु उस समय भी कौरव तथा पाण्डव एक-दूसरेको मार रहे थे ॥ १२ ॥

ध्वजिनो हेमचित्राङ्गा विचरन्तो रणाजिरे ।
सपताका रथा रेजुर्वैयाघ्रपरिवारणाः ॥ १३ ॥
समेतानां च समरे जिगीषूणां परस्परम् ।
बभूव तुमुलः शब्दः सिंहानामिव नर्दताम् ॥ १४ ॥

जिनपर ध्वजा और पताकाएँ फहरा रही थीं, जिनका एक-एक अवयव सुवर्णभूषित हो विचित्र शोभा धारण करता था तथा जिनपर व्याघ्रके चर्मका आवरण पड़ा हुआ था, ऐसे अनेक रथ उस समराङ्गणमें विचरते हुए शोभा पा रहे थे । समरमें एक-दूसरेसे भिड़कर परस्पर विजय पानेकी इच्छावाले शूरवीर सिंहके समान गर्जना कर रहे थे और उनका वह तुमुल नाद सब ओर गूँज रहा था ॥ १३-१४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम सम्प्रहारं सुदारुणम् ।
यदकुर्वन् रणे शूराः सृंजयाः कुरुभिः सह ॥ १५ ॥
नैव खं न दिशो राजन् न सूर्यं शत्रुतापन ।
विदिशो वापि पश्यामः शरैर्मुक्तैः समन्ततः ॥ १६ ॥

राजन्! हमने वहाँ अत्यन्त भयंकर और अद्भुत संग्राम देखा, जिसे रणवीर सृंजयोंने कौरवोंके साथ किया था । शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! वहाँ चारों ओर इतने बाण छोड़े गये थे कि उनसे आच्छादित हो जानेके कारण हम आकाश, सूर्य, दिशा तथा विदिशाओंको भी नहीं देख पाते थे॥

शक्तीनां विमलाग्राणां तोमराणां तथास्यताम् ।
निस्त्रिंशानां च पीतानां नीलोत्पलनिभाः प्रभाः॥ १७ ॥

चमकती हुई धारवाली शक्तियाँ, चलाये जाते हुए तोमरों और पानीदार तलवारोंकी प्रभा नील कमलके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ १७ ॥

कवचानां विचित्राणां भूषणानां प्रभास्तथा ।
खं दिशः प्रदिशश्चैव भासयामासुरोजसा ॥ १८ ॥

वे तथा विचित्र कवचों और आभूषणोंके प्रभासमूह आकाश, दिशा एवं कोणोंको अपने तेजसे प्रकाशित कर रहे थे ॥ १८ ॥

वपुर्भिश्च नरेन्द्राणां चन्द्रसूर्यसमप्रभैः ।
विरराज तदा राजंस्तत्र तत्र रणाङ्गणम् ॥ १९ ॥

राजन्! चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले राजाओंके शरीरोंसे वह समराङ्गण यत्र-तत्र सर्वत्र शोभा पा रहा था ॥ १९ ॥

रथसङ्घा नरव्याघ्राः समायान्तश्च संयुगे ।
विरेजुः समरे राजन् ग्रहा इव नभस्तले ॥ २० ॥

राजन्! रथोंके समूह और नरश्रेष्ठ नरेशगण युद्धमें आते हुए उसी प्रकार शोभा पा रहे थे, जैसे आकाशमें ग्रह-नक्षत्र सुशोभित होते हैं ॥ २० ॥

भीष्मस्तु रथिनां श्रेष्ठो भीमसेनं महाबलम् ।
अवारयत संक्रुद्धः सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ २१ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने कुपित होकर सब सेनाओंके देखते-देखते महाबली भीमसेनको रोक दिया ॥ २१ ॥

ततो भीष्मविनिर्मुक्ता रुक्मपुङ्खाः शिलाशिताः।
अभ्यघ्नन् समरे भीमं तैलधौताः सुतेजनाः ॥ २२ ॥

उस समय पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए, सुवर्णमय पंखसे युक्त और तेलके धोये तीखे बाण भीष्मके हाथोंसे छूटकर समरभूमिमें भीमसेनको चोट पहुँचाने लगे ॥ २२ ॥

तस्य शक्तिं महावेगां भीमसेनो महाबलः ।
क्रुद्धाशीविषसंकाशां प्रेषयामास भारत ॥ २३ ॥

भारत! तब महाबली भीमसेनने क्रोधमें भरे हुए

विषधर सर्पके समान भयंकर महावेगशालिनी शक्ति भीष्मपर छोड़ी ॥ २३ ॥

तामापतन्तीं सहसा रुक्मदण्डां दुरासदाम् ।
चिच्छेद समरे भीष्मः शरैः संनतपर्वभिः ॥ २४ ॥

उसमें सोनेका डंडा लगा हुआ था। उसको सह लेना बहुत ही कठिन था। उसे सहसा आते देख भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा युद्धभूमिमें काट गिराया ॥ २४ ॥

ततोऽपरेण भल्लेन पीतेन निशितेन च ।
कार्मुकं भीमसेनस्य द्विधा चिच्छेद भारत ॥ २५ ॥

भरतनन्दन ! तदनन्तर एक तीखे और पानीदार भल्लसे उन्होंने भीमसेनके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ॥ २५ ॥

(अपास्य तु धनुश्छिन्नं भीमसेनो महाबलः ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् भीष्मं शान्तनवं युधि ।)

महाबली भीमसेनने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा धनुष ले बहुत-से बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें शान्तनुनन्दन भीष्मको अत्यन्त पीड़ा दी ॥

सात्यकिस्तु ततस्तूर्णं भीष्ममासाद्य संयुगे ।
आकर्णप्रहितैस्तीक्ष्णैर्निशितैस्तिग्मतेजनैः ॥ २६ ॥
शरैर्बहुभिरानर्च्छत् पितरं ते जनेश्वर ।

जनेश्वर ! तत्पश्चात् उस युद्धमें सात्यकिने शीघ्र ही आपके ताऊ भीष्मके पास पहुँचकर धनुषको कानोंतक खींचकर चलाये हुए बहुत-से तीखे एवं तेज सायकोंद्वारा उन्हें बहुत पीड़ा दी॥

ततः संधाय वै तीक्ष्णं शरं परमदारुणम् ॥ २७ ॥
वार्ष्णेयस्य रथाद् भीष्मः पातयामास सारथिम् ।

तब भीष्मने अत्यन्त भयंकर तीक्ष्ण बाणका संधान करके सात्यकिके रथसे उनके सारथिको मार गिराया ॥ २७½ ॥

तस्याश्वाः प्रद्रुता राजन् निहते रथसारथौ ॥ २८ ॥

राजन् ! रथ-सारथिके मारे जानेपर सात्यकिके घोड़े वहाँसे भाग चले ॥ २८ ॥

तेन तेनैव धावन्ति मनोमारुतरंहसः ।
ततः सर्वस्य सैन्यस्य निस्वनस्तुमुलोऽभवत् ॥ २९ ॥

मन और वायुके समान वेगवाले वे घोड़े जिधर राह मिली, उधर ही दौड़ने लगे। इससे सारी सेनामें कोलाहल मच गया ॥ २९ ॥

हाहाकारश्च संजज्ञे पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अभ्यद्रवत गृह्णीत हयान् यच्छत धावत ॥ ३० ॥
इत्यासीत् तुमुलः शब्दो युयुधानरथं प्रति ।

महात्मा पाण्डवोंके दलमें हाहाकार होने लगा। अरे ! दौड़ो, पकड़ो, घोड़ोंको रोको, भागो। सात्यकिके रथकी ओर इस तरहका शब्द गूँजने लगा ॥ ३०½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ३१ ॥
न्यहनत् पाण्डवीं सेनामासुरीमिव वृत्रहा ।

इसी बीचमें शान्तनुनन्दन भीष्मने पाण्डव-सेनाका उसी प्रकार विनाश आरम्भ किया, जैसे देवराज इन्द्र आसुरी-सेनाका संहार करते हैं ॥ ३१½ ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण पञ्चालाः सोमकैः सह ॥ ३२ ॥
स्थिरां युद्धे मतिं कृत्वा भीष्ममेवाभिदुद्रुवुः ।

भीष्मके द्वारा पीड़ित हुए पाञ्चाल और सोमक युद्धका दृढ़ निश्चय लेकर भीष्मकी ही ओर दौड़े ॥ ३२½ ॥

धृष्टद्युम्नमुखाश्चापि पार्थाः शान्तनवं रणे ॥ ३३ ॥
अभ्यधावञ्जिगीषन्तस्तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।

धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डव योद्धा आपके पुत्रकी सेनाको जीतनेकी इच्छासे युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मपर ही चढ़ आये ॥ ३३½ ॥

तथैव कौरवा राजन् भीष्मद्रोणपुरोगमाः ॥ ३४ ॥
अभ्यधावन्त वेगेन ततो युद्धमवर्तत ॥ ३५ ॥

राजन् ! इसी प्रकार भीष्म, द्रोण आदि कौरव योद्धा भी बड़े वेगसे पाण्डव-सेनापर टूट पड़े; फिर तो दोनों दलोंमें भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसयुद्धे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३६½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

विराट-भीष्म, अश्वत्थामा-अर्जुन, दुर्योधन-भीमसेन तथा अभिमन्यु और लक्ष्मणके द्वन्द्वयुद्ध

संजय उवाच

विराटोऽथ त्रिभिर्बाणैर्भीष्ममार्च्छन्महारथम् ।
विव्याध तुरगांश्चास्य त्रिभिर्बाणैर्महारथः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! महारथी राजा विराटने तीन बाण मारकर महारथी भीष्मको पीड़ित किया और तीन ही बाणोंसे उनके घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ १ ॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीष्मः शान्तनवः शरैः ।
रुक्मपुङ्खैर्महेष्वासः कृतहस्तो महाबलः ॥ २ ॥

तब महाधनुर्धर महाबली तथा शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने सोनेके पंखवाले दस बाण मारकर विराटको भी घायल कर दिया ॥ २ ॥

द्रौणिर्गाण्डीवधन्वानं भीमधन्वा महारथः ।
अविध्यदिषुभिः षड्भिर्दृढहस्तः स्तनान्तरे ॥ ३ ॥

भयंकर धनुष धारण करनेवाले महारथी अश्वत्थामाने अपने हाथकी दृढ़ताका परिचय देते हुए गाण्डीवधारी अर्जुनकी छातीमें छः बाणोंसे प्रहार किया ॥ ३ ॥

कार्मुकं तस्य चिच्छेद फाल्गुनः परवीरहा ।
अविध्यच्च भृशं तीक्ष्णैः पत्रिभिः शत्रुकर्शनः ॥ ४ ॥

तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले शत्रुसूदन अर्जुनने अश्वत्थामाका धनुष काट दिया और उसे तीन तीखे बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल कर दिया ॥ ४ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय वेगवान् क्रोधमूर्च्छितः।
अमृष्यमाणः पार्थेन कार्मुकच्छेदमाहवे ॥ ५ ॥
अविध्यत् फाल्गुनं राजन् नवत्या निशितैः शरैः।
वासुदेवं च सप्तत्या विव्याध परमेषुभिः ॥ ६ ॥

राजन् ! युद्धमें अर्जुनके द्वारा अपने धनुषका काटा जाना अश्वत्थामाको सहन नहीं हुआ । उस वेगशाली वीरने क्रोधसे मूर्च्छित होकर तुरंत ही दूसरा धनुष ले नब्बे पैने बाणोंद्वारा अर्जुनको और सत्तर श्रेष्ठ सायकोंद्वारा श्रीकृष्णको घायल कर दिया ॥ ५-६ ॥

ततः क्रोधाभिताम्राक्षः कृष्णेन सह फाल्गुनः ।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य चिन्तयित्वा पुनःपुनः ॥ ७ ॥
धनुः प्रपीड्य वामेन करेणामित्रकर्शनः ।
गाण्डीवधन्वा संक्रुद्धः शितान् संनतपर्वणः ॥ ८ ॥
जीवितान्तकरान् घोरान् समादत्त शिलीमुखान्।
तैस्तूर्णं समरेऽविध्यद् द्रौणिं बलवतां वरः ॥ ९ ॥

तब श्रीकृष्णसहित अर्जुनने क्रोधसे लाल आँखें करके बारंबार गरम-गरम लंबी साँस खींचकर सोच-विचार करनेके पश्चात् धनुषको बायें हाथसे दबाया । फिर उन शत्रुसूदन गाण्डीवधारी पार्थने कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले कुछ भयंकर बाण हाथमें लिये, जो जीवनका अन्त कर देनेवाले थे । बलवानोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने उन बाणोंद्वारा तुरंत ही समराङ्गणमें अश्वत्थामाको घायल किया ॥ ७–९ ॥

तस्य ते कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ।
न विव्यथे च निर्भिन्नो द्रौणिर्गाण्डीवधन्वना ॥ १० ॥

वे बाण उसका कवच फाड़कर उस युद्धस्थलसे उसके शरीरका रक्त पीने लगे, किंतु गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा विदीर्ण किये जानेपर भी अश्वत्थामा व्यथित नहीं हुआ ॥ १० ॥

तथैव च शरान् द्रौणिः प्रविमुञ्चन्नविह्वलः ।
तस्थौ स समरे राजंस्त्रातुमिच्छन् महाव्रतम् ॥ ११ ॥

राजन् ! द्रोणकुमार तनिक भी विह्वल हुए बिना ही पूर्ववत् समरभूमिमें बाणोंकी वर्षा करता रहा और अपने महान् व्रतकी रक्षाकी इच्छासे समराङ्गणमें डटा रहा ॥ ११ ॥

तस्य तत् सुमहत् कर्म शशंसुः कुरुसत्तमाः ।
यत् कृष्णाभ्यां समेताभ्यामभ्यापतत संयुगे ॥ १२ ॥

अश्वत्थामा युद्धभूमिमें जो श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंका सामना करता रहा, उसके इस महान् कर्मकी श्रेष्ठ कौरवोंने बड़ी प्रशंसा की ॥ १२ ॥

(तथार्जुनोऽपि संहृष्ट अश्वत्थामानमाहवे ।
शशंस सर्वभूतानां शृण्वतामपि भारत ॥)

भारत ! अर्जुनने भी अत्यन्त हर्षमें भरकर रणभूमिमें सम्पूर्ण भूतोंके सुनते हुए अश्वत्थामाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

स हि नित्यमनीकेषु युध्यतेऽभयमास्थितः ।
अस्त्रग्रामं ससंहारं द्रोणात् प्राप्य सुदुर्लभम् ॥ १३ ॥

वह द्रोणाचार्यसे उपसंहारसहित सुदुर्लभ अस्त्र-समुदायकी शिक्षा पाकर निर्भय हो सदा ही पाण्डव-सैनिकोंके साथ युद्ध करता था ॥ १३ ॥

ममैष आचार्यसुतो द्रोणस्यापि प्रियः सुतः ।
ब्राह्मणश्च विशेषेण माननीयो ममेति च ॥ १४ ॥
समास्थाय मतिं वीरो बीभत्सुः शत्रुतापनः ।
कृपां चक्रे रथश्रेष्ठो भारद्वाजसुतं प्रति ॥ १५ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुनने यह सोचकर कि अश्वत्थामा मेरे आचार्यका पुत्र है, द्रोणका लाड़ला बेटा है तथा ब्राह्मण होनेके कारण भी विशेषरूपसे मेरे लिये माननीय है; आचार्यपुत्रपर कृपा की ॥ १४-१५ ॥

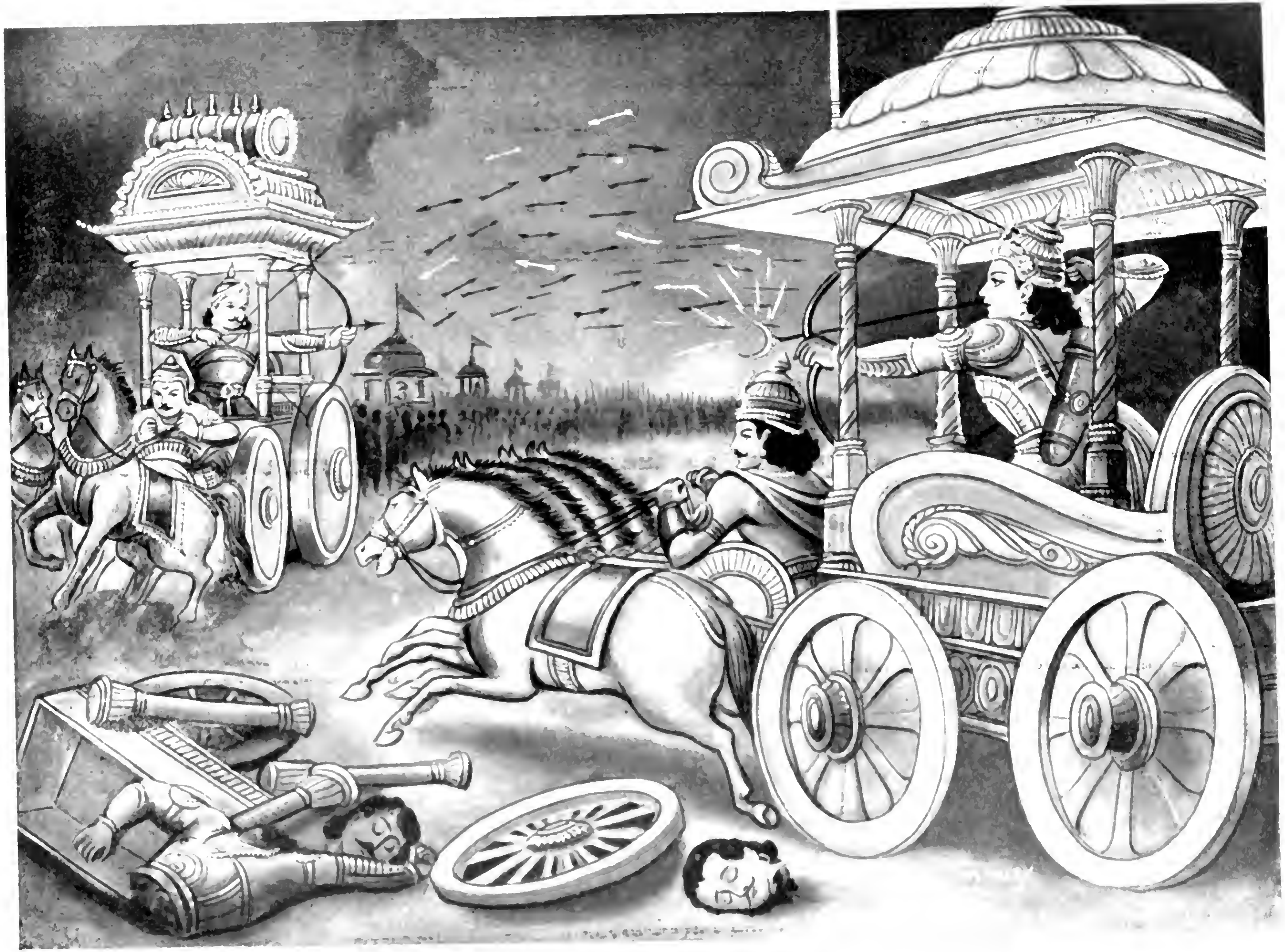
द्रौणिं त्यक्त्वा ततो युद्धे कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।
युयुधे तावकान् निघ्नंस्त्वरमाणः पराक्रमी ॥ १६ ॥

तदनन्तर श्वेत घोड़ोंवाले कुन्तीकुमार पराक्रमी अर्जुनने अश्वत्थामाको वहीं युद्धस्थलमें छोड़कर बड़ी उतावलीके साथ आपके दूसरे सैनिकोंका संहार करते हुए उनके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ १६ ॥

दुर्योधनस्तु दशभिर्गार्ध्रपत्रैः शिलाशितैः ।
भीमसेनं महेष्वासं रुक्मपुङ्खैः समार्पयत् ॥ १७ ॥

दुर्योधनने शान चढ़ाकर तेज किये हुए गृध्र पंखयुक्त अथवा सुवर्णमय पंखवाले दस बाण मारकर महाधनुर्धर भीमसेनको बड़ी चोट पहुँचायी ॥ १७ ॥

भीमसेनः सुसंक्रुद्धः परासुकरणं दृढम् ।
चित्रं कार्मुकमादत्त शरांश्च निशितान् दश ॥ १८ ॥



अभिमन्युका युद्ध-कौशल

आकर्णप्रहितैस्तीक्ष्णैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
अविध्यत् तूर्णमव्यग्रः कुरुराजं महोरसि ॥ १९ ॥

इससे भीमसेन अत्यन्त क्रोधसे जल उठे । उन्होंने एक विचित्र धनुष हाथमें लिया, जो अत्यन्त सुदृढ़ और शत्रुओंके प्राण लेनेमें समर्थ था । उसके ऊपर उन्होंने दस तीखे बाण रक्खे; फिर धनुषको कानतक खींचकर वे बाण छोड़ दिये । उन सीधे जानेवाले वेगवान् एवं तीक्ष्ण बाणोंद्वारा भीमने बिना किसी व्यग्रताके तुरंत ही कुरुराज दुर्योधनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १८-१९ ॥

तस्य काञ्चनसूत्रस्थः शरैः संछादितो मणिः ।
रराजोरसि खे सूर्यो ग्रहैरिव समावृतः ॥ २० ॥

दुर्योधनकी छातीपर एक मणि शोभा पाती थी, जो सुवर्णमय सूत्रमें पिरोयी हुई थी । वह भीमसेनके बाणोंसे आच्छादित होकर वैसे ही शोभा पाने लगी, जैसे आकाशमें ग्रहोंसे घिरे हुए सूर्य सुशोभित होते हैं ॥ २० ॥

पुत्रस्तु तव तेजस्वी भीमसेनेन ताडितः ।
नामृष्यत यथा नागस्तलशब्दं मदोत्कटः ॥ २१ ॥

भीमसेनके बाणोंसे पीड़ित होकर आपका तेजस्वी पुत्र उनके द्वारा किये गये आघातको उसी प्रकार नहीं सह सका, जैसे मतवाला हाथी तालीकी आवाज नहीं सहन करता है ॥

ततः शरैर्महाराज रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः ।
भीमं विव्याध संक्रुद्धस्त्रासयानो वरूथिनीम् ॥ २२ ॥

महाराज ! तदनन्तर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए स्वर्णपंखयुक्त बाणोंद्वारा क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनने भीमसेनको बींध डाला और पाण्डवसेनाको भयभीत करने लगा ॥

तौ युध्यमानौ समरे भृशमन्योन्यविक्षतौ ।
पुत्रौ ते देवसंकाशौ व्यरोचेतां महाबलौ ॥ २३ ॥

उस समराङ्गणमें परस्पर युद्ध करके अत्यन्त क्षत-विक्षत हुए आपके दोनों महाबली पुत्र दुर्योधन और भीमसेन देवताओंके समान शोभा पाने लगे ॥ २३ ॥

चित्रसेनं नरव्याघ्रं सौभद्रः परवीरहा ।
अविध्यद् दशभिर्बाणैः पुरुमित्रं च सप्तभिः ॥ २४ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने नरश्रेष्ठ चित्रसेनको दस और पुरुमित्रको सात बाणोंसे बींध डाला ॥ २४ ॥

सत्यव्रतं च सप्तत्या विद्ध्वा शक्रसमो युधि ।
नृत्यन्निव रणे वीर आर्तिं नः समजीजनत् ॥ २५ ॥

युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी वीर अभिमन्युने सत्यव्रतको सत्तर बाणोंसे घायल करके रणाङ्गणमें नृत्य-सा करते हुए हम सब लोगोंको अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥ २५ ॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिश्चित्रसेनः शिलीमुखैः ।
सत्यव्रतश्च नवभिः पुरुमित्रश्च सप्तभिः ॥ २६ ॥

तब चित्रसेनने दस, सत्यव्रतने नौ और पुरुमित्रने सात बाणोंसे मारकर अभिमन्युको घायल कर दिया॥ २६ ॥

स विद्धो विक्षरन् रक्तं शत्रुसंवारणं महत् ।
चिच्छेद चित्रसेनस्य चित्रं कार्मुकमार्जुनिः ॥ २७ ॥

उन दोनोंके द्वारा घायल होकर अपने शरीरसे रक्त बहाते हुए अभिमन्युने चित्रसेनके शत्रुनिवारक महान् एवं विचित्र धनुषको काट डाला ॥ २७ ॥

भित्त्वा चास्य तनुत्राणं शरेणोरस्यताडयत् ।
ततस्ते तावका वीरा राजपुत्रा महारथाः ॥ २८ ॥
समेत्य युधि संरब्धा विव्यधुर्निशितैः शरैः ।
तांश्च सर्वाञ्शरैस्तीक्ष्णैर्जघान परमास्त्रवित् ॥ २९ ॥

साथ ही चित्रसेनके कवचको विदीर्ण करके उसकी छातीमें भी एक बाण मारा । तदनन्तर आपके वीर एवं महारथी राजकुमार युद्धमें एकत्र हो क्रोधमें भरकर अभिमन्युको तीखे बाणोंसे बेधने लगे; परंतु उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता अभिमन्युने अपने पैने बाणोंद्वारा उन सबको घायल कर दिया ॥ २८-२९ ॥

तस्य दृष्ट्वा तु तत् कर्म परिवव्रुः सुतास्तव ।
दहन्तं समरे सैन्यं वने कक्षं यथोल्बणम् ॥ ३० ॥

जैसे वनमें लगी हुई प्रचण्ड आग तृणसमूहको अनायास ही जलाकर भस्म कर डालती है, उसी प्रकार अभिमन्यु उस समराङ्गणमें कौरवसेनाको दग्ध कर रहा था । उसके इस महान् कर्मको देखकर आपके पुत्रोंने उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ ३० ॥

अपेतशिशिरे काले समिद्धमिव पावकम् ।
अत्यरोचत सौभद्रस्तव सैन्यानि नाशयन् ॥ ३१ ॥

महाराज ! आपकी सेनाका संहार करता हुआ सुभद्राकुमार अभिमन्यु ग्रीष्म-ऋतुमें प्रज्वलित हुई प्रचण्ड अग्निसे भी बढ़कर शोभा पा रहा था ॥ ३१ ॥

तत् तस्य चरितं दृष्ट्वा पौत्रस्तव विशाम्पते ।
लक्ष्मणोऽभ्यपतत् तूर्णं सात्वतीपुत्रमाहवे ॥ ३२ ॥

प्रजानाथ ! उसका यह पराक्रम देखकर आपका पौत्र लक्ष्मण तुरंत ही युद्धमें सुभद्राकुमारका सामना करनेके लिये आ पहुँचा ॥ ३२ ॥

अभिमन्युस्तु संक्रुद्धो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
विव्याध निशितैः षड्भिः सारथिं च त्रिभिः शरैः॥३३॥

तब क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने उत्तम लक्षणोंसे युक्त

लक्ष्मणको छः और उसके सारथिको तीन तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥ ३३ ॥

तथैव लक्ष्मणो राजन् सौभद्रं निशितैः शरैः ।
अविध्यत महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३४ ॥

राजन् ! इसी प्रकार लक्ष्मणने भी सुभद्राकुमारको अपने तीखे बाणोंसे घायल कर दिया । महाराज ! वह अद्भुत-सी बात हुई ॥ ३४ ॥

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सारथिं च महाबलः ।
अभ्यद्रवत सौभद्रो लक्ष्मणं निशितैः शरैः ॥ ३५ ॥

यह देख महाबली सुभद्राकुमारने लक्ष्मणके चारों घोड़ों और सारथिको मारकर तीखे बाणोंद्वारा उसपर भी आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

हताश्वे तु रथे तिष्ठँल्लक्ष्मणः परवीरहा ।
शक्तिं चिक्षेप संक्रुद्धः सौभद्रस्य रथं प्रति ॥ ३६ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले लक्ष्मणने उस अश्वहीन रथपर खड़े-खड़े ही क्रोधमें भरकर अभिमन्युके रथकी ओर एक शक्ति चलायी ॥ ३६ ॥

तामापतन्तीं सहसा घोररूपां दुरासदाम् ।
अभिमन्युः शरैस्तीक्ष्णैश्चिच्छेद भुजगोपमाम् ॥ ३७ ॥

उस भयंकर एवं दुर्जय सर्पिणीके समान शक्तिको सहसा अपनी ओर आते देख अभिमन्युने तीखे बाणोंद्वारा उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ३७ ॥

ततः स्वरथमारोप्य लक्ष्मणं गौतमस्तदा ।
अपोवाह रथेनाजौ सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ३८ ॥

तब कृपाचार्य सब सैनिकोंके देखते-देखते लक्ष्मणको अपने रथपर बिठाकर युद्धभूमिमें वहाँसे अन्यत्र हटा ले गये॥

ततः समाकुले तस्मिन् वर्तमाने महाभये ।
अभ्यद्रवञ्जिघांसन्तः परस्परवधैषिणः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उस महाभयंकर संघर्षमें सब योद्धा विपक्षी-को मारनेकी इच्छा रखकर एक-दूसरेका वध करनेके लिये परस्पर टूट पड़े ॥ ३९ ॥

तावकाश्च महेष्वासाः पाण्डवाश्च महारथाः ।
जुह्वन्तः समरे प्राणान् निजघ्नुरितरेतरम् ॥ ४० ॥

आपके और पाण्डवपक्षके महाधनुर्धर महारथी वीर समराङ्गणमें प्राणोंकी आहुति देते हुए एक दूसरेको मार रहे थे ॥ ४० ॥

मुक्तकेशा विकवचा विरथाश्छिन्नकार्मुकाः ।
बाहुभिः समयुध्यन्त सृंजयाः कुरुभिः सह ॥ ४१ ॥

कवच और रथसे रहित हो धनुष कट जानेपर अपने बाल खोले हुए कितने ही सृंजय वीर कौरवोंके साथ केवल भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध कर रहे थे ॥ ४१ ॥

ततो भीष्मो महाबाहुः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
सेनां जघान संक्रुद्धो दिव्यैरस्त्रैर्महाबलः ॥ ४२ ॥

तब महाबली महाबाहु भीष्म अत्यन्त कुपित हो अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा महामना पाण्डवोंकी सेनाका संहार करने लगे॥

हतैरश्वैर्गजैस्तत्र नरैरश्वैश्च पातितैः ।
रथिभिः सादिभिश्चैव समास्तीर्यत मेदिनी ॥ ४३ ॥

उस समय वहाँ मारे और गिराये गये हाथी, घोड़े, मनुष्य, रथी और सवारोंद्वारा सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४४ श्लोक हैं)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

सात्यकि और भूरिश्रवाका युद्ध, भूरिश्रवाद्वारा सात्यकिके दस पुत्रोंका वध, अर्जुनका पराक्रम तथा पाँचवें दिनके युद्धका उपसंहार

संजय उवाच

अथ राजन् महाबाहुः सात्यकिर्युद्धदुर्मदः ।
विकृष्य चापं समरे भारसाहमनुत्तमम् ॥ १ ॥
प्रामुञ्चन् पुङ्खसंयुक्ताञ्शरानाशीविषोपमान् ।

संजय कहते हैं—राजन् ! महाबाहु सात्यकि युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे । उन्होंने युद्धमें भार सहन करनेमें समर्थ और परम उत्तम धनुषको बलपूर्वक खींचकर विषधर सर्पके समान भयानक पंखयुक्त बाण छोड़े ॥ १½ ॥

प्रगाढं लघु चित्रं च दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ २ ॥
(यत् तत् सख्युस्तु पूर्वेण अर्जुनादुपशिक्षितम् ।)

बाणोंको छोड़ते समय सात्यकिने अपने उस प्रगाढ़, शीघ्रकारी और विचित्र हस्त-लाघवका परिचय दिया, जिसे उन्होंने पूर्वकालमें अपने सखा अर्जुनसे सीखा था ॥ २ ॥

तस्य विक्षिपतश्चापं शरानन्यांश्च मुञ्चतः।
आददानस्य भूयश्च संदधानस्य चापरान्॥ ३॥
क्षिपतश्च परांस्तस्य रणे शत्रून् विनिघ्नतः।
ददृशे रूपमत्यर्थं मेघस्येव प्रवर्षतः॥ ४॥

जब वे धनुषको खींचते, दूसरे-दूसरे बाण छोड़ते, फिर नये-नये बाण हाथमें लेते, धनुषपर रखते, उन्हें शत्रुओंपर चलाते और उनका संहार करते थे, उस समय वर्षा करनेवाले मेघके समान उनका स्वरूप अत्यन्त अद्भुत दिखायी देता था॥ ३-४॥

तमुदीर्यन्तमालोक्य राजा दुर्योधनस्ततः।
रथानामयुतं तस्य प्रेषयामास भारत॥ ५॥

भारत! उस समय उन्हें युद्धमें बढ़ते देख राजा दुर्योधनने उनका सामना करनेके लिये दस हजार रथियोंकी सेना भेजी॥५॥

तांस्तु सर्वान् महेष्वासान् सात्यकिः सत्यविक्रमः।
जघान परमेष्वासो दिव्येनास्त्रेण वीर्यवान्॥ ६॥

परंतु श्रेष्ठ धनुर्धर सत्यपराक्रमी शक्तिशाली सात्यकिने उन समस्त धनुर्धर योद्धाओंको अपने दिव्यास्त्रके द्वारा मार डाला॥ ६॥

स कृत्वा दारुणं कर्म प्रगृहीतशरासनः।
आससाद ततो वीरो भूरिश्रवसमाहवे॥ ७॥

यह भयंकर कर्म करके फिर धनुष लिये वीर सात्यकिने युद्धस्थलमें भूरिश्रवापर आक्रमण किया॥ ७॥

स हि संदृश्य सेनां ते युयुधानेन पातिताम्।
अभ्यधावत संक्रुद्धः कुरूणां कीर्तिवर्धनः॥ ८॥

सात्यकिने आपकी सेनाको मार गिराया है, यह देखकर कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाला भूरिश्रवा अत्यन्त कुपित हो उनकी ओर दौड़ा॥ ८॥

इन्द्रायुधसवर्णं तु विस्फार्य सुमहद् धनुः।
सृष्टवान् वज्रसंकाशाञ्शरानाशीविषोपमान्॥ ९॥
सहस्रशो महाराज दर्शयन् पाणिलाघवम्।

उसका विशाल धनुष इन्द्र-धनुषके समान बहुरंगा था। महाराज! उसे खींचकर भूरिश्रवाने अपने हस्त-लाघवका परिचय देते हुए वज्रके समान दुःसह और विषैले सर्पोंके तुल्य भयंकर सहस्रों बाण छोड़े॥ ९½॥

शरांस्तान् मृत्युसंस्पर्शान् सात्यकेश्च पदानुगाः॥१०॥
न विषेहुस्तदा राजन् दुद्रुवुस्ते समन्ततः।
विहाय सात्यकिं राजन् समरे युद्धदुर्मदम्॥ ११॥

उन बाणोंका स्पर्श मृत्युके तुल्य था। राजन्! उस समय सात्यकिके साथ आये हुए सैनिक उन सायकोंका वेग न सह सके। नरेश्वर! युद्धभूमिमें वे रण-दुर्मद सात्यकिको वहीं छोड़कर सब ओर भाग निकले॥ १०-११॥

तं दृष्ट्वा युयुधानस्य सुता दश महाबलाः।
महारथाः समाख्याताश्चित्रवर्मायुधध्वजाः॥ १२॥
समासाद्य महेष्वासं भूरिश्रवसमाहवे।
ऊचुः सर्वे सुसंरब्धा यूपकेतुं महारणे॥ १३॥

सात्यकिके दस महाबलवान् पुत्र थे। उनके कवच, आयुध और ध्वज सभी विचित्र थे। वे सब-के सब महारथी कहे जाते थे। वे युद्धस्थलमें यूपचिह्नित ध्वजवाले महारथी भूरिश्रवाको देखकर उसके पास आये और अत्यन्त क्रोधपूर्वक उससे इस प्रकार बोले—॥ १२-१३॥

भो भोः कौरवदायाद सहास्माभिर्महाबल।
एहि युध्यस्व संग्रामे समस्तैः पृथगेव वा॥ १४॥

'महाबली कौरवपुत्र! आओ, इस संग्रामभूमिमें हम सब लोगोंके साथ अथवा पृथक्-पृथक् एक एकके साथ युद्ध करो॥

अस्मान् वा त्वं पराजित्य यशः प्राप्नुहि संयुगे।
वयं वा त्वां पराजित्य प्रीतिं धास्यामहे पितुः॥ १५॥

'या तो तुम युद्धमें हमें पराजित करके यश प्राप्त करो अथवा हम तुम्हें परास्त करके पिताकी प्रसन्नता बढ़ायेंगे'॥

एवमुक्तस्तदा शूरैस्तानुवाच महाबलः।
वीर्यश्लाघी नरश्रेष्ठस्तान् दृष्ट्वा समवस्थितान्॥ १६॥

तब उन शूरवीरोंके ऐसा कहनेपर अपने पराक्रमकी श्लाघा करनेवाला महाबली नरश्रेष्ठ भूरिश्रवा उन्हें युद्धके लिये उपस्थित देख उनसे इस प्रकार बोला—॥ १६॥

साध्विदं कथ्यते वीरा यद्येवं मतिरद्य वः।
युध्यध्वं सहिता यत्ता निहनिष्यामि वो रणे॥ १७॥

'वीरो! यदि तुम्हारा ऐसा विचार है तो तुमलोगोंने यह बड़ी अच्छी बात कही है। तुम सब लोग एक साथ सावधान होकर यत्नपूर्वक युद्ध करो। मैं इस रणभूमिमें तुम सब लोगोंको मार गिराऊँगा'॥ १७॥

एवमुक्ता महेष्वासास्ते वीराः क्षिप्रकारिणः।
महता शरवर्षेण अभ्यधावन्नरिंदमम्॥ १८॥

भूरिश्रवाके ऐसा कहनेपर शीघ्रता करनेवाले उन महाधनुर्धर वीरोंने बड़ी भारी बाण-वर्षा करते हुए शत्रुदमन भूरिश्रवापर आक्रमण किया॥ १८॥

सोऽपराह्णे महाराज संग्रामस्तुमुलोऽभवत्।
एकस्य च बहूनां च समेतानां रणाजिरे॥ १९॥

महाराज! अपराह्णकालमें उस समराङ्गणमें एकत्र हुए बहुत-से वीरोंके साथ एक वीरका भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ॥

तमेकं रथिनां श्रेष्ठं शरैस्ते समवाकिरन्।
प्रावृषीव यथा मेरुं सिषिचुर्जलदा नृप॥ २०॥

नरेश्वर! जैसे मेघ वर्षाकालमें मेरुपर्वतपर जलकी बूँदें

बरसाते हैं, उसी प्रकार उन सबने मिलकर रथियोंमें श्रेष्ठ एकमात्र भूरिश्रवापर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ २० ॥

तैस्तु मुक्ताञ्शरान् घोरान् यमदण्डाशनिप्रभान्।
असम्प्राप्तानसम्भ्रान्तश्चिच्छेदाशु महारथः ॥ २१ ॥

उनके छोड़े हुए यमदण्ड और वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले भयंकर बाणोंको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही महारथी भूरिश्रवाने बिना किसी घबराहटके शीघ्रतापूर्वक काट गिराया ॥

तत्राद्भुतमपश्याम सौमदत्तेः पराक्रमम्।
यदेको बहुभिर्युद्धे समसज्जदभीतवत् ॥ २२ ॥

वहाँ हम सबने सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवाका अद्भुत पराक्रम देखा। वह अकेला होनेपर भी बहुत-से वीरोंके साथ निर्भीक-सा युद्ध करता रहा ॥ २२ ॥

विसृज्य शरवृष्टिं तां दश राजन् महारथाः।
परिवार्य महाबाहुं निहन्तुमुपचक्रमुः ॥ २३ ॥

राजन्! उन दस महारथियोंने वह बाणोंकी वर्षा करके महाबाहु भूरिश्रवाको चारों ओरसे घेरकर उसे मार डालनेकी तैयारी की ॥ २३ ॥

सौमदत्तिस्ततः क्रुद्धस्तेषां चापानि भारत।
चिच्छेद समरे राजन् युध्यमानो महारथैः ॥ २४ ॥

भरत-वंशीनरेश! उस समय क्रोधमें भरे हुए भूरिश्रवाने उन महारथियोंके साथ युद्ध करते हुए ही समरभूमिमें उनके धनुष काट डाले ॥ २४ ॥

अथैषां छिन्नधनुषां शरैः संनतपर्वभिः।
चिच्छेद समरे राजञ्शिरांसि भरतर्षभ ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ! इनके धनुष कट जानेपर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे भूरिश्रवाने उनके मस्तक भी समरभूमिमें काट गिराये ॥ २५ ॥

ते हता न्यपतन् राजन् वज्रभग्ना इव द्रुमाः।
तान् दृष्ट्वा निहतान् वीरो रणे पुत्रान् महाबलान् ॥ २६ ॥
वार्ष्णेयो विनदन् राजन् भूरिश्रवसमभ्ययात्।

राजन्! वे दसों वीर वज्रके मारे हुए वृक्षोंकी भाँति रणभूमिमें मरकर गिर पड़े। उन महाबली पुत्रोंको संग्राममें मारा गया देख वीरवर सात्यकिने गर्जना करते हुए वहाँ भूरिश्रवापर आक्रमण किया ॥ २६½ ॥

रथं रथेन समरे पीडयित्वा महाबलौ ॥ २७ ॥
तावन्योन्यं हि समरे निहत्य रथवाजिनः।
विरथावभिवल्गन्तौ समेयातां महारथौ ॥ २८ ॥

वे दोनों महाबली समराङ्गणमें अपने रथके द्वारा दूसरेके रथको पीड़ा देने लगे। उन्होंने आपसमें एक दूसरेके रथ और घोड़ोंको नष्ट कर दिया। इस प्रकार रथहीन हुए वे दोनों महारथी उछलते-कूदते हुए एक-दूसरेका सामना करने लगे ॥

प्रगृहीतमहाखड्गौ तौ चर्मवरधारिणौ।
शुशुभाते नरव्याघ्रौ युद्धाय समवस्थितौ ॥ २९ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह हाथमें बड़ी बड़ी तलवारें और सुन्दर ढालें लिये युद्धके लिये उद्यत होकर बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ २९ ॥

(खड्गप्रहारैः सुभृशं जघ्नतुश्च परस्परम्।
पीडितौ खड्गघाताभ्यां स्रवद्रक्तौ क्षितौ भृशम् ॥
शुशुभाते महावीर्यावुभौ समरदुर्जयौ।
असृगुक्षितसर्वाङ्गौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥)

वे तलवारोंकी मारसे एक दूसरेको अत्यन्त घायल करने लगे। खड्गके आघातसे पीड़ित हो दोनों ही पृथ्वीपर रक्त बहाने लगे। उनके सारे अङ्ग रक्तरंजित हो रहे थे। अतः वे रण-दुर्जय महापराक्रमी वीर खिले हुए दो पलाश-वृक्षोंकी भाँति अत्यन्त सुशोभित होने लगे ॥

ततः सात्यकिमभ्येत्य निस्त्रिंशवरधारिणम्।
भीमसेनस्त्वरन् राजन् रथमारोपयत् तदा ॥ ३० ॥

राजन्! तदनन्तर उत्तम खड्ग धारण करनेवाले सात्यकिके पास पहुँचकर भीमसेनने उस समय तुरंत उन्हें अपने रथपर बिठा लिया ॥ ३० ॥

तवापि तनयो राजन् भूरिश्रवसमाहवे।
आरोपयद् रथं तूर्णं पश्यतां सर्वधन्विनाम् ॥ ३१ ॥

महाराज! इसी प्रकार आपके पुत्र दुर्योधनने भी युद्धस्थलमें समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते भूरिश्रवाको तुरंत अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ३१ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने रणे भीष्मं महारथम्।
अयोधयन्त संरब्धाः पाण्डवा भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय क्रोधमें भरे हुए पाण्डव उस युद्धमें महारथी भीष्मके साथ युद्ध करने लगे ॥ ३२ ॥

लोहितायति चादित्ये त्वरमाणो धनंजयः।
पञ्चविंशतिसाहस्रान् निजघान महारथान् ॥ ३३ ॥

जब सूर्य अस्ताचलके पास पहुँचकर लाल होने लगे, उस समय अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ बाण-वर्षा करके पचीस हजार महारथियोंको मार डाला ॥ ३३ ॥

ते हि दुर्योधनादिष्टास्तदा पार्थनिबर्हणे।
सम्प्राप्यैव गता नाशं शलभा इव पावकम् ॥ ३४ ॥

वे सब-के-सब दुर्योधनकी आज्ञासे अर्जुनका संहार करनेके लिये आये थे। परंतु वे उस समय आगमें गिरे हुए पतंगोंकी भाँति उनके पास आते ही नष्ट हो गये ॥ ३४ ॥

ततो मत्स्याः केकयाश्च धनुर्वेदविशारदाः।
परिवव्रुस्तदा पार्थं सहपुत्रं महारथम् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर धनुर्विद्यामें प्रवीण मत्स्य और केकयदेशके वीर अभिमन्यु आदि पुत्रोंसे युक्त महारथी अर्जुनको घेरकर कौरवोंसे युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ ३५ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सूर्येऽस्तमुपगच्छति ।
सर्वेषां चैव सैन्यानां प्रमोहः समजायत ॥ ३६ ॥

इसी समय सूर्य अस्ताचलको चले गये । तब आपके समस्त सैनिकोंपर मोह छा गया ॥ ३६ ॥

अवहारं ततश्चक्रे पिता देवव्रतस्तव ।
संध्याकाले महाराज सैन्यानां श्रान्तवाहनः ॥ ३७ ॥

महाराज ! तब आपके ताऊ देवव्रतने संध्याके समय अपनी सेनाको पीछे हटा लिया । उनके वाहन बहुत थक गये थे ॥ ३७ ॥

पाण्डवानां कुरूणां च परस्परसमागमे ।
ते सेने भृशसंविग्ने ययतुः स्वं निवेशनम् ॥ ३८ ॥

पाण्डवों और कौरवोंके पारस्परिक संघर्षमें दोनों ही सेनाएँ अत्यन्त उद्विग्न हो उठी थीं । अतः वे अपनी-अपनी छावनीको चली गयीं ॥ ३८ ॥

ततः स्वशिबिरं गत्वा न्यविशंस्तत्र भारत ।
पाण्डवाः सृंजयैः सार्धं कुरवश्च यथाविधि ॥ ३९ ॥

भारत ! तदनन्तर सृंजयोंसहित पाण्डव, और कौरव अपने शिबिरमें जाकर वहाँ विधिपूर्वक विश्राम करने लगे ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसावहारे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिवसके युद्धकी समाप्तिविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

छठे दिनके युद्धका आरम्भ, पाण्डव तथा कौरवसेनाका क्रमशः मकरव्यूह एवं क्रौञ्चव्यूह बनाकर युद्धमें प्रवृत्त होना

संजय उवाच

ते विश्रम्य ततो राजन् सहिताः कुरुपाण्डवाः ।
व्यतीतायां तु शर्वर्यां पुनर्युद्धाय निर्ययुः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! रातको विश्राम करनेके अनन्तर जब वह रात बीत गयी, तब कौरव और पाण्डव पुनः युद्धके लिये साथ-साथ निकले ॥ १ ॥

तत्र शब्दो महानासीत् तव तेषां च भारत ।
युज्यतां रथमुख्यानां कल्प्यतां चैव दन्तिनाम् ॥ २ ॥
संनह्यतां पदातीनां हयानां चैव भारत ।
शङ्खदुन्दुभिनादश्च तुमुलः सर्वतोऽभवत् ॥ ३ ॥

भारत ! उस समय वहाँ आपके और पाण्डव पक्षके सैनिकोंमें बड़ा कोलाहल मचा । कुछ लोग श्रेष्ठ रथोंको जोत रहे थे, कुछ लोग हाथियोंको सुसज्जित करते थे, कहीं पैदल सैनिक और घोड़े कवच बाँधकर साज-बाज धारण कर तैयार किये जा रहे थे । शङ्खों और दुन्दुभियोंकी ध्वनि बड़े जोर-जोरसे हो रही थी । इन सबका सम्मिलित शब्द सब ओर गूँज उठा था ॥ २—३ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा धृष्टद्युम्नमभाषत ।
व्यूहं व्यूह महाबाहो मकरं शत्रुनाशनम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्नसे कहा—'महाबाहो ! तुम शत्रुनाशक मकरव्यूहकी रचना करो' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन धृष्टद्युम्नो महारथः ।
व्यादिदेश महाराज रथिनो रथिनां वरः ॥ ५ ॥

महाराज ! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ महारथी धृष्टद्युम्नने अपने समस्त रथियोंको मकरव्यूह बनानेके लिये आज्ञा दे दी ॥ ५ ॥

शिरोऽभूद् द्रुपदस्तस्य पाण्डवश्च धनंजयः ।
चक्षुषी सहदेवश्च नकुलश्च महारथः ॥ ६ ॥

उसके मस्तकके स्थानपर राजा द्रुपद तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन खड़े हुए । महारथी नकुल और सहदेव नेत्रोंके स्थानमें स्थित हुए ॥ ६ ॥

तुण्डमासीन्महाराज भीमसेनो महाबलः ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ७ ॥
सात्यकिर्धर्मराजश्च व्यूहग्रीवां समास्थिताः ।

महाराज ! महाबली भीमसेन उसके मुखकी जगह खड़े हुए । सुभद्राकुमार अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँच पुत्र, राक्षस घटोत्कच, सात्यकि और धर्मराज युधिष्ठिर—ये उस मकरव्यूहके ग्रीवाभागमें स्थित हुए ॥ ७½ ॥

पृष्ठमासीन्महाराज विराटो वाहिनीपतिः ॥ ८ ॥
धृष्टद्युम्नेन सहितो महत्या सेनयावृतः ।

नरेश्वर ! सेनापति विराट विशाल सेनासे घिरकर धृष्टद्युम्नके साथ उस व्यूहके पृष्ठ भागमें खड़े हुए ॥ ८½ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च वामपार्श्वं समाश्रिताः ॥ ९ ॥
धृष्टकेतुर्नरव्याघ्रश्चेकितानश्च वीर्यवान् ।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थितौ व्यूहस्य रक्षणे ॥ १० ॥

पाँच भाई केकयराजकुमार उनके वामपार्श्वमें खड़े थे। नरश्रेष्ठ धृष्टकेतु और पराक्रमी चेकितान—ये व्यूहके दाहिने भागमें स्थित होकर उसकी रक्षा करते थे ॥ ९-१० ॥

पादयोस्तु महाराज स्थितः श्रीमान् महारथः।
कुन्तिभोजः शतानीको महत्या सेनया वृतः ॥ ११ ॥

महाराज ! उसके दोनों पैरोंकी जगह महारथी श्रीमान् कुन्तिभोज और विशाल सेनासहित शतानीक खड़े थे ॥११॥

शिखण्डी तु महेष्वासः सोमकैः संवृतो बली।
इरावांश्च ततः पुच्छे मकरस्य व्यवस्थितौ ॥ १२ ॥

सोमकोंसे घिरा हुआ महाधनुर्धर शिखण्डी और बलवान् इरावान्—ये दोनों उस मकरव्यूहके पुच्छभागमें खड़े थे ॥

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः।
सूर्योदये महाराज पुनर्युद्धाय दंशिताः ॥ १३ ॥

महाराज ! भरतनन्दन ! इस प्रकार उस महान् मकरव्यूहकी रचना करके पाण्डव कवच बाँधकर सूर्योदयके समय पुनः युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ १३ ॥

कौरवानभ्ययुस्तूर्णं हस्त्यश्वरथपत्तिभिः।
समुच्छ्रितैर्ध्वजैश्छत्रैः शस्त्रैश्च विमलैः शितैः ॥ १४ ॥

ऊँची-ऊँची ध्वजाओं, छत्रों तथा चमकीले और तीखे अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंकी चतुरङ्गिणी सेनाके साथ पाण्डवोंने कौरवोंपर शीघ्रतापूर्वक आक्रमण किया ॥ १४ ॥

व्यूढं दृष्ट्वा तु तत् सैन्यं पिता देवव्रतस्तव।
क्रौञ्चेन महता राजन् प्रत्यव्यूहत वाहिनीम् ॥ १५ ॥

राजन् ! तब आपके ताऊ देवव्रतने पाण्डवोंका वह व्यूह देखकर उसके मुकाबिलेमें अपनी सेनाको महान् क्रौञ्चव्यूहके रूपमें संगठित किया ॥ १५ ॥

तस्य तुण्डे महेष्वासो भारद्वाजो व्यरोचत।
अश्वत्थामा कृपश्चैव चक्षुरासीन्नरेश्वर ॥ १६ ॥

उसकी चोंचके स्थानमें महाधनुर्धर द्रोणाचार्य सुशोभित हुए। नरेश्वर ! अश्वत्थामा और कृपाचार्य नेत्रोंके स्थानमें खड़े हुए ॥ १६ ॥

कृतवर्मा तु सहितः काम्बोजवरबाह्लिकैः।
शिरस्यासीन्नरश्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ १७ ॥

काम्बोज और बाह्लिकदेशके उत्तम सैनिकोंके साथ समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ नरप्रवर कृतवर्मा व्यूहके शिरोभागमें स्थित हुए॥

ग्रीवायां शूरसेनश्च तव पुत्रश्च मारिष।
दुर्योधनो महाराज राजभिर्बहुभिर्वृतः ॥ १८ ॥

आर्य ! महाराज ! राजा शूरसेन तथा आपका पुत्र दुर्योधन—ये दोनों बहुत-से राजाओंके साथ क्रौञ्चव्यूहके ग्रीवाभागमें स्थित हुए ॥ १८ ॥

प्राग्ज्योतिषस्तु सहितो मद्रसौवीरकेकयैः।
उरस्यभून्नरश्रेष्ठ महत्या सेनया वृतः ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ ! मद्र, सौवीर और केकय योद्धाओंके साथ विशाल सेनासे घिरे हुए प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भगदत्त उस व्यूहके वक्षःस्थलमें स्थित हुए ॥ १९ ॥

स्वसेनया च सहितः सुशर्मा प्रस्थलाधिपः।
वामपक्षं समाश्रित्य दंशितः समवस्थितः ॥ २० ॥

प्रस्थलाधिपति (त्रिगर्तराज) सुशर्मा कवच धारण करके अपनी सेनाके साथ व्यूहके वाम-पक्षका आश्रय लेकर खड़े थे॥

तुषारा यवनाश्चैव शकाश्च सह चूचुपैः।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थिता व्यूहस्य भारत ॥ २१ ॥

भारत ! तुषार, यवन, शक और चूचुपदेशके सैनिक व्यूहके दाहिने पक्षका आश्रय लेकर स्थित हुए ॥ २१ ॥

श्रुतायुश्च शतायुश्च सौमदत्तिश्च मारिष।
व्यूहस्य जघने तस्थू रक्षमाणाः परस्परम् ॥ २२ ॥

मारिष ! श्रुतायु, शतायु तथा सोमदत्तकुमार भूरिश्रवा-ये परस्पर एक दूसरेकी रक्षा करते हुए व्यूहके जघनप्रदेशमें स्थित हुए ॥ २२ ॥

ततो युद्धाय संजग्मुः पाण्डवाः कौरवैः सह।
सूर्योदये महाराज ततो युद्धमभून्महत् ॥ २३ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् सूर्योदय-कालमें पाण्डवोंने कौरवोंके साथ युद्धके लिये उनकी सेनापर आक्रमण किया; फिर तो बड़ा भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ ॥ २३ ॥

प्रतीयू रथिनो नागा नागांश्च रथिनो ययुः।
हयारोहान् रथारोहा रथिनश्चापि सादिनः ॥ २४ ॥

रथियोंकी ओर हाथी और हाथियोंकी ओर रथी बढ़े। घुड़सवारोंपर रथारोही तथा रथारोहियोंपर घुड़सवार चढ़ आये॥

सादिनश्च हयान् राजन् रथिनश्च महारणे।
हस्त्यारोहान् हयारोहा रथिनः सादिनस्तथा ॥ २५ ॥

राजन् ! उस महायुद्धमें घुड़सवार योद्धा घुड़सवारों तथा रथियोंपर भी चढ़ दौड़े। इसी प्रकार अश्वारोही हाथीसवारों तथा रथियोंपर भी टूट पड़े ॥ २५ ॥

रथिनः पत्तिभिः सार्धं सादिनश्चापि पत्तिभिः।
अन्योन्यं समरे राजन् प्रत्यधावन्नमर्षिताः ॥ २६ ॥

रथी और घुड़सवार दोनों ही पैदल सेनाओंर आक्रमण करने लगे। राजन् ! इस प्रकार अमर्षमें भरे हुए ये समस्त सैनिक एक दूसरेपर धावा करने लगे ॥ २६ ॥

भीमसेनार्जुनयमैर्गुप्ता चान्यैर्महारथैः ।
शुशुभे पाण्डवी सेना नक्षत्रैरिव शर्वरी ॥ २७ ॥

भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा अन्य महारथियोंसे सुरक्षित हुई पाण्डव-सेना नक्षत्रोंसे रात्रिकी भाँति सुशोभित हो रही थी ॥ २७ ॥

तथा भीष्मकृपद्रोणशल्यदुर्योधनादिभिः ।
तवापि च बभौ सेना ग्रहैर्द्यौरिव संवृता ॥ २८ ॥

इसी प्रकार भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य और दुर्योधन आदिसे घिरी हुई आपकी सेना ग्रहोंसे आकाशकी भाँति शोभा पा रही थी ॥ २८ ॥

भीमसेनस्तु कौन्तेयो द्रोणं दृष्ट्वा पराक्रमी ।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैर्भारद्वाजस्य वाहिनीम् ॥ २९ ॥

पराक्रमी कुन्तीकुमार भीमसेनने द्रोणाचार्यको देखकर वेगशाली अश्वोंद्वारा द्रोणकी सेनापर धावा किया ॥ २९ ॥

द्रोणस्तु समरे क्रुद्धो भीमं नवभिरायसैः ।
विव्याध समरश्लाघी मर्माण्युद्दिश्य वीर्यवान् ॥३०॥

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले पराक्रमी द्रोणाचार्यने रणभूमिमें कुपित हो भीमके मर्मस्थानोंको लोहेके नौ बाणोंसे घायल कर दिया।

दृढाहतस्ततो भीमो भारद्वाजस्य संयुगे ।
सारथिं प्रेषयामास यमस्य सदनं प्रति ॥ ३१ ॥

तब युद्धमें द्रोणाचार्यके द्वारा अत्यन्त आहत होकर भीमसेनने उनके सारथिको यमलोक भेज दिया ॥ ३१ ॥

स संगृह्य स्वयं वाहान् भारद्वाजः प्रतापवान्।
व्यधमत् पाण्डवीं सेनां तूलराशिमिवानलः ॥ ३२ ॥

तब प्रतापी द्रोणाचार्य स्वयं ही घोड़ोंकी बागडोर सँभालते हुए पाण्डव-सेनाका उसी प्रकार संहार करने लगे, जैसे आग रुईके ढेरको भस्म कर डालती है ॥ ३२ ॥

ते वध्यमाना द्रोणेन भीष्मेण च नरोत्तमाः ।
सृञ्जयाः केकयैः सार्धं पलायनपराऽभवन् ॥ ३३ ॥

वे नरश्रेष्ठ सृंजय और केकय द्रोणाचार्य तथा भीष्मकी मार खाकर रणभूमिसे भागने लगे ॥ ३३ ॥

तथैव तावकं सैन्यं भीमार्जुनपरिक्षतम् ।
मुह्यते तत्र तत्रैव समदेव वराङ्गना ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार भीम और अर्जुनके बाणोंसे क्षत-विक्षत हुई आपकी सेना मतवाली स्त्रीकी भाँति जहाँ-तहाँ मूर्छित होने लगी॥

अभिद्येतां ततो व्यूहौ तस्मिन् वीरवरक्षये ।
आसीद् व्यतिकरो घोरस्तव तेषां च भारत ॥ ३५ ॥

भारत ! बड़े-बड़े वीरोंका संहार करनेवाले उस युद्धमें दोनों सेनाओंके व्यूह टूट गये और आपके तथा पाण्डवोंके सैनिकोंका भयंकर सम्मिश्रण हो गया ॥ ३५ ॥

तदद्भुतमपश्याम तावकानां परैः सह ।
एकायनगताः सर्वे यदयुध्यन्त भारत ॥ ३६ ॥

भरतनन्दन ! हमने आपके पुत्रोंका शत्रुओंके साथ अद्भुत पराक्रम देखा था । वे सब-के-सब एक पंक्तिमें खड़े होकर युद्ध कर रहे थे ॥ ३६ ॥

प्रतिसंवार्य चास्त्राणि तेऽन्योन्यस्य विशाम्पते ।
युयुधुः पाण्डवाश्चैव कौरवाश्च महाबलाः ॥ ३७ ॥

प्रजानाथ ! महाबली कौरव तथा पाण्डव एक दूसरेके अस्त्र-शस्त्रोंका निवारण करते हुए जूझ रहे थे ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि षष्ठदिवसयुद्धारम्भे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें छठे दिनके युद्धका आरम्भविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥७५॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी चिन्ता

धृतराष्ट्र उवाच

एवं बहुगुणं सैन्यमेवं बहुविधं पुरा ।
व्यूढमेवं यथाशास्त्रममोघं चैव संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! इस प्रकार हमारी सेना अनेक गुणोंसे सम्पन्न है । अनेक अङ्गोंसे युक्त और अनेक प्रकारसे संगठित है तथा शास्त्रीय विधिसे उसकी व्यूहरचना की गयी है । अतः वह अमोघ (विजय पानेमें विफल न होनेवाली) है ॥ १ ॥

हृष्टमस्माकमत्यन्तमभिकामं च नः सदा ।
प्रह्वमव्यसनोपेतं पुरस्ताद् दृष्टविक्रमम् ॥ २ ॥

हमारी यह सेना हमलोगोंपर सदा प्रसन्न और अनुरक्त रहनेवाली है । हमारे प्रति सर्वदा विनीतभाव रखती आयी है । यह किसी भी व्यसनमें नहीं फँसी है । पूर्वकालमें इसका पराक्रम देखा जा चुका है ॥ २ ॥

नातिवृद्धमबालं च न कृशं न च पीवरम् ।
लघुवृत्तायतप्रायं सारयोधमनामयम् ॥ ३ ॥

इसमें न कोई अत्यन्त बूढ़ा है, न बालक है, न अत्यन्त दुबला है और न अत्यन्त मोटा ही है। इसमें शीघ्र कार्य करनेवाले, प्रायः ऊँचे कदके लोग हैं। इस सेनाका प्रत्येक सैनिक सारवान् योद्धा और नीरोग है ॥ ३ ॥

आत्तसंनाहशस्त्रं च बहुशस्त्रपरिग्रहम्।
असियुद्धे नियुद्धे च गदायुद्धे च कोविदम् ॥ ४ ॥

यहाँ सबने कवच एवं अस्त्र-शस्त्र धारण कर रक्खा है। अनेक प्रकारके बहुसंख्यक शस्त्रोंका संग्रह किया गया है। यहाँका एक-एक योद्धा खड्गयुद्ध, मल्लयुद्ध और गदायुद्धमें कुशल है ॥ ४ ॥

प्रासर्ष्टितोमरेष्वाजौ परिघेष्वायसेषु च।
भिन्दिपालेषु शक्तीषु मुसलेषु च सर्वशः ॥ ५ ॥
कम्पनेषु च चापेषु कणपेषु च सर्वशः।
क्षेपणीयेषु चित्रेषु मुष्टियुद्धेषु च क्षमम् ॥ ६ ॥

ये सैनिक प्रास, ऋष्टि, तोमर, लोहमय परिघ, भिन्दिपाल, शक्ति, मुसल, कम्पन, चाप तथा कणप आदि दूसरोंपर चलाने योग्य विचित्र अस्त्रोंका युद्धमें प्रयोग करनेकी कलामें कुशल तथा मुष्टियुद्धमें भी सब प्रकारसे समर्थ हैं ५-६

अपरोक्षं च विद्यासु व्यायामे च कृतश्रमम्।
शस्त्रग्रहणविद्यासु सर्वासु परिनिष्ठितम् ॥ ७ ॥

हमारी इस सेनाको धनुर्वेदका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त है। इसके सैनिकोंने व्यायाम (अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यास) में भी अधिक परिश्रम किया है। ये शस्त्रग्रहणसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी विद्याओंमें पारंगत हैं ॥ ७ ॥

आरोहे पर्यवस्कन्दे सरणे सान्तरप्लुते।
सम्यक् प्रहरणे याने व्यपयाने च कोविदम् ॥ ८ ॥

ये हाथी, घोड़े आदि सवारियोंपर चढ़ने, उतरने, आगे बढ़ने, बीचमें ही कूद पड़ने, अच्छी तरह प्रहार करने, चढ़ाई करने और पीछे हटनेमें भी प्रवीण हैं ॥ ८ ॥

नागाश्वरथयानेषु बहुशः सुपरीक्षितम्।
परीक्ष्य च यथान्यायं वेतनेनोपपादितम् ॥ ९ ॥

हाथी, घोड़े, रथ आदिकी सवारियोंद्वारा रणयात्रा करनेमें इस सेनाकी अनेक प्रकार परीक्षा की जा चुकी है। परीक्षा करके प्रत्येक सैनिकको उसकी योग्यताके अनुकूल यथोचित वेतन दे दिया गया है ॥ ९ ॥

न गोष्ठ्या नोपकारेण न च बन्धुनिमित्ततः।
न सौहृदबलैर्वापि नाकुलीनपरिग्रहैः ॥ १० ॥

इनमेंसे किसीको मित्रोंकी गोष्ठीसे लाकर, सामान्य उपकार करके, भाई-बन्धु होनेके कारण, सौहार्दवश अथवा बलप्रयोग करके सेनामें सम्मिलित नहीं किया गया है। जो कुलीन नहीं हैं, ऐसे लोगोंका भी इस सेनामें संग्रह नहीं हुआ है ॥ १० ॥

समृद्धजनमार्यं च तुष्टसम्बन्धिबान्धवम्।
कृतोपकारभूयिष्ठं यशस्वि च मनस्वि च ॥ ११ ॥

हमारी सेनामें जो लोग हैं, वे सब समृद्धिशाली और श्रेष्ठ हैं। उनके सगे-सम्बन्धी, भाई-बन्धु भी संतुष्ट हैं। इन सबपर हमारी ओरसे विशेष उपकार किया गया है। ये सभी यशस्वी और मनस्वी हैं ॥ ११ ॥

स्वजनैस्तु नरैर्मुख्यैर्बहुशो दृष्टकर्मभिः।
लोकपालोपमैस्तात पालितं लोकविश्रुतम् ॥ १२ ॥

तात ! जिनके कार्य और व्यवहारको कई बार देखा गया है, ऐसे मुख्य-मुख्य स्वजनोंद्वारा, जो लोकपालके समान पराक्रमी हैं, इस सेनाका पालन-पोषण होता है। यह सम्पूर्ण जगत्में विख्यात है ॥ १२ ॥

बहुभिः क्षत्रियैर्गुप्तं पृथिव्यां लोकसम्मतैः।
अस्मानभिगतैः कामात् सबलैः सपदानुगैः ॥ १३ ॥

जो अपनी वीरताके लिये भूमण्डलमें विख्यात तथा लोकमें सम्मानित हैं, ऐसे बहुत-से क्षत्रिय अपनी इच्छासे ही सेना और सेवकोंके साथ हमारे पास आये हैं, उनके द्वारा यह कौरवसेना सुरक्षित है ॥ १३ ॥

महोदधिमिवापूर्णमापगाभिः समन्ततः।
अपक्षैः पक्षिसंकाशै रथैर्नागैश्च संवृतम् ॥ १४ ॥

हमारी यह सेना महासागरके समान सब ओरसे परिपूर्ण है। इसमें बिना पंखके ही पक्षियोंके समान तीव्र गतिसे चलनेवाले रथ और हाथी इस प्रकार आकर मिलते हैं, जैसे समुद्रमें सब ओरसे नदियाँ आकर गिरती हैं ॥ १४ ॥

नानायोधजलं भीमं वाहनोर्मितरङ्गिणम्।
क्षेपण्यसिगदाशक्तिशरप्राससमाकुलम् ॥ १५ ॥

नाना प्रकारके योद्धा ही इस सैन्यसागरके जल हैं, वाहन ही उसमें उठती हुई छोटी-बड़ी तरंगें हैं। इसमें क्षेपणी, खड्ग, गदा, शक्ति, बाण और प्रास आदि अस्त्र-शस्त्र जल-जन्तुओंके समान भरे पड़े हैं ॥ १५ ॥

ध्वजभूषणसम्बाधं रत्नपट्टसुसंचितम्।
परिधावद्भिरश्वैश्च वायुवेगविकम्पितम् ॥ १६ ॥
अपारमिव गर्जन्तं सागरप्रतिमं महत्।

ध्वज और आभूषणोंसे भरी हुई यह सेना रत्नजटित पताकाओंसे व्याप्त है। दौड़ते हुए घोड़ोंसे जो इस सेनाका चञ्चल होना है, वही वायुवेगसे इस समुद्रका कम्पन है। सागरसदृश यह विशाल सेना देखनेमें अपार है और निरन्तर गर्जन करती रहती है ॥ १६½ ॥

द्रोणभीष्माभिसंगुप्तं गुप्तं च कृतवर्मणा ॥ १७ ॥
कृपदुःशासनाभ्यां च जयद्रथमुखैस्तथा ।
भगदत्तविकर्णाभ्यां द्रौणिसौबलबाह्लिकैः ॥ १८ ॥
गुप्तं प्रवीरैर्लोकैश्च सारवद्भिर्महात्मभिः ।
यदहन्यत संग्रामे दैवमत्र पुरातनम् ॥ १९ ॥

द्रोणाचार्य, भीष्म, कृतवर्मा, कृपाचार्य, दुःशासन, जयद्रथ, भगदत्त, विकर्ण, अश्वत्थामा, शकुनि तथा बाह्लिक आदि प्रमुख वीरों तथा अन्य शक्तिशाली महामनस्वी लोगोंद्वारा मेरी सेना सदा सुरक्षित रहती है । ऐसी सेना भी यदि संग्राममें मारी गयी तो इसमें हमलोगोंका पुरातन प्रारब्ध ही कारण है ॥ १७–१९ ॥

नैतादृशं समुद्योगं दृष्टवन्तो हि मानुषाः ।
ऋषयो वा महाभागाः पुराणा भुवि संजय ॥ २० ॥

संजय ! इस भूतलपर इतनी बड़ी सेनाका जमाव मनुष्योंने कभी नहीं देखा होगा अथवा प्राचीन महाभाग ऋषियोंने भी नहीं देखा होगा ॥ २० ॥

ईदृशोऽपि बलौघस्तु संयुक्तः शस्त्रसम्पदा ।
वध्यते यत्र संग्रामे किमन्यद् भागधेयतः ॥ २१ ॥

इतना बड़ा सैन्यसमुदाय शस्त्रसम्पत्तिसे संयुक्त होनेपर भी यदि संग्राममें विनष्ट हो रहा है, तो इसमें भाग्यके सिवा और क्या कारण हो सकता है ? ॥ २१ ॥

विपरीतमिदं सर्वं प्रतिभाति हि संजय ।
यत्रेदृशं बलं घोरं पाण्डवान्नातरद् रणे ॥ २२ ॥

संजय ! यह सब कुछ मुझे विपरीत जान पड़ता है कि ऐसा भयंकर सैन्यसमूह भी वहाँ युद्धमें पाण्डवोंसे पार नहीं पा सका ॥ २२ ॥

पाण्डवार्थाय नियतं देवास्तत्र समागताः ।
युध्यन्ते मामकं सैन्यं यथावध्यत संजय ॥ २३ ॥

संजय ! निश्चय ही पाण्डवोंके लिये देवता आकर मेरी सेनाके साथ युद्ध करते हैं, तभी तो वह प्रतिदिन मारी जा रही है ॥ २३ ॥

उक्तो हि विदुरेणाहं हितं पथ्यं च नित्यशः ।
न च जग्राह तन्मन्दः पुत्रो दुर्योधनो मम ॥ २४ ॥
तस्य मन्ये मतिः पूर्वं सर्वज्ञस्य महात्मनः ।
आसीद् यथागतं तात येन दृष्टमिदं पुरा ॥ २५ ॥

विदुरने नित्य ही हित और लाभकी बातें बतायीं; परंतु मेरे मूर्ख पुत्र दुर्योधनने नहीं माना । तात ! मैं समझता हूँ, महात्मा विदुर सर्वज्ञ हैं । इसीलिये पहले ही उनकी बुद्धिमें ये सब बातें आ गयी थीं । आज जो कुछ प्राप्त हुआ है, यह पहले ही उनकी दृष्टिमें आ गया था ॥ २४-२५ ॥

अथवा भाव्यमेवं हि संजयैतेन सर्वथा ।
पुरा धात्रा यथा सृष्टं तत् तथा नैतदन्यथा ॥ २६ ॥

संजय ! अथवा यह सब प्रकारसे ऐसा ही होनेवाला था । विधाताने जो पहलेसे रच रक्खा है, वह उसी रूपमें होता है, उसे कोई बदल नहीं सकता ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि धृतराष्ट्रचिन्तायां षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें धृतराष्ट्रकी चिन्ताविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेन, धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्यका पराक्रम

संजय उवाच

आत्मदोषात् त्वया राजन् प्राप्तं व्यसनमीदृशम् ।
न हि दुर्योधनस्तानि पश्यते भरतर्षभ ॥ १ ॥
यानि त्वं दृष्टवान् राजन् धर्मसंकरकारिते ।
तव दोषात् पुरा वृत्तं द्यूतमेव विशाम्पते ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपने अपने ही दोषसे यह संकट प्राप्त किया है । भरतश्रेष्ठ ! जिन धर्म और अधर्मके सम्मिश्रणसे उत्पन्न दोषोंको आप देखते थे, उन्हें दुर्योधन नहीं देख सका था । प्रजानाथ ! आपके अपराधसे ही पहले द्यूतक्रीड़ाकी घटना घटी थी ॥ १-२ ॥

तव दोषेण युद्धं च प्रवृत्तं सह पाण्डवैः ।
त्वमेवाद्य फलं भुङ्क्ष्व कृत्वा किल्बिषमात्मना ॥ ३ ॥

तथा आपके ही दोषसे आज पाण्डवोंके साथ युद्ध आरम्भ हुआ । आपने स्वयं ही जो पाप किया है, उसका फल आज आप ही भोग रहे हैं ॥ ३ ॥

आत्मनैव कृतं कर्म आत्मनैवोपभुज्यते ।
इह च प्रेत्य वा राजंस्त्वया प्राप्तं यथातथम् ॥ ४ ॥

राजन् ! इहलोक अथवा परलोकमें अपने किये हुए कर्मका फल अपने आपको ही भोगना पड़ता है; अतः आपको जैसेका तैसा प्राप्त हुआ है ॥ ४ ॥

तस्माद् राजन् स्थिरो भूत्वा प्राप्येदं व्यसनं महत् ।
शृणु युद्धं यथावृत्तं शंसतो मे नराधिप ॥ ५ ॥

राजन् ! नरेश्वर ! इस महान् संकटको पाकर भी स्थिरतापूर्वक युद्धका यथावत् वृत्तान्त जैसा मैं बता रहा हूँ सुनिये ॥

भीमसेनः सुनिशितैर्बाणैर्भित्त्वा महाचमूम् ।
आससाद ततो वीरः सर्वान् दुर्योधनानुजान् ॥ ६ ॥

वीर भीमसेनने तीखे बाणोंसे आपकी विशाल सेनाको विदीर्ण करके दुर्योधनके सभी भाइयोंपर आक्रमण किया ।६।

दुःशासनं दुर्विषहं दुःसहं दुर्मदं जयम् ।
जयत्सेनं विकर्णं च चित्रसेनं सुदर्शनम् ॥ ७ ॥
चारुचित्रं सुवर्माणं दुष्कर्णं कर्णमेव च ।
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् समीपस्थान् महारथान् ॥ ८ ॥
धार्तराष्ट्रान् सुसंक्रुद्धान् दृष्ट्वा भीमो महारथः ।
भीष्मेण समरे गुप्तां प्रविवेश महाचमूम् ॥ ९ ॥

दुःशासन, दुर्विषह, दुःसह, दुर्मद, जय, जयत्सेन, विकर्ण, चित्रसेन, सुदर्शन, चारुचित्र, सुवर्मा, दुष्कर्ण तथा कर्ण—ये तथा और भी बहुत-से आपके जो महारथी पुत्र समीप खड़े थे, उन्हें कुपित देखकर महारथी भीमसेनने समरभूमिमें भीष्मके द्वारा सुरक्षित विशाल कौरवसेनामें प्रवेश किया ।७-९।

अथालोक्य प्रविष्टं तमूचुस्ते सर्व एव तु ।
जीवग्राहं निगृह्णीमो वयमेनं नराधिपाः ॥ १० ॥

भीमसेनको सेनाके भीतर प्रविष्ट हुआ देख उन सब नरेशोंने आपसमें कहा कि हमलोग इन्हें जीवित ही पकड़कर बंदी बना लें ॥ १० ॥

स तैः परिवृतः पार्थो भ्रातृभिः कृतनिश्चयैः ।
प्रजासंहरणे सूर्यः क्रूरैरिव महाग्रहैः ॥ ११ ॥

ऐसा निश्चय करके उन सब भाइयोंने कुन्तीकुमार भीमसेनको घेर लिया, मानो प्रजाके संहारकालमें सूर्यदेवको बड़े-बड़े क्रूर ग्रहोंने घेर रक्खा हो ॥ ११ ॥

सम्प्राप्य मध्यं सैन्यस्य न भीः पाण्डवमाविशत् ।
यथा देवासुरे युद्धे महेन्द्रं प्राप्य दानवान् ॥ १२ ॥

कौरवसेनाके भीतर पहुँच जानेपर भी पाण्डुनन्दन भीमसेनको तनिक भी भय नहीं हुआ, जैसे देवासुरसंग्राममें दानवोंकी सेनामें घुसनेपर देवराज इन्द्रको भयका स्पर्श नहीं होता है ॥ १२ ॥

ततः शतसहस्राणि रथिनां सर्वशः प्रभो ।
उद्यतानि शरैस्तीव्रैस्तमेकं परिवव्रिरे ॥ १३ ॥

प्रभो ! तदनन्तर एकमात्र भीमसेनको उनपर तीव्र बाणोंकी वर्षा करते हुए सैकड़ों-हजारों रथियोंने युद्धके लिये उद्यत होकर सब ओरसे घेर लिया ॥ १३ ॥

स तेषां प्रवरान् योधान् हस्त्यश्वरथसादिनः ।
जघान समरे शूरो धार्तराष्ट्राननचिन्तयन् ॥ १४ ॥

शूरवीर भीमसेन आपके पुत्रोंकी तनिक भी परवा न करते हुए हाथी, घोड़े एवं रथपर बैठकर युद्ध करनेवाले कौरवोंके मुख्य-मुख्य योद्धाओंको समरभूमिमें मारने लगे ॥ १४ ॥

तेषां व्यवसितं ज्ञात्वा भीमसेनो जिघृक्षताम् ।
समस्तानां वधे राजन् मतिं चक्रे महामनाः ॥ १५ ॥

राजन् ! उन्हें कैद करनेकी इच्छावाले क्षत्रियोंके उस निश्चयको जानकर महामना भीमसेनने उन सबके वधका विचार कर लिया ॥ १५ ॥

ततो रथं समुत्सृज्य गदामादाय पाण्डवः ।
जघान धार्तराष्ट्राणां तं बलौघं महार्णवम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर पाण्डुनन्दन भीमसेन हाथमें गदा ले रथको त्यागकर उस विशाल सेनामें घुसकर उस महासागरतुल्य सैन्यसमुदायका विनाश करने लगे ॥ १६ ॥

(गदया भीमसेनेन ताडिता वारणोत्तमाः ।
भिन्नकुम्भा महाकाया भिन्नपृष्ठास्तथैव च ॥
भिन्नगात्राः सहारोहाः शेरते पर्वता इव ।

भीमसेनकी गदाके आघातसे बड़े-बड़े विशालकाय गजराजोंके कुम्भस्थल फट गये, पृष्ठभाग विदीर्ण हो गये तथा उनका एक-एक अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गया और उसी अवस्थामें वे सवारोंसहित धराशायी हो गये, मानो पर्वत ढह गये हों ॥

रथाश्च भग्नास्तिलशः सयोधाः शतशो रणे ॥
अश्वाश्च सादिनश्चैव पदातैः सह भारत ।

भारत ! उन्होंने उस रणक्षेत्रमें सैकड़ों रथोंको उनके सवारोंसहित तिल-तिल करके तोड़ डाला । घोड़ों, घुड़सवारों तथा पैदलोंकी भी धज्जियाँ उड़ा दीं ॥

तत्राद्भुतमपश्याम भीमसेनस्य विक्रमम् ॥
यदेकः समरे राजन् बहुभिः समयोधयत् ।
अन्तकाले प्रजाः सर्वा दण्डपाणिरिवान्तकः ॥)

राजन् ! उस युद्धमें हमलोगोंने भीमसेनका अद्भुत पराक्रम देखा, जैसे प्रलयकालमें यमराज हाथमें दण्ड लिये समस्त प्रजाका संहार करते हैं, उसी प्रकार वे अकेले आपके बहुसंख्यक योद्धाओंके साथ युद्ध कर रहे थे ॥

भीमसेने प्रविष्टे तु धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रोणमुत्सृज्य तरसा प्रययौ यत्र सौबलः ॥ १७ ॥

भीमसेनके कौरवसेनामें प्रवेश करनेपर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न भी द्रोणाचार्यको छोड़कर बड़े वेगसे उस स्थानपर गये, जहाँ शकुनि युद्ध कर रहा था ॥ १७ ॥

निवार्य महतीं सेनां तावकानां नरर्षभः ।
आससाद रथं शून्यं भीमसेनस्य संयुगे ॥ १८ ॥

वहाँ आपकी विशाल सेनाको आगे बढ़नेसे रोककर नरश्रेष्ठ धृष्टद्युम्न युद्धस्थलमें भीमसेनके सूने रथके पास जा पहुँचे ॥ १८ ॥

दृष्ट्वा विशोकं समरे भीमसेनस्य सारथिम्।
धृष्टद्युम्नो महाराज दुर्मना गतचेतनः ॥ १९ ॥

महाराज ! भीमसेनके सारथि विशोकको समरभूमिमें अकेला खड़ा देख धृष्टद्युम्न मन-ही-मन बहुत दुखी और अचेत हो गये ॥ १९ ॥

अपृच्छद् बाष्पसंरुद्धो निःश्वसन् वाचमीरयन्।
मम प्राणैः प्रियतमः क्व भीम इति दुःखितः ॥ २० ॥

वे लंबी साँस खींचते और आँसू बहाते हुए गद्गदकण्ठ-से पूछने लगे—'विशोक ! मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे भीम-सेन कहाँ हैं ?' इतना कहते-कहते वे बहुत दुखी हो गये ॥ २० ॥

विशोकस्तमुवाचेदं धृष्टद्युम्नं कृताञ्जलिः।
संस्थाप्य मामिह बली पाण्डवेयः पराक्रमी ॥ २१ ॥
प्रविष्टो धार्तराष्ट्राणामेतद् बलमहार्णवम्।

तब विशोकने हाथ जोड़कर धृष्टद्युम्नसे कहा—'प्रभो ! पराक्रमी और बलवान् पाण्डुनन्दन मुझे यहीं खड़ा करके कौरवोंके इस सैन्यसागरमें घुस गये हैं ॥ २१½ ॥

मामुक्त्वा पुरुषव्याघ्रः प्रीतियुक्तमिदं वचः ॥ २२ ॥
प्रतिपालय मां सूत नियम्याश्वान् मुहूर्तकम्।
यावदेतान् निहन्म्यद्य य इमे मद्वधोद्यताः ॥ २३ ॥

'जाते समय पुरुषसिंह भीमसेनने मुझसे प्रेमपूर्वक यह बात कही कि सूत ! तुम दो घड़ीतक इन घोड़ोंको रोककर यहीं मेरी प्रतीक्षा करो। जबतक कि ये जो लोग मेरा वध करनेके लिये उद्यत हैं, इन्हें अभी मार न डालूँ ॥ २२-२३ ॥

ततो दृष्ट्वा प्रधावन्तं गदाहस्तं महाबलम्।
सर्वेषामेव सैन्यानां संहर्षः समजायत ॥ २४ ॥

'तदनन्तर गदा हाथमें लिये महाबली भीमसेनको धावा करते देख समस्त सैनिकोंके रोंगटे खड़े हो गये ॥ २४ ॥

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयानके।
भित्त्वा राजन् महाव्यूहं प्रविवेश वृकोदरः ॥ २५ ॥

'राजन् ! उस भयंकर एवं तुमुल युद्धमें भीमसेनने इस महाव्यूहका भेदन करके इसके भीतर प्रवेश किया था' ॥

विशोकस्य वचः श्रुत्वा धृष्टद्युम्नोऽथ पार्षतः।
प्रत्युवाच ततः सूतं रणमध्ये महाबलः ॥ २६ ॥

विशोककी यह बात सुनकर महाबली द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने उस समराङ्गणमें उनके सारथिसे इस प्रकार कहा— ॥ २६ ॥

न हि मे जीवितेनापि विद्यतेऽद्य प्रयोजनम्।
भीमसेनं रणे हित्वा स्नेहमुत्सृज्य पाण्डवैः ॥ २७ ॥

'सारथे ! युद्धस्थलमें भीमसेनको छोड़कर और पाण्डवों-से स्नेह तोड़कर अब मेरे जीवनसे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २७ ॥

यदि यामि विना भीमं किं मां क्षत्रं वदिष्यति।
एकायनगते भीमे मयि चावस्थिते युधि ॥ २८ ॥

'भीम एकमात्र युद्धके पथपर गये हैं और मैं भी युद्ध-स्थलमें उपस्थित हूँ। ऐसी दशामें यदि भीमसेनके बिना ही लौट जाऊँ तो क्षत्रियसमाज मुझे क्या कहेगा ? ॥ २८ ॥

अस्वस्ति तस्य कुर्वन्ति देवाः शक्रपुरोगमाः।
यः सहायान् परित्यज्य स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहम् ॥ २९ ॥

'जो अपने सहायकोंको छोड़कर स्वयं कुशलपूर्वक घरको लौट आता है, उसका इन्द्र आदि देवता अनिष्ट करते हैं ॥

मम भीमः सखा चैव सम्बन्धी च महाबलः।
भक्तोऽस्मान् भक्तिमांश्चाहं तमप्यरिनिषूदनम् ॥ ३० ॥

'महाबली भीम मेरे सखा और सम्बन्धी हैं। वे हम लोगोंके भक्त हैं और मैं भी उन शत्रुसूदन भीमका भक्त हूँ ॥ ३० ॥

सोऽहं तत्र गमिष्यामि यत्र यातो वृकोदरः।
निघ्नन्तं मां रिपून् पश्य दानवानिव वासवम् ॥ ३१ ॥

'अतः मैं भी वहीं जाऊँगा जहाँ भीमसेन गये हैं। देखो जैसे इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार मैं भी शत्रुसेनाका विनाश कर रहा हूँ' ॥ ३१ ॥

एवमुक्त्वा ततो वीरो ययौ मध्येन भारत।
भीमसेनस्य मार्गेषु गदाप्रमथितैर्गजैः ॥ ३२ ॥

भारत ! ऐसा कहकर वीरवर धृष्टद्युम्न भीमसेनके बनाये हुए मार्गोंसे कौरवसेनाके भीतर गये। उन मार्गोंपर गदाके मारे हुए हाथी पड़े थे ॥ ३२ ॥

स ददर्श तदा भीमं दहन्तं रिपुवाहिनीम्।
वातो वृक्षानिव बलात् प्रभञ्जन्तं रणे रिपून् ॥ ३३ ॥

उस समय कुछ दूर जाकर धृष्टद्युम्नने शत्रुसेनाको दग्ध करते हुए भीमसेनको देखा। जैसे आँधी वृक्षोंको बलपूर्वक तोड़ देती या उखाड़ डालती है, उसी प्रकार भीमसेन भी रणभूमिमें शत्रुओंका संहार कर रहे थे ॥ ३३ ॥

ते वध्यमानाः समरे रथिनः सादिनस्तथा।
पादाता दन्तिनश्चैव चक्रुरार्तस्वरं महत् ॥ ३४ ॥

समराङ्गणमें भीमसेनके मारे हुए रथी, घुड़सवार, पैदल और सवारोंसहित हाथी बड़े जोरसे आर्तनाद कर रहे थे ॥ ३४ ॥

हाहाकारश्च संजज्ञे तव सैन्यस्य मारिष।
वध्यतो भीमसेनेन कृतिना चित्रयोधिना ॥ ३५ ॥

आर्य ! विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले विद्वान् भीमसेनके द्वारा मारी जाती हुई आपकी सेनामें हाहाकार मच गया ॥

ततः कृतास्त्रास्ते सर्वे परिवार्य वृकोदरम्।
अभीताः समवर्तन्त शस्त्रवृष्ट्या परंतप ॥ ३६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! तदनन्तर अस्त्रोंके ज्ञाता समस्त कौरव-सैनिक भीमसेनको सब ओरसे घेरकर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए बिना किसी भयके उनपर चढ़ आये ॥ ३६ ॥

अभिद्रुतं शस्त्रभृतां वरिष्ठं
समन्ततः पाण्डवं लोकवीरैः ।
सैन्येन घोरेण सुसंहितेन
दृष्ट्वा बली पार्षतो भीमसेनम् ॥ ३७ ॥
अथोपगच्छच्छरविक्षताङ्गं
पदातिनं क्रोधविषं वमन्तम् ।
आश्वासयन् पार्षतो भीमसेनं
गदाहस्तं कालमिवान्तकाले ॥ ३८ ॥

विश्वके विख्यात वीर बलवान् द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने देखा—शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीमसेनपर सब ओरसे धावा हो रहा है । अत्यन्त संगठित हुई भयंकर सेनाने उनपर आक्रमण किया है । यह देखकर धृष्टद्युम्न भीमसेनको आश्वासन देते हुए उनके पास गये । उनका प्रत्येक अङ्ग बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहा था । वे पैदल ही क्रोधरूपी विष उगल रहे थे और गदा हाथमें लिये प्रलयकालके यमराजके समान जान पड़ते थे ॥ ३७-३८ ॥

विशल्यमेनं च चकार तूर्ण-
मारोपयच्चात्मरथे महात्मा ।
भृशं परिष्वज्य च भीमसेन-
माश्वासयामास स शत्रुमध्ये ॥ ३९ ॥

महामना धृष्टद्युम्नने तुरंत ही उन्हें अपने रथपर बिठा लिया और उनके शरीरमें धँसे हुए बाणोंको निकाल दिया । शत्रुओंके बीचमें ही भीमसेनको हृदयसे लगाकर उन्हें पूर्णतः सान्त्वना दी ॥ ३९ ॥

भ्रातॄनथोपेत्य तवापि पुत्र-
स्तस्मिन् विमर्दे महति प्रवृत्ते ।
अयं दुरात्मा द्रुपदस्य पुत्रः
समागतो भीमसेनेन सार्धम् ॥ ४० ॥
तं याम सर्वे महता बलेन
मा वो रिपुः प्रार्थयतामनीकम् ।

वह महान् संघर्ष आरम्भ होनेपर आपका पुत्र दुर्योधन भाइयोंके पास आकर बोला—'यह दुरात्मा द्रुपदपुत्र आकर भीमसेनसे मिल गया है । हम सबलोग बहुत बड़ी सेनाके साथ इसपर आक्रमण करें, जिससे हमारा और तुम्हारा यह शत्रु हमलोगोंकी इस सेनाको हानि पहुँचानेका विचार न कर सके' ।४०½।

श्रुत्वा तु वाक्यं तममृष्यमाणा
ज्येष्ठाज्ञया नोदिता धार्तराष्ट्राः ॥ ४१ ॥
वधाय निष्पेतुरुदायुधास्ते
युगक्षये केतवो यद्वदुग्राः ।
प्रगृह्य चास्त्राणि धनूंषि वीरा
ज्यां नेमिघोषैः प्रविकम्पयन्तः ॥ ४२ ॥

दुर्योधनका यह कथन सुनकर आपके सभी वीर पुत्र, जो धृष्टद्युम्नका आगमन नहीं सह सके थे, बड़े भाईकी आज्ञासे प्रेरित हो प्रलयकालके भयंकर केतुओंकी भाँति हाथमें आयुध लिये धृष्टद्युम्नके वधके लिये उनपर टूट पड़े । उन्होंने अपने हाथोंमें धनुष-बाण ले रक्खे थे और वे रथके पहियोंकी घरघराहटके साथ-साथ धनुषकी प्रत्यञ्चाको भी कँपाते हुए उसकी टंकार फैला रहे थे ॥४१-४२॥

शरैरवर्षन् द्रुपदस्य पुत्रं
यथाम्बुदा भूधरं वारिजालैः ।
निहत्य तांश्चापि शरैः सुतीक्ष्णै-
र्न विव्यथे समरे चित्रयोधी ॥ ४३ ॥

जैसे मेघ पर्वतपर जलकी बूँदें बरसाते हैं, उसी प्रकार वे द्रुपदपुत्रपर बाणोंकी वृष्टि करने लगे । परंतु विचित्र युद्ध करनेवाले धृष्टद्युम्न उस समराङ्गणमें अपने पैने बाणोंद्वारा उन सबको अत्यन्त घायल करके स्वयं तनिक भी व्यथित नहीं हुए ॥ ४३ ॥

समभ्युदीर्णांश्च तवात्मजांस्तथा
निशम्य वीरानभितः स्थितान् रणे ।
जिघांसुरुग्रं द्रुपदात्मजो युवा
प्रमोहनास्त्रं युयुजे महारथः ॥ ४४ ॥

युद्धमें सामने खड़े हुए आपके वीर पुत्रोंको आगे बढ़ते और प्रचण्ड होते देख नवयुवक महारथी द्रुपदकुमारने उनके वधके लिये भयंकर प्रमोहनास्त्रका प्रयोग किया ॥ ४४ ॥

क्रुद्धो भृशं तव पुत्रेषु राजन्
दैत्येषु यद्वत् समरे महेन्द्रः ।
ततो व्यमुह्यन्त रणे नृवीराः
प्रमोहनास्त्राहतबुद्धिसत्त्वाः ॥ ४५ ॥

राजन् ! जैसे युद्धमें देवराज इन्द्र दैत्योंपर कुपित होते हैं, उसी प्रकार आपके पुत्रोंपर धृष्टद्युम्नका क्रोध बहुत बढ़ा हुआ था । उसके मोहनास्त्रके प्रयोगसे अपनी चेतना और धैर्य खोकर आपके नरवीर पुत्र रणभूमिमें मोहित हो गये ॥

प्रदुद्रुवुः कुरवश्चैव सर्वे
सवाजिनागाः सरथाः समन्तात् ।
परीतकालानिव नष्टसंज्ञान्
मोहोपेतांस्तव पुत्रान् निशम्य ॥ ४६ ॥

आपके पुत्रोंको मोहसे युक्त एवं मरे हुएके समान अचेत हुआ देख समस्त कौरव-सैनिक हाथी, घोड़े तथा रथसहित

सब ओर भाग चले ॥ ४६ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रोणः शस्त्रभृतां वरः।
द्रुपदं त्रिभिरासाद्य शरैर्विव्याध दारुणैः ॥ ४७ ॥

इसी समय दूसरी ओर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यने द्रुपदके पास जाकर उनको तीन भयंकर बाणोंद्वारा बींध डाला॥

सोऽतिविद्धस्ततो राजन् रणे द्रोणेन पार्थिवः ।
अपायाद् द्रुपदो राजन् पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ४८ ॥

राजन्! तब रणभूमिमें द्रोणके द्वारा अत्यन्त घायल हो राजा द्रुपद पहलेके वैरका स्मरण करते हुए वहाँसे दूर हट गये ॥ ४८ ॥

जित्वा तु द्रुपदं द्रोणः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।
तस्य शङ्खस्वनं श्रुत्वा वित्रेसुः सर्वसोमकाः ॥ ४९ ॥

द्रुपदको जीतकर प्रतापी द्रोणाचार्यने अपना शङ्ख बजाया । उस शङ्खनादको सुनकर समस्त सोमक क्षत्रिय अत्यन्त भयभीत हो गये ॥ ४९ ॥

अथ शुश्राव तेजस्वी द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।
प्रमोहनास्त्रेण रणे मोहितानात्मजांस्तव ॥ ५० ॥

तदनन्तर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी द्रोणाचार्यने सुना कि आपके पुत्र रणभूमिमें प्रमोहनास्त्रसे मोहित होकर पड़े हैं ॥ ५० ॥

ततो द्रोणो महाराज त्वरितोऽभ्याययौ रणात्।
तत्रापश्यन्महेष्वासो भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥
धृष्टद्युम्नं च भीमं च विचरन्तौ महारणे।
मोहाविष्टांश्च ते पुत्रानपश्यत् स महारथः ॥ ५२ ॥

महाराज ! यह सुनते ही महाधनुर्धर प्रतापी भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य तुरंत उस युद्धस्थलसे चलकर वहाँ आ पहुँचे । आकर उन महारथीने देखा कि धृष्टद्युम्न और भीमसेन उस महायुद्धमें विचर रहे हैं और आपके पुत्र मोहाविष्ट होकर पड़े हुए हैं ॥ ५१-५२ ॥

ततः प्रज्ञास्त्रमादाय मोहनास्त्रं व्यनाशयत् ।
अथ प्रत्यागतप्राणास्तव पुत्रा महारथाः ॥ ५३ ॥

तब उन्होंने प्रज्ञास्त्र लेकर उसके द्वारा मोहनास्त्रका नाश कर दिया । इससे आपके महारथी पुत्रोंमें पुनः चेतनाशक्ति लौट आयी ॥ ५३ ॥

पुनर्युद्धाय समरे प्रययुर्भीमपार्षतौ ।
ततो युधिष्ठिरः प्राह समाहूय स्वसैनिकान् ॥ ५४ ॥
गच्छन्तु पदवीं शक्त्या भीमपार्षतयोर्युधि ।
सौभद्रप्रमुखा वीरा रथा द्वादश दंशिताः ॥ ५५ ॥
प्रवृत्तिमधिगच्छन्तु न हि शुद्ध्यति मे मनः ।

वे समरभूमिमें पुनः युद्धके लिये भीमसेन और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नकी ओर चले । तब राजा युधिष्ठिरने अपने सैनिकोंको बुलाकर कहा—'तुमलोग पूरी शक्ति लगाकर युद्धस्थलमें भीमसेन और धृष्टद्युम्नके पथका अनुसरण करो । अभिमन्यु आदि बारह वीर महारथी कवच आदिसे सुसज्जित हो भीमसेन और धृष्टद्युम्नका समाचार प्राप्त करें । मेरा मन उनके विषयमें निश्चिन्त नहीं हो रहा है' ॥ ५४-५५½ ॥

त एवं समनुज्ञाताः शूरा विक्रान्तयोधिनः ॥ ५६ ॥
बाढमित्येवमुक्त्वा तु सर्वे पुरुषमानिनः ।
मध्यन्दिनगते सूर्ये प्रययुः सर्व एव हि ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिरकी ऐसी आज्ञा पाकर पराक्रमपूर्वक युद्ध करनेवाले वे पुरुषमानी समस्त शूरवीर 'बहुत अच्छा' कहकर दोपहर होते-होते वहाँसे चल दिये ॥ ५६-५७ ॥

केकया द्रौपदेयाश्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ।
अभिमन्युं पुरस्कृत्य महत्या सेनया वृताः ॥ ५८ ॥
ते कृत्वा समरव्यूहं सूचीमुखमरिंदमाः ।
बिभिदुर्धार्तराष्ट्राणां तद् रथानीकमाहवे ॥ ५९ ॥

अभिमन्युको आगे करके विशाल सेनासे घिरे हुए पाँच केकयराजकुमार, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी धृष्टकेतु—ये शत्रुओंका दमन करनेवाले शूरवीर सूचीमुख नामक समरव्यूह बनाकर आपके पुत्रोंकी उस सेनाको रणक्षेत्रमें विदीर्ण करने लगे ॥ ५८-५९ ॥

तान् प्रयातान् महेष्वासानभिमन्युपुरोगमान् ।
भीमसेनभयाविष्टा धृष्टद्युम्नविमोहिता ॥ ६० ॥
न संवारयितुं शक्ता तव सेना जनाधिप ।
मदमूर्च्छान्वितात्मा वै प्रमदेवाध्वनि स्थिता ॥ ६१ ॥

जनेश्वर ! आपकी सेना भीमसेनके भयसे व्याकुल और धृष्टद्युम्नके बाणोंसे मोहित हो रही थी । अतः आक्रमण करनेवाले अभिमन्यु आदि महाधनुर्धर वीरोंको वह रोकनेमें समर्थ न हो सकी । मद और मूर्छाके वशीभूत हुई मतवाली स्त्रीकी भाँति वह मार्गमें चुपचाप खड़ी रही ॥ ६०-६१ ॥

तेऽभिजाता महेष्वासाः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
परीप्सन्तोऽभ्यधावन्त धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ॥ ६२ ॥

सुवर्णनिर्मित ध्वजाओंसे सुशोभित होनेवाले वे महाधनुर्धर कुलीन योद्धा धृष्टद्युम्न और भीमसेनकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे दौड़े ॥ ६२ ॥

तौ च दृष्ट्वा महेष्वासावभिमन्युपुरोगमान् ।
बभूवतुर्मुदा युक्तौ निघ्नन्तौ तव वाहिनीम् ॥ ६३ ॥

वे दोनों महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न और भीमसेन भी अभिमन्यु आदि वीरोंको सहायताके लिये आते देख हर्ष और उत्साहमें भर गये और आपकी सेनाका विनाश करने लगे ॥ ६३ ॥

(द्रोणमिष्वस्त्रकुशलं सर्वविद्यासु पारगम् ।)
दृष्ट्वा तु सहसाऽऽयान्तं पाञ्चाल्यो गुरुमात्मनः ।
नाशंसत वधं वीरः पुत्राणां तव भारत ॥ ६४ ॥

भारत! पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नने धनुर्वेदमें कुशल और समस्त विद्याओंके पारंगत विद्वान् अपने गुरु द्रोणाचार्यको सहसा वहाँ आये देख आपके पुत्रोंके वधकी इच्छा छोड़ दी ॥६४॥

ततो रथं समारोप्य कैकेयस्य वृकोदरम् ।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो द्रोणमिष्वस्त्रपारगम् ॥ ६५ ॥

फिर भीमसेनको केकयके रथपर बिठाकर क्रोधमें भरे हुए धृष्टद्युम्नने अस्त्रविद्याके पारगामी विद्वान् द्रोणाचार्यपर धावा किया ॥ ६५ ॥

तस्याभिपततस्तूर्णं भारद्वाजः प्रतापवान् ।
क्रुद्धश्चिच्छेद बाणेन धनुः शत्रुनिबर्हणः ॥ ६६ ॥

तब शत्रुओंका नाश करनेवाले प्रतापी द्रोणाचार्यने कुपित होकर अपनी ओर आनेवाले धृष्टद्युम्नके धनुषको एक बाणसे तुरंत काट दिया ॥ ६६ ॥

अन्यांश्च शतशो बाणान् प्रेषयामास पार्षते ।
दुर्योधनहितार्थाय भर्तृपिण्डमनुस्मरन् ॥ ६७ ॥

उसके बाद दुर्योधनके हितके लिये स्वामीके अन्नका विचार करते हुए धृष्टद्युम्नपर और भी सैकड़ों बाण चलाये ॥

अथान्यद् धनुरादाय पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणं विव्याध विंशत्या रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः॥ ६८॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए सोनेकी पाँखवाले बीस बाणोंसे द्रोणाचार्यको घायल कर दिया ॥ ६८ ॥

तस्य द्रोणः पुनश्चापं चिच्छेदामित्रकर्शनः ।
हयांश्च चतुरस्तूर्णं चतुर्भिः सायकोत्तमैः ॥ ६९ ॥
वैवस्वतक्षयं घोरं प्रेषयामास भारत ।
सारथिं चास्य भल्लेन प्रेषयामास मृत्यवे ॥ ७० ॥

तब शत्रुसूदन द्रोणने पुनः धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया और चार उत्तम सायकोंद्वारा उनके चारों घोड़ोंको तुरंत ही भयानक यमलोकको भेज दिया। भारत ! फिर एक भल्लके द्वारा उनके सारथिको भी मृत्युके हवाले कर दिया ॥६९-७०॥

हताश्वात् स रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः ।
आरुरोह महाबाहुरभिमन्योर्महारथम् ॥ ७१ ॥

घोड़ों और सारथिके मारे जानेपर महारथी महाबाहु धृष्टद्युम्न तुरंत उस रथसे कूद पड़े और अभिमन्युके विशाल रथपर आरूढ़ हो गये ॥ ७१ ॥

ततः सरथनागाश्वा समकम्पत वाहिनी ।
पश्यतो भीमसेनस्य पार्षतस्य च पश्यतः ॥ ७२ ॥

तदनन्तर भीमसेन और धृष्टद्युम्नके देखते-देखते रथ, हाथी और घुड़सवारोंसहित सारी पाण्डव-सेना काँपने लगी ॥

तत्प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा द्रोणेनामिततेजसा ।
नाशक्नुवन् वारयितुं समस्तास्ते महारथाः ॥ ७३ ॥

अमित तेजस्वी आचार्य द्रोणके द्वारा अपनी सेनाका व्यूह भंग हुआ देख वे सम्पूर्ण महारथी प्रयत्न करनेपर भी उसे रोकनेमें सफल न हो सके ॥ ७३ ॥

वध्यमानं तु तत् सैन्यं द्रोणेन निशितैः शरैः ।
व्यभ्रमत् तत्र तत्रैव क्षोभ्यमाण इवार्णवः ॥ ७४ ॥

द्रोणाचार्यके पैने बाणोंसे पीड़ित हुई वह सेना विक्षुब्ध महासागरके समान वहीं चक्कर काटने लगी ॥ ७४ ॥

तथा दृष्ट्वा च तत्सैन्यं जहृषे तावकं बलम् ।
दृष्ट्वाऽऽचार्यं सुसंक्रुद्धं पतन्तं रिपुवाहिनीम् ।
चुक्रुशुः सर्वतो योधाः साधु साध्विति भारत॥ ७५॥

द्रोणाचार्यको अत्यन्त कुपित होकर शत्रुसेनापर टूटते और पाण्डव-सेनाको भागते देख आपके सैनिकोंको बड़ा हर्ष हुआ । भारत ! आपके सभी योद्धा सब ओरसे द्रोणाचार्यको साधुवाद देने लगे ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे द्रोणपराक्रमे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धमें द्रोणपराक्रमविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ७९½ श्लोक हैं)

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका संकुल युद्ध

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा मोहात् प्रत्यागतस्तदा ।
शरवर्षैः पुनर्भीमं प्रत्यवारयदच्युतम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर (मोहनास्त्रजनित) मोहसे जगनेपर राजा दुर्योधनने युद्धभूमिसे पीछे न हटनेवाले भीमसेनको पुनः बाणोंकी वर्षासे रोक दिया ॥

एकीभूतास्ततश्चैव तव पुत्रा महारथाः।
समेत्य समरे भीमं योधयामासुरुद्यताः ॥ २ ॥

फिर आपके सभी महारथी पुत्र समरभूमिमें एकत्र होकर पूर्ण प्रयत्नपूर्वक भीमसेनके साथ युद्ध करने लगे ॥ २ ॥

भीमसेनोऽपि समरे सम्प्राप्य स्वरथं पुनः।
समारुह्य महाबाहुर्ययौ येन तवात्मजः ॥ ३ ॥

महाबाहु भीमसेन भी समरभूमिमें पुनः अपने रथपर सवार हो उधर ही चल दिये, जिस मार्गसे आपका पुत्र दुर्योधन गया था ॥ ३ ॥

प्रगृह्य च महावेगं परासुकरणं दृढम्।
सज्जं शरासनं संख्ये शरैर्विव्याध ते सुतम्॥ ४ ॥

उन्होंने युद्धस्थलमें मृत्युकी प्राप्ति करानेवाले महान् वेगशाली सुदृढ़ धनुषको लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और अनेक बाणोंद्वारा आपके पुत्रको घायल कर दिया ॥ ४ ॥

ततो दुर्योधनो राजा भीमसेनं महाबलम्।
नाराचेन सुतीक्ष्णेन भृशं मर्मण्यताडयत्॥ ५ ॥

तब राजा दुर्योधनने महाबली भीमसेनके मर्मस्थलोंमें अत्यन्त तीखे नाराचसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ ५ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासस्तव पुत्रेण धन्विना।
क्रोधसंरक्तनयनो वेगेनाक्षिप्य कार्मुकम्॥ ६ ॥
दुर्योधनं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत्।
स तत्र शुशुभे राजा शिखरैर्गिरिराडिव॥ ७ ॥

आपके धनुर्धर पुत्रके द्वारा चलाये हुए बाणसे अत्यन्त पीड़ित हो महाधनुर्धर भीमसेनने क्रोधसे लाल आँखें करके वेगपूर्वक धनुषको खींचा और तीन बाणोंसे दुर्योधनकी दोनों भुजाओं तथा छातीमें चोट पहुँचायी। उन बाणोंद्वारा राजा दुर्योधन तीन शिखरोंसे युक्त गिरिराजकी भाँति शोभा पाने लगा ॥ ६-७ ॥

तौ दृष्ट्वा समरे क्रुद्धौ विनिघ्नन्तौ परस्परम्।
दुर्योधनानुजाः सर्वे शूराः संत्यक्तजीविताः ॥ ८ ॥
संस्मृत्य मन्त्रितं पूर्वं निग्रहे भीमकर्मणः।
निश्चयं परमं कृत्वा निग्रहीतुं प्रचक्रमुः ॥ ९ ॥

क्रोधमें भरे हुए इन दोनों वीरोंको समरभूमिमें एक-दूसरेपर प्रहार करते देख दुर्योधनके सभी शूरवीर छोटे भाई प्राणोंका मोह छोड़कर भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनको जीवित पकड़नेके विषयमें की हुई पहली सलाहको याद करके एक दृढ़ निश्चयपर पहुँचकर उन्हें पकड़नेका उद्योग करने लगे ॥ ८-९ ॥

तानापतत एवाजौ भीमसेनो महाबलः।
प्रत्युद्ययौ महाराज गजः प्रतिगजानिव॥ १० ॥

महाराज! उन्हें युद्धमें आक्रमण करते देख जैसे हाथी अपने विपक्षी हाथियोंकी ओर दौड़ता है, उसी प्रकार महाबली भीमसेन उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़े ॥ १० ॥

भृशं क्रुद्धश्च तेजस्वी नाराचेन समार्पयत्।
चित्रसेनं महाराज तव पुत्रं महायशाः॥ ११ ॥

नरेश्वर! महायशस्वी और तेजस्वी भीमसेन अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए थे। उन्होंने आपके पुत्र चित्रसेनपर एक नाराचके द्वारा प्रहार किया ॥ ११ ॥

तथेतरांस्तव सुतांस्ताडयामास भारत।
शरैर्बहुविधैः संख्ये रुक्मपुङ्खैः सुतेजनैः॥ १२ ॥

भारत! इसी प्रकार रणभूमिमें सोनेकी पाँखवाले अत्यन्त तीखे और बहुसंख्यक बाणोंद्वारा उन्होंने आपके अन्य पुत्रोंको भी पीड़ित किया ॥ १२ ॥

ततः संस्थाप्य समरे तान्यनीकानि सर्वशः।
अभिमन्युप्रभृतयस्ते द्वादश महारथाः॥ १३ ॥
प्रेषिता धर्मराजेन भीमसेनपदानुगाः।
प्रतिजग्मुर्महाराज तव पुत्रान् महाबलान्॥ १४ ॥

महाराज! तत्पश्चात् अपनी सेनाओंको सब प्रकारसे समरभूमिमें स्थापित करके भीमसेनके पदचिह्नोंपर चलनेवाले उन अभिमन्यु आदि बारह महारथियोंने, जिन्हें धर्मराज युधिष्ठिरने भेजा था, आपके महाबली पुत्रोंपर धावा किया ॥

दृष्ट्वा रथस्थांस्ताञ्शूरान् सूर्याग्निसमतेजसः।
सर्वानेव महेष्वासान् भ्राजमानाञ्श्रिया वृतान्॥ १५ ॥
महाहवे दीप्यमानान् सुवर्णमुकुटोज्ज्वलान्।
तत्यजुः समरे भीमं तव पुत्रा महाबलाः॥ १६ ॥

वे सब-के-सब रथपर बैठे हुए शूरवीर, सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी, महाधनुर्धर, उत्तम शोभासे प्रकाशमान, सुवर्णमय मुकुटसे जगमग प्रतीत होनेवाले और अत्यन्त कान्तिमान् थे। उस महासमरमें उन्हें आते देखकर आपके महाबली पुत्र भीमसेनको छोड़कर वहाँसे दूर हट गये ॥

तान् नामृष्यत कौन्तेयो जीवमाना गता इति।
अन्वीय च पुनः सर्वांस्तव पुत्रानपीडयत्॥ १७ ॥

परंतु वे जीवित लौट गये; यह बात भीमसेनसे नहीं सही गयी। उन्होंने पुनः आपके उन सब पुत्रोंका पीछा करके उन्हें अपने बाणोंसे पीड़ित कर दिया ॥ १७ ॥

अथाभिमन्युं समरे भीमसेनेन संगतम्।
पार्षतेन च सम्प्रेक्ष्य तव सैन्ये महारथाः॥ १८ ॥
दुर्योधनप्रभृतयः प्रगृहीतशरासनाः।
भृशमश्वैः प्रजवितैः प्रययुर्यत्र ते रथाः॥ १९ ॥

इधर, उस समरभूमिमें अभिमन्युको भीमसेन तथा

धृष्टद्युम्नसे मिला हुआ देख आपकी सेनाके दुर्योधन आदि महारथी हाथोंमें धनुष लिये अत्यन्त वेगशाली अश्वोंद्वारा वहाँ जा पहुँचे, जहाँ वे बारह पाण्डव-पक्षीय महारथी विद्यमान थे ॥ १८-१९ ॥

अपराह्णे महाराज प्रावर्तत महारणः।
तावकानां च बलिनां परेषां चैव भारत ॥ २० ॥

महाराज ! भरतनन्दन ! तब अपराह्णकालमें आपके और पाण्डव-पक्षके अत्यन्त बलवान् योद्धाओंमें बड़ा भारी युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २० ॥

अभिमन्युर्विकर्णस्य हयान् हत्वा महाहवे।
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ॥ २१ ॥

अभिमन्युने उस महायुद्धमें विकर्णके घोड़ोंको मारकर स्वयं विकर्णको भी पचीस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २१ ॥

हताश्वं रथमुत्सृज्य विकर्णस्तु महारथः।
आरुरोह रथं राजंश्चित्रसेनस्य भारत ॥ २२ ॥

भरतवंशी नरेश ! घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी विकर्ण अपना रथ छोड़कर चित्रसेनके रथपर जा बैठा ॥ २२ ॥

स्थितावेकरथे तौ तु भ्रातरौ कुलवर्धनौ।
आर्जुनिः शरजालेन च्छादयामास भारत ॥ २३ ॥

भरतनन्दन ! अभिमन्युने एक रथपर बैठे हुए उन दोनों वंशवर्धक भ्राताओंको अपने बाणोंके जालसे आच्छादित कर दिया ॥ २३ ॥

चित्रसेनो विकर्णश्च कार्ष्णिं पञ्चभिरायसैः।
विव्याध तेन चाकम्पत् कार्ष्णिर्मेरुरिव स्थितः॥ २४ ॥

चित्रसेन और विकर्णने भी लोहेके पाँच बाणोंसे अभिमन्युको बींध डाला । उस आघातसे अर्जुनकुमार अभिमन्यु विचलित नहीं हुआ । मेरु पर्वतकी भाँति अडिग खड़ा रहा ॥ २४ ॥

दुःशासनस्तु समरे केकयान् पञ्च मारिष।
योधयामास राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २५ ॥

आर्य ! राजेन्द्र ! दुःशासनने अकेले ही समरभूमिमें पाँच केकयराजकुमारोंके साथ युद्ध किया । वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २५ ॥

द्रौपदेया रणे क्रुद्धा दुर्योधनमवारयन् ।
शरैराशीविषाकारैः पुत्रं तव विशाम्पते ॥ २६ ॥

प्रजानाथ ! युद्धमें कुपित हुए द्रौपदीके पाँच पुत्रोंने विषधर सर्पके समान आकारवाले भयंकर बाणोंद्वारा आपके पुत्र दुर्योधनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २६ ॥

पुत्रोऽपि तव दुर्धर्षो द्रौपद्यास्तनयान् रणे।
सायकैर्निशितै राजन्नाजघान पृथक् पृथक् ॥ २७ ॥

राजन् ! तब आपके दुर्धर्ष पुत्रने भी तीखे सायकोंद्वारा रणभूमिमें द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंपर पृथक्-पृथक् प्रहार किया॥

तैश्चापि विद्धः शुशुभे रुधिरेण समुक्षितः।
गिरिः प्रस्रवणैर्यद्वद् गैरिकादिविमिश्रितैः ॥ २८ ॥

फिर उनके द्वारा भी अत्यन्त घायल किये जानेपर आपका पुत्र रक्तसे नहा उठा और गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित झरनोंके जलसे युक्त पर्वतकी भाँति शोभा पाने लगा॥

भीष्मोऽपि समरे राजन् पाण्डवानामनीकिनीम्।
कालयामास बलवान् पालः पशुगणानिव ॥ २९ ॥

राजन् ! तदनन्तर बलवान् भीष्म भी संग्रामभूमिमें पाण्डवसेनाको उसी प्रकार खदेड़ने लगे, जैसे चरवाहा पशुओंको हाँकता है ॥ २९ ॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषः प्रादुरासीद् विशाम्पते।
दक्षिणेन वरूथिन्याः पार्थस्यारीन् विनिघ्नतः ॥ ३० ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर शत्रुओंका संहार करते हुए अर्जुनके गाण्डीव धनुषका घोष सेनाके दक्षिण भागसे प्रकट हुआ॥

उत्तस्थुः समरे तत्र कबन्धानि समन्ततः।
कुरूणां चैव सैन्येषु पाण्डवानां च भारत ॥ ३१ ॥

भारत ! वहाँ समरमें कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंमें चारों ओर कबन्ध उठने लगे ॥ ३१ ॥

शोणितोदं शरावर्तं गजद्वीपं हयोर्मिणम्।
रथनौभिर्नरव्याघ्राः प्रतेरुः सैन्यसागरम् ॥ ३२ ॥

वह सेना एक समुद्रके समान थी । रक्त ही वहाँ जलके समान था । बाणोंकी भँवर उठती थी । हाथी द्वीपके समान जान पड़ते थे और घोड़े तरंगकी शोभा धारण करते थे । रथरूपी नौकाओंके द्वारा नरश्रेष्ठ वीर उस सैन्यसागरको पार करते थे ॥ ३२ ॥

छिन्नहस्ता विकवचा विदेहाश्च नरोत्तमाः।
दृश्यन्ते पतितास्तत्र शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३३ ॥

वहाँ सैकड़ों और हजारों नरश्रेष्ठ धरतीपर पड़े दिखायी देते थे । उनमेंसे कितनोंके हाथ कट गये थे; कितने ही कवचहीन हो रहे थे और बहुतोंके शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे ॥ ३३ ॥

निहतैर्मत्तमातङ्गैः शोणितौघपरिप्लुतैः।
भूर्भाति भरतश्रेष्ठ पर्वतैराचिता यथा ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मरकर गिरे हुए मतवाले हाथी खूनसे लथपथ हो रहे थे । उनसे ढकी हुई वहाँकी भूमि पर्वतोंसे व्याप्त-सी जान पड़ती थी ॥ ३४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तव तेषां च भारत।
न तत्रासीत् पुमान् कश्चिद् यो युद्धं नाभिकाङ्क्षति॥ ३५॥

भारत ! हमने वहाँ आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंका अद्भुत उत्साह देखा । वहाँ ऐसा कोई पुरुष नहीं था, जो युद्ध न चाहता हो ॥ ३५ ॥

एवं युयुधिरे वीराः प्रार्थयाना महद् यशः ।
तावकाः पाण्डवैः सार्धमाकाङ्क्षन्तो जयं युधि॥३६॥

इस प्रकार महान् यशकी अभिलाषा रखते और युद्धमें विजय चाहते हुए आपके वीर सैनिक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते थे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुल युद्धविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा दुर्योधनकी पराजय, अभिमन्यु और द्रौपदीपुत्रोंका धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ युद्ध तथा छठे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा लोहितायति भास्करे ।
संग्रामरभसो भीमं हन्तुकामोऽभ्यधावत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर जब सूर्यदेवपर संध्याकी लाली छाने लगी, उस समय संग्रामके लिये उत्साह रखनेवाले राजा दुर्योधनने भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया ॥ १ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य नृवीरं दृढवैरिणम् ।
भीमसेनः सुसंक्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

अपने पक्के बैरी नरवीर दुर्योधनको आते देख भीमसेनका क्रोध बहुत बढ़ गया और वे उससे यह वचन बोले—॥

अयं स कालः सम्प्राप्तो वर्षपूगाभिवाञ्छितः ।
अद्य त्वां निहनिष्यामि यदि नोत्सृजसे रणम् ॥ ३ ॥

'दुर्योधन ! मैं बहुत वर्षोंसे जिसकी अभिलाषा और प्रतीक्षा कर रहा था, वही यह अवसर आज प्राप्त हुआ है । यदि तू युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायगा तो आज तुझे अवश्य मार डालूँगा ॥ ३ ॥

अद्य कुन्त्याः परिक्लेशं वनवासं च कृत्स्नशः ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं प्रणेष्यामि हते त्वयि ॥ ४ ॥

'माता कुन्तीको जो क्लेश उठाना पड़ा है, हमने वनवासका जो कष्ट भोगा है और सभामें द्रौपदीको जो अपमानका दुःख सहन करना पड़ा है, उन सबका बदला आज मैं तेरे मारे जानेपर चुका लूँगा ॥ ४ ॥

यत् पुरा मत्सरी भूत्वा पाण्डवानवमन्यसे।
तस्य पापस्य गान्धारे पश्य व्यसनमागतम् ॥ ५ ॥

'गान्धारीपुत्र ! पूर्वकालमें डाह रखकर तू जो हम पाण्डवोंका तिरस्कार करता आया है, उसी पापके फलस्वरूप यह संकट तेरे ऊपर आया है । तू आँख खोलकर देख ले ॥ ५ ॥

कर्णस्य मतमास्थाय सौबलस्य च यत् पुरा ।
अचिन्त्य पाण्डवान् कामाद् यथेष्टं कृतवानसि॥ ६ ॥
याचमानं च यन्मोहाद् दाशार्हमवमन्यसे ।
उलूकस्य समादेशं यद् ददासि च हृष्टवत् ॥ ७ ॥
तेन त्वां निहनिष्यामि सानुबन्धं सबान्धवम्।
समीकरिष्ये तत् पापं यत् पुरा कृतवानसि ॥ ८ ॥

'पहले कर्ण और शकुनिके बहकावेमें आकर पाण्डवोंको कुछ भी न गिनते हुए जो तूने इच्छानुसार मनमाना बर्ताव किया है, भगवान् श्रीकृष्ण संधिके लिये प्रार्थना करने आये थे, परंतु तूने मोहवश जो उनका भी तिरस्कार किया और बड़े हर्षमें भरकर उलूकके द्वारा जो तूने यह संदेश दिया था कि तुम मुझे और मेरे भाइयोंको मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो, उसके अनुसार तुझे भाइयों तथा सगे-सम्बन्धियोंसहित अवश्य मार डालूँगा । पहले तूने जो-जो पाप किये हैं, उन सबका बदला चुकाकर बराबर कर दूँगा' ॥ ६—८ ॥

एवमुक्त्वा धनुर्घोरं विकृष्योद्भ्राम्य चासकृत् ।
समाधत्त शरान् घोरान् महाशनिसमप्रभान् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर भीमसेनने अपने भयंकर धनुषको बारंबार घुमाकर उसे बलपूर्वक खींचा और वज्रके समान तेजस्वी भयंकर बाणोंको उसके ऊपर रक्खा ॥ ९ ॥

षड्विंशतिमथ क्रुद्धो मुमोचाशु सुयोधने ।
ज्वलिताग्निशिखाकारान् वज्रकल्पानजिह्मगान्॥ १० ॥

वे सीधे जानेवाले बाण वज्र तथा प्रज्वलित आगकी लपटोंके समान जान पड़ते थे । उनकी संख्या छब्बीस थी । कुपित हुए भीमसेनने उन सबको शीघ्रतापूर्वक दुर्योधनपर छोड़ दिया ॥ १० ॥

ततोऽस्य कार्मुकं द्वाभ्यां सूतं द्वाभ्यां च विव्यधे।
चतुर्भिरश्वाञ्जवनाननयद् यमसादनम् ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् भीमसेनने दो बाणोंसे दुर्योधनका धनुष काट दिया, दोसे उसके सारथिको पीड़ित किया और चार

बाणोंसे उसके वेगशाली घोड़ोंको यमलोक भेज दिया ॥ ११ ॥

द्वाभ्यां च सुविकृष्टाभ्यां शराभ्यामरिमर्दनः ।
छत्रं चिच्छेद समरे राज्ञस्तस्य नरोत्तम ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ ! फिर शत्रुमर्दन भीमने धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए दो बाणोंद्वारा समरभूमिमें राजा दुर्योधनके छत्रको काट दिया ॥ १२ ॥

षड्भिश्च तस्य चिच्छेद ज्वलन्तं ध्वजमुत्तमम् ।
छित्त्वा तं च ननादोच्चैस्तव पुत्रस्य पश्यतः ॥ १३ ॥

इसके बाद अपनी प्रभासे प्रकाशित होनेवाले उसके उत्तम ध्वजको छः बाणोंसे खण्डित कर दिया । आपके पुत्रके देखते-देखते उस ध्वजको काटकर भीमसेन उच्च स्वरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १३ ॥

रथाच्च स ध्वजः श्रीमान् नानारत्नविभूषितात् ।
पपात सहसा भूमौ विद्युज्जलधरादिव ॥ १४ ॥

दुर्योधनके नाना रत्नविभूषित रथसे वह शोभाशाली ध्वज सहसा कटकर पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो मेघोंकी घटासे भूमिपर बिजली गिरी हो ॥ १४ ॥

ज्वलन्तं सूर्यसंकाशं नागं मणिमयं शुभम् ।
ध्वजं कुरुपतेश्छिन्नं ददृशुः सर्वपार्थिवाः ॥ १५ ॥

कुरुराज दुर्योधनके उस सूर्यके समान प्रज्वलित नागचिह्नित मणिमय सुन्दर ध्वजको कटकर गिरते समय समस्त राजाओंने देखा ॥ १५ ॥

अथैनं दशभिर्बाणैस्तोत्त्रैरिव महाद्विपम् ।
आजघान रणे वीरं स्मयन्निव महारथः ॥ १६ ॥

इसके बाद महारथी भीमने मुसकराते हुए-से रणभूमिमें वीरवर दुर्योधनको दस बाणोंसे उसी तरह घायल किया, जैसे महावत अङ्कुशोंसे महान् गजराजको पीड़ा देता है ॥

ततः स राजा सिन्धूनां रथश्रेष्ठो महारथः ।
दुर्योधनस्य जग्राह पार्ष्णिं सत्पुरुषैर्वृतः ॥ १७ ॥

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ सिन्धुराज महारथी जयद्रथने कुछ सत्पुरुषोंके साथ आकर दुर्योधनके पृष्ठभागकी रक्षाका कार्य सँभाला ॥ १७ ॥

कृपश्च रथिनां श्रेष्ठः कौरव्यममितौजसम् ।
आरोपयद् रथं राजन् दुर्योधनममर्षणम् ॥ १८ ॥

राजन् ! इसी प्रकार रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने अमर्षमें भरे हुए अमित तेजस्वी कुरुवंशी दुर्योधनको अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ १८ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो भीमसेनेन संयुगे ।
निषसाद रथोपस्थे राजन् दुर्योधनस्तदा ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! भीमसेनने उस युद्धमें दुर्योधनको बहुत घायल कर दिया था । अतः उस समय वह व्यथासे व्याकुल होकर रथके पिछले भागमें जा बैठा ॥ १९ ॥

परिवार्य ततो भीमं जेतुकामो जयद्रथः ।
रथैरनेकसाहस्रैर्भीमस्यावारयद् दिशः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् जयद्रथने भीमसेनको जीतनेकी इच्छा रखकर कई हजार रथोंके द्वारा उन्हें घेर लिया और उनकी सम्पूर्ण दिशाओंको अवरुद्ध कर दिया ॥ २० ॥

धृष्टकेतुस्ततो राजन्नभिमन्युश्च वीर्यवान् ।
केकया द्रौपदेयाश्च तव पुत्रानयोधयन् ॥ २१ ॥

महाराज ! इसी समय धृष्टकेतु, पराक्रमी अभिमन्यु, पाँच केकयराजकुमार तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र आपके पुत्रोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ २१ ॥

चित्रसेनः सुचित्रश्च चित्राङ्गश्चित्रदर्शनः ।
चारुचित्रः सुचारुश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ २२ ॥

अष्टावेते महेष्वासाः सुकुमारा यशस्विनः ।
अभिमन्युरथं राजन् समन्तात् पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

उस युद्धमें चित्रसेन, सुचित्र, चित्राङ्ग, चित्रदर्शन, चारुचित्र, सुचारु, नन्द और उपनन्द—इन आठ यशस्वी सुकुमार एवं महाधनुर्धर वीरोंने अभिमन्युके रथको चारों ओरसे घेर लिया ॥ २२-२३ ॥

आजघान ततस्तूर्णमभिमन्युर्महामनाः ।
एकैकं पञ्चभिर्बाणैः शितैः संनतपर्वभिः ॥ २४ ॥

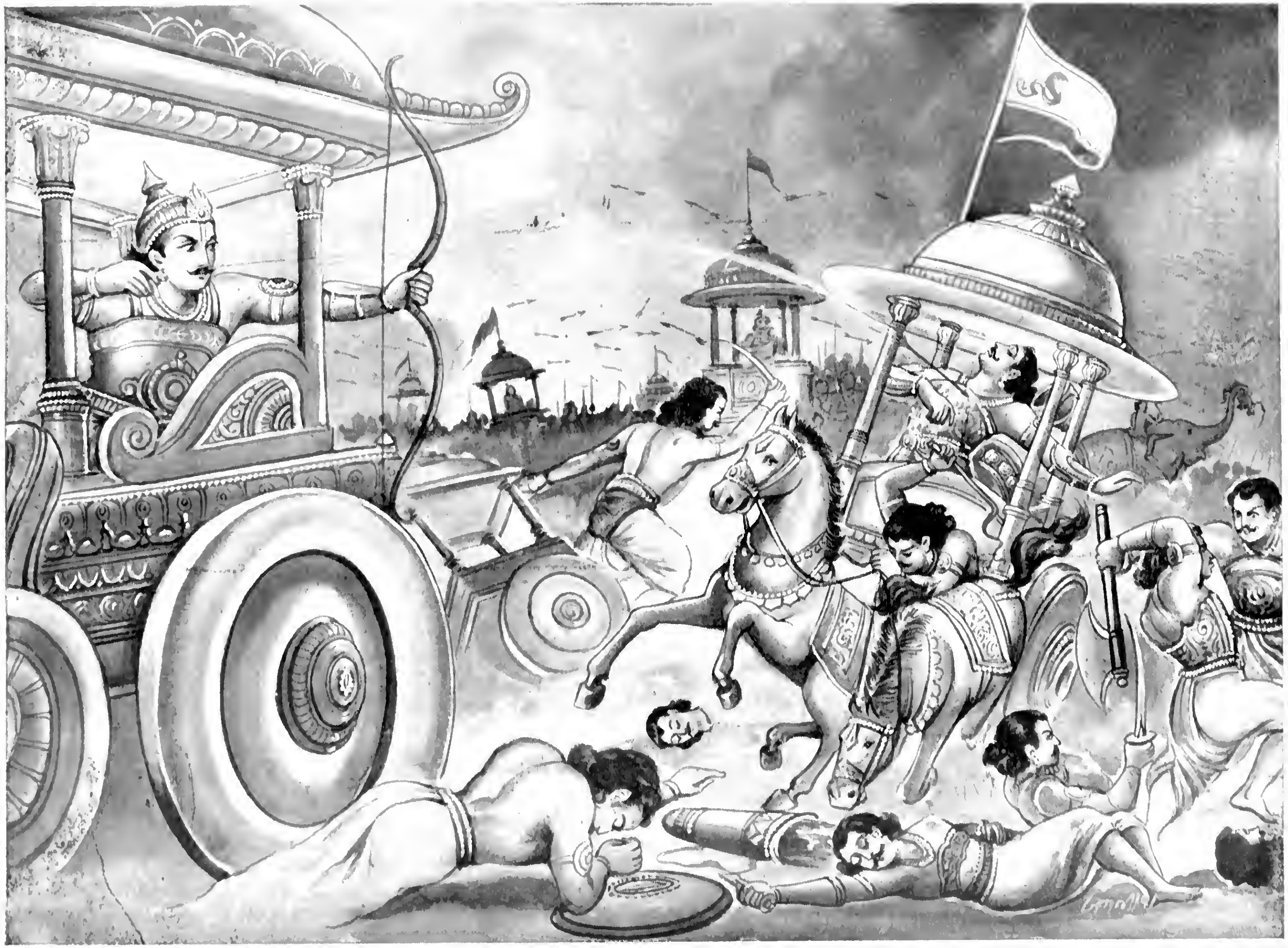
उस समय महामना अभिमन्युने तुरंत ही झुकी हुई गाँठवाले पाँच-पाँच तीखे बाणोंद्वारा प्रत्येकको बींध डाला ॥

वज्रमृत्युप्रतीकाशैर्विचित्रायुधनिःसृतैः ।
अमृष्यमाणास्ते सर्वे सौभद्रं रथसत्तमम् ॥ २५ ॥
ववृषुर्मार्गणैस्तीक्ष्णैर्गिरिं मेरुमिवाम्बुदाः ।

वे सभी बाण विचित्र धनुषद्वारा छोड़े गये थे और सब-के-सब वज्र एवं मृत्युके तुल्य भयंकर थे । उन बाणोंके आघातको आपके पुत्र सहन न कर सके । उन सबने मिलकर रथियोंमें श्रेष्ठ सुभद्राकुमार अभिमन्युपर तीखे बाणोंकी वर्षा आरम्भ की, मानो बादल मेरुगिरिपर जलकी वर्षा कर रहे हों ॥ २५½ ॥

स पीड्यमानः समरे कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ॥ २६ ॥
अभिमन्युर्महाराज तावकान् समकम्पयत् ।
यथा देवासुरे युद्धे वज्रपाणिर्महासुरान् ॥ २७ ॥

महाराज ! अभिमन्यु अस्त्रविद्याका ज्ञाता और युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला है । उसने समरभूमिमें बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी आपके सैनिकोंमें कँपकँपी उत्पन्न कर



भीमसेनके बाणसे मूर्च्छित दुर्योधन

दी । ठीक उसी तरह, जैसे देवासुर-संग्राममें वज्रधारी इन्द्रने बड़े-बड़े असुरोंको भयसे पीड़ित कर दिया था २६-२७

विकर्णस्य ततो भल्लान् प्रेषयामास भारत ।
चतुर्दश रथश्रेष्ठो घोरानाशीविषोपमान् ॥ २८ ॥
स तैर्विकर्णस्य रथात् पातयामास वीर्यवान् ।
ध्वजं सूतं हयांश्चैव नृत्यमान इवाहवे ॥ २९ ॥

भारत ! तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ पराक्रमी अभिमन्युने विकर्णके ऊपर सर्पके समान आकारवाले चौदह भयंकर भल्ल चलाये और उनके द्वारा विकर्णके रथसे ध्वज, सारथि और घोड़ोंको मार गिराया । उस समय वह युद्धमें नृत्य-सा कर रहा था ॥ २८-२९ ॥

पुनश्चान्याञ्शरान् पीतानकुण्ठाग्राञ्शिलाशितान् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो विकर्णाय महाबलः ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् उस महाबली वीरने अत्यन्त कुपित हो शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए अप्रतिहत धारवाले दूसरे पानीदार बाण विकर्णपर चलाये ॥ ३० ॥

ते विकर्णं समासाद्य कङ्कबर्हिणवाससः ।
भित्त्वा देहं गता भूमिं ज्वलन्त इव पन्नगाः ॥ ३१ ॥

उन बाणोंके पुच्छभागमें मोरके पंख लगे हुए थे । वे विकर्णके शरीरको विदीर्ण करके भीतर घुस गये और वहाँसे भी निकलकर प्रज्वलित सर्पोंकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

ते शरा हेमपुङ्खाग्रा व्यदृश्यन्त महीतले ।
विकर्णरुधिरक्लिन्ना वमन्त इव शोणितम् ॥ ३२ ॥

उन बाणोंके पुच्छ और अग्रभाग सुनहरे थे । वे विकर्णके रुधिरमें भीगे हुए बाण पृथ्वीपर रक्त वमन करते हुए-से दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ३२ ॥

विकर्णं वीक्ष्य निर्भिन्नं तस्यैवान्ये सहोदराः ।
अभ्यद्रवन्त समरे सौभद्रप्रमुखान् रथान् ॥ ३३ ॥

विकर्णको क्षत-विक्षत हुआ देख उसके दूसरे भाइयोंने समरभूमिमें अभिमन्यु आदि रथियोंपर धावा किया ॥ ३३ ॥

अभियात्वा तथैवान्यान् रथांस्तान् सूर्यवर्चसः ।
अविध्यन् समरेऽन्योन्यं संरम्भाद् युद्धदुर्मदाः ॥ ३४ ॥

वे सब-के-सब युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे । उन्होंने दूसरे-दूसरे रथियोंपर भी, जो अभिमन्युकी ही भाँति सूर्यके समान तेजस्वी थे, आक्रमण किया । फिर वे सब लोग अत्यन्त क्रोधमें भरकर एक दूसरेको अपने बाणोंद्वारा घायल करने लगे ॥ ३४ ॥

दुर्मुखः श्रुतकर्माणं विद्ध्वा सप्तभिराशुगैः ।
ध्वजमेकेन चिच्छेद सारथिं चास्य सप्तभिः ॥ ३५ ॥

दुर्मुखने श्रुतकर्माको सात शीघ्रगामी बाणोंद्वारा बींधकर एकसे उसका ध्वज काट डाला और सात बाणोंसे उसके सारथिको घायल कर दिया ॥ ३५ ॥

अश्वाञ्जाम्बूनदैर्जालैः प्रच्छन्नान् वातरंहसः ।
जघान षड्भिरासाद्य सारथिं चाभ्यपातयत् ॥ ३६ ॥

उसके घोड़े वायुके समान वेगशाली तथा सोनेकी जालीसे आच्छादित थे । दुर्मुखने उन घोड़ोंको छः बाणोंसे मार डाला और सारथिको भी रथसे नीचे गिरा दिया ॥ ३६ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठञ्श्रुतकर्मा महारथः ।
शक्तिं चिक्षेप संक्रुद्धो महोल्कां ज्वलितामिव ॥ ३७ ॥

महारथी श्रुतकर्मा घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़ा रहा और अत्यन्त क्रोधमें भरकर उसने दुर्मुखपर प्रज्वलित उल्काके समान एक शक्ति चलायी ॥ ३७ ॥

सा दुर्मुखस्य विमलं वर्म भित्त्वा यशस्विनः ।
विदार्य प्राविशद् भूमिं दीप्यमाना स्वतेजसा ॥ ३८ ॥

वह शक्ति अपने तेजसे उद्दीप्त हो रही थी । उसने यशस्वी दुर्मुखके चमकीले कवचको फाड़ डाला । फिर वह धरतीको चीरती हुई उसमें समा गयी ॥ ३८ ॥

तं दृष्ट्वा विरथं तत्र सुतसोमो महारथः ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां रथमारोपयत् स्वकम् ॥ ३९ ॥

महारथी सुतसोमने अपने भाई श्रुतकर्माको युद्धमें रथहीन हुआ देख समस्त सैनिकोंके देखते-देखते उसे अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ३९ ॥

श्रुतकीर्तिस्तथा वीरो जयत्सेनं सुतं तव ।
अभ्ययात् समरे राजन् हन्तुकामो यशस्विनम् ॥ ४० ॥

राजन् ! इसी प्रकार वीरवर श्रुतकीर्तिने युद्धभूमिमें आपके यशस्वी पुत्र जयत्सेनको मार डालनेकी इच्छासे उसपर आक्रमण किया ॥ ४० ॥

तस्य विक्षिपतश्चापं श्रुतकीर्तेर्महात्मनम् ।
चिच्छेद समरे तूर्णं जयत्सेनः सुतस्तव ॥ ४१ ॥
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन प्रहसन्निव भारत ।

भारत ! श्रुतकीर्ति जब बड़े जोर-जोरसे खींचकर अपने विशाल धनुषकी गम्भीर टंकार फैला रहा था, उसी समय रणभूमिमें आपके पुत्र जयत्सेनने हँसते हुए-से एक तीखे क्षुरप्रद्वारा तुरंत उसका धनुष काट दिया ॥ ४१½ ॥

तं दृष्ट्वा छिन्नधन्वानं शतानीकः सहोदरम् ॥ ४२ ॥
अभ्यपद्यत तेजस्वी सिंहवन्निनदन् मुहुः ।

अपने भाईका धनुष कटा हुआ देख तेजस्वी शतानीक बारंबार सिंहके समान गर्जना करता हुआ वहाँ आ पहुँचा ४२½

शतानीकस्तु समरे दृढं विस्फार्य कार्मुकम् ॥ ४३ ॥

विव्याध दशभिस्तूर्णं जयत्सेनं शिलीमुखैः।
ननाद सुमहानादं प्रभिन्न इव वारणः ॥ ४४ ॥

शतानीकने संग्रामभूमिमें अपने धनुषको जोरसे खींचकर शीघ्रतापूर्वक दस बाण मारकर जयत्सेनको घायल कर दिया। फिर उसने मदवर्षी गजराजके समान बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ४३-४४ ॥

अथान्येन सुतीक्ष्णेन सर्वावरणभेदिना।
शतानीको जयत्सेनं विव्याध हृदये भृशम् ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् समस्त आवरणोंका भेदन करनेमें समर्थ दूसरे तीक्ष्ण बाणद्वारा शतानीकने जयत्सेनके वक्षःस्थलमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४५ ॥

तथा तस्मिन् वर्तमाने दुष्कर्णो भ्रातुरन्तिके।
चिच्छेद समरे चापं नाकुलेः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४६ ॥

उसके इस प्रकार करनेपर अपने भाईके पास खड़ा हुआ दुष्कर्ण क्रोधसे व्याकुल हो उठा। उसने समरभूमिमें नकुलपुत्र शतानीकका धनुष काट दिया ॥ ४६ ॥

अथान्यद् धनुरादाय भारसाहमनुत्तमम्।
समादत्त शरान् घोराञ्शतानीको महाबलः॥ ४७ ॥

तब महाबली शतानीकने भार सहन करनेमें समर्थ दूसरा अत्यन्त उत्तम धनुष लेकर उसपर भयंकर बाणोंका अनुसंधान किया ॥ ४७ ॥

तिष्ठ तिष्ठेति चामन्त्र्य दुष्कर्णं भ्रातुरग्रतः।
मुमोचास्मै शितान् बाणाञ्ज्वलितान् पन्नगानिव॥४८॥

फिर भाईके सामने ही दुष्कर्णसे 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहकर उसके ऊपर प्रज्वलित सर्पोंके समान तीखे बाणोंका प्रहार किया ॥ ४८ ॥

ततोऽस्य धनुरेकेन द्वाभ्यां सूतं च मारिष।
चिच्छेद समरे तूर्णं तं च विव्याध सप्तभिः ॥ ४९ ॥

आर्य! तदनन्तर एक बाणसे उसके धनुषको काट दिया, दोसे उसके सारथिको क्षत-विक्षत कर दिया और सात बाणोंसे उस युद्धस्थलमें स्वयं दुष्कर्णको भी तुरंत घायल कर दिया ॥ ४९ ॥

अश्वान् मनोजवांस्तस्य कर्बुरान् वातरंहसः।
जघान निशितैस्तूर्णं सर्वान् द्वादशभिः शरैः ॥ ५० ॥

दुष्कर्णके घोड़े मन और वायुके समान वेगशाली थे। उनका रंग चितकबरा था। शतानीकने बारह तीखे बाणोंसे उन सब घोड़ोंको भी तुरंत मार डाला ॥ ५० ॥

अथापरेण भल्लेन सुयुक्तेनाशुपातिना।
दुष्कर्णं सुदृढं क्रुद्धो विव्याध हृदये भृशम् ॥ ५१ ॥
स पपात ततो भूमौ वज्राहत इव द्रुमः।

तत्पश्चात् लक्ष्यको शीघ्र मार गिरानेवाले एक दूसरे भल्ल नामक बाणका उत्तम रीतिसे प्रयोग करके क्रोधमें भरे हुए शतानीकने दुष्कर्णके हृदयमें अत्यन्त गहरा आघात किया। इससे दुष्कर्ण वज्राहत वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ५१½ ॥

दुष्कर्णं व्यथितं दृष्ट्वा पञ्च राजन् महारथाः ॥ ५२ ॥
जिघांसन्तः शतानीकं सर्वतः पर्यवारयन्।

राजन्! दुष्कर्णको आघातसे पीड़ित देख पाँच महारथियोंने शतानीकको मार डालनेकी इच्छासे उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ ५२½ ॥

छाद्यमानं शरव्रातैः शतानीकं यशस्विनम् ॥ ५३ ॥
अभ्यधावन्त संक्रुद्धाः केकयाः पञ्च सोदराः।

उनके बाणसमूहोंसे यशस्वी शतानीकको आच्छादित होते देख क्रोधमें भरे हुए पाँच भाई केकयराजकुमारोंने उन पाँचों महारथियोंपर धावा किया ॥ ५३½ ॥

तानभ्यापततः प्रेक्ष्य तव पुत्रा महारथाः ॥ ५४ ॥
प्रत्युद्ययुर्महाराज गजानिव महागजाः।

महाराज! उन्हें आते देख आपके महारथी पुत्र उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े, जैसे हाथी दूसरे हाथियोंसे भिड़नेके लिये आगे बढ़ते हैं ॥ ५४½ ॥

दुर्मुखो दुर्जयश्चैव तथा दुर्मर्षणो युवा ॥ ५५ ॥
शत्रुंजयः शत्रुसहः सर्वे क्रुद्धा यशस्विनः।
प्रत्युद्याता महाराज केकयान् भ्रातरः समम् ॥ ५६ ॥

नरेश्वर! दुर्मुख, दुर्जय, युवा वीर दुर्मर्षण, शत्रुञ्जय तथा शत्रुसह—ये सब-के-सब यशस्वी वीर क्रोधमें भरकर पाँचों भाई केकयोंका सामना करनेके लिये एक साथ आगे बढ़े ॥

रथैर्नगरसंकाशैर्हयैर्युक्तैर्मनोजवैः।
नानावर्णविचित्राभिः पताकाभिरलंकृतैः ॥ ५७ ॥
वरचापधरा वीरा विचित्रकवचध्वजाः।
विविशुस्ते परं सैन्यं सिंहा इव वनाद् वनम् ॥ ५८ ॥

उनके रथ नगरोंके समान प्रतीत होते थे। उनमें मनके समान वेगशाली घोड़े जुते हुए थे। नाना प्रकारके रूप-रंगवाली और विचित्र पताकाएँ उन्हें अलंकृत कर रही थीं। ऐसे रथोंपर आरूढ़ सुन्दर धनुष धारण किये विचित्र कवच और ध्वजोंसे सुशोभित उन वीरोंने शत्रुकी सेनामें उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे सिंह एक वनसे दूसरे वनमें प्रवेश करते हैं ॥ ५७-५८ ॥

तेषां सुतुमुलं युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम्।
अवर्तत महारौद्रं निघ्नतामितरेतरम् ॥ ५९ ॥

फिर तो एक दूसरेपर प्रहार करते हुए उन सभी महा-

रथियोंमें अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध होने लगा। रथोंसे रथ और हाथियोंसे हाथी भिड़ गये ॥ ५९ ॥

अन्योन्यागस्कृतां राजन् यमराष्ट्रविवर्धनम्।
मुहूर्तास्तमिते सूर्ये चक्रुर्युद्धं सुदारुणम् ॥ ६० ॥

राजन्! एक दूसरेपर प्रहार करनेवाले उन महारथियोंका वह युद्ध यमलोककी वृद्धि करनेवाला था। सूर्यास्तके दो घड़ी बादतक उन सब लोगोंने बड़ा भयंकर युद्ध किया॥

रथिनः सादिनश्चाथ व्यकीर्यन्त सहस्रशः।
ततः शान्तनवः क्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ६१ ॥
नाशयामास सेनां तां भीष्मस्तेषां महात्मनाम्।
पञ्चालानां च सैन्यानि शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ ६२ ॥

उसमें सहस्रों रथी और घुड़सवार प्राणशून्य होकर बिखर गये। तब शान्तनुनन्दन भीष्मने कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उन महामना वीरोंकी सेनाका विनाश कर डाला; पाञ्चालोंकी सेनाकी कितनी ही टुकड़ियोंको अपने बाणोंद्वारा यमलोक पहुँचा दिया ॥ ६१-६२ ॥

एवं भित्त्वा महेष्वासः पाण्डवानामनीकिनीम्।
कृत्वावहारं सैन्यानां ययौ स्वशिबिरं नृप ॥ ६३ ॥

नरेश्वर! महाधनुर्धर भीष्म इस प्रकार पाण्डवसेनाका संहार करके अपनी समस्त सेनाओंको युद्धसे लौटाकर अपने शिबिरको चले गये ॥ ६३ ॥

(नाशयामासतुर्वीरौ धृष्टद्युम्नवृकोदरौ।
कौरवाणामनीकानि शरैः संनतपर्वभिः ॥)

इसी प्रकार धृष्टद्युम्न और भीमसेन—इन दोनों वीरोंने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कौरवसेनाओंका विनाश कर डाला ॥

धर्मराजोऽपि सम्प्रेक्ष्य धृष्टद्युम्नवृकोदरौ।
मूर्ध्नि चैतावुपाघ्राय प्रहृष्टः शिबिरं ययौ ॥ ६४ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्न और भीमसेन दोनोंसे मिलकर उनका मस्तक सूँघा और बड़े हर्षके साथ अपने शिबिरको प्रस्थान किया ॥ ६४ ॥

(अर्जुनो वासुदेवश्च कौरवाणामनीकिनीम्।
हत्वा विद्राव्य च शरैः शिबिरायैव जग्मतुः ॥)

अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण भी कौरवसेनाको बाणोंद्वारा मारकर तथा रणभूमिसे भगाकर शिबिरको ही चल दिये॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि षष्ठदिवसावहारे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें छठे दिनके युद्धमें सेनाके शिबिरके लिये लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

भीष्मद्वारा दुर्योधनको आश्वासन तथा सातवें दिनके युद्धके लिये कौरवसेनाका प्रस्थान

संजय उवाच

अथ शूरा महाराज परस्परकृतागसः।
जग्मुः स्वशिबिराण्येव रुधिरेण समुक्षिताः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! आपसमें एक दूसरेको चोट पहुँचानेवाले वे सभी शूरवीर खूनसे लथपथ हो अपने शिबिरोंको ही चले गये ॥ १ ॥

विश्रम्य च यथान्यायं पूजयित्वा परस्परम्।
संनद्धाः समदृश्यन्त भूयो युद्धचिकीर्षया ॥ २ ॥

यथायोग्य विश्राम करके एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए वे लोग पुनः युद्ध करनेकी इच्छासे तैयार दिखायी देने लगे ॥ २ ॥

ततस्तव सुतो राजंश्चिन्तयाभिपरिप्लुतः।
विस्रवच्छोणिताक्ताङ्गः पप्रच्छेदं पितामहम् ॥ ३ ॥

राजन्! तदनन्तर आपके पुत्र दुर्योधनने, जिसका शरीर बहते हुए रक्तसे भीगा हुआ था, चिन्तामग्न होकर पितामह भीष्मके पास जाकर इस प्रकार पूछा— ॥ ३ ॥

सैन्यानि रौद्राणि भयानकानि
व्यूढानि सम्यग् बहुलध्वजानि।
विदार्य हत्वा च निपीड्य शूरा-
स्ते पाण्डवानां त्वरिता महारथाः॥ ४ ॥

'दादाजी! हमारी सेनाएँ अत्यन्त भयंकर तथा रौद्ररूप धारण करनेवाली हैं। उनकी व्यूहरचना भी अच्छे ढंगसे की जाती है। इन सेनाओंमें ध्वजोंकी संख्या बहुत अधिक है। तथापि शूरवीर पाण्डव महारथी उनमें प्रवेश करके तुरंत हमारे सैनिकोंको विदीर्ण करते, मारते और पीड़ा देकर चले जाते हैं ॥ ४ ॥

सम्मोह्य सर्वान् युधि कीर्तिमन्तो
व्यूहं च तं मकरं वज्रकल्पम्।

प्रविश्य भीमेन रणे हतोऽस्मि
घोरैः शरैर्मृत्युदण्डप्रकाशैः ॥ ५ ॥

'वे युद्धमें सबको मोहित करके अपनी कीर्तिका विस्तार करते हैं। देखिये न, भीमसेनने वज्रके समान दुर्भेद्य मकर-व्यूहमें प्रवेश करके मृत्युदण्डके समान भयंकर बाणोंद्वारा मुझे युद्धस्थलमें क्षत-विक्षत कर दिया है ॥ ५ ॥

क्रुद्धं तमुद्वीक्ष्य भयेन राजन्
सम्मूर्च्छितो न लभे शान्तिमद्य।
इच्छे प्रसादात् तव सत्यसंध
प्राप्तुं जयं पाण्डवेयांश्च हन्तुम् ॥ ६ ॥

'राजन्! भीमसेनको कुपित देखकर मैं भयसे व्याकुल हो उठता हूँ। आज मुझे शान्ति नहीं मिल रही है। सत्य-प्रतिज्ञ पितामह! मैं आपकी कृपासे पाण्डवोंको मारना और उनपर विजय पाना चाहता हूँ' ॥ ६ ॥

तेनैवमुक्तः प्रहसन् महात्मा
दुर्योधनं मन्युगतं विदित्वा।
तं प्रत्युवाचाविमना मनस्वी
गङ्गासुतः शस्त्रभृतां वरिष्ठः ॥ ७ ॥

दुर्योधनके ऐसा कहनेपर और उसे क्रोधमें भरा हुआ जानकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ मनस्वी महात्मा गङ्गानन्दन भीष्म-ने जोर-जोरसे हँसते हुए प्रसन्न मनसे उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ७ ॥



परेण यत्नेन विगाह्य सेनां
सर्वात्मनाहं तव राजपुत्र।
इच्छामि दातुं विजयं सुखं च
न चात्मानं छादयेऽहं त्वदर्थे ॥ ८ ॥

'राजकुमार! मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर महान् प्रयत्नके साथ पाण्डवोंकी सेनामें प्रवेश करके तुम्हें विजय और सुख देना चाहता हूँ। तुम्हारे लिये अपने आपको छिपाकर नहीं रखता हूँ ॥ ८ ॥

एते तु रौद्रा बहवो महारथा
यशस्विनः शूरतमाः कृतास्त्राः।
ये पाण्डवानां समरे सहाया
जितक्लमा रोषविषं वमन्ति ॥ ९ ॥

'जो समरभूमिमें पाण्डवोंके सहायक हुए हैं, उनमें बहुत-से ये महारथी वीर अत्यन्त भयंकर, परम शौर्यसम्पन्न, शस्त्रविद्याके विद्वान् तथा यशस्वी हैं। इन्होंने थकावटको जीत लिया है और ये हमलोगोंपर रोषरूपी विष उगल रहे हैं ॥ ९ ॥

ते नैव शक्याः सहसा विजेतुं
वीर्योद्धताः कृतवैरास्त्वया च।
अहं सेनां प्रतियोत्स्यामि राजन्
सर्वात्मना जीवितं त्यज्य वीर ॥ १० ॥

'ये बल-पराक्रममें प्रचण्ड और तुम्हारे साथ वैर बाँधे हुए हैं। इन्हें सहसा पराजित नहीं किया जा सकता है। राजन्! वीरवर! मैं सम्पूर्ण शरीरसे अपने प्राणोंकी परवा छोड़कर पाण्डवोंकी सेनाके साथ युद्ध करूँगा ॥ १० ॥

रणे तवार्थाय महानुभाव
न जीवितं रक्ष्यतमं ममाद्य।
सर्वांस्तवार्थाय सदेवदैत्यान्
घोरान् दहेयं किमु शत्रुसेनाम् ॥ ११ ॥

'महानुभाव! तुम्हारे कार्यकी सिद्धिके लिये अब युद्धमें मुझे अपने जीवनकी रक्षा भी अत्यन्त आवश्यक नहीं जान पड़ती है। मैं तुम्हारे मनोरथकी सिद्धिके लिये देवताओं-सहित समस्त भयंकर दैत्योंको भी दग्ध कर सकता हूँ; फिर शत्रुओंकी सेनाकी तो बात ही क्या है? ॥ ११ ॥

तान् पाण्डवान् योधयिष्यामि राजन्
प्रियं च ते सर्वमहं करिष्ये।
श्रुत्वैव चैतद् वचनं तदानीं
दुर्योधनः प्रीतमना बभूव ॥ १२ ॥

'राजन्! मैं उन पाण्डवोंसे भी युद्ध करूँगा और तुम्हारा सम्पूर्ण प्रिय कार्य सिद्ध करूँगा।' उस समय भीष्मजीकी यह बात सुनते ही दुर्योधनका मन प्रसन्न हो गया ॥ १२ ॥

सर्वाणि सैन्यानि ततः प्रहृष्टो
निर्गच्छतेत्याह नृपांश्च सर्वान्।
तदाज्ञया तानि विनिर्ययुर्द्रुतं
गजाश्वपादातरथायुतानि ॥ १३ ॥

तदनन्तर दुर्योधनने हर्षमें भरकर सम्पूर्ण राजाओं तथा सारी सेनाओंसे कहा—'युद्धके लिये निकलो।' राजा दुर्योधन-की आज्ञा पाकर सहस्रों हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथोंसे भरी हुई वे सारी सेनाएँ तुरंत रणके लिये प्रस्थित हुईं ॥ १३ ॥

प्रहर्षयुक्तानि तु तानि राजन्
महान्ति नानाविधशस्त्रवन्ति ।
स्थितानि नागाश्वपदातिमन्ति
विरेजुराजौ तव राजन् बलानि ॥ १४ ॥

महाराज ! आपकी वे विशाल सेनाएँ नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो अत्यन्त हर्ष एवं उत्साहमें भरी हुई थीं । राजन् ! घोड़े, हाथी और पैदलोंसे युक्त हो रणभूमिमें खड़ी हुई उन सेनाओंकी बड़ी शोभा होती थी ॥ १४ ॥

शस्त्रास्त्रविद्भिर्नरवीरयोधै-
रधिष्ठिताः सैन्यगणास्त्वदीयाः ।
रथौघपादातगजाश्वसंघैः
प्रयाद्भिराजौ विधिवत् प्रणुन्नैः ॥ १५ ॥
समुद्धतं वै तरुणार्कवर्ण
रजो बभौ च्छादयन् सूर्यरश्मीन् ।
रेजुः पताका रथदन्तिसंस्था
वातेरिता भ्राम्यमाणाः समन्तात् ॥ १६ ॥

आपकी सेनाओंके सेनापति अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता एवं नरवीर योद्धा थे । उनसे विधिपूर्वक अनुशासित हो रथसमूह, पैदल, हाथी और घोड़ोंके समुदाय जब युद्धभूमिमें जाने लगे, तब उनके पैरोंसे उठी हुई धूल सूर्यकी किरणोंको आच्छादित करके प्रातःकालिक सूर्यकी प्रभाके समान कान्तिमती प्रतीत होने लगी । रथों और हाथियोंपर खड़ी की हुई पताकाएँ चारों ओर वायुकी प्रेरणासे फहराती हुई बड़ी शोभा पा रही थीं ॥ १५-१६ ॥

नानारङ्गाः समरे तत्र राजन्
मेघैर्युता विद्युतः खे यथैव ।
वृन्दैः स्थिताश्चापि सुसम्प्रयुक्ता-
श्चकाशिरे दन्तिगणाः समन्तात् ॥ १७ ॥

राजन् ! जैसे आकाशमें बादलोंके साथ बिजलियाँ चमक रही हों, उसी प्रकार उस समराङ्गणमें चारों ओर अनेक रंगोंके दन्तार हाथी झुंडके झुंड खड़े हुए शोभा पा रहे थे । उनका संचालन सुन्दर ढंगसे हो रहा था ॥ १७ ॥

धनूंषि विस्फारयतां नृपाणां
बभूव शब्दस्तुमुलोऽतिघोरः ।
विमथ्यतो देवमहासुरौघै-
र्यथार्णवस्यादियुगे तदानीम् ॥ १८ ॥

जैसे आदियुगमें देवताओं और दैत्योंके समूहद्वारा समुद्रके मथे जाते समय अत्यन्त घोर शब्द होता था, उसी प्रकार उस समय युद्धस्थलमें अपने धनुषोंकी टंकार करनेवाले राजाओंका अत्यन्त भयानक तुमुल शब्द प्रकट हो रहा था ॥

तदुग्रनागं बहुरूपवर्ण
तवात्मजानां समुदीर्णमेवम् ।
बभूव सैन्यं रिपुसैन्यहन्तृ
युगान्तमेघौघनिभं तदानीम् ॥ १९ ॥

महाराज ! आपके पुत्रोंकी वह सेना भयंकर गजराजोंसे भरी थी । वह अनेक रूप-रंगोंकी दिखायी देती थी । उसका वेग बढ़ता ही जा रहा था । वह उस समय प्रलयकालके मेघसमुदायकी भाँति शत्रुसेनाका संहार करनेमें समर्थ प्रतीत होती थी ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधनसंवादविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

सातवें दिनके युद्धमें कौरव-पाण्डव-सेनाओंका मण्डल और वज्रव्यूह बनाकर भीषण संघर्ष

संजय उवाच

अथात्मजं तव पुनर्गाङ्गेयो ध्यानमास्थितम् ।
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठः सम्प्रहर्षकरं वचः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर आपके पुत्रको चिन्तामें निमग्न देख भरतश्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मने उससे पुनः हर्ष बढ़ानेवाली बात कही—॥ १ ॥

अहं द्रोणश्च शल्यश्च कृतवर्मा च सात्वतः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च भगदत्तोऽथ सौबलः ॥ २ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ बाह्लीकः सह बाह्लिकैः ।
त्रिगर्तराजो बलवान् मागधश्च सुदुर्जयः ॥ ३ ॥
बृहद्बलश्च कौसल्यश्चित्रसेनो विविंशतिः ।
रथाश्च बहुसाहस्राः शोभनाश्च महाध्वजाः ॥ ४ ॥
देशजाश्च हया राजन् स्वारूढा हयसादिभिः ।
गजेन्द्राश्च मदोद्वृत्ताः प्रभिन्नकरटामुखाः ॥ ५ ॥
पादाताश्च तथा शूरा नानाप्रहरणध्वजाः ।
नानादेशसमुत्पन्नास्त्वदर्थे योद्धुमुद्यताः ॥ ६ ॥

'राजन् ! मैं, द्रोणाचार्य, शल्य, यदुवंशी कृतवर्मा, अश्वत्थामा, विकर्ण, भगदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, बाह्लिकदेशीय वीरोंके साथ राजा बाह्लीक, बलवान् त्रिगर्तराज, अत्यन्त दुर्जय मगध-

राज, कोसलनरेश बृहद्बल, चित्रसेन, विविंशति तथा विशाल ध्वजाओंवाले परम सुन्दर कई हजार रथ, घुड़सवारोंसे युक्त देशीय घोड़े, गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले मदोन्मत्त गजराज और भाँति-भाँतिके आयुध एवं ध्वज धारण करनेवाले विभिन्न देशोंके शूरवीर पैदल सैनिक तुम्हारे लिये युद्ध करनेको उद्यत हैं ॥ २–६ ॥

एते चान्ये च बहवस्त्वदर्थे त्यक्तजीविताः ।
देवानपि रणे जेतुं समर्था इति मे मतिः ॥ ७ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से ऐसे सैनिक हैं, जिन्होंने तुम्हारे लिये अपना जीवन निछावर कर दिया है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि ये सब मिलकर युद्धस्थलमें देवताओंको भी जीतनेमें समर्थ हैं ॥ ७ ॥

अवश्यं हि मया राजंस्तव वाच्यं हितं सदा ।
अशक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः ॥ ८ ॥

'राजन् ! मुझे सदा तुम्हारे हितकी बात अवश्य कहनी चाहिये; इसीलिये कहता हूँ—पाण्डवोंको इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी जीत नहीं सकते ॥ ८ ॥

वासुदेवसहायाश्च महेन्द्रसमविक्रमाः ।
सर्वथाहं तु राजेन्द्र करिष्ये वचनं तव ॥ ९ ॥

'राजेन्द्र ! एक तो वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी हैं, दूसरे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उनके सहायक हैं, (अतः उन्हें जीतना असम्भव है तथापि) मैं सर्वथा तुम्हारे वचनका पालन करूँगा ॥ ९ ॥

पाण्डवांश्च रणे जेष्ये मां वा जेष्यन्ति पाण्डवाः ।
एवमुक्त्वा ददावस्मै विशल्यकरणीं शुभाम् ॥ १० ॥
ओषधीं वीर्यसम्पन्नां विशल्यश्चाभवत् तदा ।

'पाण्डवोंको मैं युद्धमें जीतूँगा अथवा पाण्डव ही मुझे परास्त कर देंगे।' ऐसा कहकर भीष्मजीने दुर्योधनको विशल्यकरणी नामक शुभ एवं शक्तिशालिनी ओषधि प्रदान की। उस समय उसके प्रभावसे दुर्योधनके शरीरमें धँसे हुए बाण आसानीसे निकल गये और वह आघातजनित घाव तथा उसकी पीड़ासे मुक्त हो गया ॥ १०½ ॥

ततः प्रभाते विमले स्वेन सैन्येन वीर्यवान् ॥ ११ ॥
अव्यूहत स्वयं व्यूहं भीष्मो व्यूहविशारदः ।
मण्डलं मनुजश्रेष्ठो नानाशस्त्रसमाकुलम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर निर्मल प्रभातकी बेलामें व्यूहविशारद नरश्रेष्ठ बलवान् भीष्मने अपनी सेनाके द्वारा स्वयं ही मण्डल नामक व्यूहका निर्माण किया, जो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न था ॥ ११-१२ ॥

सम्पूर्णं योधमुख्यैश्च तथा दन्तिपदातिभिः ।
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् परिवारितम् ॥ १३ ॥

वह व्यूह हाथी और पैदल आदि मुख्य-मुख्य योद्धाओंसे भरा हुआ था। कई सहस्र रथोंने उसे सब ओरसे घेर रक्खा था॥

अश्ववृन्दैर्महद्भिश्च ऋष्टितोमरधारिभिः ।
नागे नागे रथाः सप्त सप्त चाश्वा रथे रथे ॥ १४ ॥
अन्वश्वं दश धानुष्का धानुष्के दश चर्मिणः ।

वह व्यूह ऋष्टि और तोमर धारण करनेवाले अश्वारोहियोंके महान् समुदायोंसे भरा था। एक-एक हाथीके पीछे सात-सात रथ, एक-एक रथके साथ सात-सात घुड़सवार, प्रत्येक घुड़सवारके पीछे दस-दस धनुर्धर और प्रत्येक धनुर्धरके साथ दस-दस ढाल-तलवार लिये रहनेवाले वीर खड़े थे ॥ १४½ ॥

एवं व्यूढं महाराज तव सैन्यं महारथैः ॥ १५ ॥
स्थितं रणाय महते भीष्मेण युधि पालितम् ।

महाराज ! इस प्रकार महारथियोंके द्वारा व्यूहबद्ध होकर आपकी सेना महायुद्धके लिये खड़ी थी और भीष्म युद्धस्थलमें उसकी रक्षा करते थे ॥ १५½ ॥

दशाश्वानां सहस्राणि दन्तिनां च तथैव च ॥ १६ ॥
रथानामयुतं चापि पुत्राश्च तव दंशिताः ।
चित्रसेनादयः शूरा अभ्यरक्षन् पितामहम् ॥ १७ ॥

उसमें दस हजार घोड़े, उतने ही हाथी और दस हजार रथ तथा आपके चित्रसेन आदि शूरवीर पुत्र कवच धारण करके पितामह भीष्मकी रक्षा कर रहे थे॥ १६-१७ ॥

रक्ष्यमाणः स तैः शूरैर्गोप्यमानाश्च तेन ते ।
संनद्धाः समदृश्यन्त राजानश्च महाबलाः ॥ १८ ॥

उन वीरोंसे भीष्म सुरक्षित थे और भीष्मसे उन शूरवीरोंकी रक्षा हो रही थी। वहाँ बहुत-से महाबली नरेश कवच बाँधकर युद्धके लिये तैयार दिखायी देते थे ॥

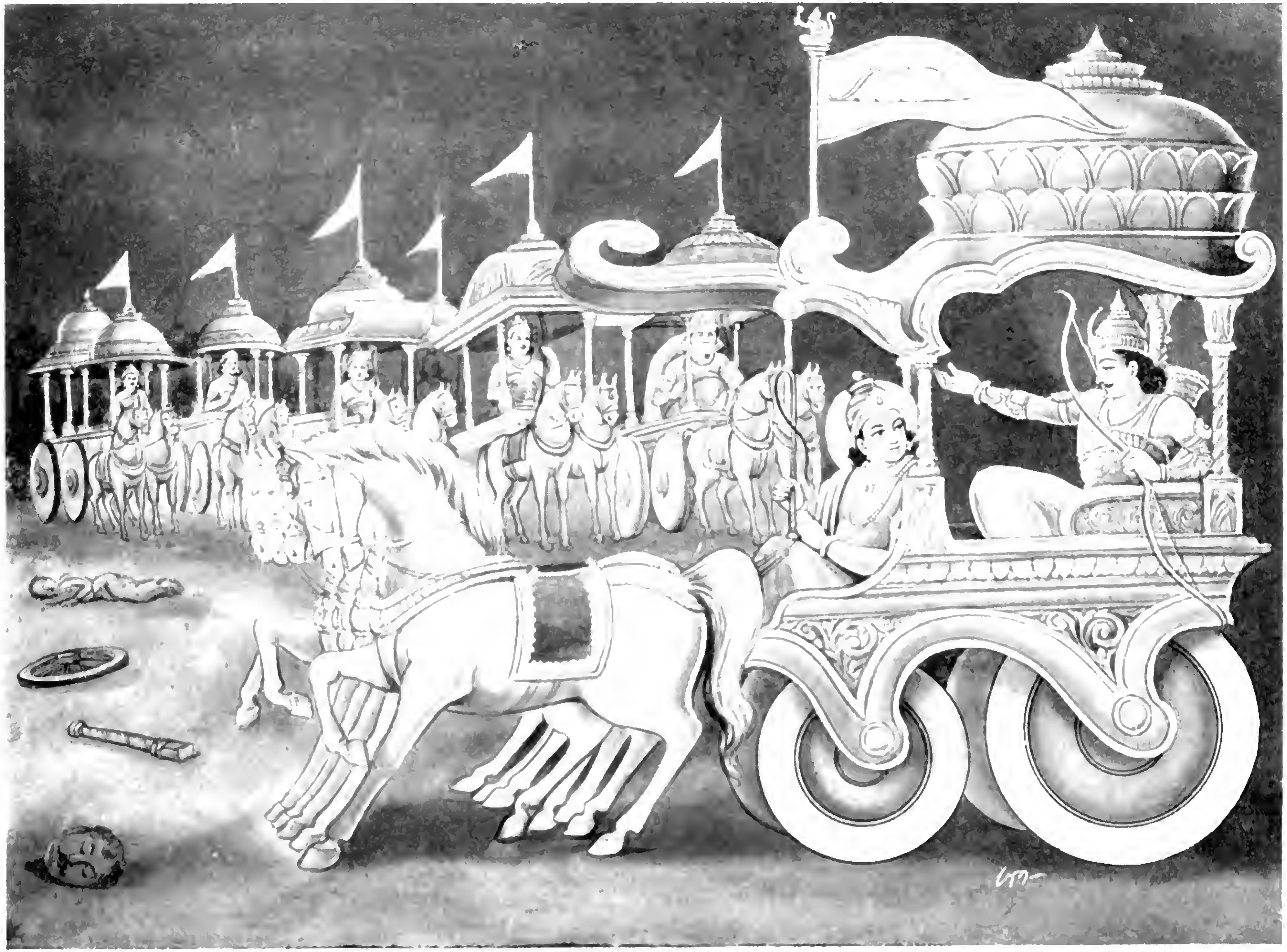
दुर्योधनस्तु समरे दंशितो रथमास्थितः ।
व्यराजत श्रिया जुष्टो यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ॥ १९ ॥

शोभासम्पन्न राजा दुर्योधन भी युद्धस्थलमें कवच बाँधकर रथपर आरूढ़ हो ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो देवराज इन्द्र स्वर्गमें अपनी दिव्य प्रभासे प्रकाशित हो रहे हों॥

ततः शब्दो महानासीत् पुत्राणां तव भारत ।
रथघोषश्च विपुलो वादित्राणां च निस्वनः ॥ २० ॥

भारत ! तदनन्तर आपके पुत्रोंका महान् सिंहनाद सुनायी देने लगा, साथ ही रथों और वाद्योंका गम्भीर घोष गूँज उठा ॥ २० ॥

भीष्मेण धार्तराष्ट्राणां व्यूढः प्रत्यङ्मुखो युधि ।
मण्डलः स महाव्यूहो दुर्भेद्योऽमित्रघातनः ॥ २१ ॥



अर्जुनका व्यूहबद्ध कौरव-सेनाकी ओर श्रीकृष्णका ध्यान आकृष्ट करना

भीष्मने युद्धस्थलमें कौरव सैनिकोंका पश्चिमाभिमुख व्यूह बनाया था। वह मण्डल नामक महाव्यूह दुर्भेद्य होनेके साथ ही शत्रुओंका संहार करनेवाला था ॥ २१ ॥

सर्वतः शुशुभे राजन् रणेऽरीणां दुरासदः ।
मण्डलं तु समालोक्य व्यूहं परमदुर्जयम् ॥ २२ ॥
स्वयं युधिष्ठिरो राजा वज्रं व्यूहमथाकरोत् ।

राजन्! उस रणभूमिमें सब ओर उस व्यूहकी बड़ी शोभा हो रही थी। वह शत्रुओंके लिये सर्वथा दुर्गम था। कौरवोंके परम दुर्जय मण्डलव्यूहको देखकर राजा युधिष्ठिरने स्वयं अपनी सेनाके लिये वज्रव्यूहका निर्माण किया ॥२२½॥

तथा व्यूढेष्वनीकेषु यथास्थानमवस्थिताः ॥ २३ ॥
रथिनः सादिनः सर्वे सिंहनादमथानदन् ।

इस प्रकार सेनाओंकी व्यूह-रचना हो जानेपर यथास्थान खड़े हुए रथी और घुड़सवार आदि सब सैनिक सिंहनाद करने लगे ॥ २३½ ॥

बिभित्सवस्ततो व्यूहं निर्ययुर्युद्धकाङ्क्षिणः ॥ २४ ॥
इतरेतरतः शूराः सहसैन्याः प्रहारिणः ।

तत्पश्चात् प्रहार करनेमें कुशल सभी शूरवीर एक दूसरेका व्यूह तोड़ने और परस्पर युद्ध करनेकी इच्छासे सेनासहित आगे बढ़े ॥ २४½ ॥

भारद्वाजो ययौ मत्स्यं द्रौणिश्चापि शिखण्डिनम् ॥२५॥
स्वयं दुर्योधनो राजा पार्षतं समुपाद्रवत् ।

द्रोणाचार्यने विराटपर और अश्वत्थामाने शिखण्डीपर धावा किया। स्वयं राजा दुर्योधनने द्रुपदपर चढ़ाई की ॥

नकुलः सहदेवश्च मद्रराजानमीयतुः ॥ २६ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्याविरावन्तमभिद्रुतौ ।

नकुल और सहदेवने अपने मामा मद्रराज शल्यपर धावा किया। अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने इरावान्पर आक्रमण किया ॥ २६½ ॥

सर्वे नृपास्तु समरे धनंजयमयोधयन् ॥ २७ ॥
भीमसेनो रणे यान्तं हार्दिक्यं समवारयत् ।

समस्त नरेशोंने संग्रामभूमिमें अर्जुनके साथ युद्ध किया। भीमसेनने युद्धमें विचरते हुए कृतवर्माको आगे बढ़नेसे रोका॥

चित्रसेनं विकर्णं च तथा दुर्मर्षणं विभुः ॥ २८ ॥
आर्जुनिः समरे राजंस्तव पुत्रानयोधयत् ।

राजन्! शक्तिशाली अर्जुनकुमार अभिमन्युने संग्रामभूमिमें आपके तीन पुत्र चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षणके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ २८½ ॥

प्राग्ज्योतिषो महेष्वासो हैडिम्बं राक्षसोत्तमम् ॥ २९ ॥
अभिदुद्राव वेगेन मत्तो मत्तमिव द्विपम् ।

महाधनुर्धर भगदत्तने राक्षसप्रवर घटोत्कचपर बड़े वेगसे आक्रमण किया, मानो एक मतवाला हाथी दूसरे मतवाले हाथीपर टूट पड़ा हो ॥ २९½ ॥

अलम्बुषस्तदा राजन् सात्यकिं युद्धदुर्मदम् ॥ ३० ॥
ससैन्यं समरे क्रुद्धो राक्षसः समुपाद्रवत् ।

राजन्! उस समय राक्षस अलम्बुषने युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले सेनासहित सात्यकिपर क्रोधपूर्वक धावा किया ॥३०½॥

भूरिश्रवा रणे यत्तो धृष्टकेतुमयोधयत् ॥ ३१ ॥
श्रुतायुषं च राजानं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।

भूरिश्रवाने रणभूमिमें प्रयत्नपूर्वक धृष्टकेतुके साथ युद्ध छेड़ दिया। धर्मपुत्र युधिष्ठिरने राजा श्रुतायुपर धावा किया॥

चेकितानश्च समरे कृपमेवान्वयोधयत् ॥ ३२ ॥
शेषाः प्रतिययुर्यत्ता भीष्ममेव महारथम् ।

चेकितानने समरमें कृपाचार्यके ही साथ युद्ध छेड़ दिया। शेष योद्धा प्रयत्नपूर्वक महारथी भीष्मका ही सामना करने लगे ॥ ३२½ ॥

ततो राजसमूहास्ते परिवव्रुर्धनंजयम् ॥ ३३ ॥
शक्तितोमरनाराचगदापरिघपाणयः ।

तदनन्तर उन राजसमूहोंने कुन्तीपुत्र धनंजयको सब ओरसे घेर लिया। उन सबके हाथोंमें शक्ति, तोमर, नाराच, गदा और परिघ आदि आयुध शोभा पा रहे थे ॥ ३३½ ॥

अर्जुनोऽथ भृशं क्रुद्धो वार्ष्णेयमिदमब्रवीत् ॥ ३४ ॥
पश्य माधव सैन्यानि धार्तराष्ट्रस्य संयुगे ।
व्यूढानि व्यूहविदुषा गाङ्गेयेन महात्मना ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने अत्यन्त क्रुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—'माधव! युद्धस्थलमें दुर्योधनकी इन सेनाओंको देखिये, व्यूहके विद्वान् महात्मा गङ्गानन्दनने इनका व्यूह रचा है ॥ ३४-३५ ॥

युद्धाभिकामाञ्शूरांश्च पश्य माधव दंशितान् ।
त्रिगर्तराजं सहितं भ्रातृभिः पश्य केशव ॥ ३६ ॥

'माधव! युद्धकी इच्छासे कवच बाँधकर आये हुए इन शूरवीरोंपर दृष्टिपात कीजिये। केशव! यह देखिये, यह भाइयोंसहित त्रिगर्तराज खड़ा है ॥ ३६ ॥

अद्यैतान् नाशयिष्यामि पश्यतस्ते जनार्दन ।
य इमे मां यदुश्रेष्ठ योद्धुकामा रणाजिरे ॥ ३७ ॥

'जनार्दन! यदुश्रेष्ठ! ये जो रणक्षेत्रमें मुझसे युद्ध करना चाहते हैं, मैं इन सबको आज आपके देखते-देखते नष्ट कर दूँगा' ॥ ३७ ॥

एतदुक्त्वा तु कौन्तेयो धनुर्ज्यामवमृज्य च ।
ववर्ष शरवर्षाणि नराधिपगणान् प्रति ॥ ३८ ॥

ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने अपने धनुषकी प्रत्यञ्चापर हाथ फेरा और विपक्षी नरेशोंपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३८ ॥

तेऽपि तं परमेष्वासाः शरवर्षैरपूरयन् ।
तडागं वारिधाराभिर्यथा प्रावृषि तोयदाः ॥ ३९ ॥

जैसे बादल वर्षा ऋतुमें जलकी धाराओंसे तालावको भरते हैं, उसी प्रकार वे महाधनुर्धर नरेश भी बाणोंकी वृष्टिसे अर्जुनको भरपूर करने लगे ॥ ३९ ॥

हाहाकारो महानासीत् तव सैन्ये विशाम्पते ।
छाद्यमानौ रणे कृष्णौ शरैर्दृष्ट्वा महारणे ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! उस महायुद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको बाणोंसे आच्छादित देख आपकी सेनामें बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा ॥ ४० ॥

देवा देवर्षयश्चैव गन्धर्वाश्च सहोरगैः ।
विस्मयं परमं जग्मुर्दृष्ट्वा कृष्णौ तथागतौ ॥ ४१ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुनको उस अवस्थामें देखकर देवताओं, देवर्षियों, गन्धर्वों और नागोंको महान् आश्चर्य हुआ॥४१॥

ततः क्रुद्धोऽर्जुनो राजन्नैन्द्रमस्त्रमुदैरयत् ।
तत्राद्भुतमपश्याम विजयस्य पराक्रमम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! तब अर्जुनने कुपित होकर इन्द्रास्त्रका प्रयोग किया। उस समय हमलोगोंने अर्जुनका अद्भुत पराक्रम देखा॥

शस्त्रवृष्टिं परैर्मुक्तां शरौघैर्यदवारयत् ।
न च तत्राप्यनिर्भिन्नः कश्चिदासीद् विशाम्पते ॥ ४३ ॥

उन्होंने अपने बाणसमूहद्वारा शत्रुओंकी की हुई बाण-वर्षाको रोक दिया। महाराज ! उस समय वहाँ कोई भी योद्धा ऐसा नहीं रह गया था, जो उनके बाणोंसे क्षत-विक्षत न हो गया हो ॥ ४३ ॥

तेषां राजसहस्राणां हयानां दन्तिनां तथा ।
द्वाभ्यां त्रिभिः शरैश्चान्यान् पार्थो विव्याध मारिष ।४४।

आर्य ! कुन्तीकुमार अर्जुनने उन सहस्रों राजाओंके घोड़ों तथा हाथियोंमेंसे किन्हींको दो-दो और किन्हींको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ४४ ॥

ते हन्यमानाः पार्थेन भीष्मं शान्तनवं ययुः ।
अगाधे मज्जमानानां भीष्मः पोतोऽभवत् तदा ॥ ४५ ॥

अर्जुनकी मार खाकर वे सब-के-सब शान्तनुनन्दन भीष्मकी शरणमें गये। उस समय अगाध विपत्ति-समुद्रमें डूबते हुए सैनिकोंके लिये भीष्म जहाज बन गये ॥४५॥

आपतद्भिस्तु तैस्तत्र प्रभग्नं तावकं बलम् ।
संचुक्षुभे महाराज वातैरिव महार्णवः ॥ ४६ ॥

महाराज ! पाण्डवोंके आक्रमण करनेपर आपकी सेनाका व्यूह भङ्ग हो गया। वह सेना प्रचण्ड वायुके वेगसे समुद्रकी भाँति विक्षुब्ध हो उठी ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनका युद्धविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८१॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुनसे डरकर कौरवसेनामें भगदड़, द्रोणाचार्य और विराटका युद्ध, विराट-पुत्र शङ्खका वध, शिखण्डी और अश्वत्थामाका युद्ध, सात्यकिके द्वारा अलम्बुषकी पराजय, धृष्टद्युम्नके द्वारा दुर्योधनकी हार तथा भीमसेन और कृतवर्माका युद्ध

संजय उवाच

तथा प्रवृत्ते संग्रामे निवृत्ते च सुशर्मणि ।
भग्नेषु चापि वीरेषु पाण्डवेन महात्मना ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार संग्राम आरम्भ होनेपर महामना पाण्डुनन्दन अर्जुनसे पराजित हो सुशर्मा युद्धभूमिसे दूर हो गया और अन्यान्य वीर भी भाग खड़े हुए॥

क्षुभ्यमाणे बले तूर्णं सागरप्रतिमे तव ।
प्रत्युद्याते च गाङ्गेये त्वरितं विजयं प्रति ॥ २ ॥

आपकी समुद्र-जैसी विशाल वाहिनीमें तुरंत ही हलचल मच गयी। उस समय गङ्गानन्दन भीष्मने शीघ्रतापूर्वक अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ २ ॥

दृष्ट्वा दुर्योधनो राजा रणे पार्थस्य विक्रमम् ।
त्वरमाणः समभ्येत्य सर्वांस्तानब्रवीन्नृपान् ॥ ३ ॥

राजा दुर्योधनने रणभूमिमें अर्जुनका पराक्रम देखकर बड़ी उतावलीके साथ निकट जा उन समस्त नरेशोंसे कहा॥

तेषां तु प्रमुखे शूरं सुशर्माणं महाबलम् ।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य भृशं संहर्षयन्निव ॥ ४ ॥

उन नरेशोंके सम्मुख सारी सेनाके बीचमें शूरवीर महाबली सुशर्माको अत्यन्त हर्ष प्रदान करता हुआ-सा दुर्योधन यों बोला—॥ ४ ॥

एष भीष्मः शान्तनवो योद्धुकामो धनंजयम् ।
सर्वात्मना कुरुश्रेष्ठस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ॥ ५ ॥

'वीरो ! ये शान्तनुनन्दन कुरुश्रेष्ठ भीष्म अपना जीवन निछावर करके सम्पूर्ण हृदयसे अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

तं प्रयान्तं रणे वीरं सर्वसैन्येन भारतम् ।
संयत्ताः समरे सर्वे पालयध्वं पितामहम् ॥ ६ ॥

'सारी सेनाके साथ युद्धके लिये यात्रा करते हुए मेरे वीर पितामह भरतनन्दन भीष्मकी आप सब लोग प्रयत्नपूर्वक रक्षा करें' ॥ ६ ॥

बाढमित्येवमुक्त्वा तु तान्यनीकानि सर्वशः ।
नरेन्द्राणां महाराज समाजग्मुः पितामहम् ॥ ७ ॥

महाराज ! 'बहुत अच्छा' कहकर राजाओंकी वे सम्पूर्ण सेनाएँ पितामह भीष्मके पास गयीं ॥ ७ ॥

ततः प्रयातः सहसा भीष्मः शान्तनवोऽर्जुनम् ।
रणे भारतमायान्तमाससाद महाबलः ॥ ८ ॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धभूमिमें सहसा अर्जुनके सामने गये । भरतवंशी भीष्मको आते देख महाबली अर्जुन उनके पास जा पहुँचे ॥ ८ ॥

महाश्वेताश्वयुक्तेन भीमवानरकेतुना ।
महता मेघनादेन रथेनातिविराजता ॥ ९ ॥

वे जिस रथपर आरूढ़ होकर आये थे, वह अत्यन्त शोभायमान था । उसमें श्वेत वर्णके विशाल घोड़े जुते हुए थे । उसपर भयंकर वानरसे उपलक्षित ध्वजा फहरा रही थी और उसके पहियोंसे मेघके समान गम्भीर शब्द हो रहा था ॥

समरे सर्वसैन्यानामुपयान्तं धनंजयम् ।
अभवत् तुमुलो नादो भयाद् दृष्ट्वा किरीटिनम् ॥ १० ॥

किरीटधारी अर्जुनको युद्धमें समीप आते देख भयके मारे समस्त सैनिकोंके मुँहसे भयानक हाहाकार प्रकट होने लगा ॥ १० ॥

अभीषुहस्तं कृष्णं च दृष्ट्वाऽऽदित्यमिवापरम् ।
मध्यंदिनगतं संख्ये न शेकुः प्रतिवीक्षितुम् ॥ ११ ॥

हाथमें बागडोर लिये मध्याह्नकालके दूसरे सूर्यके समान तेजस्वी श्रीकृष्णको युद्धभूमिमें उपस्थित देख कोई भी योद्धा उन्हें भर आँख देख भी न सके ॥ ११ ॥

तथा शान्तनवं भीष्मं श्वेताश्वं श्वेतकार्मुकम् ।
न शेकुः पाण्डवा द्रष्टुं श्वेतं ग्रहमिवोदितम् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार श्वेत घोड़े तथा श्वेत धनुषवाले शान्तनुनन्दन भीष्मको श्वेत ग्रहके समान उदित देख पाण्डवसैनिक उनसे आँख न मिला सके ॥ १२ ॥

स सर्वतः परिवृतस्त्रिगर्तैः सुमहात्मभिः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च तथान्यैश्च महारथैः ॥ १३ ॥

महामना त्रिगर्तोंने अपने भाइयों, पुत्रों तथा अन्य महारथियोंके साथ उपस्थित होकर भीष्मको सब ओरसे घेर रक्खा था ॥ १३ ॥

भारद्वाजस्तु समरे मत्स्यं विव्याध पत्रिणा ।
ध्वजं चास्य शरेणाजौ धनुश्चैकेन चिच्छिदे ॥ १४ ॥

दूसरी ओर द्रोणाचार्यने मत्स्यराज विराटको युद्धमें एक बाणसे बींध डाला तथा एक बाणसे उनका ध्वज और एकसे धनुष काट डाला ॥ १४ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं विराटो वाहिनीपतिः ।
अन्यदादत्त वेगेन धनुर्भारसहं दृढम् ॥ १५ ॥

सेनापति विराटने वह कटा हुआ धनुष फेंककर वेगपूर्वक दूसरे सुदृढ़ धनुषको हाथमें लिया, जो भार सहन करनेमें समर्थ था ॥ १५ ॥

शरांश्चाशीविषाकाराञ्ज्वलितान् पन्नगानिव ।
द्रोणं त्रिभिश्च विव्याध चतुर्भिश्चास्य वाजिनः ॥ १६ ॥

उन्होंने उसके द्वारा प्रज्वलित सर्पोंकी भाँति विषैले नागोंकी-सी आकृतिवाले बाण छोड़कर तीनसे द्रोणाचार्यको और चार बाणोंसे उनके घोड़ोंको बींध डाला ॥ १६ ॥

ध्वजमेकेन विव्याध सारथिं चास्य पञ्चभिः ।
धनुरेकेषुणाविध्यत् तत्राक्रुध्यद् द्विजर्षभः ॥ १७ ॥

फिर एक बाणसे ध्वजको, पाँच बाणोंसे सारथिको और एकसे धनुषको बींध डाला । इससे द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्यको बड़ा क्रोध हुआ ॥ १७ ॥

तस्य द्रोणोऽवधीदश्वाञ्शरैः संनतपर्वभिः ।
अष्टाभिर्भरतश्रेष्ठ सूतमेकेन पत्रिणा ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! फिर द्रोणने झुकी हुई गाँठवाले आठ बाणोंद्वारा विराटके घोड़ोंको और एक बाणसे सारथिको मार डाला ॥

स हताश्वादवप्लुत्य स्यन्दनाद्धतसारथिः ।
आरुरोह रथं तूर्णं पुत्रस्य रथिनां वरः ॥ १९ ॥

सारथि और घोड़ोंके मारे जानेपर रथियोंमें श्रेष्ठ विराट अपने रथसे तुरंत कूद पड़े और पुत्रके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ १९ ॥

ततस्तु तौ पितापुत्रौ भारद्वाजं रथे स्थितौ ।
महता शरवर्षेण वारयामासतुर्बलात् ॥ २० ॥

अब उन दोनों पिता-पुत्रोंने एक ही रथपर बैठकर महान् बाणवर्षाके द्वारा द्रोणाचार्यको बलपूर्वक आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २० ॥

भारद्वाजस्ततः क्रुद्धः शरमाशीविषोपमम्।
चिक्षेप समरे तूर्णं शङ्खं प्रति जनेश्वर ॥ २१ ॥

जनेश्वर ! तब द्रोणाचार्यने कुपित होकर युद्धभूमिमें विषधर सर्पके समान एक भयंकर बाण शङ्खपर शीघ्रतापूर्वक चलाया ॥

स तस्य हृदयं भित्त्वा पीत्वा शोणितमाहवे।
जगाम धरणीं बाणो लोहितार्द्रवरच्छदः ॥ २२ ॥

वह बाण शङ्खकी छाती छेदकर रणभूमिमें उसका रक्त पीकर धरतीमें समा गया। उसके श्रेष्ठ पंख लोहूमें भीगकर लाल हो रहे थे ॥ २२ ॥

स पपात रणे तूर्णं भारद्वाजशराहतः।
धनुस्त्यक्त्वा शरांश्चैव पितुरेव समीपतः ॥ २३ ॥

द्रोणाचार्यके बाणोंसे घायल होकर शङ्ख पिताके पास ही धनुष-बाण छोड़कर तुरंत ही रणभूमिमें गिर पड़ा ॥ २३ ॥

हतं तमात्मजं दृष्ट्वा विराटः प्राद्रवद् भयात्।
उत्सृज्य समरे द्रोणं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ २४ ॥

अपने पुत्रको मारा गया देख मुँह बाये हुए कालके समान भयंकर द्रोणाचार्यको समरभूमिमें छोड़कर विराट भयके मारे भाग गये ॥ २४ ॥

भारद्वाजस्ततस्तूर्णं पाण्डवानां महाचमूम्।
दारयामास समरे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २५ ॥

तब द्रोणाचार्यने संग्रामभूमिमें तुरंत ही पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीको विदीर्ण करना आरम्भ किया। सैकड़ों-हजारों योद्धा धराशायी हो गये॥ २५ ॥

शिखण्डी तु महाराज द्रौणिमासाद्य संयुगे।
आजघान भ्रुवोर्मध्ये नाराचैस्त्रिभिराशुगैः ॥ २६ ॥

महाराज ! दूसरी ओर शिखण्डीने युद्धभूमिमें अश्वत्थामाके पास पहुँचकर तीन शीघ्रगामी नाराचोंद्वारा उसके भौंहोंके मध्यभागमें आघात किया ॥ २६ ॥

स बभौ रथशार्दूलो ललाटे संस्थितैस्त्रिभिः।
शिखरैः काञ्चनमयैर्मेरुस्त्रिभिरिवोच्छ्रितैः ॥ २७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा ललाटमें लगे हुए उन तीनों बाणोंके द्वारा तीन ऊँचे सुवर्णमय शिखरोंसे युक्त मेरु पर्वतके समान शोभा पाने लगा ॥ २७ ॥

अश्वत्थामा ततः क्रुद्धो निमेषार्धाच्छिखण्डिनः।
ध्वजं सूतमथो राजंस्तुरगानायुधानि च ॥ २८ ॥
शरैर्बहुभिराच्छिद्य पातयामास संयुगे।

राजन् ! तदनन्तर क्रोधमें भरे अश्वत्थामाने आधे निमेषमें बहुत-से बाणोंद्वारा शिखण्डीके ध्वज, सारथि, घोड़ों और आयुधोंको रणभूमिमें काट गिराया ॥ २८½ ॥

स हताश्वादवप्लुत्य रथाद् वै रथिनां वरः ॥ २९ ॥
खड्गमादाय सुशितं विमलं च शरावरम्।
श्येनवद् व्यचरत् क्रुद्धः शिखण्डी शत्रुतापनः ॥ ३० ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ शत्रुसंतापी शिखण्डी घोड़ोंके मारे जानेपर उस रथसे कूद पड़ा और बहुत तीखी एवं चमकीली तलवार और ढाल हाथमें लेकर कुपित हुए श्येन पक्षीकी भाँति सब ओर विचरने लगा ॥ २९-३० ॥

सखड्गस्य महाराज चरतस्तस्य संयुगे।
नान्तरं ददृशे द्रौणिस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३१ ॥

महाराज ! तलवार लेकर युद्धमें विचरते हुए शिखण्डीका थोड़ा-सा भी छिद्र अश्वत्थामाको नहीं दिखायी दिया। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ३१ ॥

ततः शरसहस्राणि बहूनि भरतर्षभ।
प्रेषयामास समरे द्रौणिः परमकोपनः ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब परम क्रोधी अश्वत्थामाने समरभूमिमें शिखण्डीपर कई हजार बाणोंकी वर्षा की ॥ ३२ ॥

तामापतन्तीं समरे शरवृष्टिं सुदारुणाम्।
असिना तीक्ष्णधारेण चिच्छेद बलिनां वरः ॥ ३३ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ शिखण्डीने समरभूमिमें होनेवाली उस अत्यन्त भयंकर बाण-वर्षाको तीखी धारवाली तलवारसे काट डाला ॥ ३३ ॥

ततोऽस्य विमलं द्रौणिः शतचन्द्रं मनोरमम्।
चर्माच्छिनदसिं चास्य खण्डयामास संयुगे ॥ ३४ ॥

तब अश्वत्थामाने सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे सुशोभित शिखण्डीकी परम सुन्दर ढाल और चमकीली तलवारको युद्धस्थलमें टूक-टूक कर दिया ॥ ३४ ॥

शितैस्तु बहुशो राजंस्तं च विव्याध पत्त्रिभिः।
शिखण्डी तु ततः खड्गं खण्डितं तेन सायकैः॥ ३५ ॥
आविध्य व्यसृजत् तूर्णं ज्वलन्तमिव पन्नगम्।
तमापतन्तं सहसा कालानलसमप्रभम् ॥ ३६ ॥
चिच्छेद समरे द्रौणिर्दर्शयन् पाणिलाघवम्।
शिखण्डिनं च विव्याध शरैर्बहुभिरायसैः ॥ ३७ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् पंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा शिखण्डीको भी बहुत घायल कर दिया। अश्वत्थामाद्वारा सायकोंकी मारसे खण्डित किये हुए उस खड्गको शिखण्डीने घुमाकर तुरंत ही उसके ऊपर चला दिया। वह खड्ग प्रज्वलित सर्प-सा प्रकाशित हो उठा। अपने ऊपर आते हुए प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी उस खड्गको अश्वत्थामाने युद्धमें अपना हस्त-लाघव दिखाते हुए सहसा काट डाला। तत्पश्चात्

बहुत-से लोहमय बाणोंद्वारा उसने शिखण्डीको भी घायल कर दिया ॥ ३५—३७ ॥

शिखण्डी तु भृशं राजंस्ताड्यमानः शितैः शरैः।
आरुरोह रथं तूर्णं माधवस्य महात्मनः ॥ ३८ ॥

राजन्! अश्वत्थामाके तीखे बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर शिखण्डी तुरंत ही महामना सात्यकिके रथपर चढ़ गया ॥

सात्यकिश्चापि संक्रुद्धो राक्षसं क्रूरमाहवे।
अलम्बुषं शरैस्तीक्ष्णैर्विव्याध बलिनां वरः ॥ ३९ ॥

इधर बलवानोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने भी अत्यन्त कुपित होकर अपने तीखे बाणोंद्वारा संग्रामभूमिमें क्रूर राक्षस अलम्बुषको बींध डाला ॥ ३९ ॥

राक्षसेन्द्रस्ततस्तस्य धनुश्चिच्छेद भारत।
अर्धचन्द्रेण समरे तं च विव्याध सायकैः ॥ ४० ॥

भारत! तब राक्षसराज अलम्बुषने रणक्षेत्रमें अर्धचन्द्राकार बाणके द्वारा सात्यकिके धनुषको काट दिया और अनेक सायकोंका प्रहार करके उन्हें भी घायल कर दिया ॥ ४० ॥

मायां च राक्षसीं कृत्वा शरवर्षैरवाकिरत्।
तत्राद्भुतमपश्याम शैनेयस्य पराक्रमम् ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् उसने राक्षसी माया फैलाकर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की। उस समय हमने सात्यकिका अद्भुत पराक्रम देखा ॥ ४१ ॥

असम्भ्रमस्तु समरे वध्यमानः शितैः शरैः।
ऐन्द्रमस्त्रं च वार्ष्णेयो योजयामास भारत ॥ ४२ ॥
विजयाद् यदनुप्राप्तं माधवेन यशस्विना।

भारत! वे समरभूमिमें तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी घबराये नहीं। उन यशस्वी यदुकुलरत्न सात्यकिने अर्जुनसे जिसकी शिक्षा प्राप्त की थी, उस ऐन्द्रास्त्रका प्रयोग किया ॥ ४२½ ॥

तदस्त्रं भस्मसात् कृत्वा मायां तां राक्षसीं तदा ॥ ४३ ॥
अलम्बुषं शरैरन्यैरभ्याकिरत सर्वतः।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ॥ ४४ ॥

उस समय उस दिव्यास्त्रने उस राक्षसी मायाको तत्काल भस्म करके अलम्बुषके ऊपर सब ओरसे दूसरे-दूसरे बाणोंकी उसी प्रकार वर्षा आरम्भ की, जैसे वर्षाऋतुमें मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराता है ॥ ४३-४४ ॥

तत् तथा पीडितं तेन माधवेन यशस्विना।
प्रदुद्राव भयाद् रक्षस्त्यक्त्वा सात्यकिमाहवे॥४५॥

परमयशस्वी मधुवंशी सात्यकिके द्वारा इस प्रकार पीड़ित होनेपर वह राक्षस भयसे युद्धस्थलमें उन्हें छोड़कर भाग गया॥

तमजेयं राक्षसेन्द्रं संख्ये मघवता अपि।
शैनेयः प्राणदज्जित्वा योधानां तव पश्यताम् ॥ ४६ ॥

जिसे इन्द्र भी युद्धमें हरा नहीं सकते थे, उसी राक्षसराज अलम्बुषको आपके योद्धाओंके देखते-देखते परास्त करके सात्यकि सिंहनाद करने लगे ॥ ४६ ॥

न्यहनत् तावकांश्चापि सात्यकिः सत्यविक्रमः।
निशितैर्बहुभिर्बाणैस्तेऽद्रवन्त भयार्दिताः ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी सात्यकिने अपने बहुसंख्यक तीखे बाणोंद्वारा आपके अन्य योद्धाओंको भी मारना आरम्भ किया। उस समय उनके भयसे पीड़ित हो वे सब योद्धा भागने लगे ॥ ४७ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुपदस्यात्मजो बली।
धृष्टद्युम्नो महाराज पुत्रं तव जनेश्वरम् ॥ ४८ ॥
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः।

महाराज! इसी समय द्रुपदके बलवान् पुत्र धृष्टद्युम्नने आपके पुत्र राजा दुर्योधनको रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ४८½ ॥

स च्छाद्यमानो विशिखैर्धृष्टद्युम्नेन भारत ॥ ४९ ॥
विव्यथे न च राजेन्द्र तव पुत्रो जनेश्वर।
धृष्टद्युम्नं च समरे तूर्णं विव्याध पत्रिभिः ॥ ५० ॥
षष्ट्या च त्रिंशता चैव तदद्भुतमिवाभवत्।

भरतनन्दन! राजेन्द्र! जनेश्वर! धृष्टद्युम्नके बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी आपके पुत्र दुर्योधनके मनमें व्यथा नहीं हुई। उसने युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नको तुरंत ही नब्बे बाणोंसे घायल कर दिया। यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ४९-५०½ ॥

तस्य सेनापतिः क्रुद्धो धनुश्चिच्छेद मारिष ॥ ५१ ॥
हयांश्च चतुरः शीघ्रं निजघान महाबलः।
शरैश्चैनं सुनिशितैः क्षिप्रं विव्याध सप्तभिः ॥ ५२ ॥

आर्य! तब महाबली पाण्डव-सेनापतिने भी कुपित होकर दुर्योधनके धनुषको काट दिया और शीघ्रतापूर्वक उसके चारों घोड़ोंको भी मार डाला। तत्पश्चात् अत्यन्त तीखे सात बाणोंद्वारा तुरंत ही दुर्योधनको घायल कर दिया ॥ ५१-५२ ॥

स हताश्वान्महाबाहुरवप्लुत्य रथाद् बली।
पदातिरसिमुद्यम्य प्राद्रवत् पार्षतं प्रति ॥ ५३ ॥

घोड़े मारे जानेपर बलवान् महाबाहु दुर्योधन अपने रथसे कूद पड़ा और तलवार उठाकर धृष्टद्युम्नकी ओर पैदल ही दौड़ा ॥ ५३ ॥

शकुनिस्तं समभ्येत्य राजगृद्धी महाबलः।
राजानं सर्वलोकस्य रथमारोपयत् स्वकम् ॥ ५४ ॥

उस समय महाबली शकुनिने, जो राजाको बहुत चाहता था, निकट आकर सम्पूर्ण जगत्के अधिपति दुर्योधनको अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ५४ ॥

ततो नृपं पराजित्य पार्षतः परवीरहा।
न्यहनत् तावकं सैन्यं वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ५५ ॥

तब शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले धृष्टद्युम्नने राजा दुर्योधनको पराजित करके आपकी सेनाका उसी प्रकार विनाश आरम्भ किया, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंका विनाश करते हैं ॥५५॥

कृतवर्मा रणे भीमं शरैराच्छेन्महारथः।
प्रच्छादयामास च तं महामेघो रविं यथा ॥ ५६ ॥

महारथी कृतवर्माने रणमें भीमसेनको अपने बाणोंसे बहुत पीड़ित किया और महामेघ जैसे सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उसने भीमसेनको आच्छादित कर दिया ॥५६॥

ततः प्रहस्य समरे भीमसेनः परंतपः।
प्रेषयामास संक्रुद्धः सायकान् कृतवर्मणे ॥ ५७ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेनने युद्धमें हँसकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक कृतवर्मापर अनेकों सायकोंका प्रहार किया ॥ ५७ ॥

तैरर्द्यमानोऽतिरथः सात्वतः सत्यकोविदः।
नाकम्पत महाराज भीमं चाच्छेच्छितैः शरैः ॥ ५८ ॥

महाराज ! उन सायकोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी अतिरथी एवं सत्यकोविद सात्वतवंशी कृतवर्मा विचलित नहीं हुआ। उसने भीमसेनको पुनः तीखे बाणोंसे पीड़ित किया ॥ ५८ ॥

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा भीमसेनो महारथः।
सारथिं पातयामास सध्वजं सुपरिष्कृतम् ॥ ५९ ॥

फिर महारथी भीमसेनने उनके चारों घोड़ोंको मारकर ध्वजसहित सुसज्जित सारथिको भी काट गिराया ॥ ५९ ॥

शरैर्बहुविधैश्चैनमाचिनोत् परवीरहा।
शकलीकृतसर्वाङ्गो हताश्वः प्रत्यदृश्यत ॥ ६० ॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले भीमसेनने अनेक प्रकारके बाणोंसे कृतवर्माके सारे शरीरको क्षत-विक्षत कर दिया। उसके घोड़े मारे जा चुके थे। उस समय भीमसेनके बाणोंसे उसका सारा शरीर छिन्न-भिन्न-सा दिखायी देता था ॥

हताश्वश्च ततस्तूर्णं वृषकस्य रथं ययौ।
श्यालस्य ते महाराज तव पुत्रस्य पश्यतः ॥ ६१ ॥

महाराज ! तब घोड़ोंके मारे जानेपर कृतवर्मा आपके पुत्रके देखते-देखते तुरंत ही आपके शाले वृषकके रथपर सवार हो गया ॥ ६१ ॥

भीमसेनोऽपि संक्रुद्धस्तव सैन्यमुपाद्रवत्।
निजघान च संक्रुद्धो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ६२ ॥

इधर भीमसेन भी अत्यन्त कुपित होकर आपकी सेनापर टूट पड़े और दण्डपाणि यमराजकी भाँति उसका संहार करने लगे ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वैरथे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वैरथयुद्धविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

इरावान्‌के द्वारा विन्द और अनुविन्दकी पराजय, भगदत्तसे घटोत्कचका हारना तथा मद्रराजपर नकुल और सहदेवकी विजय

धृतराष्ट्र उवाच

बहूनि हि विचित्राणि द्वैरथानि स्म संजय।
पाण्डूनां मामकैः सार्धमश्रौषं तव जल्पतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मैंने तुम्हारे मुखसे अबतक पाण्डवोंके मेरे पुत्रोंके साथ जो बहुत-से विचित्र द्वैरथ युद्ध हुए हैं, उनका वर्णन सुना ॥ १ ॥

न चैव मामकं किंचिद्धृष्टं शंससि संजय।
नित्यं पाण्डुसुतान् हृष्टानभग्नान् सम्प्रशंससि ॥ २ ॥

परंतु सूत ! तुमने अभीतक मेरे पक्षमें घटित हुई कोई हर्षकी बात नहीं कही है; उल्टे पाण्डवोंको प्रतिदिन हर्षसे पूर्ण और अभग्न (अपराजित) बताते हो ॥ २ ॥

जीयमानान् विमनसो मामकान् विगतौजसः।
वदसे संयुगे सूत दिष्टमेतन्न संशयः ॥ ३ ॥

मेरे पुत्रोंको तेज और बलसे हीन, खिन्नचित्त और युद्धमें पराजित बताते हो। संजय ! यह सब प्रारब्धका ही खेल है, इसमें संशय नहीं है ॥ ३ ॥

संजय उवाच

यथाशक्ति यथोत्साहं युद्धे चेष्टन्ति तावकाः।
दर्शयानाः परं शक्त्या पौरुषं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

संजय बोले—पुरुषश्रेष्ठ ! आपके पुत्र भी पूरी

शक्तिसे पुरुषार्थ दिखाते हुए अपने बल और उत्साहके अनुसार युद्धमें सफलता प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं ॥४॥

गङ्गायाः सुरनद्या वै स्वादु भूत्वा यथोदकम् ।
महोदधेर्गुणाभ्यासाल्लवणत्वं निगच्छति ॥ ५ ॥
तथा तत् पौरुषं राजंस्तावकानां परंतप ।
प्राप्य पाण्डुसुतान् वीरान् व्यर्थं भवति संयुगे ॥ ६ ॥

परंतप! नरेश! जैसे देवनदी गङ्गाजीका जल स्वादिष्ट होकर भी महासागरके संयोगसे उसीके गुणका सम्मिश्रण हो जानेके कारण खारा हो जाता है, उसी प्रकार आपके पुत्रोंका पुरुषार्थ युद्धमें वीर पाण्डवोंतक पहुँचकर व्यर्थ हो जाता है ॥ ५-६ ॥

घटमानान् यथाशक्ति कुर्वाणान् कर्म दुष्करम् ।
न दोषेण कुरुश्रेष्ठ कौरवान् गन्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! कौरव यथाशक्ति प्रयत्न करते और दुष्कर कर्म कर दिखाते हैं । अतः उनके ऊपर आपको दोषारोपण नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

तवापराधात् सुमहान् सपुत्रस्य विशाम्पते ।
पृथिव्याः प्रक्षयो घोरो यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! पुत्रसहित आपके अपराधसे ही यह भूमण्डलका घोर एवं महान् संहार हो रहा है, जो यमलोककी वृद्धि करनेवाला है ॥ ८॥

आत्मदोषात् समुत्पन्नं शोचितुं नार्हसे नृप ।
न हि रक्षन्ति राजानः सर्वथात्रापि जीवितम् ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! अपने ही अपराधसे जो संकट प्राप्त हुआ है, उसके लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये । (आपके अपराधके कारण) राजालोग भी इस भूतलमें सर्वथा अपने जीवनकी रक्षा नहीं कर पाते हैं ॥ ९ ॥

युद्धे सुकृतिनां लोकानिच्छन्तो वसुधाधिपाः ।
चमूं विगाह्य युध्यन्ते नित्यं स्वर्गपरायणाः ॥ १० ॥

वसुधाके नरेश युद्धमें पुण्यात्माओंके लोकोंकी इच्छा करते हुए शत्रुकी सेनामें घुसकर युद्ध करते हैं और सदा स्वर्गको ही परम लक्ष्य मानते हैं ॥ १० ॥

पूर्वाह्णे तु महाराज प्रावर्तत जनक्षयः ।
तं त्वमेकमना भूत्वा शृणु देवासुरोपमम् ॥ ११ ॥

महाराज ! उस दिन पूर्वाह्णकालमें बड़ा भारी जनसंहार हुआ था । आप एकचित्त होकर देवासुर-संग्रामके समान उस भयंकर युद्धका वृत्तान्त सुनिये ॥ ११ ॥

आवन्त्यौ तु महेष्वासौ महासेनौ महाबलौ ।
इरावन्तमभिप्रेक्ष्य समेयातां रणोत्कटौ ॥ १२ ॥

अवन्तीके महाबली महाधनुर्धर और विशाल सेनासे युक्त राजकुमार विन्द और अनुविन्द, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं, अर्जुनपुत्र इरावान्‌को सामने देखकर उसीसे भिड़ गये ॥ १२ ॥

तेषां प्रववृते युद्धं सुमहल्लोमहर्षणम् ।
इरावांस्तु सुसंक्रुद्धो भ्रातरौ देवरूपिणौ ॥ १३ ॥
विव्याध निशितैस्तूर्णं शरैः संनतपर्वभिः ।
तावेनं प्रत्यविध्येतां समरे चित्रयोधिनौ ॥ १४ ॥

उन तीनों वीरोंका युद्ध अत्यन्त रोमाञ्चकारी हुआ । इरावान्‌ने कुपित होकर देवताओंके समान रूपवान् दोनों भाई विन्द और अनुविन्दको झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंसे तुरंत घायल कर दिया । वे भी समराङ्गणमें विचित्र युद्ध करनेवाले थे । अतः उन्होंने भी इरावान्‌को बींध डाला ॥ १३–१४ ॥

युध्यतां हि तथा राजन् विशेषो न व्यदृश्यत ।
यततां शत्रुनाशाय कृतप्रतिकृतैषिणाम् ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! दोनों ही पक्षवाले अपने शत्रुका नाश करनेके लिये प्रयत्नशील थे । दोनों ही एक दूसरेके अस्त्रोंका निवारण करनेकी इच्छा रखते थे । अतः युद्ध करते समय उनमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ १५ ॥

इरावांस्तु ततो राजन्ननुविन्दस्य सायकैः ।
चतुर्भिश्चतुरो वाहाननयद् यमसादनम् ॥ १६ ॥

राजन् ! उस समय इरावान्‌ने अपने चार बाणोंद्वारा अनुविन्दके चारों घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया ॥ १६ ॥

भल्लाभ्यां च सुतीक्ष्णाभ्यां धनुः केतुं च मारिष ।
चिच्छेद समरे राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १७ ॥

आर्य ! राजन् ! तदनन्तर दो तीखे भल्लोंद्वारा उन्होंने युद्धस्थलमें उसके धनुष और ध्वज काट डाले । यह अद्भुत-सी बात हुई ॥ १७ ॥

त्यक्त्वानुविन्दोऽथ रथं विन्दस्य रथमास्थितः ।
धनुर्गृहीत्वा परमं भारसाधनमुत्तमम् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् अनुविन्द अपना रथ त्यागकर विन्दके रथपर जा बैठा और भार वहन करनेमें समर्थ दूसरा परम उत्तम धनुष लेकर युद्धके लिये डट गया ॥ १८ ॥

तावेकस्थौ रणे वीरावावन्त्यौ रथिनां वरौ ।
शरान् मुमुचतुस्तूर्णमिरावति महात्मनि ॥ १९ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ वे दोनों आवन्त्य वीर रणभूमिमें एक ही रथपर बैठकर बड़ी शीघ्रताके साथ महामना इरावान्‌पर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १९ ॥

ताभ्यां मुक्ता महावेगाः शराः काञ्चनभूषणाः ।
दिवाकरपथं प्राप्य च्छादयामासुरम्बरम् ॥ २० ॥

उन दोनोंके छोड़े हुए महान् वेगशाली सुवर्णभूषित बाणोंने सूर्यके पथपर पहुँचकर आकाशको आच्छादित कर दिया ॥ २० ॥

इरावांस्तु रणे क्रुद्धो भ्रातरौ तौ महारथौ।
ववर्ष शरवर्षेण सारथिं चाप्यपातयत् ॥ २१ ॥

तब इरावान्ने भी रणक्षेत्रमें क्रुद्ध होकर उन दोनों महारथी बन्धुओंपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ करदी और उनके सारथिको मार गिराया ॥ २१ ॥

तस्मिंस्तु पतिते भूमौ गतसत्त्वे तु सारथौ।
रथः प्रदुद्राव दिशः समुद्भ्रान्तहयस्ततः ॥ २२ ॥

सारथिके प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर जानेके पश्चात् उस रथके घोड़े घबराकर भागने लगे और इस प्रकार वह रथ सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ने लगा ॥ २२ ॥

तौ स जित्वा महाराज नागराजसुतासुतः।
पौरुषं ख्यापयंस्तूर्णं व्यधमत् तव वाहिनीम् ॥ २३ ॥

महाराज ! इरावान् नागराज-कन्या उलूपीका पुत्र था। उसने विन्द और अनुविन्दको जीतकर अपने पुरुषार्थका परिचय देते हुए तुरंत ही आपकी सेनाका संहार आरम्भ कर दिया ॥ २३ ॥

सा वध्यमाना समरे धार्तराष्ट्री महाचमूः।
वेगान् बहुविधांश्चक्रे विषं पीत्वेव मानवः ॥ २४ ॥

युद्धक्षेत्रमें इरावान्से पीड़ित होकर आपकी विशाल सेना विषपान किये हुए मनुष्यकी भाँति नाना प्रकारसे उद्वेग प्रकट करने लगी ॥ २४ ॥

हैडिम्बो राक्षसेन्द्रस्तु भगदत्तं समाद्रवत्।
रथेनादित्यवर्णेन सध्वजेन महाबलः ॥ २५ ॥

दूसरी ओर राक्षसराज महाबली घटोत्कचने सूर्यके समान तेजस्वी एवं ध्वजयुक्त रथके द्वारा भगदत्तपर आक्रमण किया॥

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा नागराजं समास्थितः।
यथा वज्रधरः पूर्वं संग्रामे तारकामये ॥ २६ ॥

जैसे पूर्वकालमें तारकामय-संग्रामके अवसरपर वज्रधारी इन्द्र ऐरावत नामक हाथीपर आरूढ़ होकर युद्धके लिये गये थे, उसी प्रकार इस महायुद्धमें प्राग्ज्योतिषपुरके स्वामी राजा भगदत्त एक गजराजपर चढ़कर आये थे ॥ २६ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च समागताः।
विशेषं न स्म विविदुर्हैडिम्बभगदत्तयोः ॥ २७ ॥

वहाँ युद्ध देखनेके लिये आये हुए देवताओं, गन्धर्वों तथा ऋषियोंकी भी समझमें यह नहीं आया कि घटोत्कच और भगदत्तमें पराक्रमकी दृष्टिसे क्या अन्तर है ॥ २७ ॥

यथा सुरपतिः शक्रस्त्रासयामास दानवान्।
तथैव समरे राजा द्रावयामास पाण्डवान् ॥ २८ ॥

जैसे देवराज इन्द्रने दानवोंको भयभीत किया था, उसी प्रकार भगदत्तने पाण्डव-सैनिकोंको भयभीत करके भगाना आरम्भ किया ॥ २८ ॥

तेन विद्राव्यमाणास्ते पाण्डवाः सर्वतो दिशम्।
त्रातारं नाभ्यगच्छन्तः स्वेष्वनीकेषु भारत ॥ २९ ॥

भारत ! भगदत्तके द्वारा खदेड़े हुए पाण्डव-सैनिक सम्पूर्ण दिशाओंमें भागते हुए अपनी सेनाओंमें भी कहीं कोई रक्षक नहीं पाते थे ॥ २९ ॥

भैमसेनिं रथस्थं तु तत्रापश्याम भारत।
शेषा विमनसो भूत्वा प्राद्रवन्त महारथाः ॥ ३० ॥

भरतनन्दन ! उस समय वहाँ हमलोगोंने केवल भीमपुत्र घटोत्कचको ही रथपर स्थिरभावसे बैठा देखा। शेष महारथी खिन्नचित्त होकर वहींसे भाग रहे थे ॥ ३० ॥

निवृत्तेषु तु पाण्डूनां पुनः सैन्येषु भारत।
आसीन्निष्ठानको घोरस्तव सैन्यस्य संयुगे ॥ ३१ ॥

भारत ! जब पाण्डवोंकी सेनाएँ पुनः युद्धभूमिमें लौट आयीं, तब उस युद्धक्षेत्रमें आपकी सेनाके भीतर घोर हाहाकार होने लगा ॥ ३१ ॥

घटोत्कचस्ततो राजन् भगदत्तं महारणे।
शरैः प्रच्छादयामास मेरुं गिरिमिवाम्बुदः ॥ ३२ ॥

राजन् ! उस समय उस महायुद्धमें घटोत्कचने अपने बाणोंद्वारा भगदत्तको उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे बादल मेरुपर्वतको ढक लेता है ॥ ३२ ॥

निहत्य ताञ्शरान् राजा राक्षसस्य धनुश्च्युतान्।
भैमसेनिं रणे तूर्णं सर्वमर्मस्वताडयत् ॥ ३३ ॥

राक्षस घटोत्कचके धनुषसे छूटे हुए उन सभी बाणोंको नष्ट करके राजा भगदत्तने रणक्षेत्रमें तुरंत ही घटोत्कचके सभी मर्मस्थानोंपर प्रहार किया ॥ ३३ ॥

स ताड्यमानो बहुभिः शरैः संनतपर्वभिः।
न विव्यथे राक्षसेन्द्रो भिद्यमान इवाचलः ॥ ३४ ॥

झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंद्वारा आहत होकर भी विदीर्ण किये जानेवाले पर्वतकी भाँति राक्षसराज घटोत्कच व्यथित एवं विचलित नहीं हुआ ॥ ३४ ॥

तस्य प्राग्ज्योतिषः क्रुद्धस्तोमरांश्च चतुर्दश।
प्रेषयामास समरे तांश्चिच्छेद स राक्षसः ॥ ३५ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके नरेशने कुपित हो उस राक्षसपर चौदह तोमर चलाये, परंतु उसने समरभूमिमें उन सबको काट दिया ॥ ३५ ॥

स तांश्छित्त्वा महाबाहुस्तोमरान् निशितैः शरैः।
भगदत्तं च विव्याध सप्तत्या कङ्कपत्रिभिः ॥ ३६ ॥

उन तोमरोंको तीखे बाणोंसे काटकर महाबाहु घटोत्कचने कंकपत्रयुक्त सत्तर बाणोंद्वारा भगदत्तको भी घायल कर दिया ॥

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा प्रहसन्निव भारत।
तस्याश्वांश्चतुरः संख्ये पातयामास सायकैः ॥ ३७ ॥

भारत ! तब राजा प्राग्ज्योतिष (भगदत्त) ने हँसते हुए-से उस युद्धमें अपने सायकोंद्वारा घटोत्कचके चारों घोड़ोंको मार गिराया ॥ ३७ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठन् राक्षसेन्द्रः प्रतापवान्।
शक्तिं चिक्षेप वेगेन प्राग्ज्योतिषगजं प्रति ॥ ३८ ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़े हुए प्रतापी राक्षसराज घटोत्कचने भगदत्तके हाथीपर बड़े वेगसे शक्तिका प्रहार किया ॥ ३८ ॥

तामापतन्तीं सहसा हेमदण्डां सुवेगिनीम्।
त्रिधा चिच्छेद नृपतिः सा व्यकीर्यत मेदिनीम् ॥ ३९ ॥

उस शक्तिमें सोनेका डंडा लगा हुआ था। वह अत्यन्त वेगशालिनी थी। उसे सहसा आती देख राजा भगदत्तने उसके तीन टुकड़े कर डाले। फिर वह पृथ्वीपर बिखर गयी ॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा हैडिम्बः प्राद्रवद् भयात्।
यथेन्द्रस्य रणात् पूर्वं नमुचिर्दैत्यसत्तमः ॥ ४० ॥

अपनी शक्तिको कटी हुई देखकर हिडिम्बाकुमार घटोत्कच भगदत्तके भयसे उसी प्रकार भाग गया, जैसे पूर्वकालमें देवराज इन्द्रके साथ युद्ध करते समय दैत्यराज नमुचि रणभूमिसे भागा था ॥ ४० ॥

तं विजित्य रणे शूरं विक्रान्तं ख्यातपौरुषम्।
अजेयं समरे वीरं यमेन वरुणेन च ॥ ४१ ॥
पाण्डवीं समरे सेनां सम्ममर्द स कुञ्जरः।
यथा वनगजो राजन् मृद्नंश्चरति पद्मिनीम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! घटोत्कच अपने पौरुषके लिये विख्यात, पराक्रमी, शूरवीर था। वरुण और यमराज भी उस वीरको समरभूमिमें परास्त नहीं कर सकते थे। उसीको वहाँ रणक्षेत्रमें जीतकर भगदत्तका वह हाथी समराङ्गणमें पाण्डवसेनाका उसी प्रकार मर्दन करने लगा, जैसे वनैला हाथी सरोवरमें कमलिनीको रौंदता हुआ विचरता है ॥ ४१-४२ ॥

मद्रेश्वरस्तु समरे यमाभ्यां समसज्जत।
स्वस्रीयौ छादयांचक्रे शरौघैः पाण्डुनन्दनौ ॥ ४३ ॥

दूसरी ओर मद्रराज शल्य युद्धमें अपने भानजे नकुल और सहदेवसे उलझे हुए थे। उन्होंने पाण्डुकुलको आनन्दित करनेवाले भानजोंको अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित कर दिया ॥

सहदेवस्तु समरे मातुलं दृश्य संगतम्।
अवारयच्छरौघेण मेघो यद्वद् दिवाकरम् ॥ ४४ ॥

सहदेवने समरभूमिमें अपने मामाको युद्धमें आसक्त देखकर जैसे बादल सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उन्हें अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित करके आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥

छाद्यमानः शरौघेण हृष्टरूपतरोऽभवत्।
तयोश्चाप्यभवत् प्रीतिरतुला मातृकारणात् ॥ ४५ ॥

उनके बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर भी शल्य अत्यन्त प्रसन्न ही हुए। माताके नाते नकुल और सहदेवके मनमें भी उनके प्रति अनुपम प्रेमका भाव था ॥ ४५ ॥

ततः प्रहस्य समरे नकुलस्य महारथः।
(ध्वजं चिच्छेद बाणेन धनुश्चैकेन मारिष।
अथैनं छिन्नधन्वानं छादयन्निव भारत ॥
निजघान रणे तं तु सूतं चास्य न्यपातयत् ॥)
अश्वांश्च चतुरो राजंश्चतुर्भिः सायकोत्तमैः ॥ ४६ ॥
प्रेषयामास समरे यमस्य सदनं प्रति।
हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः ॥ ४७ ॥
आरुरोह ततो यानं भ्रातुरेव यशस्विनः।

आर्य ! तब महारथी शल्यने समरभूमिमें हँसकर एक बाणसे नकुलके ध्वजको और दूसरेसे उनके धनुषको भी काट दिया। भारत ! धनुष कट जानेपर उन्हें बाणोंसे आच्छादित-से करते हुए युद्धस्थलमें उनके सारथिको भी मार गिराया। राजन् ! फिर उन्होंने उस युद्धमें चार उत्तम सायकोंद्वारा नकुलके चारों घोड़ोंको यमराजके घर भेज दिया। घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी नकुल उस रथसे तुरंत ही कूदकर अपने यशस्वी भाई सहदेवके ही रथपर जा बैठे ॥ ४६-४७½ ॥

एकस्थौ तु रणे शूरौ दृढे विक्षिप्य कार्मुके ॥ ४८ ॥
मद्रराजरथं तूर्णं छादयामासतुः क्षणात्।

तदनन्तर एक ही रथपर बैठे हुए उन दोनों शूरवीरोंने क्षणभरमें अपने सुदृढ़ धनुषको खींचकर रणभूमिमें मद्रराजके रथको तुरंत ही आच्छादित कर दिया ॥ ४८½ ॥

स छाद्यमानो बहुभिः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४९ ॥
स्वस्रीयाभ्यां नरव्याघ्रो नाकम्पत यथाचलः।
प्रहसन्निव तां चापि शस्त्रवृष्टिं जघान ह ॥ ५० ॥

अपने भानजोंके चलाये हुए झुकी हुई गाँठवाले बहुसंख्यक बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी नरश्रेष्ठ शल्य पर्वतकी भाँति अडिगभावसे खड़े रहे; कम्पित या विचलित नहीं हुए। उन्होंने हँसते हुए-से उस शस्त्रवर्षाको भी नष्ट कर दिया ४९-५० ॥

सहदेवस्ततः क्रुद्धः शरमुद्गृह्य वीर्यवान्।
मद्रराजमभिप्रेक्ष्य प्रेषयामास भारत ॥ ५१ ॥

भारत ! तब पराक्रमी सहदेवने कुपित होकर एक बाण हाथमें लिया और उसे मद्रराजको लक्ष्य करके चला दिया ॥

स शरः प्रेषितस्तेन गरुडानिलवेगवान्।
मद्रराजं विनिर्भिद्य निपपात महीतले ॥ ५२ ॥

उनके द्वारा चलाया हुआ वह बाण गरुड और वायुके समान वेगशाली था। वह मद्रराजको विदीर्ण करके पृथ्वीपर जा गिरा ॥ ५२ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थे महारथः।
निषसाद महाराज कश्मलं च जगाम ह ॥ ५३ ॥

महाराज! उसके गहरे आघातसे पीड़ित एवं व्यथित होकर महारथी शल्य रथके पिछले भागमें जा बैठे और मूर्छित हो गये ॥ ५३ ॥



तं विसंज्ञं निपतितं सूतः सम्प्रेक्ष्य संयुगे।
अपोवाह रथेनाजौ यमाभ्यामभिपीडितम् ॥ ५४ ॥

युद्धस्थलमें नकुल और सहदेवद्वारा पीड़ित होकर उन्हें अचेत हो रथपर गिरा हुआ देख सारथि रथद्वारा रणभूमिसे बाहर हटा ले गया ॥ ५४ ॥

दृष्ट्वा मद्रेश्वररथं धार्तराष्ट्राः पराङ्मुखम्।
सर्वे विमनसो भूत्वा नेदमस्तीत्यचिन्तयन् ॥ ५५ ॥

मद्रराजके रथको युद्धसे विमुख हुआ देख आपके सभी पुत्र मन-ही-मन दुखी हो सोचने लगे—शायद अब मद्रराजका जीवन शेष नहीं है ॥ ५५ ॥

निर्जित्य मातुलं संख्ये माद्रीपुत्रौ महारथौ।
दध्मतुर्मुदितौ शङ्खौ सिंहनादं च नेदतुः ॥ ५६ ॥

महारथी माद्रीपुत्र युद्धमें अपने मामाको परास्त करके प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥५६॥

अभिदुद्रुवतुर्हृष्टौ तव सैन्यं विशाम्पते।
यथा दैत्यचमूं राजन्निन्द्रोपेन्द्राविवामरौ ॥ ५७ ॥

प्रजानाथ! जैसे इन्द्रदेव और उपेन्द्रदेव दैत्योंकी सेनाको मार भगाते हैं, उसी प्रकार नकुल सहदेव हर्षमें भरकर आपकी सेनाको खदेड़ने लगे ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

चतुरशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरसे राजा श्रुतायुका पराजित होना, युद्धमें चेकितान और कृपाचार्यका मूर्छित होना, भूरिश्रवासे धृष्टकेतुका और अभिमन्युसे चित्रसेन आदिका पराजित होना एवं सुशर्मा आदिसे अर्जुनका युद्धारम्भ

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा मध्यं प्राप्ते दिवाकरे।
श्रुतायुषमभिप्रेक्ष्य प्रेषयामास वाजिनः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! जब सूर्यदेव दिनके मध्यभागमें आ गये, तब राजा युधिष्ठिरने श्रुतायुको देखकर उसकी ओर अपने घोड़ोंको बढ़ाया ॥ १ ॥

अभ्यधावत् ततो राजा श्रुतायुषमरिंदमम्।
विनिघ्नन् सायकैस्तीक्ष्णैर्नवभिर्नतपर्वभिः ॥ २ ॥

उस समय झुकी हुई गाँठवाले नौ तीखे सायकोंद्वारा शत्रुदमन श्रुतायुको घायल करते हुए राजा युधिष्ठिरने उसपर धावा किया ॥ २ ॥

स संवार्य रणे राजा प्रेषितान् धर्मसूनुना।
शरान् सप्त महेष्वासः कौन्तेयाय समार्पयत् ॥ ३ ॥

तब महाधनुर्धर राजा श्रुतायुने युद्धमें धर्मपुत्र युधिष्ठिरके चलाये हुए बाणोंका निवारण करके उन कुन्तीकुमारको सात बाण मारे ॥ ३ ॥

ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे।
असूनिव विचिन्वन्तो देहे तस्य महात्मनः ॥ ४ ॥

संग्राममें वे बाण महात्मा युधिष्ठिरके शरीरमें उनके प्राणोंको ढूँढ़ते हुए-से कवच छेदकर घुस गये और उनका रक्त पीने लगे ॥ ४ ॥

पाण्डवस्तु भृशं क्रुद्धो विद्धस्तेन महात्मना ।
रणे वराहकर्णेन राजानं हृद्यविध्यत ॥ ५ ॥

महामना श्रुतायुके बाणोंसे घायल होनेपर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने रणक्षेत्रमें वराहकर्ण नामक एक बाण चलाकर राजा श्रुतायुकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ५ ॥

अथापरेण भल्लेन केतुं तस्य महात्मनः ।
रथश्रेष्ठो रथात् तूर्णं भूमौ पार्थो न्यपातयत् ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् रथियोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने भल्ल नामक दूसरे बाणसे महामना श्रुतायुके ध्वजको काटकर तुरंत ही रथसे पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ६ ॥

केतुं विपतितं दृष्ट्वा श्रुतायुः स तु पार्थिवः ।
पाण्डवं विशिखैस्तीक्ष्णै राजन् विव्याध सप्तभिः ॥ ७ ॥

राजन् ! ध्वजको गिरा हुआ देख राजा श्रुतायुने अपने सात तीखे बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको घायल कर दिया ॥ ७ ॥

ततः क्रोधात् प्रजज्वाल धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यथा युगान्ते भूतानि दिधक्षुरिव पावकः ॥ ८ ॥

यह देख धर्मपुत्र युधिष्ठिर प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूतोंको जला डालनेकी इच्छावाले अग्निदेवके समान क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे ॥ ८ ॥

क्रुद्धं तु पाण्डवं दृष्ट्वा देवगन्धर्वराक्षसाः ।
प्रविव्यथुर्महाराज व्याकुलं चाप्यभूज्जगत् ॥ ९ ॥

महाराज ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको कुपित देख देवता, गन्धर्व और राक्षस व्यथित हो उठे तथा सारा जगत् भी भयसे व्याकुल हो गया ॥ ९ ॥

सर्वेषां चैव भूतानामिदमासीन्मनोगतम् ।
त्रीँल्लोकानद्य संक्रुद्धो नृपोऽयं धक्ष्यतीति वै ॥ १० ॥

उस समय समस्त प्राणियोंके मनमें यह विचार उठा कि आज निश्चय ही ये राजा युधिष्ठिर कुपित होकर तीनों लोकोंको भस्म कर डालेंगे ॥ १० ॥

ऋषयश्चैव देवाश्च चक्रुः स्वस्त्ययनं महत् ।
लोकानां नृप शान्त्यर्थं क्रोधिते पाण्डवे तदा ॥ ११ ॥

नरेश्वर ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके कुपित होनेपर उस समय सम्पूर्ण लोकोंकी शान्तिके लिये देवता तथा ऋषिलोग श्रेष्ठ स्वस्तिवाचन करने लगे ॥ ११ ॥

स च क्रोधसमाविष्टः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
दधारात्मवपुर्घोरं युगान्तादित्यसंनिभम् ॥ १२ ॥

उन्होंने क्रोधसे व्याप्त हो मुखके दोनों कोनोंको चाटते हुए अपने शरीरको प्रलयकालके सूर्यके समान अत्यन्त भयंकर बना लिया ॥ १२ ॥

ततः सैन्यानि सर्वाणि तावकानि विशाम्पते ।
निराशान्यभवंस्तत्र जीवितं प्रति भारत ॥ १३ ॥

प्रजानाथ ! भरतनन्दन ! उस समय आपकी सारी सेनाएँ वहाँ अपने जीवनसे निराश हो गयीं ॥ १३ ॥

स तु धैर्येण तं कोपं संनिवार्य महायशाः ।
श्रुतायुषः प्रचिच्छेद मुष्टिदेशे महाधनुः ॥ १४ ॥

परंतु महायशस्वी युधिष्ठिरने धैर्यपूर्वक अपने क्रोधको दबा दिया और श्रुतायुके विशाल धनुषको, जहाँ उसे मुट्ठीसे पकड़ा जाता है, उसी जगहसे काट दिया ॥ १४ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं नाराचेन स्तनान्तरे ।
निर्बिभेद रणे राजा सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ १५ ॥
सत्वरं च रणे राजंस्तस्य वाहान् महात्मनः ।
निजघान शरैः क्षिप्रं सूतं च सुमहाबलः ॥ १६ ॥

राजन् ! धनुष कट जानेपर महाबली राजा युधिष्ठिरने श्रुतायुकी छातीमें नाराचसे प्रहार किया । फिर उन्होंने समस्त सेनाओंके देखते-देखते रणक्षेत्रमें महामना श्रुतायुके घोड़ोंको तुरंत मार डाला और उसके सारथिको भी शीघ्र ही मौतके मुखमें डाल दिया ॥ १५-१६ ॥

हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा दृष्ट्वा राज्ञोऽस्य पौरुषम् ।
विप्रदुद्राव वेगेन श्रुतायुः समरे तदा ॥ १७ ॥

रथके घोड़े मारे गये, यह देखकर तथा युद्धमें राजा युधिष्ठिरके पुरुषार्थका भी अवलोकन करके श्रुतायु उस समय बड़े वेगसे रथ छोड़कर भाग गया ॥ १७ ॥

तस्मिञ्जिते महेष्वासे धर्मपुत्रेण संयुगे ।
दुर्योधनबलं राजन् सर्वमासीत् पराङ्मुखम् ॥ १८ ॥

राजन् ! संग्राममें धर्मपुत्र युधिष्ठिरद्वारा महाधनुर्धर श्रुतायुके पराजित होनेपर दुर्योधनकी सारी सेना पीठ दिखाकर भागने लगी ॥ १८ ॥

एतत् कृत्वा महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
व्यात्ताननो यथा कालस्तव सैन्यं जघान ह ॥ १९ ॥

महाराज ! ऐसा पराक्रम करके धर्मपुत्र युधिष्ठिर मुँह फैलाये कालके समान आपकी सेनाका संहार करने लगे ॥

चेकितानस्तु वार्ष्णेयो गौतमं रथिनां वरम् ।
प्रेक्षतां सर्वसैन्यानां छादयामास सायकैः ॥ २० ॥

उधर वृष्णिवंशी चेकितानने रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यको सब सेनाओंके देखते देखते अपने सायकोंसे आच्छादित कर दिया ॥ २० ॥

संनिवार्य शरांस्तांस्तु कृपः शारद्वतो युधि ।
चेकितानं रणे यत्तं राजन् विव्याध पत्रिभिः ॥ २१ ॥

राजन् ! शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यने युद्धमें उन सब

बाणोंको काटकर सावधानीके साथ युद्ध करनेवाले चेकितानको पंखवाले बाणोंसे बींध डाला ॥ २१ ॥

अथापरेण भल्लेन धनुश्चिच्छेद मारिष।
सारथिं चास्य समरे क्षिप्रहस्तो न्यपातयत् ॥ २२ ॥

आर्य ! फिर दूसरे भल्लसे उसका धनुष काट दिया और अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए समरमें उसके सारथिको भी मार गिराया ॥ २२ ॥

अश्वांश्चास्यावधीद् राजन्नुभौ तौ पार्ष्णिसारथी।
सोऽवप्लुत्य रथात् तूर्णं गदां जग्राह सात्वतः॥ २३॥

राजन् ! तदनन्तर चेकितानके चारों घोड़ों और दोनों पृष्ठरक्षकोंको भी कृपाचार्यने मार डाला। तब सात्वतवंशी चेकितानने रथसे कूदकर तुरंत ही गदा हाथमें ले ली ।२३।

स तया वीरघातिन्या गदया गदिनां वरः।
गौतमस्य हयान् हत्वा सारथिं च न्यपातयत् ॥ २४ ॥

गदाधारियोंमें श्रेष्ठ चेकितानने उस वीरघातिनी गदासे कृपाचार्यके घोड़ोंको मारकर उनके सारथिको भी धराशायी कर दिया ॥ २४ ॥

भूमिष्ठो गौतमस्तस्य शरांश्चिक्षेप षोडश।
शरास्ते सात्वतं भित्त्वा प्राविशन् धरणीतलम्॥ २५ ॥

तब कृपाचार्यने भूमिपर ही खड़े होकर चेकितानको सोलह बाण मारे। वे बाण चेकितानको छेदकर धरतीमें समा गये ॥ २५ ॥

चेकितानस्ततः क्रुद्धः पुनश्चिक्षेप तां गदाम्।
गौतमस्य वधाकाङ्क्षी वृत्रस्येव पुरंदरः ॥ २६ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए चेकितानने कृपाचार्यके वधकी इच्छासे उनपर पुनः वैसे ही गदाका प्रहार किया, जैसे इन्द्र वृत्रासुरपर प्रहार करते हैं ॥ २६ ॥

तामापतन्तीं विमलामश्मगर्भां महागदाम्।
शरैरनेकसाहस्रैर्वारयामास गौतमः ॥ २७ ॥

उस निर्मल एवं लोहेकी बनी हुई विशाल गदाको अपने ऊपर आती देख कृपाचार्यने अनेक सहस्र बाणोंद्वारा दूर गिरा दिया ॥ २७ ॥

चेकितानस्ततः खड्गं क्रोधादुद्धृत्य भारत।
लाघवं परमास्थाय गौतमं समुपाद्रवत् ॥ २८ ॥

भारत ! तब चेकितानने क्रोधपूर्वक तलवार खींच ली और बड़ी फुर्तीके साथ कृपाचार्यपर धावा किया ॥ २८ ॥

गौतमोऽपि धनुस्त्यक्त्वा प्रगृह्यासिं सुसंयतः।
वेगेन महता राजंश्चेकितानमुपाद्रवत् ॥ २९ ॥

राजन् ! यह देख कृपाचार्यने भी धनुष फेंककर तलवार हाथमें ले ली और पूरी सावधानीके साथ वे बड़े वेगसे चेकितानकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

तावुभौ बलसम्पन्नौ निस्त्रिंशवरधारिणौ।
निस्त्रिंशाभ्यां सुतीक्ष्णाभ्यामन्योन्यं संततक्षतुः॥ ३०॥

वे दोनों ही बलवान् थे। दोनोंने ही उत्तम खड्ग धारण कर रखे थे। अतः अपनी उन अत्यन्त तीखी तलवारोंसे वे एक दूसरेको काटने लगे ॥ ३० ॥

निस्त्रिंशवेगाभिहतौ ततस्तौ पुरुषर्षभौ।
धरणीं समनुप्राप्तौ सर्वभूतनिषेविताम् ॥ ३१ ॥

तलवारकी गहरी चोटसे घायल होकर वे दोनों पुरुषश्रेष्ठ सम्पूर्ण भूतोंकी निवासभूत पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३१ ॥

मूर्छयाभिपरीताङ्गौ व्यायामेन तु मोहितौ।
ततोऽभ्यधावद् वेगेन करकर्षः सुहृत्तया ॥ ३२ ॥
चेकितानं तथाभूतं दृष्ट्वा समरदुर्मदः।
रथमारोपयच्चैनं सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ३३ ॥

उनके सारे अङ्गोंमें मूर्छा व्याप्त हो रही थी। दोनों ही अधिक परिश्रमके कारण अचेत हो गये थे। उस समय युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला करकर्ष चेकितानको वैसी अवस्थामें पड़ा देख सौहार्दके नाते बड़े वेगसे दौड़ा और सम्पूर्ण सेनाके देखते-देखते उसने उन्हें अपने रथपर चढ़ा लिया ॥

तथैव शकुनिः शूरः स्यालस्तव विशाम्पते।
आरोपयद् रथं तूर्णं गौतमं रथिनां वरम् ॥ ३४ ॥

प्रजानाथ ! इसी प्रकार आपके साले शूरवीर शकुनिने रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यको शीघ्र ही अपने रथपर बैठा लिया॥

सौमदत्तिं तथा क्रुद्धो धृष्टकेतुर्महाबलः।
नवत्या सायकैः क्षिप्रं राजन् विव्याध वक्षसि॥ ३५॥

राजन् ! दूसरी ओर महाबली धृष्टकेतुने क्रोधमें भरकर नब्बे बाणोंसे शीघ्रतापूर्वक भूरिश्रवाकी छातीमें चोट पहुँचायी॥

सौमदत्तिरुरःस्थैस्तैर्भृशं बाणैरशोभत।
मध्यंदिने महाराज रश्मिभिस्तपनो यथा ॥ ३६ ॥

महाराज ! छातीमें धँसे हुए उन बाणोंसे भूरिश्रवा उसी प्रकार शोभा पाने लगा, जैसे दोपहरके समय सूर्य अपनी किरणोंद्वारा अधिक प्रकाशित होता है ॥ ३६ ॥

भूरिश्रवास्तु समरे धृष्टकेतुं महारथम्।
हतसूतहयं चक्रे विरथं सायकोत्तमैः ॥ ३७ ॥

तब भूरिश्रवाने समरभूमिमें उत्तम सायकोंद्वारा महारथी धृष्टकेतुके घोड़ों और सारथिको मारकर उन्हें रथहीन कर दिया ॥ ३७ ॥

विरथं तं समालोक्य हताश्वं हतसारथिम्।
महता शरवर्षेण च्छादयामास संयुगे ॥ ३८ ॥

भूरिश्रवाने धृष्टकेतुको घोड़े और सारथिके मारे जानेसे रथहीन हुआ देख युद्धस्थलमें बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा करके ढक दिया ॥ ३८ ॥

स तु तं रथमुत्सृज्य धृष्टकेतुर्महामनाः ।
आरुरोह ततो यानं शतानीकस्य मारिष ॥ ३९ ॥

आर्य ! तत्पश्चात् महामना धृष्टकेतु उस रथको छोड़कर शतानीकको सवारीपर जा बैठे ॥ ३९ ॥

चित्रसेनो विकर्णश्च राजन् दुर्मर्षणस्तथा ।
रथिनो हेमसंनाहाः सौभद्रमभिदुद्रुवुः ॥ ४० ॥

राजन् ! इसी समय चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षण–इन तीन रथियोंने सोनेके कवच बाँधकर सुभद्राकुमार अभिमन्युपर धावा किया ॥ ४० ॥

अभिमन्योस्ततस्तैस्तु घोरं युद्धमवर्तत ।
शरीरस्य यथा राजन् वातपित्तकफैस्त्रिभिः॥ ४१ ॥

नरेश्वर ! तब उनके साथ अभिमन्युका भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, ठीक उसी तरह, जैसे शरीरका वात, पित्त और कफ–इन तीनों धातुओंके साथ युद्ध होता रहता है ॥

विरथांस्तव पुत्रांस्तु कृत्वा राजन् महाहवे ।
न जघान नरव्याघ्रः स्मरन् भीमवचस्तदा ॥ ४२ ॥

राजन् ! उस महासमरमें आपके पुत्रोंको रथहीन करके पुरुषसिंह अभिमन्युने उस समय भीमसेनकी प्रतिज्ञाका स्मरण करके उनका वध नहीं किया ॥ ४२ ॥

ततो राज्ञां बहुशतैर्गजाश्वरथयायिभिः ।
संवृतं समरे भीष्मं देवैरपि दुरासदम् ॥ ४३ ॥
प्रयान्तं शीघ्रमुद्वीक्ष्य परित्रातुं सुतांस्तव ।
अभिमन्युं समुद्दिश्य बालमेकं महारथम् ॥ ४४ ॥
वासुदेवमुवाचेदं कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।

तदनन्तर हाथी, घोड़े और रथपर यात्रा करनेवाले करोड़ों राजाओंसे घिरे हुए भीष्म, जो युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय थे, आपके पुत्रोंको बचानेके लिये एकमात्र बालक महारथी अभिमन्युको लक्ष्य करके तीव्र वेगसे आगे बढ़े । उनको उस ओर जाते देख श्वेतवाहन कुन्तीपुत्र अर्जुनने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा–॥

चोदयाश्वान् हृषीकेश यत्रैते बहुला रथाः ॥ ४५ ॥
एते हि बहवः शूराः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ।
यथा हन्युर्न नः सेनां तथा माधव चोदय ॥ ४६ ॥

'हृषीकेश ! जहाँ ये बहुत-से रथ जा रहे हैं, उधर ही अपने घोड़ोंको हाँकिये । माधव ! ये अस्त्र-विद्याके विद्वान् तथा रण-दुर्मद बहुसंख्यक शूरवीर जिस प्रकार हमारी सेनाका विनाश न कर सकें, उसी तरह इस रथको वहाँ ले चलिये' ॥ ४५-४६ ॥

एवमुक्तः स वार्ष्णेयः कौन्तेयेनामितौजसा ।
रथं श्वेतहयैर्युक्तं प्रेषयामास संयुगे ॥ ४७ ॥

अमित तेजस्वी कुन्तीकुमार अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर वृष्णिकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने युद्धमें श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए रथको आगे बढ़ाया ॥ ४७ ॥

निष्टानको महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ।
यदर्जुनो रणे क्रुद्धः संयातस्तावकान् प्रति ॥ ४८ ॥

आर्य ! रणभूमिमें क्रुद्ध हुए अर्जुन आपके सैनिकोंकी ओर जाने लगे, उस समय आपकी सेनामें बड़े जोरसे हाहाकार होने लगा ॥ ४८ ॥

समासाद्य तु कौन्तेयो राज्ञस्तान् भीष्मरक्षिणः।
सुशर्माणमथो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ४९ ॥

राजन् ! कुन्तीकुमार अर्जुनने भीष्मकी रक्षा करनेवाले उन राजाओंके पास जाकर सुशर्मासे इस प्रकार कहा—॥

जानामि त्वां युधां श्रेष्ठमत्यन्तं पूर्ववैरिणम् ।
अनयस्याद्य सम्प्राप्तं फलं पश्य सुदारुणम् ॥ ५० ॥
अद्य ते दर्शयिष्यामि पूर्वप्रेतान् पितामहान् ।

'वीर ! मैं जानता हूँ, तुम पाण्डवोंके पूर्ववैरी और योद्धाओंमें अत्यन्त उत्तम हो । तुमलोगोंने जो अन्याय किया है, उसका यह अत्यन्त भयंकर फल आज प्राप्त हुआ है, इसे देखो । आज मैं तुम्हें तुम्हारे पहलेके मरे हुए पितामहोंका दर्शन कराऊँगा' ॥ ५०½ ॥

एवं संजल्पतस्तस्य बीभत्सोः शत्रुघातिनः ॥ ५१ ॥
श्रुत्वापि परुषं वाक्यं सुशर्मा रथयूथपः ।
न चैनमब्रवीत् किंचिच्छुभं वा यदि वाशुभम्॥ ५२ ॥

ऐसा कहते हुए शत्रुघाती अर्जुनके परुष वचनको सुनकर भी रथयूथपति सुशर्मा उनसे भला या बुरा कुछ भी न बोला ॥ ५१-५२ ॥

अभिगम्यार्जुनं वीरं राजभिर्बहुभिर्वृतः ।
पुरस्तात् पृष्ठतश्चैव पार्श्वतश्चैव सर्वतः ॥ ५३ ॥
परिवार्यार्जुनं संख्ये तव पुत्रैर्महारथः ।
शरैः संछादयामास मेघैरिव दिवाकरम् ॥ ५४ ॥

अनेक राजाओंसे घिरे हुए उस महारथीने आपके पुत्रोंको साथ ले युद्धमें वीर अर्जुनके सामने जाकर उन्हें आगे, पीछे और पार्श्व भाग—सब ओरसे घेर लिया और जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार बाणोंसे अर्जुनको आच्छादित कर दिया ॥ ५३-५४ ॥

ततः प्रवृत्तः सुमहान् संग्रामः शोणितोदकः ।
तावकानां च समरे पाण्डवानां च भारत ॥ ५५ ॥

भारत! तत्पश्चात् रणक्षेत्रमें आपके पुत्रों और पाण्डवोंमें खूनको पानीकी तरह बहानेवाला महान् संग्राम छिड़ गया ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे सुशर्मार्जुनसमागमे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धमें सुशर्मा और अर्जुनकी भिड़ंतसे सम्बन्ध रखनेवाला चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनका पराक्रम, पाण्डवोंका भीष्मपर आक्रमण, युधिष्ठिरका शिखण्डीको उपालम्भ और भीमका पुरुषार्थ

संजय उवाच

स ताड्यमानस्तु शरैर्धनंजयः
पदा हतो नाग इव श्वसन् बली ।
बाणेन बाणेन महारथानां
चिच्छेद चापानि रणे प्रसह्य ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार शत्रुओंके बाणोंसे आहत होकर बलवान् अर्जुन पैरसे कुचले हुए सर्पकी भाँति क्रोधसे लंबी साँस खींचने लगे। उन्होंने बलपूर्वक पृथक्-पृथक् बाण मारकर युद्धमें सभी महारथियोंके धनुष काट डाले ॥

संछिद्य चापानि च तानि राज्ञां
तेषां रणे वीर्यवतां क्षणेन ।
विव्याध बाणैर्युगपन्महात्मा
निःशेषतां तेष्वथ मन्यमानः ॥ २ ॥

रणक्षेत्रमें उन पराक्रमी नरेशोंके धनुषोंको क्षणभरमें काटकर महामना अर्जुनने उनका पूर्णतः संहार कर देनेकी इच्छासे एक ही साथ सबको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २ ॥

निपेतुराजौ रुधिरप्रदिग्धा-
स्ते ताडिताः शक्रसुतेन राजन् ।
विभिन्नगात्राः पतितोत्तमाङ्गा
गतासवश्छिन्नतनुत्रकायाः ॥ ३ ॥

राजन्! इन्द्रपुत्र अर्जुनके द्वारा ताड़ित होकर वे सभी नरेश खूनसे लथपथ हो युद्धभूमिमें गिर पड़े। उनके अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे, मस्तक कटकर दूर जा गिरे थे, कवच और शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे और इस अवस्थामें पहुँचकर उन्हें अपने प्राण खो देने पड़े थे ॥ ३ ॥

महीं गताः पार्थबलाभिभूता
विचित्ररूपा युगपद् विनेशुः ।
दृष्ट्वा हतांस्तान् युधि राजपुत्रां-
स्त्रिगर्तराजः प्रययौ रथेन ॥ ४ ॥

पार्थके बलसे अभिभूत होकर वे विचित्ररूपधारी राजकुमार एक साथ ही पृथ्वीपर गिरकर नष्ट हो गये। उन राजपुत्रोंको युद्धमें मारा गया देख त्रिगर्तराज सुशर्माने रथके द्वारा अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ ४ ॥

तेषां रथानामथ पृष्ठगोपा
द्वात्रिंशदन्येऽभ्यपतन्त पार्थम् ।
तथैव ते तं परिवार्य पार्थं
विकृष्य चापानि महारवाणि ॥ ५ ॥
अवीवृषन् बाणमहौघवृष्ट्या
यथा गिरिं तोयधरा जलौघैः ।
सम्पीड्यमानस्तु शरौघवृष्ट्या
धनंजयस्तान् युधि जातरोषः ॥ ६ ॥

उन राजपुत्रोंके रथोंके जो दूसरे दूसरे बत्तीस पृष्ठरक्षक थे, वे भी (सुशर्माके साथ ही) अर्जुनपर टूट पड़े। इसी प्रकार उन सबने अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर महान् टंकार-ध्वनि करनेवाले अपने धनुष खींचे और जैसे मेघ पर्वतपर जलराशिकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार अर्जुनपर बाणसमूहोंकी वृष्टि करने लगे। उनके बाणसमूहोंकी वर्षासे पीड़ित होकर युद्धस्थलमें अर्जुनके हृदयमें बड़ा भारी रोष हुआ ॥

षष्ट्या शरैः संयति तैलधौतै-
र्जघान तानप्यथ पृष्ठगोपान् ।
रथांश्च तांस्तानवजित्य संख्ये
धनंजयः प्रीतमना यशस्वी ॥ ७ ॥
अथात्वरद् भीष्मवधाय जिष्णु-
र्बलानि राजन् समरे निहत्य ।

उन्होंने रणक्षेत्रमें तेलके धोये हुए साठ बाण मारकर उन पृष्ठरक्षकोंका भी संहार कर दिया। इस प्रकार युद्धभूमिमें उन सभी रथियोंको जीतकर और कौरव-सेनाओंका समरमें संहार करके प्रसन्नचित्त हुए यशस्वी विजयी अर्जुनने भीष्मके वधके लिये शीघ्रता की ॥ ७½ ॥

त्रिगर्तराजो निहतान् समीक्ष्य
महात्मना तानथ बन्धुवर्गान् ॥ ८ ॥

रणे पुरस्कृत्य नराधिपांस्तान्
जगाम पार्थं त्वरितो वधाय।

महामना अर्जुनके द्वारा अपने बन्धुसमूहोंको मारा गया देख त्रिगर्तराज सुप्रसिद्ध नरपतियोंको युद्धके लिये आगे करके तुरंत ही अर्जुनका वध करनेके लिये उनके सामने आया॥

अभिद्रुतं चास्त्रभृतां वरिष्ठं
धनंजयं वीक्ष्य शिखण्डिमुख्याः॥ ९ ॥
अभ्युद्ययुस्ते शितशस्त्रहस्ता
रिरक्षिषन्तो रथमर्जुनस्य।

अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुनपर आक्रमण होता देख शिखण्डी आदि महारथी उनके रथकी रक्षा करनेके लिये तीखे अस्त्र-शस्त्र हाथमें लिये आगे बढ़े॥ ९½ ॥

पार्थोऽपि तानापततः समीक्ष्य
त्रिगर्तराज्ञा सहितान् नृवीरान्॥ १० ॥
विध्वंसयित्वा समरे धनुष्मान्
गाण्डीवमुक्तैर्निशितैः पृषत्कैः।
भीष्मं यियासुर्युधि संददर्श
दुर्योधनं सैन्धवादींश्च राज्ञः॥ ११ ॥

इधर धनुर्धर अर्जुन भी त्रिगर्तराजके साथ उन नरवीरोंको आते देख संग्रामभूमिमें गाण्डीव धनुषसे छोड़े हुए तीखे बाणोंद्वारा उन्हें नष्ट करके भीष्मजीके पास जाना चाहते थे, इतनेहीमें उन्होंने युद्धस्थलमें राजा दुर्योधन और सिन्धुराज जयद्रथ आदिको देखा॥ १०-११ ॥

संवारयिष्णूनभिवारयित्वा
मुहूर्तमायोध्य बलेन वीरः।
उत्सृज्य राजानमनन्तवीर्यो
जयद्रथादींश्च नृपान् महौजाः॥ १२ ॥
ययौ ततो भीमबलो मनस्वी
गाङ्गेयमाजौ शरचापपाणिः।

दुर्योधन और जयद्रथ आदि योद्धा अर्जुनको रोकनेके प्रयत्नमें लगे थे; अतः उस समय अनन्त पराक्रमी एवं महातेजस्वी वीर अर्जुनने दो घड़ीतक बलपूर्वक युद्ध करके उन सबको रोक दिया। तत्पश्चात् राजा दुर्योधन और जयद्रथ आदि नरेशोंको वहीं छोड़कर भयंकर बलसे सम्पन्न एवं मनस्वी अर्जुन हाथमें धनुष-बाण ले युद्धस्थलमें गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर चल दिये॥ १२½ ॥

(भीष्मोऽपि दृष्ट्वा समरे कृतास्त्रान्
स पाण्डवानां रथिनो ह्युदारान्।
विहाय संग्राममुखे धनंजयं
जवेन पार्थं पुनराजगाम॥)

भीष्म भी अस्त्र-विद्याके विद्वान् एवं उदार पाण्डव-रथियोंको युद्धस्थलमें अपने सामने देखते हुए भी उन सबको वहीं छोड़कर बड़े वेगसे पुनः अर्जुनके पास आये॥

युधिष्ठिरश्च प्रबलो महात्मा
समाययौ त्वरितो जातकोपः॥ १३ ॥
मद्राधिपं समभित्यज्य संख्ये
स्वभागमाप्तं तमनन्तकीर्तिः।
सार्धं स माद्रीसुतभीमसेनै-
र्भीष्मं ययौ शान्तनवं रणाय॥ १४ ॥

उस समय उत्कृष्ट बलशाली अनन्तकीर्ति महात्मा युधिष्ठिर भी युद्धमें अपने भागके रूपमें प्राप्त हुए मद्रराज शल्यको छोड़कर नकुल, सहदेव और भीमसेनके साथ क्रोधपूर्वक तुरंत वहाँसे चल दिये और युद्धके लिये शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जा पहुँचे॥ १३-१४ ॥

तैः सम्प्रयुक्तैः स महारथाग्र्यै-
र्गङ्गासुतः समरे चित्रयोधी।
न विव्यथे शान्तनवो महात्मा
समागतैः पाण्डुसुतैः समस्तैः॥ १५ ॥

महारथियोंमें श्रेष्ठ समस्त पाण्डव संगठित होकर वहाँ आ पहुँचे थे तो भी उनसे समराङ्गणमें विचित्र युद्ध करनेवाले गङ्गापुत्र शान्तनुनन्दन महात्मा भीष्मको व्यथा नहीं हुई॥

अथैत्य राजा युधि सत्यसंधो
जयद्रथोऽत्युग्रबलो मनस्वी।
चिच्छेद चापानि महारथानां
प्रसह्य तेषां धनुषा वरेण॥ १६ ॥

तत्पश्चात् सत्यप्रतिज्ञ अत्यन्त भयंकर शक्तिशाली और मनस्वी राजा जयद्रथने रणमें सामने आकर अपने उत्तम धनुषद्वारा बलपूर्वक उन महारथियोंके धनुष काट डाले॥१६॥

युधिष्ठिरं भीमसेनं यमौ च
पार्थं कृष्णं युधि संजातकोपः।
दुर्योधनः क्रोधविषो महात्मा
जघान बाणैरनलप्रकाशैः॥ १७ ॥

क्रोधरूपी विष उगलनेवाले महामनस्वी दुर्योधनने युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल, सहदेव, अर्जुन तथा श्रीकृष्णपर युद्धमें कुपित हो अग्निके समान तेजस्वी बाणोंका प्रहार किया॥

कृपेण शल्येन शलेन चैव
तथा विभो चित्रसेनेन चाजौ।
विद्धाः शरैस्तेऽतिविवृद्धकोपै-
र्देवा यथा दैत्यगणैः समेतैः॥ १८ ॥

प्रभो! जैसे क्रोधमें भरे हुए दैत्यगण एकत्र हो देवताओंपर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार कृपाचार्य, शल्य, शल तथा

चित्रसेनने युद्धस्थलमें अत्यन्त क्रोधमें भरकर समस्त पाण्डवोंको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १८ ॥

छिन्नायुधं शान्तनवेन राजा
शिखण्डिनं प्रेक्ष्य च जातकोपः।
अजातशत्रुः समरे महात्मा
शिखण्डिनं क्रुद्ध उवाच वाक्यम्॥१९॥

शान्तनुनन्दन भीष्मने जब शिखण्डीका धनुष काट दिया,* तब समराङ्गणमें अजातशत्रु महात्मा युधिष्ठिर शिखण्डीकी ओर देखकर कुपित हो उठे और उससे क्रोधपूर्वक इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

उक्त्वा तथा त्वं पितुरग्रतो मा-
महं हनिष्यामि महाव्रतं तम्।
भीष्मं शरौघैर्विमलार्कवर्णैः
सत्यं वदामीति कृता प्रतिज्ञा ॥ २० ॥
त्वया च नैनां सफलां करोषि
देवव्रतं यन्न निहंसि युद्धे।
मिथ्याप्रतिज्ञो भव मात्र वीर
रक्ष स्वधर्मं स्वकुलं यशश्च ॥ २१ ॥

'वीर ! तुमने अपने पिताके सामने प्रतिज्ञापूर्वक मुझसे यह कहा था कि 'मैं महान् व्रतधारी भीष्मको निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी बाणसमूहोंद्वारा अवश्य मार डालूँगा, यह बात मैं सत्य कहता हूँ ।' ऐसी प्रतिज्ञा तुमने की थी; परंतु तुम इस प्रतिज्ञाको सफल नहीं करते हो । कारण कि युद्धमें देवव्रत भीष्मका वध नहीं कर रहे हो । झूठी प्रतिज्ञा करनेवाला न बनो । अपने धर्म, कुल और यशकी रक्षा करो ॥

प्रेक्षस्व भीष्मं युधि भीमवेगं
सर्वांस्तपन्तं मम सैन्यसंघान्।
शरौघजालैरतितिग्मवेगैः
कालं यथा कालकृतं क्षणेन ॥ २२ ॥

'देखो ! जैसे यमराज समयानुसार उपस्थित होकर क्षणभरमें देहधारीका विनाश कर देते हैं, उसी प्रकार ये युद्धमें भयंकर वेगशाली भीष्म अत्यन्त प्रचण्ड वेगवाले बाणसमूहोंके द्वारा मेरी समस्त सेनाओंको कितना संताप दे रहे हैं ॥ २२ ॥

निकृत्तचापः समरेऽनपेक्षः
पराजितः शान्तनवेन चाजौ।
विहाय बन्धूनथ सोदरांश्च
क्व यास्यसे नानुरूपं तवेदम् ॥ २३ ॥

'युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मने तुम्हारा धनुष काटकर तुम्हें पराजित कर दिया; फिर भी तुम उनकी ओरसे निरपेक्ष हो रहे हो । अपने सगे भाइयोंको छोड़कर कहाँ जाओगे ? यह कायदा तुम्हारे अनुरूप नहीं है ॥ २३ ॥

दृष्ट्वा हि भीष्मं तमनन्तवीर्यं
भग्नं च सैन्यं द्रवमाणमेवम्।
भीतोऽसि नूनं द्रुपदस्य पुत्र
तथा हि ते मुखवर्णोऽप्रहृष्टः ॥ २४ ॥

'द्रुपदकुमार ! अनन्त पराक्रमी भीष्मको तथा उनके डरसे इस प्रकार हतोत्साह होकर भागती हुई मेरी इस सेनाको देखकर निश्चय ही तुम डर गये हो; क्योंकि तुम्हारे मुखकी कान्ति कुछ ऐसी ही अप्रसन्न दिखायी देती है ॥ २४ ॥

अज्ञायमाने च धनंजयेऽपि
महाहवे सम्प्रसक्ते नृवीरे।
कथं हि भीष्मात् प्रथितः पृथिव्यां
भयं त्वमद्य प्रकरोषि वीर ॥ २५ ॥

'वीर ! नरवीर अर्जुन कहीं महायुद्धमें फँसे हुए हैं । उनका इस समय पता नहीं है । ऐसे समयमें तुम आज भूमण्डलके विख्यात वीर होकर भीष्मसे भय कैसे कर रहे हो ?' ॥ २५ ॥

स धर्मराजस्य वचो निशम्य
रूक्षाक्षरं विप्रलापानुबद्धम्।
प्रत्यादेशं मन्यमानो महात्मा
प्रतत्वरे भीष्मवधाय राजन् ॥ २६ ॥

राजन् ! धर्मराजके इस वचनमें प्रत्येक अक्षर रूखेपनसे भरा हुआ था । उसके द्वारा उन्होंने कितनी ही मनके विपरीत बातें कही थीं, तथापि उस वचनको सुनकर महामना शिखण्डीने इसे अपने लिये आदेश माना और तुरंत ही भीष्मका वध करनेके लिये सचेष्ट हो गया ॥ २६ ॥

तमापतन्तं महता जवेन
शिखण्डिनं भीष्ममभिद्रवन्तम्।
निवारयामास हि शल्य एन-
मस्त्रेण घोरेण सुदुर्जयेन ॥ २७ ॥

शिखण्डीको बड़े वेगसे आते और भीष्मपर धावा करते देख शल्यने अत्यन्त दुर्जय एवं भयंकर अस्त्रसे उसे रोक दिया।

स चापि दृष्ट्वा समुदीर्यमाण-
मस्त्रं युगान्ताग्निसमप्रकाशम्।
न सम्मुमोह द्रुपदस्य पुत्रो
राजन् महेन्द्रप्रतिमप्रभावः ॥ २८ ॥

राजन् ! प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी उस अस्त्रको प्रकट हुआ देखकर देवराज इन्द्रके समान प्रभाव-

* भीष्मपितामहने शिखण्डीको अपने ऊपर प्रहार करनेके लिये आया देखकर ही उसके धनुषको काट दिया था, उसके शरीरपर कोई प्रहार नहीं किया । अतः कोई दोष नहीं है ।

शाली द्रुपदकुमार शिखण्डी घबराया नहीं ॥ २८ ॥

तस्थौ च तत्रैव महाधनुष्मा-
ञ्शरैस्तदस्त्रं प्रतिबाधमानः ।
अथाददे वारुणमन्यदस्त्रं
शिखण्ड्यथोग्रं प्रतिघातमस्य ॥ २९ ॥

वह महाधनुर्धर वीर अपने बाणोंद्वारा शल्यके अस्त्रका निवारण करता हुआ वहीं डटा रहा । फिर शिखण्डीने शल्यके अस्त्रका प्रतिघात करनेवाले अन्य भयंकर वारुणास्त्रको हाथमें लिया ॥ २९ ॥

तदस्त्रमस्त्रेण विदार्यमाणं
खस्थाः सुरा ददृशुः पार्थिवाश्च ।
भीष्मस्तु राजन् समरे महात्मा
धनुश्च चित्रं ध्वजमेव चापि ॥ ३० ॥
छित्त्वानदत् पाण्डुसुतस्य वीरो
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ।

आकाशमें खड़े हुए देवताओं तथा रणक्षेत्रमें आये हुए राजाओंने देखा, शिखण्डीके दिव्यास्त्रसे शल्यका अस्त्र विदीर्ण हो रहा है। राजन्! महात्मा एवं वीर भीष्म युद्धस्थलमें अजमीढ़कुलनन्दन पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरके विचित्र धनुष और ध्वजको काटकर गर्जना करने लगे ॥ ३०½ ॥

ततः समुत्सृज्य धनुः सबाणं
युधिष्ठिरं वीक्ष्य भयाभिभूतम् ॥ ३१ ॥
गदां प्रगृह्याभिपपात संख्ये
जयद्रथं भीमसेनः पदातिः ।

तब धनुष-बाण फेंककर भयसे दबे हुए युधिष्ठिरको देखकर भीमसेन गदा लेकर युद्धमें पैदल ही राजा जयद्रथपर टूट पड़े ॥ ३१½ ॥

तमापतन्तं सहसा जवेन
जयद्रथः सगदं भीमसेनम् ॥ ३२ ॥
विव्याध घोरैर्यमदण्डकल्पैः
शितैः शरैः पञ्चशतैः समन्तात् ।

इस प्रकार सहसा हाथमें गदा लिये भीमसेनको वेगपूर्वक आते देख जयद्रथने यमदण्डके समान भयंकर पाँच सौ तीखे बाणोंद्वारा सब ओरसे उन्हें घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

अचिन्तयित्वा स शरांस्तरस्वी
वृकोदरः क्रोधपरीतचेताः ॥ ३३ ॥
जघान वाहान् समरे समन्तात्
पारावतान् सिन्धुराजस्य संख्ये ।

वेगशाली भीमसेन उसके बाणोंकी कोई परवा न करते हुए मन-ही-मन क्रोधसे जल उठे । तत्पश्चात् उन्होंने समरभूमिमें सिन्धुराजके कबूतरके समान रंगवाले घोड़ोंको मार डाला ॥ ३३½ ॥

ततोऽभिवीक्ष्याप्रतिमप्रभाव-
स्तवात्मजस्त्वरमाणो रथेन ॥ ३४ ॥
अभ्याययौ भीमसेनं निहन्तुं
समुद्यतास्त्रः सुरराजकल्पः ।

यह देखकर आपका अनुपम प्रभावशाली पुत्र देवराजसदृश दुर्योधन भीमसेनको मारनेके लिये हथियार उठाये बड़ी उतावलीके साथ रथके द्वारा वहाँ आ पहुँचा ॥ ३४½ ॥

भीमोऽप्यथैनं सहसा विनद्य
प्रत्युद्ययौ गदया तर्जयानः ॥ ३५ ॥

तब भीमसेन भी सहसा सिंहनाद करके गदाद्वारा गर्जन-तर्जन करते हुए जयद्रथकी ओर बढ़े ॥ ३५ ॥

(जयद्रथो भग्नवाहो रथं तं
त्यक्त्वा ययौ यत्र राजा कुरूणाम् ।
स सौबलः सानुगः सानुजश्च
दृष्ट्वा भीमं मूढचेता भयार्तः ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर जयद्रथ उस रथको छोड़कर जहाँ शकुनि, सेवकवृन्द तथा छोटे भाइयोंसहित कुरुराज दुर्योधन था, वहीं चला गया । भीमसेनको देखकर जयद्रथका मन किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था । वह भयसे पीड़ित हो रहा था ॥

भीमोऽप्यथैनं सहसा विनद्य
प्रत्युद्ययौ गदया हन्तुकामः ।
स सौबलं तव पुत्रं निरीक्ष्य
दुर्योधनं सानुजं रोषयुक्तः ॥)

भीमसेन भी शकुनि और भाइयोंसहित आपके पुत्र दुर्योधनको देखकर रोषमें भर गये और सहसा गर्जना करके गदाद्वारा जयद्रथको मार डालनेकी इच्छासे आगे बढ़े ॥

समुद्यतां तां यमदण्डकल्पां
दृष्ट्वा गदां ते कुरवः समन्तात् ।
विहाय सर्वे तव पुत्रमुग्रं
पातं गदायाः परिहर्तुकामाः ॥ ३६ ॥
अपक्रान्तास्तुमुले सम्प्रमर्दे
सुदारुणे भारत मोहनीये ।
अमूढचेतास्त्वथ चित्रसेनो
महागदामापतन्तीं निरीक्ष्य ॥ ३७ ॥

यमदण्डके समान भयंकर उस गदाको उठी हुई देख समस्त कौरव आपके पुत्रको वहीं छोड़कर गदाके उग्र आघातसे बचनेके लिये चारों ओर भाग गये। भारत! मोहमें डालनेवाले उस अत्यन्त दारुण एवं भयंकर जनसंहारमें उस महागदाको आती देख केवल चित्रसेनका चित्त किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हुआ था ॥ ३६-३७ ॥

रथं समुत्सृज्य पदातिराजौ
प्रगृह्य खड्गं विपुलं च चर्म ।

अवप्लुतः सिंह इवाचलाग्रा-
ज्जगामान्यं भूमिप भूमिदेशम् ॥ ३८ ॥

राजन् ! वह अपने रथको छोड़कर हाथमें बहुत बड़ी ढाल और तलवार ले पर्वतके शिखरसे सिंहकी भाँति कूद पड़ा और पैदल ही विचरता हुआ युद्धस्थलके दूसरे प्रदेशमें चला गया ॥ ३८ ॥

गदापि सा प्राप्य रथं सुचित्रं
साश्वं ससूतं विनिहत्य संख्ये।
जगाम भूमिं ज्वलिता महोल्का
भ्रष्टाम्बराद् गामिव सम्पतन्ती ॥ ३९ ॥

वह गदा भी चित्रसेनके विचित्र रथपर पहुँचकर उसे घोड़े और सारथिसहित चूर-चूर करके आकाशसे टूटकर पृथ्वीपर गिरनेवाली जलती हुई विशाल उल्काके समान रणभूमिमें जा गिरी ॥ ३९ ॥

आश्चर्यभूतं सुमहत् त्वदीया
दृष्ट्वैव तद् भारत सम्प्रहृष्टाः।
सर्वे विनेदुः सहिताः समन्तात्
पुपूजिरे तव पुत्रस्य शौर्यम् ॥ ४० ॥

भारत ! इस समय आपके समस्त सैनिक चित्रसेनका वह महान् आश्चर्यमय कार्य देखकर बड़े प्रसन्न हुए। वे सभी सब ओरसे एक साथ आपके पुत्रके शौर्यकी प्रशंसा और गर्जना करने लगे ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके तीन श्लोक मिलाकर कुल ४३ श्लोक हैं)

षडशीतितमोऽध्यायः

भीष्म और युधिष्ठिरका युद्ध, धृष्टद्युम्न और सात्यकिके साथ विन्द और अनुविन्दका संग्राम, द्रोण आदिका पराक्रम और सातवें दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

**विरथं तं समासाद्य चित्रसेनं यशस्विनम्।
रथमारोपयामास विकर्णस्तनयस्तव ॥ १ ॥**

संजय कहते हैं—राजन्! रथहीन हुए अपने यशस्वी भाई चित्रसेनके पास जाकर आपके पुत्र विकर्णने उसे अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ १ ॥

**तस्मिंस्तथा वर्तमाने तुमुले संकुले भृशम्।
भीष्मः शान्तनवस्तूर्णं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ २ ॥**

जब इस प्रकार भयंकर और घमासान युद्ध होने लगा, उसी समय शान्तनुनन्दन भीष्मने तुरंत ही राजा युधिष्ठिरपर धावा किया ॥ २ ॥

**ततः सरथनागाश्वाः समकम्पन्त सृंजयाः।
मृत्योरास्यमनुप्राप्तं मेनिरे च युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥**

यह देख सृंजयवीर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित काँप उठे। उन्होंने युधिष्ठिरको मौतके मुखमें पड़ा हुआ ही समझा ॥ ३ ॥

**युधिष्ठिरोऽपि कौरव्यो यमाभ्यां सहितः प्रभुः।
महेष्वासं नरव्याघ्रं भीष्मं शान्तनवं ययौ ॥ ४ ॥**

कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिर भी नकुल और सहदेवके साथ महाधनुर्धर पुरुषसिंह शान्तनुनन्दन भीष्मका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ४ ॥

**ततः शरसहस्राणि प्रमुञ्चन् पाण्डवो युधि।
भीष्मं संछादयामास यथा मेघो दिवाकरम् ॥ ५ ॥**

जैसे मेघ सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें हजारों बाणोंकी वर्षा करते हुए पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने भीष्मको आच्छादित कर दिया ॥ ५ ॥

**तेन सम्यक् प्रणीतानि शरजालानि मारिष।
प्रतिजग्राह गाङ्गेयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥**

आर्य ! उनके द्वारा अच्छी तरह चलाये हुए सैकड़ों और हजारों बाणोंके समूहको गङ्गानन्दन भीष्मने ग्रहण कर लिया (अपने बाणोंद्वारा विफल कर दिया) ॥ ६ ॥

**तथैव शरजालानि भीष्मेणास्तानि मारिष।
आकाशे समदृश्यन्त खगमानां व्रजा इव ॥ ७ ॥**

आर्य ! इसी प्रकार भीष्मके चलाये हुए बाणसमूह भी आकाशमें पक्षियोंके झुंडके समान दिखायी देने लगे ॥ ७ ॥

**निमेषार्धेन कौन्तेयं भीष्मः शान्तनवो युधि।
अदृश्यं समरे चक्रे शरजालेन भागशः ॥ ८ ॥**

शान्तनुनन्दन भीष्मने युद्धस्थलमें आधे निमेषमें ही

पृथक्-पृथक् बाणोंका जाल-सा बिछाकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको अदृश्य कर दिया ॥ ८ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा कौरव्यस्य महात्मनः ।
नाराचं प्रेषयामास क्रुद्ध आशीविषोपमम् ॥ ९ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए राजा युधिष्ठिरने कुरुवंशी महात्मा भीष्मपर विषधर सर्पके समान नाराचका प्रहार किया ॥ ९ ॥

असम्प्राप्तं ततस्तं तु क्षुरप्रेण महारथः ।
चिच्छेद समरे राजन् भीष्मस्तस्य धनुश्च्युतम् ॥ १० ॥

राजन्! परंतु महारथी भीष्मने युधिष्ठिरके धनुषसे छूटे हुए उस नाराचको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही समरभूमिमें एक क्षुरप्रद्वारा काट गिराया ॥ १० ॥

तं तु छित्त्वा रणे भीष्मो नाराचं कालसम्मितम् ।
निजघ्ने कौरवेन्द्रस्य हयान् काञ्चनभूषणान् ॥ ११ ॥

इस प्रकार रणभूमिमें कालके समान भयंकर उस नाराचको काटकर भीष्मने कौरवराज युधिष्ठिरके सुवर्णाभूषणोंसे युक्त घोड़ोंको मार डाला ॥ ११ ॥

(हताश्वे तु रथे तिष्ठञ्शक्तिं चिक्षेप धर्मराट् ।
तामापतन्तीं सहसा कालपाशोपमां शिताम् ॥
चिच्छेद समरे भीष्मः शरैः संनतपर्वभिः ॥)

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथमें खड़े हुए धर्मराज युधिष्ठिरने भीष्मपर शक्ति चलायी। कालपाशके समान तीखी एवं भयंकर उस शक्तिको सहसा अपनी ओर आती देख भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उसे रणभूमिमें काट गिराया ॥

हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आरुरोह रथं तूर्णं नकुलस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर जिसके घोड़े मारे गये थे, उस रथको त्यागकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर तुरंत ही महामना नकुलके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ १२ ॥

यमावपि हि संक्रुद्धः समासाद्य रणे तदा ।
शरैः संछादयामास भीष्मः परपुरंजयः ॥ १३ ॥

उस समय रणक्षेत्रमें नकुल और सहदेवको पाकर शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले भीष्मने अत्यन्त कुपित हो उन्हें बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १३ ॥

तौ तु दृष्ट्वा महाराज भीष्मबाणप्रपीडितौ ।
जगाम परमां चिन्तां भीष्मस्य वधकाङ्क्षया ॥ १४ ॥

महाराज! नकुल और सहदेवको भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित देख युधिष्ठिर अपने मनमें भीष्मके वधकी इच्छा लेकर गहन विचार करने लगे ॥ १४ ॥

ततो युधिष्ठिरो वश्यान् राज्ञस्तान् समचोदयत् ।
भीष्मं शान्तनवं सर्वे निहतेति सुहृद्गणान् ॥ १५ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने अपने वशवर्ती नरेशों तथा सुहृद्गणोंको यह आदेश दिया कि सब लोग मिलकर शान्तनुनन्दन भीष्मको मार डालो ॥ १५ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ।
महता रथवंशेन परिवव्रुः पितामहम् ॥ १६ ॥

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर समस्त राजाओंने विशाल रथसमूहके द्वारा पितामह भीष्मको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १६ ॥

स समन्तात् परिवृतः पिता देवव्रतस्तव ।
चिक्रीड धनुषा राजन् पातयानो महारथान् ॥ १७ ॥

राजन्! सब ओरसे घिरे हुए आपके ताऊ देवव्रत सब महारथियोंको धराशायी करते हुए अपने धनुषके द्वारा क्रीडा करने लगे ॥ १७ ॥

तं चरन्तं रणे पार्था ददृशुः कौरवं युधि ।
मृगमध्यं प्रविश्येव यथा सिंहशिशुं वने ॥ १८ ॥

जैसे सिंहका बच्चा वनके भीतर मृगोंके झुंडमें घुसकर खेल कर रहा हो, उसी प्रकार कुन्तीकुमारोंने युद्धमें विचरते हुए कुरुवंशी भीष्मको वहाँ देखा ॥ १८ ॥

तर्जयानं रणे वीरांस्त्रासयानं च सायकैः ।
दृष्ट्वा त्रेसुर्महाराज सिंहं मृगगणा इव ॥ १९ ॥

महाराज! वे रणभूमिमें वीरोंको डाँटते और बाणोंके द्वारा उन्हें त्रास देते थे। जैसे मृगोंके समूह सिंहको देखकर डर जाते हैं, उसी प्रकार सब राजा भीष्मको देखकर भयभीत हो गये ॥ १९ ॥

रणे भारतसिंहस्य ददृशुः क्षत्रिया गतिम् ।
अग्नेर्वायुसहायस्य यथा कक्षं दिधक्षतः ॥ २० ॥

जैसे वायुकी सहायतासे घास-फूसको जलानेकी इच्छावाली अग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार भरतवंशके सिंह भीष्मके स्वरूपको रणक्षेत्रमें क्षत्रियोंने अत्यन्त तेजस्वी देखा ॥ २० ॥

शिरांसि रथिनां भीष्मः पातयामास संयुगे ।
तालेभ्यः परिपक्वानि फलानि कुशलो नरः ॥ २१ ॥

भीष्म उस युद्धस्थलमें रथियोंके मस्तक काट-काटकर उसी प्रकार गिराने लगे, जैसे कोई कुशल मनुष्य ताड़के वृक्षोंसे पके हुए फलोंको गिरा रहा हो ॥ २१ ॥

पतद्भिश्च महाराज शिरोभिर्धरणीतले ।
बभूव तुमुलः शब्दः पततामश्मनामिव ॥ २२ ॥

महाराज! भूतलपर पटापट गिरते हुए मस्तकोंका आकाशसे पृथ्वीपर पड़नेवाले पत्थरोंके समान भयंकर शब्द हो रहा था ॥ २२ ॥

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयानके ।
सर्वेषामेव सैन्यानामासीद् व्यतिकरो महान् ॥ २३ ॥

उस भयानक तुमुल युद्धके होते समय सभी सेनाओंका आपसमें भारी संघर्ष हो गया ॥ २३ ॥

भिन्नेषु तेषु व्यूहेषु क्षत्रिया इतरेतरम् ।
एकमेकं समाहूय युद्धायैवावतस्थिरे ॥ २४ ॥

उन सबका व्यूह भङ्ग हो जानेपर भी सम्पूर्ण क्षत्रिय परस्पर एक-एकको ललकारते हुए युद्धके लिये डटे ही रहे ॥

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम् ।
अभिदुद्राव वेगेन तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥

शिखण्डी भरतवंशके पितामह भीष्मके पास पहुँचकर उनकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा और बोला—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २५ ॥

अनादृत्य ततो भीष्मस्तं शिखण्डिनमाहवे ।
प्रययौ सृंजयान् क्रुद्धः स्त्रीत्वं चिन्त्य शिखण्डिनः॥२६॥

किंतु भीष्मने शिखण्डीके स्त्रीत्वका चिन्तन करके युद्धमें उसकी अवहेलना कर दी और संजयवंशी क्षत्रियोंपर क्रोधपूर्वक आक्रमण किया ॥ २६ ॥

सृंजयास्तु ततो दृष्ट्वा हृष्टं भीष्मं महारणे ।
सिंहनादांश्च विविधांश्चक्रुः शङ्खविमिश्रितान् ॥ २७ ॥

तब सृंजयगण उस महायुद्धमें हर्ष और उत्साहसे भरे हुए भीष्मको देखकर शङ्खध्वनिके साथ नाना प्रकारसे सिंहनाद करने लगे ॥ २७॥

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ।
पश्चिमां दिशमासाद्य स्थिते सवितरि प्रभो ॥ २८ ॥

प्रभो ! जब सूर्य पश्चिम दिशामें ढलने लगे, उस समय युद्धका रूप और भी भयंकर हो गया । रथसे रथ और हाथी-से हाथी भिड़ गये ॥ २८ ॥

धृष्टद्युम्नोऽथ पाञ्चाल्यः सात्यकिश्च महारथः ।
पीडयन्तौ भृशं सैन्यं शक्तितोमरवृष्टिभिः ॥ २९ ॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न तथा महारथी सात्यकि ये दोनों शक्ति और तोमरोंकी वर्षासे कौरवसेनाको अत्यन्त पीड़ा देने लगे ॥ २९ ॥

शस्त्रैश्च बहुभी राजञ्जघ्नतुस्तावकान् रणे ।
ते हन्यमानाः समरे तावका भरतर्षभ ॥ ३० ॥
आर्या युद्धे मतिं कृत्वा न त्यजन्ति स्म संयुगम् ।
यथोत्साहं तु समरे निजघ्नुस्तावका रणे ॥ ३१ ॥

राजन् ! उन दोनोंने युद्धमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रों-द्वारा आपके सैनिकोंका संहार करना आरम्भ किया । भरत-श्रेष्ठ ! उनके द्वारा समरमें मारे जाते हुए आपके सैनिक युद्ध-विषयक श्रेष्ठ बुद्धिका सहारा लेकर ही संग्राम छोड़कर भाग नहीं रहे थे । आपके योद्धा भी रणक्षेत्रमें पूर्ण उत्साहके साथ शत्रुओंका संहार करते थे ॥ ३०-३१ ॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् तावकानां महात्मनाम् ।
वध्यतां समरे राजन् पार्षतेन महात्मना ॥ ३२ ॥

राजन् ! महामना धृष्टद्युम्न समराङ्गणमें जब आपके योद्धाओंका वध कर रहे थे, उस समय उन महामनस्वी वीरोंका आर्तक्रन्दन बड़े जोरसे सुनायी देता था ॥ ३२ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तावकानां महारथौ ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पार्षतं प्रत्युपस्थितौ ॥ ३३ ॥

आपके सैनिकोंका वह घोर आर्तनाद सुनकर अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द धृष्टद्युम्नका सामना करनेके लिये उपस्थित हुए ॥ ३३ ॥

तौ तस्य तुरगान् हत्वा त्वरमाणौ महारथौ ।
छादयामासतुरुभौ शरवर्षेण पार्षतम् ॥ ३४ ॥

उन दोनों महारथियोंने बड़ी उतावलीके साथ धृष्टद्युम्न-के घोड़ोंको मारकर उन्हें भी अपने बाणोंकी वर्षासे ढक दिया॥

अवप्लुत्याथ पाञ्चाल्यो रथात् तूर्णं महाबलः ।
आरुरोह रथं तूर्णं सात्यकेस्तु महात्मनः ॥ ३५ ॥

तब महाबली धृष्टद्युम्न तुरंत ही अपने रथसे कूदकर महामना सात्यकिके रथपर शीघ्रतापूर्वक चढ़ गये ॥ ३५ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा महत्या सेनया वृतः ।
आवन्त्यौ समरे क्रुद्धावभ्ययात् स परंतपौ ॥ ३६ ॥

तदनन्तर विशाल सेनासे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरने शत्रुओंको तपानेवाले और क्रोधमें भरे हुए विन्द-अनुविन्दपर आक्रमण किया ॥ ३६ ॥

तथैव तव पुत्रोऽपि सर्वोद्योगेन मारिष ।
विन्दानुविन्दौ समरे परिवार्यावतस्थिवान् ॥ ३७ ॥

आर्य ! इसी प्रकार आपका पुत्र दुर्योधन भी सम्पूर्ण उद्योगसे समरभूमिमें विन्द और अनुविन्दकी रक्षाके लिये उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़ा हो गया ॥ ३७ ॥

अर्जुनश्चापि संक्रुद्धः क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ।
अयोधयत संग्रामे वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ३८ ॥

क्षत्रियशिरोमणि अर्जुन भी अत्यन्त कुपित होकर क्षत्रियोंके साथ संग्रामभूमिमें उसी प्रकार युद्ध करने लगे, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंके साथ करते हैं ॥ ३८ ॥

द्रोणस्तु समरे क्रुद्धः पुत्रस्य प्रियकृत् तव ।
व्यधमत् सर्वपञ्चालांस्तूलराशिमिवानलः ॥ ३९ ॥

आपके पुत्रका प्रिय करनेवाले द्रोणाचार्य भी युद्धमें कुपित

होकर समस्त पाञ्चालोंका विनाश करने लगे, मानो आग रूईके ढेरको जला रही हो ॥ ३९ ॥

दुर्योधनपुरोगास्तु पुत्रास्तव विशाम्पते ।
परिवार्य रणे भीष्मं युयुधुः पाण्डवैः सह ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! आपके दुर्योधन आदि पुत्र रणक्षेत्रमें भीष्मको घेरकर पाण्डवोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४० ॥

ततो दुर्योधनो राजा लोहितायति भास्करे ।
अब्रवीत् तावकान् सर्वांस्त्वरध्वमिति भारत ॥ ४१ ॥

भारत ! तदनन्तर जब सूर्यदेवपर संध्याकी लाली छाने लगी, तब राजा दुर्योधनने आपके सभी योद्धाओंसे कहा—जल्दी करो ॥ ४१ ॥

युध्यतां तु तथा तेषां कुर्वतां कर्म दुष्करम् ।
अस्तं गिरिमथारूढे अप्रकाशति भास्करे ॥ ४२ ॥
प्रावर्तत नदी घोरा शोणितौघतरङ्गिणी ।
गोमायुगणसंकीर्णा क्षणेन क्षणदामुखे ॥ ४३ ॥

फिर तो वे सब योद्धा वेगसे युद्ध करते हुए दुष्कर पराक्रम प्रकट करने लगे । उसी समय सूर्य अस्ताचलको चले गये और उनका प्रकाश लुप्त हो गया । इस प्रकार संध्या होते-होते क्षणभरमें रक्तके प्रवाहसे परिपूर्ण भयानक नदी बह चली और उसके तटपर गीदड़ोंकी भीड़ जमा हो गयी ॥४२-४३॥

शिवाभिरशिवाभिश्च रुवद्भिर्भैरवं रवम् ।
घोरमायोधनं जज्ञे भूतसंघैः समाकुलम् ॥ ४४ ॥

भैरव रव फैलानेवाली अमङ्गलमयी सियारिनों तथा भूतगणोंसे व्याप्त होकर वह युद्धका मैदान अत्यन्त भयानक हो गया ॥ ४४ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च तथान्ये पिशिताशिनः ।
समन्ततो व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४५ ॥

चारों ओर राक्षस, पिशाच तथा अन्य मांसाहारी जन्तु सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें दिखायी देने लगे ॥ ४५ ॥

अर्जुनोऽथ सुशर्मादीन् राज्ञस्तान् सपदानुगान् ।
विजित्य पृतनामध्ये ययौ स्वशिबिरं प्रति ॥ ४६ ॥

तदनन्तर अर्जुन राजा दुर्योधनके पीछे चलनेवाले सुशर्मा आदिको सेनामें पराजित करके अपने शिविरको चले गये ।४६।

युधिष्ठिरोऽपि कौरव्यो भ्रातृभ्यां सहितस्तथा ।
ययौ स्वशिबिरं राजा निशायां सेनया वृतः ॥ ४७ ॥

तथा सेनासे घिरे हुए कुरुकुलनन्दन राजा युधिष्ठिर भी दोनों भाई नकुल-सहदेवके साथ रातमें अपने शिविरमें पधारे ॥

भीमसेनोऽपि राजेन्द्र दुर्योधनमुखान् रथान् ।
अवजित्य ततः संख्ये ययौ स्वशिबिरं प्रति ॥ ४८ ॥

राजेन्द्र ! तब भीमसेन भी दुर्योधन आदि रथियोंको युद्धमें जीतकर शिविरको लौट गये ॥ ४८ ॥

दुर्योधनोऽपि नृपतिः परिवार्य महारणे ।
भीष्मं शान्तनवं तूर्णं प्रयातः शिबिरं प्रति ॥ ४९ ॥

राजा दुर्योधन भी महायुद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको घेरकर तुरंत ही अपने शिविरको लौट गया ॥ ४९ ॥

द्रोणो द्रौणिः कृपः शल्यः कृतवर्मा च सात्वतः ।
परिवार्य चमूं सर्वां प्रययुः शिबिरं प्रति ॥ ५० ॥

द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, शल्य तथा यदुवंशी कृतवर्मा—ये सारी सेनाको घेरकर अपने शिविरकी ओर चल दिये ॥ ५० ॥

तथैव सात्यकी राजन् धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
परिवार्य रणे योधान् ययतुः शिबिरं प्रति ॥ ५१ ॥

राजन् ! इसी प्रकार सात्यकि और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न भी युद्धमें अपने योद्धाओंको घेरकर शिविरकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ५१ ॥

एवमेते महाराज तावकाः पाण्डवैः सह ।
पर्यवर्तन्त सहिता निशाकाले परंतप ॥ ५२ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! इस प्रकार रातके समय आपके योद्धा पाण्डवोंके साथ अपने-अपने शिविरमें लौट आये ॥ ५२ ॥

ततः स्वशिबिरं गत्वा पाण्डवाः कुरवस्तथा ।
न्यवसन्त महाराज पूजयन्तः परस्परम् ॥ ५३ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् पाण्डव तथा कौरव अपने शिबिरमें जाकर आपसमें एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए विश्राम करने लगे ॥ ५३ ॥

रक्षां कृत्वा ततः शूरा न्यस्य गुल्मान् यथाविधि ।
अपनीय च शल्यानि स्नात्वा च विविधैर्जलैः ॥ ५४ ॥
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे संस्तूयन्तश्च वन्दिभिः ।
गीतवादित्रशब्देन व्यक्रीडन्त यशस्विनः ॥ ५५ ॥

तदनन्तर उभय पक्षके शूरवीरोंने सब ओर सैनिक गुल्मोंको* नियुक्त करके विधिपूर्वक अपने-अपने शिविरोंकी रक्षाकी व्यवस्था की । फिर अपने शरीरसे बाणोंको निकालकर भाँति-भाँतिके जलसे स्नान करके स्वस्तिवाचन करानेके अनन्तर बन्दीजनोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए वे सभी यशस्वी वीर गीत और वाद्योंके शब्दोंसे क्रीडा-विनोद करने लगे ॥ ५४-५५ ॥

मुहूर्तादिव तत् सर्वमभवत् स्वर्गसंनिभम् ।
न हि युद्धकथां कांचित् तत्राकुर्वन् महारथाः ॥ ५६ ॥

* गुल्मका अर्थ है—प्रधान पुरुषोंसे युक्त रक्षकदल, जिसमें ९ हाथी, ९ रथ, २७ घुड़सवार और ४५ पैदल सैनिक होते हैं।

दो घड़ीतक वहाँका सब कुछ स्वर्गसदृश जान पड़ा। उस समय वहाँ महारथियोंने युद्धकी कोई बातचीत नहीं की॥

ते प्रसुप्ते बले तत्र परिश्रान्तजने नृप।
हस्त्यश्वबहुले रात्रौ प्रेक्षणीये बभूवतुः॥ ५७॥

नरेश्वर! जिनमें हाथी और घोड़ोंकी अधिकता थी, उन दोनों पक्षकी सेनाओंमें सब लोग परिश्रमसे चूर-चूर हो रहे थे। रातके समय जब दोनों सेनाएँ सो गयीं, उस समय वे देखने योग्य हो गयीं॥ ५७॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमदिवसयुद्धावहारे षडशीतितमोऽध्यायः॥ ८६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धका विरामविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥८६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके 1½ श्लोक मिलाकर कुल 58½ श्लोक हैं)

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

आठवें दिन व्यूहबद्ध कौरव-पाण्डव-सेनाओंकी रणयात्रा और उनका परस्पर घमासान युद्ध

संजय उवाच

परिणाम्य निशां तां तु सुखं प्राप्ता जनेश्वराः।
कुरवः पाण्डवाश्चैव पुनर्युद्धाय निर्ययुः॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! नरेश्वर कौरव और पाण्डव निद्रासुखका अनुभव करके वह रात बिताकर पुनः युद्धके लिये निकले॥ १॥

ततः शब्दो महानासीत् सैन्ययोरुभयोर्नृप।
निर्गच्छमानयोः संख्ये सागरप्रतिमो महान्॥ २॥

महाराज! वे दोनों सेनाएँ जब युद्धके लिये शिबिरसे बाहर निकलने लगीं, उस समय संग्रामभूमिमें महासागरकी गर्जनाके समान महान् घोष होने लगा॥ २॥

ततो दुर्योधनो राजा चित्रसेनो विविंशतिः।
भीष्मश्च रथिनां श्रेष्ठो भारद्वाजश्च वै नृप॥ ३॥
एकीभूताः सुसंयत्ताः कौरवाणां महाचमूम्।
व्यूहाय विदधू राजन् पाण्डवान् प्रति दंशिताः॥ ४॥

नरेश्वर! तत्पश्चात् राजा दुर्योधन, चित्रसेन, विविंशति, रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्म तथा द्रोणाचार्य—ये सब संगठित एवं सावधान होकर पाण्डवोंसे युद्ध करनेके लिये कवच बाँधकर कौरवोंके विशाल सैन्यकी व्यूह-रचना करने लगे॥ ३-४॥

भीष्मः कृत्वा महाव्यूहं पिता तव विशाम्पते।
सागरप्रतिमं घोरं वाहनोर्मितरङ्गिणम्॥ ५॥

प्रजानाथ! आपके ताऊ भीष्मने समुद्रके समान विशाल एवं भयंकर महाव्यूहका निर्माण किया, जिसमें हाथी, घोड़े आदि वाहन उत्ताल तरंगोंके समान प्रतीत होते थे॥ ५॥

अग्रतः सर्वसैन्यानां भीष्मः शान्तनवो ययौ।
मालवैर्दाक्षिणात्यैश्च आवन्त्यैश्च समन्वितः॥ ६॥

शान्तनुनन्दन भीष्म सम्पूर्ण सेनाओंके आगे-आगे चले। उनके साथ मालवा, दक्षिण प्रान्त तथा अवन्तीदेशके योद्धा थे॥

ततोऽनन्तरमेवासीद् भारद्वाजः प्रतापवान्।
पुलिन्दैः पारदैश्चैव तथा क्षुद्रकमालवैः॥ ७॥

उनके पीछे पुलिन्द, पारद, क्षुद्रक तथा मालवदेशीय वीरोंके साथ प्रतापी द्रोणाचार्य थे॥ ७॥

द्रोणादनन्तरं यत्तो भगदत्तः प्रतापवान्।
मगधैश्च कलिङ्गैश्च पिशाचैश्च विशाम्पते॥ ८॥

प्रजेश्वर! द्रोणके पीछे मागध, कलिंग और पिशाच सैनिकोंके साथ प्रतापी राजा भगदत्त जा रहे थे, जो बड़े सावधान थे॥ ८॥

प्राग्ज्योतिषादनु नृपः कौसल्योऽथ बृहद्बलः।
मेकलैः कुरुविन्दैश्च त्रैपुरैश्च समन्वितः॥ ९॥

प्राग्ज्योतिषपुरनरेशके पीछे कोसलदेशके राजा बृहद्बल थे, जो मेकल, कुरुविन्द तथा त्रिपुराके सैनिकोंके साथ थे॥

बृहद्बलात् ततः शूरस्त्रिगर्तः प्रस्थलाधिपः।
काम्बोजैर्बहुभिः सार्धं यवनैश्च सहस्रशः॥ १०॥

बृहद्बलके बाद शूरवीर त्रिगर्त थे, जो प्रस्थलाके अधिपति थे। उनके साथ बहुत-से काम्बोज और सहस्रों यवन योद्धा थे॥ १०॥

द्रौणिस्तु रभसः शूरस्त्रैगर्तादनु भारत।
प्रययौ सिंहनादेन नादयानो धरातलम्॥ ११॥

भारत! त्रिगर्तके पीछे वेगशाली वीर अश्वत्थामा चल रहे थे, जो अपने सिंहनादसे समस्त धरातलको निनादित कर रहे थे॥ ११॥

तथा सर्वेण सैन्येन राजा दुर्योधनस्तदा।
द्रौणेरनन्तरं प्रायात् सौदर्यैः परिवारितः॥ १२॥

अश्वत्थामाके पीछे सम्पूर्ण सेना तथा भाइयोंसे घिरा हुआ राजा दुर्योधन चल रहा था॥ १२॥

दुर्योधनादनु ततः कृपः शारद्वतो ययौ।
एवमेष महाव्यूहः प्रययौ सागरोपमः॥ १३॥

दुर्योधनके पीछे शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य चल रहे थे। इस प्रकार यह सागरके समान महाव्यूह युद्धके लिये प्रस्थान कर रहा था ॥ १३ ॥

रेजुस्तत्र पताकाश्च श्वेतच्छत्राणि वा विभो ।
अङ्गदान्यत्र चित्राणि महार्हाणि धनूंषि च ॥ १४ ॥

प्रभो ! उस सेनामें बहुत-सी पताकाएँ और श्वेतच्छत्र शोभा पा रहे थे। विचित्र रंगके बहुमूल्य बाजूबन्द और धनुष सुशोभित होते थे ॥ १४ ॥

तं तु दृष्ट्वा महाव्यूहं तावकानां महारथः ।
युधिष्ठिरोऽब्रवीत् तूर्णं पार्षतं पृतनापतिम् ॥ १५ ॥

राजन्! आपके सैनिकोंका वह महाव्यूह देखकर महारथी युधिष्ठिरने तुरंत ही सेनापति धृष्टद्युम्नसे कहा—॥ १५ ॥

पश्य व्यूहं महेष्वास निर्मितं सागरोपमम् ।
प्रतिव्यूहं त्वमपि हि कुरु पार्षत सत्वरम् ॥ १६ ॥

'महाधनुर्धर द्रुपदकुमार ! देखो, शत्रुसेनाका व्यूह सागरके समान बनाया गया है। तुम भी उसके मुकाबिलेमें शीघ्र ही अपनी सेनाका व्यूह बना लो' ॥ १६ ॥

ततः स पार्षतः क्रूरो व्यूहं चक्रे सुदारुणम् ।
शृङ्गाटकं महाराज परव्यूहविनाशनम् ॥ १७ ॥

महाराज ! तदनन्तर क्रूर स्वभाववाले धृष्टद्युम्नने अत्यन्त दारुण शृङ्गाटक (सिंघाड़े) के आकारवाला व्यूह बनाया, जो शत्रुके व्यूहका विनाश करनेवाला था ॥ १७ ॥

शृङ्गाभ्यां भीमसेनश्च सात्यकिश्च महारथः ।
रथैरनेकसाहस्रैस्तथा हयपदातिभिः ॥ १८ ॥

उसके दोनों शृङ्गोंके स्थानमें भीमसेन और महारथी सात्यकि कई हजार रथियों, घुड़सवारों और पैदलोंके साथ मौजूद थे ॥ १८ ॥

ताभ्यां बभौ नरश्रेष्ठः श्वेताश्वः कृष्णसारथिः ।
मध्ये युधिष्ठिरो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १९ ॥

भीमसेन और सात्यकिके बीचमें यानी उस व्यूहके अग्रभागमें नरश्रेष्ठ श्वेतवाहन अर्जुन खड़े हुए, जिनके सारथि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण थे। मध्यदेशमें राजा युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव थे ॥

अथोत्तरे महेष्वासाः सहसैन्या नराधिपाः ।
व्यूहं तं पूरयामासुर्व्यूहशास्त्रविशारदाः ॥ २० ॥

इनके बाद सेनासहित अनेक महाधनुर्धर नरेश खड़े थे, जो व्यूहशास्त्रके पूर्ण विद्वान् थे। उन्होंने उस व्यूहको प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गसे परिपूर्ण किया था ॥ २० ॥

अभिमन्युस्ततः पश्चाद् विराटश्च महारथः ।
द्रौपदेयाश्च संहृष्टा राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ २१ ॥

उस व्यूहके पिछले भागमें अभिमन्यु, महारथी विराट, हर्षमें भरे हुए द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा राक्षस घटोत्कच विद्यमान थे ॥ २१ ॥

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः ।
अतिष्ठन् समरे शूरा योद्धुकामा जयैषिणः ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार अपनी सेनाके इस महाव्यूहका निर्माण करके युद्धकी कामना और विजयकी अभिलाषा रखनेवाले शूरवीर पाण्डव समरभूमिमें खड़े थे ॥ २२ ॥

भेरीशब्दैश्च विमलैर्विमिश्रैः शङ्खनिःस्वनैः ।
क्ष्वेडितास्फोटितोत्क्रुष्टैर्नादिताः सर्वतो दिशः ॥ २३ ॥

उस समय रणभेरियाँ बज रही थीं। उनके निर्मल शब्दोंसे मिली हुई शङ्ख-ध्वनियों तथा गर्जनसे, ताल ठोंकने और उच्चस्वरसे पुकारने आदिके शब्दोंसे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठी थीं ॥ २३ ॥

ततः शूराः समासाद्य समरे ते परस्परम् ।
नेत्रैरनिमिषै राजन्नवैक्षन्त परस्परम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तदनन्तर समस्त शूरवीर समरभूमिमें पहुँचकर परस्पर एक-दूसरेको एकटक नेत्रोंसे देखने लगे ॥ २४ ॥

नामभिस्ते मनुष्येन्द्र पूर्वं योधाः परस्परम् ।
युद्धाय समवर्तन्त समाहूयेतरेतरम् ॥ २५ ॥

नरेन्द्र ! पहले उन योद्धाओंने एक-दूसरेके नाम ले-लेकर पुकार-पुकारकर युद्धके लिये परस्पर आक्रमण किया ॥

ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ।
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् आपके और पाण्डवोंके सैनिक एक-दूसरेपर अस्त्रोंद्वारा आघात-प्रत्याघात करने लगे। उस समय उनमें अत्यन्त भयंकर घोर युद्ध होने लगा ॥ २६ ॥

नाराचा निशिताः संख्ये सम्पतन्ति स्म भारत ।
व्यात्तानना भयकरा उरगा इव संघशः ॥ २७ ॥

भारत ! उस समय युद्धमें तीखे नाराच नामक बाण इस प्रकार पड़ते थे, मानो मुख फैलाये हुए भयंकर नाग झुंड-के-झुंड गिर रहे हों ॥ २७ ॥

निष्पेतुर्विमलाः शक्त्यस्तैलधौताः सुतेजनाः ।
अम्बुदेभ्यो यथा राजन् भ्राजमानाः शतह्रदाः ॥ २८ ॥

राजन् ! तेलकी धोयी चमचमाती हुई तीखी शक्तियाँ बादलोंसे गिरनेवाली कान्तिमती बिजलियोंके समान सब ओर गिर रही थीं ॥ २८ ॥

गदाश्च विमलैः पट्टैः पिनद्धाः स्वर्णभूषिताः ।
पतन्त्यस्तत्र दृश्यन्ते गिरिशृङ्गोपमाः शुभाः ॥ २९ ॥

सुवर्णभूषित निर्मल लोहपत्रसे जड़ी हुई सुन्दर गदाएँ

पर्वत-शिखरोंके समान वहाँ गिरती दिखायी देती थीं ॥२९॥

निस्त्रिंशाश्च व्यदृश्यन्त विमलाम्बरसंनिभाः ।
आर्षभाणि विचित्राणि शतचन्द्राणि भारत ॥ ३० ॥
अशोभन्त रणे राजन् पात्यमानानि सर्वशः ।

भारत! स्वच्छ आकाशके सदृश खड्ग और सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे विभूषित ऋषभचर्मकी विचित्र ढालें दृष्टिगोचर हो रही थीं। राजन्! रणभूमिमें गिरायी जाती हुई वे सब-की-सब तलवारें और ढालें बड़ी शोभा पा रही थीं ॥ ३०½ ॥

तेऽन्योन्यं समरे सेने युध्यमाने नराधिप ॥ ३१ ॥
अशोभेतां यथा देवदैत्यसेने समुद्यते ।

नरेश्वर! दोनों पक्षोंकी सेनाएँ समरभूमिमें एक-दूसरीसे जूझ रही थीं। उस समय परस्पर युद्धके लिये उद्यत हुई देवसेना और दैत्यसेनाके समान उनकी शोभा हो रही थी ॥

अभ्यद्रवन्त समरे तेऽन्योन्यं वै समन्ततः ॥ ३२ ॥

वे कौरव-पाण्डव सैनिक सब ओर समराङ्गणमें एक-दूसरेपर धावा करने लगे ॥ ३२ ॥

रथास्तु रथिभिस्तूर्णं प्रेषिताः परमाहवे ।
युगैर्युगानि संश्लिष्य युयुधुः पार्थिवर्षभाः ॥ ३३ ॥

रथी अपने रथोंको तुरंत ही उस महायुद्धमें दौड़ाकर ले आये। श्रेष्ठ नरेश रथके जुओंसे जुए भिड़ाकर युद्ध करने लगे ॥

दन्तिनां युध्यमानानां संघर्षात् पावकोऽभवत् ।
दन्तेषु भरतश्रेष्ठ सधूमः सर्वतोदिशम् ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ! सम्पूर्ण दिशाओंमें परस्पर जूझते हुए दन्तार हाथियोंके दाँतोंके आपसमें टकरानेसे उनमें धूमसहित अग्नि प्रकट हो जाती थी ॥ ३४ ॥

प्रासैरभिहताः केचिद् गजयोधाः समन्ततः ।
पतमानाः स्म दृश्यन्ते गिरिशृङ्गान्नगा इव ॥ ३५ ॥

कितने ही हाथीसवार प्रासोंसे घायल होकर पर्वत-शिखरसे गिरनेवाले वृक्षोंके समान सब ओर हाथियोंकी पीठोंसे गिरते दिखायी देते थे ॥ ३५ ॥

पादाताश्चाप्यदृश्यन्त निघ्नन्तोऽथ परस्परम् ।
चित्ररूपधराः शूरा नखरप्रासयोधिनः ॥ ३६ ॥

बघनखों एवं प्रासोंद्वारा युद्ध करनेवाले शूरवीर पैदल सैनिक एक दूसरेपर प्रहार करते हुए विचित्र रूपधारी दिखायी देते थे ॥ ३६ ॥

अन्योन्यं ते समासाद्य कुरुपाण्डवसैनिकाः ।
अस्त्रैर्नानाविधैर्घोरै रणे निन्युर्यमक्षयम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कौरव तथा पाण्डव सैनिक रणक्षेत्रमें एक दूसरेसे भिड़कर नाना प्रकारके भयंकर अस्त्रोंद्वारा विपक्षियोंको यमलोक पहुँचाने लगे ॥ ३७ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मो रथघोषेण नादयन् ।
अभ्यागमद् रणे पार्थान् धनुःशब्देन मोहयन् ॥ ३८ ॥

इतनेहीमें शान्तनुनन्दन भीष्म अपने रथकी घरघराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते और धनुषकी टङ्कारसे लोगोंको मूर्च्छित करते हुए समरभूमिमें पाण्डवसैनिकोंपर चढ़ आये ॥

पाण्डवानां रथाश्चापि नदन्तो भैरवं स्वनम् ।
अभ्यद्रवन्त संयत्ता धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥ ३९ ॥

उस समय धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव महारथी भी भयंकर नाद करते हुए युद्धके लिये संनद्ध होकर उनका सामना करनेको दौड़े ॥ ३९ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तव तेषां च भारत ।
नराश्वरथनागानां व्यतिषक्तं परस्परम् ॥ ४० ॥

भरतनन्दन! फिर तो आपके और पाण्डवोंके योद्धाओंमें परस्पर घमासान युद्ध छिड़ गया। पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथी एक दूसरेसे गुँथ गये ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धारम्भे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

भीष्मका पराक्रम, भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके आठ पुत्रोंका वध तथा दुर्योधन और भीष्मकी युद्धविषयक बातचीत

संजय उवाच

भीष्मं तु समरे क्रुद्धं प्रतपन्तं समन्ततः ।
न शेकुः पाण्डवा द्रष्टुं तपन्तमिव भास्करम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जैसे तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन होता है, उसी प्रकार जब भीष्म उस समरमें कुपित हो सब ओर अपना प्रताप प्रकट करने लगे, उस समय पाण्डवसैनिक उनकी ओर देख न सके ॥ १ ॥

ततः सर्वाणि सैन्यानि धर्मपुत्रस्य शासनात् ।
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं मर्दयन्तं शितैः शरैः ॥ २ ॥

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञासे समस्त सेनाएँ गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़ीं, जो अपने तीखे बाणोंसे पाण्डवसेनाका मर्दन कर रहे थे ॥ २ ॥

स तु भीष्मो रणश्लाघी सोमकान् सहसृंजयान्।
पञ्चालांश्च महेष्वासान् पातयामास सायकैः ॥ ३ ॥

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले भीष्म अपने बाणोंके द्वारा सोमक, सृंजय और पाञ्चाल महाधनुर्धरोंको रणभूमिमें गिराने लगे ॥ ३ ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण पञ्चालाः सोमकैः सह।
भीष्ममेवाभ्ययुस्तूर्णं त्यक्त्वा मृत्युकृतं भयम् ॥ ४ ॥

भीष्मके द्वारा घायल किये जाते हुए वे सोमक (सृंजय) और पाञ्चाल भी मृत्युका भय छोड़कर तुरंत भीष्मपर ही टूट पड़े ॥ ४ ॥

स तेषां रथिनां वीरो भीष्मः शान्तनवो युधि।
चिच्छेद सहसा राजन् बाहूनथ शिरांसि च ॥ ५ ॥

राजन्! वीर शान्तनुनन्दन भीष्म उस युद्धके मैदानमें सहसा उन रथियोंकी भुजाओं और मस्तकोंको काट-काटकर गिराने लगे ॥ ५ ॥

विरथान् रथिनश्चक्रे पिता देवव्रतस्तव।
पतितान्युत्तमाङ्गानि हयेभ्यो हयसादिनाम् ॥ ६ ॥

आपके ताऊ देवव्रतने बहुत-से रथियोंको रथहीन कर दिया। घोड़ोंसे घुड़सवारोंके मस्तक कट-कटकर गिरने लगे ॥

निर्मनुष्यांश्च मातङ्गाञ्शयानान् पर्वतोपमान्।
अपश्याम महाराज भीष्मास्त्रेण प्रमोहितान् ॥ ७ ॥

महाराज! हमने देखा, भीष्मके अस्त्रसे मूर्च्छित हो बहुत-से पर्वताकार गजराज रणभूमिमें पड़े हैं और उनके पास कोई मनुष्य नहीं है ॥ ७ ॥

न तत्रासीत् पुमान् कश्चित् पाण्डवानां विशाम्पते।
अन्यत्र रथिनां श्रेष्ठाद् भीमसेनान्महाबलात् ॥ ८ ॥

प्रजानाथ! उस समय वहाँ रथियोंमें श्रेष्ठ महाबली भीमसेनके सिवा पाण्डवपक्षका कोई भी वीर भीष्मके सामने नहीं ठहर सका ॥ ८ ॥

स हि भीष्मं समासाद्य ताडयामास संयुगे।
ततो निष्टानको घोरो भीष्मभीमसमागमे ॥ ९ ॥
बभूव सर्वसैन्यानां घोररूपो भयानकः।
तथैव पाण्डवा हृष्टाः सिंहनादमथानदन् ॥ १० ॥

वे ही युद्धमें भीष्मका सामना करते हुए उनपर अपने बाणोंका प्रहार कर रहे थे। भीष्म और भीमसेनमें युद्ध होते समय सम्पूर्ण सेनाओंमें भयंकर कोलाहल मच गया और पाण्डव हर्षमें भरकर जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ ९-१० ॥

ततो दुर्योधनो राजा सोदर्यैः परिवारितः।
भीष्मं जुगोप समरे वर्तमाने जनक्षये ॥ ११ ॥

जिस समय युद्धमें वह जनसंहार हो रहा था, उसी समय राजा दुर्योधन अपने भाइयोंसे घिरा हुआ वहाँ आ पहुँचा और भीष्मकी रक्षा करने लगा ॥ ११ ॥

भीमस्तु सारथिं हत्वा भीष्मस्य रथिनां वरः।
प्रद्रुताश्वे रथे तस्मिन् द्रवमाणे समन्ततः ॥ १२ ॥

इसी समय रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने भीष्मके सारथिको मार डाला। फिर तो उनके घोड़े उस रथको लेकर रणभूमिमें चारों ओर दौड़ लगाने लगे ॥ १२ ॥

(चचार युधि राजेन्द्र भीमो भीमपराक्रमः।
सुनाभस्तव पुत्रो वै भीमसेनमुपाद्रवत् ॥
जघान निशितैर्बाणैर्भीमं विव्याध सप्तभिः।
भीमसेनः सुसंक्रुद्धः शरेण नतपर्वणा ॥)
सुनाभस्य शरेणाशु शिरश्चिच्छेद भारत।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन स हतो न्यपतद् भुवि ॥ १३ ॥

राजेन्द्र! भयंकर पराक्रमी भीमसेन युद्धमें सब ओर विचरने लगे। उस समय आपके पुत्र सुनाभने भीमसेनपर धावा किया और उन्हें सात तीखे बाणोंसे बींध डाला। भारत! तब भीमसेनने भी अत्यन्त कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले क्षुरप्रनामक बाणसे शीघ्र ही सुनाभका सिर काट दिया। उस तीखे क्षुरप्रसे मारा जाकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥

हते तस्मिन् महाराज तव पुत्रे महारथे।
नामृष्यन्त रणे शूराः सोदराः सप्त संयुगे ॥ १४ ॥

महाराज! आपके उस महारथी पुत्रके मारे जानेपर उसके सात रणवीर भाई, जो वहीं मौजूद थे, भीमसेनका यह अपराध सहन न कर सके ॥ १४ ॥

आदित्यकेतुर्बह्वाशी कुण्डधारो महोदरः।
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षः सुदुर्जयः ॥ १५ ॥
पाण्डवं चित्रसंनाहा विचित्रकवचध्वजाः।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे योद्धुकामारिमर्दनाः ॥ १६ ॥

आदित्यकेतु, बह्वाशी, कुण्डधार, महोदर, अपराजित, पण्डितक और अत्यन्त दुर्जय वीर विशालाक्ष—ये सातों शत्रुमर्दन भाई विचित्र वेशभूषासे सुसज्जित हो विचित्र कवच और ध्वज धारण किये संग्रामभूमिमें युद्धकी इच्छासे पाण्डुपुत्र भीमसेनपर टूट पड़े ॥ १५-१६ ॥

महोदरस्तु समरे भीमं विव्याध पत्रिभिः।
नवभिर्वज्रसंकाशैर्नमुचिं वृत्रहा यथा ॥ १७ ॥

जैसे वृत्रविनाशक इन्द्रने नमुचि नामक दैत्यपर प्रहार किया था, उसी प्रकार महोदरने समरभूमिमें अपने वज्र-सरीखे नौ बाणोंसे भीमसेनको घायल कर दिया ॥ १७ ॥

आदित्यकेतुः सप्तत्या बह्वाशी चापि पञ्चभिः।
नवत्या कुण्डधारश्च विशालाक्षश्च पञ्चभिः ॥ १८ ॥

अपराजितो महाराज पराजिष्णुर्महारथम् ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् भीमसेनं महाबलम् ॥ १९ ॥

महाराज ! आदित्यकेतुने सत्तर, बह्वाशीने पाँच, कुण्डधारने नब्बे, विशालाक्षने पाँच और अपराजितने महारथी महाबली भीमसेनको पराजित करनेके लिये उन्हें बहुत-से बाणोंद्वारा पीडित किया ॥ १८-१९ ॥

रणे पण्डितकश्चैनं त्रिभिर्बाणैः समार्पयत् ।
स तन्न ममृषे भीमः शत्रुभिर्वधमाहवे ॥ २० ॥

पण्डितकने उस युद्धमें तीन बाणोंसे भीमसेनको घायल कर दिया । तब भीम उस रणक्षेत्रमें शत्रुओंद्वारा किये हुए प्रहारको सहन न कर सके ॥ २० ॥

धनुः प्रपीड्य वामेन करेणामित्रकर्शनः ।
शिरश्चिच्छेद समरे शरेणानतपर्वणा ॥ २१ ॥
अपराजितस्य सुनसं तव पुत्रस्य संयुगे ।

उन शत्रुसूदन वीरने बायें हाथसे धनुषको अच्छी तरह दबाकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे समर-भूमिमें आपके पुत्र अपराजितका सुन्दर नासिकासे युक्त मस्तक काट डाला ॥

पराजितस्य भीमेन निपपात शिरो महीम् ॥ २२ ॥
अथापरेण भल्लेन कुण्डधारं महारथम् ।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ २३ ॥

भीमसेनसे पराजित हुए अपराजितका मस्तक धरतीपर जा गिरा । तत्पश्चात् भीमसेनने एक दूसरे भल्लके द्वारा सब लोगोंके देखते-देखते महारथी कुण्डधारको यमराजके लोकमें भेज दिया ॥ २२-२३ ॥

ततः पुनरमेयात्मा प्रसंधाय शिलीमुखम् ।
प्रेषयामास समरे पण्डितं प्रति भारत ॥ २४ ॥

भरतनन्दन ! तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भीमने समरमें पुनः एक बाणका संधान करके उसे पण्डितककी ओर चलाया ॥

स शरः पण्डितं हत्वा विवेश धरणीतलम् ।
यथा नरं निहत्याशु भुजगः कालचोदितः ॥ २५ ॥

जैसे कालप्रेरित सर्प किसी मनुष्यको शीघ्र ही डँसकर लापता हो जाता है, उसी प्रकार वह बाण पण्डितककी हत्या करके धरतीमें समा गया ॥ २५ ॥

विशालाक्षशिरश्छित्त्वा पातयामास भूतले ।
त्रिभिः शरैरदीनात्मा स्मरन् क्लेशं पुरातनम् ॥ २६ ॥

उसके बाद उदार हृदयवाले भीमने अपने पूर्व क्लेशोंका स्मरण करके तीन बाणोंद्वारा विशालाक्षके मस्तकको काटकर धरतीपर गिरा दिया ॥ २६ ॥

महोदरं महेष्वासं नाराचेन स्तनान्तरे ।
विव्याध समरे राजन् स हतो न्यपतद् भुवि ॥ २७ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् उन्होंने महाधनुर्धर महोदरकी छातीमें एक नाराचसे प्रहार किया । उससे मारा जाकर वह युद्धमें धरतीपर गिर पड़ा ॥ २७ ॥

आदित्यकेतोः केतुं च छित्त्वा बाणेन संयुगे ।
भल्लेन भृशतीक्ष्णेन शिरश्चिच्छेद भारत ॥ २८ ॥

भारत ! तदनन्तर भीमने रणक्षेत्रमें एक बाणसे आदित्यकेतुकी ध्वजा काटकर अत्यन्त तीखे भल्लके द्वारा उसका मस्तक भी काट दिया ॥ २८ ॥

बह्वाशिनं ततो भीमः शरेणानतपर्वणा ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो यमस्य सदनं प्रति ॥ २९ ॥

इसके बाद क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने झुकी हुई गाँठ-वाले बाणसे मारकर बह्वाशीको यमलोक भेज दिया ॥२९॥

प्रदुद्रुवुस्ततस्तेऽन्ये पुत्रास्तव विशाम्पते ।
मन्यमाना हि तत् सत्यं सभायां तस्य भाषितम् ॥ ३० ॥

प्रजानाथ ! तब आपके दूसरे पुत्र भीमसेनके द्वारा सभामें की हुई उस प्रतिज्ञाको सत्य मानकर वहाँसे भाग खड़े हुए ॥

ततो दुर्योधनो राजा भ्रातृव्यसनकर्शितः ।
अब्रवीत् तावकान् योधान् भीमोऽयं युधि वध्यताम् ३१

भाइयोंके मरनेसे राजा दुर्योधनको बड़ा कष्ट हुआ । अतः उसने आपके समस्त सैनिकोंको आज्ञा दी कि इस भीमसेनको युद्धमें मार डालो ॥ ३१ ॥

एवमेते महेष्वासाः पुत्रास्तव विशाम्पते ।
भ्रातॄन् संदृश्य निहतान् प्रास्मरंस्ते हि तद् वचः ॥ ३२ ॥
यदुक्तवान् महाप्राज्ञः क्षत्ता हितमनामयम् ।
तदिदं समनुप्राप्तं वचनं दिव्यदर्शिनः ॥ ३३ ॥

प्रजानाथ ! इस प्रकार ये आपके महाधनुर्धर पुत्र अपने भाइयोंको मारा गया देख उन बातोंकी याद करने लगे, जिन्हें महाज्ञानी विदुरने कहा था । वे सोचने लगे—दिव्यदर्शी विदुरने हमारे कुशल एवं हितके लिये जो बात कही थी, वह आज सिरपर आ गयी ॥ ३२-३३ ॥

लोभमोहसमाविष्टः पुत्रप्रीत्या जनाधिप ।
न बुध्यसे पुरा यत् तत् तथ्यमुक्तं वचो महत् ॥ ३४ ॥

जनेश्वर ! आपने अपने पुत्रोंके प्रति प्रेमके कारण लोभ और मोहके वशीभूत हो, विदुरने पहले जो सत्य एवं हितकी महत्त्वपूर्ण बात बतायी थी, उसपर ध्यान नहीं दिया ॥३४॥

तथैव च वधार्थाय पुत्राणां पाण्डवो बली ।
नूनं जातो महाबाहुर्यथा हन्ति स्म कौरवान् ॥ ३५ ॥

उनके कथनानुसार ही बलवान् पाण्डुपुत्र महाबाहु भीम आपके पुत्रोंके वधका कारण बनते जा रहे हैं और उसी प्रकार वे कौरवोंका सर्वनाश कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

ततो दुर्योधनो राजा भीष्ममासाद्य संयुगे।
दुःखेन महताऽऽविष्टो विललाप सुदुःखितः ॥ ३६ ॥

उस समय राजा दुर्योधन युद्धभूमिमें भीष्मके पास जाकर महान् दुःखसे व्याप्त एवं अत्यन्त शोकमग्न होकर विलाप करने लगा—॥ ३६ ॥

निहता भ्रातरः शूरा भीमसेनेन मे युधि।
यतमानास्तथान्येऽपि हन्यन्ते सर्वसैनिकाः ॥ ३७ ॥

'पितामह ! भीमसेनने युद्धमें मेरे शूरवीर बन्धुओंको मार डाला और दूसरे भी समस्त सैनिक विजयके लिये पूर्ण प्रयत्न करते हुए भी असफल हो उनके हाथसे मारे जा रहे हैं। ३७।

भवांश्च मध्यस्थतया नित्यमस्मानुपेक्षते।
सोऽहं कुपथमारूढः पश्य दैवमिदं मम ॥ ३८ ॥

'आप मध्यस्थ बने रहनेके कारण सदा हमलोगोंकी उपेक्षा करते हैं। मैं बड़े बुरे मार्गपर चढ़ आया। मेरे इस दुर्भाग्यको देखिये' ॥ ३८ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं पिता देवव्रतस्तव।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् साश्रुलोचनः ॥ ३९ ॥

यह क्रूरतापूर्ण वचन सुनकर आपके ताऊ भीष्म अपने नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए वहाँ दुर्योधनसे इस प्रकार बोले—॥ ३९॥

उक्तमेतन्मया पूर्वं द्रोणेन विदुरेण च।
गान्धार्या च यशस्विन्या तत् त्वं तात न बुद्धवान् ॥४०॥

'तात ! मैंने, द्रोणाचार्यने, विदुरने तथा यशस्विनी गान्धारी देवीने भी पहले ही यह सब बात कह दी थी, परंतु तुमने इसपर ध्यान नहीं दिया ॥ ४० ॥

समयश्च मया पूर्वं कृतो वै शत्रुकर्शन।
नाहं युधि नियोक्तव्यो नाप्याचार्यः कथंचन ॥ ४१ ॥

'शत्रुसूदन ! मैंने पहले ही यह निश्चय प्रकट कर दिया था कि तुम्हें मुझे या द्रोणाचार्यको युद्धमें किसी प्रकार भी नहीं लगाना चाहिये (क्योंकि हमलोगोंका कौरवों तथा पाण्डवोंके प्रति समान स्नेह है) ॥ ४१ ॥

यं यं हि धार्तराष्ट्राणां भीमो द्रक्ष्यति संयुगे।
हनिष्यति रणे नित्यं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४२ ॥

'मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ कि भीमसेन धृतराष्ट्रके पुत्रोंमेंसे जिस-जिसको युद्धमें (अपने सामने आया हुआ) देख लेंगे, उसे प्रतिदिनके संग्राममें अवश्य मार डालेंगे।४२।

स त्वं राजन् स्थिरो भूत्वा रणे कृत्वा दृढां मतिम्।
योधयस्व रणे पार्थान् स्वर्गं कृत्वा परायणम् ॥ ४३ ॥

'अतः राजन् ! तुम स्थिर होकर युद्धके विषयमें अपना दृढ़ निश्चय बना लो और स्वर्गको ही अन्तिम आश्रय मानकर रणभूमिमें पाण्डवोंके साथ युद्ध करो ॥ ४३ ॥

न शक्याः पाण्डवा जेतुं सेन्द्रैरपि सुरासुरैः।
तस्माद् युद्धे स्थिरां कृत्वा मतिं युद्ध्यस्व भारत ॥४४॥

'भारत ! इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी पाण्डवोंको जीत नहीं सकते। अतः युद्धके लिये पहले अपनी बुद्धिको स्थिर कर लो। उसके बाद युद्ध करो'॥४४॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सुनाभादिधृतराष्ट्रपुत्रवधे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सुनाभ आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंका वधविषयक अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥८८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं)

एकोननवतितमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव-सेनाका घमासान युद्ध और भयानक जनसंहार

धृतराष्ट्र उवाच

दृष्ट्वा मे निहतान् पुत्रान् बहूनेकेन संजय।
भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव किमकुर्वत संयुगे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! एकमात्र भीमसेनके द्वारा युद्धमें मेरे बहुत-से पुत्रोंको मारा गया देख भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यने क्या किया ? ॥ १ ॥

अहन्यहनि मे पुत्राः क्षयं गच्छन्ति संजय।
मन्येऽहं सर्वथा सूत दैवेनोपहता भृशम् ॥ २ ॥

मेरे पुत्र प्रतिदिन नष्ट होते जा रहे हैं। सूत ! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि हमलोग सर्वथा अत्यन्त दुर्भाग्यके मारे हुए हैं ॥ २ ॥

यत्र मे तनयाः सर्वे जीयन्ते न जयन्त्युत।
यत्र भीष्मस्य द्रोणस्य कृपस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥
सौमदत्तेश्च वीरस्य भगदत्तस्य चोभयोः।
अश्वत्थाम्नस्तथा तात शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ ४ ॥
अन्येषां चैव शूराणां मध्यगास्तनया मम।
यदहन्यन्त संग्रामे किमन्यद् भागधेयतः ॥ ५ ॥

दुर्भाग्यके अधीन होनेके कारण ही मेरे पुत्र हारते जा रहे हैं; विजयी नहीं हो रहे हैं। जहाँ भीष्म, द्रोण, महामना कृपाचार्य, वीरवर भूरिश्रवा, भगदत्त, अश्वत्थामा तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले अन्य शूरवीरोंके बीचमें रहकर भी मेरे पुत्र प्रतिदिन संग्राममें मारे जाते हैं, वहाँ दुर्भाग्यके

सिवा और क्या कारण हो सकता है ? ॥ ३–५ ॥

न हि दुर्योधनो मन्दः पुरा प्रोक्तमबुध्यत ।
वार्यमाणो मया तात भीष्मेण विदुरेण च ॥ ६ ॥
गान्धार्या चैव दुर्मेधाः सततं हितकाम्यया ।
नाबुध्यत पुरा मोहात् तस्य प्राप्तमिदं फलम् ॥ ७ ॥
यद् भीमसेनः समरे पुत्रान् मम विचेतसः ।
अहन्यहनि संक्रुद्धो नयते यमसादनम् ॥ ८ ॥

मूर्ख दुर्योधनने पहले मेरी कही हुई बातोंपर ध्यान नहीं दिया। तात ! मैंने, भीष्मने, विदुरने तथा गान्धारीने भी सदा हितकी इच्छासे दुर्बुद्धि दुर्योधनको बार-बार मना किया; परंतु मोहवश पूर्वकालमें हमारी ये बातें उसके समझमें नहीं आयीं। उसीका यह फल अब प्राप्त हुआ है, जिससे भीमसेन समराङ्गणमें कुपित होकर मेरे मूर्ख पुत्रोंको प्रतिदिन यमलोक भेज रहा है ॥ ६–८ ॥

संजय उवाच

इदं तत् समनुप्राप्तं क्षत्तुर्वचनमुत्तमम् ।
न बुद्धवानसि विभो प्रोच्यमानं हितं तदा ॥ ९ ॥

संजयने कहा—प्रभो ! उस समय आपने जो विदुरजीके कहे हुए उत्तम एवं हितकारक वचनको नहीं सुना (सुनकर भी उसपर ध्यान नहीं दिया), उसीका यह फल प्राप्त हुआ है ॥

निवारय सुतान् द्यूतात् पाण्डवान् मा द्रुहेति च ।
सुहृदां हितकामानां ब्रुवतां तत् तदेव च ॥ १० ॥
न शुश्रूषसि तद् वाक्यं मर्त्यः पथ्यमिवौषधम् ।
तदेव त्वामनुप्राप्तं वचनं साधुभाषितम् ॥ ११ ॥

उन्होंने कहा था कि 'आप अपने पुत्रोंको जूआ खेलनेसे रोकिये। पाण्डवोंसे द्रोह न कीजिये।' आपका हित चाहनेवाले अन्यान्य सुहृदोंने भी आपसे वे ही बातें कही थीं; परंतु जैसे मरणासन्न पुरुषको हितकारक ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार आप उन हितकर वचनोंको सुनना भी नहीं चाहते थे। अतः श्रेष्ठ विदुरने जैसा बताया था, वैसा ही परिणाम आपके सामने आया है ॥ १०-११ ॥

विदुरद्रोणभीष्माणां तथान्येषां हितैषिणाम् ।
अकृत्वा वचनं पथ्यं क्षयं गच्छन्ति कौरवाः ॥ १२ ॥

विदुर, द्रोण, भीष्म तथा अन्य हितैषियोंके हितकर वचनोंको न माननेके कारण इन कौरवोंका विनाश हो रहा है ॥

तदेतत् समनुप्राप्तं पूर्वमेव विशाम्पते ।
तस्मात् त्वं शृणु तत्त्वेन यथा युद्धमवर्तत ॥ १३ ॥

प्रजापालक नरेश ! यह सब तो पहलेसे ही प्राप्त है। अब आप जिस प्रकार युद्ध हुआ, उसका यथावत् समाचार सुनिये ॥ १३ ॥

मध्याह्ने सुमहारौद्रः संग्रामः समपद्यत ।
लोकक्षयकरो राजंस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १४ ॥

राजन् ! उस दिन दोपहर होते-होते बड़ा भयंकर संग्राम होने लगा, जो सम्पूर्ण जगत्‌के योद्धाओंका विनाश करनेवाला था। वह सब मैं कह रहा हूँ, सुनिये ॥ १४ ॥

ततः सर्वाणि सैन्यानि धर्मपुत्रस्य शासनात् ।
संरब्धान्यभ्यवर्तन्त भीष्ममेव जिघांसया ॥ १५ ॥

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरके आदेशसे क्रोधमें भरी हुई उनकी सारी सेनाएँ भीष्मपर ही टूट पड़ीं। वे भीष्मको मार डालना चाहती थीं ॥ १५ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ।
युक्तानीका महाराज भीष्ममेव समभ्ययुः ॥ १६ ॥

महाराज ! धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा महारथी सात्यकि—इन सबने अपनी सेनाओंके साथ भीष्मपर ही आक्रमण किया ॥

विराटो द्रुपदश्चैव सहिताः सर्वसोमकैः ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे भीष्ममेव महारथम् ॥ १७ ॥

राजा विराट और सम्पूर्ण सोमकोंसहित द्रुपदने संग्राममें महारथी भीष्मपर ही चढ़ाई की ॥ १७ ॥

केकया धृष्टकेतुश्च कुन्तिभोजश्च दंशितः ।
युक्तानीका महाराज भीष्ममेव समभ्ययुः ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! केकय, धृष्टकेतु और कवचधारी कुन्तिभोज—इन सबने अपनी सेनाओंके साथ भीष्मपर ही धावा किया ॥१८॥

अर्जुनो द्रौपदेयाश्च चेकितानश्च वीर्यवान् ।
दुर्योधनसमादिष्टान् राज्ञः सर्वान् समभ्ययुः ॥ १९ ॥

अर्जुन, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी चेकितान—ये दुर्योधनके भेजे हुए समस्त राजाओंपर चढ़ आये ॥ १९ ॥

अभिमन्युस्तथा शूरो हैडिम्बश्च महारथः ।
भीमसेनश्च संक्रुद्धस्तेऽभ्यधावन्त कौरवान् ॥ २० ॥

शूरवीर अभिमन्यु, महारथी घटोत्कच तथा क्रोधमें भरे हुए भीमसेन—इन सबने कौरवोंपर धावा किया ॥ २० ॥

त्रिधाभूतैरवध्यन्त पाण्डवैः कौरवा युधि ।
तथैव कौरवै राजन्नवध्यन्त परे रणे ॥ २१ ॥

राजन् ! पाण्डवोंने तीन दलोंमें विभक्त होकर कौरवोंका वध आरम्भ किया। इसी प्रकार कौरव भी रणभूमिमें शत्रुओंका नाश करने लगे ॥ २१ ॥

द्रोणस्तु रथिनः श्रेष्ठान् सोमकान् सृंजयैः सह ।
अभ्यधावत संक्रुद्धः प्रेषयिष्यन् यमक्षयम् ॥ २२ ॥

द्रोणाचार्यने श्रेष्ठ रथी सोमकों और सृञ्जयोंको यमलोक भेजनेके लिये क्रोधपूर्वक उनके ऊपर धावा बोल दिया ॥२२॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् सृंजयानां महात्मनाम् ।
वध्यतां समरे राजन् भारद्वाजेन धन्विना ॥ २३ ॥

राजन् ! धनुर्धर द्रोणाचार्यके द्वारा समरभूमिमें मारे जाते हुए महामना सृञ्जयोंका महान् आर्तनाद सुनायी देने लगा ॥ २३ ॥

द्रोणेन निहतास्तत्र क्षत्रिया बहवो रणे।
विचेष्टन्तो ह्यदृश्यन्त व्याधिक्लिष्टा नरा इव ॥ २४ ॥

द्रोणाचार्यके मारे हुए बहुत-से क्षत्रिय रणभूमिमें व्याधिग्रस्त मनुष्योंकी भाँति छटपटाते हुए दिखायी देते थे ॥२४॥

कूजतां क्रन्दतां चैव स्तनतां चैव भारत।
अनिशं शुश्रुवे शब्दः क्षुत्क्लिष्टानां नृणामिव ॥ २५ ॥

भरतनन्दन ! भूखसे पीडित मनुष्योंकी भाँति कूजते, क्रन्दन करते और गरजते हुए योद्धाओंका शब्द निरन्तर सुनायी देता था ॥ २५ ॥

तथैव कौरवेयाणां भीमसेनो महाबलः।
चकार कदनं घोरं क्रुद्धः काल इवापरः ॥ २६ ॥

इसी प्रकार महाबली भीमसेन क्रोधमें भरे हुए दूसरे कालके समान कौरव सैनिकोंका घोर संहार करने लगे ॥२६॥

वध्यतां तत्र सैन्यानामन्योन्येन महारणे।
प्रावर्तत नदी घोरा रुधिरौघप्रवाहिनी ॥ २७ ॥

उस महायुद्धमें परस्पर मारकाट करनेवाले सैनिकोंकी रक्तराशिको प्रवाहित करनेवाली एक भयंकर नदी बह चली॥

स संग्रामो महाराज घोररूपोऽभवन्महान्।
कुरूणां पाण्डवानां च यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ २८ ॥

महाराज ! कौरवों और पाण्डवोंका वह घोर महासंग्राम यमलोककी वृद्धि करनेवाला था ॥ २८ ॥

ततो भीमो रणे क्रुद्धो रभसश्च विशेषतः।
गजानीकं समासाद्य प्रेषयामास मृत्यवे ॥ २९ ॥

तब युद्धमें विशेष वेगशाली भीमसेनने कुपित हो हाथियोंकी सेनामें प्रवेशकर उन्हें कालके गालमें भेजना आरम्भ किया ॥

तत्र भारत भीमेन नाराचाभिहता गजाः।
पेतुर्नेदुश्च सेदुश्च दिशश्च परिबभ्रमुः ॥ ३० ॥

भारत ! वहाँ भीमके नाराचोंसे पीडित हुए हाथी गिरते, चिग्घाड़ते, बैठ जाते अथवा सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर लगाने लगते थे ॥ ३० ॥

छिन्नहस्ता महानागाश्छिन्नगात्राश्च मारिष।
क्रौञ्चवद् व्यनदन् भीताः पृथिवीमधिशेरते ॥ ३१ ॥

आर्य ! सूँड़ तथा दूसरे-दूसरे अङ्गोंके कट जानेसे हाथी भयभीत हो क्रौञ्च पक्षीकी भाँति चीत्कार करते और धराशायी हो जाते थे ॥ ३१ ॥

नकुलः सहदेवश्च हयानीकमभिद्रुतौ।
ते हयाः काञ्चनापीडा रुक्मभाण्डपरिच्छदाः ॥ ३२ ॥
वध्यमाना व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः।

नकुल और सहदेवने घुड़सवारोंकी सेनापर आक्रमण किया। राजन् ! उन घोड़ोंने सोनेकी कलँगी तथा सोनेके ही अन्यान्य आभूषण धारण किये थे। वे सब सैकड़ों और सहस्रोंकी संख्यामें मरकर गिरते दिखायी देते थे ॥ ३२½ ॥

पतद्भिस्तुरगै राजन् समास्तीर्यत मेदिनी ॥ ३३ ॥
निर्जिह्वैश्च श्वसद्भिश्च कूजद्भिश्च गतासुभिः।
हयैर्बभौ नरश्रेष्ठ नानारूपधरैर्धरा ॥ ३४ ॥

राजन् ! वहाँ गिरते हुए घोड़ोंकी लाशोंसे सारी पृथ्वी पट गयी। किन्हींकी जीभ निकल आयी थी, कोई लंबी साँस खींच रहे थे, कोई धीरे-धीरे अव्यक्त शब्द करते और कितनोंके प्राण निकल गये थे। नरश्रेष्ठ ! इस प्रकार विभिन्न रूपधारी घोड़ोंसे आच्छादित होनेके कारण इस पृथ्वीकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥ ३३-३४ ॥

अर्जुनेन हतैः संख्ये तथा भारत राजभिः।
प्रबभौ वसुधा घोरा तत्र तत्र विशाम्पते ॥ ३५ ॥

भारत ! प्रजानाथ ! जहाँ-तहाँ अर्जुनके द्वारा युद्धमें मारे गये राजाओंसे भरी हुई वह रणभूमि बड़ी भयानक जान पड़ती थी ॥

रथैर्भग्नैर्ध्वजैश्छिन्नैर्निकृत्तैश्च महायुधैः।
चामरैर्व्यजनैश्चैव छत्रैश्च सुमहाप्रभैः ॥ ३६ ॥
हारैर्निष्कैः सकेयूरैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः।
उष्णीषैरपविद्धैश्च पताकाभिश्च सर्वशः ॥ ३७ ॥
अनुकर्षैः शुभै राजन् योक्त्रैश्चैव सरश्मिभिः।
संकीर्णा वसुधा भाति वसन्ते कुसुमैरिव ॥ ३८ ॥

राजन् ! टूटे हुए रथ, कटे हुए ध्वज, छिन्न-भिन्न हुए बड़े-बड़े आयुध, चवँर, व्यजन, अत्यन्त प्रकाशमान छत्र, सोनेके हार, केयूर, कुण्डलमण्डित मस्तक, गिरे हुए शिरोभूषण (पगड़ी आदि), पताका, सुन्दर अनुकर्ष,* जोत और बागडोर आदिसे आच्छादित हुई वह संग्रामभूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानो वसन्त ऋतुमें उसपर भाँति-भाँतिके फूल गिरे हुए हों ॥ ३६–३८ ॥

एवमेष क्षयो वृत्तः पाण्डूनामपि भारत।
क्रुद्धे शान्तनवे भीष्मे द्रोणे च रथसत्तमे ॥ ३९ ॥
अश्वत्थाम्नि कृपे चैव तथैव कृतवर्मणि।
तथेतरेषु क्रुद्धेषु तावकानामपि क्षयः ॥ ४० ॥

भारत ! शान्तनुनन्दन भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा—इनके कुपित होनेसे पाण्डव सैनिकोंका भी इस प्रकार यह संहार हुआ था। साथ ही पाण्डवोंके कुपित होनेसे आपके योद्धाओंका भी ऐसा ही विकट विनाश हुआ था ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

* रथके नीचे रहनेवाली लकड़ीको अनुकर्ष कहते हैं, जिसके सहारे पहिये रहते हैं।

नवतितमोऽध्यायः

इरावान्‌के द्वारा शकुनिके भाइयोंका तथा राक्षस अलम्बुषके द्वारा इरावान्‌का वध

संजय उवाच

वर्तमाने तथा रौद्रे राजन् वीरवरक्षये।
शकुनिः सौबलः श्रीमान् पाण्डवान् समुपाद्रवत्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! जिस समय बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाला वह भयंकर संग्राम चल रहा था, उसी समय सुबलपुत्र श्रीमान् शकुनिने पाण्डवोंपर आक्रमण किया॥

तथैव सात्वतो राजन् हार्दिक्यः परवीरहा।
अभ्यद्रवत संग्रामे पाण्डवानां वरूथिनीम्॥ २॥

नरेश्वर! इसी प्रकार शत्रुवीरोंका विनाश करनेवाले सात्वतवंशी कृतवर्माने उस संग्राममें पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया॥२॥

ततः काम्बोजमुख्यानां नदीजानां च वाजिनाम्।
आरट्टानां महीजानां सिन्धुजानां च सर्वशः॥ ३॥
वनायुजानां शुभ्राणां तथा पर्वतवासिनाम्।
वाजिनां बहुभिः संख्ये समन्तात् परिवारयन्॥ ४॥
ये चापरे तित्तिरिजा जवना वातरंहसः।
सुवर्णालंकृतैरेतैर्वर्मवद्भिः सुकल्पितैः॥ ५॥
हयैर्वातजवैर्मुख्यैः पाण्डवस्य सुतो बली।
अभ्यवर्तत तत् सैन्यं हृष्टरूपः परंतपः॥ ६॥

तत्पश्चात् काम्बोज देशके अच्छे घोड़े, दरियाई घोड़े, मही, सिन्धु, वनायु, आरट्ट तथा पर्वतीय प्रान्तोंमें होनेवाले सुन्दर घोड़े—इन सबकी बहुत बड़ी सेनाके द्वारा सब ओरसे घिरा हुआ शत्रुओंको संताप देनेवाला पाण्डुनन्दन अर्जुनका बलवान् पुत्र इरावान् हर्षमें भरकर रणभूमिमें कौरवोंकी उस सेनापर चढ़ आया। उसके साथ तित्तिर प्रदेशके शीघ्रगामी घोड़े भी मौजूद थे, जो वायुके समान वेगशाली थे। वे सबके सब सोनेके आभूषणोंसे विभूषित थे। उनके शरीरोंमें कवच बँधे हुए थे और उन्हें सुन्दर साज-बाजसे सजाया गया था। वे सभी घोड़े अच्छी जातिके तथा वायुके तुल्य शीघ्रगामी थे॥

अर्जुनस्य सुतः श्रीमानिरावान् नाम वीर्यवान्।
सुतायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता॥ ७॥

अर्जुनका पराक्रमी पुत्र श्रीमान् इरावान् नागराज कौरव्यकी पुत्रीके गर्भसे बुद्धिमान् अर्जुनद्वारा उत्पन्न किया गया था।७।

ऐरावतेन सा दत्ता अनपत्या महात्मना।
पत्यौ हते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना॥ ८॥
भार्यार्थं तां च जग्राह पार्थः कामवशानुगाम्।
एवमेष समुत्पन्नः परपक्षेऽर्जुनात्मजः॥ ९॥

नागराजकी वह पुत्री संतानहीन थी। उसके मनोनीत पतिको* गरुड़ने मार डाला था, जिससे वह अत्यन्त दीन एवं दयनीय हो रही थी। ऐरावतवंशी कौरव्यनागने उसे अर्जुनको अर्पित किया और अर्जुनने कामके अधीन हुई उस नागकन्याको भार्यारूपमें ग्रहण किया था। इस प्रकार यह अर्जुनपुत्र उत्पन्न हुआ था। वह सदा मातृकुलमें ही रहा॥८-९॥

स नागलोके संवृद्धो मात्रा च परिरक्षितः।
पितृव्येण परित्यक्तः पार्थद्वेषाद् दुरात्मना॥ १०॥

वह नागलोकमें ही माताद्वारा पाल-पोसकर बड़ा किया गया और सब प्रकारसे वहीं उसकी रक्षा की गयी थी। उस बालकके किसी दुरात्मा वयोवृद्ध सम्बन्धीने अर्जुनके प्रति द्वेष होनेके कारण इनके उस पुत्रको त्याग दिया था॥१०॥

रूपवान् बलसम्पन्नो गुणवान् सत्यविक्रमः।
इन्द्रलोकं जगामाशु श्रुत्वा तत्रार्जुनं गतम्॥ ११॥

इरावान् भी रूपवान्, बलवान्, गुणवान् और सत्यपराक्रमी था, बड़े होनेपर जब उसने सुना कि मेरे पिता अर्जुन इस समय इन्द्रलोकमें गये हुए हैं, तब वह शीघ्र ही वहाँ जा पहुँचा॥११॥

सोऽभिगम्य महाबाहुः पितरं सत्यविक्रमः।
अभ्यवादयदव्यग्रो विनयेन कृताञ्जलिः॥ १२॥
न्यवेदयत चात्मानमर्जुनस्य महात्मनः।
इरावानस्मि भद्रं ते पुत्रश्चाहं तव प्रभो॥ १३॥
मातुः समागमो यश्च तत् सर्वं प्रत्यवेदयत्।
तच्च सर्वं यथावृत्तमनुसस्मार पाण्डवः॥ १४॥

उस सत्यपराक्रमी महाबाहु वीरने अपने पिताके पास पहुँचकर शान्तभावसे उन्हें प्रणाम किया और विनयपूर्वक हाथ जोड़ महामना अर्जुनके समक्ष अपना परिचय देते हुए

* यहाँ मूलमें 'पतौ' पाठ है। व्याकरणके अनुसार 'पति' शब्दका सप्तमीके एक वचनमें 'पत्यौ' रूप होता है। अतः जहाँ 'पतौ' पदका प्रयोग है, वहाँ मुख्य 'पति' का वाचक पति शब्द नहीं है। 'पतिरिवाचरतीति पतिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार आचारक्विबन्त 'पति' शब्दका यहाँ प्रयोग है, जिसका अर्थ है—पतिसदृश। तात्पर्य यह कि जिसके लिये कन्याका वाग्दान किया गया है, वह मनोनीत पति ही विवाहके पहलेतक 'पतितुल्य' है। विवाहके बाद साक्षात् 'पति' होता है। इस नागकन्याके मनोनीत पतिको गरुड़ने मार डाला था, इसीलिये 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' इस पाराशर-वचनके अनुसार उसका अर्जुनके साथ सम्बन्ध हुआ और धर्मात्मा अर्जुनने उसे पत्नीरूपसे ग्रहण किया।

बोला—'प्रभो! आपका कल्याण हो। मैं आपका ही पुत्र इरावान् हूँ।' उसकी माताके साथ अर्जुनका जो समागम हुआ था, वह सब उसने निवेदन किया। पाण्डुनन्दन अर्जुनको वह सब वृत्तान्त यथार्थरूपसे स्मरण हो आया॥१२—१४॥

परिष्वज्य सुतं चापि आत्मनः सदृशं गुणैः।
प्रीतिमाननयत् पार्थो देवराजनिवेशने॥१५॥

गुणोंमें अपने ही समान उस पुत्रको हृदयसे लगाकर अर्जुन बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे देवराजके भवनमें ले गये॥

सोऽर्जुनेन समाज्ञप्तो देवलोके तदा नृप।
प्रीतिपूर्वं महाबाहुः स्वकार्यं प्रति भारत॥१६॥

नरेश्वर! भरतनन्दन! उन दिनों देवलोकमें अर्जुनने प्रेमपूर्वक अपने महाबाहु पुत्रको अपना सब कार्य बताते हुए कहा—॥१६॥

युद्धकाले त्वयास्माकं साह्यं देयमिति प्रभो।
बाढमित्येवमुक्त्वा तु युद्धकाल इहागतः॥१७॥

'शक्तिशाली पुत्र! युद्धके अवसरपर तुम हमलोगोंको सहायता देना।' तब बहुत अच्छा कहकर इरावान् चला गया और अब युद्धके अवसरपर यहाँ आया है॥१७॥

कामवर्णजवैरश्वैर्बहुभिः संवृतो नृप।
ते हयाः काञ्चनापीडा नानावर्णा मनोजवाः॥१८॥

नरेश्वर! इरावान्‌के साथ इच्छानुसार रूप-रंग और वेगवाले बहुत-से घोड़े मौजूद थे। वे सब-के-सब सोनेके शिरोभूषण धारण करनेवाले तथा मनके समान वेगशाली थे। उनके रंग अनेक प्रकारके थे॥१८॥

उत्पेतुः सहसा राजन् हंसा इव महोदधौ।
ते त्वदीयान् समासाद्य हयसंघान् मनोजवान्॥१९॥
क्रोडैः क्रोडानभिघ्नन्तो घोणाभिश्च परस्परम्।
निपेतुः सहसा राजन् सुवेगाभिहता भुवि॥२०॥

राजन्! वे घोड़े महासागरमें उड़नेवाले हंसोंके समान सहसा उछले और आपके मनके समान वेगशाली अश्वोंके समुदायमें पहुँचकर छातीसे उनकी छातीमें तथा नासिकासे एक दूसरेकी नासिकापर चोट करने लगे। वे सहसा वेगपूर्वक टकराकर पृथ्वीपर गिरते थे॥१९-२०॥

निपतद्भिस्तथा तैश्च हयसंघैः परस्परम्।
शुश्रुवे दारुणः शब्दः सुपर्णपतने यथा॥२१॥

वे अश्वोंके समुदाय परस्पर टकराकर जब गिरते थे, उस समय गरुडके वेगपूर्वक उतरनेके समान भयंकर शब्द सुनायी देता था॥२१॥

तथैव तावका राजन् समेत्यान्योन्यमाहवे।
परस्परवधं घोरं चक्रुस्ते हयसादिनः॥२२॥

राजन्! इसी प्रकार आपके और पाण्डवोंके घुड़सवार युद्धमें एक दूसरेसे भिड़कर आपसमें भयंकर मार-काट करते थे॥२२॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संकुले तुमुले भृशम्।
उभयोरपि संशान्ता हयसङ्घाः समन्ततः॥२३॥

इस प्रकार अत्यन्त भयानक घमासान युद्ध छिड़ जानेपर दोनों पक्षोंके अश्वसमूह चारों ओर नष्ट हो गये॥२३॥

प्रक्षीणसायकाः शूरा निहताश्वाः श्रमातुराः।
विलयं समनुप्राप्तास्तक्षमाणाः परस्परम्॥२४॥

शूरवीर योद्धाओंके पास बाण समाप्त हो गये। उनके घोड़े मारे गये। वे परिश्रमसे पीड़ित हो परस्पर घात-प्रतिघात करते हुए विनष्ट हो गये॥२४॥

ततः क्षीणे हयानीके किंचिच्छेषे च भारत।
सौबलस्यानुजाः शूरा निर्गता रणमूर्धनि॥२५॥

भारत! इस प्रकार जब घुड़सवारोंकी सेना नष्ट हो गयी और उसका अल्पभाग ही अवशिष्ट रह गया; उस अवस्थामें शकुनिके शूरवीर भाई युद्धके मुहानेपर निकले॥

वायुवेगसमस्पर्शाञ्जवे वायुसमांश्च ते।
आरुह्य बलसम्पन्नान् वयःस्थांस्तुरगोत्तमान्॥२६॥
गजो गवाक्षो वृषभश्चर्मवानार्जवः शुकः।
षडेते बलसम्पन्ना निर्ययुर्महतो बलात्॥२७॥

जिनका स्पर्श वायुवेगके समान दुःसह था, जो वेगमें वायुकी समानता करते थे, ऐसे बलसम्पन्न नयी अवस्थावाले उत्तम घोड़ोंपर सवार हो गज, गवाक्ष, वृषभ, चर्मवान, आर्जव और शुक—ये छः बलवान् वीर अपनी विशाल सेनासे बाहर निकले॥२६-२७॥

वार्यमाणाः शकुनिना तैश्च योधैर्महाबलैः।
संनद्धा युद्धकुशला रौद्ररूपा महाबलाः॥२८॥

यद्यपि शकुनिने उन्हें मना किया, अन्यान्य महाबली योद्धाओंने भी उन्हें रोका, तथापि वे युद्धकुशल, महाबली रौद्ररूपधारी क्षत्रिय कवच आदिसे सुसज्जित हो युद्धके लिये निकल पड़े॥२८॥

तदनीकं महाबाहो भित्त्वा परमदुर्जयम्।
बलेन महता युक्ताः स्वर्गाय विजयैषिणः॥२९॥
विविशुस्ते तदा हृष्टा गान्धारा युद्धदुर्मदाः।

महाबाहो! उस समय उन युद्धदुर्मद गान्धारदेशीय वीरोंने विजय अथवा स्वर्गकी अभिलाषा लेकर विशाल सेनाके साथ पाण्डव-वाहिनीके परम दुर्जयव्यूहका भेदन करके हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण हो उसके भीतर प्रवेश किया॥२९½॥

तान् प्रविष्टांस्तदा दृष्ट्वा इरावानपि वीर्यवान्॥३०॥

अब्रवीत् समरे योधान् विचित्रान् दारुणायुधान्।
यथैते धार्तराष्ट्रस्य योधाः सानुगवाहनाः ॥ ३१ ॥
हन्यन्ते समरे सर्वे तथा नीतिर्विधीयताम्।

तब उन्हें सेनाके भीतर प्रविष्ट हुआ देख पराक्रमी इरावान्ने भी समरभूमिमें भयंकर अस्त्र-शस्त्रवाले अपने विचित्र योद्धाओंसे कहा—'वीरो ! तुम सब लोग संग्राममें ऐसी नीति बना लो, जिससे दुर्योधनके ये समस्त योद्धा अपने सेवकों और सवारियोंसहित मार डाले जायँ' ॥ ३०-३१½ ॥

बाढमित्येवमुक्त्वा ते सर्वे योधा इरावतः ॥ ३२ ॥
जघ्नुस्तेषां बलानीकं दुर्जयं समरे परैः।

तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर इरावान्के समस्त सैनिकोंने उन छहों वीरोंके सैन्यसमूहको, जो समराङ्गणमें दूसरोंके लिये दुर्जय था, मार डाला ॥ ३२½ ॥

तदनीकमनीकेन समरे वीक्ष्य पातितम् ॥ ३३ ॥
अमृष्यमाणास्ते सर्वे सुबलस्यात्मजा रणे।
इरावन्तमभिद्रुत्य सर्वतः पर्यवारयन् ॥ ३४ ॥

अपनी सेनाको समरभूमिमें शत्रुकी सेनाद्वारा मार गिरायी गयी देख सुबलके सभी पुत्र इसे सह न सके। उन्होंने इरावान्पर धावा करके उसे सब ओरसे घेर लिया॥ ३३-३४ ॥

ताडयन्तः शितैः प्रासैश्चोदयन्तः परस्परम्।
ते शूराः पर्यधावन्त कुर्वन्तो महदाकुलम् ॥ ३५ ॥

वे छहों शूर तीखे प्रासोंसे मारते और एक दूसरेको बढ़ावा देते हुए इरावान्पर टूट पड़े तथा उसे अत्यन्त व्याकुल करने लगे ॥ ३५ ॥

इरावानथ निर्भिन्नः प्रासैस्तीक्ष्णैर्महात्मभिः।
स्रवता रुधिरेणाक्तस्तोत्रैर्विद्ध इव द्विपः ॥ ३६ ॥

उन महामनस्वी वीरोंके तीखे प्रासोंसे क्षत-विक्षत होकर इरावान् बहते हुए रक्तसे नहा उठा। अङ्कुशोंसे घायल हुए हाथीके समान व्याकुल हो गया ॥ ३६ ॥

पुरतोऽपि च पृष्ठे च पार्श्वयोश्च भृशाहतः।
एको बहुभिरत्यर्थं धैर्याद् राजन् न विव्यथे ॥ ३७ ॥

राजन् ! वह अकेला था और उसपर प्रहार करनेवालोंकी संख्या बहुत थी। वह आगे-पीछे और अगल-बगलमें अत्यन्त घायल हो गया था; तो भी धैर्यके कारण व्यथित नहीं हुआ ॥ ३७ ॥

इरावानपि संक्रुद्धः सर्वांस्तान् निशितैः शरैः।
मोहयामास समरे विद्ध्वा परपुरंजयः ॥ ३८ ॥

अब इरावान्को भी बड़ा क्रोध हुआ। शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले उस वीरने समरमें तीखे बाणोंद्वारा बींधकर उन सबको मूर्छित कर दिया ॥ ३८ ॥

प्रासानुद्धृत्य तरसा स्वशरीरादरिंदमः।
तैरेव ताडयामास सुबलस्यात्मजान् रणे ॥ ३९ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले इरावान्ने अपने शरीरसे वेगपूर्वक प्रासोंको निकालकर उन्हींके द्वारा रणभूमिमें सुबल-पुत्रोंपर प्रहार किया ॥ ३९ ॥

विकृष्य च शितं खड्गं गृहीत्वा च शरावरम्।
पदातिर्द्रुतमागच्छज्जिघांसुः सौबलान् युधि ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् तीखी तलवार और ढाल निकालकर इरावान्ने युद्धमें सुबलपुत्रोंको मार डालनेकी इच्छासे तुरंत उनके ऊपर पैदल ही धावा किया ॥ ४० ॥

ततः प्रत्यागतप्राणाः सर्वे ते सुबलात्मजाः।
भूयः क्रोधसमाविष्टा इरावन्तमभिद्रुताः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर सुबलपुत्रोंमें प्राणशक्ति पुनः लौट आयी। अतः वे सबके सब सचेत होनेपर पुनः क्रोधमें भर गये और इरावान्पर दौड़े ॥ ४१ ॥

इरावानपि खड्गेन दर्शयन् पाणिलाघवम्।
अभ्यवर्तत तान् सर्वान् सौबलान् बलदर्पितः ॥ ४२ ॥

इरावान् भी बलके अभिमानमें उन्मत्त हो अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाता हुआ खड्गके द्वारा उन समस्त सुबलपुत्रोंका सामना करने लगा ॥ ४२ ॥

लाघवेनाथ चरतः सर्वे ते सुबलात्मजाः।
अन्तरं नाभ्यगच्छन्त चरन्तः शीघ्रगैर्हयैः ॥ ४३ ॥

वह अकेला बड़ी फुर्तीसे पैतरे बदल रहा था और वे सभी सुबलपुत्र शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा विचर रहे थे, तो भी वे अपनेमें उसकी अपेक्षा कोई विशेषता न ला सके ॥४३॥

भूमिष्ठमथ तं संख्ये सम्प्रदृश्य ततः पुनः।
परिवार्य भृशं सर्वे ग्रहीतुमुपचक्रमुः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर इरावान्को भूमिपर स्थित देख वे सभी सुबलपुत्र युद्धमें उसे पुनः भलीभाँति घेरकर बन्दी बनानेकी तैयारी करने लगे ॥ ४४ ॥

अथाभ्याशगतानां स खड्गेनामित्रकर्शनः।
असिहस्तापहस्ताभ्यां तेषां गात्राण्यकृन्तत ॥ ४५ ॥

तब शत्रुसूदन इरावान्ने निकट आनेपर कभी दाहिने और कभी बायें हाथसे तलवार घुमाकर उसके द्वारा शत्रुओंके अङ्गोंको छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ४५ ॥

आयुधानि च सर्वेषां बाहूनपि विभूषितान्।
अपतन्त निकृत्ताङ्गा मृता भूमौ गतासवः ॥ ४६ ॥

उन सबके आयुधों और भूषणभूषित भुजाओंको भी उसने काट डाला। इस प्रकार अङ्ग-अङ्ग कट जानेसे वे प्राणशून्य हो मरकर धरतीपर गिर पड़े ॥ ४६ ॥

वृषभस्तु महाराज बहुधा विपरिक्षतः।
अमुच्यत महारौद्रात् तस्माद् वीरावकर्तनात् ॥ ४७ ॥

महाराज ! वृषभ बहुत घायल हो गया था तो भी वीरोंका उच्छेद करनेवाले उस महाभयंकर संग्रामसे उसने अपने आपको किसी प्रकार मुक्त कर लिया ॥ ४७ ॥

तान् सर्वान् पतितान् दृष्ट्वा भीतो दुर्योधनस्ततः।
अभ्यधावत संक्रुद्धो राक्षसं घोरदर्शनम् ॥ ४८ ॥
आर्ष्यशृङ्गिं महेष्वासं मायाविनमरिंदमम्।
वैरिणं भीमसेनस्य पूर्वं बकवधेन वै ॥ ४९ ॥

उन सबको मार गिराया गया देख दुर्योधन भयभीत हो उठा और वह अत्यन्त क्रोधमें भरकर भयंकर दीखनेवाले राक्षस ऋष्यशृङ्गपुत्र (अलम्बुष) के पास दौड़ा गया। वह राक्षस शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ, मायावी और महान् धनुर्धर था। पूर्वकालमें किये गये बकासुरवधके कारण वह भीमसेनका वैरी बन बैठा था ॥ ४८-४९ ॥

पश्य वीर यथा ह्येष फाल्गुनस्य सुतो बली।
मायावी विप्रियं कर्तुमकार्षीन्मे बलक्षयम् ॥ ५० ॥

उसके पास जाकर दुर्योधनने कहा—'वीर ! देखो, अर्जुनका यह बलवान् पुत्र बड़ा मायावी है। इसने मेरा अप्रिय करनेके लिये मेरी सेनाका संहार कर डाला है ॥५०॥

त्वं च कामगमस्तात मायास्त्रे च विशारदः।
कृतवैरश्च पार्थेन तस्मादेनं रणे जहि ॥ ५१ ॥

'तात ! तुम इच्छानुसार चलनेवाले तथा मायामय अस्त्रोंके प्रयोगमें कुशल हो। कुन्तीकुमार भीमने तुम्हारे साथ वैर भी किया है। अतः तुम युद्धमें इस इरावान्‌को अवश्य मार डालो' ॥ ५१ ॥

बाढमित्येवमुक्त्वा तु राक्षसो घोरदर्शनः।
प्रययौ सिंहनादेन यत्रार्जुनसुतो युवा ॥ ५२ ॥

'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर वह भयानक दिखायी देनेवाला राक्षस सिंहनाद करके जहाँ नवयुवक अर्जुनकुमार इरावान् था, उस स्थानपर गया ॥ ५२ ॥

आरूढैर्युद्धकुशलैर्विमलप्रासयोधिभिः।
वीरैः प्रहारिभिर्युक्तैः स्वैरनीकैः समावृतः ॥ ५३ ॥
हतशेषैर्महाराज द्विसाहस्रैर्हयोत्तमैः।
निहन्तुकामः समरे इरावन्तं महाबलम् ॥ ५४ ॥

उसके साथ निर्मल प्रास नामक अस्त्रसे युद्ध करनेवाले संग्रामकुशल तथा प्रहार करनेमें समर्थ वीरोंसे युक्त बहुत-सी सेनाएँ थीं। उसके सभी सैनिक सवारियोंपर बैठे हुए थे। उन सबसे घिरा हुआ वह समरभूमिमें महाबली इरावान्‌को मार डालनेकी इच्छासे युद्धस्थलमें गया। महाराज ! मरनेसे बचे हुए दो हजार उत्तम घोड़े उसके साथ थे ॥ ५३-५४ ॥

इरावानपि संक्रुद्धस्त्वरमाणः पराक्रमी।
हन्तुकाममित्रघ्नो राक्षसं प्रत्यवारयत् ॥ ५५ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाला पराक्रमी इरावान् भी क्रोधमें भरा हुआ था। उसने उसे मारनेकी इच्छा रखनेवाले उस राक्षसका बड़ी उतावलीके साथ निवारण किया ॥ ५५ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राक्षसः सुमहाबलः।
त्वरमाणस्ततो मायां प्रयोक्तुमुपचक्रमे ॥ ५६ ॥

इरावान्‌को आते देख उस महाबली राक्षसने शीघ्रतापूर्वक मायाका प्रयोग आरम्भ किया ॥ ५६ ॥

तेन मायामयाः सृष्टा हयास्तावन्त एव हि।
स्वारूढा राक्षसैर्घोरैः शूलपट्टिशधारिभिः ॥ ५७ ॥

उसने मायामय दो हजार घोड़े उत्पन्न किये, जिनपर शूल और पट्टिश धारण करनेवाले भयंकर राक्षस सवार थे॥

ते संरब्धाः समागम्य द्विसाहस्राः प्रहारिणः।
अचिराद् गमयामासुः प्रेतलोकं परस्परम् ॥ ५८ ॥

वे दो हजार प्रहारकुशल योद्धा क्रोधमें भरे हुए आकर इरावान्‌के सैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे। इस प्रकार दोनों ओरके योद्धाओंने परस्पर प्रहार करके शीघ्र ही एक दूसरेको यमलोक पहुँचा दिया ॥ ५८ ॥

तस्मिंस्तु निहते सैन्ये तावुभौ युद्धदुर्मदौ।
संग्रामे समतिष्ठेतां यथा वै वृत्रवासवौ ॥ ५९ ॥

इस प्रकार जब दोनों ओरकी सेनाएँ मार डाली गयीं, तब युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले वे दोनों वीर इरावान् तथा अलम्बुष राक्षस ही युद्धभूमिमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान डटे रहे ॥ ५९ ॥

आद्रवन्तमभिप्रेक्ष्य राक्षसं युद्धदुर्मदम्।
इरावानथ संरब्धः प्रत्यधावन्महाबलः ॥ ६० ॥

रणदुर्मद राक्षस अलम्बुषको अपने ऊपर धावा करते देख महाबली इरावान् भी क्रोधमें भरकर उसके ऊपर टूट पड़ा॥

समभ्याशगतस्याजौ तस्य खड्गेन दुर्मतेः।
चिच्छेद कार्मुकं दीप्तं शरावापं च सत्वरम् ॥ ६१ ॥

एक बार जब वह दुर्बुद्धि राक्षस बहुत निकट आ गया, तब इरावान्‌ने अपने खड्गसे उसके देदीप्यमान धनुष और भाथेको शीघ्र ही काट डाला ॥ ६१ ॥

स निकृत्तं धनुर्दृष्ट्वा खं जवेन समाविशत्।
इरावन्तमभिक्रुद्धं मोहयन्निव मायया ॥ ६२ ॥

धनुषको कटा हुआ देख वह राक्षस क्रोधमें भरे हुए इरावान्‌को अपनी मायासे मोहित-सा करता हुआ बड़े वेगसे आकाशमें उड़ गया ॥ ६२ ॥

ततोऽन्तरिक्षमुत्पत्य इरावानपि राक्षसम्।
विमोहयित्वा मायाभिस्तस्य गात्राणि सायकैः ॥ ६३ ॥

चिच्छेद सर्वमर्मज्ञः कामरूपो दुरासदः ।
तथा स राक्षसश्रेष्ठः शरैः कृत्तः पुनः पुनः ॥ ६४ ॥
सम्बभूव महाराज समवाप च यौवनम् ।
माया हि सहजा तेषां वयो रूपं च कामजम् ॥ ६५ ॥

तब इरावान् भी आकाशमें उछलकर उस राक्षसको अपनी मायाओंसे मोहित करके उसके अङ्गोंको सायकों द्वारा छिन्न-भिन्न करने लगा। वह कामरूपधारी श्रेष्ठ राक्षस सम्पूर्ण मर्मस्थानोंको जाननेवाला और दुर्जय था। वह बाणोंसे कटनेपर भी पुनः ठीक हो जाता था। महाराज! वह नयी जवानी प्राप्त कर लेता था; क्योंकि राक्षसोंमें माया-का बल स्वाभाविक होता है और वे इच्छानुसार रूप तथा अवस्था धारण कर लेते हैं ॥ ६३—६५ ॥

एवं तद् राक्षसस्याङ्गं छिन्नं छिन्नं बभूव ह ।
इरावानपि संक्रुद्धो राक्षसं तं महाबलम् ॥ ६६ ॥
परश्वधेन तीक्ष्णेन चिच्छेद च पुनः पुनः ।

इस प्रकार उस राक्षसका जो-जो अङ्ग कटता, वह पुनः नये सिरेसे उत्पन्न हो जाता था। इरावान् भी अत्यन्त कुपित होकर उस महाबली राक्षसको बारंबार तीखे फरसेसे काटने लगा ॥ ६६½ ॥

स तेन बलिना वीरश्छिद्यमान इरावता ॥ ६७ ॥
राक्षसोऽप्यनदद् घोरं स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।

बलवान् इरावान्के फरसेसे छिन्न-भिन्न हुआ वह वीर राक्षस घोर आर्तनाद करने लगा। उसका वह शब्द बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ ६७½ ॥

परश्वधक्षतं रक्षः सुस्राव बहु शोणितम् ॥ ६८ ॥
ततश्चुक्रोध बलवांश्चक्रे वेगं च संयुगे ।
आर्ष्यशृङ्गिस्तथा दृष्ट्वा समरे शत्रुमूर्जितम् ॥ ६९ ॥
कृत्वा घोरं महद् रूपं ग्रहीतुमुपचक्रमे ।
अर्जुनस्य सुतं वीरमिरावन्तं यशस्विनम् ॥ ७० ॥

फरसेसे बारंबार छिदनेके कारण राक्षसके शरीरसे बहुत-सा रक्त बह गया। इससे राक्षस ऋष्यशृंगके बलवान् पुत्र अलम्बुषने समरभूमिमें अत्यन्त क्रोध और वेग प्रकट किया। उसने युद्धस्थलमें अपने शत्रुको प्रबल हुआ देख अत्यन्त भयंकर एवं विशाल रूप धारण करके अर्जुनके वीर एवं यशस्वी पुत्र इरावान्‌को कैद करनेका प्रयत्न आरम्भ किया॥

संग्रामशिरसो मध्ये सर्वेषां तत्र पश्यताम् ।
तां दृष्ट्वा तादृशीं मायां राक्षसस्य दुरात्मनः ॥ ७१ ॥
इरावानपि संक्रुद्धो मायां स्रष्टुं प्रचक्रमे ।

युद्धके मुहानेपर समस्त योद्धाओंके देखते-देखते वह इरावान्‌को पकड़ना चाहता था। उस दुरात्मा राक्षसकी वैसी माया देखकर क्रोधमें भरे हुए इरावान्‌ने भी मायाका प्रयोग आरम्भ किया ॥ ७१½ ॥

तस्य क्रोधाभिभूतस्य समरेष्वनिवर्तिनः ॥ ७२ ॥
योऽन्वयो मातृकस्तस्य स एनमभिपेदिवान् ।

संग्राममें पीठ न दिखानेवाला इरावान् जब क्रोधमें भरकर युद्ध कर रहा था, उसी समय उसके मातृकुलके नागोंका समुदाय उसकी सहायताके लिये वहाँ आ पहुँचा ॥

स नागैर्बहुभी राजन्निरावान् संवृतो रणे ॥ ७३ ॥
दधार सुमहद् रूपमनन्त इव भोगवान् ।

राजन्! रणभूमिमें बहुतेरे नागोंसे घिरे हुए इरावान्‌ने विशाल शरीरवाले शेषनागकी भाँति बहुत बड़ा रूप धारण कर लिया ॥ ७३½ ॥

ततो बहुविधैर्नागैश्छादयामास राक्षसम् ॥ ७४ ॥
छाद्यमानस्तु नागैः स ध्यात्वा राक्षसपुङ्गवः ।
सौपर्णं रूपमास्थाय भक्षयामास पन्नगान् ॥ ७५ ॥

तदनन्तर उसने बहुत-से नागोंद्वारा राक्षसको आच्छादित कर दिया। नागोंद्वारा आच्छादित होनेपर उस राक्षसराजने कुछ सोच-विचारकर गरुड़का रूप धारण कर लिया और समस्त नागोंको भक्षण करना आरम्भ किया ॥ ७४-७५ ॥

मायया भक्षिते तस्मिन्नन्वये तस्य मातृके ।
विमोहितमिरावन्तं न्यहनद् राक्षसोऽसिना ॥ ७६ ॥

जब उस राक्षसने इरावान्‌के मातृकुलके सब नागोंको भक्षण कर लिया, तब मोहित हुए इरावान्‌को तलवारसे मार डाला ॥ ७६ ॥

सकुण्डलं समुकुटं पद्मेन्दुसदृशप्रभम् ।
इरावतः शिरो रक्षः पातयामास भूतले ॥ ७७ ॥

इरावान्‌के कमल और चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा कुण्डल एवं मुकुटसे मण्डित मस्तकको काटकर राक्षसने धरतीपर गिरा दिया ॥ ७७ ॥

तस्मिंस्तु निहते वीरे राक्षसेनार्जुनात्मजे ।
विशोकाः समपद्यन्त धार्तराष्ट्राः सराजकाः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार राक्षसद्वारा अर्जुनके वीर पुत्र इरावान्‌के मारे जानेपर राजा दुर्योधनसहित आपके सभी पुत्र शोक-रहित हो गये ॥ ७८ ॥

तस्मिन् महति संग्रामे तादृशे भैरवे पुनः ।
महान् व्यतिकरो घोरः सेनयोः समपद्यत ॥ ७९ ॥

फिर तो उस भयंकर एवं महान् संग्राममें दोनों सेनाओंका अत्यन्त भयंकर सम्मिश्रण हो गया ॥ ७९ ॥

गजा हयाः पदाताश्च विमिश्रा दन्तिभिर्हताः ।
रथाश्वा दन्तिनश्चैव पत्तिभिस्तत्र सूदिताः ॥ ८० ॥

तथा पत्तिरथौघाश्च हयाश्च बहवो रणे।
रथिभिर्निहता राजंस्तव तेषां च संकुले ॥ ८१ ॥

राजन्! आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंके उस संकुल युद्धमें दोनों पक्षोंके मिले हुए हाथी, घोड़े और पैदल दन्तार हाथियोंद्वारा मारे गये। रथ, घोड़े और हाथियोंको पैदल योद्धाओंने मार गिराया तथा बहुत-से पैदल, रथियोंके समूह और घुड़सवार रथी योद्धाओंके द्वारा मार डाले गये ॥

अजानन्नर्जुनश्चापि निहतं पुत्रमौरसम्।
जघान समरे शूरान् राज्ञस्तान् भीष्मरक्षिणः ॥ ८२ ॥

अर्जुनको अपने औरस पुत्र इरावान्‌के मारे जानेका पता नहीं लगा था। वे समराङ्गणमें भीष्मकी रक्षा करनेवाले शूरवीर नरेशोंका संहार कर रहे थे ॥ ८२ ॥

तथैव तावका राजन् सृंजयाश्च सहस्रशः।
जुह्वतः समरे प्राणान् निजघ्नुरितरेतरम् ॥ ८३ ॥

राजन्! इसी प्रकार आपके पुत्र और सैनिक तथा सहस्रों सृंजय वीर समराग्निमें प्राणोंकी आहुति देते हुए एक दूसरेको मार रहे थे ॥ ८३ ॥

मुक्तकेशा विकवचा विरथाश्छिन्नकार्मुकाः।
बाहुभिः समयुध्यन्त समवेताः परस्परम् ॥ ८४ ॥

कवच, रथ और धनुषके नष्ट हो जानेपर बाल बिखेरे हुए बहुतेरे योद्धा परस्पर भिड़कर भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध करने लगे ॥ ८४ ॥

तथा मर्मातिगैर्भीष्मो निजघान महारथान्।
कम्पयन् समरे सेनां पाण्डवानां परंतपः ॥ ८५ ॥

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले भीष्म समराङ्गणमें अपने मर्मभेदी बाणोंद्वारा पाण्डव-सेनाको कम्पित करते हुए उसके बड़े-बड़े रथियोंको मार रहे थे ॥ ८५ ॥

तेन यौधिष्ठिरे सैन्ये बहवो मानवा हताः।
दन्तिनः सादिनश्चैव रथिनोऽथ हयास्तथा ॥ ८६ ॥

उन्होंने युधिष्ठिरकी सेनाके बहुत-से पैदलों, सवारोंसहित हाथियों, रथारोहियों और घुड़सवारोंको मार डाला ॥८६॥

तत्र भारत भीष्मस्य रणे दृष्ट्वा पराक्रमम्।
अत्यद्भुतमपश्याम शक्रस्येव पराक्रमम् ॥ ८७ ॥

भारत! हमने उस युद्धमें भीष्मका इन्द्रके समान अत्यन्त अद्भुत पराक्रम देखा था ॥ ८७ ॥

तथैव भीमसेनस्य पार्षतस्य च भारत।
रौद्रमासीद् रणे युद्धं सात्यकस्य च धन्विनः ॥ ८८ ॥

भरतनन्दन! इसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें भीमसेन, धृष्टद्युम्न तथा धनुर्धर सात्यकिका भयानक युद्ध चल रहा था ॥

दृष्ट्वा द्रोणस्य विक्रान्तं पाण्डवान् भयमाविशत्।
एक एव रणे शक्तो निहन्तुं सर्वसैनिकान् ॥ ८९ ॥

किं पुनः पृथिवीशूरैर्योधव्रातैः समावृतः।
इत्यब्रुवन् महाराज रणे द्रोणेन पीडिताः ॥ ९० ॥

द्रोणाचार्यका पराक्रम देखकर तो पाण्डवोंके मनमें भय समा गया। महाराज! वे युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यसे पीड़ित होकर कहने लगे कि 'रणभूमिमें अकेले द्रोणाचार्य ही समस्त सैनिकोंको मार डालनेकी शक्ति रखते हैं। फिर जब ये भूमण्डलके सुविख्यात शूरवीर योद्धाओंके समुदायोंसे घिरे हुए हैं, तब तो इनकी विजयके लिये कहना ही क्या है?' ॥

वर्तमाने तथा रौद्रे संग्रामे भरतर्षभ।
उभयोः सेनयोः शूरा नामृष्यन्त परस्परम् ॥ ९१ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस भयंकर संग्राममें दोनों सेनाओंके शूर-वीर एक दूसरेका उत्कर्ष नहीं सह सके ॥ ९१ ॥

आविष्टा इव युध्यन्ते रक्षोभूता महाबलाः।
तावकाः पाण्डवेयाश्च संरब्धास्तात धन्विनः ॥ ९२ ॥

तात! आपके और पाण्डव पक्षके महाबली धनुर्धर वीर भूतोंसे आविष्ट-से होकर राक्षसोंके समान बनकर क्रोध-पूर्वक एक दूसरेसे जूझ रहे थे ॥ ९२ ॥

न स्म पश्यामहे कंचित् प्राणान् यः परिरक्षति।
संग्रामे दैत्यसंकाशे तस्मिन् वीरवरक्षये ॥ ९३ ॥

बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस दैत्योंके तुल्य संग्राममें हमने किसीको ऐसा नहीं देखा, जो अपने प्राणोंकी रक्षा कर रहा हो ॥ ९३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि इरावद्वधे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें इरावान्‌का वधविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कच और दुर्योधनका भयानक युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

इरावन्तं तु निहतं दृष्ट्वा पार्था महारथाः।
संग्रामे किमकुर्वन्त तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! इरावान्‌को संग्राममें मारा गया देख महारथी कुन्तीपुत्रोंने क्या किया? यह मुझसे कहो।' १ ॥

संजय उवाच

इरावन्तं तु निहतं संग्रामे वीक्ष्य राक्षसः।
व्यनदत् सुमहानादं भैमसेनिर्घटोत्कचः ॥ २ ॥

संजय बोले—राजन्! इरावान्‌को युद्धभूमिमें मारा गया देख भीमसेनका पुत्र राक्षस घटोत्कच बड़े जोरसे सिंहनाद करने लगा ॥ २ ॥

नदतस्तस्य शब्देन पृथिवी सागराम्बरा।
सपर्वतवना राजंश्चचाल सुभृशं तदा ॥ ३ ॥
अन्तरिक्षं दिशश्चैव सर्वाश्च प्रदिशस्तथा।

नरेश्वर! उस राक्षसकी गर्जनासे समुद्र, आकाश, पर्वत और वनोंसहित यह सारी पृथ्वी जोर-जोरसे हिलने लगी। अन्तरिक्ष, दिशाएँ तथा समस्त कोणोंके प्रदेश भी काँपने लगे ॥ ३½ ॥

तं श्रुत्वा सुमहानादं तव सैन्यस्य भारत ॥ ४ ॥
ऊरुस्तम्भः समभवद् वेपथुः स्वेद एव च।

भारत! घटोत्कचका महान् सिंहनाद सुनकर आपके सैनिकोंकी जाँघें अकड़ गयीं, शरीर काँपने लगा और सम्पूर्ण अङ्गोंसे पसीना निकलने लगा ॥ ४½ ॥

सर्व एव महाराज तावका दीनचेतसः ॥ ५ ॥
सर्वतः समचेष्टन्त सिंहभीता गजा इव।

महाराज! आपके सभी सैनिक सब ओरसे दीनचित्त हो सिंहसे डरे हुए हाथियोंकी भाँति भयपूर्ण चेष्टाएँ करने लगे ॥ ५½ ॥

नर्दित्वा सुमहानादं निर्घातमिव राक्षसः ॥ ६ ॥
ज्वलितं शूलमुद्यम्य रूपं कृत्वा विभीषणम्।
नानारूपप्रहरणैर्वृतो राक्षसपुङ्गवैः ॥ ७ ॥
आजघान सुसंक्रुद्धः कालान्तकयमोपमः।

वज्रकी गड़गड़ाहटके समान भयंकर गर्जना करके काल, अन्तक और यमके समान क्रोधमें भरे हुए उस राक्षसने भीषणरूप बना प्रज्वलित त्रिशूल हाथमें ले भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न बड़े-बड़े राक्षसोंके साथ आकर आपकी सेनाका संहार आरम्भ किया ॥ ६—७½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं भीमदर्शनम् ॥ ८ ॥
स्वबलं च भयात् तस्य प्रायशो विमुखीकृतम्।

अत्यन्त क्रोधमें भरे भयंकर दिखायी देनेवाले उस राक्षसको आक्रमण करते देख उसके भयसे अपनी सेना प्रायः युद्धसे विमुख होकर भाग चली ॥ ८½ ॥

ततो दुर्योधनो राजा घटोत्कचमुपाद्रवत् ॥ ९ ॥
प्रगृह्य विपुलं चापं सिंहवद् विनदन् मुहुः।

तब राजा दुर्योधनने विशाल धनुष लेकर बारंबार सिंहके समान गर्जना करते हुए वहाँ घटोत्कचपर धावा किया ॥

पृष्ठतोऽनुययौ चैनं स्रवद्भिः पर्वतोपमैः ॥ १० ॥
कुञ्जरैर्दशसाहस्रैर्वङ्गानामधिपः स्वयम्।

उसके पीछे मदकी धारा बहानेवाले पर्वताकार दस हजार गजराजोंकी सेना लिये स्वयं वङ्गदेशका राजा भी गया ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य गजानीकेन संवृतम् ॥ ११ ॥
पुत्रं तव महाराज चुकोप स निशाचरः।

महाराज! हाथियोंकी सेनासे घिरे हुए आपके पुत्र दुर्योधनको आते हुए देख वह निशाचर कुपित हो उठा ॥

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ १२ ॥
राक्षसानां च राजेन्द्र दुर्योधनबलस्य च।

राजेन्द्र! फिर तो दुर्योधनकी सेना तथा राक्षसोंमें भयंकर एवं रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ १२½ ॥

गजानीकं च सम्प्रेक्ष्य मेघवृन्दमिवोदितम् ॥ १३ ॥
अभ्यधावन्त संक्रुद्धा राक्षसाः शस्त्रपाणयः।

घिरी हुई मेघोंकी घटाके समान हाथियोंकी सेनाको देखकर क्रोधमें भरे हुए राक्षस हाथमें अस्त्र-शस्त्र लिये उसकी ओर दौड़े ॥ १३½ ॥

नदन्तो विविधान् नादान् मेघा इव सविद्युतः ॥ १४ ॥
शरशक्त्यृष्टिनाराचैर्निघ्नन्तो गजयोधिनः।
भिन्दिपालैस्तथा शूलैर्मुद्गरैः सपरश्वधैः ॥ १५ ॥
पर्वताग्रैश्च वृक्षैश्च निजघ्नुस्ते महागजान्।

वे भाँति-भाँतिकी गर्जना करते हुए बिजलीसहित मेघोंके समान शोभा पाते थे। बाण, शक्ति, ऋष्टि, नाराच, भिन्दिपाल, शूल, मुद्गर, फरसों, पर्वत-शिखर तथा वृक्षोंका प्रहार करके वे गजारोहियों तथा विशाल गजोंका वध करने लगे ॥ १४-१५½ ॥

भिन्नकुम्भान् विरुधिरान् भिन्नगात्रांश्च वारणान् ॥ १६ ॥
अपश्याम महाराज वध्यमानान् निशाचरैः।

महाराज! निशाचरोंद्वारा मारे जानेवाले गजराजोंको हमने देखा था। उनके कुम्भस्थल फट गये थे, शरीर रक्त-हीन हो गये और उनके भिन्न-भिन्न अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे ॥ १६½ ॥

तेषु प्रक्षीयमाणेषु भग्नेषु गजयोधिषु ॥ १७ ॥
दुर्योधनो महाराज राक्षसान् समुपाद्रवत्।
अमर्षवशमापन्नस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ॥ १८ ॥

महाराज! इस प्रकार गजारोहियोंके भग्न एवं नष्ट हो जानेपर दुर्योधनने अमर्षके वशीभूत हो अपने जीवनका मोह छोड़कर उन राक्षसोंपर धावा किया ॥ १७-१८ ॥

मुमोच निशितान् बाणान् राक्षसेषु परंतप।
जघान च महेष्वासः प्रधानांस्तत्र राक्षसान् ॥ १९ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! महाधनुर्धर दुर्योधनने राक्षसोंपर तीखे बाणोंका प्रहार किया और उनमेंसे प्रधान-प्रधान राक्षसोंको मार डाला ॥ १९ ॥

संक्रुद्धो भरतश्रेष्ठ पुत्रो दुर्योधनस्तव।
वेगवन्तं महारौद्रं विद्युज्जिह्वं प्रमाथिनम् ॥ २० ॥
शरैश्चतुर्भिश्चतुरो निजघान महाबलः।

भरतश्रेष्ठ ! क्रोधमें भरे हुए आपके महाबली पुत्र दुर्योधनने वेगवान्, महारौद्र, विद्युज्जिह्व और प्रमाथी—इन चार राक्षसोंको चार बाणोंसे मार डाला ॥ २०½ ॥

ततः पुनरमेयात्मा शरवर्षं दुरासदम् ॥ २१ ॥
मुमोच भरतश्रेष्ठो निशाचरबलं प्रति।

तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भरतश्रेष्ठ दुर्योधनने उस निशाचर-सेनाके ऊपर दुर्धर्ष बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥

तत् तु दृष्ट्वा महत् कर्म पुत्रस्य तव मारिष ॥ २२ ॥
क्रोधेनाभिप्रजज्वाल भैमसेनिर्महाबलः।

आर्य ! आपके पुत्रका वह महान् कर्म देखकर भीमसेनका महाबली पुत्र घटोत्कच क्रोधसे जल उठा ॥ २२½ ॥

स विस्फार्य महच्चापमिन्द्राशनिसमप्रभम् ॥ २३ ॥
अभिदुद्राव वेगेन दुर्योधनमरिंदमम्।

उसने इन्द्रके वज्रके समान कान्तिमान् विशाल धनुषको खींचकर शत्रुदमन दुर्योधनपर बड़े वेगसे धावा किया ॥

तमापतन्तमुद्वीक्ष्य कालसृष्टमिवान्तकम् ॥ २४ ॥
न विव्यथे महाराज पुत्रो दुर्योधनस्तव।

महाराज ! कालप्रेरित मृत्युके समान उस घटोत्कचको आते देख आपका पुत्र दुर्योधन तनिक भी व्यथित नहीं हुआ ॥

अथैनमब्रवीत् क्रुद्धः क्रूरः संरक्तलोचनः ॥ २५ ॥
अद्यानृण्यं गमिष्यामि पितॄणां मातुरेव च।
ये त्वया सुनृशंसेन दीर्घकालं प्रवासिताः ॥ २६ ॥
यच्च ते पाण्डवा राजंश्छलद्यूते पराजिताः।
यच्चैव द्रौपदी कृष्णा एकवस्त्रा रजस्वला ॥ २७ ॥
सभामानीय दुर्बुद्धे बहुधा क्लेशिता त्वया।
तव च प्रियकामेन आश्रमस्था दुरात्मना ॥ २८ ॥
सैन्धवेन परामृष्टा परिभूय पितॄन् मम।
एतेषामपमानानामन्येषां च कुलाधम ॥ २९ ॥
अन्तमद्य गमिष्यामि यदि नोत्सृजसे रणम्।

तदनन्तर क्रूर घटोत्कच क्रोधसे लाल आँखें करके दुर्योधनसे बोला—'ओ दुष्ट ! आज मैं अपने उन पितरों और माताके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा, जिन्हें तूने दीर्घकालतक वनमें रहनेके लिये विवश कर दिया था। तू बड़ा क्रूर है। दुर्बुद्धि नरेश ! तूने जो पाण्डवोंको द्यूतमें छलपूर्वक हराया था और जो एक ही वस्त्र धारण करनेवाली द्रुपदकुमारी कृष्णाको रजस्वला-अवस्थामें सभाके भीतर ले जाकर नाना प्रकारके क्लेश दिये थे तथा तेरा ही प्रिय करनेकी इच्छावाले दुरात्मा सिन्धुराजने मेरे पितरोंकी अवहेलना करके आश्रममें रहनेवाली द्रौपदीका अपहरण किया था, कुलाधम ! यदि तू युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायगा तो इन अपमानोंका और अन्य सब अत्याचारोंका भी आज मैं बदला चुका लूँगा' ॥

एवमुक्त्वा तु हैडिम्बो महद् विस्फार्य कार्मुकम् ॥ ३० ॥
संदश्य दशनैरोष्ठं सृक्किणी परिसंलिहन्।
शरवर्षेण महता दुर्योधनमवाकिरत्।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ॥ ३१ ॥

ऐसा कहकर हिडिम्बाकुमारने दाँतोंसे ओठ चबाते और जीभसे मुँहके कोनोंको चाटते हुए अपने विशाल धनुषको खींचकर दुर्योधनपर बाणोंकी बड़ी भारी वृष्टि की। ठीक उसी तरह, जैसे वर्षा ऋतुमें मेघ पर्वतके शिखरपर जलकी धाराएँ गिराता है ॥ ३०-३१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि हैडिम्बयुद्धे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घटोत्कच-युद्धविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कचका दुर्योधन एवं द्रोण आदि प्रमुख वीरोंके साथ भयंकर युद्ध

संजय उवाच

ततस्तद् बाणवर्षं तु दुःसहं दानवैरपि।
दधार युधि राजेन्द्रो यथा वर्षं महाद्विपः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दानवोंके लिये भी दुःसह उस बाणवर्षाको राजाधिराज दुर्योधनने युद्धमें उसी प्रकार धारण किया, जैसे महान् गजराज जलकी वर्षाको अपने ऊपर धारण करता है ॥ १ ॥

ततः क्रोधसमाविष्टो निःश्वसन्निव पन्नगः।
संशयं परमं प्राप्तः पुत्रस्ते भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय क्रोधमें भरकर फुफकारते हुए सर्पके समान लंबी साँस खींचता हुआ आपका पुत्र दुर्योधन जीवन-रक्षाको लेकर भारी संशयमें पड़ गया ॥ २ ॥

मुमोच निशितांस्तीक्ष्णान् नाराचान् पञ्चविंशतिम्।

तेऽपतन् सहसा राजंस्तस्मिन्राक्षसपुङ्गवे ॥ ३ ॥
आशीविषा इव क्रुद्धाः पर्वते गन्धमादने ।

उसने अत्यन्त तीखे पचीस नाराच छोड़े । महाराज ! वे सब सहसा उस राक्षसराज घटोत्कचपर जाकर गिरे, मानो गन्धमादन पर्वतपर क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्प कहींसे आ पड़े हों ॥ ३½ ॥

स तैर्विद्धः स्रवन् रक्तं प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ ४ ॥
दध्रे मतिं विनाशाय राज्ञः स पिशिताशनः ।

उन बाणोंसे घायल होकर वह राक्षस कुम्भस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति अपने शरीरसे रक्तकी धारा प्रवाहित करने लगा । उसने राजा दुर्योधनका विनाश करनेके लिये दृढ़ निश्चय कर लिया ॥ ४½ ॥

जग्राह च महाशक्तिं गिरीणामपि दारिणीम् ॥ ५ ॥
सम्प्रदीप्तां महोल्काभामशनिं ज्वलितामिव ।

तत्पश्चात् उसने पर्वतोंको भी विदीर्ण कर डालनेवाली प्रज्वलित उल्का एवं वज्रके समान प्रकाशित होनेवाली एक महाशक्ति हाथमें ली ॥ ५½ ॥

समुद्यच्छन् महाबाहुर्जिघांसुस्तनयं तव ॥ ६ ॥
तामुद्यतामभिप्रेक्ष्य वङ्गानामधिपस्त्वरन् ।
कुञ्जरं गिरिसंकाशं राक्षसं प्रत्यचोदयत् ॥ ७ ॥

महाबाहु घटोत्कच आपके पुत्रको मार डालनेकी इच्छासे वह शक्ति ऊपरको उठा रहा था । उसे उठी हुई देख वंगदेशके राजाने बड़ी उतावलीके साथ अपने पर्वताकार गजराजको उस राक्षसकी ओर बढ़ाया ॥ ६-७ ॥

स नागप्रवरेणाजौ बलिना शीघ्रगामिना ।
यतो दुर्योधनरथस्तं मार्गं प्रत्यवर्तत ॥ ८ ॥

वे वंगनरेश उस शीघ्रगामी महाबली गजराजपर आरूढ़ हो युद्धके मैदानमें उसी मार्गपर चले, जहाँ दुर्योधनका रथ खड़ा था ॥ ८ ॥

रथं च वारयामास कुञ्जरेण सुतस्य ते ।
मार्गमावारितं दृष्ट्वा राज्ञा वङ्गेन धीमता ॥ ९ ॥
घटोत्कचो महाराज क्रोधसंरक्तलोचनः ।

उन्होंने अपने हाथीके द्वारा आपके पुत्रका मार्ग रोक दिया । महाराज ! बुद्धिमान् वंगनरेशके द्वारा दुर्योधनके रथका मार्ग रुका हुआ देख घटोत्कचके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये ॥ ९½ ॥

उद्यतां तां महाशक्तिं तस्मिंश्चिक्षेप वारणे ॥ १० ॥
स तयाभिहतो राजंस्तेन बाहुप्रमुक्तया ।
संजातरुधिरोत्पीडः पपात च ममार च ॥ ११ ॥

उसने उस उठायी हुई महाशक्तिको उस हाथीपर ही चला दिया । राजन् ! घटोत्कचकी भुजाओंसे छूटी हुई उस शक्तिके आघातसे हाथीका कुम्भस्थल फट गया और उससे रक्तका स्रोत बहने लगा । फिर वह तत्काल ही भूमिपर गिरा और मर गया ॥ १०-११ ॥

पतत्यथ गजे चापि वङ्गानामीश्वरो बली ।
जवेन समभिद्रुत्य जगाम धरणीतलम् ॥ १२ ॥

हाथीके गिरते समय बलवान् वंगनरेश उसकी पीठसे वेगपूर्वक कूदकर धरतीपर आ गये ॥ १२ ॥

दुर्योधनोऽपि सम्प्रेक्ष्य पतितं वरवारणम् ।
प्रभग्नं च बलं दृष्ट्वा जगाम परमां व्यथाम् ॥ १३ ॥

उस श्रेष्ठ गजराजको गिरा हुआ देख सारी कौरवसेना भाग खड़ी हुई । यह सब देखकर दुर्योधनके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ १३ ॥

(अशक्तः प्रतियोद्धुं वै दृष्ट्वा तस्य पराक्रमम् ।)
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य आत्मनश्चाभिमानिताम् ।
प्राप्तेऽपक्रमणे राजा तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १४ ॥

वह घटोत्कचके पराक्रमपर दृष्टिपात करके उसका सामना करनेमें असमर्थ हो गया । क्षत्रियधर्म तथा अपने अभिमानको सामने रखकर पलायनका अवसर प्राप्त होनेपर भी राजा दुर्योधन पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ॥ १४ ॥

संधाय च शितं बाणं कालाग्निसमतेजसम् ।
मुमोच परमक्रुद्धस्तस्मिन् घोरे निशाचरे ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् उसने प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी एवं तीखे बाणको धनुषपर रखकर उसे अत्यन्त क्रोधपूर्वक उस घोर निशाचरपर छोड़ दिया ॥ १५ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बाणमिन्द्राशनिप्रभम् ।
लाघवान्मोचयामास महात्मा वै घटोत्कचः ॥ १६ ॥

इन्द्रके वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले उस बाणको अपनी ओर आता देख महामना राक्षस घटोत्कचने अपनी फुर्तीके कारण अपने आपको उससे बचा लिया ॥ १६ ॥

भूयश्च विननादोग्रं क्रोधसंरक्तलोचनः ।
त्रासयामास सैन्यानि युगान्ते जलदो यथा ॥ १७ ॥

इसके बाद क्रोधसे आँखें लाल करके वह पुनः भयंकर गर्जना करने लगा । जैसे प्रलयकालमें संवर्तक मेघकी गर्जना होती है, वैसी ही गर्जना करके उसने सारी कौरवसेनाको दहला दिया ॥ १७ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तस्य भीमस्य रक्षसः ।
आचार्यमुपसङ्गम्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ १८ ॥

यथैष निनदो घोरः श्रूयते राक्षसेरितः।
हैडिम्बो युध्यते नूनं राज्ञा दुर्योधनेन ह ॥ १९ ॥

उस भयानक राक्षसकी वह घोर गर्जना सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने द्रोणाचार्यके पास जाकर इस प्रकार कहा—'आचार्य ! यह राक्षसके मुखसे निकली हुई जैसी घोर गर्जना सुनायी दे रही है, उससे अनुमान होता है कि अवश्य ही हिडिम्बाका पुत्र घटोत्कच राजा दुर्योधनके साथ जूझ रहा है॥

नैष शक्यो हि संग्रामे जेतुं भूतेन केनचित्।
तत्र गच्छत भद्रं वो राजानं परिरक्षत ॥ २० ॥

'इसे कोई भी प्राणी संग्राममें जीत नहीं सकता, अतः आपका कल्याण हो, वहाँ जाइये और राजा दुर्योधनकी रक्षा कीजिये ॥ २० ॥

अभिद्रुतो महाभागो राक्षसेन महात्मना।
एतद्धि वः परं कृत्यं सर्वेषां नः परंतपाः ॥ २१ ॥

'जान पड़ता है महाभाग दुर्योधन उस महाकाय राक्षसके आक्रमणका शिकार हो रहा है। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरो ! आपके तथा हम सब लोगोंके लिये यही सर्वोत्तम कृत्य है' ॥ २१ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा त्वरमाणा महारथाः।
उत्तमं जवमास्थाय प्रययुर्यत्र कौरवः ॥ २२ ॥

भीष्मकी यह बात सुनकर सब महारथी उत्तम वेगका आश्रय ले बड़ी उतावलीके साथ उस स्थानपर गये, जहाँ कुरुराज दुर्योधन मौजूद था ॥ २२ ॥

द्रोणश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकोऽथ जयद्रथः।
कृपो भूरिश्रवाः शल्य आवन्त्यः सबृहद्बलः ॥ २३ ॥
अश्वत्थामा विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः।
रथाश्चानेकसाहस्रा ये तेषामनुयायिनः ॥ २४ ॥
अभिद्रुतं परीप्सन्तः पुत्रं दुर्योधनं तव।
तदनीकमनाधृष्यं पालितं तु महारथैः ॥ २५ ॥

द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, जयद्रथ, कृपाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य, अवन्तीका राजकुमार, बृहद्बल, अश्वत्थामा, विकर्ण, चित्रसेन, विविंशति तथा उनके अनुयायी अनेक सहस्र रथी—ये सब लोग राक्षसके द्वारा आक्रान्त हुए आपके पुत्र दुर्योधनकी रक्षा करनेके लिये गये। उन महारथियोंसे पालित होकर वह सेना अजेय हो गयी ॥ २३—२५ ॥

आततायिनमायान्तं प्रेक्ष्य राक्षससत्तमः।
नाकम्पत महाबाहुर्मैनाक इव पर्वतः ॥ २६ ॥

युद्धमें आततायी दुर्योधनको आते देख राक्षसशिरोमणि महाबाहु घटोत्कच मैनाक पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ॥ २६ ॥

प्रगृह्य विपुलं चापं ज्ञातिभिः परिवारितः।
शूलमुद्गरहस्तैश्च नानाप्रहरणैरपि ॥ २७ ॥

उसके जाति-बन्धु हाथोंमें शूल, मुद्गर आदि नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर उसे सब ओरसे घेरे हुए थे और उसने एक विशाल धनुष ले रक्खा था ॥ २७ ॥

ततः समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
राक्षसानां च मुख्यस्य दुर्योधनबलस्य च ॥ २८ ॥

तदनन्तर राक्षसशिरोमणि घटोत्कच तथा दुर्योधनकी सेनामें रोमाञ्चकारी एवं भयंकर युद्ध होने लगा ॥ २८ ॥

धनुषां कूजतां शब्दः सर्वतस्तुमुलो रणे।
अश्रूयत महाराज वंशानां दह्यतामिव ॥ २९ ॥

महाराज ! रणभूमिमें सब ओर बाँसोंके दग्ध होनेके समान धनुषोंकी टंकारका भयंकर शब्द सुनायी देने लगा ॥

अस्त्राणां पात्यमानानां कवचेषु शरीरिणाम्।
शब्दः समभवद् राजन् गिरीणामिव भिद्यताम् ॥ ३० ॥

राजन् ! देहधारियोंके कवचोंपर पड़नेवाले अस्त्रोंका ऐसा शब्द होता था, मानो पर्वत विदीर्ण हो रहे हों ॥ ३० ॥

वीरबाहुविसृष्टानां तोमराणां विशाम्पते।
रूपमासीद् वियत्स्थानां सर्पाणामिव सर्पताम् ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! वीरोंकी भुजाओंसे छोड़े गये तोमर जब आकाशमें आते, उस समय उनका स्वरूप तीव्र गतिसे उड़नेवाले सर्पोंके समान जान पड़ता था ॥ ३१ ॥

ततः परमसंक्रुद्धो विस्फार्य सुमहद् धनुः।
राक्षसेन्द्रो महाबाहुर्विनदन् भैरवं रवम् ॥ ३२ ॥
आचार्यस्यार्धचन्द्रेण क्रुद्धश्चिच्छेद कार्मुकम्।
सोमदत्तस्य भल्लेन ध्वजं चोन्मथ्य चानदत् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर महाबाहु राक्षसराज घटोत्कचने अत्यन्त क्रुद्ध हो भैरव गर्जना करते हुए अपने विशाल धनुषको खींचकर अर्धचन्द्राकार बाणसे द्रोणाचार्यके धनुषको काट डाला। फिर एक भल्लके द्वारा सोमदत्तके ध्वजको खण्डित करके सिंहनाद किया ॥ ३२-३३ ॥

बाह्लीकं च त्रिभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे।
कृपमेकेन विव्याध चित्रसेनं त्रिभिः शरैः ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् तीन बाणोंसे बाह्लीककी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी। एक बाणसे कृपाचार्यको और तीनसे चित्रसेनको भी बींध डाला ॥ ३४ ॥

पूर्णायतविसृष्टेन सम्यक् प्रणिहितेन च।
जत्रुदेशे समासाद्य विकर्णं समताडयत् ॥ ३५ ॥

इसके बाद उसने धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर उसपर उत्तम रीतिसे बाणोंका संधान करके विकर्णके गलेकी हँसलीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३५ ॥

न्यषीदत् स्वरथोपस्थे शोणितेन परिप्लुतः ।
ततः पुनरमेयात्मा नाराचान् दश पञ्च च ॥ ३६ ॥
भूरिश्रवसि संक्रुद्धः प्राहिणोद् भरतर्षभ ।

इससे विकर्ण अपने रथके पिछले भागमें व्याकुल होकर बैठ गया, उसका सारा शरीर रक्तसे नहा उठा था । भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न घटोत्कचने क्रुद्ध होकर भूरिश्रवापर पंद्रह नाराच चलाये ॥ ३६½ ॥

ते वर्म भित्त्वा तस्याशु विविशुर्धरणीतलम् ॥ ३७ ॥
विविंशतेश्च द्रौणेश्च यन्तारौ समताडयत् ।
तौ पेततू रथोपस्थे रश्मीनुत्सृज्य वाजिनाम् ॥ ३८ ॥

वे नाराच उसके कवचको छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही धरतीमें समा गये । साथ ही घटोत्कचने विविंशति और अश्वत्थामाके सारथियोंपर गहरा आघात किया । वे दोनों घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर रथकी बैठकमें गिर पड़े ३७-३८

सिंधुराज्ञोऽर्धचन्द्रेण वाराहं स्वर्णभूषितम् ।
उन्ममाथ महाराज द्वितीयेनाच्छिनद् धनुः ॥ ३९ ॥

महाराज ! उसने एक अर्धचन्द्राकार बाणसे सिन्धुराज जयद्रथकी वाराहचिह्नसे युक्त सुवर्णभूषित ध्वजा काट डाली और दूसरे बाणसे उसके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ।३९।

चतुर्भिरथ नाराचैरावन्त्यस्य महात्मनः ।
जघान चतुरो वाहान् क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ ४० ॥

इसके बाद क्रोधसे लाल आँखें करके घटोत्कचने चार नाराचोंद्वारा महामना अवन्तीनरेशके चारों घोड़ोंको मार डाला॥

पूर्णायतविसृष्टेन पीतेन निशितेन च ।
निर्बिभेद महाराज राजपुत्रं बृहद्बलम् ॥ ४१ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर छोड़े गये पानीदार तीखे बाणसे उसने राजकुमार बृहद्बलको विदीर्ण कर दिया ॥ ४१ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
भृशं क्रोधेन चाविष्टो रथस्थो राक्षसाधिपः ॥ ४२ ॥

उस बाणसे वह गहराईतक बिंध गया और व्यथित होकर रथके पिछले भागमें जा बैठा । इधर राक्षसराज घटोत्कच अत्यन्त क्रोधसे आविष्ट हो रथपर बैठा रहा ॥

चिक्षेप निशितांस्तीक्ष्णाञ्छरानाशीविषोपमान् ।
बिभिदुस्ते महाराज शल्यं युद्धविशारदम् ॥ ४३ ॥

महाराज ! रथपर बैठे-ही-बैठे उसने विषधर सर्पोंके समान अत्यन्त तीखे बाण चलाये । उन बाणोंने युद्धविशारद राजा शल्यको पूर्णरूपसे घायल कर दिया ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि हैडिम्बयुद्धे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घटोत्कचका युद्धविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

त्रिनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कचकी रक्षाके लिये आये हुए भीम आदि शूरवीरोंके साथ कौरवोंका युद्ध और उनका पलायन

संजय उवाच

विमुखीकृत्य सर्वांस्तु तावकान् युधि राक्षसः ।
जिघांसुर्भरतश्रेष्ठ दुर्योधनमुपाद्रवत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! वह राक्षस युद्धस्थलमें आपके समस्त सैनिकोंको संग्रामसे विमुख करके दुर्योधनको मार डालनेकी इच्छा रखकर उसकी ओर दौड़ा ॥ १ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राजानं प्रति वेगितम् ।
अभ्यधावञ्जिघांसन्तस्तावका युद्धदुर्मदाः ॥ २ ॥

उसे राजा दुर्योधनकी ओर बड़े वेगसे आते देख आपके रणदुर्मद पुत्र और सैनिक मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर दौड़े ॥ २ ॥

तालमात्राणि चापानि विकर्षन्तो महारथाः ।
तमेकमभ्यधावन्त नदन्तः सिंहसंघवत् ॥ ३ ॥

उन सभी महारथियोंने चार-चार हाथके धनुष खींचते और सिंहोंके समुदायकी भाँति गर्जना करते हुए उस एकमात्र योद्धा घटोत्कचपर धावा किया ॥ ३ ॥

अथैनं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवाकिरन् ।
पर्वतं वारिधाराभिः शरदीव बलाहकाः ॥ ४ ॥

जैसे शरद्‌ऋतुमें बादल पर्वतके शिखरपर जलकी धाराएँ गिराते हैं, उसी प्रकार उन सब कौरव वीरोंने चारों ओरसे घटोत्कचपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ४ ॥

स गाढविद्धो व्यथितस्तोत्रार्दित इव द्विपः ।
उत्पपात तदाऽऽकाशं समन्ताद् वैनतेयवत् ॥ ५ ॥



आकाशमें स्थित हुए घटोत्कचकी गर्जना और दुर्योधनके साथ उसका युद्ध

उस समय उन बाणोंके गहरे आघातसे वह अङ्कुशकी मार खाये हुए हाथीकी भाँति व्यथित हो उठा और तुरंत ही गरुड़के समान आकाशमें सब ओर उड़ने लगा ॥ ५ ॥

व्यनदत् सुमहानादं जीमूत इव शारदः ।
दिशः खं विदिशश्चैव नादयन् भैरवस्वनः ॥ ६ ॥

आकाशमें स्थित होकर शरद्‌ऋतुके बादलकी भाँति वह अपने भयंकर स्वरसे अन्तरिक्ष, दिशाओं तथा विदिशाओंको गुँजाता हुआ जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ ६ ॥

राक्षसस्य तु तं शब्दं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
उवाच भरतश्रेष्ठ भीमसेनमरिंदमम् ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राक्षस घटोत्कचकी उस गर्जनाको सुनकर राजा युधिष्ठिरने शत्रुदमन भीमसेनसे इस प्रकार कहा—॥ ७ ॥

युध्यते राक्षसो नूनं धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
यथास्य श्रूयते शब्दो नदतो भैरवं स्वनम् ॥ ८ ॥

'राक्षस घटोत्कच कौरव महारथियोंसे निश्चय ही युद्ध कर रहा है। भैरवनाद करते हुए उस राक्षसका जैसा शब्द सुनायी देता है, उससे यही जान पड़ता है ॥ ८ ॥

अतिभारं च पश्यामि तस्मिन् राक्षसपुङ्गवे ।
पितामहश्च संक्रुद्धः पञ्चालान् हन्तुमुद्यतः ॥ ९ ॥

'मैं उस राक्षसशिरोमणिपर बहुत बड़ा भार देख रहा हूँ। उधर पितामह भीष्म भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर पाञ्चालोंको मार डालनेके लिये उद्यत हैं ॥ ९ ॥

तेषां च रक्षणार्थाय युध्यते फाल्गुनः परैः ।
एतज्ज्ञात्वा महाबाहो कार्यद्वयमुपस्थितम् ॥ १० ॥
गच्छ रक्षस्व हैडिम्बं संशयं परमं गतम् ।

'उनकी रक्षाके लिये अर्जुन शत्रुओंसे युद्ध करते हैं। महाबाहो ! अपने ऊपर दो कार्य उपस्थित हैं, ऐसा जानकर तुम जाओ और अत्यन्त संशयमें पड़े हुए हिडिम्बाकुमारकी रक्षा करो' ॥ १०½ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय त्वरमाणो वृकोदरः ॥ ११ ॥
प्रययौ सिंहनादेन त्रासयन् सर्वपार्थिवान् ।

भाईकी यह आज्ञा मानकर भीमसेन सिंहनादसे सम्पूर्ण नरेशोंको भयभीत करते हुए बड़ी उतावलीके साथ वहाँसे चल दिये ॥ ११½ ॥

वेगेन महता राजन् पर्वकाले यथोदधिः ॥ १२ ॥
तमन्वगात् सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः ।
श्रेणिमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ॥ १३ ॥
अभिमन्युमुखाश्चैव द्रौपदेया महारथाः ।
क्षत्रदेवश्च विक्रान्तः क्षत्रधर्मा तथैव च ॥ १४ ॥
अनूपाधिपतिश्चैव नीलः स्वबलमास्थितः ।
महता रथवंशेन हैडिम्बं पर्यवारयन् ॥ १५ ॥

राजन् ! जैसे पूर्णिमाको समुद्र बड़े वेगसे बढ़ता है, उसी प्रकार भीमसेन अत्यन्त वेगसे आगे बढ़े। उनके पीछे सत्यधृति, रणदुर्मद सौचित्ति, श्रेणिमान्, वसुदान, काशिराजके पुत्र अभिभू, अभिमन्यु आदि योद्धा, द्रौपदीके पाँचों महारथी पुत्र, पराक्रमी क्षत्रदेव, क्षत्रधर्मा, अनूपदेशके राजा नील, जिन्हें अपने बलका पूरा भरोसा था—इन सब वीरोंने विशाल रथसेनाके साथ हिडिम्बाकुमार घटोत्कचको सब ओरसे घेर लिया ॥ १२–१५ ॥

कुञ्जरैश्च सदा मत्तैः षट्सहस्रैः प्रहारिभिः ।
अभ्यरक्षन्त सहिता राक्षसेन्द्रं घटोत्कचम् ॥ १६ ॥

सदा उन्मत्त रहनेवाले, प्रहारकुशल छः हजार गजराजोंके साथ आकर उपर्युक्त वीरोंने एक साथ ही राक्षसराज घटोत्कचकी रक्षा की ॥ १६ ॥

सिंहनादेन महता नेमिघोषेण चैव ह ।
खुरशब्दनिपातैश्च कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥ १७ ॥

वे महान् सिंहनाद, रथके पहियोंकी घरघराहट और घोड़ोंकी टाप पड़नेसे होनेवाले महान् शब्दके द्वारा वसुधाको कम्पित कर रहे थे ॥ १७ ॥

तेषामापततां श्रुत्वा शब्दं तं तावकं बलम् ।
भीमसेनभयोद्विग्नं विवर्णवदनं तथा ॥ १८ ॥

उन सबके आनेसे जो कोलाहल हुआ, उसे सुनकर भीमसेनके भयसे उद्विग्न हुए आपके सैनिकोंका मुख उदास हो गया ॥ १८ ॥

परिवृत्तं महाराज परित्यज्य घटोत्कचम् ।
ततः प्रववृते युद्धं तत्र तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥
तावकानां परेषां च संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ।

महाराज ! उस समय रक्षकोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए घटोत्कचको छोड़कर संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले आपके तथा शत्रुपक्षके उन महामनस्वी योद्धाओंमें भारी युद्ध छिड़ गया ॥ १९½ ॥

नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः ॥ २० ॥
अन्योन्यमभिधावन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।

नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको छोड़ते और एक दूसरेकी ओर दौड़ते हुए उभय पक्षके महारथी भीषण युद्ध करने लगे ॥ २०½ ॥

व्यतिषक्तं महारौद्रं युद्धं भीरुभयावहम् ॥ २१ ॥
हया गजैः समाजग्मुः पादाता रथिभिः सह ।

धीरे-धीरे अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो भीरु मनुष्योंको डरानेवाला था। घुड़सवार हाथीसवारोंके और पैदल रथियोंके साथ भिड़ गये ॥ २१½ ॥

अन्योन्यं समरे राजन् प्रार्थयानाः समभ्ययुः ॥ २२ ॥
सहसा चाभवत् तीव्रं संनिपातान्महद् रजः ।
गजाश्वरथपत्तीनां पदनेमिसमुद्धतम् ॥ २३ ॥

राजन्! वे समराङ्गणमें एक दूसरेको ललकारते हुए जूझ रहे थे। उस समय उस भीषण संघर्षसे सहसा बड़े जोरकी धूल उठी, जो हाथी, घोड़े और पैदलोंके पैरों तथा रथके पहियोंके धक्केसे उठायी गयी थी ॥ २२-२३ ॥

धूम्रारुणं रजस्तीव्रं रणभूमिं समावृणोत् ।
नैव स्वे न परे राजन् समजानन् परस्परम् ॥ २४ ॥

महाराज! काले और लाल रंगकी उस दुःसह धूलने समस्त रणभूमिको ढक लिया। उस समय अपने और शत्रु-पक्षके योद्धा एक दूसरेको पहचान नहीं पाते थे ॥ २४ ॥

पिता पुत्रं न जानीते पुत्रो वा पितरं तथा ।
निर्मर्यादे तथाभूते वैशसे लोमहर्षणे ॥ २५ ॥

उस मर्यादाशून्य रोमाञ्चकारी जनसंहारमें पिता पुत्रको और पुत्र पिताको नहीं पहचान पाता था ॥ २५ ॥

शस्त्राणां भरतश्रेष्ठ मनुष्याणां च गर्जताम् ।
सुमहानभवच्छब्दः प्रेतानामिव भारत ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ! शस्त्रोंके आघात और मनुष्योंकी गर्जनाका महान् शब्द भूत-प्रेतोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥

गजवाजिमनुष्याणां शोणितान्त्रतरङ्गिणी ।
प्रावर्तत नदी तत्र केशशैवलशाद्वला ॥ २७ ॥

हाथी, घोड़े और मनुष्योंके रक्त और आँतोंकी एक भयंकर नदी बह चली, जिसमें केश सेवार और घासके समान जान पड़ते थे ॥ २७ ॥

नराणां चैव कायेभ्यः शिरसां पततां रणे ।
शुश्रुवे सुमहाञ्छब्दः पतताम् अश्मनामिव ॥ २८ ॥

मनुष्योंके शरीरोंसे रणभूमिमें कटकर गिरते हुए मस्तकोंका महान् शब्द पत्थरोंकी वर्षाके समान जान पड़ता था ॥ २८ ॥

विशिरस्कैर्मनुष्यैश्च छिन्नगात्रैश्च वारणैः ।
अश्वैः सम्भिन्नदेहैश्च संकीर्णाभूद् वसुन्धरा ॥ २९ ॥

बिना सिरके मनुष्यों, कटे हुए अङ्गोंवाले हाथियों तथा छिन्न-भिन्न शरीरवाले घोड़ोंसे वहाँकी सारी भूमि पट गयी थी ॥

नानाविधानि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः ।
अन्योन्यमभिधावन्तः सम्प्रहारार्थमुद्यताः ॥ ३० ॥

नाना प्रकारके शस्त्रोंको चलाते और एक दूसरेकी ओर दौड़ते हुए महारथी सर्वथा युद्धके लिये उद्यत थे ॥ ३० ॥

हया हयान् समासाद्य प्रेषिता हयसादिभिः ।
समाहत्य रणेऽन्योन्यं निपेतुर्गतजीविताः ॥ ३१ ॥

घुड़सवारोंद्वारा प्रेरित हुए घोड़े घोड़ोंसे भिड़कर आपसमें टक्कर लेकर प्राणशून्य हो रणक्षेत्रमें गिर पड़ते थे ॥ ३१ ॥

नरा नरान् समासाद्य क्रोधरक्तेक्षणा भृशम् ।
उरांस्युरोभिरन्योन्यं समाश्लिष्य निजघ्निरे ॥ ३२ ॥

मनुष्य मनुष्योंपर आक्रमण करके अत्यन्त क्रोधसे लाल आँखें किये छातीसे छाती भिड़ाकर एक दूसरेको मारने लगे ॥

प्रेषिताश्च महामात्रैर्वारणाः परवारणैः ।
अभ्यघ्नन्त विषाणाग्रैर्वारणानेव संयुगे ॥ ३३ ॥

महावतोंके द्वारा आगे बढ़ाये हुए हाथी विपक्षी हाथियोंसे टक्कर लेकर युद्धस्थलमें अपने दाँतोंके अग्रभागसे हाथियों-पर ही चोट करते थे ॥ ३३ ॥

ते जातरुधिरोत्पीडाः पताकाभिरलंकृताः ।
संसक्ताः प्रत्यदृश्यन्त मेघा इव सविद्युतः ॥ ३४ ॥

उस समय उनके मस्तकसे रक्तकी धारा बहने लगती थी। परस्पर भिड़े हुए वे हाथी पताकाओंसे अलंकृत होनेके कारण विद्युत्सहित मेघोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३४ ॥

केचिद् भिन्ना विषाणाग्रैर्भिन्नकुम्भाश्च तोमरैः ।
विनदन्तोऽभ्यधावन्त गर्जमाना घना इव ॥ ३५ ॥

कितने ही हाथी दाँतोंके अग्रभागसे विदीर्ण हो रहे थे। कितनोंके कुम्भस्थल तोमरोंकी मारसे फट गये थे और वे गर्जते हुए बादलोंके समान चीत्कार करते हुए इधर-उधर भाग रहे थे ॥ ३५ ॥

केचिद्धस्तैर्द्विधा छिन्नैश्छिन्नगात्रास्तथापरे ।
निपेतुस्तुमुले तस्मिंश्छिन्नपक्षा इवाद्रयः ॥ ३६ ॥

किन्हींकी सूँड़ोंके दो टुकड़े हो गये थे, किन्हींके सभी अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे, ऐसे हाथी पंख कटे पर्वतोंके समान उस भयानक युद्धमें धड़ाधड़ गिर रहे थे ॥ ३६ ॥

पार्श्वैस्तु दारितैरन्ये वारणैर्वरवारणाः ।
मुमुचुः शोणितं भूरि धातूनिव महीधराः ॥ ३७ ॥

बहुत-से श्रेष्ठ हाथी हाथियोंके आघातसे ही अपना पार्श्व-भाग विदीर्ण हो जानेके कारण उसी प्रकार प्रचुरमात्रामें अपना रक्त बहा रहे थे, जैसे पर्वत गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित झरने बहाते हों ॥ ३७ ॥

नाराचनिहतास्त्वन्ये तथा विद्धाश्च तोमरैः ।
विनदन्तोऽभ्यधावन्त विशृङ्गा इव पर्वताः ॥ ३८ ॥

कुछ हाथी नाराचोंसे घायल किये गये थे, कितनोंके शरीरोंमें तोमर धँसे हुए थे और वे सबके सब घोर चीत्कार करते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे। उस समय वे शृङ्गहीन पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ॥ ३८ ॥

केचित् क्रोधसमाविष्टा मदान्धा निरवग्रहाः ।
रथान् हयान् पदातींश्च ममृदुः शतशो रणे ॥ ३९ ॥

कितने ही मदान्ध गजराज क्रोधमें भरे होनेके कारण काबूमें नहीं आते थे। उन्होंने रणभूमिमें सैकड़ों रथों, घोड़ों और पैदल सिपाहियोंको पैरों तले रौंद डाला ॥ ३९ ॥

तथा हया हयारोहैस्ताडिताः प्रासतोमरैः।
तेन तेनाभ्यवर्तन्त कुर्वन्तो व्याकुला दिशः ॥ ४० ॥

इसी प्रकार घुड़सवारोंद्वारा प्रास और तोमरोंकी मारसे घायल किये हुए घोड़े सम्पूर्ण दिशाओंको व्याकुल करते हुए इधर-उधर भाग रहे थे ॥ ४० ॥

रथिनो रथिभिः सार्धं कुलपुत्रास्तनुत्यजः।
परां शक्तिं समास्थाय चक्रुः कर्माण्यभीतवत् ॥ ४१ ॥

कितने ही कुलीन रथी अपने शरीरोंको निछावर करके भारी-से-भारी शक्ति लगाकर विपक्षी रथियोंके साथ निर्भयकी भाँति महान् पराक्रम प्रकट कर रहे थे ॥ ४१ ॥

स्वयंवर इवामर्दे प्रजह्रुरितरेतरम्।
प्रार्थयाना यशो राजन् स्वर्गं वा युद्धशालिनः ॥ ४२ ॥

राजन्! युद्धमें शोभा पानेवाले वीर स्वर्ग अथवा यश पानेकी इच्छा रखकर स्वयंवरकी भाँति उस युद्धमें एक दूसरेपर प्रहार कर रहे थे ॥ ४२ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संग्रामे लोमहर्षणे।
धार्तराष्ट्रं महत् सैन्यं प्रायशो विमुखीकृतम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार चलनेवाले उस रोमाञ्चकारी संग्राममें दुर्योधनकी विशाल सेना प्रायः युद्धसे विमुख होकर भाग गयी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

दुर्योधन और भीमसेनका एवं अश्वत्थामा और राजा नीलका युद्ध तथा घटोत्कचकी मायासे मोहित होकर कौरवसेनाका पलायन

संजय उवाच

स्वसैन्यं निहतं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनः स्वयम्।
अभ्यधावत संक्रुद्धो भीमसेनमरिंदमम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! अपनी अधिकांश सेनाको मारी गयी देख क्रोधमें भरे हुए स्वयं राजा दुर्योधनने शत्रुदमन भीमसेनपर धावा किया ॥ १ ॥

प्रगृह्य सुमहच्चापमिन्द्राशनिसमस्वनम्।
महता शरवर्षेण पाण्डवं समवाकिरत् ॥ २ ॥

उसने इन्द्रके वज्रकी भाँति भयानक टंकार करनेवाले विशाल धनुषको हाथमें लेकर पाण्डुनन्दन भीमसेनपर बाणोंकी भारी वर्षा आरम्भ की ॥ २ ॥

अर्धचन्द्रं च संधाय सुतीक्ष्णं लोमवाहिनम्।
भीमसेनस्य चिच्छेद चापं क्रोधसमन्वितः ॥ ३ ॥

इतना ही नहीं, उसने कुपित होकर पंखयुक्त अत्यन्त तीखे अर्धचन्द्राकार बाणका प्रयोग करके भीमसेनके धनुषको काट दिया ॥ ३ ॥

तदन्तरं च सम्प्रेक्ष्य त्वरमाणो महारथः।
प्रसंदधे शितं बाणं गिरीणामपि दारणम् ॥ ४ ॥

फिर उसीको उपयुक्त अवसर समझकर महारथी दुर्योधनने बड़ी उतावलीके साथ एक तीखे बाणका संधान किया, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाला था ॥ ४ ॥

तेनोरसि महाराज भीमसेनमताडयत्।
स गाढविद्धो व्यथितः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ५ ॥
समाललम्बे तेजस्वी ध्वजं हेमपरिष्कृतम्।

महाराज! उस बाणके द्वारा दुर्योधनने भीमसेनकी छातीपर गहरी चोट पहुँचायी। उससे अत्यन्त घायल होकर तेजस्वी भीमसेन व्यथित हो उठे और मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए उन्होंने अपने सुवर्णभूषित ध्वजका सहारा ले लिया ॥ ५½ ॥

तथा विमनसं दृष्ट्वा भीमसेनं घटोत्कचः ॥ ६ ॥
क्रोधेनाभिप्रजज्वाल दिधक्षन्निव पावकः।

भीमसेनको इस प्रकार व्यथितचित्त देखकर घटोत्कच जलानेकी इच्छावाले अग्निदेवकी भाँति क्रोधसे प्रज्वलित हो उठा ॥ ६½ ॥

अभिमन्युमुखाश्चापि पाण्डवानां महारथाः ॥ ७ ॥
समभ्यधावन् क्रोशन्तो राजानं जातसम्भ्रमाः।

साथ ही अभिमन्यु आदि पाण्डव महारथी भी बड़े वेगसे राजा दुर्योधनको ललकारते हुए उसकी ओर दौड़े ॥ ७½ ॥

सम्प्रेक्ष्यैतान् सम्पततः संक्रुद्धाञ्जातसम्भ्रमान् ॥ ८ ॥
भारद्वाजोऽब्रवीद् वाक्यं तावकानां महारथान्।
क्षिप्रं गच्छत भद्रं वो राजानं परिरक्षत ॥ ९ ॥
संशयं परमं प्राप्तं मज्जन्तं व्यसनार्णवे।

क्रोधमें भरे हुए इन समस्त योद्धाओंको वेगपूर्वक धावा

करते देख द्रोणाचार्यने आपके महारथियोंसे कहा—'वीरो ! तुम्हारा कल्याण हो । शीघ्र जाओ और संकटके समुद्रमें डूबकर महान् प्राणसंशयमें पड़े हुए राजा दुर्योधनकी रक्षा करो ॥ ८–९½ ॥

एते क्रुद्धा महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ॥ १० ॥
भीमसेनं पुरस्कृत्य दुर्योधनमुपाद्रवन् ।
नानाविधानि शस्त्राणि विसृजन्तो जये धृताः ॥ ११ ॥
नदन्तो भैरवान् नादांस्त्रासयन्तश्च भूमिपान् ।

'ये महाधनुर्धर पाण्डव महारथी कुपित हो भीमसेनको आगे करके दुर्योधनपर धावा कर रहे हैं और विजयका दृढ़ संकल्प ले नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए भैरव गर्जना करते तथा भूमिपालोंको त्रास पहुँचाते हैं' ।१०-११½।

तदाचार्यवचः श्रुत्वा सौमदत्तिपुरोगमाः ॥ १२ ॥
तावकाः समवर्तन्त पाण्डवानामनीकिनीम् ।

आचार्यका यह वचन सुनकर भूरिश्रवा आदि आपके प्रमुख योद्धाओंने पाण्डवसेनापर आक्रमण किया ॥१२½॥

कृपो भूरिश्रवाः शल्यो द्रोणपुत्रो विविंशतिः ॥ १३ ॥
चित्रसेनो विकर्णश्च सैन्धवोऽथ बृहद्बलः ।
आवन्त्यौ च महेष्वासौ कौरवं पर्यवारयन् ॥ १४ ॥

कृपाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य, अश्वत्थामा, विविंशति, चित्रसेन, विकर्ण, सिंधुराज जयद्रथ, बृहद्बल तथा अवन्तीके राजकुमार महाधनुर्धर विन्द और अनुविन्द—इन सबने दुर्योधनको उसकी रक्षाके लिये सब ओरसे घेर लिया।१३-१४।

ते विंशतिपदं गत्वा सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च परस्परजिघांसवः ॥ १५ ॥

वे बीस कदम आगे बढ़कर प्रहार करने लगे, फिर तो पाण्डव तथा कौरव योद्धा एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे युद्ध करने लगे ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्महद् विस्फार्य कार्मुकम् ।
भारद्वाजस्ततो भीमं षड्विंशत्या समार्पयत् ॥ १६ ॥

कौरव महारथियोंसे पूर्वोक्त बात कहनेके पश्चात् महाबाहु भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यने अपने विशाल धनुषको खींचकर भीमसेनको छब्बीस बाण मारे ॥ १६ ॥

भूयश्चैनं महाबाहुः शरैः शीघ्रमवाकिरत् ।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ॥ १७ ॥

साथ ही उन महाबाहुने उनके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो वर्षाऋतुमें मेघ पर्वत-शिखरपर जलकी धारा गिरा रहा हो ॥ १७ ॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीमसेनः शिलीमुखैः ।
त्वरमाणो महेष्वासः सव्ये पार्श्वे महाबलः ॥ १८ ॥

तब महाबली महाधनुर्धर भीमसेनने भी बड़ी उतावलीके साथ द्रोणाचार्यकी बायीं पसलीमें दस बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया ॥ १८ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो वयोवृद्धश्च भारत ।
प्रणष्टसंज्ञः सहसा रथोपस्थ उपाविशत् ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! उन बाणोंसे उन्हें गहरा आघात लगा । वे वयोवृद्ध तो थे ही, सहसा व्यथित एवं अचेत होकर रथके पिछले भागमें बैठ गये ॥ १९ ॥

गुरुं प्रव्यथितं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनः स्वयम् ।
द्रौणायनिश्च संक्रुद्धौ भीमसेनमभिद्रुतौ ॥ २० ॥

आचार्य द्रोणको व्यथासे पीड़ित देख स्वयं राजा दुर्योधन और अश्वत्थामा दोनों अत्यन्त कुपित हो भीमसेनपर टूट पड़े ।२०।

तावापतन्तौ सम्प्रेक्ष्य कालान्तकयमोपमौ ।
भीमसेनो महाबाहुर्गदामादाय सत्वरम् ॥ २१ ॥
अवप्लुत्य रथात् तूर्णं तस्थौ गिरिरिवाचलः ।

प्रलयकालीन यमराजके समान भयंकर उन दोनों महारथियोंको आक्रमण करते देख महाबाहु भीमसेनने तुरंत ही गदा हाथमें ले ली और वे रथसे कूदकर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ २१½ ॥

समुद्यम्य गदां गुर्वीं यमदण्डोपमां रणे ॥ २२ ॥
तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
कौरवो द्रोणपुत्रश्च सहितावभ्यधावताम् ॥ २३ ॥

उन्होंने हाथमें जो भारी गदा उठायी थी, वह रणभूमिमें यमदण्डके समान भयानक जान पड़ती थी । शृङ्गधारी कैलास पर्वतके समान ऊपर गदा उठाये हुए भीमसेनको देखकर दुर्योधन और अश्वत्थामाने एक साथ उनपर धावा किया ॥ २२–२३ ॥

तावापतन्तौ सहितौ त्वरितौ बलिनां वरौ ।
अभ्यधावत वेगेन त्वरमाणो वृकोदरः ॥ २४ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ उन दोनों वीरोंको एक साथ शीघ्रतापूर्वक आते देख भीमसेन भी उतावले होकर बड़े वेगसे उनकी ओर बढ़े ॥ २४ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं भीमदर्शनम् ।
समभ्यधावंस्त्वरिताः कौरवाणां महारथाः ॥ २५ ॥

क्रोधमें भरकर भयंकर दिखायी देनेवाले भीमसेनको देखकर कौरव महारथी बड़ी उतावलीके साथ उनकी ओर दौड़े ॥ २५ ॥

भारद्वाजमुखाः सर्वे भीमसेनजिघांसया ।
नानाविधानि शस्त्राणि भीमस्योरस्यपातयन् ॥ २६ ॥

द्रोणाचार्य आदि सभी योद्धा भीमसेनके वधकी इच्छासे

उनकी छातीपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे ॥ २६ ॥

सहिताः पाण्डवं सर्वे पीडयन्तः समन्ततः ।
तं दृष्ट्वा संशयं प्राप्तं पीड्यमानं महारथम् ॥ २७ ॥
अभिमन्युप्रभृतयः पाण्डवानां महारथाः ।
अभ्यधावन् परीप्सन्तः प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ॥

वे सब एक साथ होकर चारों ओरसे पाण्डुकुमार भीमसेनको पीड़ा देने लगे । महारथी भीमसेनको पीड़ित और उनके प्राणोंको संकटमें पड़ा देख अभिमन्यु आदि पाण्डव महारथी अपने दुस्त्यज प्राणोंका मोह छोड़कर उनकी रक्षाके लिये दौड़ आये ॥ २७–२८ ॥

अनूपाधिपतिः शूरो भीमस्य दयितः सखा ।
नीलो नीलाम्बुदप्रख्यः संक्रुद्धो द्रौणिमभ्ययात्॥ २९ ॥

अनूप देशका शूरवीर राजा नील भीमसेनका प्रिय सखा था । उसकी अङ्गकान्ति श्याम मेघके समान सुन्दर थी । उसने अत्यन्त कुपित होकर अश्वत्थामापर आक्रमण किया।२९।

स्पर्धते हि महेष्वासो नित्यं द्रोणसुतेन सः ।
स विस्फार्य महच्चापं द्रौणिं विव्याध पत्रिणा॥ ३० ॥
यथा शक्रो महाराज पुरा विव्याध दानवम् ।
विप्रचित्तिं दुराधर्षं देवतानां भयंकरम् ॥ ३१ ॥
येन लोकत्रयं क्रोधात् त्रासितं स्वेन तेजसा ।

वह महाधनुर्धर वीर प्रतिदिन द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके साथ स्पर्धा रखता था । महाराज ! उसने अपने विशाल धनुषको खींचकर एक पंखयुक्त बाणसे अश्वत्थामाको उसी प्रकार घायल कर दिया, जैसे इन्द्रने पूर्वकालमें देवताओंके लिये भयंकर विप्रचित्ति नामक दुर्धर्ष दानवको घायल किया था, उस दानवने अपने क्रोध एवं तेजसे तीनों लोकोंको भयभीत कर रक्खा था ॥ ३०-३१½ ॥

तथा नीलेन निर्भिन्नः सुमुक्तेन पतत्रिणा ॥ ३२ ॥
संजातरुधिरोत्पीडो द्रौणिः क्रोधसमन्वितः ।

नीलके छोड़े हुए उस पंखयुक्त बाणसे विदीर्ण होकर अश्वत्थामाके शरीरसे रक्तका प्रवाह बह चला । इससे अश्वत्थामाको बड़ा क्रोध हुआ ॥ ३२½ ॥

स विस्फार्य धनुश्चित्रमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥ ३३ ॥
दध्रे नीलविनाशाय मतिं मतिमतां वरः ।

तदनन्तर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामाने इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर टंकार करनेवाले अपने विचित्र धनुषको खींचकर नीलको मार डालनेका विचार किया ॥ ३३½ ॥

ततः संधाय विमलान् भल्लान् कर्मारमार्जितान् ॥
जघान चतुरो वाहान् सारथिं ध्वजमेव च ।
सप्तमेन च भल्लेन नीलं विव्याध वक्षसि ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् उसने लोहारके माँजे हुए सात चमकीले भल्लों-को धनुषपर रखकर चलाया । उनमेंसे चारके द्वारा उसने नीलके चारों घोड़ोंको और पाँचवेंसे सारथिको मार डाला । छठेसे ध्वजको काट गिराया और सातवें भल्लसे नीलकी छातीमें प्रहार किया ॥३४–३५ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
मोहितं वीक्ष्य राजानं नीलमभ्रचयोपमम् ॥ ३६ ॥
घटोत्कचोऽभिसंक्रुद्धो ज्ञातिभिः परिवारितः ।
अभिदुद्राव वेगेन द्रौणिमाहवशोभिनम् ॥ ३७ ॥
तथेतरे चाभ्यधावन् राक्षसा युद्धदुर्मदाः ।

उस बाणसे अधिक घायल हो जानेके कारण वे व्यथित हो रथके पिछले भागमें बैठ गये । नील मेघसमूहके समान श्याम वर्णवाले राजा नीलको अचेत हुआ देख अपने भाई-बन्धुओंसे घिरा हुआ घटोत्कच अत्यन्त कुपित हो युद्धमें शोभा पानेवाले अश्वत्थामाकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा । उसके साथ ही दूसरे-दूसरे रणदुर्मद राक्षसोंने भी उसपर धावा किया ॥ ३६–३७½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राक्षसं घोरदर्शनम् ॥ ३८ ॥
अभ्यधावत तेजस्वी भारद्वाजात्मजस्त्वरन् ।

देखनेमें अत्यन्त भयंकर राक्षस घटोत्कचको धावा करते देख तेजस्वी अश्वत्थामाने बड़ी उतावलीके साथ उसपर आक्रमण किया ॥ ३८½ ॥

निजघान च संक्रुद्धो राक्षसान् भीमदर्शनान् ॥ ३९ ॥
येऽभवन्नग्रतः क्रुद्धा राक्षसस्य पुरःसराः ।

उसने कुपित हो उन भयंकर राक्षसोंको मारना आरम्भ किया, जो घटोत्कचके आगे खड़े होकर क्रोधपूर्वक युद्ध कर रहे थे ॥ ३९½ ॥

विमुखांश्चैव तान् दृष्ट्वा द्रौणिचापच्युतैः शरैः ॥ ४० ॥
अक्रुद्ध्यत महाकायो भैमसेनिर्घटोत्कचः ।

अश्वत्थामाके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा घायल हो उन राक्षसोंको भागते देख विशालकाय भीमसेनकुमार घटोत्कच कुपित हो उठा ॥ ४०½ ॥

प्रादुश्चक्रे ततो मायां घोररूपां सुदारुणाम् ॥ ४१ ॥
मोहयन् समरे द्रौणिं मायावी राक्षसाधिपः ।

तत्पश्चात् उस मायावी राक्षसराजने समराङ्गणमें अश्वत्थामाको मोहित करते हुए अत्यन्त दारुण घोर माया प्रकट की ॥ ४१½ ॥

ततस्ते तावकाः सर्वे मायया विमुखीकृताः ॥ ४२ ॥
अन्योन्यं समपश्यन्त निकृत्ता मेदिनीतले ।
विचेष्टमानाः कृपणाः शोणितेन परिप्लुताः ॥ ४३ ॥
द्रोणं दुर्योधनं शल्यमश्वत्थामानमेव च ।
प्रायशश्च महेष्वासा ये प्रधानाः स्म कौरवाः ॥ ४४ ॥
विध्वस्ता रथिनः सर्वे राजानश्च निपातिताः ।
हयाश्चैव हयारोहाः संनिकृत्ताः सहस्रशः ॥ ४५ ॥

तब उस मायासे डरकर आपके सभी सैनिक युद्धसे विमुख हो गये। उन्होंने एक दूसरेको तथा द्रोण, दुर्योधन, शल्य और अश्वत्थामाको भी इस प्रकार देखा—सबके सब छिन्न-भिन्न हो पृथ्वीपर गिरकर छटपटा रहे हैं और खूनसे लथपथ होकर दयनीय दशाको पहुँच गये हैं। कौरवोंमें जो महान् धनुर्धर एवं प्रधान वीर हैं, प्रायः वे सभी रथी विध्वंसको प्राप्त हो गये हैं। सब राजा मार गिराये गये हैं तथा हजारों घोड़े और घुड़सवार टुकड़े-टुकड़े होकर पड़े हैं ॥४२–४५॥

तद् दृष्ट्वा तावकं सैन्यं विद्रुतं शिबिरं प्रति ।
मम प्राक्रोशतो राजंस्तथा देवव्रतस्य च ॥ ४६ ॥
युध्यध्वं मा पलायध्वं मायैषा राक्षसी रणे ।
घटोत्कचप्रमुक्तेति नातिष्ठन्त विमोहिताः ॥ ४७ ॥

यह सब देखकर आपकी सेना शिबिरकी ओर भाग चली। राजन्! उस समय मैं और देवव्रत भीष्म भी पुकार-पुकारकर कह रहे थे—'वीरो! युद्ध करो। भागो मत। रणभूमिमें तुम जो कुछ देख रहे हो, वह घटोत्कचद्वारा छोड़ी हुई राक्षसी माया है।' परंतु वे अचेत होनेके कारण ठहर न सके ॥ ४६–४७ ॥

नैव ते श्रद्दधुर्भीता वदतोरावयोर्वचः ।
तांश्च प्रद्रवतो दृष्ट्वा जयं प्राप्ताश्च पाण्डवाः ॥ ४८ ॥
घटोत्कचेन सहिताः सिंहनादान् प्रचक्रिरे ।

वे इतने डर गये थे कि हम दोनोंकी बातोंपर विश्वास नहीं करते थे। उन्हें भागते देख विजयी पाण्डव घटोत्कचके साथ सिंहनाद करने लगे ॥ ४८½ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः समन्तान्नेदिरे भृशम् ॥ ४९ ॥
एवं तव बलं सर्वं हैडिम्बेन दुरात्मना ।
सूर्यास्तमनवेलायां प्रभग्नं विद्रुतं दिशः ॥ ५० ॥

चारों ओर शङ्ख और दुन्दुभि आदि बाजे जोर-जोरसे बजने लगे। इस प्रकार सूर्यास्तके समय दुरात्मा घटोत्कचसे खदेड़ी गयी आपकी सारी सेना सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गयी ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमयुद्धदिवसे घटोत्कचयुद्धे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धमें घटोत्कचका युद्धविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

दुर्योधनके अनुरोध और भीष्मजीकी आज्ञासे भगदत्तका घटोत्कच, भीमसेन और पाण्डवसेनाके साथ घोर युद्ध

संजय उवाच

तस्मिन् महति संक्रन्दे राजा दुर्योधनस्तदा ।
(पराजयं राक्षसेन नामृष्यत परंतपः ।)
गाङ्गेयमुपसंगम्य विनयेनाभिवाद्य च ॥ १ ॥
तस्य सर्वं यथावृत्तमाख्यातुमुपचक्रमे ।
घटोत्कचस्य विजयमात्मनश्च पराजयम् ॥ २ ॥
कथयामास दुर्धर्षो विनिःश्वस्य पुनः पुनः ।

संजय कहते हैं—महाराज! शत्रुओंको संताप देनेवाला राजा दुर्योधन उस महान् युद्धमें एक राक्षसके द्वारा प्राप्त हुई अपनी पराजयको नहीं सह सका। उसने गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास जाकर उन्हें विनीतभावसे प्रणाम करनेके पश्चात् सारा वृत्तान्त यथावत् रूपसे कह सुनाया। उस दुर्धर्ष वीरने बारंबार लम्बी साँस खींचकर घटोत्कचकी विजय और अपनी पराजयकी कथा कही ॥ १-२½ ॥

अब्रवीच्च तदा राजन् भीष्मं कुरुपितामहम् ॥ ३ ॥
भवन्तं समुपाश्रित्य वासुदेवं यथा परैः ।
पाण्डवैर्विग्रहो घोरः समारब्धो मया प्रभो ॥ ४ ॥

राजन्! फिर उसने कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मसे कहा—'प्रभो! जैसे मेरे शत्रु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका आश्रय लेकर युद्ध करते हैं, उसी प्रकार मैंने केवल आपका सहारा लेकर पाण्डवोंके साथ भयंकर युद्ध छेड़ा है ॥३-४॥

एकादश समाख्याता अक्षौहिण्यश्च या मम ।
निदेशे तव तिष्ठन्ति मया सार्धं परंतप ॥ ५ ॥

'परंतप! मेरे साथ ही मेरी ये प्रसिद्ध ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ आपकी आज्ञाके अधीन हैं ॥ ५ ॥

सोऽहं भरतशार्दूल भीमसेनपुरोगमैः ।
घटोत्कचं समाश्रित्य पाण्डवैर्युधि निर्जितः ॥ ६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! ऐसा शक्तिशाली होनेपर भी मुझे भीमसेन आदि पाण्डवोंने घटोत्कचका सहारा लेकर युद्धमें परास्त कर दिया है ॥ ६ ॥

तन्मे दहति गात्राणि शुष्कवृक्षमिवानलः ।
यदिच्छामि महाभाग त्वत्प्रसादात् परंतप ॥ ७ ॥
राक्षसापसदं हन्तुं स्वयमेव पितामह ।
त्वां समाश्रित्य दुर्धर्षं तन्मे कर्तुं त्वमर्हसि ॥ ८ ॥

'महाभाग ! जैसे आग सूखे पेड़को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार यह अपमान मेरे अङ्ग-अङ्गको दग्ध कर रहा है । शत्रुओंको संताप देनेवाले पितामह ! मैं आपकी कृपासे स्वयं ही उस नीच एवं दुर्धर्ष राक्षसको मारना चाहता हूँ । आपका सहारा लेकर उसपर विजयी होना चाहता हूँ । अतः आप मेरे इस मनोरथको पूर्ण करें' ॥ ७-८ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राज्ञो भरतसत्तम ।
दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा दुर्योधनका यह वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने उससे इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

शृणु राजन् मम वचो यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव ।
यथा त्वया महाराज वर्तितव्यं परंतप ॥ १० ॥

'राजन् ! कुरुनन्दन ! मैं तुमसे जो कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो । शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! तुम्हें जिस प्रकार वर्ताव करना चाहिये, वह सुनो ॥ १० ॥

आत्मा रक्ष्यो रणे तात सर्वावस्थास्वरिंदम ।
धर्मराजेन संग्रामस्त्वया कार्यः सदानघ ॥ ११ ॥

'तात ! शत्रुदमन ! तुम युद्धमें सदा अपनी रक्षा करो । अनघ ! तुम्हें सदा धर्मराज युधिष्ठिरसे ही संग्राम करना चाहिये ॥

अर्जुनेन यमाभ्यां वा भीमसेनेन वा पुनः ।
राजधर्मं पुरस्कृत्य राजा राजानमार्छति ॥ १२ ॥

'अर्जुन, नकुल, सहदेव अथवा भीमसेनके साथ भी तुम युद्ध कर सकते हो । राजधर्मको सामने रखकर यह बात कही गयी है । राजा राजासे ही युद्ध करता है ॥ १२ ॥

(न तु कार्यस्त्वया राजन् हैडिम्बेन दुरात्मना ॥)
अहं द्रोणः कृपो द्रौणिः कृतवर्मा च सात्वतः ।
शल्यश्च सौमदत्तिश्च विकर्णश्च महारथः॥ १३ ॥
तव च भ्रातरः श्रेष्ठा दुःशासनपुरोगमाः ।
त्वदर्थे प्रतियोत्स्यामो राक्षसं तं महाबलम् ॥ १४ ॥

'राजन् ! तुम्हें दुरात्मा घटोत्कचके साथ कदापि युद्ध नहीं करना चाहिये । मैं, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, सात्वतवंशी कृतवर्मा, शल्य, भूरिश्रवा, महारथी विकर्ण तथा दुःशासन आदि तुम्हारे अच्छे भ्राता—ये सब लोग तुम्हारे लिये उस महाबली राक्षससे युद्ध करेंगे ॥ १३-१४ ॥

रौद्रे तस्मिन् राक्षसेन्द्रे यदि तेऽनुशयो महान् ।
अयं वा गच्छतु रणे तस्य युद्धाय दुर्मतेः ॥ १५ ॥
भगदत्तो महीपालः पुरन्दरसमो युधि ।

'यदि उस भयंकर राक्षसराज घटोत्कचपर तुम्हारा अधिक रोष है तो उस दुष्टके साथ युद्ध करनेके लिये राजा भगदत्त जायँ; क्योंकि युद्धमें ये इन्द्रके समान पराक्रमी हैं' ॥ १५½ ॥

एतावदुक्त्वा राजानं भगदत्तमथाब्रवीत् ॥ १६ ॥
समक्षं पार्थिवेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।

इतना कहकर बोलनेमें कुशल भीष्मने राजाधिराज दुर्योधनके सामने ही राजा भगदत्तसे यह बात कही—॥ १६½ ॥

गच्छ शीघ्रं महाराज हैडिम्बं युद्धदुर्मदम् ॥ १७ ॥
वारयस्व रणे यत्तो मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

'महाराज ! तुम रणदुर्मद घटोत्कचका सामना करनेके लिये शीघ्र जाओ और समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते प्रयत्नपूर्वक उसे रणक्षेत्रमें आगे बढ़नेसे रोको ॥ १७½ ॥

राक्षसं क्रूरकर्माणं यथेन्द्रस्तारकं पुरा ॥ १८ ॥
तव दिव्यानि चास्त्राणि विक्रमश्च परंतप ।
समागमश्च बहुभिः पुराभूदमरैः सह ॥ १९ ॥

'पूर्वकालमें इन्द्रने जैसे तारकासुरकी प्रगति रोक दी थी, उसी प्रकार तुम भी उस क्रूरकर्मा राक्षसको रोक दो । परंतप ! तुम्हारे पास दिव्य अस्त्र हैं । तुममें पराक्रम भी महान् है और पूर्वकालमें बहुत-से देवताओंके साथ तुम्हारा युद्ध भी हो चुका है ॥ १८-१९ ॥

त्वं तस्य नृपशार्दूल प्रतियोद्धा महाहवे ।
स्वबलेनोच्छ्रितो राजञ्जहि राक्षसपुङ्गवम् ॥ २० ॥

'नृपश्रेष्ठ ! इस महायुद्धमें घटोत्कचका सामना करनेवाले योद्धा केवल तुम्हीं हो । राजन् ! तुम अपने ही बलसे उत्कर्षको प्राप्त होकर राक्षस-शिरोमणि घटोत्कचको मार डालो' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं भीष्मस्य पृतनापतेः ।
प्रययौ सिंहनादेन परानभिमुखो द्रुतम् ॥ २१ ॥

सेनापति भीष्मका यह वचन सुनकर राजा भगदत्त सिंहनाद करते हुए तुरंत ही शत्रुओंका सामना करनेके लिये चल दिये ॥ २१ ॥

तमाद्रवन्तं सम्प्रेक्ष्य गर्जन्तमिव तोयदम् ।
अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धाः पाण्डवानां महारथाः ॥ २२ ॥
भीमसेनोऽभिमन्युश्च राक्षसश्च घटोत्कचः ।
द्रौपदेयाः सत्यधृतिः क्षत्रदेवश्च भारत ॥ २३ ॥
चेदिपो वसुदानश्च दशार्णाधिपतिस्तथा ।

भारत ! गर्जते हुए मेघके समान राजा भगदत्तको धावा करते देख भीमसेन, अभिमन्यु, राक्षस घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, सत्यधृति, क्षत्रदेव, चेदिराज धृष्टकेतु, वसुदान

और दशार्णराज—ये सभी पाण्डवपक्षीय महारथी क्रोधमें भरकर उनका सामना करनेके लिये आये ॥ २२-२३½ ॥

सुप्रतीकेन तांश्चापि भगदत्तोऽप्युपाद्रवत् ॥ २४ ॥
ततः समभवद् युद्धं घोररूपं भयानकम् ।
पाण्डूनां भगदत्तेन यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ २५ ॥

भगदत्तने भी सुप्रतीक नामक हाथीपर आरूढ़ होकर उनपर धावा किया। फिर तो पाण्डवोंका भगदत्तके साथ घोर एवं भयानक युद्ध होने लगा, जो यमराजके राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला था ॥ २४-२५ ॥

प्रयुक्ता रथिभिर्बाणा भीमवेगाः सुतेजनाः ।
ते निपेतुर्महाराज नागेषु च रथेषु च ॥ २६ ॥

महाराज ! रथियोंद्वारा प्रयुक्त हुए भयंकर वेगशाली तेज बाण हाथियों और रथोंपर गिरने लगे ॥ २६ ॥

प्रभिन्नाश्च महानागा विनीता हस्तिसादिभिः।
परस्परं समासाद्य संनिपेतुरभीतवत् ॥ २७ ॥

जिनके मस्तकसे मदकी धारा बहती थी, ऐसे बड़े-बड़े गजराज गजारोहियोंद्वारा प्रेरित हो एक दूसरेके पास पहुँचकर निर्भीक हो परस्पर भिड़ जाते थे ॥ २७ ॥

मदान्धा रोषसंरब्धा विषाणाग्रैर्महाहवे ।
बिभिदुर्दन्तमुसलैः समासाद्य परस्परम् ॥ २८ ॥

उस महायुद्धमें रोषपूर्ण मदान्ध हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागसे अथवा दाँतरूपी मूसलोंसे परस्पर भिड़कर एक दूसरेको विदीर्ण करने लगे ॥ २८ ॥

हयाश्च चामरापीडाः प्रासपाणिभिरास्थिताः ।
चोदिताः सादिभिः क्षिप्रं निपेतुरितरेतरम् ॥ २९॥

चामरभूषित अश्व प्रासधारी सवारोंसे संचालित हो तुरंत ही एक दूसरेपर टूट पड़ते थे ॥ २९ ॥

पादाताश्च पदात्योघैस्ताडिताः शक्तितोमरैः ।
न्यपतन्त तदा भूमौ शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३० ॥

उस समय पैदल सिपाही पैदलोंद्वारा ही शक्ति और तोमरोंसे घायल हो सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें धराशायी हो रहे थे ॥

रथिनश्च रथै राजन् कर्णिनालीकसायकैः ।
निहत्य समरे वीरान् सिंहनादान् विनेदिरे ॥ ३१ ॥

राजन्! रथी लोग रथोंपर आरूढ़ हो कर्णी, नालीक और सायकोंद्वारा समरमें वीरोंका वध करके सिंहनाद कर रहे थे॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संग्रामे लोमहर्षणे ।
भगदत्तो महेष्वासो भीमसेनमथाद्रवत् ॥ ३२ ॥

जब इस प्रकार रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयंकर संग्राम चल रहा था, उसी समय महाधनुर्धर भगदत्तने भीमसेनपर धावा किया ॥ ३२ ॥

कुञ्जरेण प्रभिन्नेन सप्तधा स्रवता मदम् ।
पर्वतेन यथा तोयं स्रवमाणेन सर्वशः ॥ ३३ ॥

वे जिस हाथीपर आरूढ़ थे, उसके कुम्भस्थलसे मदकी सात धाराएँ गिर रही थीं। वह सब ओरसे जलके झरने बहानेवाले पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ३३ ॥

किरञ्छरसहस्राणि सुप्रतीकशिरोगतः ।
ऐरावतस्थो मघवान् वारिधारा इवानघ ॥ ३४ ॥

निष्पाप नरेश ! भगदत्त सुप्रतीककी पीठपर बैठकर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करने लगे, मानो देवराज इन्द्र ऐरावत-पर आरूढ़ हो जलकी धारा गिरा रहे हों ॥ ३४ ॥

स भीमं शरधाराभिस्ताडयामास पार्थिवः ।
पर्वतं वारिधाराभिस्तपान्ते जलदो यथा ॥ ३५ ॥

जैसे वर्षा ऋतुमें बादल पर्वतके शिखरपर जलकी धारा गिराता है, उसी प्रकार राजा भगदत्त भीमसेनपर बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्हें पीड़ित करने लगे ॥ ३५ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धः पादरक्षान् परःशतान् ।
निजघान महेष्वासः संरब्धः शरवृष्टिभिः ॥ ३६ ॥

तब महाधनुर्धर भीमसेनने अत्यन्त कुपित हो अपने बाणोंकी बौछारसे हाथीके पैरोंकी रक्षा करनेवाले सैकड़ों योद्धाओंको मार गिराया ॥ ३६ ॥

तान् दृष्ट्वा निहतान् क्रुद्धो भगदत्तः प्रतापवान् ।
चोदयामास नागेन्द्रं भीमसेनरथं प्रति ॥ ३७ ॥

उन सबको मारा गया देख प्रतापी भगदत्तने कुपित हो उस गजराजको भीमसेनके रथकी ओर बढ़ाया ॥ ३७ ॥

स नागः प्रेषितस्तेन बाणो ज्याचोदितो यथा ।
अभ्यधावत वेगेन भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३८ ॥

उनके द्वारा प्रेरित होकर वह गजराज धनुषकी प्रत्यञ्चासे छोड़े हुए बाणकी भाँति शत्रुदमन भीमसेनकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा ॥ ३८ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य पाण्डवानां महारथाः ।
अभ्यवर्तन्त वेगेन भीमसेनपुरोगमाः ॥ ३९ ॥

उस हाथीको आते देख भीमसेन आदि पाण्डव महारथी शीघ्रतापूर्वक उसके चारों ओर खड़े हो गये ॥ ३९॥

केकयाश्चाभिमन्युश्च द्रौपदेयाश्च सर्वशः ।
दशार्णाधिपतिः शूरः क्षत्रदेवश्च मारिष ॥ ४० ॥
चेदिपश्चित्रकेतुश्च संरब्धाः सर्व एव ते ।
उत्तमास्त्राणि दिव्यानि दर्शयन्तो महाबलाः ॥ ४१ ॥
तमेकं कुञ्जरं क्रुद्धाः समन्तात् पर्यवारयन् ।

आर्य ! केकयराजकुमार, अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, शूरवीर दशार्णराज, क्षत्रदेव, चेदिराज धृष्टकेतु तथा

चित्रकेतु–ये सभी महाबली वीर रोषावेषमें भरकर अपने उत्तम दिव्यास्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए उस एकमात्र हाथीको क्रोधपूर्वक चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ४०-४१½ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्व्यरोचत महाद्विपः ॥ ४२ ॥
संजातरुधिरोत्पीडो धातुचित्र इवाद्रिराट् ।

अनेक बाणोंसे घायल हुआ वह महान् गज रक्तरंजित होकर गेरु आदि धातुओंसे विचित्र दिखायी देनेवाले गिरिराजके समान सुशोभित हुआ ॥ ४२½ ॥

दशार्णाधिपतिश्चापि गजं भूमिधरोपमम् ॥ ४३ ॥
समास्थितोऽभिदुद्राव भगदत्तस्य वारणम् ।

तदनन्तर दशार्णदेशके राजा भी एक पर्वताकार हाथीपर आरूढ़ हो भगदत्तके हाथीकी ओर बढ़े ॥ ४३½ ॥

तमापतन्तं समरे गजं गजपतिः स च ॥ ४४ ॥
दधार सुप्रतीकोऽपि वेलेव मकरालयम् ।

समरभूमिमें अपनी ओर आते हुए उस हाथीको गजराज सुप्रतीकने उसी प्रकार रोक दिया, जैसे तटकी भूमि समुद्रको आगे बढ़नेसे रोके रहती है ॥ ४४½ ॥

वारितं प्रेक्ष्य नागेन्द्रं दशार्णस्य महात्मनः ॥ ४५ ॥
साधु साध्विति सैन्यानि पाण्डवेयान्यपूजयन् ।

महामना दशार्णनरेशके गजराजको रोका गया देख समस्त पाण्डव सैनिक भी साधु-साधु कहकर सुप्रतीककी प्रशंसा करने लगे ॥ ४५½ ॥

ततः प्राग्ज्योतिषः क्रुद्धस्तोमरान् वै चतुर्दश ॥ ४६ ॥
प्राहिणोत् तस्य नागस्य प्रमुखे नृपसत्तम ।

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर प्राग्ज्योतिषनरेशने कुपित होकर दशार्णनरेशके हाथीको सामनेसे चौदह तोमर मारे ॥ ४६½ ॥

वर्म मुख्यं तनुत्राणं शातकुम्भपरिष्कृतम् ॥ ४७ ॥
विदार्य प्राविशन् क्षिप्रं वल्मीकमिव पन्नगाः ।

जैसे सर्प बाँबीमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार वे तोमर हाथीपर पड़े हुए सुवर्णभूषित श्रेष्ठ कवचको छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही उसके शरीरमें घुस गये ॥ ४७½ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो नागो भरतसत्तम ॥ ४८ ॥
उपावृत्तमदः क्षिप्रमभ्यवर्तत वेगितः ।

भरतश्रेष्ठ ! उन तोमरोंसे अत्यन्त घायल हो वह हाथी व्यथित हो उठा । उसका सारा मद उतर गया और वह बड़े वेगसे पीछेकी ओर लौट पड़ा ॥ ४८½ ॥

स प्रदुद्राव वेगेन प्रणदन् भैरवं रवम् ॥ ४९ ॥
सम्मर्दयानः स्वबलं वायुर्वृक्षानिवौजसा ।

जैसे वायु अपनी शक्तिसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है, उसी प्रकार वह हाथी भयानक स्वरमें चिग्घाड़ता और अपनी ही सेनाको रौंदता हुआ बड़े वेगसे भाग चला ४९½

तस्मिन् पराजिते नागे पाण्डवानां महारथाः ॥ ५० ॥
सिंहनादं विनद्योच्चैर्युद्धायैवावतस्थिरे ।

उस हाथीके पराजित हो जानेपर भी पाण्डव महारथी उच्च स्वरसे सिंहनाद करके युद्धके लिये ही खड़े रहे ॥५०½॥

ततो भीमं पुरस्कृत्य भगदत्तमुपाद्रवन् ॥ ५१ ॥
किरन्तो विविधान् बाणाञ्शस्त्राणि विविधानि च ।

तत्पश्चात् पाण्डवसैनिक भीमसेनको आगे करके नाना प्रकारके बाणों तथा अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए भगदत्तपर टूट पड़े ॥ ५१½ ॥

तेषामापततां राजन् संक्रुद्धानाममर्षिणाम् ॥ ५२ ॥
श्रुत्वा स निनदं घोरममर्षाद् गतसाध्वसः ।
भगदत्तो महेष्वासः स्वनागं प्रत्यचोदयत् ॥ ५३ ॥

राजन् ! क्रोधमें भरकर आक्रमण करनेवाले, अमर्षशील उन पाण्डवोंका वह घोर सिंहनाद सुनकर महाधनुर्धर भगदत्तने अमर्षवश बिना किसी भयके अपने हाथीको उनकी ओर बढ़ाया ॥ ५२-५३ ॥

अङ्कुशाङ्गुष्ठनुदितः स गजप्रवरो युधि ।
तस्मिन् क्षणे समभवत् सांवर्तक इवानलः ॥ ५४ ॥

उस समय उनके अङ्कुशों और पैरके अँगूठोंसे प्रेरित हो वह गजराज युद्धस्थलमें संवर्तक[१] अग्निकी भाँति भयंकर हो उठा ॥ ५४ ॥

रथसंघांस्तथा नागान् हयांश्च हयसादिभिः ।
पादातांश्च सुसंक्रुद्धः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५५ ॥
अमृद्नात् समरे नागः सम्प्रधावंस्ततस्ततः ।

उस हाथीने अत्यन्त कुपित होकर रथके समूहों, हाथियों, घुड़सवारोंसहित घोड़ों तथा सैकड़ों-हजारों पैदल सिपाहियोंको भी समराङ्गणमें इधर-उधर दौड़ते हुए रौंद डाला ॥ ५५½ ॥

तेन संलोड्यमानं तु पाण्डवानां बलं महत् ॥ ५६ ॥
संचुकोच महाराज चर्मेवाग्नौ समाहितम् ।

महाराज ! उस हाथीके द्वारा आलोडित होकर पाण्डवोंकी वह विशाल सेना आगपर रक्खे हुए चमड़ेकी भाँति संकुचित हो गयी ॥ ५६½ ॥

भग्नं तु स्वबलं दृष्ट्वा भगदत्तेन धीमता ॥ ५७ ॥
घटोत्कचोऽथ संक्रुद्धो भगदत्तमुपाद्रवत् ।

बुद्धिमान् भगदत्तके द्वारा अपनी सेनामें भगदड़ पड़ी

१. प्रलयकालकी अग्निका नाम संवर्तक है ।

हुई देख घटोत्कचने अत्यन्त कुपित होकर भगदत्तपर धावा किया ॥ ५७½ ॥

विकटः परुषो राजन् दीप्तास्यो दीप्तलोचनः ॥ ५८ ॥
रूपं विभीषणं कृत्वा रोषेण प्रज्वलन्निव ।

राजन् ! उस समय वह अत्यन्त भयानक रूप बनाकर रोषसे प्रज्वलित-सा हो उठा । उसकी आकृति विकट एवं निष्ठुर दिखायी देती थी तथा मुख और नेत्र उज्ज्वल एवं प्रकाशित हो रहे थे ॥ ५८½ ॥

जग्राह विमलं शूलं गिरीणामपि दारणम् ॥ ५९ ॥
नागं जिघांसुः सहसा चिक्षेप च महाबलः ।

उस महाबली निशाचरने हाथीको मार डालनेकी इच्छासे एक निर्मल त्रिशूल हाथमें लिया, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाला था । फिर सहसा उसे चला दिया ।५९½।

स विस्फुलिङ्गमालाभिः समन्तात् परिवेष्टितः ॥ ६० ॥
तमापतन्तं सहसा दृष्ट्वा प्राग्ज्योतिषो नृपः ।
चिक्षेप रुचिरं तीक्ष्णमर्धचन्द्रं सुदारुणम् ॥ ६१ ॥

वह त्रिशूल चारों ओरसे आगकी चिनगारियोंके समूहसे घिरा हुआ था । उसे सहसा अपने ऊपर आते देख प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश भगदत्तने अत्यन्त भयंकर तीक्ष्ण और सुन्दर एक अर्धचन्द्राकार बाण चलाया ॥ ६०-६१ ॥

चिच्छेद तन्महच्छूलं तेन बाणेन वेगवान् ।
उत्पपात द्विधा छिन्नं शूलं हेमपरिष्कृतम् ॥ ६२ ॥
महाशनिर्यथा भ्रष्टा शक्रमुक्ता नभोगता ।

उन वेगवान् नरेशने उक्त बाणके द्वारा उस महान् त्रिशूलको काट डाला । वह सुवर्णभूषित त्रिशूल दो टुकड़ोंमें कटकर ऊपरकी ओर उछला । उस समय वह इन्द्रके हाथसे छूटकर आकाशसे गिरते हुए महान् वज्रके समान सुशोभित हुआ ॥ ६२½ ॥

शूलं निपतितं दृष्ट्वा द्विधा कृत्तं च पार्थिवः ॥ ६३ ॥
रुक्मदण्डां महाशक्तिं जग्राहाग्निशिखोपमाम् ।
चिक्षेप तां राक्षसस्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ६४ ॥

त्रिशूलको दो टुकड़ोंमें कटकर गिरा हुआ देख राजा भगदत्तने आगकी लपटोंसे वेष्टित तथा सुवर्णमय दण्डसे विभूषित एक महाशक्ति हाथमें ली और उसे राक्षसपर चला दिया । फिर वे बोले—खड़ा रह, खड़ा रह ॥ ६३-६४ ॥

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य वियत्स्थामशनीमिव ।
उत्पत्य राक्षसस्तूर्णं जग्राह च ननाद च ॥ ६५ ॥

आकाशमें प्रकाशित होनेवाली अशनि (वज्र) के समान उस महाशक्तिको गिरती हुई देख राक्षस घटोत्कचने उछलकर तुरंत ही उसे पकड़ लिया और सिंहके समान गर्जना की ॥ ६५ ॥

बभञ्ज चैनां त्वरितो जानुन्यारोप्य भारत ।
पश्यतः पार्थिवेन्द्रस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ६६ ॥

भारत ! फिर उसने तुरंत ही राजा भगदत्तके देखते-देखते उस शक्तिको घुटनेपर रखकर तोड़ डाला । यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ६६ ॥

तदवेक्ष्य कृतं कर्म राक्षसेन बलीयसा ।
दिवि देवाः सगन्धर्वा मुनयश्चापि विस्मिताः ॥ ६७ ॥

महाबली राक्षसके द्वारा किये गये इस महान् कर्मको देखकर आकाशमें खड़े हुए देवता, गन्धर्व और मुनि बड़े विस्मित हुए ॥ ६७ ॥

पाण्डवाश्च महाराज भीमसेनपुरोगमाः ।
साधु साध्विति नादेन पृथिवीमन्वनादयन् ॥ ६८ ॥

महाराज ! उस समय भीमसेन आदि पाण्डवोंने वाह-वाह कहते हुए अपने सिंहनादसे पृथ्वीको गुँजा दिया ॥६८॥

तं तु श्रुत्वा महानादं प्रहृष्टानां महात्मनाम् ।
नामृष्यत महेष्वासो भगदत्तः प्रतापवान् ॥ ६९ ॥

हर्षमें भरे हुए उन महामना वीरोंका महान् सिंहनाद सुनकर महाधनुर्धर एवं प्रतापी राजा भगदत्त न सह सके ॥

स विस्फार्य महच्चापमिन्द्राशनिसमप्रभम् ।
तर्जयामास वेगेन पाण्डवानां महारथान् ॥ ७० ॥

उन्होंने इन्द्रके वज्रकी भाँति प्रकाशित होनेवाले अपने विशाल धनुषको खींचकर पाण्डव महारथियोंको वेगपूर्वक डाँट बतायी ॥ ७० ॥

विसृजन् विमलांस्तीक्ष्णान् नाराचाञ्ज्वलनप्रभान् ।
भीममेकेन विव्याध राक्षसं नवभिः शरैः ॥ ७१ ॥

तत्पश्चात् अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले निर्मल और तीखे नाराचोंका प्रहार करते हुए एकके द्वारा भीमसेनको घायल किया और नौ बाणोंसे राक्षस घटोत्कचको बींध डाला ॥ ७१ ॥

अभिमन्युं त्रिभिश्चैव केकयान् पञ्चभिस्तथा ।
पूर्णायतविसृष्टेन शरेणानतपर्वणा ॥ ७२ ॥
बिभेद दक्षिणं बाहुं क्षत्रदेवस्य चाहवे ।
पपात सहसा तस्य सशरं धनुरुत्तमम् ॥ ७३ ॥

फिर तीन बाणोंसे अभिमन्युको और पाँचसे केकय-राजकुमारोंको घायल किया । तत्पश्चात् धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए झुकी हुई गाँठवाले बाणके द्वारा उन्होंने युद्धमें क्षत्रदेवकी दाहिनी बाँह काट डाली । उसके कटनेके साथ ही सहसा उनका बाणसहित उत्तम धनुष पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ७२-७३ ॥

द्रौपदेयांस्ततः पञ्च पञ्चभिः समताडयत् ।
भीमसेनस्य च क्रोधान्निजघान तुरङ्गमान् ॥ ७४ ॥

इसके बाद भगदत्तने द्रौपदीके पाँच पुत्रोंको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया और क्रोधपूर्वक भीमसेनके घोड़ोंको मार डाला ॥ ७४ ॥

ध्वजं केसरिणं चास्य चिच्छेद विशिखैस्त्रिभिः ।
निर्बिभेद त्रिभिश्चान्यैः सारथिं चास्य पत्रिभिः॥ ७५ ॥

फिर तीन बाणोंसे उनके सिंहचिह्नित ध्वजको काट दिया और अन्य तीन पंखयुक्त बाण मारकर उनके सारथिको भी विदीर्ण कर डाला ॥ ७५ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
विशोको भरतश्रेष्ठ भगदत्तेन संयुगे ॥ ७६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भगदत्तके द्वारा युद्धमें अधिक घायल होकर भीमसेनका सारथि विशोक व्यथित हो उठा और रथके पिछले भागमें चुपचाप बैठ गया ॥ ७६ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्विरथो रथिनां वरः ।
गदां प्रगृह्य वेगेन प्रचस्कन्द रथोत्तमात् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार रथहीन होनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु भीमसेन हाथमें गदा लेकर उस उत्तम रथसे वेगपूर्वक कूद पड़े॥

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा सशृङ्गमिव पर्वतम् ।
तावकानां भयं घोरं समपद्यत भारत ॥ ७८ ॥

भारत ! शृङ्गयुक्त पर्वतके समान उन्हें गदा उठाये आते देख आपके सैनिकोंके मनमें घोर भय समा गया॥७८॥

एतस्मिन्नेव काले तु पाण्डवः कृष्णसारथिः ।
आजगाम महाराज निघ्नञ्शत्रून् समन्ततः ॥ ७९ ॥
यत्र तौ पुरुषव्याघ्रौ पितापुत्रौ महाबलौ ।
प्राग्ज्योतिषेण संयुक्तौ भीमसेनघटोत्कचौ ॥ ८० ॥

महाराज ! इसी समय श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, वे पाण्डुनन्दन अर्जुन सब ओरसे शत्रुओंका संहार करते हुए वहाँ आ पहुँचे, जहाँ वे दोनों पुरुषसिंह महाबली पिता-पुत्र भीमसेन और घटोत्कच भगदत्तके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ ७९-८० ॥

दृष्ट्वा च पाण्डवो भ्रातॄन् युध्यमानान् महारथान्।
त्वरितो भरतश्रेष्ठ तत्रायुध्यत् किरञ्छरान् ॥ ८१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डुनन्दन अर्जुन अपने महारथी भाइयोंको युद्ध करते देख स्वयं भी बाणोंकी वर्षा करते हुए तुरंत ही युद्धमें प्रवृत्त हो गये ॥ ८१ ॥

ततो दुर्योधनो राजा त्वरमाणो महारथः ।
सेनामचोदयत् क्षिप्रं रथनागाश्वसंकुलाम् ॥ ८२ ॥

तब महारथी राजा दुर्योधनने बड़ी उतावलीके साथ रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई अपनी सेनाको शीघ्र ही युद्धके लिये प्रेरित किया॥ ८२ ॥

तामापतन्तीं सहसा कौरवाणां महाचमूम् ।
अभिदुद्राव वेगेन पाण्डवः श्वेतवाहनः ॥ ८३ ॥

कौरवोंकी उस विशाल वाहिनीको आती देख श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन सहसा बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े॥ ८३ ॥

भगदत्तश्च समरे तेन नागेन भारत ।
विमृद्नन् पाण्डवबलं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ ८४ ॥

भारत ! भगदत्तने भी समरभूमिमें उस हाथीके द्वारा पाण्डवसेनाको कुचलते हुए युधिष्ठिरपर धावा किया ॥८४॥

तदाऽऽसीत् सुमहद् युद्धं भगदत्तस्य मारिष ।
पञ्चालैः पाण्डवेयैश्च केकयैश्चोद्यतायुधैः ॥ ८५ ॥

आर्य ! उस समय हथियार उठाये हुए पाञ्चालों, पाण्डवों तथा केकयोंके साथ भगदत्तका बड़ा भारी युद्ध हुआ॥

भीमसेनोऽपि समरे तावुभौ केशवार्जुनौ ।
अश्रावयद् यथावृत्तमिरावद्वधमुत्तमम् ॥ ८६ ॥

भीमसेनने भी समरभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंको इरावान्के वधका यथावत् वृत्तान्त अच्छी तरह सुना दिया ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भगदत्तयुद्धे पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भगदत्तका युद्धविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ८७ श्लोक हैं)

षण्णवतितमोऽध्यायः

इरावान्‌के वधसे अर्जुनका दुःखपूर्ण उद्गार, भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके नौ पुत्रोंका वध, अभिमन्यु और अम्बष्ठका युद्ध, युद्धकी भयानक स्थितिका वर्णन तथा आठवें दिनके युद्धका उपसंहार

संजय उवाच

पुत्रं विनिहतं श्रुत्वा इरावन्तं धनंजयः ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो निःश्वसन् पन्नगो यथा ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अपने पुत्र इरावान्‌के वधका वृत्तान्त सुनकर अर्जुनको बड़ा दुःख हुआ । वे सर्पके समान लंबी साँस खींचने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीत् समरे राजन् वासुदेवमिदं वचः ।
इदं नूनं महाप्राज्ञो विदुरो दृष्टवान् पुरा ॥ २ ॥

नरेश्वर ! तब उन्होंने समरभूमिमें भगवान् वासुदेवसे इस प्रकार कहा—'भगवन् ! निश्चय ही महाज्ञानी विदुरने पहले ही यह सब देख लिया था ॥ २ ॥

कुरूणां पाण्डवानां च क्षयं घोरं महामतिः ।
स ततो निवारितवान् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ३ ॥

'कौरवों और पाण्डवोंका यह भयंकर विनाश परम बुद्धिमान् विदुरकी दृष्टिमें पहले ही आ गया था । इसलिये उन्होंने राजा धृतराष्ट्रको मना किया था ॥ ३ ॥

अन्ये च बहवो वीराः संग्रामे मधुसूदन ।
निहताः कौरवैः संख्ये तथास्माभिश्च कौरवाः ॥ ४ ॥

'मधुसूदन ! और भी बहुत-से वीरोंको संग्राममें कौरवोंने मारा और हमने कौरव सैनिकोंका संहार किया ॥ ४ ॥

अर्थहेतोर्नरश्रेष्ठ क्रियते कर्म कुत्सितम् ।
धिगर्थान् यत्कृते ह्येवं क्रियते ज्ञातिसंक्षयः ॥ ५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! धनके लिये यह कुत्सित कर्म किया जा रहा है । धिक्कार है उस धनको, जिसके लिये इस प्रकार जाति-भाइयोंका विनाश किया जाता है ॥ ५ ॥

अधनस्य मृतं श्रेयो न च ज्ञातिवधाद् धनम् ।
किं नु प्राप्स्यामहे कृष्ण हत्वा ज्ञातीन् समागतान् ॥६॥

'मनुष्यका निर्धन रहकर मर जाना अच्छा है, परंतु जाति-भाइयोंके वधसे धन प्राप्त करना कदापि अच्छा नहीं है । कृष्ण ! हम वहाँ आये हुए इन जाति-भाइयोंको मारकर क्या प्राप्त कर लेंगे ॥ ६ ॥

दुर्योधनापराधेन शकुनेः सौबलस्य च ।
क्षत्रिया निधनं यान्ति कर्णदुर्मन्त्रितेन च ॥ ७ ॥

'दुर्योधनके अपराधसे और सुबलपुत्र शकुनि तथा कर्णकी कुमन्त्रणासे ये क्षत्रिय मारे जा रहे हैं ॥ ७ ॥

इदानीं च विजानामि सुकृतं मधुसूदन ।
कृतं राज्ञा महाबाहो याचता च सुयोधनम् ॥ ८ ॥

महाबाहु मधुसूदन ! राजा युधिष्ठिरने दुर्योधनसे पहले जो याचना की थी, वही उत्तम कार्य था; यह बात अब मेरी समझमें आ रही है ॥ ८ ॥

राज्यार्धं पञ्च वा ग्रामान् नाकार्षीत् स च दुर्मतिः ।
दृष्ट्वा हि क्षत्रियाञ्शूराञ्शयानान् धरणीतले ॥ ९ ॥
निन्दामि भृशमात्मानं धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ।

'युधिष्ठिरने आधा राज्य अथवा पाँच गाँव माँगे थे, परंतु दुर्बुद्धि दुर्योधनने उनकी माँग पूरी नहीं की । आज क्षत्रिय वीरोंको रणभूमिमें सोते देख मैं सबसे अधिक अपनी निन्दा करता हूँ । क्षत्रियोंकी इस जीविकाको धिक्कार है ।९½।

अशक्तमिति मामेते ज्ञास्यन्ते क्षत्रिया रणे ॥ १० ॥
युद्धं तु मे न रुचितं ज्ञातिभिर्मधुसूदन ।

'मधुसूदन ! रणक्षेत्रमें मेरे मुखसे ऐसी बात सुनकर ये क्षत्रिय मुझे असमर्थ समझेंगे, परंतु इन जाति-भाइयोंके साथ युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥ १०½ ॥

संचोदय हयाञ्शीघ्रं धार्तराष्ट्रचमूं प्रति ॥ ११ ॥
प्रतरिष्ये महापारं भुजाभ्यां समरोदधिम् ।

(तथापि मैं आपके आदेशानुसार युद्ध करूँगा; अतः) 'आप शीघ्र ही अपने घोड़ोंको दुर्योधनकी सेनाकी ओर हाँकिये, जिससे इन दोनों भुजाओंद्वारा अपार सैन्यसागरको पार करूँ ॥ ११½ ॥

नायं यापयितुं कालो विद्यते माधव कश्चित् ॥ १२ ॥
एवमुक्तस्तु पार्थेन केशवः परवीरहा ।
चोदयामास तानश्वान् पाण्डुरान् वातरंहसः ॥ १३ ॥

'माधव ! यह समयको व्यर्थ बितानेका अवसर नहीं है ।' अर्जुनके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका विनाश करनेवाले केशवने वायुके समान वेगशाली उन श्वेत घोड़ोंको आगे बढ़ाया १२-१३

अथ शब्दो महानासीत् तव सैन्यस्य भारत ।
मारुतोद्धतवेगस्य सागरस्येव पर्वणि ॥ १४ ॥

भारत ! तदनन्तर जैसे पूर्णिमाको वायुकी प्रेरणासे समुद्रका वेग बढ़ जानेसे उसकी भीषण गर्जना सुनायी पड़ती है, उसी प्रकार आपकी सेनाका महान् कोलाहल प्रकट हुआ ॥

अपराह्णे महाराज संग्रामः समपद्यत ।
पर्जन्यसमनिर्घोषो भीष्मस्य सह पाण्डवैः ॥ १५ ॥

महाराज ! अपराह्णकालमें पाण्डवोंके साथ भीष्मका भीषण संग्राम आरम्भ हुआ, जिसमें मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर घोष हो रहा था ॥ १५ ॥

ततो राजंस्तव सुता भीमसेनमुपाद्रवन् ।
परिवार्य रणे द्रोणं वसवो वासवं यथा ॥ १६ ॥

राजन् ! तब आपके पुत्र, जैसे वसुगण इन्द्रके सब ओर खड़े होते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्यको चारों ओरसे घेरकर रणभूमिमें भीमसेनपर टूट पड़े ॥ १६ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मः कृपश्च रथिनां वरः ।
भगदत्तः सुशर्मा च धनंजयमुपाद्रवन् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् शान्तनुनन्दन भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य, भगदत्त और सुशर्माने अर्जुनपर धावा किया ॥ १७ ॥

हार्दिक्यो बाह्लिकश्चैव सात्यकिं समभिद्रुतौ ।
अम्बष्ठकस्तु नृपतिरभिमन्युमवस्थितः ॥ १८ ॥

कृतवर्मा और बाह्लीक सात्यकिपर टूट पड़े । राजा अम्बष्ठने अभिमन्युका सामना किया ॥ १८ ॥

शेषास्त्वन्ये महाराज शेषानेव महारथान् ।
ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ॥ १९ ॥

महाराज ! शेष अन्य महारथियोंने शत्रुपक्षके शेष

महारथियोंपर आक्रमण किया। फिर तो उनमें घोर एवं भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ ॥ १९ ॥

भीमसेनस्तु सम्प्रेक्ष्य पुत्रांस्तव जनेश्वर।
प्रजज्वाल रणे क्रुद्धो हविषा हव्यवाडिव ॥ २० ॥

जनेश्वर! जैसे घीकी आहुति देनेसे अग्निदेव प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें आपके पुत्रोंको देखकर भीमसेन क्रोधसे जल उठे ॥ २० ॥

पुत्रास्तु तव कौन्तेयं छादयाञ्चक्रिरे शरैः।
प्रावृषीव महाराज जलदा इव पर्वतम् ॥ २१ ॥

परंतु महाराज! आपके पुत्रोंने कुन्तीनन्दन भीमको अपने बाणोंसे उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे वर्षाऋतुमें बादल पर्वतको जलकी धाराओंसे ढक लेते हैं ॥ २१ ॥

स च्छाद्यमानो बहुधा पुत्रैस्तव विशाम्पते।
सृक्किणी संलिहन् वीरः शार्दूल इव दर्पितः ॥ २२ ॥
व्यूढोरस्कं ततो भीमः पातयामास भारत।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन सोऽभवद् गतजीवितः ॥ २३ ॥

प्रजानाथ! भरतनन्दन! आपके पुत्रोंद्वारा बारंबार बाणोंकी वर्षासे आच्छादित किये जानेपर क्रोधपूर्वक अपने मुँह-के कोनोंको चाटते हुए सिंहके समान शौर्यका अभिमान रखने-वाले वीर भीमसेनने एक अत्यन्त तीखे क्षुरप्रके द्वारा आपके पुत्र व्यूढोरस्कको मार गिराया। उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी ॥ २२-२३ ॥

अपरेण तु भल्लेन पीतेन निशितेन तु।
अपातयत् कुण्डलिनं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् जैसे सिंह छोटे-से मृगको दबोच लेता है, उसी प्रकार भीमने दूसरे पानीदार एवं तीखे भल्लसे आपके पुत्र कुण्डलीको धराशायी कर दिया ॥ २४ ॥

ततः सुनिशितान् पीतान् समादत्त शिलीमुखान्।
ससर्ज त्वरया युक्तः पुत्रांस्ते प्राप्य मारिष ॥ २५ ॥

आर्य! इसके बाद भीमने बड़ी उतावलीके साथ बहुत-से तीखे और पानीदार बाण हाथमें लिये और आपके पुत्रों-को लक्ष्य करके छोड़ दिये ॥ २५ ॥

प्रेषिता भीमसेनेन शरास्ते दृढधन्वना।
अपातयन्त पुत्रांस्ते रथेभ्यः सुमहारथान् ॥ २६ ॥

सुदृढ़ धनुर्धर भीमसेनके द्वारा चलाये हुए उन बाणोंने आपके बहुत-से महारथी पुत्रोंको मारकर रथोंसे नीचे गिरा दिया ॥ २६ ॥

अनाधृष्टिं कुण्डभेदिं वैराटं दीर्घलोचनम्।
दीर्घबाहुं सुबाहुं च तथैव कनकध्वजम् ॥ २७ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—अनाधृष्टि, कुण्डभेदि, वैराट, दीर्घलोचन, दीर्घबाहु, सुबाहु तथा कनकध्वज ॥ २७ ॥

प्रपतन्त स्म वीरास्ते विरेजुर्भरतर्षभ।
वसन्ते पुष्पशबलाश्चूताः प्रपतिता इव ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ! वे सभी वीर वहाँ गिरकर वसन्त ऋतुमें धराशायी हुए पुष्पयुक्त आम्रवृक्षोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ २८ ॥

ततः प्रदुद्रुवुः शेषास्तव पुत्रा महाहवे।
तं कालमिव मन्यन्तो भीमसेनं महाबलम् ॥ २९ ॥

तब उस महायुद्धमें आपके शेष पुत्र महाबली भीमसेन-को कालके समान समझकर वहाँसे भाग चले ॥ २९ ॥

द्रोणस्तु समरे वीरं निर्दहन्तं सुतांस्तव।
यथाद्रिं वारिधाराभिः समन्ताद् व्यकिरच्छरैः ॥ ३० ॥

तदनन्तर युद्धस्थलमें आपके पुत्रोंको दग्ध करते हुए वीर भीमसेनपर द्रोणाचार्यने सब ओरसे उसी प्रकार बाणों-की वर्षा आरम्भ की, जैसे बादल पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराते हैं ॥ ३० ॥

तत्राद्भुतमपश्याम कुन्तीपुत्रस्य पौरुषम्।
द्रोणेन वार्यमाणोऽपि निजघ्ने यत् सुतांस्तव ॥ ३१ ॥

महाराज! उस समय हमने कुन्तीपुत्र भीमका अद्भुत पराक्रम देखा। यद्यपि द्रोणाचार्य बाणोंकी वर्षा करके उन्हें रोक रहे थे, तो भी उन्होंने आपके पुत्रोंको मार डाला ॥ ३१ ॥

यथा गोवृषभो वर्षं संधारयति खात् पतत्।
भीमस्तथा द्रोणमुक्तं शरवर्षमदीधरत् ॥ ३२ ॥

जैसे साँड़ आकाशसे गिरती हुई जल-वर्षाको अपने शरीरपर शान्त भावसे धारण और सहन करता है, उसी प्रकार भीमसेन द्रोणाचार्यकी छोड़ी हुई बाण-वर्षाको धारण कर रहे थे ॥ ३२ ॥

अद्भुतं च महाराज तत्र चक्रे वृकोदरः।
यत् पुत्रांस्तेऽवधीत् संख्ये द्रोणं चैव न्यवारयत् ॥ ३३ ॥

महाराज! भीमसेनने उस युद्धस्थलमें आपके पुत्रोंका वध तो किया ही, द्रोणाचार्यको भी आगे बढ़नेसे रोक रक्खा था। यह उन्होंने अद्भुत पराक्रम किया ॥ ३३ ॥

पुत्रेषु तव वीरेषु चिक्रीडार्जुनपूर्वजः।
मृगेष्विव महाराज चरन् व्याघ्रो महाबलः ॥ ३४ ॥

राजन्! जैसे महाबली व्याघ्र मृगोंके झुंडमें विचरता हो, उसी प्रकार भीमसेन आपके वीर पुत्रोंके समुदायमें खेल रहे थे ॥ ३४ ॥

यथा हि पशुमध्यस्थो द्रावयेत पशून् वृकः।
वृकोदरस्तव सुतांस्तथा व्यद्रावयद् रणे ॥ ३५ ॥

जैसे भेड़िया पशुओंके बीचमें रहकर भी उन्हें विदीर्ण

कर डालता है, उसी प्रकार भीमसेन रणभूमिमें आपके पुत्रोंको भगा रहे थे ॥ ३५ ॥

गाङ्गेयो भगदत्तश्च गौतमश्च महारथाः ।
पाण्डवं रभसं युद्धे वारयामासुरर्जुनम् ॥ ३६ ॥

दूसरी ओर गङ्गानन्दन भीष्म, भगदत्त और कृपाचार्य—ये तीनों महारथी युद्धमें वेगसे आगे बढ़नेवाले पाण्डुकुमार अर्जुनका निवारण कर रहे थे ॥ ३६ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तेषां सोऽतिरथो रणे ।
प्रवीरांस्तव सैन्येषु प्रेषयामास मृत्यवे ॥ ३७ ॥

परंतु अतिरथी वीर अर्जुनने रणभूमिमें उनके अस्त्रोंका अस्त्रोंद्वारा निवारण करके आपकी सेनाके प्रमुख वीरोंको यमराजके पास भेज दिया ॥ ३७ ॥

अभिमन्युस्तु राजानमम्बष्ठं लोकविश्रुतम् ।
विरथं रथिनां श्रेष्ठं वारयामास सायकैः ॥ ३८ ॥

अभिमन्युने रथियोंमें श्रेष्ठ लोकविख्यात राजा अम्बष्ठको सायकोंद्वारा रथहीन करके आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ३८ ॥

विरथो वध्यमानस्तु सौभद्रेण यशस्विना ।
अवप्लुत्य रथात् तूर्णमम्बष्ठो वसुधाधिपः ॥ ३९ ॥
असिं चिक्षेप समरे सौभद्रस्य महात्मनः ।
आरुरोह रथं चैव हार्दिक्यस्य महाबलः ॥ ४० ॥

यशस्वी सुभद्राकुमार अभिमन्युसे पीड़ित एवं रथहीन होकर राजा अम्बष्ठ अपने रथसे कूद पड़े और महामना सुभद्राकुमारपर उन्होंने रणक्षेत्रमें तलवार चलायी । फिर वे महाबली नरेश कृतवर्माके रथपर जा बैठे ॥ ३९-४० ॥

आपतन्तं तु निस्त्रिंशं युद्धमार्गविशारदः ।
लाघवाद् व्यंसयामास सौभद्रः परवीरहा ॥ ४१ ॥

युद्धके पैतरोंको जाननेमें कुशल तथा शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने अपनी ओर आती हुई अम्बष्ठकी तलवारको अपनी फुर्तीके कारण निष्फल कर दिया ॥ ४१ ॥

व्यंसितं वीक्ष्य निस्त्रिंशं सौभद्रेण रणे तदा ।
साधु साध्विति सैन्यानां प्रणादोऽभूद् विशाम्पते ॥ ४२ ॥

प्रजानाथ ! उस समय रणक्षेत्रमें अम्बष्ठकी चलायी हुई तलवारको सुभद्राकुमारद्वारा निष्फल की गयी देख समस्त सैनिकोंके मुखसे निकली हुई 'साधु-साधु' (वाह-वाह) की ध्वनि गूँज उठी ॥ ४२ ॥

धृष्टद्युम्नमुखास्त्वन्ये तव सैन्यमयोधयन् ।
तथैव तावकाः सर्वे पाण्डुसैन्यमयोधयन् ॥ ४३ ॥

धृष्टद्युम्न आदि अन्य महारथी आपकी सेनाके साथ तथा आपके प्रमुख सैनिक पाण्डव-सेनाके साथ युद्ध करने लगे ॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् तव तेषां च भारत ।
(पाण्डवानां च राजेन्द्र सैनिकानां सुदारुणः ।)
निघ्नतां दृढमन्योन्यं कुर्वतां कर्म दुष्करम् ॥ ४४ ॥

भारत ! राजेन्द्र ! एक दूसरेपर सुदृढ़ प्रहार और दुष्कर पराक्रम करनेवाले आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें अत्यन्त भयंकर महान् संग्राम होने लगा ॥ ४४ ॥

अन्योन्यं हि रणे शूराः केशेष्वाक्षिप्य मानिनः ।
नखदन्तैरयुध्यन्त मुष्टिभिर्जानुभिस्तथा ॥ ४५ ॥

कितने ही मानी शूरवीर उस रणक्षेत्रमें एक दूसरेके केश पकड़कर नखों, दाँतों, मुक्कों और घुटनोंसे प्रहार करते हुए लड़ रहे थे ॥ ४५ ॥

तलैश्चैवाथ निस्त्रिंशैर्बाहुभिश्च सुसंस्थितैः ।
विवरं प्राप्य चान्योन्यमनयन् यमसादनम् ॥ ४६ ॥

अवसर पाकर वे थप्पड़ों, तलवारों तथा सुदृढ़ भुजाओंद्वारा भी एक दूसरेको यमलोक पहुँचा देते थे ॥ ४६ ॥

न्यहनच्च पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।
व्याकुलीकृतसर्वाङ्गा युयुधुस्तत्र मानवाः ॥ ४७ ॥

उस युद्धमें पिताने पुत्रको और पुत्रने पिताको मार डाला । सबके सभी अङ्ग व्याकुल हो गये थे, तो भी सब लोग युद्ध कर रहे थे ॥ ४७ ॥

रणे चारूणि चापानि हेमपृष्ठानि मारिष ।
हतानामपविद्धानि कलापाश्च महाधनाः ॥ ४८ ॥

आर्य ! उस रणक्षेत्रमें मारे गये नरेशोंके सुवर्णमय पृष्ठसे विभूषित सुन्दर धनुष तथा बहुमूल्य तरकस जहाँ-तहाँ पड़े हुए थे ॥ ४८ ॥

जातरूपमयैः पुङ्खै राजतैर्निशिताः शराः ।
तैलधौता व्यराजन्त निर्मुक्तभुजगोपमाः ॥ ४९ ॥

सोने अथवा चाँदीके पंखोंसे युक्त तथा तेलके धोये हुए तीखे बाण केचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान सुशोभित होते थे ॥ ४९ ॥

हस्तिदन्तत्सरून् खड्गाञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
चर्माणि चापविद्धानि रुक्मचित्राणि धन्विनाम् ॥ ५० ॥

हमने देखा कि रणभूमिमें धनुर्धर वीरोंकी तलवारें और ढालें फेंकी पड़ी हैं । तलवारोंमें हाथीके दाँतकी मूँठें लगी थीं और उनमें यथास्थान सुवर्ण जड़ा हुआ था । इसी प्रकार ढालोंमें सुवर्णमय विचित्र तारक चिह्न दिखायी देते थे ॥ ५० ॥

सुवर्णविकृतप्रासान् पट्टिशान् हेमभूषितान् ।
जातरूपमयाश्चर्ष्टीः शक्तीश्च कनकोज्ज्वलाः ॥ ५१ ॥

सुवर्णभूषित प्रास, स्वर्णजटित पट्टिश, सोनेकी बनी हुई ऋष्टियाँ तथा स्वर्णभूषित चमकीली शक्तियाँ यत्र-तत्र पड़ी हुई थीं ॥ ५१ ॥

सुसंनाहाश्च पतिता मुसलानि गुरूणि च ।
परिघान् पट्टिशांश्चैव भिन्दिपालांश्च मारिष ॥ ५२ ॥

आर्य ! वहाँ सुन्दर कवच पड़े थे । भारी मुसल, परिघ, पट्टिश और भिन्दिपाल भी इधर-उधर बिखरे दिखायी देते थे॥

पतितान् विविधांश्चापांश्चित्रान् हेमपरिष्कृतान् ।
कुथा बहुविधाकाराश्चामरान् व्यजनानि च ॥ ५३ ॥

नाना प्रकारके विचित्र एवं स्वर्णभूषित धनुष गिरे हुए थे । हाथीकी पीठपर बिछाये जानेवाले भाँति-भाँतिके कम्बल तथा चँवर और व्यजन भी यत्र-तत्र गिरे दिखायी देते थे ॥

नानाविधानि शस्त्राणि प्रगृह्य पतिता नराः ।
जीवन्त इव दृश्यन्ते गतसत्त्वा महारथाः ॥ ५४ ॥

भाँति भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंको हाथोंमें लेकर पृथ्वीपर पड़े हुए प्राणहीन महारथी सैनिक जीवित-से दिखायी देते थे ॥

गदाविमथितैर्गात्रैर्मुसलैर्भिन्नमस्तकाः ।
गजवाजिरथक्षुण्णाः शेरते स्म नराः क्षितौ ॥ ५५ ॥

किन्हींके शरीर गदाकी चोटसे चूर-चूर हो गये थे, किन्हींके मस्तक मुसलोंकी मारसे फट गये थे तथा कितने ही मनुष्य घोड़े, हाथी एवं रथोंसे कुचल गये थे । ये सभी वहाँ पृथ्वीपर प्राणहीन होकर सो गये थे ॥ ५५ ॥

तथैवाश्वनृनागानां शरीरैर्विबभौ तदा ।
संछन्ना वसुधा राजन् पर्वतैरिव सर्वशः ॥ ५६ ॥

राजन् ! इसी प्रकार घोड़े, हाथी और मनुष्योंके मृत शरीरोंसे सारी वसुधा आच्छादित हो उस समय पर्वतोंसे ढकी हुई-सी जान पड़ती थी ॥ ५६ ॥

समरे पतितैश्चैव शक्त्यृष्टिशरतोमरैः ।
निस्त्रिंशैः पट्टिशैः प्रासैरयस्कुन्तैः परश्वधैः ॥ ५७ ॥
परिघैर्भिन्दिपालैश्च शतघ्नीभिश्च मारिष ।
शरीरैः शस्त्रनिर्भिन्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ॥ ५८ ॥

आर्य ! समरभूमिमें गिरे हुए बाण, तोमर, शक्ति, ऋष्टि, खड्ग, पट्टिश, प्रास, लोहेके भाले, फरसे, परिघ, भिन्दिपाल तथा शतघ्नी (तोप)—इन अस्त्र-शस्त्रों तथा इनके द्वारा विदीर्ण हुए मृत शरीरोंसे सारी पृथ्वी पट गयी थी ॥ ५७-५८ ॥

विशब्दैरल्पशब्दैश्च शोणितौघपरिप्लुतैः ।
गतासुभिरमित्रघ्न विबभौ निचिता मही ॥ ५९ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज ! वहाँ पृथ्वीपर कुछ ऐसे लोग गिरे थे, जिनके मुखसे शब्द नहीं निकल पाता था । कुछ ऐसे थे, जो बहुत थोड़ा बोल पाते थे । प्रायः सभी लोग खूनसे लथपथ हो रहे थे और बहुत-से ऐसे शरीर पड़े थे, जो सर्वथा प्राणहीन हो चुके थे । इन सबके द्वारा वहाँकी भूमि मानो चुन दी गयी थी ॥ ५९ ॥

सतलत्रैः सकेयूरैर्बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ।
हस्तिहस्तोपमैश्छिन्नैरूरुभिश्च तरस्विनाम् ॥ ६० ॥
बद्धचूडामणिवरैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
पतितैर्ऋषभाक्षाणां बभौ भारत मेदिनी ॥ ६१ ॥

भारत ! रणभूमिमें गिरे हुए बैलके समान विशाल नेत्रोंवाले वेगशाली वीरोंकी दस्तानों और केयूरोंसे युक्त चन्दनचर्चित भुजाओंसे, हाथीकी सूँड़के समान प्रतीत होनेवाली छिन्न-भिन्न हुई जाँघोंसे तथा उत्तम चूड़ामणि (मुकुट) से आबद्ध कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे वहाँकी भूमि अद्भुत शोभा पा रही थी ॥ ६०-६१ ॥

कवचैः शोणितादिग्धैर्विप्रकीर्णैश्च काञ्चनैः ।
रराज सुभृशं भूमिः शान्तार्चिभिरिवानलैः ॥ ६२ ॥

रक्तमें सनकर इधर-उधर बिखरे हुए सुवर्णमय कवचोंसे वह युद्धभूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी, मानो वहाँ जिसकी लपटें शान्त हो गयी हैं, ऐसी आग जगह-जगह पड़ी हो ॥

विप्रविद्धैः कलापैश्च पतितैश्च शरासनैः ।
विप्रकीर्णैः शरैश्चैव रुक्मपुङ्खैः समन्ततः ॥ ६३ ॥

चारों ओर तरकस फेंके पड़े थे, धनुष गिरे थे और सोनेके पंखवाले बाण बिखरे हुए थे ॥ ६३ ॥

रथैश्च सर्वतो भग्नैः किङ्किणीजालभूषितैः ।
वाजिभिश्च हतैर्बाणैः स्रस्तजिह्वैः सशोणितैः ॥ ६४ ॥

सब ओर क्षुद्रघण्टिकाओंके जालसे विभूषित टूटे-फूटे रथ पड़े थे । बाणोंसे मारे गये घोड़े खूनसे लथपथ हो जीभ निकाले ढेर हो रहे थे ॥ ६४ ॥

अनुकर्षैः पताकाभिरुपासङ्गैर्ध्वजैरपि ।
प्रवीराणां महाशङ्खैर्विप्रकीर्णैश्च पाण्डुरैः ॥ ६५ ॥

अनुकर्ष, पताका, उपासङ्ग, ध्वज तथा बड़े-बड़े वीरोंके श्वेत महाशङ्ख बिखरे पड़े थे ॥ ६५ ॥

स्रस्तहस्तैश्च मातङ्गैः शयानैर्विबभौ मही ।
नानारूपैरलंकारैः प्रमदेवाभ्यलंकृता ॥ ६६ ॥

जिनकी सूँड़ें कट गयी थीं, ऐसे मतवाले हाथी धराशायी हो रहे थे । उन सबके द्वारा वह रणभूमि भाँति-भाँतिके अलंकारोंसे अलंकृत युवतीके समान सुशोभित हो रही थी ॥

दन्तिभिश्चापरैस्तत्र सप्रासैर्गाढवेदनैः ।
करैः शब्दं विमुञ्चद्भिः शीकरं च मुहुर्मुहुः ॥ ६७ ॥

कुछ दन्तार हाथी प्रास धँस जानेके कारण गहरी व्यथासे युक्त सूँड़ोंद्वारा बारंबार शब्द करते और पानीके कण फेंकते थे ॥

विबभौ तद् रणस्थानं स्यन्दमानैरिवाचलैः ।
नानारागैः कम्बलैश्च परिस्तोमैश्च दन्तिनाम् ॥ ६८ ॥
वैदूर्यमणिदण्डैश्च पतितैरङ्कुशैः शुभैः ।

उनके कारण वह युद्धस्थल जलके स्रोत बहानेवाले

पर्वतोंसे युक्त-सा प्रतीत होता था। वहाँ नाना प्रकारके रंगवाले कम्बल, हाथियोंके झूल तथा वैदूर्यमणिके दण्डवाले सुन्दर अङ्कुश गिरे हुए थे ॥ ६८½ ॥

घण्टाभिश्च गजेन्द्राणां पतिताभिः समन्ततः ॥ ६९ ॥
विपाटितविचित्राभिः कुथाभिरङ्कुशैस्तथा ।
ग्रैवेयैश्चित्ररूपैश्च रुक्मकक्ष्याभिरेव च ॥ ७० ॥

चारों ओर गजराजोंके घंटे पड़े हुए थे। हाथियोंकी पीठपर बिछाये जानेवाले फटे हुए विचित्र कम्बल और अङ्कुश सब ओर गिरे हुए थे। गलेके विचित्र आभूषण और सुनहरे रस्से भी जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े थे ॥ ६९-७० ॥

यन्त्रैश्च बहुधाच्छिन्नैस्तोमरैश्चापि काञ्चनैः ।
अश्वानां रेणुकपिलै रुक्मच्छन्नैरुरश्छदैः ॥ ७१ ॥
सादिनां भुजगैश्छिन्नैः पतितैः साङ्गदैस्तथा ।
प्रासैश्च विमलैस्तीक्ष्णैर्विमलाभिस्तथर्ष्टिभिः ॥ ७२ ॥

अनेक टुकड़ोंमें कटे हुए यन्त्र, सुवर्णमय तोमर, धूलसे कपिल वर्णके दिखायी देनेवाले अश्वोंकी छातीको ढकनेवाले सुनहरे कवच, बाजूबंदसहित घुड़सवारोंके हाथोंमें धारण किये हुए तीखे और चमकीले प्रास तथा चमचमाती हुई ऋष्टियाँ छिन्न-भिन्न होकर यत्र-तत्र पड़ी थीं ॥ ७१-७२ ॥

उष्णीषैश्च तथा चित्रैर्विप्रविद्धैस्ततस्ततः ।
विचित्रैर्बाणवर्षैश्च जातरूपपरिष्कृतैः ॥ ७३ ॥
अश्वास्तरपरिस्तोमै राङ्कवैर्मृदितैस्तथा ।
नरेन्द्रचूडामणिभिर्विचित्रैश्च महाधनैः ॥ ७४ ॥

जहाँ-तहाँ गिरे हुए विचित्र उष्णीष (पगड़ी आदि), पानीकी तरह बरसाये गये सुवर्णभूषित नाना प्रकारके बाण, घोड़ोंकी जीन, झूल और उनकी पीठपर बिछाने योग्य रंकु-नामक मृगोंके कोमल चर्ममय आसन, जो पैरोंसे कुचलकर धूलमें सन गये थे तथा नरेशोंके मुकुटमें आबद्ध बहुमूल्य एवं विचित्र मणिरत्न सब ओर बिखरे पड़े थे ॥ ७३-७४ ॥

छत्रैस्तथापविद्धैश्च चामरैर्व्यजनैरपि ।
पद्मेन्दुद्युतिभिश्चैव वदनैश्चारुकुण्डलैः ॥ ७५ ॥
क्लृप्तश्मश्रुभिरत्यर्थं वीराणां समलंकृतैः ।
अपविद्धैर्महाराज सुवर्णोज्ज्वलकुण्डलैः ॥ ७६ ॥
ग्रहनक्षत्रशबला द्यौरिवासीद् वसुन्धरा ।

इधर-उधर गिरे हुए राजाओंके छत्र, चँवर, व्यजन, वीर योद्धाओंके मनोहर कुण्डलोंसे विभूषित, कमल एवं चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा मूँछोंसे युक्त और अत्यन्त अलंकृत कटे हुए मस्तक, जिनमें सोनेके सुन्दर कुण्डल जगमगा रहे थे, फेंके हुए-से पड़े थे। महाराज ! इन सब वस्तुओंसे आच्छादित हुई वहाँकी भूमि ग्रहों और नक्षत्रोंसे भरे हुए आकाशके समान विचित्र शोभा धारण कर रही थी।७५-७६½।

एवमेते महासेने मृदिते तत्र भारत ॥ ७७ ॥
परस्परं समासाद्य तव तेषां च संयुगे ।

भारत ! इस प्रकार आपकी और पाण्डवोंकी वे दोनों विशाल सेनाएँ एक दूसरीसे भिड़कर युद्धस्थलमें रौंदी जा रही थीं ॥ ७७½ ॥



तेषु श्रान्तेषु भग्नेषु मृदितेषु च भारत ॥ ७८ ॥
रात्रिः समभवत् तत्र नापश्याम ततोऽनुगान् ।
ततोऽवहारं सैन्यानां प्रचक्रुः कुरुपाण्डवाः ॥ ७९ ॥

भरतनन्दन ! उस समय जब अधिकांश सैनिक परिश्रम-से चूर-चूर हो रहे थे, कितने ही भाग गये थे और बहुतेरे योद्धा रौंद डाले गये थे, रात हो गयी थी एवं हमें अपने सेवक नहीं दिखायी दे रहे थे, तब कौरवों और पाण्डवोंने अपनी-अपनी सेनाको युद्धभूमिसे लौटनेका आदेश दे दिया ॥

रजनीमुखे सुरौद्रे तु वर्तमाने महाभये ।
अवहारं ततः कृत्वा सहिताः कुरुपाण्डवाः ।
न्यविशन्त यथाकालं गत्वा स्वशिबिरं तदा ॥ ८० ॥

फिर उस महाभयानक तथा अत्यन्त रौद्र रूपवाले प्रदोष-कालमें कौरव तथा पाण्डव एक साथ अपनी सेनाओंको लौटाकर यथासमय शिबिरमें जा पहुँचे और विश्राम करने लगे ॥ ८० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धावहारे षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धमें सेनाके शिबिरमें लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८०½ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका अपने मन्त्रियोंसे सलाह करके भीष्मसे पाण्डवोंको मारने अथवा कर्णको युद्धके लिये आज्ञा देनेका अनुरोध करना

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः।
दुःशासनश्च पुत्रस्ते सूतपुत्रश्च दुर्जयः ॥ १ ॥
समागम्य महाराज मन्त्रं चक्रुर्विवक्षितम्।
कथं पाण्डुसुताः संख्ये जेतव्याः सगणा इति ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर राजा दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनि, आपका पुत्र दुःशासन, दुर्जयवीर सूतपुत्र कर्ण—ये सभी मिलकर अभीष्ट कार्यके विषयमें गुप्त परामर्श करने लगे। उनकी मन्त्रणाका मुख्य विषय यह था कि पाण्डवोंको दल-बलसहित युद्धमें कैसे जीता जा सकता है ?॥१-२



ततो दुर्योधनो राजा सर्वांस्तानाह मन्त्रिणः।
सूतपुत्रं समाभाष्य सौबलं च महाबलम् ॥ ३ ॥

उस समय राजा दुर्योधनने सूतपुत्र कर्ण तथा महाबली शकुनिको सम्बोधित करके उन सब मन्त्रियोंसे कहा—॥ ३ ॥

द्रोणो भीष्मः कृपः शल्यः सौमदत्तिश्च संयुगे।
न पार्थान् प्रतिबाधन्ते न जाने तच्च कारणम् ॥ ४ ॥

'मित्रो ! द्रोणाचार्य, भीष्म, कृपाचार्य, शल्य तथा भूरिश्रवा—ये लोग युद्धमें कुन्तीके पुत्रोंको कभी कोई बाधा नहीं पहुँचाते हैं। इसका क्या कारण है, यह मैं नहीं जानता॥

अवध्यमानास्ते चापि क्षपयन्ति बलं मम।
सोऽस्मि क्षीणबलः कर्ण क्षीणशस्त्रश्च संयुगे ॥ ५ ॥

'वे पाण्डव स्वयं अवध्य रहकर मेरी सेनाका संहार कर रहे हैं। कर्ण ! इस प्रकार मेरी सेना तथा अस्त्र-शस्त्रोंका युद्धमें क्षय होता चला जा रहा है ॥ ५ ॥

(त्वयि युद्धविमुखे चापि जितश्चास्मि हि पाण्डवैः।
द्रोणस्य प्रमुखे वीरा हतास्ते भ्रातरो मम ॥
भीमसेनेन राधेय मम चैवानुपश्यतः।)

'राधानन्दन ! तुम युद्धसे मुँह मोड़कर बैठ रहे हो, इसलिये पाण्डवोंने मुझे परास्त कर दिया। द्रोणाचार्यके सामने ही मेरे देखते-देखते भीमसेनने मेरे वीर भाइयोंको मार डाला ॥

निकृतः पाण्डवैः शूरैरवध्यैर्दैवतैरपि।
सोऽहं संशयमापन्नः प्रहरिष्ये कथं रणे ॥ ६ ॥

'पाण्डव शूरवीर और देवताओंके लिये भी अवध्य हैं। उनके द्वारा पराजित होकर मैं जीवनके संशयमें पड़ गया हूँ। ऐसी दशामें रणक्षेत्रमें मैं कैसे युद्ध करूँगा ?' ॥ ६ ॥

(एवमुक्तस्तु राधेयो दुर्योधनमरिंदमम्।)
तमब्रवीन्महाराजं सूतपुत्रो नराधिपम्।

यह सुनकर सूतपुत्र कर्णने शत्रुदमन नरनाथ महाराज दुर्योधनसे इस प्रकार कहा ॥ ६½ ॥

कर्ण उवाच

मा शोच भरतश्रेष्ठ करिष्येऽहं प्रियं तव ॥ ७ ॥
भीष्मः शान्तनवस्तूर्णमपयातु महारणात्।

कर्ण बोला—भरतश्रेष्ठ ! शोक न करो। मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा, परंतु शान्तनुनन्दन भीष्म शीघ्र ही महायुद्धसे हट जायँ ॥ ७½ ॥

निवृत्ते युधि गाङ्गेये न्यस्तशस्त्रे च भारत ॥ ८ ॥
अहं पार्थान् हनिष्यामि सहितान् सर्वसोमकैः।
पश्यतो युधि भीष्मस्य शपे सत्येन ते नृप ॥ ९ ॥

भरतवंशी नरेश ! जब युद्धमें गङ्गानन्दन भीष्म हथियार डाल देंगे और उससे सर्वथा निवृत्त हो जायँगे, उस समय मैं युद्धमें भीष्मके देखते-देखते सोमकोंसहित समस्त कुन्तीपुत्रोंको एक साथ मार डालूँगा, यह मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ॥

पाण्डवेषु दयां नित्यं स हि भीष्मः करोति वै।
अशक्तश्च रणे भीष्मो जेतुमेतान् महारथान् ॥ १० ॥

भीष्म सदा ही पाण्डवोंपर दया करते हैं; अतः युद्धमें वे इन महारथियोंको जीतनेमें सर्वथा असमर्थ हैं ।१०।

अभिमानी रणे भीष्मो नित्यं चापि रणप्रियः।
स कथं पाण्डवान् युद्धे जेष्यते तात संगतान् ॥ ११ ॥

तात ! भीष्म युद्धमें अभिमान रखनेवाले तथा सदा युद्धको प्रिय माननेवाले हैं; तथापि पाण्डवोंपर दया रखनेके कारण वे उन सबको संग्राममें कैसे जीत सकेंगे ? ॥ ११ ॥

स त्वं शीघ्रमितो गत्वा भीष्मस्य शिबिरं प्रति।
अनुमान्य गुरुं वृद्धं शस्त्रं न्यासय भारत ॥ १२ ॥

भारत ! अतः तुम शीघ्र ही यहाँसे भीष्मजीके शिबिरमें जाकर अपने उन पूजनीय वृद्ध पितामहको राजी करके उनसे हथियार रखवा दो ॥ १२ ॥

न्यस्तशस्त्रे ततो भीष्मे निहतान् पश्य पाण्डवान्।
मयैकेन रणे राजन् ससुहृद्गणबान्धवान् ॥ १३ ॥

राजन् ! भीष्मके हथियार डाल देनेपर पाण्डवोंको केवल मेरे द्वारा युद्धमें सुहृदों और बान्धवोंसहित मारा गया समझो ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन पुत्रो दुर्योधनस्तव।
अब्रवीद् भ्रातरं तत्र दुःशासनमिदं वचः ॥ १४ ॥
अनुयात्रं यथा सर्वं सज्जीभवति सर्वशः।
दुःशासन तथा क्षिप्रं सर्वमेवोपपादय ॥ १५ ॥

कर्णके ऐसा कहनेपर आपके पुत्र दुर्योधनने वहाँ अपने भाई दुःशासनसे इस प्रकार कहा—'दुःशासन ! तुम शीघ्र सब प्रकारसे ऐसी व्यवस्था करो, जिससे यात्रासम्बन्धी सब आवश्यक तैयारी सम्पन्न हो जाय' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजन् कर्णमाह जनेश्वरः।
अनुमान्य रणे भीष्ममेषोऽहं द्विपदां वरम् ॥ १६ ॥
आगमिष्ये ततः क्षिप्रं त्वत्सकाशमरिंदम।
अपक्रान्ते ततो भीष्मे प्रहरिष्यसि संयुगे ॥ १७ ॥

राजन् ! दुःशासनसे ऐसा कहकर जनेश्वर दुर्योधनने कर्णसे कहा, 'शत्रुदमन ! मैं मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीष्मको युद्धसे हटनेके लिये राजी करके अभी तुम्हारे पास लौट आता हूँ। फिर भीष्मके हट जानेपर तुम युद्धके मैदानमें शत्रुओंपर प्रहार करना' ॥ १६-१७ ॥

निष्पपात ततस्तूर्णं पुत्रस्तव विशाम्पते।
सहितो भ्रातृभिस्तैस्तु देवैरिव शतक्रतुः ॥ १८ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन तुरंत ही अपने भाइयोंके साथ शिबिरसे बाहर निकला, मानो देवताओंके साथ इन्द्र अपने भवनसे बाहर आये हों ॥ १८ ॥

ततस्तं नृपशार्दूलं शार्दूलसमविक्रमम्।
आरोहयद्धयं तूर्णं भ्राता दुःशासनस्तदा ॥ १९ ॥

उस समय भाई दुःशासनने अपने ज्येष्ठ भ्राता सिंहके समान पराक्रमी नृपश्रेष्ठ दुर्योधनको घोड़ेपर चढ़ाया ॥ १९ ॥

अङ्गदी बद्धमुकुटो हस्ताभरणवान् नृप।
धार्तराष्ट्रो महाराज विबभौ स पथि व्रजन् ॥ २० ॥

नरेश्वर ! महाराज ! माथेपर मुकुट, भुजाओंमें अङ्गद तथा हाथोंमें वलय आदि आभूषण धारण किये मार्गपर जाता हुआ आपका पुत्र दुर्योधन बड़ी शोभा पा रहा था ॥

भण्डीपुष्पनिकाशेन तपनीयनिभेन च।
अनुलिप्तः परार्घ्येन चन्दनेन सुगन्धिना ॥ २१ ॥

उसने शिरीषपुष्प एवं सुवर्णके समान पीतवर्णका बहुमूल्य सुगन्धित चन्दन लगा रक्खा था ॥ २१ ॥

अरजोऽम्बरसंवीतः सिंहखेलगतिर्नृप।
शुशुभे विमलार्चिष्मान् नभसीव दिवाकरः ॥ २२ ॥

राजन् ! उसके सारे अङ्ग निर्मल वस्त्रसे ढके हुए थे। वह सिंहके समान मस्तानी चालसे चलता था और अपनी निर्मल प्रभाके कारण आकाशमें प्रकाशित होनेवाले सूर्यके समान शोभा पा रहा था ॥ २२ ॥

तं प्रयान्तं नरव्याघ्रं भीष्मस्य शिबिरं प्रति।
अनुजग्मुर्महेष्वासाः सर्वलोकस्य धन्विनः ॥ २३ ॥
भ्रातरश्च महेष्वासास्त्रिदशा इव वासवम्।

भीष्मके शिबिरकी ओर जाते हुए पुरुषश्रेष्ठ दुर्योधनके पीछे सारे जगत्के महाधनुर्धर कौरवपक्षीय नरेश तथा विशाल धनुष धारण करनेवाले उसके भाई उसी प्रकार जा रहे थे, जैसे इन्द्रके पीछे देवता चलते हैं ॥ २३½ ॥

हयानन्ये समारुह्य गजानन्ये च भारत ॥ २४ ॥
रथानन्ये नरश्रेष्ठं परिवव्रुः समन्ततः।

भारत ! कुछ लोग घोड़ोंपर और कुछ लोग हाथियोंपर चढ़े थे। दूसरे लोग रथोंपर आरूढ़ हो सब ओरसे नरश्रेष्ठ दुर्योधनको घेरे हुए थे ॥ २४½ ॥

आत्तशस्त्राश्च सुहृदो रक्षणार्थं महीपतेः ॥ २५ ॥
प्रादुर्बभूवुः सहिताः शक्रस्येवामरा दिवि।

राजा दुर्योधनकी रक्षाके लिये समस्त सुहृद् अस्त्र-शस्त्र लेकर उसी प्रकार उसके साथ हो गये थे, जैसे स्वर्गमें देवता इन्द्रकी रक्षाके लिये उनके साथ रहते हैं ॥ २५½ ॥

स पूज्यमानः कुरुभिः कौरवाणां महाबलः ॥ २६ ॥
प्रययौ सदनं राजा गाङ्गेयस्य यशस्विनः।
अन्वीयमानः सततं सोदरैः परिवारितः ॥ २७ ॥

इस प्रकार कौरवोंसे पूजित हो महाबली कौरवराज दुर्योधन यशस्वी भीष्मके शिबिरमें गया। उसके भाई उसे घेरकर निरन्तर उसीके साथ-साथ रहे ॥ २६-२७ ॥

दक्षिणं दक्षिणः काले सम्भृत्य स्वभुजं तदा।
हस्तिहस्तोपमं शैक्षं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ॥ २८ ॥
प्रगृह्णन्नञ्जलीन् नृणामुद्यतान् सर्वतो दिशः।
शुश्राव मधुरा वाचो नानादेशनिवासिनाम् ॥ २९ ॥

उदार स्वभाववाले राजा दुर्योधनने उस समय सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ, हाथीकी सूँड़के समान विशाल तथा अस्त्र-प्रहारकी शिक्षामें निपुणताको प्राप्त हुई अपनी दाहिनी भुजाको ऊपर उठाकर सम्पूर्ण दिशाओंमें उठी हुई विभिन्न देशके निवासी मनुष्योंकी प्रणामाञ्जलियोंको स्वीकार करते हुए उनकी मधुर बातें सुनीं ॥ २८-२९ ॥

संस्तूयमानः सूतैश्च मागधैश्च महायशाः।
पूजयानश्च तान् सर्वान् सर्वलोकेश्वरेश्वरः ॥ ३० ॥
(एवं स प्रययौ राजा सर्वसैन्यसमावृतः ।)

सम्पूर्ण जगत्का अधीश्वर महायशस्वी राजा दुर्योधन सम्पूर्ण सेनाओंसे घिरकर सूतों और मागधोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनता और सब लोगोंका समादर करता हुआ (भीष्मके शिबिरकी ओर) आगे बढ़ता गया ॥ ३० ॥

प्रदीपैः काञ्चनैस्तत्र गन्धतैलावसेचितैः।
परिवव्रुर्महाराजं प्रज्वलद्भिः समन्ततः ॥ ३१ ॥

सुगन्धित तेलसे भरे हुए सोनेके जलते दीपक लिये बहुत-से सेवक महाराज दुर्योधनको सब ओरसे घेरकर चल रहे थे ॥ ३१ ॥

स तैः परिवृतो राजा प्रदीपैः काञ्चनैर्ज्वलन् ।
शुशुभे चन्द्रमा युक्तो दीप्तैरिव महाग्रहैः ॥ ३२ ॥

उन सुवर्णमय प्रदीपोंसे घिरकर प्रकाशित होनेवाला राजा दुर्योधन दीप्तिमान् महाग्रहोंसे संयुक्त चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था ॥ ३२ ॥

काञ्चनोष्णीषिणस्तत्र वेत्रझर्झरपाणयः ।
प्रोत्सारयन्तः शनकैस्तं जनं सर्वतो दिशम् ॥ ३३ ॥

सुनहरी पगड़ी धारण करके हाथोंमें बेंत और झर्झर लिये बहुतेरे सिपाही धीरे-धीरे सब ओरसे लोगोंकी भीड़को हटाते हुए चल रहे थे ॥ ३३ ॥

सम्प्राप्य तु ततो राजा भीष्मस्य सदनं शुभम् ।
अवतीर्य हयाच्चापि भीष्मं प्राप्य जनेश्वरः ॥ ३४ ॥
अभिवाद्य ततो भीष्मं निषण्णः परमासने ।
काञ्चने सर्वतोभद्रे स्पर्ध्यास्तरणसंवृते ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् राजा दुर्योधन भीष्मके सुन्दर निवासस्थानके निकट पहुँचकर घोड़ेसे उतर पड़ा और भीष्मजीके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके बहुमूल्य बिछौनोंसे युक्त सर्वतोभद्रनामक सर्वोत्तम स्वर्णमय सिंहासनपर बैठ गया॥३४-३५॥

उवाच प्राञ्जलिर्भीष्मं बाष्पकण्ठोऽश्रुलोचनः ।
त्वां वयं हि समाश्रित्य संयुगे शत्रुसूदन ॥ ३६ ॥
उत्सहेम रणे जेतुं सेन्द्रानपि सुरासुरान् ।
किमु पाण्डुसुतान् वीरान् ससुहृद्गणबान्धवान्॥ ३७ ॥
तस्मादर्हसि गाङ्गेय कृपां कर्तुं मयि प्रभो ।
जहि पाण्डुसुतान् वीरान् महेन्द्र इव दानवान् ॥ ३८ ॥

इसके बाद नेत्रोंमें आँसू भरकर हाथ जोड़े हुए गद्गद कण्ठसे वह भीष्मसे इस प्रकार बोला—'शत्रुसूदन ! हम लोग आपका आश्रय लेकर युद्धके मैदानमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंको भी जीतनेका उत्साह रखते हैं; फिर मित्रों और बान्धवोंसहित वीर पाण्डवोंको जीतना कौन बड़ी बात है । अतः प्रभो ! गङ्गानन्दन ! आपको मुझपर कृपा करनी चाहिये । जैसे देवराज इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार आप वीर पाण्डवोंको मार डालिये ॥ ३६–३८ ॥

अहं सर्वान् महाराज निहनिष्यामि सोमकान् ।
पञ्चालान् केकयैः सार्धं करूषांश्चेति भारत ॥ ३९ ॥
त्वद्वचः सत्यमेवास्तु जहि पार्थान् समागतान् ।
सोमकांश्च महेष्वासान् सत्यवाग् भव भारत ॥ ४० ॥

'महाराज ! भरतनन्दन ! मैं केकयोंसहित सम्पूर्ण सोमकों, पाञ्चालों और करूषोंको मार डालूँगा—आपकी यह बात सत्य हो । भारत ! आप युद्धमें सामने आये हुए कुन्तीपुत्रों और महाधनुर्धर सोमकोंका वध कीजिये और ऐसा करके अपने वचनको सत्य कीजिये ॥ ३९-४० ॥

दयया यदि वा राजन् द्वेष्यभावान्मम प्रभो ।
मन्दभाग्यतया वापि मम रक्षसि पाण्डवान् ॥ ४१ ॥
अनुजानीहि समरे कर्णमाहवशोभिनम् ।
स जेष्यति रणे पार्थान् ससुहृद्गणबान्धवान् ॥ ४२ ॥

'शक्तिशाली राजन् ! यदि पाण्डवोंके प्रति दयाभाव अथवा मेरे दुर्भाग्यवश मेरे प्रति द्वेषभाव रखनेके कारण आप पाण्डवोंकी रक्षा करते हैं तो समरभूमिमें शोभा पानेवाले कर्णको युद्धके लिये आज्ञा दे दीजिये । वह सुहृदों और बान्धवोंसहित कुन्तीपुत्रोंको अवश्य जीत लेगा' ॥ ४१-४२ ॥

स एवमुक्त्वा नृपतिः पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
नोवाच वचनं किञ्चिद् भीष्मं सत्यपराक्रमम् ॥ ४३ ॥

सत्यपराक्रमी भीष्मसे ऐसा कहकर आपका पुत्र राजा दुर्योधन और कुछ नहीं बोला ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मं प्रति दुर्योधनवाक्ये सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मके प्रति दुर्योधनका वचनविषयक सत्तानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

अष्टनवतितमोऽध्यायः

भीष्मका दुर्योधनको अर्जुनका पराक्रम बताना और भयंकर युद्धके लिये प्रतिज्ञा करना तथा प्रातःकाल दुर्योधनके द्वारा भीष्मकी रक्षाकी व्यवस्था

संजय उवाच

वाक्शल्यैस्तव पुत्रेण सोऽतिविद्धो महामनाः ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो नोवाचाप्रियमण्वपि ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! आपके पुत्रद्वारा वाग्बाणोंसे अत्यन्त विद्ध होकर महामना भीष्मको महान् दुःख हुआ; तथापि उन्होंने उससे कोई किञ्चिन्मात्र भी अप्रिय वचन नहीं कहा ॥ १ ॥

स ध्यात्वा सुचिरं कालं दुःखरोषसमन्वितः ।
श्वसमानो यथा नागः प्रणुन्नो वाक्शलाकया ॥ २ ॥

वे दुःख और रोषसे युक्त होकर दीर्घकालतक कुछ सोचते हुए लंबी साँस खींचते रहे । वाणीरूपी अङ्कुशसे पीड़ित होकर वे हाथीके समान व्यथाका अनुभव करने लगे॥

उद्वृत्य चक्षुषी कोपान्निर्दहन्निव भारत ।
सदेवासुरगन्धर्वं लोकं लोकविदां वरः ॥ ३ ॥

भारत ! फिर क्रोधसे दोनों आँखें चढ़ाकर लोकवेत्ताओंमें श्रेष्ठ भीष्म इस प्रकार देखने लगे, मानो देवताओं, असुरों और गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध कर डालेंगे ॥

अब्रवीत् तव पुत्रं स सामपूर्वमिदं वचः ।
किं त्वं दुर्योधनैवं मां वाक्शल्यैरपकृन्तसि ॥ ४ ॥
घटमानं यथाशक्ति कुर्वाणं च तव प्रियम् ।
जुह्वानं समरे प्राणांस्तव वै प्रियकाम्यया ॥ ५ ॥

फिर आपके पुत्रको सान्त्वना देते हुए वे उससे इस प्रकार बोले—'बेटा दुर्योधन ! तुम इस प्रकार वाग्बाणोंसे मुझे क्यों छेद रहे हो ? मैं तो यथाशक्ति शत्रुओंपर विजय पानेकी चेष्टा करता हूँ और तुम्हारे प्रिय साधनमें लगा हुआ हूँ । इतना ही नहीं, तुम्हारा प्रिय करनेकी इच्छासे मैं समराग्निमें अपने प्राणोंको होम देनेके लिये भी तैयार हूँ ४-५

यदा तु पाण्डवः शूरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ।
पराजित्य रणे शक्रं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ६ ॥

'परंतु तुम्हें याद होगा, जब शूरवीर पाण्डुनन्दन अर्जुनने युद्धमें देवराज इन्द्रको परास्त करके खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया था, वही उनकी अजेयताका पूरा प्रमाण है ॥ ६॥

यदा च त्वां महाबाहो गन्धर्वैर्हृतमोजसा ।
अमोचयत् पाण्डुसुतः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ७ ॥

'महाबाहो ! जब गन्धर्वलोग तुम्हें बलपूर्वक पकड़ ले गये थे, उस समय भी पाण्डुपुत्र अर्जुनने ही तुम्हें छुड़ाया था । उनके अनन्त पराक्रमको समझनेके लिये यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ॥ ७ ॥

द्रवमाणेषु शूरेषु सोदरेषु तव प्रभो ।
सूतपुत्रे च राधेये पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ८ ॥

'प्रभो ! उस अवसरपर तुम्हारे ये शूरवीर भाई और राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण तो मैदान छोड़कर भाग गये थे । यह अर्जुनकी अद्भुत शक्तिका पर्याप्त उदाहरण है ॥ ८ ॥

यच्च नः सहितान् सर्वान् विराटनगरे तदा ।
एक एव समुद्यातः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ९ ॥

'उन दिनों विराटनगरमें हम सब लोग एक साथ युद्धके लिये डटे हुए थे, परंतु अर्जुनने अकेले ही हमलोगोंपर आक्रमण किया । यह उनकी अपरिमित शक्तिका पर्याप्त उदाहरण है ॥ ९ ॥

द्रोणं च युधि संरब्धं मां च निर्जित्य संयुगे ।
वासांसि स समादत्त पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १० ॥

'अर्जुनने क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यको तथा मुझे भी युद्धमें परास्त करके सबके वस्त्र छीन लिये थे । यह उनकी अजेयताका पर्याप्त प्रमाण है ॥ १० ॥

तथा द्रौणिं महेष्वासं शारद्वतमथापि च ।
गोग्रहे जितवान् पूर्वं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ११ ॥

'पूर्वकालमें उसी गोग्रहके अवसरपर पाण्डुकुमारने महाधनुर्धर अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यको भी परास्त कर दिया था । यह दृष्टान्त उन्हें समझनेके लिये पर्याप्त है ॥ ११॥

विजित्य च यदा कर्णं सदा पुरुषमानिनम् ।
उत्तरायै ददौ वस्त्रं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १२ ॥

'उन दिनों सदा अपने पुरुषार्थका अभिमान रखनेवाले कर्णको भी जीतकर अर्जुनने उसके वस्त्र छीनकर उत्तराको अर्पित किये थे । यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ॥ १२ ॥

निवातकवचान् युद्धे वासवेनापि दुर्जयान् ।
जितवान् समरे पार्थः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १३ ॥

'जिन्हें परास्त करना इन्द्रके लिये भी कठिन था, उन निवातकवचोंको अर्जुनने युद्धमें परास्त कर दिया था । उनकी अलौकिक शक्तिको समझनेके लिये यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ॥

को हि शक्तो रणे जेतुं पाण्डवं रभसं तदा ।
यस्य गोप्ता जगद्गोप्ता शङ्खचक्रगदाधरः ॥ १४ ॥
वासुदेवोऽनन्तशक्तिः सृष्टिसंहारकारकः ।
सर्वेश्वरो देवदेवः परमात्मा सनातनः ॥ १५ ॥

'विश्वरक्षक, शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले अनन्तशक्ति, सृष्टि और संहारके एकमात्र कर्ता देवाधिदेव सनातन परमात्मा सर्वेश्वर भगवान् वासुदेव जिनकी रक्षा करनेवाले हैं, उन वेगशाली वीर पाण्डुपुत्र अर्जुनको युद्धके मैदानमें कौन जीत सकता है ॥ १४-१५ ॥

उक्तोऽसि बहुशो राजन् नारदाद्यैर्महर्षिभिः ।
त्वं तु मोहान्न जानीषे वाच्यावाच्यं सुयोधन ॥ १६ ॥

'राजन् ! सुयोधन ! यह बात नारद आदि महर्षियोंने तुमसे कई बार कही है, परंतु तुम मोहवश कहने और न कहने योग्य बातको समझते ही नहीं हो ॥ १६ ॥

मुमूर्षुर्हि नरः सर्वान् वृक्षान् पश्यति काञ्चनान् ।
तथा त्वमपि गान्धारे विपरीतानि पश्यसि ॥ १७ ॥

'गान्धारीनन्दन ! जैसे मरणासन्न मनुष्य सभी वृक्षोंको सुनहरे रंगका देखता है, उसी प्रकार तुम भी सब कुछ विपरीत ही देख रहे हो ॥ १७ ॥

स्वयं वैरं महत् कृत्वा पाण्डवैः सह सृंजयैः ।
युद्ध्यस्व तानद्य रणे पश्यामः पुरुषो भव ॥ १८ ॥
(अशक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः ।)

'तुमने स्वयं ही पाण्डवों तथा सृञ्जयोंके साथ महान् वैर ठाना है । अतः अब तुम्हीं युद्ध करो । हम सब लोग देखते हैं । तुम स्वयं पुरुषत्वका परिचय दो । पाण्डवोंको तो इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी नहीं जीत सकते ॥ १८ ॥

अहं तु सोमकान् सर्वान् पञ्चालांश्च समागतान् ।
निहनिष्ये नरव्याघ्र वर्जयित्वा शिखण्डिनम् ॥ १९ ॥

'किंतु पुरुषसिंह ! मैं केवल शिखण्डीको छोड़कर युद्धमें आये हुए समस्त सोमकों और पाञ्चालोंको भी मार डालूँगा ॥१९॥

तैर्वाहं निहतः संख्ये गमिष्ये यमसादनम् ।
तान् वा निहत्य समरे प्रीतिं दास्याम्यहं तव ॥ २० ॥

'या तो उन्हींके हाथों युद्धमें मारा जाकर मैं यमलोकका रास्ता लूँगा अथवा उन्हींको समराङ्गणमें मारकर मैं तुम्हें हर्ष प्रदान करूँगा ॥ २० ॥

पूर्वं हि स्त्री समुत्पन्ना शिखण्डी राजवेश्मनि ।
वरदानात् पुमाञ्जातः सैषा वै स्त्री शिखण्डिनी॥ २१ ॥

'शिखण्डी पहले राजभवनमें स्त्रीके रूपमें उत्पन्न हुआ था; फिर वरदानसे पुरुष हो गया, अतः मेरी दृष्टिमें तो यह स्त्रीरूपा शिखण्डिनी ही है ॥ २१ ॥

तमहं न हनिष्यामि प्राणत्यागेऽपि भारत ।
यासौ प्राङ्निर्मिता धात्रा सैषा वै स्त्री शिखण्डिनी ॥२२॥

'भारत ! मेरे प्राणोंपर संकट आ जाय तो भी मैं उसे नहीं मारूँगा । जिसे विधाताने पहले स्त्री बनाया था, वह शिखण्डिनी आज भी मेरी दृष्टिमें स्त्री ही है ॥ २२ ॥

सुखं स्वपिहि गान्धारे श्वोऽपि कर्ता महारणम् ।
यं जनाः कथयिष्यन्ति यावत् स्थास्यति मेदिनी ॥२३॥

'गान्धारीनन्दन ! अब तुम सुखसे जाकर सो रहो । कल मैं बड़ा भीषण युद्ध करूँगा, जिसकी चर्चा लोग तबतक करते रहेंगे, जबतक कि यह पृथ्वी बनी रहेगी' ॥ २३ ॥

एवमुक्तस्तव सुतो निर्जगाम जनेश्वर ।
अभिवाद्य गुरुं मूर्ध्ना प्रययौ स्वं निवेशनम् ॥ २४ ॥

जनेश्वर ! भीष्मके ऐसा कहनेपर आपका पुत्र दुर्योधन अपने उन गुरुजनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करनेके पश्चात् अपने शिविरको चला गया ॥ २४ ॥

आगम्य तु ततो राजा विसृज्य च महाजनम् ।
प्रविवेश ततस्तूर्णं क्षयं शत्रुक्षयङ्करः ॥ २५ ॥

वहाँ आकर शत्रुओंका विनाश करनेवाले राजा दुर्योधनने लोगोंके उस महान् समुदायको तुरंत विदा कर दिया और स्वयं शिविरके भीतर प्रवेश किया ॥ २५ ॥

प्रविष्टः स निशां तां च गमयामास पार्थिवः ।
प्रभातायां च शर्वर्यां प्रातरुत्थाय तान् नृपः ॥ २६ ॥
राज्ञः समाज्ञापयत सेनां योजयतेति ह ।
अद्य भीष्मो रणे क्रुद्धो निहनिष्यति सोमकान् ॥ २७ ॥

भूपाल ! वहाँ जाकर राजाने सुखसे रात बितायी और सवेरा होनेपर उसने प्रातःकाल उठकर राजाओंको यह आज्ञा दी— 'राजसिंहो ! तुम सब लोग सेनाको युद्धके लिये तैयार करो, आज पितामह भीष्म रणभूमिमें कुपित होकर सोमकोंका संहार करेंगे' ॥ २६-२७ ॥

दुर्योधनस्य तच्छ्रुत्वा रात्रौ विलपितं बहु ।
मन्यमानः स तं राजन् प्रत्यादेशमिवात्मनः ॥ २८ ॥

राजन् ! रातमें दुर्योधनके अनेक प्रकारके विलापको सुनकर भीष्मने यह समझ लिया कि अब दुर्योधन मुझे युद्धसे हटाना चाहता है ॥ २८ ॥

निर्वेदं परमं गत्वा विनिन्द्य परवश्यताम् ।
दीर्घं दध्यौ शान्तनवो योद्धुकामोऽर्जुनं रणे ॥ २९ ॥

इससे उनके मनमें बड़ा खेद हुआ । भीष्मने पराधीनताकी भूरि-भूरि निन्दा करके रणभूमिमें अर्जुनके साथ युद्ध करनेका संकल्प लेकर दीर्घकालतक विचार किया ॥२९॥

इङ्गितेन तु तज्ज्ञात्वा गाङ्गेयेन विचिन्तितम् ।
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमचोदयत् ॥ ३० ॥

महाराज ! गङ्गानन्दन भीष्मने क्या सोचा है ? इस बातको संकेतसे समझकर दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—॥

दुःशासन रथास्तूर्णं युज्यन्तां भीष्मरक्षिणः ।
द्वाविंशतिमनीकानि सर्वाण्येवाभिचोदय ॥ ३१ ॥

'दुःशासन ! तुम शीघ्र ही भीष्मकी रक्षा करनेवाले रथोंको जोतकर तैयार कराओ । अपने पास कुल बाईस सेनाएँ हैं । उन सबको भीष्मकी रक्षामें ही नियुक्त कर दो॥

इदं हि समनुप्राप्तं वर्षपूगाभिचिन्तितम् ।
पाण्डवानां ससैन्यानां वधो राज्यस्य चागमः ॥ ३२ ॥

'आज वह अवसर प्राप्त हुआ है, जिसके लिये हम बहुत वर्षोंसे विचार करते आ रहे हैं । आज सेनासहित समस्त पाण्डवोंका वध तथा राज्यका लाभ होगा ॥ ३२ ॥

तत्र कार्यतमं मन्ये भीष्मस्यैवाभिरक्षणम् ।
स नो गुप्तः सहायः स्याद्धन्यात् पार्थांश्च संयुगे॥ ३३ ॥

'इस विषयमें मैं भीष्मकी रक्षाको ही अपना प्रधान कर्तव्य समझता हूँ । वे सुरक्षित रहनेपर हमारे सहायक होंगे और संग्राम-भूमिमें कुन्तीकुमारोंका वध कर सकेंगे ॥ ३३ ॥

अब्रवीद्धि विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
स्त्रीपूर्वको ह्यसौ राजंस्तस्माद् वर्ज्यो मया रणे ॥ ३४ ॥

'विशुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा भीष्मने मुझसे कहा है कि 'राजन् ! मैं शिखण्डीको नहीं मार सकता; क्योंकि वह पहले स्त्रीरूपमें उत्पन्न हुआ था और इसीलिये युद्धमें मुझे उसका परित्याग कर देना है ॥ ३४ ॥

लोकस्तद् वेद यदहं पितुः प्रियचिकीर्षया ।
राज्यं स्फीतं महाबाहो स्त्रियश्च त्यक्तवान् पुरा ॥ ३५ ॥

'महाबाहो ! सारा संसार यह जानता है कि मैंने पूर्वकालमें पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे समृद्धिशाली राज्य तथा स्त्रियोंका परित्याग कर दिया था ॥ ३५ ॥

नैवं चाहं स्त्रियं जातु न स्त्रीपूर्वं कथंचन ।
हन्यां युधि नरश्रेष्ठ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं कभी किसी स्त्रीको अथवा जो पहले स्त्री रहा हो, उस पुरुषको भी किसी प्रकार युद्धमें मार नहीं सकता; यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ॥ ३६ ॥

अयं स्त्रीपूर्वको राजञ्छिखण्डी यदि ते श्रुतः ।
उद्योगे कथितं यत्तत् तथा जाता शिखण्डिनी ॥ ३७ ॥
कन्या भूत्वा पुमाञ्जातः स च मां योधयिष्यति ।
तस्याहं प्रमुखे बाणान् न मुञ्चेयं कथंचन ॥ ३८ ॥

'राजन् ! तुमने भी सुना होगा, यह शिखण्डी पहले स्त्रीरूपमें पैदा हुआ था। यह बात मैंने तुमसे युद्धकी तैयारीके समय बता दी थी। इस प्रकार कन्यारूपमें उत्पन्न हुई शिखण्डिनी पहले स्त्री होकर अब पुरुष हो गयी है। वह पुरुष बना हुआ शिखण्डी यदि मुझसे युद्ध करेगा तो मैं उसके ऊपर किसी प्रकार भी बाण नहीं चलाऊँगा ॥ ३७-३८ ॥

युद्धे हि क्षत्रियांस्तात पाण्डवानां जयैषिणः ।
सर्वानन्यान् हनिष्यामि सम्प्राप्तान् रणमूर्धनि ॥ ३९ ॥

'तात ! पाण्डव-पक्षके दूसरे जो जो विजयाभिलाषी क्षत्रिय युद्धके मुहानेपर मेरे सामने आयेंगे, उन सबका मैं वध करूँगा' ॥

एवं मां भरतश्रेष्ठ गाङ्गेयः प्राह शास्त्रवित् ।
तत्र सर्वात्मना मन्ये गाङ्गेयस्यैव पालनम् ॥ ४० ॥

'भरतश्रेष्ठ दुःशासन ! शास्त्रोंके ज्ञाता गङ्गानन्दन भीष्मने इस प्रकार मुझसे कहा है। अतः युद्धभूमिमें सब प्रकारसे भीष्मकी रक्षाको ही मैं अपना मुख्य कर्तव्य मानता हूँ ॥ ४० ॥

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाहवे ।
मा वृकेणेव गाङ्गेयं घातयेम शिखण्डिना ॥ ४१ ॥

'यदि महायुद्धमें सिंहकी रक्षा नहीं की जाय तो उसे एक भेड़िया मार सकता है, परंतु हम भेड़ियेके सदृश शिखण्डी-के हाथसे सिंहके समान भीष्मका वध नहीं होने देंगे ॥ ४१ ॥

मातुलः शकुनिः शल्यः कृपो द्रोणो विविंशतिः ।
यत्ता रक्षन्तु गाङ्गेयं तस्मिन् गुप्ते ध्रुवो जयः ॥ ४२ ॥

'(अतः उनकी रक्षाके लिये सारी आवश्यक व्यवस्था करो।) मामा शकुनि, शल्य, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और विविंशति—ये सब लोग सावधान होकर गङ्गानन्दन भीष्मकी रक्षा करें। उनके सुरक्षित रहनेपर हमारी विजय निश्चित है'॥

एतच्छ्रुत्वा तु ते सर्वे दुर्योधनवचस्तदा ।
सर्वतो रथवंशेन गाङ्गेयं पर्यवारयन् ॥ ४३ ॥

उस समय दुर्योधनकी यह बात सुनकर उन सब वीरोंने रथकी विशाल सेनाद्वारा गङ्गानन्दन भीष्मको सब ओरसे घेर लिया ॥ ४३ ॥

पुत्राश्च तव गाङ्गेयं परिवार्य ययुर्मुदा ।
कम्पयन्तो भुवं द्यां च क्षोभयन्तश्च पाण्डवान् ॥ ४४ ॥

आपके सब पुत्र भी भीष्मको चारों ओरसे घेरकर प्रसन्नतापूर्वक चले। वे उस समय भूलोक और स्वर्गलोकको भी कँपाते हुए पाण्डवोंके मनमें क्षोभ उत्पन्न कर रहे थे ॥

ते रथैः सुसम्प्रयुक्तैर्दन्तिभिश्च महारथाः ।
परिवार्य रणे भीष्मं दंशिताः समवस्थिताः ॥ ४५ ॥

वे समस्त कौरव महारथी सुशिक्षित रथों और हाथियोंसे भीष्मको घेरकर कवच आदिसे सुसज्जित हो युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ ४५ ॥

यथा देवासुरे युद्धे त्रिदशा वज्रधारिणम् ।
सर्वे ते स्म व्यतिष्ठन्त रक्षन्तस्तं महारथम् ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार देवासुर-संग्रामके समय देवताओंने वज्रधारी इन्द्रकी रक्षा की थी, उसी प्रकार वे सब कौरव योद्धा महारथी भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ ४६ ॥

ततो दुर्योधनो राजा पुनर्भ्रातरमब्रवीत् ।
सव्यं चक्रं युधामन्युरुत्तमौजाश्च दक्षिणम् ॥ ४७ ॥
गोप्तारावर्जुनस्यैतावर्जुनोऽपि शिखण्डिनः ।
रक्ष्यमाणः स पार्थेन तथास्माभिर्विवर्जितः ॥ ४८ ॥
यथा भीष्मं न नो हन्याद् दुःशासन तथा कुरु ।

तब राजा दुर्योधनने अपने भाईसे पुनः इस प्रकार कहा—'दुःशासन ! अर्जुनके रथके बायें पहियेकी रक्षा युधामन्यु और दाहिने पहियेकी रक्षा उत्तमौजा करते हैं। इस प्रकार अर्जुनके ये दो रक्षक हैं और अर्जुन भी शिखण्डीकी रक्षा करते हैं। अर्जुनसे सुरक्षित और हमलोगोंसे उपेक्षित होकर शिखण्डी हमारे भीष्मको जिस प्रकार मार न सके, ऐसी व्यवस्था करो'॥

भ्रातुस्तद् वचनं श्रुत्वा पुत्रो दुःशासनस्तव ॥ ४९ ॥
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रययौ सह सेनया ।

बड़े भाईकी यह बात सुनकर आपका पुत्र दुःशासन भीष्मको आगे करके सेनाके साथ युद्धके मैदानमें गया ॥

भीष्मं तु रथवंशेन दृष्ट्वा समभिसंवृतम् ॥ ५० ॥
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठो धृष्टद्युम्नमुवाच ह ।

भीष्मको रथोंके समूहसे घिरा हुआ देख रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने धृष्टद्युम्नसे कहा—॥ ५०½ ॥

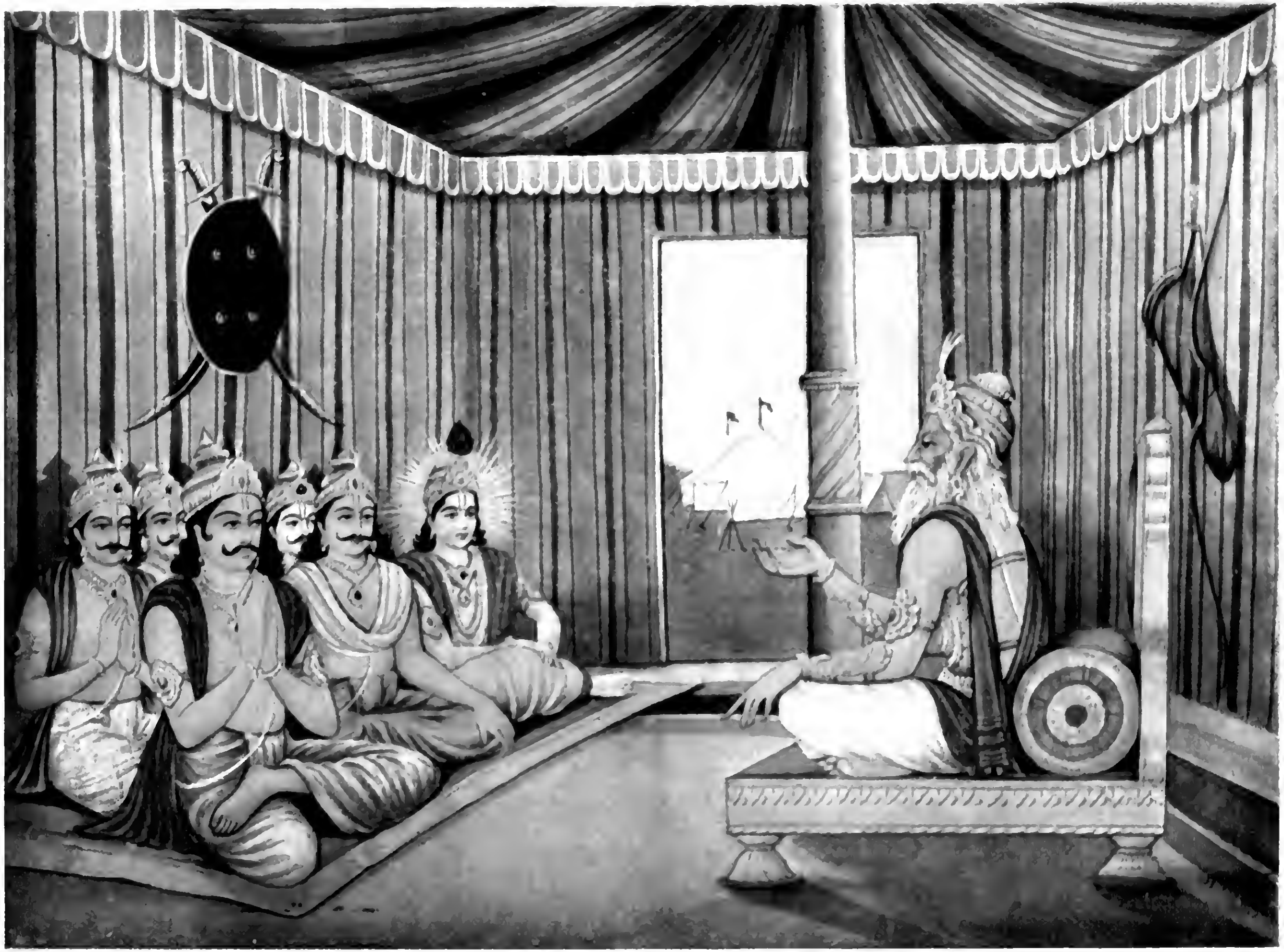
शिखण्डिनं नरव्याघ्रं भीष्मस्य प्रमुखे नृप ।
स्थापयस्वाद्य पाञ्चाल्य तस्य गोप्ताहमित्युत ॥ ५१ ॥

'नरेश्वर ! पाञ्चालराजकुमार ! आज तुम पुरुषसिंह शिखण्डी-को भीष्मके सामने उपस्थित करो। मैं उसकी रक्षा करूँगा' ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधनसंवादविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५१½ श्लोक हैं)



भीष्मपितामहकी सेवामें श्रीकृष्णसहित पाण्डव

एकोनशततमोऽध्यायः

नवें दिनके युद्धके लिये उभयपक्षकी सेनाओंकी व्यूहरचना और उनके घमासान युद्धका आरम्भ तथा विनाशसूचक उत्पातोंका वर्णन

संजय उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो निर्ययौ सह सेनया।
व्यूहं चाव्यूहत महत् सर्वतोभद्रमात्मनः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म सेनाके साथ शिबिरसे बाहर निकले। उन्होंने अपनी सेनाको सर्वतोभद्रनामक महान् व्यूहके रूपमें संगठित किया॥

कृपश्च कृतवर्मा च शैब्यश्चैव महारथः।
शकुनिः सैन्धवश्चैव काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ २ ॥
भीष्मेण सहिताः सर्वे पुत्रैश्च तव भारत।
अग्रतः सर्वसैन्यानां व्यूहस्य प्रमुखे स्थिताः ॥ ३ ॥

भारत ! कृपाचार्य, कृतवर्मा, महारथी शैब्य, शकुनि, सिन्धुराज जयद्रथ तथा काम्बोजराज सुदक्षिण—ये सब नरेश भीष्म तथा आपके पुत्रोंके साथ सम्पूर्ण सेनाके आगे तथा व्यूहके प्रमुख भागमें खड़े हुए थे ॥ २-३ ॥

द्रोणो भूरिश्रवाः शल्यो भगदत्तश्च मारिष।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थिता व्यूहस्य दंशिताः ॥ ४ ॥

आर्य ! द्रोणाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य तथा भगदत्त—ये कवच बाँधकर व्यूहके दाहिने पक्षका आश्रय लेकर खड़े थे॥

अश्वत्थामा सोमदत्तश्चावन्त्यौ च महारथौ।
महत्या सेनया युक्ता वामं पक्षमपालयन् ॥ ५ ॥

अश्वत्थामा, सोमदत्त तथा अवन्तीके दोनों राजकुमार महारथी विन्द और अनुविन्द—ये विशाल सेनाके साथ व्यूहके वाम पक्षका संरक्षण कर रहे थे ॥ ५ ॥

दुर्योधनो महाराज त्रिगर्तैः सर्वतो वृतः।
व्यूहमध्ये स्थितो राजन् पाण्डवान् प्रति भारत ॥ ६ ॥

महाराज ! भरतवंशी नरेश ! त्रिगर्तदेशीय सैनिकोंके द्वारा सब ओरसे घिरा हुआ दुर्योधन पाण्डवोंका सामना करनेके लिये व्यूहके मध्यभागमें खड़ा हुआ ॥ ६ ॥

अलम्बुषो रथश्रेष्ठः श्रुतायुश्च महारथः।
पृष्ठतः सर्वसैन्यानां स्थितौ व्यूहस्य दंशितौ ॥ ७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ अलम्बुष और महारथी श्रुतायु—ये दोनों कवच धारण करके सम्पूर्ण सेनाओं तथा व्यूहके पृष्ठभागमें खड़े थे॥

एवं च तं तदा व्यूहं कृत्वा भारत तावकाः।
संनद्धाः समदृश्यन्त प्रतपन्त इवाग्नयः ॥ ८ ॥

भारत ! इस प्रकार व्यूहरचना करके उस समय आपके पुत्र कवच आदिसे सुसज्जित हो प्रज्वलित अग्नियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ८ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमसेनश्च पाण्डवः।
नकुलः सहदेवश्च माद्रीपुत्रावुभावपि ॥ ९ ॥
अग्रतः सर्वसैन्यानां स्थिता व्यूहस्य दंशिताः।

उधर राजा युधिष्ठिर, पाण्डुकुमार भीमसेन, माद्रीके दोनों पुत्र नकुल और सहदेव सब सेनाओं तथा व्यूहके अग्रभागमें कवच बाँधकर खड़े हुए ॥ ९½ ॥

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्च महारथः ॥ १० ॥
स्थिताः सैन्येन महता परानीकविनाशनाः।

धृष्टद्युम्न, राजा विराट और महारथी सात्यकि—ये शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले वीर भी विशाल सेनाके साथ व्यूहमें यथास्थान स्थित थे ॥ १०½ ॥

शिखण्डी विजयश्चैव राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ११ ॥
चेकितानो महाबाहुः कुन्तिभोजश्च वीर्यवान्।
स्थिता रणे महाराज महत्या सेनया वृताः ॥ १२ ॥

महाराज ! शिखण्डी, अर्जुन, राक्षस घटोत्कच, महाबाहु चेकितान तथा पराक्रमी कुन्तिभोज—ये विशाल सेनासे घिरे हुए वीर युद्धभूमिमें यथायोग्य स्थानपर खड़े थे ॥ ११-१२ ॥

अभिमन्युर्महेष्वासो द्रुपदश्च महाबलः।
युयुधानो महेष्वासो युधामन्युश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
केकया भ्रातरश्चैव स्थिता युद्धाय दंशिताः।

महाधनुर्धर अभिमन्यु, महाबली द्रुपद, विशाल धनुष धारण करनेवाले युयुधान, पराक्रमी युधामन्यु और पाँचों भाई केकय-राजकुमार—ये कवच धारण करके युद्धके लिये तैयार खड़े थे ॥ १३½ ॥

एवं तेऽपि महाव्यूहं प्रतिव्यूह्य सुदुर्जयम् ॥ १४ ॥
पाण्डवाः समरे शूराः स्थिता युद्धाय दंशिताः।

इस प्रकार शूरवीर पाण्डव भी समराङ्गणमें अत्यन्त दुर्जय महाव्यूहकी रचना करके कवच बाँध युद्धके लिये तैयार थे ॥ १४½ ॥

तावकास्तु रणे यत्ताः सहसेना नराधिपाः ॥ १५ ॥
अभ्युद्ययू रणे पार्थान् भीष्मं कृत्वाग्रतो नृप।
तथैव पाण्डवा राजन् भीमसेनपुरोगमाः ॥ १६ ॥

राजन् ! आपकी सेनाके नरेश अपनी-अपनी सेनाओंके साथ युद्धके लिये उद्यत हो भीष्मको आगे करके पाण्डवोंपर चढ़ आये। नरेश्वर ! उसी प्रकार भीमसेन आदि पाण्डवोंने भी आपकी सेनापर आक्रमण किया ॥ १५-१६ ॥

भीष्मं योद्धुमभीप्सन्तः संग्रामे विजयैषिणः ।
क्ष्वेडाः किलकिलाः शङ्खान् क्रकचान् गोविषाणिकाः ॥
भेरीमृदङ्गपणवान् नादयन्तश्च पुष्करान् ।
पाण्डवा अभ्यवर्तन्त नदन्तो भैरवान् रवान् ॥ १८ ॥

संग्राममें भीष्मके साथ युद्धकी इच्छा रखनेवाले विजयाभिलाषी पाण्डव सिंहनाद, किल-किल शब्द, शङ्खध्वनि, क्रकच, गोशृंग, भेरी, मृदंग, पणव तथा पुष्कर आदि बाजोंको बजाते तथा भैरव-गर्जना करते हुए कौरव-सेनापर चढ़ आये ॥ १७-१८ ॥

भेरीमृदङ्गशङ्खानां दुन्दुभीनां च निःस्वनैः ।
उत्कृष्टसिंहनादैश्च वल्गितैश्च पृथग्विधैः ॥ १९ ॥
वयं प्रतिनदन्तस्तानगच्छाम त्वरान्विताः ।
सहसैवाभिसंक्रुद्धास्तदाऽऽसीत् तुमुलं महत् ॥ २० ॥

भेरी, मृदंग, शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि एवं उच्चस्वरसे सिंहनाद करते तथा अनेक प्रकारसे अपनी शेखी बघारते हुए हमलोगोंने भी बड़ी उतावलीके साथ अत्यन्त क्रुद्ध हो सहसा उनपर आक्रमण किया और उनकी गर्जनाका उत्तर हम भी अपनी गर्जनाद्वारा ही देने लगे। उस समय उभय पक्षके सैनिकोंमें महान् युद्ध होने लगा ॥ १९-२० ॥

ततोऽन्योन्यं प्रधावन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।
ततः शब्देन महता प्रचकम्पे वसुन्धरा ॥ २१ ॥

दोनों पक्षके योद्धा एक दूसरेपर धावा करते हुए अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे। उस समय जो महान् कोलाहल हुआ, उससे सारी पृथ्वी काँपने लगी ॥ २१ ॥

पक्षिणश्च महाघोरं व्याहरन्तो विबभ्रमुः ।
सप्रभश्चोदितः सूर्यो निष्प्रभः समपद्यत ॥ २२ ॥

पक्षी अत्यन्त घोर शब्द करते हुए आकाशमें चक्कर काटने लगे। सूर्य यद्यपि तेजस्वी रूपमें उदित हुआ था, तथापि उस समय निस्तेज हो गया ॥ २२ ॥

ववुश्च वातास्तुमुलाः शंसन्तः सुमहद् भयम् ।
घोराश्च घोरनिर्ह्रादाः शिवास्तत्र ववाशिरे ॥ २३ ॥

महान् भयकी सूचना देनेवाली भयंकर वायु बड़े वेगसे बहने लगीं। घोर वज्रपातके-से भयानक शब्द सुनायी देने लगे। सियारिनें अशुभ बोली बोलने लगीं ॥ २३ ॥

वेदयन्त्यो महाराज महद् वैशसमागतम् ।
दिशः प्रज्वलिता राजन् पांसुवर्षं पपात च ॥ २४ ॥
रुधिरेण समुन्मिश्रमस्थिवर्षं तथैव च ।
रुदतां वाहनानां च नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ २५ ॥

महाराज! वे गीदड़ियाँ सिरपर आये हुए विकट विनाशकी सूचना दे रही थीं। राजन्! दिशाएँ जलती प्रतीत होने लगीं। सब ओर धूलकी वर्षा होने लगी। रक्तमिश्रित हड्डियाँ बरसने लगीं। रोते हुए वाहनोंके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे ॥२४-२५॥

सुस्रुवुश्च शकृन्मूत्रं प्रध्यायन्तो विशाम्पते ।
अन्तर्हिता महानादाः श्रूयन्ते भरतर्षभ ॥ २६ ॥
रक्षसां पुरुषादानां नदतां भैरवान् रवान् ।

प्रजानाथ! वे सारे वाहन भारी चिन्तामें पड़कर मल-मूत्र करने लगे। भरतश्रेष्ठ! भयंकर गर्जना करनेवाले नरभक्षी राक्षसोंके महान् शब्द सुनायी पड़ते थे; परंतु उनके बोलनेवाले अदृश्य थे ॥ २६½ ॥

सम्पतन्तश्च दृश्यन्ते गोमायुबलवायसाः ॥ २७ ॥
श्वानश्च विविधैर्नादैर्वाशन्तस्तत्र मारिष ।

चारों ओरसे गीदड़ और बलशाली कौए वहाँ टूटे पड़ते थे। आर्य! वहाँ कुत्ते भी नाना प्रकारकी आवाजमें भूँकते देखे जाते थे ॥ २७½ ॥

ज्वलिताश्च महोल्का वै समाहत्य दिवाकरम् ।
निपेतुः सहसा भूमौ वेदयन्त्यो महद् भयम् ॥ २८ ॥

बड़ी-बड़ी प्रज्वलित उल्काएँ सूर्यदेवसे टकराकर महान् भयकी सूचना देती हुई सहसा पृथ्वीपर गिर रही थीं ॥२८॥

महान्त्यनीकानि महासमुच्छ्रये
ततस्तयोः पाण्डवधार्तराष्ट्रयोः ।
चकम्पिरे शङ्खमृदङ्गनिःस्वनैः
प्रकम्पितानीव वनानि वायुना ॥ २९ ॥
नरेन्द्रनागाश्वसमाकुलाना-
मभ्यायतीनामशिवे मुहूर्ते ।
बभूव घोषस्तुमुलश्चमूनां
वातोद्धुतानामिव सागराणाम् ॥ ३० ॥

उस महान् संग्राममें पाण्डव तथा कौरव-पक्षकी विशाल सेनाएँ शङ्ख और मृदङ्गकी ध्वनियोंसे उसी प्रकार काँप रही थीं, जैसे वायुके वेगसे समूचा वनप्रान्त हिलने लगता है। उस अमङ्गलजनक मुहूर्तमें नरेशों, हाथियों और अश्वोंसे परिपूर्ण हो परस्पर आक्रमण करती हुई उभय पक्षकी उन विशाल सेनाओंका भयंकर शब्द वायुसे विक्षुब्ध हुए समुद्रोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि परस्परव्यूहरचनायामुत्पातदर्शने एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें परस्पर व्यूह-रचनाके पश्चात् उत्पातदर्शनविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ९९

शततमोऽध्यायः

द्रौपदीके पाँचों पुत्रों और अभिमन्युका राक्षस अलम्बुषके साथ घोर युद्ध एवं अभिमन्युके द्वारा नष्ट होती हुई कौरवसेनाका युद्धभूमिसे पलायन

संजय उवाच

अभिमन्यू रथोदारः पिशङ्गैस्तुरगोत्तमैः ।
अभिदुद्राव तेजस्वी दुर्योधनबलं महत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! रथियोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी अभिमन्यु पिङ्गल वर्णवाले श्रेष्ठ घोड़ोंसे जुते हुए रथद्वारा दुर्योधनकी विशाल सेनापर टूट पड़ा ॥ १ ॥

विकिरञ्शरवर्षाणि वारिधारा इवाम्बुदः ।
न शेकुः समरे क्रुद्धं सौभद्रमरिसूदनम् ॥ २ ॥
(क्रोडरूपं हरिमिव प्रविशन्तं महार्णवम् ।)
शस्त्रौघिणं गाहमानं सेनासागरमक्षयम् ।
निवारयितुमप्याजौ त्वदीयाः कुरुनन्दन ॥ ३ ॥

जैसे बादल जलकी धारा बरसाता है, उसी प्रकार वह बाणोंकी वृष्टि कर रहा था । जैसे वाराहरूपधारी भगवान् विष्णुने महासागरमें प्रवेश किया था, उसी प्रकार शत्रुसूदन सुभद्राकुमार समरमें कुपित हो शस्त्रोंके प्रवाहसे युक्त कौरवोंके अक्षय सैन्यसमुद्रमें प्रवेश कर रहा था । कुरुनन्दन ! उस समय आपके सैनिक उसे युद्धमें रोक न सके ॥ २-३ ॥

तेन मुक्ता रणे राजञ्शराः शत्रुनिबर्हणाः ।
क्षत्रियाननयञ्शूरान् प्रेतराजनिवेशनम् ॥ ४ ॥

राजन् ! रणक्षेत्रमें अभिमन्युके छोड़े हुए शत्रुनाशक बाणोंने बहुत-से शूरवीर क्षत्रियोंको यमराजके लोकमें पहुँचा दिया ॥ ४ ॥

यमदण्डोपमान् घोराञ्ज्वलिताशीविषोपमान् ।
सौभद्रः समरे क्रुद्धः प्रेषयामाससायकान् ॥ ५ ॥

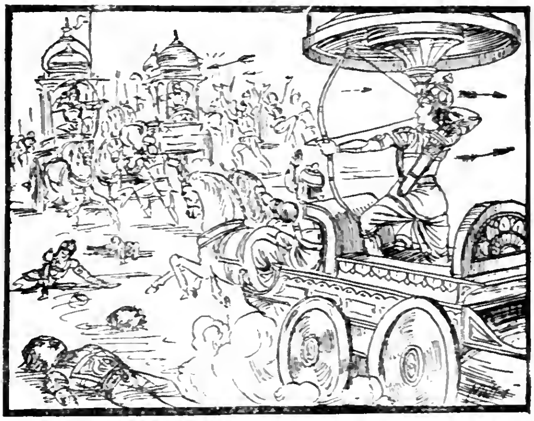
सुभद्राकुमार समराङ्गणमें क्रुद्ध होकर यमदण्डके समान घोर तथा प्रज्वलित मुखवाले विषधर सर्पोंके समान भयंकर सायकोंका प्रहार कर रहा था ॥ ५ ॥

सरथान् रथिनस्तूर्णं हयांश्चैव ससादिनः ।
गजारोहांश्च सगजान् दारयामास फाल्गुनिः ॥ ६ ॥

अर्जुनकुमारने रथोंसहित रथियों, सवारोंसहित घोड़ों और हाथियोंसहित गजारोहियोंको तुरंत ही विदीर्ण कर डाला ॥ ६ ॥

तस्य तत् कुर्वतः कर्म महत् संख्ये महीभृतः ।
पूजयांचक्रिरे हृष्टाः प्रशशंसुश्च फाल्गुनिम् ॥ ७ ॥

युद्धमें ऐसा महान् पराक्रम करते हुए अभिमन्यु और उसके कर्मकी सभी राजाओंने प्रसन्न होकर भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ७ ॥



तान्यनीकानि सौभद्रो द्रावयामास भारत ।
तूलराशीनिवाकाशे मारुतः सर्वतो दिशम् ॥ ८ ॥

भारत ! जैसे हवा रूईके ढेरको आकाशमें उड़ा देती है, उसी प्रकार सुभद्राकुमारने सम्पूर्ण सेनाओंको चारों दिशाओंमें भगा दिया ॥ ८ ॥

तेन विद्राव्यमाणानि तव सैन्यानि भारत ।
त्रातारं नाध्यगच्छन्त पङ्के मग्ना इव द्विपाः ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! अभिमन्युके द्वारा खदेड़ी जाती हुई आपकी सेनाएँ कीचड़में फँसे हुए हाथियोंके समान किसीको अपना रक्षक न पा सकीं ॥ ९ ॥

विद्राव्य सर्वसैन्यानि तावकानि नरोत्तम ।
अभिमन्युः स्थितो राजन् विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ ! आपकी सम्पूर्ण सेनाओंको खदेड़कर अभिमन्यु धूमरहित अग्निकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ॥ १० ॥

न चैनं तावका राजन् विषेहुररिघातिनम् ।
प्रदीप्तं पावकं यद्वत् पतङ्गाः कालचोदिताः ॥ ११ ॥

राजन् ! आपके सैनिक शत्रुघाती अभिमन्युका वेग नहीं सह सके । जैसे कालप्रेरित फतिंगे प्रज्वलित अग्निकी आँच नहीं सह पाते (उसीमें झुलस कर मर जाते हैं), वही दशा आपके सैनिकोंकी थी ॥ ११ ॥

प्रहरन् सर्वशत्रुभ्यः पाण्डवानां महारथः ।
अदृश्यत महेष्वासः सवज्र इव वासवः ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण शत्रुओंपर प्रहार करता हुआ पाण्डव-महारथी महाधनुर्धर अभिमन्यु वज्रधारी इन्द्रके समान दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ १२ ॥

हेमपृष्ठं धनुश्चास्य ददृशे विचरद् दिशः ।
तोयदेषु यथा राजन् राजमाना शतह्रदा ॥ १३ ॥

राजन् ! अभिमन्युके धनुषका पृष्ठभाग सुवर्णसे जटित था, वह सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरण करता हुआ बादलोंमें चमकनेवाली बिजलीके समान सुशोभित होता था ॥ १३ ॥

शराश्च निशिताः पीता निश्चरन्ति स्म संयुगे ।
वनात् फुल्लद्रुमाद् राजन् भ्रमराणामिव व्रजाः ॥१४॥

युद्धके मैदानमें उसके धनुषसे तीखे और चमचमाते बाण इस प्रकार छूटते थे, मानो विकसित वृक्षावलियोंसे भरे हुए वनप्रान्तसे भ्रमरोंके समूह निकल रहे हों ॥ १४ ॥

तथैव चरतस्तस्य सौभद्रस्य महात्मनः ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन ददृशुर्नान्तरं जनाः ॥ १५ ॥

महामना सुभद्राकुमार अभिमन्यु सुवर्णमय रथके द्वारा पूर्ववत् रणभूमिमें विचरता रहा; लोगोंने उसकी गतिमें कोई अन्तर नहीं देखा ॥ १५ ॥

मोहयित्वा कृपं द्रोणं द्रौणिं च सबृहद्बलम् ।
सैन्धवं च महेष्वासो व्यचरल्लघु सुष्ठु च ॥ १६ ॥

महाधनुर्धर अभिमन्यु कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, बृहद्बल और सिन्धुराज जयद्रथ—सबको मोहित करके सुन्दर और शीघ्र गतिसे सब ओर विचरता रहा ॥ १६ ॥

मण्डलीकृतमेवास्य धनुः पश्याम भारत ।
सूर्यमण्डलसंकाशं दहतस्तव वाहिनीम् ॥ १७ ॥

भारत ! आपकी सेनाको भस्म करते हुए उस अभिमन्युके धनुषको हम सदा सूर्यमण्डलके सदृश मण्डलाकार हुआ ही देखते थे ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा क्षत्रियाः शूराः प्रतपन्तं तरस्विनम् ।
द्विफाल्गुनमिमं लोकं मेनिरे तस्य कर्मभिः ॥ १८ ॥

सबको संताप देते हुए उस वेगशाली वीरको देखकर समस्त शूरवीर क्षत्रिय उसके कर्मोंद्वारा यह मानने लगे कि इस लोकमें दो अर्जुन हो गये हैं ॥ १८ ॥

तेनार्दिता महाराज भारती सा महाचमूः ।
व्यभ्रमत् तत्र तत्रैव योषिन्मदवशादिव ॥ १९ ॥

महाराज ! अभिमन्युसे पीडित हुई भरतवंशियोंकी वह विशाल सेना मदोन्मत्त युवतीकी भाँति वहीं चक्कर काट रही थी ॥ १९ ॥

द्रावयित्वा महासैन्यं कम्पयित्वा महारथान् ।
नन्दयामास सुहृदो मयं जित्वेव वासवः ॥ २० ॥

मयासुरपर विजय पानेवाले इन्द्रकी भाँति अभिमन्युने उस विशाल सेनाको भगाकर, महारथियोंको कँपाकर अपने सुहृदोंको आनन्दित किया ॥ २० ॥

तेन विद्राव्यमाणानि तव सैन्यानि संयुगे ।
चक्रुरार्तस्वनं घोरं पर्जन्यनिनदोपमम् ॥ २१ ॥

उसके द्वारा युद्धमें खदेड़े हुए आपके सैनिक मेघोंकी गर्जनाके समान घोर आर्तनाद करने लगे ॥ २१ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तव सैन्यस्य भारत ।
मारुतोद्धूतवेगस्य सागरस्येव पर्वणि ॥ २२ ॥
दुर्योधनस्तदा राजन्नार्ष्यशृङ्गिमभाषत ।
एष कार्ष्णिर्महाबाहो द्वितीय इव फाल्गुनः ॥ २३ ॥

भरतवंशी नरेश ! पूर्णिमाके दिन वायुके थपेड़ोंसे उद्वेलित हुए समुद्रकी गर्जनाके समान आपकी सेनाका वह भयंकर चीत्कार सुनकर उस समय दुर्योधनने राक्षस ऋष्यशृङ्गपुत्र अलम्बुषसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो ! यह अर्जुनका पुत्र द्वितीय अर्जुनके समान पराक्रमी है ॥ २२-२३ ॥

चमूं द्रावयते क्रोधाद् वृत्रो देवचमूमिव ।
तस्य चान्यन्न पश्यामि संयुगे भेषजं महत् ॥ २४ ॥
ऋते त्वां राक्षसश्रेष्ठं सर्वविद्यासु पारगम् ।

'जैसे वृत्रासुर देवताओंकी सेनाको मार भगाता था, उसी प्रकार यह भी क्रोधपूर्वक मेरी सेनाको खदेड़ रहा है। मैं युद्धस्थलमें सम्पूर्ण विद्याओंके पारंगत तथा राक्षसोंमें सर्वश्रेष्ठ तुम-जैसे वीरको छोड़कर दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो उस रोगकी सबसे उत्तम दवा हो सके ॥ २४½ ॥

स गत्वा त्वरितं वीरं जहि सौभद्रमाहवे ॥ २५ ॥
वयं पार्थं हनिष्यामो भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।

'अतः तुम तुरंत जाकर युद्धके मैदानमें वीर सुभद्राकुमारका वध करो और हमलोग भीष्म तथा द्रोणाचार्यको आगे करके अर्जुनको मार डालेंगे' ॥ २५½ ॥

स एवमुक्तो बलवान् राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ २६ ॥
प्रययौ समरे तूर्णं तव पुत्रस्य शासनात् ।
नर्दमानो महानादं प्रावृषीव बलाहकः ॥ २७ ॥

आपके पुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर उसकी आज्ञासे बलवान् एवं प्रतापी राक्षसराज अलम्बुष तुरंत ही वर्षाकालके मेघकी भाँति जोर-जोरसे गर्जना करता हुआ समर-भूमिमें गया ॥ २६-२७ ॥

तस्य शब्देन महता पाण्डवानां बलं महत् ।
प्राचलत् सर्वतो राजन् वातोद्धूत इवार्णवः ॥२८॥

राजन् ! उसके महान् गर्जनसे वायुसे विक्षुब्ध हुए समुद्रके

समान पाण्डवोंकी विशाल सेनामें सब ओर हलचल मच गयी ॥ २८ ॥

बहवश्च महाराज तस्य नादेन भीषिताः ।
प्रियान् प्राणान् परित्यज्य निपेतुर्धरणीतले ॥ २९ ॥

महाराज ! उसके सिंहनादसे भयभीत हो बहुत-से सैनिक अपने प्यारे प्राणोंको त्यागकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥२९॥

कार्ष्णिश्चापि मुदा युक्तः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
नृत्यन्निव रथोपस्थे तद् रक्षः समुपाद्रवत् ॥ ३० ॥

अभिमन्यु भी हर्ष और उत्साहमें भरकर हाथमें धनुष-बाण लिये रथकी बैठकमें नृत्य-सा करता हुआ उस राक्षसकी ओर दौड़ा ॥ ३० ॥

ततः स राक्षसः क्रुद्धः सम्प्राप्यैवार्जुनिं रणे ।
नातिदूरे स्थितां तस्य द्रावयामास वै चमूम् ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरा हुआ वह राक्षस युद्धमें अभिमन्यु-के समीप पहुँचकर पास ही खड़ी हुई उसकी सेनाको भगाने लगा ॥ ३१ ॥

तां वध्यमानां च तथा पाण्डवानां महाचमूम् ।
प्रत्युद्ययौ रणे रक्षो देवसेनां यथा बलः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार पीड़ित हुई पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीपर उस राक्षसने युद्धमें उसी प्रकार धावा किया, जैसे बल नामक दैत्यने देवसेनापर आक्रमण किया था ॥ ३२ ॥

विमर्दः सुमहानासीत् तस्य सैन्यस्य मारिष ।
रक्षसा घोररूपेण वध्यमानस्य संयुगे ॥ ३३ ॥

आर्य ! युद्धस्थलमें भयंकर राक्षसके द्वारा मारी जाती हुई उस सेनाका महान् संहार होने लगा ॥ ३३ ॥

ततः शरसहस्रैस्तां पाण्डवानां महाचमूम् ।
व्यद्रावयद् रणे रक्षो दर्शयन् स्वपराक्रमम् ॥ ३४ ॥

उस समय राक्षसने अपना पराक्रम दिखाते हुए रणक्षेत्रमें सहस्रों बाणोंद्वारा पाण्डवोंकी उस विशाल सेनाको खदेड़ना आरम्भ किया ॥ ३४ ॥

सा वध्यमाना च तथा पाण्डवानामनीकिनी ।
रक्षसा घोररूपेण प्रदुद्राव रणे भयात् ॥ ३५ ॥

उस घोर राक्षसके द्वारा उस प्रकार मारी जाती हुई वह पाण्डवसेना भयके मारे रणभूमिसे भाग चली ॥ ३५ ॥

प्रमृद्य च रणे सेनां पद्मिनीं वारणो यथा ।
ततोऽभिदुद्राव रणे द्रौपदेयान् महाबलान् ॥ ३६ ॥

जैसे हाथी कमलमण्डित सरोवरको मथ डालता है, उसी प्रकार रणभूमिमें पाण्डवसेनाको रौंदकर अलम्बुषने महाबली द्रौपदीपुत्रोंपर धावा किया ॥ ३६ ॥

ते तु क्रुद्धा महेष्वासा द्रौपदेयाः प्रहारिणः ।
राक्षसं दुद्रुवुः संख्ये ग्रहाः पञ्च रविं यथा ॥ ३७ ॥

द्रौपदीके पाँचों पुत्र महान् धनुर्धर तथा प्रहार करनेमें कुशल थे । उन्होंने संग्रामभूमिमें कुपित हो उस राक्षसपर उसी प्रकार धावा किया, मानो पाँच ग्रह सूर्यदेवपर आक्रमण कर रहे हों ॥ ३७ ॥

वीर्यवद्भिस्ततस्तैस्तु पीडितो राक्षसोत्तमः ।
यथा युगक्षये घोरे चन्द्रमाः पञ्चभिर्ग्रहैः ॥ ३८ ॥

उस समय उन पराक्रमी द्रौपदीपुत्रोंद्वारा वह श्रेष्ठ राक्षस उसी प्रकार पीड़ित होने लगा, जैसे भयानक प्रलयकाल आनेपर चन्द्रमा पाँच ग्रहोंद्वारा पीड़ित होते हैं ॥ ३८ ॥

प्रतिविन्ध्यस्ततो रक्षो बिभेद निशितैः शरैः ।
सर्वपारशवैस्तूर्णैरकुण्ठाग्रैर्महाबलः ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् महाबली प्रतिविन्ध्यने पूर्णतः लोहेके बने हुए अप्रतिहत धारवाले शीघ्रगामी तीखे बाणोंद्वारा उस राक्षसको विदीर्ण कर डाला ॥ ३९ ॥

स तैर्भिन्नतनुत्राणः शुशुभे राक्षसोत्तमः ।
मरीचिभिरिवार्कस्य संस्यूतो जलदो महान् ॥ ४० ॥

वे बाण उसके कवचको छेदकर शरीरमें धँस गये । उनके द्वारा राक्षसराज अलम्बुषकी वैसी ही शोभा हुई, मानो महान् मेघ सूर्यकी किरणोंसे ओतप्रोत हो रहा हो ॥ ४० ॥

विषक्तैः स शरैश्चापि तपनीयपरिच्छदैः ।
आर्ष्यशृङ्गिर्बभौ राजन् दीप्तशृङ्ग इवाचलः ॥ ४१ ॥

राजन् ! शरीरमें धँसे हुए उन सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा राक्षस अलम्बुष चमकीले शिखरोंवाले पर्वतकी भाँति सुशोभित हुआ ॥ ४१ ॥

ततस्ते भ्रातरः पञ्च राक्षसेन्द्रं महाहवे ।
विव्यधुर्निशितैर्बाणैस्तपनीयविभूषितैः ॥ ४२ ॥

तदनन्तर उन पाँचों भाइयोंने उस महासमरमें सुवर्ण-भूषित तीक्ष्ण बाणोंद्वारा राक्षसराज अलम्बुषको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ४२ ॥

स निर्भिन्नः शरैर्घोरैर्भुजगैः कोपितैरिव ।
अलम्बुषो भृशं राजन् नागेन्द्र इव चुक्रुधे ॥ ४३ ॥

राजन् ! क्रोधमें भरे हुए सर्पोंके समान उन घोर सायकों-द्वारा अत्यन्त घायल हुआ अलम्बुष अङ्कुशविद्ध गजराजकी भाँति कुपित हो उठा ॥ ४३ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज मुहूर्तमथ मारिष ।
प्रविवेश तमो दीर्घं पीडितस्तैर्महारथैः ॥ ४४ ॥

महाराज ! उन महारथियोंके बाणोंसे अत्यन्त आहत और पीड़ित हो अलम्बुष दो घड़ीतक भारी मोह (मूर्छा) में डूबा रहा ॥ ४४ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां क्रोधेन द्विगुणीकृतः।
चिच्छेद सायकांस्तेषां ध्वजांश्चैव धनूंषि च ॥ ४५ ॥

तदनन्तर होशमें आकर वह दूने क्रोधसे जल उठा। फिर उसने उनके सायकों, ध्वजों और धनुषोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ४५ ॥

एकैकं पञ्चभिर्बाणैराजघान स्मयन्निव।
अलम्बुषो रथोपस्थे नृत्यन्निव महारथः ॥ ४६ ॥

इसके बाद रथकी बैठकमें नृत्य-सा करते हुए महारथी अलम्बुषने मुसकराते हुए उनमेंसे एक-एकको पाँच-पाँच बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ४६ ॥

त्वरमाणः सुसंरब्धो हयांस्तेषां महात्मनाम्।
जघान राक्षसः क्रुद्धः सारथींश्च महाबलः ॥ ४७ ॥

फिर अत्यन्त उतावलीके साथ रोषावेशमें भरे हुए उस महाबली राक्षसने कुपित हो उन महामनस्वी पाँचों भाइयोंके घोड़ों और सारथियोंको भी मार डाला ॥ ४७ ॥

बिभेद च सुसंरब्धः पुनश्चैनान् सुसंशितैः।
शरैर्बहुविधाकारैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४८ ॥

इसके बाद पुनः कुपित हो भाँति-भाँतिके सैकड़ों और हजारों तीखे बाणोंद्वारा उन सबको गहरी चोट पहुँचायी।४८।

विरथांश्च महेष्वासान् कृत्वा तत्र स राक्षसः।
अभिदुद्राव वेगेन हन्तुकामो निशाचरः ॥ ४९ ॥

उन महाधनुर्धर वीरोंको रथहीन करके युद्धमें उन्हें मार डालनेकी इच्छासे निशाचर अलम्बुषने बड़े वेगसे उनपर धावा किया ॥ ४९ ॥

तानर्दितान् रणे तेन राक्षसेन दुरात्मना।
दृष्ट्वार्जुनसुतः संख्ये राक्षसं समुपाद्रवत् ॥ ५० ॥

उन पाँचों भाइयोंको रणक्षेत्रमें दुरात्मा राक्षसके द्वारा अत्यन्त पीड़ित देख अर्जुनकुमार अभिमन्युने पुनः उसके ऊपर आक्रमण किया ॥ ५० ॥

तयोः समभवद् युद्धं वृत्रवासवयोरिव।
ददृशुस्तावकाः सर्वे पाण्डवाश्च महारथाः ॥ ५१ ॥

फिर उन दोनोंमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान भयंकर युद्ध होने लगा। आपके और पाण्डवपक्षके सभी महारथी उस युद्धको देखने लगे ॥ ५१ ॥

तौ समेतौ महायुद्धे क्रोधदीप्तौ परस्परम्।
महाबलौ महाराज क्रोधसंरक्तलोचनौ ॥ ५२ ॥
परस्परमवेक्षेतां कालानलसमौ युधि।
तयोः समागमो घोरो बभूव कटुकोदयः ॥ ५३ ॥
यथा देवासुरे युद्धे शक्रशम्बरयोः पुरा ॥ ५४ ॥

महाराज ! उस महायुद्धमें क्रोधसे उद्दीप्त हो आँखें लाल-लाल करके एक दूसरेसे भिड़े हुए वे दोनों महाबली वीर युद्धमें काल और अग्निके समान परस्पर देखने लगे। उनका वह घोर संग्राम अत्यन्त कटु परिणामको प्रकट करनेवाला था। पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर इन्द्र और शम्बरासुरमें जैसा भयंकर युद्ध हुआ था, वैसा ही उनमें भी हुआ ॥ ५२–५४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अलम्बुषाभिमन्युसमागमे शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें अलम्बुष और अभिमन्युका संग्रामविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ५४$\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

एकाधिकशततमोऽध्यायः

अभिमन्युके द्वारा अलम्बुषकी पराजय, अर्जुनके साथ भीष्मका तथा कृपाचार्य, अश्वत्थामा और द्रोणाचार्यके साथ सात्यकिका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

आर्जुनिं समरे शूरं विनिघ्नन्तं महारथान्।
अलम्बुषः कथं युद्धे प्रत्ययुध्यत संजय ॥ १ ॥
आर्ष्यशृङ्गिं कथं चैव सौभद्रः परवीरहा।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन यथावृत्तं स्म संयुगे ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! समरमें बड़े-बड़े महारथियोंका संहार करते हुए शूरवीर अर्जुनकुमार अभिमन्युके साथ राक्षस अलम्बुषने किस प्रकार युद्ध किया ? इसी प्रकार शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले सुभद्राकुमारने राक्षस अलम्बुषके साथ कैसे युद्ध किया ? युद्धस्थलमें उन दोनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला जो भी वृत्तान्त हो, वह मुझे ठीक-ठीक बताओ ॥ १-२ ॥

धनंजयश्च किं चक्रे मम सैन्येषु संयुगे।
भीमो वा रथिनां श्रेष्ठो राक्षसो वा घटोत्कचः ॥ ३ ॥
नकुलः सहदेवो वा सात्यकिर्वा महारथः।
एतदाचक्ष्व मे सत्यं कुशलो ह्यसि संजय ॥ ४ ॥

उस युद्धके मैदानमें अर्जुनने मेरी सेनाओंके साथ क्या किया ? रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन अथवा राक्षस घटोत्कच या नकुल-सहदेव एवं महारथी सात्यकिने क्या किया ? संजय ! यह सब मुझे यथार्थरूपसे बताओ; क्योंकि तुम इन बातोंके बतानेमें कुशल हो ॥ ३-४ ॥

संजय उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि संग्रामं लोमहर्षणम्।

यथाभूद् राक्षसेन्द्रस्य सौभद्रस्य च मारिष ॥ ५ ॥
अर्जुनश्च यथा संख्ये भीमसेनश्च पाण्डवः ।
नकुलः सहदेवश्च रणे चक्रुः पराक्रमम् ॥ ६ ॥
तथैव तावकाः सर्वे भीष्मद्रोणपुरःसराः ।
अद्भुतानि विचित्राणि चक्रुः कर्माण्यभीतवत् ॥ ७ ॥

संजयने कहा—आर्य ! मैं बड़े दुःखके साथ उस रोमाञ्चकारी संग्रामका वर्णन करूँगा, जो राक्षसराज अलम्बुष और सुभद्राकुमार अभिमन्युमें हुआ था तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन, भीमसेन, नकुल और सहदेवने युद्धमें किस प्रकार पराक्रम किया और उसी प्रकार भीष्म, द्रोण आदि आपके सभी योद्धाओंने निर्भीक-से होकर अद्भुत और विचित्र कर्म किये—यह सब भी मुझसे सुनिये ॥ ५–७ ॥

अलम्बुषस्तु समरे अभिमन्युं महारथम् ।
विनद्य सुमहानादं तर्जयित्वा मुहुर्मुहुः ॥ ८ ॥
अभिदुद्राव वेगेन तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

अलम्बुषने समरभूमिमें महारथी अभिमन्युको जोर-जोरसे गर्जना करके बारंबार डाँट बतायी और 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहकर बड़े वेगसे उसपर धावा किया ॥ ८½ ॥

अभिमन्युश्च वेगेन सिंहवद् विनदन् मुहुः ॥ ९ ॥
आर्ष्यश्रृङ्गिं महेष्वासं पितुरत्यन्तवैरिणम् ।

इसी प्रकार वीर अभिमन्युने भी बारंबार सिंहनाद करते हुए अपने पितृव्य भीमसेनके अत्यन्त वैरी महाधनुर्धर अलम्बुषपर वेगसे आक्रमण किया ॥ ९½ ॥

ततः समीयतुः संख्ये त्वरितौ नरराक्षसौ ॥ १० ॥
रथाभ्यां रथिनौ श्रेष्ठौ यथा वै देवदानवौ ।

फिर तो वे मनुष्य तथा राक्षस दोनों वीर तुरंत ही युद्धस्थलमें एक-दूसरेसे भिड़ गये। दोनों ही रथियोंमें श्रेष्ठ थे, अतः देवता और दानवकी भाँति रथोंद्वारा एक-दूसरेका सामना करने लगे ॥ १०½ ॥

मायावी राक्षसश्रेष्ठो दिव्यास्त्रश्चैव फाल्गुनिः ॥ ११ ॥

राक्षसश्रेष्ठ अलम्बुष मायावी था और अर्जुनकुमार अभिमन्युको दिव्यास्त्रोंका ज्ञान था ॥ ११ ॥

ततः कार्ष्णिर्महाराज निशितैः सायकैस्त्रिभिः ।
आर्ष्यश्रृङ्गिं रणे विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ॥ १२ ॥

महाराज ! तदनन्तर अर्जुनपुत्र अभिमन्युने तीन तीखे सायकोंसे रणक्षेत्रमें अलम्बुषको बींधकर पुनः पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १२ ॥

अलम्बुषोऽपि संक्रुद्धः कार्ष्णिं नवभिराशुगैः ।
हृदि विव्याध वेगेन तोत्त्रैरिव महाद्विपम् ॥ १३ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए अलम्बुषने भी नौ शीघ्रगामी बाणोंद्वारा अर्जुनपुत्र अभिमन्युकी छातीमें उसी प्रकार वेगपूर्वक प्रहार किया, जैसे अङ्कुशद्वारा गजराजपर प्रहार किया जाता है ॥ १३ ॥

ततः शरसहस्रेण क्षिप्रकारी निशाचरः ।
अर्जुनस्य सुतं संख्ये पीडयामास भारत ॥ १४ ॥

भारत ! तत्पश्चात् शीघ्रतापूर्वक सारे कार्य करनेवाले निशाचरने एक हजार बाण मारकर युद्धस्थलमें अर्जुनके पुत्रको पीड़ित कर दिया ॥ १४ ॥

अभिमन्युस्ततः क्रुद्धो नवभिर्नतपर्वभिः ।
बिभेद निशितैर्बाणै राक्षसेन्द्रं महोरसि ॥ १५ ॥

इससे क्रुद्ध होकर अभिमन्युने राक्षसराज अलम्बुषकी चौड़ी छातीमें झुकी हुई गाँठवाले नौ पैने बाण मारे ॥ १५ ॥

ते तस्य विविशुस्तूर्णं कायं निर्भिद्य मर्मसु ।
स तैर्विभिन्नसर्वाङ्गः शुशुभे राक्षसोत्तमः ॥ १६ ॥
पुष्पितैः किंशुकै राजन् संस्तीर्ण इव पर्वतः ।

वे बाण राक्षसके शरीरको विदीर्ण करके उसके मर्मस्थानोंमें धँस गये। राजन् ! उन बाणोंसे सम्पूर्ण अङ्गोंके क्षत-विक्षत हो जानेपर राक्षसराज अलम्बुष खिले हुए पलाशके वृक्षोंसे आच्छादित पर्वतकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ १६½ ॥

संधारयाणश्च शरान् हेमपुङ्खान् महाबलः ॥ १७ ॥
विबभौ राक्षसश्रेष्ठः सज्वाल इव पर्वतः ।

सुवर्णमय पंखसे युक्त उन बाणोंको अपने अङ्गोंमें धारण किये महाबली राक्षसश्रेष्ठ अलम्बुष अग्निकी ज्वालाओंसे युक्त पर्वतकी भाँति शोभा पा रहा था ॥ १७½ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज आर्ष्यश्रृङ्गिरमर्षणः ॥ १८ ॥
महेन्द्रप्रतिमं कार्ष्णिं छादयामास पत्रिभिः ।

महाराज ! तब अमर्षशील अलम्बुषने कुपित होकर देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनकुमारको पंखवाले बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १८½ ॥

तेन ते विशिखा मुक्ता यमदण्डोपमाः शिताः ॥ १९ ॥
अभिमन्युं विनिर्भिद्य प्राविशन्त धरातलम् ।

उसके द्वारा छोड़े हुए यमदण्डके समान भयंकर एवं तीखे बाण अभिमन्युके शरीरको छेदकर धरतीमें समा गये ॥

तथैवार्जुनिना मुक्ताः शराः कनकभूषणाः ॥ २० ॥
अलम्बुषं विनिर्भिद्य प्राविशन्त धरातलम् ।

उसी प्रकार अभिमन्युके छोड़े हुए सुवर्णभूषित बाण भी अलम्बुषको विदीर्ण करके पृथ्वीमें समा गये ॥ २०½ ॥

सौभद्रस्तु रणे रक्षः शरैः संनतपर्वभिः ॥ २१ ॥
चक्रे विमुखमासाद्य मयं शक्र इवाहवे ।

जैसे इन्द्र युद्धस्थलमें मयासुरको विमुख कर देते हैं, उसी प्रकार सुभद्राकुमार अभिमन्युने रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा मारकर उस राक्षसको युद्धसे विमुख कर दिया ॥ २१½ ॥

विमुखं च ततो रक्षो वध्यमानं रणेऽरिणा ॥ २२ ॥

प्रादुश्चक्रे महामायां तामसीं परतापनाम् ।

फिर समराङ्गणमें शत्रुसे पीड़ित एवं विमुख हुए राक्षसने शत्रुओंको तपानेवाली अपनी (अन्धकारमयी) तामसी महामाया प्रकट की ॥ २२½ ॥

ततस्ते तमसा सर्वे वृताश्चासन् महीपते ॥ २३ ॥
नाभिमन्युमपश्यन्त नैव स्वान् न परान् रणे ।

महीपते ! तब वे समस्त पाण्डव सैनिक अन्धकारसे आच्छादित हो गये । अतः न तो रणक्षेत्रमें अभिमन्युको देख पाते थे और न अपने तथा शत्रुपक्षके सैनिकोंको ही ॥

अभिमन्युश्च तद् दृष्ट्वा घोररूपं महत्तमः ॥ २४ ॥
प्रादुश्चक्रेऽस्त्रमत्युग्रं भास्करं कुरुनन्दनः ।
ततः प्रकाशमभवज्जगत् सर्वं महीपते ॥ २५ ॥

यह भयंकर एवं महान् अन्धकार देखकर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले अभिमन्युने अत्यन्त उग्र भास्करास्त्रको प्रकट किया । राजन् ! इससे सम्पूर्ण जगत्‌में प्रकाश छा गया ॥

तां चाभिजघ्निवान् मायां राक्षसस्य दुरात्मनः ।
संक्रुद्धश्च महावीर्यो राक्षसेन्द्रं नरोत्तमः ॥ २६ ॥
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ।

इस प्रकार महापराक्रमी नरश्रेष्ठ अभिमन्युने उस दुरात्मा राक्षसकी मायाको नष्ट कर दिया और अत्यन्त कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उसे समरभूमिमें आच्छादित कर दिया ॥ २६½ ॥

बह्वीस्तथान्या मायाश्च प्रयुक्तास्तेन रक्षसा ॥ २७ ॥
सर्वास्त्रविदमेयात्मा वारयामास फाल्गुनिः ।

उस राक्षसने और भी बहुत-सी जिन-जिन मायाओंका प्रयोग किया, उन सबको सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न अभिमन्युने नष्ट कर दिया ॥ २७½ ॥

हतमायं ततो रक्षो वध्यमानं च सायकैः ॥ २८ ॥
रथं तत्रैव संत्यज्य प्राद्रवन्महतो भयात् ।

अपनी माया नष्ट हो जानेपर सायकोंकी मार खाता हुआ राक्षस अलम्बुष अत्यन्त भयके कारण अपने रथको वहीं छोड़कर भाग गया ॥ २८½ ॥

तस्मिन् विनिर्जिते तूर्णं कूटयोधिनि राक्षसे ॥ २९ ॥
आर्जुनिः समरे सैन्यं तावकं सम्ममर्द ह ।
मदान्धो गन्धनागेन्द्रः सपद्मां पद्मिनीमिव ॥ ३० ॥

मायाद्वारा युद्ध करनेवाले उस राक्षसके पराजित हो जानेपर अर्जुनकुमार अभिमन्युने तुरंत ही रणक्षेत्रमें आपकी सेनाका उसी प्रकार मर्दन आरम्भ किया, जैसे गन्धयुक्त मदान्ध गजराज कमलोंसे भरी हुई पुष्करिणीको मथ डालता है ॥

ततः शान्तनवो भीष्मः सैन्यं दृष्ट्वाभिविद्रुतम् ।
महता शरवर्षेण सौभद्रं पर्यवारयत् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर अपनी सेनाको भागती हुई देख शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ी भारी बाण-वर्षा करके सुभद्राकुमार अभिमन्युको रोक दिया ॥ ३१ ॥

कोष्ठीकृत्य च तं वीरं धार्तराष्ट्रा महारथाः ।
एकं सुबहवो युद्धे ततक्षुः सायकैर्दृढम् ॥ ३२ ॥

फिर आपके महारथी पुत्रोंने वीर अभिमन्युको सब ओरसे घेर लिया और युद्धस्थलमें उस अकेलेको बहुत-से योद्धाओंने सायकोंद्वारा जोर-जोरसे घायल करना आरम्भ किया॥

स तेषां रथिनां वीरः पितुस्तुल्यपराक्रमः ।
सदृशो वासुदेवस्य विक्रमेण बलेन च ॥ ३३ ॥
उभयोः सदृशं कर्म स पितुर्मातुलस्य च ।
रणे बहुविधं चक्रे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ३४ ॥

वीर अभिमन्यु अपने पिता अर्जुनके समान पराक्रमी था । बल और विक्रममें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी समानता करता था । सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ उस वीरने रणक्षेत्रमें उन कौरव रथियोंके साथ अपने पिता और मामा दोनोंके सदृश अनेक प्रकारका शौर्यपूर्ण कार्य किया ॥ ३३-३४ ॥

ततो धनंजयो वीरो विनिघ्नंस्तव सैनिकान् ।
आससाद रणे भीष्मं पुत्रप्रेप्सुरमर्षणः ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् वीर अर्जुन समराङ्गणमें आपके सैनिकोंका संहार करते हुए अपने पुत्रकी रक्षाके लिये अमर्षमें भरकर भीष्मके पास आ पहुँचे ॥ ३५ ॥

तथैव समरे राजन् पिता देवव्रतस्तव ।
आससाद रणे पार्थं स्वर्भानुरिव भास्करम् ॥ ३६ ॥

राजन् ! जैसे सूर्यपर राहु आक्रमण करता है, उसी प्रकार आपके पितृव्य देवव्रत भीष्मने समरभूमिमें कुन्तीकुमार अर्जुनपर धावा किया ॥ ३६ ॥

ततः सरथनागाश्वाः पुत्रास्तव जनेश्वर ।
परिवव्रू रणे भीष्मं जुगुपुश्च समन्ततः ॥ ३७ ॥

जनेश्वर ! उस समय आपके पुत्र रथ, हाथी, घोड़ोंकी सेना साथ लेकर युद्धस्थलमें भीष्मको घेरकर खड़े हो गये और सब ओरसे उनकी रक्षा करने लगे ॥ ३७ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् परिवार्य धनंजयम् ।
रणाय महते युक्ता दंशिता भरतर्षभ ॥ ३८ ॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! उसी प्रकार पाण्डव अर्जुनको सब ओरसे घेरकर कवच आदिसे सुसज्जित हो महायुद्धके लिये तैयार हो गये ॥ ३८ ॥

शारद्वतस्ततो राजन् भीष्मस्य प्रमुखे स्थितम् ।
अर्जुनं पञ्चविंशत्या सायकानां समाचिनोत् ॥ ३९ ॥

राजन् ! उस समय भीष्मके सामने खड़े हुए अर्जुनको कृपाचार्यने पचीस बाण मारे ॥ ३९ ॥

प्रत्युद्गम्याथ विव्याध सात्यकिस्तं शितैः शरैः।
पाण्डवप्रियकामार्थे शार्दूल इव कुञ्जरम् ॥ ४० ॥

तब जैसे सिंह हाथीपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार सात्यकिने आगे बढ़कर पाण्डुनन्दन अर्जुनका प्रिय करनेके लिये कृपाचार्यको अपने तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ॥

गौतमोऽपि त्वरायुक्तो माधवं नवभिः शरैः।
हृदि विव्याध संक्रुद्धः कङ्कपत्रपरिच्छदैः ॥ ४१ ॥

यह देख कृपाचार्यने भी अत्यन्त कुपित हो बड़ी उतावलीके साथ सात्यकिकी छातीमें कङ्कपत्रविभूषित नौ बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया ॥ ४१ ॥

शैनेयोऽपि ततः क्रुद्धश्चापमानम्य वेगवान्।
गौतमान्तकरं तूर्णं समाधत्त शिलीमुखम् ॥ ४२ ॥

तब वेगशाली सात्यकिने भी क्रोधमें भरकर अपने धनुषको झुकाया और तुरंत ही उसपर कृपाचार्यका अन्त करनेवाला बाण रक्खा ॥ ४२ ॥

तमापतन्तं वेगेन शक्राशनिसमद्युतिम्।
द्विधा चिच्छेद संक्रुद्धो द्रौणिः परमकोपनः ॥ ४३ ॥

उस बाणका प्रकाश इन्द्रके वज्रके समान था। उसे वेगसे आते देख परम क्रोधी अश्वत्थामाने अत्यन्त कुपित हो उसके दो टुकड़े कर डाले ॥ ४३ ॥

समुत्सृज्याथ शैनेयो गौतमं रथिनां वरः।
अभ्यद्रवद् रणे द्रौणिं राहुः खे शशिनं यथा ॥ ४४ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने कृपाचार्यको छोड़कर जैसे आकाशमें राहु चन्द्रमापर आक्रमण करता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें अश्वत्थामापर धावा किया ॥ ४४ ॥

तस्य द्रोणसुतश्चापं द्विधा चिच्छेद भारत।
अथैनं छिन्नधन्वानं ताडयामास सायकैः ॥ ४५ ॥

भारत ! उस द्रोणपुत्रने सात्यकिके धनुषके दो टुकड़े कर दिये और धनुष कट जानेपर उन्हें सायकोंसे घायल करना आरम्भ किया ॥ ४५ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय शत्रुघ्नं भारसाधनम्।
द्रौणिं षष्ट्या महाराज बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ४६ ॥

महाराज ! तब सात्यकिने भार-साधनमें समर्थ एवं शत्रु-विनाशक दूसरा धनुष हाथमें लेकर साठ बाणोंद्वारा अश्वत्थामाकी भुजाओं तथा छातीको छेद डाला ॥ ४६ ॥

स विद्धो व्यथितश्चैव मुहूर्तं कश्मलायुतः।
निषसाद रथोपस्थे ध्वजयष्टिं समाश्रितः ॥ ४७ ॥

इससे अत्यन्त घायल और व्यथित होकर मूर्छित हो ध्वजका सहारा ले वह दो घड़ीतक रथके पिछले भागमें बैठा रहा ॥ ४७ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां द्रोणपुत्रः प्रतापवान्।
वार्ष्णेयं समरे क्रुद्धो नाराचेन समार्पयत् ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् प्रतापी द्रोणपुत्रने होशमें आकर कुपित हो समरभूमिमें सात्यकिको नाराचसे घायल कर दिया ॥ ४८ ॥

शैनेयं स तु निर्भिद्य प्राविशद् धरणीतलम्।
वसन्तकाले बलवान् बिलं सर्पशिशुर्यथा ॥ ४९ ॥

वह नाराच सात्यकिको छेदकर उसी प्रकार धरतीमें समा गया, जैसे वसन्त ऋतुमें बलवान् सर्प-शिशु बिलमें घुसता है ॥ ४९ ॥

अथापरेण भल्लेन माधवस्य ध्वजोत्तमम्।
चिच्छेद समरे द्रौणिः सिंहनादं मुमोच ह ॥ ५० ॥

इसके बाद दूसरे भल्लसे समरभूमिमें अश्वत्थामाने सात्यकिके उत्तम ध्वजको काट डाला और बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ५० ॥

पुनश्चैनं शरैर्घोरैश्छादयामास भारत।
निदाघान्ते महाराज यथा मेघो दिवाकरम् ॥ ५१ ॥

भारत ! महाराज ! तदनन्तर जैसे वर्षा ऋतुमें बादल सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उसने पुनः अपने भयंकर बाणोंद्वारा सात्यकिको आच्छादित कर दिया ॥ ५१ ॥

सात्यकोऽपि महाराज शरजालं निहत्य तत्।
द्रौणिमभ्यकिरत् तूर्णं शरजालैरनेकधा ॥ ५२ ॥

नरेश्वर ! उस समय सात्यकिने भी उस बाण-समूहको नष्ट करके तुरंत ही अश्वत्थामाके ऊपर अनेक प्रकारके बाणोंका जाल-सा बिछा दिया ॥ ५२ ॥

तापयामास च द्रौणिं शैनेयः परवीरहा।
विमुक्तो मेघजालेन यथैव तपनस्तथा ॥ ५३ ॥

फिर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले युयुधानने मेघोंकी घटासे मुक्त हुए सूर्यकी भाँति द्रोणपुत्रको संताप देना आरम्भ किया ॥ ५३ ॥

शराणां च सहस्रेण पुनरेव समुद्यतः।
सात्यकिश्छादयामास ननाद च महाबलः ॥ ५४ ॥

महाबली सात्यकिने पुनः एक हजार बाणोंकी वर्षा करके अश्वत्थामाको ढक दिया और बड़े जोरसे गर्जना की॥

दृष्ट्वा पुत्रं च तं ग्रस्तं राहुणेव निशाकरम्।
अभ्यद्रवत शैनेयं भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५५ ॥

जैसे राहु चन्द्रमाको ग्रस लेता है, उसी प्रकार सात्यकिके द्वारा अपने पुत्रपर ग्रहण लगा हुआ देख प्रतापी द्रोणाचार्यने उनके ऊपर धावा किया ॥ ५५ ॥

विव्याध च सुतीक्ष्णेन पृषत्केन महामृधे।
परीप्सन् स्वसुतं राजन् वार्ष्णेयेनाभिपीडितम् ॥ ५६ ॥

राजन् ! उस महायुद्धमें सात्यकिद्वारा पीड़ित हुए

अपने पुत्रकी रक्षा करनेके लिये आचार्यने तीखे बाणसे उन्हें घायल कर दिया ॥ ५६ ॥

सात्यकिस्तु रणे हित्वा गुरुपुत्रं महारथम् ।
द्रोणं विव्याध विंशत्या सर्वपारशवैः शरैः ॥ ५७ ॥

तब सात्यकिने रणक्षेत्रमें गुरुपुत्र महारथी अश्वत्थामाको छोड़कर पूर्णतः लोहेके बने हुए बीस बाणोंसे द्रोणाचार्यको बींध डाला ॥ ५७ ॥

तदन्तरममेयात्मा कौन्तेयः शत्रुतापनः ।
अभ्यद्रवद् रणे क्रुद्धो द्रोणं प्रति महारथः ॥ ५८ ॥

इसी समय शत्रुओंको संताप देनेवाले अमेय आत्मबलसे सम्पन्न महारथी कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्धस्थलमें कुपित हो द्रोणाचार्यपर टूट पड़े ॥ ५८ ॥

ततो द्रोणश्च पार्थश्च समेयातां महामृधे ।
यथा बुधश्च शुक्रश्च महाराज नभस्तले ॥ ५९ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् द्रोणाचार्य और अर्जुन उस महासमरमें एक दूसरेसे भिड़ गये, मानो आकाशमें बुध और शुक्र एक दूसरेपर आक्रमण कर रहे हों ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अलम्बुषाभिमन्युयुद्धे एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें अलम्बुष और अभिमन्युका युद्धविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य और सुशर्माके साथ अर्जुनका युद्ध तथा भीमसेनके द्वारा गजसेनाका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

कथं द्रोणो महेष्वासः पाण्डवश्च धनंजयः ।
समीयतू रणे यत्तौ तावुभौ पुरुषर्षभौ ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! महाधनुर्धर द्रोण और पाण्डुनन्दन अर्जुन—इन दोनों पुरुषसिंहोंने रणक्षेत्रमें किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक एक दूसरेका सामना किया ? ॥ १ ॥

प्रियो हि पाण्डवो नित्यं भारद्वाजस्य धीमतः ।
आचार्यश्च रणे नित्यं प्रियः पार्थस्य संजय ॥ २ ॥

सूत ! युद्धस्थलमें बुद्धिमान् द्रोणाचार्यको पाण्डुपुत्र अर्जुन सदा ही प्रिय लगते हैं और अर्जुनको भी आचार्य रणक्षेत्रमें सदा ही प्रिय रहे हैं ॥ २ ॥

तावुभौ रथिनौ संख्ये हृष्टौ सिंहाविवोत्कटौ ।
कथं समीयतुर्यत्तौ भारद्वाजधनंजयौ ॥ ३ ॥

उस दिन संग्रामभूमिमें दो प्रचण्ड सिंहोंकी भाँति हर्ष और उत्साहमें भरे हुए वे दोनों रथी द्रोणाचार्य और धनंजय किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक एक दूसरेसे युद्ध करते थे ? ॥ ३ ॥

संजय उवाच

न द्रोणः समरे पार्थं जानीते प्रियमात्मनः ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य पार्थो वा गुरुमाहवे ॥ ४ ॥

संजयने कहा—महाराज ! समरभूमिमें द्रोणाचार्य अर्जुनको अपना प्रिय नहीं समझते हैं और अर्जुन भी क्षत्रियधर्मको आगे रखकर युद्धस्थलमें गुरुको अपना प्रिय नहीं मानते हैं ॥ ४ ॥

न क्षत्रिया रणे राजन् वर्जयन्ति परस्परम् ।
निर्मर्यादं हि युध्यन्ते पितृभिर्भ्रातृभिः सह ॥ ५ ॥

राजन् ! क्षत्रियलोग रणक्षेत्रमें आपसमें किसीको नहीं छोड़ते हैं । वे पिता और भाइयोंके साथ भी मर्यादा[1]शून्य होकर युद्ध करते हैं ॥ ५ ॥

रणे भारत पार्थेन द्रोणो विद्धस्त्रिभिः शरैः ।
नाचिन्तयच्च तान् बाणान् पार्थचापच्युतान् युधि ॥६॥

भारत ! उस रणक्षेत्रमें अर्जुनने द्रोणाचार्यको तीन बाणोंसे घायल किया; परंतु अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंको युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यने कुछ भी नहीं समझा ॥

शरवृष्ट्या पुनः पार्थश्छादयामास तं रणे ।
स प्रजज्वाल रोषेण गहनेऽग्निरिवोर्जितः ॥ ७ ॥

तब अर्जुनने समरभूमिमें अपने बाणोंकी वर्षासे पुनः द्रोणाचार्यको ढक दिया । यह देख वे रोषसे जल उठे, मानो वनमें दावानल प्रज्वलित हो उठा हो ॥ ७ ॥

ततोऽर्जुनं रणे द्रोणः शरैः संनतपर्वभिः ।
छादयामास राजेन्द्र नचिरादेव भारत ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! राजेन्द्र ! तब द्रोणाचार्यने युद्धमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे अर्जुनको शीघ्र ही आच्छादित कर दिया ॥

ततो दुर्योधनो राजा सुशर्माणमचोदयत् ।
द्रोणस्य समरे राजन् पार्ष्णिग्रहणकारणात् ॥ ९ ॥

राजन् ! तब राजा दुर्योधनने सुशर्माको समरभूमिमें द्रोणाचार्यके पृष्ठभागकी रक्षाके लिये प्रेरित किया ॥ ९ ॥

त्रिगर्तराडपि क्रुद्धो भृशमायम्य कार्मुकम् ।
छादयामास समरे पार्थं बाणैरयोमुखैः ॥ १० ॥

उसकी आज्ञा पाकर त्रिगर्तराज सुशर्माने भी समरमें

---

१. यहाँपर 'मर्यादा' शब्द सम्बन्धकी मर्यादाके लिये प्रयुक्त हुआ है ।

क्रोधपूर्वक धनुषको अत्यन्त खींचकर लोहमुख बाणोंके द्वारा अर्जुनको ढक दिया ॥ १० ॥

ताभ्यां मुक्ताः शरा राजन्नन्तरिक्षे विरेजिरे ।
हंसा इव महाराज शरत्काले नभस्तले ॥ ११ ॥

महाराज ! जैसे शरद् ऋतुके आकाशमें हंस उड़ते दिखायी देते हैं, उसी प्रकार उन दोनोंके छोड़े हुए बाण आकाशमें सुशोभित हो रहे थे ॥ ११ ॥

ते शराः प्राप्य कौन्तेयं समन्ताद् विविशुः प्रभो ।
फलभारनतं यद्वत् स्वादुवृक्षं विहङ्गमाः ॥ १२ ॥

प्रभो ! वे बाण सब ओरसे कुन्तीकुमार अर्जुनके ऊपर पड़कर उनके शरीरमें धँसने लगे, मानो फलोंके भारसे झुके स्वादिष्ट वृक्षपर चारों ओरसे पक्षी टूटे पड़ते हों ॥ १२ ॥

अर्जुनस्तु रणे नादं विनद्य रथिनां वरः ।
त्रिगर्तराजं समरे सपुत्रं विव्यधे शरैः ॥ १३ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने सिंहनाद करके समराङ्गणमें पुत्रसहित त्रिगर्तराज सुशर्माको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ॥

ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ।
पार्थमेवाभ्यवर्तन्त मरणे कृतनिश्चयाः ॥ १४ ॥

जैसे प्रलयकालमें साक्षात् काल सबको मार डालता है, उसी प्रकार अर्जुनकी मार खाकर त्रिगर्तदेशीय सैनिक मरनेका निश्चय करके पुनः उन्हींपर टूट पड़े ॥ १४ ॥

मुमुचुः शरवृष्टिं च पाण्डवस्य रथं प्रति ।
शरवृष्टिं ततस्तां तु शरवर्षैः समन्ततः ॥ १५ ॥
प्रतिजग्राह राजेन्द्र तोयवृष्टिमिवाचलः ।

उन्होंने पाण्डुनन्दन अर्जुनके रथपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी । राजेन्द्र ! अर्जुनने सब ओरसे होनेवाली उस बाण-वर्षाको उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे पर्वत जलकी वर्षाको धारण करता है ॥ १५½ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम बीभत्सोर्हस्तलाघवम् ॥ १६ ॥
विमुक्तां बहुभिर्योधैः शस्त्रवृष्टिं दुरासदाम् ।
यदेको वारयामास मारुतोऽभ्रगणानिव ॥ १७ ॥

उस युद्धमें हमने अर्जुनके हाथोंकी अद्भुत फुर्ती देखी, जैसे हवा बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार बहुत-से योद्धाओंद्वारा की हुई उस दुःसह बाण-वर्षाका उन्होंने अकेले ही निवारण कर दिया ॥ १६-१७ ॥

कर्मणा तेन पार्थस्य तुतुषुर्देवदानवाः ।
अथ क्रुद्धो रणे पार्थस्त्रिगर्तान् प्रति भारत ॥ १८ ॥
मुमोचास्त्रं महाराज वायव्यं पृतनामुखे ।
प्रादुरासीत् ततो वायुः क्षोभयाणो नभस्तलम् ॥ १९ ॥
पातयन् वै तरुगणान् विनिघ्नंश्चैव सैनिकान् ।

महाराज ! अर्जुनके उस पराक्रमसे देवता और दानव सभी संतुष्ट हुए । भारत ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने युद्धके मुहानेपर त्रिगर्त-सेनाओंको लक्ष्य करके वायव्यास्त्रका प्रयोग किया; फिर तो आकाशको विक्षुब्ध कर देनेवाली वायु प्रकट हुई, जो वृक्षोंको गिराने और सैनिकोंको नष्ट करने लगी ॥ १८-१९½ ॥

ततो द्रोणोऽभिवीक्ष्यैव वायव्यास्त्रं सुदारुणम् ॥ २० ॥
शैलमन्यन्महाराज घोरमस्त्रं मुमोच ह ।

महाराज ! तदनन्तर द्रोणाचार्यने अत्यन्त भयंकर वायव्यास्त्रको देखकर उसका निवारण करनेके लिये भयानक पर्वतास्त्रका प्रयोग किया ॥ २०½ ॥

द्रोणेन युधि निर्मुक्ते तस्मिन्नस्त्रे नराधिप ॥ २१ ॥
प्रशशाम ततो वायुः प्रसन्नाश्च दिशो दश ।

नरेश्वर ! द्रोणाचार्यके द्वारा युद्धमें पर्वतास्त्रका प्रयोग होनेपर वायु शान्त और सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं ॥

ततः पाण्डुसुतो वीरस्त्रिगर्तस्य रथव्रजान् ॥ २२ ॥
निरुत्साहान् रणे चक्रे विमुखान् विपराक्रमान् ।

तब वीरवर पाण्डुपुत्र अर्जुनने त्रिगर्तराजके रथसमूहोंको उत्साहरहित एवं पराक्रमशून्य करके उन्हें युद्धसे विमुख कर दिया ॥ २२½ ॥

ततो दुर्योधनश्चैव कृपश्च रथिनां वरः ॥ २३ ॥
अश्वत्थामा तथा शल्यः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ बाह्लिकः सह बाह्लिकैः ॥ २४ ॥
महता रथवंशेन पार्थस्यावारयन् दिशः ।

तब रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य, दुर्योधन, अश्वत्थामा, शल्य, काम्बोजराज सुदक्षिण, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द तथा बाह्लीकदेशीय सैनिकोंके साथ राजा बाह्लीक इन सबने रथियोंकी विशाल सेना साथ लेकर उसके द्वारा पार्थकी सम्पूर्ण दिशाओंको अर्थात् उनके सभी मार्गोंको रोक दिया ॥

तथैव भगदत्तश्च श्रुतायुश्च महाबलः ॥ २५ ॥
गजानीकेन भीमस्य ताववारयतां दिशः ।

उसी प्रकार भगदत्त तथा महाबली श्रुतायुने हाथियोंकी सेनाद्वारा भीमसेनकी सम्पूर्ण दिशाओंको रोक लिया ॥ २५½ ॥

भूरिश्रवाः शलश्चैव सौबलश्च विशाम्पते ॥ २६ ॥
शरौघैर्विमलैस्तीक्ष्णैर्माद्रीपुत्राववारयन् ।

प्रजानाथ ! भूरिश्रवा, शल और शकुनिने तीखे और चमकीले बाण-समूहोंकी वर्षा करके माद्रीकुमार नकुल और सहदेवको रोका ॥ २६½ ॥

भीष्मस्तु संहतः संख्ये धार्तराष्ट्रैः ससैनिकैः ॥ २७ ॥
युधिष्ठिरं समासाद्य सर्वतः पर्यवारयत् ।

भीष्मने सैनिकोंसहित आपके पुत्रोंके साथ संगठित होकर युद्धमें राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उन्हें सब ओरसे घेर लिया ॥ २७½ ॥

आपतन्तं गजानीकं दृष्ट्वा पार्थो वृकोदरः ॥ २८ ॥
लेलिहन् सृक्किणी वीरो मृगराडिव कानने ।

हाथियोंकी सेनाको आते देख वीर कुन्तीकुमार भीमसेन जैसे वनमें सिंह अपने जबड़ोंको चाटता है, उसी प्रकार मुँहके दोनों कोनोंको चाटने लगे ॥ २८½ ॥

भीमस्तु रथिनां श्रेष्ठो गदां गृह्य महाहवे ॥ २९ ॥
अवप्लुत्य रथात् तूर्णं तव सैन्यान्यभीषयत् ।

तत्पश्चात् उस महासमरमें रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन गदा लेकर तुरंत रथसे कूद पड़े और आपकी सेनाओंको भयभीत करने लगे ॥ २९½ ॥

तमुद्वीक्ष्य गदाहस्तं ततस्ते गजसादिनः ॥ ३० ॥
परिवव्रू रणे यत्ता भीमसेनं समन्ततः ।

गदा हाथमें लिये हुए भीमसेनको देखकर उन गजारोही सैनिकोंने उन्हें यत्नपूर्वक चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३०½ ॥

गजमध्यमनुप्राप्तः पाण्डवः स व्यराजत ॥ ३१ ॥
मेघजालस्य महतो यथा मध्यगतो रविः ।

उस गजसेनाके बीचमें पड़े हुए पाण्डुनन्दन भीमसेन महान् मेघ-समूहके मध्यमें स्थित हुए सूर्यके समान प्रकाशित होने लगे ॥ ३१½ ॥

व्यधमत् स गजानीकं गदया पाण्डवर्षभः ॥ ३२ ॥
महाभ्रजालमतुलं मातरिश्वेव संततम् ।

पाण्डवश्रेष्ठ भीमसेनने अपनी गदाकी चोटसे सारी गज-सेनाको उसी प्रकार नष्ट कर दिया, जैसे वायु महान् मेघोंकी सब ओर फैली हुई अनुपम घटाको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥

ते वध्यमाना बलिना भीमसेनेन दन्तिनः ॥ ३३ ॥
आर्तनादं रणे चक्रुर्गर्जन्तो जलदा इव ।

महाबली भीमसेनकी गदासे आहत हुए दन्तार हाथी युद्ध-स्थलमें गरजते हुए मेघोंके समान आर्तनाद करने लगे ॥

बहुधा दारितश्चैव विषाणैस्तत्र दन्तिभिः ॥ ३४ ॥
फुल्लाशोकनिभः पार्थः शुशुभे रणमूर्धनि ।

हाथियोंके दाँतोंसे अनेक बार विदीर्ण हुए भीमसेन युद्धके मुहानेपर खिले हुए अशोकके समान शोभा पा रहे थे ॥

विषाणे दन्तिनं गृह्य निर्विषाणमथाकरोत् ॥ ३५ ॥
विषाणेन च तेनैव कुम्भेऽभ्याहत्य दन्तिनम् ।
पातयामास समरे दण्डहस्त इवान्तकः ॥ ३६ ॥

उन्होंने किसी दन्तार हाथीका दाँत पकड़कर उखाड़ लिया और उस हाथीको दन्तहीन बना दिया। फिर उसी दाँतके द्वारा उसके कुम्भस्थलमें प्रहार करके दण्डधारी यमराज-की भाँति समराङ्गणमें उसे मार गिराया ॥ ३५-३६ ॥

शोणिताक्तां गदां बिभ्रन्मेदोमज्जाकृतच्छविः ।
कृताभ्यङ्गः शोणितेन रुद्रवत् प्रत्यदृश्यत ॥ ३७ ॥

खूनसे रँगी हुई गदा लेकर मेदा और मज्जाके लेपसे अपनी शोभा बिगाड़कर रक्तका उबटन लगाये हुए भीमसेन भगवान् रुद्रके समान दिखायी दे रहे थे ॥ ३७ ॥

एवं ते वध्यमानाश्च हतशेषा महागजाः ।
प्राद्रवन्त दिशो राजन् विमृद्नन्तः स्वकं बलम् ॥ ३८ ॥

राजन्! इस प्रकार भीमसेनकी मार खाकर मरनेसे बचे हुए महान् गज अपनी ही सेनाको रौंदते हुए सम्पूर्ण दिशाओं-में भागने लगे ॥ ३८ ॥

द्रवद्भिस्तैर्महानागैः समन्ताद् भरतर्षभ ।
दुर्योधनबलं सर्वं पुनरासीत् पराङ्मुखम् ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ! सब ओर भागते हुए उन महान् गजराजोंके साथ ही दुर्योधनकी सारी सेना युद्धभूमिसे विमुख हो चली ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीमपराक्रमे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीमपराक्रमविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध और रक्तमयी रणनदीका वर्णन

संजय उवाच

मध्यन्दिने महाराज संग्रामः समपद्यत ।
लोकक्षयकरो रौद्रो भीष्मस्य सह सोमकैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! दोपहर होते-होते भीष्म-का सोमकोंके साथ लोकविनाशक भयंकर संग्राम होने लगा॥

गाङ्गेयो रथिनां श्रेष्ठः पाण्डवानामनीकिनीम् ।
व्यधमन्निशितैर्बाणैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मने सैकड़ों और हजारों तीखे बाणोंकी वर्षा करके पाण्डवोंकी विशाल सेनाको नष्ट करना आरम्भ किया ॥ २ ॥

सम्ममर्द च तत् सैन्यं पिता देवव्रतस्तव ।
धान्यानामिव लूनानां प्रकरं गोगणा इव ॥ ३ ॥

राजन्! जैसे बैलोंके समुदाय कटे हुए धानके बोझोंका मर्दन करते हैं, उसी प्रकार आपके ताऊ देवव्रतने उस सेनाको रौंद डाला ॥ ३ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च विराटो द्रुपदस्तथा।
भीष्ममासाद्य समरे शरैर्जघ्नुर्महारथम् ॥ ४ ॥

तब धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, विराट और द्रुपदने समरभूमिमें महारथी भीष्मके पास पहुँचकर उन्हें बाणोंसे घायल करना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

धृष्टद्युम्नं ततो विद्ध्वा विराटं च शरैस्त्रिभिः।
द्रुपदस्य च नाराचं प्रेषयामास भारत ॥ ५ ॥

भारत! तदनन्तर भीष्मने विराट और धृष्टद्युम्नको तीन बाणोंसे घायल करके द्रुपदपर नाराचका प्रहार किया ॥ ५ ॥

तेन विद्धा महेष्वासा भीष्मेणामित्रकर्षिणा।
चुक्रुधुः समरे राजन् पादस्पृष्टा इवोरगाः ॥ ६ ॥

राजन्! शत्रुसूदन भीष्मके द्वारा घायल हुए वे महाधनुर्धर वीर पैरोंसे कुचले हुए सर्पोंकी भाँति समराङ्गणमें अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ६ ॥

शिखण्डी तं च विव्याध भरतानां पितामहम्।
स्त्रीमयं मनसा ध्यात्वा नास्मै प्राहरदच्युतः॥ ७ ॥

शिखण्डीने भरतवंशियोंके पितामह भीष्मको बींध डाला; परंतु मन-ही-मन उसे स्त्रीरूप मानकर अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले भीष्मने उसपर प्रहार नहीं किया ॥ ७ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु समरे क्रोधेनाग्निरिव ज्वलन्।
पितामहं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ८ ॥

धृष्टद्युम्न रणक्षेत्रमें क्रोधसे अग्निकी भाँति जल उठे। उन्होंने तीन बाणोंसे पितामह भीष्मको उनकी छाती और भुजाओंमें चोट पहुँचायी ॥ ८ ॥

द्रुपदः पञ्चविंशत्या विराटो दशभिः शरैः।
शिखण्डी पञ्चविंशत्या भीष्मं विव्याध सायकैः॥ ९ ॥

द्रुपदने पचीस, विराटने दस और शिखण्डीने पचीस सायकोंद्वारा भीष्मको घायल कर दिया ॥ ९ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज शोणितौघपरिप्लुतः।
वसन्ते पुष्पशबलो रक्ताशोक इवाबभौ ॥ १० ॥

महाराज! उनके सायकोंसे अत्यन्त घायल होनेके कारण वे रक्तप्रवाहसे नहा उठे और वसन्त ऋतुमें पुष्पोंसे भरे हुए रक्ताशोककी भाँति शोभा पाने लगे ॥ १० ॥

तान् प्रत्यविध्यद् गाङ्गेयस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः।
द्रुपदस्य च भल्लेन धनुश्चिच्छेद मारिष ॥ ११ ॥

आर्य! उस समय गङ्गानन्दन भीष्मने उन सबको तीन-तीन सीधे जानेवाले बाणोंसे घायल कर दिया और एक भल्लके द्वारा द्रुपदका धनुष काट दिया ॥ ११ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय भीष्मं विव्याध पञ्चभिः।
सारथिं च त्रिभिर्बाणैः सुशितै रणमूर्धनि ॥ १२ ॥

तब उन्होंने दूसरा धनुष हाथमें लेकर युद्धके मुहानेपर पाँच तीखे बाणोंद्वारा भीष्मको और तीन बाणोंसे उनके सारथिको भी घायल कर दिया ॥ १२ ॥

तथा भीमो महाराज द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः।
केकया भ्रातरः पञ्च सात्यकिश्चैव सात्वतः ॥ १३ ॥
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं युधिष्ठिरपुरोगमाः।
रिरक्षिषन्तः पाञ्चाल्यं धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥ १४ ॥

महाराज! भीम, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाँचों भाई केकयराजकुमार, सात्वतवंशी सात्यकि, युधिष्ठिर आदि पाण्डव-सैनिक तथा धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चाल सैनिक द्रुपदकी रक्षाके लिये गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़े ॥ १३-१४ ॥

तथैव तावकाः सर्वे भीष्मरक्षार्थमुद्यताः।
प्रत्युद्ययुः पाण्डुसेनां सहसैन्या नराधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर! इसी प्रकार आपके समस्त सैनिक भीष्मकी रक्षाके लिये सेनासहित उद्यत हो पाण्डवसेनापर चढ़ आये ॥

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं तव तेषां च संकुलम्।
नराश्वरथनागानां यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ १६ ॥

तब वहाँ उन सबके पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथीसवारोंमें अत्यन्त भयंकर घमासान युद्ध होने लगा, जो यमराजके राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला था ॥ १६ ॥

रथी रथिनमासाद्य प्राहिणोद् यमसादनम्।
तथेतरान् समासाद्य नरनागाश्वसादिनः ॥ १७ ॥

रथीने रथीका सामना करके उसे यमलोक पहुँचा दिया। पैदल, हाथीसवार और घुड़सवारोंने भी एक दूसरेसे भिड़कर ऐसा ही किया ॥ १७ ॥

अनयन् परलोकाय शरैः संनतपर्वभिः।
शरैश्च विविधैर्घोरैस्तत्र तत्र विशाम्पते ॥ १८ ॥

प्रजानाथ! उस युद्धस्थलमें जहाँ-तहाँ सब योद्धा झुकी हुई गाँठवाले नाना प्रकारके भयंकर बाणोंद्वारा अपने विपक्षियोंको परलोकके अतिथि बनाने लगे ॥ १८ ॥

रथास्तु रथिभिर्हीना हतसारथयस्तथा।
विप्रद्रुताश्वाः समरे दिशो जग्मुः समन्ततः ॥ १९ ॥

कितने ही रथ रथियों और सारथियोंसे शून्य हो भागते हुए घोड़ोंके साथ सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर काट रहे थे ॥

मृद्नन्तस्ते नरान् राजन् हयांश्च सुबहून् रणे।
वातायमाना दृश्यन्ते गन्धर्वनगरोपमाः ॥ २० ॥

राजन्! वे रथ उस रणक्षेत्रमें आपके बहुत-से पैदल

मनुष्यों तथा घोड़ोंको कुचलते हुए हवाके समान तीव्र गतिसे भाग रहे थे और गन्धर्वनगरके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥

रथिनश्च रथैर्हीना वर्मिणस्तेजसा युताः ।
कुण्डलोष्णीषिणः सर्वे निष्काङ्गदविभूषणाः ॥ २१ ॥
देवपुत्रसमाः सर्वे शौर्ये शक्रसमा युधि ।
ऋद्ध्या वैश्रवणं चाति नयेन च बृहस्पतिम् ॥ २२ ॥
सर्वलोकेश्वराः शूरास्तत्र तत्र विशाम्पते ।
विप्रद्रुता व्यदृश्यन्त प्राकृता इव मानवाः ॥ २३ ॥

प्रजानाथ ! कितने ही रथी रथोंसे हीन हो गये थे । वे कवच, कुण्डल और पगड़ी धारण किये बड़े तेजस्वी दिखायी देते थे । उन सबने कण्ठमें स्वर्णमय पदक और भुजाओंमें बाजूबंद धारण कर रक्खे थे । वे देखनेमें देवकुमारोंके समान सुन्दर और युद्धमें इन्द्रके समान शौर्यसम्पन्न थे । वे समृद्धिमें कुबेर और नीतिज्ञतामें बृहस्पतिजीसे भी बढ़कर थे । ऐसे सर्वलोकेश्वर शूरवीर भी रथहीन हो गँवार मनुष्योंकी भाँति जहाँ-तहाँ भागते दिखायी देते थे ॥ २१–२३ ॥

दन्तिनश्च नरश्रेष्ठ हीनाः परमसादिभिः ।
मृद्नन्तः स्वान्यनीकानि निपेतुः सर्वशब्दगाः ॥ २४ ॥

नरश्रेष्ठ ! कितने ही दन्तार हाथी अपने श्रेष्ठ सवारोंसे रहित हो अपनी ही सेनाको कुचलते हुए प्रत्येक शब्दके पीछे दौड़ते थे ॥ २४ ॥

चर्मभिश्चामरैश्चित्रैः पताकाभिश्च मारिष ।
छत्रैः सितैर्हेमदण्डैश्चामरैश्च समन्ततः ॥ २५ ॥
विशीर्णैर्विप्रधावन्तो दृश्यन्ते स्म दिशो दश ।
नवमेघप्रतीकाशा जलदोपमनिःस्वनाः ॥ २६ ॥

माननीय महाराज ! ढाल, विचित्र चँवर, पताका, श्वेत छत्र, सुवर्णदण्डभूषित चामर—ये चारों ओर बिखरे पड़े थे और (इन्हींके ऊपरसे) नूतन मेघोंकी घटाके सदृश हाथी मेघों-के समान भयंकर गर्जना करते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ते दिखायी देते थे ॥ २५-२६ ॥

तथैव दन्तिभिर्हीना गजारोहा विशाम्पते ।
प्रधावन्तोऽन्वदृश्यन्त तव तेषां च संकुले ॥ २७ ॥

प्रजानाथ ! इसी प्रकार हाथियोंसे रहित हाथीसवार भी आपके और पाण्डवोंके भयानक युद्धमें इधर-उधर दौड़ते दिखायी देते थे ॥ २७ ॥

नानादेशसमुत्थांश्च तुरगान् हेमभूषितान् ।
वातायमानानद्राक्षं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २८ ॥

अनेक देशोंमें उत्पन्न, सुवर्णभूषित और वायुके समान वेगशाली सैकड़ों और हजारों घोड़ोंको हमने रणभूमिसे भागते देखा है ॥ २८ ॥

अश्वारोहान् हतैरश्वैर्गृहीतासीन् समन्ततः ।
द्रवमाणानपश्याम द्राव्यमाणांश्च संयुगे ॥ २९ ॥

हमने युद्धमें बहुत-से घुड़सवारोंको देखा, जो घोड़ोंके मारे जानेपर हाथमें तलवार लिये सब ओर भागते और शत्रुओंद्वारा खदेड़े जाते थे ॥ २९ ॥

गजो गजं समासाद्य द्रवमाणं महाहवे ।
ययौ प्रमृद्य तरसा पादातान् वाजिनस्तथा ॥ ३० ॥

उस महायुद्धमें एक हाथी भागते हुए दूसरे हाथीके पास पहुँचकर अपने वेगसे बहुतेरे पैदल सिपाहियों तथा घोड़ोंको कुचलता हुआ उसका अनुसरण करता था ॥ ३० ॥

तथैव च रथान् राजन् प्रममर्द रणे गजः ।
रथश्चैव समासाद्य पतितांस्तुरगान् भुवि ॥ ३१ ॥

राजन् ! इसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें एक हाथी बहुत-से रथोंको रौंद डालता था और रथ पृथ्वीपर पड़े हुए घोड़ोंको कुचलकर भागते जाते थे ॥ ३१ ॥

व्यमृद्नन् समरे राजंस्तुरगाश्च नरान् रणे ।
एवं ते बहुधा राजन् प्रत्यमृद्नन् परस्परम् ॥ ३२ ॥

नरेश्वर ! समराङ्गणमें बहुत-से घोड़ोंने पैदल मनुष्योंको कुचल दिया । राजन् ! इस प्रकार वे सैनिक अनेक बार एक दूसरेको कुचलते रहे ॥ ३२ ॥

तस्मिन् रौद्रे तथा युद्धे वर्तमाने महाभये ।
प्रावर्तत नदी घोरा शोणितान्त्रतरङ्गिणी ॥ ३३ ॥

उस महाभयंकर घोर युद्धमें रक्त, आँत और तरंगोंसे युक्त एक भयानक नदी बह चली ॥ ३३ ॥

अस्थिसंघातसम्बाधा केशशैवलशाद्वला ।
रथह्रदा शरावर्ता हयमीना दुरासदा ॥ ३४ ॥

वह हड्डियोंके समूहरूपी शिलाखण्डोंसे भरी थी । केश ही उसमें सेवार और घासके समान जान पड़ते थे । रथ कुण्ड और बाण भँवरके समान प्रतीत होते थे । घोड़े ही उस दुर्गम नदीके मत्स्य थे ॥ ३४ ॥

शीर्षोपलसमाकीर्णा हस्तिग्राहसमाकुला ।
कवचोष्णीषफेनौघा धनुर्वेगासिकच्छपा ॥ ३५ ॥

कटे हुए मस्तक पत्थरोंके टुकड़ोंके समान बिखरे थे । हाथी ही उसमें विशाल ग्राहके समान जान पड़ते थे, कवच और पगड़ी फेनराशिके समान थे, धनुष ही उसका वेगयुक्त प्रवाह और खड्ग ही वहाँ कच्छपके समान प्रतीत होते थे ॥ ३५ ॥

पताकाध्वजवृक्षाढ्या मर्त्यकूलापहारिणी ।
क्रव्यादहंससंकीर्णा यमराष्ट्रविवर्धनी ॥ ३६ ॥

पताका और ध्वजाएँ किनारेके वृक्षोंके समान जान पड़ती थीं । मनुष्योंकी लाशें ही उसके कगारें थीं, जिन्हें वह अपने वेगसे तोड़-तोड़कर बहा रही थी । मांसाहारी पक्षी ही उसके आस-पास हंसोंके समान भरे हुए थे । वह नदी यमके राज्यको बढ़ा रही थी ॥ ३६ ॥

तां नदीं क्षत्रियाः शूरा रथनागहयप्लवैः ।
प्रतेरुर्बहवो राजन् भयं त्यक्त्वा महारथाः ॥ ३७ ॥

राजन्! बहुत-से शूरवीर महारथी क्षत्रिय नौकाके समान घोड़े, रथ, हाथी आदिपर चढ़कर भयसे रहित हो उस नदीके पार जा रहे थे ॥ ३७ ॥

अपोवाह रणे भीरून् कश्मलेनाभिसंवृतान् ।
यथा वैतरणी प्रेतान् प्रेतराजपुरं प्रति ॥ ३८ ॥

जैसे वैतरणी नदी मरे हुए प्राणियोंको प्रेतराजके नगरमें पहुँचाती है, उसी प्रकार वह रक्तमयी नदी डरपोक और कायरोंको मूर्छित-से करके रणभूमिसे दूर हटाने लगी ॥ ३८ ॥

प्राक्रोशन् क्षत्रियास्तत्र दृष्ट्वा तद् वैशसं महत् ।
दुर्योधनापराधेन गच्छन्ति क्षत्रियाः क्षयम् ॥ ३९ ॥

वहाँ खड़े हुए क्षत्रिय वह अत्यन्त भयंकर मारकाट देखकर यह पुकार-पुकारकर कह रहे थे कि दुर्योधनके अपराधसे ही सारे क्षत्रिय विनाशको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ३९ ॥

गुणवत्सु कथं द्वेषं धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
कृतवान् पाण्डुपुत्रेषु पापात्मा लोभमोहितः ॥ ४० ॥

पापात्मा राजा धृतराष्ट्रने लोभसे मोहित होकर गुणवान् पाण्डवोंसे द्वेष क्यों किया? ॥ ४० ॥

एवं बहुविधा वाचः श्रूयन्ते स्म परस्परम् ।
पाण्डवस्तवसंयुक्ताः पुत्राणां ते सुदारुणाः ॥ ४१ ॥

महाराज! इस प्रकार वहाँ परस्पर कही हुई पाण्डवोंकी प्रशंसा तथा आपके पुत्रोंकी अत्यन्त भयंकर निन्दासे युक्त नाना प्रकारकी बातें सुनायी पड़ती थीं ॥ ४१ ॥

ता निशम्य ततो वाचः सर्वयोधैरुदाहृताः ।
आगस्कृत् सर्वलोकस्य पुत्रो दुर्योधनस्तव ॥ ४२ ॥

भीष्मं द्रोणं कृपं चैव शल्यं चोवाच भारत ।
युध्यध्वमनहंकाराः किं चिरं कुरुथेति च ॥ ४३ ॥

भारत! तव सम्पूर्ण योद्धाओंके मुखसे निकली हुई उन बातोंको सुनकर सम्पूर्ण लोकोंका अपराध करनेवाले आपके पुत्र दुर्योधनने भीष्म, द्रोण, कृप और शल्यसे कहा—'आपलोग अहंकार छोड़कर युद्ध करें; विलम्ब क्यों कर रहे हैं?' ॥ ४२-४३ ॥

ततः प्रववृते युद्धं कुरूणां पाण्डवैः सह ।
अक्षद्यूतकृतं राजन् सुघोरं वैशसं तदा ॥ ४४ ॥

राजन्! तदनन्तर कौरवोंका पाण्डवोंके साथ अत्यन्त भयंकर युद्ध होने लगा, जो कपटपूर्ण द्यूतके कारण सम्भव हुआ था और जिसमें बड़ी भारी मारकाट मच रही थी ॥

यत् पुरा न निगृह्णासि वार्यमाणो महात्मभिः ।
वैचित्रवीर्य तस्येदं फलं पश्य सुदारुणम् ॥ ४५ ॥

विचित्रवीर्यनन्दन महाराज धृतराष्ट्र! पूर्वकालमें महात्मा पुरुषोंके मना करनेपर भी जो आपने उनकी बातें नहीं मानीं, उसीका यह भयंकर फल प्राप्त हुआ है, इसे देखिये ॥ ४५ ॥

न हि पाण्डुसुता राजन् ससैन्याः सपदानुगाः ।
रक्षन्ति समरे प्राणान् कौरवा वापि संयुगे ॥ ४६ ॥

राजन्! सेना और सेवकोंसहित पाण्डव अथवा कौरव समरभूमिमें अपने प्राणोंकी रक्षा नहीं करते हैं—प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध कर रहे हैं ॥ ४६ ॥

एतस्मात् कारणाद् घोरो वर्तते स्वजनक्षयः ।
दैवाद् वा पुरुषव्याघ्र तव चापनयान्नृप ॥ ४७ ॥

पुरुषसिंह! नरेश्वर! इस कारणसे अथवा दैवकी प्रेरणासे या आपके ही अन्यायसे होनेवाले इस युद्धमें स्वजनोंका घोर संहार हो रहा है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घमासान युद्धविषयक एक सौ तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥१०३॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा त्रिगर्तोंकी पराजय, कौरव-पाण्डव सैनिकोंका घोर युद्ध, अभिमन्युसे चित्रसेनकी, द्रोणसे द्रुपदकी और भीमसेनसे बाह्लीककी पराजय तथा सात्यकि और भीष्मका युद्ध

संजय उवाच

अर्जुनस्तान् नरव्याघ्रः सुशर्मानुचरान् नृपान् ।
अनयत् प्रेतराजस्य सदनं सायकैः शितैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! पुरुषसिंह अर्जुन अपने तीखे बाणोंसे सुशर्माके अनुगामी नरेशोंको यमलोक भेजने लगे ॥ १ ॥

सुशर्मापि ततो बाणैः पार्थं विव्याध संयुगे ।
वासुदेवं च सप्तत्या पार्थं च नवभिः पुनः ॥ २ ॥

तब सुशर्माने भी युद्धस्थलमें अनेक बाणोंद्वारा कुन्तीकुमार अर्जुनको घायल कर दिया। फिर उसने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको सत्तर और अर्जुनको नौ बाण मारे ॥ २ ॥

तं निवार्य शरौघेण शक्रसूनुर्महारथः ।

सुशर्मणो रणे योद्धान् प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ ३ ॥

यह देख इन्द्रपुत्र महारथी अर्जुनने अपने बाणसमूहोंके द्वारा सुशर्माको रोककर रणक्षेत्रमें उसके योद्धाओंको यमलोक पहुँचाना आरम्भ किया ॥ ३ ॥

ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ।
व्यद्रवन्त रणे राजन् भये जाते महारथाः ॥ ४ ॥

राजन् ! जैसे युगान्तमें साक्षात् कालके द्वारा सारी प्रजा मारी जाती है, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें अर्जुनके द्वारा मारे जाते हुए सारे महारथी युद्धका मैदान छोड़कर भागने लगे ॥ ४ ॥

उत्सृज्य तुरगान् केचिद् रथान् केचिच्च मारिष ।
गजानन्ये समुत्सृज्य प्राद्रवन्त दिशो दश ॥ ५ ॥

आर्य ! कुछ लोग घोड़ोंको, कुछ दूसरे लोग रथोंको और इसी प्रकार कुछ लोग हाथियोंको छोड़कर दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ ५ ॥

अपरे तु तदाऽऽदाय वाजिनागरथान् रणे ।
त्वरया परया युक्ताः प्राद्रवन्त विशाम्पते ॥ ६ ॥
पादाताश्चापि शस्त्राणि समुत्सृज्य महारणे ।
निरपेक्षा व्यधावन्त तेन तेन स्म भारत ॥ ७ ॥

प्रजानाथ ! दूसरे लोग उस समय बड़ी उतावलीके साथ अपने हाथी, घोड़े एवं रथको साथ ले रणभूमिसे भाग निकले। भारत ! उस महायुद्धमें पैदल सिपाही भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंको फेंककर उनकी कोई अपेक्षा न रखकर जिधरसे राह मिली, उधरसे ही भागने लगे ॥ ६-७ ॥

वार्यमाणाः सुबहुशस्त्रैगर्तेन सुशर्मणा ।
तथान्यैः पार्थिवश्रेष्ठैर्न व्यतिष्ठन्त संयुगे ॥ ८ ॥

यद्यपि त्रिगर्तराज सुशर्मा तथा अन्य श्रेष्ठ नरेशोंने भी बारंबार रोकनेका प्रयत्न किया, तथापि वे सैनिक युद्धमें ठहर न सके ॥ ८ ॥

तद् बलं प्रद्रुतं दृष्ट्वा पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
पुरस्कृत्य रणे भीष्मं सर्वसैन्यपुरस्कृतः ॥ ९ ॥
सर्वोद्योगेन महता धनंजयमुपाद्रवत् ।
त्रिगर्ताधिपतेरर्थे जीवितस्य विशाम्पते ॥ १० ॥

उस सेनाको भागती देख आपके पुत्र दुर्योधनने रणभूमिमें भीष्मको आगे करके सम्पूर्ण सेनाओंके साथ महान् प्रयत्नपूर्वक धनंजयपर धावा किया। प्रजानाथ ! उसके आक्रमणका उद्देश्य था त्रिगर्तराजके जीवनकी रक्षा ॥ ९-१० ॥

स एकः समरे तस्थौ किरन् बहुविधाञ्शरान् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः शेषा हि प्रद्रुता नराः ॥ ११ ॥

केवल दुर्योधन ही अपने समस्त भाइयोंके साथ नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करता हुआ समरभूमिमें खड़ा रहा। शेष सब मनुष्य भाग गये ॥ ११ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् सर्वोद्योगेन दंशिताः ।
प्रययुः फाल्गुनार्थाय यत्र भीष्मो व्यतिष्ठत ॥ १२ ॥

राजन् ! उसी प्रकार पाण्डव भी कवच बाँधकर सम्पूर्ण उद्योगके साथ अर्जुनकी रक्षाके लिये उसी स्थानपर गये, जहाँ भीष्म स्थित थे ॥ १२ ॥

ज्ञायमाना रणे वीर्यं घोरं गाण्डीवधन्वनः ।
हाहाकारकृतोत्साहा भीष्मं जग्मुः समन्ततः ॥ १३ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनके भयंकर पराक्रमको जाननेके कारण वे लोग उत्साहके साथ कोलाहल और सिंहनाद करते हुए सब ओरसे भीष्मपर आक्रमण करने लगे ॥ १३ ॥

ततस्तालध्वजः शूरः पाण्डवानां वरूथिनीम् ।
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ॥ १४ ॥

तदनन्तर तालचिह्नित ध्वजावाले शूरवीर भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे युद्धमें पाण्डवसेनाको आच्छादित कर दिया ॥ १४ ॥

एकीभूतास्ततः सर्वे कुरवः सह पाण्डवैः ।
अयुध्यन्त महाराज मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥ १५ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् समस्त कौरव एकत्र संगठित होकर दोपहर होते-होते पाण्डवोंके साथ घोर युद्ध करने लगे ॥ १५ ॥

सात्यकिः कृतवर्माणं विद्ध्वा पञ्चभिराशुगैः ।
अतिष्ठदाहवे शूरः किरन् बाणान् सहस्रशः ॥ १६ ॥

शूरवीर सात्यकि कृतवर्माको पाँच बाणोंसे घायल करके समरभूमिमें सहस्रों बाणोंकी वर्षा करते हुए खड़े रहे ॥१६॥

तथैव द्रुपदो राजा द्रोणं विद्ध्वा शितैः शरैः ।
पुनर्विव्याध सप्तत्या सारथिं चास्य पञ्चभिः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार राजा द्रुपदने द्रोणाचार्यको तीखे बाणोंसे एक बार घायल करके सत्तर बाणोंद्वारा पुनः घायल किया और पाँच बाणोंसे उनके सारथिको भी भारी चोट पहुँचायी ॥

भीमसेनस्तु राजानं बाह्लीकं प्रपितामहम् ।
विद्ध्वा नदन्महानादं शार्दूल इव कानने ॥ १८ ॥

भीमसेनने अपने प्रपितामह राजा बाह्लीकको बाणोंद्वारा घायल करके वनमें सिंहके समान बड़े जोरसे गर्जना की ॥१८॥

आर्जुनिश्चित्रसेनेन विद्धो बहुभिराशुगैः ।
अतिष्ठदाहवे शूरः किरन् बाणान् सहस्रशः ॥ १९ ॥

अर्जुनकुमार अभिमन्युको चित्रसेनने बहुत-से बाणोंद्वारा घायल कर दिया था, तो भी शूरवीर अभिमन्यु सहस्रों बाणोंकी वर्षा करता हुआ युद्धभूमिमें डटा रहा ॥ १९ ॥

चित्रसेनं त्रिभिर्बाणैर्विव्याध समरे भृशम् ।
समागतौ तौ तु रणे महामात्रौ व्यरोचताम् ॥ २० ॥

यथा दिवि महाघोरौ राजन् बुधशनैश्चरौ ।

उसने तीन बाणोंसे समराङ्गणमें चित्रसेनको अत्यन्त घायल कर दिया। राजन्! जैसे आकाशमें दो महाघोर ग्रह बुध और शनैश्चर सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार दो महान् वीर चित्रसेन और अभिमन्यु रणभूमिमें शोभा पा रहे थे।२०½।

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सूतं च नवभिः शरैः ॥ २१ ॥
ननाद बलवन्नादं सौभद्रः परवीरहा ।

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने चित्रसेनके चारों घोड़ोंको मारकर नौ बाणोंसे उसके सारथिको भी नष्ट कर दिया। तत्पश्चात् बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ २१½ ॥

हताश्वात्तु रथात् तूर्ण सोऽवप्लुत्य महारथः॥ २२ ॥
आरुरोह रथं तूर्णं दुर्मुखस्य विशाम्पते ।

प्रजानाथ! घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी चित्रसेन तुरंत ही रथसे कूद पड़े और दुर्मुखके रथपर आरूढ़ हो गये ॥२२½॥

द्रोणश्च द्रुपदं भित्त्वा शरैः संनतपर्वभिः ॥ २३ ॥
सारथिं चास्य विव्याध त्वरमाणः पराक्रमी ।

पराक्रमी द्रोणाचार्यने भी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे द्रुपदको घायल करके बड़ी उतावलीके साथ उनके सारथिको भी बींध डाला ॥ २३½॥

पीड्यमानस्ततो राजा द्रुपदो वाहिनीमुखे ॥ २४ ॥
अपायाज्जवनैरश्वैः पूर्ववैरमनुस्मरन् ।

इस प्रकार युद्धके मुहानेपर द्रोणाचार्यसे पीड़ित हो राजा द्रुपद पूर्व वैरका स्मरण करते हुए शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा वहाँसे भाग गये ॥ २४½ ॥

भीमसेनस्तु राजानं मुहूर्तादिव बाह्लिकम् ॥ २५ ॥
व्यश्वसूतरथं चक्रे सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

भीमसेनने दो ही घड़ीमें सारी सेनाके देखते-देखते राजा बाह्लीकको घोड़े, सारथि तथा रथसे शून्य कर दिया ॥२५½॥

ससम्भ्रमो महाराज संशयं परमं गतः ॥ २६ ॥
अवप्लुत्य ततो वाहाद् बाह्लीकः पुरुषोत्तमः ।
आरुरोह रथं तूर्णं लक्ष्मणस्य महारणे ॥ २७ ॥

महाराज! नरश्रेष्ठ बाह्लीक बड़ी घबराहटमें पड़ गये। उनका जीवन अत्यन्त संशयमें पड़ गया। उस अवस्थामें वे रथसे कूदकर शीघ्र ही उस महायुद्धमें लक्ष्मणके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ २६-२७ ॥

सात्यकिः कृतवर्माणं वारयित्वा महारणे ।
शरैर्बहुविधै राजन्नाससाद पितामहम् ॥ २८ ॥

राजन्! दूसरी ओर उस महायुद्धमें सात्यकिने कृतवर्माको रोककर नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए पितामह भीष्मपर धावा किया ॥ २८ ॥

स विद्ध्वा भारतं षष्ट्या निशितैर्लोमवाहिभिः ।
नृत्यन्निव रथोपस्थे विधुन्वानो महद् धनुः ॥२९॥

उन्होंने अपने विशाल धनुषकी टंकार फैलाते तथा रथकी बैठकमें नृत्य करते हुए-से पंखयुक्त साठ तीखे बाणोंद्वारा भरतवंशी पितामह भीष्मको घायल कर दिया ॥ २९ ॥

तस्यायसीं महाशक्तिं चिक्षेपाथ पितामहः ।
हेमचित्रां महावेगां नागकन्योपमां शुभाम् ॥ ३० ॥

पितामहने सात्यकिपर लोहेकी बनी हुई एक विशाल शक्ति चलायी, जो सुवर्णजटित, अत्यन्त वेगशालिनी तथा सर्पिणीके समान आकारवाली एवं सुन्दर थी ॥ ३० ॥

तामापतन्तीं सहसा मृत्युकल्पां सुदुर्जयाम्।
व्यंसयामास वार्ष्णेयो लाघवेन महायशाः ॥ ३१ ॥

उस अत्यन्त दुर्जय मृत्युस्वरूपा शक्तिको सहसा आती देख महायशस्वी सात्यकिने अपनी फुर्तीके कारण उसको असफल कर दिया ॥ ३१ ॥

अनासाद्य तु वार्ष्णेयं शक्तिः परमदारुणा ।
न्यपतद् धरणीपृष्ठे महोल्केव महाप्रभा ॥ ३२ ॥

वह परम भयंकर शक्ति सात्यकितक न पहुँचकर अत्यन्त तेजस्विनी बड़ी भारी उल्काके समान पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥३२॥

वार्ष्णेयस्तु ततो राजन्
स्वां शक्तिं कनकप्रभाम् ।
वेगवद् गृह्य चिक्षेप
पितामहरथं प्रति ॥ ३३ ॥

राजन्! तब सात्यकिने भी अपनी सुनहरी प्रभावाली शक्ति लेकर उसे भीष्मके रथपर बड़े वेगसे चलाया ॥ ३३ ॥

वार्ष्णेयभुजवेगेन प्रणुन्ना सा महाहवे ।
अभिदुद्राव वेगेन कालरात्रिर्यथा नरम् ॥ ३४ ॥

उस महासमरमें सात्यकिकी भुजाओंके वेगसे चलायी हुई वह शक्ति अत्यन्त वेगपूर्वक भीष्मकी ओर चली, मानो कालरात्रि मनुष्यकी ओर जा रही हो ॥ ३४ ॥

तामापतन्तीं सहसा द्विधा चिच्छेद भारतः ।
क्षुरप्राभ्यां सुतीक्ष्णाभ्यां सा व्यशीर्यत मेदिनीम्॥ ३५॥

परंतु भरतवंशी भीष्मने अपने अत्यन्त तीखे दो क्षुरप्रोंसे उस सहसा आती हुई शक्तिको दो जगहसे काट दिया। वह छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३५ ॥

छित्त्वा शक्तिं तु गाङ्गेयः सात्यकिं नवभिः शरैः ।
आजघानोरसि क्रुद्धः प्रहसञ्छत्रुकर्शनः॥ ३६ ॥

शक्तिको काटकर हँसते हुए शत्रुसूदन गङ्गानन्दन भीष्मने कुपित हो सात्यकिकी छातीमें नौ बाण मारे ॥३६॥

ततः सरथनागाश्वाः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
परिवव्रू रणे भीष्मं माधवत्राणकारणात् ॥ ३७ ॥

पाण्डुके बड़े भाई महाराज धृतराष्ट्र ! उस समय मधुवंशी सात्यकिको बचानेके लिये पाण्डवोंने रथ, घोड़े और हाथियों- की सेनाके साथ आकर युद्धभूमिमें भीष्मको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३७ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पाण्डवानां कुरूणां च समरे विजयैषिणाम् ॥ ३८ ॥

तत्पश्चात् युद्धमें विजयकी अभिलाषा रखनेवाले कौरवों तथा पाण्डवोंमें परस्पर घोर युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि वार्ष्णेययुद्धे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सात्यकिका युद्धविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०४॥

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका दुःशासनको भीष्मकी रक्षाके लिये आदेश, युधिष्ठिर और नकुल-सहदेवके द्वारा शकुनिकी घुड़सवार-सेनाकी पराजय तथा शल्यके साथ उन सबका युद्ध

संजय उवाच

दृष्ट्वा भीष्मं रणे क्रुद्धं पाण्डवैरभिसंवृतम् ।
यथा मेघैर्महाराज तपान्ते दिवि भास्करम् ॥ १ ॥
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमभाषत ।

संजय कहते हैं—महाराज ! ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें (वर्षारम्भ होनेपर) जैसे मेघ आकाशमें सूर्यदेवको ढक लेते हैं, उसी प्रकार पाण्डवोंने युद्धभूमिमें क्रुद्ध हुए भीष्म- को सब ओरसे घेर लिया है । यह देखकर आपके पुत्र दुर्योधनने दुःशासनसे कहा— ॥ १½ ॥

एष शूरो महेष्वासो भीष्मः शूरनिषूदनः ॥ २ ॥
छादितः पाण्डवैः शूरैः समन्ताद् भरतर्षभ ।

'भरतश्रेष्ठ ! ये शूरवीरोंका नाश करनेवाले महाधनुर्धर शौर्यसम्पन्न भीष्म पराक्रमी पाण्डवोंद्वारा चारों ओरसे घेर लिये गये हैं ॥ २½ ॥

तस्य कार्यं त्वया वीर रक्षणं सुमहात्मनः ॥ ३ ॥
रक्ष्यमाणो हि समरे भीष्मोऽस्माकं पितामहः ।
निहन्यात् समरे यत्तान् पञ्चालान् पाण्डवैः सह ॥४॥

'वीर ! तुम्हें उन महात्मा भीष्मकी रक्षा करनी चाहिये । युद्धमें सुरक्षित रहनेपर हमारे पितामह भीष्म समराङ्गणमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले पाण्डवोंसहित पाञ्चालोंका संहार कर डालेंगे ॥ ३–४ ॥

तत्र कार्यतमं मन्ये भीष्मस्यैवाभिरक्षणम् ।
गोप्ता ह्येष महेष्वासो भीष्मोऽस्माकं महाव्रतः ॥ ५ ॥

'अतः इस अवसरपर मैं भीष्मजीकी रक्षाको ही प्रधान कार्य समझता हूँ; क्योंकि ये महाव्रती महाधनुर्धर भीष्म हमलोगोंके रक्षक हैं ॥ ५ ॥

स भवान् सर्वसैन्येन परिवार्य पितामहम् ।
समरे कर्म कुर्वाणं दुष्करं परिरक्षतु ॥ ६ ॥

'अतः तुम सम्पूर्ण सेनाके साथ समरभूमिमें दुष्कर कर्म करनेवाले पितामह भीष्मको चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करो' ॥ ६ ॥

स एवमुक्तः समरे पुत्रो दुःशासनस्तव ।
परिवार्य स्थितो भीष्मं सैन्येन महता वृतः ॥ ७ ॥
(पालयामास महता यत्नेन च सुसंयतः ।)

दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपका पुत्र दुःशासन समर- भूमिमें अपनी विशाल सेनाके साथ जा भीष्मको सब ओरसे घेरकर खड़ा हो गया और बड़े यत्नसे सावधान रहकर उनकी रक्षा करने लगा ॥ ७ ॥

ततः शतसहस्राणां हयानां सुबलात्मजः ।
विमलप्रासहस्तानामृष्टितोमरधारिणाम् ॥ ८ ॥
दर्पितानां सुवेशानां बलस्थानां पताकिनाम् ।
शिक्षितैर्युद्धकुशलैरुपेतानां नरोत्तमैः ॥ ९ ॥

तदनन्तर सुबलपुत्र शकुनि एक लाख घुड़सवारोंकी सेनाके साथ युद्धके लिये आ पहुँचा । वे सभी सैनिक अपने हाथोंमें चमकते हुए प्रास, ऋष्टि और तोमर लिये हुए थे । सबको अपने शौर्यका अभिमान था । सभी बलवान्, सुन्दर वेशभूषासे सुसज्जित और ध्वजा-पताकासे सुशोभित थे । अस्त्र-विद्याकी शिक्षा पाये हुए युद्धकुशल श्रेष्ठ पैदल सिपाहियोंकी भी बहुत बड़ी संख्या उन घुड़सवारोंके साथ थी ॥

(एवं बहुसहस्रैश्च योधानां युद्धशालिनाम् ।
संवृतः शकुनिस्तस्थौ युद्धायैव सुदंशितः ॥)

इस प्रकार युद्धभूमिमें शोभा पानेवाले कई हजार योद्धाओंसे घिरा हुआ शकुनि कवच धारण करके युद्धके लिये ही वहाँ खड़ा हो गया ॥

नकुलं सहदेवं च धर्मराजं च पाण्डवम् ।
न्यवारयन्नरश्रेष्ठान् परिवार्य समन्ततः ॥ १० ॥

राजन्! शकुनि नकुल, सहदेव तथा धर्मराज युधिष्ठिर—इन तीनों श्रेष्ठ पुरुषोंको सब ओरसे घेरकर इन्हें आगे बढ़नेसे रोकने लगा ॥ १० ॥

ततो दुर्योधनो राजा शूराणां हयसादिनाम्।
अयुतं प्रेषयामास पाण्डवानां निवारणे ॥ ११ ॥

तदनन्तर राजा दुर्योधनने पाण्डवोंकी प्रगतिको रोकनेके लिये दस हजार घुड़सवार सैनिक और भेजे ॥ ११ ॥

तैः प्रविष्टैर्महावेगैर्गरुत्मद्भिरिवाहवे ।
(शुशुभे स महातेजाः शकुनिः सुबलात्मजः।
तैरश्वैः सुमहावेगैर्मरुद्भिरिव वासवः ॥)

गरुड़के समान अत्यन्त वेगशाली वे अश्व रणभूमिमें यथास्थान पहुँच गये। जैसे मरुद्गणोंसे महातेजस्वी इन्द्रकी शोभा होती है, उसी प्रकार उन अत्यन्त वेगशाली अश्वोंके द्वारा अत्यन्त तेजस्वी सुबलपुत्र शकुनि सुशोभित होने लगा॥

खुराहता धरा राजंश्चकम्पे च ननाद च ॥ १२ ॥

राजन्! उन घोड़ोंकी टापसे आहत होकर यह पृथ्वी काँपने और भयंकर शब्द करने लगी ॥ १२ ॥

खुरशब्दश्च सुमहान् वाजिनां शुश्रुवे तदा।
महावंशवनस्येव दह्यमानस्य पर्वते ॥ १३ ॥

उस समय घोड़ोंकी टापोंका महान् शब्द सब ओर उसी प्रकार सुनायी देने लगा, मानो पर्वतपर जलते हुए बड़े-बड़े बाँसोंके जंगलमें उनके पोरोंके फटनेका शब्द हो रहा हो॥१३॥

उत्पतद्भिश्च तैस्तत्र समुद्भूतं महद् रजः।
दिवाकररथं प्राप्य छादयामास भास्करम् ॥ १४ ॥

वहाँ घोड़ोंके उछलने-कूदनेसे जो बड़े जोरकी धूलि ऊपरको उठी, उसने मानो सूर्यके रथके समीप पहुँचकर उन्हें आच्छादित कर दिया ॥ १४ ॥

वेगवद्भिर्हयैस्तैस्तु क्षोभिता पाण्डवी चमूः।
निपतद्भिर्महावेगैर्हंसैरिव महत् सरः ॥ १५ ॥

उन वेगशाली अश्वोंने पाण्डव-सेनाको उसी प्रकार क्षुब्ध कर दिया, जैसे महान् वेगसे उड़नेवाले हंस किसी विशाल जलाशयमें पड़कर उसे मथ डालते हैं ॥ १५ ॥

(तुरगैर्वायुवेगैश्च तत् सैन्यं व्याकुलीकृतम्।)
हेषतां चैव शब्देन न प्राज्ञायत किञ्चन।

वायुके समान वेगवाले उन अश्वोंने पाण्डव-सेनाको व्याकुल कर दिया। उनके हिनहिनानेकी आवाजसे दबकर दूसरा कोई शब्द नहीं सुनायी पड़ता था ॥ १५½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १६ ॥
प्रत्यघ्नंस्तरसा वेगं समरे हयसादिनाम्।
उद्वृत्तस्य महाराज प्रावृट्कालेऽतिपूर्यतः ॥ १७ ॥
पौर्णमास्यामम्बुवेगं यथा वेला महोदधेः।

महाराज! तब राजा युधिष्ठिर तथा पाण्डुपुत्र माद्रीनन्दन नकुल-सहदेवने समरभूमिमें उन घुड़सवारोंका वेग नष्ट कर दिया॥ ठीक उसी तरह, जैसे वर्षाऋतुमें अधिक जलसे परिपूर्ण होकर मर्यादा तोड़नेवाले समुद्रके पूर्णिमा तिथिमें बढ़े हुए वेगको तटकी भूमि रोक देती है॥ १६-१७½ ॥

ततस्ते रथिनो राजञ्छरैः संनतपर्वभिः ॥ १८ ॥
न्यकृन्तन्नुत्तमाङ्गानि कायेभ्यो हयसादिनाम्।

राजन्! तत्पश्चात् वे रथी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा घुड़सवारोंके मस्तक काटने लगे ॥ १८½ ॥

ते निपेतुर्महाराज निहता दृढधन्विभिः ॥ १९ ॥
नागैरिव महानागा यथावद् गिरिगह्वरे ।

महाराज! उन सुदृढ़ धनुर्धरोंद्वारा मारे गये वे घुड़सवार रणभूमिमें उसी प्रकार गिरते थे, जैसे पर्वतोंकी कन्दरामें बड़े-बड़े हाथी हाथियोंसे ही मारे जाकर गिरते हैं ॥ १९½ ॥

तेऽपि प्रासैः सुनिशितैः शरैः संनतपर्वभिः ॥ २० ॥
न्यकृन्तन्नुत्तमाङ्गानि विचरन्तो दिशो दश।

वे घुड़सवार भी दसों दिशाओंमें विचरते हुए झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणों तथा प्रासोंद्वारा शत्रुपक्षके सैनिकोंके मस्तक काट गिराते थे ॥ २०½ ॥

अभ्याहता हयारोहा ऋष्टिभिर्भरतर्षभ ॥ २१ ॥
अत्यजन्नुत्तमाङ्गानि फलानीव महाद्रुमाः ।

भरतश्रेष्ठ ! ऋष्टियोंद्वारा मारे गये घुड़सवार अपने मस्तकोंको उसी प्रकार गिराते थे, जैसे बड़े-बड़े वृक्ष अपने पके हुए फलोंको गिराते हैं ॥ २१½ ॥

ससादिनो हया राजंस्तत्र तत्र निषूदिताः ॥ २२ ॥
पतिताः पात्यमानाश्च प्रत्यदृश्यन्त सर्वशः ।

राजन्! सवारोंसहित वहाँ मारे गये बहुत-से घोड़े सब ओर गिरे और गिराये जाते हुए दिखायी देते थे ॥ २२½ ॥

वध्यमाना हयाश्चैव प्राद्रवन्त भयार्दिताः ॥ २३ ॥
यथा सिंहं समासाद्य मृगाः प्राणपरायणाः।

जैसे सिंहका सामना पड़ जानेपर मृग भयभीत हो अपने प्राण बचानेके लिये भागते हैं, उसी प्रकार मारे जाते हुए घोड़े भयसे व्याकुल हो इधर-उधर भाग रहे थे ॥२३½॥

पाण्डवाश्च महाराज जित्वा शत्रून् महामृधे ॥ २४ ॥
दध्मुः शङ्खांश्च भेरीश्च ताडयामासुराहवे।

महाराज ! पाण्डव उस महासमरमें शत्रुओंको जीतकर शङ्ख फूँकने और नगाड़े पीटने लगे ॥ २४½ ॥

ततो दुर्योधनो दीनो दृष्ट्वा सैन्यं पराजितम् ॥ २५ ॥
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठ मद्रराजमिदं वचः ।

भरतश्रेष्ठ ! तब अपनी सेनाको पराजित देख दुर्योधनने दीन होकर मद्रराज शल्यसे इस प्रकार कहा—॥ २५½

एष पाण्डुसुतो ज्येष्ठो यमाभ्यां सहितो रणे ॥ २६ ॥
पश्यतां वो महाबाहो सेनां द्रावयति प्रभो ।
तं वारय महाबाहो वेलेव मकरालयम् ॥ २७ ॥
त्वं हि संश्रूयसेऽत्यर्थमसह्यबलविक्रमः ।

'महाबाहो ! ये ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर नकुल और सहदेवको साथ लेकर रणभूमिमें आपलोगोंके देखते-देखते मेरी सेनाको खदेड़ रहे हैं । प्रभो ! महाबाहो ! जैसे तटप्रान्त समुद्रको आगे बढ़नेसे रोकता है, उसी प्रकार आप भी युधिष्ठिरको आगे बढ़नेसे रोकिये; क्योंकि आपका बल और पराक्रम अत्यन्त असह्य सुना जाता है' ॥ २६-२७½ ॥

पुत्रस्य तव तद् वाक्यं श्रुत्वा शल्यः प्रतापवान् ॥ २८ ॥
स ययौ रथवंशेन यत्र राजा युधिष्ठिरः ।

राजन् ! आपके पुत्रकी यह बात सुनकर प्रतापी राजा शल्य रथसमूहके साथ उसी स्थानपर गये, जहाँ राजा युधिष्ठिर विद्यमान थे ॥ २८½ ॥

तदापतद् वै सहसा शल्यस्य सुमहद् बलम् ॥ २९ ॥
महौघवेगं समरे वारयामास पाण्डवः ।
मद्रराजं च समरे धर्मराजो महारथः ॥ ३० ॥

उस समय सहसा अपनी ओर आती हुई राजा शल्यकी उस विशाल वाहिनी तथा स्वयं मद्रराजको भी पाण्डुपुत्र महारथी धर्मराज युधिष्ठिरने महान् जल-प्रवाहके समान समरभूमिमें रोक दिया ॥ २९-३० ॥

दशभिः सायकैस्तूर्णमाजघान स्तनान्तरे ।
नकुलः सहदेवश्च तं सप्तभिरजिह्मगैः ॥ ३१ ॥

उन्होंने शल्यकी छातीमें तुरंत ही दस बाण मारे तथा नकुल और सहदेवने भी सीधे जानेवाले सात बाणोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया ॥ ३१ ॥

मद्रराजोऽपि तान् सर्वानाजघान त्रिभिस्त्रिभिः ।
युधिष्ठिरं पुनः षष्ट्या विव्याध निशितैः शरैः ॥ ३२ ॥

तब मद्रराज शल्यने भी उनको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया । फिर युधिष्ठिरको उन्होंने साठ तीखे बाण मारे ॥

माद्रीपुत्रौ च सम्भ्रान्तौ द्वाभ्यां द्वाभ्यामताडयत् ।
(पुनः स बहुभिर्बाणैराजघान युधिष्ठिरम् ।)

इसके बाद दो-दो बाणोंसे उन्होंने उत्तम कुलमें उत्पन्न माद्रीकुमारोंको घायल किया तथा अनेक बाणोंद्वारा राजा युधिष्ठिरको भी पुनः चोट पहुँचायी ॥ ३२½ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्दृष्ट्वा राजानमाहवे ॥ ३३ ॥
मद्रराजरथं प्राप्तं मृत्योरास्यगतं यथा ।
अभ्यपद्यत संग्रामे युधिष्ठिरममित्रजित् ॥ ३४ ॥

तब शत्रुविजयी महाबाहु भीमसेन समरभूमिमें राजा युधिष्ठिरको मृत्युके मुखमें पड़े हुएके समान मद्रराजके रथके समीप पहुँचा हुआ देखकर युद्धके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥

(आपतन्नेव भीमस्तु मद्रराजमताडयत् ।
सर्वपारशवैस्तीक्ष्णैर्नाराचैर्मर्मभेदिभिः ॥
ततो भीष्मश्च द्रोणश्च सैन्येन महता वृतौ ।
राजानमभ्यपद्येतामञ्जसा शरवर्षिणौ ॥)

भीमसेनने आते ही पूर्णतः लोहेके बने हुए और मर्मस्थानोंको विदीर्ण करनेमें समर्थ तीखे नाराचोंसे मद्रराज शल्यको गहरी चोट पहुँचायी । तब भीष्म और द्रोणाचार्य दोनों महारथी विशाल सेनाके साथ अनायास ही बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ राजा शल्यकी रक्षाके लिये आ पहुँचे ॥

ततो युद्धं महाघोरं प्रावर्तत सुदारुणम् ।
अपरां दिशमास्थाय पतमाने दिवाकरे ॥ ३५ ॥

तदनन्तर जब सूर्यदेव पश्चिम दिशाका आश्रय लेकर अस्ताचलको जा रहे थे, उसी समय दोनों सेनाओंमें अत्यन्त दारुण महाघोर युद्ध आरम्भ हुआ ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

षडधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा पराजित पाण्डवसेनाका पलायन और भीष्मको मारनेके लिये उद्यत हुए श्रीकृष्णको अर्जुनका रोकना

संजय उवाच

ततः पिता तव क्रुद्धो निशितैः सायकोत्तमैः ।
आजघान रणे पार्थान् सहसेनान् समन्ततः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तब आपके ताऊ देवव्रत कुपित हो रणभूमिमें अपने तीखे एवं श्रेष्ठ सायकोंद्वारा सेनासहित कुन्तीकुमारोंको सब ओरसे घायल करने लगे ॥ १ ॥

भीमं द्वादशभिर्विद्ध्वा सात्यकिं नवभिः शरैः ।
नकुलं च त्रिभिर्विद्ध्वा सहदेवं च सप्तभिः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरं द्वादशभिर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।

उन्होंने भीमसेनको बारह, सात्यकिको नौ, नकुलको तीन और सहदेवको सात बाणोंसे घायल करके राजा युधिष्ठिरकी दोनों भुजाओं और छातीमें बारह बाण मारे ॥ २½ ॥

धृष्टद्युम्नं ततो विद्ध्वा ननाद सुमहाबलः ॥ ३ ॥
तं द्वादशाख्यैर्नकुलो माधवश्च त्रिभिः शरैः ।
धृष्टद्युम्नश्च सप्तत्या भीमसेनश्च सप्तभिः ॥ ४ ॥
युधिष्ठिरो द्वादशभिः प्रत्यविध्यत् पितामहम् ।

तदनन्तर धृष्टद्युम्नको भी अपने बाणोंद्वारा बींधकर महाबली भीष्मने सिंहके समान गर्जना की। तब नकुलने बारह, सात्यकिने तीन, धृष्टद्युम्नने सत्तर, भीमसेनने सात तथा युधिष्ठिरने बारह बाण मारकर पितामह भीष्मको घायल कर दिया ॥ ३–४½ ॥

द्रोणस्तु सात्यकिं विद्ध्वा भीमसेनमविध्यत ॥ ५ ॥
एकैकं पञ्चभिर्बाणैर्यमदण्डोपमैः शितैः ।

द्रोणाचार्यने यमदण्डके समान भयंकर एवं तीखे पाँच-पाँच बाणोंद्वारा सात्यकि और भीमसेनमेंसे प्रत्येकको घायल किया। पहले सात्यकिको चोट पहुँचाकर फिर भीमसेनपर गहरा आघात किया ॥ ५½ ॥

तौ च तं प्रत्यविध्येतां त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ॥ ६ ॥
तोत्त्रैरिव महानागं द्रोणं ब्राह्मणपुङ्गवम् ।

तब उन दोनोंने भी अङ्कुशोंसे महान् गजराजके समान सीधे जानेवाले तीन-तीन बाणोंद्वारा ब्राह्मणप्रवर द्रोणाचार्यको घायल करके तुरंत बदला चुकाया ॥ ६½ ॥

सौवीराः कितवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यमालवाः॥७॥
अभीषाहाः शूरसेनाः शिवयोऽथ वसातयः ।
संग्रामे नाजहुर्भीष्मं वध्यमानाः शितैः शरैः ॥ ८ ॥

सौवीर, कितव, प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, अभीषाह, शूरसेन, शिबि और वसाति देशके योद्धा शत्रुओंके तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी संग्रामभूमिमें भीष्मको छोड़कर नहीं भागे ॥ ७-८ ॥

तथैवान्ये महीपाला नानादेशसमागताः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त विविधायुधपाणयः ॥ ९ ॥

इसी प्रकार विभिन्न देशोंसे आये हुए अन्य भूपाल भी हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये पाण्डवोंपर आक्रमण करने लगे ॥ ९ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् परिवव्रुः पितामहम् ।
स समन्तात् परिवृतो रथौघैरपराजितः ॥ १० ॥
गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः प्रजज्वाल दहन् परान् ।

राजन्! पाण्डवोंने भी पितामह भीष्मको घेर लिया। चारों ओरसे रथसमूहोंद्वारा घिरे हुए अपराजित वीर भीष्म गहन वनमें लगायी हुई आगके समान शत्रुओंको दग्ध करते हुए प्रज्वलित हो उठे ॥ १०½ ॥

रथाग्न्यगारश्चापार्चिरसिशक्तिगदेन्धनः ॥ ११ ॥
शरस्फुलिङ्गो भीष्माग्निर्ददाह क्षत्रियर्षभान् ।

रथ ही उनके लिये अग्निशालाके समान था, धनुष ज्वालाओंके समान प्रकाशित होता था, खड्ग, शक्ति और गदा आदि अस्त्र-शस्त्र समिधाका काम कर रहे थे। बाण चिनगारियोंके समान थे। इस प्रकार भीष्मरूपी अग्नि वहाँ क्षत्रिय-शिरोमणियोंको दग्ध करने लगी ॥ ११½ ॥

सुवर्णपुङ्खैरिषुभिर्गार्ध्रपक्षैः सुतेजनैः ॥ १२ ॥
कर्णिनालीकनाराचैश्छादयामास तद् बलम् ।
अपातयद् ध्वजांश्चैव रथिनश्च शितैः शरैः ॥ १३ ॥

उन्होंने स्वर्णभूषित गृध्र-पंखयुक्त तेज बाणों तथा कर्णी, नालीक और नाराचोंद्वारा पाण्डवोंकी सेनाको आच्छादित कर दिया। तीखे बाणोंसे ध्वजोंको काट डाला और रथियोंको भी मार गिराया ॥ १२-१३ ॥

मुण्डतालवनानीव चकार स रथव्रजान् ।
निर्मनुष्यान् रथान् राजन् गजानश्वांश्च संयुगे॥१४॥
अकरोत् स महाबाहुः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।

ध्वजाएँ काटकर उन्होंने रथ-समूहोंको मुण्डित ताल-वनोंके समान कर दिया। राजन्! युद्धस्थलमें समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु भीष्मने बहुत-से रथों, हाथियों और घोड़ोंको मनुष्योंसे रहित कर दिया ॥ १४½ ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ॥ १५ ॥
निशम्य सर्वभूतानि समकम्पन्त भारत ।
अमोघा ह्यपतन् बाणाः पितुस्ते भरतर्षभ ॥ १६ ॥

उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाकी टङ्कारध्वनि वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी। भारत! उसे सुनकर समस्त प्राणी काँप उठते थे। भरतश्रेष्ठ! आपके ताऊ भीष्मके बाण कभी खाली नहीं जाते थे ॥ १५-१६ ॥

नासज्जन्त तनुत्रेषु भीष्मचापच्युताः शराः ।
हतवीरान् रथान् राजन् संयुक्ताञ्जवनैर्हयैः ॥१७॥
अपश्याम महाराज ह्रियमाणान् रणाजिरे ।

राजन्! भीष्मके धनुषसे छूटे हुए बाण कवचोंमें नहीं अटकते थे (उन्हें छिन्न-भिन्न करके भीतर घुस जाते थे)। महाराज!

हमने समराङ्गणमें ऐसे बहुत-से रथ देखे, जिनके रथी और सारथि तो मार दिये गये थे; परंतु वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए होनेके कारण वे इधर-उधर खींचकर ले जाये जा रहे थे ॥ १७½ ॥

चेदिकाशिकरूषाणां सहस्राणि चतुर्दश ॥ १८ ॥
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ।
अपरावर्तिनः सर्वे सुवर्णविकृतध्वजाः ॥ १९ ॥
संग्रामे भीष्ममासाद्य व्यादितास्यमिवान्तकम् ।
निमग्नाः परलोकाय सवाजिरथकुञ्जराः ॥ २० ॥

चेदि, काशि और करूष देशके चौदह हजार विख्यात महारथी थे। वे उच्चकुलमें उत्पन्न होकर पाण्डवोंके लिये अपना शरीर निछावर कर चुके थे। उनमेंसे कोई भी युद्धमें पीठ दिखानेवाला नहीं था। उन सबकी ध्वजाएँ सोनेकी बनी हुई थीं। मुँह बाये हुए कालके समान भीष्मजीके सामने पहुँचकर वे सब-के-सब महारथी युद्धरूपी समुद्रमें डूब गये। भीष्मजीने घोड़े, रथ और हाथियोंसहित उन सबको परलोकका पथिक बना दिया ॥ १८–२० ॥

भग्नाक्षोपस्करान् कांश्चिद् भग्नचक्रांश्च भारत ।
अपश्याम महाराज शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २१ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! हमने वहाँ सैकड़ों और हजारों ऐसे रथ देखे, जिनके धुरे आदि सामान टूट गये थे और पहियोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे ॥ २१ ॥

सवरूथै रथैर्भग्नै रथिभिश्च निपातितैः ।
शरैः सुकवचैश्छिन्नैः पट्टिशैश्च विशाम्पते ॥ २२ ॥
गदाभिर्भिन्दिपालैश्च निशितैश्च शिलीमुखैः ।
अनुकर्षैरुपासङ्गैश्चक्रैर्भग्नैश्च मारिष ॥ २३ ॥
बाहुभिः कार्मुकैः खड्गैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
तलत्रैरङ्गुलित्रैश्च ध्वजैश्च विनिपातितैः ॥ २४ ॥
चापैश्च बहुधा च्छिन्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ।

माननीय प्रजानाथ ! वरूथोंसहित टूटे हुए रथ, मारे गये रथी, कटे हुए बाण, कवच, पट्टिश, गदा, भिन्दिपाल, तीखे सायक, छिन्न-भिन्न हुए अनुकर्ष, उपासंग, पहिये, कटी हुई बाँह, धनुष, खड्ग, कुण्डलोंसहित मस्तक, तलत्राण, अङ्गुलित्राण, गिराये गये ध्वज और अनेक टुकड़ोंमें कटकर गिरे हुए चाप—इन सबके द्वारा वहाँकी पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ॥

हतारोहा गजा राजन् हयाश्च हतसादिनः ॥ २५ ॥
न्यपतन्त गतप्राणाः शतशोऽथ सहस्रशः ।

राजन् ! जिनके सवार मार दिये गये थे, ऐसे हाथी और घोड़े सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें निष्प्राण होकर पड़े थे ॥ २५½ ॥

यतमानाश्च ते वीरा द्रवमाणान् महारथान् ॥ २६ ॥
नाशक्नुवन् वारयितुं भीष्मबाणप्रपीडितान् ।

पाण्डव वीर बहुत प्रयत्न करनेपर भी भीष्मके बाणोंसे पीड़ित होकर भागते हुए अपने महारथियोंको रोक नहीं पा रहे थे ॥ २६½ ॥

महेन्द्रसमवीर्येण वध्यमाना महाचमूः ॥ २७ ॥
अभज्यत महाराज न च द्वौ सह धावतः ।

महाराज ! महेन्द्रके समान पराक्रमी भीष्मजीके द्वारा मारी जाती हुई उस विशाल सेनामें भगदड़ मच गयी थी। दो आदमी भी एक साथ नहीं भागते थे ॥ २७½ ॥

आविद्धरथनागाश्वं पतितध्वजसंकुलम् ॥ २८ ॥
अनीकं पाण्डुपुत्राणां हाहाभूतमचेतनम् ।

पाण्डवोंकी सेना अचेत-सी होकर हाहाकार कर रही थी। उसके रथ, हाथी और घोड़े बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहे थे। ध्वजाएँ कटकर धराशायी हो गयी थीं ॥ २८½ ॥

जघानात्र पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ॥ २९ ॥
प्रियं सखायं चाक्रन्दे सखा दैवबलात् कृतः ।

उस भीषण मारकाटमें दैवसे प्रेरित होकर पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको और मित्रने प्यारे मित्रको मार डाला ॥ २९½ ॥

विमुच्य कवचानन्ये पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ॥ ३० ॥
प्रकीर्य केशान् धावन्तः प्रत्यदृश्यन्त सर्वशः ।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके दूसरे सैनिक कवच उतारकर केश बिखेरे हुए सब ओर भागते दिखायी देते थे ॥ ३०½ ॥

तद् गोकुलमिवोद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तरथकूबरम् ॥ ३१ ॥
ददृशे पाण्डुपुत्रस्य सैन्यमार्तस्वरं तदा ।

उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सारी सेना (सिंहसे डरी हुई) गौओंके समुदायकी भाँति घबराहटमें पड़ गयी थी। रथके कूबर उलट-पलट हो गये थे और समस्त सैनिक आर्तनाद कर रहे थे ॥ ३१½ ॥

प्रभज्यमानं सैन्यं तु दृष्ट्वा यादवनन्दनः ॥ ३२ ॥
उवाच पार्थं बीभत्सुं निगृह्य रथमुत्तमम् ।

उस सेनामें भगदड़ पड़ी देख यादवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अपने उत्तम रथको रोककर कुन्तीकुमार अर्जुनसे कहा—॥ ३२½ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः पार्थ यः काङ्क्षितस्तव ॥ ३३ ॥
प्रहरास्मिन् नरव्याघ्र न चेन्मोहाद् विमुह्यसे ।

'पार्थ ! तुम्हें जिस अवसरकी अभिलाषा और प्रतीक्षा थी, वह आ पहुँचा। पुरुषसिंह ! यदि तुम मोहसे मोहित नहीं हो रहे हो तो इन भीष्मपर प्रहार करो ॥ ३३½ ॥

यत् पुरा कथितं वीर राज्ञां तेषां समागमे ॥ ३४ ॥
विराटनगरे तात संजयस्य समीपतः ।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान् ॥ ३५ ॥
सानुबन्धान् हनिष्यामि ये मां योत्स्यन्ति संगरे ।

इति तत् कुरु कौन्तेय सत्यं वाक्यमरिंदम ॥ ३६ ॥
क्षत्रधर्ममनुस्मृत्य युध्यस्व विगतज्वरः ।

'वीर ! तात ! पूर्वकालमें विराटनगरके भीतर जब सम्पूर्ण राजा एकत्र हुए थे, उनके सामने और संजयके समीप जो तुमने यह कहा था कि 'मैं युद्धमें, जो मेरा सामना करने आयेंगे, दुर्योधनके उन भीष्म, द्रोण आदि सम्पूर्ण सैनिकोंको सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा ।' शत्रुदमन कुन्तीनन्दन ! अपने उस कथनको सत्य कर दिखाओ । तुम क्षत्रिय-धर्मका स्मरण करके सारी चिन्ताएँ छोड़कर युद्ध करो' ॥ ३४—३६½ ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन तिर्यग्दृष्टिरधोमुखः ॥ ३७ ॥
अकाम इव बीभत्सुरिदं वचनमब्रवीत् ।

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने मुँह नीचे किये तिरछी दृष्टिसे देखते हुए अनिच्छुककी भाँति उनसे इस प्रकार कहा—॥ ३७½ ॥

अवध्यानां वधं कृत्वा राज्यं वा नरकोत्तरम् ॥ ३८ ॥
दुःखानि वनवासे वा किं नु मे सुकृतं भवेत् ।

'प्रभो ! अवध्य महापुरुषोंका वध करके नरकसे भी बढ़कर निन्दनीय राज्य प्राप्त करूँ अथवा वनवासमें रहकर कष्ट भोगूँ—इन दोनोंमें कौन मेरे लिये पुण्यदायक होगा ? ३८½ ।

चोदयाश्वान् यतो भीष्मः करिष्ये वचनं तव ॥ ३९ ॥
पातयिष्यामि दुर्धर्षं भीष्मं कुरुपितामहम् ।

'अच्छा, जहाँ भीष्म हैं, उसी ओर घोड़ोंको बढ़ाइये । आज मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा । कुरुकुलके वृद्ध पितामह दुर्धर्ष वीर भीष्मको मार गिराऊँगा' । ३९½ ।

स चाश्वान् रजतप्रख्यांश्चोदयामास माधवः॥ ४० ॥
यतो भीष्मस्ततो राजन् दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिवानिव ।

राजन् ! तब भगवान् श्रीकृष्णने चाँदीके समान श्वेत वर्णवाले घोड़ोंको उसी ओर हाँका, जहाँ अंशुमाली सूर्यके समान दुर्निरीक्ष्य भीष्म युद्ध कर रहे थे ॥ ४०½ ॥

ततस्तत् पुनरावृत्तं युधिष्ठिरबलं महत् ॥ ४१ ॥
दृष्ट्वा पार्थं महाबाहुं भीष्मायोद्यतमाहवे ।

महाबाहु कुन्तीकुमार अर्जुनको भीष्मके साथ युद्ध करनेके लिये उद्यत देख युधिष्ठिरकी वह भागती हुई विशाल सेना पुनः लौट आयी ॥ ४१½ ॥

ततो भीष्मः कुरुश्रेष्ठः सिंहवद् विनदन् मुहुः ॥ ४२ ॥
धनंजयरथं शीघ्रं शरवर्षैरवाकिरत् ।

तब बारंबार सिंहनाद करते हुए कुरुश्रेष्ठ भीष्मने धनंजयके रथपर शीघ्र ही बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥४२½॥

क्षणेन स रथस्तस्य सहयः सहसारथिः ॥ ४३ ॥
शरवर्षेण महता न प्राज्ञायत भारत ।

भारत ! एक ही क्षणमें बाणोंकी उस भारी वर्षाके कारण सारथि और घोड़ोंसहित उनका वह रथ ऐसा अदृश्य हो गया कि उसका कुछ पता ही नहीं चलता था ॥ ४३½ ॥

वासुदेवस्त्वसम्भ्रान्तो धैर्यमास्थाय सत्वरः ॥ ४४ ॥
चोदयामास तानश्वान् वितुन्नान् भीष्मसायकैः ।

भगवान् श्रीकृष्ण बिना किसी घबराहटके धैर्य धारणकर भीष्मके सायकोंसे क्षत-विक्षत हुए उन घोड़ोंको शीघ्रतापूर्वक हाँक रहे थे ॥ ४४½ ॥

ततः पार्थो धनुर्गृह्य दिव्यं जलदनिःस्वनम् ॥ ४५ ॥
पातयामास भीष्मस्य धनुश्छित्त्वा शितैः शरैः ।

तब कुन्तीकुमारने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने दिव्य धनुषको हाथमें लेकर तीखे बाणोंद्वारा भीष्मके धनुषको काट गिराया ॥ ४५½ ॥

स छिन्नधन्वा कौरव्यः पुनरन्यन्महद् धनुः ॥ ४६ ॥
निमेषान्तरमात्रेण सज्यं चक्रे पिता तव ।

धनुष कट जानेपर आपके ताऊ कुरुकुलरत्न भीष्मने पुनः दूसरा धनुष हाथमें ले पलक मारते-मारते उसके ऊपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी ॥ ४६½ ॥

चकर्ष च ततो दोर्भ्यां धनुर्जलदनिःस्वनम् ॥ ४७ ॥
अथास्य तदपि क्रुद्धश्चिच्छेद धनुरर्जुनः ।

तदनन्तर मेघोंके समान गम्भीर नाद करनेवाले उस धनुषको उन्होंने दोनों हाथोंसे खींचा । इतनेहीमें कुपित हुए अर्जुनने उनके उस धनुषको भी काट दिया ॥ ४७½ ॥

तस्य तत् पूजयामास लाघवं शान्तनोः सुतः ॥ ४८ ॥
गाङ्गेयस्त्वब्रवीत् पार्थं धन्विश्रेष्ठमरिंदम ।

शत्रुदमन नरेश ! उस समय शान्तनुकुमार गङ्गानन्दन भीष्मने धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र अर्जुनकी उस फुर्तीके लिये उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और इस प्रकार कहा—॥४८½॥

साधु साधु महाबाहो साधु कुन्तीसुतेति च ॥ ४९ ॥
समाभाष्यैवमपरं प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।
मुमोच समरे भीष्मः शरान् पार्थरथं प्रति ॥ ५० ॥

'महाबाहो ! कुन्तीकुमार ! बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, तुम्हें साधुवाद ।' ऐसा कहकर भीष्मने पुनः दूसरा सुन्दर धनुष लेकर समराङ्गणमें अर्जुनके रथकी ओर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ४९-५० ॥

अदर्शयद् वासुदेवो हययाने परं बलम् ।
मोघान् कुर्वञ्शरांस्तस्य मण्डलानि निदर्शयन् ॥५१॥

भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंके हाँकनेकी कलामें अपनी अद्भुत शक्ति दिखायी । वे भाँति-भाँतिके पैंतरे दिखाते हुए भीष्मके बाणोंको व्यर्थ करते जा रहे थे ॥ ५१ ॥

(सारथ्यं निपुणं कुर्वन् प्रत्यदृश्यत संयुगे ।
भीष्मस्तावत् सुसंक्रुद्धः पुनर्बाणान् मुमोच ह ॥

पार्थाय युधि राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत्।
अर्जुनस्तु सुसंक्रुद्धः पितामहमरिंदमः।
अवर्षद् बाणवर्षेण योद्धुं ह्यभिमुखे स्थितम् ॥
तावुभौ युधि दुर्धर्षौ युयुधाते परस्परम्।)

युद्धस्थलमें भगवान् श्रीकृष्ण कुशलतापूर्वक सारथ्यकर्म करते दिखायी दिये। राजेन्द्र ! भीष्म अत्यन्त क्रोधमें भरकर युद्धमें पार्थके ऊपर बारंबार बाणोंकी वर्षा करते रहे। यह अद्भुत-सी बात थी। फिर शत्रुदमन अर्जुनने भी क्रोधमें भरकर युद्धके लिये अपने सामने खड़े हुए भीष्मपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी। वे दोनों रण-दुर्जय वीर एक दूसरेसे युद्ध कर रहे थे ॥

शुशुभाते नरव्याघ्रौ तौ भीष्मशरविक्षतौ।
गोवृषाविव संरब्धौ विषाणोल्लिखिताङ्कितौ ॥ ५२ ॥

उस समय पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही भीष्मके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो सींगोंके आघातसे घायल हुए दो रोषभरे साँड़ोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ५२ ॥

(भीष्मोऽतीव सुसंक्रुद्धः पृषत्कैरर्जुनं बलात्।
जघान समरे मूर्ध्नि सिंहवद् विनदन् मुहुः ॥)

तत्पश्चात् भीष्मने भी रणक्षेत्रमें अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने बाणोंद्वारा बलपूर्वक अर्जुनके मस्तकपर आघात किया। उसके बाद वे बारंबार सिंहके समान गर्जना करने लगे ॥

वासुदेवस्तु सम्प्रेक्ष्य पार्थस्य मृदुयुद्धताम्।
भीष्मं च शरवर्षाणि सृजन्तमनिशं युधि ॥ ५३ ॥
प्रतपन्तमिवादित्यं मध्यमासाद्य सेनयोः।
वरान् वरान् विनिघ्नन्तं पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान् ॥५४॥
युगान्तमिव कुर्वाणं भीष्मं यौधिष्ठिरे बले।

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि अर्जुन मन लगाकर युद्ध नहीं कर रहे हैं। वे भीष्मके प्रति कोमलता दिखा रहे हैं और उधर भीष्म युद्धमें सेनाके मध्यभागमें खड़े हो निरन्तर बाणोंकी वर्षा करते हुए दोपहरके सूर्यके समान तप रहे हैं। पाण्डव-सेनाके चुने हुए उत्तमोत्तम वीरोंको मार रहे हैं और युधिष्ठिर-सेनामें प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित कर रहे हैं ॥ ५३-५४½ ॥

नामृष्यत महाबाहुर्माधवः परवीरहा ॥ ५५ ॥
उत्सृज्य रजतप्रख्यान् हयान् पार्थस्य मारिष।
वासुदेवस्ततो योगी प्रचस्कन्द महारथात् ॥ ५६ ॥
अभिदुद्राव भीष्मं स भुजप्रहरणो बली।
प्रतोदपाणिस्तेजस्वी सिंहवद् विनदन् मुहुः ॥ ५७ ॥

तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले महाबाहु माधवको यह सहन नहीं हुआ। आर्य! वे योगेश्वर भगवान् वासुदेव चाँदीके समान सफेद रंगवाले अर्जुनके घोड़ोंको छोड़कर उस विशाल रथसे कूद पड़े और केवल भुजाओंका ही आयुध लिये हाथोंमें चाबुक उठाये बारंबार सिंहनाद करते हुए बलवान् एवं तेजस्वी श्रीहरि भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े ॥ ५५–५७॥

दारयन्निव पद्भ्यां स जगतीं जगदीश्वरः।
क्रोधताम्रेक्षणः कृष्णो जिघांसुरमितद्युतिः ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, अमित तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण क्रोधसे लाल आँखें करके भीष्मको मार डालनेकी इच्छा लेकर पैरोंकी धमकसे वसुधाको विदीर्ण-सी कर रहे थे ॥५८॥

ग्रसन्तमिव चेतांसि तावकानां महाहवे।
दृष्ट्वा माधवमाक्रन्दे भीष्मायोद्यतमन्तिके ॥ ५९ ॥
हतो भीष्मो हतो भीष्मस्तत्र तत्र वचो महत्।
अश्रूयत महाराज वासुदेवभयात् तदा ॥ ६० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण उस महायुद्धमें आपके पुत्रों और सैनिकोंकी चेतनाको मानो अपना ग्रास बनाये ले रहे थे। महाराज ! उस मारकाटमें माधवको समीप आकर भीष्मके वधके लिये उद्यत हुआ देख उस समय उन वासुदेवके भयसे चारों ओर यह महान् कोलाहल सुनायी देने लगा कि 'भीष्म मारे गये, भीष्म मारे गये' ॥ ५९-६० ॥

पीतकौशेयसंवीतो मणिश्यामो जनार्दनः।
शुशुभे विद्रवन् भीष्मं विद्युन्माली यथाम्बुदः ॥ ६१ ॥

रेशमी पीताम्बर धारण किये इन्द्रनीलमणिके समान श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण भीष्मकी ओर दौड़ते समय ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो विद्युन्मालासे अलंकृत श्याममेघ जा रहा हो।६१।

स सिंह इव मातङ्गं यूथर्षभ इवर्षभम्।
अभिदुद्राव वेगेन विनदन् यादवर्षभः ॥ ६२ ॥

यादवशिरोमणि बारंबार गर्जना करते हुए भीष्मके ऊपर उसी प्रकार वेगसे धावा कर रहे थे, जैसे सिंह गजराजपर और गोयूथका स्वामी साँड़ दूसरे साँड़पर आक्रमण करता है ॥ ६२ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य पुण्डरीकाक्षमाहवे।
असम्भ्रमं रणे भीष्मो विचकर्ष महद् धनुः ॥ ६३ ॥

उस महासमरमें कमलनयन श्रीकृष्णको आते देख भीष्म उस रणक्षेत्रमें तनिक भी भयभीत न होकर अपने विशाल धनुषको खींचने लगे ॥ ६३ ॥

उवाच चैव गोविन्दमसम्भ्रान्तेन चेतसा।
एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते ॥ ६४ ॥

साथ ही व्यग्रताशून्य मनसे भगवान् गोविन्दको सम्बोधित करके बोले—'आइये, आइये, कमलनयन ! देवदेव ! आपको नमस्कार है ॥ ६४ ॥

मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे।
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ ॥ ६५ ॥

श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः ।

'सात्वतशिरोमणे ! इस महासमरमें आज मुझे मार गिराइये । देव ! निष्पाप श्रीकृष्ण ! आपके द्वारा संग्राममें मारे जानेपर भी संसारमें सब ओर मेरा परम कल्याण ही होगा ।६५½।

सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे ॥ ६६ ॥
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ ।

'गोविन्द ! आज इस युद्धमें मैं तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित हो गया । अनघ ! मैं आपका दास हूँ । आप अपनी इच्छाके अनुसार मुझपर प्रहार कीजिये' ॥ ६६½ ॥

अन्वगेव ततः पार्थः समभिद्रुत्य केशवम् ॥ ६७ ॥
निजग्राह महाबाहुर्बाहुभ्यां परिगृह्य वै ।

इधर महाबाहु अर्जुन श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे । उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंसे उन्हें पकड़कर काबूमें कर लिया ॥ ६७½ ॥

निगृह्यमाणः पार्थेन कृष्णो राजीवलोचनः ॥ ६८ ॥
जगामैवैनमादाय वेगेन पुरुषोत्तमः ।

अर्जुनके द्वारा पकड़े जानेपर भी कमलनयन पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें लिये-दिये ही वेगपूर्वक आगे बढ़ने लगे ॥ ६८½ ॥

पार्थस्तु विष्टभ्य बलाच्चरणौ परवीरहा ॥ ६९ ॥
निजग्राह हृषीकेशं कथंचिद् दशमे पदे ।

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने बलपूर्वक भगवान्‌के चरणोंको पकड़ लिया और इस प्रकार दसवें कदमतक जाते-जाते वे किसी प्रकार हृषीकेशको रोकनेमें सफल हो सके ।६९½।

तत एवमुवाचार्तः क्रोधपर्याकुलेक्षणम् ॥ ७० ॥
निःश्वसन्तं यथा नागमर्जुनः प्रणयात् सखा ।
निवर्तस्व महाबाहो नानृतं कर्तुमर्हसि ॥ ७१ ॥

उस समय श्रीकृष्णके नेत्र क्रोधसे व्याप्त हो रहे थे और वे फुफकारते हुए सर्पके समान लम्बी साँस खींच रहे थे । उनके सखा अर्जुन आर्तभावसे प्रेमपूर्वक बोले—'महाबाहो ! लौटिये, अपनी प्रतिज्ञाको झूटी न कीजिये ॥ ७०-७१ ॥

यत् त्वया कथितं पूर्वं न योत्स्यामीति केशव ।
मिथ्यावादीति लोकास्त्वां कथयिष्यन्ति माधव ॥७२॥

'केशव ! आपने पहले जो यह कहा था कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' उस वचनकी रक्षा कीजिये । अन्यथा माधव ! लोग आपको मिथ्यावादी कहेंगे ॥ ७२ ॥

ममैष भारः सर्वो हि हनिष्यामि पितामहम् ।
शपे केशव शस्त्रेण सत्येन सुकृतेन च ॥ ७३ ॥

'केशव ! यह सारा भार मुझपर है । मैं अपने अस्त्र-शस्त्र, सत्य और सुकृतकी शपथ खाकर कहता हूँ कि पितामह भीष्मका वध करूँगा ॥ ७३ ॥

अन्तं यथा गमिष्यामि शत्रूणां शत्रुसूदन ।
अद्यैव पश्य दुर्धर्षं पात्यमानं महारथम् ॥ ७४ ॥
तारापतिमिवापूर्णमन्तकाले यदृच्छया ।

'शत्रुसूदन ! मैं सब शत्रुओंका अन्त कर डालूँगा । देखिये, आज ही मैं पूर्ण चन्द्रमाके समान दुर्जय वीर महारथी भीष्मको उनके अन्तिम समयमें इच्छानुसार मार गिराता हूँ' ।७४½।

माधवस्तु वचः श्रुत्वा फाल्गुनस्य महात्मनः ॥ ७५ ॥
(अभवत् परमप्रीतो ज्ञात्वा पार्थस्य विक्रमम् ।)
न किंचिदुक्त्वा सक्रोध आरुरोह रथं पुनः ।

महामना अर्जुनका यह वचन सुनकर उनके पराक्रमको जानते हुए भगवान् श्रीकृष्ण मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हुए और ऊपरसे कुछ भी न बोलकर पुनः क्रोधपूर्वक ही रथपर जा बैठे ॥ ७५½ ॥

तौ रथस्थौ नरव्याघ्रौ भीष्मः शान्तनवः पुनः ॥ ७६ ॥
ववर्ष शरवर्षेण मेघो वृष्ट्या यथाचलौ ।

पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुनको रथपर बैठे देख शान्तनुनन्दन भीष्मने पुनः उनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ दो पर्वतोंपर जलकी धारा गिरा रहा हो ।७६½।

प्राणानादत्त योधानां पिता देवव्रतस्तव ॥ ७७ ॥
गभस्तिभिरिवादित्यस्तेजांसि शिशिरात्यये ।

राजन् ! आपके ताऊ देवव्रत उसी प्रकार पाण्डव योद्धाओंके प्राण लेने लगे, जैसे ग्रीष्म ऋतुमें सूर्य अपनी किरणोंद्वारा सबके तेज हर लेते हैं ॥ ७७½ ॥

यथा कुरूणां सैन्यानि बभञ्जुर्युधि पाण्डवाः ॥ ७८ ॥
तथा पाण्डवसैन्यानि बभञ्ज युधि ते पिता ।

महाराज ! जैसे पाण्डवोंने युद्धमें कौरव-सेनाओंको खदेड़ा था, उसी प्रकार आपके ताऊ भीष्मने भी पाण्डव-सेनाओंको मार भगाया ॥ ७८½ ॥

हतविद्रुतसैन्यास्तु निरुत्साहा विचेतसः ॥ ७९ ॥
निरीक्षितुं न शेकुस्ते भीष्ममप्रतिमं रणे ।
मध्यंगतमिवादित्यं प्रतपन्तं स्वतेजसा ॥ ८० ॥

घायल होकर भागे हुए सैनिक उत्साहशून्य और अचेत हो रहे थे । वे रणक्षेत्रमें अनुपम वीर भीष्मजीकी ओर आँख उठाकर देख भी न सके, ठीक उसी तरह, जैसे दोपहरमें अपने तेजसे तपते हुए सूर्यकी ओर कोई भी देख नहीं पाता ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण शतशोऽथ सहस्रशः ।
कुर्वाणं समरे कर्माण्यतिमानुषविक्रमम् ॥ ८१ ॥
वीक्षांचक्रुर्महाराज पाण्डवा भयपीडिताः ।

महाराज ! भीष्मके द्वारा मारे जाते हुए सैकड़ों और हजारों पाण्डव सैनिक समरमें अलौकिक पराक्रम प्रकट करनेवाले भीष्मको भयसे पीड़ित होकर देख रहे थे ॥८१½॥

तथा पाण्डवसैन्यानि द्राव्यमाणानि भारत ॥ ८२ ॥
त्रातारं नाध्यगच्छन्त गावः पङ्कगता इव ।
पिपीलिका इव क्षुण्णा दुर्बला बलिना रणे ॥ ८३ ॥

भारत ! भागती हुई पाण्डव-सेनाएँ कीचड़में फँसी हुई गायोंकी भाँति किसीको अपना रक्षक नहीं पाती थीं । समरभूमिमें बलवान् भीष्मने उन दुर्बल सैनिकोंको चींटियोंकी भाँति मसल डाला ॥ ८२-८३ ॥

महारथं भारत दुष्प्रकम्पं
शरौघिणं प्रतपन्तं नरेन्द्रान् ।
भीष्मं न शेकुः प्रतिवीक्षितुं ते
शरार्चिषं सूर्यमिवातपन्तम् ॥ ८४ ॥

भारत ! महारथी भीष्म अविचलभावसे खड़े होकर बाणोंकी वर्षा करते और पाण्डव-पक्षीय नरेशोंको संताप देते थे । बाणरूपी किरणावलियोंसे सुशोभित और सूर्यकी भाँति तपते हुए भीष्मकी ओर वे देख भी नहीं पाते थे ॥ ८४ ॥

विमृद्नतस्तस्य तु पाण्डुसेना-
मस्तं जगामाथ सहस्ररश्मिः ।
ततो बलानां श्रमकर्शितानां
मनोऽवहारं प्रति सम्बभूव ॥ ८५ ॥

भीष्म पाण्डव-सेनाको जब इस प्रकार रौंद रहे थे, उसी समय सहस्रों किरणोंसे सुशोभित भगवान् सूर्य अस्ताचलको चले गये । उस समय परिश्रमसे थकी हुई समस्त सेनाओंके मनमें यही इच्छा हो रही थी कि अब युद्ध बंद हो जाय ।८५।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि नवमदिवसयुद्धसमाप्तौ षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें नवें दिनके युद्धकी समाप्तिविषयक एक सौ छठा अध्याय पूरा हुआ । १०६ ।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ८९½ श्लोक हैं)

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

नवें दिनके युद्धकी समाप्ति, रातमें पाण्डवोंकी गुप्त मन्त्रणा तथा श्रीकृष्णसहित पाण्डवोंका भीष्मसे मिलकर उनके वधका उपाय जानना

संजय उवाच

युध्यतामेव तेषां तु भास्करेऽस्तमुपागते ।
संध्या समभवद् घोरा नापश्याम ततो रणम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! कौरवों और पाण्डवोंके युद्ध करते समय ही सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और भयंकर संध्याकाल आ गया । फिर हमलोगोंने युद्ध नहीं देखा ॥१॥

ततो युधिष्ठिरो राजा संध्यां संदृश्य भारत ।
वध्यमानं च भीष्मेण त्यक्तास्त्रं भयविह्वलम् ॥ २ ॥
(निरुत्साहं बलं दृष्ट्वा पीडितं शरविक्षतम् ।)
स्वसैन्यं च परावृत्तं पलायनपरायणम् ।
भीष्मं च युधि संरब्धं पीडयन्तं महारथम् ॥ ३ ॥
सोमकांश्च जितान् दृष्ट्वा निरुत्साहान् महारथान् ।
(निशामुखं च सम्प्रेक्ष्य घोररूपं भयानकम् ।)
चिन्तयित्वा ततो राजा अवहारमरोचयत् ॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने देखा कि संध्या हो गयी । भीष्मके द्वारा गहरी चोट खाकर मेरी सेनाने भयसे व्याकुल हो हथियार डाल दिया है । किसीमें लड़नेका उत्साह नहीं रह गया है । सारी सेना बाणोंसे क्षत-विक्षत हो अत्यन्त पीड़ित हो गयी है । कितने ही सैनिक युद्धसे विमुख हो भागने लग गये हैं । उधर महारथी भीष्म क्रोधमें भरकर युद्धस्थलमें सबको पीड़ा दे रहे हैं । सोमकवंशी महारथी पराजित होकर अपना उत्साह खो बैठे हैं और घोररूप भयानक प्रदोषकाल आ पहुँचा है । इन सब बातोंपर विचार करके राजा युधिष्ठिरने सेनाको युद्धसे लौटा लेना ही ठीक समझा ॥ २—४ ॥

(कथं जयेम भीष्मं वै महाबलपराक्रमम् ।
बुद्धिं स्वशिबिरं गन्तुं चक्रे राजा युधिष्ठिरः ॥)

महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न भीष्मको हम किस प्रकार जीत सकेंगे, यही सोचते हुए राजा युधिष्ठिरने अपने शिबिरमें जानेका विचार किया ॥

ततोऽवहारं सैन्यानां चक्रे राजा युधिष्ठिरः ।
तथैव तव सैन्यानामवहारो ह्यभूत् तदा ॥ ५ ॥

इसके बाद महाराज युधिष्ठिरने अपनी सेनाको पीछे लौटा लिया । इसी प्रकार आपकी सेना भी उस समय युद्धस्थलसे शिबिरकी ओर लौट चली ॥ ५ ॥

ततोऽवहारं सैन्यानां कृत्वा तत्र महारथाः ।
न्यविशन्त कुरुश्रेष्ठ संग्रामे क्षतविक्षताः ॥ ६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार संग्राममें क्षत-विक्षत हुए वे सब महारथी सेनाको लौटाकर शिबिरमें विश्राम करने लगे ॥६॥

भीष्मस्य समरे कर्म चिन्तयानास्तु पाण्डवाः ।
नालभन्त तदा शान्तिं भीष्मबाणप्रपीडिताः ॥ ७ ॥

पाण्डव भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे । उन्हें समराङ्गणमें भीष्मके पराक्रमका चिन्तन करके तनिक भी शान्ति नहीं मिलती थी ॥ ७ ॥

भीष्मोऽपि समरे जित्वा पाण्डवान् सहसृंजयान् ।
पूज्यमानस्तव सुतैर्वन्द्यमानश्च भारत ॥ ८ ॥

न्यविशत् कुरुभिः सार्धं हृष्टरूपैः समन्ततः ।

भारत ! भीष्म भी समरभूमिमें सृंजयों तथा पाण्डवोंको जीतकर आपके पुत्रोंद्वारा प्रशंसित और अभिवन्दित हो अत्यन्त हर्षमें भरे हुए कौरवोंके साथ शिविरमें गये ॥ ८½ ॥

ततो रात्रिः समभवत् सर्वभूतप्रमोहिनी ॥ ९ ॥
तस्मिन् रात्रिमुखे घोरे पाण्डवा वृष्णिभिः सह ।
सृंजयाश्च दुराधर्षा मन्त्राय समुपाविशन् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण भूतोंको मोहमयी निद्रामें डालनेवाली रात्रि आ गयी । उस भयंकर रात्रिके आरम्भकालमें वृष्णि-वंशियोंसहित दुर्धर्ष सृंजय और पाण्डव गुप्तमन्त्रणाके लिये एक साथ बैठे ॥ ९-१० ॥

आत्मनिःश्रेयसं सर्वे प्राप्तकालं महाबलाः ।
मन्त्रयामासुरव्यग्रा मन्त्रनिश्चयकोविदाः ॥ ११ ॥

उस समय वे समस्त महाबली वीर समयानुसार अपनी भलाईके प्रश्नपर स्वस्थचित्तसे विचार करने लगे । वे सभी लोग मन्त्रणा करके किसी निश्चयपर पहुँच जानेमें कुशल थे ।११।

(हनिष्याम यथा भीष्मं जयेम पृथिवीमिमाम् ॥)
ततो युधिष्ठिरो राजा मन्त्रयित्वा चिरं नृप ।
वासुदेवं समुद्वीक्ष्य वचनं चेदमाददे ॥ १२ ॥

उनमें यह विचार होने लगा कि हम भीष्मको कैसे मार सकेंगे और किस प्रकार इस पृथ्वीपर विजय प्राप्त करेंगे । नरेश्वर ! उस समय राजा युधिष्ठिरने दीर्घकालतक गुप्त मन्त्रणा करनेके पश्चात् वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह बात कही—॥ १२ ॥

कृष्ण पश्य महात्मानं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
गजं नलवनानीव विमृद्नन्तं बलं मम ॥ १३ ॥

'श्रीकृष्ण ! देखिये, भयंकर पराक्रमी महात्मा भीष्म हमारी सेनाका उसी प्रकार विनाश कर रहे हैं, जैसे हाथी सरकंडोंके जंगलोंको रौंद डालते हैं ॥ १३ ॥

(मम माधव सैन्येषु वध्यमानेषु तेन वै ।
कथं योत्स्याम दुर्धर्षं श्रेयो मेऽत्र विधीयताम् ॥
त्वमेव गतिरस्माकं नान्यां गतिमुपास्महे ।
न युद्धं रोचते मह्यं भीष्मेण सह माधव ।
हन्ति भीष्मो महावीरो मम सैन्यं च संयुगे ॥)

'माधव ! इनके द्वारा जब हमारी सेनाएँ मारी जा रही हैं, उस अवस्थामें इन दुर्धर्ष वीर भीष्मके साथ हमलोग कैसे युद्ध करें ? यहाँ जिस प्रकार हमारा भला हो, वह उपाय कीजिये । माधव ! आप ही हमारे आश्रय हैं । हम दूसरे किसीका सहारा नहीं लेते । हमें भीष्मजीके साथ युद्ध करना अच्छा नहीं लगता है । इधर महावीर भीष्म युद्धस्थलमें हमारी सेनाका संहार करते चले जा रहे हैं ।

न चैवैनं महात्मानमुत्सहामो निरीक्षितुम् ।
लेलिह्यमानं सैन्येषु प्रवृद्धमिव पावकम् ॥ १४ ॥

'ये प्रज्वलित अग्निके समान बाणोंकी लपटोंसे हमारी सेनामें सबको चाटते (भस्म करते) जा रहे हैं, हमलोग इन महात्माकी ओर देख भी नहीं पा रहे हैं ॥ १४ ॥

यथा घोरो महानागस्तक्षको वै विषोल्बणः ।
तथा भीष्मो रणे क्रुद्धस्तीक्ष्णशस्त्रः प्रतापवान् ॥ १५ ॥
गृहीतचापः समरे प्रमुञ्चन् निशिताञ्छरान् ।

'जैसे महानाग तक्षक अपने प्रचण्ड विषके कारण भयंकर प्रतीत होता है, उसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीष्म युद्धस्थलमें जब हाथमें धनुष लेकर पैने बाणोंकी वर्षा करने लगते हैं, उस समय अपने तीखे अस्त्र-शस्त्रोंके कारण बड़े भयानक जान पड़ते हैं ॥ १५½ ॥

शक्यो जेतुं यमः क्रुद्धो वज्रपाणिश्च देवराट् ॥ १६ ॥
वरुणः पाशभृच्चापि सगदो वा धनेश्वरः ।
न तु भीष्मः सुसंक्रुद्धः शक्यो जेतुं महाहवे ॥ १७ ॥

'समरभूमिमें क्रोधमें भरे हुए यमराज, वज्रधारी इन्द्र, पाशधारी वरुण अथवा गदाधारी कुबेरको भी जीता जा सकता है; परंतु इस महासमरमें कुपित भीष्मको पराजित करना असम्भव है ॥ १६-१७ ॥

सोऽहमेवंगते कृष्ण निमग्नः शोकसागरे ।
आत्मनो बुद्धिदौर्बल्याद् भीष्ममासाद्य संयुगे ॥ १८ ॥

'श्रीकृष्ण ! ऐसी स्थितिमें मैं अपनी बुद्धिकी दुर्बलताके कारण युद्धस्थलमें भीष्मको सामने देखकर शोकके समुद्रमें डूबा जा रहा हूँ ॥ १८ ॥

वनं यास्यामि दुर्धर्ष श्रेयो वै तत्र मे गतम् ।
न युद्धं रोचते कृष्ण हन्ति भीष्मो हि नः सदा ॥ १९ ॥

'दुर्धर्ष वीर श्रीकृष्ण ! अब मैं वनको चला जाऊँगा । मेरे लिये वनमें जाना ही कल्याणकारी होगा । मुझे युद्ध अच्छा नहीं लग रहा है; क्योंकि उसमें भीष्म सदा ही हमारे सैनिकोंका विनाश करते आ रहे हैं ॥ १९ ॥

यथा प्रज्वलितं वह्निं पतङ्गः समभिद्रवन् ।
एकतो मृत्युमभ्येति तथाहं भीष्ममीयिवान् ॥ २० ॥

'जैसे पतंग प्रज्वलित आगकी ओर दौड़ा जाकर एकमात्र मृत्युको ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार हमने भी भीष्मपर आक्रमण करके मृत्युका ही वरण किया है ॥ २० ॥

क्षयं नीतोऽस्मि वार्ष्णेय राज्यहेतोः पराक्रमी ।
भ्रातरश्चैव मे शूराः सायकैर्भृशपीडिताः ॥ २१ ॥

'वार्ष्णेय ! राज्यके लिये पराक्रम करके मैं क्षीण होता जा रहा हूँ । मेरे शूरवीर भाई बाणोंकी मारसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं ॥ २१ ॥

मत्कृते भ्रातृसौहार्दाद् राज्यभ्रष्टा वनं गताः ।
परिक्लिष्टा तथा कृष्णा मत्कृते मधुसूदन ॥ २२ ॥

'मधुसूदन ! मेरे लिये भ्रातृस्नेहवश ये भाई राज्यसे वञ्चित हुए और वनमें भी गये । मेरे ही कारण कृष्णाको भरी सभामें अपमानका कष्ट भोगना पड़ा ॥ २२ ॥

जीवितं बहु मन्येऽहं जीवितं ह्यद्य दुर्लभम् ।
जीवितस्याद्य शेषेण चरिष्ये धर्ममुत्तमम् ॥ २३ ॥

'इस समय मैं जीवनको ही बहुत मानता हूँ । आज तो जीवन भी दुर्लभ हो रहा है । अबसे जीवनके जितने दिन शेष हैं, उनके द्वारा मैं उत्तम धर्मका ही आचरण करूँगा ॥

यदि तेऽहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सह केशव ।
स्वधर्मस्याविरोधेन हितं व्याहर केशव ॥ २४ ॥

'केशव ! यदि भाइयोंसहित मुझपर आपका अनुग्रह है तो मुझे स्वधर्मके अनुकूल कोई हितकारक सलाह दीजिये' २४

एवं श्रुत्वा वचस्तस्य कारुण्याद् बहुविस्तरम् ।
प्रत्युवाच ततः कृष्णः सान्त्वयानो युधिष्ठिरम् ॥ २५ ॥

करुणासे प्रेरित होकर कहे हुए युधिष्ठिरके ये विस्तृत वचन सुनकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको सान्त्वना देते हुए कहा ॥

धर्मपुत्र विषादं त्वं मा कृथाः सत्यसङ्गर ।
यस्य ते भ्रातरः शूरा दुर्जयाः शत्रुसूदनाः ॥ २६ ॥

'धर्मपुत्र ! सत्यप्रतिज्ञ कुन्तीकुमार ! विषाद न कीजिये, आपके भाई बड़े ही शूरवीर, दुर्जय तथा शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं ॥ २६ ॥

अर्जुनो भीमसेनश्च वाय्वग्निसमतेजसौ ।
माद्रीपुत्रौ च विक्रान्तौ त्रिदशानामिवेश्वरौ ॥ २७ ॥

'अर्जुन और भीमसेन वायु तथा अग्निके समान तेजस्वी हैं । माद्रीकुमार नकुल और सहदेव भी पराक्रममें दो इन्द्रोंके समान हैं ॥ २७ ॥

मां वा नियुङ्क्ष्व सौहार्दाद् योत्स्ये भीष्मेण पाण्डव ।
त्वत्प्रयुक्तो महाराज किं न कुर्यां महाहवे ॥ २८ ॥

'पाण्डुनन्दन ! महाराज ! आप सौहार्दवश मुझे भी आज्ञा दीजिये । मैं भीष्मके साथ युद्ध करूँगा । भला आपकी आज्ञा मिल जानेपर मैं इस महासमरमें क्या नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

हनिष्यामि रणे भीष्ममाहूय पुरुषर्षभम् ।
पश्यतां धार्तराष्ट्राणां यदि नेच्छति फाल्गुनः ॥ २९ ॥

'यदि अर्जुन भीष्मको मारना नहीं चाहते हैं तो मैं युद्धमें पुरुषप्रवर भीष्मको ललकारकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके देखते-देखते मार डालूँगा ॥ २९ ॥

यदि भीष्मे हते वीरे जयं पश्यसि पाण्डव ।
हन्तास्म्येकरथेनाद्य कुरुवृद्धं पितामहम् ॥ ३० ॥

'पाण्डुनन्दन ! यदि भीष्मके मारे जानेपर ही आपको अपनी विजय दिखायी दे रही है तो मैं एकमात्र रथकी सहायतासे आज कुरुकुलवृद्ध पितामह भीष्मको मार डालूँगा॥

पश्य मे विक्रमं राजन् महेन्द्रस्येव संयुगे ।
विमुञ्चन्तं महास्त्राणि पातयिष्यामि तं रथात् ॥ ३१ ॥

'राजन् ! कल युद्धमें इन्द्रके समान मेरा पराक्रम देखियेगा। मैं बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रहार करनेवाले भीष्मको रथसे मार गिराऊँगा ॥ ३१ ॥

यः शत्रुः पाण्डुपुत्राणां मच्छत्रुः स न संशयः ।
मदर्था भवदीया ये ये मदीयास्तवैव ते ॥ ३२ ॥

'जो पाण्डवोंका शत्रु है, वह मेरा भी शत्रु है, इसमें संदेह नहीं है । जो आपके सुहृद् हैं, वे मेरे हैं और जो मेरे सुहृद् हैं, वे आपके ही हैं ॥ ३२ ॥

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च ।
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते ॥ ३३ ॥

'राजन् ! आपके भाई अर्जुन मेरे सखा, सम्बन्धी और शिष्य हैं । मैं अर्जुनके लिये अपना मांस भी काटकर दे दूँगा।

एष चापि नरव्याघ्रो मत्कृते जीवितं त्यजेत् ।
एष नः समयस्तात तारयेम परस्परम् ॥ ३४ ॥

'ये पुरुषसिंह अर्जुन भी मेरे लिये अपने प्राणोंतकका परित्याग कर सकते हैं । तात ! हमलोगोंमें यह प्रतिज्ञा हो चुकी है कि हम एक दूसरेको संकटसे उबारेंगे ॥ ३४ ॥

स मां नियुङ्क्ष्व राजेन्द्र यथा योद्धा भवाम्यहम् ।
प्रतिज्ञातमुपप्लव्ये यत् तत् पार्थेन पूर्वतः ॥ ३५ ॥
घातयिष्यामि गाङ्गेयमिति लोकस्य संनिधौ ।
परिरक्ष्यमिदं तावद् वचः पार्थस्य धीमतः ॥ ३६ ॥

'राजेन्द्र ! आप मुझे युद्धके काममें नियुक्त कीजिये । मैं आपका योद्धा बनूँगा । युद्धके पहले उपप्लव्यनगरमें सबलोगोंके सामने अर्जुनने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं गङ्गानन्दन भीष्मका वध करूँगा, बुद्धिमान् पार्थके उस वचनका पालन करना मेरे लिये आवश्यक है ॥ ३५-३६ ॥

अनुज्ञातं तु पार्थेन मया कार्यं न संशयः ।
अथवा फाल्गुनस्यैष भारः परिमितो रणे ॥ ३७ ॥

'अर्जुनने जिस बातके लिये प्रतिज्ञा की हो, उसकी पूर्ति करना मेरा कर्तव्य है, इसमें संशय नहीं है अथवा रणक्षेत्रमें अर्जुनके लिये यह बहुत थोड़ा भार है ॥ ३७ ॥

स हनिष्यति संग्रामे भीष्मं परपुरञ्जयम् ।
अशक्यमपि कुर्याद्धि रणे पार्थः समुद्यतः ॥ ३८ ॥

'वे शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले भीष्मको युद्धमें अवश्य मार डालेंगे । कुन्तीपुत्र अर्जुन उद्यत हो जायँ तो युद्धमें असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं ॥ ३८ ॥

त्रिदशान् वा समुद्युक्तान् सहितान् दैत्यदानवैः ।
निहन्यादर्जुनः संख्ये किमु भीष्मं नराधिप ॥ ३९ ॥

'नरेश्वर ! दैत्यों और दानवोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी अर्जुन युद्धमें मार सकते हैं; फिर भीष्मको मारना कौन बड़ी बात है ॥ ३९ ॥

विपरीतो महावीर्यो गतसत्त्वोऽल्पजीवनः ।
भीष्मः शान्तनवो नूनं कर्तव्यं नावबुध्यते ॥ ४० ॥

'महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म तो हमारे विपरीत

पक्षका आश्रय लेनेवाले और बलहीन हैं। इनके जीवनके दिन अब बहुत थोड़े रह गये हैं, तथापि यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि वे अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहे हैं' ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि माधव।
सर्वे ह्येते न पर्याप्तास्तव वेगविधारणे ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो ! माधव ! आप जैसा कहते हैं, ठीक ऐसी ही बात है। ये समस्त कौरव आपका वेग धारण करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ४१ ॥

नियतं समवाप्स्यामि सर्वमेतद् यथेप्सितम्।
यस्य मे पुरुषव्याघ्र भवान् पक्षे व्यवस्थितः ॥ ४२ ॥

पुरुषसिंह ! जिसके पक्षमें आप खड़े हैं, वह मैं यह सब अभीष्ट मनोरथ अवश्य पूर्ण कर लूँगा ॥ ४२ ॥

सेन्द्रानपि रणे देवाञ्जयेयं जयतां वर।
त्वया नाथेन गोविन्द किमु भीष्मं महारथम् ॥ ४३ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ गोविन्द ! आपको अपना रक्षक पाकर मैं युद्धमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी जीत सकता हूँ; फिर महारथी भीष्मपर विजय पाना कौन बड़ी बात है ॥ ४३ ॥

न तु त्वामनृतं कर्तुमुत्सहे स्वात्मगौरवात्।
अयुध्यमानः साहाय्यं यथोक्तं कुरु माधव ॥ ४४ ॥

माधव ! परंतु मैं अपनी गुरुताका प्रभाव डालकर आपको असत्यवादी नहीं बना सकता। आप युद्ध किये बिना ही पूर्वोक्त सहायता करते रहिये ॥ ४४ ॥

समयस्तु कृतः कश्चिन्मम भीष्मेण संयुगे।
मन्त्रयिष्ये तवार्थाय न तु योत्स्ये कथञ्चन ॥ ४५ ॥
दुर्योधनार्थं योत्स्यामि सत्यमेतदिति प्रभो।

मेरी भीष्मजीके साथ एक शर्त हो चुकी है। उन्होंने कहा है कि 'मैं युद्धमें तुम्हारे हितके लिये सलाह दे सकता हूँ, परंतु तुम्हारी ओरसे किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा। युद्ध तो मैं केवल दुर्योधनके लिये ही करूँगा।' प्रभो ! यह बिल्कुल सच्ची बात है ॥ ४५½ ॥

स हि राज्यस्य मे दाता मन्त्रस्यैव च माधव ॥ ४६ ॥
तस्माद् देवव्रतं भूयो वधोपायार्थमात्मनः।
भवता सहिताः सर्वे प्रयाम मधुसूदन ॥ ४७ ॥

अतः माधव ! भीष्मजी मुझे राज्य और मन्त्र (हितकर सलाह) दोनों देंगे। इसलिये मधुसूदन ! हम सब लोग पुनः आपके साथ देवव्रत भीष्मके पास उन्हींसे उनके वधका उपाय पूछने चलें ॥ ४६-४७ ॥

तद् वयं सहिता गत्वा भीष्ममाशु नरोत्तमम्।
नचिरात् सर्वे वार्ष्णेय मन्त्रं पृच्छाम कौरवम् ॥ ४८ ॥

वृष्णिनन्दन ! हम सब लोग शीघ्र ही एक साथ कुरुवंशी नरश्रेष्ठ भीष्मके पास चलें और उनसे सलाह लें ॥ ४८ ॥

स वक्ष्यति हितं वाक्यं सत्यमस्माञ्जनार्दन।
यथा च वक्ष्यते कृष्ण तथा कर्तास्मि संयुगे ॥ ४९ ॥

जनार्दन ! पूछनेपर वे हमें सत्य और हितकर बात बता देंगे। श्रीकृष्ण ! वे जैसा कहेंगे, युद्धमें वैसा ही करूँगा ॥ ४९ ॥

स नो जयस्य दाता स्यान्मन्त्रस्य च दृढव्रतः।
बालाः पित्रा विहीनाश्च तेन संवर्धिता वयम् ॥ ५० ॥

दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले भीष्मजी हमारे लिये विजय और सलाहके भी दाता हो सकते हैं। बाल्यावस्थामें जब हम पितृहीन हो गये थे, उस समय उन्होंने ही हमारा पालन-पोषण किया था ॥ ५० ॥

तं चेत् पितामहं वृद्धं हन्तुमिच्छामि माधव।
पितुः पितरमिष्टं च धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ॥ ५१ ॥

माधव ! यद्यपि वे हमारे पिताके भी पिता और प्रिय हैं, तो भी उन बूढ़े पितामह भीष्मको भी मैं मारना चाहता हूँ। क्षत्रियकी इस जीविकाको धिक्कार है ! ॥ ५१ ॥

संजय उवाच

ततोऽब्रवीन्महाराज वार्ष्णेयः कुरुनन्दनम्।
रोचते मे महाप्राज्ञ राजेन्द्र तव भाषितम् ॥ ५२ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तब भगवान् श्रीकृष्णने कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे कहा—'महामते राजेन्द्र ! आपका कथन मुझे ठीक जान पड़ता है ॥ ५२ ॥

देवव्रतः कृती भीष्मः प्रेक्षितेनापि निर्दहेत्।
गम्यतां स वधोपायं प्रष्टुं सागरगासुतः ॥ ५३ ॥

'देवव्रत भीष्म पुण्यात्मा पुरुष हैं। वे दृष्टिपातमात्रसे सबको दग्ध कर सकते हैं; अतः गङ्गानन्दन भीष्मसे उनके वधका उपाय पूछनेके लिये आप अवश्य उनके पास चलें ॥

वक्तुमर्हति सत्यं स त्वया पृष्टो विशेषतः।
ते वयं तत्र गच्छामः प्रष्टुं कुरुपितामहम् ॥ ५४ ॥
गत्वा शान्तनवं वृद्धं मन्त्रं पृच्छाम भारत।
स वो दास्यति मन्त्रं यं तेन योत्स्यामहे परान् ॥ ५५ ॥

'विशेषतः आपके पूछनेपर वे अवश्य सच्ची बात बतायेंगे। अतः हम सब लोग मिलकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मसे अभीष्ट प्रश्न पूछनेके लिये साथ-साथ वहाँ चलें और भारत ! चलकर उनसे हितकारक मन्त्रणा पूछें। वे आपको ऐसी मन्त्रणा देंगे, जिससे हमलोग शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ ५४-५५ ॥

एवमामन्त्र्य ते वीराः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वजम्।
जग्मुस्ते सहिताः सर्वे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ ५६ ॥

वे वीर पाण्डव इस प्रकार सलाह करके सब एक साथ

मिलकर अपने पिता पाण्डुके भी पितृतुल्य भीष्मपितामहके पास गये; उनके साथ पराक्रमी भगवान् वासुदेव भी थे ।५६।

विमुक्तशस्त्रकवचा भीष्मस्य सदनं प्रति ।
प्रविश्य च तदा भीष्मं शिरोभिः प्रणिपेदिरे ॥ ५७ ॥

उन सबने अस्त्र-शस्त्र और कवच रख दिये थे। वे भीष्मके शिविरकी ओर गये और उसके भीतर प्रवेश करके उन्होंने भीष्मको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया ॥ ५७ ॥

पूजयन्तो महाराज पाण्डवा भरतर्षभम् ।
प्रणम्य शिरसा चैनं भीष्मं शरणमभ्ययुः ॥ ५८ ॥

महाराज ! पाण्डवोंने भरतश्रेष्ठ भीष्मकी पूजा करते हुए उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और उन्हींकी शरण ली ॥ ५८ ॥

तानुवाच महाबाहुर्भीष्मः कुरुपितामहः ।
स्वागतं तव वार्ष्णेय स्वागतं ते धनंजय ॥ ५९ ॥
स्वागतं धर्मपुत्राय भीमाय यमयोस्तथा ।
किं वा कार्यं करोम्यद्य युष्माकं प्रीतिवर्धनम् ॥ ६० ॥
(युद्धादन्यत्र हे वत्साः व्रियन्तां मा विशङ्कथ ।)
सर्वात्मनापि कर्तास्मि यदपि स्यात् सुदुष्करम् ।

उस समय कुरुकुलके पितामह महाबाहु भीष्मने उन सब लोगोंसे कहा—'वृष्णिनन्दन ! आपका स्वागत है । धनंजय ! तुम्हारा भी स्वागत है । धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन और नकुल-सहदेव सबका स्वागत है । आज मैं तुम सब लोगोंकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाला कौन-सा कार्य करूँ । पुत्रो ! युद्धके अतिरिक्त जो चाहो, माँग लो, संकोच न करो । तुम्हारी माँग अत्यन्त दुष्कर हो तो भी मैं उसे सब प्रकारसे पूर्ण करूँगा' ॥ ५९-६०½ ॥

तथा ब्रुवाणं गाङ्गेयं प्रीतियुक्तं पुनः पुनः ॥ ६१ ॥
उवाच राजा दीनात्मा प्रीतियुक्तमिदं वचः ।

गङ्गानन्दन भीष्म जब बारंबार इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक कह रहे थे, उस समय राजा युधिष्ठिरने दीन हृदयसे प्रेमपूर्वक यह बात कही—॥ ६१½ ॥

कथं जयेम सर्वज्ञ कथं राज्यं लभेमहि ॥ ६२ ॥

'सर्वज्ञ ! युद्धमें हमारी जीत कैसे हो ? हम किस प्रकार राज्य प्राप्त करें ? ॥ ६२ ॥

प्रजानां संशयो न स्यात् कथं तन्मे वद प्रभो ।
भवान् हि नो वधोपायं ब्रवीतु स्वयमात्मनः ॥ ६३ ॥

'प्रभो ! हमारी प्रजाका जीवन संकटमें न पड़े, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? कृपया यह सब मुझे बताइये । आप स्वयं ही हमें अपने वधका उपाय बताइये ॥ ६३ ॥

भवन्तं समरे वीर विषहेम कथं वयम् ।
न हि ते सूक्ष्ममप्यस्ति रन्ध्रं कुरुपितामह ॥ ६४ ॥

'वीर ! समरभूमिमें हमलोग आपका वेग कैसे सह सकते हैं ? कुरुकुलके वृद्ध पितामह ! आपमें कोई छोटा-सा भी छिद्र (दोष) नहीं दृष्टिगोचर होता है ॥ ६४ ॥

मण्डलेनैव धनुषा दृश्यसे संयुगे सदा ।
आददानं संदधानं विकर्षन्तं धनुर्न च ॥ ६५ ॥
पश्यामस्त्वां महाबाहो रथे सूर्यमिवापरम् ।

'आप युद्धमें सदा मण्डलाकार धनुषके साथ ही परिलक्षित होते हैं । महाबाहो ! आप रथपर दूसरे सूर्यके समान विराजमान होकर कब बाण हाथमें लेते हैं, कब धनुषपर रखते हैं और कब उसकी डोरीको खींचते हैं, यह सब हमलोग नहीं देख पाते हैं ॥ ६५½ ॥

रथाश्वनरनागानां हन्तारं परवीरहन् ॥ ६६ ॥
कोऽथ वोत्सहते जेतुं त्वां पुमान् भरतर्षभ ।

'शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले भरतश्रेष्ठ ! आप रथ, अश्व, पैदल मनुष्य और हाथियोंका भी संहार करनेवाले हैं। कौन पुरुष आपको जीतनेका साहस कर सकता है ? ॥ ६६½ ॥

वर्षता शरवर्षाणि संयुगे वैशसं कृतम् ॥ ६७ ॥
क्षयं नीता हि पृतना संयुगे महती मम ।

'आपने युद्धस्थलमें बाणोंकी वर्षा करके भारी संहार मचा रखा है । रणक्षेत्रमें मेरी विशाल सेना आपके द्वारा नष्ट हो चुकी है ॥ ६७½ ॥

यथा युधि जयेम त्वां यथा राज्यं भृशं मम ॥ ६८ ॥
मम सैन्यस्य च क्षेमं तन्मे ब्रूहि पितामह ।

'पितामह ! हमलोग युद्धमें जिस प्रकार आपको जीत सकें, जिस प्रकार हमें विपुल राज्यकी प्राप्ति हो सके और जिस प्रकार मेरी सेना भी सकुशल रह सके, वह उपाय मुझे बताइये' ॥ ६८½ ॥

ततोऽब्रवीच्छान्तनवः पाण्डवान् पाण्डुपूर्वजः ॥ ६९ ॥
न कथञ्चन कौन्तेय मयि जीवति संयुगे ।
जयो भवति सर्वज्ञ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ७० ॥

तब पाण्डुके पितृतुल्य शान्तनुकुमार भीष्मजीने पाण्डवोंसे इस प्रकार कहा—'कुन्तीकुमार ! मेरे जीते-जी युद्धमें किसी प्रकार तुम्हारी विजय नहीं हो सकती । सर्वज्ञ ! मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ॥ ६९-७० ॥

निर्जिते मयि युद्धेन रणे जेष्यथ पाण्डवाः ।
क्षिप्रं मयि प्रहरध्वं यदीच्छथ रणे जयम् ॥ ७१ ॥

'पाण्डवो ! यदि युद्धके द्वारा मैं किसी प्रकार जीत लिया जाऊँ, तभी तुमलोग रणक्षेत्रमें विजयी हो सकोगे । यदि युद्धमें विजय चाहते हो तो मुझपर शीघ्र ही (घातक) प्रहार करो ॥ ७१ ॥

अनुजानामि वः पार्थाः प्रहरध्वं यथासुखम् ।
एवं हि सुकृतं मन्ये भवतां विदितो ह्यहम् ॥ ७२ ॥
हते मयि हतं सर्वं तस्मादेवं विधीयताम् ।

'कुन्तीकुमारो ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम सुखपूर्वक मेरे ऊपर प्रहार करो। मैं तुम्हारे लिये यह पुण्यकी बात मानता हूँ कि तुम्हें मेरे इस प्रभावका ज्ञान हो गया कि मेरे मारे जानेपर सारी कौरव-सेना मरी हुई ही हो जायगी; अतः ऐसा ही करो (मुझे मार डालो)' ॥ ७२½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि तस्मादुपायं नो यथा युद्धे जयेमहि ॥ ७३ ॥
भवन्तं समरे क्रुद्धं दण्डहस्तमिवान्तकम् ।

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! हमलोग युद्धमें दण्डधारी यमराजकी भाँति क्रोधमें भरे हुए आपको जिस प्रकार जीत सकें, वैसा उपाय हमें आप ही बताइये ॥ ७३½ ॥

शक्यो वज्रधरो जेतुं वरुणोऽथ यमस्तथा ॥ ७४ ॥
न भवान् समरे शक्यः सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।

वज्रधारी इन्द्र, वरुण और यम—इन सबको जीता जा सकता है; परंतु आपको तो समरभूमिमें इन्द्र आदि देवता और असुर भी नहीं जीत सकते ॥ ७४½ ॥

भीष्म उवाच

सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ॥ ७५ ॥
नाहं जेतुं रणे शक्यः सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।
आत्तशस्त्रो रणे यत्तो गृहीतवरकार्मुकः ॥ ७६ ॥

भीष्मने कहा—महाबाहो ! पाण्डुनन्दन ! तुम जैसा कहते हो, यह सत्य है। जबतक मेरे हाथमें शस्त्र होगा, जबतक मैं श्रेष्ठ धनुष लेकर युद्धके लिये सावधान एवं प्रयत्नशील रहूँगा, तबतक इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी रणक्षेत्रमें मुझे जीत नहीं सकते ॥ ७५-७६ ॥

ततो मां न्यस्तशस्त्रं तु एते हन्युर्महारथाः ।
निक्षिप्तशस्त्रे पतिते विमुक्तकवचध्वजे ॥ ७७ ॥
द्रवमाणे च भीते च तवास्मीति च वादिनि ।
स्त्रियां स्त्रीनामधेये च विकले चैकपुत्रके ॥ ७८ ॥
अप्रशस्ते नरे चैव न युद्धं रोचते मम ।

जब मैं अस्त्र-शस्त्र डाल दूँ, उस अवस्थामें ये महारथी मुझे मार सकते हैं। जिसने शस्त्र नीचे डाल दिया हो, जो गिर पड़ा हो, जो कवच और ध्वजसे शून्य हो गया हो, जो भयभीत होकर भागता हो, अथवा 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कह रहा हो, जो स्त्री हो, स्त्रियों-जैसा नाम रखता हो, विकल हो, जो अपने पिताका इकलौता पुत्र हो, अथवा जो नीच जातिका हो, ऐसे मनुष्यके साथ युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥ ७७-७८½ ॥

इमं मे शृणु राजेन्द्र संकल्पं पूर्वचिन्तितम् ॥ ७९ ॥
अमङ्गल्यध्वजं दृष्ट्वा न युध्येयं कदाचन ।

राजेन्द्र ! मेरे पहलेसे सोचे हुए इस संकल्पको सुनो, जिसकी ध्वजामें कोई अमङ्गलसूचक चिह्न हो, ऐसे पुरुषको देखकर मैं कभी उसके साथ युद्ध नहीं कर सकता ॥ ७९½ ॥

य एष द्रौपदो राजंस्तव सैन्ये महारथः ॥ ८० ॥
शिखण्डी समरामर्षी शूरश्च समितिञ्जयः ।
यथाभवच्च स्त्री पूर्वं पश्चात् पुंस्त्वं समागतः ॥ ८१ ॥

राजन् ! तुम्हारी सेनामें जो यह द्रुपदपुत्र महारथी शिखण्डी है, वह समरभूमिमें अमर्षशील, शौर्यसम्पन्न तथा युद्धविजयी है। वह पहले स्त्री था, फिर पुरुषभावको प्राप्त हुआ है ॥ ८०-८१ ॥

जानन्ति च भवन्तोऽपि सर्वमेतद् यथातथम् ।
अर्जुनः समरे शूरः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ॥ ८२ ॥
मामेव विशिखैस्तीक्ष्णैरभिद्रवतु दंशितः ।

ये सारी बातें जैसे हुई हैं, वह सब तुमलोग भी जानते हो। शूरवीर अर्जुन समराङ्गणमें कवच धारण करके शिखण्डीको आगे रखकर मुझपर तीखे बाणोंद्वारा आक्रमण करे ॥

अमङ्गल्यध्वजे तस्मिन् स्त्रीपूर्वे च विशेषतः ॥ ८३ ॥
न प्रहर्तुमभीप्सामि गृहीतेषुः कथञ्चन ।

शिखण्डीकी ध्वजा अमाङ्गलिक चिह्नसे युक्त है तथा विशेषतः वह पहले स्त्री रहा है; इसलिये मैं हाथमें बाण लिये रहनेपर भी किसी प्रकार उसके ऊपर प्रहार नहीं करना चाहता ॥ ८३½ ॥

तदन्तरं समासाद्य पाण्डवो मां धनंजयः ॥ ८४ ॥
शरैर्घातयतु क्षिप्रं समन्ताद् भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! इसी अवसरका लाभ लेकर पाण्डुपुत्र अर्जुन मुझे चारों ओरसे शीघ्रतापूर्वक बाणोंद्वारा मार डालनेका प्रयत्न करे ॥ ८४½ ॥

न तं पश्यामि लोकेषु मां हन्याद् यः समुद्यतम् ॥ ८५ ॥
ऋते कृष्णान्महाभागात् पाण्डवाद् वा धनञ्जयात् ।

मैं महाभाग भगवान् श्रीकृष्ण अथवा पाण्डुपुत्र धनंजयके सिवा दूसरे किसीको जगत्‌में ऐसा नहीं देखता, जो युद्धके लिये उद्यत होनेपर मुझे मार सके ॥ ८५½ ॥

एष तस्मात् पुरोधाय कञ्चिदन्यं ममाग्रतः ॥ ८६ ॥
आत्तशस्त्रो रणे यत्तो गृहीतवरकार्मुकः ।
मां पातयतु बीभत्सुरेवं तव जयो ध्रुवम् ॥ ८७ ॥

इसलिये यह अर्जुन श्रेष्ठ धनुष तथा दूसरे अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्धमें सावधानीके साथ प्रयत्नशील हो और उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त किसी पुरुषको अथवा शिखण्डीको मेरे सामने खड़ा करके स्वयं बाणोंद्वारा मुझे मार गिरावे। इसी प्रकार तुम्हारी निश्चितरूपसे विजय हो सकती है ॥ ८६-८७ ॥

एतत् कुरुष्व कौन्तेय यथोक्तं मम सुव्रत ।
संग्रामे धार्तराष्ट्रांश्च हन्याः सर्वान् समागतान् ॥ ८८ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! तुम

मेरे ऊपर जैसे मैंने बतायी है, वैसी ही नीतिका प्रयोग करो। ऐसा करके ही तुम रणक्षेत्रमें आये हुए सम्पूर्ण धृतराष्ट्रपुत्रों एवं उनके सैनिकोंको मार सकते हो ॥ ८८ ॥

संजय उवाच

ते तु ज्ञात्वा ततः पार्था जग्मुः स्वशिबिरं प्रति ।
अभिवाद्य महात्मानं भीष्मं कुरुपितामहम् ॥ ८९ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! यह सब जानकर कुन्तीके सभी पुत्र कुरुकुलके वृद्ध पितामह महात्मा भीष्मको प्रणाम करके अपने शिविरकी ओर चले गये ॥ ८९ ॥

तथोक्तवति गाङ्गेये परलोकाय दीक्षिते ।
अर्जुनो दुःखसंतप्तः सव्रीडमिदमब्रवीत् ॥ ९० ॥

गङ्गानन्दन भीष्म परलोककी दीक्षा ले चुके थे। उन्होंने जब पूर्वोक्त बात बतायी, तब अर्जुन दुःखसे संतप्त एवं लज्जित होकर श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥ ९० ॥

गुरुणा कुरुवृद्धेन कृतप्रज्ञेन धीमता ।
पितामहेन संग्रामे कथं योद्धास्मि माधव ॥ ९१ ॥

'माधव! कुरुकुलके वृद्ध गुरुजन विशुद्ध-बुद्धि, मतिमान् पितामह भीष्मसे मैं रणक्षेत्रमें कैसे युद्ध करूँगा ॥ ९१ ॥

क्रीडता हि मया बाल्ये वासुदेव महामनाः ।
पांसुरूषितगात्रेण महात्मा परुषीकृतः ॥ ९२ ॥

'वासुदेव! बचपनमें खेलते समय मैंने अपने धूलि-धूसर शरीरसे उन महामनस्वी महात्माको सदा दूषित किया है ॥

यस्याहमधिरुह्याङ्कं बालः किल गदाग्रज ।
तातेत्यवोचं पितरं पितुः पाण्डोर्महात्मनः ॥ ९३ ॥
नाहं तातस्तव पितुस्तातोऽस्मि तव भारत ।
इति मामब्रवीद् बाल्ये यः स वध्यः कथं मया ॥ ९४ ॥

'गदाग्रज! कहते हैं, मैं बचपनमें अपने पिता महात्मा पाण्डुके भी पितृतुल्य भीष्मजीकी गोदमें चढ़कर जब उन्हें तात कहकर पुकारता था, उस समय उस बाल्यावस्थामें ही वे मुझसे इस प्रकार कहते थे—'भरतनन्दन! मैं तुम्हारा तात नहीं, तुम्हारे पिताका तात हूँ।' वे ही वृद्ध पितामह मेरे द्वारा मारने योग्य कैसे हो सकते हैं? ॥ ९३-९४ ॥

कामं वध्यतु सैन्यं मे नाहं योत्स्ये महात्मना ।
जयो वास्तु वधो वा मे कथं वा कृष्ण मन्यसे ॥ ९५ ॥

'भले ही वे मेरी सेनाका नाश कर डालें, मेरी विजय हो अथवा मृत्यु; परंतु मैं उन महात्मा भीष्मके साथ युद्ध नहीं करूँगा; अथवा श्रीकृष्ण! आप कैसा ठीक समझते हैं? ॥

(कथमस्मद्विधः कृष्ण जानन् धर्मं सनातनम् ।
न्यस्तशस्त्रे च वृद्धे च प्रहरेद्धि पितामहे ॥)

'श्रीकृष्ण! अपने सनातन धर्मको जाननेवाला मेरे-जैसा पुरुष हथियार डालकर बैठे हुए अपने बूढ़े पितामहपर प्रहार कैसे करेगा?' ॥

वासुदेव उवाच

प्रतिज्ञाय वधं जिष्णो पुरा भीष्मस्य संयुगे ।
क्षत्रधर्मे स्थितः पार्थ कथं नैनं हनिष्यसि ॥ ९६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—विजयी कुन्तीकुमार! तुम क्षत्रियधर्ममें स्थित हो। युद्धमें तुम पहले भीष्मके वधकी प्रतिज्ञा करके अब उन्हें कैसे नहीं मारोगे? ॥ ९६ ॥

पातयैनं रथात् पार्थ क्षत्रियं युद्धदुर्मदम् ।
नाहत्वा युधि गाङ्गेयं विजयस्ते भविष्यति ॥ ९७ ॥

पार्थ! तुम युद्धदुर्मद क्षत्रियप्रवर भीष्मको रथसे मार गिराओ। रणक्षेत्रमें गङ्गानन्दन भीष्मको मारे बिना तुम्हारी विजय नहीं होगी ॥ ९७ ॥

दृष्टमेतत् पुरा देवैर्गमिष्यति यमक्षयम् ।
यद् दृष्टं हि पुरा पार्थ तत् तथा न तदन्यथा ॥ ९८ ॥

इस बातको देवताओंने पहलेसे ही देख रक्खा है। भीष्म इसी प्रकार यमलोकको जायँगे। पार्थ! जिसे देवताओंने देखा है, वह उसी प्रकार होगा। उसे कोई बदल नहीं सकता ॥ ९८ ॥

न हि भीष्मं दुराधर्षं व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
त्वदन्यः शक्नुयाद् योद्धुमपि वज्रधरः स्वयम् ॥ ९९ ॥

दुर्धर्ष वीर भीष्म मुँह फैलाये हुए कालके समान प्रतीत होते हैं। तुम्हारे सिवा दूसरा कोई, भले ही वह साक्षात् वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, उनके साथ युद्ध नहीं कर सकता॥

जहि भीष्मं स्थिरो भूत्वा शृणु चेदं वचो मम ।
यथोवाच पुरा शक्रं महाबुद्धिर्बृहस्पतिः ॥ १०० ॥

अर्जुन! तुम स्थिर होकर भीष्मको मारो और मेरी यह बात सुनो, जिसे पूर्वकालमें महाबुद्धिमान् बृहस्पतिजीने देवराज इन्द्रको बताया था ॥ १०० ॥

ज्यायांसमपि चेद् वृद्धं गुणैरपि समन्वितम् ।
आततायिनमायान्तं हन्याद् घातकमात्मनः ॥ १०१ ॥

कोई बड़े-से-बड़े गुरुजन, वृद्ध और सर्वगुणसम्पन्न पुरुष ही क्यों न हों, यदि शस्त्र उठाकर अपना वध करनेके लिये आ रहे हों तो उस आततायीको अवश्य मार डालना चाहिये॥

शाश्वतोऽयं स्थितो धर्मः क्षत्रियाणां धनंजय ।
योद्धव्यं रक्षितव्यं च यष्टव्यं चानसूयुभिः ॥ १०२ ॥

धनंजय! यह क्षत्रियोंका निश्चित सनातन धर्म है। उन्हें किसीके प्रति दोषदृष्टि न रखकर सदा युद्ध, प्रजाओंकी रक्षा और यज्ञ करते रहने चाहिये ॥ १०२ ॥

अर्जुन उवाच

शिखण्डी निधनं कृष्ण भीष्मस्य भविता ध्रुवम् ।
दृष्ट्वैव हि सदा भीष्मः पाञ्चाल्यं विनिवर्तते ॥ १०३ ॥

अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण! शिखण्डी निश्चय ही

भीष्मकी मृत्युका कारण होगा; क्योंकि भीष्म उस पाञ्चाल-राजकुमारको देखते ही सदा युद्धसे निवृत्त हो जाते हैं। १०३।

ते वयं प्रमुखे तस्य पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्।
गाङ्गेयं पातयिष्याम उपायेनेति मे मतिः ॥१०४॥

अतः हम सब लोग उनके सामने शिखण्डीको खड़ा करके शस्त्रप्रहाररूप उपायद्वारा गङ्गानन्दन भीष्मको मार गिरायेंगे, यही मेरा विचार है ॥ १०४ ॥

अहमन्यान् महेष्वासान् वारयिष्यामि सायकैः।
शिखण्ड्यपि युधां श्रेष्ठं भीष्ममेवाभियोधयेत् ॥१०५॥

मैं बाणोंद्वारा अन्य महाधनुर्धरोंको रोकूँगा। शिखण्डी भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्मके साथ ही युद्ध करे ॥ १०५ ॥

श्रुतं हि कुरुमुख्यस्य नाहं हन्यां शिखण्डिनम्।
कन्या ह्येषा पुरा भूत्वा पुरुषः समपद्यत ॥१०६॥

कुरुकुलके प्रधान वीर भीष्मका यह निश्चय है कि मैं शिखण्डीको नहीं मारूँगा; क्योंकि वह पहले कन्यारूपमें उत्पन्न होकर पीछे पुरुष हुआ है ॥ १०६ ॥

(अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीष्मस्य वधसंयुतम्।
जहृषुर्हृष्टरोमाणः सकृष्णाः पाण्डवास्तदा ॥)

अर्जुनका भीष्मके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला यह वचन सुनकर श्रीकृष्णसहित समस्त पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। उस समय हर्षातिरेकके कारण उनके शरीरोंमें रोमाञ्च हो आया ॥

इत्येवं निश्चयं कृत्वा पाण्डवाः सहमाधवाः।
अनुमान्य महात्मानं प्रययुर्हृष्टमानसाः।
शयनानि यथास्वानि भेजिरे पुरुषर्षभाः ॥१०७॥

ऐसा निश्चय करके श्रीकृष्णसहित पाण्डव मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हो महात्मा भीष्मसे विदा लेकर चले गये और उन पुरुषशिरोमणियोंने अपनी-अपनी शय्याओंका आश्रय लिया ॥ १०७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि नवमदिवसावहारोत्तरमन्त्रे सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें नवें दिनके युद्धके समाप्त होनेके पश्चात् परस्पर गुप्तमन्त्रणाविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ११४½ श्लोक हैं)

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

दसवें दिन उभय पक्षकी सेनाका रणके लिये प्रस्थान तथा भीष्म और शिखण्डीका समागम एवं अर्जुनका शिखण्डीको भीष्मका वध करनेके लिये उत्साहित करना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेयमभ्यवर्तत संयुगे।
पाण्डवांश्च कथं भीष्मस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! शिखण्डीने युद्धमें गङ्गानन्दन भीष्मपर किस प्रकार आक्रमण किया और भीष्मने भी पाण्डवोंपर किस तरह चढ़ाई की? यह सब मुझे बताओ॥१॥

संजय उवाच

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सूर्यस्योदयनं प्रति।
ताड्यमानासु भेरीषु मृदङ्गेष्वानकेषु च ॥ २ ॥
ध्मायत्सु दधिवर्णेषु जलजेषु समन्ततः।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य निर्याताः पाण्डवा युधि ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन्! तदनन्तर सूर्योदय होनेपर रणभेरियाँ बज उठीं, मृदङ्ग और ढोल पीटे जाने लगे, दहीके समान श्वेतवर्णवाले शङ्ख सब ओर बजाये जाने लगे। उस समय समस्त पाण्डव शिखण्डीको आगे करके युद्धके लिये शिविरसे बाहर निकले ॥ २—३ ॥

कृत्वा व्यूहं महाराज सर्वशत्रुनिबर्हणम्।
शिखण्डी सर्वसैन्यानामग्र आसीद् विशाम्पते ॥ ४ ॥

महाराज! प्रजानाथ! उस दिन शिखण्डी समस्त शत्रुओंका संहार करनेवाले व्यूहका निर्माण करके स्वयं सब सेनाके सामने खड़ा हुआ ॥ ४ ॥

चक्ररक्षौ ततस्तस्य भीमसेनधनंजयौ।
पृष्ठतो द्रौपदेयाश्च सौभद्रश्चैव वीर्यवान् ॥ ५ ॥

उस समय भीमसेन और अर्जुन शिखण्डीके रथके पहियोंके रक्षक बन गये। द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी सुभद्राकुमार अभिमन्युने उसके पृष्ठभागकी रक्षाका कार्य सँभाला॥

सात्यकिश्चेकितानश्च तेषां गोप्ता महारथः।
धृष्टद्युम्नस्ततः पश्चात् पञ्चालैरभिरक्षितः ॥ ६ ॥

सात्यकि और चेकितान भी उन्हींके साथ थे। पाञ्चाल वीरोंसे सुरक्षित महारथी धृष्टद्युम्न उन सबके पीछे रहकर सबकी रक्षा करते रहे ॥ ६ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा यमाभ्यां सहितः प्रभुः।
प्रययौ सिंहनादेन नादयन् भरतर्षभ ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिर नकुल-सहदेवके साथ अपने सिंहनादसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए युद्धके लिये चले ॥ ७ ॥

विराटस्तु ततः पश्चात् स्वेन सैन्येन संवृतः।
द्रुपदश्च महाबाहो ततः पश्चादुपाद्रवत् ॥ ८ ॥

उनके पीछे अपनी सेनाके साथ राजा विराट चलने लगे । महाबाहो ! विराटके पीछे द्रुपदने धावा किया ॥ ८ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ।
जघनं पालयामासुः पाण्डुसैन्यस्य भारत ॥ ९ ॥

भारत ! इसके बाद पाँचों भाई केकय तथा पराक्रमी धृष्टकेतु—ये पाण्डवसेनाके जघनभागकी रक्षा करने लगे ॥ ९ ॥

एवं व्यूह्य महासैन्यं पाण्डवास्तव वाहिनीम् ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ॥ १० ॥

इस प्रकार पाण्डवोंने अपनी विशाल सेनाके व्यूहका निर्माण करके संग्राममें अपने जीवनका मोह छोड़कर आपकी सेनापर धावा किया ॥ १० ॥

तथैव कुरवो राजन् भीष्मं कृत्वा महारथम् ।
अग्रतः सर्वसैन्यानां प्रययुः पाण्डवान् प्रति ॥ ११ ॥

राजन् ! इसी प्रकार कौरवोंने भी महारथी भीष्मको सब सेनाओंके आगे करके पाण्डवोंपर चढ़ाई की ॥ ११ ॥

पुत्रैस्तव दुराधर्षो रक्षितः सुमहाबलैः ।
(प्रययौ पाण्डवानीकं भीष्मः शान्तनुनन्दनः ।)
ततो द्रोणो महेष्वासः पुत्रश्चास्य महाबलः ॥ १२ ॥

दुर्धर्ष वीर शान्तनुनन्दन भीष्म आपके महाबली पुत्रोंसे सुरक्षित हो पाण्डवोंकी सेनाकी ओर बढ़े । उनके पीछे महाधनुर्धर द्रोणाचार्य और महाबली अश्वत्थामा चले ॥ १२ ॥

भगदत्तस्ततः पश्चाद् गजानीकेन संवृतः ।
कृपश्च कृतवर्मा च भगदत्तमनुव्रतौ ॥ १३ ॥

इन दोनोंके पीछे हाथियोंकी विशाल सेनासे घिरे हुए राजा भगदत्त चले । कृपाचार्य और कृतवर्माने भगदत्तका अनुसरण किया ॥ १३ ॥

काम्बोजराजो बलवांस्ततः पश्चात् सुदक्षिणः ।
मागधश्च जयत्सेनः सौबलश्च बृहद्बलः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् बलवान् काम्बोजराज सुदक्षिण, मगधदेशीय जयत्सेन तथा सुबलपुत्र बृहद्बल चले ॥ १४ ॥

तथैवान्ये महेष्वासाः सुशर्मप्रमुखा नृपाः ।
जघनं पालयामासुस्तव सैन्यस्य भारत ॥ १५ ॥

भारत ! इसी प्रकार सुशर्मा आदि अन्य महाधनुर्धर राजाओंने आपकी सेनाके जघनभागकी रक्षाका कार्य सँभाला ॥ १५ ॥

दिवसे दिवसे प्राप्ते भीष्मः शान्तनवो युधि ।
आसुरानकरोद् व्यूहान् पैशाचानथ राक्षसान् ॥ १६ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धमें प्रतिदिन असुर, पिशाच तथा राक्षसव्यूहोंका निर्माण किया करते थे ॥ १६ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तव तेषां च भारत ।
अन्योन्यं निघ्नतां राजन् यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ १७ ॥

भारत ! (उस दिन भी व्यूह-रचनाके बाद) आपके और पाण्डवोंकी सेनामें युद्ध आरम्भ हुआ । राजन् ! परस्पर घातक प्रहार करनेवाले उन वीरोंका युद्ध यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला था ॥ १७ ॥

अर्जुनप्रमुखाः पार्थाः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
भीष्मं युद्धेऽभ्यवर्तन्त किरन्तो विविधाञ्छरान् ॥ १८ ॥

अर्जुन आदि कुन्तीकुमारोंने शिखण्डीको आगे करके युद्धमें नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ भीष्मपर चढ़ाई की ॥ १८ ॥

तत्र भारत भीमेन ताडितास्तावकाः शरैः ।
रुधिरौघपरिक्लिन्नाः परलोकं ययुस्तदा ॥ १९ ॥

भारत ! वहाँ भीमसेनके द्वारा बाणोंसे ताड़ित हुए आपके सैनिक खूनसे लथपथ होकर परलोकगामी होने लगे ॥ १९ ॥

नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः ।
तव सैन्यं समासाद्य पीडयामासुरोजसा ॥ २० ॥

नकुल, सहदेव और महारथी सात्यकिने आपकी सेनापर धावा करके उसे बलपूर्वक पीड़ित किया ॥ २० ॥

ते वध्यमानाः समरे तावका भरतर्षभ ।
नाशक्नुवन् वारयितुं पाण्डवानां महद् बलम् ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके सैनिक समरभूमिमें मारे जाने लगे । वे पाण्डवोंकी विशाल सेनाको रोक न सके ॥ २१ ॥

ततस्तु तावकं सैन्यं वध्यमानं समन्ततः ।
सुसम्प्राप्तं दश दिशः काल्यमानं महारथैः ॥ २२ ॥

उन महारथी वीरोंद्वारा सब ओरसे मारी और खदेड़ी जाती हुई आपकी सेना सब दिशाओंमें भाग खड़ी हुई ॥ २२ ॥

त्रातारं नाध्यगच्छन्त तावका भरतर्षभ ।
वध्यमानाः शितैर्बाणैः पाण्डवैः सहसृंजयैः ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डवों और सृंजयोंके तीखे बाणोंसे घायल होनेवाले आपके सैनिकोंको कोई रक्षक नहीं मिलता था ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

पीड्यमानं बलं दृष्ट्वा पार्थैर्भीष्मः पराक्रमी ।
यदकार्षीद् रणे क्रुद्धस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! कुन्तीकुमारोंके द्वारा अपनी सेनाको पीड़ित हुई देख युद्धमें क्रुद्ध हुए पराक्रमी भीष्मने क्या किया ? यह मुझे बताओ ॥ २४ ॥

कथं वा पाण्डवान् युद्धे प्रत्युद्यातः परंतपः ।
विनिघ्नन् सोमकान् वीरस्तदाचक्ष्व ममानघ ॥ २५ ॥

अनघ ! शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरवर भीष्मने युद्धस्थलमें सोमकोंका संहार करते हुए उस समय पाण्डवोंपर किस प्रकार आक्रमण किया ? वह सब भी मुझे बताओ ॥ २५ ॥

संजय उवाच

आचक्षे ते महाराज यदकार्षीत् पिता तव ।
पीडिते तव पुत्रस्य सैन्ये पाण्डवसृंजयैः ॥ २६ ॥

संजयने कहा—महाराज ! पाण्डवों तथा सृंजयोंद्वारा आपके पुत्रकी सेनाके पीड़ित होनेपर आपके ताऊ भीष्मने जो कुछ किया था, वह सब आपको बता रहा हूँ ॥ २६ ॥

प्रहृष्टमनसः शूराः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
अभ्यवर्तन्त निघ्नन्तस्तव पुत्रस्य वाहिनीम् ॥ २७ ॥

पाण्डुके बड़े भैया ! शूरवीर पाण्डव मनमें हर्ष और उत्साह भरकर आपके पुत्रकी सेनाका संहार करते हुए आगे बढ़े ॥ २७ ॥

तं विनाशं मनुष्येन्द्र नरवारणवाजिनाम् ।
नामृष्यत तदा भीष्मः सैन्यघातं रणे परैः ॥ २८ ॥

नरेन्द्र ! उस समय मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंके उस विनाशको—रणक्षेत्रमें शत्रुओंद्वारा किये जानेवाले अपनी सेनाके संहारको भीष्मजी नहीं सह सके ॥ २८ ॥

स पाण्डवान् महेष्वासः पञ्चालांश्चैव सृंजयान् ।
नाराचैर्वत्सदन्तैश्च शितैरञ्जलिकैस्तथा ॥ २९ ॥
अभ्यवर्षत दुर्धर्षस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।

वे महाधनुर्धर दुर्धर्ष वीर भीष्म अपने जीवनका मोह छोड़कर पाण्डवों, पाञ्चालों तथा सृंजयोंपर तीखे नाराच, वत्सदन्त और अञ्जलिक आदि बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २९½ ॥

स पाण्डवानां प्रवरान् पञ्च राजन् महारथान् ॥ ३० ॥
आत्तशस्त्रो रणे यत्नाद् वारयामास सायकैः ।

राजन् ! वे अस्त्र-शस्त्र लेकर पाण्डवपक्षके पाँच श्रेष्ठ महारथियोंका रणक्षेत्रमें बाणोंद्वारा यत्नपूर्वक निवारण करने लगे ॥ ३०½ ॥

नानाशस्त्रास्त्रवर्षैस्तान् वीर्यामर्षप्रवेरितैः ॥ ३१ ॥
निजघ्ने समरे क्रुद्धो हस्त्यश्वं चामितं बहु ।

उन्होंने बल और क्रोधसे चलाये हुए नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षाद्वारा समराङ्गणमें उन पाँचों महारथियोंको मार डाला और कुपित होकर असंख्य हाथी-घोड़ोंका भी संहार कर डाला ॥ ३१½ ॥

रथिनोऽपातयद् राजन् रथेभ्यः पुरुषर्षभः ॥ ३२ ॥
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यः पादातांश्च समागतान् ।
गजारोहान् गजेभ्यश्च परेषां जयकारिणः ॥ ३३ ॥

राजन् ! पुरुषश्रेष्ठ भीष्मने कितने ही रथियोंको रथोंसे, घुड़सवारोंको घोड़ोंकी पीठोंसे, शत्रुओंपर विजय पानेवाले हाथीसवारोंको हाथियोंसे तथा सामने आये हुए पैदल सिपाहियोंको भी मार गिराया ॥ ३२-३३ ॥

तमेकं समरे भीष्मं त्वरमाणं महारथम् ।
पाण्डवाः समवर्तन्त वज्रहस्तमिवासुराः ॥ ३४ ॥

समरभूमिमें फुर्ती दिखानेवाले एकमात्र महारथी भीष्मपर समस्त पाण्डवोंने उसी प्रकार धावा किया, जैसे असुर वज्रधारी इन्द्रपर आक्रमण करते हैं ॥ ३४ ॥

शक्राशनिसमस्पर्शान् विमुञ्चन् निशिताञ्छरान् ।
दिक्ष्वदृश्यत सर्वासु घोरं संधारयन् वपुः ॥ ३५ ॥

भीष्म इन्द्रके वज्रके समान दुःसह स्पर्शवाले पैने बाणोंकी वर्षा कर रहे थे और सम्पूर्ण दिशाओंमें भयंकर स्वरूप धारण किये दिखायी देते थे ॥ ३५ ॥

मण्डलीभूतमेवास्य नित्यं धनुरदृश्यत ।
संग्रामे युद्ध्यमानस्य शक्रचापोपमं महत् ॥ ३६ ॥

संग्रामभूमिमें युद्ध करते हुए भीष्मका इन्द्रधनुषके समान विशाल धनुष सदा मण्डलाकार ही दिखायी देता था ॥

तद् दृष्ट्वा समरे कर्म पुत्रास्तव विशाम्पते ।
विस्मयं परमं गत्वा पितामहमपूजयन् ॥ ३७ ॥

प्रजानाथ ! रणक्षेत्रमें आपके पुत्र पितामहके उस कर्मको देखकर अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गये और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ३७ ॥

पार्था विमनसो भूत्वा प्रैक्षन्त पितरं तव ॥ ३८ ॥
युध्यमानं रणे शूरं विप्रचित्तिमिवामराः ।

उस समय कुन्तीके पुत्र खिन्नचित्त होकर रणक्षेत्रमें युद्ध करते हुए आपके ताऊ शूरवीर भीष्मकी ओर उसी प्रकार देखने लगे, जैसे देवता विप्रचित्ति नामक दानवको देखते हैं ॥ ३८½ ॥

न चैनं वारयामासुर्व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ३९ ॥
दशमेऽहनि सम्प्राप्ते रथानीकं शिखण्डिनः ।
अदहन्निशितैर्बाणैः कृष्णवर्त्मेव काननम् ॥ ४० ॥

वे मुँह फैलाये हुए कालके समान भीष्मको रोक न सके । दसवाँ दिन आनेपर भीष्म जैसे दावाग्नि वनको जला देती है, उसी प्रकार शिखण्डीकी रथसेनाको तीखे बाणोंकी आगमें भस्म करने लगे ॥ ३९-४० ॥

तं शिखण्डी त्रिभिर्बाणैरभ्यविध्यत् स्तनान्तरे ।
आशीविषमिव क्रुद्धं कालसृष्टमिवान्तकम् ॥ ४१ ॥

तब शिखण्डीने तीन बाणोंसे भीष्मकी छातीमें प्रहार किया । उस समय वे कालप्रेरित मृत्यु तथा क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान जान पड़ते थे ॥ ४१ ॥

स तेनातिभृशं विद्धः प्रेक्ष्य भीष्मः शिखण्डिनम् ।
अनिच्छन्निव संक्रुद्धः प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

शिखण्डीके द्वारा अत्यन्त घायल हो भीष्म उसकी ओर देखकर अत्यन्त कुपित हो बिना इच्छाके ही हँसते हुए इस प्रकार बोले —॥ ४२ ॥

काममभ्यस वा मा वा न त्वां योत्स्ये कथंचन ।
यैव हि त्वं कृता धात्रा सैव हि त्वं शिखण्डिनी ॥ ४३ ॥

'अरे, तू इच्छानुसार प्रहार कर या न कर। मैं तेरे साथ किसी तरह युद्ध नहीं करूँगा। विधाताने जिस रूपमें तुझे उत्पन्न किया था, तू वही शिखण्डिनी है' ॥ ४३ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शिखण्डी क्रोधमूर्छितः ।
उवाचैनं तथा भीष्मं सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ४४ ॥

उनकी यह बात सुनकर शिखण्डी क्रोधसे मूर्छित-सा हो गया और अपने मुँहके कोनोंको चाटता हुआ भीष्मसे इस प्रकार बोला—॥ ४४ ॥

जानामि त्वां महाबाहो क्षत्रियाणां क्षयंकर ।
मया श्रुतं च ते युद्धं जामदग्न्येन वै सह ॥ ४५ ॥

'क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले महाबाहु भीष्म ! मैं भी आपको जानता हूँ। मैंने सुना है कि आपने जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध किया था ॥ ४५ ॥

दिव्यश्च ते प्रभावोऽयं मया च बहुशः श्रुतः ।
जानन्नपि प्रभावं ते योत्स्येऽद्याहं त्वया सह ॥ ४६ ॥

'आपका यह दिव्य प्रभाव बहुत बार मेरे सुननेमें आया है। आपके उस प्रभावको जानकर भी मैं आज आपके साथ युद्ध करूँगा ॥ ४६ ॥

पाण्डवानां प्रियं कुर्वन्नात्मनश्च नरोत्तम ।
अद्य त्वां योधयिष्यामि रणे पुरुषसत्तम ॥ ४७ ॥

'नरश्रेष्ठ ! पुरुषप्रवर ! आज पाण्डवोंका और अपना भी प्रिय करनेके लिये रणक्षेत्रमें खूब डटकर आपका सामना करूँगा ॥ ४७ ॥

ध्रुवं च त्वां हनिष्यामि शपे सत्येन तेऽग्रतः ।
एतच्छ्रुत्वा च मद्वाक्यं यत् कृत्यं तत् समाचर ॥ ४८ ॥

'मैं आपके सामने सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि आज आपको निश्चय ही मार डालूँगा। मेरी यह बात सुनकर आपको जो कुछ करना हो, वह कीजिये ॥ ४८ ॥

काममभ्यस वा मा वा न मे जीवन् प्रमोक्ष्यसे ।
सुदृष्टः क्रियतां भीष्म लोकोऽयं समितिंजय ॥ ४९ ॥

'युद्धविजयी भीष्मजी ! आप मुझपर इच्छानुसार प्रहार कीजिये या न कीजिये; परंतु आज आप मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकेंगे। अब इस संसारको अच्छी तरह देख लीजिये' ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो भीष्मं पञ्चभिर्नतपर्वभिः ।
अविध्यत रणे भीष्मं प्रणुन्नं वाक्यसायकैः ॥ ५० ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर शिखण्डीने जिन्हें पहले वचनरूपी बाणोंसे पीडित किया था, उन्हीं भीष्मको झुकी हुई गाँठवाले पाँच सायकोंद्वारा घायल कर दिया ।५०।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सव्यसाची महारथः ।
कालोऽयमिति संचिन्त्य शिखण्डिनमचोदयत् ॥ ५१ ॥

उसके उस कथनको सुनकर महारथी सव्यसाची अर्जुनने यह सोचकर कि यही इसके उत्साह बढ़ानेका अवसर है, शिखण्डीसे इस प्रकार कहा—॥ ५१ ॥

अहं त्वामनुयास्यामि परान् विद्रावयञ्शरैः ।
अभिद्रव सुसंरब्धो भीष्मं भीमपराक्रमम् ॥ ५२ ॥

'वीर ! मैं बाणोंद्वारा शत्रुओंको भगाता हुआ सदा तुम्हारा साथ दूँगा। अतः तुम भयंकर पराक्रमी भीष्मपर रोषपूर्वक आक्रमण करो ॥ ५२ ॥

न हि ते संयुगे पीडां शक्तः कर्तुं महाबलः ।
तस्मादद्य महाबाहो यत्नाद् भीष्ममभिद्रव ॥ ५३ ॥

'महाबाहो ! युद्धमें महाबली भीष्म तुम्हें पीड़ा नहीं दे सकते, इसलिये आज यत्नपूर्वक इनके ऊपर धावा करो ।५३।

अहत्वा समरे भीष्मं यदि यास्यसि मारिष ।
अवहास्योऽस्य लोकस्य भविष्यसि मया सह ॥ ५४ ॥

'आर्य ! यदि समरभूमिमें भीष्मको मारे बिना लौट जाओगे तो मेरेसहित तुम इस लोकमें उपहासके पात्र बन जाओगे ॥ ५४ ॥

नावहास्या यथा वीर भवेम परमाहवे ।
तथा कुरु रणे यत्नं साधयस्व पितामहम् ॥ ५५ ॥

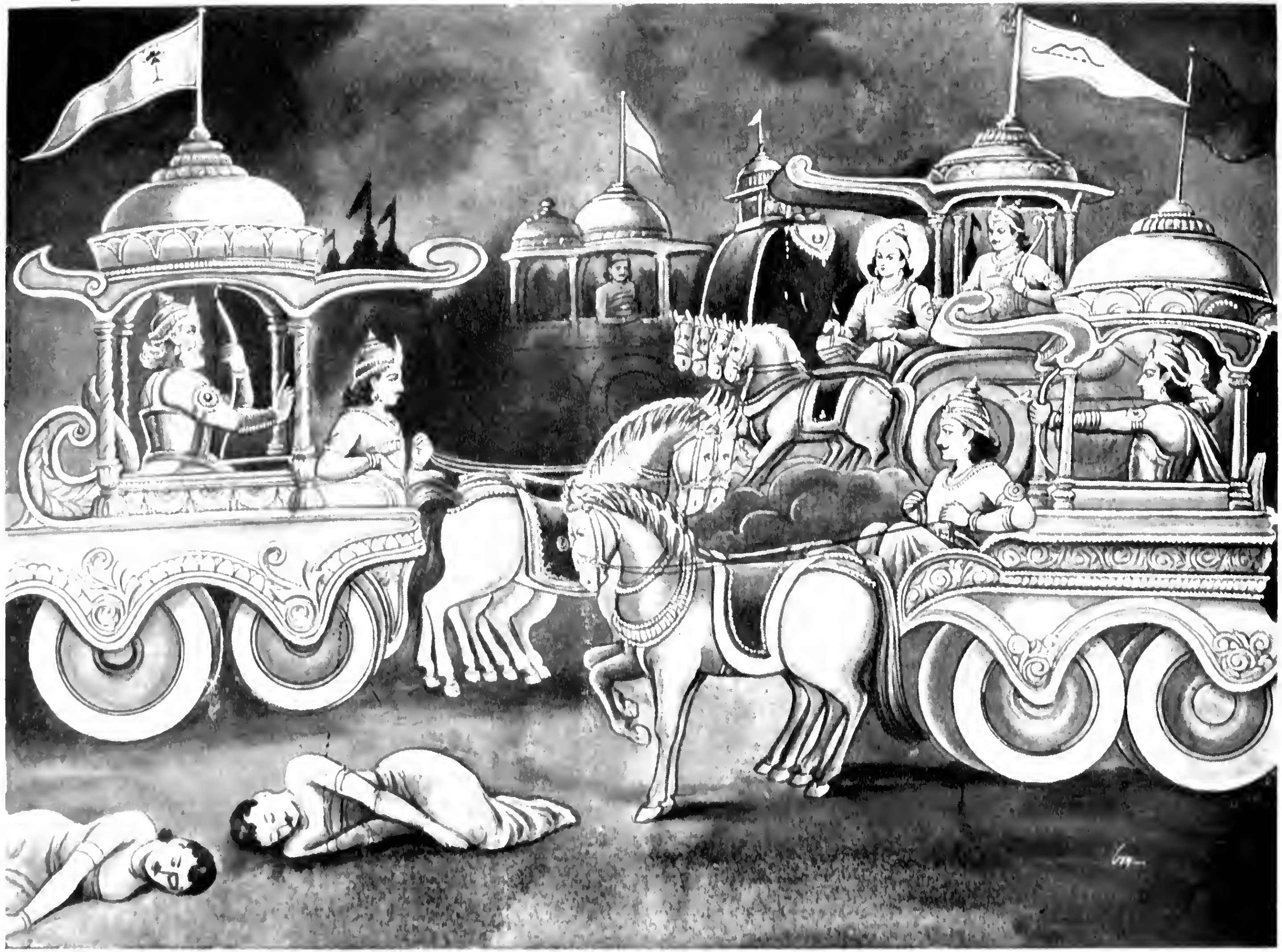
'वीर ! इस महायुद्धमें जैसे भी हमलोग हँसीके पात्र न बनें, वैसा प्रयत्न करो। रणक्षेत्रमें पितामह भीष्मको अवश्य मार डालो ॥ ५५ ॥

अहं ते रक्षणं युद्धे करिष्यामि महाबल ।
वारयन् रथिनः सर्वान् साधयस्व पितामहम् ॥ ५६ ॥

'महाबली वीर ! इस युद्धमें मैं सब रथियोंको रोककर सदा तुम्हारी रक्षा करता रहूँगा। तुम पितामहको मारनेका कार्य सिद्ध कर लो ॥ ५६ ॥

द्रोणं च द्रोणपुत्रं च कृपं चाथ सुयोधनम् ।
चित्रसेनं विकर्णं च सैन्धवं च जयद्रथम् ॥ ५७ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजं च सुदक्षिणम् ।
भगदत्तं तथा शूरं मागधं च महाबलम् ॥ ५८ ॥
सौमदत्तिं तथा शूरमार्ष्यशृङ्गिं च राक्षसम् ।
त्रिगर्तराजं च रणे सह सर्वैर्महारथैः ॥ ५९ ॥
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ।

'मैं द्रोणाचार्य, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, कृपाचार्य, दुर्योधन, चित्रसेन, विकर्ण, सिन्धुराज जयद्रथ, अवन्तीके राजकुमार



भीष्मजीका शिखण्डीसे युद्ध न करनेकी इच्छा प्रकट करना

विन्द-अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण, शूरवीर भगदत्त, महाबली मगधराज, सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा, राक्षस अलम्बुष तथा त्रिगर्तराज सुशर्माको रणक्षेत्रमें सब महारथियोंके साथ उसी प्रकार रोक रक्खूँगा, जैसे तटभूमि समुद्रको आगे बढ़ने नहीं देती है ॥ ५७–५९½ ॥

कुरूंश्च सहितान् सर्वान् युध्यमानान् महाबलान् ।
निवारयिष्यामि रणे साधयस्व पितामहम् ॥ ६० ॥

'युद्धमें एक साथ लगे हुए समस्त महाबली कौरवोंको भी मैं युद्धस्थलमें आगे बढ़नेसे रोक दूँगा। तुम पितामह भीष्मके वधका कार्य सिद्ध करो' ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मशिखण्डीसमागमे अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और शिखण्डीका समागमविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं)

नवाधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और दुर्योधनका संवाद तथा भीष्मके द्वारा लाखों सैनिकोंका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेयमभ्यधावत् पितामहम् ।
पाञ्चाल्यः समरे क्रुद्धो धर्मात्मानं यतव्रतम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीने समरभूमिमें कुपित होकर नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले धर्मात्मा पितामह गङ्गानन्दन भीष्मपर किस प्रकार धावा किया ?

केऽरक्षन् पाण्डवानीके शिखण्डिनमुदायुधाः ।
त्वरमाणास्त्वराकाले जिगीषन्तो महारथाः ॥ २ ॥

पाण्डवोंकी सेनाके किन-किन वीर महारथियोंने अस्त्र-शस्त्र लेकर विजयकी अभिलाषासे उस शीघ्रताके समय अपनी शीघ्रकारिताका परिचय देते हुए शिखण्डीका संरक्षण किया ? २

कथं शान्तनवो भीष्मः स तस्मिन् दशमेऽहनि ।
अयुध्यत महावीर्यः पाण्डवैः सहसृंजयैः ॥ ३ ॥

महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्मने दसवें दिन पाण्डवों तथा सृंजयोंके साथ किस प्रकार युद्ध किया ? ॥ ३ ॥

न मृष्यामि रणे भीष्मं प्रत्युद्यातं शिखण्डिना ।
कच्चिन्न रथभङ्गोऽस्य धनुर्वाशीर्यतास्यतः ॥ ४ ॥

रणक्षेत्रमें शिखण्डीने भीष्मपर आक्रमण किया, यह मुझसे सहन नहीं हो रहा है। कहीं उनका रथ तो नहीं टूट गया था अथवा बाणोंका प्रहार करते-करते उनके धनुषके टुकड़े-टुकड़े तो नहीं हो गये थे ? ॥ ४ ॥

संजय उवाच

नाशीर्यत धनुश्चास्य रथभङ्गो न चाप्यभूत् ।
युध्यमानस्य संग्रामे भीष्मस्य भरतर्षभ ॥ ५ ॥
निघ्नतः समरे शत्रूञ्शरैः संनतपर्वभिः ।

संजयने कहा—भरतश्रेष्ठ ! संग्राममें युद्ध करते समय भीष्मके न तो धनुषके ही टुकड़े-टुकड़े हुए थे और न उनका रथ ही टूटा था। वे समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा शत्रुओंका संहार करते जा रहे थे ॥ ५½ ॥

अनेकशतसाहस्रास्तावकानां महारथाः ॥ ६ ॥
तथा दन्तिगणा राजन् हयाश्चैव सुसज्जिताः ।
अभ्यवर्तन्त युद्धाय पुरस्कृत्य पितामहम् ॥ ७ ॥

राजन् ! आपके कई लाख महारथी, हाथी और घोड़े सुसज्जित हो पितामह भीष्मको आगे करके युद्धके लिये बढ़ रहे थे ॥

यथाप्रतिज्ञं कौरव्य स चापि समितिञ्जयः ।
पार्थानामकरोद् भीष्मः सततं समितिक्षयम् ॥ ८ ॥

कुरुनन्दन ! युद्धविजयी भीष्म अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमारोंके सैनिकोंका निरन्तर संहार कर रहे थे ८

युध्यमानं महेष्वासं विनिघ्नन्तं पराञ्शरैः ।
पञ्चालाः पाण्डवैः सार्धं सर्वे ते नाभ्यवारयन् ॥ ९ ॥

बाणोंद्वारा शत्रुओंको मारते हुए युद्धपरायण महाधनुर्धर भीष्मको पाण्डवोंसहित सारे पाञ्चाल योद्धा भी आगे बढ़नेसे रोक न सके ॥ ९ ॥

दशमेऽहनि सम्प्राप्ते ततस्तां रिपुवाहिनीम् ।
कीर्यमाणां शितैर्बाणैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥

दसवें दिन शत्रुकी सेनापर भीष्मके द्वारा सैकड़ों और हजारों पैने बाणोंकी वर्षा की जाने लगी परंतु पाण्डव इसे रोक न सके ॥

न हि भीष्मं महेष्वासं पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
अशक्नुवन् रणे जेतुं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ ११ ॥

पाण्डुके ज्येष्ठ भ्राता धृतराष्ट्र ! पाशधारी यमराजके समान महाधनुर्धर भीष्मको युद्धमें जीतनेके लिये पाण्डव कभी समर्थ न हो सके ॥ ११ ॥

अथोपायान्महाराज सव्यसाची धनंजयः ।
त्रासयन् रथिनः सर्वान् बीभत्सुरपराजितः ॥ १२ ॥

महाराज ! तदनन्तर किसीसे परास्त न होनेवाले और बायें हाथसे भी बाण चलानेमें समर्थ धनंजय अर्जुन समस्त रथियोंको भयभीत करते हुए उनके निकट आये ॥ १२ ॥

सिंहवद् विनदन्नुच्चैर्धनुर्ज्यां विक्षिपन् मुहुः ।
शरौघान् विसृजन् पार्थो व्यचरत् कालवद् रणे ॥ १३ ॥

वे कुन्तीकुमार सिंहके समान उच्च स्वरसे गर्जना करते हुए बारंबार अपने धनुषकी डोरी खींचते और बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए रणक्षेत्रमें कालके समान विचरते थे ॥ १३ ॥

तस्य शब्देन वित्रस्तास्तावका भरतर्षभ ।
सिंहस्येव मृगा राजन् व्यद्रवन्त महाभयात् ॥ १४ ॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! जैसे सिंहके शब्दसे अत्यन्त भयभीत होकर मृग भाग जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुनके सिंहनादसे संत्रस्त हुए आपके सैनिक महान् भयके कारण भागने लगे ॥ १४ ॥

जयन्तं पाण्डवं दृष्ट्वा त्वत्सैन्यं चाभिपीडितम् ।
दुर्योधनस्ततो भीष्ममब्रवीद् भृशपीडितः ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनको जीतते और आपकी सेनाको पीड़ित होती देख दुर्योधन अत्यन्त पीड़ित होकर भीष्मसे बोला— ॥ १५ ॥

एष पाण्डुसुतस्तात श्वेताश्वः कृष्णसारथिः ।
दहते मामकान् सर्वान् कृष्णवर्त्मेव काननम् ॥ १६ ॥

'तात ! ये श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन, जिनके सारथि श्रीकृष्ण हैं, मेरे सारे सैनिकोंको उसी प्रकार दग्ध करते हैं, जैसे दावानल वनको ॥ १६ ॥

पश्य सैन्यानि गाङ्गेय द्रवमाणानि सर्वशः ।
पाण्डवेन युधां श्रेष्ठ काल्यमानानि संयुगे ॥ १७ ॥

'योद्धाओंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन ! देखिये, मेरी सेनाएँ सब ओर भाग रही हैं और अर्जुन युद्धस्थलमें खड़े हो उन्हें खदेड़ रहे हैं ॥ १७ ॥

यथा पशुगणान् पालः संकालयति कानने ।
तथेदं मामकं सैन्यं काल्यते शत्रुतापन ॥ १८ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले पितामह ! जैसे चरवाहा जंगलमें पशुओंको हाँकता है, उसी प्रकार मेरी यह सेना अर्जुनके द्वारा हाँकी जा रही है ॥ १८ ॥

धनंजयशरैर्भग्नं द्रवमाणं ततस्ततः ।
भीमोऽप्येवं दुराधर्षो विद्रावयति मे बलम् ॥ १९ ॥

'धनंजयके बाणोंसे आहत हो व्यूह भंग करके इधर-उधर भागनेवाली मेरी सेनाको ये दुर्धर्ष वीर भीमसेन भी पीछेसे खदेड़ रहे हैं ॥ १९ ॥

सात्यकिश्चेकितानश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
अभिमन्युः सुविक्रान्तो वाहिनीं द्रवते मम ॥ २० ॥

'सात्यकि, चेकितान, पाण्डु और माद्रीके पुत्र नकुल-सहदेव और पराक्रमी अभिमन्यु भी मेरी सेनाको भगा रहे हैं ॥ २० ॥

धृष्टद्युम्नस्तथा शूरो राक्षसश्च घटोत्कचः ।
व्यद्रावयेतां सहसा सैन्यं मम महारणे ॥ २१ ॥

'धृष्टद्युम्न तथा शूरवीर राक्षस घटोत्कचने भी सहसा इस महासमरमें आकर मेरी सेनाको मार भगाया है ॥ २१ ॥

वध्यमानस्य सैन्यस्य सर्वैरेतैर्महारथैः ।
नान्यां गतिं प्रपश्यामि स्थाने युद्धे च भारत ॥ २२ ॥
ऋते त्वां पुरुषव्याघ्र देवतुल्यपराक्रम ।
पर्याप्तस्तु भवाञ्शीघ्रं पीडितानां गतिर्भव ॥ २३ ॥

'भारत ! इन सब महारथियोंद्वारा मारी जाती हुई अपनी सेनाको मैं युद्धमें ठहरानेके लिये आपके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं देखता । देवतुल्य पराक्रमी पुरुषसिंह ! केवल आप ही उसकी रक्षामें समर्थ हैं । अतः हम पीड़ितोंके लिये आप शीघ्र ही आश्रयदाता होइये' ॥ २२-२३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो महाराज पिता देवव्रतस्तव ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु कृत्वा निश्चयमात्मनः ॥ २४ ॥
तव संधारयन् पुत्रमब्रवीच्छान्तनोः सुतः ।
दुर्योधन विजानीहि स्थिरो भूत्वा विशाम्पते ॥ २५ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपके ताऊ शान्तनुनन्दन देवव्रतने दो घड़ीतक कुछ चिन्तन करनेके पश्चात् अपना एक निश्चय करके आपके पुत्र दुर्योधनको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—'प्रजानाथ दुर्योधन ! सुस्थिर होकर इधर ध्यान दो ॥ २४–२५ ॥

पूर्वकालं तव मया प्रतिज्ञातं महाबल ।
हत्वा दशसहस्राणि क्षत्रियाणां महात्मनाम् ॥ २६ ॥
संग्रामाद् व्यपयातव्यमेतत् कर्म ममाह्निकम् ।
इति तत् कृतवांश्चाहं यथोक्तं भरतर्षभ ॥ २७ ॥

'महाबली नरेश ! पूर्वकालमें मैंने तुम्हारे लिये यह प्रतिज्ञा की थी कि दस हजार महामनस्वी क्षत्रियोंका वध करके ही मुझे संग्रामभूमिसे हटना होगा और यह मेरा दैनिक कर्म होगा । भरतश्रेष्ठ ! जैसा मैंने कहा था, वैसा अबतक करता आया हूँ ॥ २६–२७ ॥

अद्य चापि महत् कर्म प्रकरिष्ये महाबल ।
अहं वाद्य हतः शेष्ये हनिष्ये वाद्य पाण्डवान् ॥ २८ ॥

'महाबली वीर ! आज भी मैं महान् कर्म करूँगा । या तो आज मैं ही मारा जाकर रणभूमिमें सो जाऊँगा या पाण्डवोंका ही संहार करूँगा ॥ २८ ॥

अद्य ते पुरुषव्याघ्र प्रतिमोक्ष्ये ऋणं तव ।
भर्तृपिण्डकृतं राजन् निहतः पृतनामुखे ॥ २९ ॥

'पुरुषसिंह ! नरेश ! तुम स्वामी हो, मुझपर तुम्हारे अन्नका ऋण है; आज युद्धके मुहानेपर मारा जाकर मैं तुम्हारे उस ऋणको उतार दूँगा' ॥ २९ ॥

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठ क्षत्रियान् प्रवपञ्छरैः ।
आससाद दुराधर्षः पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर दुर्धर्ष वीर भीष्मने क्षत्रियोंपर अपने बाणोंकी वर्षा करते हुए पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया॥

अनीकमध्ये तिष्ठन्तं गाङ्गेयं भरतर्षभ ।
आशीविषमिव क्रुद्धं पाण्डवाः प्रत्यवारयन् ॥ ३१ ॥

सेनाके मध्यभागमें स्थित हुए विषधर सर्पके समान कुपित भीष्मको पाण्डव सैनिक रोकने लगे ॥ ३१ ॥

दशमेऽहनि भीष्मस्तु दर्शयञ्शक्तिमात्मनः ।
राजञ्छतसहस्राणि सोऽवधीत् कुरुनन्दन ॥ ३२ ॥

किंतु राजन् ! कुरुनन्दन ! दसवें दिन भीष्मने अपनी शक्तिका परिचय देते हुए लाखों पाण्डव-सैनिकोंका संहार कर डाला ॥ ३२ ॥

पञ्चालानां च ये श्रेष्ठा राजपुत्रा महारथाः ।
तेषामादत्त तेजांसि जलं सूर्य इवांशुभिः ॥ ३३ ॥

जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा धरतीका जल सोख लेते हैं, उसी प्रकार भीष्मजीने पाञ्चालोंमें जो श्रेष्ठ महारथी राजकुमार थे, उन सबके तेज हर लिये ॥ ३३ ॥

हत्वा दश सहस्राणि कुञ्जराणां तरस्विनाम् ।
सारोहाणां महाराज हयानां चायुतं तथा ॥ ३४ ॥
पूर्णे शतसहस्रे द्वे पादातानां नरोत्तमः ।
प्रजज्वाल रणे भीष्मो विधूम इव पावकः ॥ ३५ ॥

महाराज ! सवारोंसहित दस हजार वेगशाली हाथियों, उतने ही घोड़ों और घुड़सवारों तथा दो लाख पैदल सैनिकोंको नरश्रेष्ठ भीष्मने रणभूमिमें धूमरहित अग्निकी भाँति फूँक डाला ॥ ३४-३५ ॥

न चैनं पाण्डवेयानां केचिच्छेकुर्निरीक्षितुम् ।
उत्तरं मार्गमास्थाय तपन्तमिव भास्करम् ॥ ३६ ॥

उत्तरायणका आश्रय लेकर तपते हुए सूर्यकी भाँति प्रतापी भीष्मकी ओर पाण्डवोंमेंसे कोई देखनेमें समर्थ न हो सके ॥ ३६ ॥

ते पाण्डवेयाः संरब्धा महेष्वासेन पीडिताः ।
वधायाभ्यद्रवन् भीष्मं सृंजयाश्च महारथाः ॥ ३७ ॥

महाधनुर्धर भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हो अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए पाण्डव तथा सृंजय महारथी भीष्मके वधके लिये उनपर टूट पड़े ॥ ३७ ॥

संयुद्ध्यमानो बहुभिर्भीष्मः शान्तनवस्तथा ।
अवकीर्णो महामेरुः शैलो मेघैरिवावृतः ॥ ३८ ॥

बहुत-से योद्धाओंके साथ अकेले युद्ध करते हुए शान्तनुनन्दन भीष्म उस समय बाणोंसे आच्छादित हो मेघोंके समूहसे आवृत हुए महान् पर्वत मेरुकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ३८ ॥

पुत्रास्तु तव गाङ्गेयं समन्तात् पर्यवारयन् ।
महत्या सेनया सार्धं ततो युद्धमवर्तत ॥ ३९ ॥

राजन् ! आपके पुत्रोंने विशाल सेनाके साथ आकर गङ्गानन्दन भीष्मको सब ओरसे घेर लिया । तत्पश्चात् वहाँ विकट युद्ध होने लगा ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधन-संवादविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।१०९।

दशाधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके प्रोत्साहनसे शिखण्डीका भीष्मपर आक्रमण और दोनों सेनाओंके प्रमुख वीरोंका परस्पर युद्ध तथा दुःशासनका अर्जुनके साथ घोर युद्ध

संजय उवाच

अर्जुनस्तु रणे राजन् दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम् ।
शिखण्डिनमथोवाच समभ्येहि पितामहम् ॥ १ ॥
न चापि भीस्त्वया कार्या भीष्मादद्य कथंचन ।
अहमेनं शरैस्तीक्ष्णैः पातयिष्ये रथोत्तमात् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! रणभूमिमें भीष्मका पराक्रम देखकर अर्जुनने शिखण्डीसे कहा—'वीर ! तुम पितामहका सामना करनेके लिये आगे बढ़ो । आज भीष्मजीसे तुम्हें किसी प्रकार भय नहीं करना चाहिये । मैं स्वयं अपने पैने बाणोंद्वारा इनको उत्तम रथसे मार गिराऊँगा' ॥ १-२ ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन शिखण्डी भरतर्षभ ।
अभ्यद्रवत गाङ्गेयं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जब अर्जुनने शिखण्डीसे ऐसा कहा, तब उसने पार्थके उस कथनको सुनकर गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा किया ॥ ३ ॥

धृष्टद्युम्नस्तथा राजन् सौभद्रश्च महारथः ।
हृष्टावाद्रवतां भीष्मं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ॥ ४ ॥

राजन् ! पार्थका वह भाषण सुनकर धृष्टद्युम्न तथा सुभद्राकुमार महारथी अभिमन्यु—ये दोनों वीर हर्ष और उत्साहमें भरकर भीष्मकी ओर दौड़े ॥ ४ ॥

विराटद्रुपदौ वृद्धौ कुन्तिभोजश्च दंशितः ।
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं पुत्रस्य तव पश्यतः ॥ ५ ॥

दोनों वृद्ध नरेश विराट और द्रुपद तथा कवचधारी कुन्तिभोज भी आपके पुत्रके देखते-देखते गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़े ॥ ५ ॥

नकुलः सहदेवश्च धर्मराजश्च वीर्यवान्।
तथेतराणि सैन्यानि सर्वाण्येव विशाम्पते ॥ ६ ॥
समाद्रवन्त गाङ्गेयं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम्।

प्रजानाथ ! नकुल, सहदेव, पराक्रमी धर्मराज युधिष्ठिर तथा दूसरे समस्त सैनिक अर्जुनका उपर्युक्त वचन सुनकर भीष्मजीकी ओर बढ़ने लगे ॥ ६½ ॥

प्रत्युद्ययुस्तावकाश्च समेतांस्तान् महारथान् ॥ ७ ॥
यथाशक्ति यथोत्साहं तन्मे निगदतः शृणु।

इस प्रकार एकत्र हुए पाण्डव महारथियोंपर आपके पुत्रोंने भी जिस प्रकार अपनी शक्ति और उत्साहके अनुसार आक्रमण किया, वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥ ७½ ॥

चित्रसेनो महाराज चेकितानं समभ्ययात् ॥ ८ ॥
भीष्मप्रेप्सुं रणे यान्तं वृषं व्याघ्रशिशुर्यथा।

महाराज ! चित्रसेनने भीष्मके पास पहुँचनेकी इच्छासे रणमें जाते हुए चेकितानका सामना किया, मानो बाघका बच्चा बैलका सामना कर रहा हो ॥ ८½ ॥

धृष्टद्युम्नं महाराज भीष्मान्तिकमुपागतम् ॥ ९ ॥
त्वरमाणं रणे यत्तं कृतवर्मा न्यवारयत्।

राजन् ! कृतवर्माने भीष्मजीके निकट पहुँचकर युद्धके लिये उतावलीपूर्वक प्रयत्न करनेवाले धृष्टद्युम्नको रोका ॥ ९½ ॥

भीमसेनं सुसंक्रुद्धं गाङ्गेयस्य वधैषिणम् ॥ १० ॥
त्वरमाणो महाराज सौमदत्तिर्न्यवारयत्।

महाराज ! भीमसेन भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर गङ्गानन्दन भीष्मका वध करना चाहते थे; परंतु सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवाने तुरंत आकर उन्हें आगे बढ़नेसे रोक दिया। १०½।

तथैव नकुलं शूरं किरन्तं सायकान् बहून् ॥ ११ ॥
विकर्णो वारयामास इच्छन् भीष्मस्य जीवितम्।

इसी प्रकार शूरवीर नकुल बहुतसे सायकोंकी वर्षा कर रहे थे, परंतु भीष्मके जीवनकी रक्षा चाहनेवाले विकर्णने उन्हें रोक दिया ॥ ११½ ॥

सहदेवं तथा राजन् यान्तं भीष्मरथं प्रति ॥ १२ ॥
वारयामास संक्रुद्धः कृपः शारद्वतो युधि।

राजन् ! युद्धस्थलमें भीष्मके रथकी ओर जाते हुए सहदेवको कुपित हुए शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यने रोक दिया ॥ १२½ ॥

राक्षसं क्रूरकर्माणं भैमसेनिं महाबलम् ॥ १३ ॥
भीष्मस्य निधनं प्रेप्सुं दुर्मुखोऽभ्यद्रवद् बली।

भीष्मकी मृत्यु चाहनेवाले क्रूरकर्मा राक्षस महाबली भीमसेनकुमार घटोत्कचपर बलवान् दुर्मुखने आक्रमण किया ॥

सात्यकिं समरे यान्तं तव पुत्रो न्यवारयत् ॥ १४ ॥
(भीष्मस्य वधमिच्छन्तं पाण्डवप्रीतिकाम्यया।)

पाण्डवोंकी प्रसन्नताके लिये भीष्मका वध चाहनेवाले सात्यकिको युद्धके लिये जाते देख आपके पुत्र दुर्योधनने रोका ॥

अभिमन्युं महाराज यान्तं भीष्मरथं प्रति।
सुदक्षिणो महाराज काम्बोजः प्रत्यवारयत् ॥ १५ ॥

महाराज ! भीष्मके रथकी ओर अग्रसर होनेवाले अभिमन्युको काम्बोजराज सुदक्षिणने रोका ॥ १५ ॥

विराटद्रुपदौ वृद्धौ समेतावरिमर्दनौ।
अश्वत्थामा ततः क्रुद्धो वारयामास भारत ॥ १६ ॥

भारत ! एक साथ आये हुए शत्रुमर्दन बूढ़े नरेश विराट और द्रुपदको क्रोधमें भरे हुए अश्वत्थामाने रोक दिया ॥

तथा पाण्डुसुतं ज्येष्ठं भीष्मस्य वधकाङ्क्षिणम्।
भारद्वाजो रणे यत्तो धर्मपुत्रमवारयत् ॥ १७ ॥

भीष्मके वधकी अभिलाषा रखनेवाले ज्येष्ठ पाण्डव धर्मपुत्र युधिष्ठिरको युद्धमें द्रोणाचार्यने यत्नपूर्वक रोका ॥ १७ ॥

अर्जुनं रभसं युद्धे पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्।
भीष्मप्रेप्सुं महाराज भासयन्तं दिशो दश ॥ १८ ॥
दुःशासनो महेष्वासो वारयामास संयुगे।

महाराज ! दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए वेगशाली वीर अर्जुन युद्धमें शिखण्डीको आगे करके भीष्मको मारना चाहते थे। उस समय महाधनुर्धर दुःशासनने युद्धके मैदानमें आकर उन्हें रोका ॥ १८½ ॥

अन्ये च तावका योधाः पाण्डवानां महारथान् ॥ १९ ॥
भीष्मस्याभिमुखान् यातान् वारयामासुराहवे।

राजन् ! इसी प्रकार आपके अन्य योद्धाओंने भीष्मके सम्मुख गये हुए पाण्डव महारथियोंको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १९½ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु सैन्यानि प्राक्रोशत पुनः पुनः ॥ २० ॥
अभिद्रवत संरब्धा भीष्ममेकं महाबलम्।
एषोऽर्जुनो रणे भीष्मं प्रयाति कुरुनन्दनः ॥ २१ ॥
अभिद्रवत मा भैष्ट भीष्मो हि प्राप्स्यते न वः।
अर्जुनं समरे योद्धुं नोत्सहेतापि वासवः ॥ २२ ॥
किमु भीष्मो रणे वीरा गतसत्त्वोऽल्पजीवितः।

धृष्टद्युम्न अपने सैनिकोंसे बारंबार पुकार-पुकारकर कहने लगे—'वीरो ! तुम सब लोग उत्साहित होकर एकमात्र महाबली भीष्मपर आक्रमण करो। ये कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले अर्जुन रणक्षेत्रमें भीष्मपर चढ़ाई करते हैं। तुम भी उनपर टूट पड़ो। डरो मत। भीष्म तुमलोगोंको नहीं पा सकेंगे। इन्द्र भी समराङ्गणमें अर्जुनके साथ युद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकते; फिर ये धैर्य और शक्तिसे शून्य भीष्म रणक्षेत्रमें उनका सामना कैसे कर सकते हैं ? अब इनका जीवन थोड़ा ही शेष रहा है' ॥ २०–२२½ ॥

इति सेनापतेः श्रुत्वा पाण्डवानां महारथाः ॥ २३ ॥
अभ्यद्रवन्त संहृष्टा गाङ्गेयस्य रथं प्रति ।

सेनापतिका यह वचन सुनकर पाण्डव महारथी अत्यन्त हर्षमें भरकर गङ्गानन्दन भीष्मके रथपर टूट पड़े ॥२३½॥

आगच्छमानान् समरे वार्योघान् प्रलयानिव ॥ २४ ॥
अवारयन्त संहृष्टास्तावकाः पुरुषर्षभाः ।

युद्धमें प्रलयकालीन जलप्रवाहके समान आते हुए उन वीरोंको आपकी सेनाके श्रेष्ठ पुरुषोंने हर्ष और उत्साहमें भरकर रोका ॥ २४½ ॥

दुःशासनो महाराज भयं त्यक्त्वा महारथः ॥ २५ ॥
भीष्मस्य जीविताकाङ्क्षी धनंजयमुपाद्रवत् ।

महाराज ! महारथी दुःशासनने भय छोड़कर भीष्मकी जीवन-रक्षाके लिये धनंजयपर धावा किया ॥ २५½ ॥

तथैव पाण्डवाः शूरा गाङ्गेयस्य रथं प्रति ॥ २६ ॥
अभ्यद्रवन्त संग्रामे तव पुत्रान् महारथाः ।

इसी प्रकार शूरवीर महारथी पाण्डवोंने युद्धमें गङ्गानन्दन भीष्मके रथकी ओर खड़े हुए आपके पुत्रोंपर आक्रमण किया॥

तत्राद्भुतमपश्याम चित्ररूपं विशाम्पते ॥ २७ ॥
दुःशासनरथं प्राप्य यत् पार्थो नात्यवर्तत ।

प्रजानाथ ! वहाँ हमने सबसे अद्भुत और विचित्र बात यह देखी कि अर्जुन दुःशासनके रथके पास पहुँचकर वहाँसे आगे न बढ़ सके ॥ २७½ ॥

यथा वारयते वेला क्षुब्धतोयं महार्णवम् ॥ २८ ॥
तथैव पाण्डवं क्रुद्धं तव पुत्रो न्यवारयत् ।

जैसे तटकी भूमि विक्षुब्ध जलराशिवाले महासागरको रोके रहती है, उसी प्रकार आपके पुत्रने क्रोधमें भरे हुए अर्जुनको रोक दिया था ॥ २८½ ॥

उभौ तौ रथिनां श्रेष्ठावुभौ भारत दुर्जयौ ॥ २९ ॥
उभौ चन्द्रार्कसदृशौ कान्त्या दीप्त्या च भारत ।
तथा तौ जातसंरम्भावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ॥ ३० ॥
(दुःशासनार्जुनौ वीरौ वृत्रेन्द्रसमतेजसौ ।)
समीयतुर्महासंख्ये मयशक्रौ यथा पुरा ।

भारत ! वे दोनों रथियोंमें श्रेष्ठ और दुर्जय वीर थे । दोनों ही कान्ति और दीप्तिमें चन्द्रमा और सूर्यके समान जान पड़ते थे और भारत ! दुःशासन तथा अर्जुन दोनों वीर वृत्रासुर एवं इन्द्रके समान तेजस्वी थे । वे दोनों क्रोधमें भरकर एक दूसरेके वधकी अभिलाषा रखते थे । उस महायुद्धमें वे उसी प्रकार एक दूसरेसे भिड़े हुए थे, जैसे पूर्वकालमें मयासुर और इन्द्र आपसमें लड़ते थे॥२९–३०½॥

दुःशासनो महाराज पाण्डवं विशिखैस्त्रिभिः ॥ ३१ ॥
वासुदेवं च विंशत्या ताडयामास संयुगे ।

महाराज ! दुःशासनने तीन बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुनको और बीस बाणोंसे वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको युद्धमें घायल किया ॥ ३१½ ॥

ततोऽर्जुनो जातमन्युर्वार्ष्णेयं वीक्ष्य पीडितम् ॥ ३२ ॥
दुःशासनं शतेनाजौ नाराचानां समार्पयत् ।

भगवान् श्रीकृष्णको बाणोंसे पीड़ित हुआ देख अर्जुनका क्रोध उमड़ आया और उन्होंने दुःशासनको युद्धमें सौ नाराचोंसे घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ॥ ३३ ॥
(यथैव पन्नगा राजंस्तटाकं तृषितास्तथा ।)

वे नाराच रणक्षेत्रमें दुःशासनका कवच विदीर्ण करके उसका रक्त पीने लगे, मानो प्यासे सर्प तालाबमें घुस गये हों ॥

दुःशासनस्त्रिभिः क्रुद्धः पार्थं विव्याध पत्रिभिः ।
ललाटे भरतश्रेष्ठ शरैः संनतपर्वभिः ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब दुःशासनने कुपित होकर अर्जुनके ललाटमें झुकी हुई गाँठवाले तीन पंखयुक्त बाण मारे ॥ ३४॥

ललाटस्थैस्तु तैर्बाणैः शुशुभे पाण्डवो रणे ।
यथा मेरुर्महाराज शृङ्गैरत्यर्थमुच्छ्रितैः ॥ ३५ ॥

ललाटमें लगे हुए उन बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुन युद्धमें उसी प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे मेरुपर्वत अपने तीन अत्यन्त ऊँचे शिखरोंसे सुशोभित होता है ॥ ३५ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः पुत्रेण तव धन्विना ।
व्यराजत रणे पार्थः किंशुकः पुष्पवानिव ॥ ३६ ॥

आपके धनुर्धर पुत्रद्वारा युद्धमें अधिक घायल किये जानेपर महाधनुर्धर अर्जुन खिले हुए पलाश वृक्षके समान शोभा पाने लगे ॥ ३६ ॥

दुःशासनं ततः क्रुद्धः पीडयामास पाण्डवः ।
पर्वणीव सुसंक्रुद्धो राहुः पूर्णं निशाकरम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर कुपित हुए पाण्डुपुत्र अर्जुन दुःशासनको उसी प्रकार पीड़ा देने लगे, जैसे पूर्णिमाके दिन अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ राहु पूर्ण चन्द्रमाको पीड़ा देता है ॥३७॥

पीड्यमानो बलवता पुत्रस्तव विशाम्पते ।
विव्याध समरे पार्थं कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ॥ ३८ ॥

प्रजानाथ ! बलवान् अर्जुनके द्वारा पीड़ित होनेपर आपके पुत्रने शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए कंकपत्रयुक्त बाणोंद्वारा समरभूमिमें उन कुन्तीकुमारको बींध डाला ॥ ३८ ॥

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा रथं चास्य त्रिभिः शरैः ।
आजघान ततः पश्चात् पुत्रं ते निशितैः शरैः ॥ ३९ ॥

तब अर्जुनने तीन बाणोंसे दुःशासनके रथ और धनुषको छिन्न-भिन्न करके आपके उस पुत्रको पैने बाणोंद्वारा अच्छी तरह घायल किया ॥ ३९ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय भीष्मस्य प्रमुखे स्थितः।
अर्जुनं पञ्चविंशत्या बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ४० ॥

तब दुःशासनने दूसरा धनुष ले भीष्मके सामने खड़े होकर अर्जुनकी दोनों भुजाओं और छातीमें पचीस बाण मारे ॥ ४० ॥

तस्य क्रुद्धो महाराज पाण्डवः शत्रुतापनः।
अप्रैषीद् विशिखान् घोरान् यमदण्डोपमान् बहून् ॥ ४१ ॥

महाराज ! तब शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने कुपित हो दुःशासनपर यमदण्डके समान भयंकर बहुत-से बाण चलाये ॥ ४१ ॥

अप्राप्तानेव तान् बाणांश्चिच्छेद तनयस्तव।
यतमानस्य पार्थस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४२ ॥

परंतु आपके पुत्रने अर्जुनके प्रयत्नशील होते हुए भी उन बाणोंको अपने पास आनेके पहले ही काट डाला। वह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ४२ ॥

पार्थं च निशितैर्बाणैरविध्यत् तनयस्तव।
ततः क्रुद्धो रणे पार्थः शरान् संधाय कार्मुके ॥ ४३ ॥
प्रेषयामास समरे स्वर्णपुङ्खाञ्छिलाशितान्।

बाणोंको काटनेके पश्चात् आपके पुत्रने कुन्तीकुमार अर्जुनको तीखे बाणोंद्वारा बींध डाला, तब रणक्षेत्रमें अर्जुनने कुपित होकर अपने धनुषपर स्वर्णमय पंखसे युक्त एवं शिलापर रगड़कर तेज किये हुए बाणोंका संधान किया और उन्हें दुःशासनपर चलाया ॥ ४३½ ॥

न्यमज्जंस्ते महाराज तस्य काये महात्मनः ॥ ४४ ॥
यथा हंसा महाराज तडागं प्राप्य भारत।

महाराज ! भरतनन्दन ! जैसे हंस तालाबमें पहुँचकर उसके भीतर गोते लगाते हैं, उसी प्रकार वे बाण महामना दुःशासनके शरीरमें धँस गये ॥ ४४½ ॥

पीडितश्चैव पुत्रस्ते पाण्डवेन महात्मना ॥ ४५ ॥
हित्वा पार्थं रणे तूर्णं भीष्मस्य रथमाव्रजत्।
अगाधे मज्जतस्तस्य द्वीपो भीष्मोऽभवत् तदा ॥ ४६ ॥

इस प्रकार महामना पाण्डुनन्दन अर्जुनके द्वारा पीड़ित होकर आपका पुत्र दुःशासन युद्धमें अर्जुनको छोड़कर तुरंत ही भीष्मके रथपर जा बैठा। उस समय अगाध समुद्रमें डूबते हुए दुःशासनके लिये भीष्मजी द्वीप हो गये ॥ ४५-४६ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां पुत्रस्तव विशाम्पते।
अवारयत् ततः शूरो भूय एव पराक्रमी ॥ ४७ ॥
शरैः सुनिशितैः पार्थं यथा वृत्रं पुरंदरः।
निर्बिभेद महाकायो विव्यथे नैव चार्जुनः ॥ ४८ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर होश-हवास ठीक होनेपर आपके पराक्रमी एवं शूरवीर पुत्र दुःशासनने पुनः अत्यन्त तीखे बाणोंद्वारा कुन्तीकुमार अर्जुनको रोका, मानो इन्द्रने वृत्रासुरकी गतिको अवरुद्ध कर दिया हो। महाकाय दुःशासनने अर्जुनको अपने बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया; परंतु वे तनिक भी व्यथित नहीं हुए ॥ ४७-४८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अर्जुनदुःशासनसमागमे दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें अर्जुन और दुःशासनका युद्धविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४९½ श्लोक हैं)

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव पक्षके प्रमुख महारथियोंके द्वन्द्वयुद्धका वर्णन

संजय उवाच

सात्यकिं दंशितं युद्धे भीष्मायाभ्युद्यतं रणे।
आर्ष्यशृङ्गिर्महेष्वासो वारयामास संयुगे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! युद्धस्थलमें कवचधारी सात्यकिको भीष्मसे युद्ध करनेके लिये उद्यत देख महाधनुर्धर राक्षस अलम्बुषने आकर उन्हें रोका ॥ १ ॥

माधवस्तु सुसंक्रुद्धो राक्षसं नवभिः शरैः।
आजघान रणे राजन् प्रहसन्निव भारत ॥ २ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! यह देख सात्यकिने अत्यन्त कुपित हो उस रणक्षेत्रमें राक्षस अलम्बुषको हँसते हुए-से नौ बाण मारे ॥ २ ॥

तथैव राक्षसो राजन् माधवं नवभिः शरैः।
अर्दयामास राजेन्द्र संक्रुद्धः शिनिपुङ्गवम् ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! तब उस राक्षसने भी अत्यन्त कुपित होकर मधुवंशी सात्यकिको नौ बाणोंसे पीड़ित किया ॥ ३ ॥

शैनेयः शरसंघं तु प्रेषयामास संयुगे।
राक्षसाय सुसंक्रुद्धो माधवः परवीरहा ॥ ४ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मधुवंशी सात्यकिका क्रोध बहुत बढ़ गया और समरभूमिमें उन्होंने राक्षसपर बाणसमूहोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ४ ॥

ततो रक्षो महाबाहुं सात्यकिं सत्यविक्रमम्।
विव्याध विशिखैस्तीक्ष्णैः सिंहनादं ननाद च ॥ ५ ॥

तदनन्तर राक्षसने सत्यपराक्रमी महाबाहु सात्यकिको तीखे सायकोंसे बींध डाला और सिंहके समान गर्जना की ॥ ५ ॥

माधवस्तु भृशं विद्धो राक्षसेन रणे तदा।
वार्यमाणश्च तेजस्वी जहास च ननाद च ॥ ६ ॥

उस समय राक्षसके द्वारा रणक्षेत्रमें रोके जाने और अत्यन्त घायल होनेपर भी मधुवंशी तेजस्वी सात्यकि हँसने और गर्जना करने लगे ॥ ६ ॥

भगदत्तस्ततः क्रुद्धो माधवं निशितैः शरैः।
ताडयामास समरे तोत्रैरिव महागजम् ॥ ७ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए भगदत्तने पैने बाणोंद्वारा मधुवंशी सात्यकिको समरभूमिमें उसी प्रकार पीड़ित किया, जैसे महावत अंकुशोंद्वारा महान् गजराजको पीड़ा देता है ॥७॥

विहाय राक्षसं युद्धे शैनेयो रथिनां वरः।
प्राग्ज्योतिषाय चिक्षेप शरान् संनतपर्वणः ॥ ८ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने युद्धमें उस राक्षसको छोड़कर प्राग्ज्योतिषपुरनरेश भगदत्तपर झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाण चलाये ॥ ८ ॥

तस्य प्राग्ज्योतिषो राजा माधवस्य महद् धनुः।
चिच्छेद शतधारेण भल्लेन कृतहस्तवत् ॥ ९ ॥

यह देख प्राग्ज्योतिषपुरनरेश भगदत्तने सात्यकिके विशाल धनुषको एक सिद्धहस्त योद्धाकी भाँति सौ धारवाले भल्लके द्वारा काट डाला ॥ ९ ॥

अथान्यद् धनुरादाय वेगवत् परवीरहा।
भगदत्तं रणे क्रुद्धं विव्याध निशितैः शरैः ॥ १० ॥

तब शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले सात्यकिने दूसरा वेगवान् धनुष लेकर पैने बाणोंद्वारा युद्धमें क्रुद्ध हुए भगदत्तको बींध डाला ॥ १० ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः सृक्किणी परिसंलिहन्।
शक्तिं कनकवैदूर्यभूषितामायसीं दृढाम् ॥ ११ ॥
यमदण्डोपमां घोरां चिक्षेप परमाहवे।

इस प्रकार अत्यन्त घायल होनेपर महाधनुर्धर भगदत्त अपने मुँहके दोनों कोने चाटने लगे। फिर उन्होंने उस महायुद्धमें कनक और वैदूर्य मणियोंसे विभूषित लोहेकी बनी हुई सुदृढ़ एवं यमदण्डके समान भयंकर शक्ति चलायी ११½

तामापतन्तीं सहसा तस्य बाहुबलेरिताम् ॥ १२ ॥
सात्यकिः समरे राजन् द्विधा चिच्छेद सायकैः।

उनके बाहुबलसे प्रेरित होकर समरभूमिमें सहसा अपने ऊपर गिरती हुई उस शक्तिके सात्यकिने बाणोंद्वारा दो टुकड़े कर दिये ॥ १२½ ॥

ततः पपात सहसा महोल्केव हतप्रभा ॥ १३ ॥
शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा पुत्रस्तव विशाम्पते।
महता रथवंशेन वारयामास माधवम् ॥ १४ ॥

तब वह शक्ति प्रभाहीन हुई बहुत बड़ी उल्काके समान सहसा भूमिपर गिर पड़ी। प्रजानाथ! भगदत्तकी शक्तिको नष्ट हुई देख आपके पुत्रने विशाल रथसेनाके साथ आकर सात्यकिको रोका ॥ १३–१४ ॥

तथा परिवृतं दृष्ट्वा वार्ष्णेयानां महारथम्।
दुर्योधनो भृशं क्रुद्धो भ्रातॄन् सर्वानुवाच ह ॥ १५ ॥

वृष्णिवंशी महारथी सात्यकिको रथसेनासे घिरा हुआ देख दुर्योधनने अत्यन्त कुपित होकर अपने समस्त भाइयोंसे कहा—॥ १५ ॥

तथा कुरुत कौरव्या यथा वः सात्यको युधि।
न जीवन् प्रतिनिर्याति महतोऽस्माद् रथव्रजात् ॥ १६ ॥

'कौरवो! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे इस समराङ्गणमें आये हुए सात्यकि हमारे इस महान् रथसमुदायसे जीवित न निकलने पावें ॥ १६ ॥

तस्मिन् हते हतं मन्ये पाण्डवानां महद् बलम्।
तथेति च वचस्तस्य परिगृह्य महारथाः ॥ १७ ॥
शैनेयं योधयामासुर्भीष्मायाभ्युद्यतं रणे।

'सात्यकिके मारे जानेपर मैं पाण्डवोंकी विशाल सेनाको मरी हुई ही मानता हूँ।' दुर्योधनकी इस बातको मानकर कौरव महारथियोंने रणभूमिमें भीष्मका सामना करनेके लिये उद्यत हुए सात्यकिसे युद्ध आरम्भ किया ॥ १७½ ॥

(अभिमन्युं तथाऽऽयान्तं भीष्मस्याभ्युद्यतं वधे।)
काम्बोजराजो बलवान् वारयामास संयुगे ॥ १८ ॥

इसी प्रकार भीष्मका वध करनेके लिये उद्यत होकर आते हुए अर्जुनकुमार अभिमन्युको बलवान् काम्बोजराजने युद्धके मैदानमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १८ ॥

आर्जुनिं नृपतिर्विद्ध्वा शरैः संनतपर्वभिः।
पुनरेव चतुःषष्ट्या राजन् विव्याध तं नृप ॥ १९ ॥

राजन्! नरेश्वर! काम्बोजराजने झुकी हुई गाँठवाले अनेक बाणोंद्वारा अभिमन्युको घायल करके पुनः चौंसठ बाणोंसे मारकर उन्हें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १९ ॥

सुदक्षिणस्तु समरे पुनर्विव्याध पञ्चभिः।
सारथिं चास्य नवभिरिच्छन् भीष्मस्य जीवितम् ॥ २० ॥

तदनन्तर समराङ्गणमें भीष्मके जीवनकी रक्षा चाहनेवाले काम्बोजराज सुदक्षिणने अभिमन्युको पुनः पाँच बाण मारे और नौ बाणोंद्वारा उनके सारथिको भी घायल कर दिया ॥ २० ॥

तद् युद्धमासीत् सुमहत् तयोस्तत्र समागमे।
यदाभ्यधावद् गाङ्गेयं शिखण्डी शत्रुकर्शनः ॥ २१ ॥

जब शत्रुसूदन शिखण्डीने गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा किया था, उस समय उन दोनों (अभिमन्यु और सुदक्षिण) के संघर्षमें वहाँ बड़ा भारी युद्ध आरम्भ हो गया ॥ २१ ॥

विराटद्रुपदौ वृद्धौ वारयन्तौ महाचमूम्।
भीष्मं च युधि संरब्धावाद्रवन्तौ महारथौ ॥ २२ ॥

बूढ़े राजा महारथी विराट और द्रुपद दुर्योधनकी उस

विशाल सेनाको रोकते हुए अत्यन्त क्रोधमें भरकर युद्धस्थलमें भीष्मपर चढ़ आये ॥ २२ ॥

अश्वत्थामा रणे क्रुद्धः समायाद्रथसत्तमः।
ततः प्रववृते युद्धं तयोस्तस्य च भारत ॥ २३ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा रणभूमिमें कुपित होकर आया। भारत ! फिर अश्वत्थामाका विराट और द्रुपदके साथ भारी युद्ध छिड़ गया ॥ २३ ॥

विराटो दशभिर्भल्लैराजघान परंतप।
यतमानं महेष्वासं द्रौणिमाहवशोभिनम् ॥ २४ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! राजा विराटने संग्राममें शोभा पानेवाले प्रयत्नशील एवं महाधनुर्धर अश्वत्थामाको भल्ल नामक दस बाणोंसे घायल किया ॥ २४ ॥

द्रुपदश्च त्रिभिर्बाणैर्विव्याध निशितैस्तदा।
गुरुपुत्रं समासाद्य प्रहरन्तौ महाबलौ ॥ २५ ॥
अश्वत्थामा ततस्तौ तु विव्याध बहुभिः शरैः।
विराटद्रुपदौ वीरौ भीष्मं प्रति समुद्यतौ ॥ २६ ॥

उस समय द्रुपदने भी तीन तीखे बाणोंद्वारा अश्वत्थामाको घायल कर दिया। इस प्रकार प्रहार करते हुए उन दोनों महाबली नरेशोंको अश्वत्थामाने अनेक बाणोंद्वारा बींध डाला। विराट और द्रुपद दोनों वीर भीष्मका वध करनेके लिये उद्यत थे ॥ २५—२६ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम वृद्धयोश्चरितं महत्।
यद् द्रौणिसायकान् घोरान् प्रत्यवारयतां युधि ॥ २७॥

राजन् ! वहाँ उन दोनों बूढ़े नरेशोंका हमने अद्भुत एवं महान् पराक्रम यह देखा कि वे युद्धमें अश्वत्थामाके भयंकर बाणोंका निवारण करते जा रहे थे ॥ २७ ॥

सहदेवं तथा यान्तं कृपः शारद्वतोऽभ्ययात्।
यथा नागो वने नागं मत्तो मत्तमुपाद्रवत् ॥ २८ ॥

इसी प्रकार भीष्मपर चढ़ाई करनेवाले सहदेवको शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यने सामने आकर रोका, मानो वनमें किसी मतवाले हाथीपर मदोन्मत्त गजराजने आक्रमण किया हो ॥ २८ ॥

कृपश्च समरे शूरो माद्रीपुत्रं महारथम्।
आजघान शरैस्तूर्णं सप्तत्या रुक्मभूषणैः ॥ २९ ॥

शूरवीर कृपाचार्यने समरभूमिमें महारथी माद्रीकुमार सहदेवको सुवर्णभूषित सत्तर बाणोंसे तुरंत घायल कर दिया ॥२९॥

तस्य माद्रीसुतश्चापं द्विधा चिच्छेद सायकैः।
अथैनं छिन्नधन्वानं विव्याध नवभिः शरैः ॥ ३० ॥

तब माद्रीकुमार सहदेवने भी अपने सायकोंद्वारा उनके धनुषके दो टुकड़े कर दिये और धनुष कट जानेपर उन्हें नौ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ३० ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय समरे भारसाधनम्।
माद्रीपुत्रं सुसंहृष्टो दशभिर्निशितैः शरैः ॥ ३१ ॥
आजघानोरसि क्रुद्ध इच्छन् भीष्मस्य जीवितम्।

तदनन्तर भीष्मके जीवनकी रक्षा चाहनेवाले कृपाचार्यने समराङ्गणमें भार सहन करनेमें समर्थ दूसरा धनुष लेकर अत्यन्त हर्षके साथ सहदेवकी छातीमें क्रोधपूर्वक दस तीखे बाण मारे ॥ ३१½ ॥

तथैव पाण्डवो राजञ्छारद्वतममर्षणम् ॥ ३२ ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो भीष्मस्य वधकाङ्क्षया।
तयोर्युद्धं समभवद् घोररूपं भयावहम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! इसी प्रकार पाण्डुकुमार सहदेवने भी कुपित हो भीष्मके वधकी इच्छासे अमर्षशील कृपाचार्यकी छातीमें अपने बाणोंद्वारा प्रहार किया। उन दोनोंका वह युद्ध अत्यन्त घोर एवं भयंकर हो चला ॥ ३२-३३ ॥

नकुलं तु रणे क्रुद्धो विकर्णः शत्रुतापनः।
विव्याध सायकैः षष्ट्या रक्षन् भीष्मं महाबलम् ॥ ३४॥

दूसरी ओर क्रोधमें भरे हुए शत्रुसंतापी विकर्णने युद्धके मैदानमें महाबली भीष्मकी रक्षामें तत्पर हो साठ बाणोंद्वारा नकुलको घायल कर दिया ॥ ३४ ॥

नकुलोऽपि भृशं विद्धस्तव पुत्रेण धीमता।
विकर्णं सप्तसप्तत्या निर्बिभेद शिलीमुखैः ॥ ३५ ॥

आपके बुद्धिमान् पुत्र विकर्णद्वारा अत्यन्त घायल होकर नकुलने भी सतहत्तर बाणोंसे विकर्णको क्षत-विक्षत कर दिया ॥

तत्र तौ नरशार्दूलौ भीष्महेतोः परंतपौ।
अन्योन्यं जघ्नतुर्वीरौ गोष्ठे गोवृषभाविव ॥ ३६ ॥

जैसे गोशालामें दो साँड़ आपसमें लड़ते हों, उसी प्रकार शत्रुओंको संताप देनेवाले दोनों पुरुषसिंह वीर विकर्ण और नकुल भीष्मकी रक्षाके लिये एक दूसरेपर घातक प्रहार कर रहे थे ॥

घटोत्कचं रणे यान्तं निघ्नन्तं तव वाहिनीम्।
दुर्मुखः समरे प्रायाद् भीष्महेतोः पराक्रमी ॥ ३७ ॥

उसी समय पराक्रमी दुर्मुखने समरभूमिमें भीष्मकी रक्षाके लिये राक्षस घटोत्कचपर आक्रमण किया, जो युद्धके मैदानमें आपकी सेनाका संहार करता हुआ आगे बढ़ रहा था ॥ ३७ ॥

हैडिम्बस्तु रणे राजन् दुर्मुखं शत्रुतापनम्।
आजघानोरसि क्रुद्धः शरेणानतपर्वणा ॥ ३८ ॥

राजन् ! उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले दुर्मुखको क्रोधमें भरे हुए हिडिम्बाकुमारने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उसकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ३८ ॥

भीमसेनसुतं चापि दुर्मुखः सुमुखैः शरैः।
षष्ट्या वीरो नदन् हृष्टो विव्याध रणमूर्धनि ॥ ३९ ॥

तब वीर दुर्मुखने हर्षपूर्वक गर्जना करते हुए अपने तीखी नोकवाले बाणोंद्वारा भीमसेनके पुत्र घटोत्कचको युद्धके मुहानेपर साठ बाणोंसे बींध डाला ॥ ३९ ॥

धृष्टद्युम्नं तथाऽऽयान्तं भीष्मस्य वधकाङ्क्षिणम्।
हार्दिक्यो वारयामास रथश्रेष्ठं महारथः ॥ ४०॥

इसी प्रकार भीष्मके वधकी इच्छासे आते हुए रथियोंमें श्रेष्ठ धृष्टद्युम्नको महारथी कृतवर्माने रोक दिया ॥ ४० ॥

हार्दिक्यः पार्षतं चापि विद्ध्वा पञ्चभिरायसैः।
पुनः पञ्चाशता तूर्णं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ४१ ॥

कृतवर्माने द्रुपदकुमारको लोहेके बने हुए पाँच बाणोंसे बींधकर फिर तुरंत ही पचास बाणोंसे घायल किया और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४१ ॥

आजघान महाबाहुः पार्षतं तं महारथम्।
तं चैव पार्षतो राजन् हार्दिक्यं नवभिः शरैः ॥ ४२ ॥
विव्याध निशितैस्तीक्ष्णैः कङ्कपत्रैरजिह्मगैः।

इस प्रकार महाबाहु कृतवर्माने महारथी धृष्टद्युम्नको गहरी चोट पहुँचायी। राजन्! तब धृष्टद्युम्नने भी कंकपत्र-विभूषित सीधे जानेवाले तीखे एवं पैने नौ बाणोंसे कृतवर्मा-को क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ४२½ ॥

तयोः समभवद् युद्धं भीष्महेतोर्महाहवे ॥ ४३ ॥
अन्योन्यातिशये युक्तं यथा वृत्रमहेन्द्रयोः।

उस समय भीष्मजीके निमित्त उस महान् संग्राममें वृत्रासुर और इन्द्रके समान उन दोनों वीरोंका घोर युद्ध होने लगा, जिसमें वे एक दूसरेसे आगे बढ़ जानेके प्रयत्नमें लगे थे ॥ ४३½ ॥

भीमसेनं तथाऽऽयान्तं भीष्मं प्रति महारथम् ॥ ४४ ॥
भूरिश्रवाभ्ययात् तूर्णं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्।

इसी तरह महारथी भीष्मकी ओर आते हुए भीमसेन-पर भूरिश्रवाने तुरंत आक्रमण किया और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४४½ ॥

सौमदत्तिरथो भीममाजघान स्तनान्तरे ॥ ४५ ॥
नाराचेन सुतीक्ष्णेन रुक्मपुङ्खेन संयुगे।

तदनन्तर सोमदत्तकुमारने युद्धस्थलमें सुवर्णमय पंखसे युक्त अत्यन्त तीखे नाराचद्वारा भीमसेनकी छातीमें प्रहार किया ॥ ४५½ ॥

उरःस्थेन बभौ तेन भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ४६ ॥
स्कन्दशक्त्या यथा क्रौञ्चः पुरा नृपतिसत्तम।

नृपश्रेष्ठ! छातीमें लगे हुए उस बाणसे प्रतापी भीमसेन वैसे ही सुशोभित हुए, जैसे पूर्वकालमें कार्तिकेयकी शक्तिसे आविद्ध होनेपर क्रौञ्च पर्वतकी शोभा हुई थी ॥ ४६½ ॥

तौ शरान् सूर्यसंकाशान् कर्मारपरिमार्जितान् ॥ ४७ ॥
अन्योन्यस्य रणे क्रुद्धौ चिक्षिपाते नरर्षभौ।

क्रोधमें भरे हुए वे दोनों नरश्रेष्ठ युद्धमें एक दूसरेपर लोहारके द्वारा माँजकर साफ किये हुए सूर्यके समान तेजस्वी बाणोंका प्रहार कर रहे थे ॥ ४७½ ॥

भीमो भीष्मवधाकाङ्क्षी सौमदत्तिं महारथम् ॥ ४८ ॥
तथा भीष्मजये गृध्नुः सौमदत्तिस्तु पाण्डवम्।
कृतप्रतिकृते यत्तौ योधयामासतू रणे ॥ ४९ ॥

भीमसेन भीष्मके वधकी इच्छा रखकर महारथी भूरिश्रवा-पर चोट करते थे और भूरिश्रवा भीष्मकी विजय चाहता हुआ पाण्डुकुमार भीमसेनपर प्रहार करता था। वे दोनों युद्धमें एक दूसरेके अस्त्रोंका प्रतीकार करते हुए लड़ रहे थे ४८-४९

युधिष्ठिरं तु कौन्तेयं महत्या सेनया वृतम्।
भीष्माभिमुखमायान्तं भारद्वाजो न्यवारयत् ॥ ५० ॥
(तत्र युद्धमभूद् घोरं तयोः पुरुषसिंहयोः।)

दूसरी ओर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको विशाल सेनाके साथ भीष्मके सम्मुख आते देख द्रोणाचार्यने रोक दिया; वहाँ उन दोनों पुरुषसिंहोंमें घोर युद्ध हुआ ॥ ५० ॥

द्रोणस्य रथनिर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम्।
श्रुत्वा प्रभद्रका राजन् समकम्पन्त मारिष ॥ ५१ ॥

राजन्! द्रोणाचार्यके रथकी घरघराहट मेघकी गर्जनाके समान जान पड़ती थी। आर्य! उसे सुनकर प्रभद्रक वीर काँप उठे ॥ ५१ ॥

सा सेना महती राजन् पाण्डुपुत्रस्य संयुगे।
द्रोणेन वारिता यत्ता न चचाल पदात् पदम् ॥ ५२ ॥

महाराज! उस युद्धस्थलमें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी वह विशाल सेना द्रोणके द्वारा जब रोक दी गयी, तब प्रयत्न करनेपर भी वह एक पग भी आगे न बढ़ सकी ॥ ५२ ॥

चेकितानं रणे यत्तं भीष्मं प्रति जनेश्वर।
चित्रसेनस्तव सुतः क्रुद्धरूपमवारयत् ॥ ५३ ॥

जनेश्वर! दूसरी ओर भीष्मके प्रति प्रयत्नपूर्वक आक्रमण करनेवाले क्रोधमें भरे हुए चेकितानको रणभूमिमें आपके पुत्र चित्रसेनने रोक दिया ॥ ५३ ॥

भीष्महेतोः पराक्रान्तश्चित्रसेनः पराक्रमी।
चेकितानं परं शक्त्या योधयामास भारत ॥ ५४ ॥
तथैव चेकितानोऽपि चित्रसेनमवारयत्।
तद् युद्धमासीत् सुमहत् तयोस्तत्र समागमे ॥ ५५ ॥

पराक्रमी चित्रसेन भीष्मकी रक्षाके लिये पराक्रम दिखा रहा था। भारत! उसने पूरी शक्ति लगाकर चेकितानके साथ युद्ध किया। इसी प्रकार चेकितानने भी चित्रसेनकी गति रोक दी। उन दोनोंकी मुठभेड़में वहाँ महान् युद्ध होने लगा ॥ ५४–५५ ॥

अर्जुनो वार्यमाणस्तु बहुशस्तत्र भारत।
विमुखीकृत्य पुत्रं ते सेनां तव ममर्द ह ॥ ५६ ॥

भरतनन्दन ! वहाँ बारंबार रोके जानेपर भी अर्जुनने आपके पुत्रको युद्धसे विमुख करके आपकी सेनाको रौंद डाला ॥

दुःशासनोऽपि परया शक्त्या पार्थमवारयत् ।
कथं भीष्मं न नो हन्यादिति निश्चित्य भारत ॥ ५७ ॥

भारत ! उस समय दुःशासन भी यह निश्चय करके कि ये किसी प्रकार हमारे भीष्मको मार न सकें, पूरी शक्ति लगाकर अर्जुनको रोकनेका प्रयत्न करता रहा ॥ ५७ ॥

(पार्थोऽपि समरे राजन् दुःशासनमताडयत् ।
ताडिते बहुधा पुत्रे पार्थबाणैरजिह्मगैः ॥
बभूव व्यथिता सेना दृष्ट्वा पार्थपराक्रमम् ।
पुनश्च ताडिता तेन पार्थेनामिततेजसा ॥)

राजन् ! अर्जुनने भी समरमें दुःशासनको अपने बाणोंसे बहुत घायल किया । सीधे जानेवाले अर्जुनके बाणोंसे आपके पुत्रके बार-बार घायल होनेपर पार्थके उस पराक्रमको देखकर आपकी सारी सेना व्यथित हो उठी । अमित तेजस्वी अर्जुनने उसे बारंबार पीड़ित किया ॥

सा वध्यमाना समरे पुत्रस्य तव वाहिनी ।
लोड्यते रथिभिः श्रेष्ठैस्तत्र तत्रैव भारत ॥ ५८ ॥

भरतनन्दन ! उस संग्राममें आपके पुत्रकी सारी सेनाको जहाँ-तहाँ श्रेष्ठ रथियोंने बाणोंसे विद्ध करके मथ डाला था ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं)

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यका अश्वत्थामाको अशुभ शकुनोंकी सूचना देते हुए उसे भीष्मकी रक्षाके लिये धृष्टद्युम्नसे युद्ध करनेका आदेश देना

संजय उवाच

अथ वीरो महेष्वासो मत्तवारणविक्रमः ।
समादाय महच्चापं मत्तवारणवारणम् ॥ १ ॥
विधुन्वानो नरश्रेष्ठो द्रावयाणो वरूथिनीम् ।
पृतनां पाण्डवेयानां गाहमाना महाबलः ॥ २ ॥
निमित्तानि निमित्तज्ञः सर्वतो वीक्ष्य वीर्यवान् ।
प्रतपन्तमनीकानि द्रोणः पुत्रमभाषत ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर महाधनुर्धर, मतवाले हाथीके समान पराक्रमी, वीर, नरश्रेष्ठ, महाबली तथा शुभाशुभ निमित्तोंके ज्ञाता एवं अद्भुत शक्तिशाली द्रोणाचार्य मतवाले हाथियोंकी गतिको कुण्ठित कर देनेवाले विशाल धनुषको हाथमें लेकर उसे खींचने और विपक्षी सेनाको भगाने लगे । उन्होंने पाण्डवोंकी सेनामें प्रवेश करते समय सब ओर बुरे निमित्त (शकुन) देखकर शत्रुसेनाको संताप देते हुए पुत्र अश्वत्थामासे इस प्रकार कहा—॥ १–३ ॥

अयं हि दिवसस्तात यत्र पार्थो महाबलः ।
जिघांसुः समरे भीष्मं परं यत्नं करिष्यति ॥ ४ ॥

'तात ! यही वह दिन है, जब कि महाबली अर्जुन समरभूमिमें भीष्मको मार डालनेकी इच्छासे महान् प्रयत्न करेंगे॥

उत्पतन्ति हि मे बाणा धनुः प्रस्फुरतीव च ।
योगमस्त्राणि गच्छन्ति क्रूरे मे वर्तते मतिः ॥ ५ ॥

'मेरे बाण तरकससे उछले पड़ते हैं, धनुष फड़क उठता है, अस्त्र स्वयं ही धनुषसे संयुक्त हो जाते हैं और मेरे मनमें क्रूरकर्म करनेका संकल्प हो रहा है ॥ ५ ॥

दिक्ष्वशान्तानि घोराणि व्याहरन्ति मृगद्विजाः।
नीचैर्गृध्रा निलीयन्ते भारतानां चमूं प्रति ॥ ६ ॥

'सम्पूर्ण दिशाओंमें पशु और पक्षी अशान्तिपूर्ण भयंकर बोली बोल रहे हैं । गीध नीचे आकर कौरव-सेनामें छिप रहे हैं॥

नष्टप्रभ इवादित्यः सर्वतो लोहिता दिशः ।
रसते व्यथते भूमिः कम्पतीव च सर्वशः ॥ ७ ॥

'सूर्यकी प्रभा मन्द-सी पड़ गयी है । सम्पूर्ण दिशाएँ लाल हो रही हैं । पृथिवी सब ओरसे कोलाहलपूर्ण, व्यथित और कम्पित-सी हो रही है ॥ ७ ॥

कङ्का गृध्रा बलाकाश्च व्याहरन्ति मुहुर्मुहुः ।
शिवाश्चैवाशिवा घोरा वेदयन्त्यो महद् भयम्॥ ८ ॥
(ववाशिरे भयकरा दीप्तास्याभिमुखे रवेः ।)

'कंक, गीध और बगले बारंबार बोल रहे हैं । अमङ्गलमयी घोररूपवाली गीदड़ियाँ महान् भयकी सूचना देती हुई सूर्यकी ओर मुँह करके भयानक बोली बोला करती हैं और उनका मुँह प्रज्वलित-सा जान पड़ता है ॥ ८ ॥

पपात महती चोल्का मध्येनादित्यमण्डलात् ।
सकबन्धश्च परिघो भानुमावृत्य तिष्ठति ॥ ९ ॥

'सूर्यमण्डलके मध्यभागसे बड़ी-बड़ी उल्काएँ गिरी हैं । कबन्धयुक्त परिघ सूर्यको चारों ओरसे घेरकर स्थित है ॥

परिवेषस्तथा घोरश्चन्द्रभास्करयोरभूत्।
वेदयानो भयं घोरं राज्ञां देहावकर्तनम्॥ १०॥

'चन्द्रमा और सूर्यके चारों ओर भयंकर घेरा पड़ने लगा है, जो क्षत्रियोंके शरीरका विनाश करनेवाले घोर भयकी सूचना दे रहा है॥ १०॥

देवतायतनस्थाश्च कौरवेन्द्रस्य देवताः।
कम्पन्ते च हसन्ते च नृत्यन्ति च रुदन्ति च॥ ११॥

'कौरवराज धृतराष्ट्रके देवालयोंकी देवमूर्तियाँ हिलती, हँसती, नाचती तथा रोती जान पड़ती हैं॥ ११॥

अपसव्यं ग्रहाश्चक्रुरलक्ष्माणं दिवाकरम्।
अवाक्शिराश्च भगवानुपातिष्ठत चन्द्रमाः॥ १२॥

'ग्रहोंने सूर्यकी वामावर्त परिक्रमा करके उन्हें अशुभ लक्षणोंका सूचक बना दिया है, भगवान् चन्द्रमा अपने दोनों कोनोंके सिरे नीचे करके उदित हुए हैं॥ १२॥

वपूंषि च नरेन्द्राणां विगताभानि लक्षये।
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु न च भ्राजन्ति दंशिताः॥ १३॥

'राजाओंके शरीरोंको मैं श्रीहीन देख रहा हूँ। दुर्योधनकी सेनाओंमें जो लोग कवच धारण करके स्थित हैं, उनकी शोभा नहीं हो रही है॥ १३॥

सेनयोरुभयोश्चापि समन्ताच्छ्रूयते महान्।
पाञ्चजन्यस्य निर्घोषो गाण्डीवस्य च निःस्वनः॥ १४॥

'दोनों ही सेनाओंमें चारों ओर पाञ्चजन्य शङ्खका गम्भीर घोष और गाण्डीव धनुषकी टंकारध्वनि सुनायी देती है॥

ध्रुवमास्थाय बीभत्सुरुत्तमास्त्राणि संयुगे।
अपास्यान्यान् रणे योधानभ्येष्यति पितामहम्॥ १५॥

'इससे यह निश्चय जान पड़ता है कि अर्जुन युद्धस्थलमें उत्तम अस्त्रोंका आश्रय ले दूसरे योद्धाओंको दूर हटाकर रणभूमिमें पितामह भीष्मके पास पहुँच जायँगे॥ १५॥

हृष्यन्ति रोमकूपाणि सीदतीव च मे मनः।
चिन्तयित्वा महाबाहो भीष्मार्जुनसमागमम्॥ १६॥

'महाबाहो! भीष्म और अर्जुनके युद्धका विचार करके मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं और मन शिथिल-सा होता जा रहा है॥ १६॥

तं चेह निकृतिप्रज्ञं पाञ्चाल्यं पापचेतसम्।
पुरस्कृत्य रणे पार्थो भीष्मस्यायोधनं गतः॥ १७॥

'शठताके पूरे पण्डित उस पापात्मा पाञ्चाल-राजकुमार शिखण्डीको यहाँ रणमें आगे करके कुन्तीकुमार अर्जुन भीष्मसे युद्ध करनेके लिये गये हैं॥ १७॥

अब्रवीच्च पुरा भीष्मो नाहं हन्यां शिखण्डिनम्।
स्त्री ह्येषा विहिता धात्रा दैवाच्च स पुनः पुमान्॥ १८॥

'भीष्मने पहले ही यह कह दिया था कि मैं शिखण्डीको नहीं मारूँगा; क्योंकि विधाताने इसे स्त्री ही बनाया था। फिर भाग्यवश यह पुरुष हो गया॥ १८॥

अमङ्गल्यध्वजश्चैव याज्ञसेनिर्महाबलः।
न चामङ्गलिके तस्मिन् प्रहरेदापगासुतः॥ १९॥

'इसके सिवा द्रुपदका यह महाबली पुत्र अपनी ध्वजामें अमङ्गलसूचक चिह्न धारण करता है। अतः इस अमाङ्गलिक शिखण्डीपर गङ्गानन्दन भीष्म कभी प्रहार नहीं करेंगे॥ १९॥

एतद् विचिन्तयानस्य प्रज्ञा सीदति मे भृशम्।
अभ्युद्यतो रणे पार्थः कुरुवृद्धमुपाद्रवत्॥ २०॥

'इन सब बातोंपर जब मैं विचार करता हूँ, तब मेरी बुद्धि अत्यन्त शिथिल हो जाती है। आज अर्जुनने पूरी तैयारीके साथ रणभूमिमें कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मजीपर धावा किया है॥ २०॥

युधिष्ठिरस्य च क्रोधो भीष्मश्चार्जुनसङ्गतः।
मम चास्त्रसमारम्भः प्रजानामशिवं ध्रुवम्॥ २१॥

'युधिष्ठिरका क्रोध करना, भीष्म और अर्जुनका संघर्ष होना और मेरा अपने विविध अस्त्रोंके प्रयोगके लिये उद्योग करना—ये तीनों बातें निश्चय ही प्रजाजनोंके अमङ्गलकी सूचना देनेवाली हैं॥ २१॥

मनस्वी बलवाञ्छूरः कृतास्त्रो लघुविक्रमः।
दूरपाती दृढेषुश्च निमित्तज्ञश्च पाण्डवः॥ २२॥

'पाण्डुनन्दन अर्जुन मनस्वी, बलवान्, शूरवीर, अस्त्रविद्याके पण्डित, शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले, दूरतकका लक्ष्य वेधनेवाले, सुदृढ़ बाणोंका संग्रह रखनेवाले तथा शुभाशुभ निमित्तोंके ज्ञाता हैं॥ २२॥

अजेयः समरे चापि देवैरपि सवासवैः।
बलवान् बुद्धिमांश्चैव जितक्लेशो युधां वरः॥ २३॥

'इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी उन्हें युद्धमें पराजित नहीं कर सकते। वे बलवान्, बुद्धिमान्, क्लेशोंपर विजय पानेवाले और योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं॥ २३॥

विजयी च रणे नित्यं भैरवास्त्रश्च पाण्डवः।
तस्य मार्गं परिहरन् द्रुतं गच्छ यतव्रत॥ २४॥

'उन्हें युद्धमें सदा विजय प्राप्त होती है। पाण्डुनन्दन अर्जुनके अस्त्र बड़े भयंकर हैं। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुत्र! इसलिये तुम उनका रास्ता छोड़कर शीघ्र भीष्मजीकी रक्षाके लिये चले जाओ॥ २४॥

पश्याद्यैतन्महाघोरे संयुगे वैशसं महत्।
हेमचित्राणि शूराणां महान्ति च शुभानि च॥ २५॥
कवचान्यवदीर्यन्ते शरैः संनतपर्वभिः।
छिद्यन्ते च ध्वजाग्राणि तोमराश्च धनूंषि च॥ २६॥

'देखो, इस महाघोर संग्राममें आज यह कैसा महान् जन-संहार हो रहा है ? शूरवीरोंके स्वर्णजटित, शुभ एवं महान् कवच अर्जुनके झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा विदीर्ण किये जा रहे हैं। ध्वजके अग्रभाग, तोमर और धनुषोंके टुकड़े-टुकड़े किये जा रहे हैं ॥ २५-२६ ॥

प्रासाश्च विमलास्तीक्ष्णाः शक्तयश्च कनकोज्ज्वलाः ।
वैजयन्त्यश्च नागानां संक्रुद्धेन किरीटिना ॥ २७ ॥

'चमकीले प्रास, सुवर्णजटित होनेके कारण सुनहरी कान्तिसे प्रकाशित होनेवाली तीखी शक्तियाँ और हाथियोंपर फहराती हुई वैजयन्ती पताकाएँ क्रोधमें भरे हुए किरीटधारी अर्जुनके द्वारा छिन्न-भिन्न की जा रही हैं॥ २७ ॥

नायं संरक्षितुं कालः प्राणान् पुत्रोपजीविभिः ।
याहि स्वर्गं पुरस्कृत्य यशसे विजयाय च ॥ २८ ॥

'बेटा ! आश्रित रहकर जीविका चलानेवाले पुरुषोंके लिये यह अपने प्राणोंकी रक्षाका अवसर नहीं है । तुम स्वर्गको सामने रखकर यश और विजयकी प्राप्तिके लिये भीष्मजीके पास जाओ ॥ २८ ॥

रथनागहयावर्तां महाघोरां सुदुर्गमाम् ।
रथेन संग्रामनदीं तरत्येष कपिध्वजः ॥ २९ ॥

'यह युद्ध एक महाघोर और अत्यन्त दुर्गम नदीके समान है । उसमें रथ, हाथी और घोड़े भँवर हैं, कपिध्वज अर्जुन रथरूपी नौकाके द्वारा इसे पार कर रहे हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्मण्यता दमो दानं तपश्च चरितं महत् ।
इहैव दृश्यते पार्थे भ्राता यस्य धनंजयः ॥ ३० ॥
भीमसेनश्च बलवान् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
वासुदेवश्च वार्ष्णेयो यस्य नाथो व्यवस्थितः ॥ ३१ ॥

'यहाँ केवल कुन्तीकुमार युधिष्ठिरमें ही ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति, इन्द्रियसंयम, दान, तप और श्रेष्ठ सदाचार आदि सद्गुण दिखायी देते हैं, जिनके फलस्वरूप उन्हें अर्जुन, बलवान् भीम तथा माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल और सहदेव-जैसे भाई मिले हैं एवं वृष्णिनन्दन भगवान् वासुदेव उनके रक्षक और सहायक बनकर सदा साथ रहते हैं ॥ ३०-३१ ॥

तस्यैष मन्युप्रभवो धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।
तपोदग्धशरीरस्य कोपो दहति भारतीम् ॥ ३२ ॥

'इस दुर्बुद्धि दुर्योधनका शरीर उन्हींकी तपस्यासे दग्धप्राय हो गया है और इसकी भारती सेनाको उन्हींकी क्रोधाग्नि जलाकर भस्म किये देती है ॥ ३२ ॥

एष संदृश्यते पार्थो वासुदेवव्यपाश्रयः ।
दारयन् सर्वसैन्यानि धार्तराष्ट्राणि सर्वशः ॥ ३३ ॥

'देखो, भगवान् वासुदेवकी शरणमें रहनेवाले ये अर्जुन कौरवोंकी सम्पूर्ण सेनाओंको सब ओरसे विदीर्ण करते हुए इधर ही आते दिखायी देते हैं ॥ ३३ ॥

एतदालोक्यते सैन्यं क्षोभ्यमाणं किरीटिना ।
महोर्मिनद्धं सुमहत् तिमिनेव महाजलम् ॥ ३४ ॥

'जैसे तिमि नामक महामत्स्य उत्ताल-तरंगोंसे युक्त महासागरके जलको मथ डालता है, उसी प्रकार किरीटधारी अर्जुनके द्वारा मथित हो यह कौरव-सेना विक्षुब्ध होती दिखायी देती है ॥ ३४ ॥

हाहाकिलकिलाशब्दाः श्रूयन्ते च चमूमुखे ।
याहि पाञ्चालदायादमहं यास्ये युधिष्ठिरम् ॥ ३५ ॥

'सेनाके प्रमुख भागमें हाहाकार और किलकिलाहटके शब्द सुनायी देते हैं । तुम द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नका सामना करनेके लिये जाओ और मैं युधिष्ठिरपर चढ़ाई करूँगा॥ ३५॥

दुर्गमं ह्यन्तरं राज्ञो व्यूहस्यामिततेजसः ।
समुद्रकुक्षिप्रतिमं सर्वतोऽतिरथैः स्थितैः ॥ ३६ ॥

'अमित तेजस्वी राजा युधिष्ठिरके व्यूहके भीतर प्रवेश करना समुद्रके अंदर प्रवेश करनेके समान बहुत कठिन है; क्योंकि उनके चारों ओर अतिरथी योद्धा खड़े हैं ॥ ३६ ॥

सात्यकिश्चाभिमन्युश्च धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ।
पर्यरक्षन्त राजानं यमौ च मनुजेश्वरम् ॥ ३७ ॥

'सात्यकि, अभिमन्यु, धृष्टद्युम्न, भीमसेन और नकुल, सहदेव नरेश्वर राजा युधिष्ठिरकी रक्षा कर रहे हैं ॥ ३७ ॥

उपेन्द्रसदृशः श्यामो महाशाल इवोद्गतः ।
एष गच्छत्यनीकाग्रे द्वितीय इव फाल्गुनः ॥ ३८ ॥

'यह देखो, भगवान् विष्णुके समान श्याम और महान् शाल वृक्षके समान ऊँचा अभिमन्यु द्वितीय अर्जुनके समान सेनाके आगे-आगे चल रहा है ॥ ३८ ॥

उत्तमास्त्राणि चाधत्स्व गृहीत्वा च महद् धनुः ।
पार्षतं याहि राजानं युध्यस्व च वृकोदरम् ॥ ३९ ॥

'तुम अपने उत्तम अस्त्रोंको धारण करो और विशाल धनुष लेकर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा भीमसेनके साथ युद्ध करो ॥ ३९ ॥

को हि नेच्छेत् प्रियं पुत्रं जीवन्तं शाश्वतीः समाः ।
क्षत्रधर्मं तु सम्प्रेक्ष्य ततस्त्वां नियुनज्म्यहम् ॥ ४० ॥

'अपना प्यारा पुत्र नित्य-निरन्तर जीवित रहे, यह कौन नहीं चाहता है तथापि क्षत्रिय-धर्मपर दृष्टि रखकर मैं तुम्हें इस कार्यमें नियुक्त कर रहा हूँ ॥ ४० ॥

एष चातिरणे भीष्मो दहते वै महाचमूम् ।
युद्धेषु सदृशस्तात यमस्य वरुणस्य च ॥ ४१ ॥

'तात ! ये भीष्म रणक्षेत्रमें यमराज और वरुणके समान पराक्रम दिखाते हुए पाण्डवोंकी विशाल सेनाको अत्यन्त दग्ध कर रहे हैं' ॥ ४१ ॥

(पुत्रं समनुशास्यैवं भारद्वाजः प्रतापवान्।
महारणे महाराज धर्मराजमयोधयत् ॥)

महाराज ! अपने पुत्रको इस प्रकार आदेश देकर प्रतापी द्रोणाचार्य इस महायुद्धमें धर्मराजके साथ युद्ध करने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्रोणाश्वत्थामसंवादे द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्रोण और अश्वत्थामाका संवादविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४२½ श्लोक हैं)

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके दस प्रमुख महारथियोंके साथ अकेले घोर युद्ध करते हुए भीमसेनका अद्भुत पराक्रम

संजय उवाच

भगदत्तः कृपः शल्यः कृतवर्मा तथैव च।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ १ ॥
चित्रसेनो विकर्णश्च तथा दुर्मर्षणादयः।
दशैते तावका योधा भीमसेनमयोधयन् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! भगदत्त, कृपाचार्य, शल्य, कृतवर्मा, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, सिन्धुराज जयद्रथ, चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षण—ये दस योद्धा भीमसेनके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ १–२ ॥

महत्या सेनया युक्ता नानादेशसमुत्थया।
भीष्मस्य समरे राजन् प्रार्थयाना महद् यशः ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! इनके साथ अनेक देशोंसे आयी हुई विशाल सेना मौजूद थी। ये समरभूमिमें भीष्मके महान् यशकी रक्षा करना चाहते थे ॥ ३ ॥

शल्यस्तु नवभिर्बाणैर्भीमसेनमताडयत्।
कृतवर्मा त्रिभिर्बाणैः कृपश्च नवभिः शरैः ॥ ४ ॥

शल्यने नौ बाणोंसे भीमसेनको गहरी चोट पहुँचायी। फिर कृतवर्माने तीन और कृपाचार्यने उन्हें नौ बाण मारे ॥

चित्रसेनो विकर्णश्च भगदत्तश्च मारिष।
दशभिर्दशभिर्बाणैर्भीमसेनमताडयन् ॥ ५ ॥

आर्य ! फिर लगे हाथ चित्रसेन, विकर्ण और भगदत्तने भी दस-दस बाण मारकर भीमसेनको घायल कर दिया ॥

सैन्धवश्च त्रिभिर्बाणैर्भीमसेनमताडयत्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः ॥ ६ ॥
दुर्मर्षणस्तु विंशत्या पाण्डवं निशितैः शरैः।

फिर सिन्धुराज जयद्रथने तीन, अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने पाँच-पाँच तथा दुर्मर्षणने बीस तीखे बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन भीमसेनको चोट पहुँचायी ॥ ६½ ॥

स तान् सर्वान् महाराज राजमानान् पृथक्पृथक् ॥ ७ ॥
प्रवीरान् सर्वलोकस्य धार्तराष्ट्रान् महारथान्।
जघान समरे वीरः पाण्डवः परवीरहा ॥ ८ ॥

महाराज ! तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुकुमार वीर भीमसेनने सम्पूर्ण जगत्‌के उन समस्त राजाओं, प्रमुख वीरों तथा आपके महारथी पुत्रोंको पृथक्-पृथक् बाण मारकर समराङ्गणमें घायल कर दिया ॥ ७-८ ॥

सप्तभिः शल्यमाविध्यत् कृतवर्माणमष्टभिः।
कृपस्य सशरं चापं मध्ये चिच्छेद भारत ॥ ९ ॥

भारत ! भीमसेनने शल्यको सात और कृतवर्माको आठ बाणोंसे बींध डाला। फिर कृपाचार्यके बाणसहित धनुषको बीचसे ही काट दिया ॥ ९ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं पुनर्विव्याध सप्तभिः।
विन्दानुविन्दौ च तथा त्रिभिस्त्रिभिरताडयत् ॥ १० ॥

धनुष कट जानेपर उन्होंने पुनः सात बाणोंसे कृपाचार्यको घायल किया। फिर विन्द और अनुविन्दको तीन-तीन बाण मारे ॥ १० ॥

दुर्मर्षणं च विंशत्या चित्रसेनं च पञ्चभिः।
विकर्णं दशभिर्बाणैः पञ्चभिश्च जयद्रथम् ॥ ११ ॥
विद्ध्वा भीमोऽनदद्धृष्टः सैन्धवं च पुनस्त्रिभिः।

तत्पश्चात् दुर्मर्षणको बीस, चित्रसेनको पाँच, विकर्णको दस तथा जयद्रथको पाँच बाणोंसे बींधकर भीमसेनने बड़े हर्षके साथ सिंहनाद किया और जयद्रथको पुनः तीन बाणोंसे बींध डाला ॥ ११½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय गौतमो रथिनां वरः ॥ १२ ॥
भीमं विव्याध संरब्धो दशभिर्निशितैः शरैः।

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने दूसरा धनुष लेकर क्रोधपूर्वक चलाये हुए दस तीखे बाणोंद्वारा भीमसेनको बींध डाला ॥ १२½ ॥

स विद्धो दशभिर्बाणैस्तोत्त्रैरिव महाद्विपः ॥ १३ ॥
(व्यनदत् समरे शूरः सिंहवद् रणमूर्धनि।)

जैसे महान् गजराज अङ्कुशोंसे पीड़ित होनेपर चिग्घाड़ उठता है, उसी प्रकार उन दस बाणोंसे घायल होनेपर शूरवीर भीमसेनने युद्धके मुहानेपर सिंहके समान गर्जना की ॥ १३ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज भीमसेनः प्रतापवान्।
गौतमं ताडयामास शरैर्बहुभिराहवे ॥ १४ ॥

महाराज ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीमसेनने रणक्षेत्रमें कृपाचार्यको अनेक बाणोंद्वारा घायल किया ॥ १४ ॥

सैन्धवस्य तथाश्वांश्च सारथिं च त्रिभिः शरैः।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय कालान्तकसमद्युतिः ॥ १५ ॥

इसके बाद प्रलयकालीन यमराजके समान तेजस्वी भीमसेनने तीन बाणोंद्वारा सिन्धुराज जयद्रथके घोड़ों तथा सारथिको यमलोक भेज दिया ॥ १५ ॥

हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः।
शरांश्चिक्षेप निशितान् भीमसेनस्य संयुगे ॥ १६ ॥

तब उस अश्वहीन रथसे तुरंत ही कूदकर महारथी जयद्रथने युद्धस्थलमें भीमसेनके ऊपर बहुत-से तीखे बाण चलाये ॥ १६ ॥

तस्य भीमो धनुर्मध्ये द्वाभ्यां चिच्छेद मारिष।
भल्लाभ्यां भरतश्रेष्ठ सैन्धवस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

माननीय भरतश्रेष्ठ ! उस समय भीमसेनने दो भल्ल मारकर महामना सिन्धुराजके धनुषको बीचसे ही काट दिया १७

स छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
चित्रसेनरथं राजन्नारुरोह त्वरान्वितः ॥ १८ ॥

राजन् ! धनुषके कटने तथा घोड़ों और सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुआ जयद्रथ तुरंत ही चित्रसेनके रथपर जा बैठा ॥ १८ ॥

अत्यद्भुतं रणे कर्म कृतवांस्तत्र पाण्डवः।
महारथाञ्शरैर्विद्ध्वा वारयित्वा च मारिष ॥ १९ ॥
विरथं सैन्धवं चक्रे सर्वलोकस्य पश्यतः।

आर्य ! वहाँ पाण्डुनन्दन भीमसेनने रणक्षेत्रमें यह अद्भुत कर्म किया कि सब महारथियोंको बाणोंसे घायल करके रोक दिया और सब लोगोंके देखते-देखते सिन्धुराजको रथहीन कर दिया ॥ १९½ ॥

तदा न ममृषे शल्यो भीमसेनस्य विक्रमम् ॥ २० ॥
स संधाय शरांस्तीक्ष्णान् कर्मारपरिमार्जितान्।
भीमं विव्याध समरे तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २१ ॥

उस समय राजा शल्य भीमसेनके उस पराक्रमको न सह सके। उन्होंने लोहारके माँजे हुए पैने बाणोंका संधान करके समरभूमिमें भीमसेनको बींध डाला और कहा--'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २०--२१ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च भगदत्तश्च वीर्यवान्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ चित्रसेनश्च संयुगे ॥ २२ ॥
दुर्मर्षणो विकर्णश्च सिन्धुराजश्च वीर्यवान्।
भीमं ते विव्यधुस्तूर्णं शल्यहेतोररिंदमाः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् कृपाचार्य, कृतवर्मा, पराक्रमी भगदत्त, अवन्तीके विन्द और अनुविन्द, चित्रसेन, दुर्मर्षण, विकर्ण और पराक्रमी सिन्धुराज जयद्रथ शत्रुओंका दमन करनेवाले इन वीरोंने राजा शल्यकी रक्षाके लिये भीमसेनको तुरंत ही घायल कर दिया २२-२३

स च तान् प्रतिविव्याध पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः।
शल्यं विव्याध सप्तत्या पुनश्च दशभिः शरैः ॥ २४ ॥

फिर भीमसेनने भी उन सबको पाँच-पाँच बाणोंसे घायल करके तुरंत ही बदला लिया। इसके बाद उन्होंने शल्यको पहले सत्तर और फिर दस बाणोंसे बींध डाला ॥ २४ ॥

तं शल्यो नवभिर्भित्त्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः।
सारथिं चास्य भल्लेन गाढं विव्याध मर्मणि ॥ २५ ॥

यह देख शल्यने भीमसेनको पहले नौ बाणोंसे विदीर्ण करके फिर पाँच बाणोंद्वारा घायल किया। साथ ही एक भल्लके द्वारा उनके सारथिके भी मर्मस्थानोंमें अधिक चोट पहुँचायी ॥ २५ ॥

विशोकं प्रेक्ष्य निर्भिन्नं भीमसेनः प्रतापवान्।
मद्रराजं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ २६ ॥

उस समय प्रतापी भीमसेनने अपने सारथि विशोकको अत्यन्त क्षत-विक्षत हुआ देख तीन बाणोंसे मद्रराज शल्यकी भुजाओं तथा छातीमें प्रहार किया ॥ २६ ॥

(भगदत्तं तथा वीरं कृतवर्माणमाहवे।)
तथेतरान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः।
ताडयामास समरे सिंहवद् विननाद च ॥ २७ ॥

भगदत्त, वीरवर कृतवर्मा तथा अन्य महाधनुर्धर वीरोंको उन्होंने तीन-तीन सीधे जानेवाले सायकोंद्वारा समरभूमिमें मारा और सिंहके समान गर्जना की ॥ २७ ॥

ते हि यत्ता महेष्वासाः पाण्डवं युद्धकोविदम्।
त्रिभिस्त्रिभिरकुण्ठाग्रैर्भृशं मर्मस्वताडयन् ॥ २८ ॥

तब उन सभी महाधनुर्धरोंने एक साथ प्रयत्न करके तीखे अग्रभागवाले तीन-तीन बाणोंद्वारा युद्धकुशल पाण्डुपुत्र भीमके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २८ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासो भीमसेनो न विव्यथे।
पर्वतो वारिधाराभिर्वर्षमाणैरिवाम्बुदैः ॥ २९ ॥

उनके द्वारा अत्यन्त घायल होनेपर भी महाधनुर्धर भीमसेन बादलोंकी बरसायी हुई जल-धाराओंसे पर्वतकी भाँति तनिक भी व्यथित एवं विचलित नहीं हुए ॥ २९ ॥

स तु क्रोधसमाविष्टः पाण्डवानां महारथः।
मद्रेश्वरं त्रिभिर्बाणैर्भृशं विद्ध्वा महायशाः ॥ ३० ॥
कृपं च नवभिर्बाणैर्भृशं विद्ध्वा समन्ततः।
प्राग्ज्योतिषं शतै राजो राजन् विव्याध सायकैः ॥ ३१ ॥

राजन् ! तब क्रोधमें भरे हुए पाण्डवोंके महारथी महायशस्वी भीमसेनने मद्रराज शल्यको तीन और कृपाचार्यको नौ बाणोंद्वारा सब ओरसे अत्यन्त घायल करके प्राग्ज्योतिष-

नरेश भगदत्तको सैकड़ों बाणोंद्वारा समरभूमिमें बींध डाला ॥ ३०-३१ ॥

ततस्तु सशरं चापं सात्वतस्य महात्मनः।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् सिद्धहस्त पुरुषकी भाँति भीमसेनने अत्यन्त तीखे क्षुरप्रके द्वारा महामना कृतवर्माके बाणसहित धनुषको काट डाला ॥ ३२ ॥

तथान्यद् धनुरादाय कृतवर्मा वृकोदरम्।
आजघान भ्रुवोर्मध्ये नाराचेन परंतपः ॥ ३३ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले कृतवर्माने दूसरा धनुष लेकर भीमसेनकी दोनों भौंहोंके मध्यभागमें नाराचके द्वारा प्रहार किया ॥ ३३ ॥

भीमस्तु समरे विद्ध्वा शल्यं नवभिरायसैः।
भगदत्तं त्रिभिश्चैव कृतवर्माणमष्टभिः ॥ ३४ ॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यां तु विव्याध गौतमप्रभृतीन् रथान्।
तेऽपि तं समरे राजन् विव्यधुर्निशितैः शरैः ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् भीमसेनने समराङ्गणमें लोहेके बने हुए नौ बाणोंसे राजा शल्यको बेधकर तीन बाणोंसे भगदत्तको, आठसे कृतवर्माको और दो-दो बाणोंद्वारा कृपाचार्य आदि रथियोंको बींध डाला। राजन्! फिर उन्होंने भी अपने तीखे बाणोंद्वारा भीमसेनको घायल कर दिया ॥ ३४-३५ ॥

स तथा पीड्यमानोऽपि सर्वशस्त्रैर्महारथैः।
मत्वा तृणेन तांस्तुल्यान् विचचार गतव्यथः ॥ ३६ ॥

उन महारथियोंद्वारा सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे पीड़ित किये जानेपर भी भीमसेन उन्हें तिनकोंके समान मानकर व्यथारहित हो विचरण करने लगे ॥ ३६ ॥

ते चापि रथिनां श्रेष्ठा भीमाय निशिताञ्छरान्।
प्रेषयामासुरव्यग्राः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ उन वीरोंने भी व्यग्रतारहित हो भीमसेनपर सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें तीखे बाण चलाये ॥ ३७ ॥

तस्य शक्तिं महावेगां भगदत्तो महारथः।
चिक्षेप समरे वीरः स्वर्णदण्डां महामते ॥ ३८ ॥

महामते! उस समरभूमिमें वीर महारथी भगदत्तने भीमसेनपर स्वर्णमय दण्डसे विभूषित एक महावेगशालिनी शक्ति चलायी ॥ ३८ ॥

तोमरं सैन्धवो राजा पट्टिशं च महाभुजः।
शतघ्नीं च कृपो राजञ्छरं शल्यश्च संयुगे ॥ ३९ ॥

सिन्धुदेशके राजा महाबाहु जयद्रथने तोमर और पट्टिश चलाया। राजन्! कृपाचार्यने शतघ्नीका प्रयोग किया तथा राजा शल्यने युद्धस्थलमें एक बाण मारा ॥ ३९ ॥

अथेतरे महेष्वासाः पञ्च पञ्च शिलीमुखान्।
भीमसेनं समुद्दिश्य प्रेषयामासुरोजसा ॥ ४० ॥

इनके सिवा दूसरे धनुर्धर वीरोंने भी भीमसेनको लक्ष्य करके बलपूर्वक पाँच-पाँच बाण चलाये ॥ ४० ॥

तोमरं च द्विधा चक्रे क्षुरप्रेणानिलात्मजः।
पट्टिशं च त्रिभिर्बाणैश्चिच्छेद तिलकाण्डवत् ॥ ४१ ॥

परंतु वायुपुत्र भीमसेनने एक क्षुरप्रसे जयद्रथके चलाये हुए तोमरके दो टुकड़े कर दिये; फिर तीन बाण मारकर पट्टिशको तिलके डंठलके समान टूक-टूक कर डाला ॥ ४१ ॥

स बिभेद शतघ्नीं च नवभिः कङ्कपत्रिभिः।
मद्रराजप्रयुक्तं च शरं छित्त्वा महारथः ॥ ४२ ॥
शक्तिं चिच्छेद सहसा भगदत्तेरितां रणे।

तत्पश्चात् कंकपत्रयुक्त नौ बाणोंद्वारा शतघ्नीको छिन्न-भिन्न कर दिया। इसके बाद महारथी भीमसेनने मद्रराज शल्यके चलाये हुए बाणको काटकर रणक्षेत्रमें भगदत्तकी चलायी हुई शक्तिके भी सहसा टुकड़े-टुकड़े कर डाले। ४२½।

तथेतराञ्छरान् घोरान् शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४३ ॥
भीमसेनो रणश्लाघी त्रिधैकैकं समाच्छिनत्।
तांश्च सर्वान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरताडयत् ॥ ४४ ॥

तदनन्तर झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंद्वारा अन्यान्य योद्धाओंके चलाये हुए भयंकर शरसमूहोंको भी युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेनने काटकर एक-एकके तीन-तीन टुकड़े कर दिये। इस प्रकार शत्रुओंके अस्त्र-शस्त्रोंका निवारण करके भीमसेनने उन सभी महाधनुर्धर वीरोंको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ४३-४४ ॥

ततो धनंजयस्तत्र वर्तमाने महारणे।
आजगाम रथेनाजौ भीमं दृष्ट्वा महारथम् ॥ ४५ ॥
निघ्नन्तं समरे शत्रून् योधयानं च सायकैः।

तब उस महासमरमें महारथी भीमसेनको, जो समरभूमिमें सायकोंद्वारा शत्रुओंका संहार करते हुए उनके साथ युद्ध कर रहे थे, देखकर रथके द्वारा अर्जुन भी वहाँ आ पहुँचे। ४५½।

तौ तु तत्र महात्मानौ समेतौ वीक्ष्य पाण्डवौ ॥ ४६ ॥
न शशंसुर्जयं तत्र तावकाः पुरुषर्षभाः।

उन दोनों महामनस्वी पाण्डव बन्धुओंको एकत्र हुआ देख आपकी सेनाके श्रेष्ठ पुरुषोंने वहाँ अपनी विजयकी आशा त्याग दी ॥ ४६½ ॥

अथार्जुनो रणे भीमं योधयन्तं महारथान् ॥ ४७ ॥
भीष्मस्य निधनाकाङ्क्षी पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्।
आससाद रणे वीरांस्तावकान् दश भारत ॥ ४८ ॥

भरतनन्दन ! उस रणक्षेत्रमें भीम जिनके साथ युद्ध कर रहे थे, आपके पक्षके उन दस महारथी वीरोंके सामने भीष्मके वधकी इच्छा रखनेवाले अर्जुन भी शिखण्डीको आगे किये आ पहुँचे ॥ ४७-४८ ॥

ये स्म भीमं रणे राजन् योधयन्तो व्यवस्थिताः ।
बीभत्सुस्तानथाविध्यद् भीमस्य प्रियकाम्यया ॥ ४९ ॥

राजन् ! जो लोग रणक्षेत्रमें भीमसेनके साथ युद्ध करते हुए खड़े थे, उन सबको अर्जुनने भीमका प्रिय करनेकी इच्छासे अच्छी तरह घायल कर दिया ॥ ४९ ॥

ततो दुर्योधनो राजा सुशर्माणमचोदयत् ।
अर्जुनस्य वधार्थाय भीमसेनस्य चोभयोः ॥ ५० ॥

तब राजा दुर्योधनने अर्जुन और भीमसेन दोनोंके वधके लिये सुशर्माको भेजा ॥ ५० ॥

सुशर्मन् गच्छ शीघ्रं त्वं बलौघैः परिवारितः ।
जहि पाण्डुसुतावेतौ धनंजयवृकोदरौ ॥ ५१ ॥

भेजते समय उसने कहा—'सुशर्मन् ! तुम विशाल सेनाके साथ शीघ्र जाओ और अर्जुन तथा भीमसेन इन दोनों पाण्डुकुमारोंको मार डालो' ॥ ५१ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य त्रैगर्तः प्रस्थलाधिपः ।
अभिद्रुत्य रणे भीममर्जुनं चैव धन्विनौ ॥ ५२ ॥
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् पर्यवारयत् ।
ततः प्रववृते युद्धमर्जुनस्य परैः सह ॥ ५३ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर प्रस्थलाके स्वामी त्रिगर्तराज सुशर्माने रणक्षेत्रमें धावा करके भीमसेन और अर्जुन दोनों धनुर्धर वीरोंको अनेक सहस्र रथोंद्वारा सब ओरसे घेर लिया । उस समय अर्जुनका शत्रुओंके साथ घोर युद्ध होने लगा ।५२-५३।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीमपराक्रमे त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीमसेनका पराक्रमविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५४ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके प्रमुख महारथियोंके साथ युद्धमें भीमसेन और अर्जुनका अद्भुत पुरुषार्थ

संजय उवाच

अर्जुनस्तु रणे शल्यं यतमानं महारथम् ।
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस समय रणक्षेत्रमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले महारथी शल्यको अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंकी वर्षा करके ढक दिया ॥ १ ॥

सुशर्माणं कृपं चैव त्रिभिस्त्रिभिरविध्यत ।
प्राग्ज्योतिषं च समरे सैन्धवं च जयद्रथम् ॥ २ ॥
चित्रसेनं विकर्णं च कृतवर्माणमेव च ।
दुर्मर्षणं च राजेन्द्र ह्यावन्त्यौ च महारथौ ॥ ३ ॥
एकैकं त्रिभिरानर्च्छत् कङ्कबर्हिणवाजितैः ।

उसके बाद सुशर्मा और कृपाचार्यको भी तीन-तीन बाणोंसे बींध डाला । राजेन्द्र ! फिर समराङ्गणमें प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, सिन्धुराज जयद्रथ, चित्रसेन, विकर्ण, कृतवर्मा, दुर्मर्षण तथा महारथी विन्द और अनुविन्द—इनमेंसे प्रत्येकको गीधकी पाँखसे युक्त तीन-तीन बाणोंद्वारा विशेष पीड़ा दी ॥ २–३½ ॥

शरैरतिरथो युद्धे पीडयन् वाहिनीं तव ॥ ४ ॥
जयद्रथो रणे पार्थं विद्ध्वा भारत सायकैः ।
भीमं विव्याध तरसा चित्रसेनरथे स्थितः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् अतिरथी वीर अर्जुनने युद्धमें आपकी सेनाको बाणसमूहोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित कर दिया । भारत ! चित्रसेनके रथपर बैठे हुए जयद्रथने रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमार अर्जुनको घायल करके भीमसेनको भी बहुत-से सायकोंद्वारा वेगपूर्वक बींध डाला ॥ ४–५ ॥

शल्यश्च समरे जिष्णुं कृपश्च रथिनां वरः ।
विव्यधाते महाराज बहुधा मर्मभेदिभिः ॥ ६ ॥

महाराज ! फिर रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य तथा शल्यने भी समराङ्गणमें मर्मस्थलको विदीर्ण करनेवाले बाणोंद्वारा अर्जुनको बारंबार घायल किया ॥ ६ ॥

चित्रसेनादयश्चैव पुत्रास्तव विशाम्पते ।
पञ्चभिः पञ्चभिस्तूर्णं संयुगे निशितैः शरैः ॥ ७ ॥
आजघ्नुरर्जुनं संख्ये भीमसेनं च मारिष ।

माननीय प्रजानाथ ! चित्रसेन आदि आपके पुत्रोंने भी युद्धस्थलमें तुरंत ही पाँच-पाँच तीखे बाणोंद्वारा अर्जुन और भीमसेनको घायल कर दिया ॥ ७½ ॥

तौ तत्र रथिनां श्रेष्ठौ कौन्तेयौ भरतर्षभौ ॥ ८ ॥
अपीडयेतां समरे त्रिगर्तानां महद् बलम् ।

उस समय वहाँ रथियोंमें श्रेष्ठ भरतकुलभूषण कुन्तीकुमार भीमसेन और अर्जुनने समरभूमिमें त्रिगर्तोंकी विशाल सेनाको पीड़ित कर दिया ॥ ८½ ॥

सुशर्मापि रणे पार्थं शरैर्नवभिराशुगैः ॥ ९ ॥
ननाद बलवन्नादं त्रासयानो महद् बलम् ।

इधर सुशर्माने भी रणक्षेत्रमें नौ शीघ्रगामी बाणोंद्वारा

अर्जुनको घायल करके पाण्डवोंकी विशाल सेनाको भयभीत करते हुए बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ९½ ॥

अन्ये च रथिनः शूरा भीमसेनधनंजयौ ॥ १० ॥
विव्यधुर्निशितैर्बाणै रुक्मपुङ्खैरजिह्मगैः ।

इसी प्रकार अन्य शूरवीर महारथियोंने भीमसेन और अर्जुनको सुवर्णपंखयुक्त, सीधे जानेवाले पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ १०½ ॥

तेषां च रथिनां मध्ये कौन्तेयौ भरतर्षभौ ॥ ११ ॥
क्रीडमानौ रथोदारौ चित्ररूपौ व्यदृश्यताम् ।

उन समस्त रथियोंके बीचमें खड़े होकर खेल-से करते हुए भरतभूषण उदार महारथी कुन्तीकुमार भीमसेन और अर्जुन विचित्र दिखायी देते थे ॥ ११½ ॥

आमिषेप्सू गवां मध्ये सिंहाविव मदोत्कटौ ॥ १२ ॥

जैसे मांसकी इच्छा रखनेवाले दो मदोन्मत्त सिंह गौओंके झुंडमें खड़े हुए हों, उसी प्रकार भीमसेन और अर्जुन उस रणभूमिमें सुशोभित हो रहे थे ॥ १२ ॥

छित्त्वा धनूंषि शूराणां शरांश्च बहुधा रणे ।
पातयामासतुर्वीरौ शिरांसि शतशो नृणाम् ॥ १३ ॥

उन दोनों वीरोंने रणक्षेत्रमें सैकड़ों शूरवीर मनुष्योंके धनुष और बाणोंको बारंबार छिन्न-भिन्न करके उनके मस्तकोंको भी काट गिराया ॥ १३ ॥

रथाश्च बहवो भग्ना हयाश्च शतशो हताः ।
गजाश्च सगजारोहाः पेतुरुर्व्यां महाहवे ॥ १४ ॥

उस महासमरमें बहुत-से रथ टूट गये, सैकड़ों घोड़े मारे गये तथा कितने ही हाथी और हाथीसवार धराशायी हो गये १४

रथिनः सादिनश्चापि तत्र तत्र निषूदिताः ।
दृश्यन्ते बहवो राजन् वेपमानाः समन्ततः ॥ १५ ॥

राजन्! बहुत-से रथी और घुड़सवार जहाँ-तहाँ चारों ओर मारे जाकर काँपते और छटपटाते हुए दिखायी देते थे १५

हतैर्गजपदात्योघैर्वाजिभिश्च निषूदितैः ।
रथैश्च बहुधा भग्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ॥ १६ ॥

वहाँ मरकर गिरे हुए हाथियों, पैदल सिपाहियों, घोड़ों तथा टूटे हुए बहुत-से रथोंद्वारा पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ॥ १६ ॥

छत्रैश्च बहुधा छिन्नैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ।
(चामरैर्हेमदण्डैश्च समास्तीर्यत मेदिनी ।)
अङ्कुशैरपविद्धैश्च परिस्तोमैश्च भारत ॥ १७ ॥
(घण्टाभिश्च कशाभिश्च समास्तीर्यत मेदिनी ।)

भारत! अनेक टुकड़ोंमें कटकर गिरे हुए छत्रों, ध्वजाओं, स्वर्णमय दण्डसे विभूषित चामरों, फेंके हुए अङ्कुशों, चाबुकों, घण्टों और झूलोंसे वहाँकी भूमि ढक गयी थी ॥ १७ ॥

केयूरैरङ्गदैर्हारै राङ्कवैर्मृदितैस्तथा ।
(कुण्डलैर्मणिचित्रैश्च समास्तीर्यत मेदिनी ।)
उष्णीषैर्ऋष्टिभिश्चैव चामरव्यजनैरपि ॥ १८ ॥

केयूर, अङ्गद, हार तथा मणिजटित कुण्डल आदि आभूषणों, रंकु मृगके कोमल चर्म, वीरोंकी पगड़ियों, ऋष्टि आदि अस्त्रों तथा चामर और व्यजन आदिसे भी वहाँकी धरती आच्छादित हो गयी थी ॥ १८ ॥

तत्र तत्रापविद्धैश्च बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ।
ऊरुभिश्च नरेन्द्राणां समास्तीर्यत मेदिनी ॥ १९ ॥

जहाँ-तहाँ गिरी हुई राजाओंकी चन्दनचर्चित भुजाओं और जाँघोंसे वह रणभूमि पट गयी थी ॥ १९ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम रणे पार्थस्य विक्रमम् ।
शरैः संवार्य तान् वीरान् यज्जघान महाबलः ॥ २० ॥

महाराज! मैंने उस रणक्षेत्रमें अर्जुनका अद्भुत पराक्रम यह देखा कि उन महाबली वीरने शत्रुपक्षके उन सब प्रमुख वीरोंको बाणोंद्वारा रोककर अनेकों वीरोंको मार डाला था ॥

पुत्रस्तु तव तं दृष्ट्वा भीमार्जुनपराक्रमम् ।
गाङ्गेयस्य रथाभ्याशमुपजग्मे महाबलः ॥ २१ ॥

आपका पुत्र महाबली दुर्योधन भीमसेन और अर्जुनका वह पराक्रम देखकर स्वयं भी गङ्गानन्दन भीष्मके रथके समीप जा पहुँचा ॥ २१ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च सैन्धवश्च जयद्रथः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ नाजहुः संयुगं तदा ॥ २२ ॥

उस समय कृपाचार्य, कृतवर्मा, सिन्धुराज जयद्रथ तथा अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने भी युद्धको नहीं छोड़ा ॥

ततो भीमो महेष्वासः फाल्गुनश्च महारथः ।
कौरवाणां चमूं घोरां भृशं दुद्रुवतू रणे ॥ २३ ॥

तदनन्तर महाधनुर्धर भीमसेन तथा महारथी अर्जुन रणक्षेत्रमें कौरवोंकी उस भयंकर सेनाको जोर-जोरसे खदेड़ने लगे॥

ततो बर्हिणवाजानामयुतान्यर्बुदानि च ।
धनंजयरथे तूर्णं पातयन्ति स्म भूमिपाः ॥ २४ ॥

तब बहुत-से भूमिपाल मिलकर तुरंत ही अर्जुनके रथपर मोरपंखयुक्त अनेक अयुत एवं अर्बुद बाणोंकी वर्षा करने लगे॥

ततस्ताञ्शरजालेन संनिवार्य महारथान् ।
पार्थः समन्तात् समरे प्रेषयामास मृत्यवे ॥ २५ ॥

तब अर्जुनने सब ओरसे बाणोंका जाल-सा बिछाकर उन महारथी भूमिपालोंको रोक दिया और तुरंत ही उन्हें मृत्युके लोकमें पहुँचा दिया ॥ २५ ॥

शल्यस्तु समरे जिष्णुं क्रीडन्निव महारथः ।
आजघानोरसि क्रुद्धो भल्लैः संनतपर्वभिः ॥ २६ ॥

तब महारथी शल्यने क्रीड़ा करते हुए-से कुपित हो समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले भल्लोंद्वारा अर्जुनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २६ ॥

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा हस्तावापं च पञ्चभिः ।
अथैनं सायकैस्तीक्ष्णैर्भृशं विव्याध मर्मणि ॥ २७ ॥

यह देख अर्जुनने पाँच बाणोंसे उनके धनुष और दस्तानेको काटकर तीखे सायकोंद्वारा उनके मर्मस्थलमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २७ ॥

अथान्यद् धनुरादाय समरे भारसाधनम् ।
मद्रेश्वरो रणे जिष्णुं ताडयामास रोषितः ॥ २८ ॥
त्रिभिः शरैर्महाराज वासुदेवं च पञ्चभिः ।
भीमसेनं च नवभिर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ २९ ॥

महाराज ! फिर मद्रराजने भी भार-साधनमें समर्थ दूसरा धनुष लेकर रणभूमिमें अर्जुनपर रोषपूर्वक तीन बाणोंद्वारा प्रहार किया । वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको पाँच बाणोंसे घायल करके उन्होंने भीमसेनकी भुजाओं तथा छातीमें नौ बाण मारे॥

ततो द्रोणो महाराज मागधश्च महारथः ।
दुर्योधनसमादिष्टौ तं देशमुपजग्मतुः ॥ ३० ॥
यत्र पार्थो महाराज भीमसेनश्च पाण्डवः ।
कौरव्यस्य महासेनां जघ्नतुः सुमहारथौ ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर दुर्योधनकी आज्ञा पाकर द्रोण तथा महारथी मगधनरेश उसी स्थानपर आये, जहाँ पाण्डुकुमार अर्जुन और भीमसेन—ये दोनों महारथी दुर्योधनकी विशाल सेनाका संहार कर रहे थे ॥ ३०-३१ ॥

जयत्सेनस्तु समरे भीमं भीमायुधं युधि ।
विव्याध निशितैर्बाणैरष्टभिर्भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मगधराज जयत्सेनने[1] युद्धके मैदानमें भयानक अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले भीमसेनको आठ पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ३२ ॥

तं भीमो दशभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥ ३३ ॥

तब भीमसेनने जयत्सेनको दस बाणोंसे बींधकर फिर पाँच बाणोंसे घायल कर दिया और एक भल्ल मारकर उसके सारथिको भी रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥ ३३ ॥

उद्भ्रान्तैस्तुरगैः सोऽथ द्रवमाणैः समन्ततः ।
मागधोऽपसृतो राजा सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ३४ ॥

फिर तो उसके घबराये हुए घोड़े चारों ओर भागने लगे और इस प्रकार वह मगधदेशका राजा सारी सेनाके देखते-देखते रणभूमिसे दूर हटा दिया गया ॥ ३४ ॥

द्रोणश्च विवरं दृष्ट्वा भीमसेनं शिलीमुखैः ।
विव्याध बाणैर्निशितैः पञ्चषष्टिभिरायसैः ॥ ३५ ॥

इसी समय द्रोणाचार्यने अवसर देखकर लोहेके बने हुए पैंसठ पैने बाणोंद्वारा भीमसेनको बींध डाला ॥ ३५ ॥

तं भीमः समरश्लाघी गुरुं पितृसमं रणे ।
विव्याध पञ्चभिर्भल्लैस्तथा षष्ट्या च भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! तब युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेनने भी रणक्षेत्रमें पिताके समान पूजनीय गुरु द्रोणाचार्यको पैंसठ भल्लोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ३६ ॥

अर्जुनस्तु सुशर्माणं विद्ध्वा बहुभिरायसैः ।
व्यधमत् तस्य तत्सैन्यं महाभ्राणि यथानिलः॥ ३७ ॥

इधर अर्जुनने लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा सुशर्माको घायल करके जैसे वायु महान् मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार उसकी सेनाकी धज्जियाँ उड़ा दीं ॥३७॥

ततो भीष्मश्च राजा च कौसल्यश्च बृहद्बलः ।
समवर्तन्त संक्रुद्धा भीमसेनधनंजयौ ॥ ३८ ॥

तब भीष्म, राजा दुर्योधन और कोशलनरेश बृहद्बल—ये तीनों अत्यन्त कुपित होकर भीमसेन और अर्जुनपर चढ़ आये ॥ ३८ ॥

तथैव पाण्डवाः शूरा धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
अभ्यद्रवन् रणे भीष्मं व्यादितास्यमिवान्तकम्॥ ३९ ॥

इसी प्रकार शूरवीर पाण्डव तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न-ये रणक्षेत्रमें मुँह फैलाये हुए यमराजके समान प्रतीत होनेवाले भीष्मपर टूट पड़े ॥ ३९ ॥

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम् ।
अभ्यद्रवत संहृष्टो भयं त्यक्त्वा महारथात् ॥ ४० ॥

शिखण्डीने भरतकुलके पितामह भीष्मके निकट पहुँचकर उन महारथी भीष्मसे सम्भावित भयको त्यागकर बड़े हर्षके साथ उनपर धावा किया ॥ ४० ॥

युधिष्ठिरमुखाः पार्थाः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
अयोधयन् रणे भीष्मं सहिताः सर्वसृंजयैः ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर आदि कुन्तीपुत्र रणभूमिमें शिखण्डीको आगे करके समस्त सृंजयोंको साथ ले भीष्मके साथ युद्ध करने लगे॥

तथैव तावकाः सर्वे पुरस्कृत्य यतव्रतम् ।
शिखण्डिप्रमुखान् पार्थान् योधयन्ति स्म संयुगे॥ ४२ ॥

इसी प्रकार आपके समस्त योद्धा ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले भीष्मको युद्धमें आगे रखकर शिखण्डी आदि पाण्डव महारथियोंका सामना करने लगे ॥ ४२ ॥

ततः प्रववृते युद्धं कौरवाणां भयावहम् ।
तत्र पाण्डुसुतैः सार्धं भीष्मस्य विजयं प्रति ॥ ४३ ॥

तदनन्तर वहाँ भीष्मकी विजयके उद्देश्यसे कौरवोंका पाण्डवोंके साथ भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ४३ ॥

तावकानां जये भीष्मो ग्लह आसीद् विशाम्पते ।
तत्र हि द्यूतमासक्तं विजयायेतराय वा ॥ ४४ ॥

१. जयत्सेन नामके दो व्यक्ति प्रतीत होते हैं, एक पाण्डव-पक्षमें और दूसरे कौरवपक्षमें रहे होंगे ।

प्रजानाथ ! उस युद्धरूपी जूएमें आपके पुत्रोंकी ओरसे विजयके लिये भीष्मको ही दाँवपर लगाया था। इस प्रकार वहाँ विजय अथवा पराजयके लिये रणद्यूत उपस्थित हो गया॥

धृष्टद्युम्नस्तु राजेन्द्र सर्वसैन्यान्यचोदयत्।
अभ्यद्रवत गाङ्गेयं मा भैष्ट रथसत्तमाः॥ ४५॥

राजेन्द्र ! उस समय धृष्टद्युम्नने अपनी समस्त सेनाओंको प्रेरणा देते हुए कहा—'श्रेष्ठ रथियो ! गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा करो। उनसे तनिक भी भय न मानो' ॥ ४५ ॥

सेनापतिवचः श्रुत्वा पाण्डवानां वरूथिनी।
भीष्मं समभ्ययात् तूर्णं प्राणांस्त्यक्त्वा महाहवे॥ ४६॥

सेनापतिका यह वचन सुनकर पाण्डवोंकी विशाल वाहिनी उस महासमरमें प्राणोंका मोह छोड़कर तुरंत ही भीष्मकी ओर बढ़ चली ॥ ४६ ॥

भीष्मोऽपि रथिनां श्रेष्ठः प्रतिजग्राह तां चमूम्।
आपतन्तीं महाराज वेलामिव महोदधिः॥ ४७॥

महाराज ! रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने भी अपने ऊपर आती हुई उस विशाल सेनाको युद्धके लिये उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे तटभूमिको महासागर ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीमार्जुनपराक्रमे चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीमसेन और अर्जुनका पराक्रमविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४८½ श्लोक हैं)

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके आदेशसे युधिष्ठिरका उनपर आक्रमण तथा कौरव-पाण्डव-सैनिकोंका भीषण युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शान्तनवो भीष्मो दशमेऽहनि संजय।
अयुध्यत महावीर्यः पाण्डवैः सहसृंजयैः॥ १॥
कुरवश्च कथं युद्धे पाण्डवान् प्रत्यवारयन्।
आचक्ष्व मे महायुद्धं भीष्मस्याहवशोभिनः॥ २॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! दसवें दिन महापराक्रमी शान्तनुकुमार भीष्मने पाण्डवों तथा सृंजयोंके साथ किस प्रकार युद्ध किया तथा कौरवोंने पाण्डवोंको युद्धमें किस प्रकार रोका ? रणक्षेत्रमें शोभा पानेवाले भीष्मके उस महायुद्धका वृत्तान्त मुझसे कहो ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

कुरवः पाण्डवैः सार्धं यदयुध्यन्त भारत।
यथा च तदभूद् युद्धं तत् तु वक्ष्यामि साम्प्रतम्॥ ३॥

संजयने कहा—भारत ! कौरवोंने पाण्डवोंके साथ जो युद्ध किया और जिस प्रकार वह युद्ध हुआ, वह सब इस समय बताता हूँ ॥ ३ ॥

गमिताः परलोकाय परमास्त्रैः किरीटिना।
अहन्यहनि संक्रुद्धास्तावकानां महारथाः॥ ४॥

किरीटधारी अर्जुनने प्रतिदिन अपने उत्तम अस्त्रोंद्वारा क्रोधमें भरे हुए आपके महारथियोंको परलोकमें पहुँचाया है॥

यथाप्रतिज्ञं कौरव्यः स चापि समितिंजयः।
पार्थानामकरोद् भीष्मः सततं समितिक्षयम्॥ ५॥

इसी प्रकार युद्धविजयी कुरुकुलनन्दन भीष्मने भी सदा अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार युद्धमें कुन्तीपुत्रोंके सैनिकोंका संहार किया है ॥ ५ ॥

कुरुभिः सहितं भीष्मं युध्यमानं परंतप।
अर्जुनं च सपाञ्चाल्यं संशयो विजयेऽभवत्॥ ६॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! एक ओरसे कौरवोंसहित भीष्म युद्ध कर रहे थे और दूसरी ओरसे पाञ्चालदेशीय वीरोंके सहित अर्जुन उनका सामना कर रहे थे, यह देखकर सबके मनमें संशय हो गया कि किस पक्षकी विजय होगी ॥ ६ ॥

दशमेऽहनि तस्मिंस्तु भीष्मार्जुनसमागमे।
अवर्तत महारौद्रः सततं समितिक्षयः॥ ७॥

दसवें दिन भीष्म और अर्जुनके उस युद्धमें निरन्तर महाभयंकर जनसंहार होने लगा ॥ ७ ॥

तस्मिन्नयुतशो राजन् भूयशश्च परंतपः।
भीष्मः शान्तनवो योधाञ्जघान परमास्त्रवित्॥ ८॥

राजन् ! उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने उस युद्धमें कई अयुत योद्धाओंका संहार कर डाला ॥ ८ ॥

येषामज्ञातकल्पानि नामगोत्राणि पार्थिव।
ते हतास्तत्र भीष्मेण शूराः सर्वेऽनिवर्तिनः॥ ९॥

भूपाल ! जिनके नाम और गोत्र प्रायः अज्ञात थे तथा जो सभी युद्धमें कभी पीठ नहीं दिखाते थे, वे शूरवीर वहाँ भीष्मके हाथों मारे गये ॥ ९ ॥

दशाहानि ततस्तप्त्वा भीष्मः पाण्डववाहिनीम्।
निरविद्यत धर्मात्मा जीवितेन परंतप॥ १०॥

परंतप ! इस प्रकार दस दिनोंतक धर्मात्मा भीष्म पाण्डवसेनाको संतप्त करके अन्ततोगत्वा अपने जीवनसे ही ऊब गये ॥ १० ॥

स क्षिप्रं वधमन्विच्छन्नात्मनोऽभिमुखो रणे।
न हन्यां मानवश्रेष्ठान् संग्रामे सुबहूनिति ॥ ११ ॥
चिन्तयित्वा महाबाहुः पिता देवव्रतस्तव।
अभ्याशस्थं महाराज पाण्डवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

अब वे रणक्षेत्रमें सम्मुख रहकर शीघ्र ही अपने वधकी इच्छा करने लगे। महाराज! आपके ताऊ महाबाहु देवव्रतने यह सोचकर कि अब मैं संग्राममें बहुसंख्यक श्रेष्ठ मानवोंका वध न करूँ, अपने निकटवर्ती पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ ११-१२ ॥

युधिष्ठिर महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
शृणुष्व वचनं तात धर्म्यं स्वर्ग्यं च जल्पतः ॥ १३ ॥

'सम्पूर्ण शास्त्रोंके निपुण विद्वान्, महाज्ञानी तात युधिष्ठिर! मैं तुम्हें धर्मके अनुकूल तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली एक बात बता रहा हूँ, तुम मेरे उस वचनको सुनो ॥ १३ ॥

निर्विण्णोऽस्मि भृशं तात देहेनानेन भारत।
घ्नतश्च मे गतः कालः सुबहून् प्राणिनो रणे ॥ १४ ॥

'तात भरतनन्दन! अब मैं इस देहसे ऊब गया हूँ; क्योंकि रणभूमिमें बहुत-से प्राणियोंका वध करते हुए ही मेरा समय बीता है ॥ १४ ॥

तस्मात् पार्थं पुरोधाय पञ्चालान् सृंजयांस्तथा।
मद्वधे क्रियतां यत्नो मम चेदिच्छसि प्रियम्॥ १५ ॥

'इसलिये यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो अर्जुन तथा पाञ्चालों और सृंजयोंको आगे करके मेरे वधके लिये प्रयत्न करो' ॥ १५ ॥

तस्य तन्मतमाज्ञाय पाण्डवः सत्यदर्शनः।
भीष्मं प्रति ययौ राजा संग्रामे सह सृंजयैः ॥ १६ ॥

भीष्मके इस अभिप्रायको जानकर सत्यदर्शी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर रणभूमिमें सृंजयवीरोंको साथ ले भीष्मकी ओर आगे बढ़े ॥ १६ ॥

धृष्टद्युम्नस्ततो राजन् पाण्डवश्च युधिष्ठिरः।
श्रुत्वा भीष्मस्य तां वाचं चोदयामासतुर्बलम् ॥ १७ ॥
अभिद्रवध्वं युध्यध्वं भीष्मं जयत संयुगे।
रक्षिताः सत्यसंधेन जिष्णुना रिपुजिष्णुना ॥ १८ ॥

राजन्! उस समय भीष्मजीका वह वचन सुनकर धृष्टद्युम्न और पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपनी सेनाको आज्ञा दी—'वीरो! आगे बढ़ो। युद्ध करो और संग्राममें भीष्मपर विजय पाओ। तुम सब लोग शत्रुविजयी सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हो ॥ १७-१८ ॥

अयं चापि महेष्वासः पार्षतो वाहिनीपतिः।
भीमसेनश्च समरे पालयिष्यति वो ध्रुवम् ॥ १९ ॥

'ये महाधनुर्धर सेनापति धृष्टद्युम्न तथा भीमसेन भी समराङ्गणमें निश्चय ही तुम सब लोगोंकी रक्षा करेंगे ॥१९॥

मा वो भीष्माद् भयं किञ्चिदस्त्वद्य युधि सृंजयाः।
ध्रुवं भीष्मं विजेष्यामः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्॥ २० ॥

'सृंजय वीरो! आज तुम युद्धमें भीष्मजीसे तनिक भी भय न करो। हम शिखण्डीको आगे करके भीष्मपर अवश्य ही विजय पायेंगे' ॥ २० ॥

ते तथा समयं कृत्वा दशमेऽहनि पाण्डवाः।
ब्रह्मलोकपरा भूत्वा संजग्मुः क्रोधमूर्च्छिताः ॥ २१ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य पाण्डवं च धनंजयम्।
भीष्मस्य पातने यत्नं परमं ते समास्थिताः ॥ २२ ॥

तब वे पाण्डव सैनिक दसवें दिन वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा करके ब्रह्मलोकको अपना लक्ष्य बनाकर क्रोधसे मूर्छित हो शिखण्डी तथा पाण्डुपुत्र अर्जुनको आगे करके आगे बढ़े और भीष्मको मार गिरानेका महान् प्रयत्न करने लगे २१-२२

ततस्तव सुतादिष्टा नानाजनपदेश्वराः।
द्रोणेन सहपुत्रेण सहसेना महाबलाः ॥ २३ ॥

तदनन्तर आपके पुत्रकी आज्ञा पाकर नाना देशोंके स्वामी महाबली नरेशगण अपनी विशाल सेनासहित द्रोण तथा अश्वत्थामाके साथ अग्रसर हुए ॥ २३ ॥

दुःशासनश्च बलवान् सह सर्वैः सहोदरैः।
भीष्मं समरमध्यस्थं पालयाञ्चक्रिरे तदा ॥ २४ ॥

उस समय वे सब वीर और समस्त भाइयोंसहित बलवान् दुःशासन समरभूमिमें खड़े हुए भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥

ततस्तु तावकाः शूराः पुरस्कृत्य महाव्रतम्।
शिखण्डिप्रमुखान् पार्थान् योधयन्ति स्म संयुगे ॥२५॥

तदनन्तर आपके पक्षके शूरवीर सैनिक महाव्रती भीष्मको आगे करके रणक्षेत्रमें शिखण्डी आदि पाण्डवसैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ २५॥

चेदिभिस्तु सपञ्चालैः सहितो वानरध्वजः।
ययौ शान्तनवं भीष्मं पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ॥ २६ ॥

वानरचिह्नित ध्वजासे विभूषित अर्जुनने चेदि तथा पाञ्चालदेशके वीरोंके साथ शिखण्डीको आगे करके शान्तनुनन्दन भीष्मपर चढ़ाई की॥ २६ ॥

द्रोणपुत्रं शिनेर्नप्ता धृष्टकेतुस्तु पौरवम्।
अभिमन्युः सहामात्यं दुर्योधनमयोधयत् ॥ २७ ॥

सात्यकि अश्वत्थामाके साथ, धृष्टकेतु पौरवके साथ तथा मन्त्रियोंसहित दुर्योधनके साथ अभिमन्यु युद्ध करने लगे ॥

विराटस्तु सहानीकः सहसेनं जयद्रथम्।
वृद्धक्षत्रस्य दायादमाससाद परंतप ॥ २८ ॥

परंतप! सेनासहित विराटने सैनिकोंसहित वृद्धक्षत्रके पुत्र जयद्रथपर आक्रमण किया ॥ २८ ॥

मद्रराजं महेष्वासं सहसैन्यं युधिष्ठिरः।
भीमसेनोऽभिगुप्तस्तु नागानीकमुपाद्रवत् ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरने महाधनुर्धर मद्रराज शल्य तथा उनकी सेनापर धावा किया। सब ओरसे सुरक्षित हुए भीमसेन हाथियोंकी सेनापर टूट पड़े ॥ २९ ॥

अप्रधृष्यमनावार्यं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
द्रौणिं प्रति ययौ यत्तः पाञ्चाल्यः सह सोदरैः ॥ ३० ॥

समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अनिवार्य और दुर्धर्ष वीर अश्वत्थामापर भाइयोंसहित धृष्टद्युम्नने प्रयत्नपूर्वक आक्रमण किया॥

कर्णिकारध्वजं चैव सिंहकेतुररिंदमः ।
प्रत्युज्जगाम सौभद्रं राजपुत्रो बृहद्बलः ॥ ३१ ॥

कर्णिकारके चिह्नसे युक्त ध्वजवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युपर सिंहचिह्नित ध्वजावाले शत्रुदमन राजकुमार बृहद्बलने आक्रमण किया ॥ ३१ ॥

शिखण्डिनं च पुत्रास्ते पाण्डवं च धनंजयम् ।
राजभिः समरे पार्थमभिपेतुर्जिघांसवः ॥ ३२ ॥

शिखण्डी तथा पाण्डुपुत्र अर्जुनपर आपके पुत्रोंने समस्त राजाओंको साथ लेकर युद्धस्थलमें आक्रमण किया । वे उन दोनोंको मार डालना चाहते थे ॥ ३२ ॥

तस्मिन्नतिमहाभीमे सेनयोर्वै पराक्रमे ।
सम्प्रधावत्स्वनीकेषु मेदिनी समकम्पत ॥ ३३ ॥

इस प्रकार उन दोनों सेनाओंके वीर जब अत्यन्त भयानक पराक्रम प्रकट करने लगे और समस्त सैनिक इधर-उधर दौड़ने लगे; उस समय यह सारी पृथ्वी काँपने लगी ॥३३॥

तान्यनीकान्यनीकेषु समसज्जन्त भारत ।
तावकानां परेषां च दृष्ट्वा शान्तनवं रणे ॥ ३४ ॥

भारत ! आपके और शत्रुपक्षके सब सैनिक युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको देखकर विरोधी सैनिकोंके साथ जमकर युद्ध करने लगे ॥ ३४ ॥

ततस्तेषां प्रतप्तानामन्योन्यमभिधावताम् ।
प्रादुरासीन्महाशब्दो दिक्षु सर्वासु भारत ॥ ३५ ॥

भरतनन्दन ! एक दूसरेपर धावा करनेवाले उन संतप्त सैनिकोंका महान् कोलाहल सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त हो गया ॥ ३५ ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषश्च वारणानां च बृंहितैः ।
सिंहनादश्च सैन्यानां दारुणः समपद्यत ॥ ३६ ॥

शङ्खों और दुन्दुभियोंका गम्भीर घोष तथा हाथियोंकी गर्जनाके साथ सैनिकोंका सिंहनाद बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ ३६ ॥

सा च सर्वनरेन्द्राणां चन्द्रार्कसदृशी प्रभा ।
वीराङ्गदकिरीटेषु निष्प्रभा समपद्यत ॥ ३७ ॥

समस्त राजाओंकी चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाली प्रभा वीरोंके अङ्गद और किरीटोंके सामने अत्यन्त फीकी पड़ गयी ॥ ३७ ॥

रजोमेघास्तु संजज्ञुः शस्त्रविद्युद्भिरावृताः ।
धनुषां चापि निर्घोषो दारुणः समपद्यत ॥ ३८ ॥

धूल मेघोंकी घटा-सी छा गयी । उसमें अस्त्र-शस्त्रोंकी चमक बिजलीकी प्रभाके समान व्याप्त हो रही थी, धनुषोंकी टङ्कारध्वनि अत्यन्त भयंकर प्रतीत होने लगी ॥ ३८ ॥

बाणशङ्खप्रणादाश्च भेरीणां च महास्वनाः ।
रथघोषश्च संजज्ञे सेनयोरुभयोरपि ॥ ३९ ॥

बाणों, शङ्खों तथा भेरियोंके सम्मिलित शब्द जोर-जोरसे सुनायी देने लगे । साथ ही दोनों सेनाओंमें रथोंकी घरघराहट भी दूरतक फैलने लगी ॥ ३९ ॥

प्रासशक्त्यृष्टिसङ्घैश्च बाणौघैश्च समाकुलम् ।
निष्प्रकाशमिवाकाशं सेनयोः समपद्यत ॥ ४० ॥

दोनों सेनाओंके प्रास, शक्ति, ऋष्टि और बाणोंके समुदायोंसे भरा हुआ वहाँका आकाश प्रकाशहीन-सा जान पड़ता था ॥ ४० ॥

अन्योन्यं रथिनः पेतुर्वाजिनश्च महाहवे ।
कुञ्जरान् कुञ्जरा जघ्नुः पादातांश्च पदातयः ॥ ४१ ॥

उस महासमरमें रथी और घोड़े एक दूसरेपर टूटे पड़ते थे । हाथी हाथियोंको और पैदल पैदल सिपाहियोंको मार रहे थे ॥ ४१ ॥

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं कुरूणां पाण्डवैः सह ।
भीष्महेतोर्नरव्याघ्र श्येनयोरामिषे यथा ॥ ४२ ॥

पुरुषसिंह ! जैसे मांसके टुकड़ेके लिये दो श्येन पक्षी आपसमें लड़ते हैं, उसी प्रकार वहाँ भीष्मके लिये कौरवोंका पाण्डवोंके साथ बड़ा भारी युद्ध हो रहा था ॥ ४२ ॥

तेषां समागमो घोरो बभूव युधि संगतः ।
अन्योन्यस्य वधार्थाय जिगीषूणां महाहवे ॥ ४३ ॥

उस महासमरमें एक दूसरेके वधके लिये एकत्र हुए विजयाभिलाषी सैनिकोंका बड़ा भयंकर संग्राम हुआ ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मोपदेशे पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मका उपदेशविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव महारथियोंके द्वन्द्वयुद्धका वर्णन तथा भीष्मका पराक्रम

संजय उवाच

अभिमन्युर्महाराज तव पुत्रमयोधयत् ।
महत्या सेनया युक्तं भीष्महेतोः पराक्रमी ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! भीष्मजीको पराजित करनेके लिये पराक्रमी अभिमन्युने विशाल सेनासहित आये हुए आपके पुत्रके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ १ ॥

दुर्योधनो रणे कार्ष्णिं नवभिर्नतपर्वभिः ।
आजघानोरसि क्रुद्धः पुनश्चैनं त्रिभिः शरैः ॥ २ ॥

दुर्योधनने रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले नौ बाणोंसे अभिमन्युकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी । फिर कुपित होकर उसने उन्हें तीन बाण और मारे ॥ २ ॥

तस्य शक्तिं रणे कार्ष्णिर्मृत्योर्घोरां स्वसामिव ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो दुर्योधनरथं प्रति ॥ ३ ॥

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने रणक्षेत्रमें दुर्योधनके रथपर एक भयंकर शक्ति चलायी, जो मृत्युकी बहिन-सी प्रतीत होती थी ॥ ३ ॥

तामापतन्तीं सहसा घोररूपां विशाम्पते ।
द्विधा चिच्छेद ते पुत्रः क्षुरप्रेण महारथः ॥ ४ ॥
तां शक्तिं पतितां दृष्ट्वा कार्ष्णिः परमकोपनः ।
दुर्योधनं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ५ ॥

प्रजानाथ ! उस भयंकर शक्तिको सहसा अपनी ओर आती देख आपके महारथी पुत्र दुर्योधनने एक क्षुरप्रके द्वारा उसके दो टुकड़े कर डाले । उस शक्तिको गिरी हुई देख अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए अर्जुनकुमारने दुर्योधनकी छाती तथा भुजाओंमें चोट पहुँचायी ॥ ४-५ ॥

पुनश्चैनं शरैर्घोरैराजघान स्तनान्तरे ।
दशभिर्भरतश्रेष्ठ भरतानां महारथः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर भरतकुलके महारथी वीर अभिमन्युने पुनः दुर्योधनकी छातीमें दस भयानक बाण मारे ॥ ६ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं चित्ररूपं च भारत ।
इन्द्रियप्रीतिजननं सर्वपार्थिवपूजितम् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! उन दोनोंका वह भयंकर युद्ध विचित्र एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाला था । समस्त भूपाल उस युद्धकी प्रशंसा करते थे ॥ ७ ॥

भीष्मस्य निधनार्थाय पार्थस्य विजयाय च ।
युयुधाते रणे वीरौ सौभद्रकुरुपुङ्गवौ ॥ ८ ॥

भीष्मके वध और अर्जुनकी विजयके लिये उस युद्धके मैदानमें सुभद्राकुमार अभिमन्यु और कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन—ये दोनों वीर युद्ध कर रहे थे ॥ ८ ॥

सात्यकिं रभसं युद्धे द्रौणिर्ब्राह्मणपुङ्गवः ।
आजघानोरसि क्रुद्धो नाराचेन परंतपः ॥ ९ ॥

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले ब्राह्मणशिरोमणि द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने कुपित हो युद्धमें अत्यन्त वेगशाली सात्यकिको लक्ष्य करके उनकी छातीमें एक नाराचसे प्रहार किया ॥ ९ ॥

शैनेयोऽपि गुरोः पुत्रं सर्वमर्मसु भारत ।
अताडयदमेयात्मा नवभिः कङ्कवाजितैः ॥ १० ॥

भारत ! तब अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न सात्यकिने भी गुरुपुत्र अश्वत्थामाके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें नौ कंकपत्रयुक्त बाण मारे ॥ १० ॥

अश्वत्थामा तु समरे सात्यकिं नवभिः शरैः ।
त्रिंशता च पुनस्तूर्णं बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ११ ॥

अश्वत्थामाने समरभूमिमें सात्यकिको पहले नौ बाणोंसे घायल करके फिर तुरंत ही तीस बाणोंद्वारा उनकी भुजाओं तथा छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ११ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासो द्रोणपुत्रेण सात्वतः ।
द्रोणपुत्रं त्रिभिर्बाणैराजघान महायशाः ॥ १२ ॥

द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके द्वारा अत्यन्त घायल होकर महायशस्वी महाधनुर्धर सात्यकिने तीन बाणोंसे उसे भी घायल कर दिया ॥

पौरवो धृष्टकेतुं च शरैराच्छाद्य संयुगे ।
बहुधा दारयांचक्रे महेष्वासं महारथः ॥ १३ ॥

महारथी पौरवने युद्धमें महाधनुर्धर धृष्टकेतुको बाणोंद्वारा आच्छादित करके उन्हें बारंबार घायल किया ॥ १३ ॥

तथैव पौरवं युद्धे धृष्टकेतुर्महारथः ।
त्रिंशता निशितैर्बाणैर्विव्याधाशु महाभुजः ॥ १४ ॥

उसी प्रकार महारथी महाबाहु धृष्टकेतुने युद्धस्थलमें तीस पैने बाणोंद्वारा पौरवको भी तुरंत ही घायल कर दिया ।१४।

पौरवस्तु धनुश्छित्त्वा धृष्टकेतोर्महारथः ।
ननाद बलवन्नादं विव्याध च शितैः शरैः ॥ १५ ॥

तब महारथी पौरवने धृष्टकेतुके धनुषको काटकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया और उसे तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय पौरवं निशितैः शरैः ।
आजघान महाराज त्रिसप्तत्या शिलीमुखैः ॥ १६ ॥

महाराज ! धृष्टकेतुने दूसरा धनुष लेकर तिहत्तर तीखे शिलीमुख बाणोंद्वारा पौरवको गहरी चोट पहुँचायी ॥ १६ ॥

तौ तु तत्र महेष्वासौ महामात्रौ महारथौ ।
महता शरवर्षेण परस्परमविध्यताम् ॥ १७ ॥

वे दोनों महाधनुर्धर, महाबली और महारथी वीर एक दूसरेको युद्धमें भारी बाणवर्षाद्वारा घायल कर रहे थे ॥१७॥

अन्योन्यस्य धनुश्छित्त्वा हयान् हत्वा च भारत ।
विरथावसियुद्धाय समीयतुरमर्षणौ ॥ १८ ॥

भारत ! दोनोंने एक दूसरेका धनुष काटकर घोड़ोंको भी मार डाला और रथहीन हो दोनों ही एक दूसरेपर कुपित हो परस्पर खड्गयुद्धके लिये आमने-सामने आये ॥ १८ ॥

आर्षभे चर्मणी चित्रे शतचन्द्रपुरस्कृते ।
तारकाशतचित्रे च निस्त्रिंशौ सुमहाप्रभौ ॥ १९ ॥

उनके हाथोंमें सौ-सौ चन्द्र और तारकाके चिह्नोंसे युक्त ऋषभके चर्मकी बनी हुई ढालें और चमकीले खड्ग शोभा पाते थे ॥ १९ ॥

प्रगृह्य विमलौ राजंस्तावन्योन्यमभिद्रुतौ ।
वासितासंगमे यत्तौ सिंहाविव महावने ॥ २० ॥

राजन् ! जैसे महान् वनमें एक सिंहनीके लिये दो सिंह लड़ते हों, उसी प्रकार चमकीले खड्ग लेकर धृष्टकेतु और पौरव दोनों विजयके लिये प्रयत्नशील हो एक दूसरेपर टूट पड़े ॥ २० ॥

मण्डलानि विचित्राणि गतप्रत्यागतानि च ।
चेरतुर्दर्शयन्तौ च प्रार्थयन्तौ परस्परम् ॥ २१ ॥

वे आगे बढ़ने और पीछे हटने आदि विचित्र पैंतरे दिखाते एवं एक दूसरेको ललकारते हुए रणभूमिमें विचरते थे ॥ २१ ॥

पौरवो धृष्टकेतुं तु शङ्खदेशे महासिना ।
ताडयामास संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २२ ॥

पौरवने अपने महान् खड्गसे धृष्टकेतुकी कनपटीपर क्रोधपूर्वक प्रहार किया और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २२ ॥

चेदिराजोऽपि समरे पौरवं पुरुषर्षभम् ।
आजघान शिताग्रेण जत्रुदेशे महासिना ॥ २३ ॥

तब चेदिराज धृष्टकेतुने भी समरमें पुरुषरत्न पौरवके गलेकी हँसलीपर तीखी धारवाले महान् खड्गसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ २३ ॥

तावन्योन्यं महाराज समासाद्य महाहवे ।
अन्योन्यवेगाभिहतौ निपेततुररिंदमौ ॥ २४ ॥

महाराज ! शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर उस महायुद्धमें परस्पर भिड़कर एक दूसरेके वेगपूर्वक किये हुए आघातसे अत्यन्त घायल हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २४ ॥

ततः स्वरथमारोप्य पौरवं तनयस्तव ।
जयत्सेनो रथेनाजावपोवाह रणाजिरात् ॥ २५ ॥

तब आपके पुत्र जयत्सेनने पौरवको अपने रथपर बिठा लिया और उस रथके द्वारा ही वह उसे समराङ्गणसे बाहर हटा ले गया ॥ २५ ॥

धृष्टकेतुं तु समरे माद्रीपुत्रः प्रतापवान् ।
अपोवाह रणे क्रुद्धः सहदेवः पराक्रमी ॥ २६ ॥

इसी प्रकार प्रतापी एवं पराक्रमी माद्रीकुमार सहदेव कुपित हो धृष्टकेतुको अपने रथपर चढ़ाकर समरभूमिसे बाहर हटा ले गये ॥ २६ ॥

चित्रसेनः सुशर्माणं विद्ध्वा बहुभिरायसैः ।
पुनर्विव्याध तं षष्ट्या पुनश्च नवभिः शरैः ॥ २७ ॥

चित्रसेनने पाण्डवदलके सुशर्मा नामक राजाको लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा घायल करके पुनः साठ तथा नौ सायकोंद्वारा उन्हें पीड़ित कर दिया ॥ २७ ॥

सुशर्मा तु रणे क्रुद्धस्तव पुत्रं विशाम्पते ।
दशभिर्दशभिश्चैव विव्याध निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

प्रजानाथ ! तब सुशर्माने रणभूमिमें कुपित होकर आपके पुत्र चित्रसेनको दस-दस तीखे बाणोंद्वारा दो बार घायल किया ॥ २८ ॥

चित्रसेनश्च तं राजंस्त्रिंशता नतपर्वभिः ।
आजघान रणे क्रुद्धः स च तं प्रत्यविध्यत ॥ २९ ॥
भीष्मस्य समरे राजन् यशो मानं च वर्धयन् ।

राजन् ! चित्रसेनने कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले तीस बाणोंसे रणक्षेत्रमें सुशर्माको गहरी चोट पहुँचायी । महाराज ! उसने समरमें भीष्मके यश और सम्मान दोनोंको बढ़ाया २९½

सौभद्रो राजपुत्रं तु बृहद्बलमयोधयत् ॥ ३० ॥
पार्थहेतोः पराक्रान्तो भीष्मस्यायोधनं प्रति ।

राजन् ! भीष्मजीके साथ युद्ध करनेमें अर्जुनकी सहायताके लिये पराक्रम करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने राजकुमार बृहद्बलके साथ युद्ध किया ॥ ३०½ ॥

आर्जुनिं कोसलेन्द्रस्तु विद्ध्वा पञ्चभिरायसैः ॥ ३१ ॥
पुनर्विव्याध विंशत्या शरैः संनतपर्वभिः ।

कोसलनरेशने लोहेके बने हुए पाँच बाणोंसे अर्जुनकुमारको घायल करके पुनः झुकी हुई गाँठवाले बीस बाणोंद्वारा उन्हें क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ३१½ ॥

सौभद्रः कोसलेन्द्रं तु विव्याधाष्टभिरायसैः ॥ ३२ ॥
नाकम्पयत संग्रामे विव्याध च पुनः शरैः ।

तब सुभद्राकुमारने कोसलनरेशको लोहेके आठ बाणोंसे बींध डाला तो भी संग्राममें उसे विचलित न कर सका । इसके बाद उसने फिर अनेक बाणोंद्वारा बृहद्बलको घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

कौसल्यस्य धनुश्चापि पुनश्चिच्छेद फाल्गुनिः ॥ ३३ ॥
आजघान शरैश्चापि त्रिंशता कङ्कपत्रिभिः ।

तदनन्तर अर्जुनकुमारने कोसलनरेशका धनुष भी काट दिया और कंकपत्रयुक्त तीस सायकोंद्वारा उनपर गहरा प्रहार किया ॥ ३३½ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय राजपुत्रो बृहद्बलः ॥ ३४ ॥
फाल्गुनिं समरे क्रुद्धो विव्याध बहुभिः शरैः ।

तब राजकुमार बृहद्बलने दूसरा धनुष लेकर समरभूमिमें कुपित हो अर्जुनकुमार अभिमन्युको बहुतेरे बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ३४½ ॥

तयोर्युद्धं समभवद् भीष्महेतोः परंतप ॥ ३५ ॥
संरब्धयोर्महाराज समरे चित्रयोधिनोः ।
यथा देवासुरे युद्धे बलिवासवयोरभूत् ॥ ३६ ॥

परंतप ! महाराज ! इस प्रकार समराङ्गणमें क्रोधपूर्वक विचित्र युद्ध करनेवाले उन दोनों वीरोंमें भीष्मके लिये बड़ा

भारी युद्ध हुआ, मानो देवासुरसंग्राममें राजा बलि और इन्द्र-में द्वन्द्वयुद्ध हो रहा हो ॥ ३५-३६ ॥

भीमसेनो गजानीकं योधयन् बह्वशोभत ।
यथा शक्रो वज्रपाणिर्दारयन् पर्वतोत्तमान् ॥ ३७ ॥

तथा जैसे वज्रधारी इन्द्र बड़े-बड़े पर्वतोंको विदीर्ण कर डालते हैं, उसी प्रकार भीमसेन हाथियोंकी सेनाके साथ युद्ध करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ३७ ॥

ते वध्यमाना भीमेन मातङ्गा गिरिसंनिभाः ।
निपेतुरुर्व्यां सहिता नादयन्तो वसुन्धराम् ॥ ३८ ॥

भीमसेनके द्वारा मारे जाते हुए वे पर्वत सरीखे बहुसंख्यक गजराज (अपने चीत्कारसे) इस पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए एक साथ ही धराशायी हो जाते थे ॥ ३८ ॥

गिरिमात्रा हि ते नागा भिन्नाञ्जनचयोपमाः ।
विरेजुर्वसुधां प्राप्ता विकीर्णा इव पर्वताः ॥ ३९ ॥

कटे हुए कोयलेकी राशिके समान काले और गिरिराजके समान ऊँचे शरीरवाले वे हाथी पृथ्वीपर गिरकर इधर-उधर बिखरे हुए पर्वतोंके समान शोभा पाते थे ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरो महेष्वासो मद्रराजानमाहवे ।
महत्या सेनया गुप्तं पीडयामास संगतम् ॥ ४० ॥

महाधनुर्धर युधिष्ठिरने विशाल सेनासे सुरक्षित मद्रराज शल्यको उस युद्धमें सामने पाकर बाणोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥ ४० ॥

मद्रेश्वरश्च समरे धर्मपुत्रं महारथम् ।
पीडयामास संरब्धो भीष्महेतोः पराक्रमी ॥ ४१ ॥

भीष्मकी रक्षाके लिये पराक्रम करनेवाले मद्रराज शल्यने भी युद्धमें कुपित हो महारथी धर्मराज युधिष्ठिरको पीड़ित किया ॥

विराटं सैन्धवो राजा विद्ध्वा संनतपर्वभिः ।
नवभिः सायकैस्तीक्ष्णैस्त्रिंशता पुनरार्पयत् ॥ ४२ ॥

सिन्धुराज जयद्रथने झुकी हुई गाँठवाले नौ तीखे सायकोंद्वारा राजा विराटको घायल करके पुनः उन्हें तीस बाण मारे॥

विराटश्च महाराज सैन्धवं वाहिनीपतिः ।
त्रिंशद्भिर्निशितैर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ॥ ४३ ॥

महाराज ! सेनापति विराटने भी सिन्धुराज जयद्रथकी छातीमें तीस तीखे बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥४३॥

चित्रकार्मुकनिस्त्रिंशौ चित्रवर्मायुधध्वजौ ।
रेजतुश्चित्ररूपौ तौ संग्रामे मत्स्यसैन्धवौ ॥ ४४ ॥

उस संग्राममें मत्स्यराज और सिन्धुराज दोनोंके ही धनुष और खड्ग विचित्र थे । दोनोंने विचित्र कवच, आयुध और ध्वज धारण किये थे । वे दोनों ही विचित्र रूप धारण करके बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ४४ ॥

द्रोणः पाञ्चालपुत्रेण समागम्य महारणे ।
महासमुदयं चक्रे शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४५ ॥

द्रोणाचार्यने उस महासमरमें पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नसे भिड़कर झुकी हुई गाँठवाले बहुसंख्यक बाणोंद्वारा बड़ा भारी युद्ध किया ॥ ४५ ॥

ततो द्रोणो महाराज पार्षतस्य महद् धनुः ।
छित्त्वा पञ्चाशतेषूणां पार्षतं समविध्यत ॥ ४६ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नके विशाल धनुषको काटकर पचास बाणोंद्वारा उन्हें बींध डाला ॥४६॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणस्य मिषतो युद्धे प्रेषयामास सायकान् ॥ ४७ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर रणभूमिमें द्रोणाचार्यके देखते-देखते उनके ऊपर बहुत-से बाण चलाये ॥ ४७ ॥

ताञ्छराञ्छरघातेन चिच्छेद स महारथः ।
द्रोणो द्रुपदपुत्राय प्राहिणोत् पञ्च सायकान् ॥ ४८ ॥

तदनन्तर महारथी द्रोणने अपने बाणोंके आघातसे धृष्टद्युम्नके सारे बाणोंको काट दिया और द्रुपदपुत्रपर पाँच बाण चलाये ॥ ४८ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणाय चिक्षेप गदां यमदण्डोपमां रणे ॥ ४९ ॥

महाराज ! तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धृष्टद्युम्नने कुपित हो द्रोणाचार्यपर गदा चलायी, जो रणभूमिमें यमदण्डके समान भयंकर थी ॥ ४९ ॥

तामापतन्तीं सहसा हेमपट्टविभूषिताम् ।
शरैः पञ्चाशता द्रोणो वारयामास संयुगे ॥ ५० ॥

उस स्वर्णपत्रविभूषित गदाको सहसा अपनी ओर आती देख द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें पचासों बाण मारकर उसे दूर गिरा दिया ॥ ५० ॥

सा छिन्ना बहुधा राजन् द्रोणचापच्युतैः शरैः ।
चूर्णीकृता विशीर्यन्ती पपात वसुधातले ॥ ५१ ॥

राजन् ! द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंद्वारा नाना प्रकारसे छिन्न-भिन्न हुई वह गदा चूर-चूर होकर पृथ्वीपर बिखर गयी ॥ ५१ ॥

गदां विनिहतां दृष्ट्वा पार्षतः शत्रुतापनः ।
द्रोणाय शक्तिं चिक्षेप सर्वपारशवीं शुभाम् ॥ ५२ ॥

अपनी गदाको निष्फल हुई देख शत्रुओंको संताप देनेवाले धृष्टद्युम्नने द्रोणके ऊपर पूर्णतः लोहेकी बनी हुई सुन्दर शक्ति चलायी ॥ ५२ ॥

तां द्रोणो नवभिर्बाणैश्चिच्छेद युधि भारत ।
पार्षतं च महेष्वासं पीडयामास संयुगे ॥ ५३ ॥

भारत ! द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें नौ बाण मारकर उस

शक्तिके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नको भी उस रणक्षेत्रमें बहुत पीड़ित किया ॥ ५३ ॥

एवमेतन्महायुद्धं द्रोणपार्षतयोरभूत् ।
भीष्मं प्रति महाराज घोररूपं भयानकम् ॥ ५४ ॥

महाराज ! इस प्रकार द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नमें भीष्मके लिये यह घोररूप एवं भयानक महायुद्ध हुआ ॥ ५४ ॥

अर्जुनः प्राप्य गाङ्गेयं पीडयन् निशितैः शरैः ।
अभ्यद्रवत संयत्तो वने मत्तमिव द्विपम् ॥ ५५ ॥

अर्जुनने गङ्गानन्दन भीष्मके निकट पहुँचकर उन्हें तीखे बाणोंद्वारा पीड़ित करते हुए बड़ी सावधानीके साथ उनपर चढ़ाई की। ठीक वैसे ही, जैसे वनमें कोई मतवाला हाथी किसी मदोन्मत्त गजराजपर आक्रमण कर रहा हो ॥

प्रत्युद्ययौ च तं राजा भगदत्तः प्रतापवान् ।
त्रिधा भिन्नेन नागेन मदान्धेन महाबलः ॥ ५६ ॥

तब प्रतापी एवं महाबली राजा भगदत्तने मदान्ध गजराजपर आरूढ़ हो अर्जुनके ऊपर धावा किया । उस हाथीके कुम्भस्थलमें तीन जगहसे मदकी धारा चू रही थी ॥

तमापतन्तं सहसा महेन्द्रगजसंनिभम् ।
परं यत्नं समास्थाय बीभत्सुः प्रत्यपद्यत ॥ ५७ ॥

देवराज इन्द्रके ऐरावत हाथीके समान उस गजराजको सहसा आते देख अर्जुनने बड़ा यत्न करके उसका सामना किया॥

ततो गजगतो राजा भगदत्तः प्रतापवान् ।
अर्जुनं शरवर्षेण वारयामास संयुगे ॥ ५८ ॥

तब हाथीपर बैठे हुए प्रतापी राजा भगदत्तने युद्धमें बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोक दिया।५८।

अर्जुनस्तु ततो नागमायान्तं रजतोपमैः ।
विमलैरायसैस्तीक्ष्णैरविध्यत महारणे ॥ ५९ ॥

अर्जुनने भी अपने सामने आते हुए उस हाथीको चाँदीके समान चमकीले लोहमय तीखे बाणोंद्वारा उस महासमरमें बींध डाला ॥ ५९ ॥

शिखण्डिनं च कौन्तेयो याहियाहीत्यचोदयत् ।
भीष्मं प्रति महाराज जह्येनमिति चाब्रवीत् ॥ ६० ॥

महाराज ! कुन्तीकुमार अर्जुन शिखण्डीको बार-बार यह प्रेरणा देते और कहते थे कि तुम भीष्मकी ओर बढ़ो और इन्हें मार डालो ॥ ६० ॥

प्राग्ज्योतिषस्ततो हित्वा पाण्डवं पाण्डुपूर्वज ।
प्रययौ त्वरितो राजन् द्रुपदस्य रथं प्रति ॥ ६१ ॥

पाण्डुके ज्येष्ठ भ्राता महाराज ! तदनन्तर प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त पाण्डुनन्दन अर्जुनको छोड़कर तुरंत ही द्रुपदके रथकी ओर चल दिये ॥ ६१ ॥

ततोऽर्जुनो महाराज भीष्ममभ्यद्रवद् द्रुतम् ।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य ततो युद्धमवर्तत ॥ ६२ ॥

महाराज ! तब अर्जुनने शिखण्डीको आगे करके बड़े वेगसे भीष्मपर धावा किया । फिर तो भारी युद्ध छिड़ गया॥

ततस्ते तावकाः शूराः पाण्डवं रभसं युधि ।
समभ्यधावन् क्रोशन्तस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ६३ ॥

तदनन्तर युद्धमें आपके शूरवीर सैनिक कोलाहल करते और ललकारते हुए वेगशाली पाण्डुकुमार अर्जुनकी ओर दौड़ पड़े । वह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ६३ ॥

नानाविधान्यनीकानि पुत्राणां ते जनाधिप ।
अर्जुनो व्यधमत् काले दिवीवाभ्राणि मारुतः ॥ ६४ ॥

जनेश्वर ! जैसे आकाशमें फैले हुए बादलोंको हवा छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनने उस अवसरपर आपके पुत्रोंकी विविध सेनाओंको विनष्ट कर दिया ॥ ६४ ॥

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम् ।
इषुभिस्तूर्णमव्यग्रो बहुभिः स समाचिनोत् ॥ ६५ ॥

उसी समय शिखण्डीने भरतकुलके पितामह भीष्मके सामने पहुँचकर स्वस्थचित्तसे अनेक बाणोंद्वारा तुरंत ही उन्हें आच्छादित कर दिया ॥ ६५ ॥

रथाग्न्यगारश्चापार्चिरसिशक्तिगदेन्धनः ।
शरसंघमहाज्वालः क्षत्रियान् समरेऽदहत् ॥ ६६ ॥

वे अग्निके समान प्रज्वलित हो समरभूमिमें क्षत्रियोंको दग्ध कर रहे थे । रथ ही अग्निशाला थी, धनुष लपटके समान प्रतीत होता था, खड्ग, शक्ति और गदाएँ ईंधनका काम दे रही थीं, बाणोंका समुदाय ही उस अग्निकी महाज्वाला थी ॥ ६६ ॥

यथाग्निः सुमहानिद्धः कक्षे चरति सानिलः ।
तथा जज्वाल भीष्मोऽपि दिव्यान्यस्त्राण्युदीरयन् ६७

जैसे प्रज्वलित अग्नि वायुका सहारा पाकर घास-फूँसके जंगलमें विचरती है, इसी प्रकार दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते हुए भीष्मजी भी शत्रुसेनामें प्रज्वलित हो रहे थे ॥ ६७ ॥

सोमकांश्च रणे भीष्मो जघ्ने पार्थपदानुगान् ।
न्यवारयत तत् सैन्यं पाण्डवस्य महारथः ॥ ६८ ॥

भीष्मने युद्धमें अर्जुनका अनुसरण करनेवाले सोमकवंशियोंको भी बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी । साथ ही उन महारथी वीरने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सेनाको भी आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ६८ ॥

सुवर्णपुङ्खैरिषुभिः शितैः संनतपर्वभिः ।
नादयन् स दिशो भीष्मः प्रदिशश्च महाहवे ॥ ६९ ॥

झुकी हुई गाँठवाले, सुवर्णपंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा शत्रुओंको मारकर भीष्म उस महायुद्धमें सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंको भी शब्दायमान करने लगे ॥ ६९ ॥

पातयन् रथिनो राजन् हयांश्च सहसादिभिः।
मुण्डतालवनानीव चकार स रथव्रजान् ॥ ७० ॥

राजन्! रथियोंको गिराकर और सवारोंसहित घोड़ोंको मारकर उन्होंने रथोंके समुदायको मुण्डित ताड़वनके समान कर दिया ॥ ७० ॥

निर्मनुष्यान् रथान् राजन् गजानश्वांश्च संयुगे।
चकार समरे भीष्मः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ७१ ॥

नरेश्वर! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने उस समराङ्गणमें रथों, हाथियों और घोड़ोंको मनुष्योंसे शून्य कर दिया ॥ ७१ ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
निशम्य सर्वतो राजन् समकम्पन्त सैनिकाः ॥ ७२ ॥

राजन्! वज्रकी गड़गड़ाहटके समान उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाकी टंकारध्वनि सुनकर सब ओरके सैनिक काँपने लगे॥

अमोघा न्यपतन् बाणाः पितुस्ते मनुजेश्वर।
नासज्जन्त शरीरेषु भीष्मचापच्युताः शराः ॥ ७३ ॥

मनुजेश्वर! आपके ताऊके द्वारा चलाये हुए बाण कभी खाली नहीं जाते थे। भीष्मके धनुषसे छूटे हुए सायक मनुष्योंके शरीरोंमें नहीं अटकते थे ॥ ७३ ॥

निर्मनुष्यान् रथान् राजन् सुयुक्ताञ्जवनैर्हयैः।
वातायमानानद्राक्षं ह्रियमाणान् विशाम्पते ॥ ७४ ॥

प्रजानाथ! हमने तेज घोड़ोंसे जुते हुए बहुत-से ऐसे रथ देखे, जिनमें कोई मनुष्य नहीं था और वे रथ वायुके समान शीघ्र गतिसे इधर-उधर खींचकर ले जाये जा रहे थे॥

चेदिकाशिकरूषाणां सहस्राणि चतुर्दश।
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ॥ ७५ ॥

वहाँ चेदि, काशि और करूष देशोंके चौदह हजार महारथी मौजूद थे, जिनकी बड़ी ख्याति थी, जो कुलीन होनेके साथ ही पाण्डवोंके लिये प्राणोंका परित्याग करनेको उद्यत थे ॥ ७५ ॥

अपरावर्तिनः शूराः सुवर्णविकृतध्वजाः।
संग्रामे भीष्ममासाद्य सवाजिरथकुञ्जराः ॥ ७६ ॥
जग्मुस्ते परलोकाय व्यादितास्यमिवान्तकम्।

वे युद्धसे पीठ न दिखानेवाले, शौर्यसम्पन्न तथा सुवर्णमय ध्वज धारण करनेवाले थे। वे सब-के-सब युद्धमें मुँह फैलाये हुए कालके समान भीष्मके पास पहुँचकर घोड़े, रथ और हाथियोंसहित परलोकके पथिक हो गये ॥ ७६½ ॥

न तत्रासीद् रणे राजन् सोमकानां महारथः ॥ ७७ ॥
यः सम्प्राप्य रणे भीष्मं जीविते स्म मनो दधे।

राजन्! उस समय सोमकोंमें एक भी महारथी ऐसा नहीं था, जो युद्धभूमिमें भीष्मके पास पहुँचकर अपने मनमें जीवन-रक्षाकी आशा रखता हो ॥ ७७½ ॥

तांश्च सर्वान् रणे योधान् प्रेतराजपुरं प्रति ॥ ७८ ॥
नीतानमन्यन्त जना दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम्।

उस समय लोगोंने भीष्मका अद्भुत पराक्रम देखकर यह मान लिया कि युद्धके मैदानमें जितने योद्धा उपस्थित हैं, वे सब यमराजके लोकमें गये हुएके ही समान हैं॥ ७८½ ॥

न कश्चिदेनं समरे प्रत्युद्याति महारथः ॥ ७९ ॥
ऋते पाण्डुसुतं वीरं श्वेताश्वं कृष्णसारथिम्।
शिखण्डिनं च समरे पाञ्चाल्यममितौजसम् ॥ ८० ॥

उस समय श्रीकृष्ण जिनके सारथि थे और श्वेत घोड़े जिनके रथमें जुते हुए थे, उन पाण्डुनन्दन वीर अर्जुनको तथा अमित तेजस्वी पाञ्चालराजपुत्र शिखण्डीको छोड़कर दूसरा कोई महारथी ऐसा नहीं था, जो समराङ्गणमें भीष्मके सामने जानेका साहस करता ॥ ७९–८० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११६॥

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका युद्ध, दुःशासनका पराक्रम तथा अर्जुनके द्वारा भीष्मका मूर्च्छित होना

संजय उवाच

शिखण्डी तु रणे भीष्ममासाद्य पुरुषर्षभम्।
दशभिर्निशितैर्भल्लैराजघान स्तनान्तरे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! शिखण्डीने रणक्षेत्रमें पुरुषरत्न भीष्मजीके सामने पहुँचकर उनकी छातीमें दस तीखे भल्ल नामक बाण मारे ॥ १ ॥

शिखण्डिनं तु गाङ्गेयः क्रोधदीप्तेन चक्षुषा।
सम्प्रैक्षत कटाक्षेण निर्दहन्निव भारत ॥ २ ॥

भारत! गङ्गानन्दन भीष्मने क्रोधसे प्रज्वलित हुई दृष्टि एवं कनखियोंसे शिखण्डीकी ओर इस प्रकार देखा, मानो वे उसे भस्म कर डालेंगे ॥ २ ॥

स्त्रीत्वं तस्य स्मरन् राजन् सर्वलोकस्य पश्यतः।
नाजघान रणे भीष्मः स च तन्नावबुद्धवान् ॥ ३ ॥

राजन्! किंतु उसके स्त्रीत्वका विचार करके भीष्मजीने युद्धस्थलमें उसपर कोई आघात नहीं किया। इस बातको सब लोगोंने देखा; पर शिखण्डी इस बातको नहीं समझ सका॥

अर्जुनस्तु महाराज शिखण्डिनमभाषत ।
अभिद्रवस्व त्वरितं जहि चैनं पितामहम् ॥ ४ ॥

महाराज ! उस समय अर्जुनने शिखण्डीसे कहा—'वीर ! तुम झटपट आगे बढ़ो और इन पितामह भीष्मका वध कर डालो ॥ ४ ॥

किं ते विवक्षया वीर जहि भीष्मं महारथम् ।
न ह्यन्यमनुपश्यामि कश्चिद् यौधिष्ठिरे बले ॥ ५ ॥
यः शक्तः समरे भीष्मं प्रतियोद्धुमिहाहवे ।
ऋते त्वां पुरुषव्याघ्र सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६ ॥

'वीर ! इस विषयमें बार-बार विचारने या संदेह निवारणके लिये कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है । तुम महारथी भीष्मको शीघ्र मार डालो । युधिष्ठिरकी सेनामें तुम्हारे सिवा दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो समरभूमिमें भीष्मका सामना कर सके । पुरुषसिंह ! मैं तुमसे यह सच्ची बात कह रहा हूँ' ॥ ५-६ ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन शिखण्डी भरतर्षभ ।
शरैर्नानाविधैस्तूर्णं पितामहमवाकिरत् ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर शिखण्डी तुरंत ही पितामह भीष्मपर नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥

अचिन्तयित्वा तान् बाणान् पिता देवव्रतस्तव ।
अर्जुनं समरे क्रुद्धं वारयामास सायकैः ॥ ८ ॥

परंतु आपके पितृतुल्य देवव्रतने उन बाणोंकी कुछ भी परवा न करके समरमें कुपित हुए अर्जुनको अपने बाणोंद्वारा रोक दिया ॥ ८ ॥

तथैव च चमूं सर्वां पाण्डवानां महारथः ।
अप्रैषीत् स शरैस्तीक्ष्णैः परलोकाय मारिष ॥ ९ ॥

आर्य ! इसी प्रकार महारथी भीष्मने पाण्डवोंकी उस सारी सेनाको (जो उनके सामने मौजूद थी) अपने तीखे बाणोंद्वारा मारकर परलोक भेज दिया ॥ ९ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् सैन्येन महता वृताः ।
भीष्मं संछादयामासुर्मेघा इव दिवाकरम् ॥ १० ॥

राजन् ! फिर विशाल सेनासे घिरे हुए पाण्डवोंने अपने बाणोंद्वारा भीष्मको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे बादल सूर्यदेवको आच्छादित कर देते हैं ॥ १० ॥

स समन्तात् परिवृतो भारतो भरतर्षभ ।
निर्ददाह रणे शूरान् वने वह्निरिव ज्वलन् ॥ ११ ॥

भरतभूषण ! उस रणक्षेत्रमें सब ओरसे घिरे हुए भीष्म वनमें प्रज्वलित हुए दावानलके समान शूरवीरोंको दग्ध करने लगे ॥ ११ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तव पुत्रस्य पौरुषम् ।
अयोधयच्च यत् पार्थं जुगोप च पितामहम् ॥ १२ ॥

उस समय वहाँ हमने आपके पुत्र दुःशासनका अद्भुत पराक्रम देखा ! एक तो वह अर्जुनके साथ युद्ध कर रहा था और दूसरे पितामह भीष्मकी रक्षामें भी तत्पर था ॥ १२ ॥

कर्मणा तेन समरे तव पुत्रस्य धन्विनः ।
दुःशासनस्य तुतुषुः सर्वे लोका महात्मनः ॥ १३ ॥

राजन् ! युद्धमें आपके धनुर्धर महामनस्वी पुत्र दुःशासनके उस पराक्रमसे सब लोग बड़े संतुष्ट हुए ॥ १३ ॥

यदेकः समरे पार्थान् सार्जुनान् समयोधयत् ।
न चैनं पाण्डवा युद्धे वारयामासुरुल्बणम् ॥ १४ ॥

वह समरभूमिमें अकेला ही अर्जुनसहित समस्त कुन्तीकुमारोंसे युद्ध कर रहा था; किंतु वहाँ पाण्डव उस प्रचण्ड पराक्रमी दुःशासनको रोक नहीं पाते थे ॥ १४ ॥

दुःशासनेन समरे रथिनो विरथीकृताः ।
सादिनश्च महेष्वासा हस्तिनश्च महाबलाः ॥ १५ ॥
विनिर्भिन्नाः शरैस्तीक्ष्णैर्निपेतुर्वसुधातले ।

दुःशासनने वहाँ युद्धके मैदानमें कितने ही रथियोंको रथहीन कर दिया । उसके तीखे बाणोंसे विदीर्ण होकर बहुत-से महाधनुर्धर घुड़सवार और महाबली गजारोही पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १५½ ॥

शरातुरास्तथैवान्ये दन्तिनो विद्रुता दिशः ॥ १६ ॥
यथाग्निरिन्धनं प्राप्य ज्वलेद् दीप्तार्चिरुल्बणम् ।
तथा जज्वाल पुत्रस्ते पाण्डुसेनां विनिर्दहन् ॥ १७ ॥

उसके बाणोंसे आतुर होकर बहुत-से दन्तार हाथी भी चारों दिशाओंमें भागने लगे । जैसे आग ईंधन पाकर दहकती हुई लपटोंके साथ प्रचण्ड वेगसे प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार पाण्डव-सेनाको दग्ध करता हुआ आपका पुत्र दुःशासन अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहा था॥ १६-१७॥

तं भारतमहामात्रं पाण्डवानां महारथः ।
जेतुं नोत्सहते कश्चिन्नाभ्युद्यातुं कथंचन ॥ १८ ॥
ऋते महेन्द्रतनयाच्छ्वेताश्वात् कृष्णसारथेः ।

कृष्णसारथि, श्वेतवाहन महेन्द्रकुमार अर्जुनको छोड़कर दूसरा कोई भी पाण्डव महारथी भरतकुलके उस महाबली वीरको जीतने या उसके सामने जानेका साहस किसी प्रकार न कर सका ॥ १८½ ॥

स हि तं समरे राजन् निर्जित्य विजयोऽर्जुनः ॥ १९ ॥
भीष्ममेवाभिदुद्राव सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

राजन् ! विजयी अर्जुनने समरभूमिमें दुःशासनको जीतकर समस्त सेनाओंके देखते-देखते भीष्मपर ही आक्रमण किया ॥ १९½ ॥

विजितस्तव पुत्रोऽपि भीष्मबाहुव्यपाश्रयः ॥ २० ॥
पुनः पुनः समाश्वस्य प्रायुध्यत मदोत्कटः ।

अर्जुनस्तु रणे राजन् योधयन् संव्यराजत ॥ २१ ॥

भीष्मकी भुजाओंके आश्रयमें रहनेवाला आपका मदोन्मत्त पुत्र दुःशासन पराजित होनेपर भी बार-बार सुस्ताकर बड़े वेग-से युद्ध करता था। राजन्! अर्जुन उस रणक्षेत्रमें युद्ध करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ २०—२१ ॥

शिखण्डी तु रणे राजन् विव्याधैव पितामहम्।
शरैरशनिसंस्पर्शैस्तथा सर्पविषोपमैः ॥ २२॥

महाराज! उस समय रणक्षेत्रमें शिखण्डी वज्रके समान स्पर्शवाले तथा सर्पविषके समान भयंकर बाणोंद्वारा पितामह भीष्मको घायल करने लगा ॥ २२ ॥

न च स्म ते रुजं चक्रुः पितुस्तव जनेश्वर।
स्मयमानस्तु गाङ्गेयस्तान् बाणाञ्जगृहे तदा ॥२३ ॥

परंतु जनेश्वर! उसके चलाये हुए वे बाण आपके ताऊके शरीरमें कोई घाव या वेदना नहीं उत्पन्न कर पाते थे। गङ्गानन्दन भीष्म उस समय मुसकराते हुए उन बाणोंकी चोट सह रहे थे ॥

उष्णार्तो हि नरो यद्वज्जलधाराः प्रतीच्छति।
तथा जग्राह गाङ्गेयः शरधाराः शिखण्डिनः ॥ २४ ॥

जैसे गर्मीसे कष्ट पानेवाला मनुष्य अपने ऊपर जल-की धारा ग्रहण करता है, उसी प्रकार गङ्गानन्दन भीष्म शिखण्डीकी बाणधाराको ग्रहण कर रहे थे ॥ २४ ॥

तं क्षत्रिया महाराज ददृशुर्घोरमाहवे।
भीष्मं दहन्तं सैन्यानि पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ २५ ॥

महाराज! उस युद्धस्थलमें समस्त क्षत्रियोंने देखा, भयंकर रूपधारी भीष्म महामना पाण्डवोंकी सेनाओंको दग्ध कर रहे थे ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीत्तव सुतः सर्वसैन्यानि मारिष।
अभिद्रवत संग्रामे फाल्गुनं सर्वतो रणे ॥ २६ ॥

आर्य! उस समय आपके पुत्रने अपने समस्त सैनिकोंसे कहा—'वीरो! तुमलोग समरभूमिमें अर्जुनपर चारों ओरसे धावा करो ॥ २६ ॥

भीष्मो वः समरे सर्वान् पालयिष्यति धर्मवित्।
ते भयं सुमहत् त्यक्त्वा पाण्डवान् प्रति युध्यत ॥२७ ॥

'धर्मज्ञ भीष्म समराङ्गणमें तुम सब लोगोंकी रक्षा करेंगे। अतः तुमलोग महान् भयका परित्याग करके पाण्डवोंके साथ युद्ध करो ॥ २७ ॥

हेमतालेन महता भीष्मस्तिष्ठति पालयन्।
सर्वेषां धार्तराष्ट्राणां समरे शर्म वर्म च ॥ २८ ॥

'सुवर्णमय तालचिह्नसे युक्त विशाल ध्वजसे सुशोभित होनेवाले भीष्मजी हम सबकी रक्षा करते हुए युद्धके मैदानमें खड़े हैं। हम सभी धृतराष्ट्रपुत्रोंके लिये ये ही कल्याणकारी आश्रय और कवच हैं ॥ २८ ॥

त्रिदशाऽपि समुद्युक्ता नालं भीष्मं समासितुम्।
किमु पार्था महात्मानं मर्त्यभूता महाबलाः ॥ २९ ॥

'यदि सम्पूर्ण देवता भी एकत्र हो युद्धके लिये उद्योग करें तो वे भी भीष्मका सामना करनेमें समर्थ नहीं हो सकते; फिर कुन्तीके महाबली पुत्र तो मरणधर्मा मनुष्य ही हैं। वे उन महात्मा भीष्मका सामना क्या कर सकते हैं! ॥ २९ ॥

तस्माद् द्रवत मा योधाः फाल्गुनं प्राप्य संयुगे।
अहमद्य रणे यत्तो योधयिष्यामि पाण्डवम् ॥ ३० ॥
सहितः सर्वतो यत्तैर्भवद्भिर्वसुधाधिपैः।

'अतः योद्धाओ! युद्धभूमिमें अर्जुनको सामने पाकर पीछे न भागो। मैं स्वयं समराङ्गणमें प्रयत्नपूर्वक आज पाण्डुकुमार अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा। तुम सब नरेश सब ओरसे सावधान होकर मेरे साथ रहो' ॥ ३०½ ॥

तच्छ्रुत्वा तु वचो राजंस्तव पुत्रस्य धन्विनः ॥ ३१ ॥
सर्वे योधाः सुसंरब्धा बलवन्तो महाबलाः।

राजन्! आपके धनुर्धर पुत्रकी ये जोशभरी बातें सुनकर वे सभी महाबली और शक्तिशाली योद्धा रोषमें भर गये ॥ ३१½ ॥

ते विदेहाः कलिङ्गाश्च दासेरकगणाश्च ह ॥ ३२ ॥
अभिपेतुर्निषादाश्च सौवीराश्च महारणे।
बाह्लीका दरदाश्चैव प्रतीच्योदीच्यमालवाः ॥ ३३ ॥
अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः।
शाल्वाः शकास्त्रिगर्ताश्च अम्बष्ठाः केकयैः सह ॥ ३४ ॥
अभिपेतू रणे पार्थं पतङ्गा इव पावकम्।

वे विदेह, कलिंग, दासेरक, निषाद, सौवीर, बाह्लीक, दरद, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, अभीषाह, शूरसेन, शिबि, वसाति, शाल्व, शक, त्रिगर्त, अम्बष्ठ और केकयदेशोंके नरेशगण उस महायुद्धमें कुन्तीकुमार अर्जुनपर उसी प्रकार धावा करने लगे, जैसे पतंग प्रज्वलित आगपर टूटे पड़ते हैं ॥ ३२-३४½ ॥

शलभा इव राजेन्द्र पार्थमप्रतिमं रणे।
एतान् सर्वान् सहानीकान् महाराज महारथान् ॥ ३५॥
दिव्यान्यस्त्राणि संचिन्त्य प्रसंधाय धनंजयः।
स तैरस्त्रैर्महावेगैर्ददाह सुमहाबलः ॥ ३६ ॥
शरप्रतापैर्बीभत्सुः पतङ्गानिव पावकः।

राजेन्द्र! उस रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमार अर्जुन अप्रतिम तेजस्वी वीर थे और पूर्वोक्त नरेश उनके सामने पतंगोंके समान दौड़े चले आ रहे थे। महाराज! महाबली धनंजयने दिव्यास्त्रोंका चिन्तन करके उनका धनुषपर संधान किया और उन महावेगशाली अस्त्रोंद्वारा सेनासहित इन समस्त महारथियोंको जलाकर भस्म कर डाला। जैसे आग पतंगोंको जलाती है, उसी प्रकार अर्जुनने अपने बाणोंके प्रतापसे उन सबको दग्ध कर दिया ॥ ३५—३६½ ॥

तस्य बाणसहस्राणि सृजतो दृढधन्विनः ॥ ३७ ॥
दीप्यमानमिवाकाशे गाण्डीवं समदृश्यत ।

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले अर्जुन जब सहस्रों बाणों-की सृष्टि करने लगे, उस समय उनका गाण्डीव धनुष आकाशमें प्रज्वलित-सा दिखायी देने लगा ॥ ३७½ ॥

ते शरार्ता महाराज विप्रकीर्णमहाध्वजाः ॥ ३८ ॥
नाभ्यवर्तन्त राजानः सहिता वानरध्वजम् ।

महाराज ! वे सब नरेश बाणोंसे पीड़ित हो गये थे। उनके विशाल ध्वज छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये थे। वे सब राजा एक साथ मिलकर भी कपिध्वज अर्जुनके सामने टिक न सके ॥ ३८½ ॥

सध्वजा रथिनः पेतुर्हयारोहा हयैः सह ॥ ३९ ॥
सगजाश्च गजारोहाः किरीटिशरताडिताः ।
ततोऽर्जुनभुजोत्सृष्टैरावृताऽऽसीद् वसुन्धरा ॥ ४० ॥
विद्रवद्भिश्च बहुधा बलै राज्ञां समन्ततः ।

किरीटधारी अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हो रथी अपने ध्वजोंके साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़े, घुड़सवार घोड़ोंके साथ ही धराशायी हो गये और हाथियोंसहित हाथीसवार भी ढह गये। अर्जुनकी भुजाओंसे छूटे हुए बाणोंसे एवं अनेक भागोंमें विभक्त होकर चारों ओर भागती हुई राजाओंकी सेनाओंसे वहाँकी सारी पृथ्वी व्याप्त हो रही थी ॥ ३९-४०½ ॥

अथ पार्थो महाराज द्रावयित्वा वरूथिनीम् ॥ ४१ ॥
दुःशासनाय सुबहून् प्रेषयामास सायकान् ।

महाराज ! उस समय अर्जुनने आपकी सेनाको भगाकर दुःशासनपर बहुत-से सायकोंका प्रहार किया ॥ ४१½ ॥

ते तु भित्त्वा तव सुतं दुःशासनमयोमुखाः ॥ ४२ ॥
धरणीं विविशुः सर्वे वल्मीकमिव पन्नगाः ।

वे समस्त लोहमुख बाण आपके पुत्र दुःशासनको विदीर्ण करके उसी प्रकार धरतीमें समा गये, जैसे सर्प बाँबीमें प्रवेश करते हैं ॥ ४२½ ॥

हयांश्चास्य ततो जघ्ने सारथिं च न्यपातयत् ॥ ४३ ॥
विविंशतिं च विंशत्या विरथं कृतवान् प्रभुः ।
आजघान भृशं चैव पञ्चभिर्नतपर्वभिः ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् शक्तिशाली अर्जुनने दुःशासनके घोड़ों तथा सारथिको भी मार गिराया और विविंशतिको भी बीस बाणों-से मारकर उसे रथहीन कर दिया। इसके बाद पुनः झुकी हुई गाँठवाले पाँच बाणोंद्वारा उसे अत्यन्त घायल कर दिया ॥ ४३-४४ ॥

कृपं विकर्णं शल्यं च विद्ध्वा बहुभिरायसैः ।
चकार विरथांश्चैव कौन्तेयः श्वेतवाहनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर श्वेतवाहन कुन्तीकुमार अर्जुनने कृपाचार्य, विकर्ण तथा शल्यको भी लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा रथहीन कर दिया ॥ ४५ ॥

एवं ते विरथाः सर्वे कृपः शल्यश्च मारिष ।
दुःशासनो विकर्णश्च तथैव च विविंशतिः ॥ ४६ ॥
सम्प्राद्रवन्त समरे निर्जिताः सव्यसाचिना ।

माननीय नरेश ! इस प्रकार रथहीन हुए वे सब महारथी कृपाचार्य, शल्य, विकर्ण, दुःशासन तथा विविंशति अर्जुनसे परास्त हो उस समरभूमिमें इधर-उधर भाग गये ४६½

पूर्वाह्णे भरतश्रेष्ठ पराजित्य महारथान् ॥ ४७ ॥
प्रजज्वाल रणे पार्थो विधूम इव पावकः ।

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार दसवें दिनके पूर्वाह्णकालमें उन महारथियोंको पराजित करके कुन्तीकुमार अर्जुन रणभूमिमें धूमरहित अग्निके समान प्रकाशित होने लगे ॥ ४७½ ॥

तथैव शरवर्षेण भास्करो रश्मिवानिव ॥ ४८ ॥
अन्यानपि महाराज तापयामास पार्थिवान् ।

महाराज ! इसी प्रकार अंशुमाली सूर्यके समान अन्यान्य राजाओंको भी वे अपने बाणोंकी वर्षासे संतप्त करने लगे ४८½

पराङ्मुखीकृत्य तथा शरवर्षैर्महारथान् ॥ ४९ ॥
प्रावर्तयत संग्रामे शोणितोदां महानदीम् ।
मध्येन कुरुसैन्यानां पाण्डवानां च भारत ॥ ५० ॥

और भारत ! उन सब महारथियोंको बाण-वर्षाद्वारा विमुख करके अर्जुनने संग्रामभूमिमें कौरव-पाण्डवोंकी सेनाओंके बीच रक्तकी बहुत बड़ी नदी बहा दी ॥ ४९-५० ॥

गजाश्च रथसङ्घाश्च बहुधा रथिभिर्हताः ।
रथाश्च निहता नागैर्हयाश्चैव पदातिभिः ॥ ५१ ॥

रथियोंद्वारा बहुत-से हाथी तथा रथसमूह नष्ट कर दिये गये। हाथियोंने कितने ही रथ चौपट कर दिये और पैदल सिपाहियोंने सवारोंसहित बहुतसे घोड़े मार गिराये ॥ ५१ ॥

अन्तराच्छिद्यमानानि शरीराणि शिरांसि च ।
निपेतुर्दिक्षु सर्वासु गजाश्वरथयोधिनाम् ॥ ५२ ॥

हाथी, घोड़े तथा रथोंपर बैठकर युद्ध करनेवाले सैनिकोंके शरीर और मस्तक बीच-बीचसे कटकर सब दिशाओंमें गिर रहे थे ॥ ५२ ॥

छन्नमायोधनं राजन् कुण्डलाङ्गदधारिभिः ।
पतितैः पात्यमानैश्च राजपुत्रैर्महारथैः ॥ ५३ ॥

राजन् ! वहाँ गिरे और गिराये जाते हुए कुण्डल और अङ्गदधारी महारथी राजकुमारोंके मृत शरीरोंसे सारी युद्धभूमि आच्छादित हो रही थी ॥ ५३ ॥

रथनेमिनिकृत्तैश्च गजैश्चैवावपोथितैः ।
पादाताश्चाप्यधावन्त साश्वाश्च हययोधिनः ॥ ५४ ॥

उनमेंसे कितने ही रथोंके पहियोंसे कट गये थे और कितनोंहीको हाथियोंने अपनी सूँड़ोंसे पकड़कर धरतीपर दे मारा था एवं कितने ही पैदल सैनिक तथा अपने अश्वोंसहित घुड़सवार योद्धा वहाँसे भाग गये थे ॥ ५४ ॥

गजाश्च रथयोधाश्च परिपेतुः समन्ततः ।
विकीर्णाश्च रथा भूमौ भग्नचक्रयुगध्वजाः ॥ ५५ ॥

वहाँ सब ओर हाथी तथा रथयोद्धा धराशायी हो रहे थे। पहिये, जूए और ध्वजोंके छिन्न-भिन्न हो जानेसे बहुसंख्यक रथ धरतीपर बिखरे पड़े थे ॥ ५५ ॥

तद् गजाश्वरथौघानां रुधिरेण समुक्षितम् ।
छन्नमायोधनं रेजे रक्ताभ्रमिव शारदम् ॥ ५६ ॥

हाथी, घोड़े तथा रथियोंके समुदायके रक्तसे ढकी और भीगी हुई वह सारी युद्धभूमि शरद्‌ऋतुकी संध्याके लाल बादलोंके समान शोभा पा रही थी ॥ ५६ ॥

श्वानः काकाश्च गृध्राश्च वृका गोमायुभिः सह ।
प्रणेदुर्भक्ष्यमासाद्य विकृताश्च मृगद्विजाः ॥ ५७ ॥

कुत्ते, कौए, गीध, भेड़िये तथा गीदड़ आदि विकराल पशु-पक्षी वहाँ अपना आहार पाकर हर्षनाद करने लगे ।५७।

ववुर्बहुविधाश्चैव दिक्षु सर्वासु मारुताः ।
दृश्यमानेषु रक्षःसु भूतेषु च नदत्सु च ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें अनेक प्रकारकी वायु प्रवाहित हो रही थी। सब ओर राक्षस और भूतगण गरजते दिखायी देते थे ॥ ५८ ॥

काञ्चनानि च दामानि पताकाश्च महाधनाः ।
धूयमाना व्यदृश्यन्त सहसा मारुतेरिताः ॥ ५९ ॥

सोनेके हार बिखरे पड़े थे, बहुमूल्य पताकाएँ सहसा वायुसे प्रेरित होकर फहराती दिखायी देती थीं ॥ ५९ ॥

श्वेतच्छत्रसहस्राणि सध्वजाश्च महारथाः ।
विकीर्णाः समदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६० ॥

सहस्रों सफेद छत्र इधर-उधर गिरे थे, ध्वजोंसहित सैकड़ों और हजारों महारथी सब ओर बिखरे दिखायी देते थे ॥

सपताकाश्च मातङ्गा दिशो जग्मुः शरातुराः ।
क्षत्रियाश्च मनुष्येन्द्र गदाशक्तिधनुर्धराः ॥ ६१ ॥
समन्ततश्च दृश्यन्ते पतिता धरणीतले ।

बाणोंकी वेदनासे आतुर हो पताकाओंसहित बड़े-बड़े हाथी चारों दिशाओंमें चक्कर काट रहे थे। नरेन्द्र ! गदा, शक्ति और धनुष धारण किये हुए बहुत-से क्षत्रिय सब ओर पृथ्वीपर पड़े दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ६१½ ॥

ततो भीष्मो महाराज दिव्यमस्त्रमुदीरयन् ॥ ६२ ॥
अभ्यधावत कौन्तेयं मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

महाराज ! तदनन्तर भीष्मने दिव्य अस्त्र प्रकट करते हुए वहाँ समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते कुन्तीकुमार अर्जुनपर धावा किया ॥ ६२½ ॥

तं शिखण्डी रणे यान्तमभ्यद्रवत दंशितः ॥ ६३ ॥
ततः समाहरद् भीष्मस्तदस्त्रं पावकोपमम् ।

उस समय कवचधारी शिखण्डीने युद्धके लिये आगे बढ़ते हुए भीष्मपर आक्रमण किया। शिखण्डीको सामने देख भीष्मने अपने अग्निके समान तेजस्वी उस दिव्यास्त्रको समेट लिया ॥ ६३½ ॥

त्वरितः पाण्डवो राजन् मध्यमः श्वेतवाहनः ।
निजघ्ने तावकं सैन्यं मोहयित्वा पितामहम् ॥ ६४ ॥

राजन् ! इसी बीचमें मध्यम पाण्डव श्वेतवाहन अर्जुन तुरंत ही पितामह भीष्मको मूर्छित करके आपकी सेनाका संहार करने लगे ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मका अद्भुत पराक्रम करते हुए पाण्डवसेनाका भीषण संहार

संजय उवाच

समं व्यूढेष्वनीकेषु भूयिष्ठेष्वनिवर्तिनः ।
ब्रह्मलोकपराः सर्वे समपद्यन्त भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतनन्दन ! दोनों पक्षकी सेनाओंको समानरूपसे व्यूहबद्ध करके खड़ा किया गया था। अधिकांश सैनिक उस व्यूहमें ही स्थित थे। वे सब-के-सब युद्धमें पीठ न दिखानेवाले तथा ब्रह्मलोकको ही अपना परम लक्ष्य मानकर युद्धमें तत्पर रहनेवाले थे ॥ १ ॥

न ह्यनीकमनीकेन समसज्जत संकुले ।
रथा न रथिभिः सार्धं पादाता न पदातिभिः ॥ २ ॥

परंतु उस घमासान युद्धमें (सेनाओंका व्यूह भंग हो गया और युद्धके निश्चित नियमोंका उल्लङ्घन होने लगा) सेना सेनाके साथ योग्यतानुसार नहीं लड़ती थी, न रथी रथियोंके साथ युद्ध करते थे, न पैदल पैदलोंके साथ ॥ २ ॥

अश्वा नाश्वैरयुध्यन्त गजा न गजयोधिभिः ।
उन्मत्तवन्महाराज युध्यन्ते तत्र भारत ॥ ३ ॥

घुड़सवार घुड़सवारोंके साथ और हाथीसवार हाथीसवारोंके साथ नहीं लड़ते थे। भरतवंशी महाराज ! सब लोग उन्मत्त-से

होकर वहाँ योग्यताका विचार किये बिना सबके साथ युद्ध करते थे ॥ ३ ॥

महान् व्यतिकरो रौद्रः सेनयोः समपद्यत ।
नरनागगणेष्वेवं विकीर्णेषु च सर्वशः ॥ ४ ॥

उन दोनों सेनाओंमें अत्यन्त भयंकर घोलमेल हो गया। इसी तरह मनुष्य और हाथियोंके समूह सब ओर बिखर गये थे ॥ ४ ॥

क्षये तस्मिन् महारौद्रे निर्विशेषमजायत ।
ततः शल्यः कृपश्चैव चित्रसेनश्च भारत ॥ ५ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च रथानास्थाय भास्वरान् ।
पाण्डवानां रणे शूरा ध्वजिनीं समकम्पयन् ॥ ६ ॥

उस महाभयंकर युद्धमें किसीकी कोई विशेष पहचान नहीं रह गयी थी । भारत ! तदनन्तर शल्य, कृपाचार्य, चित्रसेन, दुःशासन और विकर्ण—ये कौरववीर चमचमाते हुए रथोंपर बैठकर पाण्डवोंपर चढ़ आये और रणक्षेत्रमें उनकी सेनाको कँपाने लगे ॥ ५-६ ॥

सा वध्यमाना समरे पाण्डुसेना महात्मभिः ।
भ्राम्यते बहुधा राजन् मारुतेनेव नौर्जले ॥ ७ ॥

राजन् ! जैसे वायुके थपेड़े खाकर नौका जलमें चक्कर काटने लगती है, उसी प्रकार उन महामनस्वी वीरोंद्वारा समराङ्गणमें मारी जाती हुई पाण्डवसेना बहुधा इधर-उधर भटक रही थी ॥ ७ ॥

यथा हि शैशिरः कालो गवां मर्माणि कृन्तति ।
तथा पाण्डुसुतानां वै भीष्मो मर्माणि कृन्तति ॥ ८ ॥

जैसे शिशिरकाल गौओंके मर्मस्थानोंका उच्छेद करने लगता है, उसी प्रकार भीष्म पाण्डवोंके मर्मस्थानोंको विदीर्ण करने लगे ॥ ८ ॥

तथैव तव सैन्यस्य पार्थेन च महात्मना ।
नवमेघप्रतीकाशाः पातिता बहुधा गजाः ॥ ९ ॥

इसी प्रकार महात्मा अर्जुनने आपकी सेनाके नूतन मेघके समान काले रंगवाले बहुत-से हाथी मार गिराये ॥ ९ ॥

मृद्यमानाश्च दृश्यन्ते पार्थेन नरयूथपाः ।
इषुभिस्ताड्यमानाश्च नाराचैश्च सहस्रशः ॥ १० ॥
पेतुरार्तस्वरं घोरं कृत्वा तत्र महागजाः ।

अर्जुनके द्वारा बहुत-से पैदलोंके यूथपति मिट्टीमें मिलते दिखायी दे रहे थे। नाराचों और बाणोंसे पीड़ित हुए सहस्रों महान् गज घोर आर्तनाद करके पृथ्वीपर गिर रहे थे ॥ १०½ ॥

आनद्धाभरणैः कायैर्निहतानां महात्मनाम् ॥ ११ ॥
छन्नमायोधनं रेजे शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।

मारे गये महामनस्वी वीरोंके आभरणभूषित शरीरों और कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे आच्छादित हुई वह रणभूमि बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ११½ ॥

तस्मिन्नेव महाराज महावीरवरक्षये ॥ १२ ॥
भीष्मे च युधि विक्रान्ते पाण्डवे च धनंजये ।
ते पराक्रान्तमालोक्य राजन् युधि पितामहम् ॥ १३ ॥
अभ्यवर्तन्त ते पुत्राः सर्वे सैन्यपुरस्कृताः ।
इच्छन्तो निधनं युद्धे स्वर्गं कृत्वा परायणम् ॥ १४ ॥
पाण्डवानभ्यवर्तन्त तस्मिन् वीरवरक्षये ।

महाराज ! बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस महायुद्धमें जब एक ओर भीष्म और दूसरी ओर पाण्डुनन्दन धनंजय पराक्रम प्रकट कर रहे थे, उस समय पितामह भीष्मको महान् पराक्रममें प्रवृत्त देख आपके सभी पुत्र सेनाओंके साथ स्वर्गको अपना परम लक्ष्य बनाकर युद्धमें मृत्यु चाहते हुए पाण्डवोंपर चढ़ आये ॥ १२–१४½ ॥

पाण्डवाऽपि महाराज स्मरन्तो विविधान् बहून् ॥ १५ ॥
क्लेशान् कृतान् सपुत्रेण त्वया पूर्वं नराधिप।
भयं त्यक्त्वा रणे शूरा ब्रह्मलोकाय तत्पराः ॥ १६ ॥
तावकांस्तव पुत्रांश्च योधयन्ति प्रहृष्टवत् ।

राजन् ! नरेश्वर ! शूरवीर पाण्डव भी पुत्रोंसहित आपके दिये हुए नाना प्रकारके अनेक क्लेशोंका स्मरण करके युद्धमें भय छोड़कर ब्रह्मलोक जानेके लिये उत्सुक हो बड़ी प्रसन्नताके साथ आपके सैनिकों और पुत्रोंके साथ युद्ध करने लगे १५-१६½

सेनापतिस्तु समरे प्राह सेनां महारथः ॥ १७ ॥
अभिद्रवत गाङ्गेयं सोमकाः सृञ्जयैः सह ।

उस समय समरभूमिमें पाण्डव-सेनापति महारथी धृष्टद्युम्नने अपनी सेनासे कहा—'सोमको ! तुम सृंजय वीरोंको साथ लेकर गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़ो' ॥ १७½ ॥

सेनापतिवचः श्रुत्वा सोमकाः सृञ्जयाश्च ते ॥ १८ ॥
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं शरवृष्ट्या समाहताः ।

सेनापतिकी यह बात सुनकर सोमक और सृंजय-वीर बाणोंकी भारी वर्षासे घायल होनेपर भी गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर दौड़े ॥ १८½ ॥

वध्यमानस्ततो राजन् पिता शान्तनवस्तव ॥ १९ ॥
अमर्षवशमापन्नो योधयामास सृञ्जयान् ।

राजन् ! तब आपके पितृतुल्य शान्तनुनन्दन भीष्म बाणोंकी मार खाकर अमर्षमें भर गये और सृंजयोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ १९½ ॥

तस्य कीर्तिमतस्तात पुरा रामेण धीमता ॥ २० ॥
सम्प्रदत्तास्त्रशिक्षा वै परानीकविनाशनी ।
स तां शिक्षामधिष्ठाय कुर्वन् परबलक्षयम् ॥ २१ ॥
अहन्यहनि पार्थानां वृद्धः कुरुपितामहः ।
भीष्मो दश सहस्राणि जघान परवीरहा ॥ २२ ॥

तात ! पूर्वकालमें परम बुद्धिमान् परशुरामजीने उन

यशस्वी भीष्मको शत्रुसेनाका विनाश करनेवाली जो अस्त्र-शिक्षा प्रदान की थी, उसका आश्रय लेकर पाण्डव-पक्षीय शत्रुसेनाका संहार करते हुए कुरुकुलके वृद्ध पितामह एवं शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले भीष्म नित्यप्रति दस हजार मुख्य योद्धाओंका वध करते आ रहे थे ॥ २०-२२ ॥

तस्मिंस्तु दशमे प्राप्ते दिवसे भरतर्षभ ।
भीष्मेणैकेन मत्स्येषु पञ्चालेषु च संयुगे ॥ २३ ॥
गजाश्वममितं हत्वा हताः सप्त महारथाः ।
हत्वा पञ्च सहस्राणि रथानां प्रपितामहः ॥ २४ ॥
नराणां च महायुद्धे सहस्राणि चतुर्दश ।
दन्तिनां च सहस्राणि हयानामयुतं पुनः ॥ २५ ॥
शिक्षाबलेन निहतं पित्रा तव विशाम्पते ।

भरतश्रेष्ठ ! उस दसवें दिनके आनेपर एकमात्र भीष्मने युद्धमें मत्स्य और पाञ्चालदेशकी सेनाओंके अगणित हाथी, घोड़ोंको मारकर सात महारथियोंका वध कर डाला । प्रजानाथ ! फिर पाँच हजार रथियोंका वध करके आपके पितृतुल्य भीष्मने अपने अस्त्र-शिक्षाबलसे उस महायुद्धमें चौदह हजार पैदल सिपाहियों, एक हजार हाथियों और दस हजार घोड़ोंका संहार कर डाला ॥ २३-२५½ ॥

ततः सर्वमहीपानां क्षपयित्वा वरूथिनीम् ॥ २६ ॥
विराटस्य प्रियो भ्राता शतानीको निपातितः ।
शतानीकं च समरे हत्वा भीष्मः प्रतापवान् ॥ २७ ॥
सहस्राणि महाराज राज्ञां भल्लैरपातयत् ।

तदनन्तर समस्त भूमिपालोंकी सेनाका उच्छेद करके राजा विराटके प्रिय भाई शतानीकको मार गिराया । महाराज ! शतानीकको रणक्षेत्रमें मारकर प्रतापी भीष्मने भल्ल नामक बाणोंद्वारा एक हजार नरेशोंको धराशायी कर दिया ।२६-२७½।

उद्विग्नाः समरे योधा विक्रोशन्ति धनंजयम् ॥ २८ ॥
ये च केचन पार्थानामभियाता धनंजयम् ।
राजानो भीष्ममासाद्य गतास्ते यमसादनम् ॥ २९ ॥

उस रणक्षेत्रमें समस्त योद्धा भीष्मके भयसे उद्विग्न हो अर्जुनको पुकारने लगे । पाण्डवपक्षके जो कोई नरेश अर्जुनके साथ गये थे, वे भीष्मके सामने पहुँचते ही यमलोकके पथिक हो गये ॥ २८-२९ ॥

एवं दश दिशो भीष्मः शरजालैः समन्ततः ।
अतीत्य सेनां पार्थानामवतस्थे चमूमुखे ॥ ३० ॥

इस प्रकार भीष्मने दसों दिशाओंमें सब ओर अपने बाणोंका जाल-सा बिछा दिया और कुन्तीकुमारोंकी सेनाको परास्त करके वे सेनाके प्रमुख भागमें स्थित हो गये ॥ ३० ॥

स कृत्वा सुमहत् कर्म तस्मिन् वै दशमेऽहनि ।
सेनयोरन्तरे तिष्ठन् प्रगृहीतशरासनः ॥ ३१ ॥

दसवें दिन यह महान् पराक्रम करके हाथमें धनुष लिये वे दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े हो गये ॥ ३१ ॥

न चैनं पार्थिवाः केचिच्छक्ता राजन् निरीक्षितुम् ।
मध्यं प्राप्तं यथा ग्रीष्मे तपन्तं भास्करं दिवि ॥ ३२ ॥

राजन् ! जैसे ग्रीष्म ऋतुमें आकाशके मध्यभागमें पहुँचे हुए दोपहरके तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन होता है, उसी प्रकार उस समय कोई राजा भीष्मकी ओर आँख उठाकर देखनेका भी साहस न कर सके ॥ ३२ ॥

यथा दैत्यचमूं शक्रस्तापयामास संयुगे ।
तथा भीष्मः पाण्डवेयांस्तापयामास भारत ॥ ३३ ॥

भारत ! जैसे पूर्वकालमें देवराज इन्द्रने संग्रामभूमिमें दैत्योंकी सेनाको संतप्त किया था, उसी प्रकार भीष्मजी पाण्डव-योद्धाओंको संताप दे रहे थे ॥ ३३ ॥

तथा चैनं पराक्रान्तमालोक्य मधुसूदनः ।
उवाच देवकीपुत्रः प्रीयमाणो धनंजयम् ॥ ३४ ॥

उन्हें इस प्रकार पराक्रम करते देख मधु दैत्यको मारनेवाले देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे प्रसन्नतापूर्वक कहा—॥ ३४ ॥

एष शान्तनवो भीष्मः सेनयोरन्तरे स्थितः ।
संनिहत्य बलादेनं विजयस्ते भविष्यति ॥ ३५ ॥

'अर्जुन ! ये शान्तनुनन्दन भीष्म दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े हैं । यदि तुम बलपूर्वक इन्हें मार सको तो तुम्हारी विजय हो जायगी ॥ ३५ ॥

बलात् संस्तम्भयस्वैनं यत्रैषा भिद्यते चमूः ।
न हि भीष्मशरानन्यः सोढुमुत्सहते विभो ॥ ३६ ॥

'जहाँ ये इस सेनाका संहार कर रहे हैं, वहीं पहुँचकर इन्हें बलपूर्वक स्तम्भित कर दो (जिससे ये आगे या पीछे किसी ओर हट न सकें)। विभो ! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो भीष्मके बाणोंकी चोट सह सके' ॥ ३६ ॥

ततस्तस्मिन् क्षणे राजंश्चोदितो वानरध्वजः ।
सध्वजं सरथं साश्वं भीष्ममन्तर्दधे शरैः ॥ ३७ ॥

राजन् ! इस प्रकार भगवान्से प्रेरित होकर कपिध्वज अर्जुनने उसी क्षण अपने बाणोंद्वारा ध्वज, रथ और घोड़ों-सहित भीष्मको आच्छादित कर दिया ॥ ३७ ॥

स चापि कुरुमुख्यानामृषभः पाण्डवेरितान् ।
शरव्रातैः शरव्रातान् बहुधा विदुधाव तान् ॥ ३८ ॥

कुरुश्रेष्ठ वीरोंमें प्रधान भीष्मने भी अपने बाणसमूहों-द्वारा अर्जुनके चलाये हुए बाणसमुदायके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ३८ ॥

(तथा पुनर्जघानाशु पाण्डवानां महारथान् ।
शरैरशनिकल्पैश्च शिताग्रैश्च सुपर्वभिः ॥)

तत्पश्चात् उत्तम गाँठ और तीखी धारवाले वज्रतुल्य बाणोंद्वारा वे पुनः पाण्डव महारथियोंका शीघ्रतापूर्वक वध करने लगे ॥

ततः पञ्चालराजश्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान्।
पाण्डवो भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ३९ ॥
यमौ च चेकितानश्च केकयाः पञ्च चैव ह ।
सात्यकिश्च महाबाहुः सौभद्रोऽथ घटोत्कचः ॥ ४० ॥
द्रौपदेयाः शिखण्डी च कुन्तिभोजश्च वीर्यवान्।
सुशर्मा च विराटश्च पाण्डवेया महाबलाः ॥ ४१ ॥
एते चान्ये च बहवः पीडिता भीष्मसायकैः ।
समुद्धृताः फाल्गुनेन निमग्नाः शोकसागरे ॥ ४२ ॥

इसी समय पाञ्चालराज द्रुपद, पराक्रमी धृष्टकेतु, पाण्डुनन्दन भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, नकुल-सहदेव, चेकितान, पाँच केकयराजकुमार, महाबाहु सात्यकि, सुभद्राकुमार अभिमन्यु, घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, शिखण्डी, पराक्रमी कुन्तिभोज, सुशर्मा तथा विराट—ये और दूसरे भी बहुत-से महाबली पाण्डव सैनिक भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हो शोकके समुद्रमें डूब रहे थे; परंतु अर्जुनने उन सबका उद्धार कर दिया ॥ ३९–४२ ॥

ततः शिखण्डी वेगेन प्रगृह्य परमायुधम् ।
भीष्ममेवाभिदुद्राव रक्ष्यमाणः किरीटिना ॥ ४३ ॥

तब शिखण्डी अपने उत्तम अस्त्र-शस्त्रोंको लेकर बड़े वेगसे भीष्मकी ही ओर दौड़ा । उस समय किरीटधारी अर्जुन उसकी रक्षा कर रहे थे ॥ ४३ ॥

ततोऽस्यानुचरान् हत्वा सर्वान् रणविभागवित्।
भीष्ममेवाभिदुद्राव बीभत्सुरपराजितः ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् युद्धविभागके अच्छे ज्ञाता और किसीसे भी परास्त न होनेवाले अर्जुनने भीष्मके पीछे चलनेवाले समस्त योद्धाओंको मारकर स्वयं भी भीष्मपर ही धावा किया ॥४४॥

सात्यकिश्चेकितानश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
विराटो द्रुपदश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ४५ ॥
दुद्रुवुर्भीष्ममेवाजौ रक्षिता दृढधन्वना ।

इनके साथ सात्यकि, चेकितान, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद, माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेवने भी युद्धमें भीष्मपर ही आक्रमण किया । ये सब-के-सब सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले अर्जुनसे सुरक्षित थे ॥४५½॥

अभिमन्युश्च समरे द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ॥ ४६ ॥
दुद्रुवुः समरे भीष्मं समुद्यतमहायुधाः ।

द्रौपदीके पाँचों पुत्र और अभिमन्यु भी महान् अस्त्र-शस्त्र लिये उस समराङ्गणमें भीष्मकी ही ओर दौड़े ॥४६½॥

ते सर्वे दृढधन्वानः संयुगेष्वपलायिनः ॥ ४७ ॥
बहुधा भीष्ममानर्च्छुर्मार्गणैः क्षतमार्गणैः ।

ये सभी वीर सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले और युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले थे । इन्होंने शत्रुओंके बाणोंको नष्ट करनेवाले सायकोंद्वारा भीष्मको बारंबार पीड़ित किया ।४७½।

विधूय तान् बाणगणान् ये मुक्ताः पार्थिवोत्तमैः ॥ ४८ ॥
पाण्डवानामदीनात्मा व्यगाहत वरूथिनीम् ।

परंतु उदारचेता भीष्म उन श्रेष्ठ राजाओंके छोड़े हुए समस्त बाणसमूहोंका नाश करके पाण्डवोंकी विशाल सेनामें घुस गये ॥ ४८½ ॥

चक्रे शरविघातं च क्रीडन्निव पितामहः ॥ ४९ ॥
नाभिसंधत्त पाञ्चाल्ये स्मयमानो मुहुर्मुहुः ।
स्त्रीत्वं तस्यानुसंस्मृत्य भीष्मो बाणाञ्शिखण्डिने॥५०॥

वहाँ पितामह भीष्म खेल-सा करते हुए अपने बाणोंद्वारा पाण्डवसैनिकोंके अस्त्र-शस्त्रोंका विनाश करने लगे । परंतु शिखण्डीके स्त्रीत्वका स्मरण करके वे बारंबार मुसकराकर रह जाते थे; उसपर बाण नहीं चलाते थे ॥ ४९-५० ॥

जघान द्रुपदानीके रथान् सप्त महारथः ।
ततः किलकिलाशब्दः क्षणेन समभूत् तदा ॥ ५१ ॥
मत्स्यपाञ्चालचेदीनां तमेकमभिधावताम् ।

महारथी भीष्मने द्रुपदकी सेनाके सात रथियोंको मार डाला । तब एकमात्र भीष्मपर धावा करनेवाले मत्स्य, पाञ्चाल और चेदिदेशके योद्धाओंका महान् कोलाहल क्षणभरमें वहाँ गूँज उठा ॥ ५१½ ॥

ते नराश्वरथव्रातैर्मार्गणैश्च परंतप ॥ ५२ ॥
तमेकं छादयामासुर्मेघा इव दिवाकरम् ।
भीष्मं भागीरथीपुत्रं प्रतपन्तं रणे रिपून् ॥ ५३ ॥

परंतप ! जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार उन वीरोंने पैदल, घुड़सवार तथा रथियोंके समुदायसे एवं बहुसंख्यक बाणोंद्वारा भीष्मको आच्छादित कर दिया । उस समय गङ्गानन्दन भीष्म अकेले युद्धके मैदानमें शत्रुओंको अत्यन्त संतप्त कर रहे थे ॥ ५२-५३ ॥

ततस्तस्य च तेषां च युद्धे देवासुरोपमे ।
किरीटी भीष्ममागच्छत् पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ॥५४॥

तदनन्तर भीष्म तथा उन योद्धाओंमें देवासुर-संग्रामके समान भयंकर युद्ध होने लगा । इसी बीचमें किरीटधारी अर्जुन शिखण्डीको आगे करके भीष्मके समीप जा पहुँचे ॥५४॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मपराक्रमे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मपराक्रमविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके प्रमुख महारथियोंद्वारा सुरक्षित होनेपर भी अर्जुनका भीष्मको रथसे गिराना, शरशय्यापर स्थित भीष्मके समीप हंसरूपधारी ऋषियोंका आगमन एवं उनके कथनसे भीष्मका उत्तरायणकी प्रतीक्षा करते हुए प्राण धारण करना

संजय उवाच

एवं ते पाण्डवाः सर्वे पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
विव्यधुः समरे भीष्मं परिवार्य समन्ततः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार शिखण्डीको आगे करके सभी पाण्डवोंने समरभूमिमें भीष्मको सब ओरसे घेरकर बींधना आरम्भ किया ॥ १ ॥

शतघ्नीभिः सुघोराभिः परिघैश्च परश्वधैः ।
मुद्गरैर्मुसलैः प्रासैः क्षेपणीयैश्च सर्वशः ॥ २ ॥
शरैः कनकपुङ्खैश्च शक्तितोमरकम्पनैः ।
नाराचैर्वत्सदन्तैश्च भुशुण्डीभिश्च सर्वशः ॥ ३ ॥
अताडयन् रणे भीष्मं सहिताः सर्वसृञ्जयाः ।

समस्त सृंजय वीर एक साथ संगठित हो भयंकर शतघ्नी, परिघ, फरसे, मुद्गर, मुसल, प्रास, गोफन, स्वर्णमय पंखवाले बाण, शक्ति, तोमर, कम्पन, नाराच, वत्सदन्त और भुशुण्डी आदि अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा रणभूमिमें भीष्मको सब ओरसे पीड़ा देने लगे ॥ २-३½ ॥

स विशीर्णतनुत्राणः पीडितो बहुभिस्तदा ॥ ४ ॥
न विव्यथे तदा भीष्मो भिद्यमानेषु मर्मसु ।

उस समय बहुसंख्यक योद्धाओंके द्वारा अनेक प्रकारके अस्त्रोंसे पीड़ित होनेके कारण भीष्मका कवच छिन्न-भिन्न हो गया। उनके मर्मस्थान विदीर्ण होने लगे, तो भी उनके मनमें व्यथा नहीं हुई ॥ ४½ ॥

संदीप्तशरचापाग्निरस्त्रप्रसृतमारुतः ॥ ५ ॥
नेमिनिर्ह्रादसंतापो महास्त्रोदयपावकः ।
चित्रचापमहाज्वालो वीरक्षयमहेन्धनः ॥ ६ ॥
युगान्ताग्निसमप्रख्यः परेषां समपद्यत ।

वे शत्रुओंके लिये प्रलयकालकी अग्निके समान अद्भुत तेजसे प्रज्वलित हो उठे। धनुष और बाण ही धधकती हुई आग थे। अस्त्रोंका प्रसार ही वायुका सहारा था। रथोंके पहियोंकी घरघराहट उस आगकी आँच थी। बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्राकट्य अंगारके समान था। विचित्र चाप ही उस आगकी प्रचण्ड ज्वालाओंके समान था। बड़े-बड़े वीर ही ईंधनके समान उसमें गिरकर भस्म हो रहे थे ॥ ५-६½ ॥

विवृत्य रथसङ्घानामन्तरेण विनिःसृतः ॥ ७ ॥
दृश्यते स नरेन्द्राणां पुनर्मध्यगतश्चरन् ।

पितामह भीष्म एक ही क्षणमें रथकी पंक्ति तोड़कर घेरेसे बाहर निकल आते और पुनः राजाओंकी सेनाके मध्यभागमें प्रवेश करके वहाँ विचरते दिखायी देते थे ॥ ७½ ॥

ततः पञ्चालराजं च धृष्टकेतुमचिन्त्य च ॥ ८ ॥
पाण्डवानीकिनीमध्यमाससाद विशाम्पते ।

प्रजानाथ! तत्पश्चात् पाञ्चालराज द्रुपद तथा धृष्टकेतुकी कुछ भी परवा न करके वे पाण्डवसेनाके भीतर घुस आये ।८½।

ततः सात्यकिभीमौ च पाण्डवं च धनंजयम् ॥ ९ ॥
द्रुपदं च विराटं च धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।
भीमघोषैर्महावेगैर्मर्मावरणभेदिभिः ॥ १० ॥
षडेतान् निशितैर्भीष्मः प्रविव्याधोत्तमैः शरैः ।

फिर भयंकर शब्द करनेवाले, महान् वेगशाली, मर्मस्थानों और कवचोंको भी विदीर्ण कर देनेवाले, तीखे एवं उत्तम बाणोंद्वारा उन्होंने सात्यकि, भीमसेन, पाण्डुपुत्र अर्जुन, विराट, द्रुपद तथा उनके पुत्र धृष्टद्युम्न—इन छः महारथियोंको अत्यन्त घायल कर दिया ॥ ९-१०½ ॥

तस्य ते निशितान् बाणान् संनिवार्य महारथाः॥ ११ ॥
दशभिर्दशभिर्भीष्ममर्दयामासुरोजसा ।

तब उन महारथी वीरोंने भीष्मके उन तीखे बाणोंका निवारण करके पुनः दस-दस बाणोंद्वारा भीष्मको बलपूर्वक पीड़ित किया ॥ ११½ ॥

शिखण्डी तु महाबाणान् यान् मुमोच महारथः ॥ १२ ॥
न चक्रुस्ते रुजं तस्य स्वर्णपुङ्खाः शिलाशिताः ।

महारथी शिखण्डीने जिन महान् बाणोंका प्रयोग किया था, वे सब सुवर्णमय पंखसे युक्त और शिलापर रगड़कर तेज किये गये थे, तो भी भीष्मजीके शरीरमें घाव या पीड़ा नहीं उत्पन्न कर सके ॥ १२½ ॥

ततः किरीटी संरब्धो भीष्ममेवाभ्यधावत ॥ १३ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य धनुश्चास्य समाच्छिनत् ।

तब किरीटधारी अर्जुनने कुपित हो शिखण्डीको आगे किये हुए ही भीष्मपर धावा किया और उनके धनुषको काट डाला ॥ १३½ ॥

भीष्मस्य धनुषश्छेदं नामृष्यन्त महारथाः ॥ १४ ॥
द्रोणश्च कृतवर्मा च सैन्धवश्च जयद्रथः ।
भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तस्तथैव च ॥ १५ ॥
सप्तैते परमक्रुद्धाः किरीटिनमभिद्रुताः ।
तत्र शस्त्राणि दिव्यानि दर्शयन्तो महारथाः ॥ १६ ॥

अभिपेतुर्भृशं क्रुद्धाश्छादयन्तश्च पाण्डवम् ।

भीष्मके धनुषका काटा जाना कौरव महारथियोंको सहन नहीं हुआ। द्रोण, कृतवर्मा, सिन्धुराज जयद्रथ, भूरिश्रवा, शल, शल्य और भगदत्त—ये सात महारथी अत्यन्त क्रुद्ध हो किरीटधारी अर्जुनकी ओर दौड़े तथा अपने दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए पाण्डुनन्दन अर्जुनको अत्यन्त क्रोधपूर्वक बाणोंसे आच्छादित करने लगे ॥ १४–१६½ ॥

तेषामापततां शब्दः शुश्रुवे फाल्गुनं प्रति ॥ १७ ॥
उद्वृत्तानां यथा शब्दः समुद्राणां युगक्षये ।

अर्जुनके प्रति आक्रमण करते हुए उन वीरोंका सिंहनाद उसी प्रकार सुनायी पड़ा, जैसे प्रलयकालमें अपनी मर्यादा छोड़कर बढ़नेवाले समुद्रोंकी भीषण गर्जना सुनायी पड़ती है ॥ १७½ ॥

घ्नतानयत गृह्णीत विद्ध्यध्वमवकर्तत ॥ १८ ॥
इत्यासीत् तुमुलः शब्दः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।

अर्जुनके रथके समीप 'मार डालो, ले आओ, पकड़ लो, बींध डालो, टुकड़े-टुकड़े कर दो' इस प्रकार भयंकर शब्द गूँजने लगा ॥ १८½ ॥

तं शब्दं तुमुलं श्रुत्वा पाण्डवानां महारथाः ॥ १९ ॥
अभ्यधावन् परीप्सन्तः फाल्गुनं भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! उस भयानक शब्दको सुनकर पाण्डव महारथी अर्जुनकी रक्षाके लिये दौड़े ॥ १९½ ॥

सात्यकिर्भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २० ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ राक्षसश्च घटोत्कचः ।
अभिमन्युश्च संक्रुद्धः सप्तैते क्रोधमूर्च्छिताः ॥ २१ ॥
समभ्यधावंस्त्वरिताश्चित्रकार्मुकधारिणः ।

सात्यकि, भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद, राक्षस घटोत्कच और अभिमन्यु—ये सात वीर क्रोधसे मूर्छित हो तुरंत ही विचित्र धनुष धारण किये वहाँ दौड़े आये २०-२१½

तेषां समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ २२ ॥
संग्रामे भरतश्रेष्ठ देवानां दानवैरिव ।

भरतभूषण ! उनका वह भयंकर युद्ध देवासुर-संग्रामके समान रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ २२½ ॥

शिखण्डी तु रणे श्रेष्ठो रक्ष्यमाणः किरीटिना ॥ २३ ॥
अविध्यद् दशभिर्भीष्मं छिन्नधन्वानमाहवे ।
सारथिं दशभिश्चास्य ध्वजं चैकेन चिच्छिदे ॥ २४ ॥
सोऽन्यत् कार्मुकमादाय गाङ्गेयो वेगवत्तरम् ।
(जघान निशितैर्बाणैरर्जुनं परवीरहा ।)
तदप्यस्य शितैर्बाणैस्त्रिभिश्चिच्छेद फाल्गुनः ॥ २५ ॥

भीष्मजीका धनुष कट गया था। उसी अवस्थामें अर्जुनसे सुरक्षित शिखण्डीने दस बाणोंसे उन्हें और दस बाणोंसे उनके सारथिको भी घायल कर दिया। तत्पश्चात् एक बाणसे ध्वजको काट गिराया। तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मने दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष लेकर तीखे बाणोंसे अर्जुनको घायल करना आरम्भ किया। यह देख अर्जुनने उस धनुषको भी तीन पैने बाणोंद्वारा काट डाला। २३–२५।

एवं स पाण्डवः क्रुद्ध आत्तमात्तं पुनः पुनः ।
धनुश्चिच्छेद भीष्मस्य सव्यसाची परंतपः ॥ २६ ॥

इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए शत्रुसंतापी, सव्यसाची पाण्डुनन्दन अर्जुन जो-जो धनुष भीष्म लेते, उसी-उसीको काट डालते थे ॥ २६ ॥

स छिन्नधन्वा संक्रुद्धः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
शक्तिं जग्राह तरसा गिरीणामपि दारणीम् ॥ २७ ॥

धनुष कट जानेपर क्रोधपूर्वक अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए भीष्मने बलपूर्वक एक शक्ति हाथमें ली, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाली थी ॥ २७ ॥

तां च चिक्षेप संक्रुद्धः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।
तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य ज्वलन्तीमशनीमिव ॥ २८ ॥
समादत्त शितान् भल्लान् पञ्च पाण्डवनन्दनः ।
तस्य चिच्छेद तां शक्तिं पञ्चधा पञ्चभिः शरैः ॥ २९ ॥
संक्रुद्धो भरतश्रेष्ठ भीष्मबाहुप्रवेरिताम् ।

भरतश्रेष्ठ ! फिर उसे क्रोधपूर्वक उन्होंने अर्जुनके रथकी ओर चला दिया। प्रज्वलित वज्रके समान उस शक्तिको आती देख पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले अर्जुनने अपने हाथमें भल्लनामक पाँच तीखे बाण लिये और कुपित हो उन पाँच बाणोंद्वारा भीष्मकी भुजाओंसे प्रेरित हुई उस शक्तिके पाँच टुकड़े कर दिये ॥ २८-२९½ ॥

सा पपात तथा छिन्ना संक्रुद्धेन किरीटिना ॥ ३० ॥
मेघवृन्दपरिभ्रष्टा विच्छिन्नेव शतह्रदा ।

क्रोधमें भरे हुए अर्जुनद्वारा काटी हुई वह शक्ति मेघोंके समूहसे निर्मुक्त होकर गिरी हुई बिजलीके समान पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३०½ ॥

छिन्नां तां शक्तिमालोक्य भीष्मः क्रोधसमन्वितः ॥ ३१ ॥
अचिन्तयद् रणे वीरो बुद्ध्या परपुरंजयः ।

अपनी उस शक्तिको छिन्न-भिन्न हुई देख भीष्मजी क्रोधमें निमग्न हो गये और शत्रुनगरविजयी उन वीरशिरोमणिने रण-क्षेत्रमें अपनी बुद्धिके द्वारा इस प्रकार विचार किया—॥ ३१½ ॥

शक्तोऽहं धनुषैकेन निहन्तुं सर्वपाण्डवान् ॥ ३२ ॥
यद्येषां न भवेद् गोप्ता विष्वक्सेनो महाबलः ।

'यदि महाबली भगवान् श्रीकृष्ण उन पाण्डवोंकी रक्षा न करते तो मैं इन सबको केवल एक धनुषके ही द्वारा मार सकता था ॥ ३२½ ॥

(अजय्यश्चैव लोकानां सर्वेषामिति मे मतिः ।)
कारणद्वयमास्थाय नाहं योत्स्यामि पाण्डवान् ॥ ३३ ॥
अवध्यत्वाच्च पाण्डूनां स्त्रीभावाच्च शिखण्डिनः ।

'भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके लिये अजेय हैं; ऐसा मेरा विश्वास है । इस समय मैं दो कारणोंका आश्रय लेकर पाण्डवोंसे युद्ध नहीं करूँगा । एक तो ये पाण्डुकी संतान होनेके कारण मेरे लिये अवध्य हैं और दूसरे मेरे सामने शिखण्डी आ गया है, जो पहले स्त्री था ॥ ३३½ ॥

पित्रा तुष्टेन मे पूर्वं यदा कालीमुदावहम् ॥ ३४ ॥
स्वच्छन्दमरणं दत्तमवध्यत्वं रणे तथा ।
तस्मान्मृत्युमहं मन्ये प्राप्तकालमिवात्मनः ॥ ३५ ॥

'पूर्वकालमें जब मैंने माता सत्यवतीका विवाह पिताजीके साथ कराया था, उस समय मेरे पिताने संतुष्ट होकर मुझे दो वर दिये थे—'जब तुम्हारी इच्छा होगी, तभी तुम मरोगे तथा युद्धमें कोई भी तुम्हें मार न सकेगा ।' ऐसी दशामें मुझे स्वेच्छासे ही मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिये । मैं समझता हूँ कि अब उसका अवसर आ गया है' ॥ ३४-३५ ॥

एवं ज्ञात्वा व्यवसितं भीष्मस्यामिततेजसः ।
ऋषयो वसवश्चैव वियत्स्था भीष्ममब्रुवन् ॥ ३६ ॥

अमिततेजस्वी भीष्मके इस निश्चयको जानकर आकाशमें खड़े हुए ऋषियों और वसुओंने उनसे इस प्रकार कहा—॥

यत् ते व्यवसितं तात तदस्माकमपि प्रियम् ।
तत् कुरुष्व महाराज युद्धे बुद्धिं निवर्तय ॥ ३७ ॥

'तात ! तुमने जो निश्चय किया है, वह हमलोगोंको भी बहुत प्रिय है । महाराज ! अब तुम वही करो । युद्धकी ओरसे अपनी चित्तवृत्ति हटा लो' ॥ ३७ ॥

अस्य वाक्यस्य निधने प्रादुरासीच्छिवोऽनिलः ।
अनुलोमः सुगन्धी च पृषतैश्च समन्वितः ॥ ३८ ॥

यह बात समाप्त होते ही जलकी बूंदोंके साथ सुखद, शीतल, सुगन्धित एवं मनके अनुकूल वायु चलने लगी ॥ ३८ ॥

देवदुन्दुभयश्चैव सम्प्रणेदुर्महास्वनाः ।
पपात पुष्पवृष्टिश्च भीष्मस्योपरि मारिष ॥ ३९ ॥

आर्य ! देवताओंकी दुन्दुभियाँ जोर-जोरसे बज उठीं । भीष्मके ऊपर फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ ३९ ॥

न च तच्छुश्रुवे कश्चित् तेषां संवदतां नृप ।
ऋते भीष्मं महाबाहुं मां चापि मुनितेजसा ॥ ४० ॥

राजन् ! उस समय उपर्युक्त बातें कहनेवाले ऋषियोंका शब्द महाबाहु भीष्म तथा मुझको छोड़कर और कोई नहीं सुन सका । मुझे तो महर्षि व्यासके प्रभावसे ही वह बात सुनायी पड़ी ॥ ४० ॥

सम्भ्रमश्च महानासीत् त्रिदशानां विशाम्पते ।
पतिष्यति रथाद् भीष्मे सर्वलोकप्रिये तदा ॥ ४१ ॥

प्रजानाथ ! सम्पूर्ण लोकोंके प्रिय भीष्म रथसे गिरना चाहते हैं, यह जानकर उस समय सम्पूर्ण देवताओंको भी महान् आश्चर्य हुआ ॥ ४१ ॥

इति देवगणानां च वाक्यं श्रुत्वा महातपाः ।
ततः शान्तनवो भीष्मो बीभत्सुं नात्यवर्तत ॥ ४२ ॥
भिद्यमानः शितैर्बाणैः सर्वावरणभेदिभिः ।

देवताओंकी वह बात सुनकर महातपस्वी शान्तनुनन्दन भीष्म समस्त आवरणोंका भेदन करनेवाले तीखे बाणोंद्वारा विदीर्ण होनेपर भी अर्जुनको जीतनेका प्रयत्न न कर सके ॥ ४२½ ॥

शिखण्डी तु महाराज भरतानां पितामहम् ॥ ४३ ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो नवभिर्निशितैः शरैः ।

महाराज ! उस समय शिखण्डीने कुपित होकर भरतवंशियोंके पितामह भीष्मजीकी छातीमें नौ पैने बाण मारे ॥ ४३½ ॥

स तेनाभिहतः संख्ये भीष्मः कुरुपितामहः ॥ ४४ ॥
नाकम्पत महाराज क्षितिकम्पे यथाचलः ।

नरेश्वर ! युद्धमें शिखण्डीके द्वारा आहत होकर भी कुरुवंशियोंके पितामह भीष्म उसी प्रकार कम्पित नहीं हुए, जैसे भूकम्प होनेपर भी पर्वत नहीं हिलता ॥ ४४½ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्व्याक्षिपन् गाण्डिवं धनुः ॥ ४५ ॥
गाङ्गेयं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ।

तदनन्तर अर्जुनने हँसकर गाण्डीव धनुषकी टंकार करते हुए गङ्गानन्दन भीष्मको पचीस बाण मारे ॥ ४५½ ॥

पुनः पुनः शतैरेनं त्वरमाणो धनंजयः ॥ ४६ ॥
सर्वगात्रेषु संक्रुद्धः सर्वमर्मस्वताडयत् ।

तत्पश्चात् पुनः उन्होंने अत्यन्त कुपित हो शीघ्रतापूर्वक सौ बाणोंद्वारा भीष्मके सम्पूर्ण अङ्गों और सभी मर्मस्थानोंमें आघात किया ॥ ४६ ॥

एवमन्यैरपि भृशं विद्ध्यमानः सहस्रशः ॥ ४७ ॥
तानप्याशु शरैर्भीष्मः प्रविव्याध महारथः ।

इसी प्रकार दूसरे लोगोंने भी सहस्रों बाणोंद्वारा भीष्मजीको घायल किया । तब महारथी भीष्मने भी तुरंत ही अपने बाणोंद्वारा उन सबको बींध डाला ॥ ४७½ ॥

तैश्च मुक्ताञ्छरान् भीष्मो युधि सत्यपराक्रमः ॥ ४८ ॥
निवारयामास शरैः समं संनतपर्वभिः ।

सत्यपराक्रमी भीष्म युद्धस्थलमें अन्य सब राजाओंद्वारा छोड़े हुए बाणोंका झुकी हुई गाँठवाले अपने बाणोंद्वारा तुरंत ही निवारण कर देते थे ॥ ४८½ ॥

शिखण्डी तु रणे बाणान् यान् मुमोच महारथः ॥ ४९ ॥
न चक्रुस्ते रुजं तस्य रुक्मपुङ्खाः शिलाशिताः ।

महारथी शिखण्डीने रणक्षेत्रमें जिनका प्रयोग किया था, वे शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखयुक्त बाण भीष्मजीके शरीरमें कोई घाव या पीड़ा नहीं उत्पन्न कर सके ॥

ततः किरीटी संक्रुद्धो भीष्ममेवाभ्यवर्तत ॥ ५० ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य धनुश्चास्य समाच्छिनत् ।

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए अर्जुन शिखण्डीको आगे रखकर पुनः भीष्मकी ही ओर बढ़े। उन्होंने भीष्मजीके धनुषको काट दिया ॥ ५०½ ॥

अथैनं नवभिर्विद्ध्वा ध्वजमेकेन चिच्छिदे ॥ ५१ ॥
सारथिं विशिखैश्चास्य दशभिः समकम्पयत् ।

तदनन्तर नौ बाणोंसे उन्हें घायल करके एक बाणसे उनके ध्वजको भी काट डाला। फिर दस बाणोंद्वारा उनके सारथिको कम्पित कर दिया ॥ ५१½ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय गाङ्गेयो बलवत्तरम् ॥ ५२ ॥
तदप्यस्य शितैर्भल्लैस्त्रिधा त्रिभिरघातयत् ।

तब गङ्गानन्दन भीष्मने दूसरा अत्यन्त प्रबल धनुष हाथमें लिया; परंतु अर्जुनने तीन तीखे भल्लोंद्वारा मारकर उसे भी तीन जगहसे खण्डित कर दिया ॥ ५२½ ॥

निमेषार्धेन कौन्तेय आत्तमात्तं महारणे ॥ ५३ ॥
एवमस्य धनूंष्याजौ चिच्छेद सुबहून्यथ ।

उस महायुद्धमें भीष्म जो-जो धनुष हाथमें लेते थे कुन्तीकुमार अर्जुन उसे आधे निमेषमें काट डालते थे। इस प्रकार उन्होंने रणक्षेत्रमें उनके बहुत-से धनुष खण्डित कर दिये॥

ततः शान्तनवो भीष्मो बीभत्सुं नात्यवर्तत ॥ ५४ ॥
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ।

तब शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनपर हाथ उठाना बंद कर दिया। फिर भी अर्जुनने उन्हें पचीस बाण मारे ॥५४½॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासो दुःशासनमभाषत ॥ ५५ ॥
एष पार्थो रणे क्रुद्धः पाण्डवानां महारथः ।
शरैरनेकसाहस्रैर्मामेवाभ्यहनद् रणे ॥ ५६ ॥

इस प्रकार अत्यन्त घायल होनेपर महाधनुर्धर भीष्मने दुःशासनसे कहा—'ये पाण्डव महारथी अर्जुन युद्धमें क्रुद्ध होकर अनेक सहस्र बाणोंद्वारा मुझे घायल कर चुके हैं॥

न चैष समरे शक्यो जेतुं वज्रभृता अपि ।
न चापि सहिता वीरा देवदानवराक्षसाः ॥ ५७ ॥
मां चापि शक्ता निर्जेतुं किमु मर्त्या महारथाः ।

'इन्हें वज्रधारी इन्द्र भी युद्धमें जीत नहीं सकते। इसी प्रकार समस्त देवता, दानव तथा राक्षस वीर एक साथ आ जायँ तो मुझे भी वे युद्धमें परास्त नहीं कर सकते; फिर दूसरे मानव महारथियोंकी तो बात ही क्या है?' ॥ ५७½ ॥

एवं तयोः संवदतोः फाल्गुनो निशितैः शरैः ॥ ५८ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य भीष्मं विव्याध संयुगे ।

इस प्रकार दुःशासन और भीष्ममें जब बातचीत हो रही थी, उसी समय अर्जुनने अपने तीखे बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें शिखण्डीको आगे करके भीष्मको क्षत-विक्षत कर दिया ॥

ततो दुःशासनं भूयः स्मयमान इवाब्रवीत् ॥ ५९ ॥
अतिविद्धः शितैर्बाणैर्भृशं गाण्डीवधन्वना ।
वज्राशनिसमस्पर्शा अर्जुनेन शरा युधि ॥ ६० ॥
मुक्ताः सर्वेऽव्यवच्छिन्ना नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।

तब वे पुनः दुःशासनसे मुसकराते हुए-से बोले—'गाण्डीवधारी अर्जुनने युद्धस्थलमें ऐसे बाण छोड़े हैं, जिनका स्पर्श वज्र और विद्युत्‌के समान असह्य है। उनके तीखे बाणोंसे मैं अत्यन्त घायल हो गया हूँ। ये अविच्छिन्न रूपसे छूटनेवाले समस्त बाण शिखण्डीके नहीं हो सकते; ॥ ५९-६०½ ॥

निकृन्तमाना मर्माणि दृढावरणभेदिनः ॥ ६१ ॥
मुसला इव मे घ्नन्ति नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।
वज्रदण्डसमस्पर्शा वज्रवेगदुरासदाः ॥ ६२ ॥

'क्योंकि ये मेरे सुदृढ़ कवचको छेदकर मर्मस्थानोंमें आघात कर रहे हैं, ये बाण मेरे शरीरपर मुसलके समान चोट करते हैं। इनका स्पर्श वज्र और यमदण्डके समान असह्य है। इनका वेग वज्रके समान होनेके कारण निवारण करना कठिन है। ये शिखण्डीके बाण कदापि नहीं ॥ ६१-६२ ॥

मम प्राणानारुजन्ति नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।
नाशयन्तीव मे प्राणान् यमदूता इवाहिताः ॥ ६३ ॥

'ये मेरे प्राणोंमें व्यथा उत्पन्न कर देते हैं। अहितकारी यमदूतोंके समान मेरे प्राणोंका विनाश-सा कर रहे हैं। ये शिखण्डीके बाण कदापि नहीं हो सकते ॥ ६३ ॥

गदापरिघसंस्पर्शा नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।
भुजगा इव संक्रुद्धा लेलिहाना विषोल्बणाः ॥ ६४ ॥

'इनका स्पर्श गदा और परिघकी चोटके समान प्रतीत होता है, ये क्रोधमें भरे हुए प्रचण्ड विषवाले सर्पोंके समान डसे लेते हैं। ये शिखण्डीके बाण नहीं हैं ॥ ६४ ॥

समाविशन्ति मर्माणि नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।
अर्जुनस्य इमे बाणा नेमे बाणाः शिखण्डिनः ॥ ६५ ॥
कृन्तन्ति मम गात्राणि माघमासे गवा इव ।

'ये बाण मेरे मर्मस्थानोंमें प्रवेश कर रहे हैं, अतः शिखण्डीके नहीं हैं। ये अर्जुनके बाण हैं। ये शिखण्डीके बाण नहीं हैं। जैसे केंकड़ीके बच्चे अपनी माताका उदर विदीर्ण करके बाहर निकलते हैं, उसी प्रकार ये बाण मेरे सम्पूर्ण अङ्गोंको छेदे डालते हैं ॥ ६५½ ॥

सर्वे ह्यपि न मे दुःखं कुर्युरन्ये नराधिपाः ॥ ६६ ॥
वीरं गाण्डीवधन्वानमृते जिष्णुं कपिध्वजम् ।

'गाण्डीवधारी वीर कपिध्वज अर्जुनको छोड़कर अन्य सभी नरेश अपने प्रहारोंद्वारा मुझे इतनी पीड़ा नहीं दे सकते' ॥ ६६½ ॥

इति ब्रुवञ्छान्तनवो दिधक्षुरिव पाण्डवान् ॥ ६७ ॥
शक्तिं भीष्मः स पार्थाय ततश्चिक्षेप भारत।
तामस्य विशिखैश्छित्त्वा त्रिधा त्रिभिरपातयत् ॥ ६८ ॥

भारत ! ऐसा कहते हुए शान्तनुनन्दन भीष्मने पाण्डवोंकी ओर इस प्रकार देखा, मानो उन्हें भस्म कर डालेंगे। फिर उन्होंने अर्जुनपर एक शक्ति चलायी; परंतु अर्जुनने तीन बाणोंद्वारा उनकी उस शक्तिको तीन जगहसे काट गिराया ॥ ६७-६८ ॥

पश्यतां कुरुवीराणां सर्वेषां तव भारत ।
चर्माथादत्त गाङ्गेयो जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ६९ ॥
खड्गं चान्यतरप्रेप्सुर्मृत्योरग्रे जयाय वा ।

भरतनन्दन ! समस्त कौरव वीरोंके देखते-देखते गङ्गानन्दन भीष्मने मृत्यु अथवा विजय इन दोमेंसे किसी एकका वरण करनेके लिये अपने हाथमें सुवर्णभूषित ढाल और तलवार ले ली ॥ ६९½ ॥

तस्य तच्छतधा चर्म व्यधमत् सायकैस्तथा ॥ ७० ॥
रथादनवरूढस्य तदद्भुतमिवाभवत् ।

परंतु वे अभी अपने रथसे उतर भी नहीं पाये थे कि अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा उनकी ढालके सौ टुकड़े कर दिये, वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ७०½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वान्यनीकान्यचोदयत् ॥ ७१ ॥
अभिद्रवत गाङ्गेयं मा वोऽस्तु भयमण्वपि ।

इसी समय राजा युधिष्ठिरने अपने सैनिकोंको आज्ञा दी—'वीरो ! गङ्गानन्दन भीष्मपर आक्रमण करो। उनकी ओरसे तुम्हारे मनमें तनिक भी भय नहीं होना चाहिये' ॥ ७१½ ॥

अथ ते तोमरैः प्रासैर्बाणौघैश्च समन्ततः ॥ ७२ ॥
पट्टिशैश्च सुनिस्त्रिंशैर्नाराचैश्च तथा शितैः ।
वत्सदन्तैश्च भल्लैश्च तमेकमभिदुद्रुवुः ॥ ७३ ॥

तदनन्तर वे पाण्डव सैनिक सब ओरसे तोमर, प्रास, बाणसमुदाय, पट्टिश, खड्ग, तीखे नाराच, वत्सदन्त तथा भल्लोंका प्रहार करते हुए एकमात्र भीष्मकी ओर दौड़े ॥

सिंहनादस्ततो घोरः पाण्डवानामभूत् तदा ।
तथैव तव पुत्राश्च नेदुर्भीष्मजयैषिणः ॥ ७४ ॥

तदनन्तर पाण्डवोंकी सेनामें घोर सिंहनाद हुआ। इसी प्रकार भीष्मकी विजय चाहनेवाले आपके पुत्र भी उस समय गर्जना करने लगे ॥ ७४ ॥

तमेकमभ्यरक्षन्त सिंहनादांश्च चक्रिरे ।
तत्रासीत् तुमुलं युद्धं तावकानां परैः सह ॥ ७५ ॥

आपके सैनिक एकमात्र भीष्मकी रक्षा और सिंहनाद करने लगे। वहाँ आपके योद्धाओंका शत्रुओंके साथ भयंकर युद्ध हुआ ॥ ७५ ॥

दशमेऽहनि राजेन्द्र भीष्मार्जुनसमागमे ।
आसीद् गाङ्ग इवावर्तो मुहूर्तमुदधेरिव ॥ ७६ ॥

राजेन्द्र ! दसवें दिन भीष्म और अर्जुनके संघर्षमें दो घड़ीतक ऐसा दृश्य दिखायी दिया, मानो समुद्रमें गङ्गाजीके गिरते समय उनके जलमें भारी भँवर उठ रही हो ॥ ७६ ॥

सैन्यानां युध्यमानानां निघ्नतामितरेतरम् ।
असौम्यरूपा पृथिवी शोणिताक्ताभवत् तदा ॥ ७७ ॥

उस समय एक दूसरेको मारनेवाले युद्धपरायण सैनिकोंके रक्तसे रंजित हो वहाँकी सारी पृथ्वी भयानक हो गयी थी ॥

समं च विषमं चैव न प्राज्ञायत किंचन ।
योधानामयुतं हत्वा तस्मिन् स दशमेऽहनि ॥ ७८ ॥
अतिष्ठदाहवे भीष्मो भिद्यमानेषु मर्मसु ।

वहाँ ऊँची और नीची भूमिका भी कुछ ज्ञान नहीं हो पाता था, दसवें दिनके उस युद्धमें अपने मर्मस्थानोंके विदीर्ण होते रहनेपर भी भीष्मजी दस हजार योद्धाओंको मारकर वहाँ खड़े हुए थे ॥ ७८½ ॥

ततः सेनामुखे तस्मिन् स्थितः पार्थो धनुर्धरः ॥ ७९ ॥
मध्येन कुरुसैन्यानां द्रावयामास वाहिनीम् ।

उस समय सेनाके अग्रभागमें खड़े हुए धनुर्धर अर्जुनने कौरवसेनाके भीतर प्रवेश करके आपके सैनिकोंको खदेड़ना आरम्भ किया ॥ ७९½ ॥

(तथा च तव सैन्यानि तापयामासुरोजसा ।
शरैरशनिसंकाशैः पाण्डवाश्चेतरे नृपाः ॥
तत्राद्भुतमपश्याम पाण्डवानां पराक्रमम् ।
द्रावयामासुरिषुभिः सर्वान् भीष्मपदानुगान् ॥)

पाण्डवों तथा अन्य राजाओंने वज्रके समान बाणोंद्वारा आपकी सेनाओंको बलपूर्वक पीड़ित किया। वहाँ हमने पाण्डवोंका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि उन्होंने अपने बाणोंकी वर्षासे भीष्मका अनुगमन करनेवाले समस्त योद्धाओंको मार भगाया ॥

वयं श्वेतहयाद् भीताः कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ॥ ८० ॥
पीड्यमानाः शितैः शस्त्रैः प्राद्रवाम रणे तदा ।

राजन् ! उस समय श्वेतवाहन कुन्तीपुत्र धनंजयसे डरकर उनके तीखे अस्त्र-शस्त्रोंसे पीड़ित हो हम सभी लोग रणभूमिसे भागने लगे थे ॥ ८०½ ॥

सौवीराः कितवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यमालवाः ॥ ८१ ॥
अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः ।
शाल्वाश्रयास्त्रिगर्ताश्च अम्बष्ठाः केकयैः सह ॥ ८२ ॥
सर्व एते महात्मानः शरार्ता व्रणपीडिताः ।
संग्रामे न जहुर्भीष्मं युध्यमानं किरीटिना ॥ ८३ ॥

सौवीर, कितव, प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, अभीषाह, शूरसेन, शिबि, वसाति, शाल्वाश्रय, त्रिगर्त,

अम्बष्ठ और केकय—इन सभी देशोंके ये सारे महामनस्वी वीर बाणोंसे घायल और घावोंसे पीड़ित होनेपर भी अर्जुनके साथ युद्ध करनेवाले भीष्मको संग्राममभूमिमें छोड़ न सके ॥

ततस्तमेकं बहवः परिवार्य समन्ततः ।
परिकाल्य कुरून् सर्वाञ्शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ८४ ॥

तदनन्तर एकमात्र भीष्मको पाण्डव-पक्षीय बहुत-से योद्धाओंने चारों ओरसे घेर लिया और समस्त कौरवोंको सब ओर खदेड़कर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ८४ ॥

निपातयत गृह्णीत युध्यध्वमवकृन्तत ।
इत्यासीत् तुमुलः शब्दो राजन् भीष्मरथं प्रति ॥ ८५ ॥

राजन् ! उस समय भीष्मके रथके समीप 'मार गिराओ, पकड़ लो, युद्ध करो, टुकड़े-टुकड़े कर डालो' इत्यादि भयंकर शब्द गूँज रहे थे ॥ ८५ ॥

निहत्य समरे राजञ्शतशोऽथ सहस्रशः ।
न तस्यासीदनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम् ॥ ८६ ॥

महाराज ! समरमें भीष्म सैकड़ों और हजारों वीरोंका वध करके स्वयं इस स्थितिमें पहुँच गये थे कि उनके शरीरमें दो अङ्गुल भी ऐसा स्थान नहीं रह गया था, जो बाणोंसे विद्ध न हुआ हो ॥ ८६ ॥

एवंभूतस्तव पिता शरैर्विशकलीकृतः ।
शिताग्रैः फाल्गुनेनाजौ प्राक्शिराः प्रापतद् रथात् ।८७।
किंचिच्छेषे दिनकरे पुत्राणां तव पश्यताम् ।

इस प्रकार आपके ताऊ भीष्म युद्धस्थलमें अर्जुनके तीखे बाणोंसे अत्यन्त विद्ध हो गये थे—उनका शरीर छिद-कर छलनी हो रहा था । वे उसी अवस्थामें, जब कि दिन थोड़ा ही शेष था, आपके पुत्रोंके देखते-देखते पूर्व दिशाकी ओर मस्तक किये रथसे नीचे गिर पड़े ॥ ८७½ ॥

हाहेति दिवि देवानां पार्थिवानां च भारत ॥ ८८ ॥
पतमाने रथाद् भीष्मे बभूव सुमहास्वनः ।

भारत ! रथसे भीष्मके गिरते समय आकाशमें खड़े हुए देवताओं तथा भूतलवर्ती राजाओंमें बड़े जोरसे हाहाकार मच गया ॥ ८८½ ॥

सम्पतन्तमभिप्रेक्ष्य महात्मानं पितामहम् ॥ ८९ ॥
सह भीष्मेण सर्वेषां प्रापतन् हृदयानि नः ।

महाराज ! महात्मा पितामह भीष्मको रथसे नीचे गिरते देखकर हम सब लोगोंके हृदय भी उनके साथ ही गिर पड़े॥

स पपात महाबाहुर्वसुधामनुनादयन् ॥ ९० ॥
इन्द्रध्वज इवोत्सृष्टः केतुः सर्वधनुष्मताम् ।
धरणीं न स पस्पर्श शरसंघैः समावृतः ॥ ९१ ॥

वे महाबाहु भीष्म सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ थे । वे कटी हुई इन्द्रकी ध्वजाके समान पृथ्वीको शब्दायमान करते हुए गिर पड़े । उनके सारे अङ्गोंमें सब ओर बाण विंधे हुए थे । इसलिये गिरनेपर भी उनका धरतीसे स्पर्श नहीं हुआ ॥

शरतल्पे महेष्वासं शयानं पुरुषर्षभम् ।
रथात् प्रपतितं चैनं दिव्यो भावः समाविशत् ॥ ९२ ॥

रथसे गिरकर बाणशय्यापर सोये हुए पुरुषप्रवर महाधनुर्धर भीष्मके भीतर दिव्यभावका आवेश हुआ ॥९२॥

अभ्यवर्षच्च पर्जन्यः प्राकम्पत च मेदिनी ।
पतन् स ददृशे चापि दक्षिणेन दिवाकरम् ॥ ९३ ॥

आकाशसे मेघ वर्षा करने लगा, धरती काँपने लगी, गिरते-गिरते उन्होंने देखा, अभी सूर्य दक्षिणायनमें हैं (यह मृत्युके लिये उत्तम समय नहीं है) ॥ ९३ ॥

संज्ञां चोपालभद् वीरः कालं संचिन्त्य भारत ।
अन्तरिक्षे च शुश्राव दिव्या वाचः समन्ततः ॥ ९४ ॥

भारत ! समयका विचार करके वीरवर भीष्मने अपने होश-हवाशको ठीक रक्खा । उस समय आकाशमें सब ओर-से यह दिव्य वाणी सुनायी दी ॥ ९४ ॥

कथं महात्मा गाङ्गेयः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
कालकर्ता नरव्याघ्रः सम्प्राप्ते दक्षिणायने ॥ ९५ ॥

महात्मा गङ्गानन्दन भीष्म सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी तथा कालपर भी प्रभुत्व रखनेवाले थे । इन्होंने दक्षिणायनमें मृत्यु क्यों स्वीकार की ? ॥

स्थितोऽस्मीति च गाङ्गेयस्तच्छ्रुत्वा वाक्यमब्रवीत् ।
धारयामास च प्राणान् पतितोऽपि महीतले ॥ ९६ ॥
उत्तरायणमन्विच्छन् भीष्मः कुरुपितामहः ।
तस्य तन्मतमाज्ञाय गङ्गा हिमवतः सुता ॥ ९७ ॥
महर्षीन् हंसरूपेण प्रेषयामास तत्र वै ।

उनकी वह बात सुनकर गङ्गानन्दन भीष्मने कहा—'मैं अभी जीवित हूँ ।' कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म पृथ्वी-पर गिरकर भी उत्तरायणकी प्रतीक्षा करते हुए अपने प्राणोंको रोके हुए हैं । उनके इस अभिप्रायको जानकर हिमालयनन्दिनी गङ्गादेवीने महर्षियोंको हंसरूपसे वहाँ भेजा ॥ ९६–९७½ ॥

ततः सम्पातिनो हंसास्त्वरिता मानसौकसः ॥ ९८ ॥
आजग्मुः सहिता द्रष्टुं भीष्मं कुरुपितामहम् ।
यत्र शेते नरश्रेष्ठः शरतल्पे पितामहः ॥ ९९ ॥

वे मानससरोवरमें निवास करनेवाले हंसरूपधारी महर्षि एक साथ उड़ते हुए बड़ी उतावलीके साथ कुरुकुल-के वृद्धपितामह भीष्मका दर्शन करनेके लिये उस स्थानपर आये, जहाँ वे नरश्रेष्ठ बाणशय्यापर सो रहे थे ॥ ९८-९९ ॥

ते तु भीष्मं समासाद्य ऋषयो हंसरूपिणः ।
अपश्यञ्छरतल्पस्थं भीष्मं कुरुकुलोद्वहम् ॥१००॥

उन हंसरूपधारी ऋषियोंने वहाँ पहुँचकर कुरुकुलधुरन्धर वीर भीष्मको बाणशय्यापर सोये हुए देखा ॥

ते तं दृष्ट्वा महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
गाङ्गेयं भरतश्रेष्ठं दक्षिणेन च भास्करम् ॥१०१॥
इतरेतरमामन्त्र्य प्राहुस्तत्र मनीषिणः ।

उन भरतश्रेष्ठ महात्मा गङ्गानन्दन भीष्मका दर्शन करके ऋषियोंने उनकी प्रदक्षिणा की । फिर दक्षिणायन—युक्त सूर्यके सम्बन्धमें परस्पर सलाह करके वे मनीषी मुनि इस प्रकार बोले— ॥ १०१½ ॥

भीष्मः कथं महात्मा सन् संस्थाता दक्षिणायने ॥१०२॥
इत्युक्त्वा प्रस्थिता हंसा दक्षिणामभितो दिशम् ।

'भीष्मजी महात्मा होकर दक्षिणायनमें कैसे अपनी मृत्यु स्वीकार करेंगे' ऐसा कहकर वे हंसगण दक्षिण दिशाकी ओर चले गये ॥ १०२½ ॥

सम्प्रेक्ष्य वै महाबुद्धिश्चिन्तयित्वा च भारत ॥१०३॥
तानब्रवीच्छान्तनवो नाहं गन्ता कथंचन ।
दक्षिणावर्त आदित्ये एतन्मे मनसि स्थितम् ॥१०४॥

भारत ! हंसोंके जाते समय उन्हें देखकर परम बुद्धिमान् भीष्मने कुछ चिन्तन करके उनसे कहा—'मैं सूर्यके दक्षिणायन रहते किसी प्रकार यहाँसे प्रस्थान नहीं करूँगा । यह मेरे मनका निश्चित विचार है ॥ १०३-१०४ ॥

गमिष्यामि स्वकं स्थानमासीद् यन्मे पुरातनम् ।
उदगायन आदित्ये हंसाः सत्यं ब्रवीमि वः ॥१०५॥

'हंसो ! सूर्यके उत्तरायण होनेपर ही मैं उस लोककी यात्रा करूँगा, जो मेरा पुरातन स्थान है । यह मैं आपलोगोंसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ १०५ ॥

धारयिष्याम्यहं प्राणानुत्तरायणकाङ्क्षया ।
ऐश्वर्यभूतः प्राणानामुत्सर्गो हि यतो मम ॥१०६॥

'मैं उत्तरायणकी प्रतीक्षामें अपने प्राणोंको धारण किये रहूँगा; क्योंकि मैं जब इच्छा करूँ, तभी अपने प्राणोंको छोड़ूँ, यह शक्ति मुझे प्राप्त है ॥ १०६ ॥

तस्मात् प्राणान् धारयिष्ये मुमूर्षुरुदगायने ।
यश्च दत्तो वरो मह्यं पित्रा तेन महात्मना ॥१०७॥
छन्दतो मृत्युरित्येवं तस्य चास्तु वरस्तथा ।
धारयिष्ये ततः प्राणानुत्सर्गे नियते सति ॥१०८॥

'अतः उत्तरायणमें मृत्यु प्राप्त करनेकी इच्छासे मैं अपने प्राणोंको धारण करूँगा । मेरे महात्मा पिताने मुझे जो वर दिया था कि तुम्हें अपनी इच्छा होनेपर ही मृत्यु प्राप्त होगी, उनका वह वरदान सफल हो । मैं प्राणत्यागका नियत समय आनेतक अवश्य इन प्राणोंको रोक रक्खूँगा' ॥ १०७—१०८ ॥

इत्युक्त्वा तांस्तदा हंसान् स शेते शरतल्पगः ।
एवं कुरूणां पतिते शृङ्गे भीष्मे महौजसि ॥१०९॥
पाण्डवाः सृंजयाश्चैव सिंहनादं प्रचक्रिरे ।

उस समय उन हंसोंसे ऐसा कहकर वे बाणशय्यापर पूर्ववत् सोये रहे । इस प्रकार कुरुकुलशिरोमणि महापराक्रमी भीष्मके गिर जानेपर पाण्डव और सृंजय हर्षसे सिंहनाद करने लगे ॥ १०९½ ॥

तस्मिन् हते महासत्त्वे भरतानां पितामहे ॥११०॥
न किंचित् प्रत्यपश्यन्त पुत्रास्ते भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उन महान् शक्तिशाली एवं भरतवंशियोंके पितामह भीष्मके मारे जानेपर आपके पुत्रोंको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ ११०½ ॥

सम्मोहश्चैव तुमुलः कुरूणामभवत् तदा ॥१११॥
कृपदुर्योधनमुखा निःश्वस्य रुरुदुस्ततः ।

उस समय कौरवोंपर बड़ा भयंकर मोह छा गया । कृपाचार्य और दुर्योधन आदि सब लोग सिसक-सिसककर रोने लगे ॥ १११½ ॥

विषादाच्च चिरं कालमतिष्ठन् विगतेन्द्रियाः ॥११२॥
दध्युश्चैव महाराज न युद्धे दधिरे मनः ।
ऊरुग्राहगृहीताश्च नाभ्यधावन्त पाण्डवान् ॥११३॥

वे सब लोग विषादके कारण दीर्घकालतक ऐसी अवस्थामें पड़े रहे, मानो उनकी सारी इन्द्रियाँ नष्ट हो गयी हों । महाराज ! वे भारी चिन्तामें डूब गये । युद्धमें उनका मन नहीं लगता था । वे पाण्डवोंपर धावा न कर सके, मानो किसी महान् ग्राहने उन्हें पकड़ लिया हो ॥ ११२-११३ ॥

अवध्ये शन्तनोः पुत्रे हते भीष्मे महौजसि ।
अभावः सहसा राजन् कुरुराजस्य तर्कितः ॥११४॥

राजन् ! महातेजस्वी शान्तनुपुत्र भीष्म अवध्य थे, तो भी मारे गये । इससे सहसा सब लोगोंने यही अनुमान किया कि कुरुराज दुर्योधनका विनाश भी अवश्यम्भावी है ॥११४॥

हतप्रवीरास्तु वयं निकृत्ताश्च शितैः शरैः ।
कर्तव्यं नाभिजानीमो निर्जिताः सव्यसाचिना ॥११५॥

सव्यसाची अर्जुनने हम सब लोगोंपर विजय पायी । उनके तीखे बाणोंसे हमलोग क्षत-विक्षत हो रहे थे और हमारे प्रमुख वीर उनके हाथों मारे गये थे । उस अवस्थामें हमें अपना कर्तव्य नहीं सूझता था ॥ ११५ ॥

पाण्डवाश्च जयं लब्ध्वा परत्र च परां गतिम् ।
सर्वे दध्मुर्महाशङ्खाञ्शूराः परिघबाहवः ॥११६॥

परिघके समान मोटी भुजाओंवाले शूरवीर पाण्डवोंने इहलोकमें विजय पाकर परलोकमें भी उत्तम गति निश्चित कर ली । वे सब-के-सब बड़े-बड़े शङ्ख बजाने लगे ॥११६॥

सोमकाश्च सपञ्चालाः प्राहृष्यन्त जनेश्वर ।
ततस्तूर्यसहस्रेषु नदत्सु स महाबलः ॥११७॥
आस्फोटयामास भृशं भीमसेनो ननाद च ।

जनेश्वर ! पाञ्चालों और सोमकोंके तो हर्षकी सीमा न रही । सहस्रों रणवाद्य बजने लगे । उस समय महाबली भीमसेन जोर-जोरसे ताल ठोकने और सिंहके समान दहाड़ने लगे ॥ ११७½ ॥

सेनयोरुभयोश्चापि गाङ्गेये निहते विभौ ॥११८॥
संन्यस्य वीराः शस्त्राणि प्राध्यायन्त समन्ततः ।

शक्तिशाली गङ्गानन्दन भीष्मके मारे जानेपर सब ओर दोनों सेनाओंके सब वीर अपने अस्त्र-शस्त्र नीचे डालकर भारी चिन्तामें निमग्न हो गये ॥ ११८½ ॥

प्राक्रोशन् प्राद्रवंश्चान्ये जग्मुर्मोहं तथापरे ॥११९॥

कुछ फूट-फूटकर रोने-चिल्लाने लगे, कुछ इधर-उधर भागने लगे और कुछ वीर मोहको प्राप्त (मूर्छित) हो गये ॥ ११९ ॥

क्षत्रं चान्येऽभ्यनिन्दन्त भीष्मं चान्येऽभ्यपूजयन्।
ऋषयः पितरश्चैव प्रशशंसुर्महाव्रतम् ॥१२०॥

कुछ लोग क्षात्रधर्मकी निन्दा कर रहे थे और कुछ भीष्मजीकी प्रशंसा कर रहे थे । ऋषियों और पितरोंने महान् व्रतधारी भीष्मकी बड़ी प्रशंसा की ॥ १२० ॥

भरतानां च ये पूर्वे ते चैनं प्रशशंसिरे।
महोपनिषदं चैव योगमास्थाय वीर्यवान् ॥१२१॥
जपञ्शान्तनवो धीमान् कालाकाङ्क्षी स्थितोऽभवत्१२२

भरतवंशके पूर्वजोंने भी भीष्मजीकी बड़ी बड़ाई की । परम पराक्रमी एवं बुद्धिमान् शान्तनुनन्दन भीष्म महान् उपनिषदोंके सारभूत योगका आश्रय ले प्रणवका जप करते हुए उत्तरायणकालकी प्रतीक्षामें बाणशय्यापर सोये रहे ॥ १२१–१२२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मनिपातने एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मजीके रथसे गिरनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल १२५ श्लोक हैं)

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मजीकी महत्ता तथा अर्जुनके द्वारा भीष्मको तकिया देना एवं उभय पक्षकी सेनाओंका अपने शिविरमें जाना और श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर-संवाद

धृतराष्ट्र उवाच

कथमासंस्तदा योधा हीना भीष्मेण संजय ।
बलिना देवकल्पेन गुर्वर्थे ब्रह्मचारिणा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! भीष्मजी बलवान् और देवताके समान थे । उन्होंने अपने पिताके लिये आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया था । उस दिन उनके रथसे गिर जानेके कारण उनके सहयोगसे वञ्चित हुए मेरे पक्षके योद्धाओंकी क्या दशा हुई ? ॥ १ ॥

तदैव निहतान् मन्ये कुरूनन्यांश्च पाण्डवैः ।
न प्राहरद् यदा भीष्मो घृणित्वाद् द्रुपदात्मजम्॥ २ ॥

भीष्मजीने अपनी दयालुताके कारण जब द्रुपदकुमार शिखण्डीपर प्रहार करनेसे हाथ खींच लिया, तभी मैंने यह समझ लिया था कि अब पाण्डवोंके हाथसे अन्य कौरव भी अवश्य मारे जायँगे ॥ २ ॥

ततो दुःखतरं मन्ये किमन्यत् प्रभविष्यति ।
अद्याहं पितरं श्रुत्वा निहतं स्म सुदुर्मतिः ॥ ३ ॥

मेरी समझमें इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या होगी कि आज अपने ताऊ भीष्मके मारे जानेका समाचार सुनकर भी जीवित हूँ । मेरी बुद्धि बहुत ही खोटी है ॥ ३ ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम संजय ।
श्रुत्वा विनिहतं भीष्मं शतधा यन्न दीर्यते ॥ ४ ॥

संजय ! निश्चय ही मेरा हृदय लोहेका बना हुआ है; क्योंकि आज भीष्मजीके मारे जानेका समाचार सुनकर भी यह सैकड़ों टुकड़ोंमें विदीर्ण नहीं हो रहा है ॥ ४ ॥

यदन्यन्निहतेनाजौ भीष्मेण जयमिच्छता ।
चेष्टितं कुरुसिंहेन तन्मे कथय सुव्रत ॥ ५ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले संजय ! विजयकी अभिलाषा रखनेवाले कुरुकुलसिंह भीष्म जब युद्धमें मारे गये, उस समय उन्होंने दूसरी कौन-कौन-सी चेष्टाएँ की थीं ? वह सब मुझसे कहो ॥ ५ ॥

पुनःपुनर्न मृष्यामि हतं देवव्रतं रणे ।
न हतो जामदग्न्येन दिव्यैरस्त्रैरयं पुरा ॥ ६ ॥
स हतो द्रौपदेयेन पाञ्चाल्येन शिखण्डिना ।

रणभूमिमें देवव्रत भीष्मका मारा जाना मुझे बारंबार असह्य हो उठता है । जो भीष्म पूर्वकालमें जमदग्निनन्दन परशुरामके दिव्यास्त्रोंद्वारा भी नहीं मारे जा सके, वे ही

द्रुपदकुमार पाञ्चालदेशीय शिखण्डीके हाथसे मारे गये; यह कितने दुःखकी बात है ॥ ६१/२ ॥

संजय उवाच

सायाह्ने निहतो भूमौ धार्तराष्ट्रान् विषादयन् ॥ ७ ॥
पञ्चालानां ददौ हर्षं भीष्मः कुरुपितामहः ।

संजयने कहा—महाराज ! कुरुकुलवृद्ध पितामह भीष्म सायंकालमें जब रणभूमिमें गिरे, उस समय उन्होंने आपके पुत्रोंको बड़े विषादमें डाल दिया और पाञ्चालोंको हर्ष मनानेका अवसर दे दिया ॥ ७१/२ ॥

स शेते शरतल्पस्थो मेदिनीमस्पृशंस्तदा ॥ ८ ॥
भीष्मे रथात् प्रपतिते प्रच्युते धरणीतले ।
हाहेति तुमुलः शब्दो भूतानां समपद्यत ॥ ९ ॥

वे पृथ्वीका स्पर्श किये बिना ही उस समय बाणशय्यापर सो रहे थे । भीष्मके रथसे गिरकर धरतीपर पड़ जानेपर समस्त प्राणियोंमें भयंकर हाहाकार मच गया ॥ ८-९ ॥

सीमावृक्षे निपतिते कुरूणां समितिंजये ।
सेनयोरुभयो राजन् क्षत्रियान् भयमाविशत् ॥ १० ॥

राजन् ! कुरुकुलके युद्धविजयी वीर भीष्म दोनों दलोंके लिये सीमावर्ती वृक्षके समान थे । उनके गिर जानेसे उभय पक्षकी सेनाओंमें जो क्षत्रिय थे, उनके मनमें भारी भय समा गया ॥ १० ॥

भीष्मं शान्तनवं दृष्ट्वा विशीर्णकवचध्वजम् ।
कुरवः पर्यवर्तन्त पाण्डवाश्च विशाम्पते ॥ ११ ॥

प्रजानाथ ! जिनके कवच और ध्वज छिन्न-भिन्न हो गये थे, उन शान्तनुनन्दन भीष्मजीको उस अवस्थामें देखकर कौरव और पाण्डव दोनों ही उन्हें घेरकर खड़े हो गये ॥

खं तमःसंवृतमभूदासीद् भानुर्गतप्रभः ।
ररास पृथिवी चैव भीष्मे शान्तनवे हते ॥ १२ ॥

उस समय आकाशमें अन्धकार छा गया । सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी । शान्तनुनन्दन भीष्मके मारे जानेपर यह सारी पृथ्वी भयानक शब्द करने लगी ॥ १२ ॥

अयं ब्रह्मविदां श्रेष्ठो ह्ययं ब्रह्मविदां वरः ।
इत्यभाषन्त भूतानि शयानं पुरुषर्षभम् ॥ १३ ॥

वहाँ सोये हुए पुरुषप्रवर भीष्मको देखकर कुछ दिव्य प्राणी कहने लगे, 'ये ब्रह्मज्ञानियोंके शिरोमणि हैं, ये ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं ॥ १३ ॥

अयं पितरमाज्ञाय कामार्तं शान्तनुं पुरा ।
ऊर्ध्वरेतसमात्मानं चकार पुरुषर्षभः ॥ १४ ॥

'इन्हीं पुरुषसिंहने पूर्वकालमें अपने पिता शान्तनुको कामासक्त जानकर अपने आपको ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) बना लिया' ॥ १४ ॥

इति स्म शरतल्पस्थं भरतानां महत्तमम् ।
ऋषयस्त्वभ्यभाषन्त सहिताः सिद्धचारणैः ॥ १५ ॥

इस प्रकार सिद्धों और चारणोंसहित ऋषिगण भरतकुलके महापुरुष भीष्मको बाणशय्यापर स्थित देख पूर्वोक्त बातें कहते थे ॥ १५ ॥

हते शान्तनवे भीष्मे भरतानां पितामहे ।
न किंचित् प्रत्यपद्यन्त पुत्रास्तव हि मारिष ॥ १६ ॥

आर्य ! भरतवंशियोंके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मके मारे जानेपर आपके पुत्रोंको कुछ भी नहीं सूझता था ॥ १६ ॥

विषण्णवदनाश्चासन् हतश्रीकाश्च भारत ।
अतिष्ठन् व्रीडिताश्चैव ह्रिया युक्ता ह्यधोमुखाः ॥ १७ ॥

भारत ! उनके मुखपर विषाद छा गया था । वे श्रीहीन और लज्जित हो नीचेकी ओर मुँह लटकाये खड़े थे ॥

पाण्डवाश्च जयं लब्ध्वा संग्रामशिरसि स्थिताः ।
सर्वे दध्मुर्महाशङ्खान् हेमजालपरिष्कृतान् ॥ १८ ॥

पाण्डव विजय पाकर युद्धके मुहानेपर खड़े थे और सब-के-सब सोनेकी जालियोंसे विभूषित बड़े-बड़े शङ्खोंको बजा रहे थे ॥ १८ ॥

हर्षात् तूर्यसहस्रेषु वाद्यमानेषु चानघ ।
अपश्याम महाराज भीमसेनं महाबलम् ॥ १९ ॥
विक्रीडमानं कौन्तेयं हर्षेण महता युतम् ।
निहत्य तरसा शत्रुं महाबलसमन्वितम् ॥ २० ॥

निष्पाप महाराज ! जब हर्षातिरेकसे सहस्रों बाजे बज रहे थे, उस समय हमने कुन्तीकुमार महाबली भीमसेनको देखा । वे महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न शत्रुको वेगपूर्वक मार देनेके कारण अत्यन्त हर्षके साथ नाच रहे थे १९-२०

सम्मोहश्चापि तुमुलः कुरूणामभवत् ततः ।
कर्णदुर्योधनौ चापि निःश्वसेतां मुहुर्मुहुः ॥ २१ ॥

उस समय कौरवोंपर भयंकर मोह छा गया था । कर्ण और दुर्योधन भी बारंबार लंबी साँसें खींच रहे थे ॥ २१ ॥

तथा निपतिते भीष्मे कौरवाणां पितामहे ।
हाहाभूतमभूत् सर्वं निर्मर्यादमवर्तत ॥ २२ ॥

कौरवपितामह भीष्मके इस प्रकार रथसे गिर जानेपर सर्वत्र हाहाकार मच गया । कहीं कोई मर्यादा नहीं रह गयी ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा च पतितं भीष्मं पुत्रो दुःशासनस्तव ।
उत्तमं जवमास्थाय द्रोणानीकमुपाद्रवत् ॥ २३ ॥
भ्रात्रा प्रस्थापितो वीरः स्वेनानीकेन दंशितः ।
प्रययौ पुरुषव्याघ्रः स्वसैन्यं स विषादयन् ॥ २४ ॥

भीष्मजीको रणभूमिमें गिरा देख आपका वीर पुत्र पुरुषसिंह दुःशासन अपने भाईके भेजनेपर अपनी ही सेनासे

घिरा हुआ बड़े वेगसे द्रोणाचार्यकी सेनाकी ओर दौड़ा गया। उस समय वह कौरव-सेनाको विषादमें डाल रहा था ॥ २३-२४ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य कुरवः पर्यवारयन् ।
दुःशासनं महाराज किमयं वक्ष्यतीति च ॥ २५ ॥

महाराज ! दुःशासनको आते देख समस्त कौरवसैनिक उसे चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये कि देखें, यह क्या कहता है ॥ २५ ॥

ततो द्रोणाय निहतं भीष्ममाचष्ट कौरवः ।
द्रोणस्तत्राप्रियं श्रुत्वा मुमोह भरतर्षभ ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! दुःशासनने द्रोणाचार्यसे भीष्मके मारे जानेका समाचार बताया। वह अप्रिय बात सुनते ही द्रोणाचार्य मूर्छित हो गये ॥ २६ ॥

स संज्ञामुपलभ्याशु भारद्वाजः प्रतापवान् ।
निवारयामास तदा स्वान्यनीकानि मारिष ॥ २७ ॥

आर्य ! सचेत होनेपर प्रतापी द्रोणाचार्यने शीघ्र ही अपनी सेनाओंको युद्धसे रोक दिया ॥ २७ ॥

विनिवृत्तान् कुरून् दृष्ट्वा पाण्डवाऽपि स्वसैनिकान्।
दूतैः शीघ्राश्वसंयुक्तैः समन्तात् पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

कौरवोंको युद्धसे लौटते देख पाण्डवोंने भी शीघ्रगामी अश्वोंपर चढ़े हुए दूतोंद्वारा सब ओर आदेश भेजकर अपने सैनिकोंका भी युद्ध बंद करा दिया ॥ २८ ॥

निवृत्तेषु च सैन्येषु पारम्पर्येण सर्वशः ।
निर्मुक्तकवचाः सर्वे भीष्ममीयुर्नराधिपाः ॥ २९ ॥

बारी-बारीसे सब सेनाओंके युद्धसे निवृत्त हो जानेपर सब राजा कवच खोलकर भीष्मके पास आये ॥ २९ ॥

व्युपरम्य ततो युद्धाद् योधाः शतसहस्रशः ।
उपतस्थुर्महात्मानं प्रजापतिमिवामराः ॥ ३० ॥

तदनन्तर लाखों योद्धा युद्धसे विरत होकर जैसे देवता प्रजापतिकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार महात्मा भीष्मके पास आये ॥ ३० ॥

ते तु भीष्मं समासाद्य शयानं भरतर्षभम् ।
अभिवाद्यावतिष्ठन्त पाण्डवाः कुरुभिः सह ॥ ३१ ॥

वे पाण्डव तथा कौरव बाणशय्यापर सोये हुए भरतश्रेष्ठ भीष्मकी सेवामें पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके खड़े हो गये ॥

अथ पाण्डून् कुरूंश्चैव प्रणिपत्याग्रतः स्थितान् ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ३२ ॥

पाण्डव तथा कौरव जब प्रणाम करके उनके सामने खड़े हुए, तब शान्तनुनन्दन धर्मात्मा भीष्मने उनसे इस प्रकार कहा—॥ ३२ ॥

स्वागतं वो महाभागाः स्वागतं वो महारथाः ।
तुष्यामि दर्शनाच्चाहं युष्माकममरोपमाः ॥ ३३ ॥

'महाभाग नरेशगण ! आपलोगोंका स्वागत है । देवोपम महारथियो ! आपका स्वागत है । मैं आपलोगोंके दर्शनसे बहुत संतुष्ट हूँ' ॥ ३३ ॥

अभिमन्त्र्याथ तानेवं शिरसा लम्बताब्रवीत् ।
शिरो मे लम्बतेऽत्यर्थमुपधानं प्रदीयताम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार उन सब लोगोंसे स्वागत-भाषण करके अपने लटकते हुए शिरके द्वारा ही वे बोले—'राजाओ ! मेरा शिर बहुत लटक रहा है । इसके लिये आपलोग मुझे तकिया दें' ॥ ३४ ॥

ततो नृपाः समाजह्रुस्तनूनि च मृदूनि च ।
उपधानानि मुख्यानि नैच्छत् तानि पितामहः ॥ ३५ ॥

तब राजालोग तत्काल बढ़िया, कोमल और महीन वस्त्रके बने हुए बहुत-से तकिये ले आये; परंतु पितामह भीष्मने उन्हें लेनेकी इच्छा नहीं की ॥ ३५ ॥

अथाब्रवीन्नरव्याघ्रः प्रहसन्निव तान् नृपान् ।
नैतानि वीरशय्यासु युक्तरूपाणि पार्थिवाः ॥ ३६ ॥

तदनन्तर पुरुषसिंह भीष्मने हँसते हुए-से उन राजाओंसे कहा—'भूमिपालो ! ये तकिये वीरशय्याके अनुरूप नहीं हैं' ॥

ततो वीक्ष्य नरश्रेष्ठमभ्यभाषत पाण्डवम् ।
धनंजयं दीर्घबाहुं सर्वलोकमहारथम् ॥ ३७ ॥

इसके बाद वे सम्पूर्ण लोकोंके विख्यात महारथी नरश्रेष्ठ महाबाहु पाण्डुपुत्र धनंजयकी ओर देखकर इस प्रकार बोले— ॥ ३७ ॥

धनंजय महाबाहो शिरो मे तात लम्बते ।
दीयतामुपधानं वै यद् युक्तमिह मन्यसे ॥ ३८ ॥

'महाबाहु धनंजय ! मेरा शिर लटक रहा है । बेटा ! यहाँ इसके अनुरूप जो तकिया तुम्हें ठीक जान पड़े, वह ला दो' ॥

संजय उवाच

समारोप्य महच्चापमभिवाद्य पितामहम् ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तब अर्जुनने पितामह भीष्मको प्रणाम करके अपना विशाल धनुष चढ़ा लिया और आँसूभरे नेत्रोंसे देखकर इस प्रकार कहा—॥ ३९ ॥

आज्ञापय कुरुश्रेष्ठ सर्वशस्त्रभृतां वर ।
प्रेष्योऽहं तव दुर्धर्ष क्रियतां किं पितामह ॥ ४० ॥

'समस्त शस्त्रधारियोंमें अग्रगण्य कुरुश्रेष्ठ ! दुर्जय वीर पितामह ! मैं आपका सेवक हूँ; आज्ञा दीजिये; क्या सेवा करूँ ?' ॥ ४० ॥

तमब्रवीच्छान्तनवः शिरो मे तात लम्बते ।
उपधानं कुरुश्रेष्ठ फाल्गुनोपदधत्स्व मे ॥ ४१ ॥

तब शान्तनुनन्दनने उनसे कहा--'तात ! मेरा शिर

लटक रहा है। कुरुश्रेष्ठ फाल्गुन ! तुम मेरे लिये तकिया लगा दो ॥ ४१ ॥

शयनस्यानुरूपं वै शीघ्रं वीर प्रयच्छ मे।
त्वं हि पार्थ समर्थो वै श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ४२ ॥
क्षत्रधर्मस्य वेत्ता च बुद्धिसत्त्वगुणान्वितः।

'वीर कुन्तीकुमार ! इस शय्याके अनुरूप शीघ्र मुझे तकिया दो। तुम्हीं उसे देनेमें समर्थ हो; क्योंकि सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें तुम्हारा बहुत ऊँचा स्थान है। तुम क्षत्रिय-धर्मके ज्ञाता तथा बुद्धि और सत्त्व आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न हो' ॥४२½॥

फाल्गुनोऽपि तथेत्युक्त्वा व्यवसायमरोचयत्॥ ४३॥
गृह्यानुमन्त्र्य गाण्डीवं शरान् संनतपर्वणः।
अनुमान्य महात्मानं भरतानां महारथम् ॥ ४४ ॥
त्रिभिस्तीक्ष्णैर्महावेगैरन्वगृह्णाच्छिरः शरैः।

अर्जुनने 'जो आज्ञा' कहकर इस कार्यके लिये प्रयत्न करना स्वीकार किया और गाण्डीव धनुष ले उसे अभिमन्त्रित करके झुकी हुई गाँठवाले तीन बाणोंको धनुषपर रक्खा। तत्पश्चात् भरतकुलके महात्मा महारथी भीष्मकी अनुमति ले उन अत्यन्त वेगशाली तीन तीखे बाणोंद्वारा उनके मस्तकको अनुगृहीत किया (कुछ ऊँचा करके स्थिर कर दिया)॥

अभिप्राये तु विदिते धर्मात्मा सव्यसाचिना ॥ ४५ ॥
अतुष्यद् भरतश्रेष्ठो भीष्मो धर्मार्थतत्त्ववित्।

सव्यसाची अर्जुनने उनके अभिप्रायको समझकर जब ठीक तकिया लगा दिया, तब धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले धर्मात्मा भरतश्रेष्ठ भीष्म बहुत संतुष्ट हुए॥४५½॥

उपधानेन दत्तेन प्रत्यनन्दद् धनंजयम् ॥ ४६ ॥
प्राह सर्वान् समुद्वीक्ष्य भरतान् भारतं प्रति।
कुन्तीपुत्रं युधां श्रेष्ठं सुहृदां प्रीतिवर्धनम् ॥ ४७ ॥

उन्होंने वह तकिया देनेसे अर्जुनकी प्रशंसा करके उन्हें प्रसन्न किया और समस्त भरतवंशियोंकी ओर देखकर योद्धाओंमें श्रेष्ठ, सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाले, भरतकुल-भूषण, कुन्तीपुत्र अर्जुनसे इस प्रकार कहा—॥ ४६-४७ ॥

शयनस्यानुरूपं मे पाण्डवोपहितं त्वया।
यद्यन्यथा प्रपद्येथाः शपेयं त्वामहं रुषा ॥ ४८ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुमने मेरी शय्याके अनुरूप मुझे तकिया प्रदान किया है। यदि इसके विपरीत तुमने और कोई तकिया दिया होता तो मैं कुपित होकर तुम्हें शाप दे देता ॥ ४८ ॥

एवमेव महाबाहो धर्मेषु परितिष्ठता।
स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाजौ शरतल्पगतेन वै ॥ ४९ ॥

'महाबाहो ! अपने धर्ममें स्थित रहनेवाले क्षत्रियको युद्धस्थलमें इसी प्रकार बाणशय्यापर शयन करना चाहिये' ॥

एवमुक्त्वा तु बीभत्सुं सर्वांस्तानब्रवीद् वचः।
राज्ञश्च राजपुत्रांश्च पाण्डवानभिसंस्थितान्॥ ५० ॥

अर्जुनसे ऐसा कहकर भीष्मने पाण्डवोंके पास खड़े हुए उन समस्त राजाओं और राजपुत्रोंसे कहा—॥ ५० ॥

पश्यध्वमुपधानं मे पाण्डवेनाभिसंधितम्।
शिश्येऽहमस्यां शय्यायां यावदावर्तनं रवेः ॥ ५१ ॥

'पाण्डुनन्दन अर्जुनने मेरे शिरमें यह तकिया लगाया है, उसे आपलोग देखें। मैं इस शय्यापर तबतक शयन करूँगा, जबतक कि सूर्य उत्तरायणमें नहीं लौट आते हैं ॥

ये तदा मां गमिष्यन्ति ते च प्रेक्ष्यन्ति मां नृपाः।
दिशं वैश्रवणाक्रान्तां यदाऽऽगन्ता दिवाकरः॥ ५२ ॥
नूनं सप्ताश्वयुक्तेन रथेनोत्तमतेजसा।
विमोक्ष्येऽहं तदा प्राणान् सुहृदः सुप्रियानिव ॥ ५३ ॥

'सात घोड़ोंसे जुते हुए उत्तम तेजस्वी रथके द्वारा जब सूर्य कुबेरकी निवासभूत उत्तर दिशाके पथपर आ जायँगे, उस समय जो राजा मेरे पास आयेंगे, वे मेरी ऊर्ध्व गतिको देख सकेंगे। निश्चय ही उसी समय मैं अत्यन्त प्रियतम सुहृदोंकी भाँति अपने प्यारे प्राणोंका त्याग करूँगा।५२-५३।

परिखा खन्यतामत्र ममावसदने नृपाः।
उपासिष्ये विवस्वन्तमेवं शरशताचितः ॥ ५४ ॥

'राजाओ ! मेरे इस स्थानके चारों ओर खाई खोद दो। मैं यहीं इसी प्रकार सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त शरीरके द्वारा भगवान् सूर्यकी उपासना करूँगा ॥ ५४ ॥

उपारमध्वं संग्रामाद् वैरमुत्सृज्य पार्थिवाः।

'भूपालगण ! अब आपलोग आपसका वैरभाव छोड़कर युद्धसे विरत हो जायँ' ॥ ५४½ ॥

संजय उवाच

उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः ॥५५॥
सर्वोपकरणैर्युक्ताः कुशलैः साधु शिक्षिताः।

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर शरीरसे बाणको निकाल फेंकनेकी कलामें कुशल वैद्य भीष्मजीकी सेवामें उपस्थित हुए। वे समस्त आवश्यक उपकरणोंसे युक्त और कुशल पुरुषोंद्वारा भलीभाँति शिक्षा पाये हुए थे ॥ ५५½ ॥

तान् दृष्ट्वा जाह्नवीपुत्रः प्रोवाच तनयं तव ॥५६॥
धनं दत्त्वा विसृज्यन्तां पूजयित्वा चिकित्सकाः।
एवंगते मयेदानीं वैद्यैः कार्यमिहास्ति किम् ॥५७॥

उन्हें देखकर गङ्गानन्दन भीष्मने आपके पुत्र दुर्योधनसे कहा—'वत्स ! इन चिकित्सकोंको धन देकर सम्मानपूर्वक विदा कर दो। मुझे यहाँ इस अवस्थामें अब इन वैद्योंसे क्या काम है?

क्षत्रधर्मे प्रशस्तां हि प्राप्तोऽस्मि परमां गतिम्।
नैष धर्मो महीपालाः शरतल्पगतस्य मे ॥५८॥
एभिरेव शरैश्चाहं दग्धव्योऽस्मि नराधिपाः।

'क्षत्रिय-धर्ममें जिसकी प्रशंसा की गयी है, उस उत्तम गतिको मैं प्राप्त हुआ हूँ। भूपालो ! मैं बाणशय्यापर सोया

हुआ हूँ। अब मेरा यह धर्म नहीं है कि इन बाणोंको निकालकर चिकित्सा कराऊँ। नरेश्वरो! मेरे इस शरीरको इन बाणोंके साथ ही दग्ध कर देना चाहिये' ॥ ५८½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य पुत्रो दुर्योधनस्तव ॥५९॥
वैद्यान् विसर्जयामास पूजयित्वा यथार्हतः।

भीष्मकी यह बात सुनकर आपके पुत्र दुर्योधनने यथा-योग्य सम्मान करके वैद्योंको विदा किया ॥ ५९½ ॥

ततस्ते विस्मयं जग्मुर्नानाजनपदेश्वराः ॥६०॥
स्थितिं धर्मे परां दृष्ट्वा भीष्मस्यामिततेजसः।

तदनन्तर विभिन्न जनपदोंके स्वामी नरेशगण अमित-तेजस्वी भीष्मकी यह धर्मविषयक उत्तम निष्ठा देखकर बड़े विस्मित हुए ॥ ६०½ ॥

उपधानं ततो दत्त्वा पितुस्ते मनुजेश्वराः ॥६१॥
सहिताः पाण्डवाः सर्वे कुरवश्च महारथाः।
उपगम्य महात्मानं शयानं शयने शुभे ॥६२॥
तेऽभिवाद्य ततो भीष्मं कृत्वा च त्रिः प्रदक्षिणम्।
विधाय रक्षां भीष्मस्य सर्व एव समन्ततः ॥६३॥
वीराः स्वशिबिराण्येव ध्यायन्तः परमातुराः।
निवेशायाभ्युपागच्छन् सायाह्ने रुधिरोक्षिताः ॥६४॥

राजन्! आपके पितृतुल्य भीष्मको उपर्युक्त तकिया देकर उन नरेश, पाण्डव तथा महारथी कौरव सभीने एक साथ सुन्दर बाणशय्यापर सोये हुए महात्मा भीष्मके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके उनकी तीन बार प्रदक्षिणा की और सब ओरसे भीष्मकी रक्षाकी व्यवस्था करके सभी वीर अपने शिबिरको ही चल दिये। वे अत्यन्त आतुर होकर भीष्मका ही चिन्तन कर रहे थे। सायंकालमें खूनसे लथपथ हुए वे सब लोग अपने निवासस्थानपर गये ॥ ६१–६४ ॥

निविष्टान् पाण्डवांश्चैव प्रीयमाणान् महारथान्।
भीष्मस्य पतने हृष्टानुपगम्य महाबलः ॥६५॥
उवाच माधवः काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।
दिष्ट्या जयसि कौरव्य दिष्ट्या भीष्मो निपातितः।६६।

पाण्डव महारथी भीष्मके गिर जानेसे बहुत प्रसन्न थे और हर्षमें भरकर विश्राम कर रहे थे। उस समय महाबली भगवान् श्रीकृष्ण यथासमय उनके पास पहुँचकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—'कुरुनन्दन! सौभाग्यकी बात है कि तुम जीत रहे हो। यह भी भाग्यकी ही बात है कि भीष्म रथसे गिरा दिये गये ॥ ६५-६६ ॥

अवध्यो मानुषैरेव सत्यसंधो महारथः।
अथवा दैवतैः सार्धं सर्वशास्त्रस्य पारगः ॥६७॥
त्वां तु चक्षुर्हणं प्राप्य दग्धो घोरेण चक्षुषा।

'ये सत्यप्रतिज्ञ महारथी भीष्म सम्पूर्ण शास्त्रोंके पारङ्गत विद्वान् थे। इन्हें मनुष्य तथा सम्पूर्ण देवता मिलकर भी मार नहीं सकते थे। आप दृष्टिपातमात्रसे ही दूसरोंको भस्म करनेमें समर्थ हैं। आपके पास पहुँचकर भीष्म आपकी घोर दृष्टिसे ही नष्ट हो गये हैं' ॥ ६७½ ॥

एवमुक्तो धर्मराजः प्रत्युवाच जनार्दनम् ॥६८॥
तव प्रसादाद् विजयः क्रोधात् तव पराजयः।
त्वं हि नः शरणं कृष्ण भक्तानामभयंकरः ॥६९॥

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णको इस प्रकार उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण! आप हमारे आश्रय हैं तथा आप ही भक्तोंको अभय दान करने-वाले हैं। आपके ही कृपा-प्रसादसे विजय होती है और आप-के ही रोषसे पराजय प्राप्त होती है ॥ ६८-६९ ॥

अनाश्चर्यो जयस्तेषां येषां त्वमसि केशव।
रक्षिता समरे नित्यं नित्यं चापि हिते रतः ॥७०॥
सर्वथा त्वां समासाद्य नाश्चर्यमिति मे मतिः।

'केशव! आप समरभूमिमें सदा जिनकी रक्षा करते हैं और नित्यप्रति जिनके हितमें तत्पर रहते हैं, उनकी विजय हो तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आपकी शरण लेनेपर सर्वथा विजयकी प्राप्ति कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, ऐसा मेरा निश्चय है' ॥ ७०½ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच स्मयमानो जनार्दनः।
त्वय्येवैतद् युक्तरूपं वचनं पार्थिवोत्तम ॥७१॥

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर जनार्दन श्रीकृष्णने मुसकराते हुए कहा—'नृपश्रेष्ठ! आपका कथन सर्वथा युक्तिसंगत है' ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मोपधानदाने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मको तकिया देनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ १२०

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका दिव्य जल प्रकट करके भीष्मजीकी प्यास बुझाना तथा भीष्मजीका अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए दुर्योधनको संधिके लिये समझाना

संजय उवाच

व्युष्टायां तु महाराज शर्वर्यां सर्वपार्थिवाः।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च उपातिष्ठन् पितामहम् ॥ १ ॥
तं वीरशयने वीरं शयानं कुरुसत्तमम्।
अभिवाद्योपतस्थुर्वै क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभम् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! जब रात बीती और

सवेरा हुआ, उस समय सब राजा, पाण्डव तथा आपके पुत्र पुनः वीर-शय्यापर सोये हुए वीर पितामह भीष्मकी सेवामें उपस्थित हुए। कुरुश्रेष्ठ ! वे सब क्षत्रिय क्षत्रिय-शिरोमणि भीष्मजीको प्रणाम करके उनके समीप खड़े हो गये॥

कन्याश्चन्दनचूर्णैश्च लाजैर्माल्यैश्च सर्वशः।
अवाकिरञ्छान्तनवं तत्र गत्वा सहस्रशः॥ ३॥

सहस्रों कन्याएँ वहाँ जाकर चन्दन-चूर्ण, लाजा (खील) और माला-फूल आदि सब प्रकारकी शुभ सामग्री शान्तनु-नन्दन भीष्मके ऊपर बिखेरने लगीं॥ ३॥

स्त्रियो वृद्धास्तथा बालाः प्रेक्षकाश्च पृथग्जनाः।
समभ्ययुः शान्तनवं भूतानीव तमोनुदम्॥ ४॥

स्त्रियाँ, बूढ़े, बालक तथा अन्य साधारण जन शान्तनु-कुमार भीष्मजीका दर्शन करनेके लिये वहाँ आये, मानो समस्त प्रजा अन्धकारनाशक भगवान् सूर्यकी उपासनाके लिये उपस्थित हुई हो॥ ४॥

तूर्याणि शतसंख्यानि तथैव नटनर्तकाः।
शिल्पिनश्च तथाऽऽजग्मुः कुरुवृद्धं पितामहम्॥ ५॥

सैकड़ों बाजे और बजानेवाले, नट, नर्तक और बहुत-से शिल्पी कुरुवंशके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मके पास आये॥

उपारम्य च युद्धेभ्यः संनाहान् विप्रमुच्य ते।
आयुधानि च निक्षिप्य सहिताः कुरुपाण्डवाः॥ ६॥
अन्वासन्त दुराधर्षं देवव्रतमरिंदमम्।
अन्योन्यं प्रीतिमन्तस्ते यथापूर्वं यथावयः॥ ७॥

कौरव तथा पाण्डव युद्धसे निवृत्त हो कवच खोलकर अस्त्र-शस्त्र नीचे डालकर पहलेकी भाँति परस्पर प्रेमभाव रखते हुए अवस्थाकी छोटाई-बड़ाईके अनुसार यथोचित क्रमसे शत्रुदमन दुर्जय वीर देवव्रत भीष्मके समीप एक साथ बैठ गये॥ ६-७॥

सा पार्थिवशताकीर्णा समितिर्भीष्मशोभिता।
शुशुभे भारती दीप्ता दिवीवादित्यमण्डलम्॥ ८॥

सैकड़ों राजाओंसे भरी और भीष्मसे सुशोभित हुई वह भरतवंशियोंकी दीप्तिशालिनी सभा आकाशमें सूर्यमण्डलकी भाँति उस रणभूमिमें शोभा पाने लगी॥ ८॥

विबभौ च नृपाणां सा गङ्गासुतमुपासताम्।
देवानामिव देवेशं पितामहमुपासताम्॥ ९॥

गङ्गानन्दन भीष्मके पास बैठी हुई राजाओंकी वह मण्डली देवेश्वर ब्रह्माजीकी उपासना करनेवाले देवताओंके समान सुशोभित हो रही थी॥ ९॥

भीष्मस्तु वेदनां धैर्यान्निगृह्य भरतर्षभ।
अभितप्तः शरैश्चैव निःश्वसन्नुरगो यथा॥ १०॥
शराभितप्तकायोऽपि शस्त्रसम्पातमूर्छितः।
पानीयमिति सम्प्रेक्ष्य राज्ञस्तान् प्रत्यभाषत॥ ११॥

भरतश्रेष्ठ ! भीष्मजी बाणोंसे संतप्त होकर सर्पके समान लम्बी साँस खींच रहे थे। वे अपनी वेदनाको धैर्यपूर्वक सह रहे थे। बाणोंकी जलनसे उनका सारा शरीर जल रहा था। वे शस्त्रोंके आघातसे मूर्छित-से हो रहे थे। उस समय उन्होंने राजाओंकी ओर देखकर केवल इतना ही कहा 'पानी'॥ १०-११॥

ततस्ते क्षत्रिया राजन्नुपाजह्रुः समन्ततः।
भक्ष्यानुच्चावचान् राजन् वारिकुम्भांश्च शीतलान्॥ १२॥

राजन् ! तब वे क्षत्रियनरेश चारों ओरसे भोजनकी उत्तमोत्तम सामग्री और शीतल जलसे भरे हुए घड़े ले आये॥ १२॥

उपानीतं तु पानीयं दृष्ट्वा शान्तनवोऽब्रवीत्।
नाद्यातीता मया शक्या भोगाः केचन मानुषाः॥ १३॥
अपक्रान्तो मनुष्येभ्यः शरशय्यां गतो ह्यहम्।
प्रतीक्षमाणस्तिष्ठामि निवृत्तिं शशिसूर्ययोः॥ १४॥

उनके द्वारा लाये हुए उस जलको देखकर शान्तनु-नन्दन भीष्मने कहा—'अब मैं मनुष्यलोकके कोई भी भोग अपने उपयोगमें नहीं ला सकता, मैं उन्हें छोड़ चुका हूँ। यद्यपि यहाँ बाणशय्यापर सो रहा हूँ, तथापि मनुष्यलोकसे ऊपर उठ चुका हूँ। केवल सूर्य-चन्द्रमाके उत्तरपथपर आनेकी प्रतीक्षामें यहाँ रुका हुआ हूँ'॥ १३-१४॥

एवमुक्त्वा शान्तनवो निन्दन् वाक्येन पार्थिवान्।
अर्जुनं द्रष्टुमिच्छामीत्यभ्यभाषत भारत॥ १५॥

भारत ! ऐसा कहकर शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी वाणीद्वारा अन्य राजाओंकी निन्दा करते हुए कहा—'अब मैं अर्जुनको देखना चाहता हूँ'॥ १५॥

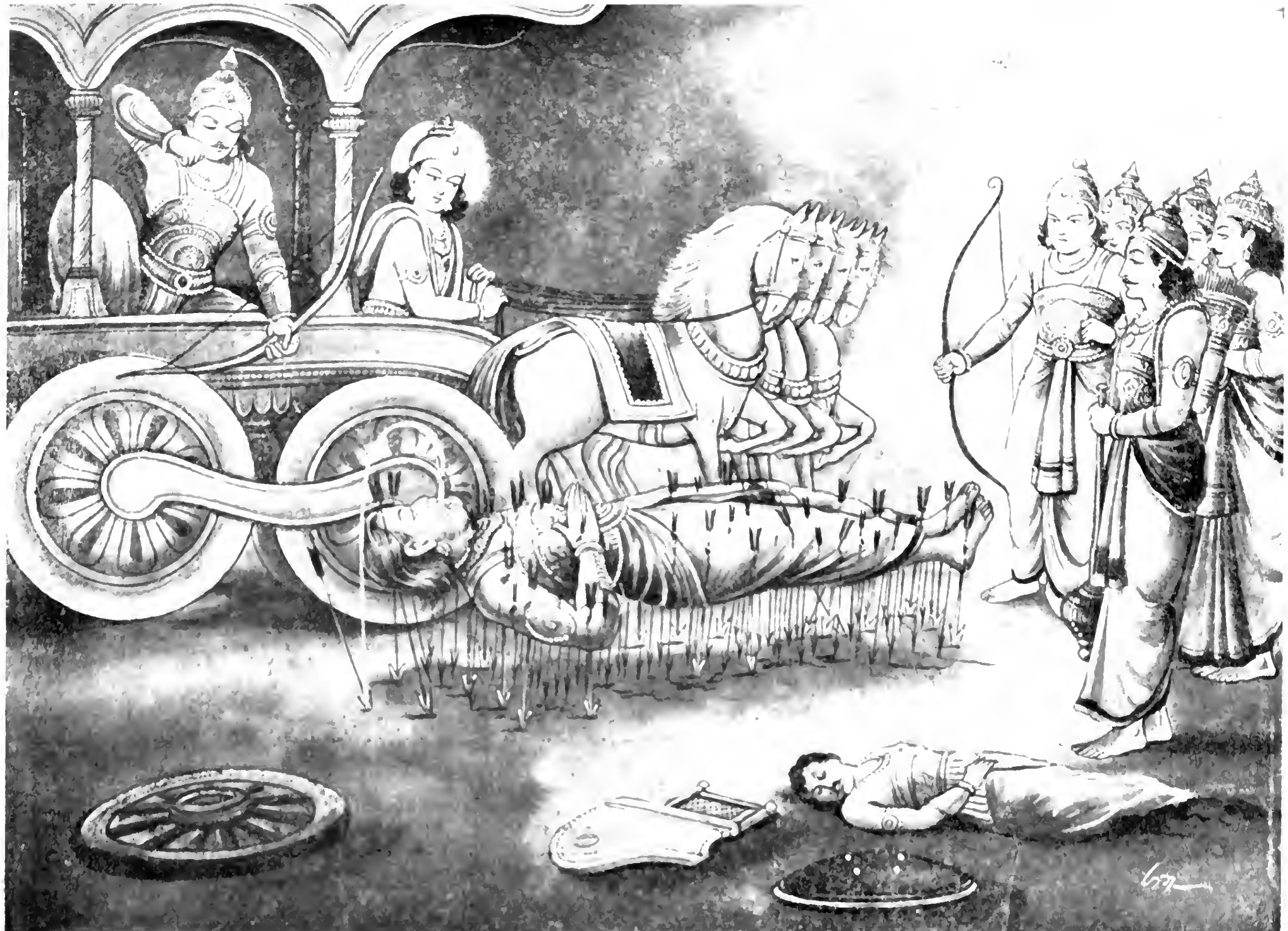
अथोपेत्य महाबाहुरभिवाद्य पितामहम्।
अतिष्ठत् प्राञ्जलिः प्रह्वः किं करोमीति चाब्रवीत्॥ १६॥

तब महाबाहु अर्जुन पितामह भीष्मके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके हाथ जोड़े खड़े हो गये और विनयपूर्वक बोले—'मेरे लिये क्या आज्ञा है, मैं कौन-सी सेवा करूँ ?'॥ १६॥

तं दृष्ट्वा पाण्डवं राजन्नभिवाद्याग्रतः स्थितम्।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भीष्मः प्रीतो धनंजयम्॥ १७॥

राजन् ! प्रणाम करके आगे खड़े हुए पाण्डुपुत्र अर्जुनको देखकर धर्मात्मा भीष्म बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—॥ १७॥

दह्यतीव शरीरं मे संवृतस्य तवेषुभिः।
मर्माणि परिदूयन्ते मुखं च परिशुष्यति॥ १८॥



अर्जुनका बाणद्वारा पृथ्वीसे जल प्रकट करके भीष्मजीको पिलाना

'अर्जुन ! तुम्हारे बाणोंसे मेरे सम्पूर्ण अङ्ग बिंधे हुए हैं; अतः मेरा यह शरीर दग्ध-सा हो रहा है। सारे मर्मस्थानोंमें अत्यन्त पीड़ा हो रही है। मुँह सूखता जा रहा है ॥ १८ ॥

वेदनार्तशरीरस्य प्रयच्छापो ममार्जुन।
त्वं हि शक्तो महेष्वास दातुमापो यथाविधि ॥१९॥

'महाधनुर्धर अर्जुन! वेदनासे पीड़ित शरीरवाले मुझ वृद्धको तुम पानी लाकर दो। तुम्हीं विधिपूर्वक मेरे लिये दिव्य जल प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो' ॥ १९ ॥

अर्जुनस्तु तथेत्युक्त्वा रथमारुह्य वीर्यवान्।
अधिज्यं बलवत् कृत्वा गाण्डीवं व्याक्षिपद् धनुः॥२०॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर पराक्रमी अर्जुन रथपर आरूढ़ हो गये और गाण्डीव धनुषपर बलपूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसे खींचने लगे ॥ २० ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
वित्रेसुः सर्वभूतानि सर्वे श्रुत्वा च पार्थिवाः ॥२१॥

उनके धनुषकी टंकारध्वनि वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी। उसे सुनकर सभी प्राणी और समस्त भूपाल डर गये ॥ २१ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा रथेन रथिनां वरः।
शयानं भरतश्रेष्ठं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥२२॥
संधाय च शरं दीप्तमभिमन्त्र्य स पाण्डवः।
पर्जन्यास्त्रेण संयोज्य सर्वलोकस्य पश्यतः ॥२३॥
अविध्यत् पृथिवीं पार्थः पार्श्वे भीष्मस्य दक्षिणे।

तब रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुपुत्र अर्जुनने शरशय्यापर सोये हुए सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें उत्तम भरतशिरोमणि भीष्मकी रथद्वारा ही परिक्रमा करके अपने धनुषपर एक तेजस्वी बाणका संधान किया और सब लोगोंके देखते-देखते मन्त्रोच्चारणपूर्वक उस बाणको पर्जन्यास्त्रसे संयुक्त करके भीष्मके दाहिने पार्श्वमें पृथ्वीपर उसे चलाया ॥ २२-२३½ ॥

उत्पपात ततो धारा वारिणो विमला शुभा ॥२४॥
शीतस्यामृतकल्पस्य दिव्यगन्धरसस्य च।
अतर्पयत् ततः पार्थः शीतया जलधारया ॥२५॥
भीष्मं कुरूणामृषभं दिव्यकर्मपराक्रमम्।

फिर तो शीतल, अमृतके समान मधुर तथा दिव्य सुगन्ध एवं दिव्यरससे संयुक्त जलकी सुन्दर स्वच्छ धारा ऊपरकी ओर उठ (कर भीष्मके मुखमें पड़)ने लगी। उस शीतल जलधारासे अर्जुनने दिव्यकर्म एवं पराक्रमवाले कुरुश्रेष्ठ भीष्मको तृप्त कर दिया ॥ २४-२५½ ॥

कर्मणा तेन पार्थस्य शक्रस्येव विकुर्वतः ॥२६॥
विस्मयं परमं जग्मुस्ततस्ते वसुधाधिपाः।

इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनके उस अद्भुत कर्मसे वहाँ बैठे हुए समस्त भूपाल बड़े विस्मयको प्राप्त हुए ॥ २६½ ॥

तत् कर्म प्रेक्ष्य बीभत्सोरतिमानुषविक्रमम् ॥२७॥
सम्प्रावेपन्त कुरवो गावः शीतार्दिता इव।

अर्जुनका वह अलौकिक कर्म देखकर समस्त कौरव सर्दीकी सतायी हुई गौओंके समान थर-थर काँपने लगे ॥ २७½ ॥

विस्मयाच्चोत्तरीयाणि व्याविध्यन् सर्वतो नृपाः ॥२८॥
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषस्तुमुलः सर्वतोऽभवत्।

वहाँ बैठे हुए नरेशगण आश्चर्यसे चकित हो सब ओर अपने दुपट्टे हिलाने लगे। चारों ओर शङ्ख और नगाड़ोंकी गम्भीर ध्वनि गूँज उठी ॥ २८½ ॥

तृप्तः शान्तनवश्चापि राजन् बीभत्सुमब्रवीत् ॥२९॥
सर्वपार्थिववीराणां संनिधौ पूजयन्निव।

राजन्! उस जलसे तृप्त होकर शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनसे समस्त वीरनरेशोंके समीप उनकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा— ॥ २९½ ॥

नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि कौरवनन्दन ॥३०॥
कथितो नारदेनासि पूर्वर्षिरमितद्युते।
वासुदेवसहायस्त्वं महत् कर्म करिष्यसि ॥३१॥
यन्नोत्सहति देवेन्द्रः सह देवैरपि ध्रुवम्।

'महाबाहु कौरवनन्दन! तुममें ऐसे पराक्रमका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। अमिततेजस्वी वीर! मुझे नारदजीने पहले ही बता दिया था कि तुम पुरातन महर्षि नर हो और नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे इस भूतलपर ऐसे-ऐसे महान् कर्म करोगे, जिन्हें निश्चय ही सम्पूर्ण देवताओंके साथ देवराज इन्द्र भी नहीं कर सकते। ३०-३१½।

विदुस्त्वां निधनं पार्थ सर्वक्षत्रस्य तद्विदः ॥३२॥
धनुर्धराणामेकस्त्वं पृथिव्यां प्रवरो नृषु ॥३३॥

'पार्थ! जानकार लोग तुम्हें सम्पूर्ण क्षत्रियोंकी मृत्युरूप जानते हैं। तुम भूतलपर मनुष्योंमें श्रेष्ठ और धनुर्धरोंमें प्रधान हो ॥ ३२-३३ ॥

मनुष्या जगति श्रेष्ठाः पक्षिणां पतगेश्वरः।
सरितां सागरः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ॥३४॥

'जंगम प्राणियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं, पक्षियोंमें पक्षिराज गरुड़ श्रेष्ठ माने जाते हैं, सरिताओंमें समुद्र श्रेष्ठ है और चौपायोंमें गौ उत्तम मानी गयी है ॥ ३४ ॥

आदित्यस्तेजसां श्रेष्ठो गिरीणां हिमवान् वरः।
जातीनां ब्राह्मणः श्रेष्ठः श्रेष्ठस्त्वमसि धन्विनाम् ॥३५॥

'तेजोमय पदार्थोंमें सूर्य श्रेष्ठ हैं, पर्वतोंमें हिमालय महान्

है, जातियोंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है और तुम सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ हो ॥ ३५ ॥

न वै श्रुतं धार्तराष्ट्रेण वाक्यं
मयोच्यमानं विदुरेण चैव ।
द्रोणेन रामेण जनार्दनेन
मुहुर्मुहुः संजयेनापि चोक्तम् ॥ ३६ ॥

'मैंने, विदुरने, द्रोणाचार्यने, परशुरामजीने, भगवान् श्रीकृष्णने तथा संजयने भी बारंबार युद्ध न करनेकी सलाह दी है; परंतु दुर्योधनने हमलोगोंकी बातें नहीं सुनीं ॥ ३६ ॥

परीतबुद्धिर्हि विसंज्ञकल्पो
दुर्योधनो न च तच्छ्रद्दधाति ।
स शेष्यते वै निहतश्चिराय
शास्त्रातिगो भीमबलाभिभूतः ॥ ३७ ॥

'दुर्योधनकी बुद्धि विपरीत हो गयी है, वह अचेत-सा हो रहा है; इसलिये हमलोगोंकी बातपर विश्वास नहीं करता है। वह शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन कर रहा है। इसलिये भीमसेनके बलसे पराजित हो मारा जाकर रणभूमिमें दीर्घकाल-के लिये सो जायगा' ॥ ३७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तद्वचः कौरवेन्द्रो
दुर्योधनो दीनमना बभूव ।
तमब्रवीच्छान्तनवोऽभिवीक्ष्य
निबोध राजन् भव वीतमन्युः ॥ ३८ ॥

भीष्मजीकी यह बात सुनकर कौरवराज दुर्योधन मन-ही-मन बहुत दुखी हो गया। तब शान्तनुनन्दन भीष्मने उसकी ओर देखकर कहा—'राजन्! मेरी बातपर ध्यान दो और क्रोधशून्य हो जाओ ॥ ३८ ॥

दृष्टं दुर्योधनैतत् ते यथा पार्थेन धीमता ।
जलस्य धारा जनिता शीतस्यामृतगन्धिनः ॥३९॥

'दुर्योधन! बुद्धिमान् अर्जुनने जिस प्रकार शीतल, अमृतके समान मधुर गन्धयुक्त जलकी धारा प्रकट की है, उसे तुमने प्रत्यक्ष देख लिया है ॥ ३९ ॥

एतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन् नान्यः कश्चन विद्यते ।
आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्यमथ वैष्णवम् ॥ ४० ॥
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं पारमेष्ठ्यं प्रजापतेः ।
धातुस्त्वष्टुश्च सवितुर्वैवस्वतमथापि वा ॥ ४१ ॥
सर्वस्मिन् मानुषे लोके वेत्त्येको हि धनंजयः ।
कृष्णो वा देवकीपुत्रो नान्यो वेदेह कश्चन ॥ ४२ ॥

'इस संसारमें ऐसा पराक्रम करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। आग्नेय, वारुण, सौम्य, वायव्य, वैष्णव, ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म, पारमेष्ठ्य, प्राजापत्य, धात्र, त्वाष्ट्र, सावित्र और वैवस्वत आदि सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंको इस समस्त मानव-जगत्में एकमात्र अर्जुन अथवा देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण जानते हैं। दूसरा कोई यहाँ इन अस्त्रोंको नहीं जानता है॥४०-४२॥

अशक्यः पाण्डवस्तात युद्धे जेतुं कथंचन ।
अमानुषाणि कर्माणि यस्यैतानि महात्मनः ॥ ४३ ॥
तेन सत्त्ववता संख्ये शूरेणाहवशोभिना ।
कृतिना समरे राजन् संधिर्भवतु मा चिरम् ॥ ४४ ॥

'तात! पाण्डुपुत्र अर्जुनको युद्धमें किसी प्रकार भी जीतना असम्भव है। जिन महामनस्वी पुरुषके ये अलौकिक कर्म प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं; जो धैर्यवान्, युद्धमें शूरता दिखाने-वाले तथा संग्राममें सुशोभित होनेवाले हैं, राजन्! उन अस्त्र-विधाके विद्वान् अर्जुनके साथ इस समरभूमिमें तुम्हारी शीघ्र संधि हो जानी चाहिये। इसमें विलम्ब न हो।४३-४४।

यावत् कृष्णो महाबाहुः स्वाधीनः कुरुसत्तम ।
तावत् पार्थेन शूरेण संधिस्ते तात युज्यताम् ॥ ४५ ॥

'तात! कुरुश्रेष्ठ! जबतक महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण अपने लोगोंके प्रेमके अधीन हैं, तभीतक शूरवीर अर्जुनके साथ तुम्हारी संधि हो जाय तो ठीक है ॥ ४५ ॥

यावन्न ते चमूः सर्वाः शरैः संनतपर्वभिः ।
नाशयत्यर्जुनस्तावत् संधिस्ते तात युज्यताम् ॥ ४६ ॥

'तात! जबतक अर्जुन झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा तुम्हारी सारी सेनाका विनाश नहीं कर डालते हैं, तभीतक उनके साथ तुम्हारी संधि हो जानी चाहिये ॥ ४६ ॥

यावत् तिष्ठन्ति समरे हतशेषाः सहोदराः ।
नृपाश्च बहवो राजंस्तावत् संधिः प्रयुज्यताम् ॥ ४७ ॥

'राजन्! इस समरभूमिमें मरनेसे बचे हुए तुम्हारे सहोदर भाई जबतक मौजूद हैं और जबतक बहुत-से नरेश भी जीवन धारण कर रहे हैं, तभीतक तुम अर्जुनके साथ संधि कर लो ॥ ४७ ॥

न निर्दहति ते यावत् क्रोधदीप्तेक्षणश्चमूम् ।
युधिष्ठिरो रणे तावत् संधिस्ते तात युज्यताम् ॥ ४८ ॥

'तात! जबतक युधिष्ठिर रणभूमिमें क्रोधसे प्रज्वलितनेत्र होकर तुम्हारी सारी सेनाको भस्म नहीं कर डालते हैं, तभी-तक उनके साथ तुम्हें संधि कर लेनी चाहिये ॥ ४८ ॥

नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ।
यावच्चमूं महाराज नाशयन्ति न सर्वशः ॥ ४९ ॥
तावत् ते पाण्डवैर्वीरैः सौहार्दं मम रोचते ।
युद्धं मदन्तमेवास्तु तात संशाम्य पाण्डवैः ॥ ५० ॥

'महाराज! नकुल-सहदेव तथा पाण्डुपुत्र भीमसेन—ये सब मिलकर जबतक तुम्हारी सेनाका सर्वनाश नहीं कर डालते हैं, तभीतक पाण्डववीरोंके साथ तुम्हारा सौहार्द स्थापित हो जाय, यही मुझे अच्छा लगता है। तात! मेरे साथ ही इस युद्धका

भी अन्त हो जाय। तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ।४९-५०।

एतत् तु रोचतां वाक्यं यदुक्तोऽसि मयानघ।
एतत् क्षेममहं मन्ये तव चैव कुलस्य च ॥ ५१ ॥

'अनघ ! मैंने जो बातें तुमसे कही हैं, वे तुम्हें रुचिकर प्रतीत हों। मैं संधिको ही तुम्हारे तथा कौरवकुलके लिये कल्याणकारी मानता हूँ ॥ ५१ ॥

त्यक्त्वा मन्युं व्युपशाम्यस्व पार्थैः
पर्याप्तमेतद् यत् कृतं फाल्गुनेन।
भीष्मस्यान्तादस्तु वः सौहृदं च
जीवन्तु शेषाः साधु राजन् प्रसीद ॥ ५२ ॥

'राजन् ! तुम क्रोध छोड़कर कुन्तीकुमारोंके साथ संधि स्थापित कर लो। अर्जुनने आजतक जो कुछ किया है, उतना ही बहुत है। मुझ भीष्मके जीवनका अन्त होनेसे (तुम्हारे वैरका भी अन्त हो जाय) तुमलोगोंमें प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो और जो लोग मरनेसे बचे हैं, वे अच्छी तरह जीवित रहें। इसके लिये तुम प्रसन्न हो जाओ ॥ ५२ ॥

राज्यस्यार्धं दीयतां पाण्डवाना-
मिन्द्रप्रस्थं धर्मराजोऽभियातु।
मा मित्रध्रुक् पार्थिवानां जघन्यः
पापां कीर्तिं प्राप्स्यसे कौरवेन्द्र ॥ ५३ ॥

'तुम पाण्डवोंका आधा राज्य दे दो। धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ चले जायँ। कौरवराज! ऐसा करनेसे तुम राजाओंमें मित्रद्रोही और नीच नहीं कहलाओगे तथा तुम्हें पापपूर्ण अपयश नहीं प्राप्त होगा ॥ ५३ ॥

ममावसानाच्छान्तिरस्तु प्रजानां
संगच्छन्तां पार्थिवाः प्रीतिमन्तः।
पिता पुत्रं मातुलं भागिनेयो
भ्राता चैव भ्रातरं प्रैतु राजन् ॥ ५४ ॥

'राजन् ! मेरे जीवनका अन्त होनेसे प्रजाओंमें शान्ति हो जाय। सब राजा प्रसन्नतापूर्वक एक दूसरेसे मिलें। पिता पुत्रसे, भानजा मामासे और भाई भाईसे मिले ॥ ५४ ॥

न चेदेवं प्राप्तकालं वचो मे
मोहाविष्टः प्रतिपत्स्यस्यबुद्ध्या।
तप्स्यस्यन्ते एतदन्ताः स्थ सर्वे
सत्यामेतां भारतीमीरयामि ॥ ५५ ॥

'दुर्योधन ! यदि तुम मोहवश अपनी मूर्खताके कारण मेरे इस समयोचित वचनको नहीं मानोगे तो अन्तमें पछताओगे और इस युद्धमें ही तुम सब लोगोंका अन्त हो जायगा। यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ' ॥ ५५ ॥

एतद् वाक्यं सौहृदादापगेयो
मध्ये राज्ञां भारतं श्रावयित्वा।
तूष्णीमासीच्छल्यसंतप्तमर्मा
योज्यात्मानं वेदनां संनियम्य ॥ ५६ ॥

गङ्गानन्दन भीष्म समस्त राजाओंके बीच सौहार्दवश दुर्योधनको यह बात सुनाकर मौन हो गये। बाणोंसे उनके मर्मस्थलोंमें अत्यन्त पीड़ा हो रही थी। उन्होंने उस व्यथाको किसी प्रकार काबूमें करके अपने मनको परमात्माके चिन्तनमें लगा दिया ॥ ५६ ॥

संजय उवाच

धर्मार्थसहितं वाक्यं श्रुत्वा हितमनामयम्।
नारोचयत पुत्रस्ते मुमूर्षुरिव भेषजम् ॥ ५७ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जैसे मरणासन्न पुरुषको कोई दवा अच्छी नहीं लगती है, उसी प्रकार महात्मा भीष्मका वह धर्म और अर्थसे युक्त परम हितकर और निर्दोष वचन भी आपके पुत्रको पसंद नहीं आया ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि दुर्योधनं प्रति भीष्मवाक्ये एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें दुर्योधनके प्रति भीष्मका कथनविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ १२१

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और कर्णका रहस्यमय संवाद

संजय उवाच

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे जग्मुः स्वानालयान् पुनः।
तूष्णीम्भूते महाराज भीष्मे शान्तनुनन्दने ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! शान्तनुनन्दन भीष्मके चुप हो जानेपर सब राजा वहाँसे उठकर अपने-अपने विश्राम-स्थानको चले गये ॥ १ ॥

श्रुत्वा तु निहतं भीष्मं राधेयः पुरुषर्षभः।
ईषदागतसंत्रासस्त्वरयोपजगाम ह ॥ २ ॥

भीष्मजीको रथसे गिराया गया सुनकर पुरुषप्रवर राधानन्दन कर्णके मनमें कुछ भय समा गया। वह बड़ी उतावलीके साथ उनके पास आया ॥ २ ॥

स ददर्श महात्मानं शरतल्पगतं तदा।

जन्मशय्यागतं वीरं कार्तिकेयमिव प्रभुम् ॥ ३ ॥

उस समय उसने देखा, महात्मा भीष्म शरशय्यापर सो रहे हैं, ठीक उसी तरह जैसे वीरवर भगवान् कार्तिकेय जन्म-कालमें शरशय्या (सरकण्डोंके बिछावन) पर सोये थे ॥३॥

निमीलिताक्षं तं वीरं साश्रुकण्ठस्तदा वृषः ।
भीष्म भीष्म महाबाहो इत्युवाच महाद्युतिः ॥ ४ ॥
राधेयोऽहं कुरुश्रेष्ठ नित्यमक्षिगतस्तव ।
द्वेष्योऽहं तव सर्वत्र इति चैनमुवाच ह ॥ ५ ॥

वीर भीष्मके नेत्र बंद थे। उन्हें देखकर महातेजस्वी कर्ण-की आँखोंमें आँसू छलक आये और अश्रुगद्गदकण्ठ होकर उसने कहा—'भीष्म ! भीष्म ! महाबाहो ! कुरुश्रेष्ठ ! मैं वही राधापुत्र कर्ण हूँ, जो सदा आपकी आँखोंमें गड़ा रहता था और जिसे आप सर्वत्र द्वेषदृष्टिसे देखते थे।' कर्णने यह बात उनसे कही ॥ ४–५ ॥

तच्छ्रुत्वा कुरुवृद्धो हि बली संवृतलोचनः ।
शनैरुद्वीक्ष्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥
रहितं धिष्ण्यमालोक्य समुत्सार्य च रक्षिणः ।
पितेव पुत्रं गाङ्गेयः परिरभ्यैकपाणिना ॥ ७ ॥

उसकी बात सुनकर बंद नेत्रोंवाले बलवान् कुरुवृद्ध भीष्मने धीरेसे आँखें खोलकर देखा और उस स्थानको एकान्त देख पहरेदारोंको दूर हटाकर एक हाथसे कर्णका उसी प्रकार सस्नेह आलिङ्गन किया, जैसे पिता अपने पुत्रको गलेसे लगाता है। तत्पश्चात् उन्होंने इस प्रकार कहा—॥६-७॥

एह्येहि मे विप्रतीप स्पर्धसे त्वं मया सह ।
यदि मां नाधिगच्छेथा न ते श्रेयो ध्रुवं भवेत् ॥ ८ ॥

'आओ, आओ, कर्ण ! तुम सदा मुझसे लाग-डाँट रखते रहे। सदा मेरे साथ स्पर्धा करते रहे। आज यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो निश्चय ही तुम्हारा कल्याण नहीं होता ॥८॥

कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता ।
सूर्यजस्त्वं महाबाहो विदितो नारदान्मया ॥ ९ ॥

'वत्स ! तुम राधाके नहीं, कुन्तीके पुत्र हो। तुम्हारे पिता अधिरथ नहीं हैं। महाबाहो ! तुम सूर्यके पुत्र हो। मैंने नारदजीसे तुम्हारा परिचय प्राप्त किया था ॥ ९ ॥

कृष्णद्वैपायनाच्चैव तच्च सत्यं न संशयः ।
न च द्वेषोऽस्ति मे तात त्वयि सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

'तात ! श्रीकृष्णद्वैपायन व्याससे भी तुम्हारे जन्मका वृत्तान्त ज्ञात हुआ था और जो कुछ ज्ञात हुआ, वह सत्य है। इसमें संदेह नहीं है। तुम्हारे प्रति मेरे मनमें द्वेष नहीं है; यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ॥ १० ॥

तेजोवधनिमित्तं तु परुषं त्वाहमब्रुवम् ।
अकस्मात् पाण्डवान् सर्वानवाक्षिपसि सुव्रत ॥ ११ ॥
येनासि बहुशो राज्ञा चोदितः सूतनन्दन ।

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वीर ! मैं कभी-कभी तुमसे जो कठोर वचन बोल दिया करता था, उसका उद्देश्य था, तुम्हारे उत्साह और तेजको नष्ट करना; क्योंकि सूत-नन्दन ! तुम राजा दुर्योधनके उकसानेसे अकारण ही समस्त पाण्डवोंपर बहुत बार आक्षेप किया करते थे ॥ ११½ ॥

जातोऽसि धर्मलोपेन ततस्ते बुद्धिरीदृशी ॥ १२ ॥
नीचाश्रयान्मत्सरेण द्वेषिणी गुणिनामपि ।
तेनासि बहुशो रूक्षं श्रावितः कुरुसंसदि ॥ १३ ॥

'तुम्हारा जन्म (कन्यावस्थामें ही कुन्तीके गर्भसे उत्पन्न होनेके कारण) धर्मलोपसे हुआ है; इसीलिये नीच पुरुषोंके आश्रयसे तुम्हारी बुद्धि इस प्रकार ईर्ष्यावश गुणवान् पाण्डवों-से भी द्वेष रखनेवाली हो गयी है और इसीके कारण कौरव-सभामें मैंने तुम्हें अनेक बार कटुवचन सुनाये हैं ॥१२-१३॥

जानामि समरे वीर्यं शत्रुभिर्दुःसहं भुवि ।
ब्रह्मण्यतां च शौर्यं च दाने च परमां स्थितिम् ॥ १४ ॥

'मैं जानता हूँ, तुम्हारा पराक्रम समरभूमिमें शत्रुओंके लिये दुःसह है। तुम ब्राह्मण-भक्त, शूरवीर तथा दानमें उत्तम निष्ठा रखनेवाले हो ॥ १४ ॥

न त्वया सदृशः कश्चित् पुरुषेष्वमरोपम ।
कुलभेदभयाच्चाहं सदा परुषमुक्तवान् ॥ १५ ॥

'देवोपम वीर ! मनुष्योंमें तुम्हारे समान कोई नहीं है। मैं सदा अपने कुलमें फूट पड़नेके डरसे तुम्हें कटुवचन सुनाता रहा ॥ १५ ॥

इष्वस्त्रे चास्त्रसंधाने लाघवेऽस्त्रबले तथा ।
सदृशः फाल्गुनेनासि कृष्णेन च महात्मना ॥ १६ ॥

'बाण चलाने, दिव्यास्त्रोंका संधान करने, फुर्ती दिखाने तथा अस्त्र-बलमें तुम अर्जुन तथा महात्मा श्रीकृष्णके समान हो ॥ १६ ॥

कर्ण काशिपुरं गत्वा त्वयैकेन धनुष्मता ।
कन्यार्थे कुरुराजस्य राजानो मृदिता युधि ॥ १७ ॥

'कर्ण ! तुमने कुरुराज दुर्योधनके लिये कन्या लानेके निमित्त अकेले काशीपुरमें जाकर केवल धनुषकी सहायतासे वहाँ आये हुए समस्त राजाओंको युद्धमें परास्त कर दिया था ॥

तथा च बलवान् राजा जरासंधो दुरासदः ।
समरे समरश्लाघिन् न त्वया सदृशोऽभवत् ॥ १८ ॥

'युद्धकी श्लाघा रखनेवाले वीर ! यद्यपि राजा जरासंध

दुर्जय एवं बलवान् था, तथापि वह रणभूमिमें तुम्हारी समानता न कर सका ॥ १८ ॥

ब्रह्मण्यः सत्त्वयोधी च तेजसा च बलेन च ।
देवगर्भसमः संख्ये मनुष्यैरधिको युधि ॥ १९ ॥

'तुम ब्राह्मणभक्त, धैर्यपूर्वक युद्ध करनेवाले तथा तेज और बलसे सम्पन्न हो । संग्राम-भूमिमें देवकुमारोंके समान जान पड़ते हो और प्रत्येक युद्धमें मनुष्योंसे अधिक पराक्रमी हो॥

व्यपनीतोऽद्य मन्युर्मे यस्त्वां प्रति पुरा कृतः ।
दैवं पुरुषकारेण न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ २० ॥

'मैंने पहले जो तुम्हारे प्रति क्रोध किया था, वह अब दूर हो गया है; क्योंकि प्रारब्धके विधानको कोई पुरुषार्थद्वारा नहीं टाल सकता ॥ २० ॥

सोदर्याः पाण्डवा वीरा भ्रातरस्तेऽरिसूदन ।
संगच्छ तैर्महाबाहो मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ २१ ॥

'शत्रुसूदन! वीर पाण्डव तुम्हारे सगे भाई हैं । महाबाहो ! यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो अपने उन भाइयोंसे मिल जाओ ॥ २१ ॥

मया भवतु निर्वृत्तं वैरमादित्यनन्दन ।
पृथिव्यां सर्वराजानो भवन्त्वद्य निरामयाः ॥ २२ ॥

'सूर्यनन्दन! मेरी मृत्युके द्वारा ही यह वैरकी आग बुझ जाय और भूमण्डलके समस्त नरेश अब दुःख-शोकसे रहित एवं निर्भय हो जायँ' ॥ २२ ॥

कर्ण उवाच

जानाम्येव महाबाहो सर्वमेतन्न संशयः ।
यथा वदसि मे भीष्म कौन्तेयोऽहं न सूतजः ॥ २३ ॥

कर्णने कहा—महाबाहो ! भीष्म ! आप जो कुछ कह रहे हैं, उसे मैं भी जानता हूँ । यह सब ठीक है, इसमें संशय नहीं है । वास्तवमें मैं कुन्तीका ही पुत्र हूँ, सूतपुत्र नहीं हूँ ॥ २३ ॥

अवकीर्णस्त्वहं कुन्त्या सूतेन च विवर्धितः ।
(पुरा दुर्योधनेनाहं स्नेहं वै कृतवान् मुदा ।
तव कार्यं करिष्यामि यद् यत् सर्वं दुरासदम् ॥
इत्येवं वै प्रतिज्ञातं वचनं वै सुयोधने ।)
भुक्त्वा दुर्योधनैश्वर्यं न मिथ्याकर्तुमुत्सहे ॥ २४ ॥

परंतु माता कुन्तीने तो मुझे पानीमें बहा दिया और सूतने मुझे पाल-पोषकर बड़ा किया । पूर्वकालसे ही मैं दुर्योधनके साथ स्नेह करता आया हूँ और प्रसन्नतापूर्वक रहा हूँ । दुर्योधनसे मैंने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि तुम्हारा जो-जो दुष्कर कार्य होगा, वह सब मैं पूरा करूँगा । दुर्योधनका ऐश्वर्य भोगकर मैं उसे निष्फल नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

वसुदेवसुतो यद्वत् पाण्डवाय दृढव्रतः ।
वसु चैव शरीरं च पुत्रदारं तथा यशः ॥ २५ ॥
सर्वं दुर्योधनस्यार्थे त्यक्तं मे भूरिदक्षिण ।
मा चैतद् व्याधिमरणं क्षत्रं स्यादिति कौरव ॥ २६ ॥
कोपिताः पाण्डवा नित्यं समाश्रित्य सुयोधनम् ।

जैसे वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण पाण्डुपुत्र अर्जुनकी सहायताके लिये दृढ़प्रतिज्ञ हैं, उसी प्रकार मेरे धन, शरीर, स्त्री, पुत्र तथा यश सब कुछ दुर्योधनके लिये निछावर हैं । यज्ञोंमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाले कुरुनन्दन भीष्म ! मैंने दुर्योधनका आश्रय लेकर पाण्डवोंका क्रोध सदा इसलिये बढ़ाया है कि यह क्षत्रिय-जाति रोगोंका शिकार होकर न मरे (युद्धमें वीर गति प्राप्त करे) ॥ २५-२६½ ॥

अवश्यभावी ह्यर्थोऽयं यो न शक्यो निवर्तितुम्॥ २७ ॥
दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमुत्सहेत् ।

यह युद्ध अवश्यम्भावी है । इसे कोई टाल नहीं सकता । भला, दैवको पुरुषार्थके द्वारा कौन मिटा सकता है ॥२७½॥

पृथिवीक्षयशंसीनि निमित्तानि पितामह ॥ २८ ॥
भवद्भिरुपलब्धानि कथितानि च संसदि ।

पितामह ! आपने भी तो ऐसे निमित्त (लक्षण) देखे थे, जो भूमण्डलके विनाशकी सूचना देनेवाले थे । आपने कौरव-सभामें उनका वर्णन भी किया था ॥ २८½ ॥

पाण्डवा वासुदेवश्च विदिता मम सर्वशः ॥ २९ ॥
अजेयाः पुरुषैरन्यैरिति तांश्चोत्सहामहे ।
विजयिष्ये रणे पाण्डूनिति मे निश्चितं मनः ॥ ३० ॥

पाण्डवों तथा भगवान् वासुदेवको मैं सब प्रकारसे जानता हूँ, वे दूसरे पुरुषोंके लिये सर्वथा अजेय हैं, तथापि मैं उनसे युद्ध करनेका उत्साह रखता हूँ और मेरे मनका यह निश्चित विश्वास है कि मैं युद्धमें पाण्डवोंको जीत लूँगा ॥

न च शक्यमवस्रष्टुं वैरमेतत् सुदारुणम् ।
धनंजयेन योत्स्येऽहं स्वधर्मप्रीतमानसः ॥ ३१ ॥

पाण्डवोंके साथ हमलोगोंका यह वैर अत्यन्त भयंकर हो गया है । अब इसे दूर नहीं किया जा सकता । मैं अपने धर्मके अनुसार प्रसन्नचित्त होकर अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा ॥

अनुजानीष्व मां तात युद्धाय कृतनिश्चयम् ।
अनुज्ञातस्त्वया वीर युद्ध्येयमिति मे मतिः ॥ ३२ ॥

तात ! मैं युद्धके लिये निश्चय कर चुका हूँ । वीर ! मेरा विचार है कि आपकी आज्ञा लेकर युद्ध करूँ; अतः आप मुझे इसके लिये आज्ञा देनेकी कृपा करें॥ ३२ ॥

दुरुक्तं विप्रतीपं वा रभसाच्चापलात् तथा ।
यन्मयेह कृतं किंचित् तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ३३ ॥

मैंने क्रोधके आवेगसे अथवा चपलताके कारण यहाँ जो कुछ आपके प्रति कटुवचन कहा हो या आपके प्रतिकूल आचरण किया हो, वह सब आप कृपापूर्वक क्षमा कर दें ॥

भीष्म उवाच

न चेच्छक्यमवस्रष्टुं वैरमेतत् सुदारुणम् ।
अनुजानामि कर्ण त्वां युद्धयस्व स्वर्गकाम्यया ॥ ३४ ॥

भीष्मने कहा—कर्ण ! यदि यह भयंकर वैर अब नहीं छोड़ा जा सकता तो मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे युद्ध करो ॥ ३४ ॥

निर्मन्युर्गतसंरम्भः कृतकर्मा रणे स ह ।
यथाशक्ति यथोत्साहं सतां वृत्तेषु वृत्तवान् ॥ ३५ ॥

दीनता और क्रोध छोड़कर अपनी शक्ति और उत्साहके अनुसार सत्पुरुषोंके आचारमें स्थित रहकर युद्ध करो । तुम रणक्षेत्रमें पराक्रम कर चुके हो और आचारवान् तो हो ही॥

अहं त्वामनुजानामि यदिच्छसि तदाप्नुहि ।
क्षत्रधर्मजिताँल्लोकानवाप्स्यसि धनंजयात् ॥ ३६ ॥

कर्ण ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ । तुम जो चाहते हो, वह प्राप्त करो । धनंजयके हाथसे मारे जानेपर तुम्हें क्षत्रियधर्मके पालनसे प्राप्त होनेवाले लोकोंकी उपलब्धि होगी ॥ ३६ ॥

युध्यस्व निरहङ्कारो बलवीर्यव्यपाश्रयः ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३७॥

तुम अभिमानशून्य होकर बल और पराक्रमका सहारा ले युद्ध करो, क्षत्रियके लिये धर्मानुकूल युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी साधन नहीं है ॥ ३७ ॥

प्रशमे हि कृतो यत्नः सुमहान् सुचिरं मया ।
न चैव शकितः कर्तुं कर्ण सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ३८ ॥

कर्ण ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ । मैंने कौरवों और पाण्डवोंमें शान्ति स्थापित करनेके लिये दीर्घकालतक महान् प्रयत्न किया था; किंतु मैं उसमें कृतकार्य न हो सका ॥३८॥

संजय उवाच

इत्युक्तवति गाङ्गेये अभिवाद्योपमन्त्र्य च ।
राधेयो रथमारुह्य प्रायात् तव सुतं प्रति ॥ ३९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! गङ्गानन्दन भीष्मके ऐसा कहनेपर राधानन्दन कर्ण उन्हें प्रणाम करके उनकी आज्ञा ले रथपर आरूढ़ हो आपके पुत्र दुर्योधनके पास चला गया ॥३९॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मकर्णसंवादे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-कर्णसंवादविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

भीष्मपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	५६१०॥	(२९९॥)	४११।॥-	६०२२।-
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	७१॥	(४॥)	६≡	७७॥≡
भीष्मपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या				६१००

श्रवणमहिमा

वैशम्पायन उवाच

इत्येतद् बहुवृत्तान्तं भीष्मपर्वाखिलं मया ।
शृण्वते ते महाराज प्रोक्तं पापहरं शुभम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज ! बहुत से वृत्तान्तोंसे भरा हुआ यह सम्पूर्ण भीष्मपर्व मैंने तुमसे कहा है और तुमने श्रोता बनकर सुना है । यह पर्व सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला और शुभ है ॥ १ ॥

यः श्रावयेत् सदा राजन् ब्राह्मणान् वेदपारगान् ।
श्रद्धावन्तश्च ये चापि श्रोष्यन्ति मनुजा भुवि ॥ २ ॥
विधूय सर्वपापानि विहायान्ते कलेवरम् ।
प्रयान्ति तत् पदं विष्णोर्यत् प्राप्य न निवर्तते ॥ ३ ॥

राजन् ! जो सदा वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंको इस पर्वकी कथा सुनायेगा और जो मनुष्य इस भूतलपर श्रद्धापूर्वक इस पर्वको सुनेंगे, वे सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करके अन्तमें यह शरीर छोड़कर भगवान् विष्णुके उस परमपदको प्राप्त कर लेंगे, जहाँ जाकर जीव इस जगत्में नहीं लौटता है॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन भारतं भरतर्षभ ।
शृणुयात् सिद्धिमन्विच्छन्निह वामुत्र मानवः॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अतः इस लोक या परलोकमें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य पूर्ण प्रयत्नपूर्वक महाभारतको अवश्य सुने ॥ ४ ॥

भोजनं भोजयेद् विप्रान् गन्धमाल्यैरलंकृतान् ।
भीष्मपर्वणि राजेन्द्र दद्यात् पानीयमुत्तमम् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! भीष्मपर्व सुन लेनेपर मनुष्य ब्राह्मणोंको गन्ध और माल्य आदिसे अलङ्कृत करके उत्तम भोजन कराये तथा पवित्र जलका दान करे ॥ ५ ॥